श्रीमद्भगवद्गीता

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा-टीका]

सम्पूर्ण तैयार है।

इसके १८ अध्याय ३ भागोंमें विभाजित किए हैं। प्रत्येकका (सजिल्द) मू० ३) रु० और डा० व्य० ॥≈) है। एकही समय तीनों भाग अर्थात् सम्पूर्ण गीता मंगानेवाले १०) रु० भेजें।

भगवद्गीता-लेखमाला

'गीता' मासिक में प्रकाशित गीताविषयक लेखोंका यह संग्रह है। इसके ७ भाग तैयार हैं, जिनका मू० ५॥) रु० और डा० व्य १॥) है। तथापि ६॥) रु० म० आ० से भेजनेवालोंको सब भाग भेज देंगें।

मन्त्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

शुद्ध चार वेद-संहिता।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमंडलमे शुरू है। ऋग्वेद और यजुर्वेद छपकर तैयार है। अगले महिने में अथर्ववेद तैयार होगा और अगले चार महिनों के पश्चात् सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओं के मूल्य इस प्रकार है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
सामवेद	२)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ५) रु० है तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिये डाकसे मंगवानेवाले ८) आठ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ५) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। उनके ग्रंथ To Pay रेलपासलसे भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएं ५) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेद-प्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष २०

अंक १

क्रमांक २२९

धर्म

पौष

संवत् १९९५

जनवरी

सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

परमपूज्य देव।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कंधः परित इव शाखाः॥

(अथर्व० १०-७-३८)

"(*भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं*) इस विश्वमें एक परम पूजनीय देव है। वह (तपसि क्रान्तं) तेजस्वियोंमें बडा भारी तेजस्वी है और उसका शासन (सलिलस्य पृष्ठे) जलके ऊपर भी है। (देवाः तस्मिन् श्रयन्ते) जो कुछ देवताए है, वे सब उसीके आश्रयमें रहती है, जिस तरह (वृक्षस्य स्कन्धः शाखाः परितः) वृक्षका स्कन्ध मध्य में होता है और उसकी शाखाए चारों ओर फलती है।"

मध्य आधार में परमेश्वर है, उसको वृक्ष समझो और उसकी शाखाएं अन्य देवताए हैं, ऐसा मानो। यही ईश्वर और देवताओं का सम्बन्ध है। सब देवताओंमें उसी एक अद्वितीय ईश्वर की शक्ति कार्य कर रही है।

वैदिक धर्म का बडा विशेषांक

वेदाङ्क

गतवर्ष के अनुसार इस वर्ष भी 'वैदिक धर्म' मासिक का 'वेदांक' प्रकाशित होगा। इसका प्रकाशन इस अंक के प्रकाशित होनेके चार मास के पश्चात् होगा। जो वेदके मनन करनेवाले सज्जन हैं, वे इस 'वेदाङ्क' के लिए लेख लिखकर भेजें। इन लेखों में केवल वेदके मंत्रोंके आशय प्रकट करनेवाले ही लेख मुद्रित होंगे। अन्य किसी भी प्रकारके लेख इसमें प्रकाशित नहीं होंगे। वेदाङ्क में मुद्रित होनेवाले लेखों में किसी प्रकार भी वैयक्तिक उच्च-नीच भाव प्रकट करनेवाले लेख कदापि प्रकाशित नहीं होंगे। केवल वेदके मंत्रों के अर्थ प्रकाशित करनेवाले और उनसे मानवधर्म का प्रकाशन करनेवाले लेख ही इस अंक में प्रकाशित होंगे, अतः कृपा कर लेखक इस तरह के वैदिक तत्त्वज्ञानसंबंध के लेख भेजकर वैदिक धर्म की सेवा करें।

सहूलियत।

इस वैदिक धर्मके विशेषाङ्क "वेदाङ्क" का मूल्य २) होगा, परन्तु जो ग्राहक ५) वार्षिक चन्दा भेजकर "वैदिकधर्म" मासिकके ग्राहक बनेंगे, उनके लिए यह "वेदाङ्क" विनामूल्य ही मिलेगा। इसके अतिरिक्त वैदिक धर्म के प्रचार के लिये हमने ग्राहकों को आगामी वर्ष के लिये एक दो विशेष सहूलियतें देनेका विचार किया है, वे सहूलियतें ये हैं-

जो सज्जन पांच नये ग्राहक बनाकर उनका वार्षिक चन्दा प्रतिग्राहक का चन्दा ५) के हिसाब से पांच ग्राहकों का चन्दा २५) रु. म. आ. द्वारा [विदेश के लिये ३५ रु.] भेज देंगे, उनको एक वर्षतक विशेषांक के साथ वैदिक धर्म मासिक विनामूल्य मिलेगा। पुरुषार्थी सज्जन इस सहूलियत से लाभ उठावें।

दूसरी सहूलियत।

जो सज्जन १६) रु. के स्वाध्यायमण्डलद्वारा प्रकाशित पुस्तक मूल्य म. आ. द्वारा भेज कर मंगायेंगे, उनको २०)के पुस्तक और ५)का 'वैदिक धर्म' मासिक मिलेगा और डा० व्य० माफ होगा। इनको भी यह वेदाङ्क मिलेगा। विदेश के लिये ३५) के पुस्तक मंगानेसे 'वैदिक धर्म' मासिक विनामूल्य दिया जायगा।

इन दो सहूलियतों से पाठक लाभ उठावें। उक्त सहूलियत में जो पुस्तकें मंगवानी है, उनमें मूल वेद का समावेश नहीं होगा और यदि इसमें मूल वेदोंका समावेश करना हो, तो उनका मूल्य सहूलियत का लगाया नहीं जायगा।

विदेश के ग्राहकों के लिये वैदिक धर्म का मूल्य ७) है, क्योंकि विदेश में अंक भेजनेके लिये एक वर्ष में २) डा. व्य. होता है। भारतवर्षमें 'वैदिक धर्म' मासिक का वार्षिक चन्दा केवल ५) है। यह मासिक पूर्वोक्त सहूलियतों के अनुसार पाठक विना मूल्य भी प्राप्त कर सकते हैं।

ये सहूलियतें केवल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये ही दी हैं, इसलिये धर्मजाग्रति करनेवाले सज्जन इस से धर्म के प्रचार के साथ साथ, धर्म की सेवा भी होती है और अपना आर्थिक लाभ भी है, यह देख कर अपने इष्टमित्रों में इसका प्रचार करें।

प्रबंधकर्ता
स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा)

क्या परमेश्वर का साक्षात्कार मनुष्य कर सकता है ?

इस विषय में वेदका संदेश क्या है ?

मनुष्य परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है वा नहीं? मनुष्यजन्म में मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है वा नहीं? इस विषय में जो अनेक मिथ्या और भ्रांत कल्पनाएं फैली हैं, और जो उपदेशकों के द्वारा तथा लेखों और ग्रंथों के द्वारा फैलायीं जा रहीं हैं, वह देखनेसे मनमें अत्यंत आश्चर्य हो जाता है !!! इन मिथ्या कल्पनाओं का विचार इस लेख में करना है, और इस लेखमालाके अन्तमें वेद का इस विषय में आदेश क्या है, इसका वेदमंत्रों के आधारसे हि स्पष्ट शब्दों में निर्देश करना है। अतः पाठक इस लेखमाला का विचार मननपूर्वक करें।

पाठकों से निवेदन।

इस लेखमालामें कई लेख लिखे जायंगे, कमसे कम दस पंद्रह लेख तो लिखे ही जायंगे और प्रत्येक लेखमें नये ढंगसे विचार किया जायगा। जो सिद्धान्त इन लेखों में हम प्रस्थापित करेंगे, उनके लिये वेद, ब्राह्मण और उपनिषदादि ग्रंथोंके पर्याप्त प्रमाण हम देंगे। तथापि किसी कारण कोई लेख पढनेपर किसी पाठक के मनमें कुछ आशंकाएं उठ खडीं हुईं, तो उनको उचित है कि, वह अतिसंक्षेपसे अपनी आशंका को लिखकर हमारे पास भेजे, ऐसी जो जो शंकाएं हमारे पास आ जायगीं, उनका विचार हम द्वितीय लेख के पहिले करेंगे और पश्चात् आगे का लेख मुद्रित होगा। इससे पाठकों की शंकाएं भी निवृत्त होंगी और ईश्वरसाक्षात्कार का विषय भी उनके ध्यान में सुगमता से आता जायगा।

आशंका लिखते समय पाठक जितना संक्षेपमें लिख सकेंगे, उतना अच्छा रहेगा। विस्तारपूर्वक बडे बडे लेख लिखेंगे, तो वह शास्त्रार्थ बनेगा, जिसमें पडनेकी हमें रुचि नहीं है। इतना भूमिका के रूपमें लिखने के पश्चात् हम इस प्रस्तुत विषयके संबंधमें लिखने का प्रारंभ करते हैं।

क्या ईश्वरका साक्षात्कार कभी नहीं होगा?

बहुत से लोग ऐसा मानते हैं, बोलते हैं, व्याख्यान देते हैं और सचमुच दिलसे समझते हैं कि, निःसन्देह ईश्वर है, परन्तु मनुष्य उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता! हजारों जन्म तक योगसाधनादि अनुष्ठान, जपतपादि कर्म करते रहने, पर किसी पवित्र आत्मा को ईश्वरसाक्षात्कार होगा तो होगा। यह साक्षात्कार सर्वसाधारण मनुष्यों के लिये साध्य नहीं हो सकता।

इस तरह का विचार सर्वसाधारण मनुष्यों में सुस्थिर हुआ है। उपदेशक लोग यही प्रतिपादन करते हैं, धार्मिक प्रवचनकार इसीका प्रवचन करते हैं, ग्रंथोंमें यही लिखा जाता है, और ऐसा लिखा, तो ही वह सत्य है, ऐसाहि सर्वसाधारण जनता मानती है। तात्पर्य यह है कि, सबका यही निश्चय हुआ है कि, ईश्वरका साक्षात्कार होनेवाला नहीं है, किसी विरले महात्मा योगीको साध्य होनेवाली यह बात है।

इतनी दुष्प्राप्य वस्तु होनेपर भी उपदेशक यही कहते हैं कि "स्त्रीपुरुषो! ईश्वरभक्ति करो, ईश्वर

की प्रार्थना करो, उसकी स्तुति करो और उसीके पास इष्ट की याचना भी करो !! "

कैसी अजब बात है देखिये, ईश्वर है या नहीं है, इसका पता नहीं, और वह है ऐसा माननेपर भी उसका साक्षात्कार हजारों जन्म योगसाधन करनेपर भी होगा या नहीं, इसका भी कोई नियम नहीं, जो वस्तु सहस्रों जन्मों के पश्चात् कदाचित् दीख सकेगी, उसकी भक्ति आज ही करनी चाहिये !! जिसका बिलकुल अनुभव नहीं, उसका ध्यान किस तरह किया जा सकता है ? हमेशा अनुभूत वस्तुका ही ध्यान होना संभव है। परमेश्वर यदि सहस्र जन्मों की तपस्या के पश्चात् अनुभव में आनेवाला होगा, तो उसका अनुभव होनेके पश्चात् हि उसका ध्यान होना सम्भव है। सेवा, भक्ति, प्रार्थना, उपासना और उससे विनय करना होगा, तो उसका साक्षात्कारके पश्चात् हि सम्भव है, उससे पूर्व ध्यान भी असंभव है, फिर गुणवर्णन तो कैसे संभव हो सकता है ?

पाठकों! कल्पना करिये कि आपने 'आम' देखा ही नहीं और इस जन्म में आप आमको देख भी नहीं सकते। फिर आप आमका ध्यान किस तरह कर सकेंगे ? सोचिये तो सही ! न देखी, न खायी, न चखी, न अनुभवली वस्तुका आप ध्यान कैसा करेंगे ? कभी कोई अनुभव न की हुई वस्तुका ध्यान कर हि नहीं सकता। आपने अपने मातापिता को देखा होगा, तोही उनका ध्यान आप कर सकते हैं, परन्तु राणाप्रताप, छत्रपति शिवाजी महाराज, वसिष्ठ ऋषि अथवा श्रीरामचन्द्र का ध्यान आप किस तरह कर सकेंगे ? उनकी मूर्तियोंका ध्यान होना, तो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि उनमें से किसी का साक्षात्कार आपको नहीं हुआ और आगे भी नहीं होगा। हां जितना उनका इतिहास आपने जाना है, उतनाही आप उनका स्मरण कर सकते हैं। इस से यही सिद्ध हुआ कि, सर्वप्रथम जिसका ध्यान करना होगा, उसका साक्षात्कार करना चाहिये। अग्नि न देखते हुए आप अग्निका स्मरण कर नहीं सकते, एक बार देखो या अनुभव में आयी वस्तुकाहि आप उतनाही ध्यान कर सकते हैं कि, जितना उस विषय में आपको अनुभव हुआ है। यदि विश्व में उत्पन्न वस्तुओं के विषय में यह बात सत्य है, तो विश्वनियामक का भी ध्यान उसका अनुभव किये विना कैसा हो सकता है ? निःसन्देह अनुभवके विना ध्यान नहीं हो सकता है।

इसीलिये उपनिषदों में ऋषिश्रेष्ठोंने लिखा है कि-

आत्माका दर्शन।

आत्मा वो अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेयि! आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।

(बृ० उ० ४।५।६)

'हे प्रिय शिष्य! निःसन्देह आत्माका पहिले दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन और निदिध्यास करना चाहिये। निश्चयपूर्वक यह सत्य है कि, 'आत्मा का दर्शन' श्रवण, मनन, निदिध्यासन होनेसे यह सब ज्ञात हो जाता है।'

याज्ञवल्क्य ऋषि का यह कथन है कि, "आत्मा का सबसे पहिले दर्शन होना चाहिये" और पश्चात् उसके गुणोंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। आत्मा का दर्शन किये विना उसके गुणोंका श्रवण, मनन अच्छी तरह नहीं हो सकता। व्यवहार में भी देखिये, आपने एक वायुयान देखा, तो देखने से आपके मनमें कुतूहल उत्पन्न होगा कि, यह क्या है, यह आकाश में कैसे चल रहा है, ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होनेके पश्चात् किसी गुरुके पास आप जा सकते हैं और उस विषयमें आप अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किसी नास्तिक ने आपके मनमें वायुयान मिथ्या होनेके विषयमें सौ बातें भी कहीं, तो आप उनको नहीं मानेंगे, क्योंकि आपने एक बार उस वायुयान का साक्षात्कार किया है। आप उस नास्तिक की युक्तियोंका खण्डन यद्यपि न कर सकेंगे, तथापि आप इतना तो उसको कह सकते हैं कि, मैंने वायुयान आकाश में चलते हुए देखा है, उसमें

दोचार आदमी बैठे थे और इंजिन से वह चलाया जाता था और चलते समय आवाज भी बडा भारी होता था। मैं आपकी युक्तियों का खण्डन नहीं कर सकता, तथापि प्रत्यक्ष वायुयान देखने के कारण मैं उसको असत्य भी नहीं मान सकता। प्रत्यक्ष देखने के कारण आपकी जैसी श्रद्धा और आपका जैसा अटूट विश्वास होगा, वैसा साक्षात्कार के बिना नहीं हो सकता।

क्यों नास्तिकों को डरते हो ?

अब ईश्वर के विषयमें देखिये, किसीने ईश्वर देखा ही नहीं, परंपरा से कहा, सुना, विश्वासहि चला आ रहा है, इसलिये नास्तिकों का एक युक्तिपूर्ण लेख आस्तिकों के मनके विश्वास को हिलाने में समर्थ हो जाता है ! हां कोई ऋषिवाक्यपर विश्वास रखे, तो बात दूसरी है, तथापि इस तरह के शब्दपर विश्वास रखनेवालेका विश्वास अटल और सुदृढ नहीं हो सकता, वह शिथिलसाहि होता है। परन्तु जैसा कि ऊपर उपनिषद्वाक्य में कहे हुए उपदेश के अनुसार यदि ईश्वर का साक्षात्कार सबसे प्रथम हो जाय, तो फिर नास्तिकों के हजारों लेख प्रकाशित हुए, तो भी वे लेख आपका विश्वास किस तरह शिथिल कर सकेंगे? इसलियेहि श्रवण, मनन और ध्यान के पूर्व ईश्वरका साक्षात्कार होना अत्यंत आवश्यक है और वैसाहि उपनिषद् का आदेश भी है।

उपदेशकों को, लेखकोंको और प्रवचनकारों को पहिले साक्षात्कार हो सकता है, इस बातका बिलकुल पता तक नहीं होता, इसलिये वे ऊपर के वचन के शब्द इस तरह परिवर्तित करते हैं—

ऋषिवचनको मत बिगाडो।

मूलवचन–

आत्मा वा अरे "द्रष्टव्यः" श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

उपदेशकोंके द्वारा परिवर्तित वचन–

आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य, (पश्चात्) "द्रष्टव्यः"।

(मूल ऋषिका वचन) "आत्मा का पहिले दर्शन करो, पश्चात् उसका श्रवण, मनन, निदिध्यास करो।" परन्तु इस वचन को ठीक न समझनेवाले उपदेशक इसको परिवर्तित करके, ऐसा अर्थ करते हैं- "आत्मा के गुणों का श्रवण, मनन, निदिध्यास करो, (पश्चात् कभी होगा तो उसका) साक्षात्कार करो।"

यदि आजकल के उपदेशकों के मतानुसार हि याज्ञवल्क्य ऋषिको कहना होता, तो उसको अपना वाक्य इस तरह परिवर्तन करके कहने में किसीने प्रतिबंध तो नहीं किया था !! यह एक ही बार नहीं, परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में थोडेसे हेरफेरसे चार बार यही वाक्य इसी क्रमसे आया है और चारहि बार आत्मा का दर्शन सबसे प्रथम करनेका ही उपदेश निश्चित रीतिसे हुआ है। क्या यह विचारणीय विषय नहीं है?

आजकल के उपदेशकों का ज्ञान याज्ञवल्क्य ऋषि से अधिक नहीं है। फिर भी इनको ऋषिवाक्य को तोडमरोडकर अर्थ बदलने में थोडासा भी संकोच नहीं होता, यह कितना आश्चर्य है ? यदि ये लोग कहेंगे कि, इस ऋषिवाक्य का ज्ञान हमें नहीं हुआ, तब तो ठीक होगा, परन्तु जैसा वाक्य ये उपदेशक मानते हैं वैसा ही वास्तव में ऋषिको अभीष्ट होता, तो ऋषि वैसाही वाक्य लिख लेता, परन्तु वैसा ऋषिने लिखा नहीं है। अस्तु, इस तरह उपदेशकों की कारवाई है, जिससे ऋषिके वाक्य उलटपुलट किये गये हैं और ऋषियों की प्रणाली तोडी गयी है और सत्य कहनेवाले के पीछे येही पडते हैं, इसका कारण स्पष्ट ही है।

इसी कारण यदि इस समय किसीने कहा कि, सब से पहिले ईश्वर का अथवा आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये, तो उसपर विश्वास रखने के लिये भी आज कोई तैयार ही नहीं है !!! जो बात उपनिषत्काल में सहजसी थी, वही बात उपनिषदों के वचन सामने रहनेपर भी आज असंभवसी प्रतीत हो रही है और उसे मानने के लिये आज कोई तैयार नहीं है, तथापि आज सभी वैदिकधर्मीहि

बने हुए हैं। सबका यही निश्चय हुआ है कि ईश्वर का साक्षात्कार होना जन्मजन्मान्तर में भी असंभव है, फिर आज तो नितान्तहि अशक्य है। अतः जो पण्डित ईश्वर का साक्षात्कार सहस्रों जन्मों में होनेवाला भी नहीं है, ऐसा कहेगा, वही सत्य है और जो पण्डित कहेगा कि, नहीं ईश्वर का साक्षात्कार इस समय भी होना संभव है, वह असत्यवादी है। उपदेशकोंकी असत्य कल्पना के कारण इतना असत्य विश्वास जनता के मनों में सुदृढ हो चुका है !!!

वैदिक मार्ग से हम कितने दूर चले गये हैं और आध्यात्मिक अपसिद्धान्तोंको हमने कितना अपनाया है, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। इसी का नाम भ्रम है। ईश्वरसाक्षात्कार होनेमें यह बडा भारी प्रतिबंध है। अब हमारे समझ मे नहीं आता कि, इस भ्रमको हम किस तरह दूर कर सकेंगे? क्योंकि जितना जितना ईश्वरका साक्षात्कार होनेकी संभावना अधिक वर्णन की जायगी, उतने अधिक विरोधी मार्गपर चलनेवाले उपदेशक विरोध खडा करेंगे, और उतने पाठक ईश्वरस्वरूपसे दूर होते जायंगे !!!

ईश्वरका साक्षात्कार।

पाठकों को पता है कि विना विशेष अनुष्ठानकेही वीर अर्जुन को युद्धभूमिपर आध घण्टे के अन्दरहि परमेश्वर का साक्षात्कार हुआ था। आज भी हम पढते हैं कि श्रीपरमहंस रामकृष्ण महाराजने स्वामी विवेकानन्दजी को साक्षात्कार सब से प्रथम नास्तिक होनेकी अवस्था में करवाया था, इसी तरह पं० गुरुदत्तजी को इसी तरह का साक्षात्कार श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की मृत्यु के समय वे स्वयं नास्तिक थे, तो भी हुआ था, जिससे पं० गुरुदत्तजी नास्तिक के आस्तिक क्षणमात्र में हि हुए थे। ऐसे सैकडों वृत्तान्त हैं कि जिनमें उपनिषद्वचन में कहे उपदेश के अनुसार हि प्रथम साक्षात्कार होने की बात अनुभव में आ गयी थी। परन्तु इन बातों को आज मानता कौन है? सब मानते तो यही हैं कि जन्मजन्मान्तरों में साक्षात्कार होगा तो होगा, परंतु इस जन्ममें तो नहीं होगा !! यह मानना ऋषियों के अनुभव के सर्वथाविरुद्ध है।

यहां हम पूछना चाहते हैं कि मान लिया जाय कि सहस्र जन्मों के उपरान्त ईश्वरसाक्षात्कार होना सम्भव है। वैसाहि हो, परन्तु हमारा यही हजारवाँ जन्म नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है। हजार जन्म व्यतीत हो चुके हैं और यही जन्म साक्षात्कार के लिये ही मिला है, ऐसा क्यों न माना जाय? किसने सहस्रों जन्मोंका हिसाब रक्खा है? अतः इसी जन्म में ईश्वरसाक्षात्कार नहीं होगा, ऐसा मानना अयुक्त है।

उपनिषद्वचन का यह तात्पर्य नहीं है कि, जरूरहि हजार जन्म तपस्या में व्यतीत होने चाहिये, पश्चात् ईश्वर का साक्षात्कार होगा। नहीं, प्रत्येक मनुष्य-जन्म ईश्वर के साक्षात्कार करनेके लिये ही हुआ है, केवल उसने अपनी दृष्टीका रुख बदलना है। यह कार्य हरएक मनुष्य कर सकता है। हजार जन्मोंकी दिवार हमारे और ईश्वरके बीचमें है, ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है और ऐसा मानना वेद-विरुद्ध भी है।

मनुष्ययोनिको छोडकर अन्य योनि में जो प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनको यह साक्षात्कार साध्य नहीं है, परन्तु मनुष्ययोनि इसी कार्य के लियेहि है। फिर इस योनिमें आये मनुष्योंको उनका वह साध्य सहस्र जन्मों के बाद होगा तो होगा, ऐसा कहकर निरुत्साहित करना सर्वथा अयोग्य है। परन्तु जिनको स्वयं पता नहीं, वे लोग उपदेश करने लगे, तो दूसरा क्या कहेंगे, वे तो ऐसाही कहेंगे कि, 'भाई यह तो दुःसाध्य है।' परन्तु पाठक यह समझें कि उनका जन्म ही इस साध्यको सिद्ध करने के लिये हुआ है और प्रयत्न करनेपर यह ईश्वरसाक्षात्कार उनको हो सकता है। वेद स्पष्ट कह रहा है-

सूर्य के समान ईश्वरका साक्षात्कार।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ (ऋ० १।२२।२०-२१)

"विष्णु- व्यापक परमेश्वर-का जो परमपद है, उसको विद्वान् (सदा पश्यन्ति) सदा देखते हैं, जिस तरह सूर्यको आकाशमें (मनुष्य देखते हैं)। जो विष्णु का परमपद है, उसको ज्ञानी सत्कर्मकर्ता और जाग्रत रहनेवाले प्रदीप्त हुए के समान देखते हैं।"

इन मंत्रों में स्पष्ट कहा है कि परमेश्वरका साक्षात्कार वैसा होता है कि, जैसा दिनमें आकाश के अन्दर सूर्यका दर्शन होता है। क्या सूर्य को कोई पाठक देख नहीं सकता? यदि सब आंखवाले लोग सूर्य को देख सकते हैं, तो वे उतनीहि स्पष्टतासे परमेश्वर को भी देख सकते हैं, परन्तु इसके लिये चार ही शर्तें हैं। 'सूरि, विप्र, विपन्यु और जागृवान' होना चाहिये। विद्वान्, ज्ञानी, सत्कर्मशील और जाग्रत रहेंगे, तो लोग (सदा पश्यन्ति) सदोदित ईश्वर को साक्षात् देखते रहेंगे, परन्तु दूसरेके सहारेसे थोडा साक्षात्कार होनेके लिये इतनी शर्तोंकी भी आवश्यकता नहीं है। जैसा बालक स्वयं नहीं चल सकने की अवस्थामें दूसरे की सहाय्यता लेकर चल सकता है और चलनेके आनन्द का स्वयं अनुभव कर सकता है, ठीक इस तरह जो लोग स्वयं ईश्वर को सदा नहीं देख सकते, वे किसी न किसी प्रकार से क्षणमात्र क्यों न सही, परन्तु परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। इसीलिये ऋषि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि, 'आत्मा का साक्षात् दर्शन प्रथम करना चाहिये और तत्पश्चात् आत्मा के गुणोंका वर्णन सुनना चाहिये, तत्पश्चात् उन गुणोंका मनन और सतत ध्यान करना चाहिये। इतना करनेपर ईश्वर का सतत साक्षात्कार हो सकता है।'

जो पहिला साक्षात्कार है, वह सतत नहीं है, वह होगा थोडासा, पश्चात् होनेवाला साक्षात्कार सतत होनेवाला है। दोनों साक्षात्कारों में यह भेद है, परंतु सर्वप्रथम साक्षात्कार हो ही नहीं सकता, यह बात नहीं है। किस तरह सर्वप्रथम साक्षात्कार हो सकता है, यह बात वेदों के योग्य मननसे स्वय स्पष्ट होनेवाली है। यह कोई कहने की बात नहीं है, यह स्वयं अनुभव करनेकी बात है। यही वेद में बल है कि जो अपने उपदेश से साधक को परमेश्वरसाक्षात्कार सुगमता के साथ करा देता है। वेदका योग्य बोध इसलिये ही होना चाहिये। जबतक वेदका सुबोध बोध होता था, उस समय ईश्वरसाक्षात्कार सब को होता था, आज वेदकी ओर दुर्लक्ष्य हुआ है अथवा वेदका विपरीत अर्थ प्रसृत हुआ है, इसलिये सरल से सरल बात भी कठीन से कठीन बन चुकी है!! और यहां तक ख्याल हो चुका है कि, ईश्वर तो कभी दीखनेवालाहि नहीं है। परन्तु वैदिक जमाने में परमेश्वर साधकों को वैसा दीखता था कि जैसा दो दो पहरका सूर्य हरएक मनुष्यको दीख सकता है।

अदृश्य आत्मा।

दूसरी एक बात ऐसी प्रचलित हुई है कि, परमात्मा अदृश्य है, इसलिये उसका साक्षात्कार होना असंभव है। पूर्व स्थलमें वर्णन किये उपदेशक लोग सहस्र जन्मों के पश्चात् परमात्मा का साक्षात्कार होना संभव है, ऐसा मानते थे, उनके मतसे कुछ न कुछ आशा साधकों के लिये थी, परन्तु इन अदृश्यवादी लोगों के मतमें तो परमात्मसाक्षात्कार की कोई आशा ही नहीं रही। साधक एक जन्म साधन करे अथवा दस हजार जन्म साधन करे उसके लिये परमात्मा सदाके लिये दूर रहेगा और यह साधक परमात्मा के दर्शन के लिये सदाही तडफता रहेगा। क्योंकि परमात्मा तो स्वरूपतः हि अदृश्य माना गया है।

पूर्वोक्त ऋग्वेदमन्त्र में (सदा पश्यन्ति सूरयः) सदा ज्ञानी उसको "देखते हैं," ऐसा कहा है। इस मन्त्रमें 'पश्यन्ति' शब्द है, "देखते है," ऐसा कहा है। क्या मन्त्र के शब्द अनुभव से शून्य होंगे? हमारे ख्याल से कभी नहीं होंगे। मन्त्रके शब्द साधक के लिये सहाय्यक होनेवाले हैं। जैसा मन्त्रमें 'पश्यन्ति' शब्द है, उसी तरह पूर्वोक्त उपनिषद्वचनमें भी कहा है कि, 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् 'आत्माका दर्शन

करना चाहिये'। क्या कभी किसी उपायसे न दीखनेवाले आत्मा का दर्शन करने का उपदेश हो सकता है? या कभी नहीं हो सकता है? यह विचारणीय बात है।

परन्तु आजकल ऐसा माना जाता है, उपदेशा जाता है और प्रवचनोंमें बोला जाता है कि, परमात्मा तो नेत्रका विषय कभी हो ही नहीं सकता, जो दिखाई देता है वह परमेश्वर नहीं, क्योंकि यह विश्व में रूपविषय है, यह जगत् है जो दीखता है। परमेश्वर अरूप है, इसलिये वह दीखेगा कैसे? फिर उपनिषदमें याज्ञवल्क्यने "द्रष्टव्यः" (देखना चाहिये, देखनेयोग्य है) ऐसा प्रयोग कैसे किया? और वेदमन्त्र में प्रत्यक्ष विष्णुदेवताके मन्त्रों में (सदा पश्यन्ति सूरयः) सदा ज्ञानी विष्णु अर्थात् व्यापक ईश्वर को देखते हैं, यह प्रयोग किस तरह हुआ? क्या वेदमन्त्र और उपनिषद् का उपदेश अशुद्ध है और आजकलके उपदेशक उनसे अधिक ज्ञाता हैं?

इसपर दूसरी आपत्ति भी है, मान लिया जाय कि परमेश्वर अरूप होनेसे नेत्रद्वारा दीख नहीं सकता, अशब्द होनेसे उसका कानद्वारा श्रवण हो नहीं सकता, अगन्ध होनेसे उसको सूंघकर उसका नाकद्वारा सुवास नहीं लिया जा सकता, वह रुचिरहित होनेसे उसका जिह्वाद्वारा ग्रहण हो नहीं सकता और इसी तरह उसका ज्ञान हमारे स्पर्शेन्द्रियसे भी नहीं हो सकता। यह ठीक है, यदि इन पांचों ज्ञानेंद्रियों से उसका ग्रहण नहीं हो सकता, तो निःसन्देह पांचों कर्मेन्द्रियोंसे तो उसका ज्ञान होना सुतरां असम्भव है। अर्थात् हमारे ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय उसका साक्षात्कार करने में असमर्थ सिद्ध हुए। फिर परमात्मा का साक्षात्कार किससे होना सम्भव है? यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है।

अब रहा मन और बुद्धि। मन भी उसका मनन नहीं कर सकता, ऐसा ही सब मानते हैं। भला जिस को पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेंद्रियां और मन नहीं जान सकते, उसका ज्ञान बुद्धिसे-केवल बुद्धिसे कैसे हो सकता है। बुद्धि तो उस समय कार्य करेगी, जब ये अन्य इन्द्रिय कुछ न कुछ मसाला बुद्धि के सामने उपस्थित करेंगे। जब इनमेंसे कोई इन्द्रिय परमात्मा का कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते, तो बुद्धि के पास कुछ भी मसाला नहीं उपस्थित रह सकता, जिससे बुद्धि परमात्मा की कुछ न कुछ कल्पना कर सके? फिर परमात्मा का साक्षात्कार कौन करता है? या परमात्मा का साक्षात्कार होता ही नहीं?

स्थूल का दर्शन।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, हम किस का साक्षात्कार कर सकते हैं? जब कोई कहेंगे कि विश्व का या जगत् का साक्षात्कार हम कर सकते हैं। परन्तु यह भी भ्रम ही है। देखिये आप के सामने समीपका हराभरा वृक्ष है और दूर का नीला सुन्दर पर्वत है। आप यह मान रहे हैं कि ये पदार्थ आपको दीख रहे हैं। सभी लोग मानते हैं, इन जगत् की वस्तुओं का साक्षात्कार होता है। मनुष्य, वृक्ष और पर्वत का साक्षात्कार कर सकता है। क्या सचमुच हम वृक्ष और पर्वत को देख सकते हैं?

हमारा आंख किस का ग्रहण कर सकता है? जरासा सोचिये तो सही। वृक्ष का हरा रंग और पर्वत का नीला रंग तथा उन के आकार जो आंख के रूपविषय में आ सकते हैं, उन का ग्रहण हमारा आंख कर सकता है। परन्तु क्या रंग और आकार ही वृक्ष और पर्वत हैं, कदापि नहीं। फिर आप के आंख ने वस्तु का ग्रहण किस तरह किया? हमारा आंख वृक्ष का गंध ले सकता है, परन्तु कदापि सम्पूर्ण वृक्षका ग्रहण आंख नहीं कर सकता। हमारा हाथ वृक्ष का स्पर्श कर सकता है, परन्तु कदापि सम्पूर्ण वृक्ष का ग्रहण हाथ से नहीं हो सकता। पाठक इस तरह सोचेंगे, तो जान सकते हैं कि, हमारा एक एक इन्द्रिय एक एक गुण को ही ले सकती है, सम्पूर्ण वस्तु को नहीं ले सकती। अर्थात् इन्द्रियों को जगत् के किसी संपूर्ण वस्तु का कभी पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता, केवल एक एक गुण का अनुभव होता है। हमारे मन के सामने ये पांचों इन्द्रियोंने प्राप्त किये गुण रक्खे जाते हैं और

मननद्वारा ये इतने गुण वृक्ष या पर्वत में होंगे, ऐसी कल्पना मन करता है जिससे हमें वृक्ष या पर्वत का अथवा अन्य वस्तुका ज्ञान होता है। मन तो इंद्रियों की सहाय्यता के बिना किसी वस्तुको कभी साक्षात् कर हि नहीं सकता। देखना, सुनना आदि करनेवाले इन्द्रिय हैं। और ये इन्द्रिय भी किसी वस्तुको पूर्ण रूपसे ग्रहण करने में असमर्थ हैं। फिर किसने जगत् की वस्तुओं का साक्षात्कार किया? और हम जो कहते हैं कि हमें जगत् का साक्षात्कार होता है और ईश्वर का नहीं होता, इस में सत्यांश कितना है?

हमारे इन्द्रिय किसी एकहि गुणका ग्रहण करते हैं, इतनीहि बात सत्य है—

इन्द्रिय	तत्त्व	गुण			
नासिका	पृथ्वीतत्त्वके	गन्ध का	ग्रहण	करती	है।
जिह्वा	जलतत्त्व के	रस ,,	,,	,,	
नेत्र	अग्नि ,,	रूप ,,	,,	,,	
त्वचा	वायु ,,	स्पर्श ,,	,,	,,	
कर्ण	आकाश ,,	शब्द ,,	,,	,,	

परन्तु किसीके गन्ध का ग्रहण होनेसे उस पूर्ण वस्तुका ग्रहण हुआ, ऐसा मानना असंभव है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में ये सभी गुण होते हैं, अतः सभी गुणोंका ग्रहण होनेसे उस वस्तुका ग्रहण होना संभव होगा। परन्तु सभी गुणों का ग्रहण करने का कोई इन्द्रिय हमारे पास नहीं है। अब सोचिये हमारे पास गुलाब का फूल है, उसका सुगन्ध नाकने लिया, परंतु नाक संपूर्ण फूल का ग्रहण करने में असमर्थ है, जिह्वा ने उसके पत्ते चखे और कहा कि इनका स्वाद यह है, नेत्रने उसका आकार और रंग कहा, त्वचाने स्पर्श करके मृदुत्व का अनुभव किया, कर्णने कहा कि इसमें शब्द नहीं है, इतना होनेपर भी इनमें से किसी भी इंद्रिय ने संपूर्ण गुलाबके फूलका ग्रहण ही नहीं किया, क्योंकि किसी भी इन्द्रिये के पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे वह संपूर्ण वस्तु का ग्रहण कर सके। यदि हमारे इन्द्रिय साधारण से साधारण स्थूल वस्तु का संपूर्ण ग्रहण करने में असमर्थ हैं, तो फिर उन्होंने संपूर्ण ईश्वरका ग्रहण न किया, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? अतः यहां पाठक यह समझें कि, जो कहा जाता है कि ईश्वर नेत्रकर्णादि इन्द्रियों का विषय नहीं है, उसमें संपूर्ण सत्य नहीं है, और वैसा कोई स्थूल पदार्थ भी संपूर्णतया नेत्रकर्णादि इन्द्रियों का विषय नहीं है, यह हमने इससे पूर्वहि देख लिया है, इसलिये नेत्रकर्णादि इन्द्रियों का विषय न होना, यह बात जैसी स्थूल वैसीहि सूक्ष्म तत्त्वके विषयमें समानतया ही सत्य है। इसलिये उसको ईश्वरके विषय में हि वैसा मानना सर्वथा अयोग्य है।

इंद्रियां मर्यादित शक्तिवाली हैं।

स्थूल पदार्थ भी मनुष्य के दृष्टिगोचर पूर्णतया नहीं होता है। आंख सूर्यको देखता है, परन्तु सूर्यके अनेक गुणोंमें से आंखने रूपका ही ग्रहण किया है, परन्तु संपूर्ण सूर्य केवल रूपयुक्त ही है, ऐसी बात नहीं है। इसी तरह अन्य वस्तुओं के विषयमें समझना योग्य है।

हमारे इन्द्रियों की शक्ति मर्यादित है, प्रत्येक इन्द्रिय अपनी मर्यादा में हि कार्य कर सकता है, दूसरे क्षेत्र में वह जाही नहीं सकता, फिर वहां कार्य करना, तो उसके लिये असंभव ही है। नासिका का गन्धक्षेत्र, जिह्वाका रसक्षेत्र, नेत्रका रूपक्षेत्र, त्वचाका स्पर्शक्षेत्र, कानका शब्दक्षेत्र नियत है। ये अपने कार्यक्षेत्र से बाहर जाकर अन्यके क्षेत्रमें कार्य करहि नहीं सकते। यदि मनुष्यको केवल नेत्र इंद्रिय ही रहा और अन्य इंद्रिय न रहे, तो वह समझेगा कि, विश्वमें केवल रूप ही रूप है और कोई अन्य गुण नहीं है। कभी आंख गन्धादिकों का ग्रहण नहीं कर सकती।

वस्तु तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धवाली होती है, इसलिये वस्तुका ग्रहण मनुष्य की कोई एक इन्द्रिय किस तरह कर सकेगी? और जो इन्द्रिय किसी स्थूल वस्तुका पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सकती, वह सूक्ष्म सर्वव्यापक ईश्वर का ग्रहण करने में समर्थ नहीं, ऐसा बार बार कहने की भी क्या आवश्यकता है? वह तो स्वयं सिद्ध ही बात है।

मनुष्य की पांचों इन्द्रियां अपने अपने आंशिक अनुभव मनके सामने रखती हैं और मन मननद्वारा

निर्धारित करता है कि, फलानी वस्तु विश्वमें है, यह निश्चय बुद्धि में ज्ञानरूप होकर उस वस्तु का ज्ञान कराता है। हरएक वस्तु के विषय में यही प्रक्रिया होकर वस्तु का ज्ञान होता है।

इन्द्रियां वस्तु का आंशिक गुण लेती हैं, परन्तु संपूर्ण वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकतीं। पांचों ज्ञानेंद्रियों के इस तरह के आंशिक अनुभव मन के मननक्षेत्र में पहुंचते हैं. मन स्वयं किसी वस्तु का ग्रहण-इन्द्रियों की सहाय्यता के बिना-कर नहीं सकता। मननक्षेत्र में आये इन्द्रियानुभवों की संगति लगाकर बुद्धिके क्षेत्र में निर्णय होता है कि यह वस्तु बाहर है। यहां निर्णय करनेवालेको वस्तु का साक्षात् पता नहीं है और जिन इन्द्रियोंको साक्षात् पता है, वह उनका आंशिक अनुभवहि केवल है। इसी तरह हमें वस्तुज्ञान हो रहा है। यदि इसी तरह वस्तुज्ञान होना है, तो वही रीति ईश्वर के ज्ञान होनेमें क्यों नही काम में लायी जा सकती?

ईश्वर का ग्रहण होगा।

प्रत्येक इन्द्रिय किसी वस्तुका संपूर्ण ग्रहण करनेमें असमर्थ है, इसी तरह वह ईश्वर के संपूर्ण ग्रहण करने में असमर्थ रहे। यह दोनों में समानता ही है। अब सोचना यह है कि जिस तरह प्रत्येक इन्द्रिय किसी वस्तु के आंशिक गुणका ग्रहण कर सकती है, उसी तरह यदि वह ईश्वर के गुणका भी आंशिक ग्रहण करने में समर्थ होगी, तो साधक ईश्वरका भी वैसाही साक्षात्कार कर सकेगा, जैसा दोपहर के सूर्यका वह कर सकता है।

वेदमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्य ईश्वर का वैसा साक्षात्कार कर सकता है, जैसा वह दोपहर के सूर्य का करता है। उपनिषद् में भी कहा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य।" आत्मा देखना चाहिये। ये वचन ऐसे हैं कि जो घोषणा कर करके कह रहे हैं कि, 'हे मनुष्य! तुम ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं।' इन वचनों में कोई किसी प्रकार का संदेह ही नहीं है, तथापि वचन और चाहिये, तो ये देखिये-

गीतामें ईश्वरदर्शन।

१. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्०। गी० २।२९
२. परं दृष्ट्वा निवर्तते०॥ गी० २।५९
३. यो मां पश्यति सर्वत्र०। गी. ६।३०
४. द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम। गी. ११।३
५. ०दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ११।४
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो। (गी ११।४)
६. पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। (गी. ११।५)
७. दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। गी ११।९
८. पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। गी. ११।१६
९. दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं०। गी ११।२०
१० अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा०। गी. ११।४५
११ सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि०। गी. ११।५२
१२. ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप। गी. ११।५४
१३. समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। (गी. १३।२८)

इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर के दर्शन होने के विषय में असंदिग्ध रीतिसे कहा है। (१) इस आश्चर्यकारक आत्मा का दर्शन करते हैं, (२) पर (ब्रह्म) का दर्शन होनेपर (वासना दूर होती है), (३) ईश्वर को सर्वत्र देखता है, (४) ईश्वर का रूप देखना चाहता हूं, (५) अपने अव्यय आत्मा का रूप दिखाओ, यदि मैं उसे देख सकता हूं, तो बताओ, (६) मेरे सैंकडों और हजारों रूप ये देखो, (७) ईश्वर का रूप भगवान् ने अर्जुन को दर्शाया, (८) अनन्तरूपी ईश्वर को मैं सर्वत्र देखता हूं, (९) उसका अद्भुत रूप देख लिया, (१०) पहिले न देखा हुआ ईश्वर का रूप देखकर आनन्द हुआ, (११) जो तूने देखा, वह रूप सहज ही से देखना असम्भव है, (१२) ईश्वर के रूप का ज्ञान होता है, वह देखा जाता है और उस रूप में तत्त्वत प्रवेश भी कर सकते हैं, (१३) ईश्वर सर्वत्र सम भाव से है, यह मनुष्य देख सकता है।

गीता में और भी ऐसे वचन हैं, जिन में ईश्वर के देखने का उल्लेख है। तथापि इतने वचनों में स्पष्ट ही ईश्वर के दर्शन होने का और उस ईश्वर में तत्त्वतः प्रविष्ट होने के अनुभव का उल्लेख है। कितना अच्छा होगा कि, यदि हम सब ईश्वर को किसी युक्तिसे देखेंगे और उसी में विचरेंगे। इसी का इस लेखमाला में विचार करना है। यहां पाठक इन वचनों में देखें कि भगवद्गीता में ईश्वर के दर्शन होने का उल्लेख स्पष्ट है। भगवद्गीता ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिस का यौंहि परित्याग हो सकता है। तथापि हम जानते हैं कि, कई लोग ऐसे हैं कि, जो इस विषय में उपनिषदों का प्रमाण मांगेंगे, उन के लिये हम यहां उपनिषद्वचन देते हैं-

उपनिषदोंमें आत्मदर्शन।

१. एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति। छां० ३।६।१
२. नान्यदात्मनोऽपश्यत्। बृ० १।४।१
३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। बृ० २।४।५
४. आत्मन्येवात्मानं पश्यति। बृ० ४।४।२३
   सर्वमात्मानं पश्यति। बृ० ४।४।२३
५. यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
   बृ० ५।१५।१, ईश० १६
६. तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः। कठ० २।२०
७. अपश्यन्देवात्मशक्तिम्। श्वेता० १।३
८. देवं पश्येन्निगूढवत्। श्वेता० १।१४
९. यदा पश्यः पश्यति रुक्मवर्णम्। मैत्री० ६।१८,
   मुण्ड० ३।१।६२
१०. यदात्मनात्मानं पश्यति। मैत्री० ६।२०
११. ब्रह्म तमसः परमपश्यत्। मैत्री० ६।२४
१२. स्वे महिम्नि तिष्ठमानं दृष्ट्वा। मैत्री० ६।२८
१३. स्वे महिम्नि तिष्ठमानं पश्यति। मैत्री० ६।३८
१४. यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः। मुण्ड० ३।१।५
१५. वेनस्तत्पश्यन् परमं गुहा यत्। महानारा० २।३
१६. तदपश्यत्, तदभवत्। महानारा० २।६
१७. तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा। गौड० २।३८
१८ स्वात्मानं दर्शयति। नृ० पू० ४।३
१९. स देवं पश्यति। नृ. पू ४।३
२० परमं ब्रह्म पश्यति। नृ० उ० ६
२१. अन्तः पश्यति सत्त्वस्थम्। चूलि० उ० २
२२. पश्यन्त्यस्यां महात्मानम्। चूलि० उ० ८
२३. दृश्यते पुरुषोत्तमः। ध्यान० उ० २
२४ एवं पश्येन्निगूढवत्। ध्यान० उ० २०
   देवं पश्येन्निगूढवत्। ,,
२५ स्वं आत्मानं पश्यन्। वासुदे० उ० २

उपनिषदोंमें ये वचन हैं, जिनमें यह स्पष्ट कहा है कि, परमात्मा देखा जाता है। साधक उसे देख सकते हैं। इन वचनों का आशय यह है-

(१) इस अमृत (अमर आत्मा) को देखकर तृप्त होता है, (२) आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी उसने नहीं देखा, अर्थात् केवल आत्मा को ही उन्हों ने देखा, (३) आत्मा का दर्शन करना चाहिये, (४) आत्मा का दर्शन करता है, सर्व आत्मा का दर्शन करता है, (५) जो तेरा (आत्मा का) कल्याणमय रूप है, उसे मैं देखता हूं। (६) उसे शोकरहित होकर देखता है, (७) देव-आत्मा की शक्ति को देखता है, (८) देव का गुह्य जैसा दर्शन करता है, (९) द्रष्टा तेजस्वी आत्मा का दर्शन करता है, (१०) आत्मा का दर्शन करता है, (११) अन्धकार के परे परब्रह्म का दर्शन करता है। (१२-१३) अपनी महिमामें विराजनेवाले आत्माका दर्शन करता है, (१४) दोषों का नाश होने के पश्चात् यति उस का दर्शन करते है, (१५) वेन उस गुहानिवासी आत्मा का दर्शन करता है, (१६) उस को देखता है और वैसा होता है, (१७) आध्यात्मिक तत्त्व का दर्शन होता है, (१८) आत्माको दर्शाता है, (१९) देव को देखता है, (२०) परब्रह्म का दर्शन करता है, (२१) अन्दर आत्मा का दर्शन करता है, (२२) महान् आत्मा को देखते हैं, (२३) पुरुषोत्तम दीखता है, (२४) गुप्त देव को देखते हैं, (२५) अपने आत्मा का देखते हैं।

इन में पहिले १४ वाक्य मुख्य ग्यारह उपनिषदों के हैं, जिन को मख्य उपनिषदोंके वाक्य चाहिये, वे

इनका विचार करें, जिन को अन्य उपनिषद् भी विचारणीय हैं, ऐसा प्रतीत होता है, वे अन्य वाक्य भी देखें। पूर्वस्थान में श्रीमद्भगवद्गीता के १३ वचन दिये हैं और ये उपनिषदादि ग्रन्थों के २५ वचन है । इन सब में आत्मा का साक्षात्कार होने का स्पष्ट कथन है । स्पष्ट कथन जैसा है, वैसा ही साधकों को लेना योग्य है । किसी के समझ में नहीं आता, इसलिए ऐसे वचनों के विपरीत अर्थ करना, तोडमरोड कर के खींचातानी करना, किसी को भी उचित नहीं है । इन उपनिषद्वचनों के विषय में लोक मर्जी चाहे कहते हैं, परन्तु हम यह मानते हैं कि, ये वचन अनुभवी महान आत्माओं के तो निःसन्देह है, इसलिये इन को वैसाहि त्यागना सर्वदा अयोग्य है । अर्थात् इन का प्रामाण्य मानना योग्य है ।

अस्तु। यहां तक के वचनोंमें परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने के विषय में निःसन्देह घोषणा है । अब जो लोग केवल वैदिक संहिता के हि मंत्र इस विषय में चाहते हैं, उन की संतुष्टि के लिये भी हमें यहां कुछ प्रमाण उपस्थित करने चाहिए । अतः इस विषय के वेदमंत्र देखिए—

वेद में परमपद का दर्शन ।

(१) तद्विष्णोः परमं पद सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋ० १।२२।२०

(२) वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यत् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ॥ अथर्व० २।१।१

(३) परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ अथर्व० २।१।५

(४) परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत् ॥ वा० यजु० ३२।१२

(५) यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
काण्व यजु० अ० ४०।१६

वेदमन्त्र बहुत ही दिये जा सकते हैं, परन्तु आज के अपने विचार के लिये इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं, इन का अर्थ देखिये-

(१) उस विष्णु के परमपद को ज्ञानी लोग सदा वैसा देखते हैं, जैसा मनुष्य सूर्य को आकाश में देखते हैं, (२) ईश्वर का भक्त गुहानिवासी परम-पद को देखता है, जहां सब विश्व एक घोसले में रहने के समान रहता है, (३) जिस में सब देवताएं अमृत को प्राप्त करती है, उस फैले हुए अमृत के आनन्दमय सूत्र (आत्मा) को मैंने सब भुवनों का पर्यालोचन करनेके पश्चात् देखा, (४) द्यावापृथिवी, दिशा और सब लोकलोकान्तरोंका सर्वतः आलोचन करनेके पश्चात् सत्यके फैले हुए सूत्र (आत्मा) को देखा और देखनेके पश्चात् वैसा ही हुआ, जैसा था, (५) तेरा कल्याणमय रूप मैं देखता हूं ।

इत्यादि वेदवचनों में स्पष्टताके साथ यह घोषणा है कि, परमेश्वर का रूप देखा जाता है । इन सब वचनों में ' दृश् ' (देखना) इसी धातु के रूप प्रयुक्त हुए हैं । दृश् धातु प्रायः रूप के विषय में हि प्रयुक्त होता है । क्वचित् अलंकारिक अर्थ में अर्थात् अनुभवअर्थ में भी इसका प्रयोग होता है, परन्तु इन सब वचनों में आलंकारिक अर्थ हि है, और स्पष्टार्थ नहीं है, ऐसा कहना असम्भव है । इसलिये परमात्मा देखा जा सकता है, ऐसा ही इन वचनों का अर्थ स्पष्टतासे विदित होगा।

ईश्वरको देखेंगे ।

परमात्मा को किस तरह देखना है ? यह प्रश्न यहां पाठक पूछेंगे, यह प्रश्न इस स्थानपर योग्य ही है, इसी का उत्तर आगेके लेखों में देने का यत्न करता है । इस समय हमें इस विषय में पता नहीं है, हमारा सहारा वेदमन्त्रोंपर है । वेदमन्त्रों के सहारे से हम इस प्रश्न का उत्तर देने का यत्न करेंगे और यदि सम्भव हुआ, तो पाठकों के साथ हम भी परमात्मा का साक्षात्कार वेदमन्त्रों के दर्शाये मार्ग से जाकर करेंगे । (क्रमशः)

देवताविषय में

पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुका महान् भ्रम !

" जिज्ञासुजी का वेद और ऋषि दयानन्द पर हमला ! "

उनके अकल्पित एवं असंगत सिद्धान्त ।

(लेखक- श्री० द्विजेन्द्रनाथजी, शास्त्री, अध्यक्ष- वृन्दावन गुरुकुल)

वेदमन्त्रों के देवताविषय में आर्यमित्रादि समाचारपत्रों में बहुत दिनों से एक प्रकार का कोलाहल मचा हुआ है। इस विषयमें अनेक विद्वानों तथा अविद्वानों ने पक्ष तथा विपक्ष दोनों में ही लेख लिखे और अभी तक लेख लिखे ही जा रहे हैं, परन्तु अब तक कुछ निर्णय नहीं हुआ।

ऐसे अव्यवस्थित लेखपरम्पराओं के झमेले में ऐसे गम्भीर विषय का निर्णय भी क्या हो सकता था, जैसा कि वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध वेदविशेषज्ञ पं० नरदेवजी शास्त्री ने प्रथम ही लिखा था कि लेखों द्वारा ऐसे विषयों का निर्णय नहीं हो सकता, वह ठीक ही उतरा। निर्णय की बात तो दूर रही, इस प्रकार के लेखों से लाभ भी कुछ नहीं हुआ, परन्तु जनता में भ्रम ही फैला। देवताविषय जनता के लिए एक हव्वा ही बन गया। वास्तव में देवताविषय इतना स्पष्ट है कि अन्य आचार्यों को जाने दीजिए, एक निरुक्तकार आचार्य यास्क का ही उक्त विषयक लेख इतना विशद एवं पूर्ण तथा पर्याप्त है कि यदि उस को पूर्ण रीतिसे समझने का कष्ट किया जाय, तो देवताविषय में कोई मतभेद का अवकाशही नहीं रहता, जैसा कि प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री पं० प्रियरत्नजी आर्य ने भी अपने एक बहुत सुन्दर एवं शास्त्र-सम्मत लेखमें प्रकाशित किया था।

ऋषि दयानन्दजी ने भी देवताविषय में यास्क के ही लेख को प्रमाण माना है। यास्क का उदाहरण देकर उसी की पुष्टि की है। जब कि श्री पं० सातवलेकरजी ने भी ता० २१ जौलई १९३८ के " आर्यमित्र " में देवताविषय में अपना मन्तव्य प्रकाशित कर दिया था, जिस को यास्क तथा ऋषि दयानन्द दोनों के ही देवताविषयक मन्तव्यों का निष्कर्षही कहना चाहिए, तो देवताविषयक वाद-विवाद वहीं समाप्त हो जाना चाहिए था। यदि इतने पर भी मतभेद रह जाता है, तो उनसे मिल कर अथवा पत्रोंद्वारा या विशेष विद्वत्सभाद्वारा निर्णय किया जा सकता था। परन्तु ऐसा न होकर लेखों की जो झडी लगी, लेखों का ऐसा नशा सवार हुआ कि कई महानुभावों ने तो आर्योचित सौजन्य एवं सभ्यता तथा शिष्टाचार को भी दूर फेंक दिया।

आर्यसमाज ने, आर्यसमाज की प्रतिनिधि-सभाओं में, जिन सातवलेकरजी को इतना मान दिया कि जन्म शताब्दी के अवसर पर उन के द्वारा वेदामृत लिखवाया और उन की प्रशंसा की भरमार कर दी; पञ्जाब में प्रतिनिधिसभा की स्वर्णजन्ती में वेदसम्मेलन होता है, तो सभापतिका आसन श्री पं० सातवलेकरजी को दिया जाता है; गुरुकुल कांगडी के उत्सवों में वेदविषय पर क्या पंडितजी ने अनेक गंभीर व्याख्यान नहीं दिये ? यू० पी० की स्वर्णजन्ती में वेदसम्मेलन होता तब भी सभापतिका आसन पं० सातवलेकरजी ही सुशोभित करते हैं। लगभग ३०-४० वर्ष से हिन्दी तथा मराठी में वैदिक साहित्य की जो सेवा उक्त पंडितजी ने की है, वह किसी से अप्रकट नहीं है; इन्हीं

पं० को उन सब अमूल्य सेवाओं एवं प्रतिष्ठाओं पर पानी फेर कर आज दोचार आदमियों ने मिलकर उनकी पगडी उछालनी शुरू कर दी। क्या तमाशा है।

अरे भाई, यदि किसी विषय में मतभेद था, तो शान्तिपूर्वक, सभ्यतापूर्वक, सौजन्यपूर्वक, आर्योचित रीतिसे भी तो उसका निर्णय हो सकता था, आज लगभग साल भर से इस प्रकार के लेखों में जो छीछालेदर हो रही है, उससे भ्रम फैलने के अतिरिक्त और कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इनसे आर्यजनता में भ्रान्तियां ही फैली हैं। विशेषतः पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के लेखों से अनेक सिद्धान्तसबंधी भ्रान्तियां फैली हैं, जिनका यहां दिग्दर्शन कराना हम उचित समझते हैं।

पण्डित ब्रह्मदत्तजी का जो यह मत है कि मन्त्रों के देवता अनियत हैं, यह नितान्त भ्रमपूर्ण है। ऋषि दयानन्द ने अपने किसी भी लेख में- " मन्त्रों के देवता अनियत हैं- " यह नहीं माना और न ही किन्हीं प्राचीन आचार्योंने कहीं इसका उल्लेख किया है। यह ब्रह्मदत्तजी के अपने मौलिक मस्तिष्क का ही आविष्कार है। परन्तु वे नहीं समझते कि देवता को अनियत मान कर वे वेदों पर कुठाराघात कर रहे हैं। जब कि यह सर्वानुमत है कि देवता मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को कहते हैं और मन्त्र सर्वांशत-ईश्वरीय है, ईश्वरीय रचना है। जैसा कि सभी वैदिक मानते हैं। फिर ईश्वर ने मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय को क्या नियत नहीं किया? क्या वह अनियत हो रहा? जिस रचना का प्रतिपाद्य विषय अनियत हो, उस रचना को क्या कोई असन्दिग्ध, सु-सङ्गत अथवा बुद्धि-संगत कह सकता है? कदापि नहीं।

यदि पण्डित ब्रह्मदत्तजी मन्त्ररचना ईश्वरीय मानते हैं, तो तत्प्रतिपाद्य विषय भी अवश्यमेव ईश्वर से नियत किया हुआ मानना पडेगा। अन्यथा मन्त्ररचना तो ईश्वर की किन्तु उसमें प्रतिपाद्य विषय नियत नहीं किया, इन दोनों बातों में त्रिकाल में भी सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। अतः यही मानना पडेगा कि मन्त्रवत् देवता भी ईश्वरीय हैं, नियत हैं, निर्धारित हैं, निश्चित हैं, अनियत नहीं। कारण किसी प्रतिपाद्य विषय का उपदेश करने के लिये ही तो ईश्वर ने मन्त्ररचना की होगी, या यह सोच कर कि चलो शब्दात्मक मन्त्र ऋषियों के हृदयों में फूंक दो, देवता तो ऋषि स्वयं ही निर्धारित कर लेंगे।

यदि ऐसा ही है तो वेद का ईश्वरीय होना या न होना बराबर ही हुए। फिर वेद को ईश्वरीय ही मानने से क्या लाभ? क्योंकि वेद में प्रतिपाद्य विषय तो ईश्वरीय है ही नहीं, वह तो ऋषियों की बुद्धिकी सूझ है, तो फिर वेदका वेदत्व या ईश्वरीयत्व क्या रहा? इसलिये पण्डित ब्रह्मदत्तजी ने मन्त्रके देवताओं को अनियत मान कर निःसन्देह ऋषि के वेद के ईश्वरीय होने के मुख्य सिद्धान्त पर कुठाराघात किया है। पण्डित सातवलेकरजी का देवतावाद में यदि कुछ मतभेद है, वह आर्यसमाज के लिये इतना घातक नहीं, जितना जिज्ञासु महोदयजी का देवताविषयक अनियत देवतावाद। इतना ही नहीं इस अनियत वाद से न केवल वेदों की ईश्वरीयता का खण्डन होता है, अपितु शब्द के एक महान् सर्वतन्त्र मौलिक सिद्धान्त पर भी कुठाराघात होता है।

पाठक सावधान, होकर देखें कि शब्दशास्त्र का सिद्धान्त है कि, " सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे " (महाभाष्य) अर्थात्-शब्द, अर्थ तथा इन दोनोंका सम्बन्ध ये तीनों सिद्ध अर्थात् नित्य हैं। जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शब्दार्थसम्बन्ध नित्य होने से शब्दसे अर्थ कभी पृथक् नहीं हो सकता। इस सार्वभौम सिद्धान्त के अनुसार यदि जिज्ञासुजी मन्त्रोंको ईश्वरीय मानते हैं, तो तत्प्रतिपाद्य अर्थ (देवता) भी अनिवार्यतया ईश्वरीय ही होने चाहियें। परन्तु पण्डित ब्रह्मदत्तजी का कथन है कि, केवल शब्दमयी मन्त्ररचना तो ईश्वरीय और तत्प्रतिपाद्य विषय ऋषिप्रोक्त हैं। वह कितना अनर्थ है। जिज्ञासुजी तो अपनी वैय्याकरण होनेकी दुन्दुभी बजवा रहे हैं, परन्तु

व्याकरण के इस मौलिक महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त की अवहेलना कर रहे हैं, जिसका भाष्यकार पातंजलि ने पस्पशाह्निक में प्रतिपादन किया है। महावैय्याकरणजी, व्याकरण के इस मौलिक सिद्धान्त पर, अपना ही समझ कर कुछ दया की होती।

वाचकवृन्द, जिस प्रकार शब्द शब्दार्थ से, नियतवृत्ति से अविच्छिन्नतया सुसम्बद्ध है ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी, मन्त्र प्रतिपाद्य अर्थसे सुतरां सम्बद्ध है। शब्द एवं अर्थ के साहचर्य की भांति मन्त्र एवं तत्प्रतिपाद्य अर्थ (देवता) का भी साहचर्य अनिवार्य है। इस सर्वतन्त्र एवं सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों के साथ मन्त्र प्रतिपाद्य अर्थों का साहचर्य एवं सहोदर्य है। यदि हम मन्त्रों को ईश्वरीय मानते हैं, तो हमें अनिवार्यतया मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय, देवता भी अवश्य ईश्वरीय अर्थात् ईश्वर के द्वारा नियत किये गये हुए मानने पड़ेंगे। अन्यथा न केवल शब्दशास्त्र के सिद्धान्त की अवहेलना होगी, अपितु हम वेदों को मानवीय भ्रान्त हस्ताक्षेपों से कदापि न बचा सकेंगे। इस बात को क्या कोई बुद्धिशाली पुरुष स्वीकार करेगा कि, रघुवंश में पद्यरचना तो कवि शिरोमणि कालिदास की है, किन्तु उसका प्रतिपाद्य विषय उसके प्रसिद्ध टीकाकार मल्लीनाथ का है? कदापि नहीं। जिस कवि की कृति है, उसमें प्रतिपाद्य विषय भी उसी का है। उसके विपरीत मानना तार्किकों के सामने उपहास का पात्र बनना है। जब कि वेद ईश्वरीय कृति हैं, तो तत्प्रतिपाद्य विषय (देवता) भी ईश्वरीय होना चाहिये। यही बात युक्तिसंगत है। परन्तु पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजी कट्टरता के नाम पर इसी पर अड़े हैं कि देवता ईश्वरीय नहीं। कम ल है किसी ने ठीक ही कहा है—

'परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।'

जिस दोष से आप दूसरों को दोषी ठहरा रहे हैं, उसी दोष में श्रीमान् स्वयं बुरी तरह फंसे हुए हैं। जिज्ञासुजी ने तो वेद तथा ऋषि दयानन्द दोनों पर ही हमला बोल दिया। यहीं तक नहीं आपने ता० २० नवम्बर के 'आर्यमित्र' में और भी अपनी वैदिक सिद्धान्त की अनभिज्ञता का परिचय दिया है। आप लिखते हैं कि "अतः मन्त्राके देवता नियत हो हैं, यह बात नहीं। परम देव परमात्मा ने आदि सृष्टि में चारों वेद दिये, जिसको आर्यसमाज अपौरुषेय मानता है। ऋषि, देवता, छन्द भी परमात्मा ने दिये (जैसा कि पं० सातवलेकरजी मान रहे हैं) आर्यसमाज ऐसा नहीं मानता। यह ऋषि, देवता और छन्द तो ऋषियों ने बताये। ये सर्वानुक्रमणियां तो थोड़े काल की बनी हैं। वेद तो इनसे भी पहिले से वर्तमान है ऐसी अवस्था में मन्त्रोंके देवता नियत (महदूद, सीमित) कैसे माने जा सकते हैं।"

क्या खूब, अब तक तो केवल देवता ही आप के मत में ईश्वरीय नहीं थे, अब आप फरमाते है कि, छन्द भी ईश्वरीय नहीं हैं। अर्थात् जिन छन्दों में मंत्र दिये गये हैं, वे छन्द भी ईश्वरप्रदत्त नहीं है। पीछे से ऋषियों ने बताये। यदि ऐसा ही मान लिया जाय, तो श्रीमान्, मन्त्र किस चिड़िया का नाम रहा। यदि आप छन्द के स्वरूपको समझते, तो कदापि ऐसी अनर्गल बात न लिखते। छन्द तो कहते ही अक्षर परिमाण को हैं। "यदक्षर परिमाण तच्छन्दः।" अक्षरों के परिमाण को ही तो छन्द कहते है। अथवा यों कहिये- "मात्राक्षर संख्या नियता वाक् छन्दः" अर्थात् मात्रा एवं अक्षर संख्या से नियन्त्रित वाणी का ही नाम तो छन्द है। आपके कथनानुसार यदि वेदों के छन्द अर्थात् अक्षर परिमाण या मात्रा, अक्षर, संख्या से सुसंबद्ध मन्त्र, रूप, वाणी ही यदि ईश्वरीय नहीं, तो इसके सिवाय वेद रह ही क्या जाता है? और ईश्वर ने किस वस्तुको रचा? आपके उस कथन से छन्द अर्थात् मन्त्ररचना भी ऋषिकृत ही ठहरी। क्या यह आर्यसमाज के वेदविषयक मूल सिद्धान्त पर ही कुठाराघात नहो? अतः ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के दोनों मत—

१-वेदों के देवता नियत नहीं, अपितु अनियत हैं! और

२-छन्द और देवता भी परमेश्वर ने दिये! यह आर्यसमाज नहीं मानता, यह नितान्त भ्रमपूर्ण

और स्वकपोलकल्पित है। अन्यथा जिज्ञासुजी उक्त दोनों मन्तव्यों की पुष्टि में ऋषि का कोई ऐसा लेख दिखावें कि, जिसमें ऋषि ने उक्त दोनों बातों का प्रतिपादन किया हो। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि, ऋषि ने कहीं भी उक्त बातों का प्रतिपादन नहीं किया है। ऋषि ऐसे असमंजस एवं असंगत तत्त्वों का प्रतिपादन कर भी कैसे सकते थे? और कोई भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माननेवाला उक्त बातों को नही मान सकता। न जाने जिज्ञासुजी इन स्वकल्पित एवं असगत सिद्धान्तों को आर्यसमाज के मत्थे मढनेका क्यों दुस्साहस कर रहे है? हमें बडा आनन्द होगा, यदि जिज्ञासुजी ऋषि का कोई ऐसा लेख दिखाने की कृपा करेंगे, कि जिसमें ऋषि ने मन्त्र के देवताओं को अनियत माना हो और यह स्वीकार किया हो कि देवता एवं छन्द तो ऋषियोंने पीछे से लिख दिये हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मदत्तजी ने नियत शब्द के अर्थ महदूद और सीमित करके तो और भी अपने पाण्डित्य पर प्रकाश डाला है। क्या आप किसी भी वैदिक और लौकिक कोष में नियत शब्द के अर्थ सीमित तथा महदूद दिखा सकते हैं? कदापि नहीं। यह भी आपके विमल मस्तिष्क की ही आविष्कृति है।

यह भी ज्ञात होता है कि जहां ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकामें अपने देवताविषयक मन्तव्य का उल्लेख किया है, उस स्थल को भी आपने भली भांति देखने का कष्ट नही किया। यदि उसे देखते और यथावत् रीति से समझ लेते, तो ऐसी भूल कदापि नही करते। देखिये स्वामीजी ने तो देवता ईश्वरीय है, अर्थात् ईश्वर के ही संकेत हैं, ऐसा स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। जैसा कि उनके निम्न लेख से सिद्ध होता है-

"यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्यः... तेषामपि तदर्थस्य द्योतकत्वात् (परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ")

इसमें रेखांकित वाक्य ध्यान देनेयोग्य है। जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मन्त्रों के देवता भी परमेश्वर के ही संकेत हैं।

" परमाप्तेश्वरेणकृतसंकेतत्वात् "

इससे अधिक और स्पष्ट और क्या हो सकता है? यहीं तक नहीं आगे चल कर ऋषि दयानन्द ने निरुक्तकार यास्क मुनि के देवतानिर्णायक

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति। "

इस प्रसिद्ध वचन का जहां अर्थ किया है, वहां ऋषि शब्द का मन्त्रद्रष्टा अर्थ न कर ईश्वर ही अर्थ किया है।

'ऋषिरीश्वरः सर्वदृक्'

यहां ऋषि शब्द सर्वद्रष्टा ईश्वर परक ही लिया है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि परक नहीं। इससे भी सिद्ध है कि ईश्वर ने ही मन्त्र के देवताओं का विधान किया है। वे कल्पित नहीं। अतः मन्त्रों की भांति देवता भी ईश्वरकृत ही हैं। यही ऋषि तथा आर्यसमाज का सिद्धान्त है, परन्तु खेद है कि पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु अपने को कट्टर ऋषिभक्त कहते हुए भी किस प्रकार इस लेख का साक्षात् खण्डन कर रहे हैं।

यह लेख हमको वैदिक सिद्धान्त की अवहेलना होते हुए देख कर ही लिखना पडा है। आशा है वेद के विशेषज्ञ विद्वान् हमारे लेख पर विचार करेंगे और आर्यजनता उक्त विषय में ऋषिसिद्धान्त के यथार्थ स्वरूप को समझ भ्रम में न पडेगी।

गीता का व्यावहारिक दर्शन।

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की सामाजिकता को सुरक्षित रखे बिना मनुष्य का मनुष्यत्व भी असुरक्षित है। मनुष्य शब्द के निर्वाचन में 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' सीव्यति पद से ज्ञात होता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक बडी माला का मनका है। इसीलिये समाज की शुचिता और सक्रियता के लिये प्रत्येक व्यक्ति की शुचिता और सक्रियता अनिवार्य है। 'समाज' का शब्दार्थ भी इसी बात का द्योतक है। 'सम् सम्यक् अजन्ति, गच्छन्ति गतिं कर्म कुर्वन्ति अत्रेति, जिसमें प्रत्येक मनुष्य सम्यक्-भले प्रकार से अपना अपना कार्य करता है- चलता है- ठहरा नहीं रहता- गतिमान रहता है. उसे ही समाज कहा जाता है। यह समाज का शब्दार्थ है। जिस मानवसमुदायमें यह सम्यक् सामंजस्य नहीं, उसे समाज नहीं, 'विपरीताज' कहा जायगा। इसी सामंजस्य को स्थापित करना ही समाजशास्त्र का उद्देश्य है। थोडा विचार से देखें, तो ज्ञात होगा कि सामंजस्य काही दूसरा नाम जीवन है। चित्शक्ति अथवा जीवनतत्त्व पिंड और ब्रह्माण्ड में इसी सामंजस्य को बनाए रखती है। यही चित्शक्तिका मुख्य उपयोग है। भारतीय साहित्य में धर्म यज्ञ आदि शब्दों का भी यही अर्थ है और श्रीमद्भगवद्गीता के 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य' का भी।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

आदिवचनों का यही अर्थ है। धर्म शब्द का महाभारत में धारणात्मक शक्ति अर्थ किया है। भारतीय दर्शन, धर्मशास्त्र आदि मानवसमाज के इस सामंजस्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। यही इन का उद्देश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता का तो जन्म ही इस सामंजस्य को स्थापित करने के लिये हुआ है। गीताकारने हिन्दूधर्म के विविध अंगों के आपाततः प्रतीयमान भेद को दूर करके सब विचारों का सामंजस्य सफलतापूर्वक किया है। इसलिये मेरे विचार से गीता एक विशिष्ट समाजदर्शन है। हम उसे भारतीय दर्शन भी कह सकते हैं।

गीता क्या है? अर्जुन को दी गई एक दिव्य दृष्टि? 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः।' नैमिषारण्य में नर और नारायण तपस्या करते थे। वही दोनों गीताश्रोता और गीताप्रवक्ता के रूप में अर्जुन और कृष्ण बने, अवतीर्ण हुए ऐसा आख्यान है। इस आख्यान का चाहे जो अर्थ हो- यह तात्पर्य तो स्पष्ट है कि गीता का उपदेश 'नर' के लिए है- मनुष्यमात्र इस का अधिकारी है। अर्जुन नर का प्रतिनिधि है।

प्रस्तुत लेख में हम संक्षेप से देखेंगे कि गीताकार ने सामाजिक सामंजस्य को स्थापित करने के लिए क्या दर्शन नर' के सम्मुख रक्खा है? साथ ही संक्षेप में हम इस बात का प्रतिपादन करेंगे कि, वर्तमान कालमें उस 'दर्शन' का भारत और संसार की प्रगति के लिए क्या उपयोग है।

गीता का दर्शन।

गीताकार की दृष्टि से क्रिया-कर्म-जीवन का चिन्ह है। जगत् की स्थिति कर्म से है। मनुष्य न चाहता हुआ भी इस नियम का पालन करने पर बाधित है। इसलिये इस नियम का निग्रह

करना व्यर्थ है। संसार की यह क्रिया ऋत अथवा सत्य के बल पर चल रही है। इसलिए जो मनुष्य यह सोचता है कि, अमुक कार्य मैं करता हूं, यह सोचना उस की अनधिकार चेष्टा है। मनुष्य तो उस ऋत का एक औजार है। इसलिए उसे इच्छापूर्वक इस प्रकार का औजार बनना चाहिए। किसी कार्य के लिए सोचना कि 'मेरे विना वह कार्य चलेगा नहीं,' मनुष्य की मूर्खता है।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

साथ ही कर्म न करना भी ऋत के विपरीत है। गीताकार के मत से कर्म करना ही मनुष्य का अधिकार है- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। जब मनुष्य में अहंकार आता है, तब वह दूसरे के अधिकार में हस्ताक्षेप करता है। फल देनेका अधिकार सत्य का अथवा ऋत का है। यह सत्य ही मूल रूप में ब्रह्म है। फल के सम्बंध में चिन्ता किये बिना अहंकर्ता की भावना हो ही नहीं सकती। इस प्रकार गीताकार ने सामंजस्य के लिए कर्मोंके सम्यक और असम्यकत्व का भी निर्णय कर दिया है। जो कर्मफल के सम्बंध में चिन्ता किये बिना होही नहीं सकते, वे सब कर्म त्याज्य हैं—

काम्यानां कर्मणां न्यासम्।

गीता ने इस प्रकार संन्यास का अर्थ किया है। काम्य कर्मों का त्याग और योगका अर्थ किया है-

'समत्वं योग उच्यते' समता-सामंजस्य।

वास्तव में सामंजस्य का क्षेत्र बुद्धि है। शरीर नहीं। गीता के—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

आदिवाक्यों का यही तात्पर्य है। इसलिए गीताकार की सम्मति में कोई कर्म बुरा नहीं, यदि वह लोकसंग्रह की दृष्टि से किया जाता है। गीता ने गुणकर्मविभाग के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया है, जो कर्म जिस को स्वभावतः प्राप्त है, उसे अंत तक न छोडना चाहिए। स्वभावतः प्राप्त उस कर्म को करता हुआ भी कोई व्यक्ति मनुष्य के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। गीताकार के शब्द हैं-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

अपने अपने कर्मों को करते हुए कोई मनुष्य भगवदर्पणभाव से कर्म कर के मुक्त हो सकता है। मुक्त होने का अर्थ है कर्तव्यता की अशेषता। गीताकार के मत से मनुष्य को वही कर्म करने चाहिए, जिन को भगवान् जिस प्रकार करता है। भगवान् का मुख्य कार्य है। धर्मसंस्थापन-धारणात्मिका शक्ति का सामंजस्य।

'मत्कर्मकृत्मत्परमः —य। समामेति पाण्डव।

अर्थात् भगवान् के कर्म करनेवाला भगवान् को पाता है। भगवान् सब कर्मों को समभाव से कर रहा है।

समोऽहं सर्वभूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

इसी प्रकार गीता के अनुसार कर्म करनेवाले को भी समभाव से सब कार्य करने चाहिएं। यही समत्वयोग है। समत्वयोग उच्यते। योग-कर्म करते हुए भी अलिप्त रहने का अनुपम प्रकार है। जिस समुद्र में प्रतिक्षण लाखों टन पानी जा रहा है, तब भी समुद्र की मुद्रा में अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार २४ घंटे कर्म करते हुए संसार के विविध व्यापारों को चलाते हुए भी जो व्यक्ति सम रहता है, 'न अपेक्षा और न उपेक्षा का सिद्धान्त मानकर चलता है, वह गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ है। उस की प्रज्ञात्मक स्थिति स्थिर हो गई, ऐसा समझना चाहिए। स्थितप्रज्ञ की स्थिति ही मनुष्य की चरम स्थिति है। स्थितप्रज्ञ ही जीवन्मुक्त है।

कर्मफल की इच्छा छोडकर कर्म करने का अर्थ बिना विचारे काम करना नहीं है। गीताकार ने बिना विचारे कर्म करने को तामस कर्म कहा है-

'अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य-यत्तत्तामसमुच्यते।' कर्म करने से पूर्व खूब सेचना, पर कर्म कर चुकने पर उसे भगवदर्पण कर देना कर्मयोग है। क्योंकि काम हो चुकने पर उस के सम्बन्ध में सोचना व्यर्थ है, शक्ति का अवव्यय है, सब से बढ कर अनधिकार चेष्टा है।

संक्षेप से गीतादर्शन का आधार कर्मयोग और कर्मफलत्याग है। इस को प्राप्त करने का साधन है 'कर्तृत्वाऽहंकार त्याग' इस का भी साधन है भगवदर्पणभाव।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय, तो गीता मनुष्यसमाज को अवसाद और निष्क्रियता से हटाकर संघर्ष और सक्रियता में लाना चाहती है। गीता सब पापों की जड अकर्मण्यता को समझती है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि, गीता इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अहिंसा, विश्वास, परिश्रम, ब्रह्मचर्य और सबसे बढ कर भगवद्विश्वास को मुख्य साधन समझती है।

गीता का दर्शन संन्यासियों के लिए है, उसका पालन संसार में रहकर नहीं हो सकता, यह विश्वास बहुतों को है। परन्तु जिस गीता का उपदेश अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए हुआ है, उस को सन्यासधर्म का ग्रंथ समझना गजनिमीलिका नहीं, तो क्या है?

कोई भी धर्मनियम व्यवहार के लिये होता है। यदि कोई नियम व्यवहार में आही नहीं सकता अथवा व्यवहार में आने से उस के द्रवित होने का भय है, तो मैं उसे धर्म हीं नहीं कह सकता। गीता के अंत में संजय ने तो गीता-प्रवक्ता और गीताश्रोता को विजयमूर्ति श्री और ध्रुवनीति का कारण माना है।

इस का तात्पर्य यह हुआ कि, गीतादर्शन किसी भी राष्ट्रको इन गुणों और विभूतियों से भूषित कर सकता है। व्यावहारिक दृष्टि में गीता का कर्मयोगवाला दर्शन सामाजिक जीवन को शुद्ध बना सकता है। व्यवहार में क्या होता है? मैंने कोई कार्य किया, मैं अपने कार्य का मूल्य यदि पूरा रुपया आंकता हूं, तो इस का अर्थ यह कदापि नहीं कि, बाजार में भी उस की उतनी ही कीमत समझी जायेगी। कार्य के उस अनुमानिक दामों के भेद से व्यवहार में कुटिलता आ जाती है। इसी कारण लोग आज भारत में बिना स्वार्थ के कार्य करने की बात सोच ही नहीं सकते। इसके विपरीत यदि मैं किसी कार्य को फल की इच्छा के बिना करूं, तो उसका जो और जितना फल मिलेगा वह मुझे दूसरे के प्रति कृतघ्न बनाने का साधन होगा। भारतीय सामाजिक जीवन में यदि आज यह कर्मयोग का सिद्धान्त घर कर जाय, तो हमारा देश स्वर्ग बन सकता है।

आज विश्व में फलप्राप्ति की इच्छाने मनुष्य को यंत्रों का गुलाम बना दिया है। आज परिश्रम का मूल्य ही नहीं समझा जाता। मनुष्य केवल रोटी और कपडे के लिए काम करे, यह सिद्धान्त घातक है। कर्म करना आवश्यक है।

इसीलिए मनुष्य को कर्म करना चाहिए। आज मशीनयुग में यंत्रोंद्वारा अधिक से अधिक कार्य ले कर जहां मनुष्य प्रकृति को विकसित कर रहा है, वहां वह चेतन यंत्रों की- मनुष्यों की शक्ति का ह्रास कर रहा है। वास्तव में मनुष्य-समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए यह आवश्यक है कि, मनुष्यमात्र में कर्म करने की रुचि पैदा की जावे। बिना कुछ किये अथवा कम काम किये फलप्राप्ति की भावना मनुष्यत्व को विकास की ओर नहीं ले जा सकती।

इस प्रकार देखा जाय, तो गीतादर्शनसमाज की समाजता को स्थापित करने के लिए जो उपाय बता रहा है, उस की आवश्यकता आज भारत और विश्व को है।

कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।
(गीता-)

'जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो, उनको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करें। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे।' यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है, वह अत्यंत महत्त्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे, उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीत जलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है, तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीत जलका स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें घुसे हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भींगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे-

मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त। (अ० १६।१।१३)

'मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढेगी।' जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे हि वीर्य बढेगा, दोष दूर होंगे और शरिरकी कान्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीर का उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो। इसीलिये—

अपां वृषभः अतिसृष्टः।

दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः॥ (अ० १६।१।१)

'जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुआ, अर्थात् उससे वृष्टि हो गयी, दिव्य अग्नि जो बिजलियां हैं, वे भी खुली रीतिसे प्रकाशित हो रही हैं।' अर्थात् विशेष वृष्टि हो गयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है, इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहां आत्मिक उन्नतिका उपदेश देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि, जैसे मेघ जगत् की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्मसमर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मयज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस काण्डके प्रथम पर्यायसूक्तमें मुख्यतः कहे हैं। अपनी उन्नति चाहनेवाले पाठक इसके मननसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि।

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पवित्रताके विना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है। अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है, वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुः+अर्मण्यः निः। (अ० १६।२।१)

'दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो।' हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थही समाजसे दुष्ट गुणोंके आश्रयस्थान दूर हों, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह सर्वसाधारण उन्नतिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीं वाचं वदेयम् ॥ (अ० १६।२।१-२)

'वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो. मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।' मनुष्योंके अन्दर जो झगडे फिसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है । मनुष्य के मनमें विष भरा रहता है, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है । इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायंगे ।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करें कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय । केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जः) बल चाहिये । उत्साह की वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहियें। नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको 'गुलाम' करके पुकारते हैं, दूसरेको 'तू मरेगा' करके कहते हैं, 'तू बडा हराम है,' ऐसा कहते हैं । ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं, उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है । इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्साहपूर्ण, बलशाली, प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें । अपने पुत्रको 'तू इन्द्र है,' ऐसा कहें, 'तू अमर होगा,' ऐसा बोलें, 'तू सत्यस्वरूप है,' तू स्वयं आनन्दघन है,' ऐसा कहें । ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साह का वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी 'कूडाराम' रखनेके स्थानमें 'निर्भयराम' ऐसे रखें । जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दोंद्वारा दिया है । 'गो-पा, और गो-पीथः' ये दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं । मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आ चुका है। 'गोप' का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और 'गोपीथ' का अर्थ है, इन्द्रियोंकी पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको इतस्ततः घूमने नहीं देते हैं, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंकी शक्ति बढावे और उनको वश भी रखे। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रह की अत्यंत आवश्यकता है । पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें। जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे, वे ही (उपहूतः) पास बुलाने योग्य हैं । और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं । पाठक इसका विचार करें और इस वेदोपदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारें। आगे कानों के विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है-

भद्रश्रुतौ कर्णौ । सुश्रुतौ कर्णौ । भद्रं श्लोकं श्रूयासम् । सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम् । (अ० १६।२।४-५)

'मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों । कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करूंगा । उत्तम उपदेश सुनने और दूसरे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न हो ।' यहां कानों की सार्थकता का साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने, कभी बुरे शब्द न सुने । ऋग्वेद में भी कहा है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । (ऋ० १।८९।८)

'हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें।' ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्य का सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है-

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम्। (अ० १६।२।५)

'गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो' और वह उत्तम कल्याण की वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें अथर्ववेदमें कहा है। यही-

ऋषीणां प्रस्तरः असि। दैव्याय प्रस्तराय नमः। (अ० १६।२।६)

'तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है।' ऋषियोंकी चट्टान आत्मा है। यदि दिव्य चट्टान है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अन्तःकरणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होनेवाला है।

आधिभौतिक विजय।

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपना आधिभौतिक विजय संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें।

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं। समानानां मूर्धा भूयासम्। (अ० १६।३।१-२)

अहं रयीणां नाभिः भूयासं। समानानां नाभिः भूयासम्। (अ० १६।४।१-२)

'मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं। मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनका मध्य केन्द्र बनूं।' अपनी योग्यता नेता बनानेयोग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं हो सकता, तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा, तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस दृष्टिसे इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मानुकूल उन्नतिका यत्न करे। ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने अन्दर बढाने चाहियें, उनकी सूचना इसी सूक्तमें अगले मंत्रोंमें दी है, देखिये—

रुजः, वेनः, मूर्धा, विधर्मा, उत्सः, चमसः,
धर्ता, धरुणः, विमोकः, आर्द्रपविः, आर्द्रदानुः,
मातरिश्वा च मा मा हासिष्टाम् ॥
(अ० १६।३।२-४)

'तेजस्विता, महत्वाकांक्षा, मस्तिष्क की शक्ति, विशेष गुणधर्म, यज्ञसाधन, धारक शक्तियां, बन्धमुक्तिकी इच्छा, सिद्ध शस्त्र दान करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करें।' ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढेंगे, तो ही वह मनुष्योंका केन्द्र और मुखिया बन सकता है। ये गुण विशेष महत्त्वके हैं, अतः इनका विचार अधिक करना चाहिये। (रुजः) तेजस्विता, इसमें शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताओंका अन्तर्भाव होता है, मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने। (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर, अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना, इसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह अपनी मस्तिष्क की शक्ति बढावे। (वि-धर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्योंमें जो धर्म नहीं होते, ऐसे उच्च धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहियें। (उत्सः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके

उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे हि मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। मनुष्य क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंको दुःखसमुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करना चाहिये। (वि-मोकः) विमोचन करनेवाला, मनुष्यों को मुक्त करनेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है। यही लोगोंका परित्राण, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनोंका निर्दालन और धर्म की स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र-पविः) पविका अर्थ है तलवार, खड्ग किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिसका शस्त्र गीला होता है अथवा शत्रुका नाश करनेके लिये जिसका शस्त्र आर्द्र अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है, उसका यह नाम है। (आर्द्र-दानुः) आर्द्रता, स्नेहसे आर्द्रभाव का जो दान करता है, जिसका मन स्नेहसे सदा आर्द्र रहता है, जो दयार्द्र रहता है, उसका यह नाम है। (मातरि-श्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आश्रय होता है, जो मातृभक्त है, मातृभूमिके अन्दर इसीलिये रहता है कि अपने जीवनसमर्पणसे मातृभूमिकी सेवा होवे, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है।

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुषयुक्त होते हैं, वेहि श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि, हम निर्बल हैं, हम इन गुणधर्मोंका धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है, यह बात अथर्ववेद स्वयं कहते है–

आत्मा बृहस्पति नृमणः हृद्यः।
(अ० १६।३।५)
विधर्मणा समुद्रः अस्मि। (अ० १६।३।६)
मर्त्येषु अमृत सूषा। (अ० १६।४।२)

'आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।' ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे–

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः।
(अ० १६।३।६)

'हृदय संतापरहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।' अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन हो जाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसेही भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर होकर कार्य करता है। कभी अशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं, यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं–

सूर्य ··· वायु ··· अग्निः ··· यमः ··· सरस्वती ··· पातु। (अ० १६।४४) 'सूर्य, वायु, अग्नि यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।' सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणी के स्थानमें, यम

शिश्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहाय्यता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहाय्यक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आ चुका है और वेदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है, उसको सब देवताओंकी सहाय्यता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बननेयोग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राणः मां मा हासीत् अपानः अवहाय मा परागात्। (अ० १६।४।३)

'मेरा प्राण और अपान मुझे छोड कर न दूर जावे।' यह ऐसा इसलिये कहता है, कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये हि समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका उसको स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि-

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। शक्वरीः आपः स्वस्ति। (अ० १६।४।७)

'अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जल के अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।' इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवतारूप स्वरुप बनता है, वह सहजही गतिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको वैसे कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि वह विश्वरूप बना होता है। इस समय वह अनुभव करता है कि-

अग्निः मे दक्षं। (अ० १६।४।७)

'अग्नि अपने में बल धारण करता है।' अन्य देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसका आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है। ऐसे महात्माको धन्य है, वही प्रभावशाली नेता हो सकता है और वही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ होता है और यही मनुष्य जगत् को सच्चा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पडकर सडनेवालोंको बन्धननिवृत्तिका मार्ग बताते हैं।

स्वप्न।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं, वे ये हैं-

ग्राह्याः ⋯निर्ऋत्याः⋯अभूत्याः⋯निर्भूत्याः⋯
पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः।
(अ० १६।५।१-८)

'रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युका संदेश होते हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज घुसे हों, उनको दूर करनेका यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं, उनका भी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीरमें आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राणहरण कर लेते हैं। ऐसे रोग शरीरमें होनेपर वारंवार दुष्ट स्वप्न होते हैं, अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों, तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग करना चाहिये। इस कार्य के लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतिका अर्थ है उन्नति, अभ्युदय,

समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋति का है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों, उनको कार्यमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतंत्र, पराधीन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय है, प्रत्येकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है, उनकी शक्तियां विविध हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण यमनियमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, नीरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है। मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभविचार वाला है वा अशुभ विचारवाला हे, इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आ जांय, तो अच्छा है- कि 'मैं ईश्वर-उपासना कर रहा हूं, ऋषि आश्रममें ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम हो रहा है।' ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न हुए, तो समझना चाहिये कि, उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे, तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिघाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है—

यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अपउच्छतु।
(अ० १६।६।२)

'जिस दुष्ट स्वप्नसे हमें भय होता है, वह दुष्ट स्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।' वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोषता सिद्ध करनेपरही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि-

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम। (अ० १६।६।१)

'आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो हमारा प्राप्तव्य था, वह प्राप्त किया है, क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं।' निष्पाप होनेसे हि सब प्राप्तव्य हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है, वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि, वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है, वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। वह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्मभूमिकामें कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तीका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करनेयोग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, पशवः, प्रजाः, वीराः, ॥
(अ० १६।८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसेही हो सकता है। (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकार के अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना, अपना शक्तिविकास, अपने अन्दर की शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋतं) ऋतका अर्थ है, ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें टेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहार में इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तोही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्वः, स्वर्) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होने वाला पुण्य लोक। (यज्ञः) देवपूजा, संगतिकरण और दान, रूप, श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे हि सब की स्थिति और उन्नति होती है। (पशवः) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः) संतति, पुत्रपुत्री आदि अथवा प्रजाजन। (वीरः) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग सकता है कि, ये सब विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभु के पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं, वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषय में विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चारही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखनेयोग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वा अरातीः पृतनाः। (अ० १६।९।१)

' हमारा विजय, हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं।' तथा—

पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्। (अ० १६।९।२)

'ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे,'' ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूंगा। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म॥ (अ० १६।९।३)

''आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें। तथा—

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान यज्ञः। वसु वंशिषीय। (अ० १६।९।४)

'बहुत धन प्राप्त करना चाहिए, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धन से यज्ञ होता है, इसलिए यज्ञमें व्यय करनेके लिए मुझे धन चाहिए।''

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि, मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इन का मनन करेंगे, तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनकाभी आत्मा उल्हसितही होगा।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे मनन करके जो उच्च भाव वेद में है, वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना, अपने समाजका, अपनी जातीका, और अपने राष्ट्रका विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

खोजके पथ पर

(ले०- श्री० ज्यो० गोपीनाथ शास्त्री चुलेट, एलिचपूर-सिटी, बरार)

[पूर्व अंकसे आगे, (क्रमांक २२७ देखो)]

देवता और भद्रमण्डल पूजा ।

यह किसी भी याज्ञिक विद्यार्थीसे छिपा हुआ नहीं है। बिना देवताओं आव्हाहनके किसी प्रकारकी धार्मिक विधि नहीं होती। यही कारण है कि गणपतिपूजनसे लेकर बडे मकानोंके वास्तु-स्वाहाकार और मूर्ति-प्रतिष्ठा, प्राण-प्रतिष्ठा, कूवा-बावडी-देवालय-शिवालय, धर्मशाला और ऊंचीसे ऊंची यज्ञविधि आदि क्यों न हो, उनमें हमारे बताये देवताओंका आवाहित करना अनिवार्य है।

यही बात संस्कारोंमें भी भरी पडी है। इन्हीं देवताओं-के आवाहन-स्थापन-पूजन-पचामृत स्नपन, शुद्धोदक-स्नपन, अनुलेपन, अक्षता, पुष्प, धूप, दीप, आदि समर्पण कर देवताओंकी प्रीति और श्रेयकी आकांक्षासे स्तवन तथा बलिदान करनेकी विधिसे पाली गई है। इनके आवाहनका तरीकाभी वैज्ञानिक तरीकोंसे भरा पडा है। जो भद्र और मण्डलरूपमें सुन्दर रंगोंसे सुसजित किया जाता है।

ग्रहमण्डल, मातृका पीठ, क्षेत्रपाल-योगिनीपीठ, वास्तु-मण्डल, एक लिंगतो भद्र, चतुर्लिंगतो भद्र, अष्टलिंगतो भद्र, द्वादश लिंगतो भद्र, सर्वतो भद्र मण्डल आदि अनेकों मण्डल प्रथम तैय्यार किये जाते हैं। तत्पश्चात् अन्य कार्य आरंभ होता है। वास्तवमें मण्डल यह एक अंतरिक्षका नकशा है। इसमें देवताओंके आवाहनके कायदे ठीक वैसेही बंधे हैं, जैसे किसी बडी कौंसिलोंमें आज बांधे जाते हैं।

अर्थात् हर एक देवताओंकी योग्यताको जांच करही उनकी जगह मुकर्रर करी गई है, जो आकाशमें देखनेपर प्रत्यक्ष उसी तरीकेसे पाये जाते हैं; जैसे कि हम आवाहन करते हैं। वास्तवमें आकाशीय मूल स्थिति की स्मृति मण्डलरूपमें ठीक ठीक स्थिर की गई है। इन देवताओंके दाहिनी ओर बांई ओरके देवता क्रमके हिसाबसे दक्षिण पार्श्व और वाम पार्श्वके नामसे तथा आधि देवता प्रत्याधि देवताके हिसाबसे ही देवादिकोंका आवाहन करनेका क्रम समस्त याज्ञिक लोग आजतक करते आते हैं। इसका आरंभ वैदिक कालसे आजतक अव्याहत चला आ रहा है और अखण्ड रूपमें इसकी नीव गहरी है। जो अटल और अमिट हैं।

स्मरण रहे कि देवताओंके केवल पूजनमात्रही में आचार्योंने छुट्टी नहीं पाई है। तो इन्हींके नाममन्त्र से यज्ञकुण्ड में हवन किये जानेका विधि-विधान इसीके साथ सलग्न कर रक्खा है। इसको विधिवत् बनानेके लिये कई स्वतन्त्र ऐसे शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। जो अपने आपके विषय प्रतिपादन करनेमें भरसक सामग्रीको लेकर हैं। कुण्ड-मण्डप-तोरण खम्बे-द्वार-आदि अनेकों बातें ऐसी हैं, जिनके स्वतंत्र कायदे बना रखे हैं, जो कुण्डोंके-कुण्डकल्पद्रुम कुण्ड रत्नाकर-कुण्ड ग्रंथ विद्यति-आदि अनेकों ग्रन्थ कुण्डोंकी वास्तविकता समझाने में परिपूर्ण हैं।

भद्र मण्डलपूजामें अनेकों देवता सप्तऋषि, गन्धर्व, अप्सरादेवोंके आयुध, सर्प, यक्ष, दानव, भौगोलिक वनस्पति तथा प्रसिद्ध स्थल जैसे विश्वनाथ-ओंकारेश्वर-सोरठी-सोमनाथ-केदारेश्वर-रामेश्वर-महाकालेश्वर आदि १२ ज्योतिर्लिंग-समुद्र-पर्वत, तमाम पवित्र नदियां और अंतरिक्षके आते हैं। इसी प्रकार पवित्र दिशा और दिशाओं के स्वामी भी आये हैं।

हमारा आशय उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्टतया दिखा देना है कि, भद्रमण्डलपूजा केवल देखनेमात्र ही की पूजा नहीं है, वह भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोककी स्थितिस्थापकता दिखानेवाली एक अटल स्मृति है, जो आज लाखों वर्ष उलटपुलट होने परभी ज्योंकी त्यों कायम है! इसके भीतरमे वैज्ञानिक तत्व भरा हुआ है। साराका सारा यहां स्थलाभावसे दिखाना शक्तिके बाहर है, तो भी संक्षेपमें इतनाही कहना बस होगा कि सारे विश्वको जिस प्रकार हम एक नकशेमें सीमित करते हैं। ठीक उसी प्रकार हमारे पूर्वाचार्य महर्षियोंने अद्वितीय ज्ञान की सहाय्यता प्राप्त कर हमारे लिए विश्वमहिमापर पूज्यत्वभाव और प्रभुत्व माननेके लिए कोई स्मृति कायम रखी होगी, तो यही एक भद्रमण्डल पूजा है। इसीसे हमारे अभीष्ट सिद्धिके मार्ग सुगम और सरल बनते है। बात इसमें अधिक ध्यान पुराने योग्य इतनीही है कि, तमाम कार्यकी क्रिया अनेक प्रकारांतरसहित विधिविधानयुक्त होना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा अविधीका कार्य भूमा बोकर फलप्राप्ति की आशा रखनेकी तरह अज्ञानपन है।

नरमेघ।

संसारमें दोही जाति प्रधान हैं। पहिली मादी और दूसरी नर। इनके लैंगिक सम्बन्धसे सारा संसारका परिवार चला है। फिर वह चाहे स्वेदज-अण्डज-उद्भिज इनमेंसे कोई भी क्यों न हो, सबके सब जीव-प्राणी-स्थावर-जंगम, अफाट समुद्र, पर्वत तथा अणुरेणु-परिमाण सबोंमें लेने और देनेवाली अर्थात् धन और ऋण ऐसी दो शक्तिपर ही आज समस्त ब्रह्माण्ड टिका हुआ है। ऊषा-किरण-जोत्स्ना-रति आदि जो भी खगोलस्थित घटनाओंके नाम आते हैं, इनका भी-उषापति-अनिरुद्ध-प्रद्युम्न कामदेव आदिसे सम्बन्ध होनेके सैकडों पुरावे पुराणोंमें पाये जाते है। ऐसी अवस्थामें नरप्रक्रियाके तमाम तत्वोंके जानने तथा उनके निर्माण होनेवाली संगठनक्रियाको समझने और वैज्ञानिक तत्त्वोंसे उसकी गर्भाधारणमें होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाको वैज्ञानिक रूप से समझने ही का नाम नरमेघ है। जो वेदों ही में पाया जाता है।

अश्वमेध।

यहां अश्वका अर्थ अश्विन्यादि नक्षत्रसे सम्बन्ध रखता है। जो कि २७ नक्षत्रमालामें समस्त आकाशको घेर रखा है। इनका स्थानप्राबल्य-शक्ति-दीप्ति-ओज-तेज-वीर्य-सामर्थ्य-आदि तमाम बातें विविध प्रकारोंसे नापी और तौली जाती हैं। इनके तौलकी ठीक ठीक तालिकायें वेदोंमें जहां जहां बताई गई हैं, उस विभागको अश्वमेध कहते हैं। एकाश्व-सप्ताश्व-शताश्व-सहस्राश्व-लक्षाश्व यह तमाम नाम उनके शक्तिके नापकी सीमाके उल्लेखमें योजना किये हुए हैं। प्रत्यक्षमें जिस प्रकार घोडे खींचनेकी ताकद अजमाई जा सकती है, उसी प्रकार इनकी ताकद अतींद्रिय ज्ञान के बलपर हमारे महर्षियोंने अजमाअजमाकर हमारे लिये नियम की पाबन्दी कर रक्खी है। आकाशव्याप्ति वातमय वस्तुओ को लाने, ले जाने और बहाने का काम इन्हींके जरिये होता है। उसके संग्रह करने के प्रकारोंको ही भग-योनि— आदि नामोंसे सम्बोधन किया है और रजःकणों का वर्षाव करनेवाला जो स्थल है, उसको पिता-आकाश लिंग आदि नामों से सम्बोधित किया है।

वाजपेय।

इस स्थल पर वाज शब्दका अर्थ बाणकी तरह सरल कक्षामें चलनेवाले वेगसे है। यही शक्तिमय शर है, जो ठीक ठिकाने विवक्षित स्थल पर जाकर अपना प्रबल और विलक्षण कार्य कर दिखाते हैं। तमाम शक्ति (Bitamin) प्राप्त कराने और पिलाने का काम यही करते हैं।

> 'वाजो निःस्वनपक्षयोः। वेगे पुमानथ क्लीवे
> घृतयज्ञान्नवारिषु (इति मेदिनी)
> स वाजपेयेनेष्ट्वा-सम्राट्-इति नामाधत्त
> सोऽन्तमेवापद्यत्।
>
> (गोपथ-ब्रा०)

सम्राट् ज्योति जिस जगह ठीक ठीक नापी जाती है, उसके नापतौलकी किया, प्रतिक्रिया वाजपेय कहलाती है। ज्योतिका नाप सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायण होनेवाली जगहसे होता है। लिखा भी है कि 'राजसूयात्-वाजपेयो, राजसूय यज्ञ प्रक्रियावाले प्रयोगोंसे वाजपेय

जाना जाता है। अतः यह भी प्रयोगद्वारा समझी जानेवाली समस्या है।

सारांश।

नरमेध-अश्वमेध-राजसूय-वाजपेय-पुरुषमेध-सर्वमेध आदि जितने भी प्रकारसत्र के बताये गये हैं, यह सारीकी सारे आकाशके नापतौलके विविध प्रकार हैं। इसका समावेश इसीसे श्रौत यज्ञमें किया है। और इनका विशद वर्णन वेदोंमें भरा पडा है।

आकाशके नापकी सच्ची जानकारी न होने हीका कारण है कि, लिंग-योनि-अश्व-चतुष्पदरेत-वीर्य आदि कतिपय शब्दोंका वास्तविक अर्थ न समझनेसे-उवट महीधर आदि आचार्योंने इसे जानवर,सचमुचके पशु मानकर अर्थ करनेका प्रयत्न किया है। जो प्रकृति और शारीरक शास्त्रसे सर्वथा विपरीत है। अतः यह बात कदापि न भूलना चाहिये कि वेदोंमें पशु शब्द शक्तिवाचक है। प्राणिवाचक नहीं। इससे हमें प्रयोगसे जांचनेके पीछे लगना चाहिये।

समुद्रमंथन का सच्चा रहस्य।

समुद्रमन्थनकी कथा अमृतकी खोज में बनाया हुआ एक कथानक है। देव और दानव दोनों शक्तियों के पारस्परिक सिद्धान्तों के हल करने हीका नाम मंथन है। यह मंथन शब्द चुनाव करनेके निमत्त प्रयोजित किया है, क्योंकि वेदों में आकाशको समुद्र कहा है। 'द्यौः समुद्रसमम् सरः' आकाश समुद्रके समान बड़ा सरोवर है, इससे स्पष्ट ही होता है कि, यह समुद्र शब्द आकाश हीके अर्थका है। और अचल मन्दर जो नक्षत्रमालिका है, उस पर्वतका रूपक देकर वह मन्दर-अचल-पर्वत नामसे सम्बोधन किया है। अब जरा वासुकीको भी देखिये, वसु शब्द का अर्थ वास्तवमें वसन्तसंपात का मुख्य मूर्ति (पाइंटेड) विभागका नाम है। अमरकोषमें-वसु-रत्नं के मूर्ति यस्य ऐसा स्पष्टीकरण है।

जैसे सर्प शब्द के दो अर्थ व्यवहारमें मुख्य हैं। एक तो प्राणीवाची और दूसरा गत्यर्थमें चलने के लिए रेंगने आदि में वापरा जाता है। ठीक इसी प्रकार क्रांतिवृत्तके ध्रुवको कदम्ब कहते हैं। हमारे पृथ्वीका ध्रुवस्थान इसी कदम्बके चारों ओर २६००० वर्षमें एक पूरा चक्कर लगा लेता है। कदम्ब अचल के अनुसार इसी एकही स्थानपर हजारों वर्षतक स्थिर हैं। इसमें गतिमान् वसन्त है। खगोलशास्त्रके गणितज्ञ यह अच्छी तरह जानते हैं कि वसन्त को गति है।

हमारे वेद—काल-निर्णय नाम ग्रन्थमें इसका विशद रूपसे वर्णन है। तो भी संक्षेप में यहां इतना कहना पर्याप्त है कि, सवा दो हजार वर्षके मियाद में वसन्त एक मास पीछे को खिसक जाता है। इस प्रकार हर सवा दो हजार वर्षमें एक मास इस हिसाब से २६ हजार वर्षमें संपातकी गतिका पूरा चक्कर होता है। अर्थात् आज जो वसन्तसम्पातकी स्थिति फाल्गुन-चैत्रमें है, वह सवा दो हजार वर्ष बाद माघ-फाल्गुनमें और फिर सवा दो हजार वर्षके बाद पौष-माघमें इस क्रमसे पीछे को खिसकती जाती है।

आज यवनों की मासगणना हमारे अधिमासके आने पर एक मास पीछे को खिसकती है और इन के मोहरम धूपकाला-बरसात और सियाला आदि मोसममें फिरता हुआ आता है। ठीक इसी प्रकार हमारा वसन्त हर संक्रांतिमें घूमता हुआ २१ हजार वर्षमें एक मास पीछेको जाता है। यह ऊपर बताई हुई घटना वासुकी सर्पकी है। और यह सब आकाशकी है।

> देवासुरं विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम्।
> पश्यन्त्यन्योन्यमेतेषां वामसव्ये दिनक्षये॥१॥
> (४७)
> सव्यं भ्रमति देवानां अपसव्यं सुरद्विषाम्।
> उपरिष्टात् भगोलेयं व्यक्षे पश्चान्मुखः
> सदा॥ २ (५१)
>
> (सू० सि० अ० १२)

इन्हीं देवासुरोंने मिल कर जो समुद्रमंथन किया, उसमेंसे मिले हुए रत्नोंको भी कृपया देखिये—

१. हलाहल	विष	थोडेसे श्रमसे साध्य वस्तु और तत्त्व ।
२. उच्चैःश्रवा	अश्व	आकाशीय खगोलका तत्त्व ।
३. चन्द्रमा	ज्योति	प्रकाशमय ओषधिमें शक्तिदाता तत्त्व ।
४. ऐरावत	हस्ति	खगोलमर्यादाके शक्तिमय तत्त्व ।
५. कौस्तुभ	मणि	समुद्रमर्यादामें प्राप्त होनेवाला तत्त्व ।
६. पारिजातक	वृक्ष	पुष्पोंमें सुकुमारता दिखानेवाला तत्त्व ।
७. गंधर्व	गायन	संगीतमें विदेहावस्थाजनक तत्त्व ।
८. अप्सरा	नर्तकी	खगोलमें देवोंमें रंजिलकारक तत्त्व ।
९. लक्ष्मी	सम्पत्ति	भू-श्री-वनश्री-समुद्रश्री और नथश्रीतत्त्व ।
१०. शार्ङ्गधनुष	आयुध	त्रिधनुमें सर्वाकाश बन्धन तत्त्व ।
११. कौमोदकी	गदा	कुमुद मास वसन्तसे ऋतुतत्त्व ।
१२. सुरा	मदिरा	उन्माद पैदा करनेमें मादक तत्त्व ।
१३. अमृत	विशिष्टतत्त्व	आकाशव्यापी देवताओंका खाद्यतत्त्व ।
१४. मोहनी	भ्रम	एकाएक भ्रम उत्पन्नकर्ता अज्ञानी तत्त्व ।

बस ऐसे जो ऊपर दिखाये गये रत्नोंका चुनाव किया है, वास्तवमें इन्हींका नाम मंथन है। यह ऊपर दिखाये अनमोल तत्त्वमंथनके प्रथम भी ये मंथनके बाद भी और आज भी मौजूद हैं

वैदिक देवतावाद और महर्षि दयानन्द।

महर्षि के देवता निश्चित तथा शुद्ध हैं।

महर्षि के नाम पर घोर अनर्थ !

(लेखक- श्री० कपिलदेवशास्त्री, गु० कु० महाविद्यालय, ज्वालापुर।)

आजकल लगभग ८।१० मास से " वैदिक देवतावाद " विषय पर वेदज्ञ विद्वानों में वादविवाद चल रहा है। इस विषय पर इस समय कुछ भी लिखना नहीं चाहता था। कई बार मन में तरंगें उठीं, परन्तु यही विचार कर कि दिग्गज विद्वानों के मध्यमें आना ठीक नहीं, साहस नहीं किया। किन्तु कुछ समय से महर्षि के सिद्धान्त पर निरन्तर कुठाराघात होते देख कर न रहा गया। आंखों देखी मक्खी न निगली गई, अन्तःकरण से प्रेरणा हुई कि सत्य को छिपाना पाप है सत्यका सहायक परमात्मा है, यही विचार कर महर्षि के सत्य सिद्धान्त को जनता के सन्मुख लाने का निश्चय किया। " नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन निवार्यते। " सचाई छिप नहीं सकती। महर्षि के सिद्धान्तों पर जितना विचार करता हूं, उतनी ही गहराई पाता हूं। इसलिए "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोडने में सर्वदा उद्यत " गुणग्राही विद्वज्जन गुणोंपर ही दृष्टि रक्खेंगे।

इस वाद-विवाद का कारण केवल यही है कि कुछ विद्वान् महर्षि दयानन्दद्वारा निर्दिष्ट देवताओं को सर्वानुक्रमणी आदि से भिन्न होने के कारण अशुद्ध बताते हैं। आर्यसमाज का मत है कि महर्षिद्वारा निर्दिष्ट देवता शुद्ध हैं। इस विषय में आर्यसामाजिक विद्वानोंद्वारा महर्षि निर्दिष्ट देवताओं को शुद्ध मानने के लिए " अनिश्चित देवतावाद "का एक असत्य सिद्धान्त महर्षि के नाम से जनता के सन्मुख लाया जा रहा है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि, महर्षि वैदिक मन्त्रों के देवता अनिश्चित मानते थे, परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि, महर्षि दयानन्द वैदिक देवताओं को निश्चित मानते थे।

अनिश्चित देवतावादका आधार।

अबतक के प्रायः सभी लेखों के पढने से ज्ञात होता है कि केवल महर्षि दयानन्दद्वारा निर्दिष्ट देवताओं को शुद्ध मानने के लिए ही इस सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। इस के लिए दो वाक्य विशेषतः महर्षि के ग्रन्थों से उद्धृत किये जाते हैं, परन्तु दोनों वाक्यों का अर्थ संस्कृतज्ञ विद्वान् यदि महर्षि के संस्कृतभाष्य में देख लेते, तो इस प्रकार महर्षि के नाम से कल्पित असत्य सिद्धान्त को न अपनाते। दोनों वाक्यों के अर्थ के पश्चात् महर्षि का वास्तविक सिद्धान्त कि, " मन्त्रों के देवता निश्चित हैं। " इस विषय का महर्षि के शब्दों से निरूपण किया जायगा।

निरुक्त के दैवत-काण्ड का एक वाक्य देवता-निर्णय के लिए ' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के वेद-विषयविचारप्रकरण में ६३ पृष्ठ १७ पङ्क्ति में उद्धृत किया है-

" यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। "

(नि० अ० ७, पा० १)

इस यास्कीय वाक्य का अर्थ अनिश्चित देवता-परक किया जा रहा है, परन्तु इस का अर्थ महर्षि स्वयं निश्चित देवतापरक ६४ पृष्ठ, २१ पंक्ति में करते हैं—

" ऋषिरीश्वरः सर्वदृक्, यत्कामः यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति । "

अर्थात्- सर्वद्रष्टा परमेश्वर जिस अर्थ के उपदेश की कामना करता हुआ, जिस देवता में उस अर्थ के स्वामित्व की इच्छा रखता हुआ, उस के गुणों का प्रयोग करता है, वह मन्त्र उस देवता का होता है। इस वाक्य में "ऋषि" शब्द का अर्थ 'परमेश्वर' करके स्पष्ट देवताओं को ईश्वरोक्त तथा अर्थ-बोधक सिद्ध किया है। जिस मन्त्र में, जिस शब्द-द्वारा जिस देवता का नामनिर्देश किया गया है, वह मन्त्र उसी देवता का होगा, उस के पर्यायवाची या उस के अर्थ देवता नहीं हो सकते।

दूसरा वाक्य "यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते।" (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका प्रश्नोत्तर-विषय, ३७३ पृष्ठ, १ पङ्क्ति)

इसका अर्थ किया जा रहा है कि " जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है, वही उस का देवता है," परन्तु इस वाक्य का यह अर्थ करना जनता की आंखों में धूल डालना है। महर्षि के शब्दों पर थोडा भी ध्यान से दृष्टिपात करें, तो हम इस अनर्थ से बच जाएं। महर्षि के कथन का अभिप्राय स्पष्ट है कि " जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ है, वह वह अर्थ उस उस (मन्त्र) के देवता-शब्द से (अभिप्रायबोधनार्थ) प्रकाशित किया जाता है, अतः देवता-शब्दों का उल्लेखन किया गया है।" इस वाक्य के समस्त-पद ' देवता-शब्देन' में से 'देवता' पद को अलग पढकर ऐसा अर्थ करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा करना महर्षि की आत्मा के साथ अन्याय है, क्योंकि इस प्रकार छेद करने से आगे का वाक्य निरर्थक हो जायगा। सम्पूर्ण मुद्रित पुस्तकों में ' देवताशब्देन ' ऐसा समस्त-पद ही दिया गया है। इस प्रकार महर्षि के वाक्य में एक भी ऐसा पद नहीं, जिससे कि अनिश्चितता की गन्ध भी आती हो। अब महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त का उल्लेख करने से पूर्व देवताओं की आवश्यकता तथा देवता-ज्ञान का माहात्म्य क्यों है, इसका प्रतिपादन कर देना चाहता हूं।

देवताओं की आवश्यकता।

प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन के समय हमें अनेकों स्थलोंपर पढने को मिलता है कि-

'अविदित्वा ऋषिं छन्दो, दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि, पापीयान् जायते तु सः ॥
(बृहद्देवता)

अर्थात्- जो ऋषि, देवता, छन्द और योग (उनका सम्बन्ध तथा विनियोग) को बिना जाने मन्त्र का अध्ययन या जप करता है, वह पापी होता है। ऐसा ही एक वाक्य कात्यायन ऋषि का है-

" एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति, अथान्तराश्च गर्तं वा पद्यते, स्थाणुं वर्च्छति, प्रमीयते वा पापीयान् भवति। "

अर्थात्- " जो देवता आदि के ज्ञान के बिना मंत्रों को पढता, बोलता है, जप, यज्ञ आदि करता है, उस का आत्मा निर्वीर्य होकर पतित हो जाता है, या स्थाणुवत् रह जाता है, पापी तो हो ही जाता है। "

इसी प्रकार यास्काचार्य ने निरुक्त-प्रणयन के प्रयोजनों में " अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम् । " इत्यादि शब्दों से देवता-ज्ञान निरुक्त का प्रधान प्रयोजन बताया है। इस प्रकार के अनेकों वाक्य वैदिक ग्रन्थों में देवता-ज्ञान के महत्त्व के द्योतक हैं। यदि देवता-ज्ञान निरर्थक होता, तो क्योंकर अनेकों ऋषि, मुनि इस प्रकार लिखते। उनके लेखों में गम्भीर्य तथा सार है। देवता-ज्ञान मन्त्रों के साथ इतना ही सम्बद्ध है, जितना कि अर्थ। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का अभेद सम्बन्ध है, उसी प्रकार देवता भी मन्त्र से

अभिन्न ही हैं। महर्षि का एक वाक्य जो कि पूर्व उद्धृत किया गया है, "यस्य यस्य मंत्रस्य..." आदि उससे स्पष्ट है कि, देवता मंत्रार्थ के बोधक सूचक होते हैं।

मन्त्र और अर्थ को संयुक्त करनेवाला पदार्थ ही देवता है। देवता अगाध वेद-वारिधि का द्वीप-स्तम्भ है, जो कि हमारा मार्ग प्रदर्शन कराता है। देवता के बिना मन्त्रार्थ-ज्ञान का मार्ग दुर्ज्ञेय तथा संकटों से व्याप्त है। वेद का एक एक मंत्र नहीं नहीं एक एक पद (शब्द) ज्ञान का अगाध सागर है, निधि है। उदाहरणार्थ- जैसे एक ग्रन्थप्रणेता ग्रंथ के ऊपर उस का नाम-निर्देश करता है। यदि ग्रंथ का नाम-निर्देश किए बिना ही पुस्तक छपवा देता है, तो यह ग्रंथकार की भूल या त्रुटि ही समझी जायगी। इसी प्रकार वेद-ज्ञान के साथ में तदर्थबोधक देवताओं का निर्देश न करना परमात्मा के लिए कलङ्क की बात होगी। साथ ही पुस्तक के ऊपर उसका नाम न होने से उसके विषय का ज्ञान शीघ्रता से नहीं हो सकता, अनेकों बार पुस्तक के पूरे पन्ने उलटने पर भी तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। एक अपरिचित ग्रंथ जिस में विज्ञान या इतिहास का विचार है, यदि उस पुस्तक के मुखपृष्ठपर उसका नाम नहीं है, तो बड़े से बड़ा विद्वान् भी उस पुस्तक को हाथ में लेकर सहसा नहीं बता सकता कि क्या पुस्तक है।

परन्तु यदि मुखपृष्ठपर नाम लिखा हुआ है कि, 'यूरोप का इतिहास' या 'एशिया का इतिहास' तब साधारण शिक्षित भी निःसङ्कोच पुस्तक का नाम पढ़ते ही कह देगा कि, अमुक स्थानका इतिहास है। इसी प्रकार एक अपरिचित मनुष्य के फोटो को जिसपर नामस्थान न लिखा हुआ हो कोई भी उस का नामस्थान नहीं बता सकता। परन्तु यदि नामस्थान लिखा हुआ हो, तो हमें कोई भी कठिनता नहीं होगी। इसी प्रकार वेदों में अनेकों प्रकार का भौतिक, आत्मिक आदि विज्ञान भरा हुआ है। जिस प्रकार कि अगाध सिन्धु के अन्तस्तल में असंख्यों रत्न भरे हुए हैं, यदि हमें रत्नों का ज्ञान या प्रयोग-ज्ञान नहीं, तो हमारे लिए रत्न निरर्थक-तुल्य हो जाते हैं। उसी प्रकार देवताज्ञान के बिना वेदार्थ-ज्ञान असंभव है। अतएव सङ्केत रूप से वेदार्थ-ज्ञानके लिए देवताओं का निर्देश किया जाता है।

देवता-ज्ञान का प्रकार।

देवताओं का निश्चय किस प्रकार से करना चाहिए, इसके लिए सबसे पूर्व मीमांसादर्शन की ओर दृष्टि देते हैं। वैदिक ग्रंथियों को सुलझाने के लिए मीमांसा-दर्शन मुख्य शास्त्र है। मीमांसाकार महर्षि जैमिनि देवता-ज्ञानके लिए एक सूत्र लिखते हैं-

"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।"

(मी० अ० ३, पा० ३, सू ४०)

अर्थात्- श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, इनके एकत्रित होने पर पूर्व पूर्व में बलवत्ता है। यह विषय मीमांसा में बहुत विस्तार से है, यहाँ संक्षेप में भाव लिखता हूँ। सर्व-प्रथम 'श्रुति' से देवता का निश्चय होता है, अर्थात् जहाँ जिस देवता शब्द का नामनिर्देश है, वहाँ वही देवता होगा। यदि कोई देवताशब्द स्पष्ट नहीं है, तब 'लिङ्ग' अर्थात् तद्बोधक शब्दों से उसका निश्चय होगा। जिस प्रकार 'अग्निमीळे' मन्त्र में 'अग्नि' शब्द स्पष्ट श्रूयमाण है, इसलिए 'अग्नि' ही देवता होगा। ऋग्वेद प्रथम मण्डलका सम्पूर्ण प्रथम सूक्त 'आग्नेय' सूक्त है। २ मन्त्रों में से प्रारम्भ के ७ मन्त्रोंमें तथा ९ वें मन्त्र में अग्नि शब्द है। ८ वें मन्त्रमें 'अग्नि' शब्द नहीं। परन्तु उसके विशेषण पद विशेष्य 'अग्नि' पदके 'लिङ्ग' (बोधक) है, इसलिए उस मन्त्र का भी देवता 'अग्नि' ही है। श्रुति और लिङ्गके अभाव में वाक्य, प्रकरण आदि से देवताओं का निश्चय होता है। इस प्रकार जिस मन्त्र में जिस देवता का प्रधानतः निरूपण किया हुआ है, वह मन्त्र उसी देवता का होता है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि पर्यायवाचक शब्द तथा उसके अर्थ देवता होते हैं। यह सिद्धान्त

सर्वथा अशास्त्रीय है। मीमांसाकार लिखते हैं कि मन्त्रों में जिस शब्द से देवता का नामनिर्देश है, वही उसका देवता होता है, अर्थ या पर्याय नहीं—

विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना।

(मी० १०,४,२३)

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है, कि जिस शब्दसे जिस देवता का निर्देश किया गया है, वही उसका देवता है। शबर स्वामी इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट लिखते हैं कि, पर्यायवाची देवता नहीं हो सकते, अर्थों का तो कहना ही क्या? शङ्का करते हैं कि—

सन्ति अग्नेरभिधेयानि अग्निः, शुचिः, पावकः, धूमकेतुः, कृशानुः, शाण्डिल्य इत्येवमादीनि। ... सा तेन शब्देन शक्यते उद्देष्टुम्, तेनोद्देशनीया।

अर्थात्- अग्नि के अग्नि, शुचि, पावक आदि अनेकों पर्यायवाची नाम हैं, इसलिये 'अग्नि' देवताका मन्त्रों में जिस किसी पर्यायशब्द से देवता का निर्देश कर लेना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

"विधिशब्देनैव अग्निशब्देनोद्देष्टव्या, नान्येन शुच्यादिना इति। कुतः, तेन चोदना तेन विधिशब्देनास्य हविषः सम्बन्धश्चोदना भवति। कथमिव आग्नेयः कर्तव्य इति अग्निरस्य देवता कर्तव्येत्यर्थः॥"

अर्थात्- जिस शब्द से जिस देवता का मन्त्र में निर्देश किया गया है, वही शब्द उस मन्त्र का देवता होगा। जिस प्रकार 'अग्निमीळे-' मन्त्र का देवता 'अग्नि' ही होगा। न पर्यायवाची वह्नि आदि शब्द, न उसके अर्थ ही। यही सिद्धान्त माधवाचार्य ने 'अधिकरणन्यायमाला में लिखा है।

शतपथ ब्राह्मण में भी देवताज्ञान का यही प्रकार बतलाया गया है—

यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता।

(श० ७,५,१.४)

अर्थात्- जिस देवता को ऋचा या यजुर्वेद का मन्त्र कहता है, वही उसका देवता होता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रगत शब्द ही देवता होता है, अन्य नहीं। निरुक्तकार यास्काचार्य का सिद्धान्त दिखलाने के पश्चात् यह दिखाया जायगा कि, महर्षि दयानन्दने इसी (निश्चित देवतावाद) सिद्धान्त को मानते हुए मन्त्रों के देवता लिखे हैं।

यास्काचार्यका सिद्धान्त।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में निरुक्तको वेदार्थ-ज्ञान के लिए प्रमुख साधन माना है। तदनुसार ही वेदभाष्य भी किया है। देवतानिर्णय विषय भी महर्षि ने यास्काचार्य की शैली से किया है। यास्काचार्यका एक वचन "यत्काम ऋषि..." महर्षिने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में उद्धृत किया है। इसका अर्थ पूर्व किया जा चुका है। इसमें स्पष्ट निर्देश है कि, "ऋषि (परमात्मा) अर्थज्ञान मन्त्रगत देवताओं में स्तुति प्रयुक्त करता है, वही (मन्त्रगत देवता) उस मन्त्र का देवता है।" इसका महर्षि दयानन्दकृत संस्कृतार्थ पढने से 'अनिश्चित देवतावाद' की गन्ध भी नहीं आती। इस प्रकार जिन मन्त्रों में देवता शब्दतः पढे हुए हैं, उनमें किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है। जिन मन्त्रों में देवता शब्दतः पढे हुए नहीं हैं, उनके लिए लिखते हैं कि—

यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवति, अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः, ... (नि० ७, १)

अर्थात्- जहां पर देवता निर्दिष्ट नहीं है, वहां 'यज्ञ' अथवा 'यज्ञांग' देवता होते हैं। जो यज्ञ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, वहां 'प्रजापति' देवता होता है। निरुक्तकार का मत है कि वे मनुष्य-देवताक मन्त्र हैं। अथवा वहां पर मनुष्यों की कामना, प्रार्थनादि का वर्णन होता है, इसलिए वह 'काम' देवताक मन्त्र हैं।

इन वाक्यों का कुछ विद्वान् अनिश्चित देवतापरक अर्थ करते हैं, परन्तु यह असत्य है; क्योंकि इन वाक्यों का अभिप्राय यह है कि जहां पर देवता शब्द निर्दिष्ट नहीं, वहां पर कुछ मन्त्रों का 'यज्ञ' अथवा यज्ञाङ्ग' देवता होता है। जो यज्ञादि परक नहीं हैं, इन का देवता 'प्रजापति' है। इन बातों से

ज्ञात होता है कि चाहे 'यज्ञ,' 'यज्ञाङ्ग' देवता हों, अथवा 'प्रजापति' देवता हो। यह यज्ञ, प्रजापति आदि भी सब निश्चित ही हैं। जिस मन्त्र का जो चाहें, वह देवता नहीं हो सकता। नित्य वेदों के साथ अनित्य देवताओं का समन्वय कभी नहीं हो सकता। ऋषि, देवता, छन्द आदि सभी नित्य तथा निश्चित हैं। जिस प्रकार मन्त्रभाग निश्चित है, उसी प्रकार यह भी निश्चित ही है। महर्षि दयानन्द तथा यास्काचार्य एवं अन्य प्राचीन महर्षियों का भी यही सिद्धान्त रहा है। इसका अपलाप करना जनता को धोखा देना है।

देवताज्ञान की दुष्करता।

कुछ विद्वानों का मत है कि देवता-ज्ञान बहुत साधारण कार्य है। परन्तु निरुक्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि देवता-ज्ञान बहुत दुष्कर तथा गूढ है। यदि देवता-ज्ञान इतना सरल होता, तो यास्काचार्य जैसे ऋषि निरुक्त का विशेष प्रयोजन देवता-ज्ञान न लिखते और न इस व्यर्थ कार्य को इतना महत्त्व देते। ऋषि यास्क ने नि० अ० २, पा० ३ में देवता-ज्ञान की दुष्करता का एक दृष्टान्त लिखा है। जिस का भाव यह है। "एक बार शाकपूणि आचार्य को यह अभिमान हुआ कि मैं सम्पूर्ण देवताओं को जानता हूं, उसके सामने 'अयं स शिङ्क्ते ...' आदि ऋग्० १।१६४।२९ का मन्त्र आया। वह इस मन्त्र का देवता न जान सके।

इस मन्त्र में विद्युत्देवता के दो लिङ्ग प्रतीत होते हैं। (१) स्तनयित्नु- जो कि गर्जता है, (२) विद्युत्- जो चमकता है। इस प्रकार इस मन्त्र का देवता 'विद्युत्' प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक देवता 'विश्वेदेव' है।" इस से समझ सकते हैं कि मन्त्रों के देवताओं का जानना टेढ़ी खीर है। वस्तुतः देवता जानना 'तलवार की धार पै धावन है।' उदाहरणार्थ जैसे- 'इन्द्रं न त्वा शवसा-' इस अग्नि देवताके मन्त्रमें वायु और इंद्र भी देवता प्रतीत होते हैं। 'अग्निरिव मन्यो-' इस मन्यु देवताके मंत्रमें अग्नि भी देवता प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि देवताज्ञान अति दुष्कर है। यदि किसी भी मन्त्र का कोई भी देवता हो सकता होता, तो इस प्रकार का व्यर्थ परिश्रम ऋषिमहर्षि भी क्यों करते। कोई भी विद्वान् किसी मन्त्र के देवता को बदलने का अधिकार नहीं रखता। ऋषिमुनियों का परिश्रम सिद्ध करता है कि देवता निश्चित हैं। उनको उस परिश्रमसे जानना चाहिए। यही बात महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में सिद्ध की है कि, "स्वाध्यायादिष्ट-देवतासम्प्रयोगः।" उस स्वाध्याय से ही वैदिक इष्ट देवताओं का ज्ञान होता है।

क्या महर्षि-निर्दिष्ट देवता अशुद्ध हैं ?

कुछ विद्वान् इस निश्चित देवता-वाद का नाम सुनते ही चौंक उठते हैं। उनका विचार है कि यदि निश्चित देवता मान लिए जायेंगे, तो सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता को परम प्रमाण मानना पड़ेगा और इस प्रकार महर्षि दयानन्द के देवता अशुद्ध हो जाएंगे। उदाहरण के लिए यजुर्वेद का प्रथम अध्याय दिया जाता है। इसके ३१ मन्त्रों में से २ मन्त्रों के ही देवता सर्वानुक्रमणी से मिलते हैं, २९ के नहीं। इसलिए अनिश्चित देवतावाद मान लो, इसमें खुली छुट्टी है, जो मन में आवे देवता बनाओ बिगाड़ो। परन्तु यह सरासर भूल तथा अज्ञान है। महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों में कुछ गूढ रहस्य है, सार है। जिसके बिना जाने उसका अभिप्राय समझ में नहीं आता। महर्षि दयानन्द के देवता आर्षपद्धति के अनुसार 'नित्य देवतावाद को मानते हुए ही सर्वथा शुद्ध हैं।

महर्षि का सिद्धान्त।

महर्षि दयानन्दने इस विषय पर 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' के वेदोत्पत्ति विषय में पर्याप्त विचार किया है। लेख के विस्तारभय से संक्षेप से सिद्धान्त का निर्देश करूंगा। महर्षि लिखते हैं—

"यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते? याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमादेवता ...... ' आदि यजु० १४.२०। ... यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते। एवमेव वातः सूर्य-

श्चन्द्रमा ... ... वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते।"

इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है। अर्थात्- यज्ञ में देवताशब्द से मन्त्रों में निर्दिष्ट अग्नि, वायु, सूर्य आदि ही देवता लिए जाते हैं। यह देवता-निर्देश केवल यज्ञके लिए ही नहीं, अपितु समस्त देवता-ज्ञान के लिए है। आगे के वाक्य यही बताते हैं। जिस मन्त्र में अग्निशब्द के अर्थ का प्रतिपादन हो, वह मन्त्र ही 'अग्नि' देवता का होता है। इसी प्रकार वायु, सूर्य आदि पदों से युक्त मन्त्र उस उस देवताके होते हैं। इससे स्पष्ट है कि देवता से अर्थ का ज्ञान होता है। जो मन्त्र में पढा गया पद (शब्द) है, वही देवता होगा, अर्थ नहीं। यदि अर्थ को देवता मानना स्वप्न में भी महर्षि को इष्ट होता तो वह ऐसा ऐसा न लिखते; इससे स्पष्ट है कि अर्थ या पर्यायवाची शब्दों को देवता मानना महर्षिके सिद्धान्त पर कुठाराघात है। महर्षि के सिद्धान्तों के रक्षक कहलानेवाले विद्वान् महर्षि के सत्य सिद्धांतों को समूल नष्ट करने पर कटिबद्ध दीखते हैं। यदि ऐसा न होता, तो इस प्रकार का असत्य सिद्धांत कभी भी महाप के नाम से अपनाया नहीं जाता। महर्षि इससे भी स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं-

"यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवंति। तद्यथा- 'अग्निं दूतं पुरोऽधे .' अत्राग्नि शब्दो लिङ्गमस्ति। अतः किं विज्ञेयम्? यत्र यत्र देवतो च्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति। यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छन्दोऽस्ति तदेव दैवतमिति।"

अर्थात्- मन्त्रों में जो जो नाम (संज्ञाशब्द) अर्थों के बोधक होते हैं, वही उन मन्त्रों के देवता होते हैं। जिस प्रकार 'अग्नि दूतम्- ' मन्त्र का देवता 'अग्नि' है, क्योंकि यहाँपर 'अग्नि' शब्द मन्त्र में पढा हुआ है। जहाँ जहाँ पर मन्त्र का देवता कहते हैं, वहाँ उस मन्त्र में उसका नाम या लिङ्ग होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि त्रिकाल में भी महर्षि का सिद्धांत यह नहीं था कि, देवता अनिश्चित हैं। महर्षि ने देवताविषय में दो हेतु दिए हैं, वह विशेष ध्यान देनेयोग्य हैं-

(१) तत्रदर्थस्य द्योतकत्वात्,

(२) परमाप्तेश्वरेण कृतसङ्केतत्वाच्च।

अर्थात्- देवतामन्त्र के अर्थों के द्योतक (सूचक) हैं। देवता सूत्ररूप से होते हैं, देखने में बहुत छोटे लगते हैं, परन्तु उनका अर्थ बहुत विस्तृत है। उनके नाना प्रकार के अर्थ हो सकते हैं, जैसा कि महर्षि ने सहस्रों स्थलों पर किया है। उदाहरणार्थ- जैसे 'अग्नि' देवता के मन्त्रों में 'अग्नि' शब्द के परमात्मा, जीवात्मा, वह्नि, विद्वान्, सभापति, राजा, दूत आदि अनेकों अर्थ किए हैं। परन्तु सब स्थानों पर देवता 'अग्नि' ही माना है। तोप, बन्दूक, बारूद गैस आदि यथेच्छ, तथा अर्थों को देवता नहीं माना। "यदि अर्थ को देवता माना जाय, तो महर्षि के भाष्य में कम से कम २००० दो हजार, नहीं नहीं कमसे कम ९५ प्रतिशत या इससे भी अधिक देवताओं की अशुद्धि माननी पडेगी। जिसे कोई भी अनिश्चित (अर्थ) देवतावादी विद्वान् शुद्ध सिद्ध नहीं कर सकता। इस अनिश्चित देवता-वाद के सिद्धांत को अपना कर महर्षि के सिद्धान्तों के रक्षक कहलानेवाले विद्वान् महर्षि दयानन्द को अनृषि या प्रकारान्तर से मूर्ख ही सिद्ध करना चाहते हैं। जरा हृदयपर हाथ धर कर सोचे। इस प्रकार का अनुचित प्रयास कब तक सहा जा सकता है। यह ऋषि की आत्मा के साथ उसके अनुयायियों का घोर अनर्थ है, इसलिए सतर्कता की आवश्यकता है।

अर्थ- देवतावादियों का कथन है कि जब 'अग्नि' शब्द का अर्थ विद्वान् होता है, तब 'अग्नि' देवता के स्थान पर 'विद्वान्' ही देवता क्यों न मान लें। इसका उत्तर महर्षि दयानन्द के ही शब्दों में देना चाहता हूँ। ऋग्वेदादि के प्रश्नोत्तरविषय में महर्षि शङ्का लिखते हैं कि, "यदि अग्नि आदि शब्दों से मन्त्रों में परमात्मा का ग्रहण इष्ट था, तो

मन्त्रों में 'अग्नि, वायु' आदि शब्दों के स्थान पर स्पष्टार्थता के लिए 'परमात्मा' ही पढ देते," यह प्रश्न ठीक ऐसा ही है, जैसा कि आधुनिक, 'अनिश्चित (अर्थ) देवतावादी ' विद्वानों का है। इसका उत्तर महर्षि (३५६ पृ०, ३ पंक्ति) लिखते हैं कि, 'ब्राह्मणादि ग्रंथों में अग्नि आदि वैदिक शब्दों के अनेकों परमात्मा, भौतिक अग्नि, वाणी, मन, प्राण आदि अर्थ किए गए हैं। उन अनेकों अर्थों का ग्रहण केवल एक 'अग्नि' शब्द से हो जाता है। यदि 'अग्नि' शब्द के स्थान पर उन अनेकों अर्थों को रक्खें, तो सहस्रों ग्रन्थों में भी इस विद्या की पूर्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जितना अर्थ मन्त्रगत एक 'अग्नि' शब्द बोधित कर सकता है, उतना अर्थ सैकड़ों तदर्थक शब्द नहीं कर सकते। " यही उत्तर हमारा भी अर्थदेवतावादी विद्वानों के लिए है। क्योंकि दूसरे हेतु में महर्षि ने स्पष्ट लिख दिया है कि, ' यह देवता परमेश्वरकृत संकेत है '। यही मत मीमांसाकार महर्षि जैमिनि लिखते हैं-

' अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ।' (मी० १.३. २६)

अर्थात्- नित्य एक शब्द के स्थान पर अनेक शब्दों की कल्पना करना अयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि, देवता निश्चित ईश्वरीय संकेत हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि, देवता नित्य तथा ईश्वरीय नहीं हैं। उनको महर्षि के द्वितीय हेतु पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसलिए जिस प्रकार मन्त्रों में एक भी अक्षर न्यून, अधिक अथवा परिवर्तित नहीं कर सकते, इसी प्रकार देवता भी नित्य, निश्चित, अपरिवर्तनीय हैं। मन्त्रों के पदों के तुल्य देवता भी अनेकार्थक तथा सूत्ररूप से लिखे हुए हैं। इसीलिए कहते हैं कि, "या तेनोच्यते सा देवता।" अर्थात्-मन्त्र से जो देवता कही जाती है, वही देवता है। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रगत शब्द ही देवता हो सकते हैं। यदि यहाँ पर अर्थ को देवता कहना होता, तो "या" के स्थान में "यः" पढते, क्योंकि अर्थ शब्द नित्य पुल्लिंग है।

शास्त्रकारों के अनुकूल महर्षि की देवताएं।

पूर्वप्रकरणमें यह दिखा दिया गया है कि, दर्शनकार, ब्राह्मण तथा निरुक्त का क्या सिद्धान्त है, तथा महर्षि का उनके सिद्धान्त के साथ कितना समन्वय है। महर्षि का 'नित्य देवतावाद' सिद्धान्त कपोलकल्पित नहीं, अपितु सम्पूर्ण सिद्धान्त ऋषि, महर्षियों के सिद्धान्त के अनुकूल ही हैं। महर्षि के इस गूढ रहस्य को जाने बिना उसके सिद्धान्तों की थाह नहीं मिल सकती। मीमांसा, शतपथ तथा निरुक्त की प्रक्रिया से ही महर्षि ने देवताओंका निश्चय किया है। श्रुति, लिंग, वाक्यादि के अनुसार ही देवता माने, तथा लिखे है। जहाँ पर श्रुति या लिंग नहीं है, वहाँ पर यास्कीय प्रक्रियाके अनुसार यज्ञ प्रजापति आदि देवता माने हैं। इस प्रकार महर्षिका सम्पूर्ण देवतावाद शास्त्रीय तथा निश्चित है। कुछ प्रेससम्बन्धी त्रुटियाँ अवश्य हैं, उसको दूर करने के लिए आर्यजगत् के विद्वान् कई बार लिख चुके हैं।

सर्वानुक्रमणी आदि परम-प्रमाण नहीं।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि, 'नित्य देवतावाद में सर्वानुक्रमणी आदिको परम प्रमाण मानना पड़ेगा। यह कथन नितान्त अनुचित है, क्योंकि बृहद्देवता सर्वानुक्रमणी आदि के देवताओं पर दृष्टिपात करने से उनमें असत्यता प्रतीत होती है। लिङ्गोक्त देवताओं को छोड़कर शाखा, स्रुचा, शूर्प, हविः, मुसल आदि देवता मानना अशास्त्रीय है। यद्यपि देवताओंके विषय में महर्षि का सिद्धान्त स्पष्ट लिख दिया गया है कि, ' यज्ञ में लिङ्गोक्त अग्नि, वायु, सूर्य आदि ही देवता होते हैं, शाखा आदि देवता नहीं हो सकते। ' महर्षि के इसी सिद्धान्त की पुष्टि मीमांसा० अ० १०, ४, २३ के भाष्यमें शबर स्वामी ने की है। देवता विषयक ऊहापोह के पश्चात् देवता का निर्णय लिखते हैं कि- " तस्मात् सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः। " अर्थात् जो सूक्त को या हवि को धारण करनेवाले हैं, वे देवता हैं। इस पर शंका करते हैं कि "यदि हविर्भाक् को देवता मानेंगे,

कपालादि भी देवता होने लगेंगे।" इस का उत्तर लिखते हैं कि-

एवं तर्हि सा हविर्भाक् देवता, यां प्रति तादर्थ्यं हविषः। सूक्तस्याप्येवमेव। अत्र हि देवता शब्दः स्मर्यते अग्निदेवत्यं सूक्तम्, अग्नि-देवत्यं हविरिति॥

अर्थात्- हविर्भाक् वही देवता होगा, जिस के लिए हवि दी जाती है। इसी प्रकार सूक्त का भी वही देवता होगा, जिस का नाम मन्त्रों में स्पष्ट होगा। इससे सिद्ध है कि केवल विनियोगमात्र से 'देवता' नहीं होता। उदाहरणार्थ- अतिप्रसिद्ध 'शन्नो देवीः-' आदि मन्त्र को ही लेता हूं, महर्षि ने इसका विनियोग आचमन में किया है, क्या इतने से 'आचमन' देवता हो जायगा? नहीं, महर्षि स्पष्ट यजु० ३६, १२, में इस मन्त्र का 'आपः' देवता लिखते हैं। परन्तु इस का अर्थ 'परमात्मा' परक किया है।

यहां पर सर्वानुक्रमणी आदि को प्रमाण माननेवाले तथा अर्थ देवता माननेवाले विद्वानों की सत्यता की परीक्षा है। 'हाथ कङ्गन को आरसी क्या?' महर्षि का मन्तव्य यहां स्पष्ट है कि 'न विनियोग से ही देवता होता है, न अर्थ ही।' सर्वानुक्रमणी आदि में लिङ्गोक्त देवताओं का जानबूझकर अपलाप किया गया है। इसलिए उनपर प्रामाणिकता नहीं है। लिंगोक्त देवताके रहते हुए शाखा आदि कभी भी देवता नहीं हो सकते। 'चत्वारि शृङ्गा ...' मन्त्र का लिङ्गोक्त 'वृषभ' ही देवता होगा। उसके अर्थ यज्ञ शब्द आदि नहीं। मन्त्रों में 'ऊहा' आदि से काल्पनिक देवता माने जाते हैं वे परम प्रमाण नहीं हो सकते। परम प्रमाण देवता केवल श्रुति, लिंगादि द्वारा सिद्ध ही होते हैं।

अनित्यता-बोधक वाक्यों का अर्थ।

यद्यपि अनित्यताबोधक वाक्यों को वास्तविक अर्थ पूर्व दिया जा चुका है। कुछ वाक्यों से फिर भी सन्देह प्रतीत होता है कि देवता अनित्य हैं। उव्वट यजुर्वेदभाष्य के प्रारंभ में लिखते हैं-

गुरुतस्तर्कतश्चैव, तथा शतपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि वेदानां, देवता छन्दसं च यत्॥

अर्थात्- गुरुपरम्परागत, शतपथोक्त तथा तर्क-द्वारा मन्त्रों के ऋषि, देवता तथा छन्दों को कहूंगा। इससे स्पष्ट है कि जो गुरुपरम्परागत या शतपथ की प्रक्रिया से देवता कहे गये हैं, वे निश्चित हैं। केवल तर्कपद सन्देहजनक है। यहाँ पर तर्क का अभिप्राय मनु० १२, १०६ के अनुसार वेदानुकूल चिंतन तथा विचारसे है। क्योंकि जहाँ पर देवता-पद स्पष्ट नहीं पढा गया है, वहाँ पर किस देवता का लिङ्ग है, इसके लिए पूर्ण विचार की आवश्य-कता है ही, अन्यथा देवताज्ञान नहीं होगा। यहाँ तर्क का अभिप्राय यह कभी भी नहीं है कि, ऐच्छिक देवताओं की सृष्टि करूं। जो कि विरोध प्राचीन आचार्यों के उपस्थित किए जाते हैं। वह भी अना-दिष्ट देवताके मन्त्रों में विचारभेद हैं। जिस प्रकार 'चत्वारि शृङ्गा' मन्त्र का लिङ्गोक्त देवता 'वृषभ' ही है। उसी प्रकार उन मन्त्रों के भी लिङ्गोक्त नित्य ही देवता होंगे। जहाँ पर देवता निर्दिष्ट हैं, वहाँ पर तो सन्देह ही नहीं है। लेख के विस्तारभय से विरोधसूचक पद्यों तथा आचार्यों के लेखोंपर विचार नहीं किया जा सका है। अन्य लेख में उनपर भी विचार किया जायगा।

महर्षि के देवताओंमें पौराणिकता।

कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि देवताओं को निश्चित मान लेंगे, तो पौराणिकता आ जायगी। यदि महर्षि के निर्दिष्ट नित्य देवताओं में भी अब पौराणिकता की गन्ध आने लगी, तो वह समय दूर नहीं, जब मन्त्रों के नित्य पदों को भी नित्य मानने में पौराणिकता प्रतीत होने लगगी। इस प्रकार यदि महर्षि के सिद्धांतों की लीपापोती कर महर्षि को भी पौराणिक सिद्ध करना चाहते हैं, तो आर्यजनता को ऐसे आर्यविद्वानों से सावधान रहना चाहिए।

'घर का भेदी लङ्का ढावे।' इस लोकोक्तिके अनुसार महर्षि की दुहाई देनेवाले विद्वान् ही महर्षि के सिद्धांत पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसलिए आर्य-जनता को अपनी बागडोर सतर्कता के साथ विद्वानों के हाथों में देनी चाहिए।

हमारा दावा है कि "महर्षिके देवता सर्वथा शास्त्र शुद्ध हैं, महर्षि का देवतावाद नित्य तथा निश्चित है। वे बदले नहीं जा सकते, उनका स्थान कोई भी अर्थ या पर्यायदेवता नहीं ले सकता।

अन्तमें समस्त आर्यविद्वानों से विनीत प्रार्थना है कि, यदि इस लेखमें कुछ सन्देह या असत्यता प्रतीत होती हो तो वे विद्वान् वैयक्तिक राग द्वेष, मनोमालिन्य को दूर फेंक कर शान्त, पवित्र हृदय से सिद्धान्तनिर्णय के लिए प्रत्येक पंक्तिका खण्डन लिखें। वितण्डावाद या वैयक्तिक आक्षेपों से लखों तथा समाचारपत्रों को दूषित न करें।

अमृत-बिन्दु

अर्थात्

माताजी के वचन।

पॉंडिचेरी में स्थित श्री अरविन्द-आश्रम की पूजनीया श्री माताजीके ये कुछ वचन हैं, गांधीजी के शब्दों में 'अमृत-बिन्दु' हैं, उस अमृत-सागर के कुछ छींटे हैं, जिसमें माताजी स्वयं स्नान कर चुकी हैं और अन्य सब जगत् को भी स्नान कराना चाहती हैं। जैसे अमृत की एक बूंद भी सेवन करनेवाले को अमर कर सकती है, वैसे इन वचनों में से एक भी वचन ग्रहण किया हुआ मनुष्य को अमृतपद प्राप्त करा सकता है, इसमें कुछ भी सदेह नहीं। यही समझ कर हिन्दीभाषाभाषियों के लिये इन्हें सुलभ किया जा रहा है।

श्रीअरविन्दाश्रम, अभय

५-१२-३८. हिन्दी भाषान्तरकार

भगवान् के विना जीवन एक दुःखमय धोखा है, भगवान् के साथ सब कुछ आनन्द है।

❀

भगवान् के विस्तृत बाहुओं में आश्रय ग्रहण कर लेने से सब कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं, कारण उनके बाहु-प्रेम के साथ हमें अपनी शरण में ले लेने के लिये सदा खुले हुए हैं।

❀

भगवान् की ओर अभिमुख होओ, तुम्हारे सब दुःख-दर्द विलीन हो जायंगे।

❀

यह भगवान् के चरणों में सच्चे भाव से अपने आपको अर्पित कर देना है, जिससे हम अपने अनगिनत मानवीय दुःखदर्दों से छुटकारा पा सकते हैं।

❀

शान्ति असीम होनी चाहिये, अचंचलता गहरी और प्रशान्त; इसी तरह स्थिरता अविचल होनी चाहिये और भगवान् में भरोसा नित्य बढ़नेवाला।

❀

भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने का इससे अधिक अच्छा और कोई तरीका नहीं कि, चुपचाप आनन्द-मग्न रहा जाय।

❀

उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करो, जो कुछ तुम्हें भगवान् की तरफ से दिया जाता है।

❀

ओ प्रभो ! यह जो भी कुछ है और जो भी कुछ आगे होगा, उस सबकी गहराई में तेरी दिव्य और एकरस मुसकाहट विद्यमान है।

❀

सब तरफ सुवर्ण, सुवर्ण, सुवर्ण ही था, सुवर्णीय ज्योति का एक प्रवाह निरवच्छिन्न धारा में ऊपर से बरस रहा था और मुझ में इस चेतना को जागृत कर रहा था कि, देवताओं का मार्ग एक ऐसा ज्योतिर्मय मार्ग है, जिसमें कठिनाइयों की सब वास्तविकता विलीन हो जाती है।

❀

ऐसा वह मार्ग हमारे सामने खुला है, यदि हम उसका अवलम्बन करना पसन्द करें।

एक मुस्कराहट का कठिनाइयों पर वही असर होता है, जो कि सूर्य का बादलों पर—वे उन्हें छिन्नभिन्न कर देते हैं ।

❀

अपने सुख के लिए चिन्ताशील होना, दुःखी होने का निश्चिततम उपाय है ।

❀

सुख जीवन का लक्ष्य नहीं है । साधारण जीवन का लक्ष्य अपने कर्तव्य को पूरा करना है, आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य भगवान् को प्राप्त करना है ।

❀

यदि हम चाहते हैं कि, हमारा सुख अक्षुण्ण और पवित्र बना रहे, तो हमें इस बात के लिए अपना पूरा प्रयत्न रखना चाहिये कि, हमारे सुख पर किन्हीं अमैत्रीपूर्ण विचारों का ध्यान आकर्षित न हो ।

❀

शान्ति और अचंचलता रोगों को दूर करने के लिये महान् औषध हैं ।

जब हम अपने शरीर के अणुओंमें शान्ति ले आ सकेंगे, तो हम रोगमुक्त हो जायँगे ।

❀

शरीर को चाहिये कि वह रोग को वैसी ही प्रबलता के साथ त्याग देवे, जैसे कि हम मनमें से झूठ को त्यागते हैं ।

❀

अभीतक सुख और उत्तम स्वास्थ्य इस संसार में सामान्य अवस्था की वस्तुएँ नहीं बनी हैं ।

हमें बड़ी सावधानी के साथ इन (सुख और स्वास्थ्य) की रक्षा करनी चाहिये कि, कभी कहीं इनके विरोधी भाव बीच में न आ घुसें ।

❀

निरन्तर सुख का जो स्रोत है, वह अन्तरात्मामें है ।

❀

इस पार्थिव प्राणी के अन्दर कुछ भी नित्य व स्थिर नहीं है, सिवाय अन्तरात्मा के ।

❀

यदि कला का उद्देश्य दिव्य जीवन के विषय में कुछ अभिव्यक्त करना है, तो वहाँ (उस कला में) भी एक विशाल और प्रकाशमय शान्ति अवश्य अपने आपको प्रकट करेगी ।

❀

भगवान् में हमारा भरोसा किन्हीं बाहिरी परस्थितियों पर निर्भर नहीं होना चाहिये ।

❀

यदि हमें भगवान् को जानना है तो हमें किसी प्रकार की पसन्दगियां रखना छोड़ देना होगा ।

❀

यदि हमें सचमुच भगवान् से प्रेम करना है, तो हमे आसक्तियों से ऊपर उठ जाना होगा ।

❀

बिचारा भगवान् ! उसे न जाने कितने भयकर भयकर कृत्यों का दोषी ठहराया जा सकता है ।

यदि ये आरोप सच्चे हों, तब तो वह कितना भारी दैत्य होगा, वह (भगवान्) जो असलमें दयामय ही है ।

❀

हमारे सब विचार, हमारी सब भावनाएँ भगवान् की तरफ जायँगी, जैसे नदी समुद्रकी तरफ जाती है ।

❀

भगवान्का साक्षात्कार करना, यह जीवन में हमारी एक आवश्यकता हो जावे ।

❀

एकमात्र भगवान् को ही अपने आत्मा का विश्वसनीय साथी रखो ।

❀

वही सकल्प करना, जो कि भगवान् का सकल्प है—यह है परम रहस्य ।

❀

केवल भगवान् का चिन्तन रखो, तो भगवान् तुम्हारे साथ हो जावेंगे ।

❀

हमारा सम्पूर्ण ही जीवन भगवान् के प्रति की गई प्रार्थनारूप होना चाहिये ।

❀

भगवान् के लिये कर्म करना, शरीरद्वारा उनकी उपासना करना है ।

❀

हमें किसी भी अन्य की सेवामें नहीं रहना चाहिये, सिवाय एक भगवान् की सेवा के।

भगवान् के लिये तुम्हारा उससे अधिक कुछ भी मूल्य नहीं है, जितना कि तुम भगवान् को दे चुके हो।

यहाँ की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी हल करनेयोग्य असम्भवता का ही प्रतिनिधित्व करती है, पर यदि तुम्हारी दिव्य दया की तरफ देखें तो, हे प्रभो! उसकी कृपा से सब कुछ ही संभव है। क्या तुम्हारा कार्य यही नहीं होगा, कि इन सब असम्भवताओंको दिव्य वास्तविकताओं में रूपान्तर करके, जहाँ समूचे रूप में वहाँ अंशअंश में भी, इन्हें पूरा कर देना?॥

चाहे कितनी लम्बी यात्रा हो और कितना महान् यात्री हो, अन्तमें भगवान् की कृपा पर ही एकमात्र भरोसा सदा पाया गया है।

जब हम एक सुनिश्चित आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर लेते हैं, तो भगवान् के अदृश्य शत्रु सदा बदला लेने की चेष्टा करते हैं और जब वे हमारी आत्माको हानि नहीं पहुँचा सकते, तो वे हमारे शरीर पर प्रहार करते हैं। परन्तु उनके ये सब प्रयत्न व्यर्थ होते हैं और अन्त में परास्त कर दिये जायँगे, क्योंकि भगवान् की कृपा हमारे साथ है।

एकमात्र भगवत्कृपा पर ही आश्रित रहना, और सभी परिस्थितियों में इसकी सहायता का आवाहन करना, यह हमें सीखना होगा, तब यह निरन्तर चमत्कार करके दिखलायेगी।

आओ हम अपने संकल्प भगवत्कृपा के प्रति अर्पित कर देवें, भेंट चढ़ा देवें; यह कृपा ही है, जो सब कुछ पूरा करती है।

हमारा भगवान् में जितना भरोसा है, उसके ही अनुपात में भगवत्कृपा हमारे लिए काम कर सकती और सहायता पहुँचा सकती है।

भगवत्कृपा के सामने कौन पात्र है या कौन अपात्र? सब उस एक ही अभिन्न माता के पुत्र हैं।

उसका प्रेम उन सब पर एक बराबर बरस रहा है।

परन्तु वह हर एक को उसकी प्रकृति और ग्रहणसामर्थ्य के अनुसार देती है।

आओ, हम अपने आपको, बिना कुछ भी बचाए रखे, भगवान् को सौंप दें, इससे ही हम सर्वोत्तम प्रकार से भगवत्कृपा को प्राप्त कर सकेंगे।

उस परम पुरुष ने अपनी कृपा को इस जगत् में भेजा है, इसकी रक्षा के लिए।

पर्वतीय पथ सदा हमें दो दिशाओं में ले जानेवाला होता है, ऊपर की तरफ और नीचे की तरफ।

सब इस बात पर निर्भर करता है कि, हम अपनी पीठ पीछे किसे रखते हैं।

अन्धकारभरी भौतिक प्रकृतिपर जब हम कोई विजय प्राप्त करते हैं, तो ऐसी प्रत्येक विजय एक आनेवाली अधिक बड़ी विजय की आशा बँधानेवाली होती है।

इस विश्व के निरन्तर आगे आगे बढ़ते जाने की क्रिया में जो कुछ भी कार्य पूरा (सिद्ध) हुआ है, वह एक नयी और अधिक महान् दिव्य सिद्धि का केवल प्रथम पग-रूप है।

कामना को तृप्त कर लेने की अपेक्षा कामना पर विजय पालेना कहीं अधिक सुखदायक होता है।

उस सब बात से बचने के लिए हमें अवश्य ही बहुत सावधान रहना चाहिये, जो हमारे अन्दर दिखावे के भाव को प्रोत्साहन दे सकती हो।

सच्चे साहसमें न तो अधीरता होती है, न जल्दबाजी।

ईर्ष्या, अपनी परिरक्षिका असूया के साथ, दुर्बल और लघु मनुष्यों में ही उपजती है।

यह हमारे क्रोध की अपेक्षा हमारी दया की ही अधिक पात्र होती है और हमें, अपनी अविचल निश्चिन्तता के आनन्द में मगन रहते हुए, इस (ईर्ष्या) के प्रति सर्वथा उदासीन ही बने रहना चाहिये।

बुरा लगने या निरादर होने से ऊपर उठ जाना मनुष्य को सच्चे अर्थों में महान् बना देता है।

सदा सत्य बात ही बोलना, उच्च कोटि का पुरुष होने की सर्वोत्कृष्ट पहिचान है।

कलामें भी हमें सदा ऊँचाई पर ही रहना चाहिये।

सुरुचि कला की नवाबी है।

सौन्दर्य के द्वारा भगवान् भौतिक जगत् में अभिव्यक्त होते हैं, मानसिक में ज्ञानद्वारा, प्राण में बल के द्वारा और अध्यात्म में प्रेमद्वारा।

जब हम काफी ऊँचे उठ जाते हैं, तो हम देखते हैं कि, वहाँ इन चारों रूपों के एक दूसरे में घुल मिल जाने से एकही चेतना बन गयी है, एक अकेली प्रकाशमयी, बलशालिनी, सौन्दर्यपूर्ण, सर्वसंग्राहिक, सर्वव्यापिनी, प्रेममयी चेतना हो गयी है।

यह केवल विश्वकी लीला चलाने के लिये हुआ है कि, यह एक अकेली दिव्य चेतना अभिव्यक्ति के इन कई रूपों या दिशाओं में विभक्त हो गई है।

देवों तक को उस परम पुरुष के प्रति आत्मसमर्पण करना होगा, यदि दिव्य सृष्टि को इस पृथिवी पर मूर्त्त रूपमें ले आना है।

अज्ञानावस्था में मानसिक सम्मतियाँ सदा एक दूसरे की विरोधिनी होती हैं।

सत्य की अवस्था में ये सम्मतियाँ एक ही उच्चतर ज्ञान की परस्पर पूरक-रूप होती हैं।

प्रत्येक स्त्री या पुरुष को बात उसके समझने के सामर्थ्य के अनुसार ही कही जाती है।

इसका यह मतलब होता है कि, जो ज्ञान एक को दिया गया है, वह दूसरे के लिये उपयोगी या अच्छा न हो, यह हो सकता है। यही कारण है कि अपने को वैयक्तिक तौर पर दिया गया गुरु का उपदेश दूसरों को प्रकट करना उचित नहीं होता।

नये सिरे से उसे भरा जा सके, इसके लिये बरतनको कभी कभी खाली किया जाना आवश्यक होता है।

यह तभी होता है कि हम अपने को खाली अनुभव करते हैं, जब कि हम अधिक बड़े ग्रहण-सामर्थ्यके लिये तैय्यार हो रहे होते हैं।

तथाकथित 'प्रकृति की शक्तियाँ' इसके सिवाय और कुछ नहीं कि ये उन सत्ताओं की बाह्य हलचल हैं, जो अपने परिमाण में या अपने वशवर्ती बलों में मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ी चढ़ी हैं।

एक सूक्ष्म जगत् है, जहाँ तुम चित्रलेखनों, उपन्यासों, सब प्रकार के नाटकों, सिनेमा तक के लिये सब संभवित विषय देख सकते हो।

इसी जगत् से यह होता है कि बहुत से रचयिता अपनी रचनाओं के लिये प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

इस विश्व के आश्चर्यों का कहीं अन्त नहीं।

ज्यों ज्यों हम अपने तुच्छ 'अहं' की मर्यादाओं से मुक्त होते जाते हैं, त्यों त्यों अधिकाधिक ये आश्चर्य हमारे सामने प्रकट होते जाते हैं।

❀

अपने 'अहं' को अतिक्रमशः कर जाना कोई सुगम कार्य नहीं।

सांसारिक चेतना में इस पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद भी, आध्यात्मिक चेतनामें यह फिर एक बार-अधिक बढे हुए रूपमें- हमारे सामने आता है।

❀

हमारी अभीप्सा का सूर्य अहंकार के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देवे।

❀

हृदय की नीरवता में अभीप्सा की स्थिर अग्नि जल रही है।

❀

प्रत्येक ध्यान एक नवीन प्रकाश का लानेवाला होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक ध्यान में कुछ न कुछ नयी बात होती है।

❀

प्रत्येक नया प्रभात एक नयी उन्नति की संभावना को लानेवाला होता है।

❀

बिना जल्दी मचाये हम आगे आगे चल रहे हैं। कारण, हम अपने भविष्य के बारे में सुनिश्चित हैं।

❀

जो प्रतीक्षा करना जानता है, वह कालदेव को अपने पक्ष में रखता है।

❀

मनुष्य उस ही के समान होता जाता है, जिससे कि वह प्रेम करता है।

हम सदा उन वस्तुओं से घिरे रहते हैं, जिनका हम चिंतन करते हैं।

❀

विरोधी शक्तियों का निरन्तर चिंतन करना और उनसे डरना एक बडी खतरनाक कमजोरी है।

❀

मांसपेशियों की तरह एकाग्रता और संकल्पशक्ति को भी समुन्नत किया जा सकता है, ये भी नियमित शिक्षण और अभ्यासद्वारा बढती हैं।

❀

हमारी चेतना एक नवजात पक्षी की तरह है। इसे अपने पंखों का इस्तेमाल करना सीखना पडता है।

❀

यह दिव्य उपस्थिति दिनरात निरन्तर विद्यमान है।

केवल हम चुपचाप अपने अन्दर में प्रविष्ट होवें-बस इतने से उसे हम खोज लेंगे।

❀

मेरे प्रभो! तूने आज रात मुझे यह परमज्ञान दिया है।

हम जीरहे हैं, केवल इसलिये कि ऐसी तेरी इच्छा है ......हम मरेंगे केवल यदि यह तेरी इच्छा होगी।

❀

यह नये वर्ष का जन्म हमारी चेतना का नया जन्म होवे।

आओ, आज हम भूतको सुदूर पीछे छोडे जाते हुए एक प्रकाशमय भविष्य की तरफ दौडें।

प्रभो! यह संवत्सर मर रहा है और हमारी कृतज्ञता तुम्हारे चरणों में नीचे झुकती है।

प्रभो! संवत्सर फिर जन्मा है, हमारी प्रार्थना तुम्हें पहुँचने के लिये ऊपर उठती है।

ऐसा करो कि यह हमारे लिये भी एक नवजीवन का प्रभात सिद्ध होवे।

वेदोंकी उपेक्षा और उसके परिणाम

(लेखक— स्व० पंडित रघुनन्दन शर्माजी।)

हमने वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करते हुए कहा है कि इसी वैदिक ज्ञान की बदौलत आदिमकालीन आर्य ऋषियों ने यज्ञों की उन्नति के लिए बड़े बड़े आविष्कार किए थे। किंतु जब से उनमें मिश्रित दर्शन, मिश्रित विश्वास और मिश्रित विचारों का समावेश हुआ, तब से परस्पर भयङ्कर अनैक्यता का साम्राज्य हो गया और उनका हर प्रकार से पतन हो गया। आज उन वैदिक आर्यों के वंशजों की वर्तमान दशा को देखकर कौन कह सकता है कि ये उसी अपौरुषेय ज्ञान के माननेवाले हैं, जिसने समस्त संसार को ज्ञानी और सदाचारी बनाया था? इनकी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक अवस्था को देखकर कौन कह सकता है कि ये उन्हीं ऐश्वर्यवान् ऋषियों और राजाओं की सन्तति हैं जिन्होंने समस्त भूमण्डल को अपने विज्ञान, कला और शौर्यकौशल से चकित कर दिया था? इसमें सन्देह नहीं कि आर्यों का याज्ञिक काल बड़ा ही भव्य, तेजस्वी और विशाल था। उस समय कला, विज्ञान और सेना का महान् आयोजन था। आमोद, प्रमोद और विलास का साम्राज्य था और बल, शौर्य तथा साहस का समुद्र उमड़ रहा था, इसलिए आवश्यक था कि उनकी गिरावट आरम्भ हो।

अपने समय के सबसे महान् पुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सच ही कहा है कि **'यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुतसा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है, तब आलस्य, पुरुषार्थ-रहितता, ईर्ष्याद्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है।'** वही हुआ, आर्यों में आलस्य और प्रमाद बढ़ा। उनके उज्ज्वल समाज में छोटे छोटे काले दाग़ दिखलाई पड़ने लगे। जहाँ तहाँ आलसी, अनाचारी और मूर्खों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस अनाचार के आरम्भ का कारण वैदिक शिक्षा है? और क्या जिन वेदों की इतनी प्रशंसा की जा रही है, उन्हीं वेदों के अनुसार इस समय हमारा आचार-व्यवहार, धर्म-कर्म और रीति-रस्म चल रहे हैं? क्या वर्तमान हिन्दुत्व, जिसके सुधारने का प्रयास चारों ओर से हो रहा है, उसी वैदिकता से उत्पन्न हुआ है, जिसका इतना लम्बा गुणानुवाद गाया जाता है? और क्या उसी अपौरुषेय वैदिकता ने हमारा अधःपतन किया है, जिसका प्रादुर्भाव आदिसृष्टि में परमात्मा की ओरसे हुआ था? इन प्रश्नों का उत्तर दिए बिना, वेदों की अपौरुषेयता की कोई खूबी समझ में नहीं आती। हम इस लेख में इन्हीं सब बातों का खुलासा करना चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि **आर्यों का पतन दर्शनमिश्रण और विश्वासमिश्रण से ही हुआ है। उनके पतन का कारण न वेद हैं और न वैदिक ऋषि। किन्तु उनके पतन का कारण केवल विदेशी ही हैं।** अतः हम इस समस्त विवरण का पता लगाने के लिए आर्यों का सामाजिक बन्धन, उनका विदेशगमन, विदेश से पुनरागमन, आर्यों के दर्शनों में विदेशियों के विश्वासों का मिश्रण और उनके पतन का आरम्भ आदि समस्त विषय विस्तार से लिखते हैं।

आर्यों में अवैदिकता का संचार और प्रसार कैसे हुआ, इसका भी उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के वाक्यों में ही भरा हुआ है। समाज में चाहे जितना अच्छा और दृढ़ प्रबन्ध हो, पर कुछ या अधिक काल के बाद प्रबन्ध में शिथिलता आ ही जाती है और दुष्ट मनुष्यों का प्रादुर्भाव हो ही जाता है। आर्यों में भी इसी स्वाभाविक नियमानुसार आलस आया, शिथिलता ने दुष्ट मनुष्यों को उत्पन्न किया और चारों वर्णों में एक साथ ही प्रमाद

उत्पन्न हुआ। परन्तु विचक्षण आर्यों ने तुरन्त ही इस बात को ताड़ लिया और उपाय भी करने लगे। सबसे बेहतर और आर्योचित उपाय यही हो सकता था कि दुष्ट, दुर्जन अर्थात् अनार्य लोग समाज से बाहर निकल दिये जाएँ। अतः समाज से पृथक् करने के कई एक मार्ग सोचे गये। सबसे पहिले यह स्थिर किया गया कि अमुक समय तक यज्ञोपवीत कराके यदि कोई आर्य आचार्यकुल में दाखिल न हो जाय, तो वह समाज से पृथक् कर दिया जाय। इसी तरह यदि कोई आर्य किसी को अकारण सताये, तो वह भी असुरदस्यु स्वभाववाला समझा जाय और समाज से निकाल दिया जाय। यदि कोई द्विज वेद न पढ़कर अन्यत्र श्रम करे, तो शूद्र समझा जाय। यदि कोई दोनों समय सन्ध्या न करता हो, तो वह भी शूद्र समझा जाय। यदि कोई आर्य सवर्णा स्त्री के अतिरिक्त अनुलोम प्रतिलोम विवाह करके प्रजा उत्पन्न करे, तो वह प्रजा भी चातुर्वर्ण के अन्दर स्थान न पावे। और यदि माता, पिता, आचार्य, राजा और अन्य माननीयों की आज्ञा न माने, तो वह भी समाज से निकाल दिया जाय। इस प्रकार से समाजशुद्धि के अनेकों द्वार खोले गये और चुन चुनकर नियमभङ्ग करनेवालों को जाति से – समाज से – बाहर निकाल दिया गया। चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्री हो अथवा वैश्य हो, यदि वह मूर्ख और अनाचारी है, तो तुरन्त ही जातिबहिष्कार के योग्य समझा गया।

समाज को स्वच्छ रखने के तीन ही उपाय हैं। पहिला और सर्वप्रधान उपाय यही है कि समाज में ऐसी एक भी व्यक्ति न रहने पावे, जिसने गुरु के पास रहकर विद्या, सदाचार और सभ्यता न सीखी हो। दूसरा मार्ग यह है कि यदि कारणवश विद्या, सदाचार और सभ्यता सिखलाने पर भी वह बदमाश हो जाय, चोर, व्यभिचारी, अत्याचारी और हत्यारा हो जाय, तो उसको जाति से निकाल दिया जाय। इन दो प्रधान नियमों से समाज में न तो कोई मूर्ख ही रह सकता है और न अत्याचारी ही। इन दोनों की रक्षा के लिये तीसरे उस मार्ग की आवश्यकता होती है, जिससे सब लोग ईश्वर की उपासना, वेदद्वारा सृष्टि का ज्ञान और बड़ों का आदर करने का अभ्यास रक्खें, जिससे पहिले दोनों प्रधान नियमों के पालन करने में असुविधा न हो। **आदर्श आर्य बनाने के येही मार्ग हैं और पूर्वकाल में इन्हींका अवलम्बन किया गया था। इन्हीं से उस आदर्श आर्यजाति की प्राप्ति हो सकती थी, जिसका वर्णन हमने पहलेही किया है।** जातिबहिष्कार के अतिरिक्त उस समय दूसरी सज़ाएँ भी थीं, प्रायश्चित्त भी थे, जेल और जुर्माने भी होते थे। पर उस समय के महान् सभ्यताप्राप्त आर्यों में जातिअपमान की सज़ा सबसे कड़ी समझी जाती थी। सच भी है, एक मनुष्य इसलिए आर्य न कहलाने पावे कि वह मूर्ख अथवा बदमाश है, इससे बढ़कर और क्या सज़ा हो सकती थी? सभ्य समाज से जिसका सम्बन्ध तोड़ दिया जाय, जिसके साथ कोई सभ्य मनुष्य किसी प्रकार का व्यवहार न रक्खे, उसके लिए इससे बड़ी और क्या सज़ा हो सकती थी और आदर्श आर्यत्व कायम रखने के लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था? पर हरएक खूबी में कुछ खराबी होती है, हरएक बन्दोबस्त में त्रुटि होती है और हरएक सुधार में ऐब छिपा होता है। इस अद्भुत नियमानुसार इस बहिष्कारपद्धति में भी आगे चलकर विष के फूल फूले। हम यहाँ सारांशरूप से उन जातियों के बहिष्कार का वर्णन कर देना चाहते हैं, जो पहिले आर्य थीं और फिर अनार्य हो गईं। तथा जातिच्युत होकर दस्यु, दास, राक्षस, असुर, महिष, कपि, नाग आदि नीच नामों से पुकारी जाने लगीं और आर्यों के पतन का कारण हुईं।

पहले हम दिखला आये हैं कि आदिसृष्टि में समस्त गुणगणालंकृत आर्यजाति का ही जन्म हुआ था और उसी से मूर्ख और असभ्यों ने निकल निकलकर दस्यु और राक्षसादिकों की उत्पत्ति की थी। क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मणों के पास न पहुँच सकने के कारण क्षत्रियों की जातियाँ क्रियालुप्त होने से पतित हो गईं। वही पौंड्र, औड्र, द्रविड, काम्बोज, पारद, खश, पह्लव, चीन, किरात, म्लेच्छ, मल्ल, दरद और शक नामधारिणी अनार्य जातियाँ हो गईं। यह सत्य है कि पहिले इसी प्रकार के व्रात्य ही जातिच्युत किए जाते थे। परन्तु कुछ दिन के बाद जातिबहिष्कार का रूप ज़रा उग्र हो चला। महाभारत हरिवंश और विष्णुपुराण में यह कथा

है कि राजा हरिश्चन्द्र के बाहु नामी सातवाँ वंशज हुआ। वह हैहा और तालजंघा नामी राक्षसों से पराजित हुआ और अपनी गर्भिणी स्त्री के सहित जंगल में भाग गया। उससे सगर पैदा हुआ। सगर ने अपने बाप के शत्रु शक, यवन, काम्बोज, चोल, केरल आदि को जीतकर उनका समूल नाश करना चाहा, परन्तु अपने गुरु वसिष्ठ के कहने पर उन सबको वेदभ्रष्ट करके, दक्षिण देश के अरण्यों में निकाल दिया+। आगे चलकर इस प्रथा ने और भी अधिक उग्र रूप धारण किया। नहुष के पुत्र ययाति ने अपने पाँचों पुत्रों में से तुर्वसु से युवा अवस्था माँगी, पर उसने देने से इनकार कर दिया। इससे पिता ने नाराज़ होकर उसको सपरिवार जातिभ्रष्ट करके जहाँ अगम्यगामी, मांसाहारी और पशुवृत्तिवाले म्लेच्छ रहते थे, उस दक्षिण दिशा में हँकाल दिया ×। ये घटनाएँ क्षत्रियों में हुईं।

इसी तरह ब्राह्मणों में भी जातिबहिष्कार हुआ। महर्षि विश्वामित्रजी ने कहीं से एक लड़का प्राप्त किया और उसे अपने सौ पुत्रों में सबसे मुख्य ठहराया। किन्तु पचास लड़कों ने पिता की इस आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया, इसलिए द्विजदेव विश्वामित्र महाराज ने क्रोधित होकर उन्हें दक्षिण के जंगल में निकाल दिया। वही सब आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द आदि राक्षस हो गये*। यह ब्राह्मणों का हाल हुआ।

वैश्यों का हाल इससे भी अधिक विचित्र है। कहते हैं कि अति प्राचीन काल में आर्यलोग लोभी वणिक् को 'पणिक्' कहते थे। वणिक, पणिक या पणि लोभी होते ही हैं। अतः आर्य जनता इन पर भी नाराज़ हुई और विवश होकर इनको भी उसी दक्षिण दिशा में जाना पड़ा। इस प्रकार से आर्यों द्वारा पृथक् की हुई, यह समस्त टोली दक्षिणी प्रांत से भारत के अन्य सीमाप्रांतों में जा जाकर आबाद हुई। पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण में ये जातियाँ बसीं, बढ़ीं और पुष्ट होकर आर्यों से लड़ीं, तथा परास्त हो होकर अन्य अन्य देशों को चली गईं। आन्ध्र लोग आन्ध्रालय अर्थात् आस्ट्रेलिया को गये, झल्ल लोग अफ़रीका में जाकर जूलू हो गये, चीनी लोग चीन में जाकर बसे और किरात बलूचिस्तान में बस गये। नट, कंजर, बेड़िया आदि बहुत सी जातियाँ इसी देश के जंगलों में रह गईं। इसी तरह अन्य पतित जातियाँ भी पृथिवी के अन्य अन्य भागों में जाकर बसीं और अपने अपने नामों से उन उन देशों का नाम रखकर बहुत दिन के बाद स्वयं उस उस नाम से प्रसिद्ध हो गईं। अति प्राचीन काल में सबसे प्रथम जो जातियाँ भारत से निकलीं जाकर अन्य अन्य भूभागों में जा जाकर बसीं हैं, उनका यह दिग्दर्शन मात्र है।

इनके अतिरिक्त व्यापार करने के लिए, धर्मोपदेश करने के लिए और शासन, सभ्यता और आचार प्रचार करने के लिए भी कई बार यहाँ से आर्य लोग पूर्वोक्त देशों तथा अन्य अन्य भूभागों में जाकर बसे हैं। उन सब का वर्णन अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक किया जायगा पर यह स्मरण रखना चाहिये कि चीन, यवन और शक आदि शब्द विदेशी नहीं, किन्तु भारती हैं और बहुत पुराने हैं। चीन शब्द के विषय में प्रो० ईरन कहते हैं कि चीन शब्द हिन्दुओं का है और हिन्दुस्थान से ही आया है।' पञ्चतन्त्र की एक कथा में लिखा है कि एक

+ शकाः यवनकाम्बोजाः पारदाः पह्लवास्तथा। कौलिसर्पाः समहिषा दार्वाश्चोलाः सकेरलाः।
सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः। वसिष्ठवचनाद्राजन् सगरेण महात्मना। (महाभारत)

× यस्त्वं मे हृदयाज्जातो वयस्त्वं न प्रयच्छसि। तस्मात् प्रजासमुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति।
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च। पिशिताशुशिजात्येषु मूढराजा भविष्यति।
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च। पशुधर्मिषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि। (महाभारत)

* तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः। पंचाशदेव ज्यायांसो मधुच्छंदसः। पञ्चाशत्कनीयांसस्तत् ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे। ताननु व्याजहारं तान्वः प्रजाभक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्राः पुंड्राः शबराः पुलिंदाः मुतिबा इत्युदंत्या बहवो भवंति। विश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः। (ऐतरेय ब्राह्मण ७।४।१८)

कौलिक विष्णुरूप धारण करके किसी राजकन्या के पास जाया करता था। वहाँ उस कन्या के सर्वाङ्गसुन्दर वर्णन में 'चीना नाभिः' लिखा हुआ है। यहाँ चीना शब्द का अर्थ गहरा है। अमरकोश में मृगों का भेद वर्णन करते हुए एक प्रकार के मृग को भी चीन कहा गया है। इन प्रमाणों से मालूम होता है कि चीन शब्द के असली अर्थों के कारण ही- गहराई में रहने और तेज़ तबीयत होने से ही- चीनवालों को चीनी कहा गया है। इसी तरह यवन शब्द भी पुराना है। पुराणों में 'तुर्वसो यवना जाताः'। अर्थात् तुर्वसु से यवन पैदा हुए, लिखा है। तुर्वसु ययाति का पुत्र था। इससे ज्ञात होता है कि यवन शब्द भी नवीन नहीं है। इस शब्द के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि मिश्र और बेबिलनवाले भी बहुत समय पूर्व, शक ग्रीक लोगों को यवन ही कहते थे। शक भी पुराना शब्द है। 'नरिष्यन्तः शकाः पुत्राः' वाक्य से प्रकट होता है कि शक इक्ष्वाकु का पौत्र था। शक इतना पुराना शब्द है कि यह ऋग्वेद में भी आया है। कहने का मतलब यह कि आर्यों ने अपने अन्दर से जिन पतित आर्यों को निकालकर दस्यु, राक्षस आदि कहा है और चीनी, यवन, शक आदि शब्दों से पुकारा है, वे शब्द आर्यों के पास आदिम काल में भी उपस्थित थे और उनका कुछ अर्थ था। उसी अर्थ के अनुसार जिनमें जैसे गुण देखे, उनके वैसे ही नाम रख दिये और उन्होंने भी वे नाम अपने साथ ले जाकर अपने नवीन देशों के भी वही नाम रक्खे और स्वयं भी अब तक उन्हीं नाम को स्वीकार किये हुए हैं।

आर्यों का विदेशगमन।

पश्चिम एशिया।

भारत से पश्चिम की ओर सबसे प्रथम अफ़रीदी, काबुली और बलूचीयों के देश आते हैं। इन देशों में इसलाम प्रचार के पूर्व आर्य ही निवास करते थे। यहीं पर गान्धार था। जहाँ की गान्धारी राजा धृतराष्ट्र की रानी थी। गान्धार को इस समय कन्धार कहते हैं, जिसका अपभ्रंश कन्दार और खन्धार भी है। इसी के पास राजा गजसिंह का बसाया हुआ ग़ज़नी नगर अब तक विद्यमान है। काबुल में जो पठान जाति रहती है, वह प्रतिष्ठान (झूसी) राजधानी की रहनेवाली चन्द्रवंशी क्षत्री जाति है। झूसी से आकर पहिले यह सरहद (फ्रंटियर) में बसी और वहाँ इसने प्रजासत्ताक शासनपद्धति स्थापित की। प्रजासत्ताक शासनपद्धति को उस समय गणराज्य कहते थे। अफ़रीदी लोग उस समय के गण लोग ही हैं। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने महाभारतमीमांसा नामी ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। आप कहते हैं कि "महाभारत में लिखा है कि 'गणान् उत्सवसंकेतान् दस्यून् पर्वतवासिनः। अजयन् सप्त पाण्डवाः' अर्थात् सप्त गणों को पाण्डवों ने जीत लिया। इन्हीं गणों ने ज़रा आगे बढ़कर 'उपगण' या 'अपगण' राज्य स्थापित किया। इसी को इस समय अफ़ग़ान कहते हैं और उनके स्थान का नाम अफ़ग़ानिस्तान है। इसका असली उच्चारण 'उपगणस्थान' है। यह पहिले गणराज्य का मातहत था। ये गण (अफ़रीदी) आर्यों से द्वेष रखने के कारण ही आर्यों के शासन से अलग रहते थे। इसी तरह बलूचिस्तान भी बलोचस्थान शब्द का अपभ्रंश है। इसमें केलात नामक नगर अब तक विद्यमान है। यह केलात तब का है, जब किरात नामी पतित आर्य क्षत्री यहाँ आकर बसे थे। ये क्षत्री होने से ही बल में उच्च स्थान प्राप्त कर सके थे। मनुस्मृति में जहाँ अन्य पतित क्षत्रियों के नाम गिनाये गये हैं, वहाँ 'किराताः यवनाः शकाः' कहकर किरात भी गिनाये गये हैं। हम आगे विस्तारपूर्वक इनका वर्णन करेंगे और दिखलावेंगे कि ये किरात नैपाल और भूटान आदि में जाकर मङ्गोलिया जाति के मूल पुरुष भी बने हैं।

अफ़ग़ानिस्तान के आगे ईरान है, जिसको पारस्य देश भी कहते हैं। यहाँ पहिले वह जाति आबाद थी, जो आजकल हिन्दुस्थान में पारसी नाम से प्रसिद्ध है। वह जाति अति प्राचीन काल में ही आर्यों से जुदा होकर ईरान में आबाद हुई थी। मैक्समूलर कहते हैं कि 'यह बात भौगोलिक प्रमाणों से सिद्ध है कि पारसी लोग फारस में आबाद होने के पहले भारत में आबाद थे।

उत्तर भारत से जाकर ही पारसियों ने ईरान में उपनिवेश बसाया था'। वे अपने साथ यहाँ की नदियों के नाम ले गये। उन्होंने सरस्वती के स्थान में 'हरहवती' और सरयू के स्थान में 'हरयू' नाम रक्खा। वे अपने साथ शहरों के भी नाम ले गये। उन्होंने भरत को 'फरत' किया और वही फरत 'यूफ़रत' हो गया। उन्होंने भूपाल (न) को बेबिलन और काशी को कास्सी (Cassoci) तथा आर्यन को ईरान नाम से भी प्रसिद्ध किया। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि पारसी भी भारती आर्यों की ही शाखा है।

ईरान के पास ही अरब है। वैदिक भाषा में अर्वन् घोड़े को कहते हैं और जिस जगह घोड़े रहते हैं, उस स्थान को अर्व कहते हैं। जिस प्रकार गौओं के बड़े चरागाह को व्रज और भेड़ बकरीवाले देश को गन्धार कहते हैं, उसी तरह जहाँ अच्छी जाति के घोड़े रहते हैं, उसको अर्व कहते हैं। अब भी अरबी घोड़ा सर्वोपरि समझा जाता है। उत्तम घोड़े उत्पन्न होने से ही आर्यों ने इस देश का नाम अर्व रक्खा था। स्मृतियों के पढ़नेवाले जानते हैं कि आर्यों से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति को 'शैख' कहते हैं। यह संकरजाति ब्राह्मण के योग से उत्पन्न होती है ×। मालूम होता है वही शैखजाति अरब में बसकर शेख हो गई है। क्योंकि शेखों का अरब में वही मान है, जो भारत में ब्राह्मणों का है। यह प्रसिद्ध बात है कि मुसलमान होने के पहिले वहाँ के निवासी अपने को ब्राह्मण ही कहते थे। अरब से ही रामानुज सम्प्रदाय का मूल प्रचारक यवनाचार्य बहुत करके यहाँ नवीं शताब्दी में आया था। क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ है। इनके दो सौ वर्ष पूर्व मद्रास प्रान्त में शूद्र जाति पर महान् अत्याचार था। उसी समय इस अरबदेशनिवासी ब्राह्मणकुलोत्पन्न दयालु यवनाचार्य का आना हुआ। उस समय वहाँ महात्मा शटकोप आदि आन्दोलनकर्ताओं को यवनाचार्य ने मदद दी।

'एशियाटिक रिसर्चेज़' भाग १० में 'बिलफोर्ड' नामी विद्वान्‌लिखित एक निबन्ध छपा है। उसमें लिखा है कि 'यवनाचार्य का जन्म अरबदेश के एक ब्राह्मणकुल में हुआ था और अलेक्ज़ेंड्रिया के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा पाई थी'। अरब में अब तक बहुत से आर्य निवास करते हैं, पर उनका आचार यहाँ के हिंदुओं का सा नहीं है। जर्मन युद्ध के समय यहाँ के कई फ़ौजी सिपाही बग़दाद, बसरा और मेसोपोटामिया आदि में रहकर यहाँ वे आये हैं। बतलाते हैं कि वहाँ अब तक पुराने हिन्दुओं के चिह्न पाये जाते हैं। इन घटनाओं से अच्छी तरह सिद्ध होता है कि अरबनिवासी आर्य ही हैं। इस अरब से आगे चलने के पूर्व, हम उन स्थानोंके प्राचीन नाम और पते बतला देना चाहते हैं, जिनका इस समय एशिया माइनर या नियर ईस्ट में समावेश होता है। आजकल के नक़शे के अनुसार फ़ारस, मेडिटेरेनियन समुद्र, अरब और मसोपोटामिया को सब जानते हैं। इसलिए नीचे लिखे देशों की कल्पना कर लेना सहज होगा। फिनीशिया पश्चिमी एशिया में मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर है। सीरिया देश फ़िनीशिया से मिला हुआ पूर्व की तरफ़ है। बेबिलोनिया सीरिया के दक्षिण, फ़ारिस के पश्चिम और अरब के उत्तर है। चाल्डिया भी इसी के पास है। जुडिया को सीरिया भी कहते हैं, वह भी यहीं पर है और मेसोपोटामिया असीरिया के पश्चिम में है। इन देशों के निवासियों का परिचय इस प्रकार है--

फ़िनीशिया प्रदेश मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर स्थित है। पूर्व पृष्ठों में हम आर्यजाति के वैश्यवर्णान्तर्गत पणि नामक आसुरी वृत्तिवाले बनियों का वर्णन कर आये हैं। वैदिक भाषा में वैश्यवर्ण के बदमाश, ठग, धोखेबाज़ और धनलोलुप गिरोह को पणि कहते हैं। ये पणि आर्यों द्वारा निकाल दिये गये और दक्षिण प्रदेश में एक अच्छा बाज़ार बनाकर बस गये। इस बज़ार को लोग पण्य कहते थे। कुछ दिन में यही पण्य पाण्ड्य कहलाने लगा और इन्हीं पणियों के नाम से पाण्ड्य प्रदेश क़ायम हो गया +।

× व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥ (मनु)

+ पणियों के लिए ऋग्वेद ७।६।३ में लिखा है कि 'अक्रतून् ग्रथिनः मृध्रवाचः अश्रद्धान् पर्णीन्' अर्थात् गाँठ काटनेवाले पाकेटमार पणि।

इन्हीं की एक दूसरी शाखा चोर होने के कारण इनसे भिन्न स्थान में बसी और 'चोल' कहलाने लगी। इसी के नाम से चोल प्रदेश प्रसिद्ध हुआ। ये पाण्ड्य और चोल दोनों प्रदेश मद्रास प्रान्त में अब तक विद्यमान है। ये पणि लोभी थे और बहुत बड़े व्यापारी थे। जहाज़ बनाना भी जानते थे। मद्रास प्रान्त में सागवन की लकडी अधिक थी ही। अतः उसके जहाज़ बना बनाकर ये पणि दूर देशों को रवाना हुए और पश्चिमी एशिया में मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे पर आबाद हुए।

जिस प्रकार इनके नाम से यहाँ पाण्ड्य और चोल प्रदेश प्रसिद्ध हुए थे, उसी तरह पणियों से फ़िनीशिया और चोलों से चाल्डिया देशों के नाम भी प्रसिद्ध हो गये। फ़िनीशियावाले पणि अथवा पणिक ही हैं, इस में सन्देह नहीं है। क्योंकि बेबिलोनियावालों के मूल पुरुषों के विषय में 'हिस्टोरिकल हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड' में लिखा है कि 'बेबिलोनियावालों के वायु देवता का नाम 'मतु' या 'मर्तु' है। यह हमें वैदिक शब्द 'मरुत्' ही प्रतीत होता है। यह पणियों और चोलों के द्वारा ही बेबिलोनियामें लाया गया है'। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि पणियों का चोलों के साथ सम्बन्ध है और यह भी निश्चय हो गया कि इन्होंने ही बेबिलोनिया को भी आबाद किया था। राजनिघण्टु में लिखा है कि '**वैशस्तु व्यवहर्ता विट् वार्तिकः पणिको वणिक्**' अर्थात् व्यवहर्ता, विट, वार्तिक, पणिक और वणिक वैश्य के ही भेद हैं। इस प्रमाण से सुलझ गया कि वे आर्य ही हैं। इसके अतिरिक्त तिलक महोदय ने लिखा है कि वैदिक 'मना' और फ़िनीशिया का 'मनह' शब्द एक ही है और वहाँ भारत से ही गया है। मन के लिए ऋग्वेद ८।७८। २ में आया है कि '**आ नो भर व्यंजनं गामश्वमभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया**'। यह मन वज़न के लिए काम में आता था और अब भी आता है। इसको लेटिन में मिन, ग्रीक में मिना, बेबिलोनियन में मिन और वर्तमान अँगरेज़ी में माउण्ड कहते हैं'। इसी तरह फ़िनीशिया की भाषा में ऊँट को जिमल कहते हैं। वही अँगरेज़ी में केमल कहलाता है। यह संस्कृत के क्रमेलक शब्द का ही अपभ्रंश है। क्रमेलक का कमेलक और कमेलक का केमल तथा केमल का जिमल हो गया है ×। परन्तु यह अफ़रीका का प्राणी नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ऊँट और उसका वाचक शब्द दोनों भारतसे ही गये हैं और इनके ले जानेवाले पणिक ही हैं।

इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पणि और चोल ही फ़िनीशिया और चाल्डिया में आबाद हुए। इस समस्त वर्णन का सारांश यह है, कि आदि में वैश्यों से पणि हुए और वही पणिक हो गये। उन्होंने ही दक्षिण में जाकर पण्य अर्थात् पाण्ड्य नाम का बाज़ार बसाया, जो कुछ दिन में उसी नाम का व्यापारी प्रदेश हो गया। इसी तरह अपने पड़ोस में चोलों- गाँठ काटनेवालों- को भी चोल प्रदेश में आबाद किया। वहाँ से ये लोग पश्चिम दिशा को गये और वहाँ पाण्ड्यों ने प्यूनिक या फ्यूनिक देश बसाया, जो अब फ़िनीशिया कहलाता है और चोलों ने चाल्डिया बसाया, जो बहुत दिन तक इस देश के साथ व्यापार करता रहा। इस तरह से आर्य लोग अपनी आर्यसभ्यता के साथ पूर्व से पश्चिम में पहुँचे।

अभी ऊपर हमने तिलक महोदय के जिस निबन्ध का प्रमाण दिया है, उसमें उन्होंने अथर्ववेद और चाल्डियन वेद के कई शब्दों का मिलान करके बतलाया है, कि दोनों की भाषा एक दूसरे से मिलती है। इस मिलान का नमूना इस प्रकार है—

संस्कृत	चाल्डियन	अर्थ
सिनीवालि	सिनबुब्बुलि	अमावास्या
अप्सु	अब्जु (जु-अब)	पानी
यह्व ॐ	यहवे	महान्

× फ़िनीशिया लिपि के अबजद का 'जीम' ऊँट के ही आकार का है। इस जीम को पहिले फ़िनीशिया भाषामें जिमल (ऊँट) कहते थे। क्योंकि यह अक्षर ऊँट से ही लिया गया है। अबजद का अँगरेज़ी में 'A B C D' (अबसद) हुआ है। परन्तु 'सी' का उच्चारण 'क' भी होता है। इसलिए जिमल का केमल हुआ है।

ॐ यह शब्द ऋग्वेद १-७५-१; ३-१-१२ और ८-१३-२४ में 'महान्' अर्थ में आया है और ज़ेन्द में यही 'यज़ु' हुआ है। हज़रत मूसा का जिहोवा शब्द इसीसे निकला है। ग्रिफ़िथ ने इसका अर्थ 'Lord' किया है।

ऋतु	इतु	मौसिम
परसु	पिलक्कु, बलगु × शस्त्र	
अलिगीविलगी ✠	विलगी ⊛	सर्पदेव
तैमात	तिआमत +	देवता
उरुगुला	उरुगुल +	देवता

इस शब्दसाम्य के अतिरिक्त, चाल्डिया की डैल्यूज़ टेबलेट अर्थात् मनु के तूफ़ान की कथा भी ज्यों की त्यों यहाँ के अनुसार ही लिखी हुई मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि वे आर्य ही हैं। हम अभी फ़िनीशियावालों के वर्णन के साथ लिख आये हैं, कि बेबिलोनिया में पणियों और चोलों ने ही उपनिवेश बसाया था। ये चाल्डियन उन चोलों के अतिरिक्त और कोई दूसरे नहीं हैं, जो आर्यों से जुदा होकर पहिले चोल देश में बसे थे। इसलिए चाल्डियानिवासी भी भारतवासी आर्य ही हैं।

जुडिया यहूदियों का देश है। इसी में हज़रत मूसा और हज़रत ईसा जैसे जगत्प्रसिद्ध धर्माचार्य उत्पन्न हुए हैं। बाइबल में लिखा है कि पश्चिम में आनेवालों की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही से आये हैं। इनके विषय में पोकाक नामी विद्वान् अपने 'इण्डिया इन ग्रीस' नामी ग्रंथ में लिखता है, कि युडा (जुडा) जाति भारत की यदु अर्थात् यदुवंशीय क्षत्रिय जाति ही है। इसके अतिरिक्त अभी हमने तिलक महोदयके लिखित शब्दसाम्य के हवाले से दिखलाया है कि यहूदियों का यहोवा शब्द संस्कृत के यह्व शब्द का ही अपभ्रंश है। बाबू उमेशचंद्र विद्यारत्न कहते हैं कि ज्यू शब्द संस्कृत का ही है। आप मेदिनीकोष का यह वचन उद्धृत करते हैं कि '**जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाचे यवनेऽपि च।**' अर्थात् 'जू' शब्द यवन शब्द का ही अपभ्रंश है। 'मानवेर आदि जन्मभूमि' पृष्ठ ३ में आप कहते हैं कि 'राजा सगर की आज्ञा से यवनों ने जिस पल्ली स्थान में निवास किया था, वही पेलेस्टाइन हो गया है और यवन शब्द का ही विकार (यवन-जोन) 'जू' है' ⊛। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि यदुवंशी क्षत्री ही राजा सगर के द्वारा यवन करके निकाले गये, जो पेलेस्टाइन में बसे। यही बात बाइबल और पोकाक के वचनों से भी सिद्ध होती है। बाइबल का नूह का वर्णन भी मनु के तूफ़ान की ही सूचना देता है। अतएव यहूदियों के आर्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि वे भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं।

हम फ़िनिशिया के वर्णन में ऊपर लिख आये हैं कि बेबिलोनियावालों का वायु देवता जिसको वे मतु या मर्तु कहते हैं, वह वैदिक आर्यों का 'मरुत्' ही है। यह पणियों और चोलों के द्वारा बेबिलोनिया में गया है। अतः सिद्ध है कि पणिक और चोल ही फ़िनीशिया और चाल्डिया से जाकर बेबिलोनिया में आबाद हुए हैं। ए० बेरीडल कीथ महोदय कहते हैं कि 'ख़ास ध्यान देने योग्य शब्द 'सूरिआस' है, जो इनमें सूर्य के ही अर्थ में बोला जाता है' और ई० मेयरसाहब ने मान लिया है कि यह 'सूरिआस' वैदिक 'सूर्या (स) ही है।' यह सूरिआस शब्द बिलकुल ही 'सूर्याः' का रूप है। क्योंकि विसर्ग का उच्चारण सकार ही होता है। इसके अतिरिक्त बेबिलोनिया की एक बहुत पुरानी फ़ेहरिस्त में सिन्धु नामक बारीक मलमल का नाम आता है। बेबिलन में इस सिन्धु शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं है। जिस तरह कालीकट ग्राम से जाने के कारण योरप में एक छींट का नाम केलिको प्रसिद्ध है, उसी तरह सिन्धु हैदराबाद से जाने के कारण इस वस्त्र का भी सिन्धु नाम हो गया था। यही सिन्धु वस्त्र पुरानी बाइबल में सेडिन् (Sadin), ग्रीक में सिण्डम् (Sindam) कहा गया है और अब अँगरेज़ी में सादिन् (Satin)

× 'पिलक्कु' अकेडियन और 'बलगु' सुमेरियन भाषा का है।

✠ यह शब्द अथर्ववेद ५-१३-१७ में आया है।

⊛ यह शब्द असीरियन भाषा का है।

+ ये शब्द अकेडियन भाषा के हैं।

⊛ सगर आदेशे हिंदू यवनगन प्रथमतः ये पल्लीस्थानेर प्रतिष्ठा करेन, ताहा Palastine बलिया प्रख्यात हय एवं उक्त यवनगन, यवन शब्देर विकार (यवन-जोन-जू) क्रमे 'जू' नामे प्रख्यात लाभ करेन। (मानवेर आदि जन्मभूमि)

नाम से बाज़ारों में बिकता है ।

कहने का मतलब यह कि इन वर्णनोंसे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि पूर्वातिपूर्व काल में इस देश के साथ बेबिलन का घनिष्ठ सम्बन्ध था और सिन्धु नामक वस्त्र अपने नाम के साथ वहाँ पहुँचता था। हम जिन चोलों का वर्णन पहिले कर आये हैं, वे दक्षिण से सागौन की लकड़ी भी अपने नवीन देशों में ले जाया करते थे। अभी कुछ रोज़ हुए मुंघेर के खण्डहरों से पाँच हज़ार वर्ष की पुरानी सागौन की लकड़ी का टुकड़ा मिला है। बेबिलोनिया के प्रथम बादशाह की बनवाई हुई इमारत से इस टुकड़े का प्राप्त होना यह सूचित करता है कि ये निस्सन्देह भारतवासी ही हैं- आर्य ही हैं और दक्षिण के पाण्ड्य और चोल से ही यहाँ जाकर अपने वंश और सभ्यता का विस्तार किया है।

असीरिया में भी आर्यों का ही निवास था। ए० बेरीडेल कीथ ने वहाँ के सुवरदत्त, जशदत्त और सुबन्धि आदि राजाओं के नामों से सिद्ध किया है कि वे आर्य ही थे। इन देशों के निवासियों को आर्य लोग असुर कहा करते थे। इसीलिए ये सदैव अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। प्रसिद्ध बादशाह असुर नासिरपाल और असुर वाणीपाल इस बात के उदाहरण हैं। इनके नाम असुर शब्द के साथ आर्यभाषा के ही हैं। हमने आरम्भ में ही कहा था कि आर्यों ने जिन गुणदोषों के सूचित करनेवाले नामों को रखकर दुष्ट आर्यों को अपने से अलग किया था, वे नाम उन्होंने भी क़ायम रक्खे थे। तथा उन्हीं नामों से अपने देशों को भी प्रसिद्ध किया था। जैसे **चीना से चीन, आन्ध्र से आन्ध्रालय (आस्ट्रेलिया)** आदि। कहने का मतलब यह कि असीरियानिवासी भी आर्य ही हैं और भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं।

मेसोपोटामिआवाले भी आर्य ही हैं। इनके विषय में ए० बेरीडल कीथने लिखा है कि दसरथ नाम का मितानी राजा इजिप्ट के एक राजा का साला था। यह आर्य था और ई० सन् के १३००-१४०० वर्ष पूर्व राज्य करता था। इसी प्रकार मितानियों के दूसरे राजा का हरिनाम भी आर्यों का ही सिद्ध होता है। अभी हाल में जो मेसोपोटामिया के पुराने मकानों की खुदाई से मिट्टी की पकी हुई लिखित ईंटें प्राप्त हुई हैं, **उन ईंटों में मितानी और हिट्टाई राजाओंका इक़रारनामा लिखा हुआ मिला है, जिसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओंके नाम लिखे हुए हैं।×** इस घटना से बिलकुल ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये दोनों जातियाँ आर्य ही थीं। क्योंकि हिटी (Hittite) लोगों के लिए अब सिद्ध हो गया है कि वे क्षत्री थे। क्षत्री का ही अपभ्रंश 'खत्ती' है। जिस प्रकार पंजाब के रहनेवाले खत्री अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से ही बतलाते हैं, उसी तरह ये खत्ती भी जो इस समय हिट्टी (Hittite) लिखे जाते हैं, क्षत्री ही हैं।

इस प्रकार से हमने यहाँ तक एशिया माइनर के **तमाम प्राचीन देशों को देखा, तो मालूम हुआ कि वहाँ प्राचीन काल में ही आर्यजाति जाकर आबाद हुई है और उसी ने अपनी सभ्यता का वहाँ प्रचार किया है।** यही थोड़ासा पश्चिमी एशिया में आदिकालीन आर्यों के गमन का इतिहास है।

उत्तरी एशिया।

हम आरम्भ में लिख आये हैं कि किरात लोग पतित क्षत्री हैं। ये दो भागों में बँट गये थे। एक दल बलूचिस्तान में जाकर बसा और दूसरा हिमालय पर जाकर बसा। हम अभी पहिले दल का वर्णन कर आये हैं। अब दूसरे दल का वर्णन करते हैं। नैपाल में जितने

× एशिया माइनर के बग़ज़कोई (Baghazkoi) स्थान पर हिटीशिया (Hetitia) के बादशाह सुब्बिलुलिउमा (Subbiluliuma) और मितानी (Mitai-Modern Mesopotamea) के बादशाह मुट्टीवुज़ा (Muttivuza) के बीच के (ई० सन् पूर्व १४०० के) कुछ सन्धिपत्र मिले हैं, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं की वन्दना की गई है। (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का सन् १९१० का जर्नल पृ० ७२१ और ४५६)

ब्राह्मण बसते हैं, सब कान्यकुब्ज हैं और जितने क्षत्री हैं, सब रामचन्द्र के वंशज सूर्यवंशी हैं। कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध महाराणा उदयपुर से है। इसलिए इनके आर्य होने में तो कोई शंका ही नहीं है। किन्तु नैपाल में एक चपटे चेहरेवाली मंगोलियन जाति भी रहती है। यह जाति अति प्राचीन काल में आर्यों की ही एक शाखा थी। परन्तु यह दीर्घातिदीर्घ काल पूर्व ही आर्यों से पृथक् होकर चीना नामक हिमालय के उत्तर ओरवाली गहराई में बस गई थी, इसलिए अब उसके आकार, रंग और भाषा आदि में बहुत अन्तर आ गया है। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने लिखा है कि किरात लोग नैपाल के उत्तर-पश्चिम में बसते थे और पतित क्षत्री थे और हमने बतलाया है कि चीना हिमालय के नीचे उत्तर-पूर्व में रहते थे और ये भी क्षत्री ही थे। इन्हीं दोनों के मेल से मंगोलिया जाति के पूर्वजों की उत्पत्ति हुई है। यही नैपालनिवासी चपटे मुँहवाली जाति है। यही जाति मंगोलियन विभाग की जननी है। उमेश बाबू कहते हैं कि इस नवीन जाति का रंग वाल्मीकि रामायण में सुवर्ण का सा लिखा है। जिस समय की यह बात है, उस समय जिस प्रकार ज़रा साँवले रंगवाले श्याम और श्यामा बड़े सुन्दर समझे जाते थे, उसी तरह ये पीत अर्थात् सुवर्ण के से रंगवाले भी बहुत उत्तम समझे जाते थे। महाभारत-मीमांसा में रावबहादुर चिन्तामणी विनायक वैद्य ने महाभारत के प्रमाणों से लिखा है कि कौरवपांडव की गौरवर्ण स्त्रियों का रंग तप्त सुवर्ण का सा था। यह उस समयके रंगकी खूबी का बयान है। दक्षिणके गुजराती और महाराष्ट्र आदिकों का भी प्रायः यही रंग है। वे न तो सफ़ेद हैं और न सुर्खीमालय ही हैं। आदिम काल में आर्यों ने ज़रा साँवले और ज़रा पीले रंगको ही अपने मन में उत्तम समझा था, इसीलिए माताओं के संस्कार प्रबल हुए और अधिक प्रजा इसी रंग की हो गई। हम देखते हैं कि नैपाल में बसनेवालों का भी प्रायः यही रंग है। वहाँ चपटे चेहरे और पीतवर्णवालों में कुछ ताम्रवर्णके श्याम लोग भी पाये जाते हैं। अभी हमने जिस श्याम रंग का वर्णन किया है, वे लोग उसी रुचि के परिणाम हैं। कहने का मतलब यह है कि वे चपटे चेहरे और पीले तथा श्याम रंगवाले मंगोलियन आर्योंसे भिन्न किसी अन्य जाति के मनुष्य नहीं हैं।

नैपाल से आगे हिमालय के नीचे रूसी तुर्किस्थान है। वहाँ बहुत पूर्व काल से आर्यों का निवास है। इसके आगे बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने आर्यों का मूल वतन मंगोलिया के अलताई पहाड़ पर सिद्ध करने के लिए 'मानवेर आदि जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के पढ़ने से अधिक तो नहीं, पर इतना अवश्य भासित होता है, कि पूर्वातिपूर्वकाल में आर्यलोग अलताई अर्थात् इलावृत में रहते थे और यह अलताई शब्द इलावृत का ही अपभ्रंश है। 'मानवेर आदि जन्मभूमि' पृष्ठ ११९ में वायुपुराण अध्याय ३८ के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनसे ऊपर की बात पुष्ट होती है। उनमें से दो श्लोक ये हैं—

वेद्यर्द्धे दक्षिणे त्रीणि त्रीणि वर्षाणि चोत्तरे।
तयोर्मध्ये तु विज्ञेयं मेरुमध्यमिलावृतम् ॥
तत्र देवगणाः सर्वे गन्धर्वोरगराक्षसाः।
शैलराज्ये प्रमोदन्ते शुभाश्चाप्सरसाङ्गनाः॥

अर्थात् इलावृतवर्ष के दक्षिण हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष ये तीन वर्ष हैं और उत्तर की ओर रम्यकवर्ष, हिरण्यवर्ष और उत्तरकुरुवर्ष ये तीन वर्ष हैं। इनके बीच में इलावृतवर्ष है। इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि मंगोलिया में आर्यलोगों ने ही अपना उपनिवेश बसाया था।

सिथिया देश किसी समय भारत से निकाले हुए शक नामी पतित क्षत्रियों द्वारा बसाया गया था। इन शकों के विषय में पुराणकार लिखते हैं कि—

इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभानेदिष्ट एव हि॥
करूषश्च पृषध्रश्च वसुमान् लोकविश्रुतः।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राश्च धार्मिकाः॥
(विष्णुपुराण)

अर्थात् वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नाभानेदिष्ट, करूष, पृषध्र, वसुमान् और नरिष्यन्त ये नव पुत्र थे। हरिवंश अध्याय १०, श्लोक २८ में लिखा है कि—

नरिष्यन्तः शकाः पुत्रा नाभागस्य तु भारत।
अम्बरीषोऽभवत् पुत्रः पार्थिवर्षभसत्तमः॥
(हरिवंश)

अर्थात् नरिष्यन्त के पुत्रों का ही नाम शक है। इन शकों को राजा सगर ने 'अर्धमुण्डान् शकान्' (विष्णु-पुराण अं० ४, अ० ३, श्लोक २१), अर्थात् आधा शिर मुंडवाकर निकाल दिया था। यही लोग सिथिया (जिसको शकावस्था कहना चाहिए) में जाकर बस गये। इसलिए इनके आर्य होने में कोई सन्देह नहीं है।

उत्तर कुरुप्रदेश साइबीरिया से लेकर आगे तक है। इसके विषय में वायुपुराण अध्याय ८५ के ये श्लोक पढ़ने लायक हैं। वहाँ लिखा है कि--

उत्तरस्य समुद्रस्य समुद्रान्ते च दक्षिणे।
कुरवस्तत्र तद्वर्षं पुण्यं सिद्धानिसेवितम्।
देवलोकात् च्युतास्तत्र जायन्ते मानवाः शुभाः।

अर्थात् उत्तर महासमुद्रके दक्षिण किनारे पर अति पवित्र उत्तरकुरुवर्ष है, जहाँ देवलोक से गये हुए उत्तम पुरुष निवास करते हैं। यह देवलोक हिमालय के सिवा और कुछ नहीं है। आर्यलोग हिमालय से जाकर उत्तर समुद्र अर्थात् शीतकटिबंध के इस पार तक और साइबीरिया के उस पार तक कुरु देश में निवास करते थे। जिस प्रकार भारत में कुरुक्षेत्र था, उसी प्रकार उतनी दूर जाने पर भी उन्होंने कुरु नाम से ही उस देश को सम्बोधित किया था; आर्य लोग सदैव ही अपने साथ अपने अपने स्थानों के नाम ले गये हैं। उसी तरह उत्तरकुरु का नाम भी कुरु शब्द से ही रक्खा गया है।

यहाँ तक हमने एशिया की उत्तरी सीमा को देखा, तो वहाँ सर्वत्र आर्यजनता को ही भारत से जा जाकर बसते हुए पाया। परन्तु उत्तर कुरु से आगे जहाँ ध्रुवप्रदेश है, वहाँ आर्यलोग कभी नहीं जाते थे। वहाँ उनको यज्ञयाग करने का सुभीता नहीं था। वहाँ महा विकट अँधेरा था और वह आसुरी भूमि आर्य स्वभाववालों के लिए अनुकूल नहीं थी। यही कारण है कि सुग्रीव ने वानरों को उत्तर तरफ़ रवाना करते समय कह दिया था कि तुम लोग उत्तरध्रुव में मत जाना। यह वैदिक आदेश था। क्योंकि वेदों में दीर्घरात्रि और उस रात्रि में पड़े हुए रोनेवालों के अलङ्कार से उपदेश दे दिया गया है कि वहाँ किसी को न जाना चाहिए। परन्तु वहाँ एक 'Navya Zimala' अर्थात् नव्य हिमालय का पता मिलता है, जिससे सूचित होता है कि कभी ईरानियों के बुज़ुर्गों ने वहाँ जाकर उपनिवेश बसाया था। उनकी भाषा में संस्कृत के 'ह' का 'ज़' हो जाता है, इसीलिए प्रतीत होता है कि 'नव्य ज़िमालय' नाम उन्हीं ने रक्खा है और पुराने हिमालय के साथ मिलाया है। यदि वैदिक आर्य नाम रखते, तो 'नव्य हिमालय' ही रखते। इस नव्य ज़िमालय को उर्दू ज्योग्रफ़ी में 'नवज़ुमला' लिखा हुआ है। इसका वर्णन इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका में भी आया है।

आइसलैंड और ग्रीनलैंड यद्यपि योरप से उत्तर की ओर हैं, पर वहाँ के बाशिन्दों का संबंध आर्यों से ही है। अतः कुरु के इन पड़ोसी देशों का भी वर्णन कर देना चाहिए। इसके विषय में प्रोफेसर हीर्ट नामक विद्वान् कहता है कि आइसलैंड और ग्रीनलैंड के निवासियों की भाषा जर्मन भाषा से मिलती है। अतः अनुमान होता है कि वे भी आर्य ही हैं। हमने इन लोगों के विषय में अधिक स्वाध्याय नहीं किया। संभव है ये योरप से गये हों। पर चूँकि योरप की प्रजा स्वयं आर्यों की भाषा बोलनेवाली भी निग्रो, तुरानी प्रजा है, इस से अनुमान होता है कि आइसलैंड और ग्रीनलैंडवाले भी निग्रो, तुरानी ही होंगे, जो निश्चय ही पतित आर्य हैं।

यहाँ तक हमने उत्तरी एशिया से सम्बन्ध रखनेवाले उन आर्यों का वर्णन किया, जिन को इस समय मंगोलिया या तुरानी टाइप के कहा जाता है। पर हमारे अब तक के विवेचन से यही ज्ञात होता है कि वे आर्य ही हैं। उनकी सभ्यता, भाषा, रूप और रंग बदल जाने से अब उनको चाहे जो कुछ कहा जाय, पर उनके मूल में आर्यों का ही रुधिर प्रवाहित है।

पूर्वी एशिया।

भारतवर्ष से पूर्व सबसे नज़दीक जो पहिला देश है, वह बर्मा है। इसको संस्कृत में ब्रह्मदेश कहते हैं। वामनपुराण में लिखा है कि तिब्बत में रहनेवाले असुरों के द्वारा सताये जाने पर पूर्वकथित पीतवर्ण कुछ आर्य ब्रह्मदेश में जाकर आबाद हुए। ये असुर भी कोई दूसरे

नहीं थे। वायुपुराण में लिखा है कि असुर आर्यों के दायाद बान्धव ही हैं ❀। दायाद बान्धव उन्हीं को कहते हैं, जिनका पैतृक सम्पत्ति में हक हो। इनके विषय में महाभारत में लिखा है कि जो कुरुक्षेत्र में बसते हैं, वही तिब्बत में बसते हैं +। इससे स्पष्ट हो गया कि ये आर्य ही हैं, जो पतित होकर तिब्बत में गये हैं। रामायण में इनका सुवर्ण का सा रंग लिखा है। वामनपुराण में इन का तिब्बत से ब्रह्मदेश का जाना भी पाया जाता है×। इससे ज्ञात होता है कि ये भी वही किरात नामी क्षत्री ही हैं, जो नैपाल से लेकर तिब्बत तक बसते थे। इन्होंने ही बर्मा में जाकर अमरावती और मिथला नामी नगरी बसायी हैं, जो अब तक हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्य ही हैं और उक्त नगरों के बसाते समय तक इनकी भाषा संस्कृत ही थी। इतना ही नहीं, प्रत्युत बुद्धधर्मप्रचार के समय भी ये हिंदूधर्म के अभिलाषी थे, इसीसे ये सबके सब बौद्ध हो गये। ब्रह्मदेश नाम से भी ज्ञात होता है कि वह वैदिक आर्यों के ही द्वारा रक्खा गया है और ब्रह्मनिवासी आर्य ही हैं।

चीन देश के विषय में लिखा जा चुका है कि आर्यों के प्रारम्भिक काल में ही कुछ लोग पतित होकर चीना (नीचे दर्जे के) हो गये थे और हिमालय से नीचे चीना—गहराई—में जा बसे थे। समस्त भाषाओं के एक ही व्याकरण के विषय में हम लिख आये हैं कि सामोपेडिक भाषा जो चीन देशान्तर्गत पैतिसी और ओब नदियों के किनारे पर बसनेवालों में बोली जाती है, उसमें आर्य भाषाओं की तरह तीन वचन और आठ विभक्तियाँ हैं। इससे पाया जाता है कि चीन में बसनेवाले मूल पुरुष आर्य ही थे। चीनियों के विषय में टाड हन्टर साहब ने अपने राजस्थान के इतिहास, परिशिष्ट, अध्याय दूसरे में इनके वंश का हाल लिखा है। उसका सारांश यह है कि 'मोग़ल तातार और चीनी लोग अपने को चन्द्रवंशी क्षत्री बतलाते हैं। इनमें से तातार के लोग अपने को 'अय' का वंशज कहते हैं। यह अय पुरुरवा का पुत्र आयु ही है। इस आयु के वंश ही में यदु था और उसका पौत्र हय था। चीनी लोग इसी हय को ह्यु कहते हैं और अपना पूर्वज मानते हैं। उक्त अय की नवीं पीढ़ी में एलखाँ के दो पुत्र हुए। उनके नाम काइयान और नगस थे। इसी नगस से नागवंश की उत्पत्ति प्रतीत होती है। चीनवालों के पास यू की उत्पत्ति इस तरह लिखी है कि एक तारे का समागम यू की माता के साथ हो गया। इसी से यू हुआ। यह बुध और इला के समागम की सी बात ज्ञात होती है। इस तरह से तातारों का अय, चीनियों का यू और पौराणिकों का आयु एक ही व्यक्ति है। इन तीनों का आदिपुरुष चन्द्रमा था और ये चन्द्रवंशी क्षत्री हैं, यह अच्छी तरह सिद्ध होता है'।

चीनियों के आदि पुरुष के विषय में प्रसिद्ध चीनी विद्वान् यांगत्साई ने सन् १५५८ में एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ को सन् १७७६ में हूया नामी विद्वान् ने फिर सम्पादित किया। उसी पुस्तक का पादरी क्लार्क ने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है कि 'अत्यन्त प्राचीन काल में भारत के मो० लो० ची० राज्य का आह० यू० नामक राजकुमार यूनान प्रान्त में आया। इसके पुत्र का नाम ती० मोगंग था। इसके नौ पुत्र पैदा हुए। इन्हीं के सन्ततिविस्तार से समस्त चीनियों की वंशवृद्धि हुई है'। इसके अतिरिक्त चीन देश में होम (हवन) को घोम कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनमें आर्यों का कर्मकाण्ड मुद्दत तक प्रचलित था। चीनवालों का भारत से इतना अधिक सम्बन्ध रहा है कि यहाँ से ब्राह्मण लोग धर्मप्रचार के लिए चीन को जाते थे और चीननिवासी यहाँ आकर फिर से आर्यों के समाज में मिल जाते थे।

हिन्दी विश्वकोश पृ० ३१८ में उपनिवेश शब्द पर लिखा है कि 'चीन देश की पुरातत्त्व आलोचना से यह

❀ असुरा ये तदा आसन् तेषां दायादबान्धवाः। (वायुपुराण)

+ ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे। (महाभारत)

× ततोऽसुरा यथाकामं विहरन्ति त्रिविष्टपे।
ब्रह्मलोके च त्रिदशाः संस्थिता दुःखकर्षिताः॥ (वामनपुराण)

सिद्ध होता है कि ई० सन् पूर्व ८ वीं शताब्दी में भारतीय आर्य वणिकों ने चीन देश के बहुत से स्थानों में अपना प्रभाव फैलाया था और बहुतसे स्थानों में उपनिवेश भी किया था'। तभी तो दारुचीनी जिसे दालचीनी कहते हैं, वहाँ से आती थी। दारु लकडी को कहते हैं, इसलिए एक खास प्रकार की चीन की लकडी को दारुचीनी कहा जाता था। यह लगभग तीन हज़ार वर्ष के पूर्व की बात है। परन्तु हमने चन्द्रवंश और आर्यभाषा की जो बात लिखी है, वह तो उस समय की है, जब सर्वप्रथम आर्य लोग 'चीनी' होकर चीन गये थे, इसलिए चीनियों के आर्यवंशज होने में ज़रा भी सन्देह नहीं है।

लोग कहते हैं कि जापान में जो जाति निवास करती है, वह चीन से ही जाकर वहाँ बसी है, क्योंकि दोनों की भाषा आदि में बहुत अन्तर नहीं है। यह बात ठीक है। पर हमारा अन्वेषण इतना और बतलाता है कि चीन की तरह जापान में भी अभी उस आर्यजाति की एक शाखा मौजूद है, जिसकी अन्य शाखाओं से जापानियों की उत्पत्ति हुई है। उस मूलवासिनी जाति का नाम 'ऐन्यू' है। इसको काकेशियन विभाग के अन्तर्गत समझा जाता है। ऐन्यू लोग अब तक प्राचीन ऋषियों के भेष से रहते हैं। अर्थात् डाढी और केश नहीं निकालते। इसीलिए इनको आजकल Hairy Men अर्थात् बालवाले लोग कहा जाता है। चाहे जापानी इन काकेशियन की सन्तती हों और चाहे चीनीयों की दोनों सूरतों में वे आर्य क्षत्रिय ही हैं। जापानियों का 'बुशिडो' अर्थात् क्षात्रधर्म अब तक प्राचीन क्षत्रीयपने का स्मरण दिला रहा है। ऐन्यू लोगों का प्रस्तुत होना, जापान की स्त्रियों में भारतीपन का होना और पुरुषों का क्षात्रधर्म आदि बातें एक स्वर से पुकार रही हैं कि वे आर्यवंशज ही हैं।

अफ्रीकामें ।

(२)

(ले० — पं० तडित्कांतजी वेदालङ्कार, साहित्यमनीषी.)

मोम्बासा ।

मोम्बासा पहुंचनेपर मुझे ज्ञात हुआ कि, मुझे अपने कार्य का प्रारंभ सबसे पहले युगांडा प्रांत में करना है । मुझे जिन सज्जनों की ओरसे अफ्रीका आने के लिए खास आमंत्रण दिया गया था, उन सज्जनों की ऐसी इच्छा थी कि, स्वाध्याय-मंडल की प्रवृत्तियों का प्रारंभ पहलेपहल युगांडा से हो । इसकी वजह यह थी कि, मैं जिन दिनोंमें मोम्बासा उतरा था, उन दिनोंमें युगांडाकी रुई की सीझन प्रारंभ होती थी और युगांडामें कार्य करने का उचित अवसर भी यही समय माना जाता है । प्रायः सभी लोग, चाहे वे गौशालाओंके लिए मांगने आए हों, चाहे किसी स्कूल या पाठशाला के लिए धन इकट्ठा करने आए हों या चाहे किसी और बात के लिए चंदा करने आए हों, युगांडा में इसी मौकेपर आते हैं । यही नहीं व्यापारी लोग, बीमेवाले, खेलतमाशा करनेवाले और इसी प्रकार के अन्य लोग भी इसी सीझन में वहां आते हैं और कुछ न कुछ कार्य कर ही जाते हैं । सीझन में आया हुआ आदमी खाली चला जाय, ऐसा हो नहीं सकता । युगांडा की रुई की सीझन को, व्यापारियों का बीमेवालों का, चंदा करनेवालों का, खेलतमाशा करनेवालों का तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों का जिन्हें कि युगांडा से धन कमाने की अभिलाषा होती है फिर चाहे वे वहीं के हों, या विदेश से आए हों, इन सब का एक प्रकार का मेला कह सकते हैं । क्योंकि ये सब इस समय वहां पर पाये जाते हैं । कई बार एकही शहर में एकही समय पर बीमेवाले, चंदेवाले तथा खेलतमाशेवाले सभी आपस में टकरा



पं० तडित्कन्तजी ।

जाया करते हैं । परंतु ज्यों ज्यों अफ्रीका बसता जा रहा है, त्यों त्यों अन्य प्रान्तों की तरह युगांडा में भी पैसे की आवक कमती होती चली जा रही है । अतः लोग जिस उत्साह और उदारता के साथ पहले बाहर से आनेवाले लोगों का स्वागत करते थे, वैसा अब नहीं करते । इस में वहां आर्थिक अवस्था एक मुख्य कारण है । वहां दो मुख्य कारण और भी हैं । एक तो यह कि ज्यों ज्यों जनसंख्या

बढती जा रही है, त्यों त्यों वहां की स्थानीय आवश्यकतायें (जैसे कि खेलकूदके लिए संस्थायें खडी करना, वाचनालय तथा पुस्तकालय बनाना, लडकेलडकियोंकी पाठशालायें चलाना, धार्मिक संस्थाओंको बनाना तथा बढाना, वगैरा वगैरा) बढती चली जा रही हैं। इन स्थानिक जरूरियातोंको पूरा करना वहां के निवासियों के लिए अत्यंत जरूरी है। उन्हें इच्छा या अनिच्छासे भी इन संस्थाओंको आर्थिक सहाय्यता देनी ही पडती है।

दूसरा कारण जिसको हरकोई पेश करता रहता है, वह है हिन्दुस्थानसे आजतक आए हुए डेपुटेशनोंमेंसे बहुतसोंके कार्यपर अविश्वास। यहांपर आजतक अनेक संस्थाओंके प्रतिनिधि चंदा इकट्ठा करने के लिए आ चुके हैं। उनमेंसे कई संस्थाओंने अनेक तरह की बातें बनाकर पैसा इकट्ठा किया। परंतु उन्होंने हिन्दुस्थान पहुंचकर जैसा कहते थे, वैसा न किया, ऐसी प्रायः साधारण जनताकी शिकायत है। इस कारण से भी लोग ज्यादातर हिन्दुस्थानकी संस्थाओंपर अविश्वास कर बैठे हैं और अब पैसा देते हुए आनाकानी करते हैं। हिन्दुस्थानकी संस्थाओंके प्रति यहां के लोगोंमें अब विश्वास और सन्मानकी मात्रा बहुत ही थोडे अंशमें विद्यमान रह गई है। अब वेही पैसा ले जा सकेंगे, जो कि अधिकांश लोगोंमें अपना विश्वास पैदा कर सकेंगे। अस्तु।

युगांडा प्रांतमें जानेके लिए मोम्बासा से केनिया-युगांडा रेलवे एण्ड हारबर्स की गाडियां जाती हैं। इसमें दो दफा ही युगांडाके लिए गाडियां चलती हैं। इन गाडियोंके डब्बे बहुतही छोटे होते हैं। रेलवेलाईन भी बहुत छोटी है। हरेक गाडीमें मुख्य रूपसे पहले तथा दूसरे दर्जेके डब्बे ज्यादा होते हैं। ये प्रथम तथा दूसरे दर्जे के डब्बे भी सच पूछिए तो किसी काम के नहीं होते। इन्हें इण्डियाके मध्यम दर्जे (Inter class) से कुछ ही अच्छा कहा जा सकता है। एक दो खासियतें निकाल दी जांय, तो भारत के तीसरे दर्जेसे इनका मुकाबला किया जा सकता है। जब पहले और दूसरे दर्जेकाही यह हिसाब है, तो फिर तीसरे दर्जेके बारेमें लिखना ही फजूल है। पाठक उसका स्वयंही ख्याल कर लें। पहलेपहल तो तीसरा दर्जा यहां के असली निवासियोंके लिए ही बनाया गया था। हिन्दुस्थानी प्रायः सभी दूसरे दर्जेमें मुसाफरी करते थे और अब भी अधिक संख्यक लोग दूसरे दर्जेमें ही मुसाफरी करते हैं। परंतु ज्यों ज्यों गरीबी बढती जा रही है, बहुतसे हिन्दुस्थानी भी तीसरे दर्जेमें मुसाफरी करने लग गये हैं। यह सब होते हुए भी किराया बहुत ही ज्यादा है। दुनियाभरमें इतनी ज्यादा महंगी रेलवे शायद ही कहीं हो। मोम्बासासे नैरोबी ३०० मीलसे कुछ ज्यादा है, पर इतनेका किराया ८) रुपये से कुछ ज्यादा तीसरे दर्जेका है और ३४) रुपये के करीब दूसरे दर्जेका है। १९३८ के प्रारंभसे २५) फी सदी किराया घटाया गया है, तब यह हाल है। उससे पहले तो इससेभी ज्यादा था। इसी तरह पारसल आदि रेलवेसे भेजनेमें भी बडा भारी खर्च आता है।

मैं जब मोम्बासा उतरा तो मालूम हुआ कि वहां की स्थानीय आर्यसमाज का कुछ दिनों में जलसा है। मैं जलसेके लिए कुछ दिन वहां ठहर गया और जलसा समाप्त होनेपर युगांडाके लिए चल पडा। मोम्बासा से युगांडा (कंपाला) पहोंचते पहोंचते गाडीको लगभग दो रात और दो दिन लग जाते हैं। रास्तेमें पहाड पडनेसे काफी चढाई भी आती है। एक तो गाडी छोटी तिसपर पहाडोंकी चढाई। इसलिए गाडीकी चाल बीच बीचमें तो बहुतही धीरी हो जाती है। मोम्बासा से कंपाला ८०० मीलके करीब है। रास्तेमें जंगली पशुओंके लिए सुरक्षित रक्खे हुए जंगल पडते हैं, जहां जिराफ, जिब्रा, हरिण आदि पशु दृष्टिगोचर होते हैं। इन जंगलोंमें सिंह, चीता आदि हिंसक पशु भी काफी हैं। परंतु वे मोटर से मुसाफरी

करनेवालों को ही नजर आते हैं। गाडीसे जानेवालों को ये प्राणी बहुत कम नजर आते हैं, क्योंकि वे गाडीकी आवाज से दूर भाग जाते हैं।

मोम्बासा से नैरोबी को जाती हुई रेलके लाईन मसाई के जंगलमें से गुजरती है। पहले इस जंगलमें बेशुमार शेर पाये जाते थे। जब पहले पहल रेलवे लाईन बनी, तब इन सिंहोंने बडा हैरान किया। प्राय: रोज रातको रेलवे लाईनपर काम करनेवाले हिन्दी मजदूरोंमेंसे एक दो को सिंह उठा ले जाया करते थे। रातमें मजदूरों की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार के सुरक्षित साधन नहीं थे। भयंकर जंगलों में सादे तंबुओंमें ही रात गुजारनी पडती थी। मारे डर के सारी रात जागते ही कटा करती थी। न जाने आज सिंह किसको उठा ले जायगा, इसी चिंता और सोच में सबेरा हो जाया करता था। सबेरे उठ कर जब मजदूरों की गिनती की जाती थी, तो उनमें से एक दो नित्यप्रति कम पाये जाते थे। इस तरह दिनमें भी कभी कोई मजदूर अकेला पडा कि, निश्चित शेरका शिकार हुआ समझ लो। इस प्रकार इस रेलवे के बनाने में इतने अधिक हिन्दी मजदूर काम आये हैं कि, उसकी कोई हदही नहीं। इस बारेमें यहां एक जनश्रुति भी है कि, इस केनिया-युगांडा रेलवे को बनाते हुए इतने हिन्दी मजदूर सिंहोंद्वारा खाये गये हैं, जितने कि पटरीके नीचे स्लीपर (Sleepers) बिछे पडे हैं।

सिंह की शिकार।

जहाँपर सिंहों का बहुत जादा त्रास था, वहां के स्टेशन का नाम 'सिम्बा' रखा गया। सिम्बा का स्वाहिली भाषा में अर्थ होता है सिंह'। इस स्थान के दो एक सिंहों की कथायें तो अब भी आम जनता के मुखसे सुननेंको मिलती हैं। उन दो सिंहों का शिकार भले भले शिकारियों के लिए भी मुश्किल हो गया था। जो भी शिकारी उनके शिकार का निश्चय करके आता था, वह खुदही शेरों का शिकार बन जाता था। प्राय: यहां के नेटीवों का ऐसा ख्याल है कि, कई नेटीव जादूगर रात को सिंह या 'सिंबा' का स्वरूप धारण करके शिकार के लिए रातको निकला करते हैं। इन दो शेरोंके बारेमें भी ऐसा ही माना जाता था।

ये रोज नियमित मजदूरोंका शिकार कर जाते थे। किसी भी प्रकार के भय के बिना वे किसी न किसी तरह छावनीमें घुस आते थे और ऐसी चालाकी तथा युक्ति से काम लेते थे कि, हर किसी को यही विश्वास हो गया था कि, ये सिंह के रूपमें दैत्य या राक्षसही होने चाहिए। इनके बारेमें जो दंतकथायें आज भी प्रचलित हैं, उन्हें सुननेपर ऐसा आभास होता है कि मानो अरेबियन नाईट्स की कथायें सुन रहे हैं। परन्तु वे हैं सत्य। चाहे उनमें अब अत्युक्ति की मात्रा बढ गई हो। अब धीरे धीरे बहुतसे शेर मार दिए गये हैं, तथा बाकीयोंको सुरक्षित जंगलों में भगा दिया गया है। अत: अब बिलकुल नाममात्र ही खतरा रह गया है।

अफ्रीकामें सिंह समूहमें पाए जाते हैं। यहांपर ये भी भेडबकरियों के झुण्ड की तरह ज्यादा संख्या में इकट्ठे रहते हैं। एक वन में एक ही सिंह रहनेकी बात यहांपर चरितार्थ नहीं होती। शुरू शुरू में सिंहोंने जो त्रास पहुँचाया था, वैसा अब नहीं पहुँचाते। अब तो सिंहोंके पास से मोटर, आदमी आदि शांति से गुजर जाते हैं। इस तरह गुजरते हुए की तरफ वे दृष्टिपात करनेकी धृष्टता भी बहुत कम करते हैं। या तो मस्त पडे रहते हैं, अथवा तो शांति से जहां मन में आया रास्ता देकर चले जाते हैं। वैसे भी सिंह मनुष्यपर न छुटके ही आक्रमण करता है। जिन दिनोंमें रेलवे बनी, उन दिनोंमें सिंहोंने क्यों तंग किया होगा, इसका जवाब देना मुश्किल हा है। पर हां, यदि एक बार मनुष्य का खून उसने चख लिया, तो फिर मनुष्य के शिकार में वह अवश्य चक्कर लगाता रहता है और उस अवस्था में वह आदमी को कभी नहीं छोडता। अत: संभव है कि उन दिनों में उन सिंहोंको एक बार आदमी का खून चखना मिल गया हो और उसपरसे वे आदमी के खूनके चटोरे बन गये हों। अस्तु। अब ज्यों ज्यों वस्ती बढती जा रही है, त्यों त्यों धीरे धीरे जंगल कटते

जा रहे हैं। पर इसका परिणाम यह हो रहा है कि, दिनबदिन बारिश कम होती जा रही है। यदि यही हाल रहा, तो भविष्यमें खेतीके लिए पानीकी समस्या उपस्थित हो जायगी।

यहां पर प्रायः कूएं नही हैं और नहीं खोदे जा सकते हैं। क्योंकि यहां की जमीन में प्रायः पानी बहुत नीचे तक नही मिलता। बारिश ही सबके लिए एकमात्र आधार है। यहांपर प्रायः थोडी थोडी बारिश बारह महीने पडती रहती है। बीचबीचमें एक एक दो दो मास खाली जाते हैं। वैसे सालमें दो दफा बारिश की ऋतु आती है। यहां पर गन्ना भी इसी प्रकार बारिश के पानीसे ही होता है। आमको साल में दो बार मौर आते हैं। आमकी दो बार मोसिम आती है. अतः लगभग बारह महीने आम मिलता है। यही हाल और भी बहुत से फलफूलवाले पेडोंका है। परन्तु यह सब होते हुए भी यहां के उत्पन्न पदार्थों को खाते हुए वह स्वाद नहीं आता जो, कि हिन्दुस्थान में उत्पन्न पदार्थों के खाने में आता है। अफ्रीका बिलकुल भूमध्यरेखा (Equater) पर होनेसे यहांपर ऋतुयें सर्वथा अनियमित रहती हैं। कभी कभी तो एकही दिनमें तीनों ऋतुयें गरमी, सरदी और बरसात के दर्शन हो जाते हैं। हिन्दुस्थान से यहांपर सूर्योदय भी लगभग ३ घंटे पीछे होता है। यहां आठ बजते हैं, तब हिंन्दुस्थान में लगभग ११ बजे होते हैं। इसी तरह ऋतुयें भी पीछे हैं। यह देश भूमध्यरेखापर होनेसे यहां के असली लोग अत्यन्त काले होते हैं। उनके रंगको छोड भी दिया जाय, तो भी उनके चेहरोंकी बनावट भी कुछ आकर्षक नहीं होती। इन्हें बदसूरत ही कहा जा सकता है। पता नहीं इसकी क्या वजह है! यहां के लोगों के सम्बन्ध में विस्तार से फिर लिखूंगा। यह एक स्वतन्त्र लंबा विषय है।

ब्रिटिश पूर्व अफ्रिका तीन प्रांतोंमें बँटा हुआ है। (१) केनिया (Kenya), (२) युगांडा (Uganda) और (३) टांगानीका (Tanganyika)। इन में से तीसरा प्रांत टांगानीका महायुद्धसे पहले जर्मनी के पास था। परन्तु महायुद्ध में हारनेके पश्चात् यह प्रांत जर्मनीसे छीनकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला दिया गया।

युगांडा प्रांत।

ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाके तीनों प्रांतोंमें युगांडा प्रांत सब तरहसे, सबसे ज्यादा समृद्ध कहा जा सकता है। इस प्रान्तपर प्रकृतिमाताकी भी अपार कृपा है। साराका सारा प्रान्त बारह महीने प्राकृतिक शोभाका नमूना बना रहता है। बारह मास हरियाबल एकसी नजर आती है। सूखी घास ढूंढनेसे भी मिलनी मुश्किल है। इसी तरह नदी, नाले, पहाड, झरने तथा झीलोंकी भी भरमार है। युगांडा ठीक भूमध्यरेखा (Equator) पर स्थित है। इसकी राजधानी एन्टेबे (Entebbe) मेंसे भूमध्यरेखा गुजरती है। इस वजह से यह प्रांत बहुत गरम है। परन्तु इसमें स्थित दुनियाभरमें सब से बडी मीठे पानी की झील विक्टोरिया न्यांझा इसको उस सूर्य के सीधे किरणों से पहुँचनेवाली सख्त गरमी से रक्षा करती रहती है। इस बातका और भी अच्छी तरह ख्याल आ जाता है, जब कि हम युगांडा की जमीन तथा पानी के क्षेत्रफलपर दृष्टिपात करते हैं। युगांडा का कुल क्षेत्रफल ९४२०४ वर्ग मील है। जिसमें से ७१६९ वर्ग मीलमें पानी है। अर्थात् कुल क्षेत्रफल के १३ वें भाग जितना पानी है।

इस प्रांत में तीन बडे बडे पहाड हैं, जिनमें से रुवेन्झोरी पर्वत (Ruwenjori Mountain) सब से ऊंचा १६७९१ फीट है। दूसरा म्फुम्बीरो पर्वत १४७८० फीट ऊंचा है। यह पर्वत ज्वालामुखी पर्वत है। इसके बहुतसे शिखरोंमें से अकसर अग्नि की ज्वालायें प्रदीप्त होती रहती हैं। दूरदूरसे लोग इन्हें देखने के लिए आते रहते हैं। तीसरा एलगन पर्वत (Mount Elgon) १४१४० फीट ऊंचा है। इसकी घाटियां अत्यंत रमणीय तथा उपजाऊ हैं।

इस प्रांतमें पानीका भाग तथा वनस्पति और जंगल प्रमाण से ज्यादा होनेसे जहां गरमी से बचाव

होता है, वहां यह प्रांत मलेरिया का घर है। यहां पर मलेरिया का प्रमाण बहुत ही ज्यादा है। यहां का मलेरिया बहुत ज्यादा खराब होता है। यदि मलेरिया की थोडी भी परवाह न की जाए, तो वह ब्लेक वोटर (Black water) में तबदील हो जाता है। ब्लेक वोटर अत्यन्त प्राणघातक बीमारी मानी जाती है। ब्लेक वोटर रोग की निशानी यह है कि रोगी को एकदम लाल कालासा रंग लिए हुए पेशाब (मूत्र) आने लगता है। जब शुरू शुरूमें युगांडा प्रांत बसा था, तब ब्लेक वोटर अक्सर लोगों को हो जाया करता था और उस समय ब्लेक वोटर का रोगी बहुत ही कम बचता था। इस रोगका लोगों में इतना आतंक छाया हुआ था कि, रोगी को मालूम होते ही वह अधमरासा तो पहले से ही हो जाता था। उसके सगेसम्बन्धी भी ९० प्रतिशतक आशा छोड दिया करते थे। उस समय इस रोगकी योग्य चिकित्साका भी पता नहीं था।

परन्तु अब ज्यों ज्यों प्रांत बसता चला जा रहा है, तथा बहुतसी झाडियां तथा जंगल काटकर स्वच्छ मैदान बनाये जा रहे हैं, त्यों त्यों मलेरिया तथा ब्लेक वोटर भी कम होते चले जा रहे हैं। अब तो प्रायः ५ प्रतिशतक ही ब्लेक वोटरके रोगी मरते होंगे। अब युगांडा के हवापानी भी पहले से कही ज्यादा सुधर चुके हैं। और कुछ वर्षोंमें तो यह प्रांत बहुत ही ठीक हो जायगा। मलेरियासे बचने के लिए युगांडा के लोग आजकल भी आम तौर पर क्विनाईन की गोलियां हफ्ते में कई बार सोते हुए खाते हैं। युगांडा में नये नये आये हुए आदमी को प्रायः हरेक इसी तरह क्विनाईन खाते रहने की सलाह देता रहता है। मुझे भी प्रायः रात को सोते हुए इसी तरह क्विनाईन लेते रहने को कहा जाता था। परन्तु मैंने अपनी ६ महीनेकी अवधिमें ढाई ग्रेनकी १२ गोलियों से शायद ही ज्यादा खाई होंगी। कहनेका मतलब यह है कि अब उतना खतरा नहीं रहा, जितना कि पहले किसी समय था। मलेरिया का प्रभाव होते ही जो उसका इलाज कर लेता है, उसे कुछ नहीं होता। अब तो सिर्फ बेपरवाह ही ब्लेक वोटरके शिकार बनते हैं।

मैंने यहां पर एक और भी बात देखी और वह यह कि यहां पर छोटेसे लेकर बडे सबके सब दवाई खानेकी अपेक्षा इन्जैक्शन खानेके ज्यादा शौखीन हैं। एक इन्जैक्शन के १० शिलिंग [७) रुपये के लगभग] देने पडते हैं, फिर भी गरीब और अमीर इन्जेक्शन ही लगवाते हैं। पीनेकी दवाई बहुत कम पसंद की जाती है। इसकी वजह शायद यह हो कि यहां पर हिन्दुस्थानकी अपेक्षा पैसा सस्ता है। हरेक आदमी आसानी से हिन्दुस्तानकी अपेक्षा ज्यादा पैसा कमाता है। यद्यपि अब तो यहां भी दिन बदिन हिन्दुस्थान-किसी अवस्था होती चली जा रही है। कुछ भी हो, डाक्टरलोगोंकी जेबें इस इन्जैक्शन के कारण ज्यादा गरम रहती हैं। प्रायः जनता इन्जैक्शन के पीछे इतनी ज्यादा पागल हुई हुई है कि, जबतक रोगी इन्जैक्शन न खा ले, उसे यह विश्वास नहीं होता कि, उसका रोग इसके बिना भी मिट जायगा। इस संबंध में एक डाक्टर से मेरी बातचीत होते हुए, एक ऐसा ही किस्सा सुनने को मिला।

एक बार एक रोगी अपने किसी सम्बन्धी को लेकर डाक्टर के पास आया और कहने लगा कि मेरी तबियत अच्छी नहीं रहती; अतः आप मुझे कोई इन्जैक्शन लगा दें, जिससे मेरे शरीरका रोग दूर हो जाय। डाक्टरने उस रोगी को देखा, तो उसके शरीर में कोई खास रोग नहीं था। डाक्टर बडी असमंजस में पडे। वे मन में सोचने लगे कि इसे रोग तो कोई है ही नहीं। मैं इसे इन्जैक्शन कैसे लगाऊं? और लगाऊं भी तो काहेका लगाऊं? आखिरकार डाक्टरने सोचा कि इसे किसी भी तरह, किसी भी चीज का इन्जैक्शन नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने उस के सम्बन्धी को अलग बुलाकर कह दिया कि, उसे कोई रोग नहीं है और इसवास्ते मैं इन्जेक्शन नहीं लगा सकता। इसपर उस रोगी के सम्बन्धीने डाक्टर से कहा कि डाक्टरसाहेब ! इसके मनमें यह वहेम घुस गया है

कि, मेरा शरीर दिन बदिन दुर्बल होता चला जा रहा है और इसके लिए जबतक मैं डाक्टर के पास जाकर इन्जैक्शन न खा लूं मेरे शरीर में ताकत नहीं आ सकती। यह सुनकर डाक्टरजी को बडी हैरानी हुई। अन्तमें उन्हें एक रास्ता सूझा। उन्होंने उस रोगीके सम्बन्धी से कहा कि मैं और तो कुछ नहीं कर सकता, पर ऐसा करता हूं कि, उसे एक दो इन्जैक्शन शुद्ध पानी के ही लगा देता हूं। तुम उससे यह भेद खोलना मत। इसी प्रकार किया गया और वह रोगी ठीक हो गया!!!

युगांडा का पूर्व इतिहास।

अफ्रीका में गोरे शोषकों के आनेके बाद १९ वीं शताब्दि के पिछले भाग में क्रिश्चियन पादरी इस देश में आये और युगांडा की प्रजा में ईसाईयत का प्रचार करने लगे। उस समय में युगांडामें 'म्वांगा' नाम का राजा राज्य करता था। वह मुसलमान था, अतः उसने ईसाई पादरियों के विरुद्ध वायुमण्डल खडा किया। इधर ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कंपनी से इम्पीरियल सरकारके हाथोंमें युगांडा आनेपर 'म्वांगा' की हरकतोंपर देखरेख शुरू हो गई। म्वांगा की राजधानी कंपाला थी। उसका एक 'काकुगुरु' नामक ग्वाला था, जिसने आखिरकार म्वांगा को पकडवा दिया। उसको पकडकर विलायत भिजवा दिया, तथा उसके स्थानपर उसके लडके 'दाउदी' को गादीपर बैठाया गया। यह नेटिव राज्य अब भी विद्यमान है। इसकी वही स्थिति है जो कि हिन्दुस्थानमें किसी एक देशी रियासतकी। इसका राजा आजकल हमारे देशी नरेशों जितने अधिकार भोग रहा है, तथा नये सुधरे हुए ढंगसे राज्य कर रहा है।

युगांडाके राजा म्वांगा का नमकहराम ग्वाला जब खतरे में आ पडा, तो वह कंपालासे ५६ मील दूर जिंजामें अपने सहायक साथियोंको लेकर भाग गया। परन्तु वहां पर भी वह शांति से न रह सका और उसे झीञ्झासे लगभग ११५ मील दूर मबाले भागना पडा। मबाले आकर उसने वहां के नेटिवों पर अपनी सत्ता जमाई और वह उनका राजा बन बैठा। अंग्रेज लोग कंपाला की योग्य व्यवस्था करने के बाद युगांडा के अन्य बडे बडे शहरों को अपने ताबे में करते हुए मबाले पहोंचे। उन्होंने इसकी सत्ता कबूल कर ली और एक अपना थाना वहांपर कायम किया। वहां से आगे चलकर उन्होंने एबिसीनीया की सरहदपर 'कोरोमेज' नामक स्थलपर भी एक थाना कायम किया। इस प्रकार धीरे धीरे तमाम युगांडा पर अंग्रेज सरकार का राज्य कायम हो गया।

ई० सन १८९० में केनिया, टांगानिका और युगांडा की एंगलो जर्मन सरहद निश्चित हुई और १८९३ में जर्मन पोर्तुगीज सरहद तय हुई। फ्रेंच तथा बेलजीयम की कोंगो सरहद भी पोर्टुगीज के साथ इसी साल ठहराई गई। इसी तरह केनीया, युगांडा और सोमीली लेन्ड की सरहदें भी इटली के साथ तय कर दी गईं। १८८९ में ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका कंपनी को लीझ दी गई और अतएव युगांडा का कबजा भी उसे ही सौंपा गया। परन्तु १८९३ में यह प्रांत फिर इम्पीरियल सरकार को वापस सौंप दिया गया। १९३१ की जनसंख्या की गिनती के अनुसार युगांडा की वस्ती निम्न लिखित है–

युरोपियन	हिन्दी (भारतीय)	नेटीव (यहांके असली निवासी)
२००१	१५२६६	५३,५३,५६४

जिंजा।

मैं ता० ९।१।३८ को मोम्बासा से रवाना होकर रास्ते में दो तीन जगह ठहरता हुआ १४।१।३८ को जिंजा पहोंचा। युगांडा में मुझे सबसे प्रथम यहींसे कार्य प्रारंभ करना था। युगांडा में जिंजा तथा कंपाला ये दो शहर रूईके व्यापार के बडे भारी केन्द्र हैं। अधिकांश रूपमें इन्हीं दो शहरोंमें रूईके बडे बडे व्यापारियों की पेढियां हैं। ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकामें मोम्बासा, नैरोबी, कंपाला, दारेसलाम तथा झांझीबार और ऐसे ही एकाध शहर को छोडकर शेष जो शहर हैं, उन्हें भारत के शहरों के मुकाबले में शहर कहना मुश्किल



डायरेक्टर्स

मे० विट्ठलदास हरिदास एन्ड कम्पनी लि०

जिंजा (युगाण्डा) ब्रि० ईस्ट आफ्रिका ने

शुद्ध मुद्रणके लिये १०००) रु० का दान दिया है।

है। उन सबको बडे बडे गांव कह सकते हैं। परन्तु इन सब में एक विशेषता है, जो कि भारत के कुछ बडे बडे नये ढंगसे बसे हुए शहरोंके अलावा शायद ही किसी शहरमें पाई जाय और वह यह कि ये सब बाकायदा एक खास तरतीबसे बसाये गये हैं। रास्तों की बनावट, मकानों की रचना आदि खूब आकर्षक हैं। छोटेसे छोटा गांव भी खूब स्वच्छ और सुन्दर मालूम होता है। हिन्दुस्थान में भी इसी ढगसे सब छोटे बडे गांव तथा शहरों को बसानेकी खास जरूरत है। जब तक इस प्रकार से वे बसाये नहीं जायेंगे, तब तक उनमें स्वच्छता आदि रखना बहुत मुश्किल है और लोगोंका स्वास्थ्य सुधरना भी कठिन है।

विक्टोरीया सरोवर के रिपन प्रपात से निकलती नाईल नदीके उगमपर जिजा शहर बसा हुआ है। केनिया युगांडा रेलवेके प्रारंभ होनेसे पहले जिंजा विक्टोरिया सरोवर का बंदरगाह होनेसे तमाम प्रांतका व्यापार यहींसे होता था। परन्तु जबसे रेलवे बनी है, तबसे बंदरगाह के तौरपर इसका उपयोग बद हो गया है। जिंजा केनिया-युगांडा रेलवेपर मोम्बासासे ८२८ मीलपर स्थित है। यहांसे एक ब्रांच रेलवे लाईन भी कियोगा झीलको तरफ गई हुई है। उससे सुदान होकर मिसर में जाया जा सकता है।

सारे युगांडा प्रांतमें दोही सरकारी स्कूल हैं, जिनमें से एक यहांपर जिंजा में है। ई० सन १९३३ से पहले यह स्कूल इंडियन ऐसोसियेशनके हाथमें था। परन्तु इसके बादसे उसे एजुकेशन डिपार्टमेन्टने अपने हाथ में ले लिया। अफ्रीकामें भारतियों के लडकों को जो शिक्षा दी जा रही है, वह उनके लिए कहां तक उपयोगी है और उस शिक्षा मे सरकार कहां तक रस ले रही है, इत्यादि बातोंपर स्वतन्त्र रूपसे लिखने का विचार है। अतः इस सम्बन्ध में विशेष रूपसे यहीं लिखा जायगा।

जिंजाके आसपास की जमीन काफी दूरतक समतल होनेसे तथा ऐसी ही और भी बहुतसी सुविधाओं के कारण वहांपर तरह तरहके कारखाने खोले जानेके लिए काफी स्कोप है। इस दृष्टिसे भविष्य में जिजा बहुत बडा व्यापारका केन्द्र हो जायगा। इस वर्षसे शहर में बिजली भी प्रारंभ हो गई है। इससे शहर की शोभा और भी बढ गई है। दिन-ब-दिन नये मकानात बनते चले जा रहे हैं और शहर का विस्तार बढता चला जा रहा है। जिंजा की और भी अधिक शोभा बढानेके लिए तथा लोगों को शाम सबेरे टहलनेके लिए मेससे विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कंपनी की ओर से लगभग २५ हजार शिलिंग (साडे सोलह हजार रुपयों से कुछ ज्यादा) लगाकर रिपन प्रपातके पास नाईल नदी के किनारे जिंजा कंपाला के रस्तेपर एक विशाल बाग तैयार कराया जा रहा है। यह सार्वजनिक बाग ऐसे अच्छे स्थलपर बनाया जा रहा है कि, जहांपर प्रायः सभी लोग शामको हवाखोरी करने के लिए आसानी से जा सकते हैं तथा सैरके साथ साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का भी मजा लूट सकते हैं। इस बगीचे में टहलते हुए सामने से गिरता हुआ रिपन प्रपात भी थोडी ही दूरीपर अच्छी तरह से दृष्टिगोचर होता रहेगा। जिंजा में वस्तुतः इस तरह के उद्यान की जरूरत भी थी। इसवास्ते इस उत्तम कार्य के लिए सेठ विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कंपनी के भागीदारों का जितना धन्यवाद किया जाय, थोडा है। उन्होंने अपने धनका सदुपयोग करके जहां अन्य श्रीमानों के सामने आदर्श रखा है, वहां सेठ विठ्ठलदास हरिदास एण्ड कंपनी का नाम भी अमर कर दिया है। परम पिता परमात्मा की कृपासे यह कंपनी दिन दूनी रात चौगुनी फूलती फलती रहे, ताकि उसके धनका सद्व्यय सर्वदा ऐसे ऐसे लोकोपयोगी कार्यों में और भी ज्यादा होता रहे।

(क्रमशः)

वैदिक शाखाएँ वेदव्याख्यान ही हैं !

(लेखक— श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून।)

वेदों की शाखाएं।

१- शाखाओं की संख्या में मतभेद ।

क-महाभाष्यकार पतञ्जलि वेदों की ११३० शाखाएं बतलाते हैं।

एक शतमध्वर्युशाखा सहस्रवर्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदः।

(महाभाष्य पस्पशान्हिक)

अर्थात्-	शाखा	
(१) ऋग्वेद	२१	इक्कीस
(२) यजुर्वेद	१००	एक सौ
(३) सामवेद	१०००	एक हजार
(४) अथर्ववेद	९	नौ
कुल योग	११३०	

(२) चरणव्यूह ग्रन्थ प्राचीन शाखानिर्णायक पुस्तक है, उसके अनुसार वेदों की शाखाएं इस प्रकार हैं—

(अ) ऋग्वेद	५	पांच
(आ) यजुर्वेद	८६	छयास्सी
(इ) सामवेद	१०००	एक हजार
(ई) अथर्ववेद	९	नौ
कुल योग	११००	

(३) इसी प्रकार सर्वानुक्रमणीकार ११३७ शाखाएं चारों वेदों की मानते हैं।

चरणव्यूहके प्रमाण ।

(अ) ऋग्वेदस्य शाखाः पञ्च भवन्ति आश्वलायनी शांखायनी शाकला बाष्कला माण्डूकेया चेति।

(आ) यजुर्वेदस्य षड्शीतिर्भेदाः भवन्ति।

(इ) तत्र सामवेदस्य शाखा सहस्रमासीत्। अनध्यायेष्वधीयानाः सर्वे ते शक्रेण त्रिनिहताः।

(ई) तत्र ब्रह्मवेदस्य (अथर्ववेदस्य) नव भेदाः भवन्ति।

(४) कूर्मपुराण के अनुसार चारों वेदों की कुल शाखाएं ११३० हैं।

अ- ऋग्वेद	२१	इक्कीस
ब- यजुर्वेद	१००	सौ
स- सामवेद	१०००	एक हजार
द- अथर्ववेद	९	नौ
कुल योग	११३०	

कूर्मपुराण का प्रमाण ।

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।
शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाऽकरोत् ॥१॥
सामवेदं सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदतः।
अथर्वाणामथो वेदं विभेद नवकेन तु ॥२॥
भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः ॥

(कूर्मपुराण १।५१)

इस प्रकार--

शाखाओं की संख्या के सम्बन्ध में कूर्मपुराण और महाभाष्य में ऐकमत्य है।

कुछ लोग महाभाष्य के 'एकशतमध्वर्यु शाखाः' इस उद्धरण का अर्थ १०१ शाखाएं यजुः की हैं, ऐसा करते हैं। वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि महाभाष्य के अनुयायी कूर्मपुराण ने यजुः की १०० ही शाखाएं बताई हैं।

शाखाओं का तत्त्व।

शाखाओं की संख्या के सम्बन्ध में इस प्रकार विरोध बता कर अब हम शाखातत्त्व के भी सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहते हैं।

इस विषय में भी ऐकमत्य नहीं है।

(क) पौराणिकों का- अथवा पुराणों का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि, वेदों की शाखाएं वेदों के भिन्न भिन्न प्रकरण हैं।

अर्थात्- जिस प्रकार एक ही पुस्तक के विभिन्न अध्याय, समुल्लास, निःश्वास अथवा परिच्छेद आदि होते हैं। इनके विचारानुसार किसी वेद की सारी शाखाएं ही सम्पूर्ण वेद हैं और क्योंकि इस समय वेद की पूरी शाखाएं उपलब्ध नहीं होतीं, अतः कुछ पौराणिकों का मत है कि, पूर्ण रूप से इस समय वेद भी उपलब्ध नहीं होते। इसीलिए पौराणिक सम्प्रदाय में यह भी माना जाता है कि, जिन विधियों का प्रतिपादन वर्तमान श्रुति में नहीं मिलता, उन श्रुतियों का अनुमान करना चाहिए और ऐसा किया भी जाता है।

परन्तु इस मत के अनुसार तो वेद पूर्ण रूपसे उपलब्ध होते ही नहीं अथवा यों कहिए कि, जो वेद उपलब्ध होते हैं, वे पूर्ण वेदों के एक आध आध्यायमात्र हैं। बस सब झगडा तय होता है- फिर क्या आवश्यकता है कि, वेदों का अध्ययनाध्यापनादि हो और वेदों को प्रमाण माना जाय। क्योंकि वेद के प्रतिपाद्य आदेशों का पूरा पूरा पता ही नहीं लग सकता। और जो लुप्त श्रुतियों के अनुमान कर लेने आदि की बात है, वह भी युक्तियुक्त नहीं। इस प्रकार तो स्मृतिग्रन्थों के अनुसार श्रुतियों की कल्पना होगी, अर्थात् वेद स्वतः प्रमाण न रह सकेंगे। दूसरा अमुक विधि की श्रुति का अनुमान किया जाए, अमुक का नहीं, इसका विनिगमन - निश्चय - असम्भव होगा। यदि स्मृतिग्रन्थों के अनुसार श्रुतियों की कल्पना होने लगे, तब तो सभी अनुचित भी स्मृतिग्रन्थोक्त विधियों को वेद प्रतिपाद्य बताया जा सकता है।

दूसरा विचार।

वर्तमान समय के प्रायः सभी प्राच्य और पाश्चात्य पण्डितों का शाखातत्त्व के सम्बन्ध में यह विचार है कि, प्राचीन काल में लिपि का प्रचार नहीं था। प्राचीन ग्रन्थों में तो लिखनेवाले की निन्दा सुनी जाती है। इसलिए वेदों का तब श्रवण ही किया जाता था, पठन नहीं। इसीलिए वेदों का एक नाम अनुश्रव अथवा श्रुति है। तब स्मरण-द्वारा ही वेदों को स्थिर रक्खा जाता था। अतः देशकाल आदि के भेद से उसमें अर्थात् मूल संहिता में कुछ भेद होना स्वाभाविक है, वही थोडा थोडा भेद ही भिन्न भिन्न शाखाएं हैं। शाखाएं पुराणोक्त रीतिसे वृक्ष की शाखाओं की तरह नहीं।

उदाहरणार्थ- जब प्राचीन काल में कुछ शिष्य अपने अपने गुरुसे वेद पढने जाया करते होंगे। और अपने अपने यहां जाकर अध्यापन करते होंगे, तब मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरी के कारण उनके स्मरण में भेद पड जाया करता होगा। उसीको ही शाखाभेद कहा जाता है। इसी बात को श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन ग्रन्थ में इन शब्दों में लिखा है।-

"वस्तुतोऽतिप्राचीनकाले लिपेरभावात् लिखितपाठकस्य निन्दाश्रवणाद्वा वेदानां लिखितपाठ्यत्वाभावादासीदानुश्रविकत्वम्। ततः कालभेद, देशभेद, व्यक्ति-भेदादिभिरध्ययनक्रमोच्चारणादिभेदात् क्रम-भेदा पाठभेदाश्च सम्पन्नाः। तत एवैकस्य वेदस्य बहुनामतो बह्वः संहिताः प्रबिभि-ङ्गताः। तासु न्यूनातिरिक्तता च किञ्चित् सञ्जाता।

आचार्याणां प्रकृतिवैषम्यात् तत्तद्देशकाला-द्यनुरोधाच्च अनुष्ठेयभेदाः प्रयोगभेदाश्चा-

भवद्यनिवार्याः । तत एव ब्राह्मणबाहुल्यं कल्पबाहुल्यञ्च सुतरां सम्पन्नम् । इदमेव शाखाभेदनिदानम् । तदित्थमेकैकस्य वेदस्य बहु शाखत्वेऽपि एकैकस्याः शाखाया अध्ययनत एव भवेदधीत एवैकेको वेदः सर्वास्वेव शाखासु मूल संहितैक्यदर्शनात् । किञ्चित् पाठ न्यूनातिरिक्तत्वेन किञ्चित् पाठक्रमोच्चारणभेदेन किञ्चिदनुष्ठानपद्धति भेदादिना च न ह्येवाऽभवत् वास्तविकः संहिताभेदः । (ऐतरैयालोचन पृ० १२३)

(ख) तत्वतो नहि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव अत एव शिष्यशाखा परम्परेति वचनमद्यापि इह महाभारते प्रसिद्धम् ।

(ऐतरेयालोचन पृ० १२४)

(ग) तदत्र पुनरपि ब्रूमोऽध्ययनादिभेद एव शाखाभेदनिदानं न तु ग्रन्थभेद इति ।

(ऐतरेयालोचन पृ० १२५)

इस प्रकार इन विद्वानोंके विचारानुसार पाठभेद को अथवा पठनपाठन की विशेष शैली को ही शाखातत्त्व कहा जाता है। अर्थात् भिन्न भिन्न शाखाएं भी पूर्ण वेद हैं, जहां तहां कुछ कुछ भेद अवश्य ही हो गया है।

शाखातत्त्व के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ।

परन्तु ऋषि दयानन्द का शाखाओं के सम्बन्ध में विभिन्न विचार है । उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में लिखा है कि " एकादश शतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदव्याख्यानान्यपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्तीति ।

अर्थात् ११२७ वेद की शाखाएं भी वेदों के व्याख्यान हैं। अतः वे भी वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण हैं ।

इस सिद्धान्त को भी कुछ विद्वान् पुराणोंकी सी गप्प मानते हैं । सत्यव्रत सामश्रमी यद्यपि ऋषि दयानन्द के परम भक्त प्रतीत होते हैं, उन्हें गुरु मानते थे, तथाऽपि ऋषि के विचारों से सहमत नहीं । वे लिखते हैं—

क- 'वेद-वैदिकमत-प्रचारार्थोत्सर्गीकृत जीवनेनायतनसर्वार्यवर्येण अस्मच्छ्रद्धाभाजनेन आचार्यदयानन्दस्वामिनाऽपि शाखानां वेदव्याख्यानरूपत्वेन वेदभिन्नत्वञ्च मत्वैव शोच्यते त्वोल्लिपि सन्निधौ नूनं पौराणिकी शाखाभेदकथाऽप्यपास्तेति मन्यामहे वयम् ।' अर्थात्- वेद और वेदानुकूल सिद्धान्तों के प्रचारार्थ स्वामी दयानन्द ने अपना जीवन तक अर्पण कर दिया। वे वर्तमान समय के सब आर्योंमें शिरोमणि थे। अतः आचार्य दयानन्द स्वामी हमारे श्रद्धेय हैं- परन्तु दुःख है कि वे भी वेद की शाखाओं को वेदों का व्याख्यानरूप मानते हैं । परन्तु यह हमारे विचारों में पौराणिक विचारों की भांति माननीय नहीं । इसी स्थल में श्री सत्यव्रतजी सामश्रमीने ऋषि दयानन्द की शाखासंख्या पर भी कुछ लिखा है—

'यदुक्तं पाताञ्जले पस्पशायां 'एकविंशतिधा बाहृच्यं एक शतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः नवधाथर्वणो वेदः तदेतत्संकलनयैवोक्तं स्यादिदं परिगणनमेकादशशतानीत्यादि परं तत्राऽपि किञ्चित् पार्थक्यं प्रतीयते ।'

अर्थात् ऋषि दयानन्द ने वेदशाखाओंकी संख्या ११२७ जो लिखी है, वह महाभाष्यके उपर्युक्त वचनाऽनुसार ही लिखी होगी, परन्तु महाभाष्यकार की संख्या से यह कम है, अर्थात् भाष्यकार की संख्या ११३० अथवा ११३१ प्रतीत होती है। इस पर हमें इतना ही लिखना है कि, ऋषि दयानन्द गणितशास्त्र के भी पण्डित थे, इसका उनके अनेक ग्रन्थों से पूर्ण परिचय मिलता है। अतः यह कल्पना करना कि, यहां योग करने में वे गलती कर गए; यह ठीक नहीं और अन्याय है। सम्भवतः कुछ शाखाओं को आर्ष शाखा न मान कर ऋषि ने ऐसा लिखा होगा। उदाहरणके लिये

यजुर्वेद की वर्तमान पांच शाखाओंमेंही ३ शाखाएं कृष्ण यजुर्वेदकी हैं और वे आसुरी शाखाएं होनेसे आर्य शाखाएं नहीं। कृष्ण यजुर्वेद, शुक्ल यजुर्वेद में बहुत अन्तर होने से एकही वेद की भिन्न भिन्न प्रकार की दो आर्य शाखाएं नहीं हो सकती। और ऋषि दयानन्द शाखाओंको वेदों का व्याख्यान मानते हैं, अतः सम्भवतः कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओंको वे शाखाही न मानते होंगे। वस्तुतः कृष्ण यजुर्वेद का नामकरण ही बतलाता है कि, इस के निर्माण पर द्राविड जाति का अधिक प्रभाव पडा है। इस पर अधिक आगे लिखेंगे।

सम्भवतः इसीलिए ही श्री विद्वद्वर्य सत्यव्रत सामश्रमीजीने ऐसा लिखने के बाद ही यह लिखा है। "अस्तु तत्तथैव" अथवा यह ठीक होगा।

श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी स्वामी दयानन्दजी को आचार्य कहते हैं। आपने आचार्यउपाधि से इनके अतिरिक्त अन्य किसी को भूषित नहीं किया।

उपर्युक्त प्रकार से शाखातत्त्व के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द के मत की आलोचना करके, वे पुनः समाधान करके मनःसन्तोष का प्रयत्न करते हैं, जिससे ऋषि के प्रति उनके किस प्रकार उच्च भाव हैं, यह पता चलता है—

"तदत्र सम्भाव्यते विमिश्रमन्त्रब्राह्मणयोस्तत एव वान्तप्रसिद्धयोः प्रथितयोस्तैतिरीयशाखीयसंहिता ब्राह्मणग्रन्थयोर्विशेषतस्तदारण्यकग्रन्थीयखिलकाण्डदर्शनादेव तस्याऽशेषशेमुषीसम्पन्नस्यापि स्वामिन एवं भ्रमः सञ्जात इति। अपिवा शाखातत्त्वानभिज्ञेन केनचित्तच्छिष्येण तत्रैवं स्याद् विनिवेशितमिति।"

(ऐतरेयालोचन पृ० १२६)

अर्थ- सम्भव है कि मन्त्रब्राह्मणरूप में मिश्रित- वान्त नाम से ख्यात तैत्तिरीय शाखा के संहिता- ब्राह्मणग्रन्थों के देखनेसे और विशेष कर आरण्य- ग्रन्थ के सारे खिल प्रकरण को देखने से ही निःसन्दिग्ध विचारवान् भी-सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र, अलौक विद्वान् भी- स्वामिजीको भ्रम हो गया होगा।

अथवा शाखातत्त्व के अनभिज्ञ किसी उनके शिष्यमहानुभाव ने पश्चात् ही उनके ऋग्भाष्य- भूमिका नामक ग्रन्थ में उस भाग को जोड दिया होगा। ऋषि के प्रति कितनी अपार श्रद्धा है !

श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी के ग्रन्थों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि, वे अपूर्व पण्डित हैं, प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। उनकी संस्कृत भाषा बडी मधुर और विचारगम्भीर है। इन्होंने एक प्रकार से ऋषि के पक्ष को पुष्ट ही किया है और आगे हम भी इस पर अधिक लिखेंगे। तात्पर्य, यह है कि ऋषि दयानन्द वेदों की विभिन्न शाखाओं को व्याख्यानरूप मानते हैं। ऋषि के विचार की पुष्टि के लिए मीमांसा का निम्न सूत्र उपस्थित किया जाता है।

"आख्याप्रवचनात्।" (मीमांसा)

अर्थात् काठक, कलाप, कौथुमीय आदि जो शाखाओं के नाम पड गए हैं, इसका कारण यही है कि कठ आदि ऋषियों ने वेद का जो व्याख्यान किया, उसे ही उस उस नाम से कहा जाता है।

भावाशय- इस प्रकार शाखातत्त्व के सम्बन्ध में पुराण, श्री सत्यव्रत सामश्रमी, ऋषि दयानन्द तीनों के आशयों को संक्षेप से लिखा है, अब इसी को विस्तार से लिखेंगे और अन्त में अपना विचार भी लिख कर इस निबन्ध को समाप्त करेंगे।

शाखातत्त्व और पुराण।

क- वेदव्यास और वेद की शाखाएं।

विष्णुपुराण में लिखा है—

वेदद्रुमस्य मैत्रेयशाखाभेदाः सहस्रशः।
न शक्तो विस्तराद् वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्॥१॥
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुनिः।
वेदमेकन्तु बहुधा कुरुते जगतो हितः॥२॥

वीर्यं तेजोबलञ्चाऽल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः ॥३॥

अर्थ- हे मैत्रेय ! वेदरूप वृक्ष की हजारों शाखाएं हैं। मैं उन्हें विस्तार से नहीं कह सकता, अतः संक्षेपसे ही मैं कहूंगा, तुम उसे सुनो।

प्रत्येक द्वापरयुग के प्रारम्भ में विष्णु भगवान् महामुनि व्यास का रूप धारण करके जगत् की हितभावना से एक वेद को अनेक भेदों में विभक्त कर देते हैं।

मनुष्यों के वीर्य, तेज और बल को अल्प समझ कर सब प्राणियों के हित से वेदके कई भेद कर देते हैं।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि, एक ही वेद के चार भेद किए गए हैं।

वायुपुराण।

इसमें भी इस सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है।
"वीर्यं तेजो बलं वाक्यम्।"

द्वापरे तु परावृत्तेः मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे।
ब्रह्मा मनुमुवाचेदं तद्बुध्यस्व महामते ॥१॥
परिवृत्ते युगे तात स्वल्प वीर्या द्विजातयः।
संवृत्ता युगदोषेण सर्वं चैव यथाक्रमम् ॥२॥
भ्रश्यमानं युगवशादल्पशिष्टं हि दृश्यते।
दशसाहस्रभागेन ह्यवशिष्टं कृतादिदम् ॥३॥
वीर्यं तेजो बलं वाक्यं सर्वं चैव प्रणश्यति।
वेदभेदा हि कार्याः स्युर्मा भूद्वेदविनाशनम् ॥४॥
वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति।
यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति ॥५॥
आद्यो वेदः चतुष्पादः शतसहस्रसंमितः।
पुनर्दशगुणः कृत्स्नो यज्ञो वै सर्वकामधुक् ॥६॥
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा मनुर्लोकहिते रतः।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः ॥७॥

अर्थ- स्वायम्भुव मन्वन्तरान्तर्गत द्वापरयुग में ब्रह्माजी मनुजीसे बोले। जो कुछ उन्होंने कहा, मैं वही तुम्हें सुनाऊंगा।-

युगों के परिवर्तन के साथ साथ ब्राह्मण भी स्वल्प शक्ति बोल रह गए, इसी प्रकार युगदोष से सभी में परिवर्तन आ गया।

यह मन्त्रभाग भी दस हजार मन्त्रात्मक अवशिष्ट है, जो कि बहुत अल्प है।

बल-वीर्य-तेज-वाक्य सब कुछ नष्ट हो जावेगा, अतः वेदों का [illegible]द करना चाहिये, जिससे कहीं वेदों का नाश न हो जाय।

वेद के नष्ट हो जाने पर यज्ञ का नाश अवश्यम्भावी है और यज्ञ के नाश से देवों का भी नाश हो जावेगा। अनन्तर सर्वस्व नष्ट हुआ, ऐसा निश्चय जानो।

प्रथम वेद चतुष्पादात्मक था। सौ हजार उसमें मन्त्र थे। उससे यज्ञ दशगुणा अधिक था। जब मनु से ब्रह्मा ने इस प्रकार कहा, तब उस बात को स्वीकार करके प्रजा के हित की भावना से प्रेरित होकर मनु महाराज ने चतुष्पाद एक ही वेद को चार भागों में विभक्त किया।

इससे भी यह प्रतीत होता है कि, प्रारम्भ में वेद एक ही था। पुनः चार भागों में विभक्त किया गया और भी उसी को अन्य भागोंमें शाखारूप में विभक्त किया गया।

आलोचना।

उपर्युक्त पुराणों के प्रमाणों से द्योतित यह विचार अशास्त्रीय है कि, सर्वप्रथम एक ही वेद था, वेद व्यास ने अथवा किसी अन्य मुनि-ऋषि ने उसे चार भागों में विभक्त किया। चूंकि वेदों से लेकर मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रंथ तथा सूत्रग्रंथों तक किसी ने भी इस सिद्धांत का पोषण नहीं किया। प्रमाण लीजिए—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥
(वेद)

यह मंत्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तीनों वेदों में आता है। इसमें चारों वेदों का निर्देश है।

बृहदारण्यक।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यत्।
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥

इत्यादि वेद और ब्राह्मण, तथा इसी प्रकार अन्य ग्रंथों से भी यह स्पष्ट है कि, प्रारम्भ से ही वेद चार संख्याओं में थे और परम प्रभुने अग्नि-वायु-सूर्य-अङ्गिरा ऋषियों के हृदय में उनका पृथक् पृथक् रूप में प्रकाश किया।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं मृग्यजुः सामलक्षणम्॥
(मनुः)

एक दृष्टि—

अतः पुराणों की यह बात कल्पनामात्र ही है। हां यदि वेद का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान समझा जाए, जैसा कि है भी, और उसकी एकता मान कर ऋग्-यजु- साम-अथर्व को उसके चार पाद समझे जाए, तो कोई हर्ज नहीं। सम्भव है प्रारम्भ में आर्यद्विज-चतुर्वेदी ही होते होंगे। महामुनि व्यास ने यह देख कर कि अब लोग अल्पबुद्धि हो गए हैं, चारों वेदों का ग्रहण नहीं कर सकते, अतः एक एक वेद के पठनेपठाने का आंदोलन किया होगा और वह सफल भी हो गया होगा। तब से उन्हें वेद व्यास कहा जाने लगा होगा। वास्तव में वेद व्यास किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं, ऐसा मेरा विचार है।

प्रत्येक युग में जो वेदों का विद्वान्, वेदों का अधिक पण्डित पारङ्गत हो, तथा वेदाध्यायी सभी द्विजों को वेद के सम्बंध में शिक्षा दे और भ्रम आदि दोषों से वेदों के परिणाम में जो दोष आ गए हों, उनका परिहार करे, अर्थात् वेदों की गुत्थियों का व्यास करे-खुलासा करे- उन्हें स्पष्ट करे-उसे ही वेदव्यास कहा जाता है। यदि ऐसा अर्थ किया जाए, तो पुराणों की उक्त कल्पना भी सत्य ही है।

जिस प्रकार पुराणों ने वेदों को चतुष्पाद् कहा है, इसी प्रकार ब्राह्मणों में एक मन्त्रराज का भी वर्णन है, उसे भी ब्राह्मणग्रंथों में चतुष्पाद् कहा गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद यही वेद उस मन्त्रराज के चार पाद हैं।

ऋग्यजुः सामाऽथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः।
सशाखाः सरहस्याश्चत्वारः पादा भवन्ति॥

इसी प्रकार यदि चतुष्पाद् वेद का भी अर्थ समझा जाए और मैं समझता हूं कि, पुराणकार ने भी ऐसा ही अर्थ लिया है, तो ठीक है। चतुष्पाद का अर्थ-वेद-के-ज्ञानके चार भाग होने से भी माना जा सकता है।

शाखाएं और ब्राह्मण।

ज्ञान—विज्ञान—कर्म-उपासना।

शाखाओं के सम्बन्ध में पुराणों का ऐसा ही विचार है, अर्थात् जिस प्रकार एक ही वेद के सर्वप्रथम चार भेद किये गए, उसी प्रकार आगे चलकर जब मनुष्यसमाज की शक्ति और क्षीण हो गई, तब चारों का भी और व्यासविस्तार कर दिया गया और उन्हें ही शाखाएं कहते हैं। अब पुराणों के इस विचार की भी विस्तृत आलोचना की जाती है। शाखासम्बन्धी कथाएं विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण में विशेष रूप से कही गई हैं।

ऋग्वेद का शाखाविभाग।

विष्णुपुराण ३।४।१६-२५। में ऋग्वेद के शाखा-विभाग में लिखा है।

बिभेद प्रथमं विप्र पैल ऋग्वेदपादपम्।
इन्द्रप्रमितये प्रादाद् बाष्कलाय च संहिते॥१६॥
चतुर्धा स बिभेदाऽथ बाष्कलिर्निजसंहिताम्।
बोध्यादिभ्योददौ तास्तु शिष्येभ्यः स महामुनिः॥१७॥
बोध्याग्निमाठरौ तद्वत् याज्ञवल्क्यपराशरौ।
प्रति शाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मुने॥१८॥
इन्द्रप्रमतिरेकां तु संहितां स्वसुतं ततः।

माण्डकेयं महात्मानं मैत्रेयाध्यापयत् तदा ॥१९॥
तस्य शिष्यप्रशिष्येभ्यः पुत्र शिष्यान् क्रमाययौ ।
वेदमित्रस्तु शाकल्यः संहितां तामधीतवान् ॥२०॥
चकार संहिताः पंच शिष्येभ्यः प्रददौ च ताः ।
तस्य शिष्यास्तु ये पंच तेषां नामानि वै शृणु ॥२१॥
मुद्गलो गालवश्चैव वात्स्यः शालीय एव च ।
शिशिरः पञ्चमश्चाऽऽसीत् मैत्रेयः सुमहामुनिः॥२२॥
संहितात्रितयं चक्रे शाकपूणिरथेतरम् ।
निरुक्तमकरोत्तद्वत् बलाकश्च महामतिः ॥२३॥
निरुक्तकृच्चतुर्थोऽभूद्वेदवेदाङ्गपारगः ।
इत्येताः प्रति शाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम॥२४॥
वाष्कलिश्चापरः तिस्रः संहिताः कृतवान् द्विज ।
शिष्यः कालायनिर्गार्ग्यस्तृतीयश्च कथाजवः ।
इत्येते बह्वृचा· प्रोक्ता संहिता यैः प्रकीर्तिताः ॥२५॥

भागवतपुराण ।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण ।

१ स्कन्ध, ४ अध्याय, २३ श्लोक में लिखा है—

त एव ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥

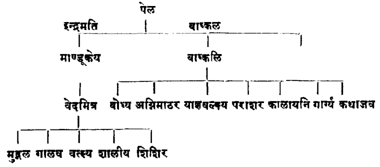
अर्थ— इन ऋषियों ने अपने अपने वेद का अनेक प्रकार से व्यास अर्थात् विस्तार किया। इसी प्रकार उन ऋषियों के शिष्यों‌प्रशिष्यों और उनके शिष्योंने वेदव्यास किया है और इसी कारण वेदवृक्ष-शाखी-अर्थात् अनेकों शाखाओंवाले- हो गये।

विष्णुपुराण की ही शिष्यपरम्परा और शाखा-भेद का वर्णन भागवतपुराण ने भी स्कन्ध १२, अध्याय ६ में किया है—

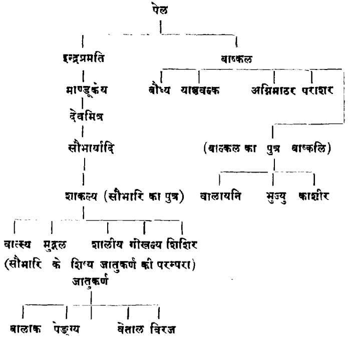
पैलः स्वसंहितामूचे इन्द्र प्रमितये मुनिः ।
वाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम् ॥१॥ चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव । पराशरायाग्निमाठरायेन्द्र प्रमतिरात्मवान् ॥२॥ अध्यापत् संहितां स्वां माण्डुकेयमृषिं कविम् । तच्छिष्यो देवमित्रश्च सौभार्यादिभ्य ऊचिवान् ॥३॥ शाकल्यस्त-त्सुतः स्वां तु पंचधा व्यस्य संहिताम् । वा-त्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ॥४॥ जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः स निरुक्तां स्व-संहिताम् । बलाकापैङ्ग्यवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५॥ वाष्कलिः प्रतिशाखाभ्यो वालखिल्याख्यसंहिताम् । चक्रे वालाय निर्भुज्य काशीरश्चैव तां दधौ ॥६॥ बह्वृचाः संहिता ह्येता एतैर्ब्रह्मर्षिभिः कृताः । श्रुत्वैतं छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥७॥

विष्णुपुराण और भागवतपुराणके शाखा-तत्त्व को स्पष्ट करनेके लिये उपर्युक्त श्लोकों का निम्न प्रकार से अध्ययनपरम्पराप्रदर्शनद्वारा समझते हैं ।-

विष्णुपुराण ।



सारणी में भागवतपुराण के शाखातत्त्व का अर्थ-



यजुर्वेद का शाखातत्त्व।

विष्णुपुराण में वाजसनेय व मैत्रायणीय-चरक शाखाओं के निम्न नाम उपलब्ध होते हैं।

वाजसनेय शाखा	मैत्रायणीय	चरक
१. वाजसनेय	मानव	चरक
२. जाबाल	वाराह	कठ
३. बौधायनीय	दुन्दुभ	प्राच्य कठ
४. काण्व	छागेय	कपिष्ठल काठ
५. माध्यन्दिन	हारिद्रवीय	श्वेताश्वतर
६. शापेय	श्यामापनीय	मैत्रायण
७. कपाल	श्याम	
८. पौण्डव		
९. रसारविक		
१०. परमारविक		
११. पारावर		
१२. नमद्र		
१३. बौधेय		

इसी प्रकार वायुपुराण में भी भिन्न भिन्न शाखाओं के भेद आदि का वर्णन प्राप्त होता है। अधिक विस्तार के भय से लिखना उचित नहीं समझा।

सामवेद।

सामवेद की परमम्परा को विष्णुपुराण में निम्न प्रकार से लिखा गया है—

सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः ।
क्रमेण येन मैत्रेय विभेद श्रृणुतन्मम ॥१॥

सुमन्तुस्तस्य पुत्रोभूत् सुकर्माऽस्याप्यभूत्सुतः ।
अधीतवन्तावेकैकां संहितां स महामुनी ॥२॥

सहस्रं संहिताभेदं सुकर्मा तत्सुतस्ततः ।
चकार तं च सच्छिष्यौ जगृहाते महाव्रतौ ॥३॥

हिरण्यनाभिः कौशल्यः पौष्यञ्जिश्च द्विजोत्तमः ।
उदीच्याः सामगाः शिष्या. तस्य पञ्चशताः स्मृताः॥४॥

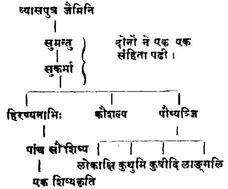
हिरण्यनाभात्तावत्यः संहितायैर्द्विजोत्तमः ।
गृहीतास्तेपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः॥५॥

लोकाक्षिः कुथुमिश्चैव कुषीदिर्लाङ्गलिस्तथा ।
पौष्यंजिशिष्याद् भेदाः संहिता बहुलीकृताः ॥६॥

हिरण्यनाभः शिष्यश्च चतुर्विंशति संहिताः ।
प्रोवाच कृतिनामाऽसौ शिष्येभ्यस्तु महामतिः ।
तैश्चाऽपि सामवेदोऽसौ शाखाभिर्बहुलीकृतः ॥७॥

विष्णुपुराणे ।

सारणी में विष्णुपुराणोक्त सामवेद के शाखा-भेद—



उसने शिष्यों को इक्कीस शाखाओंका उपदेश किया ।

इस प्रकार सामवेद की अनेकों शाखएं हो गईं ।

अथर्ववेद ।

विष्णुपुराण में–

अथर्वणामथो वक्ष्ये संहितानां समुच्चयम् ।
अथर्ववेदं स मुनिः सुमन्तुरमितद्युतिः ॥१॥

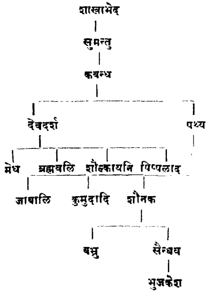
शिष्यमध्यापयामास कबन्धं सोऽपि तं द्विधा ।
कृत्वा तु देवदर्शाय तथा पथ्याय दत्तवान् ॥२॥

देवदर्शस्य शिष्यास्तु मेधो ब्रह्मबलिस्तथा ।
शौल्कायनिःपिप्पलादस्तथान्यो द्विजसत्तमम्॥३॥

पथ्यस्याऽपि त्रयः शिष्याः कृतायैर्द्विजसंहिता ।
जाबालिः कुमुदादिश्च तृतीयः शौनको द्विजः॥४॥

शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकां तु बभ्रवे ।
द्वितीयां संहितां प्रादात् सैंधवाय च संज्ञिने॥५॥

सैन्धवमुञ्जकेशाभ्यां भिन्नो वेदो द्विधा पुनः ।



इस प्रकार पुराणोक्त मतानुसार वेदोंके व्यासको लिखकर इस पर विचार करना चाहिए। उपर्युक्त पुराणवचनोंसे प्रतीत होता है कि, वेदकी शाखाएं वृक्षकी शाखाओं की तरह हैं, अर्थात् जिस प्रकार एक ही वृक्ष की १०० शाखाएं पूरा वृक्ष नहीं अपितु वृक्ष के अवयव हैं। इसी प्रकार वेद भी वस्तुतः एक था। वेदव्यास आदि ने उसे भागों में विभक्त किया, जिनका नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद पडा।

तदनन्तर जब मनुष्यों की बुद्धि और और भी क्षीण हो गई और वे एक एक वेद को स्मरण करने तथा समझने में असमर्थ हो गए, तब ऋषियों ने अपने पुत्रों और शिष्यों में उसके भाग कर करके बांट दिये। जिससे कि सम्पूर्ण संहिता सुरक्षित रह सके। जिस प्रकार वर्तमान काल में एक गुरु देखता है कि, मेरे शिष्य इतने योग्य नहीं है कि, मेरी सारी विद्या का ग्रहण कर सकें, अतः वह अपनी विद्याओं में से दर्शनविद्या एक शिष्य को तथा व्याकरणविद्या दूसरे को तथा इतिहासज्ञान तीसरे को, इसलिए दे दे कि मेरी विद्या का सम्प्रदाय किसी प्रकार विच्छिन्न न हो जाये, उसी प्रकार वेदों की शाखाएँ भी अर्थात् एक ही वेद का बहुधा विभाग भी इसी-लिये किया गया कि, किसी प्रकार वैदिक सम्प्रदाय का विच्छेद न हो जाए।

उपर्युक्त पुराणों के उद्धरणों से इस बात का यद्यपि भले प्रकार से ज्ञान हो जाता है कि, पुराणों का यही अभिप्राय है, तथापि मैं कुछ प्रतीक दे कर इस को स्पष्ट कर देना चाहता हूं-

(क) 'त एत ऋषियो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।' (भागवतपुराण)

इन ऋषियों ने अपने अपने वेद का बहुत रूप से व्यास-विस्तार-विभाग किया।

(ख) एकविंशति भेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।
भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः॥

उसने ऋग्वेद के इक्कीस खण्डभेद किये। जिस प्रकार एक ही पुराण के अठारह भेद उसने किये।

नोट- इससे यह भी प्रतीत होता है कि, जिस प्रकार पुराणों का एक ही कर्ता है, इसी प्रकार वेदों की अनेकों शाखाओं का निर्माण भी एकही ने किया है। और यह तब सम्भव है, जब शाखाअर्थ उपर्युक्त ही लिया जाये।

(ग) शौनकस्तु द्विधा कृत्वा ददावेकन्तु बभ्रवे। (विष्णुपुराण)

शौनक ने एक ही संहिता के दो भेद खण्ड करके एक बभ्रु को और दूसरी सैन्धव को दे दी।

(घ) तैश्चाऽपि सामवेदोऽसौ शाखाभिः बहुलीकृतः। (विष्णुपुराण)

उन शिष्योंने भी शाखाओं से एक ही सामवेद को बहुत कर दिया, अर्थात् बहुत भागों में विभक्त कर दिया।

परन्तु ऊपर हम बता आये हैं कि, पुराणों की यह बात मान्य नहीं हो सकती कि, सर्वप्रथम आदि-सृष्टि में वेद एक ही था। ईश्वर ने भी एक ही वेद का ज्ञान ऋषियों के हृदय में दिया। क्योंकि स्वयं वेद यह बात बतलाते हैं कि, हमारा निर्माण चतुर्धा हुआ है। व्यास ने वेदों का चतुर्धा भेद नहीं किया। ब्राह्मण और उपनिषदादि आर्षग्रन्थ भी इसी की साक्षी देते हैं।

२- शौनक की अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है-

' गौतमादौशिजः कुत्सः। '

इसकी टीका करते हुये षड्गुरुशिष्यने लिखा है-

" अथ वाष्कलकेऽस्य विशेषमाद्यमण्डले आह- उपप्रयन्तो नासत्याभ्यां अग्निं होतारं इमं स्तोमं वेदिषद् इति वाष्कलकः क्रमः। उपप्रयन्त इमं स्तोमं नासत्याभ्यां अग्निं होतारं वेदिषद इति शाकलकः क्रमः अथैवमुक्तेरुत्तर मण्डलनवके न क्रमः विपर्यस्त। इति। "

इस टीकाकार ने बताया कि शाकल, वाष्कल

शाखाओंमें प्रथम मण्डल में कुछ भेद हैं। परन्तु आगे के नौ मण्डलमें कुछ भी भेद नहीं। इससे पता लगता है कि, उनके विचारानुसार शाखाएं वेद का भाग नहीं, अपितु वेद ही हैं। इससे भी पता चलता है कि, पुराणोक्त शाखातत्व माननीय नहीं।

३- महामुनि वेदव्यास ने छोटासा चरणव्यूह नामक ग्रन्थ भी लिखा है। उसमें एक स्थान पर कहा है-

'तेषामध्यायाश्चतुः षष्ठिः।'

अर्थात् उन शाखाओं के ६४ अध्याय हैं। इस के टीकाकारने भी लिखा है—

" तेषामाश्वलायनादिशाखानां समानाध्ययनं सूच्यते इति। "

अर्थात् इससे पता चलता है कि, उन " आश्वलायन " आदि शाखाओं का अध्ययनक्रम एक जैसा है।

इससे भी प्रतीत होता है कि, पुराणों का विचार मान्य नहीं।

४- कौषीत की आरण्यकवंश ब्राह्मणमें कहा है-

" अथ वंशो नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो-

गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्माभि. स्फीतं गुणाख्याऽ-शाङ्खायनः कहोलात्। "

अर्थात् अब वंश ब्राह्मण का आरम्भ करते हैं-

प्रभुको नमस्कार करके तथा आचार्यों को नमन करके—

गुणाख्या शाङ्खायन से हमने पढा है। गुणाख्य शांखायन ने कहोलसे पढा था।

इन्हीं शाङ्खायन के नाम से ऋग्वेद की एक शाखा शाङ्खायनी भी हो गई थी और वह बहुत प्राचीन शाखा है। आश्चर्य है, विष्णुपुराण और भागवतपुराण दोनों में इस का संकेत तक भी नहीं किया गया।

इससे भी पुराणोक्त विचार अमान्य है। यह सिद्ध होता है।

५- एक और भी बात है, यदि भिन्न भिन्न शाखाएं भी वेदों के भाग हैं, अध्याय हैं। तब तो सारे वेदों का अथवा एक ही वेद का अध्ययन सारी आयुभर तथा विशेषकर नियत समय में तो असम्भव ही है। परन्तु स्मृत्यादि इसके विरुद्ध कह रही हैं-

'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्य.।' (मनुस्मृति २-१६५)

अर्थात् सारा वेद पढना चाहिये। इस प्रकार पुराणों के विचारानुसार तो सामवेदियों के लिए अपनी आयुभर भी सहस्र शाखा के सामवेद का अध्ययन असम्भव है। परन्तु मनु ने लिखा है कि, प्रत्येक वेद को १२ साल में समझ कर लेना चाहिये।

'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।' (३।१)

और भी कहा है-

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्। (३।२)

अर्थात् चार, तीन, दो अथवा एकही वेद पढकर के ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। इससे प्रतीत होता है, पौराणिक विचारमन्वादि धर्मशास्त्रों के भी सर्वथा विपरीत हैं।

६- पुराणोक्त शाखातत्व के अमान्य होने में यह भी प्रमाण है कि, पुराणकारों ने ऋषियों के नाम भी बहुत अशुद्ध लिखे हैं। बाष्कल को बाष्कलि आदि।

७- वेदों की शिष्यपरम्परा के सम्बन्ध में वायु-पुराण, भागवतपुराण, विष्णुपुराण आदि में ऐकमत्य भी नहीं है।

इससे प्रतीत होता है कि, पुराणोक्त शिष्यपरंपरा विचारपूर्वक नहीं लिखी गई। पौराणिकों का यह भी विचार है कि, सभी पुराण एक ही वेदव्यास भगवान् के बनाये हुए हैं। परन्तु उपरोक्त शिष्य-परम्परा के अध्ययन से प्रतीत होता है कि, यह विचार भ्रममूलक है। एक ही के बने होने पर इतना भेद नहीं हो सकता।

८- उपर्युक्त उद्धरण से यह भी पता चलता है कि, पुराणकार को केवल एक ही निरुक्तकार शाकपूणिका पता है। यास्क आदि का उसे बोध नहीं था। शाकपूणिका भी वास्तविक नाम शाकपूणि है, शाक-

पूर्ण नहीं। इसे सभी विज्ञ जानते हैं। इससे निश्चित ही है कि, पुराणों का शाखातत्वविषयक विचार आत्मविडम्बनामात्र ही है। वेदादि सच्छास्त्रों और प्रत्यक्षतः भी इसकी अमान्यता सिद्ध होती है। वर्तमान समय में भी जो शाखाएं उपलब्ध होती हैं, उनके दर्शन से भी यही प्रतीत होता है कि, शाखाएं भी वेद ही हैं। उनमें बहुत थोडा थोडा भेद जान पडता है। इसलीये पौराणिकों का यह मत है कि, "वेदांशाः शाखाः" शाखाएं वेद का अंश है, सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। अतः अमान्य है, यह सिद्ध हुआ।

पौराणिक विचारों की संगति।

एक प्रकार से पुराणों के उपर्युक्त विचार की भी संगति की जा सकती है। क्योंकि मैं मानता हूं कि, पुराणों में बहुत कुछ उपादेय अंश है। सम्भव है, पुराणों का बहुत कुछ अंश बहुत पुराना न हो। बहुत पुराण एकान्ततया अनुपादेय नहीं हैं। अब भी पुराणों से वेदार्थ करने में बहुत सहायता मिलती है। इस बात को तो स्वीकार करना ही चाहिये। भवतु।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वेदव्यास का अर्थ वेदों का अपूर्व पण्डित है। वह किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं। ऐसे वेदव्यास प्रत्येक युग में हुआ करते हैं। और वैदिक प्रतिष्ठा को स्थापित कर जाते हैं। ऐसा मान लेने पर शाखाएं वेदांशरूप हैं। इस का यह अर्थ हुआ कि, प्राचीन काल में सभी आर्य चारों वेद पढते थे, पश्चात् एक वेद के पढने की परिपाटी तत्कालिक किसी वेदव्यास ऋषि ने चलाई। आगे चल कर सारे वेदों के भी पण्डित लोग कम हो गये, तब कुछ कुछ अंशों के ऋषि होते थे। अर्थात् जहां पहिले एक एक वेद के सब ऋषि होते थे, वहां आगे चलकर एक एक मण्डल अथवा अध्यायके ऋषि होने लगे और आगे चलकर इससे भी कम वेदांश के ऋषि होने लगे। इसी का नाम वेदों का विभाग करना है। इसी प्रकार विभाग करते करते ही वेदों के अध्याय, मण्डल, अनुवाक, सूक्तादि विभाग बने, जो कि आजकल वेदसंहिताओं पर निर्दिष्ट हैं। यह विभाग आदिसृष्टि में नहीं था। ऋषियों ने सुविधानुसार इसका निर्माण किया है। यदि वेदांशरूप शाखातत्व का यही अर्थ है, तो मेरे विचार में यह युक्तियुक्त है। परन्तु यदि शाखाएं जो वर्तमान समय में उपलब्ध होती हैं, उन से अभिप्राय है। तो वे वेदांश नहीं हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, प्रमाणसिद्ध और युक्तिसिद्ध है।

पुराण और सत्यव्रत सामश्रमी।

पुराण एकदम अनुपादेय नहीं है, ऐसा विचार हम ऊपर लिख आये हैं।

आचार्य दयानन्दने पुराणों को मधुविषसम्पृतान्नवत् त्याज्य माना है। सम्भवतः ऋषि ने वेद की ओर प्रवृत्ति कराने के लिये ही ऐसा कहा होगा। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि, वर्तमान पुराण-ग्रन्थ सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। श्री सत्यव्रतजी सत्याश्रमी एक निष्पक्षपाती विद्वान् हुये हैं, उनके पुराणों के सम्बन्ध में क्या विचार हैं? संक्षेप से इसे लिख देना भी अनुचित न होगा।

(क) ऐतरेयालोचन पृ० १६, प्रकरण द्वितीय-

" विश्वामित्रस्याऽस्य जन्मतः क्षत्रियत्वं वसिष्ठ-धेनुः प्रार्थनम्, तदलाभात् तच्छतपुत्रनाशनम्, ततस्तपःप्रभावात् ब्राह्मणत्वलाभ इति। पौराणिकी कथाऽपि स्यादन्योपयोगित्वेनादरणीया, किन्तु सा नूनमामूलकल्पितैव न स महर्षिः कदाप्यासीत् ब्राह्मणः नाऽपि कदाऽपि तेन वसिष्ठस्यधेनुप्रार्थनं कृतम् न च तच्छतपुत्रनाशस्तथाविधस्य महर्षेः कथमपि युज्यते? नैव स तपःप्रभावाद् ब्राह्मणत्वमभ्येति सर्वमेवेदमसङ्गतमनृतं क्व: पौराणिकानाम्। वेदमूलकत्वाभावाद् अंशशो वेदविरुद्धत्वाच्चेति वेदानुशीलिनां सुविदितमेवेति दिक्।

अर्थ- विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय था। उसने वसिष्ठ से धेनु की प्रार्थना की, उसके प्राप्त न होने से विश्वामित्र ने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मार डाला और पुनः तपस्या के प्रभाव से ब्राह्मण हो गया। यह पौराणिक कथा भी यद्यपि गुणकर्मानुसारिणी

वर्णव्यवस्था है, इस बात की पुष्टि के लिये प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु यह सर्वथा गप्प है और कल्पित है। वह महर्षि कभी ब्राह्मणेत्तर नहीं था और नहीं कभी उसने वसिष्ठ ऋषि से धेनु की प्रार्थना की और नही यह कभी सम्भव है कि उस प्रकार का महर्षि वसिष्ठ के सौ पुत्रों का वध करे। और नहीं वह पुनः तपप्रभाव से ब्राह्मण हुआ है।

वस्तुतः पौराणिकों का यह कथन सर्वथा असंगत और असत्य है। अतः यह वेदमूलक नहीं, अपितु वेदविरुद्ध है। इस बात को वेदपाठी विद्वान् भले प्रकार से जान सकते है।

इससे प्रतीत होता है कि श्री सामश्रमीजी पुराणों को प्रामाणिक ग्रन्थ नही मानते। यहां प्रसंगशः पाठकों को इतना संकेत कर देना भी अनुचित न होगा कि श्री सामश्रमीजी वर्णव्यवस्था को गुण-कर्मानुसारिणी ही मानते हैं। अतः विश्वामित्र की उपर्युक्त कथा को भी वे अपने पक्ष की पुष्टि में उपस्थित कर सकते थे। परन्तु पौराणिक होने से अविश्वस्त जानकर उन्होंने उसकी उपेक्षा की है। उपर्युक्त उद्धरण का यही आशय है।

(ख) "विलीयेत च तदा वेदांशा शाखा इति पौराणिकं मतं सूर्योदये यथाऽन्धकारः प्रत्यक्षदृश्यं ह्येतत्।" (ऐतरेयालोचन पृ. १२३)

अर्थ- शाखाएं वेद का अंश है। ऐसा पौराणिक विचार नष्ट हो गया, ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है।

श्री सामश्रमीजी ने यहां भी पौराणिक विचारों को अन्धकार की उपमा दी है। जिससे उनकी अप्रामाणिकता की ध्वनि होती है।

(ग) 'अथाऽस्य देवराजयज्वनो व्याख्यानशैलीत्व-जटिलेति प्रशस्यैव विपश्चिताम्।'

परं पौराणिकमतप्रबलकालप्रभवत्वादस्य बहुत्रैव पौराणिकमताऽनुसृता अपि व्याख्या सन्दृश्यते।
तद् यथा—

(क) 'पञ्चाशत् कोटियोजनविस्तीर्णेति पृथिवी।' १।१।११

(ख) पर्वतोऽपि पक्षच्छेदात् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति स्म।

(१।१०।११ निरुक्तालोचन पृ. २७७)

अर्थात् श्री देवराज यज्वा की व्याख्यानशैली सरल है। अतः उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। परन्तु उसकी व्याख्या पर पौराणिक मत का प्रबल प्रभाव है। अतः उस के निघण्टुव्याख्यानमें पौराणिक मतानुसारिणी भी व्याख्या बहुत स्थलों पर है। उदाहरण के लिये—

(क) पृथ्वी पचास करोड योजन लम्बी है।

(ख) पहाड भी पंख काटने से पूर्व आकाश में उडते थे। आदि आदि।

इससे भी प्रतीत होता है कि, पुराणों को श्री सामश्रमीजी प्रमाणिक नहीं मानते। इस प्रकार पुराणों को काव्य की दृष्टि से तथा अन्य दृष्टियों से भी उपादेय मानते हुये, हम उन्हें निभ्रान्त नहीं मान सकतें। ऋषि दयानन्द का पुराणों के विरुद्ध किया गया आन्दोलन इसी अभिप्राय से है। हमारे विचारों से तो पुराणनामक प्राचीन ग्रन्थ की शैली पर ये नवीन पुराण बने हैं, इनमें बहुत कुछ मिलावट भी हो गई है। वेद का अर्थ करते हुए, इनका अध्ययन भी काम आता है। विशेषतः वैदिक आख्यानों की व्याख्या के अवसर पर।

वेद की शाखायें, वेदवृक्ष की शाखायें हैं। और पुराणों का विचार तो अग्राह्य है, प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वर्तमान उपलब्ध होनेवाली शाखायें वेद का भाग न होकर पूरा वेद हैं। जहांतहां अपाततः भेद अवश्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार पुराणोंके शाखातत्वविचारकी समीक्षा करके हम नवीन विचार पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

१. शाखातत्त्व और नवीन विचार।

ऊपर शाखातत्व के सम्बन्ध में श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी के विचार उनके ग्रन्थके उद्धरणसहित

लिखे गये हैं । संक्षेप से उनके विचारानुसार उनके मन्तव्य की पोषक युक्तियां निम्न प्रकारसे हैं-

(१) प्राचीन काल में लिपि न थी; अतः वेद भी अनुश्रुव ही कहलाते थे। अर्थात् वेदों को सुना ही जाता था, पढा नहीं। इसीलिये आगे चलकर मूल संहिताओं में कुछ भेद होता गया। यही भेद शाखा-भेद का कारण है।

(२) देशकालादि के भेद से भी मूल संहिताओं में भेद होना आवश्यक है।

(३) आचार्यों के प्रकृतिभेदसे भी संहिताओं में भेद आ जाना आवश्यक है।

(४) अध्ययनक्रमके भेदसे-मूल संहिता के पाठ की न्यूनाधिकता से और यज्ञादि के अनुष्ठानभेद से शाखाओं में भेद हुआ है।

अब क्रमसे इन युक्तियों पर विचार करना है कि, यह कहांतक उचित और मान्य हैं। इन युक्तियों पर विचार करने से पूर्व हम यह लिखना आवश्यक समझते हैं कि, पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारकों में यह भेद क्यों है? भेद का मूलतत्व क्या है?

मूलविचार में भेद ।

नवीन विचारकों और पुरातन विचारकों में अथवा वर्तमान नव्य ऋषियों और पुराने ऋषियों में मुख्य विचारभेद ही है। नवीन विचारक मानते हैं कि, सब बातों का विकास हो रहा है, अर्थात् भाषा, ज्ञान, सभ्यता आदि सभी मनुष्यसम्बन्धी बातें विकास का परिणाम हैं। इतना ही नहीं, पाश्चात्य विचारक तो यह भी मानते हैं कि, मानवजगत् में ही नहीं जडचेतन सभी प्रकार के विश्व में विकास का क्रम काम कर रहा है। उनके विचारानुसार तो मनुष्य भी क्रमिक विकास का ही परिणाम है। यद्यपि विकासवादियों में इस विकास के सम्बन्ध में एकता नहीं कि, मनुष्य वानर अथवा वनमनुष्य का ही विकास है। अथवा वानर मनुष्य का विकास है। तात्पर्य यह है कि, विकासवाद का पाश्चात्य विचारकों पर अथवा उसी ढंग के विचार करनेवाले भारतीय विद्वानों पर गहरा प्रभाव पडा है।

हम यह मानते हैं कि, प्राचीन आर्य भी विकास-वाद को मानते थे और हम भी मानते हैं। परन्तु इन दोनों विचारों में मौलिक भेद है। नवीन विचारों के विद्वान् उपर्युक्त विकासवादके सिद्धान्तानुसार मानवीय भाषा-ज्ञान-लिपि आदि सभी को क्रमिक विकास का परिणाम मानते हैं। परन्तु प्राचीन ऋषि तथा उनके विचारानुसारी भारतीय ऐसा समझते हैं कि, आदिम भाषा और ज्ञान अपौरुषेय है। अर्थात् सृष्टि के आदिमें परम पिता परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा द्वारा उस ज्ञान तथा भाषा को दिया, जिसे वेदज्ञान तथा वैदिक भाषा कहते हैं। प्राचीन विचारकों का ऐसा भी सिद्धान्त है कि, वेद-ज्ञान ही पूर्ण है और वेदमें सब सत्य विद्याएं साक्षात् अथवा परम्परासे आ गई हैं। संसार की सभी सच्चाइयां वेद से गयी हैं।

इसी प्रकार भाषा के सम्बन्ध में भी प्राचीन विचारकों का ऐसा निश्चय है कि, आदिम भाषा क्रमिक विकास का परिणाम नहीं, अपितु आदिम भाषा भी ज्ञान की भान्ति अपौरुषेय अथवा ईश्वर-प्रदत्त है। भाषा और ज्ञानका अभेद अथवा अति निकट सम्बन्ध है। महाकवि कालीदास ने रघुवंश के आरम्भ में कहा है कि-

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ।" अर्थात् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। महाभाष्य में लिखा है—

" सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे।"

अर्थात् शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थका सम्बन्ध तीनों नित्य है- सिद्ध हैं। शब्दार्थ का सम्बन्ध ज्ञानतारूप, ज्ञानरूप ही है। भाव यह है कि भाषा के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये गूंगे और बहिरे को ज्ञान नहीं होता। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में यह मुख्य भेद है कि, मनुष्य का ज्ञान और भाषा स्वाभा-विक नहीं, नैमित्तिक है। जिस प्रकार कुत्ते का बच्चा बिना सिखाये ही नदी में अथवा जल में डाल देनेपर तैरने लग जाता है और बोलनेयोग्य होने पर बोलने लग जाता है, इस प्रकार मनुष्य का बच्चा नहीं

करता । तात्पर्य यह है कि, मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अतः भाषा और ज्ञान की समाजद्वारा ही किसी के संसर्ग से आते हैं, स्वाभाविक नहीं । इस नियम के अनुसार प्रारम्भ सृष्टि में चाहे वह तिब्बत में हुई हो, उत्तरी ध्रुव में हुई हो, अथवा भारतवर्ष में ही हुई हो, जो भी आदिम मनुष्य उत्पन्न हुये उनमें भी ज्ञान और भाषा नैमित्तिक ही आये, अर्थात् किसी अन्य मनुष्यद्वारा उनमें ये गुण आये । स्वभावतः विकास के अनन्तर नहीं, ऐसा आर्यों का विश्वास है । इस सम्बन्ध में आर्यों का यह भी विश्वास है, क्योंकि परमात्मा मनुष्यों को उनके शुभाशुभ कर्मानुसार पापपुण्य का अच्छा और बुरा फल देता है और परमात्मा को ऐसा करने का तत्व न्यायानुसार अधिकार न होना चाहिये, जबतक कर्तव्य की विधि और अकर्तव्य का निषेध ने मनुष्यों को न बता दें । अर्थात् जबतक धर्म की चोदना न कर दें और ऐसा करना आदिसृष्टि में ही उचित है और यह आदिज्ञान पूर्ण ही होना चाहिये, क्योंकि प्रभु भी पूर्ण है और अपूर्ण होने का कोई प्रयोजन भी नहीं हो सकता । कुछ भी हो, इतना माने विना तो कोई चारा नहीं कि, आदिम ज्ञान विकास का परिणाम नहीं । यदि ज्ञान भी विकास का परिणाम है, ऐसा माना जाये, तो इसके अनुसार अफ्रिका के जंगली मनुष्यों में उसके परिणाम दृष्टिगोचर होने चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं है । इस प्रकार के असभ्य पुरुषों ने आजतक असंख्यों वर्षों में (जबतक कि वे आर्यों से पृथक् हो कर भिन्नभिन्न स्थानों पर आ बसे) कुछ नैमित्तिक ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिये थी, परन्तु अबतक वह स्वाभाविक खाना-पीना-सोना आदि ज्ञानके अतिरिक्त-आयुर्वेद-वास्तुविद्या, काव्य आदि कलाओं से पूर्ववत् सर्वथा अनभिज्ञ ही है। अतः आदिम ज्ञान भी विकास का परिणाम नहीं, अपितु नित्य अपौरुषेय ही है ।

भाषा ।

इस प्रकार भाषा भी क्रमिक विकास का परिणाम नहीं । प्राचीन पुरुषों ने संकेत आदि से कार्य का निर्वाह न होते देखकर ही भाषा का निर्माण किया। ऐसा कथन तो युक्ति के विपरीत है। संकेतों का निर्धारण करना तो भाषा के अनन्तर की चीज है। जबतक कि भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियों का ही उत्पादन नहीं हुआ, तबतक संकेतों का किस प्रकार निर्माण होगा ।

उदाहरण के लिये- हम यह सोचते हैं और निश्चय करते हैं कि, आज से खास पदार्थ को " हुश शब्द " से पुकारेंगे । इसी का नाम संकेत है। परन्तु जबतक (ह. उ. श.) इन ध्वनियों का निर्माण नहीं हुआ, तबतक संकेत किस प्रकार होगा और फिर संकेत निर्धारित करने के लिए भी तो भाषा की आवश्यकता होगी। मनुष्य तो ध्वनियोंका निर्माण भी समाज से ही सीखता है। ऐसा अकबर आदिने परीक्षाद्वारा निर्धारित किया है। यदि भाषा के सम्बन्ध में यह कहा जाये कि, कौवा आदि पक्षियों और पशुओं की ध्वनियां सुनकर ही आदिम मनुष्यों ने " क " आदि भिन्न ध्वनियों का निर्माण किया ।

तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पहिले तो कोई भाषा बोल नहीं सकता, जब तक उसे उस ध्वनि के उच्चारण का अभ्यास नहीं हुआ अथवा बचपन उसने उस ध्वनि को अनेकों बार नहीं सुना । जिस प्रकार अर्वी भाषा में ' त ' की ध्वनि नहीं होती और मैंने देखा है कि, अरब के मनुष्य ' त ' की ध्वनि उच्चारण नहीं कर सकते। जिस प्रकार अङ्ग्रेज भी ' त ' को ' ट ' ही बोलते हैं। और यदि कहा जाय कि, पक्षियों की 'कांव कांव ' आदि ध्वनि सुनते सुनते आदिम मनुष्य ऐसे ही बोलने लग गए होंगे, तो हम कहेंगे कि यह भी ठीक नहीं—

एक ही पक्षी के उच्चारण को एक रूपसे नहीं समझा जाता जिस प्रकार कुक्कुट (मुर्गे) की आवाज को हम ' कुकड़ूं कुड़ूं ' समझते हैं, इसी प्रकार इङ्गलिस्तान के वासी उसे ' डाडिलडू ' समझते हैं। अतः इससे भी कुछ निश्चय नहीं हो सकता, जिस प्रकार बाजे की एक स्वर से नाना भाषा और

ध्वनियोंवाले गीत गाए जा सकते हैं, उन गीतों को न जाननेवाला मनुष्य उनसे गीत की ध्वनियों को नहीं जान सकता, उसी प्रकार किसी भाषा को न जाननेवाला मनुष्य भी इन पशुपक्षियों की ध्वनियों से किसी प्रकार भी भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह मानना चाहिये कि आदिम भाषा भी अपौरुषेय ही है। पाश्चात्य इस सिद्धांत को इसलिए भी नहीं मान सकते, क्योंकि वे ईश्वर को नहीं मानते, अतः वह इस बात को तो सम्भावना भी नहीं कर सकते कि, ज्ञान और भाषा भी ईश्वरीय हो सकते हैं। परन्तु उपर्युक्त रीति से यह सिद्ध हो सकता है कि, आदिम भाषा क्रमिक विकासका परिणाम नहीं।

ज्ञान की पूर्णता।

क्योंकि आदिम ज्ञान और भाषाविकास का परिणाम नहीं, अतः आर्यों का यह भी विश्वास है कि, आदिम भाषा और ज्ञान भी पूर्ण हैं, क्योंकि वे ईश्वरीय हैं और ईश्वर पूर्ण है। अब हमें यह विचार करना चाहिये कि, वह आदिम भाषा और ज्ञान कौनसे हैं।

आदिम भाषा।

भाषाओं के विकास में यह मुख्य नियम होता है कि, देशकालअवस्थादि के अनुसार मूल भाषा को कम करके अन्य भाषा की उत्पत्ति करली जाती है- इस नियम के अनुसार तो वही भाषा मूल होनी चाहिये, जो सबसे अधिक उच्चारणोंवाली हो और इस प्रकार आदिभाषा वैदिक भाषा ही सिद्ध होती है, चूंकि सब भाषाओं से अधिक उच्चारण उसी में ही हैं।

इस से यह प्रतीत होता है कि, वह पूर्ण भी है और ऊपर जो आर्यों का यह सिद्धान्त बताया है कि, आदिम भाषा पूर्ण भी है, क्यों पूर्ण ईश्वर से उसकी उत्पत्ति हुई है, वह भी ठीक प्रतीत होता है।

आदिम ज्ञान।

ऊपर यह लिखा है कि, आदिम भाषा वेद की भाषा है। अन्य भाषाएं उससे ही उत्पन्न हुई हैं (अधिक विस्तार के भय से इसे अधिक लिखना उचित नहीं समझा।) उस भाषा में जो आदिम ज्ञान दिया गया, वह कौनसा ज्ञान है? आर्यों का मत है कि, वह ज्ञान वेद है। सामवेद में पूर्वार्चिक ६।३।१०।९ में परमात्मा ने कहा है कि, आदिज्ञान का देनेवाला मैं ही हू।

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वन्देवेभ्यो अमृतस्य नाम।"

अर्थात् मैं आदिज्ञान का उत्पादक हूं और देवों से पूर्व अमृत का केन्द्र हूं। साथ ही यह ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान है, अतः वह पूर्ण भी है। पाश्चात्य विद्वान यह बात किसी भी प्रकार नहीं मान सकते कि, वेदज्ञान पूर्ण है, यद्यपि अब वेदों का कुछ आदर वे भी करने लग गए हैं, तथापि वेदों को सब सत्य विद्याओं का भण्डार मानना उनके लिए कठिन है। भविष्य में ऐसा हो जाय, तो सम्भव है।

विशेषता।

वेद और वेद की भाषा की जो सबसे बडी विशेषता यह है कि, वेद में जिस पदार्थ के लिए जो संकेत निर्धारित किया गया है, वह यों ही नहीं रख दिया गया। उसके गुणकर्मादिक को देख कर ही रक्खा गया है और वेद की भाषा में यह भी एक विशेषता है कि, जिन धातुओं से जो शब्द बनता है और उस धातु के अर्थाऽनुसार उसका गुणकर्मादिक जिस पदार्थ में मिलता है, उसका नाम निश्चित किया गया है, उस धातु का यह अर्थ क्यों हुआ, इसका उत्तर भी वैदिक भाषा ही दे सकती है, अन्य भाषा नहीं। (क्रमशः)

अष्टाङ्गयोगमें अद्भुत शक्ति

(ले० श्री० **योगिराज उमेशचन्द्रजी**, संचालक, श्रीरामतीर्थ योगाश्रम, बम्बई)

प्रत्याहार ।

जब साधक अष्ट प्रकारके प्राणायामका शनैःशनैः अभ्यास कर परिपक्व होता है, तब प्रत्याहारके लिये अधिकारी बन जाता है। प्रत्याहारमें मुख्यतया मनको निरोध करनेका उपाय किया जाता है। प्रत्याहार सिद्ध होनेके समयमें साधकको अष्ट सिद्धियोंकी उपलब्धि होना सम्भव है। परन्तु अपने कल्याण (आत्मकल्याण) चाहनेवालेको उन सिद्धियोका सहारा नहीं लेना चाहिये। सिद्धि सीमित वस्तु है। सीमित वस्तुओंका स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण शरीरसे सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी एवं पंच महाभूतोंके मिलनेसे बनता है और उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे नाशवान् है। इस शरीरके नाशवान् होनेसे स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीरके साथ रहनेवाली सिद्धिया भी नाशवान् है। उन्नीस तत्त्व (पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय; पंच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महाकारण शरीर आत्मासे भिन्न है और जड हैं। स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु परवश हैं। आत्माकी सत्तासे उनका सर्व कर्म चल रहा है। आत्माके प्रकाशसे उसमें प्रकाशका अस्तित्व है। एवं आत्माके आनन्दसे उन सर्वमें आनन्दका भास होता है। योगाभ्यासमें निरत रहनेवालोंके पास अनायाससे सिद्धि प्राप्त होनेपर भी उन सिद्धियोंकी ओरसे अपनी दृष्टिबिन्दु हटाकर साधकको आगे बढना चाहिये। महात्मा निश्चलदासजीने अपने विचारसागरमें वैराग्यके सम्बन्धमें बडी महत्त्वकी बातें लिखी हैं। देखिये—

" ब्रह्मलोकलों लोग जो,
करै सबनको त्याग ।
वेद अर्थ ज्ञाता मुनि,
ताहि कहत वैराग ॥ "

सर्व प्राणियोंका विष्टा कौवा ग्रहण करता है, परन्तु कौवाका विष्टा कोई ग्रहण नहीं करता। इसी तरहसे मृत्युलोकसे ब्रह्मलोक तकका सर्व सुख (भोग) काकविष्टावत् त्यागना चाहिये। साधककी परीक्षा इसी अवसर पर होती है। जो सच्चे साधक होते हैं, वे इस नश्वर सुखके पीछे अपनी अमूल्य जिंदगीको व्यतीत नहीं करते है। देखिये—जैसे व्यवहारमें मामूलीसे मामूली कुछ व्यापार, उद्योग अथवा नौकरीमें सफलता प्राप्त करनेके लिये अनेक विघ्नोंसे कई बरसों तक कष्ट सहन करना पडता है,ऐसेही विषयसुखत्यागरूपी दुःख विना सहन किये उस परमपद अथवा अखण्डानन्दकी उपलब्धि सर्वथा असंभव है। इसके सम्बन्ध में साधु निश्चलदासजीका यह दोहा याद रखना चाहिये—

" जो सुख नित्य प्रकाश विभु,
नामरूप आधार ।
मति न लखे जिहि मति लखे,
सो मैं अपरंपार ॥ "

और सुनिये—

" न तद् भासयते सूर्यो
न शशांको न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम ॥ "

यह श्रीकृष्ण भगवानका कितना सुन्दर वाक्य है। जहां सूर्य और चन्द्रका प्रकाश नहीं जा सकता, जहां अग्नि और वायु पहुँच नहीं सकते, जहां पहुँचनेके बाद महा दुःखरूपी जन्म-मरण नहीं है, ऐसा उत्तम स्थान प्राप्त करनेके लिये किस तरहसे अभ्यास और वैराग्य रखना चाहिये ? वे सुज्ञ पाठक ही विचार करें। प्रत्याहारांतर्गत मुद्रा, षट्चक्र-भेदन क्रियाके अभ्यासकालमें नव प्रकारके विघ्नोंका उपस्थित होना स्वाभाविक सा है, किन्तु सद्गुरुद्वारा सब विघ्न दूर हट जाते हैं और साधनमें सफलता मिलती है। उन विघ्नोंके नाम और उनका निवारण आगे यथा-योग्य लिखा जायगा।

आगे हम सुविज्ञ पाठकोंके लाभार्थ शरीर-स्वास्थ्यके कुछ सारांशरूपमें योगका बहिरङ्गसाधन यथा-

योग्य बतलानेका प्रयत्न किया था। आज हम योगके अन्तरङ्गसाधन, जिनके द्वारा अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि होती है, उन्हें यथाक्रम बतलाना चाहते है। प्राणायामके बाद पांचवा अङ्ग प्रत्याहार कहा जाता है।

प्रत्याहार।

"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"

(योगदर्शन २-५४)

अर्थात्, अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर इन्द्रियो का चित्तके रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' कहाता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जावे, तो प्रत्याहारका पालन करना अत्यन्त दुस्तर भी है और अत्यन्त सुलभ भी है। वर्तमान समयमें पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रियोंको क्षणिक आनन्द देनेवाले विशेष रूपसे बडे-बडे शहरोंमें सिनेमा, नाटक, सर्कस, वेश्यागृह, भोज्य पदार्थ, बहुमूल्य वस्त्र वगैरहका अस्तित्वसे मनको स्वाधीन रखना दुस्तर-सा हो गया है; किन्तु जिनको अपना परम कल्याण, परम लक्ष्य, परम धाम, परमानन्दस्वरूप आत्मदर्शनका एक मात्र लक्ष्य-बिन्दु होता है, उनके लिये चाहे शहर हो अथवा गहन जङ्गल, एकान्त सर्वत्र माया नगरी ही दीखती है। अनेक मनुष्य यह शंका किया करते है कि योगका सांगोपांग अभ्यास वे ही कर सकते है, जो घर बार त्याग दिये है, ब्रह्मचारी है, व्यवहारके झंझटोंमें न रहनेवाले, पर्वत, नदी, गंगा तटके निवासी और सर्वसंगोंसे रहित हों। उनका यह कथन एकदेशीय और संकुचित है। कारण यह है कि जिनका मन अपने स्वाधीन नहीं, वे घरद्वार छोडकर जङ्गलमें रहें, तो भी अनेक प्रकारकी मानसिक कल्पनाओंसे युक्त होकर निश्चित कार्य करनेमें असमर्थ रहेंगे। अत्यन्त सूक्ष्म गतिसे पता लगावे, तो वर्तमान कालमें भी बडे-बडे राजेमहाराजे सर्व व्यवहार चलाते हुए अपने कल्याणको देनेवाला परम अहैतुक कर्तव्य कर रहे है। पांच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय और एकादशवीं इन्द्रिय मनको जागृत अवस्थामें सर्व कार्य करते हुए भी उस सत् चित्त-आनन्दरूपी आत्म-केन्द्रसे नहीं हटाना, उसीका नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहारदशामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धजनित त्रिविध ताप (दुःख) का सर्वथा अभाव होता है, जैसा कि गीतामें बताया है—

"निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययंतत्॥

(गीता अ० १५,-श्लोक ५)

जिसका अभिमान और मोह नष्ट हो गया हो, जिन्होंने विषयासक्तिरूपी मोहको जीत लिया हो, जो नित्य आत्मज्ञानके विषयमें निरत हों, जिनकी सर्व वासना नष्ट हो गयी हो और जो मनुष्य सुखदुःखरूपी द्वन्द्वसे मुक्त हुए है, वे ही उस शाश्वत पदको पा सकते है। वर्षा ऋतुके नष्ट होते ही जैसे बादल आकाशको त्याग देते है, उसी प्रकार प्रत्याहारके पंथमें पैर रखते ही साधकका अन्तःकरण मोह और मानको त्याग देता है।

कुण्डलिनी उत्तान करनेका उपाय।

प्रथम यह अनुभूत कर लेनेकी जरूरत है कि कुण्डलिनी क्या है। हमारे शरीरमें किस स्थानपर विद्यमान है, उसका मुख्य कार्य कौनसा है। हमारे (आत्मा) से और कुण्डलिनीसे क्या सम्बन्ध है। उसको जागृत करनेकी आवश्यकता है या नहीं, है तो किस कारणके लिये, आदि अनेक आशंकाओंका स्पष्टीकरण करनेके बाद ही ऐसे गहन विषयोंके ग्रहण करनेकी आन्तरिक तीव्र इच्छा रखकर अपने आत्मकल्याण चाहनेवाले आत्मानुरागी प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इस लेखद्वारा अत्यन्त लाभ होगा।

कुण्डलिनी किसे कहते हैं ?

एक नाडीका नाम कुण्डलिनी है, वह नाडी अत्यन्त सूक्ष्म है। साढेतीन अंगुल लम्बी है। योगशास्त्रमें उस नाडीके नाम नागिन, बालरण्डी और कुण्डलिनी शक्ति आदि हैं।

मुख्य रहनेका स्थान।

मणिपूरक चक्र (नाभि स्थान) से चार अंगुल नीचे और लिंगमूल (शिश्नेंद्रिय) से चार अंगुल ऊपर जो स्वाधिष्ठान चक्र नामसे प्रसिद्ध है, उसी स्थानमें कुण्डलिनी विद्यमान है। हमारे शरीरमें मुख्य सात चक्र (नाडियोंका समूह) उपस्थित हैं। उन सात चक्रोंमेंसे एक

'स्वाधिष्ठान' चक्र है, स्वाधिष्ठान चक्रका दूसरा नाम 'कन्द-स्थान' है। उसी कन्द-स्थानमें कुण्डलिनी शक्ति समस्त नाडीसमूहको वेष्ठित करती हुई साढेतीन आंटे देकर अपनी पूंछ मुखमें लिये हुए सुषुम्णा नाडीके छिद्रको अवरोध करती हुई सर्पके समान सोई हुई है।

मनुष्यमात्रके मेरु दण्डके उभय पार्श्वमें सूर्य, चन्द्र नामक दो नाडियां हैं। इन दोनों नाडियोंके मध्यमें अति सूक्ष्म एक दूसरी नाडी है, जिसका नाम 'सुषुम्णा' है। सुषुम्णा नाडीके नीचेके स्थानमें 'आधार-चक्र' (चतुर्दल पद्म) है। उसके ऊपरके भागमें रहनेवाले दूसरे स्वाधिष्ठान (षट्दल पद्म) पर कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकारमें कुण्डली बनाकर विद्यमान है।

कुण्डलिनी शक्तिको किसलिये उत्तान करना चाहिये ?

संसारमें जो कुछ कार्य हो रहा है, वह सब कुछ न कुछ कारणके सम्बन्ध रखता है। कारण बिनाकार्य नहीं हो सकता। कुण्डलिनी शक्तिको जागृति करनेका मुख्य कारण यह है कि विशुद्ध चक्रमेंसे टपकते हुए चन्द्रामृतको कुण्डलिनी शक्ति खा जाती है। अतएव चन्द्रामृत शरीरके सर्व अवयवोंमें एवं सप्त धातुओंमें न पहुँचनेके कारण यह स्थूल शरीर शक्तिहीन होकर अनेक रोगोंसे संयुक्त रहता है। किन्तु जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सहस्र दल, पद्ममें प्रवेश करती है, तब शरीर देदीप्यमान, तेजोयुक्त सशक्त एवं सर्वरोगोंसे मुक्त होता है।

कुण्डलिनी शक्ति जागृत करनेका दूसरा कारण यह है कि गत असंख्यात जन्मोंका सूक्ष्म विचार (बीजरूपसे) हमारे स्वाधिष्ठान चक्रमें 'कर्माशयकोष' नामसे उपस्थित है। उस कर्माशयकोषका जबतक नाश नहीं होता, तबतक अनिवार्य रूपसे जन्म लेना ही पडेगा। परन्तु कुण्डलिनी शक्ति जागृति होनेके बाद कर्माशय कोषके नष्ट होनेसे हमारे जन्ममरणका भी अन्त आ जाता है। 'हटयोग-प्रदीपिका' ग्रंथने इस विषयका विस्तृत रूपसे विवेचन किया है।

"कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥"

अर्थात् कन्दके ऊपरी भागमें कुण्डलिनी शक्ति शयन कर रही है, जो योगी इसे जागृत करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है और जो मूढ (अज्ञानी) मायामें फँसकर विषयान्ध हो रहे हैं, वे कदापि जागृत नहीं कर सकते, उनके लिये कुण्डलिनी शक्ति बन्धन (जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक) का कारण होती है। जो कुण्डलिनी शक्तिको जगानेकी युक्ति (उपाय) जानता है, वही योगको यथार्थ जानता है।

यद्यपि स्वयंसिद्ध आत्मा तो निरञ्जन, निर्विकार, अज, अमर और कमल पत्रके सदृश बन्ध और मोक्षसे रहित है; फिर भी जैसे महाकाशका सर्वत्र अस्तित्व होने पर भी मठके अन्दरके आकाशको मठाकाश कहते हैं। आकाशमें कुछ परिवर्तन नहीं होता; परन्तु मठरूपी परिणित स्थलमें प्रवेश करते ही अपरिमित आकाशको भी परिणित नामको धारण करनेकी प्रथा है, वैसे ही नामरूपसे रहित सत्-चित्-आनंद-स्वरूप आत्माको महाकारण, कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें प्रवेश करते ही अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् और बन्धमोक्ष माननेकी रूढि हो गयी है।

खेदकी बात है कि आज हम हमारी परमहितैषी अत्यन्त आदरणीय और सर्वश्रेष्ठ जन्ममरणसे रहित करनेवाली योगविद्या हमारे भारतवर्षमें विद्यमान होनेपर भी हम उसको तिरस्करणीय दृष्टिसे देख रहे हैं। और सर्वतो-मुखेन विषयेन्द्रियसुखके साथ संलग्न हो रहे हैं। इसीसे तो पूर्णरूपसे सर्व समृद्धिमान, सर्व शक्ति एवं ब्रह्मविद्यासे भरी हुई हमारी भारतभूमि आज परवश, बलहीन, निःशक्ति एवं अनेक संकटोंसे भरी हुई दिखायी दे रही है और जबसे अमेरिका, जर्मनी और इंग्लैण्ड आदि पाश्चिमात्योंने इस विद्यामें रहनेवाली शक्तिको पहँचानकर आदरपूर्वक ग्रहण करने लगे है, तबसे सर्व प्रकारसे उन्नतिके शिखरपर पहुंचने लगे हैं। आज अमेरिकादि पाश्चिमात्य देशोंमें एक नहीं अनेकों अध्यात्मविद्या यानी योगविद्याके प्रचार करनेवाली संस्थाएं विद्यमान है।

मुझे इतना तो जरूर कहना पडेगा कि, लोककल्याणकी दृष्टिसे यदि किसी पत्र-पत्रिकाके सम्पादकद्वारा योग-विद्याका लेख प्रकट करनेपर भी अनेक स्त्रीपुरुष उसको पढकर तात्पर्य समझनेके लिये उत्सुक नहीं होते, किन्तु विषय,

वार्ता, नोविल, कादम्बरी, सिनेमा, नाटक आदि विषयों-के लेखोंको पढनेके लिये रात्रिको जागरण और दिनको उपवास करने तक तैयार हो जाते है। उन्नतिअवनतिका मार्ग और किसीके पास नहीं है, सब अपने पास ही है,परन्तु उस उन्नतिके मार्गमें प्रथम श्रम करना पडता है।

सूज्ञ पाठक महोदय ! जैसे सामान्यतः किसी भी पर्वत या उच्च प्रदेश अथवा घरकी सीढियोंपर चढते वक्त अधिक श्रम मालूम पडता है, किन्तु नीचेकी तरफ उतरनेके वक्त सुभीता हो जाता है। ऐसे ही इन्द्रिय सुखरूपी अवनतिके मार्गमें अल्प समय तक अवश्य अत्यन्त सुखका आभास होता है; परन्तु परिणाममें अनेक दुःखोंका सामना (अनुभव) करना पडता है। किन्तु उन्नतिके मार्गमें प्रयाण करते समय प्रथम आपको अल्प समय तक अवश्य श्रम उठाने पडेंगे। श्रम उठाने पडेंगे, तो क्या हुआ, परिणाममें शुभ है। चारों ओरसे सुख है। एक वक्त आपके अन्तःकरणमें उन्नतिके मार्ग-में चलनेकी आन्तरिक अभिरुचि हो जायगी,तो फिर कभी भी आप उस मार्गको नहीं छोड सकते, क्योंकि प्रथम थोडे दिनों तक उन्नतिके मार्गको प्रेमके साथ ग्रहण करनेपर उन्न-तिके मार्गमें रही हुई शक्ति स्वयं आपको सर्वतोभावेन सहाय्यता कर और भी आगे बढनेके लिये प्रेरणा करेगी।

वैदिक अनुसन्धान

[लेखक-श्री० विश्वबन्धुजी शास्त्री, M. A., M. O. L., D. A.V., कालेज, लाहौर]

भारतीय साहित्यका मूलस्रोत वेद। यहांके कर्म और धर्मका, दर्शन और विज्ञानका, रीति और नीतिका परमाधार वेद ही है। इसलिए श्रीस्वामिजी ने इस बातका विशेष रूपसे प्रचार किया कि भारतीय साहित्य की रक्षाका परम पवित्र कार्य वेदरक्षासे ही आरम्भ होना चाहिये। रामायण और महाभारत, गीता और उपनिषद्, इतिहास और पुराण, तथा दूसरे धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ अपने-अपने रूपमें अच्छे हैं। उनका यथायोग्य आदर होना चाहिए, परन्तु वे सब वेदके ही आधार पर बने हैं, इसलिए वेदप्रचार को सबसे पहले लेना चाहिए। इससे दो उद्देश्य पूरे होंगे। एक तो उपरोक्त प्रकारके साहित्यकी ठीक प्रतिष्ठा हो सकती है और दूसरे वेदके प्रेमके सांचे संबन्धके आधार पर अलग-अलग पन्थ और मतके वैर-विरोध दूर होकर एकता और संगठनके सूत्रमें लोग पिरोये जा सकेंगे। हिन्दुओंका प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आपको वैदिक कहता है, परन्तु कितने शोककी बात है कि किसी भी सम्प्रदायमें वस्तुतः जैसा होना चाहिये, न तो वेदका प्रचार ही किया जाता है और न उसकी रक्षाके लिये अनुसन्धानका ही कोई प्रबन्ध दिखाई देता है। जहां कहीं देशमें संस्कृत विद्याके लिए पाठशालायें हैं, वहां भी व्याकरण, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिष् और थोडा बहुत न्याय तथा वेदान्तका तो प्रचार है, परन्तु वेदके प्रति उपेक्षा ही की जाती है।

आर्यसमाजसे संसार यह आशा करता था कि श्री स्वामिजीके उपदेश पर यह सबसे बढ़कर ध्यान देगा और इसके अन्दर वेदविद्याका खूब प्रचार बढ़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्यसमाजमें वेदोंके विषय में चर्चा आरम्भसे ही चल रही है, परन्तु बड़े दुःखके साथ यह कहना पड़ता है कि, पिछले पचास वर्षोंमें जितनी चर्चा वेदोंके सम्बन्धमें हुई है और जितना रुपया वेदों के नाम पर इकट्ठा किया गया है, यदि उसका सह-स्रांश भी वेदोंकी रक्षा और वैदिक-साहित्यकी वृद्धिपर व्यय किया जाता, तो एक ठोस मिशन की नींव डाल दी गई होती। खेदकी बात है कि लाखों रुपया इकट्ठा तो हुआ, पर खर्च हुआ वार्षिक उत्सवों और जयन्तियोंके मनानेमें। वेद-प्रचार के नामसे पार्टी-प्रचार पर और स्कूलोंकालेजों तथा गुरुकुलों पर जहां कि मौजूदा ढंगकी शिक्षा प्रधानरूपसे दी जाती है, बेचारे वेदके दस-बीस मन्त्र याद करा दिये जाते हैं और ढिंढोरा पीटा जाता है कि, इन संस्थाओंमें वेद पढाया जाता है।

श्रीस्वामिजीके अनुसार वेदविद्याके प्रचारके लिये यह अत्यावश्यक है कि, वेदको समझनेके लिए और प्रामाणिक भाष्य तैयार करनेके लिए जितने प्राचीन आर्षग्रंथ हैं, उनका आश्रय लिया जाये। सबसे पहले इन आर्षग्रन्थोंके आधार पर एक सम्पूर्ण साधनग्रन्थका साधन होना चाहिए, जिसमें सामग्रीको ठीक तरहसे उपस्थित कर दिया जाये। प्रत्येक शब्दका अमुक आर्ष-ग्रन्थमें क्या-क्या अर्थ बताया गया है, यह पहले मालूम होना चाहिए। पिछले हजार वर्षोंमें यहांपर जितने आचार्य हुए और पिछले डेढसौ वर्षोंमें पश्चिममें जितने आचार्य हुए, उन्होंने प्रत्येक शब्दको कैसे समझा है? मुकाबलाके लिए यह भी मालूम होना चाहिए। प्राचीन ऋषियोंके अनुसार यौगिक प्रक्रियाका स्वरूप क्या है? मीमांसाके नियम क्या-क्या हैं? व्याकरण और निरुक्तके और भाषाविज्ञानके नियम क्या हैं? उन सब बातोंका पता होना चाहिए।

बौद्धकालमें विषैली गैसका प्रयोग

(ले०- श्री० मिहिरचन्द्रजी धीमान्, 'कुसुमाकर' हिन्दीभूषण)

यह भारत हजारों बार उन्नतिशिखरारूढ होकर फिर पतन को प्राप्त हुआ। रामायण और महाभारत आदि हमारे विकास और पतनके इतिहास हैं। इसके अनन्तर एक और शक्ति आती है और अपने विकास और लयका दृश्य उपस्थित करती है। वह है, बौद्धकालका उत्थान और पतन। भगवान बुद्धने विश्वको अपने अहिंसाव्रतसे अनुप्राणित कर लिया था। इसीसे आज भी उनका सिक्का संसारपर जमा हुआ है। भगवान बुद्धने अहिंसाके पवित्र सिद्धान्तके प्रचारद्वारा सारे राष्ट्रकी मनोवृत्तिको परिवर्तित कर दिया; बडे बडे राजा-महाराजा तक अहिंसाव्रती भिक्षु बन गये थे।

सम्राट् अशोकके पुत्र तथा कन्या, भिक्षु और भिक्षुनी बन गये, हजारों वर्षोंतक बौद्धोंने भारतमें राज्य किया। नालन्दा, सारनाथ और तक्षशिला जैसे विश्व-विख्यात विश्वविद्यालय खोलकर विश्वकी जहालत दूर की। अविद्याके अन्धकारको दूर कर विद्याका प्रकाश फैलाया, लेकिन अन्तमें उसी कुक्कनस जानवरकी तरह अपने नाशकी चिता तैय्यार कर और उसीकी तरह दीपक राग गा कर चलता बना। इन अहिंसाव्रती बौद्धोंने कलिंग देशकी चढाईके समय लाखों निर्दोष नरनारियों को मौतके घाट उतार दिया।

विपक्षियोंके दम घुटकर मर जानेके लिये आज युरोपवालोंने जैसी विषाक्त गैस तैय्यार की है, वैसीही विषाक्त गैस बौद्धकालमें भी तैय्यार हुई थी और आजकलकी तरह ही निहत्थे नर-नारियों तथा पशुपक्षियोंपर उसका प्रयोग भी हुआ था। यह कोई गौरवकी बात नहीं कि हमारे प्राचीन कालमें हमारे यहां भी ऐसी गैस तैयार की जाती थीं। बल्कि यह तो राष्ट्रके नाशके लक्षण थे। पण्डित चाणक्य जो सम्राट् चन्द्रगुप्तके प्रधान सचिव थे, उन्होंने ही अपने कौटिल्य अर्थशास्त्रमें ऐसे बहुतसे उपायोंका वर्णन किया है, जिनके द्वारा शत्रुओंको बडी आसानीसे मारा जा सकता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके राजत्वकालमें विष-कन्याओं की सृष्टि की गई थी, जिससे सहवास करनेवालेको जीवन से हाथ धो बैठना पडता था। ऐसी विष-कन्यायें तैय्यार करनेके योग कौटिल्य अर्थशास्त्रमें पढनेको मिलते हैं। आधुनिक विषैली गैसकी तरह का धुआँ तैय्यार करनेका योग भी कौटल्य अर्थशास्त्रमें लिखा हुआ है। मैं उन योगोंको यहां उद्धृत करना उचित नहीं समझता। जो सज्जन देखना चाहें, वे कौटिल्य अर्थशास्त्रका औपनिषदिक चतुर्दश अधिकरण पढकर देख सकते हैं। उन्हें पता चल जायेगा कि शत्रुओंको आसानी से नष्ट करनेके कैसे-कैसे योगोंका आविष्कार कौटिल्यने किया है। इन्हीं जीवन-नाशक उपायोंके प्रयोगद्वारा शत्रुओंको नष्ट करते हुए स्वयं भी नष्ट हो गये! कौटिल्यने लिखा है कि इन वस्तुओंका धुआँ करनेसे तत्कालही प्राणहानि की जा सकती है। कहने का तात्पर्य केवल इतनाही है कि प्राचीन भारतमें भी विज्ञानचर्चा थी। उन्होंने जहरीले धुएंका भी आविष्कार किया था।

(जाग्रति)

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०]

विषयानुक्रमणिका

[अङ्क २

१	आर्योंका चक्रवर्ती राज्य शीघ्र हो।	१
२	स्वराज्यकी प्रार्थना।	२
३	म० दयानन्द सरस्वतीका साध्य और साधन	१
४	कुछ विचारणीय पत्र।	१३
५	वेदसंहिताका नमूना पृष्ठ।	१४
६	वेद-मुद्रणका कार्य।	१
७	'वैदिक धर्म'के ग्राहकोंके लिए विशेष सहूलियत	५
८	शुद्ध चार वेदसंहिता।	७
९	सम्पूर्ण महाभारत।	८
१०	महाभारतका नमूनापृष्ठ।	८
११	स्वाध्याय-मण्डलका सूचीपत्र।	१-८

पढनेकी

... ...का शुद्ध ओर सस्ता मुद्रण करनेका कार्य प्रारम्भ किया है, ...। अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद् पर्यंत के सब वैदिक वाङ्मय के ग्रंथ तथा वेदके अङ्गोपाङ्गादि सब ग्रंथ भी छापने हैं। इसका विवरण और वेदसंहिताका नमूनापृष्ठ आप 'वेदमुद्रणका कार्य' इस लेखमें पढ सकते हैं। उसके पढनेपर आपको विदित होगा कि स्वाध्याय-मण्डल वैदिक धर्मका कितना महान् कार्य कर रहा है। अतः आप स्वाध्याय मंडल के स्थिर सदस्य बनकर मण्डलकी सहायता करिये। यदि केवल चारों वेदोंके उत्तम और सुन्दर ग्रंथही आपको चाहिये तो केवल ८) आठ रु. भेजकर चारों वेदों को आप मंगवा सकते हैं।

अब 'यजुर्वेद' तैयार है। 'ऋग्वेद संहिता' भी छपकर तैयार हुई थी परन्तु इसकी प्रथम बार की सब प्रतियां गत चार मासोंमें समाप्त हो गई हैं, इसलिये अब 'द्वितीय' बार का मुद्रण-कार्य शुरू किया है। 'अथर्ववेद' अगले मासमें तैयार होकर ग्राहकोंको भेजा जायगा। 'सामवेदसंहिता' भी छप रही है।

हमारे यहां संपूर्ण सचित्र महाभारत छपकर तैयार है, नमूनापृष्ठ और विज्ञापन पढिये। आप सहूलियतसे यह मंगा सकते हैं। सहूलियतके नियम मंगाइये। मण्डल के अन्य सब ग्रंथों का सूचीपत्र अन्तम है, उसे पढकर आप उसमेंसे चाहे सो पुस्तकें मंगा सकते हैं।

हमें दृढ आशा है कि आप अपनी आर्डर शीघ्र भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

प्रबन्धकर्ता–

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि. सातारा)

वर्ष १९

अंक १०

क्रमांक

२२६

धर्म

आश्विन

संवत १९९५

अक्तूबर

सन १९३८

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

आर्योंका चक्रवर्ती राज्य शीघ्र हो!

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ॥

(ऋ० १।१।३)

हे महादात, ईश्वर अग्ने! आपकी कृपासे स्तुति करनेवाला मनुष्य (रयिं) उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है, कि जो धन प्रतिदिन (पोषं एव) महा पुष्टि करन और सत्कीर्ति को बढानेवाला, तथा जिससे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम, और दृढाग, धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीरपुरुष प्राप्त हो, वैसे सुवर्णादि, तथा चक्रवर्ती राज्य, और विज्ञान-रूप धनको, मैं प्राप्त होऊं, तथा आपकी कृपासे सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं ॥

(श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकृत आर्याभिविनय, पृ० २७)

स्वराज्यकी प्रार्थना।

(श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजी की आर्याभिविनयसे उद्धृत)

(१) जैसे विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं ...॥ ३ ॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओं की नीतिको प्राप्त करो,... हमको वरराज्य, वरनीति देओ,... हमको सत्य विद्यासे युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। हमपर सहाय्यता करो कि जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे ॥ १८ ॥(पृ० ६५-६७)

(३) ... आओ, सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें,जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढें ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) .. हमारे शत्रुओंका जीतनेवाले हो, इस कारणसे हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ (पृ० ८६)

(५) पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन् ! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त होके वीरोंके चक्रवर्ती राज्यको आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थको कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धमें शूर वीर होके... बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) .. हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो,तथा हम सब संसारमें सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों ! ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्टविद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य को शीघ्र प्राप्त कर ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) ... हम लोग शत वर्षतक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों ... सौ वर्षके उपरान्तभी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का

साध्य और साधन

राजाओंका सुधार।

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का देहावसान भारतीय राजामहाराजाओंका सुयोग्य सुधार करके उनको स्वराज्यस्थापनामें लगानेके शुभ और महनीय प्रयत्नों के चलानेके कारण दिवालीके समयहि हुआ,इसलिये इस दिवालीके समय उनका वाङ्मय श्राद्ध करना हरएक भारतीय सुपुत्रके लिये अत्यंत योग्य है।

श्री स्वामिजी महाराजका कार्य केवल आर्यसमाजके धार्मिक क्षेत्रके चार दिवारोंके अन्दर हि सीमित नहीं था। **भारतीय राष्ट्रका पुनरुद्धार धार्मिक सुधारद्वारा करना और इस साधनसे आर्योंका वैदिक धर्मानुशासनसे चलाया जानेवाला आसमुद्रक्षितीका सार्वभौम साम्राज्य अति शीघ्र स्थापित करना** ही एकमात्र प्रशंसनीय उद्देश श्री स्वामिजी महाराजका था। सूर्यचन्द्रवंशीय भारतीय राजामहाराजाओंका सुधार करके उनको धार्मिक शासनतत्पर बनानेसे शीघ्रही भारत का आधा भाग सुधर सकता है, ऐसा विचार करके, सबसे प्रथम राजपूतानाके उदेपुरादि नरेशोंके सुधार करनेके प्रयत्नोंमें वे लगे थे। इस प्रयत्न में उनको सफलताभी बहुत कुछ हो चुकी थी, इस कारण जिनकी आर्थिक हानि हुई, उनके द्वारा भयानक विषप्रयोग होनेसे श्री स्वामिजीका दिवालीके समयही देहावसान हुआ! इस कार्यकारणभावका विचार करनेसेभी उन्होंने थोडेसे दिनोंमें राजपूतानाके राजाओंमें कितना प्रचण्ड सुधार का कार्य किया था, इसकी कल्पना हरएक को हो सकती है।

विषप्रयोग करनेके विना उस स्थानके कुमार्गियोंको दूसरा कोई मार्ग रहा हि नहीं था। इसलिये स्वार्थी कुमार्गियोंने यह अंतिम उपाय की रचना की, और एक महापुरुषका कार्य दिवालीके दीपप्रकाश के नीचे रहनेवाले गाढ अन्धकारमें अदृश्यसा हुआ। इससे भारतीय राष्ट्रकी अपरिमित हानि हो चुकी है, इसलिये इस प्रसंगसे इसका स्मरण करनेकी इच्छा है। इसका स्मरण करनेसे फिर किसीके मनमें उनके भारतीय पुनरुत्थानके विचार स्फुरित हो जायंगे और पुनः उनके कार्यका नये उत्साहसे प्रारंभभी हो जायगा।

श्री स्वामिजीका आदर।

हमारे मनके अन्दर जो महत्वका स्थान श्री स्वामिजी महाराज को मिला है, वह **उनकी धार्मिक शिक्षापूर्वक राष्ट्रीय पुनरुत्थानकी प्रचण्ड और सर्वांगपूर्ण आयोजनाके लिये हि है।** यद्यपि आज वह आयोजना रही नहीं और चलीभी नहीं है,परंतु चलाना या न चलाना यह सर्वथा अनुयायियों की शक्तिपर अवलंबित रहनेवाली बात है। अतः हम सबसे पहिले भारतराष्ट्रके पुनरुत्थान की अपूर्व आयोजनाका निर्माण करनेके लिये ही श्री स्वामिजीको 'ऋषि' कहते आये है। **ऋषि वह होता है कि जो सब अन्य जनता के पूर्वहि नया और उत्तम मार्ग ठीकठीक रीतिसे देखता है और उस मार्गको उद्घोषित भी करता है।** जो अन्य लोग नहीं देख सकते, वह उनको दीखता है और जो अन्य लोग डरके मारे उद्घोषित कर नहीं सकते, वह जो ऋषि होता है,वह सब जनता के लिये बडे वेग के साथ उद्घोषित भी करता है। ऋषि दयानन्दजी के पूर्व इनके समान किसी भी नेताने भारत के पुनरुत्थान की इस प्रकारकी निश्चित आयोजना नहीं की थी। यही उनके श्रेष्ठ दूरदर्शिताका सुस्पष्ट चिह्न है।

हृदय खोलकर ईश-प्रार्थना।

किसी मनुष्यका ध्येय, इष्ट अथवा हार्दिक काम्य क्या है, यह निःसंदेह देखना हो, तो ' **उनकी ईश्वरके पास**

प्रार्थना ' क्या होती है, उसको देखना चाहिये। अन्य संपूर्ण व्यवहार अन्य मनुष्योंके साथ संबंधित होते हैं, इसलिये उनमें अनंत मर्यादाएं बीचमें खडी हो जाती हैं, परंतु ईशप्रार्थनाके समय मनुष्यके साथ दूसरा कोई नहीं रहता, माताके पास पुत्र जैसा प्रेमके साथ निर्भय होकर जाता है,वैसा भक्त परमेश्वरके पास जाता है और प्रेमसे जो अपने हृदयका अभीष्ट है, वह मांगता है। इस समय उसकी प्रार्थनाके लिये कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता क्योंकि ' भक्त **और भगवान् के अन्दर प्रतिबंध करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं होती,** अतः प्रार्थनामें हि हरएक का हार्दिक अभीष्ट व्यक्त होता है। इसी नियम के अनुसार श्री स्वामिजीका ध्येय उनके प्रार्थनापुस्तक " **आर्याभिविनय**" में प्रकट हो गया है। देखिये उनकी प्रार्थनाएं किस प्रकारकी थीं—

(१)... विद्या, शौर्य, धैर्य, चातुर्य,बल,पराक्रम और दृढांग, धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष हमें प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा **चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानरूप धनकोभी प्राप्त होऊं**... ॥३॥ (पृ० २५-२६)

(२) ... आप हमको सरल चक्रवर्ती राजाओंकी नीतिको प्राप्त करो, ... हमको वरराज्य, वरनीति देओ, ... हमको सत्य विद्यासे युक्त **सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये।** हमपर सहायता करो कि जिससे **सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढे** ॥ १८ ॥ (पृ० ६५-६७)

(३) ... आओ सब मिलके अपने सब दुःखोंका विनाश और अपने विजय के लिये ईश्वरको प्रसन्न करें, जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे **अपने शत्रु कभी न बढें** ॥ २२ ॥ (पृ० ७७)

(४) ... हमारे शत्रुओंको जीतनेवाले हो, इस कारण से **हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता** ॥२६॥ (पृ० ८६)

(५) . पिताके समान हमारा पालन करो, हे भगवन्! ... आपकी उत्तम न्यायनीतिमें प्रवृत्त **होके वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रहसे हम प्राप्त हों** ॥ ४५ ॥ (पृ० १३२-१३३)

(६) ... पुरुषार्थ को कभी कोई मत छोडे, धर्मयुद्धमें शूर वीर होके ... **बडा अखण्ड साम्राज्य प्राप्त करके सब मनुष्योंका हित करें, सुनें** और परमानन्द भोगें ॥ ५२ ॥ (पृ० १५५-१५६)

(७) हम लोगोंका पठनपाठन विद्या बढानेवाला हो तथा ... **हम सब संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों, अन्योन्य प्रीतिसे परमवीर्य पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें,** हममें सब पुरुष नीतिमान् और सज्जन हों, ... अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि, सर्वोत्कृष्ट विद्या, **और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्यको शीघ्र प्राप्त कर** ... ॥ १ ॥ (पृ० १६१-१६५)

(८) हम लोग शत वर्षतक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों, . सौ वर्षके उपरान्त भी स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥ (पृ० २७९)

आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य।

श्री स्वामिजीकी बनायी प्रार्थनाएं ये हैं। यहां उनका हार्दिक ध्येय उत्तम रीतिसे प्रकट हो रहा है। हम आर्योंमें बल, बुद्धि, चातुर्य, शौर्य, वीर्य, पुरुषार्थ बढे और **आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर हो**। जिस विकट राजकीय परिस्थितिमें श्री *स्वामिजी महाराज का जन्म हुआ था, जिस देशकी विलक्षण* शोचनीय परिस्थितिमें श्री स्वामिजीके जन्मस्थानके— काठियावाड गुजरातके—लोग विदेशके साथ होनेवाले व्यापार व्यवहार द्वारा कमिशन प्राप्त करके धनाढ्य बननेकी हि केवल एकमात्र इच्छा कर रहे थे, उस समय यह अकेला लंगोटबंद ब्रह्मचारी तेजस्वी स्वामी घरदार छोडकर पूर्ण असंग होकर '*आर्योंके अखण्ड-* **चक्रवर्ती राज्यकी शीघ्र स्थापना करनेका उपाय ढूंढ रहा था!** ' निःसंदेह यह उनकी ऋषिदृष्टिकी सिद्धता करनेवाला पर्याप्त प्रमाण है।

उस समय के राजकीय नेतागण विदेशी सरकारकी प्रार्थना और याचना करनेमें, अर्जियां करने और उनकी कृपासे कुछ नौकरियां प्राप्त करने में हि अपना जीवनोद्देश्य सफल समझ रहे थे, स्वतंत्र स्वराज्य स्थापन करनेकी कल्पनाभी उद्भूत हुई नहीं थी। आजसे ६०–७० वर्ष पूर्वका राजकीय क्षितिज पाठक देखेंगे, तो उन

को स्वतंत्र स्वराज्य कहींभी नहीं दीखेगा। हाथ जोडकर अंग्रेजोंसे प्रार्थना करनेका वायुमण्डलहि उस समय के राजकीय नेताओंके मनमें था। ऐसे घोर समयमें यह **लंगोटधारी संन्यासी आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य स्थापित करनेके विचारों में मग्न होकर एकान्त सेवन कर रहा था।**

जिस समय लोग विदेशी राज्यमें रहना और उनकी नौकरीयां करना ही अपना ध्येय मानते थे, उस समय जिसने आर्योंके अखण्ड चक्रवर्ती राज्यका मार्ग देखा, उसको भारतीय पुनरुत्थान का ऋषि न समझें तो दूसरे किसको वह मान दिया जावे?

चक्रवर्ती राज्य का मार्ग।

श्री स्वामी दयानन्दमहाराजने केवल ईश्वरकी प्रार्थना करके हि आर्योंका अखण्ड चक्रवर्ती राज्य इस भूमण्डलपर होनेकी संभावना कभी नहीं मानी थी कोई वेदका वेत्ता ऐसा मानही नहीं सकता। **कोई सच्चा वेदवेत्ता विदेशी राज्यके अन्दर क्षणभर भी नहीं रह सकता। वेदज्ञान और पारतंत्र्यस्वीकार इनका सदा विरोध ही है। इसी लिये स्वामिजी आर्योंका स्वतंत्र और अखण्ड चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र इस भूमण्डलपर स्थापित करनेके इच्छुक थे!**

सब आर्य सायं प्रातः पवित्र होकर यही प्रार्थना करें, इसी लिये यह आर्याभिविनय नामक तेजस्वी ग्रंथ स्वामिजीने निर्माण किया था! लोग यदि आतुरतासे ऐसी प्रार्थनाएं करेंगे, तो वैसाही स्वराज्य शीघ्र प्राप्त करनेका वायुमण्डल देशभरमें बनेगा और जैसा वायुमण्डल बनेगा, वैसा सामुदायिक *प्रयत्न भी होगा। आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी स्थापना का* प्रारंभ इसी तरह ईशप्रार्थना में हो सकता है।

ईश्वर उपासना।

यहां पाठक कल्पना करें कि प्रत्येक घरमें प्रातः सायं पारिवारिक प्रार्थनामें घरके सब स्त्रीपुरुष संमिलित होते हैं, **और वहां अति शीघ्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेका बल ईश्वरसे मांगा जाता है। नगरके समाजभवनमें सब नागरिक एक मतसे अपने स्वतंत्र स्वराज्यकी स्थापनाके विघ्न दूर करनेकी प्रार्थना करते हैं।** इसी तरह प्रांतों और राष्ट्रके वार्षिक महोत्सवमें लाखों भारतवासी संमिलित होते हैं और अपने चक्रवर्ती राज्य की शीघ्र स्थापना करनेकी प्रार्थना ईश्वरसे करते है, तो उस राष्ट्रमें कितना राजकीय स्वतंत्रता का मानसिक भूमिकामें वायुमण्डल बन सकता है। पाठक इस स्वामिजीकी मानसिक तैयारी करनेकी आयोजनाका महत्त्व सोचें। इस तरह राष्ट्रीय मन तैयार हुआ, तो उस मनके द्वारा हरएक दिशासे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके प्रयत्न होंगे और देश शीघ्र ही स्वतंत्र होगा, इसमें कोई संदेहही नहीं है।

राष्ट्रीय संघटना।

केवल मनके विचारोंमें उक्त प्रकार स्वातंत्र्यप्रेम उत्पन्न होनेसे हि केवल स्वराज्य स्थापना नहीं हो सकती, यह तो स्वामिजी जानते ही थे। इसलिये उन्होंने भारतीयोंकी संघटना का कार्यक्रमभी तैयार किया था।

नगरनगर में आर्यसमाज स्थापन करना और वहां **धर्मार्यसभा, विद्यार्यसभा, न्यायार्यसभा तथा राजार्यसभा आदि संस्थाएं स्थापन करके अपने ग्रामका सब कार्यव्यवहार स्वयं चलाना।** वेदमंत्रोंद्वारा इन सभाओंके स्थापन करनेका उपदेश श्री स्वामिजीने अपने सत्यार्थ-*प्रकाशादि ग्रंथोंमें पर्याप्त परिश्रमपूर्वक दिया है, जो हरएक* इस समयभी देख सकता है, इसलिये उनके इस विषयके वचन यहां उद्धृत करनेकी कोई अवश्यकता नहीं है। जिसने सत्यार्थप्रकाश, वेदभाष्यादि देखा है, उनको इन सभाओंकी स्थापना करनेके उपदेशका पता है। अतः अब हम देखते हैं, कि आर्यसमाजकी इन सभाओंका कार्य क्या है–

१ **धर्मार्यसभा**— वेदमें कथित मानवधर्मका विचार यह संस्था करे और प्रत्येक सदस्य अपनी धर्म-मर्यादामें सुस्थिर रहता है वा नहीं यह देखे और समझाकर सब लोगोंको धर्ममें रखे और धर्ममें लानेका यत्न करे। वेदका अर्थ करना, वेदप्रचार करना आदि कार्य इस सभाके हैं।

जनताको अधर्मसे बचाना, संस्कारोंसे सबको सुसंघटित करना, सत्यधर्मका प्रचार करके वेदके शुभ उपदेशोंसे

सब लोक उन्नत करना आदि कार्य इस धर्मसभा का है।

(२) विद्यार्यसभा– इस विद्यासभाद्वारा अपने बालक-बालिकाओंके विद्याध्ययनका सुयोग्य प्रबंध करना है। प्राथमिक शिक्षासे प्रारंभ होकर अन्तिम उच्च शिक्षातक का सब प्रबंध करना इस विद्यासभा का कार्य है। ज्ञानविज्ञान, उद्योग, कलाकौशल्य आदि सब आवश्यक १४ विद्याओं और ६४ कलाओंकी अपने युवकोंको शिक्षा देना इस विद्यासभाका कार्य है। कोई आर्य-बालक या बालिका विदेशी राजप्रबंधद्वारा मिलनेवाली परतंत्र मन बनानेवाली शिक्षा न लेवे और आर्यविद्वानों द्वारा निश्चित की हुई, आर्य-विद्वानों द्वारा चलाये जानेवाले गुरुकुलों में प्राप्त होनेवाली, आर्योंके चक्रवर्ती राज्यकी जिससे अति शीघ्र स्थापना हो सकती है, ऐसी सुशिक्षा आर्योंके तरुणोंको प्राप्त हो, यह उद्देश्य इसमें श्री स्वामिजीका था। जर्मनीमें आर्ययुवकोंको भेजकर वहांकी विज्ञानविद्या प्राप्त करना भी स्वामिजीका उद्देश्य था।

(३) न्यायार्यसभा— आर्योंके अपने झगडे, आपसके आर्योंके झगडे विदेशी राजाके अदालतों में नहीं जाने चाहियें। आर्योंके झगडे आर्योंके द्वाराहि निर्णित होने चाहिये, आर्योंके झगडे निपटानेवाले म्लेंच्छ नहीं हो सकते। यह शुद्ध और सरल आर्यत्वकी दिशा है। इसलिये श्री स्वामिजी महाराज ने 'न्यायार्यसभा' स्थापन करके इस सभाद्वारा आर्योंके आपसके झगडोंका निपटारा स्वयं आर्योंद्वारा करानेकी प्रथा शुरू करनेकी आज्ञा दी थी। और यह आज्ञा वेदानुकूल ही थी।

(४) जो कार्य 'धर्मसभा, विद्यासभा, और न्यायसभाके कार्यक्षेत्रमें नहीं आते, उन सब शेष कार्योंके लिये 'राजार्यसभा है। आर्योंके राजकीय क्षेत्रमें जो स्वाभाविक न्यायानुकूल और नागरिकत्वादि अधिकार और हक हैं, उनका संरक्षण करना इस सभा का कार्य है।

(५) गोरक्षासे हि भारतीय किसानों की तथा भारतीय कृषिकी उन्नति हो सकती है, यह जान कर श्री स्वामिजी महाराजने 'गोकरुणानिधि' नामक ग्रंथ निर्माण किया और आर्योंको गोरक्षाके लिये पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा शुभादेश दिया। गोरक्षामें केवल गौकीहि रक्षा आती है, ऐसा नहीं अपि तु वेदानुकूल कामदुघा और घटोध्नी गौ निर्माण करना भी इस समाजका हेतु निःसंदेह है। गोदुग्ध भूमिके ऊपरका श्रेष्ठ अमृत है, इससे भारतीय जनता वञ्चित कभी न रहे, यह श्री स्वामिजिका गो आदिकी रक्षा करनेमें विशाल हेतु था। आर्य गोदुग्ध पान करके नीरोग और बलवान् बनें और स्वराज्यस्थापनाका कार्य जोरसे करें, यह उद्देश्य यहां स्पष्ट है।

(६) भारतवर्षमें क्या और संपूर्ण पृथ्वीपर क्या, प्रजानुकूल राज्यशासनही जनताका सच्चा हित करने में समर्थ होगा, यह जानकर आर्यसमाज की घटना और नियमोपनियमावली श्री स्वामिजीने ऐसी बनायी कि जिससे प्रजानियंत्रित, प्रजासंमत, प्रजा की संमतिसे चलनेवाली, प्रजाके प्रतिनिधियोंकी बहु संमतिसे संचलित होनेवाली कार्यप्रणाली आर्योंकी बने और ऐसी संस्थामें काय करनेवाले आर्य भारतीय शासनसंस्थाके लिये सुयोग्य सदस्य बनें। आर्यसमाजके सब कार्य इसी नियमानुसार होने योग्य कार्य-प्रणाली स्वामिजीने बनायी थी, यह उनकी दूरदर्शिताही है।

आर्यसमाज नामक मुख्य संस्थाके आधीन धर्मसभा, न्यायसभा और विद्यासभा कार्य करने लग जाती और जैसा कि श्री स्वामिजी महाराजने सोचा था, वैसा ये सब संस्थाएं कार्य करने में समर्थ होतीं, तो आज आर्योंके आधीन कितना अधिकार आ जाता, यह भी इस स्थानपर जानने योग्य है।

न्यायार्यसभा कार्य करनेवाली हो गयी, तो सरकारी अदालतोंपर पूर्ण बहिष्कार न कहते हुए और न बोलते हुए हो सकता है। विद्यासभा कार्यक्षम हो गयी, तो सरकारी विद्यालयोंपर बहिष्कार आपहि आप हो सकता है। विद्यासभा द्वारा १४ विद्या और ६४ कलाओंकी शिक्षा शुरू होनेपर अपने सब हुनर शुरू होनेके कारण विदेशी वस्तुओंपर स्वयं बहिष्कार हो जाता है। जो अपने पुत्रोंको अपने स्वतंत्र गुरुकुल विद्यालयोंमें पढाते, अपने हुनरसे बने वस्त्रादि निर्माण करके उनकोहि पहनाते, अपनी न्यायसभा द्वारा अपने झगडे निपटाते, ऐसे पूर्ण स्वतंत्रताप्रिय आर्य सरकारी नौकरीसे

अपना जीवन कभीभी अपवित्र करेंगे नहीं और विदेशी सरकारकी पदवियां धारण करके भी अपने आपको कभी कलंकित नहीं करेंगे। क्यों कि वैदिक धर्मी विदेशी सरकारके आधीन रहनाही असंभव है। इस दिशासे कार्य हुआ होता तो दिन प्रतिदिन आर्य सच्चे आर्य हि बनते जाते।

श्री स्वामिजीद्वारा सभात्रयानिर्मित स्वयंशासक आर्य समाजकी संस्थापनासे यह कार्य उक्त प्रकार आपही आप होनेवाला था। स्वामिजीका यही उद्देश था, यह बात उनके ग्रंथोंमें सर्वत्र स्पष्ट दीखती है। यदि यह श्री स्वामिजीका उद्देश्य इस समय सफल होता, तो श्री महात्मा गांधीजी को अपने पंच बहिष्कार पुकारनेका अवसरहि न मिलता, क्योंकि आर्यसमाज द्वारा वेहि बहिष्कार महात्मा गांधीजी भारतभूमिमें अवतीर्ण होनेके पूर्वहि सिद्ध होकर रहते। और महात्मा गांधीजीको दूसरा कार्यक्रम सोचना पडता। परंतु वैसा बना नहीं !!!

१. धर्मसभाद्वारा विदेशीधर्मप्रचारका प्रतिबंध,
२. न्यायसभाद्वारा अपने झगडे स्वयं मिटानेके कारण विदेशी सरकारकी अदालतोंपर बहिष्कार,
३. विद्यासभाद्वारा अपने गुरुकुलोंके संचालनद्वारा अपने आर्ययुवकों की शिक्षा होनेके कारण विदेशी सरकारके शिक्षणालयोंपर बहिष्कार,
४. उक्त विद्यालयोंमें ६४ कलाओंकी शिक्षा होनेके कारण अपने लिये आवश्य वस्तुओंके निर्माण होनेसे विदेशी वस्त्रादिकों पर बहिष्कार,
५. आर्योंमें अपने स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापन करनेकी तीव्र इच्छा प्रकट होनेके कारण विदेशी सरकार को अपनी शक्ति प्रदान न करनेकी ओर जनताकी भावना होनेके कारण विदेशी सरकारकी नोकरियोंपर बहिष्कार,
६. इसी उक्त कारण उनकी पदवियोंपर बहिष्कार,

ये सब बहिष्कार जो महात्मा गांधीजीने सन १९२५ में पुकारे थे, वेही बहिष्कार श्री स्वामीदयानन्दजी महाराजने न पुकार करते हुए कार्यव्यवहारमें लानेकी आयोजना सत्तर वर्ष पूर्वहि शुरू की थी। जिस समय कांग्रेस का जन्मभी नहीं हुआ था, उस समय श्रीस्वामिजी महाराज इस अयोजनाको तैयार करके आर्यसमाज द्वारा प्रचलित करनेके विचारमें लगे हुए थे। यही उनके ऋषित्व का चिह्न है !

नगर और ग्राममें उस नगर का आर्यसमाज, प्रान्त के नियंत्रण के लिये प्रांतिक आर्यप्रतिनिधिसभा, और अखिल भारतका नियंत्रण करनेके लिये अखिल भारतीय सार्वदेशिकार्य प्रतिनिधिसभा, इस तरह ग्रामसे प्रारंभ होकर अखिल भारतवर्षका नियंत्रण पूर्वोक्त धर्म—विद्या-न्याय आदि सभाओंद्वारा स्वामिजीके आदेशानुसार होता, तो पाठक स्वयं जान सकते हैं, कि यह एक आर्योंका 'स्वयंशासन' इस आर्यभूमिमें आपहि आप शुरू हो जाता। इस भरतखण्डमें विदेशी सरकार का राजकीय क्षेत्रमें शासन होते हुएभी, धर्म—विद्या— न्याय—उद्योग आदि क्षेत्रोंमें आर्योंका स्वयंशासन शुरू हो जाता और यह एक आर्योंका समान बराबरीका राज्यशासन (Parallel Government) न डंका बजाते हुए और न बोलते हुए शुरू हो जाता। और आज जो राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अध्यक्ष अथवा सर्वाधिकारी श्री महात्मा गांधीजी एक ओर और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि श्री व्हाइसराय होते हैं, और बराबरीके नातेसे राज्यशासन के विषयमें निर्णय कर रहे हैं, वैसी ही अवस्था, अर्थात् एक ओर सार्वदेशिकार्य प्र० सभाके अध्यक्ष और दूसरी ओर व्हाइसरॉय रहकर भारतवर्षके शासनका विचार बराबरीके नातेसे करते। श्रीस्वामिजी महाराजने जिस समय अपने आर्यसमाजकी घटना लिखी थी, उस समय उनके सामने यह दृश्य था !

क्या चाहा था और क्या हुआ?

परंतु इसमें कितनी सफलता आज प्राप्त हुई है? न्याय-सभा तो किसीभी स्थानपर कार्य नहीं करती, विद्या-सभा है, परंतु प्रायः आर्योंके युवक सरकारी युनिवर्सिटीयोंके साथ संबंध रखनेवाले कालेजोंमें हि जा रहे हैं। अदालतें तो वैसी ही आर्यवकीलोंसे भरी हैं। अन्य कार्य का तो प्रारंभ भी नहीं हुए। इस कारण श्री महात्मा गांधीजी आये और श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य हातमें लेकर जो कार्य करने लगे, उसका फल आजकी कांग्रेसकी महत्तामें दीख रहा है।

परमेश्वरका कार्य रुकता नहीं।

अब इसमें से एक भी कार्य आर्यसमाजके लिये रहा नहीं। क्योंकि परमेश्वर भारतवर्षको अति शीघ्र स्वाधीन करना चाहता है। स्वामिजी को भेज कर ईश्वरने भारतके स्वतंत्र होनेका प्रोग्राम आर्यसमाजके द्वारा जनता के उद्धार करनेके लिये दिया। परंतु उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ। इसलिये उसी ईश्वरने पुनः महात्मा गांधीजीको भेजकर वही कार्यक्रम नये सिरेसे जनताके सामने रखा। संपूर्ण बहिष्कार अब भी हो नहीं सके, तथापि जो कार्य हुआ, उससे कांग्रेस का राज्य आधेसे अधिक भारतवर्षमें हो चुका है और उसकी प्रतिष्ठाभी पर्याप्त बढ चुकी है। महात्माजीके द्वारा प्रतिपादित सब कार्य होता, तो इस समय भारतकी प्रतिष्ठा औरभी अधिक बढ जाती।

अब यह मान और प्रतिष्ठा जो कांग्रेसको इस समय प्राप्त हो चुकी है, आर्यसमाजको प्राप्त होना, कार्य हो जाता, तो संभव था, परंतु अब असंभव है। क्योंकि उसको सबसे प्रथम मौका मिला था, तथापि उसने आपसके झगडोंमें अपना सब समय व्यतीत किया और आवश्यक कार्य कुछ भी किया ही नहीं। परमेश्वरके राज्यमें प्राप्त अवसरपर योग्य कार्य करनेवालोंकी हि उन्नति होती है।

श्री स्वामिजी द्वारा उपदिष्ट भारतोद्धारका कार्य इतना प्रचण्ड था कि उसके शुरू होनेपर उसमें सहस्रोंहि नहीं प्रत्युत लाखों मनुष्य रातदिन कार्य करते, तो भी वह, कार्य और मनुष्योंकी अपेक्षा करता। **भारतीय जनताको अपने पावोंपर अपने आत्मिक बलके सहारे अपनी शक्तिसे खडा करना**, यह कोई छोटा कार्य नहीं था। प्रत्येक ग्राममें तथा प्रत्येक स्थानमें पूर्वोक्त तीनो सभाओं द्वारा कार्य संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें करना असंख्य मनुष्योंके अतुल आत्मसमर्पणसे ही होनेवाला कार्य था। ऋषिके मस्तिष्कसे जो अपूर्व कार्यक्रम शुरू हुआ था, वह वैसाही प्रभावशाली था। परंतु वह प्रारंभमें हि क्षीण हुआ और उसको चलानेके योग्य महान् आत्मा जैसे चाहिये थे, वैसे मिले नहीं।

उक्त विशाल कार्यक्रमके स्थानपर आज जो कार्यक्रम बना है, वह मूर्तिपूजा न करना, श्राद्ध न करना, तीर्थ न मानना और अद्वैत न मानना, यह निषेधरूप चतुर्विध रहा है। करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं रही, और '**न करना**' ही श्रेष्ठ कार्यक्रम बन गया!! श्री स्वामिजीने उक्त सभाओंकी स्थापना द्वारा '**धर्म-न्याय-विद्या-संघटनाका विधायक कार्यक्रम**' करनेके लिये जनताके सामने रखा था, क्योंकि **उनको अतिशीघ्र भारतीय स्वतंत्र राज्यशासन सुस्थिर करना था।** इस मुख्य कार्यकी आतुरता तो उसके पश्चात् किसीको वैसी प्रबल नहीं रही, इसलिये आपसके वैयक्तिक झगडे खडे हुए और मांसपार्टी × घासपार्टी, कालेजपार्टी × गुरुकुलपार्टी ऐसी पार्टियां बनीं और जिस कालेजीय जीवनका श्री स्वामिजीने स्वप्नमें भी स्मरण नहीं किया, उसकी वृद्धि हुई और जिस गुरुकुलप्रणालीकी बुनियाद रखी थी, उसका पौधा नाम-मात्र प्राण धारण कर रहा है! परंतु समर्थ परिवारके लडके कालेजोंमें हि शिक्षा पाते हैं, और गुरुकुलपरीक्षाके पश्चात् युनिवर्सिटी की डिग्री पानेकी आतुरता दीखती है। और वैसा देखा जाय तो गुरुकुल भी कालेजके मार्गपर हि आयेगा, ऐसा दीखता है, क्योंकि '**कुल का प्रेम**' बहुत थोडे स्थानोंपर रहा है, और उस स्थानपर कालेजकी 'डिसिप्लीन' प्रभावी होनेका भय बढ रहा है। अतः कहना पडता है, जो स्वामिजीने चाहा था, वह उनकी इच्छानुसार बना नहीं और जो वे नही चाहते थे, वही बनने पाया है।

ऐसा क्यों हुआ? सोचना चाहिये। पाठकों! सोचिये।

आर्यसमाजमें रायसाहेब, रायबहादर और सरकारी ओहदेदार घुस गये, जो विदेशी सरकारके धनसे परिपुष्ट होनेवाले थे, ठेकेदार जो विदेशी राजके धनसे कारोबार करनेवाले थे, दुकानदार जो विदेशी वस्तुओं का व्यवहार कर रहे थे, इन सबकी भीड आर्यसमाजमें हो ही चुकी थी और उस भीडमें विदेशी सरकारकी अदालतों में जाकर विदेशी सरकारका कानून ठीक लोकहितकारी है, ऐसा रात दिन बोलनेवाले वकील और बैरिष्टरोंनेभी बडी भीड बढाई!

आर्यसमाज में इन लोकों की भीड बढनेसे

श्री स्वामिजीके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य के प्रोग्राम के लिये स्थान कहां मिलनेवाला था ?

उक्त सदस्योंमें ऐसा कौन रायसाहेब होगा कि जो 'यहांसे विदेशी आंग्रेजी राज्य शीघ्र चला जावे और "आर्योंका चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र यहां हो जावे" ऐसी स्वामिजीके आर्याभिविनयमें लिखी प्रार्थनाएं प्रतिदिन करता, और तदनुसार श्री स्वामिजी द्वारा प्रवर्तित तीनों सभाओंके प्रोग्राम के अनुसार कार्य करता ? क्या कभी वकील अपना अदालतों का कार्य छोड कर न्यायार्यसभा का कार्य बढा कर अपनी आमदनी घटाना चाहेंगे ? क्या कभी रायबहादर अपने पुत्रोंको जंगलके गुरुकुलमें १४ वर्ष बंद रखनेकी इच्छा कर सकेंगे ? क्या कभी ठेकेदार अंग्रेजों की अप्रीति होने योग्य कार्य कर सकते है ? और क्या ही ऐसे लोग समान शासन (Parallel Governmnt) का विचार भी मनमें ला सकते है ? स्व० महात्मा मुनशीरामजी अर्थात् श्री स्वा० श्रद्धानन्दजी एक ही ऐसे आत्मा थे कि जो अन्दर और बाहर से स्वामिजीके कार्य को बढानेकी चिन्ता करते थे, परंतु अकेला भद्र पुरुष क्या कर सकता है ?

कभी कोई समाज ५०।६० वर्षोंतक वैदिक धर्मके तेजस्वी जीवनमें सचमुच आकर जीवित रहता हुआ विदेशी सरकारके आधीन रह सकता है? वैदिकधर्मीके लिये- वेदका धर्म जाननेवाले के लिये दोही मार्ग खुले होते हैं,एक या तो वह अपना स्वतंत्र राज्य स्थापन करेगा अथवा दूसरा मृत्युके वशमें- स्वतंत्र स्वराज्य के लिये कार्य करता हुआ- चला जायगा और अपने जीवनको अमर बनावेगा !

श्री स्वामिजी के आर्याभिविनयमें '**आर्योंका स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र होनेकी प्रार्थना है,**' वह रायसाहेब किस तरह सिद्ध होने देंगे, और इनके कारण आर्योंमें वैदिक धर्मकी ज्योति किस तरह विशेष प्रदीप्त होती रहेगी और आचार्यजीका उद्देश्य भी किस तरह सिद्ध होगा ? श्री स्वामिजीका उद्दिष्ट कार्य सिद्ध न होनेका कारण यह है । औरभी कारण हैं, परंतु इन सबका विचार करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है ।

परतंत्रताके लिये स्थान नहीं।

वैदिक धर्म पारतंत्र्य को सह नहीं सकता, इसी लिये **श्रीस्वामिजीके रोमरोम में और वाक्य वाक्य में आर्योंके स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य अति शीघ्र स्थापित करनेका भाव जागता था।** आर्यसमाज स्थापन करनेका भी उद्देश्य यही था। परंतु विदेशी सरकारको अपनी शक्ति अर्पण करनेवाले बहुसंख्य लोग इस संस्थामें घुसनेसे स्वामिजी के सब कार्य जिधरके उधर हि रह गये और सब कार्य रुक जानेसे नाना प्रकारके आपसके झगडे शुरू हुए।

स्वतंत्र चक्रवर्ती राज्य स्थापन करनेवाले विदेशी राजाकी युनिवर्सिटीसे अपना संबंध क्यों रखेंगे? परंतु रायसाहेब दूसरा क्या कर सकते हैं? वकीलोंको धन न्याय-सभासे मिलनेवाला नहीं है, इस कारण उनको न्यायार्य-सभासे अरुचि होना नितान्त स्वाभाविक ही है। इसी लिये कालेज बढ गये, वकील बढ गये, रायसाहेब बढ गये, नौकर बढ गये और सब मिलकर वही करने लगे कि जो श्री स्वामिजीने कभी नहीं चाहा था।

वेदका आधार है।

इस तरह स्वामिजीकी सब बातें बिगड गयीं, और वे ऐसी बिगड गयीं कि इसके आगे उनका सुधार कभी होही नहीं सकता; क्योंकि अब उनही कार्योंको दूसरोंने संभाल लिया है, तथापि आर्यसमाजके पास एक ही बात रह गयी है, वह है 'वेद'। यह सबके आधारकी बात है यदि यह भी सिद्ध हुई तबभी कुछ बन सकनेकी आशा है।

परंतु वेदका धर्म जानकर प्रसार करनेवाले स्वतंत्र विचारके सदस्य चाहिये। इनको तैयार करनेके लिये गुरुकुलादि की स्थापना की गयी है। परंतु वहां भी स्वतंत्रता नहीं है। किसी बातके सिद्धान्तोंके अनुकूल या प्रतिकूल होनेका निर्णय करनेका ठेका इन्हींके पास है, जो वेदको स्वयं बिलकुल जान नहीं सकते। और ऐसी संस्थाओंसे उत्तीर्ण होकर जगत् में आनेवाले स्नातक विद्वानों के भवितव्यका निर्णय करना कराना भी वेदानभिज्ञों की संमतिपरहि सर्वथा निर्भर है। वेदका अध्ययन किये विना और आद्योपान्त वेदको समझनेके विना ही यहां

हरकोई जान सकता है, कि यह वैदिक सिद्धांतके अनुकूल है वा प्रतिकूल !!! आर्यसमाज, प्रतिनिधिसभा और सार्वदेशिक सभामें बहुसंमतिसे निर्णय होता है और वहां बहुसंख्या तो वेद न जाननेवालोंकी ही है। और वे अपने अंतःकरण से निश्चयपूर्वक समझते हैं कि हम वैदिक सिद्धांतों को समझते हैं, यद्यपि हम वेद आद्योपान्त नहीं समझते!!! इससे हमेशा यह हो रहा है कि, जो विशेष विद्वान् होकर वेद की खोज (Research) करने लगते हैं, वे ही बहिष्कृत होते जाते हैं। और जो लोगोंकी हां में हां मिलाते हैं, वे प्रतिष्ठा पाते रहते हैं। इस कारण विद्याकी वृद्धि रुकी है और ज्ञान की प्रगति होना असंभव हो चुका है, यही इस समयकी स्थिति है।

पं० विश्वबंधुजी जैसे रिसर्च स्कॉलर अलग हुए, पं० रघुवीर जी स्वयहि अलग रहे, पं० भगवद्दत्तजी कालेज के रिसर्च-विभागसे चले गये, नया कोई रिसर्च करने के लिये आगे नहीं आता, क्योंकि वह देखता है, कि दूसरोंकी मिट्टी किस तरह पलीत हो रही है, मैं क्यों अपनी जान खतरे मे डालूं?

श्री० स्वा० सत्यानन्द जैसे पवित्र उपदेशामृत की वृष्टि करनेवाले 'जपयोग'का प्रचार करने के कारण अर्थात् एक सत्य वैदिक मार्गका उपदेश देनेके कारण हटाये गये, वहां उनसे कमशक्ति रखनेवालों को कौन पूछता है? परन्तु पूजा तो उनकी होती है, कि जो पं० बुद्धदेवजी जैसा श्री० स्वामिजी के चित्रपर भरी सभा में लाथ मारता है, वह धर्म का मेरु समझा जाता है। वेद की खोज इस तरह एक भय का विषय हो चुका है और वह संमान का विषय होने की कोई आशा दिखाई नहीं देती।

खोज करनेवालों को स्वतंत्रतापूर्वक खोज करने देने से हि ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। वह तो यहां असंभव ही हो चुका है। स्तब्ध जल (Stagnant water) हो चुकने पर वह सडने लगता है, वह अवस्था आ चुकी है। श्री स्वामिजी ने यह सब पहिलेहि जान लिया था, इस लिये उन्होंने 'सत्यका ग्रहण और असत्य का त्याग करनेके लिये सदा उद्यत होना चाहिये।' ऐसा नियमहि बनाया और 'बाबावाक्यं प्रमाणं' न मानो, विविध प्रमाणोंसे जो सत्य सिद्ध हो, वही स्वीकार करो, ऐसा असंदिग्ध शब्दों से वारंवार कहा था। परंतु वह बात अब जाती रही और श्री स्वामिजी के पश्चात् भी जो उनके नामपर छापा जा चुका है, उसके अक्षर अक्षर को मानना चाहिये, ऐसा कट्टर पन्थ शुरू हो चुका है।

इस का परिणाम 'दयानन्द-पन्थ' बन जाने में अति शीघ्र होनेवाला है, जो उद्देश्य श्री स्वामिजी का कभी भी नहीं था।

इसलिये जो समझते हैं, कि वेद के धर्म की जाग्रती करना ही केवल एक मात्र कार्य अब अपने पास शेष रहा है, अन्य सब कार्य जो आचार्यजीने शुरू किये थे, वे सब नष्ट हो चुके हैं, उनको वेद के शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे अध्ययन होने के लिये क्या करना चाहिये, इस विषयका हार्दिक धर्मभाव से विचार करना चाहिये।

वेदकी खोजका मार्ग।

जिनका धर्म 'वेद' के द्वारा प्रतिपादित है, उनको उचित है कि सब से प्रथम अपने धर्मग्रंथोंकी अति शुद्ध पुस्तकें सुंदर छापकर सस्ते से सस्ते मूल्य से देने का प्रबंध करें। इन ग्रंथोंका पाठनिश्चय शास्त्रीय परंपराका विचार करके तथा पाठनिश्चयका जो शास्त्र है, उसके अनुसार करना चाहिये। प्रत्येक पद का और प्रत्येक अक्षर का तथा उदात्तानुदात्तादि स्वर का उत्तरदायित्व प्रकाशकों पर होना चाहिये। किसी भी कारण इन धर्म-ग्रंथोंमें-वेद के ग्रंथों में-एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये।

संपूर्ण उपलब्ध शाखासंहिताएं और संपूर्ण ब्राह्मण और आरण्यकोपनिषद्ग्रन्थ भी उक्त प्रकार शुद्ध, सुंदर और सस्ते छापने चाहिये। उन में प्रकरणविभाग के शीर्षक योग्य रीतिसे देकर, वे सब ग्रंथ मुद्रित होने चाहिये।

इस तरह संपूर्ण संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये सब ग्रंथ शुद्ध, सुंदर, सस्ते मुद्रित होने के पश्चात् उनकी विविध प्रकारकी सूचियां बननीं चाहिये। जिससे ग्रंथ लेतेहि इसमें यह विषय इस स्थानपर है, इसका झट् पता लगेगा और अभ्यासकको सुविधा होगी। ऐसी सूचियां इन सब ग्रंथों की बननी चाहिये।

इसी तरह वेदब्राह्मणारण्यकोपनिषदोंका वाक्यकोश भी अवश्य ही बनना चाहिये। जैसा उपनिषद्वाक्य कोश बना है, जिसमें एक एक शब्दवाले वाक्य एक स्थानपर मिल सकते हैं, वैसा कोश वेद और ब्राह्मणोंका बनना चाहिये। ये कोश जैसे Bible के अनेकविध concordence बने हैं, वैसे अनेकविध बनाने चाहिये। जिससे अभ्यासक का समय व्यर्थ खर्च न होते हुए सब खोज करने की सामग्री खोजकर्ता के सन्मुख तत्काल उपस्थित हो सकेगी, और योग्य रीतिसे खोज हो सकेगी।

इसके पश्चात् सब स्मृति, सब सूत्रग्रंथ, श्रौत और गृह्य सूत्र, सब अंगोपांग ग्रंथ, तथा इतिहासपुराण, तंत्रग्रंथ तथा अन्यान्य आगमादि ग्रंथ शुद्ध और सस्ते मुद्रित होने चाहिये और इन सबकी सूचियां भी बनानी चाहिये, जिससे इसमें यह बात इस स्थानपर है, इसका पता शीघ्र लग जाय।

कई यहां पूछेंगे कि इतिहासपुराणों की हमें क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में निवेदन है कि—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"

अर्थात् इतिहास और पुराणोंसे वेद के तत्त्वकी व्याख्या करनी चाहिये। कई वैदिक सूक्तों के अनुवाद इन ग्रंथों में हैं, वेद का आशय जानने के लिये उनको देखना आवश्यक है, कई वेदमंत्र के आधारपर अनेक कथाएं इन ग्रंथोंमें रची गयीं हैं, कई तत्त्वज्ञान वेद के आधार से फैले हुए हैं, इनकी खोज होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे आगे की खोज का मार्ग खुला हो सकता है। इसलिये इन सब ग्रंथों का मुद्रण होना वेदकी खोज के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
(श्री० भागवत)

वेद का अर्थ दर्शाने के लिए हि महाभारत रचा गया है, अतः किस तरह उसमें वेदार्थ बताया है, इसकी खोज करना अत्यंत आवश्यक है। कूपमण्डूकवृत्ति से वेदका तत्त्वज्ञान कदापि ज्ञात नहीं हो सकता है। जो कूपमण्डूकवृत्तिसे रहना चाहते हैं, वे वैसे रहें। परंतु जिनको वैदिक धर्मका प्रेम है, उनको शास्त्रीय दृष्टिसे खोज करने के कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये।

वेदकी खोज के संबंध में एक स्वतंत्र निबंध लिखना चाहिये। इतना गंभीर यह विषय है। यह कोई ऐसा ही होनेवाला कार्य नहीं है। एक एक बात के लिये पहाडों के पहाड ढूंढने पडते हैं। जिन लोगोंको इन परिश्रमोंकी कल्पना है, वेहि इस कार्य के महत्त्व को जान सकते हैं।

जो ग्रंथ मुद्रित हुए हैं, उनका भी संशोधन करके उनमें जो अशुद्धि हो, उसको बाहर निकालना चाहिये। व्रण के अन्दर शल्य रहने से वह व्रण कदापि ठीक नहीं होता है। ऐसा ही ग्रंथोंकी शुद्धता के विषय में है। ग्रंथ तो 'संशोध्यं व्रणिनोंगवत्' ग्रंथ का संशोधनव्रणकी शुद्धता के समान करना चाहिये। किसी ग्रंथ का शुद्ध पाठ निर्धारित करने के अनेक साधन हैं, उन में ये प्रमुख हैं—

१. हस्तलिखित ग्रंथों की तुलना करना,
२. मुद्रित ग्रंथों की सहायता लेना,
३. कण्ठ करनेवालों का सहाय लेना, तथा
४. अन्यान्य ग्रंथों में यदि उद्धरण हुए होंगे, तो उनका विचार करना।

पाठनिश्चय का आजकल एक पूर्ण शास्त्र बन चुका है, उन सब नियमों का सहाय लेना अत्यंत आवश्यक है। ऐसी सावधानी से जो ग्रंथ हम मुद्रित करेंगे, उस का मूल्य जगत् के संपूर्ण विद्वानों में होगा। अन्यथा वह ग्रंथ पंथाभिमानी और मतवालेहि कदाचित् क्षणमात्र मानेंगे। हमें कोई कार्य अधूरा नहीं करना चाहिये। जो शास्त्र इस समय है, उसका पूरा पूरा उपयोग करके शास्त्रशुद्ध मार्गसेहि चलना चाहिये।

लिखित ग्रंथालय।

उक्त वर्णन से पाठकों के मनमें यह बात आ चुकी होगी, कि आगे चलकर शास्त्रीय दृष्टिसे वेदोंकी खोज करनेके लिये जो शुद्ध ग्रंथों का मुद्रण करना अवश्यक है, उसके लिये हमारे पास एक बडा और विश्वस्त हस्त-

लिखित ग्रंथों का महान् पुस्तकालय चाहिये। ये ग्रन्थ सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त व्यय करना होगा। और भारतवर्ष में स्थानस्थानपर जा जाकर हस्तलिखित ग्रंथ लाने के लिये मनुष्य और धन इतना चाहिये कि जिस का विचार सामान्य मनुष्य कर ही नहीं सकता।

व्यय के अंदाजा के लिये हम यहां कह सकते हैं, कि ऐसे जल और अग्नि के भय से रहित मकान बनाने के लिये कम से कम एक लाख रु० लगेगा, और नानाविध हस्तलिखित ग्रंथों का सुयोग्य पद्धतिसे संग्रह किया जाय, तो दस लाख रु० भी थोडे ही होंगे। क्योंकि किन ग्रंथोंको कितना रुपया पडेगा, इसकी कोई कल्पना नहीं, और किस समय कितने ग्रंथ मिलेंगे, यह भी कोई नहीं कह सकता। भारतवर्ष में इतने ग्रंथ अभी तक छिपे पडे हैं कि उनको प्राप्त करना भी लाखों रुपयों के व्यय का कार्य है।

ग्रंथों की खोजके लिये ग्रामग्राम और घरघर में घूमनेवाले भी विद्वान् लोग चाहिये। साधारण अनाडी का यह कार्य नहीं है। उनको धन भी पर्याप्त चाहिये, धन दिये विना घरसे कोई ग्रंथ बाहर कोई भी दे नीं सकता। मान लीजिये कि आपने दस विद्वान् ग्रंथसंग्रह करने के लिये नियुक्त किये, तो उनका वेतन, प्रवास का व्यय, ग्रंथ खरीदने का व्यय, पुस्तकालय के स्थानपर सुरक्षित भेजने का व्यय, वहां सुव्यवस्था से रखने का व्यय, वहां के विशेष विद्वान् ज्ञाता पुस्तकाध्यक्ष का वेतन, पुस्तकालय के कर्मचारियों का वेतन, यह सब मिलकर प्रतिमास हजारों रु० का व्यय होगा, तो ही यह ग्रंथसंग्रह बन सकेगा। यह कोई विनामूल्य होनेवाला कार्य नहीं है। लाखों रु० खर्च करने पर भी और अधिक खर्च करने की आवश्यकता इसमें होगी।

परंतु यह अत्यंत आवश्यक कार्य है। वेदकी खोज के लिये इसके विना एक पांव भी आगे बढाया नहीं जा सकता। इतने महत्व का यह विषय है। अज्ञानी और शास्त्र को न जाननेवाले इसको समझ हि नहीं सकते, इसलिये इस कार्य के लिये उनसे धन मिलना असंभव है। ज्ञानी लोगों के पास धन नहीं होता, इसलिये उनसे धन खडा नहीं हो सकता। यही कठिनता है। धन के विना लिखित ग्रंथालय बनेगा नहीं, धन के विना चलेगा नहीं, अज्ञानियों से धन मिलेगा नहीं और ऐसा महान् लिखित ग्रंथालय न हुआ, तो शुद्ध ग्रंथ छापना और खोज करना असंभव है। ऐसा यह अन्योन्याश्रित विषय है। इसकी कुछ कल्पना पाठकों को हो, इसलिये यह यहां लिखा है, जो नहीं समझते उनको इस का महत्व समझाना भी अशक्य है। अस्तु।

वेद की खोज करने के लिये इतनी सामान्य तैयारी भी नहीं हुई है। फिर खोज कहां की? वेद का ठीक ठीक अर्थनिश्चय करना तो एक दूरकी बात है। वेद में इतने विविध विषय हैं कि उन सब विषयों का ज्ञान आजहि हरएकको होना कठीन है। वेदमें कई प्रकारकी चिकित्साएँ लिखी हैं। उनकी परिभाषा विभिन्न होती हैं, इस लिये जो पण्डित अर्थ करने लगता है, वह अपने अज्ञान के कारण इस को ठीक तरह खोल नहीं सकता। इस तरह के किसी अर्थलेखक ने अथर्ववेद का अर्थ करने के समय 'मूत्र' शब्द का अर्थ (सब शब्द ईश्वरवाचक हैं ऐसी कुछ विचित्र कल्पना करके) 'ईश्वर' अर्थ किया था। परंतु उस मंत्र में मूत्ररोगचिकित्सा का विषय था। अतः वैद्यक ज्ञान के विना वह सूक्त या मंत्र खुल नहीं सकता। इसी तरह युद्धविषयक और सेनाव्यूहविषयक मंत्रोंको खोलना युद्ध-विषय को जानने के विना हो नहीं सकता। इसी लिये एक एक विषय के पण्डित इकठ्ठे मिलकर वेदकी खोज करनी चाहिये। और उनको सब साधन मिलने चाहिये, और उनके मन परवश भी नहीं रहने चाहिये।

वेदकी खोज का विषय इतना गंभीर है। पूर्वग्रहदोष से यहां कार्य चलनेवाला नहीं और जिनमें यह दोष रहेगा, वे अर्थ का अनर्थ भी करेंगे। इस कारण इस दोषसे बचना अत्यंत आवश्यक है।

श्रीस्वामिजी महाराजने जो सार्वभौमिक भारतोत्थान का कार्यक्रम तैयार किया था, उसका तो उन के अनुयायियोंने पूर्ण विध्वंस किया ही है। अब एक वेद की बात बस कार्यक्रम में से शेष रही है, वह करने के लिये इतना प्रयास करना

आवश्यक है। परंतु यह बनेगा कैसा, यह हमारे समझमें नहीं आता। क्योंकि जो खोज करने लगता है, वह बहिष्कृत होता है। इसलिये पता तो ऐसा ही लगता है कि यह वेदविषयक कार्य भी ठीक शास्त्रीय पद्धति से होना कठीन है। और यदि सचमुच यही परिस्थिति और विचारों की गुलामी और मतवाद की कट्टरता रही, तो यह कार्य भी निःसंदेह नहीं होगा, और सचमुच यह भी न हुआ, तो श्री स्वामिजीने जो कार्य शुरू किया था, उसमें से एक भी नहीं हो सका, ऐसा ही सिद्ध होगा। सोचिये कि कितना दुर्भाग्य है।

ऋषिका उपहास।

ऋषि वह होता है कि जो सब से पहिले उन्नतिका सच्चा मार्ग स्पष्ट देखता है और उस मार्ग से जाओ, ऐसा कहता है। श्री स्वामी दयानन्दसरस्वतीजीने भारताभ्युत्थानका सच्चा मार्ग सबसे पहिले देखा, कहा और उस मार्गपरसे चलकर अपना साध्य प्राप्त करने की रीति भी बता दी। इसलिये उनको ऋषि कहना योग्य है। परंतु जो लोग उन के बताये मार्ग पर से बिलकुल चलना नहीं चाहते, प्रत्युत विरुद्ध ही चलते हैं, उन के आदेश के अनुसार चलने के इच्छुक भी नहीं हैं, उनकी **'आर्यों का चक्रवर्ती राज्य शीघ्र स्थापित करनेकी प्रार्थना भी प्रतिदिन नहीं करते,'** तीन सभाओंका कार्य नहीं करते, स्वदेश की गुलामी और परतंत्रता बढानेवाले विदेशी राजा के प्रबंधमें नौकरियां करते, पेनशनें खाते, पदवियां धारण करते, उनकी युनिवर्सिटीयोंके कॉलेजों में स्वयं पढते पढाते और अपने पुत्रों को भेजते हैं, विदेशी वस्त्रादि परिधान करते, अपनी पंचायतें न करते हुए सरकारी अदालतों में जाते और उस धंधे से धन कमाते, विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करके धन कमाते, वेद का अध्ययन नहीं करते, न करने देते, न सहायता करते हैं, और ऐसा विरोधी आचरण करते हुए उस पवित्रात्मा ऋषिके नाम का योग्य समय में तथा अयोग्य समय में गजर करते रहते हैं, क्या इस नामजप से उस ऋषि का अपमान और उपहास नहीं होता है? 'ऋषि दयानन्द की जय' ऐसा कौन कहे? जो उनके आदेशानुसार चलता है, वह कहे; उनके आदेशानुसार न चलनेवाले जयजयकार करेंगे, तो उनसे पूछना चाहिये, जय तो तब होगी जब उनका कार्य चलता रहेगा, और सर्वांगसंपूर्ण कार्य होता रहेगा। हमारे विचार से उनके अनुयायियोंने हि इतना उनके विरुद्ध आचरण किया है कि उनका सर्वांगसंपूर्ण कार्यक्रम अब इनसे होना असंभव है, और जो वेद का कार्य अबतक उनके हाथों में रहा है, वह भी स्वतंत्र खोज की अभाव में होगा, ऐसा दीखता नहीं। इस लिये जय कैसी होगी? और भारतवर्ष के बाहर ओंकार का झंडा कब जायगा, जब अनुयायियों के हृदयों में भी ओंकार सुस्थिर नहीं रहा?

पाठक पूछेंगे कि अनुयायियों के हृदयों में ओंकार का झंडा खडा नहीं हुआ, इसका प्रमाण क्या है? क्या ये प्रमाण देने चाहिये? पंजाब और युक्तप्रांत में हिंदी भाषा और देवनागरी अक्षरों का भी राज्य अभीतक नहीं हुआ, तो देवभाषा-संस्कृतभाषा-का राज्य कहां होना है? अभीतक ये लोग अपसव्यगामी उर्दू से भी बाहर नहीं आ सके, वे संस्कृत का उद्धार क्या करेंगे? गुरुकुलों में २० और २५ वर्षों तक बडेबडे स्थानोंपर विराजमान होने पर भी संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं होते, प्रतिनिधि-सभा में भी रहते हुए उर्दू को नहीं छोडते, वे संस्कृत से क्या करेंगे? और जो ६० वर्षों में संस्कृत अपना नहीं सके, वे वेदभाषा से क्या व्यवहार करेंगे?

जिनके हृदयों में सचमुच ओंकार का निवास हुआ है, वे छः मासोंके अन्दर हिंदी का व्यवहार कर सकते हैं और एक वर्ष के अन्दर संस्कृत में प्रविष्ट हो सकते हैं। संपूर्ण भाषाओं से संस्कृत भाषा सुगम है। उर्दू, हिंदी, मराठी, गुजराती से भी संस्कृत सुगम, सुबोध और शीघ्र साध्य होनेवाली है। ऐसी सुगम और सुबोध भाषा में-देववाणीमें- जो ५०।६० वर्षों में भी प्रविष्ट नहीं हो सके, उन के हृदयों में ओंकार का निवास कहां? श्री स्वामिजी की जन्मभाषा गुजराती थी, संस्कृत उनकी गुरुभाषा थी, परंतु अपने राष्ट्रोन्नति के कार्य के लिये जब उन्हों ने देखा कि आर्यभाषा की आवश्यकता है, तब उन्हों ने ४ महिनोंमें हिंदी सीखी और वेदभाष्य तक उस में लिखा।

कौन ऐसा है कि जो प्रतिदिन आधा घण्टा प्रयत्न करेगा, तो एक साल के अन्दर संस्कृत भाषा में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा? यदि सब लोग संस्कृत जान जायंगे, तो पण्डितों में सच्चा कौन और धोखा देनेवाला कौन, इसकी परीक्षा वे तत्काल कर सकेंगे। परंतु इस के लिये अन्तःकरण में तीव्र उत्सुकता चाहिये। वह कहां है ?

धार्मिक संस्था ।

संपूर्ण जगत् की धार्मिक संस्थाओं की स्थिति देखिये, युरोप-अमेरिका के सब देशों में 'मिशन सोसायटीज' हैं। परंतु उन के सब सदस्य उनके धर्मपुस्तक को आद्योपान्त जाननेवाले होते हैं, एक भी प्रबंधकारिणीका सदस्य धर्मग्रंथका अनभिज्ञ नहीं होता। मुसलमानों के धर्म-प्रचारक संस्था के सदस्य भी उनके धर्मपुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन करनेवालेहि मौलवी होते हैं।

परंतु यहां देखा जाय, तो प्रतिनिधिसभाओं के सदस्यों में आद्योपान्त वेद के ज्ञाता कितने हैं ? जो स्वयं नहीं जानते, वे वेदज्ञान की कठिनताओं को कैसे जानेंगे? हल करनेके उपायोंको कैसे सोचेंगे? आगे क्या करना चाहिये, इस का ज्ञान उसको कैसा होगा?

प्राचीन कालसे चली आयी प्रथा यह है, कि वेदशास्त्रज्ञहि धर्मसभा की प्रबंधकारिणी का सदस्य हो, एक वेदज्ञ भी सहस्रों अनभिज्ञों की अपेक्षा अधिक मूल्य की संमति दे सकता है। मनुने जो कहा है, वह यौंहि नहीं कहा। जबतक यह प्राचीन पद्धति प्रचलित थी तबतक वैदिक धर्म अस्ताव्यस्त नहीं हुआ था, और जिस समय वेदशास्त्रज्ञ स्वयं प्रबंधकारिणी सभाके सदस्य होंगे, उसके पश्चात् कोई कठिनता ही नहीं रहेगी।

सच्चा विघ्न वैदिक धर्म की प्रगति में यदि किस जगह है, तो वह अज्ञानियों के हाथों में ज्ञानियों की गर्दनें गयी हैं। यह विघ्न दूर हो गया, तो सब ठीक हो जायगा।

हमारी दृष्टि ।

हमारी दृष्टीमें आर्यसमाजद्वारा संचलित गुरुकुल संस्थाएं तथा अन्य संस्थाएं उनके सुयोग्य स्थानपर विराजती हैं। श्री० स्व० ला० लाजपतराय, श्री० स्व० स्वा० श्रद्धानंदजी महाराज, श्री महात्मा हंसराजजी तथा अन्यान्य महापुरुषों का अतुल स्वार्थत्याग हमारे सामने है। पूर्वाश्रम के ला० मुनशीरामजी वकील होते हुए भी गुरुकुल स्थापना के लिये कालेज पार्टी से किस तरह झगडते थे यह सब हमारे आंखके सामने है। तो भी जब सामूहिक तौरपर आर्यों के सुपुत्र विदेशी सरकार के कालेजों में जा रहे हैं, वकील और बैरिष्टर आर्य कहलाते हुए अदालतों में जा रहे हैं, आर्यों के मुकदमें अदालतों में चले जाते हैं, तब दुःखसे पता लगता है, कि श्री स्वामिजी की सदिच्छा सफल होने में विघ्न कहांसे हुआ है। वही यहां दर्शाया है। कई अपवाद होंगे तो वे नियमकी हि सिद्धि करेंगे।

आज रिसर्च करनेवालोंके उपर बहिष्कार डाला जा रहा है, कट्टरता बढाने के लिये यह आवश्यक समझा जा रहा है, परंतु इससे भय यह है कि जो श्री स्वामिजी के कार्य की एकही बात-'वेद' हमारे पास शेष रही है वह भी हमारे हाथों में नहीं रहेगी।

सोचनेवाले सोचें, करनेवाले करें। नहीं तो जो बननेवाला है, वही बनेगा। **शास्त्रीय सत्य अस्वाभाविक दबावसे दब नहीं सकेगा।**

कुछ विचारणीय पत्र

ता० १५-८-३८

श्रीमान् माननीय पण्डितजी,

सादर प्रणाम!

आपकी भेजी हुई ऋग्वेद-संहिता और यजुर्वेद-संहिता सुरक्षित रूप में प्राप्त हो गई हैं। आप की इस कृपा के लिए गुरुकुल-विद्यामंदिर आप का अतिशय अनुगृहीत है।

आपका वेदोंके शुद्ध मुद्रणका पुरुषार्थ अति अभिनन्दनीय है। हम सब आप के कार्य की पूर्ण सफलता चाहते हैं।

बहुत से लोग आप के कार्य के विषयमें यद्वातद्वा लिखते बोलते रहते हैं। करने योग्य काम करना नहीं और करनेवाले को निरुत्साहित करने का प्रयत्न करना! ऐसी उनकी वृत्ति हो गई है।

आप अपने कार्य पर आरूढ रहिये! हमारे मन आपके साथ है।

सब कुलवासी आपको प्रणाम करते हैं।

विनीत

शंकरदेव

मंत्री-गुरुकुल, सूपा। (नवसारी)

शास्त्रार्थके विषयमें

कभी भी मौखिक शास्त्रार्थ नहीं करें। उसका फल कुछ नहीं।

आपने अपना विचार विस्तार से लिख दिया है-ऋषि-देवता-छन्द के विषय में, जिससे सब विचार कर सके।

अब पं० ब्रह्मदत्तजी का भी धर्म था, कि वे अपना सब कथन मासिक में प्रकट करते, जिससे सबको विचार करने का पूरा अवसर मिलता और आपके विचार के साथ तुलना कर सकते। परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। कारण क्या? मौखिक शास्त्रार्थ के लिये भी आग्रह क्यों?

हां, वे विद्वान् हैं। अपनी रीतभातसे घमंडी प्रतीत होते हैं। छिद्रान्वेषी हैं, ऐसा मालूम होता है। वहां उनकी एक टोली बन गई है। इसलिये शास्त्रार्थ नहीं करना अच्छा है।

आजतक किसीने नहीं किया, ऐसा सार्वजनिक महायोग्य काममें आप लगे हैं, उसमें बाधा डालने का वे प्रयत्न करते हैं। ईर्षा बडी बुरी चीज है। उनको कुछ काम करने का नहीं है। आप अपने काम में ही दत्तचित्त रहें। उनकी उपेक्षा करें। जो करना हो, वह वे भले ही करें। अन्य दो वेद छप चुकने पर शास्त्रार्थ का विचार रखें।

अध्यक्ष के जो तीन नाम आपने दिये हैं, वे ही रहें। क्या वे असत्यवादी हैं? दो तो आर्यसमाजी ही हैं। एक विशेष बात-आप काशीनगर का नाम शास्त्रार्थ के स्थल के लिये देवें और वहां के धुरन्धर पंडितों के भी नाम देवें।

यह कार्य सबके हितके लिये है। इसलिये जहां विद्वान नहीं वे नगर क्यों पसन्द करें?

अंतमें- हालमें ऐसे झगडे में मत पडें। अपने पवित्र कार्य में हि लगे रहें। बस-इतना बस है।

नारायण दलपतिराम भगत, अहमदाबाद।

'सामगायन'।

श्रीमान् पूज्यवर पंडितजी; सादर नमस्ते।

सर्वप्रथम में जो यह पत्र आप की सेवामें भेज रहा हूं, जिज्ञासु के रूप में, न कि आक्षेप।

सामवेद के गान को किस तरह से गाया जाय, यही अभी तक किसी भी भाष्यकारने स्पष्ट नहीं किया। स्वामी तुलसीरामजी तथा पं० जयदेवजी विद्यालंकार अपने भाष्यकी भूमिका में स्पष्ट नहीं लिखते। वे यही लिखते हैं कि नारद-संहिता गन्धर्ववेद आदिसे पता चल सका है। और आपके यहां से भी जो 'वैदिक धर्म' का विशेषांक निकला उसमें भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं लिखा, नारदीय शिक्षा का आधार लिया है।

प्रथम-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

(१) उदात्त में निषाद और गंधार (२) अनुदात में ऋषभ धैवत (३) स्वरित में षड्ज, पंचम, मध्यम। यह स्वर माने गये हैं, ऐसा सब भाष्यकारों का मत है।

(१) निषाद और गंधार दो होते हैं। शुद्ध और कोमल कौनसा स्वर निश्चय है, जिसको उदात्त में काम में लावें। शुद्ध या कोमल इसी तरह से अनुदात को भी। स्वरित में तो षड्ज, पंचम एक ही है, मध्यम तीव्र लगता है। कौनसा मध्यम, यह स्वर निश्चित नहीं खाली लिखने से कि इसको उदात्त अनुदात स्वरित कहते हैं। यह तो एक एक का अनुकरण दूसरे ने किया, वंशपरंपरा की लेखनशैली हुई। निश्चयात्मक नहीं कि इसी तरह गाना चाहिए।

(२) हरएक मंत्र में १. २. ३. अंक उपरको लिखे रहते हैं और कहीं कहीं क, र शब्द भी लिखे रहते हैं, इनको क्या काम में लाना चाहिये या कैसे इनका उपयोग सामगान में करना चाहिये, यह भी नहीं बताते। हां हर एक यह लिखते हैं, **'गोतम ऋषि इस प्रकार गाते हैं।' 'कश्यप ऋषि इस प्रकार गाते हैं।'** परन्तु यह अभीतक किसी ने नहीं लिखा कि गोतम ने उदात्त में यह स्वर निश्चय किया और १. २. ३. वा २. ३. ४ या क. र इनमें यह स्वर या यह मात्रा निश्चय करके गाया। मात्रा की गिनती भी किससे निश्चय की। किसी वाद्य से या कि और? और मात्रा किसको कहते हैं? इत्यादि इत्यादि अभीतक किसीने स्पष्ट नहीं किया, वही वंशपरम्परा की लेखनशैली काममें लाई जाती है। **सामगान** निश्चय नहीं, जिसकी इच्छा हो जैसे गाये, स्वरसहित या बेसुरा-। आपके यहां वेद छप रहे हैं और ऐसा भी मालुम हुआ है कि कई एक विद्वान् चारों वेदों के आपके यहां हैं। और महाराष्ट्र संगीत-प्रधान देश है। क्या आपके यहां विद्वानों में कोई ऐसा **सामवेदी** है, जो **स्वर ताल** सहित (वाद्य के साथ) सामवेद गा सकता है और मेरी शंका को निवारण कर सकता है? यदि हो तो मै आकर उन महानुभाव से सामगान सीखूं।

मै मुंबईप्रदेश आर्यप्रतिनिधिसभा आणंद में (जिसके मंत्री बापुभाई, कु० पटेल मंत्री हैं) प्रचारक का कार्य करता हूं और साथ साथ वेदोंका भी प्रचार करताही हूं। मंत्रीजी के कथनानुसार ग्राहक बनानेकाभी प्रयत्न करता हूं। मेरी इच्छा कई दिनोंसे सामगान सीखने की है, परंतु अभीतक पद्धतिपूर्वक सामगान सुननेमें नहीं आया जहां जहां (भावनगर आदिमें) भी सुना बेसुरा सामगान ही सुना। सामवेद आप के यहां सुरीला सामगान कोई जानता हो? तो मुझे भी अमूल्य लाभ मिले।

आपसे प्रार्थना है कि इस कमी को जो अभी तक सामगानकी पद्धतिको स्पष्ट करके वेद जो छप रहे हैं, उसमें पूर्ण रूप से किसी गायनाचार्य की सहायतासे पूर्ण करेंगे।

आशा है पत्रोत्तर देने की कृपा करेंगे। योग्य सेवा

ओ३म् शम्।

आपका कृपाकांक्षी

कन्हैयालाल आर्य

C/O आर्य- समाज, आणंद

(इसी अंक में दूसरे स्थानपर सामवेदगान कैसे गाने चाहिये, वह दिया है। यदि ये महाशय जनवरी में यहां औंध आवेंगे, तो उनको सामगान की पद्धति सिखायी जा सकती है। —संपादक)

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना ।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति ॥ ४ ॥
न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः ।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते ॥ ५ ॥
कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत् ।
चोदः कुवित्तुतुज्यात्सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे ॥ ६ ॥
घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते ।
इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम् ॥ ७ ॥
अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः ।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः ॥ ८ ॥[१२](१५७२)

॥ १४४ ॥

१-७ दीर्घतमा औचथ्यः । अग्निः । जगती

एति प्र होता व्रतमस्य माययोर्ध्वां दधानः शुचिपेशसं धियम् ।
अभि स्रुचः क्रमते दक्षिणावृतो या अस्य धाम प्रथमं ह निंसते ॥ १ ॥
अभीमृतस्य दोहना अनूषत योनौ देवस्य सदने परीवृताः ।
अपामुपस्थे विभृतो यदावसदध स्वधा अधयद्याभिरीयते ॥ २ ॥
युयूषतः सवयसा तदिद्वपुः समानमर्थं वितरित्रता मिथः ।
आदीं भगो न हव्यः समस्मदा वोळ्हुर्न रश्मीन्त्समयंस्त सारथिः ॥३॥
यमीं द्वा सवयसा सपर्यतः समाने योना मिथुना समोकसा ।
दिवा न नक्तं पलितो युवाजनि पुरू चरन्नजरो मानुषा युगा ॥ ४ ॥
तमीं हिन्वन्ति धीतयो दश व्रिशो देवं मर्तास ऊतये हवामहे ।
धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वत्यभिव्रजद्भिर्वयुना नवाधित ॥ ५ ॥
त्वं ह्यग्ने दिव्यस्य राजसि त्वं पार्थिवस्य पशुपा इव त्मना ।
एनी त एते बृहती अभिश्रिया हिरण्ययी वक्वरी बर्हिराशाते ॥ ६ ॥
अग्ने जुषस्व प्रति हर्य तद्वचो मन्द्र स्वधाव ऋतजात सुक्रतो ।
यो विश्वतः प्रत्यङ्ङसि दर्शतो रण्वः संदृष्टौ पितुमाँ इव क्षयः ॥ ७ ॥[१३](१५७९)

॥ १४२ ॥

१-१३ दीर्घतमा औचथ्यः । आप्रीसूक्तं= [१ इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा, २ तनूनपात्, ३ नराशंसः, ४ इळः, ५ बर्हिः, ६ देवीः द्वारः, ७ उषासानक्ता, ८ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ९ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, १० त्वष्टा, ११ वनस्पतिः, १२ स्वाहाकृतिः, १३ इन्द्रः ।] अनुष्टुप् ।

समिद्धो अग्न आ वह देवाँ अद्य यतस्रुचे । तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं सुतसोमाय दाशुषे ॥ १ ॥
घृतवन्तमुप मासि मधुमन्तं तनूनपात् । यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः ॥ २ ॥
शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति । नराशंसस्त्रिरा दिवो देवो देवेषु यज्ञियः ॥ ३ ॥
ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम् । इयं हि त्वा मतिर्ममाच्छा सुजिह्व वच्यते ॥ ४ ॥
स्तृणानासो यतस्रुचो बर्हिर्यज्ञे स्वध्वरे । वृञ्जे देवव्यचस्तममिन्द्राय शर्म सप्रथः ॥ ५ ॥
वि श्रयन्तामृतावृधः प्रयै देवेभ्यो महीः । पावकासः पुरुस्पृहो द्वारो देवीरसश्चतः ॥६॥[१०]
आ भन्दमाने उपाके नक्तोषासा सुपेशसा । यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरा सुमत् ॥ ७ ॥
मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी । यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम् ॥ ८ ॥
शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती । इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः ॥ ९ ॥
तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना । त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥१०॥
अवसृजन्नुप त्मना देवान्यक्षि वनस्पते । अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः ॥११॥
पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे । स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन ॥१२॥
स्वाहाकृतान्या गह्युप हव्यानि वीतये । इन्द्रा गहि श्रुधी हवं त्वां हवन्ते अध्वरे॥१३॥[११]

॥ १४३ ॥ (१५६४)

१-८ दीर्घतमा औचथ्यः । अग्निः । १-७ जगती, ८ त्रिष्टुप् ।

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे ।
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीदद्दृत्वियः ॥ १ ॥
स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने ।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ॥ २ ॥
अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः ॥ ३ ॥ (१५६७)

वेदमुद्रणका कार्य

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हि हैं। परंतु किसी को अपने घर में वेदके सब ग्रंथ रखने हों, तो शुद्ध छपे, सुन्दर और सस्ते वेदग्रन्थ किसी भी स्थानपर इस समय नहीं मिलते।

युरोपमें मुद्रित कई वेदग्रंथ मिलते हैं, परंतु उनका मूल्य सैंकडों रु० होनेसे वे भारतवासियों को दुष्प्राप्य ही हैं और वहां सब वेद छपे भी नहीं हैं।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हैं और वे संपूर्ण विश्वमें अति प्राचीन धर्मग्रंथ हैं, इतने प्राचीन धर्मग्रंथ इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं हैं। अतः इनका महत्त्व अधिक है।

सब अन्य धर्मियोंके धर्मग्रंथ उत्तम छपे मिलते हैं, परंतु हमारे वेद हि अबतक शुद्ध, सुंदर और सस्ते छपे मिलते नहीं। भारतीय आर्यों-हिन्दुओं-सनातनधर्मियों को यह बात लजास्पद है। इस कारण हमने वेदमुद्रण का कार्य प्रारंभ किया है। शुद्ध, सुन्दर, और सस्ते सब वैदिक ग्रंथ छापने का कार्य स्वाध्यायमण्डल में प्रारंभ हुआ है, ऋग्वेद और यजुर्वेद छप चुके हैं और साम और अथर्व छप रहे हैं। अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद पर्यंतके सब वैदिक वाङ्मयके ग्रंथ तथा वेदके अङ्गोपाङ्गादि सब ग्रंथ भी छापने हैं, इन ग्रंथोंकी संक्षिप्त सूची यह है।

१. ऋग्वेद।

ऋग्वेद-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रातिशाख्य, ऋग्विधान, चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय।

२. यजुर्वेद।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, तैत्तिरीय-संहिता, कपिष्ठल - संहिता, काठक - संहिता, मैत्रायणी-संहिता, इत्यादि संहिता ग्रंथ; शतपथ ब्राह्मण, (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य, उपनिषद् आदि यजुर्वेदीय वाङ्मय;

३. सामवेद।

सामवेदसंहिता, सामगानके सब ग्रंथ, आरण्यक संहिता। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय;

४. अथर्ववेद।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलादसंहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व प्रातिशाख्यादि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय।

यह संक्षिप्त सूची है। इन सब ग्रंथोंको शुद्ध, सुन्दर और सस्ता छापना है, इनके भाषामें भाषान्तर करने हैं, और सर्व प्रकारकी सूचियां, पदसूची, वाक्यसूची, विषय-सूची, ऋषिसूची, देवतासूची, स्थानसूची, इत्यादि अनेक प्रकारकी सूचीयां बनानी हैं, जिनसे वैदिक विषयोंकी खोज करनेवालों की सहायता होगी।

इन सब ग्रंथोंका मुद्रण पांच वर्षों में समाप्त करना है और इस कार्य के लिये व्यय का अंदाजा एक लाख रु० का किया है।

इसमें मूल चार वेद की संहिताओंके ब्लाक बनाने का व्यय भी संमिलित है। वेदके ग्रंथोंमें कंपोजिंग के कारण अनेक अशुद्धियां रह जाती हैं। कितना भी प्रूफ संशोधन किया, तो भी किसी स्थान में कुछ अशुद्धि रही जाती है। अतः इनके ब्लाक एक वार बनाये जायंगे, तो आगे उनसे लाखों पुस्तकें छापने पर भी अशुद्धि होने की संभावना नहीं होगी। हमेशा के लिये इस तरह शुद्ध छापनेका प्रबंध होगा, और अत्यंत सस्ता देने का भी प्रबंध होगा। इसलिये यह कार्य वैदिक धर्मकी जाग्रति के लिये अत्यंत आवश्यक है।

हमने इस समय केवल वैदिक वाङ्मय के मुद्रणका संकल्प इन पांच वर्षों में किया है, ऐसा लिखा है, इस का अर्थ यह नहीं है कि स्मृतिग्रंथ, सूत्र (श्रौत और गृह्य) ग्रंथ, इतिहास, पुराण ये छापने नहीं है और इनका वैदिक वाङ्मय से कोई संबंध नहीं है। संबंध तो अवश्य है, परंतु जबतक वैदिक वाङ्मय छपकर तैयार नहीं होगा तबतक इन ग्रंथोंके मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया जायगा, इतना ही उक्त कथन का आशय है। वैसा तो स्वाध्याय मण्डल द्वारा संपूर्ण महाभारत छापकर प्रकाशित हुआ ही है। परंतु कोई एक ही कार्यपर विशेष लक्ष्य देनेसे वह कार्य ठीक रीतिसे और शीघ्र होता है, इसलिये हमने आगामी ५ वर्षों में इस एक ही वैदिक मुद्रणकी ओर विशेष लक्ष्य देकर इसको मुद्रित करना है।

वैदिक वाङ्मय हमारे धर्म के आद्य आधारग्रंथ हैं, इसकी खोज याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियोंसे करनी अत्यंत आवश्यक है। इस खोजके विना किसी तरह भी वैदिक धर्म के सिद्धांन्तों का निर्णय नहीं हो सकता। जब लोगोंके पास वेद के शुद्ध ग्रंथ ही नहीं हैं, तो खोज करनेवाले खोज कैसी करें ? इसलिये सर्व प्रथम वेदमुद्रण का कार्य होना अत्यंत आवश्यक होनेसे वही कार्य करनेका हमने संकल्प किया है

इस कार्यका व्यय करीब एक लाख रु० होनेवाला है, इस के लिये धनिक लोग दान देंगे, तभी यह कार्य हो सकता है। सब जगत् के धार्मिक ग्रंथ धनियोंके दानोंसे हि मुद्रित होते हैं और वैदिक धार्मियों में धर्मभावना किसी तरह भी कम नहीं है, इसलिये हमें पूर्ण आशा है कि धनिक वैदिक धर्मियोंसे इस पवित्र कार्य के लिये आवश्यक धन अवश्य ही प्राप्त होगा

इस धार्मिक कार्य को धन देनेवालों के निम्न लिखित प्रकार वर्ग किये गये हैं—

(१) प्रतिपालक वर्ग।

(अ) प्रथम प्रतिपालकवर्ग- जो दश हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(आ) द्वितीय प्रतिपालक वर्ग- जो पांच हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(इ) तृतीय प्रतिपालक वर्ग- जो तीन हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(२) पालक वर्ग।

(ई) प्रथम पालक वर्ग- जो दो हजार रु०की धनराशी दान देते हैं।

(उ) द्वितीय पालक वर्ग-जो एक हजार रु०की धनराशी दान देते हैं।

(ऊ) तृतीय पालक वर्ग- जो पांच सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(३) पोषक वर्ग।

(ऋ) प्रथम पोषक वर्ग- जो तीन सौ रु०की धनराशी दान देते हैं।

(ॠ) द्वितीय पोषक वर्ग- जो दो सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऌ) तृतीय पोषक वर्ग- जो एक सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

सूचना— यह सब तीनों वर्गों के लोगों की धनराशी एक समय हि स्वा० मण्डलमें पहुंचनी चाहिये। क्योंकि स्वाध्यायमण्डल का वेदमुद्रणकार्य वेगसे चल रहा है, इसलिये उसके व्यय के लिये धनकी आवश्यकता रहती है।

उक्त सब धनदाताओं को स्वाध्याय-मंडल के ग्रंथ जो उनका धन आने के बाद छपेंगे, वे सब मिल ही जायंगे, परंतु प्रतिपालक और पालक वर्ग के धनदाताओं को पूर्व-मुद्रित ग्रंथ भी उनसे मांग आनेपर दिये जांयगे। पोषक वर्ग के सदस्यों को पूर्वमुद्रित ग्रंथ आधे मूल्य से मिलेंगे।

प्रतिपालक, पालक और पोषक वर्गके सब सदस्य स्थायी सदस्य होंगे, अर्थात् उनको वंशपरंपरातक उनका सदस्यपन रहेगा और उनके वंशजों को भी सब पुस्तक प्राप्त होते रहेंगे। तृतीय वर्गके पोषक सदस्यों को किसी

एक भाषा के हि ग्रंथ मिलेंगे, शेष प्रतिपालक-पालक-पोषक सदस्योंको सब भाषाओंके अर्थात् जितनी भाषाओं में स्वाध्याय-मण्डलके ग्रंथ मुद्रित होंगे, मिलते जायंगे।

इस समय मराठी और हिंदी भाषा में ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं, और गुजराती भाषा में ग्रंथ प्रकाशित करने का कार्य अति शीघ्र शुरू होनेवाला है

दान।

(४) दानी- जो यथाशक्ति धन का दान करते हैं, नियमपूर्वक मासिक दान देते हैं, अथवा यथासमय सामयिक दान करते हैं। उनको उनके दान की रकम जितनी यहां प्राप्त होगी, उस रकम के अनुसार पुस्तकें, उनकी इच्छा लेने की होगी तो, भेजीं जायंगी

निधि-स्थापना।

(५) निधिस्थापना- स्वाध्यायमण्डल में नियत धनराशी नियत समय के लिये रखी जाती है, और उसके सूद में प्रतिवर्ष पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रतिशतक ६ रु० के हिसाबसे दी जाती हैं। निधि रखनेवाले की इच्छा के अनुसार ये पुस्तके प्रतिवर्ष उनको भेजी जाती हैं।

इस प्रकारकी धनराशीका उपयोग वैदिक ग्रंथोंके मुद्रणमें होता है, इसलिये यह धनराशी कमसे कम तीन वर्षतक यहां रखनी चाहिये। तत्पश्चात् जिस समय चाहिये, उस समय एक मास की सूचनासे वापस हो सकती है।

इस प्रकारकी धनराशीमें १००) से कम अथवा १०००) से अधिक धनराशी नहीं ली जाती। एक हजारसे अधिक धनराशी उस शर्तपर ली जायगी, जब प्रतिवर्ष एक हजारसे अधिक वापस न ली जावे।

जो धनी महाशय इस रीतिसे वेदमुद्रणकी सहायता कर सकते हैं, करें।

विभागशः दान।

जो सज्जन एकदम रकम नहीं देना चाहते वे नियमपूर्वक प्रतिमास अपनी किश्त भेजकर एक वर्षके अन्दर अपने भागका रु० स्वाध्यायमण्डलमें पहुंचा देवें। एक वर्ष के अन्दर रु० पहुंचना चाहिये, क्योंकि यह वेदमुद्रण का कार्य पांच वर्षोंमें समाप्त करना है। जो विभागशः धन देना चाहते हैं, वे एक वर्षमें अपनी सुविधाके अनुसार धन यहां भेजे।

अनामत रकम।

जो कुछ रकम अनामत अपने खातेमें रखना चाहते हैं, वे वैसा करें, उनकी रकम की समाप्तितक उनको उतने मूल्य की वैदिक या अन्य पुस्तकें, डाकव्यय माफ करके, भेजीं जायंगी। इनको डा० व्य० का लाभ होगा। उनकी रकम समाप्त होने पर उनको सूचना दी जायगी।

वी० पी० से मांग।

जो सज्जन १०) दस रु० स्वा०मण्डलमें जमा करके अपना नाम वेदके ग्राहकवर्गमें लिखेंगे और वी०पी० से पुस्तकें मंगावेंगे, उनको वैसी भेजीं जायंगी, आधा डा० व्य० उनको माफ होगा। यदि वी० पी० वापस आ गयी, तो पूरा डा० व्य० उक्त रकमसे काटा जायगा।

कमिशन।

जो सज्जन दस ग्राहक जिस प्रकारके बनावेंगे और उनकी रकम यहां भेज देंगे, उनकी रकम यहां प्राप्त होनेपर उनको एक ग्राहक उस प्रकारका बनाया जायगा। कई लोग इस तरह वेदकी बहुत सेवा कर सकते हैं।

इस समयतक बने सदस्य=

१ श्रीमंत महाराजा औन्धनरेशजी ५०००)
२ श्री० डा० लालचन्द्रजी पेन्शनर २०००)
३ मे० विठ्ठलदास हरिदास ऍंड कं १०००)
४ श्री० सेठ रामभाई नारायणभाई ५००)

इनके अतिरिक्त पोषक वर्गके बहुतसे सदस्य हैं, जिनके नाम रिपोर्ट में छपे जायंगे।

वेदके शुद्ध पुस्तकोंकी मांग।

ऋग्वेद हमारा प्रथम वारका मुद्रित सब का सब चार महिनों में समाप्त हुआ और अब द्वितीय वार अधिक सुधार करके मुद्रित करनेका कार्य प्रारंभ करना पडा है। इतनी मांग अच्छे ग्रंथों की है। इसलिये इस वेद मुद्रण की आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता जितनी हो सकती है, करना हरएक वैदिक धर्माभिमानी के लिये अत्यंत योग्य है।

श्रीमान् प्रबंधकर्ता स्वाध्याय-मण्डल,

औंध, जि० सातारा

मैं आप के वेदमुद्रण के लिये————— वर्ग में रु०

(रुपये—————) सहायता देता हूं —————

————————————————

————————————————

कृपया स्वीकार करिये और मुझे ग्राहक बनाइये ।

भवदीय

पूर्ण नाम —————————————

पूर्ण पत्ता —————————————

तिथि ————————— जिला —————————

————————— देश —————————

'वैदिक धर्म' के ग्राहकोंके लिये
विशेष सहूलियत

'वैदिक धर्म' मासिक पहिले २४ पृष्ठोंका था और उस समय ३) रु० वार्षिक चन्दा था। अब ८० पृष्ठोंका हुआ है और ५) चन्दा किया है। और एक दो महिनों से हम इसको १०० पृष्ठों का करना चाहते हैं और भरपूर वेदके ही संबंध के लेख देना चाहते हैं, जिसे वाचक पढें और आचरण करके उन्नतिका साधन करें।

स्वाध्यायमण्डल वैदिक धर्म के प्रचार के लिये खोला है, इसलिये वैदिक धर्मके ग्राहकों को विशेष सहूलियत देना चाहते हैं, कि वैदिक धर्मका खूब प्रचार हो और वैदिक धर्म की चारों और जाग्रति हो।

जो वैदिक धर्म के ग्राहक, पुराने या नये, १६) सोलह रु० की मनीआर्डर भेजकर स्वाध्याय-मण्डलकी पुस्तकें मंगावायेंगे उनको वैदिक धर्म एक वर्ष विनामूल्य मिलेगा और साथ ही साथ साथवाले पृष्ठपर लिखे कोई पुस्तक २०) बीस रु० मूल्य के वे मंगवा सकते हैं।

१६) रु० भेजनेसे आपको २०) के पुस्तक+ ५) का वैदिक धर्म मासिक मिलेगा और रेलेसे भेजनेका व्यय तथा पैकिंग माफ होकर आपका २७) से भी अधिक लाभ होगा।

पुस्तक हम अपने व्यय से भेज देगें। ग्राहक अपना रेलस्टेशन लिखें।

जो सज्जन 'वैदिक धर्म' के पांच नये ग्राहक बनायेंगे और उनका कुल वार्षिक चन्दा २५) रु. भेजेंगे, उनको 'वैदिक धर्म' मासिक एक वर्ष विना-मूल्य मिलेगा।

इस सहूलियत से, पुराने और नये, सब ग्राहक लाभ उठा सकते हैं। जो सज्जन धार्मिक दान करना चाहते हैं, वे भी इससे लाभ उठावें।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

	मू.	डा०व्य०
देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	।।)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल औंध [जि० सातारा]

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान्साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान ॥३४॥
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत्॥ ३५ ॥
याज्ञवल्क्यो बभूवाऽथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत ॥३६॥
एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३७ ॥
ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तंदेवयजनं महत् ॥ ३८ ॥
तत्र चक्रुरनुज्ञाता शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम॥३९॥
तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥ ४० ॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाऽऽशुगान्द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान्प्राहिणोत्तदा ॥ ४१ ॥
आमन्त्रय वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्भूमिपानथ ।
विशश्च मान्याञ्शूद्रांश्च सर्वानानयनेति च ॥ ४२॥

द्वैपायनने साक्षात् वेदसदृश मूर्तिमान ब्राह्मणोंको ऋत्विकके कार्यमे नियुक्त किया और स्वयं यज्ञके ब्रह्म-कार्यमे दीक्षित हुए। धनञ्जय गोत्रके श्रेष्ठ सुसामा नामक ऋषि उद्गाता, ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य अध्वर्यु,वसुपुत्र पैल और धौम्य होता और उनके वेदवेदान्तदक्ष शिष्य और पुत्रवर्ग होत्र-ग बने। (३३-३७)

उन्होने स्वस्तिवाचन करके उक्त यज्ञके लिये उद्देश निर्देश अर्थात् सङ्कल्प करके उस विस्तृत यज्ञभूमिकी शास्त्रानुसार पूजा की। आगे शिल्पियोंने आज्ञा पाय वहां देवोंके मन्दिर समान सुगन्धित और लम्बे चौडे गृह बना दिये। अनन्तर पुरुषवर राजश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने मन्त्री सहदेवको उसी क्षण आज्ञा की, कि तुम निमन्त्रणके लिये शीघ्र चलने वाले दूतोंको शीघ्र भेज दो। सहदेव तब राजाकी आज्ञा सुनके ऐसी आज्ञा दे करके, कि राज्यके सब ब्राह्मण,भूप और वैश्योंको निमन्त्रण करो,तथा शूद्रादिक भी लाओ,दूतोंको भेज दिया। (३८-४२)

वैशम्पायन उवाच–समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चाऽपरान्द्रुतम्॥४३॥
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४४ ॥
ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४५ ॥
दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४६ ॥
भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४७ ॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।
आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४८ ॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।
तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान्सगणानां पृथक्पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नाञ्शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ५० ॥
तेषु ते न्यवसन्राजन्ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ५१ ॥

श्रीवैशम्पायनजी बोले, कि अनन्तर शीघ्रगामी दूतोंने आज्ञा पाय सहदेवके वाक्यानुसार सबको नेवता दिया और उनके अतिरिक्त क्या स्वजन क्या अन्यजन, ऐसे अनेक लोगोंको भी साथ लिवाय लाये। हे भारत! तिसके अनन्तर उन ब्राह्मणोंने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको राजसूयके लिये योग्य कालमें दीक्षित किया। नरवर धर्मात्मा धर्मनाथ दीक्षित होके और सहस्रों विप्रोंसे घेरे जाय भाइयों, ज्ञातियों मित्रों अनेक दिशा-देशोंसे आये मनुष्यश्रेष्ठ क्षत्रिय तथा मन्त्रियोंके सहित मूर्त्तिमान धर्मकी भांति यज्ञस्थानमें गये। (४३-४८)

सर्व विद्याओं में पण्डित वेदवेदाङ्गपारग ब्राह्मणगण नाना देशोंमे वहां आके एकत्रित होने लगे। सहस्रों शिल्पियोंने धर्मनाथकी आज्ञासे साथी समेत उन सब विप्रोंके अलग अलग वासगृह बना दिये। उन गृहोंमें बहुविध भोजनकी सामग्री और वस्त्रादि धरे थे और वसन्तादि सब ऋतुओंके कार्य विद्यमान थे। हे महाराज! ब्राह्मणगण भूपालसे सत्कृत होय वहां वस कर

ॐ

स्वाध्याय-मण्डल

औंध, (जि० सातारा)

द्वारा प्रकाशित

पुस्तकोंका

सूचीपत्र।

मुद्रक और प्रकाशक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा.)

Post AUNDH, (Dt. Satara)

Station RAHIMATPUR (M. S. M. RY.)

संवत् १९९५, शक १८६०, सन् १९३९

(भा० मु० औंध.)

ॐ

स्वाध्याय-मण्डल।

पुस्तक-विक्रीके नियम।

(१) उधार पुस्तक देना बन्द किया है। सब पुस्तक वी० पी० द्वारा ही भेजे जाते हैं, अथवा पेशगी मूल्य आनेपर रजिष्ट्री डाकसे भेजे जाते हैं। पैकिंग अच्छा करनेका विशेष ख्याल किया जाता है।

(२) व्यौपारियोंके लिये निम्न लिखित प्रकार कमिशन दिया जाता है।

१००)	रु०	के पुस्तकोंपर	२०)	फी	सैकडा
५०)	,,	,, ,,	१५)	,,	,,
२५)	,,	,, ,,	१०)	,,	,,
१०)	,,	,, ,,	५)	,,	,,

१०) रु० से कम मूल्य की पुस्तकोंपर कमिशन नहीं मिलेगा।

(३) वैदिक धर्म, वेदसंहिताएं, तथा संस्कृत-पाठ माला, इनपर कमिशन नहीं मिलेगा, क्योंकि इनका मूल्य पहिलेसे ही न्यून रखा है।

(४) प्रायः एक रुपयेके पुस्तकोंके लिये दो या तीन आने डाकव्यय लगता है। किसी अवस्थामें कुछ न्यून वा अधिक भी होता है। परन्तु साधारण अनुमान यही है। पुस्तकोंका जो मूल्य इस सूचीपत्रमें लिखा है, वह डाकव्यय के विना है। वी० पी० मंगवानेवालोंको पुस्तकों के मूल्य के अतिरिक्त उक्त हिसाबसे डाकव्यय देना पडेगा। किसी कारण भी वी० पी० मंगवानेवालोंको डाकव्यय माफ नहीं होगा।

(५) कोई महाशय दूसरेके नामपर वी० पी० भेजनेको न लिखें। हमारा अनुभव है कि इस प्रकार की वी० पी० याँ स्वीकृत नहीं होतीं। इस लिये ऐसी वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

(६) बदलेमें पुस्तक नहीं दिये जाते, क्योंकि उनकी विक्री करनेका साधन यहाँ नहीं है।

पेशगी मूल्य भेजनेसे लाभ।

(७) जो लोग १०) दस अथवा अधिक रु० की पुस्तकें, पुस्तकों का सब मूल्य पेशगी म० आ० द्वारा भेजकर मंगवायेंगे, उनको उक्त कमिशनके साथ पांच फी सैकडा कमिशन अधिक मिलेगा और प्रेषणव्यय भी माफ होगा। वी० पी० मंगवाकर लोग वापस करते हैं, इससे बहुत नुकसान उठाना पडता है, इसलिये म० आ० से पेशगी मूल्य भेजनेवालोंको ही उक्त सहूलियत दी है। वी० पी० से पुस्तकें मंगवानेवालोंको यह लाभ नहीं होगा। अर्थात् वी० पी० मंगवानेवालोंको डाकव्यय देना पडेगा। ग्राहक इस बातका विचार अवश्य करें।

(८) एक रु० से कम मूल्यकी पुस्तकें वी० पी० से मंगवानेमें डाकव्यय दुगना देना पडता है। अतः १) एक रु० से कम मूल्यकी पुस्तकें होंगी, तो ब्रिटिश पोस्टके टिकट भेजकर मंगवानेमें लाभ है। उदाहरण- दो आनेकी पुस्तकपर वी० पी० व्यय ।-) पांच आने लगते हैं और एक रु० के पुस्तकोंपर भी ।-) लगता है। पुस्तकें मंगवानेवाले इसका अवश्य विचार करें।

(९) पत्रव्यवहार कृपया संस्कृत, हिंदी या आर्य भाषा, मराठी या अंग्रेजी में कीजिये। अन्य भाषाओंके पत्र यहां पढे नहीं जाते। यहां उर्दू पढनेवाला कोई नहीं है।

(१०) वापस आई हुई पुस्तकें पुनः मंगवानी होंगी, तो डाकव्यय दुगना देना पडेगा।

(११) एक समय भेजी हुई पुस्तकें पुनः किसी भी कारण वापस नहीं ली जायगीं।

मंत्री-स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा.)

स्वाध्याय-मण्डल
द्वारा प्रकाशित
वैदिक धर्मके ग्रंथ।

आगम-निबंध-माला।

वेद अनंत विद्याओं का समुद्र है। इस वेदसमुद्रका मंथन करने से अनेक 'ज्ञानरत्न' प्राप्त होते हैं, इन रत्नों की यह माला है।

	मू०	डा० व्य०
१ वैदिक-राज्यपद्धति।	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	=)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	=)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा।	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
९ शिवसंकल्प का विजय।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता।	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१५ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
१७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र।	≡)	-)

छूत और अछूत।

प्रथम भाग मू०१) डा० व्य० ।-)

द्वितीय भाग मू०॥।) डा० व्य० ।-)

इस पुस्तकमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदिके प्रमाणोंसे छूताछूतका विचार किया है।

योगसाधन-माला।

१ सन्ध्योपासना।

योगकी दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया। (इसमें हमारा 'संध्याका अनुष्ठान' यह पुस्तक संमिलित है) मू० १॥) डा० व्य० ।-)

२ वैदिक प्राणविद्या।

प्राणायाम करनेके समय किस प्रकार 'मनकी भावना' रखनी चाहिये उसका वर्णन। मू० ॥) डा० व्य० =)

३ ब्रह्मचर्य।

इस सचित्र पुस्तकमें 'अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य-सूक्त' का विवरण है। ब्रह्मचर्य-साधन और योगसाधनके योगासन तथा वीर्यरक्षणके अनुभवसिद्ध उपाय इस पुस्तकमें दिये हैं। मू० १) रु०, डा० व्य० ।-)

४ आसन।

इसमें आसनों का वर्णन चित्रों के समेत है। न मू०२)रु० डा० व्य० ।≡)

आसनोंका चित्रपट २०×३० इंच कागजपर मू० ≡) डा० व्य० -)

५ योगसाधनकी तैयारी।

योगाभ्याससे उन्नति करनेका पुस्तक। मू० ।॥) डा० व्य० ।-)

६ सूर्यभेदन-व्यायाम।

(सचित्र) बलवर्धक योगके व्यायाम मू० ॥) डा० व्य० =)

७ इन्द्रशक्तिका विकास।

मनुष्यमात्रमें इन्द्रशक्ति है; परन्तु वह इतनी जाग्रत नहीं है। उसका संवर्धन करनेकी अनुष्ठानपद्धति इसमें दर्शायी है। मूल्य ॥) और डा० व्य० =) है

संस्कृत-पाठ-माला ।

[संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय ।]

संस्कृत-पाठमालाके अध्ययनसे लाभ- (१) अपना कामधन्धा करते हुए फुरसद के समय आप किसी दूसरेकी सहायताके विना इन पुस्तकोंको पढकर अपना संस्कृतका ज्ञान बढा सकते हैं। (२) प्रतिदिन घंटा पढनेसे एक वर्षके अंदर आप रामायण-महाभारत समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। (३) पुस्तक अत्यंत सुगम हैं। विना नियमोंको कंठ किये आपका संस्कृत भाषामें प्रवेश हो सकता है। (४) घरमें पुत्रों, पुत्रियों और स्त्रियोंको भी इन पुस्तकोंका पढना और पढाना अत्यंत सुगम है। (५) पाठशालामें आनेवाले विद्यार्थी इन पुस्तकों से बडा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है- (१) **प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग**। इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है। (२) **चतुर्थ भाग**। इस चतुर्थ भागमें संधिविचार बताया है। (३) **पंचम और षष्ठ भाग**। इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है। (४) **सप्तमसे दशम भाग**। इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है। (५) **एकादश भाग**। इस भागमें सर्वनाम के रूप बताये हैं। (६) **द्वादश भाग**। इस भागमें समासोंका विचार किया है। (७) **तेरहसे अठारहवें भाग तकके छः भाग**। इन छः भागोंमें क्रियापदविचारकी पाठविधि बताई है। (८) **उन्नीससे चौवीसवे भागतक के छः भाग**। इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

एक पुस्तकका मूल्य ।=) छः आने और डा० व्य० =)

६ पुस्तकोंका मूल्य १) और डा० व्य० ।)

१२ पुस्तकोंका मूल्य ४) और डा० व्य० ॥)

२४ पुस्तकोंका मूल्य ६॥) रु० और डा० व्य० ॥।=)

यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या ।

'शांतिकरण' सच्ची शांतिका सच्चा उपाय । व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में सच्ची शांति कैसी स्थापन की जा सकती है, इसके वैदिक उपाय इस पुस्तकमें देखिये । मू० ॥=) डा० व्य० =)

ईश उपनिषद् ।

इस उपनिषद्का सरल भाषानुवाद इस पुस्तकमें दिया है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका दी है, जिसमें ईशोपनिषद्के कई सिद्धांतोंका वैदिक प्रमाणोंसे विचार किया है और मंत्रभागोंका अर्थ निश्चित किया है। मंत्रका अर्थ देनेके पश्चात् अति विस्तृत टिप्पणी है। मू० १) डा० व्य० ।-)

केन उपनिषद् ।

केन उपनिषद्का मनन, उपनिषद् ज्ञानका महत्व, उपनिषद्का अर्थ, सांप्रदायिक झगडे, 'केन' शब्दका महत्व, वेदांत, उपनिषदोंमें ज्ञानका विकास, अग्नि शब्दका भाव, उपनिषद्के अंग, शांतिमंत्रोंमें तत्वज्ञान, तीन शांतियोंका भाव, ईश और केन उपनिषद् इत्यादि विषय इस पुस्तकमें आ गये हैं। मू० १।) रु० डा० व्य० ।-)

वैदिक अध्यात्मविद्या ।

इस पुस्तकमें दर्शाया है, कि वेदमंत्रोंमें अध्यात्मविद्या किस प्रकार है। वेदमंत्रोंकी अध्यात्मविद्या देखनेका ढंग स्वतन्त्र है। यह रीति इस पुस्तकमें कई देवताओंके सूक्तोंमेंसे कुछ मन्त्र लेकर उनमें अध्यात्मविद्या देखनेकी पद्धति स्पष्ट रीतिसे बतायी है। मूल्य ॥) और डा० व्य० ≡) है।

शतपथ-बोधामृत ।

बोधसेही हम सबकी उन्नति होनेवाली है। इसी कारण शतपथके बोध-वचनोंका संग्रह इस पुस्तकमें किया है। मूल्य ।) डा० व्य० -)

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास ।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) ” ”	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व ।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल औंध [जि० सातारा]

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥।)
अ० १ से १८ सजिल्द		
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा.१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	≠)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	≠)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।≠)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	≠)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	≠)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	≠)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	४)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत सस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	≠)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नही, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मगवायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे है। अतः इस प्राचीन परपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)

,, ६ ,, १० ,, ३) ,, ,, ॥=)

,, ११ ,, १८ ,, ३) ,, ,, ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।=) सात आने है। म० आ० से २।=) रु. भेज दे।

मंत्री—स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिकधर्म

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

[वार्षिक मूल्य ५)रु. भेजनेवालोंको 'वेदाङ्क' (मू. २)रु.) इसी मूल्य में भेजा जाता है ।]

वर्ष २०]

विषयानुक्रमणिका

[अङ्क २

१ ईश्वर कहाँ है ?		८१
२ अथर्ववेदका मुद्रण।	संपादकीय	८२
३ देवकामा या देवकामा ?	पं. मदनमोहन विद्याधर	८६
४ ईश्वरका साक्षात्कार (२)	संपादकीय	८९
५ वैदिकशाखाएं वेदव्याख्यानही हैं।	पं. धर्मदेवशास्त्री	९३
६ साध्य और साधन।	पं. लक्ष्मणसिंहजी	११२
७ अफ्रिकामें (३)	पं. तडित्कान्तजी	११३
८ अहिंसा।	प. रामावतार विद्याभास्कर	१२७
९ रोगोंमें यागका महत्त्व।		१४३
१० काया-कल्प।	पं. बालकृष्ण शर्मा	१४५
११ वेद आर्षेय ज्ञान है।	श्री. व्रजनदेव अग्रवाल	१५१

वर्ष २०
अंक २
क्रमांक २३०

धर्म

माघ
संवत् १९९५
फर्वरी
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)·

ईश्वर कहां है?

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व. १०।७।३९)

"हाथों और पावोंसे, वाणी, श्रोत्र और आंखसे देवताएं जिस अतुल शक्तिवाले ईश्वरके लिये सदा अपरिमित बलि अर्पण करती रहती हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर कह कि, वह कौनसा देव है और कहां है।"

सबके हाथ, पांव, वाणी, कान, आंख आदि सभी इंद्रिय जिसकी सेवा करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं, वह सर्वाधार परमेश्वर कहां है, उसका रूप क्या है, उसका साक्षात्कार कैसा होता है, उसकी सेवा हम किस तरह कर सकते हैं, इस विषयमें, हे सद्गुरो, हमें आदेश दो।

चारों वेदोंका मूल्य १०) होनेपर भी पेशगी मूल्य ५) ही लिया जायगा और यह सहूलियत केवल सामवेदका मुद्रण होनेतक ही रहेगी। शेष डा० व्यय, रेलव्यय आदि ऊपर बताया है,वही होगा। **मूल्य भेजनेके समय पाठक मार्गव्ययके समेत हि मूल्य भेज दें।**

यदि अनेक ग्राहक मिलकर चारों वेदोंके कई सेट इकट्ठे रेलद्वारा अधिक संख्यामें मंगावेंगे,तो इनको रेलसे मंगानेमें मार्गव्ययकी थोडा बचत होगी। इस तरह रेलसे मंगानेवाले अपने समीपका रेलस्टेशन और रेलका नाम लिखें और पेशगी मूल्य भेजकर अधिक सेट मंगवाकर लाभ उठावें।

कई लोग केवल मूल्य ५) ही भेजते हैं और वेद मंगाते हैं। उनको पुनः डा० व्य० भेजना पडता है। इस तरह इनकी दुबारा म० ऑर्डरव्यय की हानि होती है। यदि ग्राहक इकट्ठा मूल्य और मार्गव्यय भेजेंगे, तो उनकी उतनी बचत होगी। किसी सूरत से ५) में हि मार्गव्यय नहीं है, क्योंकि उतना लाभ इस व्यवहारमें नहीं है। प्रत्युत हानि ही है। इसलिये ग्राहक मार्गव्यय के साथ मूल्य भेजें।

ऋग्वेदका पुनर्मुद्रण।

ऋग्वेद छप चुका है, ऐसा हमने ऊपर लिखा, परंतु छपनेपर केवल ४ महिनोंके अन्दर हि सब कापियां लग चुकीं, ग्राहकोंकी माग बहुत बढी है, और प्रतिदिन वेदोंकी मांग आ रही है, इसलिये हमने ऋग्वेदका पुनःमुद्रण करनेका कार्य पुनः प्रारंभ किया है।

इस द्वितीय वारके मुद्रण में हमने ऋग्वेदमुद्रण में कई सुधार किये हैं। छन्दोंका संदेह मिटानेके लिये मंत्रोंके चरण अलग बता दिये हैं, इस कारण छन्दोंके विषयमें आगे कोई संदेह ही नहीं रहेगा और कौनसे मंत्र का छंन्द कौनसा है, इसका निर्णय स्वयं मंत्रपादकी अक्षरसंख्यासे हो सकेगा। चरणोंके न्यूनाधिक अक्षरोंके कारण हि मंत्रोंके छंन्द निश्चित होते हैं। यह न समझनेके कारण अजमेर वैदिक यन्त्रालयवाले पण्डितोंने मन्त्रोंमें अशुद्ध छन्द मुद्रित किये हैं। यह अशुद्धि हमने बतायी, परंतु पं० ब्रह्मदत्त जैसे कई पंडितोंने उनको शुद्ध सिद्ध करनेका साहस किया।

हमारे समझमें नहीं आता है कि, अशुद्ध बात किस तरह शुद्ध होगी। जो हो, इस गडबडको और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये हमने इस मुद्रणमें मंत्रोंके चरण बतानेका उपाय सोचा है, जिससे छन्दविषयक संदेह हमेशाके लिये शास्त्रीय रीतिसे दूर होंगे, और शास्त्राधारसे छन्दोंका सच्चा निर्णय हो जायगा।

पादबद्ध मन्त्रोंके छंद मंत्रकी कुल अक्षरसंख्यासे निश्चित नहीं होते, प्रत्युत प्रत्येक पादके न्यूनाधिक अक्षरोंके द्वारा निश्चित होते हैं। जिनको इसका पता नहीं है, वे याजुष मंत्रोंकी छन्द निश्चित करनेकी रीतिहि पादबद्ध मंत्रोंको लगाते हैं और मनमाने छन्दोंकी कल्पना करते हैं। इससे कितना अनर्थ होनेवाला है, यह हम किसी अन्य लेखमें बतावेंगे। यहां केवल इतना ही बताना है कि, हमारे ऋग्वेदमें मंत्रोंके पाद बताये जायगे, जिससे छन्दनिर्णय के लिये सुविधा रहेगी। यह हमारे इस ऋग्वेदकी विशेषता होगी।

दूसरी विशेषता यह होगी कि, हम मंत्रोंके संदिग्ध देवताओंको अधिक खोलकर मुद्रित करेंगे, जिससे देवताविषयक संदेह दूर होनेमें सहायता होगी। जैसा कई जगह "ऋतुदेवताः" ऐसा लिखा होता है, उसका तात्पर्य "ऋतुसहित देवताः" है, परंतु यह न समझनेके कारण वैदिक यंत्रालयके पंडितोंने "ऋतवः" देवता मुद्रित की है। स्वयं मंत्रहि इस तरहके संदेह किस तरह दूर करते हैं और ऋतुसहित देवता मंत्रोंमें हि किस तरह हैं, यह सब हम बतावेंगे। स्वयं मंत्रोक्त देवताका प्रदर्शन करनेपर किसीको संदेह रहेगा नहीं और भ्रान्त देवताका प्रदर्शन करनेका साहस भी इसके पश्चात् कोई नहीं कर सकेगा।

हम जो इस समय ऋग्वेदमुद्रण कर रहे हैं, उस में ऋषिनिर्णय के भी प्रमाण दे रहे हैं, जिससे ऋषिविषय में कभी कोई भ्रान्ति नहीं रहेगी। ऋषि-देवता-छन्द ये मंत्रज्ञान के लिये आवश्यक हैं और निश्चित भी हैं। अतः इस विषयमें भ्रान्त विचारोंका फैलाव करनेवालोंको अवसर बिलकुल न मिले, ऐसा करना अत्यंत आवश्यक हि है। ये सब बातें हम इस मुद्रणमें कर रहे हैं, इसलिये यह ऋग्वेद खोज की दृष्टिसे एक अपूर्व बात होगी।

अतः सुविज्ञ पाठक वेदोंके ग्राहक शीघ्र बनें और

अपने इष्टमित्रोंको भी ग्राहक बननेका उत्साह दें। इस वार इस ऋग्वेद का मुद्रण हम ५००० करना चाहते हैं, तथापि जिस वेगसे ग्राहक बढ रहे हैं, उस वेगसे अनुमान होता है कि, यदि शीघ्र ही जो ग्राहक न बनेंगे, उनको हम इसकी कापियां भी नहीं दे सकेंगे। इसलिये अच्छे और सुंदर वेदोंके ग्रंथ अपने संग्रह में रखनेके इच्छुक पाठक इन वेदोंके अति शीघ्र ग्राहक बने और अपने इष्टमित्रोंको भी अति शीघ्र इस अपूर्व सहूलियत की सूचना दे।

वैदिक यंत्रालयका सामवेद।

अजमेरके 'वैदिक यन्त्रालय'ने सामवेदका मुद्रण कई वार किया है। ऋग्वेद और यजुर्वेदके समान हि इसमें अशुद्धियों की भरमार है। ऋग्वेदकी अशुद्धियां हमने बतायीं। अब सामवेदकी अशुद्धियोंको दर्शाना है, ये सबकी सब बताना इस समय असंभव है। तथापि वेदकी सेवा करनेके लिये एकदो नमूने यहां बताना आवश्यक ही है। जिससे अजमेर वै० यंत्रालयवालोंने कितना अनर्थ किया है, इसका पता लगेगा।

हमारे पास अजमेर वैदिक यन्त्रालयमे मुद्रित सामवेद चार वारके मुद्रित हैं। उसमें आग्नेय पर्वके अन्तिम पृष्ठ ८ पर छपे '**प्र मंहिष्ठाय**' इस सूक्तमें वास्तवमें मंत्रोंकी संख्या ८ है, वैसाही इस सूक्तके ऊपर दिये ऋषिनामोंमें लिखा भी है, जैसा-"**७ सौभरिः। ८ विश्वमनाः।**" अर्थात् ७ वां मंत्र सौभरि ऋषिका और ८ वां मंत्र विश्वमना ऋषिका है। परंतु किसी भी वैदिक यंत्रालयमुद्रित सामवेदमें ८ वां मंत्र मुद्रितहि नहीं हुआ है !!! देखिये अजमेर वैदिक यन्त्रालयद्वारा मुद्रित सामवेद पृ० ८, द्वितीय सूक्त जिसका प्रारंभ '**प्र मंहिष्ठाय०**' है।

[१] संवत् १९५७ में मुद्रित सामवेदमें "**कश्चिदत्रिणम्॥**" तक हि मंत्र मुद्रित हैं, यहा ७ वां आधा मन्त्र हि हुआ है। अर्थात् इसमें केवल साढे छः मंत्र हि छापे हैं। शेष देढ मन्त्र मुद्रित ही नहीं हुआ !!!

[२] संवत् १९६८ में ग्यारह वर्षोंके पश्चात् उसी यंत्रालयमें सामवेद पुनः छापा है, उसमें भी ६॥ ही मन्त्र छपे हैं और अन्तिम देढ मन्त्र नहीं मुद्रित हुआ !!! अर्थात् इस ग्यारह वर्षोंकी अवधिमें वैदिक यन्त्रालयस्थ पंडितोंको यह सूक्त ८ मंत्रोंका है, इसका ज्ञान नहीं हुआ। और आश्चर्य की बात यह है कि, ८ मंत्रोंके ऋषि देनेपर भी सूक्तमें ८ मंत्र नही रखे हैं! इतनी अन्धाधुन्धी उस कार्यालयमें है।

[३] आगे संवत् १९७५ में पुनः सामवेद वैदिक यंत्रालयमें छपा है। इस वारके मुद्रणमें ७ वे मंत्रका उत्तरार्ध '**मन्युं जनस्य दूढ्यम्॥७॥**' इतना अधिक मुद्रित हुआ है। प्रथम वारके मुद्रणको इस समय १८ वर्ष हुए। बीचमें एक मुद्रण होकर समाप्त भी हुआ। इतनी अवधिमें ७ वां मंत्र पूर्ण छापनेका कार्य हुआ!! जिन पंडितोंको इस वार ७ वां मंत्रका उत्तरार्ध हस्तगत हुआ, उनको इस वार भी ८ वां मंत्र मिला नहीं, यह कितनी आश्चर्यकी बात है?

[४] तत्पश्चात् सं० १९८२ में चौथी वार सामवेदका मुद्रण वैदिक यंत्रालयमें हुआ। इस वार भी ८ वां मन्त्र इन पंडितोंको छापनेकी बुद्धि नहीं हुई। ऊपर ऋषि तो ८ मंत्रोंके दिये हैं और मंत्र ७ ही छापे हैं। इतने चार वारके मुद्रणमें एक मन्त्र बिलकुलही नहीं छापा है।

सामवेद तो लाहौरमें पं० गुरुदत्तजीद्वारा मुद्रित हुआ है, पं० तुलसीराम स्वामीद्वारा मेरठ में मुद्रित हुआ है, पं० जयदेव शर्माजीद्वारा अजमेर में मुद्रित हुआ है। सौ वर्ष पूर्व जर्मनीमें तथा इंग्लंड में अर्थात् यूरोपमें दो वार मुद्रित हुआ है, कलकत्ते में पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने सामवेद छापा है। इन सब में इस सूक्त में पूर्ण आठों मंत्र छापे है। परंतु अजमेरके वैदिक यंत्रालयवालोंनेहि केवल चार वार गत ३० वर्षोंमें सामवेद मुद्रित किये, उन में से पहिली दो वारवाले पुस्तकोंमें अन्तिम देढ मंत्र नहीं है और आगेके दो वारवाले पुस्तकों में अन्तिम एक मंत्र नहीं है। (सामवेद पृ०८ देखिये)

पं० ब्रह्मदत्तजी इस का समर्थन किस तरह करते हैं, यह हम देखना चाहते है। इसको वैदिक यन्त्रालयवालों की भूल मानेंगे या नहीं, यह एक देखनेका विषय है। सचाईकी जीत होगी, या हार होगी, यहभी यहां देखना है।

वैदिक यंत्रालय के सामवेद में ऋषिदेवताछन्दोंकी

अशुद्धियां भी वैसी ही अनंत हैं और यदि वैदिक यन्त्रालय के छन्द माने जायगे, तो सामगान गाये ही नहीं जा सकेंगे, यह बडा मनोरंजक खोजपूर्ण विषय हम आगे किसी समय विस्तारपूर्वक दर्शायेंगे। यहां केवल प्रथम वारके दो मुद्रणों में देड तथा आगेके मुद्रणों में एक मंत्रके न होने की ही बात पाठकों के सामने रखी है।

वेदोंके मुद्रणमें अशुद्धियां होने की संभावना अधिक होती है। हम यहां इतना यत्न करते हैं, दस बारह वार प्रूफ देखी जाती हैं, अनेक विद्वानों के द्वारा संशोधन होता है, अशुद्धि दर्शाने के लिये हम ईनाम देते हैं, इतना होने पर भी अशुद्धि रह जाती है। इसका उपाय हमने यह सोचा है कि, एकदो वार इस तरह प्रयत्नपूर्वक छपाई करनेके पश्चात् वेदके पृष्ठों के ब्लाक बना देते हैं। यदि किसी ब्लाक में अशुद्धि रही, तो उतना पृष्ठ नया बनाकर उसका नया ब्लाक बनाना, जिससे एक भी अशुद्धि आगे नहीं होगी। मनुष्यके प्रयत्न में अशुद्धि रह जाती है, इसलिये ही मनुष्यको ऐसा यत्न करना चाहिये कि, जिससे अशुद्धि न रहे। टाइपका कंपोज छापने समय भी टाइप उड जाता है और अशुद्धि बनती है, इसलिये ही ब्लाक बनानेकी युक्ति सोची है।

अजमेर वैदिक यन्त्रालयके पास श्री स्वामिजीने लाखो रु० केवल वेदोंके शुद्ध मुद्रण के लिये ही रखे हैं। चार वार सामवेद वहीं छापा जाता है। पहिले दो वार के मुद्रणमें १॥ मन्त्र ही नहीं छापा जाता और अगले दो वार के मुद्रणमें एक मंत्र रह जाता है, इस को क्या कहा जाय, इसका विचार पाठक ही करें। यह अन्दाधुंदी शोभादायक नहीं है, इतनाही यहां कहना है।

स्वाध्याय-मण्डलका सामवेद।

स्वाध्याय-मण्डलमें सामवेदछपाईका कार्य चल रहा है। कौथुमी, राणायणी और जैमिनीय सामवेदकी संहिताएं सामने रखी हैं, उनके पाठभेदोंकी विचारपूर्वक खोज की जाती है। आजतक प्राचीन ऋषिमुनियोंने सामगान में कौनसा पाठ शुद्ध माना है, इसकी पडताल हो रही है, इस समय तक की मुद्रित संहिताएं तथा हस्तलिखित पुस्तक लाये गये हैं, वेदपाठीयों की संमति ली जाती है और इस तरह सामवेद का मुद्रण हो रहा है। इस में म्हैसूर, मद्रास, गुजरात, काठियावाड, मथुरा, काशी आदि स्थानोंके अच्छे सामवेदी सहाय्यता दे रहे हैं।

इस सामवेदमें प्रत्येक मंत्रके साथ यह मंत्र ऋग्वेदमें कहां है और सामवेदमें कहां है, इसका पता दिया गया है। विशेष पाठभेद के लिये स्वतंत्र परिशिष्ट दिया है और ऋग्वेदमें न आये मंत्रोंकाभी एक परिशिष्ट जोडा है। ऋषिदेवताछन्दकी छानबीन करके उस की निर्दोषता जहां तक हो सके, वहांतक साधन करने का यत्न किया जा रहा है। इसलिये यह सामवेद इस समयतक की खोज से परिशुद्ध स्थितिमें हम ग्राहकों को देंगे।

आशा है इस तरह यह ग्रंथ पाठकोंको ऋग्वेद और यजुर्वेद जैसा ही प्रिय होगा।

'देवृकामा या देवकामा?'

(ले०—पं० मदनमोहन विद्याधर, विजगापट्टम।)

मैंने श्री माननीय श्री० प्यारेलालजी वैश्य की 'देवृकामा' पद के विषय में दी गई युक्तियों को ध्यानपूर्वक पढ़ा। मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि, उनके समझने में भूल न हो। अन्ततः मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि, ऋ० १०।८५ के ४४ वें मंत्र में इसके स्थान पर 'देवकामा' पद ही अधिक उपयुक्त है।

प्रथम यह कि विरजानन्दयंत्रालय लाहौर में सम्वत् १९६६ वि० में प्रकाशित, वैदिक यंत्रालय अजमेर से छपी तथा आर्यसाहित्यमण्डल, अजमेर से निकली ऋग्-संहिता में 'देवृकामा' पद स्वीकृत किया गया है। साथ ही श्री स्वामि दयानन्दजीने संस्कारविधि के विवाहप्रकरण में १०।८५।४४ में इसी पद को मानकर नियोगपरक मंत्रार्थ किया है।

द्वितीय युक्ति उनकी यह है, क्योंकि अथर्ववेद १४।२।१७ के सायणभाष्य में 'देवृकामा' पद मानकर ही मंत्रार्थ विचार किया गया है, सो ऋग् में भी यही होना चाहिये।

तृतीय युक्ति में श्री वैश्यजी का कहना है कि, यदि 'देवकामा' पद मानेंगे तो इस मंत्र में 'नियोग' विषय से बदलकर 'देवकी इच्छा रखनेवाली' ऐसे भाव आ जावेंगे।

समालोचना।

सामवेद ब्राह्मण पारस्कर गृह्यसूत्र (१।४।१५) तथा हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र (१।२०।२) और इसी प्रकार के अन्यान्य बहुत से ग्रन्थोंद्वारा भी (ऋ० १०।८५।४३) में 'देवकामा' शब्द ही सिद्ध होता है।

हम प्राचीन ह० लि० पाठों तथा घनपठियों की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि पदपाठों के निर्णय में ये ही दृढ तथा सत्य-प्रमाण हैं।

यदि इस पर भी श्री वैश्यजी को उपरोक्त तीन यन्त्रालयों से प्रकाशित प्रतियां ही प्रामाणिक हैं, तो 'पूना में प्रकाशित सायणभाष्यसहित ऋग्वेद', 'निर्णय-सागर प्रेस बम्बईद्वारा प्रकाशित', 'कुम्भकोणम् से प्रकाशित', 'मैक्समूलरद्वारा सम्पादित' और 'ग्रिफिथ तथा एच्. एच्. विलसनद्वारा अनूदित ऋग्वेद' में स्वीकृत देवकामा पर अप्रामाण्यापत्ति कैसे? यदि 'देवृकामा' पद माननेवाली, यंत्रालयोंद्वारा प्रकाशित ऋगसंहिताओं का प्रामाण्य है, तो 'देवकामा' पद को माननेवाली प्रतियों का प्रामाण्य क्यों नहीं?

पं० जयदेवजी भी 'ऋग्' में निश्चयपूर्वक 'देवृकामा' पद मानने को तैय्यार नहीं। इन्होंने वहाँ कोष्ठक में देवकामा पद देकर उसका अर्थ भी साथ दे दिया है।

दूसरी युक्ति सायणभाष्य अथर्ववेद के आधार पर है। यदि कोई "क्योंकि सायणऋग्भाष्य में 'देवकामा' पाठ है, इसलिये अथर्ववेद में भी 'देवृकामा' के स्थान पर 'देवकामा' पाठ होना चाहिये"-ऐसी स्थापना करे, तो श्री वैश्यजी इस में क्या दोष निकाल सकते हैं?

क्योंकि सायणकृत ऋग्भाष्य में 'देवकामा' पद ही माना गया है। श्री वैश्यजी, जिसके नाम से प्रमाण दे रहे हैं, जब वह स्वयं ही वहां (जहां कि श्री- वैश्यजी देवृकामा रखना चाहते हैं। 'देवकामा' मानता हो, तो उस के (सहनामी किसी के) अथर्ववेदभाष्य में 'देवृकामा' देखकर श्री० सातवलेकरद्वारा सम्पादित ऋग् में भी 'देवृकामा' पद होना चाहिये, यह एक अजीब युक्ति है। सायण तो स्वयं ही ऋग् में 'देवकामा' पद मानता है। तब उसके अथर्व-भाष्य से, श्री० सातवलेकर जी के ऋग् में 'देवृकामा' पद को सिद्ध करना मुझे तो एक युक्ति का चमत्कार प्रतीत होता है।

साथ ही आश्चर्यकारक बात यह भी है कि, जिस अथर्व-वेद के पाठ को प्रामाणिक माना जा रहा है, वहां भी 'देवृकामा' पाठ असन्दिग्ध नहीं है। क्योंकि अथर्व वेद

की पिप्पलाद-संहिता (१४।२।१७) में 'देवकामा' पद ही है। श्री विटनी महोदयने अपनी 'अथर्वपदसूचि' में दोनों पद उद्धृत किये हैं। पृष्ठ ७५६ में उन्होंने ऐसा लिखा है कि, "हमारे पास जो अथर्ववेद की ह० लि० मू० प्र० हैं, उनमें से कईयों में, ऋग् के पाठ के समान 'देवकामा' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है।" यहां पर 'ऋग् के पाठ के समान' यह वाक्य ध्यान करनेयोग्य है। इस उपरोक्त वाक्य से दो बातें पता चलती हैं कि—

१. ऋग में 'देवकामा' पाठ है तथा—

२. अथर्व वेद में 'देवृकामा' पाठ सन्दिग्ध तथा अनिश्चित है।

सम्भव है अथर्ववेद में 'देवृकामा' पाठ-जैसा कि उक्त महोदयने माना है— ही हो, परन्तु इस पर विवाद है, इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। ऐसी दशा में इस सन्दिग्ध तथा विवादग्रस्त अ० वेद के पाठ को लेकर ऋग में 'देवकामा' पद को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

तीसरी युक्ति मुझे सबसे अधिक निर्बल मालूम पडती है। 'देव की इच्छा रखनेवाली' क्या यह सचमुच पौराणिक भाव है? हम को देव' शब्द के सुनते ही पौराणिक भावों की गन्ध नहीं आनी चाहिये। श्री स्वामिजीने स० प्र० प्र० समु० में इसका अर्थ परमेश्वर माना है। ईश्वर, शुभ-दिव्यभाव, इन्द्रियां, प्राकृतिक शक्तियां तथा विद्वानादि नाना देव के साधारण सार्वभौमिक अर्थ हैं। पत्नी के प्रसंग में प्रकरणानुसार इसका विशेष अर्थ "कान्त = पति" किया जाता है। इस दशा में 'विद्वानों को वा अपने कान्त पति को सदा चाहनेवाली' (श्री पं० जयदेवजीकृत) और 'परमेश्वर की भक्ति करती हुई मन में शुभ भाव धारण कर' (श्री सातवळेकरजीकृत) ऐसा 'देवकामा' पद का अर्थ मान लिया जावे, तो पौराणिक भावों की तो कल्पना ही क्या, एक अत्यन्त सुन्दर ऋषिसम्मत वैदिक अर्थ की सृष्टि हो जाती है।

श्री० वैद्यजी 'देवकामा' पद मानने से इसलिये भी डरते हैं कि, ऐसा मानने पर वेदों से नियोगसिद्ध नहीं हो सकेगा। हमें ऐसा प्रयत्न कभी भी नहीं करना चाहिये कि, एक सिद्धांत पहले से ही मन में रखते हुए हम उसको वेदों में से निकालने का यत्न करें। इस प्रकार से वेदार्थ का अनर्थ हो जावेगा। वेदों से यदि नियोग प्रतिपादित होता हो, (शब्दों में बिना खैंचातानी किये) तभी मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यदि चलने लगे, तो यह उन सपेरों का खेल हो जावेगा कि, किसी के घर में सांप डालकर फिर उसको बाहर निकालना।

दूसरे यदि यह प्रमाण न भी मिला, तो क्या हुआ? नियोग के पोषक तो 'विधवेव देवरम्' आदि अन्य भी अधिक स्पष्ट प्रमाण वेदों में हैं।

आगे दोनों पदों के अर्थों की तुलना करके पाठकों की सेवा में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। पूर्वापर सम्बन्ध देखने से पता चलता है कि, इस मंत्र के ऊपरले मंत्रों से आशीर्वादों की निरन्तर अमृतधारा सी प्रवाहित होती चली आ रही है। जिस 'देव'की अंतिम कामना सब प्राणियों ने करनी है, वह विवाहित नवदम्पती को कहता है कि, "सम्पूर्ण आयुभर पुत्र पोते आदियों के साथ इस घर में आनन्द मनाते हुए निवास करो। [१०।८५।४२] प्रजापति शक्ति तुम्हारे लिए संतति और अर्यमाशक्ति 'दीर्घायुत्व' प्रदान करे। पतिलोक में प्रविष्ट होती हुई, यह वधू संसार के समस्त दुपाये तथा चौपाये प्राणियों के लिये कल्याणकारिणी होवे। (४३ मंत्र) यह वधू कभी गुस्से से आंखें घोर अर्थात् भयानक लाल न करे, पति को कष्ट न देवे। घर के पशुओं के लिये सुखदायिनी, सुमनस्विनी और सुवर्चस्विनी होती हुई (वीरसूः) उत्तम पराक्रमी पुत्रों को उत्पन्न करनेवाली तथा (देवकामा) प्रभु, दिव्यशुभभाव, विद्वान् तथा इन सबका घर में प्रतिनिधित्व करनेवाले देव अर्थात् पति, उस की ही सदा कामना करनेवाली...... (४४ मंत्र)।"

इस आशीर्वादों की उमडती धारा में स्नान करती हुई एक नवयुवती पत्नी के हृदय में (उसके नवप्रिय पति की मृत्यु की कल्पना करके, उसे) देवर की कामना के भावों का संचार क्या ऐसे शुभावसर पर उचित है? यह तो उसके मन की उमंगों को तोड देना है। कहां तो ऐसे ऐसे शुभावसरों पर रोगी स्वस्थ हो जाया करते हैं,

और कहां 'देवृकामा' पद मानकर नवविवाहित दम्पती में से 'पति' की मृत्यु की मानसिक कल्पना भी होने लगी? 'देवर की कामना करनेवाली' इस अर्थ के बोधक पद तो पति की मृत्यु होने जाने पर पत्नी को सांत्वनार्थ कहे जा सकते है।

श्री स्वामिजी ने स० प्र० की भूमिका में लिखा है कि, "विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढकर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।" फिर स० प्र० उत्तरार्ध अनुभूमिका प्रथम में लिखते हैं-"यह निश्चय है कि, इन विद्वानों के विरोध ने ही सब को विरोधजाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फँस कर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्यमत हो जावे।"

श्री पं० सातवलेकरजी ने वेदों के लिये इतना अधिक कार्य किया है कि, यदि वे आर्यसमाजी न भी होते, तब भी वह कार्य ही उनके सत्कार के लिये पर्याप्त है। भारतवर्ष में इस समय बहुत सारी प्रति निधिसभायें हैं। क्या कोई भी सभा इस बात का दावा भर सकती है कि, उसने उससे आधा भी वैदिक साहित्यप्रकाशनसंबंधी कार्य किया है, जितना कि इस एकाकी विद्वान् ने किया है?

वेदों का प्रकाशन सिनेमा का व्यवसाय नहीं, जो रुपये के लोभ से इसको चलाया जावे। इसका काम करके किसने आर्थिक लाभ उठाया है?

हमारे उपदेशक पुराणों की उस अजामिल की कथा की प्रायः हँसी उडाया करते हैं, जिसमें कि अन्तसमय में पापी के मुख से पुत्रके धोखे में भूलसे उच्चरित नारायण नाम से विष्णुलोक की प्राप्ति का वर्णन है। हम आर्यसमाजी भी अब इसी मार्ग को पकडने लग गये हैं। पौराणिकों ने भूल से भी उच्चरित नारायण नाम से विष्णुलोक-समर्पित कर दिया और हम एक व्यक्ति को [किसी विशेष व्यक्ति की दृष्टि में अशुद्धि करनेवाले, मेरी नम्र सम्मति में अशुद्धि (अविद्या) का निराकरण (नाश) कर शुद्धि (विद्या) का प्रचार करने में सतत प्रयत्नशील] एक अशुद्ध्याभास करने के कारण जानता कि, निगाह में गिराने का प्रयत्न करते हैं। उसने जो अपने महान् परिश्रमसे जाति तथा धर्म की सेवा की, उसका प्रतिफल व्यंगरूप में देकर उसके किये उपकार को भूल जाना चाहते हैं। पुराण ने तो पुण्य की एक चिनगारी से ही जीवन के समस्त पाप समुद्रों को सुखा दिया और हम पापरूप अशुद्ध्याभास की एक बूंद से पुण्यरूप वेदशोधन की अशुद्धिभस्मकारक वह्नि को बुझाना चाहते हैं। क्या इसी ढंग से सत्य के 'जिज्ञासु' सत्य के पीछे 'पागल' होने का दावा भरा करते हैं?

दोनों पक्षवालों को विषय से सम्बद्ध युक्तियों तक ही अपनी समालोचना को सीमित रखना चाहिए और वह भी व्यक्तिगत, द्वेषशून्य हृदय से। प्रेमपूर्वक किये गये विवादों से ही सत्यार्थ प्रकाशित हुआ करता है और इस प्रकार के व्यंग्यात्मक विवादों से तो सत्य दबकर असत्य का अन्धेरा फैला करता है।

सत्य ज्ञानमय परमेश्वर हमारे हृदयों में वस्तुतत्त्व की प्राप्ति के लिए स्नेह का दीप जगावे, जिसका उजेला शत्रुत्व तथा द्वेषभावों को हमसे दूर करे और हम उस के द्वार 'अन्तिम सत्य' की झांकी ले सकें।

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है?

इस विषयमें वेदका संदेश क्या है?

(द्वितीय लेख ×)

गत लेखमें वेदके पांच मंत्र, उपनिषदोंके २५ वचन और गीताके १३ वाक्य, मिलकर ४३ प्रमाण दर्शाकर बनाया कि, ईश्वर देखा जाता है, अर्थात् वह आंख का विषय हो सकता है और इस सिद्धिके लिये सहस्रों जन्मों की तपश्चर्या की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत यह सिद्धि यम-नियम से रहनेवाला मनुष्य इसी जन्ममें, जीतेजी, वेद, उपनिषद् और गीताको यथायोग्य रीतिसे समझनेका और मनन से ठीक ठीक जाननेका यत्न करेगा, तो और पूर्वग्रह-दोषोंसे दूर रहेगा, तो हो सकती है।

मनुष्य इसी सिद्धि को प्राप्त करने के लिये जन्म धारण करके इस विश्वमें उत्पन्न हुआ है, परन्तु अनेकविध मिथ्या ज्ञानों की दिवारों के अन्दर रहने के कारण, अज्ञानी उपदेशोंके भ्रान्तियुक्त उपदेशोंके कारण, न समझनेवालों के लेखों और ग्रंथोंके पठनपाठन के कारण, तथा विविध भ्रमजाल बढनेके कारणहि अनेकविध अज्ञानों में फस गया है। यदि उक्त अज्ञान उससे दूर किये जाय और उत्तम ज्ञानी गुरु से योग्य रीतिसे ईश्वरदर्शन का मार्ग विदित किया जाय, तो वह इतना कठिण नहीं कि, जितना इस समय कठिन माना जाता है और सचमुच कठिन प्रतीत होता है।

ईश्वर का दर्शन।

गत लेख में जो ४३ वचन दिखाये हैं, वे सबके सब सुस्पष्टतया ईश्वर के दर्शन के विषयमें ही बोल रहे हैं। इन सब में 'दृश्, पश्य्' इसी धातु का प्रयोग हुआ है। और यह बात सब ही जानते हैं कि, 'दृश्, पश्य्' धातुका उपयोग आंखसे देखनेके कार्यके लिये ही केवल होता है।

१. परमं पदं सदा पश्यन्ति। (ऋ० १।२२।२०)
२. वेनस्तत् पश्यत्। (अ० २।१।१)
३. तत् अपश्यत्। (वा० य० ३२।१२)
४. तं पश्यति। (कठ०उ० २।२०)
५. देवं पश्येत्। (श्वे० उ० १।१४)
६. आत्मानं पश्यति। (मै० उ० ६।२०)
७. दर्शयामास पार्थाय रूपं पैश्वरम्। (गी० ११।९)

उक्त सब वचनों का सार यही है। यहां कितने सरल और सीधे शब्द हैं! क्या कभी किसीको शंका हो सकती है, जिसको शंका होती हो, वह इन वचनों का स्वयं मनन करे और सबसे प्रथम यह समझने का यत्न करे कि, इन वचनों के शब्दों का अर्थ 'तं देवं (साधकः) पश्यति' इतना ही है वा नहीं, उस ईश्वरको साधक देखता है अथवा देखनेकी युक्ति ज्ञात होने तक हम ऐसा इनका आशय समझें कि, **'साधक उस ईश्वर को देख सकता है।'** यदि इनका यही अर्थ है और इन वचनों का कोई दूसरा अर्थ नहीं है, तो किसको क्या अधिकार है कि, वह इससे विपरीत लिखे, बोले, उपदेश देवे और समझे? तथा समझावे?

हम सब वेदको स्वतः प्रमाण माननेवाले लोग हैं और *यह भी हम मानते हैं कि, वेद उपनिषद का सिद्धान्त एक* ही है, अथवा यों कहियें, जो भी वचन वेदमंत्र के विरुद्ध नहीं हैं, वे सब हमें प्रमाण हैं। तब ऊपर के वचनों को कमसे कम शब्दप्रामाण्यकी व्याप्ति जितनी हो सकती है, उतने तक तो हमें मानना हि चाहिये। परन्तु यदि वेद तो

× लेखांक १ वैदिक धर्म क्रमांक २२९, पृष्ठ ३ पर देखो।

कहे 'ईश्वर देखा जा सकता है' और हम मानने लग जाय कि, वह कदापि देखा नहीं जा सकता, वह तो वेद को स्वतः प्रमाण मानना नहीं हुआ।

और यदि हम अपने मतके अनुसार वेदमंत्रों के अर्थ तोडमरोड कर विपरीत ही कर दें, तब तो वेद का प्रामाण्य हमारे लिये कुछ भी नहीं, ऐसा ही सिद्ध होगा। इसलिये सर्वप्रथम पाठकों को पूर्वोक्त वचनों का अच्छा विचार करना चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि, उक्त वचनोंमें 'ईश्वर देखा जा सकता है' ऐसा ही स्पष्ट कहा है वा नहीं। पाठक जितना विरोध करना चाहते हैं, उतना सब इसी समय, इन वचनोंके अर्थोंके विषयमें हि करें, जो मर्जी चाहे युक्तियां करें, व्याकरणनिरुक्तादिकों की जितनी सहायता लेनी हो, उतनी लेवें, जो उपदेशक वैसा मानते और कहते हैं, उनसे वार्तालाप करें और अपना निश्चय कर लें कि, इन वचनों का भाव क्या है? क्या इनका भाव यह नहीं है कि, 'आत्मा ब्रह्म ईश्वर तत् सत्।' आदि नामोंसे जिस एक अद्वितीय वस्तुका बोध होता है, वह वस्तु देखी जाती है। इन वचनोंके आधारसे हमारा निश्चय है कि, वह वस्तु देखी जा सकती है। जिसको शंका हो, वह अपना पक्ष सिद्ध करे और सिद्ध करने से पूर्व उक्त वचनों का अर्थ बदल देवे और पश्चात् अपना पक्ष दर्शावे।

अस्तु दूसरा पक्ष सामने आने तक हम इन प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला पक्षहि मानते हैं कि, ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, सत्, तत् आदि अनेक नामों से जिसका वर्णन होता है, वह वस्तु देखी जा सकती है। और देखना तो सिवाय आंखों से हो ही नहीं सकता, अतएव उक्त वचनों से भाव यही प्रकट होता है कि, "जैसा आंख से दो पहर का सूर्य देखा जाता है, ठीक उस प्रकार आंखसे ईश्वर का साक्षत्कार मनुष्य कर सकता है।" (ऋ० १।२२।२०)

पाठकोंकी कठिनता।

निःसन्देह इस समय ऐसा मानना पाठकों के लिए कठिन होगा, यह भी हम समझते हैं, परंतु वेद ही वैसा कह रहा है, इसलिये हमें उक्त प्रकार घोषणा करने में कोई संकोच नहीं होता। और हमारा विश्वास है कि, जो वेद कह रहा है, वैसा ही सत्य सिद्ध होगा और वेद के आदेशानुसार ही चलकर हरएक पाठक ईश्वर का साक्षात्कार कर सकेगा।

परंतु क्या पाठक अपने दोषमय पूर्वग्रह छोडने को तैयार होंगे? यह तो हरएक पाठक ने अपने क्षेत्र में विचार करके निर्णय करने की बात है। हम क्रमशः बतायेंगे कि, अज्ञानी उपदेशकोंके मिथ्या ज्ञानयुक्त उपदेशों के कारण कितनी अशुद्ध कल्पनाएं पाठकोंके मनमें स्थिर हो चुकी हैं, जबतक वे वहां रहेंगी, तबतक पाठक ईश्वर का साक्षात्कार करने में असमर्थ ही रहेंगे।

इस कारण उस अशुद्ध ज्ञान को सर्वप्रथम दूर करना चाहिये। अतः अब विपरीत कल्पनाएं देखिये, कितनी और कैसी हैं।

आंख बंद करना।

संध्या करनेका अर्थ 'ईश्वरका सम्यक् ध्यान करना' यह सब मानते ही हैं। इस ध्यान के समय अवश्य ही आंख बंद करने चाहिये, ऐसा विचार सार्वत्रिक है। आंख से दीखनेवाली वस्तुएं ईश्वर नहीं है, अथवा उनमें ईश्वर नहीं है, अतः उनको हटाने के लिए अपने आंख बंद किये जाते हैं। इसमें विपरीत कल्पना यही है कि, ईश्वर अन्दर ही है, उसको दृष्टि अंतर्मुख करने से, वृत्तियों को अंतर्मुख करने से देखना आसान होगा, ऐसा ख्याल यहां सार्वत्रिक है। वेदने कहीं भी आंख बंद करके ही ईश्वर देखा जाता है, ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत ऐसा कहा है कि-

तत् दूरे तदु अन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य
तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। (वा० यजु० ४०।५)

'वह आत्मा (दूरे) दूर भी है और (अन्तिके) पास भी है, वह (सर्वस्य अंतः) सबके अन्दर भी है और (सर्वस्य बाह्यतः) सबके बाहर भी है।' अर्थात् वह आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, सत् आदि शब्दोंद्वारा बताया जानेवाला देव जैसा अपने अन्दर है, वैसा ही अपने बाहर भी है। यदि वह ईश्वर अन्दर और बाहर समानतया है, तब तो आंख बंद करके अन्दर ही अन्दर देखनेकी क्या आवश्यकता है?

यदि ईश्वर केवल अन्दरहि अन्दर होता, तब तो आंखें बंद करके अन्दर देखनेका यत्न करने की आवश्यकता रहती, परन्तु वह तो जैसा अन्दर है, वैसाही बाहर है और जैसा बाहर है, वैसा ही अन्दर है, अर्थात् अन्दर और बाहर समान और एकरस है, तब तो परमेश्वर का ध्यान करनेके समय अवश्यही आंखें बंद ही करनी चाहिये, ऐसा आग्रह क्यों किया जाता है? यदि आंख बंद करने से हि ईश्वर का साक्षात्कार होना संभव होता, तो ५० वर्ष तक प्रतिदिन दो बार आंखें बंद करनेवालों को अभीतक वह दीखता, परंतु आंखें बंद करके घण्टा आधा घण्टा बैठनेवालों में से एकभी ऐसा नहीं कहता कि, इतने वर्ष आंखें बंद करनेसे मैंने ईश्वर को देख लिया। तथापि सभी संध्या के समय आंखें बंद ही कर लेते हैं और समझते हैं कि, हमने ईश्वर का ध्यान कर लिया। कितना वेद-विरुद्ध आचरण है, देखिये तो सही !!

खुला वायुमण्डल।

जो तो लोग अपने तंग गलियोंके, तंग मकानों के, तंग कमरेंमें आंखें बंद करके बैठते हैं, उनके विषयमें हम कुछ भी नहीं कहेंगे, क्योंकि वे तो तंगीमें हि रहते हैं, अतः बंद कमरों में और आंखें भी बंद करेंगे, तो उन की क्या हानि होगी? उनका तो जीवन ही तंग हो चुका है। परंतु वेद कहता है कि-

उपह्वरे च गिरीणां संगथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत। (ऋ० ८।६।२८)

"पर्वत के शिखरपर अथवा नदियोंके संगमोंपर की जानेवाली (धिया) बौद्धिक उपासनासे (विप्रः) विशेष प्राज्ञ होता है।" अर्थात् वह ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। वेद तो इस तरह की घोषणाओं से तंग स्थानोंको छोडो और दृष्टि का क्षेत्र विस्तृत करो और ईश्वर को देखने का यत्न करो, ऐसा कहता है !! तंग नगरोंकी, तंग गलियोंके, तंग मकानों के अन्दर के, तंग कमरोंमें बैठ कर ईश्वर-उपासना करनेवालों के मनोंकी अवस्था की तुलना उन उपासकोंके मनों के साथ करिये कि, जो पर्वतशिखरपर बैठकर प्रभुकी उपासना करते हैं, अथवा नदीकिनारे अथवा नदियोंके संगमोंपर उपासना करते हैं !! दोनों की परिस्थितिमें कितना अंतर है ! क्या कोई तुलना हो सकती है ? मकानों की तंगियों में सडनेवालों को और गृहचिन्ताओं में डूबनेवालों को वह आनंद कहां मिलना संभव है कि, जो पर्वतशिखरपर अथवा नदीसंगम पर किये ध्यानसे मिलना सभव है !

विस्तृत क्षेत्र।

इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टिका क्षेत्र कितना विस्तृत होता है, वह भी देखिये। तंग कमरे में बैठनेवाले की दृष्टि अधिक से अधिक दसबारा हाथ दूरीतक पहुँचेगी, परन्तु पर्वत के रमणीय शिखरपर बैठनेवाला उपासक कम से कम दोतीन सौ मैल दूर तक तो देख ही सकता है, इसी तरह नदीके संगमपर बैठनेवाला उपासक तो कम से कम नदीप्रवाह को देखता हुआ इतना तो ख्याल कर ही सकता है कि, यह प्रवाह कहां से आया और कहां जाता है। प्रवाह से अखंडता तो उसके अनुभव में आ ही जायगी, जो अत्यंत आवश्यकही है।

वेद कहता है पर्वतशिखर पर बैठकर उपासना करो अथवा नदीकिनारे या संगम के स्थान पर बैठकर ध्यान करो। वेदने कहा, परन्तु सुना किसने ? सभी तो तंग कमरोंमें ही बैठते हैं और विशेष तंगी करनेके लिये अपनी आंखें भी बंद ही कर लेते हैं !! वेदको यदि आपके दृष्टि के सामने का दृश्य बंद करना मंजूर था, तो वह भी वैसाही आपको आदेश दे देता कि, अंधेरे कमरे में आंख बंद करके बैठो, पर वेद तो कहता है कि घरमें भी न बैठो, जाओ पर्वत पर और नदीकिनारे और वहां बैठो और वहां भी अंधेरेमें मत जाओ, प्रत्युत सूर्योदय और सूर्यास्त का समय साधन करो। नक्षत्रदर्शन तक ही संध्याकाल का समय है, गाढ अंधकार शुरू हुआ, तो संध्याका समय नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि, संध्या के लिये वेदके आदेशानुसार सूर्य का प्रकाश चाहिये। रात्रि का गाढ अन्धकार नहीं चाहिये, यह क्यों? यदि आंखें बंद करनी आवश्यक ही होतीं, तो सूर्य के बिंब के होनेकी क्या अवश्यकता है ? कुछ विचार तो करिये, हमारे आजकल के विचार और वेद का आदेश इसमें कुछ भी तो संबंध रहे, बिलकुल ही विरोध

होनेसे किस तरह सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। और इतना विरुद्ध आचरण करनेसे आप ईश्वरको देख भी कैसे सकते हैं?

आप कल्पना करिये कि, आप ब्राह्म मुहूर्त में उठे हैं और शहरके बाहर पर्वतशिखरपर या नदीकिनारे गये हैं, यथायोग्य शौच, मुखमार्जन, स्नान आदि करके संध्या के लिये आप बैठ रहे हैं, ऐसे समय में अंधेरा कम होने लगता है और प्रकाश अधिकाधिक होने लगकर आपके गायत्री जप के समय सूर्यबिंब ऊपर आने लगता है, यह सबेरे की संध्या है। शाम की संध्या भी आकाश में किसी तारका का दर्शन होतेहि समाप्त होनी चाहिये, अतः इस संध्या के समय के गायत्री जप के समय भी सूर्यबिंब क्षितिज पर ऐन आप के सामने दिखाई देता है। कल्पना करिये कि, आप पर्वतशिखर पर बैठे हैं, आपके चारों ओर नितान्त, शांत और गंभीर दृश्य है आपके चारों ओर दोतीन सौ मील की दूरी तक का दृश्य सुंदर रीतिसे दीख रहा है, घरकी तंगी दूर होकर मन के फैलाने के लिये आप को उचित और पर्याप्त अवकाश मिल रहा है, दूरके निसर्गरमणीय सुंदर दृश्य दीख रहे हैं, सूर्य का उदय आप के सामने हो रहा है, सूर्य अपने अमृतकिरणों से संपूर्ण विश्व में नवीन प्राण संचारित कर रहा है, क्या यह दृश्य देखना चाहिये कि, इस समय आप के आंख बंद करके आपको इस पवित्रतम दृश्य से वंचित रहना चाहिये? कहिये आप का अन्तरात्मा इस समय आंखें बंद करना चाहेगा या आंखें खोलकर सूर्यकिरणोंद्वारा विश्वमें प्राण संचारित होने का अद्भुत दिव्य दृश्य देखना चाहेगा?

इसी तरह आप नदीकिनारे या नदीसंगमपर गये हैं, सर्व प्रकार शुचि होकर आप संध्या करने लगे हैं, सूर्य आपके सामने अपने किरणोंद्वारा संपूर्ण विश्वपर अमृत की वर्षा कर रहा है, नदी का सुरम्य जल ऊपर से आकर नीचे जा रहा है, दो नदीयों का पवित्र संगम होकर वहां मिश्रण का दिव्य अद्भुत दृश्य आपके सामने दीख रहा है, क्या आप गायत्रीमंत्र पढते हुए आंखें बंद करके उस अनुपम दृश्यसे वंचित रहेंगे, अथवा इस दैवी घटना में ईश्वर का कर्तृत्व अपने आंख से देखने की इच्छा करेंगे? जो अन्तरात्मा सच कह रहा है, वही कहिये।

यदि ऐसे सुरम्य दृश्य में शरीर को रखते हुए भी अपनी आंखें बंद करके दैवी दृश्य से वंचित ही रहना है, तो फिर आपने इतने कष्ट क्यों उठायें? इससे बेहेत्तर यही है कि, आप अपने तंक कमरेमेंहि बैठते! वेदने आपको आदेश दिया कि, इस दैवी ब्राह्ममुहूर्त में आप तंगीमें न रहें, भूमाप्रदेश में आकर भूमा का दर्शन करें। आप तो भूमाप्रदेश-विस्तृत खुले प्रदेश में आये, पर फिर भी वहां आप आंखें बंद करके सब सुरम्य विस्तृत मनोहारी दृश्य को आप से दूर करने के लिए आंख बंद करना हि चाहते हैं? आपका ख्याल है कि, इस सुरम्य विश्व में परमेश्वर नहीं है और परमेश्वर आपके अन्दरही है, क्या इस दृश्य से आपका अन्तःकरण अधिक पवित्र है? यदि आपका ख्याल होगा कि, इस सुरम्य विश्व में भी ईश्वर है, तो निःसंदेह आप इतने कष्ट उठाकर ऐसे मनोहारी दृश्य में आकर अपने आंख खोलते और उसमें ईश्वर का कार्य आप देखते। जप करते समय आपके सामने सूर्य उदित हो रहा है और आप कह रहे हैं कि-

ओम्। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

"ओम्। विश्वव्यापक ईश्वर सर्वत्र है। इस सूर्यदेव के इस अद्भुत प्राप्त करनेयोग्य तेज का हम ध्यान करते हैं, जो तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।" ओंकारवाच्य परमात्मा सर्वत्र है, वह जैसा पास है, वैसाही दूर है, वह जैसा अन्दर है, वैसा ही वह बाहर भी है। उसीका तेज इस सूर्य में कार्य कर रहा है, जिस सूर्यका तेज ऐसा सुरम्य है, फिर सूर्यका भी सूर्य जो है, उसका तेज कैसा विलक्षण होगा, वह तो सबको प्रेरणा करता है, जैसा सूर्य का तेज मनुष्यपशुपक्षियों को जगाकर कार्य में प्रेरणा करता है। इत्यादि प्रकार मनन करते हुए सूर्य के अमृतरूप किरणों का कार्य देखकर सूर्यके सूर्यकी-अर्थात् प्रभुकी कल्पना करने का अभ्यास करेंगे, तो कुछ शुभ संस्कार आपके मनपर होते रहेंगे। परंतु आंख बंद करेंगे, तो क्या बनेगा? आप अपने आपको ईश्वर से दूर रखेंगे, यही आजकल किया जा रहा है!

हमारे समझ में नहीं आता कि, संध्या में आंखें बंद करने का प्रघात किस तरह घुस गया है, जिससे गुप्त रीतिसे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि, बाह्य विश्वमें परमात्मा है ही नहीं और जो कुछ है, वह अपने अन्दर ही है।

श्रुतिस्मृति के वचन देखे जाय, तो प्रतीत ऐसा होता है कि, वे ऋषि इस शोभन संध्यासमय के सुरम्य दृश्य से परमात्माकी अद्भुत शक्तिकी कल्पना मनुष्य के मन में स्थिर करनेके यत्न में थे। परंतु अब तो इससे विरुद्धही बात चल पड़ी। और इतना विरुद्ध प्रवात शुरू हो चुका है कि, अब उसको विपरीत कहना भी पाप समझा जायगा !!!

आँखें बंद करनेका प्रयोजन।

पाठक यहां पूछेंगे कि, आंखें बंद करने का कुछ मूल्य है वा नहीं? यह प्रश्न उत्तम है और योग्य भी है। आंखें बंद करने का मूल्य निःसन्देह है। परंतु परमात्म-दर्शन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने जो यहां बताया, वह इतना ही बताया कि, परमात्मदर्शन करने के लिए आंखें बंद करनी चाहिये, ऐसा जो माना जाता है, वह अशुद्ध है।

जैसा मौन धारण करनेसे लाभ होता है, मन शांत होने मे सहायता मिलती है, उसी तरह आंखें बंद करने से शान्ति मिलती है। आंखें खुली रहने से अन्दर की शक्ति प्रतिक्षण बाहर जाकर क्षीण होती है और जगत् के दृश्य का भार मनपर अत्यधिक बढता जाता है, इस कारण आंखें बंद करते ही वह भार कम होने लगता है और मन शान्त होने लगता है। वाणीद्वारा सतत बोलते रहने से भी शक्ति क्षीण होती है, अतः मौन धारण करनेसे उस शक्तिकी रक्षा होती है और उस प्रमाण से मनकी शान्ति प्राप्त होती है। इसी तरह ब्रह्मचर्यरक्षा से वीर्यरक्षा होनेसे शक्ति शरीर मे स्थिर रहती है। हाथपांव तथा शरीर न हिलाते हुए एकासनपर सुस्थिर रहने से भी अपनी शक्ति क्षीण नहीं होती और मन शान्त होनेमें सहायता होती है। आसन, मौन, ब्रह्मचर्य, (जननेंद्रिय की निष्क्रियता) से ईश्वर प्राप्त नहीं होता, केवल अपनी शक्ति जो व्यर्थ क्षीण हो रही है, उसकी रक्षा होती है, इसी तरह आंखें बंद करनेसे भी अपनी शक्ति की सुरक्षा होती है, मन शान्त होने में सहायता होती है। यदि कोई कहे कि, 'आसन' करनेसे ईश्वर प्राप्त होगा, ईश्वर दिखेगा, तो वह भूल है। आजन्म-आसनाभ्यास करनेपर भी शरीरकी शक्ति सुरक्षित रहने के सिवाय कुछ भी अधिक नहीं प्राप्त होगा। इसी तरह आंखें बंद करने से भी आंख के द्वारा होनेवाला अपना शक्तिक्षय नहीं होगा, इससे अधिक कुछ भी नहीं लाभ होगा।

जिससे जितना हानिलाभ होने की संभावना होगी, वही बात बोलनी चाहिये। न्यूनाधिक बोलना ज्ञान का लक्षण नहीं कहलायेगा। इसीलिए इससे पूर्व कहा कि, संध्याके समय यदि ईश्वर का ध्यान करने की इच्छा है और सचमुच वही आपका ध्येय है, तो उस समय आंखें बंदकरने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर जैसा अन्दर है, वैसाही बाहर है, अंदरबाहर एक जैसा एकरस होनेसे जैसा ईश्वर बाहर दीख सकता है, वैसा ही अन्दर भी दिखाई देगा। आंखें बंद करनेसे उसको शीघ्र देख सकते हैं, ऐसी बात नहीं, इतनाही नहीं, प्रत्युत आंखें बंद करनेसे कुछ हानि भी होगी, क्योंकि बाहर के विश्व में व्यापक रहनेवाले ईश्वर से दूर होनेका यत्न इस प्रयत्न में किया जाता है, जो अनवश्यक है।

इंद्रियोंको अन्तर्मुख करना।

ऐसा ही इंद्रियोंको अन्तर्मुख करनेका उपदेश किया जाता है, उस संबंधमें कहना उचित है। इंद्रियों को अन्त-र्मुख करनेके विषय में बहुत शब्दजाल लोग बोलते हैं। वेदके किसी मंत्र में ऐसा कहा नहीं है। पाठक जरा अपने कानों को अंतर्मुख करने का यत्न करके तो देखें। जो उपदेशक इंद्रियो को अन्तर्मुख करने की भाषा बोलते है, उनसे पूछना चाहिये, कि आपने कौनसा इंद्रिय अन्त-र्मुख करनेकी सिद्धता प्राप्त की है? उपदेशकों की और लेखकों को न समझते हुए और स्वयं न करते हुए ऐसे भ्रमजाल फैलानेवाले उपदेश लिखने और कहने का अभ्यास हुआ है और ऐसे सारहीन उपदेशों से जनता को ईश्वरसाक्षत्कार के मार्ग से दूर रखनेका पाप हो रहा है, यह भी उनको ख्याल नहीं होता, कितना आश्चर्य है! हरएक वक्ता बोलेगा कि, इंद्रियों को अन्तर्मुख करना चाहिये और श्रोता उसको सुनेगा, परंतु वक्ताने कभी किया न होगा और श्रोता तो कभी करनेवाला भी नहीं। परंतु ऐसे भ्रमजाल के उपदेश करने और सुनने से वक्ता और श्रोता दोनों खुष होते हैं। कैसा आश्चर्य है!

क्या कर्मेंद्रिय अन्तर्मुख हो सकते हैं ?

इंद्रियोंको अन्तर्मुख करनेके उपदेश में प्रश्न हो सकता है कि, कौनसे इंद्रिय अन्तर्मुख हो सकते हैं । कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय ऐसे दो प्रकार के इंद्रिय हैं । इनमें क्या कर्मेंद्रिय अन्तर्मुख हो सकते हैं ? हाथ, पांव, मुख, गुदा और जननेंद्रिय ये पांच कर्मेंद्रिय हैं । क्या हाथ और पांव अन्तर्मुख होंगे ? मुख, गुदा और जननेंद्रिय भी अन्तर्मुख होनेवाले नहीं हैं । अतः कर्मेंद्रियों के विषय में अन्तर्मुख होनेकी भाषा बोलना सर्वथा अनुचित ही है ।

ज्ञानेंद्रियों का अन्तर्मुख होना ।

अब रही बात ज्ञानेंद्रियों की । उनके विषय में देखिये. नासिका, जिव्हा, नेत्र, त्वचा और कर्ण ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं । त्वचा को अन्तर्मुख करने का तात्पर्य क्या है ? कैसा यह इंद्रिय अन्तर्मुख हो सकता है? क्या बाहर की खाल, त्वचा अन्दर की जा सकती है, यह स्पर्श करनेका इंद्रिय है, इसको अन्तर्मुख करना असंभव है, इसी तरह कानों को अन्तर्मुख करनेका अर्थ ही क्या होगा ? किस तरह कान अन्तर्मुख किये जायंगे ? यदि अन्दर की आत्माकी आवाज सुनने का तात्पर्य कानों के अंतर्मुख होनेसे है, तो अंतरात्माकी आवाज इन कानों को सुनाई देनेवाली नहीं है । वह मनमें होनेवाली प्रेरणा है, इन कानोंसे सुनाई देनेवाले अंतरात्मा के शब्द नहीं होते । कोई पाठक अपने कानों को अन्तर्मुख करनेका यत्न करके तो देखे, क्या कभी यह बात साध्य होनेवाली है ? कभी नहीं, क्योंकि कान अंतर्मुख होनेके लिये बने ही नहीं हैं । उनको क्या किया जाये ?

इसी तरह जिव्हा–रसना–को अंतर्मुख करनेका क्या तात्पर्य है ? किस तरह जिह्वा अंतर्मुख होगी? बाहिर्मुख रहते समय जिह्वा जैसा स्वाद का ग्रहण करती है? क्या वह अंतर्मुख होनेसे स्वाद नहीं लेती ? और दूसरा कुछ करती होगी, तो किसी जिव्हा को अंतर्मुख करनेवाले अनुभवी पुरुषने बताना चाहिये । हमारे समझमें नहीं आता कि, जिह्वा अंतर्मुख किस तरह होती है ? और उस समय क्या होता है ? योगमें खेचरी मुद्राके अनुष्ठान में जिह्वा को उलटा करके, जिह्वा की धमनी काटकर उसे लंबा करके तालुमें लगाने का विधान है, परंतु यह अनुष्ठान करनेसे जिह्वा अन्तर्मुख होती है और ईश्वर प्राप्त होता है, ऐसा तो योगग्रंथ नहीं बोलते । आन्तरिक ग्रंथि का स्राव उस युक्ति से मिलता है, जिससे युवावस्था दीर्घ कालतक रहती है, इतनाही इसका फल है, इससे अथवा ऐसे हठयोगकी किसी क्रियासे ईश्वरप्राप्ति होनेका दावा तो किसीने भी नहीं किया है और समझदार लोक कहते ही हैं कि, किसी अष्टांगयोगकी ऐसी क्रियाओंसे शरीरस्वास्थ्य भले ही प्राप्त हो, परंतु इससे ईश्वर का साक्षात्कार तो कदापि नहीं होगा । योगदर्शनने तो साफही कहा है, **ये हठयोग की क्रियाएं और उनकी सिद्धियां परम सिद्धिमें बाधक हैं** । फिर जिह्वा को अंतर्मुख करने का तात्पर्य क्या है ? यदि जिह्वा की रुचिलोलुपता में न डूबनेका तात्पर्य है, तो वह अर्थ अंतर्मुख होनेसे किसी के भी ध्यान में नहीं आता । कृपया पाठक जिह्वा-इंद्रियको अन्तर्मुख करनेका यत्न करके देखें, जब वे सचमुच इसका यत्न करेंगे, तब उनको इस विषय में जो भ्रम फैला है, उसका सहज ही से पता लग जायगा ।

इस तरह त्वचा, कान और जिह्वा के अंतर्मुख होनेका कुछ भी तात्पर्य नहीं है और ये इंद्रिय अंतर्मुख हो भी नहीं सकते । नाक के अन्तर्मुख होनेकी दशा भी वैसी ही है । अब शेष रहती है बात केवल आंख की और उसको अन्तर्मुख करने के ही लिए ध्यान के समय आंखें बंद करते हैं और समझते हैं, इस तरह नेत्र-इंद्रिय अंतर्मुख हो जाता है । इस तरह आंखें बंद करनेसे किसके नेत्र अंतर्मुख हुए हैं, उन को उचित है कि, वे अपने अनुभव बता दें । हम परीक्षा करके देखेंगे कि, इनको क्या लाभ हुआ है और उसका मूल्य क्या है ।

ये इंद्रियां बनी ही हैं बहिर्मुख, एक भी इंद्रिय अन्तर्मुख होनेके लिए बना नहीं है । जो अन्तर्मुख होनेके लिए बना ही नहीं, उनको अंतर्मुख कौन कैसा बनावेगा ?

प्रकाशादिका अनुभव ।

योगमें एक क्रिया है । प्राणायाम करते करते जब नेत्रादिकों के मज्जाकेंद्रपर इच्छा का दबाव आ जाता है, तब प्रकाशदर्शन, सुगंधानुभव, मधुर स्वादका अनुभव,

सुन्दर कर्णमधुर शब्द का श्रवण, सुखस्पर्शोका अनुभव इस तरह हरएक इंद्रिय के विषयोंका अनुभव विषय सामने न होते हुए भी होता है। प्रकाश ऐसा दीखता है कि, उसके सामने अपना दिनका प्रकाश कुछ भी नहीं, शब्द ऐसा सुनाई देता है कि, मन उसी नादमें घण्टोंतक रममाण हो जाता है। यह एक हठयोग की सिद्धि है। शरीर निर्मल, निर्दोष हुआ, सर्व प्रकार से शुद्ध हुआ, तो अन्दर से ही सुगन्ध आने का भास होता है। ये सब अनुभव किसी भी साधक को होना संभव है। इसमें कोई कठिन बात नहीं है। जिस तरह आंख बंद करके आंखों की ढकनोंपर उंगली से दबाव डाला जाय, तो आंखोंके सामने प्रकाश दीखता है, इसी तरहके ये मस्तिष्कके अन्दर दबाव होनेसे आनेवाले अनुभव हैं। यदि कोई इनको देखकर अपने इंद्रिय अन्तर्मुख हुए, ऐसा मानने लगे, तो वह उनका भ्रम है। यह तो विशिष्ट मज्जा-केन्द्रपर विशेष दबाव आनेसे अनुभव में आनेवाली बात है। ये सबही सिद्धियां अपनी उन्नति में बाधक हैं। इनके विषय में सर्वत्र सावधानीकी सूचनाएं दी हैं कि, कोई साधक इनमें न फंसे। इसका नाम इंद्रियों का अन्तर्मुख होना नहीं है।

इस तरह के अनेक भ्रमजाल इंद्रियोंके अन्तर्मुख होनेके संबंध में कई उपदेशकोंने फैलाये हैं। ये सब बोलने और सुनने के लिये अच्छे लगते होंगे, परन्तु इनका कुछ भी फल नहीं है। प्रकाशदर्शन तो एक मामूली अनुभव है। कोई यह न समझे कि, इस तरह का मार्ग ईश्वरसाक्षात्कार की सीढी है। उलटा यह मोह में फंसने का मार्ग है। अत इस से सदा सावधान हि रहना चाहिये।

मनका अन्तर्मुख।

हां, केवल मन के अन्तर्मुख होने में कुछ सत्यका अंश है। अपना मन सदा ही दूसरों के दोष देखता रहता है। देखिये, दो मनुष्य बातें करने लगे, तो प्रायः किसीकी निन्दा करेंगे, इसने यह गलती की, उसने यह दोष किया, अखबारोंके लेख प्रायः किसी न किसीकी निन्दा के लिये ही होते हैं। मनुष्यको कई मित्र होते हैं और कई शत्रु रहते हैं, अतः मनुष्य अपने शत्रुओं की निन्दा करता रहता है, इसको निन्दा सुननेका बडा प्रेम होता है। मन दूसरों के दोष देख सकता है, परन्तु वह अपने दोष नहीं जान सकता। मनुष्य में यह बडा भारी दोष है। इससे मनुष्य को बडी भारी हानि होती है। इस हानि से बचने के लिये मनको अन्तर्मुख करनेका उपदेश किया जाता है। मन जो दूसरों के दोष देखता है, वही मन अपने दोष देखे और उनके सुधार का यत्न करे। मनके अन्तर्मुख होन का इतना ही अर्थ है और इसकी बडी भारी आवश्यकता भी है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि सभी इंद्रियां अन्तर्मुख करनी हैं। केवल मनको अन्तर्मुख करने का तात्पर्य ऊपर बताया है, इतना ही इस सब में सत्य और अत्यावश्यक है।

आत्मपरीक्षा।

मन दूसरों के दोष देखता है, इसकी अपेक्षा वह अपने दोष देखे और उनको दूर करने का यत्न करे, अपना दोष होने पर उसको माने, कभी हठसे अपने दोष को गुण सिद्ध करने का यत्न न करे। दूसरों के गुणों का वर्णन करे, अपने दोष से ही विश्व में दोष हो रहे हैं, अपनी पूर्ण निर्दोषता सिद्ध होने पर विश्व में दोष नहीं रहेंगे, ऐसा भी चाहे, तो माने। परन्तु कभी अपने दोष न छिपावे। इसका अर्थ यह है कि, अपना मन दूसरों की परीक्षा में जो लगा रहता है, वह अपनी परीक्षा में लगे, अपने दोष होनेपर अपने आपको स्वयं दण्ड देवे, स्वयं अपने दिया हुआ दण्ड भोगने लगे। इस तरह आत्म-शुद्धी का मार्ग खुल जाता है, अतः इस प्रकार का मार्ग योग्य है और इस तरह की अन्तर्मुख वृत्ति होना अत्यावश्यक भी है।

मनकी अन्तर्मुखता का यह एक अत्यंत बडा भारी उपयोग है, यह एक आवश्यक तप है, परन्तु जो सामान्यतः सब इंद्रियोंकी अन्तर्मुख वृत्ति करने के विषय में शब्द-जाल बोलते रहते हैं, वह उनका शब्दजाल कुछ भी काम का नहीं। वह एक भ्रममात्र है। अतः इस विषय में जितना जिसने किया है और जितना जिसको मालूम है, अनुभव है, उतनाही वह बोलेगा, तब कभी ऐसे दोष नहीं हो सकेंगे, परन्तु धंदेवाले उपदेशक होने के कारण रुचिकर वाक्य बोलने और सुनने का अभ्यास बढ चुका है। इसका यही परिणाम होता है।

आत्मशुद्धि ।

ऊपर कहा ही है कि मनको अन्तर्मुख करनेसे आत्मशुद्धि हो सकती है । अपनी पवित्रता करनेसे मनुष्यकी उन्नति होगी । परंतु अपनी शरीर-इंद्रियां-मन आदिकी पवित्रता होनेसे परमेश्वर का साक्षात्कार होगा, ऐसी बात नहीं है । शरीर-इंद्रिय-मन की अपवित्रता रहनेसे मनुष्यका राक्षस बनता है और पवित्रता बननेसे मनुष्य का महात्मा बनता है । परंतु ईश्वर का साक्षात्कार होनेकी बात और ही है । देखिये-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ (मुण्ड० ३।२।३-४)

'केवल बहुत प्रवचनोंका श्रवण करनेसे' केवल तर्क बढानेसे केवल बडे अध्ययन से यह आत्मसाक्षात्कार नहीं होता । बलहीन मनुष्य, प्रमादी, या तप करनेवाला अथवा कुछ न करनेवाला इस को प्राप्त नहीं कर सकता । जिसको वह स्वयं वरता है और इन उपायों से जो यत्न करता है, उसी को आत्मसाक्षात्कार होता है ।'

यह आत्मसाक्षात्कार का अनुभवसिद्ध नियम है । ऊपर संध्या के समय आँखें बंद करनेके विषयमें लिखा ही है, उस का यह आशय नहीं कि संध्या के समय कोई आँखें बंद न करें, परंतु उसका यह आशय है कि जिसकी इच्छा आंख के द्वारा मन को विश्राम देना मंजूर हो वह आँखें बंद करनेके समय यह न समझे कि यह ईश्वर का साक्षात्कार करनेका मार्ग है । क्योंकि ईश्वर अन्दर बाहर एक जैसा है और यदि किसी जगह ईश्वरका साक्षात्कार होनेवाला होगा तो वह बाहरहि होगा अन्दर कदापि नहीं, क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार विश्वरूपमें होता है। और जो विचार में होता है, मनमें दीखता है, वह ईश्वर का गुणमय भाव होता है ।

इंद्रियों के अन्तर्मुख करनेके संबंधमें जो ऊपर लिखा है, वह भी विशेष विचारपूर्वक देखिये । अशुद्ध विचारों को पास रखने से किसी का लाभ होनेवाला नहीं है । मनको अपनी परीक्षामें-आत्मपरिक्षामें-लगाने का नाम उसको अन्तर्मुख करना है यह अत्यंत आवश्यक बात है, इसको कोई न भूले । परन्तु अन्य इंद्रियों के अन्तर्मुख करनेकी बात कोई कहे तो उसको भ्रम समझनाही अच्छा है; क्योंकि वह बात बनने वाली नहीं है। अनुभव न लिये मनुष्य वैसी बातें बोलते हैं, उनकी ओर ध्यान न देना उचित है ।

ईश्वर का साक्षात्कार ।

पूर्व के लेख में बताया ही है, कि (आत्मा द्रष्टव्यः) आत्मा या ईश्वर देखा जाता है, अर्थात् आंख का वह विषय हो सकता है। वेदमंत्रों के प्रमाण और उपनिषदों के प्रमाण हमने पहिले लेख में पर्याप्त दिये हैं । उनमें से प्रत्येक मंत्रवचन का आशय यही है कि, ईश्वर देखा जाता है । हम आगे बतायेंगे कि इसकी प्रक्रिया कैसी है, और ईश्वर किस युक्ति से देखा जा सकता है । वेदमंत्रों में इस के पर्याप्त और पूर्ण आदेश हैं, उनकी ओर दुर्लक्ष्य होने से ही हमारी यह अवस्था हो चुकी है । अब यहां बताना इतनाही है कि यदि किसी युक्ति से ईश्वर का साक्षात्कार विश्व में हो सकेगा, तो उसी युक्ति से अन्य इंद्रियों द्वारा भी ईश्वर का अनुभव हो सकेगा, इस विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता । क्योंकि यदि ईश्वर आंखों का विषय होने की संभावना मान ली जाय, तो उसी युक्ति से नाक, कान, जिह्वा (रसना), त्वचा आदि इंद्रियोंसे भी उसका अनुभव हो सकना क्यों अशक्य होगा? और यदि किसी इंद्रियसे ईश्वर न दीखनेवाला होगा, तो वह आंखोंका भी विषय नहीं होगा और ऐसी स्थिति में फिर उपरोक्त वेदमंत्रों का क्या अर्थ होगा, इसका विचार करना पडेगा । परन्तु इस समय हमारा निश्चय यही है, कि उपरोक्त वेदादि वचनोंमें कहा आदेशही सत्य है और आंख से ईश्वर दीखने वाला है, यह भी सत्य है, और इससे जो अनुमान किया जाता है कि अन्य इंद्रियोंसे भी ईश्वर का साक्षात्कार होगा, वह भी संभवतः सत्यही होगा। इसका विचार यथासमय आगे किया जायगा ।

अन्तिम सिद्धि या प्रथम सिद्धि।

कई लोग कहते और मानते हैं कि ईश्वर का साक्षात्कार होना अन्तिम सिद्धि है, इससे मनुष्य कृतकृत्य होता है और पश्चात् उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। परन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। ईश्वर का साक्षात्कार होना यह वैदिक धर्म के दृष्टि से अन्तिम सिद्धि नहीं है परन्तु यह पहिली सिद्धि है। क्योंकि हम वेद में स्पष्ट देखते हैं कि गुरुकुलों में अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर स्नातक होनेके समय ईश्वर का साक्षात्कार हुआ होता था, ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नातक होकर गृहस्थी होने का अधिकारी होता था। अर्थात् विवाहसंस्कार के पूर्वहि वैदिक समय में ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म का साक्षात्कार और पूर्णज्ञान हो जाता था। ब्रह्मचर्य इसी कार्य के लिये था। ब्रह्मप्राप्ति के लिये जो व्रताचरण, जो चालचलन होता था उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मप्राप्ति होने से पूर्व ब्रह्मचर्य की समाप्ति होने से पूर्व विवाह-संस्कार कभी नहीं हो सकता। हां, कोई ब्रह्मचर्य-व्रत को असफल होने की अवस्था में भी गुरुकुल से भाग जावे तो बात दूसरी है। अथर्ववेद में कहा है—

> यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरम्।
> तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुःप्राणं प्रजां ददुः॥
> (अथर्व० १०।२।२९)

"अमृत से आवृत ब्रह्म की नगरी को जो यथावत् जानता है, उसको ब्रह्म और ब्रह्म से उत्पन्न हुए अन्य देव नेत्रादि इंद्रिय, प्राण और प्रजा देते हैं।"

इस मंत्र में कहा है ब्रह्मज्ञान होने से ब्रह्म की कृपा होती है और उस ब्रह्मकी कृपा से उत्तम इंद्रिय, उत्तम प्राण अर्थात् दीर्घ आयु और प्रजा अर्थात् उत्तम सन्तान होता है। पाठक कल्पना करें कि ब्रह्म प्रसन्न होकर, ब्रह्मका साक्षात्कार होने के पश्चात् जो शुभ सन्तान होता है, वह औरसहि संतान है, क्योंकि दत्तक संतान के लिये ब्रह्मकी कृपा किस लिये चाहिये! इससे स्पष्ट हो जाता है कि संतति होने योग्य आयु के पूर्वहि ब्रह्मका साक्षात्कार होना चाहिये। शुभ इंद्रिय, शुभ शरीर और बलवान् प्राण की प्राप्ति होने का ही अर्थ तारुण्य की अवस्था है। स्नातक होने के समय यदि परमात्मा का साक्षात्कार हो सकेगा, तो उसको नेत्रादि उत्तम इंद्रिय, बलवान् प्राण, दीर्घ आयु और निरोग शरीर मिलेगा और सुसंतान भी प्राप्त होगा। इसलिये हमने ऊपर कहा कि तारुण्य में ही ईश्वर-साक्षात्कार होना चाहिये।

वैदिक समय की गुरुकुलीय शिक्षापरिपाठी ऐसी ही होती थी, कि जिससे गुजरा हुआ युवा ब्रह्मचारी ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करके गुरुकृपा से सिद्ध होता था और पश्चात् गुरुकी आज्ञा से विवाह करके गृहस्थी होता था।

इस तरह विचार करने से पता लग सकता है कि ब्रह्म का साक्षात्कार यह कोई हौवा नहीं है कि जो वृद्धावस्था तक न होनेवाली बात हो, न उसको जन्मजन्मन्तरों की आवश्यकता है। दस पंद्रह वर्षोंके ब्रह्मचर्यपूर्वक अनुष्ठान से सिद्ध होनेवाली बात है। हम उपनिषदादि ग्रन्थों में देखते हैं कि कई ऋषिकुमारों को युवावस्था के समय ब्रह्मज्ञान हो चुका था। और प्रतीत ऐसा होता है कि वह एक उस समय विद्याकी पठन पाठन की प्रणालीहि ऐसी थी कि जिससे गुजरनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत की मर्यादामें इस को प्राप्त कर सकता था।

मान लीजिये कि ऐसा ही होता था, तो ब्रह्मचर्य-व्रत की मर्यादा में जिन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार किया है, क्या आगे उनको गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास में कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता है? आज कल की विचारप्रणाली तो यही कहती है कि ईश्वर-साक्षात्कार होनेके पश्चात् वह तो जड भरत जैसा मूढवत् आचरण करेगा। सब लोग यही बोल उठेंगे कि ईश्वरप्राप्ति के पश्चात् मनुष्य के लिये कोई कर्तव्य रहता ही नहीं। आज कल ऐसा क्यों मानते हैं, इस का उत्तर यही है, कि आज कल लोग कर्तव्यकर्म से घबराते हैं, वैदिक काल के लोग कर्तव्य से घबराते नहीं थे, इसी कारण वे उन्नत होते थे और इसी कारण हम अवनत हो रहे हैं।

ब्रह्मज्ञानके पश्चात् सच्चा कर्तव्य।

वास्तविक बात यह है कि ब्रह्मज्ञान और ईश्वर-साक्षात्कार होनेसे उसको सत्यज्ञान हुआ और सत्यज्ञान का

अनुभव भी मिला, इसी लिए उसी को सत्य कर्तव्य का पता लगना संभव है। अज्ञानी लोग क्या जानेंगे कि, कर्तव्य निर्दोष रीतिसे कैसा करना चाहिये? ज्ञानी आत्म-साक्षात्कारी लोग ही ठीक रीतिसे जान सकते हैं कि, योग्य कर्तव्य क्या है और उसको निर्दोष रीतिसे किस तरह करना चाहिये। अतः आत्मसाक्षात्कारी के लिए कोई कर्तव्य नहीं है, ऐसा मानना भूल है। वही ठीक देख सकता है और वही ठीक कर्तव्य कर सकता है, और उसीका उदाहरण सामने रखकर अन्य मनुष्य अपना आचरण सुधार सकते हैं।

आजकल सबही प्रथा बिगड चुकी है। आत्मज्ञानी होनेसे विश्वसे मनुष्य उठ नहीं जाता, जैसा आजकल समझा जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण, विदेही जनक, शुकाचार्य, श्री रामचन्द्रजी ये सब आत्मसाक्षात्कारी महात्मा थे, क्या श्रीकृष्णचन्द्रजी, श्रीरामचन्द्रजी और श्री जनकजी ने राजकार्य उत्तम रीतिसे नहीं किये? क्या इनके उपदेश आज भी जनता को मार्गदर्शक नहीं हो रहे हैं? क्या शुकाचार्य सिद्ध हो जाने पर उत्तम उपदेशक नहीं थे? क्या सनत्कुमार उत्तम प्रवक्ता नहीं थे? ये सब महापुरुष ब्रह्मचर्याश्रम में ही ईश्वरसाक्षात्कार किये हुए थे। जनक राजाकी कर्तव्यपरायणता तो विशेष ही थी, जिसका आज भी उदाहरण दिया जाता है। ऋषिकाल के ऐसे कई महापुरुष हैं कि जो ईश्वरसाक्षात्कार होनेके पश्चात् आत्मज्ञानी होकर उत्तम कर्तव्यपरायण रहकर आदर्श पुरुष बने हैं। इसलिए ईश्वर-साक्षात्कार होनेपर वह कुछ काम का नहीं रहता, यह विचार बिलकुल ही अवैदिक है, प्रत्युत वही साक्षात्कारी मनुष्य उत्तम कर्तव्य करनेवाला आदर्श पुरुष होता है।

इसी कारण विद्याध्ययन-क्रम ऐसा होना चाहिये कि जिसमें गुजरते हुए विद्यार्थी ईश्वर का साक्षात्कार करे और महात्मा बनकर जगत् में आदर्श पुरुष के समान कर्तव्य करनेके लिए व्यवहारक्षेत्र में आजावे।

अनाडी कामुक मनुष्य संतान उत्पन्न करते हैं, और ऐसे आत्मसाक्षात्कारी महात्मा सुयोग्य गृहस्थाश्रम करते हुए प्रजा उत्पन्न करेंगे, तो किनकी प्रजा उत्तम होगी? वैदिक धर्मका आदर्श यही है कि ऐसे साक्षात्कारी पुरुषों द्वारा सुसंतान पैदा हो और यही पृथ्वी ऐसे सुसंतानोंसे स्वर्गधाम बने, यहां इसी पृथ्वीपर परमात्मा का राज्य हो जावे, और जो चारों ओर सैतान का राज्य चल रहा है वह बंद होवे। वैदिक धर्म का ध्येय यही है। और ईश्वर-स्वरूप के ज्ञान होनेके विना यह ध्येय कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्याश्रम २५ वर्ष की आयु के समय पूर्ण होता है, ऐसा माना जाय तो उस समय ईश्वर का साक्षात्कार होता है और पश्चात् गुरु की आज्ञा से वह स्नातक गृहस्थी बनकर विश्वव्यवहार में प्रविष्ट भी होता है। यदि ऐसे सच्चे महात्मा लोग नगरों में अधिक संख्या में हो जायगे, तो ग्रामों और नगरों का वायुमण्डल ही दिव्य बनेगा। इसमें किसको क्यों संदेह हो सकता है?

इस लेख से पाठकों को पता लग जायगा कि स्वयं अनभिज्ञ उपदेशकों के भ्रमोत्पादक उपदेशों से बहुत ही भ्रम फैल गया है। जिसको दूर किये विना ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग खुला नहीं हो सकता। (क्रमशः)

वैदिक शाखाएँ वेदव्याख्यान ही हैं !

(लेखांक २)

(लेखक- श्री० पं० धर्मदेवशास्त्री दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, पञ्चतीर्थ, देहरादून ।)

अब मैं कुछ वैदिक शब्दों को लिखकर यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि, उपर्युक्त प्रकार से वेद में किस प्रकार विद्याएं भरी पडी हैं और वह किस प्रकार सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है-

१- 'वसु'- शब्द। अर्थ पृथिवी, जल, नक्षत्र आदि हैं। 'वसु' शब्द 'वस' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'निवास,' तो इस प्रकार 'वसु' इसका अर्थ हुआ, जिस में प्राणी निवास करते हैं। इसी 'वसु' शब्दसे ही पता चला कि, नक्षत्रोंमें भी मनुष्य निवास करते हैं। वसु शब्द का निरुक्तकारने भी ऐसा ही अर्थ किया है। नक्षत्रोंमें मनुष्य रहते हैं, ऐसा विज्ञान-वेद में भी है। यदि हम ऐसा कहें, तो पाश्चात्यों को नाराज न होना चाहिये।

(ख) गन्धर्व- शब्द का अर्थ स्वयं वेद करता है- 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः।' अर्थात् चन्द्रमा ही गन्धर्व है। गन्धर्व शब्द का शब्दार्थ है- गां रश्मिं धारयतीति-किरण को धारण करनेवाला। यहां गो शब्द का अर्थ रश्मि अथवा किरण ही क्यों किया जाय? अन्य क्यों न किया जाय, ऐसी शंका करना व्यर्थ है। उपर्युक्त वेदमन्त्र में ही स्पष्ट कहा गया है कि, सुषुम्णनामक सूर्य की एक रश्मि है। उस रश्मि को धारण करने के कारण ही चन्द्रमा को गन्धर्व कहा जाता है।

इस प्रकार गन्धर्व शब्दसे ही यह विज्ञान निकला कि, चन्द्रमा में जो प्रकाश है, वह सूर्य की एक सुषुम्ण नामक रश्मि का ही है।

(ग) विमान- शब्द चारों वेदोंमें आया है, उसके अनेक अर्थों में विमान-हवाई जहाज भी एक अर्थ है। हवाई जहाज के लिये विमान शब्द का प्रयोग क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर ही बताता है कि, वेद में विमानविद्या है। विमान शब्द के दो अवयव हैं- वि और मान, जिस का अर्थ है पक्षीके किस्म की चीज। वि पद का निर्वचन करते हुए यास्क मुनि ने लिखा है- 'विरिति पक्षिनाम वेतेर्गतिकर्मणः।' वि पक्षि का नाम है, क्योंकि वह आकाश में गति करता है। वर्तमान हवाई जहाज भी तो पक्षि के आकार के होते हैं, इस के निर्माताने भी तो पक्षियों की गति से शिक्षा ली है। जब विमान शब्दका मोटा अर्थ ही उक्त प्रकारसे है, तब यदि कोई विद्वान् वेदमन्त्रों से विमानविद्या को भी वेद में बताए, तो इस में क्या पाप है अथवा इसे पक्षपात क्यों कहा जाय।

(घ) शरीर- शब्द भी एक वैदिक शब्द है। यजुर्वेद के अन्त में यह शब्द आया है। शरीर शब्द का धात्वर्थ है, नष्ट होनेवाला। यह नाश कई प्रकार से हो सकता है। आगमें जलाने से, पानी में बहा देने से, जमीन में गाड देने से, यहां किस प्रकार से नाश अभिप्रेत है? इस का समाधान वेद स्वयं करता है। 'भस्मान्तं शरीरम्।' अर्थात् शरीरका अन्त भस्म है। यदि इस प्रकार शरीर शब्द से और उस की उपर्युक्त व्याख्या से कोई यह आशय निकाले कि, वेद में मुर्दों के जलाने का विज्ञान है, तो वह क्यों पक्षपाती समझा जाय। यद्यपि ये सब बातें वेद में हैं, तथापि पाश्चात्य पंडितों के विचार में ये सब बातें क्रमिक विकासविकास का परिणाम हैं और आज से पहिले इन का नाम भी किसी को पता भी

न था । अतः वे इस को स्वीकार नहीं करते कि- आजसे अनेकों वर्ष पूर्व ये सब बातें वेदों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान थी । इसलिये वे ऐसे स्थलो का अन्य प्रकार से अर्थ करने का प्रयास करते है। अब पाठक गण ही विचार करें कि, वेद के अर्थों में वे लोग खेंचातानी करते हैं अथवा हम।

परन्तु इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि. 'यदि इस प्रकार सभी बातें वेदों में हैं, तो इन विज्ञानों के आविष्कार से पूर्व वेदों से उन आविष्कारों को क्यों नहीं निकाला गया । और दूसरा यह भी प्रश्न होता है कि, विमान आदि के नाम से यह निश्चय कैसे किया जाता है कि, वेदों में ये विद्याएं हैं । यदि इस प्रकार की विद्याएं वेदों में है, तो उनका पूरा पूरा विवरण भी वेद में होना चाहिये- पूरा नक्शा भी होना चाहिये और ऐसा विवरण वेदों में नहीं है ।

इस पर संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि, विमानादि की भावनाएं भारतीयों में किसी न किसी रूप में वर्तमान विमानादि के निर्माण से पूर्व ही विद्यमान है और प्राचीन सम्प्रदाय के मध्यकाल में विच्छिन्न होने से इसका ज्ञान लुप्त हो गया। विचारणीय तो यह है कि, हम जो अर्थ करते हैं, वह ठीक है अथवा गलत, यदि ठीक ही है तो इस बातके मानने से इनकार करना चाहिये कि, वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है ।

दूसरे प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि, वेदोंमें सब सत्य विद्याओं का संकेत आ जाता है, यदि पूरी एक भी विद्या लिखी जाती, तो चारों पुस्तकें उस के लिये भी पर्याप्त नहीं थी। और फिर पूरा निर्देश किसे कहना चाहिये. इसका भी तो निर्णय नहीं किया जा सकता । जितना निर्देश विद्वान् पुरुषों के लिये पर्याप्त है और उनसे अधिक पण्डितों के लिये अधिक है, उतना ही उन से कम विद्वान् के लिए अपर्याप्त है । कभी समय था, जब दर्शनों के सूत्रों से ही उनका तात्पर्य समझ लिया जाता था, परन्तु अब तो टीकाओं पर भी दोतीन टीकाएं और हो गई, परन्तु फिर भी समझने में कठिनता होती है । अतः वेदों में संकेतमात्र से सभी विद्याएं आ गई हैं और साथ ही प्रभु ने मस्तिष्क भी उसे समझने का दे ही रक्खा है । और साथ में सभी अग्नि आदि प्राकृतिक पदार्थों का रासायनिक विश्लेषण उनके लाभ आदि का भी निर्देश वेद में परमात्मा ने कर दिया है और इतने पर भी आदिसृष्टि में प्रभुने चार ऋषियों को भी भेजा और उन्हों ने सब मनुष्यों को उन्हें समझा दिया।

इस सबके लिखने का तात्पर्य यह है कि, नवीन विचारों के विद्वान् ज्ञान, भाषा, लिपि आदि सभी बातों पर विकासवाद की दृष्टि से विचार करते हैं, परन्तु प्रारंभ सृष्टि में और वर्तमान में बहुत अन्तर होता है और उसके बिना काम नहीं चल सकता, इस बातकी ओर वे विचार नहीं देते- यही एक सब से बडा पाश्चात्य पद्धति से विचार करने में दोष है । इसका दिग्दर्शन हमने ऊपर करा दिया । अब प्रकृत पर आते हैं ।

प्राचीन आर्य और लिपि ।

उपर्युक्त नवीन विकासवाद के सिद्धांतानुसार पाश्चात्य विद्वान् और उन की शैली के भारतीय विचारक भी यह मानते हैं कि, प्राचीन आर्य लिखना न जानते थे, तबतक लिखने के बिना भी उनका काम चल जाता था और यह सिद्धान्त है कि—

'जरूरत ही ईजाद की मां है । ' क्योंकि प्राचीन आर्यों का काम ' लिपि ' के बिना भी चल जाता था, अतः उन्होंने लिखने के सामान का भी उद्भव नहीं किया था । यह सब लिपिकला वर्तमान समय की ही चीज है । इसी बात में यह युक्ति भी वे प्रस्तुत करते हैं कि, प्राचीन ग्रंथों में ब्राह्मणादिक में लिखनेवाले की निन्दा की गई है, अतः प्रतीत होता है कि, तब लिखने का प्रचार नहीं था । इसी के लिये वे यह भी युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि, वेद को इसीलिए ही अनुश्रव कहा

जाता है, अर्थात् वे सुने जाते थे पढे नहीं, क्योंकि तब लिखने का, लिपि का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। अब हम इन युक्तियों पर क्रम से विचार करेंगे-

१ ऊपर बताया गया है. आदिम ज्ञान अपौरुषेय हो होने चाहिएं और साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है. वह ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण ही है। सब से प्रथम देखना यह चाहिए कि, वेद में लेखन-कला का वर्णन है या नहीं-

(क) यजुर्वेद ५ अध्याय के ४३ वें मंत्रमें 'लेखीः' पद मिलता है, जिससे पता चलता है, लिखने की कला वेद में है।

(ख) अथर्ववेद काण्ड १२, सूक्त ३, मंत्र २२ में 'लिखिनम्' पद है।

(ग) अथर्ववेद काण्ड १४, सूक्त २, मंत्र ६८ में 'लिखात्' पद है।

(घ) अथर्ववेद काण्ड २०, सूक्त १३२, मं० ५ में 'लिखत्' पद आता है।

इस सम्बन्ध में श्री हीराचंद्रजी ओझा महानुभाव ने वेद के मंत्रों से ही सिद्ध कर दिया है कि, प्राचीन आर्य लिखना जानते थे।

(२) और जो यह कहा जाता है कि, लिपि की तब आवश्यकता ही नहीं थी। 'जरूरत ईजाद की मां है' की उक्ति-अनुसार लिपि का तब प्रादुर्भाव ही न हुआ था। यह युक्ति भी वास्तविक नहीं-

क्योंकि ऊपर के आदिम ज्ञान और भाषा के अपौरुषेय सिद्ध करने से यह ज्ञात होता है कि, आदिम मनुष्य जंगली नहीं थे। अपितु बहुत सभ्य थे और आगे सभ्यता का ह्रास ही हुआ होगा। और इस प्रकार ह्रास और उन्नति का क्रम कई बार बीत चुका हो, ऐसा संभव है। और नहीं तो उपर्युक्त वेद के प्रमाणों से इतना तो ज्ञात होता है कि, आदिमकालीन आर्यों को लेखनकला का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि आदिम मनुष्यों को वही पूर्ण ज्ञान ऋषियों के द्वारा प्राप्त हुआ था।

कहा जा सकता है कि, यह मान लेने पर भी कि, आदिम मनुष्यों को लिपि का निर्विशेष ज्ञान था कि, लिखा भी जाता है- यह सिद्ध नहीं हो सकता कि, ये आद्य मानव उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप भी देते थे।

इस के सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि, ऊपर कहा जा चुका है कि, आद्यकाल के मनुष्य असभ्य और जंगली थे, यह बात नहीं, अपि तु वे बहुत सभ्य थे। भला जब स्वयं परमात्मा ने ऋषियोंद्वारा उन्हें अपौरुषेय ज्ञान दिया, तब वे जंगली क्यों हों। अथवा पूर्व सृष्टिका अंतिम योग्यनुसार जिस प्रकार की योनि जिस जीव को मिलनी चाहिये, वैसी योनि इस सृष्टि में भी प्रभु ने दे दी। उन में से जो मनुष्य होने चाहियें थे, उतने ही मनुष्य भी बना दिये गये। परन्तु इतना भेद अवश्य है कि, यह सृष्टि अमैथुनी सृष्टि थी, ऐसा आर्यसिद्धान्त है और ऐसा युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है, जो मनुष्य हुए यदि उन्हें अपने पास पुण्य का फल भोगने के लिये उचित परिस्थिति न मिले, तो यह महा अन्याय है। क्योंकि पूर्व सृष्टिमें अन्तिम योनिमें से जो मनुष्य प्रलयकाल में बहुत समय तक सुषुप्ति की सी अवस्था में रहे, उन में हर प्रकार के मनुष्य हो सकते हैं, विद्वान् और मूर्ख सभी। कोई भी ऐसे भी जीव हो सकते हैं, जिन को मुक्त होने में कुछ ही योनि अवशिष्ट हों- और फिर दूसरी सृष्टि के प्रारंभ में जब तक उनके अनुकूल सृष्टि की परिस्थिति न हो, तो वे उन्नति किस प्रकार कर सकते हैं, अथवा अवनति किस प्रकार कर सकते हैं। अतः आदिसृष्टि में भी मनुष्यसमाज एकदम असभ्य ही नहीं हो सकता-उस समय भी सभी प्रकार के भेद होंगे, ऐसा प्राचीन शैली से विचारने पर निष्कर्ष निकलता है। जब यह सिद्ध हो गया कि, आद्य मनुष्य असभ्य नहीं थे और ऊपर यह भी बताया गया है कि, आद्यकालीन मनुष्यों को ऋषियोंद्वारा अपौरुषेय ज्ञान

और भाषा भी दी गई, तो और उसमें लिखने की कला का निर्देश है, तो यह बात कहां तक संभव है कि, सभ्यता का मुख्य चिह्न लेखनकला प्राचीन आर्यों में नहीं थी। प्राचीन आर्यों में ही क्यों? आद्यकालीन मनुष्यों में भी लेखनकला थी। यह भी उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है।

प्राचीन आर्यों को लिखने की आवश्यकता ही न पडती थी, यह बात भी ठीक नहीं। प्राचीन आर्यलेखनकला बिना वेद की धरोहर का रक्षण किस प्रकार कर सके, जो अनेकों वर्षों से पुराना होता हुआ भी आज तक अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। आजतक जितने भी अन्वेषण हो चुके हैं, उन से यह प्रतीत होता है कि, जबसे मनुष्यकी सृष्टि हुई लिखना भी, तभी से चला आता है। स्मरण करने के लिए भी लिखने की आवश्यकता होती है और जब प्राचीन काल में एक एक गुरु के पास १० सहस्र विद्यार्थी वेद पढते थे, तब वे इतनी संख्या में लिखने के बिना अर्थसहित स्वर आदि सहित वेदों को किस प्रकार पढ सकते हैं, इस को विज्ञ लोग ही जान सकते हैं। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि, मनुष्यों की सृष्टि के साथ ही लिपि का भी निर्माण हुआ है। अतः प्राचीन आर्यों को लिपि की आवश्यकता थी, ऐसा प्रतीत होता है।

(३) लिपि के अर्वाचीन होने में एक यह भी युक्ति दी जाती है कि, ब्राह्मणग्रन्थों- लेखक की निन्दा की गई है।

हम कहते हैं, यह निंदा करना ही इस बात में प्रमाण है कि, लेखनकला तब विद्यमान थी, यदि लिखने का तब प्रचार न हो, तो लेखक की- लिखनेवाली-की निंदा नहीं की जा सकती। निष्येध ही निष्येध्य की सत्ता का अनुमापक है।

लेखक की निंदा लेखकका अभाव नहीं बताती- अपि तु उसकी किसी कारण अनावश्यकता अथवा अनौचित्य का ज्ञान कराती है। लेखक की निंदा उसकी विस्मृति आदि के कारण भी तो हो सकती है।

(४) वेद को अनुश्रव अथवा श्रुति कहने से भी यह प्रतीत नहीं होता है कि, प्राचीन आर्य लिपि से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

वेद का श्रुति अथवा अनुश्रव इसलिए नहीं कहा जाता कि, वे सुने ही जाते हैं, पढे नहीं, अपितु किस लिये कहा जाता है, इसको श्री सत्यव्रत सामश्रमीजी के हां शब्दों में सुनिये—

(क) 'एष हि वेदश्चिरमेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण केनाऽपि कदाऽपि एकस्याऽपि मंत्रस्य प्रणयनकालनिर्णये कथमपि न समर्थः अतएव वाय्वादि वद् अपौरुषेयश्चेति स्तूयत एवाऽयमिति वृद्धाः।'

(निरुक्तालोचन पृ० १४०।१४१)

यतः इस वेद को गुरुपरम्परा से सुनते आ रहे हैं और किसी ने कभी एक भी मंत्र का निर्माण नहीं किया, अतः वेद को श्रुति कहते हैं। 'श्रुति' के समान अनुश्रव शब्द भी इसीलिये वेद का नाम है। वे ही कहते हैं—

वेदस्यानुश्रवनामाऽपि श्रुतिमूलकमेव। तथायुक्तं 'दृष्टवदानुश्रविकः' इतीश्वरकृष्णीय सांख्यकारिकाव्याख्यानावसरे वाचस्पतिना- 'गुरुमुखादनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः इति।

अर्थ- वेद का अनुश्रव नाम भी इसीलिये पडा है। श्री वाचस्पति मिश्रने "दृष्टवदानुश्रविकः" इत्यादि सांख्यकारिका की व्याख्या करते हुए सांख्यतत्त्वकौमुदी में लिखा है, क्योंकि गुरुमुख से ही वेद को सुनते आ रहे हैं, उसके कर्ता का पता नहीं, अतः अनुश्रव वेद को कहते हैं।

(ग) वे ही आगे लिखते हैं—

"लौकिकप्रवादवाक्यानामपि श्रुतिरपि व्यवहारो दृश्यते बहुत्र तदेवं यस्य कस्यचिद् वचनस्य प्रचारकालस्यादिर्न निर्णीयते कदा केन कथितमिदमिति, अपि च प्रामाणिक-

तया गुरुपरम्परयोपदेशो लभ्यते तत्किल
लौकिकं वा वैदिकं वा वचनं श्रुतिरित्युच्यते।

अर्थ- लौकिक वाक्योंको भी बहुत स्थानों पर श्रुति कहा गया है। तात्पर्य यह है कि, जिस किसी भी वैदिक अथवा लौकिक वचन के प्रचारकाल का प्रारंभ ज्ञात न हो कि, किस ने कब यह वचन कहा है। और प्रामाणिक होने से गुरुपरम्परा-द्वारा उसका उपदेश हो रहा हो, उसे श्रुति कहते हैं।

इस प्रकार श्री सत्यव्रतसामश्रमी महोदय ने अपने शाखातत्व की युक्तियुक्तता में जो यह प्रथम युक्ति कही थी कि, प्राचीन आर्य लिखना न जानते थे, अतः आगे चलकर स्मृतिदोष से मूल वेदों में कुछ कुछ भेद होता गया और उसे ही शाखा कहते हैं, यह युक्ति ठीक नहीं, ऐसा सिद्ध कर के अब उनकी दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं।

द्वितीय युक्ति।

नवीन विचारक अपने सिद्धान्त की पुष्टि में दूसरी युक्ति यह बताते हैं कि— "देशकालादि के भेद से भी मूल संहिताओं में भेद होना आवश्यक है, परन्तु उपर्युक्त रीतिसे जब यह सिद्ध हो गया कि, प्राचीन आर्य लिखना जानते थे। तब यह युक्ति निर्बल हो जाती है। जब प्राचीन काल में गुरुकुल में विद्यार्थी वेद पढते थे, तो उपर्युक्त विचारानुसार वे लेखनकला में भी प्रवीण थे और इसलिए आवश्यक है कि, जो शिष्य जिस वेद को पढता था, उसे लिख लेता हो। और गुरु से विदा लेकर अपनी लिखित पुस्तक भी अपने साथ ले जाता होगा और उसी के अनुसार ही अपने शिष्यों को पढाता होगा। अतः प्राचीन काल में लेखनकला की सिद्धि होने पर देश-कालादि के भेद से भी मूल संहिताओं में भेद होना आवश्यक नहीं है।

तृतीय युक्ति।

नवीन विचारकों की तृतीय युक्ति यह है कि, 'आचार्यों' के प्रकृतिभेद से भी मूल संहिताओं में भेद हो गया होगा। यहां संभवतः आचार्यों के प्रकृतिभेद से तात्पर्य उनके स्वभावभेद से ही होगा। तो कुलपति अथवा आचार्यों के प्रकृति-भेद से संहिताओं में क्या भेद हो सकता है। किसी आचार्य का चाहे कैसा भी स्वभाव हो, आचार और व्यवहार हो, वैदिक शब्दों में इस से भेद होना असम्भव है- यहां तो यह अटल नियम है—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो
न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

अर्थात् मंत्रों में वर्ण, स्वर अथवा प्रयोग आदि का भेद न होना चाहिये। तो यह कहां तक संभव है कि, ऋषिलोग स्वयं ही इस नियम का उल्लघन करें।

यदि कोई आचार्य ऐसा करने का साहस भी करें, तो शिष्य उसे ऐसा किस प्रकार करने देंगे। क्योंकि शिष्य पढने से पूर्व उन संहिताओं को पूर्व वह लिख ही लेते होंगे।

ऐसा होने पर यह कभी नहीं माना जा सकता कि, आचार्य इस सम्बन्ध में मनमानी कर सकता था।

चतुर्थ युक्ति।

(४) इस प्रकार जब नवीन विचारोंकी अयुक्तता सिद्ध हो गई, तब अध्ययनक्रम के भेद से-मूल संहिता के पाठ की न्यूनाधिकता से-यज्ञादि के अनुष्ठानभेद आदि से ही मूल संहिता में भेद होता गया और वही शाखाएं हैं, ये सब युक्तियां भी खंडित हो जाती हैं। क्योंकि प्राचीन ऋषियों और आर्यों ने वेद की मूल संहिताओं की रक्षा के निमित्त बहुत प्रयत्न किए हुए थे, जिन की विद्यमानता में इतना भेद असम्भव है।

और यज्ञादि का अनुष्ठानभेद तो नवीन है- मैं जहांतक समझता हूं, प्राचीन आर्य वर्तमान अदृष्टवादी याज्ञिक परिपाटी को न मानते थे। यज्ञों की अदृष्टार्थकता आज से बहुत थोडे समय पूर्वकी चीज है। यज्ञों में पशुहिंसाका तो वेद में गन्ध ही नहीं। यहांतक कि इधर के ग्रंथों में भी पशुहिंसा का बहुत कम मिश्रण है। गीता में भी यज्ञप्रकरण में पशुहिंसा का गन्ध भी नहीं।

सिद्धांतपक्ष की अवतरणिका।

जब यह निश्चित हो गया कि शाखातत्व के सम्बन्ध में पौराणिक विचार और नवीन विचार युक्तियुक्त नहीं, तब स्वभावतः यह शंका होती है कि—

(क) फिर शाखाएं आखिर हैं क्या ?

(ख) और यदि शाखातत्व के सम्बन्ध में नवीन विचार के अनुसार वर्तमान शाखाओं में जो थोडा थोडा पद, वाक्य आदिका भेद है प्रत्यक्ष गोचर होता है, उस का क्या समाधान है ?

(ग) तीसरा यदि शाखातत्व के सम्बन्ध में नवीन विचार ठीक नहीं, तो कौनसी शाखा को मूल और किन को शाखा समझा जाए, इस का आपके पास क्या विनिगमक है।

अब क्रम से इन प्रश्नों का संक्षेप से समाधान करेंगे। अधिक लिखने से पूर्व मैं पाठकों को निम्न विषय का ज्ञान करा देना आवश्यक समझता हूं-

आदिसृष्टिमें ईश्वर ने जब वेदों का ज्ञान ऋषियोंद्वारा दिया, तब वह पुस्तकाकार में भी परिणत हो गया, ऐसा ऊपर बताया जा चुका है। तब उसे संहिता कहा जाता था। संहिता शब्द का अर्थ है, पदों का प्रकृति। असली रूप, वास्तविक स्वरूप। ऋक् प्रातिशाख्य में संहिता का यह लक्षण लिखा है-

"पदप्रकृतिः संहिता" (ऋ० प्रा० २।१)

अर्थात् पदों की वैदिक भाषा की प्रकृति प्रारंभिक स्थिति का नाम संहिता है। यजुः प्रातिशाख्य में लिखा है कि—

"वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता।
(य० वा० प्रा० १।१५८)

अर्थात् वैदिक वर्णों का एक प्राण होना ही संहिता है। यदि इसको स्पष्ट किया जाय, तो कहा जा सकता है कि, जिस भी प्रकार असली रूप में वैदिक वर्ण हैं, उसी प्रकार ही उन्हें पढना संहिता है। उदाहरण के लिए—

"अग्निमीळे पुरोहितम्" इसी प्रकार ही पढना संहिता है, अवग्रह आदि करने पर नहीं। यही बात पाणिनि मुनिने भी कही। 'परः सन्निकर्षः संहिता।"

एक से अधिक वर्णों का ऐक्यसम्बन्ध ही संहिता है। यही वैदिक भाषा और ज्ञान का मूल रूप है, संहिता है। आदिसृष्टि में इसी का ही अध्ययन और अध्यापन होता था। उस समय अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ऋषि विद्यमान थे और इसके बाद भी उन के योग्य शिष्य रहे। अतः इस वेद की प्रकृति से असली स्वरूप संहिता से ही मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हो जाता था, क्योंकि संदेह आदि निवारण ऋषिलोग ही कर लेते थे।

परन्तु आगे चलकर यह अवस्था न रही। जब ऋषियोंने देखा कि, शिष्य प्रकृतिमात्र से वेदों को ग्रहण नहीं कर सकते, तब उन्हों ने उस प्रकृति की कुछ विकृति करनी प्रारंभ की। अर्थात् उसे समझाने के लिए सरल करने का प्रयत्न किया और उस समय की आवश्यकता के अनुसार सब से प्रथम मूलसंहिता, जिसे निर्भुज संहिता भी कहते हैं, क्योंकि वेद तब प्राकृतिक अवस्था में थे-जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में हस्ताद्यवयव होते हैं, परन्तु यदि उन्हें पृथक् पृथक् करके दिखाया न जाय, तबतक अव्यक्तावस्था अथवा प्रकृतिरूप में रहते हैं- इसी प्रकार वेद में भी

कई पद हैं, परन्तु तबतक उन्हें पृथक् पृथक् बतलाने की आवश्यकता प्रतीत न हुई थी। परन्तु जब इतने से काम न चला, तब सरल करने के लिए और वैदिक भाषाकी रक्षा के लिए प्रतृण्ण-संहिता का निर्माण किया गया। बस! यहीं से शाखाओं का इतिहास चलता है। इसको भी अधिक विकृति न होन से संहिता ही कहा गया है। क्योंकि इन दोनों संहिताओं में इतना भेद था कि, निर्भुज संहिता में पदों की संध्यवस्था को संहिता को बदला नहीं गया था और प्रतृण्ण में उनको पृथक् पृथक् कर दिया था।

"अग्निमीळे पुरोहितम्" यह रूप निर्भुज संहिता का है और "अग्नि ईळे पुरः अहितम्" यह प्रतृण्ण का। इस अवग्रहभेद के कारण भी कइ शाखाओं का निर्माण हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है।

अवग्रह का लक्षण लिखते हुए ऋक् प्रातिशाख्य में कहा गया है।

अन्तः पदं येषां स्याद् विकारोऽनन्यकारितः।
एतानि परिगृह्णीयात् वः मध्यगतानि च ॥

इस पर भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है। "अवगृह्याणीङ्गिः खण्डानि पूर्वोत्तर पदमूलानि।' अर्थात् जिस पद के दो खण्ड हों, उसका अवग्रह किया जाता है।

किस वर्ग आदि में कितने द्विः खण्ड आदि हैं, इन सबके ज्ञान के लिए भी प्राचीन ग्रंथ मिलते हैं- उदाहरण के लिये अयं देवाय- इत्यादि ऋग्वेद के प्रथमाष्टक के द्वितीयाध्याय के प्रथमाष्टक में ४३ पद हैं इतिकरण दो हैं- हरी इति और पुनरिति। द्विः खण्ड आठ हैं और व ये हैं-

'रत्नधातमः'- यहां रत्नानां धातमः इस प्रकार है और यहां रत्न और धातम दो पद हैं। इसी प्रकार परिऽज्मानम्, सुऽखम्, सवःऽदुर्घां, सत्यऽमन्त्राः, ऋजुऽयवः, राजऽभिः, ये सब द्विखण्ड हैं, अर्थात् इन में अवग्रह हुआ है। अवग्रह का चिन्ह 'ऽ' है, इस प्रकार के अवग्रहभेद से भी शाखाभेद हुए होंगे।

आगे चलकर जब प्रतिपद, पाठ और अवग्रहादि के निर्देश के अनन्तर भी ऋषियों को यह ज्ञात हुआ कि, वेद के ज्ञान के लिए अब इतना ही पर्याप्त नहीं और साथ ही संभव है, इस से वेदों के अर्थों में भी समानता न रही हो, तब ऋषियों ने समयानुसार एक कदम इस सम्बन्ध में और बढाया और वह था मूल संहिताओं को प्रकरणशः पृथक् कर देना, इसमें यह भेद होने से शाखाभेद हुए और शाखाभेद में यह भी एक कारण है- उदाहरण के लिए ऋग्वेद की-

इक्कीस कही जानेवाली शाखाओं में अब केवल दो ही शाखाएं मिलती हैं, शाकल शाखा और बाष्कल शाखायें इसी प्रकार का अन्तर है।

शाकल ऋषिने ही सबसे प्रथम ऋग्वेद को दश मंडलों और एक हजार सूक्तों में बांटा। इस शाकल ऋषि के पांच शिष्य मुख्य हुए- (१)शिशिर, (२) बाष्कल, (३) शंख, (४) वाह और (५) आश्वलायन। शाकल के इन पांच शिष्यों में से बाष्कल ने ऋग्वेद का अष्टक-अध्याय और वर्गरूप से विभाग किया बस! यही इन शाखाओंका भेद है।

तीसरा कारण।

इसी प्रकार इस वर्गीकरण के भेद से भी शाखाओं में बहुत भेद हुआ जिस प्रकार अष्टक और मंडल के भेद से भेद किया गया, इसी प्रकार आगे चलकर सूक्त आदि के भेद से भी भेद होते गये। हम समझते हैं, इस वर्गीकरण में भी ऋषियों ने कुछ विशेषता रक्खी है। यद्यपि अभी तक मैं समझ नहीं सका, परन्तु इस के समझने का प्रयत्न अवश्य कर रहा हूं। किस अष्टक, अध्याय, अथवा मंडल में कितने सूक्त होने चाहियें उन में भी कितने मंत्र होन चाहियें, इस निर्वाचन में भी रुचिभेद से भेद होना आवश्यक था। परन्तु हम समझते हैं, ऐसा करते हुए भी मूल संहिता के मंत्रों में न्यूनाधिकता नहीं की गई। यह भेद भी शाखाभेद का एक कारण

है। उदाहरण के लिए शाकल के उपर्युक्त पांच शिष्यों में बाष्कल और शिशिर ऋषि में इस प्रकार का ही भेद है—

उदाहरण के लिए- "गौर्धयति, इत्याद्यनुवाक- शैशिरीय शाखा में दस सूक्तों का है और बाष्कल संहिता में पञ्चदश १५ सूक्तों का।

इस निर्वाचनभेद के कारण मंत्रों में पौर्वापर्य भेद भी हो गया। उदाहरण के लिए- शैशिरीय शाखा की अंतिम ऋचा- 'तच्छंयोः' इत्यादि है। इसके कारण भी शाखाभेद हुआ। अथर्ववेद के शाखाभेद में यह भी एक कारण है— शौनक संहिता का प्रारंभ 'स्तुवानमग्ने'- इत्यादि मंत्र से होता है, परंतु पैप्पलाद शाखा का "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवंतु पीतये" इत्यादि मंत्र से।

चतुर्थ कारण।

इसी प्रकार जब सूक्त आदि का निर्माण हो गया और ऋषियों को, वेद को और स्पष्ट करना अभिप्रेत हुआ, तब मंत्रों के देवता, ऋषि, छन्द आदि भी लिखे जाने लगे।

इसलिए इस कारण भी भेद होना आवश्यक था। यही कारण बृहद्देवता १।१४ में लिखा है, "देवतार्षार्थ छन्दोभेदो वैविध्यं तस्य जायते।" अर्थात् देवता, ऋषि, छन्द और अर्थ के भेद से भी भेद हुआ। और वह भी शाखाभेद का अन्यतम कारण है।

पंचम कारण।

इस प्रकार ऊपर जो शाखाभेद के विविध कारण लिखे हैं यद्यपि ये सब भी अर्थ की सुविधा के लिए ही हुए हैं- (इसको आगे स्पष्ट करेंगे) तथाऽपि अबतक मूल संहिताके मंत्रों, पदों, वर्णों आदि में किसी प्रकार का भेद नहीं होने पाया था और वास्तव में तबतक इतनी ही वेदों की व्याख्या पर्याप्त समझी जाती होगी। परन्तु समयभेद से यह अवस्था न रही। हम जहां तक समझते हैं- वैदिक भाषा जब व्यावहारिक भाषा न रही और कोई अन्य भाषा जो वैदिक भाषा और वर्तमान संस्कृत भाषा के मध्य की थी, व्यावहारिक भाषा हो गई। तब केवल संहितामात्र के पदों से और वर्णों से ही जनसाधारण वेदों की भाषा को न समझ सकते थे, अतः जिन वैदिक पदों को उस समय के आचार्यों ने समझा कि, ये पद मेरे शिष्य केवल संहिता के श्रवण मात्र से नहीं समझ सकते। उन्हीं पदों अथवा वर्णों के स्थान पर उन्होंने अन्य पद अथवा वर्णादि जोड दिये उस समय के लिये, यही ही व्याख्यानप्रकार था, क्योंकि इतने मात्र की तब आवश्यकता थी।

परंतु यज्ञ आदि में मूलसंहिता के मंत्रों का ही प्रयोग होता था, क्योंकि यज्ञ को प्राचीन आर्य पवित्र समझते थे और साथ उन का यह भी विश्वास था कि, वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः कभी यह संभव नहीं कि, अपने पदों को ही वे यज्ञादि में भी प्रयुक्त करते हों। इस प्रथा का महाभाष्य से भी पता चलता है—

यद्वानः तद्वानः नाम के दो ऋषि थे। उन्हें व्यवहार में यर्वाणः और तर्वाणः कहा जाता था, परंतु यज्ञ में वे यद्वानः और तद्वानः ऐसा ही बोलते थे महाभाष्य पस्पशाह्निक।

अतः तबतक मूल संहिताओं को भी साथ ही साथ पढाया जाता था। परंतु आगे चलकर इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएं हो गई। नवीन विचारकों का यह विचार था कि, नए व्यावहारिक पदोंवाली वेदसंहिताएं ही पढनी चाहियें, क्योंकि वही व्यावहारिक भाषा में लिखी गई हैं। प्राचीन संहिताओं को भी साथ में पढना उचित नहीं, इसमें कालक्षेप आदि होता है, परंतु प्राचीन विचारक ऐसे विचारों के नहीं थे, वे कहते थे कि, नहीं ईश्वरीय ज्ञान उसी भाषा में दिया गया है, अतः उसे अक्षुण्ण रखना चाहिये। ये दोनों विचार अभीतक प्राचीन ग्रंथों में चले

आते हैं, इन्हीं दोनों विचारों को दृष्टार्थवाद और अदृष्टार्थवाद कहते हैं। अब संक्षेप से इस पर भी कुछ लिखना अनुचित न होगा।

यहां अदृष्टार्थकता शब्द का अर्थ यह है कि, जिस का कोई प्रयोजन नहीं अनर्थक है। यदि अदृष्टार्थक शब्द का अर्थ यह भी किया जाय कि, जिस का अर्थ विवक्षित नहीं, अर्थात् केवल उच्चारणमात्र से मंत्र उपकारक हैं, अर्थ से नहीं तब भी यही अर्थ है कि, क्योंकि वैदिक भाषा अब व्यावहारिक नहीं रही, अतः उस का अर्थ विवक्षित नहीं, क्योंकि व्यावहारिक न होने से उस का जो उचित अर्थ भी ज्ञात नहीं हो सकता, अतः ऐसे होनेपर भी यदि मंत्रों का संहितारूप से ही उच्चारण किया जाय, तो वे केवल अदृष्टार्थ ही होंगे, अर्थात् यों कहा जायगा कि, उन का कोई प्रत्यक्ष अर्थ नहीं है। निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि भाषा का प्रयोजन अर्थज्ञान ही है और अब क्योंकि वैदिक भाषा अव्यावहारिक है, अतः उसे छोड देना चाहिये, ऐसा तब एक विचार था। निरुक्त के अनुसार कौत्स मुनि भी इसी विचार के पोषक थे, परन्तु प्राचीन ऋषि ऐसा न मानते थे, इस प्रकार के प्रश्नोत्तर मीमांसादर्शन के सूत्रों में संगृहीत हैं। संक्षेप से हम जिस प्रकार उनका अर्थ समझते हैं, लिख देना चाहते हैं—

प्रश्न (१) तदर्थशास्त्रात् ।

(मीमां० अ० १, पा० १, सूत्र ३१)

अब नवीन व्यावहारिक भाषानुसारी पद संयुक्त संहिता के होने पर प्राचीन संहिता का रहना आवश्यक नहीं- वह अनर्थक है।

उत्तर (१) अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ।

(मी० अ० १, पा० २, सूत्र ४०)

जब दोनों में वही अर्थ है, तो यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि, नवीन ही ठीक है, प्राचीन नहीं।

प्रश्न (२) बुद्धशास्त्रात् ।

(मी० अ० १, पा० २, सूत्र ३३)

इस पर यह प्रश्न हुआ कि, प्राचीन संहिता इसलिए अनर्थक हैं कि, दोनों में वही अर्थ है, तब प्राचीन संहिता को तो बुद्धशास्त्र अर्थात् पिष्टपेषण ही कहना होगा।

उत्तर (२) इसका उत्तर दिया, "गुणार्थेन पुनः श्रुतिः" प्राचीन संहिता के अप्रसिद्ध पद के अर्थ का गुण अवच्छेदक धर्म कहने के लिये पुनः दूसरे पद से कहा जाता है।

इसी प्रकार पूर्वपक्ष में एक यह भी युक्ति है कि, "स्वाध्यायवद्वचनात" अर्थात् प्राचीन संहिताएं अब उच्चारणमात्र से अर्थबोधिका नहीं रहीं और "वाक्यनियमात्" प्राचीन संहिताओं में जो वाक्यनियम कर दिया गया है, वह उचित नहीं। अर्थ की विवक्षा से किसी भी शब्द को प्रयुक्त किया जा सकता है। भाषा का नियम और फिर पौर्वापर्य का नियम आवश्यक नहीं, परंतु इन दोनों में से प्रथम प्रश्न का यह समाधान किया गया है कि, "विद्याऽवचनमसंयोगात्" "सतः परमविज्ञानं" अर्थात् उच्चारणमात्र से इसलिये बोध नहीं होता, क्योंकि उस भाषा का पूरा ज्ञान नहीं किया जाता और कभी कभी तो व्यावहारिक भाषा के शब्दों का भी मनुष्य को ज्ञान नहीं होता।

दूसरे प्रश्न का समाधान किया कि, 'अविरुद्धं परम्' अर्थात् वैदिक मंत्रों की नियत आनुपूर्वी और उनमें किसी प्रकार की तबदीली न आने देना, तो अविरुद्ध है, शास्त्र इस के पोषक हैं— मंत्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा-इत्यादि। और युक्ति के भी अविरुद्ध है- अनुकूल है- क्योंकि हम मानते हैं कि, वेद ईश्वरीय ज्ञान है और इस में ईश्वर के भाव गुप्त हैं, यह ईश्वर का महाकाव्य है और कवि जिस प्रकार जिस भाषा और भंगि में जो काव्य बनाता है, उसकी तद्रूपता में ही वह सब कुछ भाव सुरक्षित हैं। अन्यथा नहीं। वर्तमान समय में भी कालीदासादि का काव्य पढनेवाले को जितना आनन्द देता, है उतना उसका अनुवाद

नहीं। इसीलिए ही अंग्रेज जातिने अमर कवि शाकसपिअर के काव्यों की पुरानी भाषा को भी वैसा का वैसा ही रहने दिया है। उसमें भेद नहीं आने दिया। इस प्रकार जैमिनि मुनि के शब्दों में उपर्युक्त दोनों विचारों का इस प्रकार समाधान-समन्वय हुआ कि, मूल संहिता के पद, वर्ण, ज्ञान ईश्वरीय हैं, अतः इनमें भेद नहीं आने देना चाहिए। अतः जिसे किसी पद, वर्ण अथवा मंत्रका अर्थ लिखना अथवा बताना हो, वह पृथक् ग्रन्थ का निर्माण करे। मैं उपर्युक्त सूत्रका यही अर्थ समझता हूं। इसके बाद ही ब्राह्मणग्रंन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। हमारी समझ में यही संक्षिप्त शाखातत्त्व का इतिहास है।

अदृष्टार्थवाद का मैंने जो अर्थ लिया है, यद्यपि उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि, इसमें खेंचतान है, लिखते समय थोडा हृदय में मुझे भी संकोच हुआ, परन्तु-मेरी बुद्धि यह मानती नहीं। मुझे यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि, प्राचीन ऋषियों में ऐसे भी कुछ ऋषि अथवा विद्वान् थे, जो यह मानते हों कि, वेदों का कुछ अर्थ ही नहीं, यदि वेदों का कुछ भी अर्थ नहीं, तब यह ईश्वरीय ज्ञान किस प्रकार हो सकते हैं और हम देखते हैं कि, प्राचीन आर्यों में इस सिद्धांत पर किसी प्रकार विप्रतिपत्ति मतभेद नहीं कि, वेद अपौरुषेय हैं और ईश्वरीय ज्ञान हैं।

हां अदृष्टार्थकता जो अर्थ किया जाता है, वह भी एक प्रकार से ठीक हो सकता है- और वह इस प्रकार-मीमांसा का एक यह नियम है, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' जो शब्द जिस लिए कहा जाय, वही उसका अर्थ लेना चाहिए। जो बात जिस प्रयोजन से कही गई है, उसका वैसा ही अर्थ करना चाहिए। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासादि महात्माओंने समयानुसार भक्तिवाद आदि का प्रचार किया, वह तब के लिए अच्छा था। इसी प्रकार जब वैदिक संहिताओं में उनके पदों के स्थानपर उनके पर्यायशब्द डाले जाने लगे, तब कौत्स आदि ऋषियोंने मूल संहिताओं की रक्षाके लिए वेदों की अदृष्टार्थकता का प्रचार किया होगा कि, जिससे मूल संहिता की रक्षा की जा सके "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" अन्यथा स्वयं वेद जब स्पष्ट कह रहे हैं कि, हमारा अर्थ है और इसीलिए हम भेजे गये हैं कि, हमें जानकर, समझकर हमारे अनुकूल आचरण किया जाय, तब सूर्य के प्रकाश में यह किस प्रकार संदेह संभव है कि, "मेरा हाथ भी मेरे साथ है कि नहीं।"

प्रथम प्रश्न का उत्तर।

इस प्रकार शाखातत्त्व क्या है, इसका उत्तर इस प्रकार हुआ—

(क) प्राचीन आर्य लिपि आदि जानते थे, अतः मूल संहिता में स्मरण के कारण न्यूनाधिकता नहीं आ सकती, अतः मूल संहिताको स्पष्ट करना, उसको निःसंदिग्ध बनाना, तथा सुरक्षित करना ही शाखातत्त्व का मूल है। और उसका क्रम इस प्रकार है।

(अ) प्रारंभ में मूल संहिता के पदोंको पृथक् करने के लिये पदपाठ के लिए पदसंहिता और क्रमसंहिता का निर्माण हुआ।

(आ) आगे चलकर अवग्रहभेद से भी मूल में भेद हो गया।

(इ) अनन्तर मूल संहिता के मंडल, अध्याय, सूक्त आदि के वर्गीकरण निर्वाचन के कारण भी शाखाओं में भेद हो गया।

(ई) देवता, ऋषि, छन्द के भेद से भी भेद हो गया।

(उ) आगे चलकर जब वैदिक भाषा व्यावहारिक न रही अथवा संहितामात्र के श्रवण से ही शिष्य वेदों का अर्थ न समझने लगे, तब कठिन पदों के तथा वर्णों के स्थान पर सरल पदादि की योजना की जाने लगी। परंतु उस समय भी मूल संहिताएं अक्षुण्ण रहीं।

हेतुओं का एकीकरण ।

हमारे विचार से यही शाखातत्त्व है। इन उपर्युक्त पांच कारणों में एकता है। साधर्म्य है और वह है मूल का स्पष्टीकरण। उसका प्रवचन करना अथवा और स्पष्ट कहा जाय, तो व्याख्यान करना और इस प्रकार जिस ऋषिने भी वेद को वेदके गूढाशय को स्पष्ट करने के लिए कुछ भी प्रयत्न किया और उसके शिष्यों ने उसका ग्रहण किया बस ! वह उसकी शाखा हो गई। वेदों की शाखाएं स्मृतिदोष, कालभेदादि कारणों से नहीं हुई। यद्यपि प्राचीन काल में एक स्थान से दूसरे स्थानपर जाने के उपाय अधिक न थे, परन्तु प्राचीन वर्णाश्रमव्यवस्थानुसार ब्राह्मण और सन्यासीप्रचार का ही कार्य करते थे और उन का काम ही यही था कि, वैदिक व्यवस्था का प्रचार हो। भला इस प्रकार जागरूक रहते हुए यह किस प्रकार संभव है कि, मूल संहिताओं में भेद हो जाये अथवा हो जाने पर भी उसका प्रतिविधान न कर दिया जाय ? अतः स्मृत्यादि क दोष के कारण मूलसंहिता में भेद नहीं हो सकता। अतः शाखाओं का मूल कारण संहिताओं का स्पष्टीकरण ही है और स्पष्टीकर अथवा व्याख्यान दोनों शब्द समानार्थक हैं।

प्रश्न हो सकता है, व्याख्यान अथवा व्याख्या तो अन्वय, व्याकरण- पर्यायशब्दादि योजन इत्यादि विशिष्ट ही होते हैं। भला इस प्रकार प्रतिपद-पाठक्रम-निर्देश वर्गीकरण- अवग्रह आदि व्याख्या किस प्रकार हुए ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि, व्याख्या का प्रयोजन किसी बात को समझा देना ही है और समझने की शक्ति मनुष्य के मस्तिष्क का गुण है और मनुष्यों के मस्तिष्क एक प्रकार नहीं होते, अतः व्याख्या भी एक सी नहीं होती। जिस बात को अर्जुन युद्धस्थल में उस समय जब कि, उसका रथ दोनों सेनाओं के बीचमें ठहरा है, लडाई होने ही वाली है, 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते" कृष्णजी के उपदेश-

द्वारा समझ गया था कि, आज उसी गीतोपदेश को हम सालों भी नहीं समझ सकते। रसायनशास्त्र की जिस बात को रासायनिक संकेतमात्र से समझ लेता है, उसे ही एक गंवार अथवा साधारण नागरिक सारी आयु भी नहीं समझ पाता और योग्य विद्वान् भी घण्टों समझाने पर ही समझ पाता है। अतः अधिकारीभेद से व्याख्या में भी भेद होता है, इसी प्रकार प्राचीन काल में इस प्रकार के भी अधिकारी थे कि, उन के लिए पद-पाठ, अवग्रह, आदि का निर्देश ही काफी था और उन से प्राचीनों के लिए तो इस की भी आवश्यकता न थी। अब प्रातिपद, पाठ आदिक व्याख्याप्रकार हैं- इसको संक्षेप से लिख देना चाहते हैं, जिस से इस बात को समझने में सहायता हो।

प्रतिपदपाठ ।

ऊपर जिस प्रतृण-संहिताका निर्देश किया गया है, उसके दो भाग होते हैं-पदपाठ और क्रमपाठ ।

पदपाठ का उदाहरण— ऋग्वेद का मंत्र है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ (ऋ० १।१।२)

इस का पदपाठ इस प्रकार होगा। अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत स देवान्। आ इह। वक्षति ।

इसी को वर्तमान व्याख्याप्रकार में पदच्छेद कहते हैं। यह प्रकार अर्थ करने में सहायक है, इस को सभी जानते हैं।

क्रमपाठ ।

क्रमपाठ का उदाहरण-ऋग्वेद का प्रथम मंत्र है 'अग्निमीळे पुरोहितम्—इत्यादि इसका क्रमपाठ इस प्रकार होगा। "अग्निम्, ईडे, ईडे पुरोहितम्, पुरोहितमिति पुरः अहितम्" यह भी एक प्रकार का व्याख्याप्रकार ही तो है। इस से विशेषण, विशेष्य आदि ज्ञान होता है, जो कि व्याख्या में

सहायक है और कभी इतनी ही व्याख्या पर्याप्त होती थी।

अवग्रह

अवग्रह का लक्षण ऊपर लिखा गया है। इस अवग्रह के भेदसे भी शाखाभेद हुआ है। अवग्रह भेदसे एक ही पदके अनेक अर्थ होते हैं और वह भी एक प्रकार का व्याख्यान ही है, इसको उदाहरणद्वारा स्पष्ट करेंगे।

(क) पुत्र शब्द में अवग्रह है कि नहीं, इसमें एकमत्य नहीं है। ऋग्वेद ५।१।२१।६ में पुत्र शब्द आया है, परन्तु ऋग्वेदके पदपाठमें 'पुत्रेभ्यः' इस पर अवग्रह के बिना ही उस को पढा गया है, परन्तु सामवेद (सा० छ० प० ३।८।२।७ के मंत्रमें 'पु त्रेभ्यः' इसपर अवग्रह करके उसे पढा गया है। इस प्रकार पुत्र शब्दके दो अर्थ हुए, इस बात को निरुक्तकार ने भी लिखा है।

"पुत्रः पुरु त्रायते। निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायते इति वा।" इस प्रकार यास्क मुनिने भी उपर्युक्त दोनों विचारों से पुत्र शब्दके दो अर्थ किये हैं।

(ख) सूर्य शब्दमें भी अवग्रह करना चाहिये अथवा नहीं, इस सम्बधमें मतभेद है— ऋग्वेदके पदपाठमें सूर्य का कहीं भी अवग्रह नहीं किया, परन्तु सामवेदके पदपाठग्रंथोंमें 'सु। अर्यः।' इस प्रकार अवग्रह किया है, इस मतभेदसे सूर्य शब्दके भी दो अर्थ होंगे। जब अवग्रह न होगा, तब सूर्य शब्द 'सृ' धातु अथवा 'सु' धातु से बनेगा; परन्तु अवग्रहपक्षमें 'सु' उपसर्गपूर्वक 'ऋ' धातुसे सूर्य शब्द निष्पन्न होगा और इस प्रकार सूर्य शब्दके अनेक अर्थ होंगे।

(ग) सखि शब्दमें यास्कने अवग्रह माना है। परिशिष्टमेंभी ऋग्वेदके मंत्रकी व्याख्या करते हुए यास्कने सखि शब्दको समान उपपद ख्या धातुसे निष्पन्न किया है। महाभाष्य में भी— "सक्तुमिव तितउना पुनंतो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि"। (ऋ १०।।१२।) मंत्र की व्याख्या करते हुए सखि शब्द को अवगृहीत किया है। परंतु वर्तमान ऋग्वेदके प्रतिपदग्रंथों में सखि शब्दका कहीं भी अवग्रह नहीं किया, अतः मानना चाहिये कि महाभाष्यकारके समयतक ऋग्वेदकी प्रतिपद-प्रतिपादक बहुतेरी शाखाएं थी, परन्तु वे सब अब नहीं रहीं। इस प्रकार अवग्रहभी व्याख्यानशैली है, ऐसा सिद्ध होता है।

ऋषि-देवता-छन्द।

ऋषि-देवता-छन्द आदि भेद से भी शाखाएं भिन्न भिन्न हुईं ऐसा ऊपर लिखा जा चुका है। ऋषि देवता आदि अर्थ करने में सहायक होते हैं, इस बात को वेदका स्वाध्याय करनेवाले जानते हैं।

वर्गीकरण।

वर्गीकरण भी अर्थप्रकाशनार्थ ही हुआ, इस बातको ऊपर लिखा जा चुका है। क्योंकि ऐसा करने में वेदों को सरल करना तथा समान विषयवाले मंत्रों को एकत्र संगृहीत करनाही अभिप्रेत था।

थोडा थोडा भेद।

भिन्न भिन्न शाखाओं में जो थोडा थोडा भेद प्रतीत होता है, वह भी अर्थ करनेके लिये ही ऐसा ऊपर लिखा गया है।

ऋषि दयानंद का सिद्धान्त— इस सब विवेचन से सिद्ध होता है कि, ऋषि दयानन्द यह सिद्धान्त ही ठीक है कि, वेद "व्याख्यानानि शाखाः" शाखाएं वेदव्याख्यान ही हैं।

इसी बात को कुछ उदाहरणोंसे स्पष्ट करेंगे-- सब उपलब्ध शाखाओं का उदाहरण न देकर हम पैप्पलादशाखा से ही कुछ उदाहरण उद्धृत करेंगे।

१. इन्द्रो मेऽ हिमरन्धयत् । (अथर्व०-१०।४।१६)
इन्द्रो मेऽहीनजम्भयत् (पैप्पलाद)
२. जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ।
(अथर्व० १०।५।३)
जिष्णवे योगाय्रयोगैर्वो युनज्मि । (पैप्पलाद)
३. ये अर्वाङ् मध्य उत वा...
सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ।
(अथ० १०।८।१७)
पैप्पलाद-संहिता में त्रिवृत के स्थान पर 'ततीयं च हंसम्' पाठ है।
४. अथर्व० १०।८।२८का चतुर्थपाद-"प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।" है। पैप्पलाद-शाखा में पूर्वोजातः स उ गर्भे अन्तः पाठ है।
५ अथर्व० ११।४।२४। का चतुर्थ पाद--
" प्राणो मान् तिष्ठत्" है। पैप्पलाद-संहितामें 'प्राणो माऽमिरक्षत्' है।
६. अथ० ११।५।२ मंत्र इस प्रकार है—
" ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे। गंधर्वा एनमन्वायन् त्रय स्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः। सर्वान्त्स देवाँ-स्तपसा पिपर्ति।
पैप्पलाद-शाखामें यही मंत्र इस प्रकार है-
" पितरो मनुष्या देवजना गंधर्वा अनुसंयन्ति सर्वे। त्रयस्त्रिंशत् त्रिशतं शतसहस्रान् सर्वान् स देवांस्तपसा बिभर्ति।
७ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
(अथ० ११।५।२९)
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यमाजयन्।
(पैप्पलाद-शाखा)
८. विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते०--। (अथ० ११।६।५)
आदित्यान् सर्वान् ब्रूमस्ते नो...। (पैप्पलाद शाखा।)
९. ये च यक्षा गुहाहिताः। (अथ० ११।७।१५)
ये च यक्षा दिविश्रिताः। (पैप्पलाद-शाखा)
१०. यत्तच्छरीरमशयत्। (अ० ११।८।१६)
यत्तच्छरीरमदधत्। पैप्पलाद-शाखायाम्
११. अदितिः कामदुघा पप्रथाना। (अ० १२।१।६१)
अदितिः कामदुघा विश्वरूपा। (पैप्पलाद)
१२. शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीः। (अ० १२।२।२३)
ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः। (पैप्पलाद)
१३ एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः। (अ० १२।३।३४)
इमं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः। (पैप्पलाद)
१४ ते हेतिं परि यन्त्यचित्या।(अ० १२।४।५२)
ते हेतिं परि यन्त्यचेतसः। (पैप्पलाद)
१५ अग्नेस्तेजोभिरेदिषि। (अ० १३।१।३१)
अग्नेस्तेजोभिरादधे। पैप्पलाद शाखायाम्
१६. तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाऽवरुन्धते।
(अ० १३।२।१५)
तेनामृतस्य भक्षणं देवानां नाऽवरुन्धते।
(पैप्पलाद)
१७. रोहितो दिवमारुहत्। (अ० १३।२।२५)
रोहितो दिवमाक्रमीत्। (पैप्पलाद-शाखा)
१८. पश्याम त्वा सवितारं यमाहुः (अ० १३।२।३६)
पश्येम त्वा सवितारं यमाहुः। (पैप्पलाद)
१९ रोहितो लोकोऽभवत्। अ० १३।२।४०)
रोहितो भूतोऽभवत्। (पैप्पलाद)

सामवेद की हजारों शाखाएं।

वेदोंमें सबसे अधिक शाखाएं सामवेद की हैं। क्या इन शाखाओं का भी वही मूल है, जो ऊपर लिखा गया है। अर्थात् स्पष्टीकरण अथवा कोई और यदि और ही है, तो सामवेद की शाखाएं कितनी हैं? इन प्रश्नों परभी कुछ लिख देना हम उचित समझते हैं।

इसका कोई कारण नहीं दीखता कि, सामवेद के इतने सबसे अधिक व्याख्यान हों और अन्य प्रमाणों से यह भी प्रतीत होता है कि, सामवेद की इतनी शाखाएं नहीं। अतः साम की सहस्र शाखाएं नहीं।

वस्तुतः सहस्र शब्दका अर्थ अनेक हैं और क्योंकि सामगान के अनेक प्रकार हैं, अतः सामवेद को सहस्रशाख कहा जाता है। इसी बात को श्री सत्यव्रत सामश्रमीने लिखा है—

" वस्तुतः सामवेदस्य गीति कौशल बहुत्वादेव बहुशाखत्वम्।" (ऐतरेयालोचन, पृ० १२६) अर्थात् वस्तुतः सामगायन के बहुत प्रकार हैं अतः सामवेद की बहुत शाखाएं हैं, ऐसा कहा जाता है।

इसीलिये महाभाष्य में भी ' सहस्रवर्त्मा सामवेदः' ऐसा कहा गया है।

ऋषि और सहस्र शाखाएं।

ऋषि दयानंद के इस सम्बंध में क्या विचार थे, इस पर ऐतरेयालोचन में श्री सत्यव्रत सामश्रमीने ऐतिहासिक बात लिखी है, जिससे उनके विचारों का पता लगता है। " परमहो काश्यानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः विशेषतो वादिप्रतिवादिवचसामनलेखनेऽहमेक एवोभयपक्षयो नियुक्तस्तत्र तेनैव स्वामिनोक्तम्," "सहस्रवर्त्मा सामवेदः, इत्यस्य सहस्रं गीत्युपाया इति भावः" इति। अर्थात् काशी में जब आनंद-बाग में विचार हुआ था, तब हम ही मध्यस्थ थे और विशेषकर वादिप्रतिवादियोंके वचन लिखने में तो हमें ही केवल नियुक्त किया गया था। तब स्वामिजी ने कहा था कि, सामवेद की सहस्र शाखाएं हैं, इसका यही अर्थ है कि, "हजारों गाने के उपाय हैं " इति।

मीमांसादर्शन अ० १, सूत्र २८- " अर्थैकत्वाद्-विकल्पः स्यात्।" की व्याख्या करते हुए श्री शबर मुनि ने लिखा है-

"सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः।" अर्थात् सामके हजार गीत्युपायें हैं।

यदि इस प्रकार सामगान अनेक प्रकार होनेसे ही सामवेदको सहस्रवर्त्मा कहा जाता है तो सामवेद की कितनी शाखाएं हैं, इसके उत्तरमें श्रीसत्यव्रत सामश्रमीजीका विचार है कि, १३ शाखाएं ही सामवेदकी हैं। यद्यपि इसपर भी कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु हमारा तो विचार है कि, वेदोंकी चाहे जितनी भी शाखाएं हों, परन्तु वे सब हैं व्याख्यानमूलक ही। यह बात उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकी है।

यह बात शाखाके लिये प्रयुक्त होनेवाले और शब्दोंसेभी सिद्ध होती है।

क (वर्त्म)

शाखा के लिये एक वर्त्म शब्दभी प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार- "सहस्रवर्त्मा सामवेदः।" महाभाष्य जिसका अर्थमार्ग है, इससे यह प्रतीत होता है कि, जिस प्रकार मार्ग उद्देश्य नहीं होता, अपितु साधन, इसी प्रकार शाखाएं संहिता नहीं, अपितु संहिताओंतक पहुंचनेके मार्ग हैं, साधन हैं।

अध्व

इसी प्रकार शाखा के लिये अध्व शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका भी उपर्युक्त अर्थ है। जैसा कि षड्गुरु शिष्यने प्रयुक्त किया है-

एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः।
सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेव शताध्वकम्॥
नवाध्वाऽथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्।

यहां अध्व शब्द शाखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ जिस का भी उपर्युक्त तात्पर्य है।

चरण।

चरण शब्दभी शाखाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ। " गोत्रचः चरणैः सह " इस सूत्र पर कैयट ने लिखा है- " चरण शब्दोऽध्ययचनः इह तू-पचारात अध्येतृषु वर्तते।

अर्थात् चरण शब्द का अर्थ अध्ययन है और यहां उपचारसे चरण का अर्थ अध्येता है। भाव यह है कि, चरण वेदकी शाखाओं को इसलिये कहते हैं कि, उनके अध्येता, प्रवक्ता, व्याख्याता भिन्न भिन्न ऋषि हैं, इसी बात को पतञ्जलि मुनिने " चरणाद्धर्माम्नाययोः " इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा-" कठानां धर्म आम्नायो वा काठकं पैप्पलादकमिति।" यहां आम्नाय का अर्थ वेद नहीं, इसी बात को नागेशभट्टने लिखा- " आम्नायः सम्प्रदायः " जो पतंजलि मुनि का अभिप्राय है, वही तो ' आख्या प्रवचनात् ' इस सूत्र से जैमिनिको भी अभिमत प्रतीत होता है। इस सूत्रमें प्रवचन शब्दका व्याख्या ही अर्थ है।

व्याख्या शब्द वि-आ उपसर्गपूर्वक ख्या धातुसे बना है और प्रवचन प्र उपसर्गपूर्वक वच् धातुसे इन दोनों धातुओं का भी अर्थ एक है और उपसर्गों का भी ।

उपसंहार ।

इस सब विवेचन से यह सिद्ध होता है कि, शाखातत्त्वके सम्बन्धमें ऋषि दयानंद के विचार ही युक्तिसंगत हैं, अर्थात् शाखाएं वेदों के व्याख्यान-रूप ही हैं । हां आगे अनार्यों के आक्रमण के समय जो कुछ शाखाभेद हुआ, वह जानबूझकर वेदों के दूषित करने के अभिप्राय से हुआ । आर्य शाखाओं का तत्त्व यही है । पौराणिक विचार तथा सत्यव्रत सामश्रमी के विचार युक्ति नहीं । अब एक प्रश्न का समाधान कर के हम इस विषय को समाप्त करना चाहते हैं--

श्री सत्यव्रत सामश्रमीने- ऋषि दयानंदके उपर्युक्त विचारपर आक्षेप करते हुए निरुक्तालोचनमें लिखा है-

"हन्त का नाम संहिताशाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता यस्याः मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रासद्धानामन्यासां तद् व्याख्याग्रंथत्वम् ।"

अर्थ- पता नहीं दयानंदने उस महान् आत्माने किसको संहिता है, जो शाखा न हो और जिसे मूलवेद मान कर अन्योंको शाखा समझा जाय, तथा वेदका व्याख्यान बताया जाय ? तात्पर्य यह है कि, जिन्हें आज संहिता समझा जाता है, वह भी एक न एक शाखा ही है ।

वस्तुतः यही प्रश्न ही नवीन विचारोंका उत्पादक है । वे देखते हैं कि सभी वेद कोई न कोई शाखा ही हैं, अतः शाखाओंकी उत्पत्ति भी वे अपने विचार से ही करते हैं ।

इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि, यह ठीक है कि वर्तमान सभी वेद शाखारूपसे ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे जब शाखाएं बन रही थीं और उनका प्रचार हो रहा था, तब जो ऋषि मूल संहिताओंका अध्ययन, अध्यापन करते, कराते होंगे अथवा उसी विचारके होंगे, जिसे ऊपर अदष्टार्थवाद कहा गया है । पार्थक्यके लिये उन मूल संहिताओंकी उन्हीके नामसे प्रसिद्धि हो गई, यह ठीक है ।

' साध्य और साधन '

(ले०- श्री० पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, अजमेर)

आपका भेजा हुआ लेख " साध्य और साधन " तथा "वेदमंत्रों के वर्गीकरण" दोनों लेख मुझे प्राप्त हो गये थे।

आपने " साध्य और साधन " जो लेख लिखा है, उसकी मौलिकता तो स्वयं सिद्ध है-ऋषि कौन होता है और ऋषि दयानन्द ऋषि क्यों थे? यह विश्लेषण अत्यन्त ही बुद्धि को रुचिकर है। आपने यह लेख लिखकर हमारे आचार्य की भावना को हमारे सामने रखने का जो प्रयत्न किया है- वह हम आर्यों के लिये एक नेतृत्व का कार्य करना चाहिये। आर्य सज्जन भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध में बड़ा भाग ले रहे हैं, इसमें शक नहीं- परन्तु उनमें से कितने ऐसे हैं, जिन्हों ने स्वामिजी के इस दृष्टिकोण को दृष्टि में रख कर कार्य किया है? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर समय हमसे मांग रहा है। परन्तु इसका उत्तर देने को हमारे पास समय नहीं। हमें आपस के वैमनस्य से ही फुर्सत नहीं मिलती। परमात्माका धन्यवाद है कि, हम आज इस प्रकार से विचार करनेवाले निर्भीक विद्वान् भी हमारे में पाते हैं। हमें स्वामिजी के इस दृष्टिकोण का प्रचार करना चाहिये।

" वेदमंत्रों के वर्गीकरण " लेख जो वेद के सम्बन्ध में आपकी कलम से लिखा गया है, उसके विषयमें किसी प्रकार की सम्मति देना उचित प्रतीत नहीं होता- आपकी कलम से लिखा होना ही, इसकी सार्थकता सिद्ध करता है।

यदि हम इस प्रकार से वेदों का अभ्यास करने के आदि हो जायें, तब सचमुच वेदों का उद्धार हो सकता है- वेदमंत्रों के वर्गीकरण की आज कितनी आवश्यकता है यह तो वे ही अनुभव कर सकते हैं, जो वेद के अन्दर विचरने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसकी कीमत वे विद्वान नहीं अनुभव कर सकते, जो वेद के बहिरंगभाग का अध्ययन कर रहे हैं, अर्थात् वेद कब बने? वेदमंत्रों की संख्या कितनी है? आदि आदि! अन्तरंगपरीक्षकों के लिये तो वह स्वयं-सिद्ध है। उसकी उनको जरूरत नहीं।

यदि आपका यह प्रयास सफल हो सका, तो कोई सन्देह नहीं- वेदार्थ करने में बहुतसी कठिनाई हल हो जायेगी। प्रार्थना है, उस परमात्मासे और धन्यवाद है, उस दिनको जब हमारे हाथमें इस प्रकारका 'वेदमंत्रों का वर्गीकरण' होगा?

अफ्रिका में।

(३)

(लेखक- श्री० पं० तडित्कान्त वेदालङ्कार)

रिपन प्रपात।

(Ripon Falls)

विक्टोरिया झीलके उत्तर किनारेपर स्थित जिंजा शहर के सामने यह प्रपात है। यह जिंजा के इतनो ज्यादा नजदीक है, कि प्रायः बहुतसे जिंजा-निवासी शामको इसी तरफ घूमने जाते हैं। रिपन प्रपात के जलकी आवाज रातके समय जिंजा शहर में सुनी जा सकती है। अफ्रीका की प्रसिद्ध व सबसे बडी नदी नाईल (Nile) जो कि ४००० मील लंबी है, इसी प्रपात से प्रारम्भ होती है। वह यहांसे निकलकर कीयोगा तथा एलबर्ट सरोवर बनाती हुई सुडान तथा मिसर के प्रदेशको अपने पानीसे सींचती हुई भूमध्य सागर में जाकर लीन हो जाती है।

रिपन प्रपात तीन अलग अलग स्थानोंसे गिरता है। इन तीनों में एक को जरा बड़ा कह सकते है। यों तो तीनों ही करीब करीब बराबर ही हैं। थोडासा जो फर्क है, वह यही कि कोई ऊंचा ज्यादा है, तो कोई चौडा ज्यादा है। ऊंचाई की दृष्टिसे इन प्रपातों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ये प्रपात अधिक से अधिक २० से ३० फीट ऊंचे कहे जा सकते हैं। इनकी चौडाई काफी है। पानी की मात्रा कि जो हजारों वर्षों से अनवरत पडती चली आ रही है; पानी का महान् वेग और प्रपात की चौडाई ये तीन बातें ऐसी हैं, कि जिनसे रिपन प्रपात का महत्त्व विशेष बढ जाता है। इतना ज्यादा पानी बडे भारी वेगके साथ सतत पडता रहता है कि देखकर हैरानी होती है।

रिपन प्रपात के किनारेपर बैठकर गूंजते हुए पानीको सुन सुनकर दिलमें गुदगुदी पैदा होती है, तथा कुदरतकी महिमा के आगे सिर झुक जाता है। परन्तु अगले ही क्षणमें जब अचानक दिलमें यह ख्याल पैदा हो आता है कि, यदि अभी यहांसे पैर फिसल जाय तो...। बस, यह ख्याल आते ही एकदम सारे दिलमें कपकंपी छूट जाती है। सामान्य मानवों के लिए मृत्यु कितनी भयानक वस्तु है! उसका विचार मात्र भी दिल दहला देता है। परन्तु वीर और वीतरागी पुरुष तो उसेभी हंसते मुखसे भेटते हैं! उनके लिए तो वह भी एक अद्भुत प्रकार का आनंद ही है!!! अस्तु।

इन प्रपातोंमें यदि कोई गिरे, तो शायद ही उसका पता चले। कभी कभी कुछ अवयव मिल जाते होंगे, पर वे भी बडी मेहेनत से। इन प्रपातोंके नीचे बहुतसे मगर आदि प्राणी रहते हैं, अतः संभव है कि वे भी शरीर के अवयव खा जाते हों और इस कारण भी साराका सारा शरीर न मिल पाता हो, तथापि पानी का वेगभी इसमें मुख्य कारण माना जा सकता है। उसमें गिरनेवाले प्राणी का शरीर शायद ही दोतीन मिनिट तक संपूर्ण रहता होगा। पानीकी मात्रा तथा वेग को देखते हुए इस बातका हर कोई सुगमता से अनुमान कर सकता है कि, गिरनेवाले के कितनी जल्दी टुकडे टुकडे हो जाते होंगे। पहले पहल इन प्रपातों को देखनेवाले को थोडा बहुत भय जरूर मालूम देता है। इन तीन प्रपातोंमें से एक प्रपात जो कि मुख्य है, वही अच्छी तरह से पासमें जाकर देखा जा सकता है। शेष दो दूरसे ही देखकर संतोष मानना पडता है।

दुर्भाग्य से जिंजा तथा आसपास में बसनेवाले हमारे बहुत से भारतीय भाईयोंने (Indians) इन प्रपातों को अपनी आत्महत्या का साधन बना रक्खा है। किसी को कोई दुःख हुआ कि वह वहां जाकर उनमें कूदकर अपना अन्त कर लेता है। हरसाल दोचार ऐसी कमनसीब घटनाये हुआ ही करती हैं।

पिछले कुछ सालोंसे तो शायद ही कोई वर्ष खाली जाता होगा।

अभी पिछले दिनोंमें मेरे जिंजा में रहते रहते ही ऐसी दो दुर्घटनायें हुई। ऐसी कमनसीब घटनाओं को कैसे दूर किया जा सकता है, यह बात वहांके रहनेवालों के लिए एक सोचने जैसी बात है। यदि इसी तरह आत्महत्याओं का तांता जारी रहा, तो मेरा ख्याल है कि ये प्रपात वहांकी जनताके लिए शापरूपही साबित होंगे !

इन प्रपातोंका पहले पहल इ० स० १८५७ में पता किया गया, ऐसा वहांपर लगाये हुए पत्थरपरसे जान पडता है। Mr. Speke और Mr. Grant नामक दो अंग्रेजों ने इन प्रपातोंका सबसे पहले पता किया। परन्तु भारतीय व्यापारियों को इनका तथा नाईल नदी और उसके आसपास के प्रदेशों का इनसे भी सदियों पहले पता था, ऐसा इन्हीं शोधकोंके लेखोंसे ज्ञात होता है। परन्तु गुलामदेश की प्रजाको शोध का महत्त्व कितना हो सकता है यह लिखनेकी कोई जरूरत प्रतीत नहीं होती। अस्तु।

प्रपातों के आसपासका स्थल अत्यंत रमणीय है। शामको घूमनेफिरने के लिए बहुत उपयुक्त स्थल है। प्रायः बहुत से जिंजा के निवासी वहां शामको सैरके लिए जाते हैं। प्रपातों के नीचे थोडी दूरपर जहां कि पानीका वेग कुछ कम हो जाता है, मगर तथा किबोका (Hypopotamus- समुद्रीय हाथी) रहते हैं। प्रपातों के ऊपर कुछ दूरीपर सरोवरमें तो ये बहुत ज्यादा प्रमाण में रहते हैं। प्रपातों की ओर बहते हुए जल का नीचे तलमें इतना ज्यादा खिंचाव होता है कि, उस बहाव में कोई प्राणी आ जाय, तो वह घसीटा जाकर प्रपातों में गिरे बिना रह नहीं सकता। इन प्रपातों को देखते हुए एक और आश्चर्य-जनक परन्तु मझेदार घटना देखने को मिलती है और वह यह कि बडी बडी मछलियों का उछलउछलकर प्रपात के वेगमें जा पडना। उन्हें देखकर ऐसा जान पडता है कि मानो वे प्रपातके वेगसे टक्कर झीलनेके लिए जा रही हों ! उन्हें इसमें क्या मझा आता होगा, यह कहना कठिन है और साथही में यह भी अनुमान करना निहायत मुश्किल है कि वे प्रपात के वेग में पडकर चकनाचूर हो जाती होंगी या फिर यथावत् बाहर निकल आती होंगी !

ककीरा शुगर फेक्टरी।

(खांडका कारखाना)

जिंजासे ९ मील उत्तर की तरफ मेसर्स विठलदास हरिदास और कंपनी लिमिटेड का बडा भारी खांडका कारखाना है, जो एक खास देखनेलायक चीज है। कारखानेके आसपास ११००० एकड जमीन है, जिसमें बहुतायतसे गन्ना बोया जाता है। उसे देखनेसे ऐसा जान पडता है कि, मानो गन्नेके जंगलके जंगल खडे हों। युगांडा आदिमें गन्नेकी खेती करने में बडा भारी सुख यह है कि, हिन्दुस्थान की तरह हर आठवें दिन पानी नहीं देना पडता। यहां गन्ना कुदरती बारिश से होता रहता है। पानी के लिए कृत्रिम साधनों की जरूरत न पडने से जहां बहुतसा खर्च बच जाता है, वहां गन्ना बोनेके लिए एकसी समतल जमीन की भी जरूरत नहीं पडती। ऊंची नीची या पहाडी जमीन परभी यहां गन्ना बोया जाता है, अतः जमीन को एकसा बनाने का भी खर्च नहीं आता। इन सबके अलावा एक और भी बात है कि, जिसका लाभ हिन्दुस्थान में गन्ना बोनेवालों को नहीं मिलता और वह यह कि यहांपर एक बार गन्ना बो देनेपर वह तीन सालतक चलता रहता है।

अर्थात् हरसाल एक बार काट लेनेपर उसीमें से फिर दुबारा फूट आता है और इस तरह तीन साल तक फूटता रहता है। तीन सालके बाद उसे जडसे उखाडकर उसके स्थान में फिर नया बीज बोया जाता है। ऐसेही बहुतसे कारणोंकी वजहसे यहांपर खांड की आयात बाहरसे नहीं हो सकती। क्योंकि यहांके कारखानों के मुकाबले में बाहरसे भेजनेवाले कारखाने खडे नहीं हो सकते। वे इतनी सस्ती खांड नहीं दे सकते, जितनी यहांवाले। खांडके बनने के प्रारंभ के दिनों में यहांपर खांडका भाव बहुत ज्यादा ऊंचा था। कहा जाता है कि जो खांडकी बोरी आज १८ से २०

शिलिंग (१२ से १३ रुपये) में मिलती है, वह प्रारंभ-प्रारंभ में १०८ शिलिंग (७२ रुपये) में मिलती थी। खांडवाले उस समय मालामाल हो गये थे। आज कल जो बोरी १८ शिलिंग में बेची जाती है वह कारखाने में १० से १२ शिलिंग में या इससे भी कुछ कममें तैयार होती है, ऐसी किंवदन्ती है। मालूम नहीं, इसमें तथ्य कितना है। इस विषय में अनुमान ही लगाया जा सकता है। क्योंकि यह व्यापारिक रहस्य होने से हरेक व्यापारी उसे गुप्त ही रखता है, अतः ठीक ठीक पता लगाना कठिन ही है। परन्तु यदि मान भी लिया जाय कि, १० से १२ शिलिंग में एक बोरी तैयार होती है और वह १८ से २० शिलिंग में बेची जाती है, तो मेरे ख्याल में बोरी की यह कीमत उचित ही है। क्योंकि कारखाने के खर्चों का ख्याल रखते हुए इतनी कीमत रखे बिना कंपनियां कमा नहीं सकतीं।

यहांपर इस विषय में साधारण चर्चा करने का अभिप्राय यही है कि, हमारे पाठकोंको साधारणतया यह ख्याल आ सके कि, हिन्दुस्थान से यहांपर खांड कितनी सस्ती है और क्यों है? दूसरी बात यह कि यहांवालों का बाहरवाले क्यों मुकाबला नहीं कर सकते। तीसरी बात यह कि हिन्दुस्थान में गन्ने के काश्तकारों को क्या क्या तकलीफें हैं और यहांवाले उनसे कैसे बचे हुए हैं।

ई० सन् १९३० में मेसर्स विटलदास हरिदास की कंपनीने ककीरामें पहले पहल खांडके कारखानेकी शुरुआत की। शुरुशुरुमें इस कारखानेमें ४० टनके हिसाबसे रोज खांड तैयार होती थी, पर ता. १९-३-३७ से उसका विशेष विस्तार किया गया है और अब रोज ८० टनके हिसाबसे खांड तैयार होती है। ११००० एकड़मेंसे ९२०० एकड़में गन्ना बोया जाता है। इस गन्नेको कारखानेतक पहोंचानेके लिए ३५ मील लंबी अपनी रेलवे तैयार की गई है। कारखाने में आवश्यक पानीको पहोंचानेके लिए विक्टोरीया सरोवर (झील) के किनारे उक्त कंपनीने अपना पम्पिंग स्टेशन बनाया है। इस पंपसे प्रति घण्टा ७०००० गैलन पानी खेंचा जा सकता है। किनारेसे ढाई मील दूर कारखानेकी सतहसे ८० फीट ऊंचे स्थान पर एक टांकी बना रखी है, जिसमें ७ लाख गैलन पानी रह सकता है। इस टांकी से बगीचेको तथा कारखानेको पानी पहोंचाया जाता है।

कारखानेमें तथा बगीचेमें कुल मिलाकर ५००० नेटीव (आफ्रीकाके असली निवासी) तथा २०० भारतीय, युरोपियन और मोरीशियन काम करते हैं। इन सबको जो मासिक वेतन मिलता है, वह १, २०, ००० शिलिंग = ६ हजार पाउण्ड = ० हजार रुपये) है। इसका मतलब यह हुआ कि यह हिन्दी कारखाना ७२ हजार पाउण्ड सालाना वेतन नोकर तथा मजदूरोंको चुकाता है।

बारिशकी मौसममें कुछ मास यह कारखाना बंद रहता है। अतः इस कारखानेमें वार्षिक २० हजार टन खांड तैयार होती है, जिसकी कीमत चालू भाव के अनुसार लगभग ढाई लाख पाउण्ड होती है।

जिंजासे कंपाला जाते हुए रास्तेमें आधेसे कुछ इधर लुगाझी में श्री शेठ नानजी कालिदास का भी इसी तरह का बडा भारी खांडका कारखाना आता है। युगांडामें श्रीयुत सेठ नानजी कालिदासने सबसे पहले खांडके उद्योग का प्रारंभ किया था।

कंपाला।

युगांडामें कार्य करनेके लिए मैंने अपना स्थिर मुकाम जिंजा तथा कंपाला इन दो शहरोंको बनाया हुआ था। जिंजाका लगभग काय समाप्त कर मैं कंपाला गया। जिंजासे कंपाला लगभग ५५-५६ मील है। जिंजासे कंपाला जानेके लिए बाकायदा मोटर सर्विस तथा हफ्तेमें दो दफा रेलवे गाडी मिलती है। वैसेभी प्रायः रोज व्यापारियोंकी मोटरगाडियां जातीआती रहती हैं। अतः जिंजासे कंपाला जाने-आनेके लिए कोई खास तकलीफ नहीं पडती।

कंपाला छोटी ७ पहाडियोंपर बसा होनेसे कुदरती शोभासे भरपूर है। एक पहाडीसे दूसरी पहाडियों पर बसा हुआ शहर बहुत सुंदर दिखलाई देता है।

कंपालाकी यह शोभा अत्यंत आकर्षक है। दिन तथा रात दोनोंहीमें कंपालाकी शोभा का मज़ा लूटा जा सकता है। तिसपर अभी फिलहालही में कंपाला में बिजली की रोशनी आई है। इसके साथ ही साथ कंपाला को और सुंदर बसानेके लिए बढिया रास्ते तथा मकानात बनाये जा रहे हैं। इन सबकी वजहसे अब कंपाला पहलेसे कहीं ज्यादा आकर्षक बन गया है। कंपाला जिन सात पहाडियों पर बसा हुआ है, उसका विवरण इस प्रकार है—

(१) नकासरो हिल- व्यापारीवर्ग के ज्यादातर दफतर तथा हिन्दीयों के निवासभवन आदि।

(२) ओल्ड (पुराना) कंपाला हिल- कारखाने, हिन्दियोंके खास रहनेके मकानात, बंगले, खेलने-कूदने के मैदान तथा नेटिव संग्रहस्थान।

(३) नमीरंबे हिल- प्रोटेस्टंट चर्च तथा सी. एम. एस. हसपताल (Hospital)

(४) रुबागा हिल- रोमन केथोलिक चर्च आदि।

(५) मेंगो हिल- 'कबाका' (युगांडाका नेटिव राजा) का महेल तथा उसकी कचेरी आदि।

(६) नसांबिया हिल- सरकारी हसपताल बसाया गया है।

(७) मकरेरे हिल-नेटिव एजुकेशन कोलेज।

कंपाला जिला तथा प्रांतका सबसे बडा व पुराना शहर तथा रेलवे स्टेशन है। ई० सन १८९०में केप्टन लुगार्डने ब्रिटीश ईस्ट आफ्रिका कंपनीके समयमें इस शहर को बसाकर एक किला भी बांधा था। इस प्रांत का नेटिव राजा भी यहीं रहता है। नेटिव राजा को कबाका कहा जाता है।

नेटिव राज्यप्रबंध (Native Administratiion) -नेटिव सरकारके अलग अलग भागोंके छोटे छोटे राजा हैं, जिन्हें 'मामी' कहा जाता है और जो सबसे बडा राजा है, उसे नेटिव 'कबाका' कहते हैं। कबाका को राज्यव्यवस्थामें मदद करने के लिए एक काउन्सील होती है जिसे यहां की भाषामें 'लुकीको' (Lukiko) कहते हैं। उसके महामंत्री (प्राईम मिनिस्टर) को कटीकीरो (Katikiro) वाईस प्रेसीडेन्ट या नेटिव मुख्य न्यायाधीशको ओम्पुलामुझी (Omulamuzi) खजानचीको ओम्युवानीका (Omuwanika) कहते हैं। इनके अलावा हरेक छोटे छोटे प्रांतके एक एक साझा (Saza=सरदार) तथा अन्य सदस्य इस काउन्सीलमें होते हैं। इस प्रकार इस Lukiko Parliament में कुल मिलाकर ८९ सदस्य होते हैं।

रोटेम्बे (मगर)

कंपालासे एन्टेबेके रास्तेमें लगभग १४-१५ मीलपर विक्टोरिया सरोवरके किनारेपर एक नेटिवने एक बडा भारी मगर (नाका) पाल रखा है। उसको देखनेके लिए प्रायः शनिरवि के दिन लोगोंकी खासी भीड जमा होती है। उस नेटिवको इससे खासी आमदनी भी होती है। वह साधारणतया लोगों से १ शिलिंग मगर का तमाशा दिखानेके लिए लिया करता है। बात यह है कि, वह मगर उस नेटिवके बुलानेपर पानीमेंसे बाहर आता है और उसे मांस या मछली खिलानेके बहाने वह नेटिव दर्शकोंसे एक एक शिलिंग लेता है। कभी कभी युरोपियन दर्शक दस शिलिंग तक भी दे दिया करते हैं।

मैंने कंपाला में जब इस मगरके बारेमें सुना, तो मुझे भी उसे देखने की उत्सुकता हुई। एक रविवार के दिन हम ४-५ मिलकर एन्टेबे पिकनिक करनेके लिए निकले। हमने पहले पहले एन्टेबे जाकर वहां के बडे भारी बगीचे में एक सुंदरसा स्थान ढूंढकर भोजन किया। तत्पश्चात् थोडासा वहीं बगीचेमें आराम कर एन्टेबेका एक चक्कर लगाया और फिर कंपाला की तरफ चल पडे। रास्तेमें हम रोटेम्बेको देखनेके लिए गये। झीलमें जिस स्थानपर मगर निकलता है, वह मुख्य रास्तेसे डेढ दो मील अन्दर को है। बारिशके दिनोंके अलावा वहां तक मोटर जा सकती है। हम जिस वख्त वहां पर पहोंचे, उस समय वह मगर पानीसे बाहर आया हुआ था और उसे बहुतसे लोग घेरे खडे थे। हमसे पहले कुछ युरोपियन दर्शक वहां पहोंचे हुए थे, जिनके कि कहने से उस नेटिवने उसको बुला रखा था।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि, मगर शिकार के लिए पानी में दूरतक चला गया हो और उसे बुलाने की आवाज न सुनाई दे, तो वह घण्टोंतक नहीं आता और इस प्रकार बहुतों को निराश होकर भी लौटना पडता है।



नाईल नदी में हाथी नहाकर किनारेकी ओर जा रहा है।

उस मगर को जब बुलाना होता है तो वह नेटिव रोटेम्बे! रोटेम्बे! ऐसी आवाज लगाता है। वहां की मगाण्डी भाषा में रोटेम्बे का अर्थ मगर होता है। ज्यों ही वह मगर रोटेम्बे का नाम सुनता है, तो तीर की तरह तैरता हुआ किनारे पर चला आता है, तथा पानी से बिलकुल बाहर जमीन पर आकर ठहर जाता है। दर्शक उसे घेरकर ३-४ फीट के अन्तर खडे रहते हैं। वह चुपचाप पडा रहता है। किसी को कुछ नहीं करता। अपनी कांटोवाली पूंछ जो कि आरीकी तरह होती है, उसे धीरे धीरे हिलाता रहता है। जब उसे खाने को मांस या मछली दी जाती है, तो अपने विकराला दीर्घ मुख खोल कर उसे ले लेता है और उसे शीघ्र ही निगलकर फिर उसी तरह पडा रहता है। आखिरकार जब वह नेटिव उसे वापिस जानेको कहता है, तब वह फिर उस सरोवर में दूर अपने निवासस्थान पर चला जाता है।

वह मगर अत्यंत विशालकाय तथा भयंकर प्रतीत होता है। ऐसा कहते हैं कि एक बार किसी नेटिवने उसे जब तंग किया था, तो इसने उसका हाथ पकड लिया और उसको पानीमें घसीट कर ले जाने लगा। आसपास के लोगों की मदद से उस नेटिव का हाथ काट डाला गया, तब जाकर कहीं उसकी जान बची। परन्तु यह घटना बहुत पुरानी है। उसके बाद फिर कभी उसके बारे में ऐसा नहीं सुना गया।

आजकल कभी कभी उस मगर के साथ उसका एक बच्चा भी साथ में आया करता है। वह किनारे तक तो आता है, पर रहता पानीहीं में है। वह अभी लोगोंसे डरता है। शायद आगे चलकर वह भी इसी तरह पल जाय। अस्तु। उस मगर को देखने की मेरी इच्छा पूर्ण हुई, अतः परम आनन्द हुआ। हम उस मगर को देखकर शामको क्पाला वापस लौट आये।

मरचीसन प्रपात।

(Murchison Falls)

जिंजा के विक्टोरिया सरोवर के रिपन प्रपात से नाइल नदी निकलकर उत्तर दिशा में बहती हुई कियोगा झील में जा गिरती है। वहां से फिर निकल कर पश्चिम की ओर बहती हुई एलबर्ट झील में जा पडती है। कियोगा झीलसे एलबर्ट झीलको जाती हुई नाइल नदी बीचमें मरचीसन प्रपात बनाती है। यह प्रपात इतना अधिक मशहूर हो गया है कि, इस देशमें आया हुआ यात्री शायद ही उसे देखने की अपनी लालच को रोक सकता हो।

पिछले ५-७ वर्षों से तो इसको देखने के लिए अकसर लोग जाने लग गये हैं। इसकी बहुतसी प्रसिद्धि को सुनकर मैं भी अपनी इच्छाको न रोक सका और इस बात के प्रयत्न में रहने लगा। पहले पहल एकदो दफा तो कोई ऐसी सूरत नजर आती हुई नहीं दिखाई दी। परन्तु अन्तमें उसको देखनेका सद्भाग्य प्राप्त हो ही गया। इसकी वजह यह थी

कि, यह प्रपात देखनेके लिए एक अकेला आदमी जा नहीं सकता। वसे तो अकेला जानेमें कोई हर्ज नहीं है पर अकेला जानेमें जहां मझा नहीं आता, वहां अकेले को जानेमें भी वही खर्च आता है जितना कि कमसे कम ६ आदमियों के जाने में। ६ आदमियोंको ३०० से ३५० शिलिंग (करीबन २०० से २३४ रुपये) खर्च आता है। अर्थात् हरेक आदमी को ४० से ४१ रुपये खर्च लगता है। मरचीसन प्रपात जानेके लिए जो व्यवस्था है उसमें एकसाथ कमसे कम ६ आदमी और अधिक से अधिक १९ आदमी जा सकते हैं। यह व्यवस्था यहां की 'केनिया युगाडा एण्ड हारबर' रेलवेके हाथ में है।



(१)

(१) मरचीसन प्रपातके नीचे पहुँचकर नजदीकसे लिया गया फोटो।



(२)

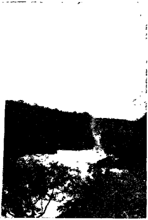
(२) नाईल नदीमें स्टीमरद्वारा मरचीसन प्रपातकी तरफ जाते हुए दूरसे प्रपातका दृश्य।

मरचीसन प्रपात जानेके लिए कम्पाला से एलबर्ट सरोवर के 'बुटियाबा' बंदरगाह तक १६६ मील मोटर से मुसाफरी करनी पडती है। फिर वहांसे ठेठ प्रपात तक स्टीमर (जहाज) जाता है। इस लिए जिन्हें वहां जाना हो, उन्हें पहले पहल कंपालामें रेलवे कंपनी को खबर देकर सारीकी सारी स्टीमर चार्टर करवानी पडती है यदि ६ आदमीयों का दल हो, तो उन्हें छोटी स्टीमर दी जाती है। इस स्टीमर में ६ से ज्यादा की गुंजाईश नहीं होती। अतः उस में ६ से कम जा सकते हैं, पर ज्यादा नहीं। कम जानेसे उतना खर्चा जितने होंगे उतने पर बंट जायगा। अतः खर्च के ख्याल से पूरे आदमी लेना ही ठीक होता है। इसी तरह यदि १९ आदमी हों, तो उन्हें बड़ी स्टीमर दी जाती है। छोटी से बड़ी स्टीमर में व्यवस्था बहुत ज्यादा अच्छी होती है। अतः आराम की दृष्टि से १९ आदमी तैयार कर बडी स्टीमर से जाना ज्यादा अच्छा है। दोनों हालतों में खर्चा उतना ही आता है, जब कि आराम बडी में ज्यादा रहता है। छोटी स्टीमर में किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती, ऐसा कहा जा सकता है।

छोटी स्टीमर को चार्टर कराने में-सब तरह से अपने नावे में लेनेमें २०० शिलिंग (१३४ रुपये) लगते हैं, जब कि बडी के लिए ८०० शिलिंग (५३३ रुपये) लगते हैं। इतना लेकर रेलवे बुटयाबा पर

(१)





(२)

(२) मरचीसन प्रपातपर चढते हुए रास्तेमें एक ओरसे लिया गया फोटो।
(१) जहां से प्रपात गिरना प्रारम्भ होता है वहां का दृश्य।

(१)





(२)

(१) यह प्रपातके दूसरे भागका दृश्य है। जहांपर पहाडको चीरता हुआ पानी बडे वेगसे नीचेको गिर रहा है। यह भाग अत्यंत ही सुन्दर है। यहांपर सूर्यकी किरणें पानीपर गिरती हुई नाना तरह के इन्द्रधनुष्य बनाती हैं।

(२) यह प्रपातका तीसरा भाग है, यहांपर ऊपरसे गिरता हुआ पानी नदीके रूपमें आगे बढ़ जाता है।

स्टीमर तैयार कर रखती है। मुसाफिरों को बुटियाबा तक स्वयमेव अपना इन्तजाम करके पहोंचना होता है। रेलवेकंपनी सिर्फ बुटियाबासे मर्चीसन प्रपात तक ले जाने तथा वहांसे फिर बुटियाबा तक ले आनेके लिए जवाबदार होती है। इतनी मुसाफरीके लिए वह उपर्युक्त पैसे लेती है। कंपाला से मर्चीसन प्रपात तक जानेआने में ६०० मीलकी मुसाफरी अन्दाजन होती है, जिसमें ३३२ मील मोटर का (जमीन की) तथा शेष २६८ मील स्टीमर की (पानीकी) कही जा सकती है। यह मुसाफरी डेढ दिनमें ही पूर्ण हो जाती है। प्रायः लोग शनिवार की दुपहर को एक दो बजे निकलते हैं और रविवार की रात को १-२ बजे वापस आ जाते हैं।

हमारी पार्टी में सद्भाग्य से १९ आदमी जमा हुए थे, अतः हमने बडी स्टीमर चार्टर करवाई थी। बुटियाबा तक जाने के लिए मोटरों का इन्तजाम हमें स्वयं करना पडा था। मोटरें मांग ली थीं और पेट्रोलका खर्च हमने अपनी अपनी जेबसे दिया था। हम सब चार मोटरों में बैठकर बुटियाबा के लिए रवाना हुए। कंपाला से ठीक एक बजे निकलने का निश्चय किया था, पर ठीक समय पर हम भारतियों के लिए निकलना बहुत कम संभव होता है, तदनुसार हमें भी निकलते निकलते दुपहर को ढाई बजे। हमारेमें से दो मोटरें कुछ पहले निकली थी। असल में कंपाला से जल्दी निकलकर सूर्यास्त से पहले बुटियाबा पहोंचने से सरोवरका प्राकृतिक दृश्य तथा सरोवर में सूर्यास्त का रमणीय दृश्य देखने का अपूर्व आनन्द मिलता है। दूसरी बात यह भी है कि, रास्ते में अगर बारिश की वजह से या किसी और मोटर के बिगड जाने आदि के कारण से रुक भी जाना पडे, तो भी पहले निकलने से समय पर पहोंचा जा सकता है। हम, एक तो वैसे भी निकले देर से थे और तिसपर कम नसीबी से हमारी मोटर का अपना ड्राईवर उस दिन बीमार होनेसे दूसरे एक सज्जन का ड्राईवर उधार मांगना पडा था। उससे वह मोटर ठीक ठीक चलती न थी, अतः हम और भी धीरे धीरे जाने लगे। इस प्रकार हम जहां सबसे पीछे रह गये, वहां पहोंचे भी इतनी देरमें कि हम से काफी पहले पहोंचनेवाले उन तीनों मोटरों के लोगों को हमारे लिए उलटी चिंता होने लगी। अस्तु। जैसे तैसे हम कोई आठ साडे आठ बजे बुटियाबा पहोंचे। वहां पहुंच कर हम सबने खाना खाया। भोजन हम अपने साथ ले गये थे। यदी स्टीमरवालों को पहले से खबर दी जाय, तो वे निरामिष भोजियों (Vegiterians) के लिए भी प्रबन्ध करते हैं। परन्तु हमने तो डेढ दिनकी खानेकी स्वयमेव व्यवस्था की थी। भोजन आदिसे निवृत्त होकर ज्ञात हुआ कि, रातके १२ बजे स्टीमर वहांसे चलेगी। बुटियाबा पर मच्छर इतने ज्यादा हैं कि, मच्छरदानी के बिना खुलेम बैठना असह्य हो रहा था। यदि पवन चल रहा हो, तो अवश्य कुछ आराम मिलता है। स्टीमर को चलने में काफी देर थी, तथा रातका वखत था, अतः हम १० बजे अपनी अपनी केबिन में मच्छरदानी-वाले पलंगों में एक एक कर जा सोये। रातके ठीक बारह बजे हमारी स्टीमर उत्तरकी ओर नाईल नदी जहां पर आकर आलबर्ट सरोवरमें गिरती है, उस तरफ चल दी और कोई साडेतीन बजे सबेरे ही वहां जाकर खडी हो गई।

बात यह है कि वहांसे आगे नाईल नदी में स्टीमर को उसके प्रवाह के विरुद्ध जाना होता है। और नाईल नदी वहांपर इतनी चौडी नहीं है, कि उस में यह बडी स्टीमर जा सके। अतः नदी में जा सके, ऐसी दूसरी स्टीमर वहांपर बदलनी होती है। यह स्टीमर चौडाई में कुछ कम तथा पानी में सिर्फ ढाई फीट ही डूबी हुई, हो ऐसी होती है। जब कि पहली स्टीमर आठ साडे आठ फीट पानी में नीचे होती है। इसके अलावा सूर्योदय से पूर्व भी नदी के मुख में प्रवेश करने की मनाई है। अतः छोटी स्टीमर भी ६ बजे से पहले वहांसे चल नहीं सकती।

हम चार बजे उठकर वहीं स्टीमर में नहाधोकर ६ बजेतक तैयार हो गये। उसी समय दूसरी स्टीमर में जा बैठे। यह स्टीमर पहलीसे बहुत थोडी छोटी

तो थी, पर इन्तजाम आदि की दृष्टि से पहिली से कहीं ज्यादा अच्छी थी। धीरे धीरे वह आगे बढने लगी और कोई आध घन्टे के पश्चात् उसने ठीक नदी के मुख में प्रवेश किया। नाईल नदी कई छोटी छोटी धाराओं के रूप में आलबर्ट सरोवर में आ गिरती है। उसमें एक जो मुख्य तथा गहरी धारा है, उसीसे हम आगे बढने लगे। कुछ दूरीपर जाकर ही वही एक मुख्य धारा रह गई। मरचीसन प्रपात तक नाइल नदी एक बडी भारी नहर (Canal) की तरह जान पडती है। दोनों किनारोंपर बडी बडी घास तथा झाडियां उगी हुई हैं। आगे चलकर बडे बडे जंगल आते है, जिन में तमाम तरह के जंगली प्राणी रहते है। नाइल नदीके दोनों किनारों को इस जंगल का बहुत बडा भाग सरकार की ओर से इन जगली प्राणियों को बचाए रखने के लिए सुरक्षित रखा गया है। इस जंगल में किसी भी प्राणी का शिकार करने नहीं दिया जाता। इतने जंगल में जंगली प्राणियों को हर तरह की स्वतन्त्रता दी गई है। मरचीसन प्रपातको देखने के साथ साथ इन जंगली प्राणियों को छूटसे समीप में देखने का मझा भी इस यात्रा में मिलता है, अतः दोनों दृष्टियों से लोग इस तरफ आते है।

हमारी स्टीमरने भी ज्योंही नदी में प्रवेश किया कि, हम भी इन जगली प्राणियों को देखने के लिए उत्सुक होने लगें। कुछ दूरतक तो हमारी आंखें प्रतीक्षा में इधरउधर दौडती रही, पर जब कहीं कुछ भी न दिखाई दिया, तो हम थोडे से हताश होने लगे। इधरउधर स्टीमरवालों से पूछनेपर पता चला कि, आठ साडे आठ तक सबेरे कुछ भी देखने को नहीं मिलता। जो प्राणियों के रहनेके खास स्थान हैं, वे अमुक देर बाद आयेंगे. तब सब कुछ खुदबखुद नजर आने लगेगा। असल बात भी यह है कि, जबतक नाइल के दोनों किनारे सुखी जमीनवाले नहीं आते और जबतक दोनों तरफ दूर दूरतक साधारण पानी और कीचड तथा दलदल रहती है, तबतक किसी भी प्रकार का कोई भी प्राणी नजर नहीं आता। हमारे साथ बहुतों के पास दूरबीनें तथा केमेरा थे। हम इन सब साधनों से समय पसार करने लगे। आखिरकार सूखे किनारे आने शुरू हुए और सबसे पहिले हमें दरियाइ घोडों के दर्शन हुए।

दरियाई घोडा (कीबोका- Hypopotamus) पानी में रहनेवाला जानवर है। यह जमीनपर जाकर घास चरता है, तथा पानी में आकर रहता है। इस की चमडी गैंडे जैसी ही डेढ दो इंच मोटी होती है। इस की चमडी की भी गैंडे की चमडी की तरह सोटियां बनाई जाती है। इस के पैर हाथी के पैरों की तरह ही भारी होते हैं। इसका मुंह बहोत चौडा होता है, तथा कान बिलकुल छोटे होते है। यह समूह में रहनेवाला प्राणी है। प्रकाश देखकर इतना ज्यादा चिडता है कि, आक्रमण करनेके लिए सामने आता है। यह रास्तेमें अगर मिल जाय, तो मोटर का प्रकाश बद कर देना पडता है। यह प्रायः रात को ही घास चरने के लिए पानी से बाहर आता है। इसके झुंड के झुंड उथले पानी में भैंसोंकी तरह पडे रहते है और जलक्रीडा करते है। जब खतरा मालूम पडता है, तो एकदम गहरे पानी में गोता मारकर चला जाता हैं। यह हमारी स्टीमर या और किसी प्रकार का शोर सुनकर फौरन पानी में डुबकी लगा लेता था, अत: हमें हमारी बातचीत लगभग बंद कर देनी पडी। हमारी स्टीमर का केप्टन इस विषय में हमें समय समय पर सूचना देता रहता था। उसने हमें जगली जानवरों के अच्छी तरह दिखाने में खूब सहायता पहुंचाई। कभी कभी वह चुपके से स्टीमर को ऐसा किनारे ले जाता था कि, खेलकूदमें मस्त प्राणियों को यह भी पता चलने न पाता था कि, उन को कोई बहुत नजदीक आकर देख रहा है। इसी तरह वह कभी कभी किबोका को ऐसा घेरने का प्रयत्न करता था की, वह डरकर बजाय गहरे पानीमें भाग जाय, बिलकुल बाहर निकल आता था और इस प्रकार हम उसे नजदीकसे पूरीतौरपर देख सकते थे। केप्टनकी सहायता के बिना शायद हमें जंगली प्राणी देखने का इतना ज्यादा मझा न आता।

धीरे धीरे किबोका इतने ज्यादा नजर आने लगे कि, हम उन्हें देखते देखते उकता से गये। मरचीसन प्रपात तक दोनों समय किबोका सबसे ज्यादा देखने को मिले। किबोका के बाद हमें पहले पहले पानी में तैरते हुए, बिलकुल नजदीक से मगर देखने मिले। कुछ और आगे जानेपर एक किनारे के छायेदार वृक्ष के नीचे २०-२१ मगर पडे हुए मिले। हमारी स्टीमर को देखकर कुछ तो शीघ्र ही पानीमें भाग गये, परंतु फिर भी काफी उसी हालत में बाहर पडे रहे। कुछ अपना विकराल मुख फाडे हुए सो रहे थे, जब कि कुछ आंखें मूंदे हुए शांत पडे हुए थे। कभी कभी कुछ मगर पानीमें से बाहर रेतीपर बैठनेके लिए उसी समय निकलते थे, जब कि अचानक हमारी स्टीमर वहींसे गुजरती थी। मगरको जमीनपर चलता हुआ देखने में बडाही आनन्द आता था। मगर का पेट नरम होता है, अतः वह इसे चलते हुए जमीनपर छूने नहीं देता। इसलिए वह उसे जमीन से जितना हो सके, ऊंचा रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु उसका शरीर इतना भारी होता है कि, उसके पैर शरीरका बोझ बडी मुश्किल से संभाल सकते हैं। ऐसी अवस्था में वह अत्यत धीरे धीरे तोल तोलकर पैर रखता था। कहां उसका पानीके अन्दर का वेग और कहां उसकी जमीनपर की यह 'चाल' बडी ही हैरानी होती थी। कभी कभी थोडी दूरसे डरका मारा इसी तरह पानीकी तरफ जल्दी जल्दी आनेके कोशिश करता था, तो उसकी चालपर हँसी आती थी। परन्तु ज्योंही पानीके पास पहुँचा कि, तीरकी तरह उसमें कहांका कहां अदृश्य हो जाता था। नाईल नदीमें सर्वत्र मगर बहुत ही ज्यादा है। इस तरह मगरोंको देखते देखते भी जी भर गया। तब मनमें होने लगा कि अब कुछ और दिखना चाहिए। जलके ये दोही प्राणी हैं, जो कि वहां बहुतायत से नजर आते हैं।

अब हमारी जंगल के प्राणियों को देखने की उत्सुकता बढने लगी। हमें पहले पहल, हरिण, बंदर तथा बारहसींगे दिखाई दिए। यहांके हरिणों में बहुत से आधे काले रंग के भी थे। परन्तु ऐसे प्राणियों के देखने की हमारी अभिलाषा नहीं थी। हम तो चाहते थे कि, शेर, गैंडा, जंगली भैंसें तथा हाथी देखने को मिलें। जाते हुए सबेरेका समय था और साधारण ठण्डी भी थी, अतः इनमें से कोई भी प्राणी पानी पीनेके लिए किनारेपर आता हुआ नजर नहीं आया। धीरे धीरे मरचीसन प्रपात भी नजदीक आ रहा था, अतः हम निराश से होने लगे। परन्तु जब प्रपात कुछ दूर रह गया होगा, तब बहुत दूरसे ३०।४० हाथियों का यूथ दूरसे सामने पानीके पास आकर खेलता हुआ दिखाई दिया। हम अभी उसे अच्छी तरहसे देखनेका प्रयत्न ही कर रहे थे कि, इतने में उसने हमारी स्टीमर को आते हुए देख लिया और सबके सब भाग गये। अस्तु। इतनेमें सामनेसे प्रपात भी नजर आने लगा, अतः अब हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित होने लगा। धीरे धीरे हमारी स्टीमर प्रपात के सामने प्रपात से दो एक फर्लांगकी दूरी पर आ खडी हुई। स्टीमर इससे आगे नहीं जा सकती। क्योंकि आगे दोनों तरफ पहाडीवाली छोटीसी घाटी शुरू हो जाती है। उसीमें से प्रपात का पानी बहता हुआ आता है। इसके अलावा पानी साधारण उथला तथा बीच बीचमें बडी बडी चट्टाने आती हैं।

मरचीसन प्रपात जहांसे नीचे गिरना प्रारंभ होता है, वहांसे ऊपर का तमाम भाग पहाडी तथा ऊंचा है और जहां से गिरकर आगे बहना प्रारंभ होता है, वहां से कुछ दूरीपर जाकर मैदान शुरू हो जाता है। अतः प्रपात देखने के लिए मैदान से पहाडी चढनी पडती है। हमारी स्टीमर पानीके बीच में खडी हो गई। हम उससे छोटी नाव में बैठकर किनारे पर उतरे। उतरते हुए हमने खानेपीनेकी सामग्री साथ में ले ली। हमारी स्टिमरने ठीक साडेदस बजे लंगर डाला था। ५ मिनिट में हम सब किनारे पर पहुँच गये। हमारे साथ तीन नेटिव शरीररक्षक (Body-Guards) थे। उनके पास ६ गोलियोंवाली राईफलें थीं। वहांपर चलने के लिए रास्ता इतना

ज्यादा तंग है कि, दो आदमी भी एक साथ चल नहीं सकते। आगे पीछे भरी हुई राईफलों के साथ गार्ड रहते हैं और बीच में देखनेवालोंको चलना होता है। जब तक प्रपात देखकर पुनः स्टीमर में न आ जायें, तब तक इसी प्रकार रहना पडता है। कभी कभी हाथी या और जंगली प्राणी आ जाते हैं, तो जानेके खतरेका अन्देशा रहता है. अतः वह जंगल का रास्ता खूब सावधानी से पार करना होता है। एक दो बार हाथियों ने इस प्रकार हैरान भी किया है, अतः थोडासा खतरा वहां अवश्य है। तथापि इतना ज्यादा डरने की कोई बात नहीं है। क्योंकि ऐसा कभीही होता है। इसके अलावा कुछ ऊपर जाकर ऐसा विकट रास्ता आता है कि, वहां पर हाथी जैसे प्राणीका सहसा आ जाना सर्वथा असम्भव है।

स्टीमर से प्रपात तक जा आनेसे ६ मील होते हैं, ऐसा कहा जाता है, पर इतना प्रतीत नहीं होता। मेरा ख्याल है कि वह ४ मील से ज्यादा नहीं। ऊपर चढनेका आधा रास्ता सरल है जब कि आधा रास्ता खूब भयानक है। वह इतना भयानक है कि, अगर असावधानी से पैर फिसला, तो सीधा नीचे पानीमें ही जा गिरेगा। चढाई बिलकुल सीधी है और नीचे रास्ता तंग तथा रेतीला है, अतः उतना रास्ता चढते हुए खूब सावधानी रखनी पडती है। रेतीमें अभ्रक खूब है। रास्ता दुपहर के समय इतना ज्यादा तपता है कि, गर्मीके मारे जी परेशान हो जाता है। इतने रास्ते की जब याद आती है, तो मरचीसन प्रपातका मज़ा थोडी देरके लिए तो किरकिरा हो जाता है। यह विकट रास्ता पार करनेपर पहाडीके ऊपर पहुँच जाते हैं। यहांपर पहुंचकर मरचीसन प्रपात से लगभग डयोढा ऊपर पहोंच जाते हैं। अतः वहांसे फिर दूसरी ओर प्रपातपर पहोंचने के लिए नीचे उतरना पडता है। परन्तु अब कोई तकलीफ नहीं रहती। थोडासाही चलनेपर प्रपात पर पहोंच जाते हैं। सारे रास्तेमें छाया के लिए और थोडीसी देर धूपसे बच कर आराम लेनेके लिए कोई पेड या अन्य साधन न होने से इतना थोडा मार्ग भी अत्यंत कष्टप्रद मालूम होता है। प्रपात के पास भी कोई ऐसा छायादार वृक्ष नहीं है कि, जिसमें खूब आराम से बैठा जाय। सिर्फ एक दो ऐसे पडे हैं जो कि साधारण छाया पहोंचाते हैं, पर प्रायः हाथी वहां आकर उनकी भी शाखायें तोडकर खा जाते हैं। अतः कामचलाऊ छाया ही उनसे मिलती है। अगर ये भी पेड वहां न हों, तो बहुत ही मुश्किल हो जाय।

मरचीसन प्रपात की ऊंचाई ४ सौ फीट बताई जाती है। परन्तु पहाड की चढाई इससे कहीं ज्यादा है। हम पंक्ति में धीरे धीरे पहाड चढने लगे। गरमी और पहाड की चढाईने हमारेमें से बहुतों की हिम्मत पस्त कर दी थी. परन्तु जैसे तैसे चलते, बैठते हम प्रपात के पास पहोंच गये। वहां जाकर जब हमने पानीसे हाथ पैर धोये, तथा कुछ जलपान करके छाया में विश्राम किया तब कुछ शान्ति हुई। हमने भोजन साथमें लिया हुआ था. अतः सबसे पहले खाना खा लिया। प्यास बुझाने के लिए संतरें तथा मोसम्बी (Sweet lemons) साथमें थे। गरमी तथा थकावट से उत्पन्न प्यास को बुझानेके लिए ये अमृत का काम दे रहे थे। खानेपीनेसे निबटकर हम प्रपात को अच्छी तरह देखने में प्रवृत्त हुए।

मरचीसन प्रपात को हम तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। इसका पानी दो बार अलग अलग चट्टानों से टकराकर तीसरी बार नीचे जा गिरता है। जहांसे प्रपात गिरना शुरू होता है, वहांपर ऐसा मालूम होता है कि पानी पहाड के बीचमें से बडी बडी चट्टानों को चीरता हुआ निकल गया है। वहां पर प्रपात की चौडाई ज्यादा से ज्यादा १० फीट होगी। दोनों तरफ खूब ऊंची ऊंची चट्टानों की दीवार है और उसमें से पानी असीम वेग के साथ चट्टानों से टकराता हुआ जोर से २०-२५ फीट ऊपर को उछलता है। पानीकी यह बोछार (Shower) करीबन एकाध मील दूरसे स्टीमर में बैठे हुए भी नजर आती है। सारे प्रपातमें पानी इतनी जोरसे टकरता है कि, सिवाय झागके और कुछ भी नजर नहीं आता। सफेद झाग, पींजी हुई स्वच्छ सफेद रुईके मानो ढेर

पडे हुए हैं, ऐसी दूरसे मालूम देती है । इस प्रथम प्रपात से पानी उछलकर दूसरे प्रपात में जा गिरता है । यह दूसरा प्रपात एकदम गहरे कूंए जैसा है। मरचीसन प्रपात की असली शोभा तथा आकर्षण इसी दूसरे विभाग में है। इसमें जब पानी ऊपर ऊंचाई से आकर गिरता है, तो उसमें बहुतसा पानी बौछार के रूपमें ऊपर उडता है। पानी के बारिक बारिक कण सफेद चादरसी बना देते है। कोहरे की तरह पानी के असंख्य कण छाये हुए से दिखाई देते हैं। और इनपर जब दुपहरकी सूर्यकी किरणें पडती हैं, तो अत्यंत सुंदर इन्द्रधनुष्य (Rain Bow) बनता है। यह दृश्य अत्यंत सुंदर तथा मनोहारी है। इसको देखकर पिछली तमाम थकांद तथा गरमी की याद थोडी देरके लिए तो बिलकुल भूल जाती हैं। इस दृश्य को देखते हुए पेट नहीं भरता। यहां से पानी आखिरमें नीचे जा गिरता है, जहां कि प्रपात की समाप्ति होती है। दूसरे प्रपात की आकृति कुरसी जैसी दिखाई देती है। मानो पानी कुरसीकी आकृति से गिरता हो।

हम यह सब नजारा देखते हुए कोई दुपहर के एक बजे फिर वापस स्टीमर पर आनेके लिए लौट पडे। लौटते हुए फिर उसी असह्य गरमीका मुकाबला था। गरमी इतनी ज्यादा अनुभव हो रही थी कि, जूतोंमें से भी पैरों के तलुएं तप रहे थे। रास्ते में कोई भी छायादार पेड न होनेसे अगर कोई जरासी भी देर दूसरोंके लिए ठहरने को कहता था, तो आगबबूले हो जाते थे। इस तरह जैसे तैसे स्टीमर पर आ पहोंचे। वहांकर जब ठंडे जलसे स्नान किया, तब जाकर फिर कुछ शान्ति हुई। हमारी स्टीमर वहांसे वापस आने के लिए ३ बजे चल पडी। अत्यंत ताप होनेसे जंगली प्राणी नदीमें पानी पीनेके लिए अवश्य आयेंगे, इस आशासे हम फिर शांत होकर प्रतीक्षामें बैठ गए। असल बात भी ऐसी ही थी। इस बार हमें हाथी खूब अच्छी तरह पर्याप्त मात्रा में देखने मिले। उनके समूह के समूह जल के किनारे आकर क्रीडा कर रहे थे। कुछ हमें देखकर भाग भी जाते थे, परन्तु वे बहुत दूर न जाकर समीप में ही छीपे रहते थे। इस बार किबोका तथा मगरभी बहुत समीप से १५-२० फीट की दूरीपर से देखने को मिले। कईयों ने अपने केमेराओं के अन्दर उन्हें बंद भी कर लिया। इस तरह हम अभी कुछ ही दूर गए होंगे कि, हमें एक अत्यंत विशालकाय हाथी दिखाई दिया। वह अकेला ही था। उसकी लंबाई, चौडाई असाधारण थी। इतना बडा हाथी बहुत कमने देखा होगा। साधारण हाथी जैसे उसमें से दो ढाई निकल सकते थे। इतने बडे हाथी को देखने के पश्चात् हमारेमें से प्रायः सभी की हाथी देखने की उत्सुकता पूर्णसी हो गई। शेर तो प्रायः इस जंगल में बहुत ही कम नजर आता है, अतः उसकी तो आशा करना ही व्यर्थ था, परन्तु जंगली भैंसें तथा गैंडे देखने की उत्सुकता अब बाकी रह गई थी। यह अभिलाषा हमारी अन्ततक पूर्ण न हो सकी। हममें से कुछ जो कि स्टीमर के बिलकुल ऊपर फोटो लेनेके लिए गए हुए थे, उन्हें दो गैंडे दूरसे पानी पीने आते हुए नजर आए थे। परन्तु जब तक वे किनारे पर आयें, हमारी स्टीमर दूर जा चुकी थी, अतः हम सब उन्हें देख न सके। इस तरह फिर ज्यादातर मगर तथा किबोका देखते हुए हम शामके साढे पांच बजे अपनी बडी स्टीमर के पास आ पहोंचे। आध घंटे में स्टीमर बदलकर ठीक ६ बजे हमारी बडी स्टीमर बुटियाबा की तरफ वापस चल पडी। चांदनी रात तथा ठंडे पवन का आनंद लेते हुए हमने शाम का खाना वहीं स्टीमर में खा लिया। रातके साडेनऊ बजे हम बुटियाबा पहोंच गये।

बुटियाबा से हम १० बजे कंपाला के लिए रवाना हुए। रातका समय होनेसे ऐसा निश्चय किया गया कि, चारों मोटरें थोडे थोडे अन्तर से एक दूसरी के पीछे चलें, ताकि किसी प्रकार की किसी को तकलीफ हो, तो एक दूसरे उसको सहायता पहोंचा सके। यह नियम कुछ दूरतक ही जारी रह सका। पहले पहल हमारी मोटर सबसे पीछे थी। हमारा ड्राईवर बहुत तेजीसे मोटर हांक नही सकता था, अतः हम

बहुत पीछे रह गये। हमारी मोटर पीछे पीछे न आती हुई देखकर 'होईमा' के ग्राम के पास सब हमारा इन्तजा करते हुए ठहर गये। हमारे पहोंचने पर फिर वहांसे सबने चलना शुरु किया। इस बार हमने हमारे नेटीव ड्राईवर को जरा उकसाया और उसे कमसे कम ४० मील प्रतिघंटा के हिसाब से मोटर हांकने को कहा। उसका हाथ भी धीरे धीरे बैठने लगा था, अतः वह ४० से ५० मील के हिसाबसे मोटर हांकने लगा। इस बार हम सबसे पीछे न रहकर दूसरे हो लिये।

इस तरह ५४-५५ मील हम बातेंचीतें करते हुए आनन्द से चले आए। इसके बाद धीरे धीरे थके हुए होनेसे कुछ को नींदसी आने लगी थी, अतः सब चुप-चाप होकर आधे सोते हुए और आधे जागते हुए किसी भी तरह कंपाला पहोंचने की राह देखने लगे। इतने में कंपाला से करीब ७०-७२ मील पर रास्ते में एक मोड (Curve) आया। उस मोडपर एक छोटासा पुल भी था। उस पुलके नीचे बडा भारी गढा था और साथहीसे बडा भारी जंगल शुरु होता था। हमारी तरह से अचानक वहीं पर हमारे मोटर ड्राईवर को मारे नींद के थोडासा झोंका आ गया। बस फिर क्या था! ४०-४५ मील से आती हुई मोटर उस पुल तथा गढे की ओर बढी। हम सबके तथा ड्राईवर के होश हवास गुम! ड्राईवर तो इतना घबरा गया था, कि वह बजाय ब्रेक दबाने के और भी ज्यादा मोटर को पैट्रोल देने लगा। कोई दो एक मिनिटतक तो हम सब अर्धमूर्च्छितसी हालत में रहें! बीचमें एकदा बार मोटर उलटती हुईसी प्रतीत हुई। मै ड्राईवर के पास अगली सीट पर बैठा हुआ था। अचानक मुझे एकदम भान आया और मैने अपने पैर आगे को फैलाये तो वे ब्रेकपर जा पडे। मैने खुब जोर से ब्रेक दबा दिया। ईश्वर की कृपा से उस समय तक हमारी मोटर इन सब आफतोंमें से गुजरती हुई एक नेटीव के खुदे हुए (जुते हुए) खेत में जा पहोंची थी। अतः ज्योंही जोर से ब्रेक दबा कि, मोटर के पहिये जमीन में गढ गये और किसी न किसी तरह वह वहीं रुक गई। मोटर के खडे होतेही हम सब के होश ठिकाने आए। हम सब मोटर से नीचे उतरकर उस दुर्घटना की भयंकरता का ख्याल करते हुए एकदूसरे की कुशल पूछने लगे। हमने जब सबको ठीक ठीक पाया, तो उस अपार दयालु परमात्मा का धन्यवाद करने लगे।

हमारी मोटर जहांपर जा खडी हुई थी, उस के चारों ओर का स्थान देखनेपर हमें ज्ञात हुआ कि, यदि हमारी मोटर थोडीसी भी आगे जाती, तो एकदम बडे भारी गढेमें गिरकर चूरचूर हो जाती। हम अब भी जब उसकी कल्पना करते हैं तो एक बार तो हम सबको कंपकंपी हो आती है। अस्तु। अब हमारे सामने यह सवाल उपस्थित हुआ कि, हम हैं कहां? हम चारों तरफ नजर दौडाने लगे। यद्यपि चांदनी रात थी, पर जंगल और झाडियों की वजह से कुछ पता न चलता था। हम अब भी रास्ता ढूंढने की कोशिश करते हैं कि, इतने में हमसे पिछली तीसरी मोटर का प्रकाश आता हुआ दिखाई दिया। हम उसे खडी करने के लिए रास्ते की ओर दौडे। आवाजें लगाईं। परन्तु रास्ते तक पहोंचते पहोंचते तो वह मोटर निकल गई। हमारी आवाजें भी उसे सुनाई नही पडीं। अब सिर्फ एक मोटर और पीछे बाकी थी। हम रास्ते पर खडे होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। कोई १५ मिनिट के बाद वह भी आती हुई प्रतीत हुई। हमने उसे खडा किया और संक्षेप में हमारा वृत्तांत कह सुनाया। हम सबने मिलकर हमारी मोटर को रास्तेपर ले आनेका सोचा और तदनुसार उसे ले आनेके लिए सब वहांपर गये। हम ७-८ आदमी तथा मोटर के ऐंजिन ने मिलकर मोटर को किसी भी तरहसे अपनी जगह परसे हिला था। मोटर के थोडासा हिलने पर हमें कुछ कुछ आशा बंधी। आखिरकार जैसे तैसे बडी महेनत के पश्चात् मोटर को रास्तेपर ले आने में समर्थ हुए। इस तमाम धमाल की वजह से उस खेतका नेटीव मालिक भी हमारी मदद को आया। उसने ठंडा पानी मोटर को पिलाने के लिए मोटर में डालने के लिए ला दिया।

मोटर रास्तेपर ले आने के पश्चात् यह सवाल

उपस्थित हुआ कि अगर यह मोटर हमें अब आगे ले जाने में समर्थ है या उसे वहीं छोड दिया जाय और हम आगे जानेका कोई उपाय सोचें। यदि मोटर बिगड ही गई हो, तो हम पैदल चलकर वहां से ९-१० मील दूर एक जीनरी थी, वहांपर पहोंच जायं। हममें से बहुत से तो सिर्फ मोटर में बैठना ही जानते थे। अतः यदि कोई वहां तज्ञ हो सकते थे, तो वे हमारी दोनों मोटरों के नेटीव ड्राईवर और एक दो हममें से, जो कि थोडाथोडा मोटर हांकना जानते थे। किसी भी चीज में अर्धदग्ध आदमी से कितनी दुर्दशा होती है, इस बातका हमें पूर्ण रूपसे उस रोज अनुभव हुआ। असल बात यह थी कि, हममेंसे एक भी ऐसा न था कि, जो मोटर की मैकेनिक्सको ठीक तरह से समझता हो। हमारी मोटर का सिर्फ एक ओर का मडगार्ड ज्यादा पिचक गया था। वह पहिये से इतना ज्यादा छूता था कि, उससे पहिये के साथ विशेष संघर्षण होनेसे पहिया आराम से घूम नहीं सकता था। बस, इतनी ही खराबी हमारी मोटर में हो पाई थी। इस खराबी का दूर करने के लिए हमने मोटर का अगला पहिया खोलकर उसे ठोक पीटकर ठीक करने का प्रयत्न किया। हमारे पास किसी भी तरह के वहां साधन न हो नसे मडगार्ड जितना ठुकना चाहिए, उतना ठुक नहीं सका। हमने दो दो बार पहिया चढाया और उतारा पर मडगार्ड संतोषजनक स्थिति में न आ सका। इतने में दूसरी बार पहिया चढाते हुए हमारे नेटिव ड्राईवर के दिमाग को कुछ और दूसरी खराबी सूझी। उसने उस खराबी को इतने भयंकर बताया कि, उसके रहते हुए चाहे मडगार्ड ठीक हो जाय, तो भी मोटर हांकना ठीक नहीं। क्योंकि उस हालत में मोटर जरासा भी हांकने पर कहीं टेढीमेढी चली जायेगी और भयंकर दुर्घटना होनेकी सम्भावना बनी रहेगी। पहलेसे ही डरे हुओं के लिए यह डर काफी था। हम सब उस मोटर की आशा छोड बैठे। अब दूसरी मोटर के आदमियोंने हमें वहीं छोडकर जानेका निश्चय किया। उन्हें नींद सता रही थी, अतः वे किसी भी हालत में हमारे लिए ठहरने को तैयार नहीं थे। हमसे यह कहकर कि यदि कोई और मोटर या लौरी मिल जाय, तो उसमें चले आना। अथवा तो हम कंपाला पहोंचकर कल दुपहर तक दूसरी कोई लौरी भेजनेका इन्तजाम करेंगे!!! हम लाचार थे। मन मसोसकर रह गये। उनके जानेपर एक तरफ सरदी और दूसरी तरफ मच्छर, दोनों ने हमें परेशान करना शुरू किया। थोडासा समय भी वहां बिताना हमारे लिए दुश्वार हो गया।

ऐसी दशामें हम सबने यह निश्चय किया कि, अब चाहे कुछ भी हो जाय हम मोटर का मडगार्ड निकाल डालते हैं और धीरे धीरे ५ मील की चालसे कमसे कम १० मील दूरकी जीनरी तक पहोंचने का प्रयत्न करें। बस फिर क्या था। मडगार्ड निकालने लगे। कोई एक घण्टा लगातार प्रयत्न करनेपर भी मडगार्ड निकल न सका। आखिरी एक पेंच ऐसा रह गया, जो किसी भी तरह निकलता न था। हमने उसे उसी हालत में ऊपर उठाकर ऐसा ऊंचा बांध दिया कि, जिससे वह पहिये को छूने न पावे। हम इस प्रयत्न में सफल हुए। इसके बाद सब मोटर में बैठ गये और ऐंजिन को चलाया। फौरन ऐंजिन भी चालू हो गया। धीरे धीरे मोटर चलने लगी। यहां तक कि वह ३० से ३५ मील की गतिसे चलाने पर भी वैसे ही चलती हुई मालूम दी, जैसी कि अच्छी हालत में चलती थी। यह देखकर हमारे हर्ष का पार न रहा। हम धीरे धीरे सबेरे ८-९ बजे कंपाला पहोंच गये। (क्रमशः)

अहिंसा।

(लेखक- श्री० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर यू. पी.)

अहिंसाधर्म की विवेचचा प्रारंभ करने से प्रथम अहिंसा से भिन्न दूसरे दैवी धर्मों का यह स्वभाव अहिंसा के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये कि, जिस प्रकार दूसरे सब धर्मों का केवल अपने आपेसे सम्बन्ध है, इसी प्रकार अहिंसा का भी केवल अपने आपेसे सम्बन्ध है, दूसरों से नहीं। अर्थात् अहिंसा अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रहती है।

मनुष्य की हिंसा या अहिंसा किन्हीं दूसरे मनुष्यों पर प्रयुक्त होनेवाले धर्म नहीं है। मनुष्य अपने आप ही अपनी हिंसा या अहिंसा कर सकता है। मनुष्यके ऊपर अपनी ही हिंसा या अहिंसा का उत्तरदायित्व है। मनुष्य से दूसरे की हिंसा या अहिंसा होने की कोई सम्भावना नहीं है। इससे दूसरे की हिंसा न हो जाय, इस वृथा बात के लिये किसी को भी चिन्ता मनाने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को केवल इतनी बातका ध्यान रखना चाहिये कि, कहीं मुझसे मेरी हिंसा न हो जाय! जब मनुष्य अपनी हिंसा या अहिंसा कर चुकेगा, तब दूसरों पर उसके चाहे जैसे बाह्य परिणाम पड जाय, उनको मनुष्य की अपनी ही हिंसाअहिंसा से दूसरा कोई भी नाम नहीं दिया जा सकता।

अहिंसाधर्म के जितने विवेचन मिलते हैं, उन में इस उपर्युक्त सिद्धान्तकी प्रायः उपेक्षा पायी जाती है। इन विवेचनों ने यह मान लिया है कि, अहिंसा दूसरों पर प्रयुक्त होनेवाला धर्म है। विचार से इन विवेचनों की असारता सिद्ध होती है। अहिंसा आत्मधर्म है। इस धर्म का दूसरों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इतना ही नहीं जिस हिंसा शब्द के संयोग से अहिंसा शब्द बना है, उस हिंसाका भी दूसरों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस बातको स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहना चाहिये कि, मनुष्य अपनी ही हिंसा या अहिंसा कर सकता है। दूसरे की हिंसा या अहिंसा से दूसरों का कोई सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य न तो किसी दूसरे की हिंसा कर सकता है और न किसी दूसरेकी अहिंसा कर सकता है। जो मनुष्य दूसरों के साथ बुरा बर्ताव करता है, उसके बुरे बर्ताव के लिए 'हिंसा' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है। दूसरों के साथ बुरा बर्ताव करनेवाले की अपनी ही हिंसा होती है। बुरा बर्ताव, बुरा बर्ताव करनेवाले की ही हिंसा अर्थात् पातित्य है।

हिंसाअहिंसाको पराश्रित या परसंबद्ध धर्म माननेवाले विवेचनों ने इन धर्मों को दूसरों के जी दुखाने का पर्यायवाची शब्द सिद्ध करने की चेष्टा की है। उससे अहिंसा धर्म का प्राण नष्ट हो गया है। दूसरों का जी दुखाना हिंसा नहीं है, किन्तु दूसरोंका जी दुखाने की भावना आना हिंसा है और वह दूसरेकी नहीं अपनी ही हिंसा है। हिंसाअहिंसा दोनों भावना हैं। ये दोनों मानसधर्म हैं। हिंसाअहिंसा शब्दों के अर्थों में मारने या न मारनेरूपी शरीर-व्यापारका समावेश नहीं है। हिंसा पातित्य है, तथा अहिंसा धर्मारूढता है; इतनी बात तो सबही मानते है। इसी मन्तव्य के आधार से हिंसाअहिंसा की खोज की जानी चाहिए। यदि हिंसा शब्द का अर्थ मारना हो, तो मारने को निश्चित रूपसे पातित्य मान लेना पडेगा और तब रावण को मारनेवाले रामको भी पतित अर्थात् हिंसक कहना पडेगा। परन्तु रामके रावण को मारने को कोई भी पातित्य अर्थात् रामकी की हुई हिंसा माननेको उद्यत नहीं है। राम सर्वसंमत-रूपमें धर्मारूढ माने जाते हैं। रावणदलन रामके जीवन का जगमगाता हुआ पहलू है। सम्पूर्ण संसार रामके इस कामका समर्थक है। समर्थन का यह अर्थ है कि, राम का रावण को मारना संसार की दृष्टिमें रामकी धर्मारूढता या अहिंसा है। इसी प्रकार यदि

अहिंसा शब्दका अर्थ 'न मारना' हो, तो इस न मारने की परिभाषाके अनुसार अहिंसक राम को अहिंसक नहीं कहा जा सकेगा। प्रत्युत हिंसाशील कहना पडेगा, जो कि कदापि अभीष्ट नहीं होगा। इस दृष्टि से मारना या न मारना ये दोनों अर्थ हिंसा-अहिंसा शब्दके अनर्थ माने जाने चाहियें।

मारना सदा अनुचित ही हो और न मारना सदा उचित ही हो, इस बातको सिद्धान्तरूप में मानने को कोई भी विवेकशील कदापि उद्यत नहीं हो सकता। राम-रावण के उदाहरण में रावण को मारना अनुचित नहीं है तथा न मारना उचित नहीं है। जब कोई डाकू आकर अधिकार को लूटने लगता है, तब उसे मारना पडता है और मारना ही चाहिये। उसे न मारना कदापि समर्थनयोग्य स्थिति नहीं है। मनुष्यत्व को तिलांजलि देनेवाला ही ऐसा कर सकता है। ऊपर के उदाहरण ने यह सिद्ध कर दिया कि, मारना हिंसा शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, तथा न मारना अहिंसा शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। अर्थात् अहिंसा को न मारने के साथ सीमित नहीं किया जा सकता।

यदि आततायियों को न मारने को भी सिद्धान्त-रूपमें अहिंसा का अर्थ मान लिया जायगा तो बडा भारी अनर्थ खडा हो जायगा। तब दुष्टों दस्युओं तथा परद्रव्यापहारियों का बोलबाला हो जायगा। तब समाजव्यवस्था छिन्नभिन्न हो जायगी। इसी-लिये समाज किन्हीं भी सिद्धान्तवादियों के कथन मात्रसे समाजको सुव्यवस्थित रखनेवाले अपने दुष्ट-दमन के अधिकार को कदापि नहीं त्याग सकता। दण्ड अपराधी का नित्य साथी है। अपराधी ही दण्डका स्रष्टा है। वही अपराध करके दण्ड को बुलाता है। वह अपने कुकृत्यसे मनुष्यसमाज को अपने को शासित करने का निमन्त्रण देता है। उसे दण्ड मिलने में उसी का कर्तृत्व रहता है, दण्डदाता का नहीं। दण्डदाता उसे दण्ड देकर भी अहिंसक ही बना रहता है। यदि दण्डदाता किसी प्रकार की निर्बलता के वश में आ जाय, वह दण्ड न देने में भी कुछ भौतिक लाभ देखने लग जाय और अपने अपराधी को दण्ड न दे, तो वह अपना हिंसक हो जाय।

जब कभी शारीरिक बलप्रयोग के द्वारा दुष्टदमन करना आवश्यक कर्तव्य हो जाता है, तब "किसी को कभी न मारना," यह परिभाषा अहिंसा की दूषित परिभाषा हो जाती है। परिभाषा ऐसी होनी चाहिये, जो अपने सम्पूर्ण उदाहरणों में बिना अतिव्याप्ति, अव्याप्ति के लागू होती चली जाय। इन सब दृष्टियों को साथ रखकर हिंसा-अहिंसा का जो परिभाषा होगी, वही सर्वमान्य परिभाषा होगी।

प्रश्न होता है कि फिर हिंसा अहिंसा की अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों से रहित निर्दोष परिभाषा क्या है? उत्तर यही है कि, अपने मनको पतित होने देना अपनी 'हिंसा' तथा अपने मनको पतित न होने देकर उथित रखना अपनी 'अहिंसा' है। जहां हिंसा कहा जाता, वहां उसका वास्तविक अर्थ अपनी हिंसा होता है। इसी प्रकार जहां अहिंसा कहा जाता है, वहां उसका अर्थ अपनी अहिंसा होता है। काम-क्रोध-लोभ-मद-मत्सर आदि आना मन के पतित होनेकी अवस्था है। अर्थात् कामी-क्रोधी-लोभी-मद-मत्सर-युक्त होना अपनी 'हिंसा' कर डालना है। इन सब मानसिक शत्रुओं को जीत लेना 'अपने को अहिंस्य रखना' है। काम आदि शत्रुओं पर विजय पाने से आत्मा की रक्षा होती है। यदि 'अहिंसा' कहाती है।

अपने आत्मा की रक्षा करना अर्थात् अपनी मानसिक अवस्था को सुरक्षित रखना 'अहिंसा'-धर्म है। अपने को पतित न होने देना, 'अहिंसा' है। सत्यासत्य का विचार करके जो सत्य प्रतीत हो, केवल उसी से अपना सम्बन्ध रखो, असत्यसे संबंध मत जोडो। जुडा हुआ हो, तो तोड दो, यही अपनी 'अहिंसा' है। जब मनुष्य के सामने इस प्रकार का प्रसंग उपस्थित हो कि, असत्य से नाता जोडें या सत्यसे नाता रखें? उस समय असत्य की उपेक्षा

करके सत्य की रक्षा करो, यहाँ हिंसासे बचना या 'अहिंसा' है। संक्षेप में भूल करने से बचना ही 'अहिंसा' है।

सत्य मनुष्य का स्वरूप है। वह मनुष्य के भीतर सब समय स्वाभाविक रूपसे है। सत्यके साथ मनुष्य का स्वाभाविक संबन्ध है। इसलिये मनुष्य को सत्य के साथ रहना चाहिये और असत्य को त्याग देना चाहिये। क्योंकि असत्य से उसका संबन्ध अस्वाभाविक होता है। जब मनुष्य किसी ढंगकी भ्रान्तिमें फंस जाता है, तब ही उसके मनमें असत्य को ग्रहण कर लेनेका प्रश्न उठ खड़ा होता है। उस समय मनुष्य आत्मस्वरूप सत्यको भूल जाता है। सत्य को भूल जाना ही असत्य को ग्रहण करना है। असत्य को अपनाना हिंसा या आत्मघात है। अपने सत्यरूप में दृढ रहना अहिंसा है।

जिस भ्रान्ति से सत्यको भूल जाने की घटना होती है, वह भ्रान्ति काम क्रोध आदि शत्रुओं के रूपमें प्रकट होती है। मनुष्य अपने को इन रिपुओं से आक्रान्त न होने देनेके लिये सदा सावधान बना रहे, यही आत्मरक्षा या 'अहिंसा' है। रिपुओं के वशमें आ जाने से मनुष्य का अकल्याण होता है। अपना अकल्याण करना, अपनी 'हिंसा' करना, तथा अपना कल्याण करना अपनी 'अहिंसा' है।

अहिंसा का मार्ग कल्याण का मार्ग है। मनमें शुभ चिन्तन का प्रवाह बहता रहे, यही कल्याण का एक-मात्र मार्ग है। अपने को प्रत्येक क्षण पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दस्वरूप रखना शुभ चिन्तन है। मन में शुभ चिन्तन का अखण्ड प्रवाह बहते रहना ही 'परमात्मा' है। शुभ चिन्तनमें दृढ रहना, तथा अपने स्वाभाविक सत्य रूपमें निवास करना दोनों एक बात हैं। स्वरूप में रहना आत्मा की स्वाभाविक अर्थात् हिंसाशून्य अवस्था है। जब आत्मा स्वरूपस्थ नहीं रहता और बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो जाता है, तब उसे व्याकुलता आदि दुःखदायी भाव सताने लगते हैं। स्वरूप में अवस्थान किये बिना आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। आत्मा को शान्तिदायक स्वभाव में रखना, आत्मरक्षा या 'अहिंसा' है। इससे विचलित हो जाना, आत्महत्या या 'हिंसा' है।

अपनी पूर्णता, भ्रमशून्यता, पवित्रता, तथा आनंद-रूपता को किसी भी क्षण न भूलना ही सफल जीवन है। इस पवित्र विचारधारा को त्याग देना, सत्य-स्वरूप आत्मा से वियुक्त हो जाना है। यह मृत जीवन का चिह्न है। मनुष्य ने इसीलिये मनुष्यदेह धारण किया है कि, वह अपने में इस शुभ चिन्तारूपी परमात्मा को जगाये रखकर, जीवनके प्रत्येक अवसर या घटना में मृत्यु से बचा रहे। अर्थात् अमर रहकर अमरता की रक्षा करता रहे। इसी को मनुष्यता कहा जाता है। मनुष्यदेह इसी मनुष्यता की रक्षा करने के लिये बनाया गया है। यदि मनुष्य को मनुष्यता की रक्षाके नामपर इस देहको त्यागना भी पड़ जाय, तब भी मनुष्यता की रक्षा हो जाती है, जीवन की रक्षा हो जाती है, आत्मा की रक्षा हो जाती है और अहिंसक बने रहना आ जाता है। यदि मनुष्य अपने देह तथा उपकरणों की रक्षा करता हुआ, मनुष्यताको तिलांजलि दे बैठे, अर्थात् मनपर अशुभ चिन्तन को आधिपत्य जमा लेने दे, तो मनुष्य जीवनकालमें ही मृत हो जाता है। वह आत्मघात कर लेता है। उसकी हिंसा हो जाती है। पूर्णता, भ्रमशून्यता, पवित्रता तथा आनन्दरूपता का विरोध करनेवाली प्रत्येक चिन्ता अशुभ चिन्तन या 'हिंसा' है।

किसी को हानि पहुंचाना हिंसा शब्दका अर्थ इसी-लिये नहीं है कि, मनुष्य को किसी भी दूसरे को हानि पहुंचाने का अधिकार नहीं है। यद्यपि दूसरों को हानि पहुंचाना चाहनेवाले लोग संसार में हैं। परन्तु वे भ्रान्तमार्ग पर हैं, यह तो सारा ही संसार मानता है। ऐसा क्यों मानता है? उसका यही कारण है कि किसी को किसी दूसरे को हानि पहुंचानेका अधिकार नहीं है। अधिकार से बाहर पैर डालना ही भूल है। मनुष्य केवल दूसरों को हानि पहुंचाने की दुष्ट भावना को क्रियात्मक बाह्य रूप दे सकता है। दूसरे को हानि पहुंचना सृष्टिव्यवस्था की इच्छापर निर्भर होता है। अपने दुष्ट विचारों को बाह्य क्रिया-

रूपमें प्रकट करना ही 'किसी को हानि पहुंचाना' है। ऐसी क्रिया का बाह्य परिणाम चाहे जो कुछ हो, परन्तु उस दुष्ट भावना के आते ही मनुष्य की अपनी हिंसा हो चुकती है। मनुष्य अपनी ही रक्षा और अपनी ही हिंसा करने का अधिकार रखता है। आत्मरक्षा या आत्मनाश के साथ प्रत्येक मनुष्य का केवल अपना सम्बन्ध है। अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करना मनुष्य का स्वधर्म है। दूसरों के कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करना शुभ चिंतन का विरोधी है, अनधिकार है, तथा मनुष्य की हिंसा है।

यदि मनुष्य इस विचार में फंस जायगा कि, मेरे इस काम से औरों की हिंसा होगी या नहीं? अथवा मेरे इस काम से दूसरों की रक्षा होगी या नहीं? तो मनुष्य अपने हाथ से अपनी शांति को खो बैठेगा। ऐसे विचारों में पडते ही मनुष्य भ्रममें फंस जायगा, अनधिकार प्रवेश करेगा, तथा अपनी हिंसा कर लेगा। कहा जा चुका है कि, दूसरों की हिंसा-अहिंसासे दूसरों का कोई संबन्ध नहीं है। जब मनुष्य अपने मनमें दूसरों को हानि या लाभ पहुंचाने के विचार लाता है, उस समय वह अज्ञानी बनता है, अनधिकार करता है और अपनी हिंसा करता है। बात तो यहां तक है कि, मैं दूसरों को लाभ पहुंचाऊंगा, मैं दूसरों का कल्याण करूंगा, इस विचार से भी मनुष्य की हिंसा होती है। यह स्वरूप को भूल जानेकी अवस्था है। मिथ्या अहंकार से इस प्रकार की भावनाओं का उदय होता है। मनुष्य को दूसरों को हानि या लाभ पहुंचाने का न तो अधिकार है और न सामर्थ्य है। अधिकारहीन काम में हाथ डालना या दूसरों के अधिकार का अपहरण करना, अपनी हिंसा करना नाम का अपराध है।

मनुष्य अपने काम क्रोध आदि विकारों के वश में आ जानेका विचार या निर्णय स्वयं ही कर सकता है। दूसरों के काम आदि विकारों के वशमें आनेका विचार तथा निर्णय दूसरे ही कर सकते हैं और उन्हें ही इसका अधिकार है। इस विषयमें हमारा सामर्थ्य तथा अधिकार नहीं है। इस प्रकार के विचार करना हमारा कर्तव्य नहीं है। जब हम इस प्रकार के विचार करेंगे, तब आत्मचिन्ता या स्वविचार छोडकर पर-चिन्ता में फंस जांयगे। अपने उत्तरदायित्व से हट जाना आत्महत्या या हिंसा है। यही 'सत्य से च्युत हो जाना' है। यही 'मृत्यु' है। यही 'मनुष्यता से पतन' है। उदाहरण के रूपमें-यदि कोई व्याघ्र. अरण्यवासी गाय या बकरे को खाय और हम उस व्याघ्र को हिंसक मान कर गाय तथा बकरे की रक्षा करनेरूपी अहिंसाधर्म में तत्पर होकर व्याघ्र को पकडवा कर, पींजरे में बन्द करके, उसे घास खाकर जावित रहने के लिये विवश करें, तो हमारी अहिंसा व्याघ्रहत्या के रूपमें परिवर्तित हो जायगी। हां, कभी कभी ऐसा अवसर आता है, जब हमें व्याघ्र आदि के सम्बन्ध में अपने कर्तव्याकर्तव्य का विचार करना पडता है। वह तब आता है, जब कोई व्याघ्र आदि जन्तु हमारी पालतू गाय या बकरे आदिपर आक्रमण करे। उस समय हमें यह विचार करना पडता है कि, न तो हमने इस गाय या बकरे को व्याघ्र की पेटपूजाके लिये पाला है और न इस अवसर पर मिथ्या अहिंसक बनकर, उसका विरोध त्यागकर, अर्थात् उसपर उचित आक्रमण न करके उसके पेटमें चला जाना, हमारे जीवनका लक्ष्य है। ऐसे समय हमें यही समझना पडेगा कि, इस व्याघ्र का यह आक्रमण हम पर ही हुआ है। इसने हमारे न्यायसंगत अधिकार पर आक्रमण किया है। इसने हमारी मनुष्यता पर आक्रमण किया है। ऐसे अवसर पर व्याघ्र का विरोध करके गाय आदि की और अपनी रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। व्याघ्र को प्रसन्न करना हमारा कर्तव्य नहीं है। ऐसे समय छलबलकौशल आदि सबही उपायों को प्रयोग में लाकर व्याघ्र की हत्या करना हमारा उत्तरदायित्व-पूर्ण कर्तव्य हो जाता है। इसीको हमारी अहिंसा कहा जाता है। इस कर्तव्यको न पालना हमारी हिंसा है।

जब कोई मनुष्य कर्तव्यभ्रष्ट होकर दूसरे के अधिकार पर अनधिकार आक्रमण करता है, तब वह

कर्तव्यपालनार्थी पुरुष को अपने पर वार करने के लिये विवश करता है। दूसरों के अधिकार पर आक्रमण करनेवाला अपने आप अपनी मौत बुलाता है। ऐसे अवसर पर कर्तव्य की दृष्टि से किसीपर वार करना अहिंसा है। यह किसी भी प्रकार हिंसा नामक अपराध नहीं है। यह तो कर्तव्यपालन नामक श्रेष्ठ धर्म है। इससे अहिंसा का कोई विरोध नहीं है। जब कर्तव्य की दृष्टि से मारने का अवसर आता है, तब मारना पड़ता है और मारकर ही अहिंसा धर्म का पालन होता है। ऐसे समय मनुष्यके सामने अपनी मनुष्यता की रक्षा करनारूपी कर्तव्य आकर खड़ा हो जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था ही ऐसे कर्तव्य भेजती है। ऐसे कर्तव्य से च्युत हो जाना, आत्महिंसा या हिंसा है। उदाहरण के रूपमें-यदि कोई अहिंसक मानी पुरुष व्याघ्र तथा उससे आक्रान्त गाय आदि के बीचमें खड़ा होकर हथियार छूनेके महापराध से बचाये हुए नंगे हाथों को जोड़कर उससे प्रार्थना करने लगे कि, हे व्याघ्रप्रवर। आप इस घास खानेवाली अहिंसक गायको हत्या करनेरूपी हिंसक कर्म को छोड़ दीजिये और जंगल को लौट जाइये। यदि आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार न करो, तो हमारे शवको पददलित करके हमारी गाय को खा लीजिये।

ऐसे विचारहीन आचरणों का निश्चयपूर्वक यही अभिप्राय निकाला जायगा कि, वह व्याघ्र तथा उसके शिकारके बीचमें खड़ा हुआ प्रार्थी मनुष्य, आक्रमणकारी आततायी को प्रार्थना पूर्ण करनेवाले दयालु के गौरवपूर्ण आसनपर बैठाकर, अपनी क्लीबोचित नम्रतासे, उस दुष्टके घृणित पापका समर्थन करके, उस दुष्टसे अपनी अहिंसा का प्रमाणपत्र लेकर, अपनी यशोभिलाषा को तृप्त करके, उसके पाप का शिकार बन रहा है। ऐसा करना अपनी मनुष्यता की हिंसा करनारूपी हिंसा है। ऐसे आचरणों को अहिंसा का नाम नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार के आचरणोंसे मूढ़ता बढ़ती है और आत्मविस्मृतिरूपी हिंसा होती है। यदि अहिंसा शब्दको मूढ़ता का पर्यायवाची होने से बचाना हो, तो इस आचरण को अहिंसा के अर्थ से बहिष्कृत रखना पड़ेगा। अहिंसा शब्दकी परिभाषा करते समय यह ध्यान रखना पड़ेगा कि, कहीं अप्रतिकार, अदक्षता, मूढ़ता, स्वकार्यनाश या दुष्टोंकी दुष्टता का समर्थन आदि किसी भी प्रकार की निर्बलता, अहिंसा शब्द के अर्थ में प्रविष्ट न हो जाय। अहिंसाको निर्बलताओं का पर्यायवाची होनेसे बचाना ही पड़ेगा।

मनुष्यको यह बात स्पष्ट रूपसे जाननी चाहिए कि, शत्रुता करनेवालों के साथ मित्रबांधवों के समान विश्वास का सम्बन्ध नहीं रखा जा सकता। इसी कारण से इनके साथ विश्वासघात नाम का दोष नहीं लगता। जहां विश्वास का सम्बन्ध होता है, वहीं विश्वासघात का दोष लगता है। चोर, डाकू तथा शत्रुके साथ मनुष्य का अविश्वासका संबन्ध होता है। इसी कारण से इनके साथ छलबलकौशल आदि सब उपायों का प्रयोग करने पर भी इनसे मनुष्य की हिंसा नहीं होती। इनको धोका देकर भी आत्माकी रक्षा होती है। मनुष्य इन्हें ठगकर भी अधर्मात्मा नहीं हो सकता। प्रत्युत इन दुष्टों के साथ विश्वास का संबन्ध जोड़ने का इच्छुक मनुष्य भूल करता है। वह इन दुष्टों का विश्वास कमाने के लोभ में फंसकर अपने ही कार्य का नाशक, तथा अपने ही सत्य के प्रति विश्वासघाती बन जाता है। अनधिकारीको अनधिकारसे वंचित रखनेमें न कोई अपराध है और न कोई नियम है। उसे चाहे जिस उपाय से उसके अनधिकार से वंचित किया जा सकता है। ऐसा कर देने में कोई पाप नहीं है। प्रत्युत पुण्य है। पतन तो वहां होता है, जहां विश्वास के संबन्ध को तोड़ा जाता हो।

छलबलकौशलका यही अभिप्राय है कि, मनुष्य किसी को भी अपने को हानि पहुंचाने का अवसर न देकर अपना काम बना ले। यदि मनुष्य अपने भोलेपनसे अर्थात् धर्मात्मापनके आवेशमें फंसकर दूसरों को अपनी हानि करने का अवसर देता है,

तो यह उसकी बेसमझी है, अहिंसा नहीं। यह अकुशलता है। शक्ति से हीन हो बैठना आत्मस्वरूपको अर्थात् अपने अधिकारों को भूल जाना अथवा यशोभिलाषा जैसी किसी मानसिक निर्बलता से मस्तिष्क का चक्कर में आ जाना समझ की भूल है। जिस मनुष्य को ऐसी भूल करता देखो, समझो कि, वह किसी रिपुके अर्थात् किसी निर्बलता के अर्थात् किसी प्रकार के सांसारिक लालच के वशमें फंस गया है।

बहुधा मनुष्य सत्यवादीपन के भ्रम में फंसकर भूल से यह समझ लेते है कि, हमें अपने सब उपाय शत्रु के सामने खोलकर रख देने चाहियें। परन्तु इस मन्तव्य में सचाई का अभाव है। शत्रुको शत्रु होने के नाते हमारी कोई भी बात जानने का अधिकार नहीं है। शत्रु को अपनी बात बताने का हमारा भी कोई अधिकार नहीं है। किसी ढंग की मानसिक निर्बलताके आनेपर ही शत्रुसे इस प्रकार का अनुचित सम्बन्ध जोडने की इच्छा होती है। अपने सब उपाय शत्रु के सामने खोलकर रख देनेका अभिप्राय यही है कि, ऐसा करनेवाला मनुष्य या तो अपने शत्रु का विश्वासपात्र बनना चाहता है, या उसका प्रमाणपत्र लेना चाहता है।

इस प्रवृत्तिका हार्दिक भाव यह है कि, ऐसा करनेवाले मनुष्य को अपनी आत्मशक्तिपर कोई विश्वास नहीं है। उसका इस प्रकार की निर्बलता पर विश्वास जम गया है कि, यदि मेरा शत्रु मुझपर विश्वास करेगा, तो इससे मेरा कुछ भौतिक लाभ हो जायगा। इस प्रकार के विचार स्पष्ट रूपसे मनुष्य की हिंसा हैं। शत्रु हमें कुछ लाभ पहुंचा दे, यह विचार अपनी हिंसा है। यह विचार अपने स्वरूप का घोर अपमान है। शत्रु से भीख न मांगना, उससे कृपा न चाहना, उसे पराजित करना, उससे मित्रता न जोडना, उसे कभी क्षमा न करना, यही मनुष्य की 'अहिंसा' है। इसे न करना अपनी 'हिंसा' है। इसे न करना अपनी निर्बलता को स्थायी रखना, शत्रु की कृपापर निर्भर रहना, तथा आत्महत्या करना है। वास्तविक शत्रु बाहर नहीं है। मन की निर्बलता ही मनुष्य का वास्तविक शत्रु है। इस निर्बलतारूपी शत्रु को नष्ट कर देनेवाले मनुष्य अपने बाह्य शत्रुओं के साथ जो कुछ बर्ताव करते हैं, वही उनकी 'अहिंसा' अर्थात् निर्वैर अवस्था कहाती है। अपनी ओरसे निर्वैर रहना ही अहिंसक का उत्तरदायित्व है। दूसरे को अपनी निर्वैरता समझाना अहिंसकों का उत्तरदायित्व नहीं है।

निर्वैर रहना शक्तिमानों का काम है। शक्तिमानों की शक्ति का यही स्वरूप है कि, वे कभी किसी आततायी दुष्ट को अपने से अधिक शक्तिशाली स्वीकार नहीं करते। वे अपने प्रतिपक्षी बडे से बडे सम्राटों को भी मच्छर और भुनगे के समान समझते हैं। अपने विरोधी को अपने से अधिक शक्तिमान् स्वीकार न करना ही शत्रु के अस्तित्व को अस्वीकार करके निर्वैर हो जाना है।

शत्रु के प्राण हरने के साथ भी निर्वैर होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राणहरण से निर्वैर बनने की इच्छा अज्ञानियों की इच्छा है। ज्ञानी लोग शत्रु के अस्तित्वकी उपेक्षा करके, उसे मक्खी-मच्छर के समान मानकर, निर्वैर बनते हैं। वे संसार से शत्रुओं को हटाने की असंभव इच्छा के झगडे में न पडकर अपने मनमें से पशुबलके भयको कान पकडकर बाहर कर देते हैं। वे आततायी को मारकर अपनेको शत्रुहीन मानने की भ्रान्ति कभी नहीं करते। किन्तु जब कभी अपनी मनुष्यता की रक्षाकी दृष्टिसे उस शत्रु के शत्रुताचरणरूपी मूर्खतापूर्ण व्यवहार का उत्तर देना कर्तव्य बनकर आता है, तब कर्तव्यदृष्टि से उस का प्रत्युत्तर देकर अपनी मनुष्यतारूपी निर्वैर अवस्था की रक्षा करते हैं। वे किसी बाह्य शत्रु के शरीर में भौतिक शस्त्रों से चोट करके अपने भौतिक देह को शत्रुहीन या निर्वैर बनाने के भ्रम में कभी नहीं फंसते। ज्ञानी अपने शरीर को निर्वैर बनाने की भूल में न फंसकर अपनी ओरसे अपने मनको निर्वैर रखते हैं।

अपने से वैर करनेवालों की उपेक्षा करना, उनके

अस्तित्व को अस्वीकार करना ही निर्वैर होनेका अभिप्राय है। मनुष्य जिसके अस्तित्व को अस्वीकार कर देता है, अर्थात् जिसे अपने मनपर से उतार देता है, जिसे वह उपेक्षा की आंखसे देखने लगता है, वह उसकी दृष्टि में मृत हो जाता है। वैरियों के अस्तित्व को अस्वीकार करने के अर्थात् उन्हें अपने चित्त से उतार देनेके अतिरिक्त निर्वैर होनेका दूसरा कोई भी मार्ग संसार में नहीं है। वैरी मारनेसे नहीं मरते। प्रत्युत मारने से बढते हैं। उपेक्षा की मार पडतेही वैरियों का बीज नाश हो जाता है। जो मनुष्य वैरीके शरीर पर चोट करके अपने को निर्वैर बनाना चाहता है, वह तो वैरी के अस्तित्वको स्वीकार कर लेता है। इस उपाय से, संसार से वैरियों का लोप नहीं होता। एक को मार देनेपर दूसरा वैरी आकर खडा हो जाता है। ऐसे उपाय से वैरी जीवित रह जाते हैं। यदि तुमने अपने मनमें वैर अर्थात् उस का भय रख छोडा है, तो तुमने अपने वेरियों को अमर बना दिया है। यदि तुम्हारे मन में वैरी के शरीर में आघात करके उसे मारकर निर्वैर बनने की कल्पना हो, तो समझ लो कि, तुम अपने आपको अपने से अधिक शक्तिमान् वैरियों के अधीन किए बैठे हो।

हां, यदि किसी शत्रुता करनेवाले मूढने अपनी मूढता से किसी निर्वैर मानसिक स्थिति रखनेवाले मनुष्य को अपने दुष्ट व्यवहार से अपने ऊपर अस्त्राघात करने के लिए विवश किया हो और वह (अपनी ओर से निर्वैर रहनेवाला मनुष्य) कर्तव्य समझकर उसपर अस्त्र का वार करके उसे आत्महत्या-रूपी मृत्यु के घाट पहुंचा दे, तो उस मृत्युका कर्तृत्व (अर्थात् उत्तरदायित्व) उस (निर्वैर) पर नहीं होता। किंतु जिसकी मूर्खता से उत्पन्न हुए कर्तव्यने उसे अस्त्राघात के लिए विवश किया हो, उसी आततायी पर रहता है। ऐसे आततायी को मारनेवाला मनुष्य हिंसक नहीं बनता, किंतु अहिंसक बना रहता है। क्योंकि इस परिस्थिति में उसकी मानसिक अवस्था का पतन नहीं होता। अपनी ओरसे दूसरे के अधिकारपर आक्रमण करनेवाले आततायीने ही स्वयं अपनी मौत बुलायी है। उसीने उसे छेडकर स्वयं आत्महत्या की है। यह मृत्यु आततायी की आत्महत्या नामसे याद की जायगी।

जब कभी सृष्टिव्यवस्थासे व्याघ्र आदि देहके द्वारा किसी अहिंसक की मृत्यु उपस्थित होती है, उस समय भी उस अहिंसक के मन में यह विचार नहीं आता कि, यह नरभक्षक व्याघ्र मेरी हिंसा या मुझसे वैर करता है। वह केवल इतना देखता है कि, यह व्याघ्र अपने स्वभावानुकूल भोजन ग्रहण करना चाहकर, मुझे उसी प्रकार अपना भोजन बनाना चाह रहा है, जिस प्रकार मैं अपने भोजन को खाता हूं। जिस प्रकार मेरा अन्न खाना अन्न से वैर नहीं है, इसी प्रकार व्याघ्र का मुझे खाना, मुझसे वैर नहीं है। यही ज्ञानी के सब भूतों में निर्वैर होने का तात्पर्य है। ज्ञानी की निर्वैरता ज्ञानी के ही मन की स्वसंभोग्य सम्पत्ति है।

ज्ञानी की निर्वैरता का यह अभिप्राय नहीं लगाया जाना चाहिए कि, कोई मांसाहारी जन्तु अहिंसक पुरुषके भौतिक देह को नहीं खा सकता। ज्ञानी की निर्वैरता को देखना हो, तो उसे व्याघ्रों में न देखकर उसी की मानसिक दृढता में देखना चाहिए। कोई भी नरभक्षक जन्तु ज्ञानीको खाकर भी उसकी मानसिक निर्वैरता को खण्डित नहीं कर सकता। ज्ञानीके शरीरके खाये जानेपर भी ज्ञानी उस खादकके कामको अपने से वैर करना न मानकर, निर्वैर (निर्भय) बना रहकर, उसे उसके स्वभाव के रूपमें देखेगा और विचलित करनेवाले समझे हुए अवसर पर भी मनको अविचलित रखकर जीवन को सार्थक करेगा। वस्तुतः निर्वैरता ज्ञानी की ही उदार मनोदशा है।

क्योंकि निर्विरोध भावसे किसी के पेट में चला जाना ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य नहीं है, इस कारण बिना कोई बचाव किए अपने को व्याघ्रको खा लेने देना, जैसी मूढता करना भी ज्ञानी का स्वधर्म नहीं है। जब कभी ईश्वरेच्छासे ज्ञानी के सामने व्याघ्र

आदि से खा डालने का अनिवार्य अवसर उपस्थित हो जाय, तब ऐसी उदार स्थितिमें रहकर मरना ज्ञानियों का कुलधर्म होता है, यही निर्वैर भाव का तात्पर्य है। निर्वैरभाव या अहिंसा का यह तात्पर्य नहीं कि, ज्ञानी लोग अपनी शरीररक्षाके प्रति कर्तव्यहीन बनकर सूने हाथों जंगल में घुस जांय और व्याघ्रों के शिकार बनते फिरें।

कुछ लोग ज्ञानी की निर्वैरता को व्याघ्र आदितक फैलाना चाहते हैं। वे ज्ञानी की निर्वैरता से भौतिक लाभ उठाना चाहते है। वे व्याघ्र आदिको ज्ञानी से प्रभावित करके, उन्हें भी निर्वैर महात्मा देखना चाहते हैं। यदि कोई व्याघ्र आदि किसी मनुष्यको खा जाय, तो ये उस खादित मनुष्य की ही हिंसक मनोदशा का परिणाम मानना चाहते हैं। ये उस खादित मनुष्य को अहिंसारहित कहना चाहते हैं। वे व्याघ्रों से अहिंसकों की अहिंसा का प्रमाणपत्र दिलाना चाहते हैं। यह सब उनकी विचारभ्रान्ति है। व्याघ्रलोग ज्ञानियों के प्रभाव में आकर उन्हें अभक्ष्य मान बैठें, यह ज्ञानियों की निर्वैर स्थिति का प्रमाणपत्र नहीं है। मृत्यु से डरनेवाले लोग व्याघ्रोंके शिकार-वैराग्य की चाहे जितनी प्रशंसा करें, परन्तु निर्वैर स्थिति कुछ दूसरी ही वस्तु है। वह केवल अपने में ही देखने की वस्तु है। उसे अपने से बाहर किन्हीं नरभक्षकों में ढूंढना व्यर्थ है।

निर्वैर तथा निर्भय दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। यदि निर्वैर अवस्था को अपने में न ढूंढकर व्याघ्रों में ढूंढा जायगा, तो पहले व्याघ्रों को बलात् निर्वैर बनाकर फिर उनकी सहायता से अपनी निर्वैरता नामवाली कायरता या शरीरमोह को निभाने की मनोदशा बन जायगी। इस प्रकारकी मनोवृत्ति के साथ ज्ञानी की स्वाभाविक निरपेक्ष संपत्ति निर्वैर धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। जो लोग व्याघ्रों से यह आशा लगाये बैठे हों कि, निर्वैर महात्माओं को देखते ही व्याघ्रों को इतना उदार हो जाना चाहिये कि, वे ज्ञानियों के शरीरों को खाना छोडकर अनशनव्रत धारण करनेवाले महात्मा बन जांय!

जो लोग व्याघ्रों में इस प्रकार की उदारता को जगाकर उनकी उदारता से अपने शरीरों को बचवा कर, अपने अहिंसाधर्म के निर्वाह की दुराकांक्षा कर रहे हों, वे व्याघ्रोंको भूका रखकर उनकी मृत्यु की इच्छा करते हैं। यह अहिंसा का चोला पहननेवाली हिंसक मनोवृत्ति है। इस प्रकार की काल्पनिक बातों से अपनेको अहिंसक मानने का कोई भी उचित तथा आदरणीय कारण नहीं है। ज्ञानी लोग यह समझते हैं कि, संसार चाहे जो कुछ करे, परन्तु इस संसारमें हमसे वैर करनेवाला, अर्थात् हमें डरा सकनेवाला कोई नहीं है। जब मनुष्य में इस प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तब उसे प्रेम, भक्ति या अहिंसा कुछ भी कहा जाता है।

यदि सृष्टिव्यवस्था के नियत किये हुए किसी कारण से ज्ञानियों के सामने व्याघ्र की हत्या करने का कारण उपस्थित हो जाय, उस समय उसे 'व्याघ्रवैर' या 'व्याघ्रहिंसा' नाम नहीं दिया जायगा। उस समय उसे 'कर्तव्यपालन' कहा जायगा। सब के शरीरों को जीवित रहने का अधिकार है। जो जिसके जीवित रहने के अधिकार में बाधा डालता है, वह अपने आप अपनी मौत बुलाता है। उस मौत का उत्तरदायित्व अहिंसक पर किसी भी प्रकार नहीं डाला जा सकता। यदि किसी पर इस मौतका उत्तरदायित्व है, तो अनधिकार आक्रमण करनेवाले पर या आक्रान्त पुरुष के जीवनाधिकार पर है, अहिंसक पुरुष पर नहीं। वह तो सृष्टिव्यवस्था का आज्ञाकारी यन्त्रमात्र है। जीवनाधिकार देनेवाली सृष्टिव्यवस्था ही आततायी के वध का अधिकार देती है। इस जीवनाधिकार का पालन करते हुए जब किसी आततायी का प्राणवध करना पडता है, तब उससे अहिंसाधर्मपर लेशमात्र भी आंच नहीं आती। जब कभी इस प्रकार के विचार रखनेवाले मनुष्य का व्याघ्र से सम्बन्ध पड जाय, तब वह अपने मनकी अप्रभावित स्थिति को जीवित बनाये रहे, इसीमें निर्वैरता का रहस्य छिपा हुआ है।

जो मनुष्य संसार से अपने विश्वासीपनका इस

प्रकार का प्रमाणपत्र लेना चाहते हैं कि, संसार का कोई भी मनुष्य हमारी ओर से वैर किये जाने की शंका भी न करें, वे निर्वैरता के मर्मको नहीं समझते। निश्चय है कि इस प्रकार के विचारकों को अपनी निर्वैरता से कोई संतोष नहीं है। इसीलिए संसारसे अपनी निर्वैरता का प्रमाणपत्र लेने के लिए आगे बढ़े हैं। जब कोई अपनी निर्वैरता से दूसरों का यहां तक कि अपने ही आततायी डाकू का विश्वास कमाना चाहता है, तब उसके इस विचारपर दया आती है। तब इसे उसकी फलाभिलाषा की दासता या सकाम मनोवृत्ति कहा जाता है। निर्वैरता सकाम धर्म नहीं है। वह निष्काम धर्म है। वह क्या जाने कि निर्वैरता से भौतिक लाभ उठाना किसको कहते हैं? दूसरों से ऐसी आशा करना कि, दूसरे हमें किसी की हानि न करनेवाला मान कर अपनी रक्षा की ओर से उदासीन हो जांय और हमारे हाथों में आत्मसमर्पण कर दें, वे हमारी इच्छानुसार काम करने लगें। इस प्रकार के विचारों में विचारहीनता भी है और दूसरों से भयभीत रहनेवाली दुर्बलोचित कायरता भी है। हो सकता है कि, दूसरे लोग भ्रममें पड़कर हमें अपना शत्रु समझ लें। तब हम भी उन्हें शत्रु मान बैठें और शत्रुता करने के भ्रममें पड़ जांय। इस प्रकार की चिन्तायें अहिंसकों के मनमें कभी नहीं आयेंगी।

अहिंसक जानता है कि, यदि दूसरे मुझे शत्रु समझते हैं, तो समझा करें। वे मुझे शत्रु समझकर मेरी कोई हानि नहीं कर सकते। मुझे अपनी ओर से उनके इस विचार को हटाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं ऐसा निर्बल कहां हूं कि, उनके इस विचार को हटाये बिना मेरा जीवननिर्वाह न हो सके? मैं अपने शत्रुओं को भी अपनीसी निर्वैर स्थिति प्राप्त कराने की ठेकेदारी या अधिकारहीन काम क्यों करूं? मेरे लिए केवल इतनी बात पर्याप्त है कि, मैं किसी को अपनी ओरसे शत्रु मानने की भ्रांति न करूं। यही मेरी निर्वैर अवस्था है। सब मुझे निर्वैर मानें या न मानें। सबके विचार के साथ मेरी निर्वैर स्थिति का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा अपने आपको निर्वैर मानना ही मेरे पूर्ण सन्तोष की बात है।

जब मनुष्य अपने आपको निर्बल समझ लेता है, तब अपने से शत्रुता या अपनी हिंसा कर लेता है। इस विचार के अनुसार अहिंसक लोग सदा अपनी निर्बलतारूपी शत्रुसे लड़ाई छेड़े रहते हैं। वे सदा उसका दमन करते रहते हैं। वे सबसे प्रथम अपनी निर्बलतारूपी घरेलू शत्रुका गला दबा देते हैं। उसके पश्चात् अपने से शत्रुता का बर्ताव करनेवाले की अनधिकारयुक्त कार्यवाही का अदम्य विरोध करते हैं और जीवनभर उस विरोध को नहीं छोड़ते। फिर उस शत्रु को पराभूत करना, उनके निर्वैर स्वभाव का तेजस्वी प्रदर्शन बन जाता है। अहिंसक अपने मन में सदा यह विश्वास रखता है कि, क्योंकि मैंने अपनी निर्बलतारूपी वास्तविक शत्रु को कुचल डाला है, इसलिये अब बाह्य संसारमें कोई भी मेरा शत्रु अर्थात् मेरा कुछ बिगाड़ सकनेवाला अर्थात् मुझे दबा सकनेवाला नहीं रहा।

जिन लोगों का यह विश्वास है कि, यदि अहिंसक से शेरकी भेट हो जाय, तो वह उसे न खायेगा, उनके शब्दों में वह उसकी हिंसा न करेगा, उनके इस विश्वास का कोई उचित आधार नहीं है। उन्हें विचारना चाहिये कि, जंगली शेरके मनमें किसीको खाते समय उसकी हिंसा का विचार कभी नहीं आता। किन्तु वह उसे हमारे भोजनके समान निर्विकार तथा निरपराध भावसे खाता है। यदि उसके सामने कोई अहिंसक महाशय पहुंच जांय, तो वह उन्हें अवश्य खा जायगा। किसी भी अहिंसक को अपने शरीर के मांसभोजियों के अखाद्य बनने के भ्रम में न पड़ना चाहिये।

जिन लोगोंने अहिंसा की समस्यापर गंभीरता से अनुशीलन नहीं किया, वे उससे अपने शरीर को अमर रखने का भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं। दूसरे हमें न खायें, वे हमें न सतायें, वे हमारे धार्मिक

भावोंमे प्रभावित हो जांय, इन दृष्टिकोणोंसे अहिंसा-धर्म पालना, अहिंसा धर्म से बचना है। अहिंसा से भौतिक लाभ उठानेवाले चाहते हैं कि, यदि जंगल का भूका शेर हमें मिले, तो या तो वह भूका रहे या हमें छोडकर किसी दूसरे को खा जाय। उस शेरको भूका रखने की इच्छा या दूसरे किसी को उसका भोज्य बनाने की इच्छा अहिंसक नामधारी की हिंसा किए बिना नहीं मानेगी। अर्थात् ऐसी इच्छा आते ही उसका मन पापी हो जायगा। ऐसी इच्छा मन की असत्य अवस्था है। अपने शरीर को बचानेकी आन्तरिक अभिलाषा रखकर अहिंसाधर्म का पालन करना अपने आत्मा की हिंसा करना है। यह शरीर-मोह है। यह अपने आपको निर्बल बनाना है। इस में अहिंसक मनोवृत्तिका गंध भी नहीं है।

अहिंसा से प्रतिपक्षी के मन बदलने का काम लेने का भी एक विचार पाया जाता है। परन्तु सच्चा अहिंसक इतना अधिक आत्मसन्तुष्ट होता है कि, वह प्रतिपक्षी की दुष्टता के कारण उसके अस्तित्व को फूटी आंखों से देखता है। वह उसे प्रतिपक्षी होने का गौरव भी देना नही चाहता। जो अहिंसक वीर दुष्ट, आततायी प्रतिपक्षी को अपना प्रतिपक्षी होनेका गौरव तक देना नहीं चाहता, वह अपने मन में उसी पतित का मन बदलकर अपना काम बनाने के विचार आने दे, यह एक असम्भव कल्पना है। अहिंसक पुरुष के मनमें प्रतिपक्षी के मन बदलने की भावना का आना अहिंसा को धक्का देकर हिंसा को अपना लेना है। जिन लोगों के मनमें इस ढंगका अटल विश्वास होता है कि, संसार में हमारी निर्विकार मनोदशा को विकृत कर सकने-वाली कोई शक्ति नहीं है, वे दूसरों के मन बदलने के विचारों को अपने चिन्ताक्षेत्र में कदापि नहीं घुसने देते। जिन के मनमें औरों के मन बदलने के विचार आते हैं, ऐसे मनुष्यों के अपने शत्रु की कृपासे ही अर्थात् अपने शत्रु को समझाबुझाकर उसे अपनी भौतिक हानि करने से निवृत्त कर देनेसे ही अपनी रक्षा दीखती हो, ऐसे लोग अपनी भौतिक संपत्ति या शरीर की रक्षा को ही आत्मरक्षा समझ लेते हैं। उनकी दृष्टि में मनकी रक्षा आत्मरक्षा नहीं रहती। परन्तु विचार से यह सिद्ध होता है कि, धन या शरीर की रक्षा, रक्षा नहीं है, किन्तु मनकी रक्षा ही रक्षा है। अपनी मनोदशा को अरक्षित हो जाने देकर की हुई धन या शरीर आदि की रक्षा को रक्षा का नाम नहीं दिया जा सकता। भौतिक मोहों में फंसकर इस प्रकार से अपने आत्मा का हनन करना स्पष्ट रूप से आत्महिंसा या हिंसा है।

दूसरों का मन परिवर्तन करने की भावना अत्यन्त निर्बल भावना है। मनुष्य को विचारना चाहिए कि दूसरों का मन परिवर्तन करने की इच्छा कब और क्यों होती है? हम पूछते हैं कि, मनुष्य को दूसरों का मन परिवर्तन करने का अधिकार कहां है? दूसरे लोग ही अपने अपने मनों के अधिकारी और उत्तरदाता होते हैं। यदि दूसरे लोग अपने मनको पतित बना रहे हैं, यदि वे अपने मनमें अनुचित, तथा अधिकारहीन भावनाओं को पाल रहे हैं और उन्हीं के अनुसार अनुचित कार्य कर रहे हैं, तो वे स्वयं अपनी ही हानि कर रहे हैं। अर्थात् वे अपनी ही मनुष्यता का निर्दय संहार करके पशुता का जीवन काट रहे हैं। पाप ही पाप का दण्ड होता है। उदाहरण के रूपमें विष्ठाभक्षण ही विष्ठाभक्षणरूपी पाप का दण्ड है। पापी होना ही पाप करने का पर्याप्त दण्ड है। पापियों को पापका दण्ड साथही साथ मिल रहा है कि, वे पापी हैं। पापी होना साधारण दण्ड नहीं है। यदि कोई पाप करता है, तो स्वयं ही हानि उठाता है। उससे दूसरे की कोई हानि नहीं हो सकती। दूसरे के पाप करने से न तो कभी किसी मनुष्य ने हानि उठायी है और न कभी उठायेगा।

यदि दूसरों की बुरी भावना से अपनी हानि होने के संकट के बादल दिखाई देते हों, तो दूसरोंमें दूसरों को हानि पहुंचाने की शक्ति का सिद्धान्त मानना पडेगा। इसी का दूसरा अभिप्राय यह मानना पडेगा कि, इस विचारवाले मनुष्य में अपना कल्याण करने

तथा उसे स्थिर रखने की शक्ति नहीं है। इसी का तीसरा यह भी अभिप्राय लेना पड़ेगा कि, ऐसा मनुष्य अपने कल्याण के लिये दूसरोंपर निर्भर हो गया है। स्पष्ट शब्दों में ऐसा मनुष्य दूसरों का दास बन गया है। वह समझ बैठा है कि, यदि मैं दूसरों का मन बदलने में सफल हो सकूंगा, तो मुझे मेरा चाहा हुआ सुखी जीवन प्राप्त हो जायगा और यदि मैं उनका मन नहीं बदल सका, तो मेरा सुखी जीवन मुझे प्राप्त नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की मनोदशा रखनेवाला अपने जीवन में दूसरों की दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। उसका अभिप्रेत सुखी जीवन दूसरों की दासता से भिन्न नहीं है। दूसरों की दासताही हिंसा है।

दूसरोंका मन परिवर्तन करने की कल्पनामें दूसरों का डर काम कर रहा है। अर्थात् उस ने दूसरों को एक शक्ति मान लिया है। दूसरों को शक्ति मानना अपने को अशक्त मान लेना है। अपने को अशक्त मान लेना अपनी हिंसा करना है।

हम सत्यपक्षपर हैं, यही हमारी शक्तिका मूल स्रोत है। जो हमारा प्रतिपक्षी है, वह असत्य पक्षपर है. यही उसके अशक्त होने का सर्वसम्मत कारण है। अपने पक्षका असत्य होना मनुष्य की अशक्ति है। जिनके पक्ष में सचाई होती है, वे ही सच्चे शक्तिमान् होते हैं। जिनके पक्षमें सचाई नहीं होती, फिर चाहे वे कितना ही पशुबल क्यों न रखते हों, उन्हें निश्चयरूपमें अशक्त जानकर, मक्खी और मच्छरों के समान नगण्य मान लेना चाहिए, तब ही मनुष्यों की मनुष्यता सुरक्षित रहती है। जिनके पक्षमें सत्य नहीं है, उनको समझाने या उनका मन बदलने का प्रयत्न करना अनधिकारयुक्त कर्म में हाथ डालकर स्वयं अशक्त बन जाना है। हमारे पक्षमें सत्यके होनेसे ही हमें पूर्ण सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, तथा इस प्रकार की कुचिन्तायें त्याज्य कोटि में फेंक देनी चाहिएं।

हम अपनी अहिंसासे दूसरों का मन बदलें, हम अपने मनको पवित्र करके दूसरों पर उसकी छाप डालें, यह विचार सर्वथा भ्रमयुक्त है। संसार में ऐसा आजतक कभी नहीं हुआ। संसारका अनुभव इस बात की साक्षी नहीं देता। संसारका इतिहास बता रहा है कि, अहिंसकों के अग्रणी प्रह्लादके पवित्र मन का प्रभाव उसके सांसारिक सम्बन्ध के पिताके मनको भी नहीं बदल सका था। फिर इस सिद्धांत में सचाई कहां है? निश्चय ही अहिंसा इस प्रकार का लाभ पहुंचाने का वादा नहीं करती। अहिंसा भौतिक लाभों को धूल में भी मिला सकती है। जो अहिंसा भौतिक लाभों का सर्वनाश भी कर डालती है, यदि उससे ऐसा लाभ उठाना चाहा जायगा, तो इससे अहिंसाधर्मका अपमान हो जायगा। तब यह धर्म धर्म न रहकर लेनदेन या फलाशा बन जायगा। इससे एक और अनिष्ट होगा कि, जब प्रतिपक्षी अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं करेगा, तब अहिंसक नामधारियों को भी इस धर्म से निराशा होगी और इसपर अश्रद्धा हो जायगी।

अहिंसाधर्म किसी के सामने हाथ जुड़वानेवाला, किसी की चाटुकारिता करानेवाला, किसी अनधिकार भोगी आततायी को समझाने बुझानेकी स्वाभिमानहीन व्यर्थ चेष्टा करके दुष्टकी उद्दण्डता में सहायता देनेवाला दुष्टका मन बढानेवाला दीन धर्म नहीं है। ईश्वरने मनुष्य को जितने हथियार दिये हों, उन सबसे हिंसाका विरोध करो, यही 'अहिंसा' है।

भूतकालमें किसी राजा या साधुने अपने आपको अपनी इच्छासे किसी नरभक्षक जन्तुके भोजन-रूपमें समर्पित कर दिया था और उसने उसे नहीं खाया था, इस प्रकार की किसी कहानीलेखक की कल्पना को याद करके इसी को अहिंसा का सिद्धांत समझकर, इसी घटना की कसौटीपर अपने कर्तव्याकर्तव्य का विचार किया जायगा, तो अवश्य ही विचारभ्रांति होगी। किसी भी मनुष्य की कसौटी पर सत्यको नहीं परखा जायगा। सत्य की ही अभ्रांत कसौटीपर मनुष्योंकी परख की जायगी। क्योंकि अमुक महापुरुषने ऐसा किया था, इसीलिए यह

सत्य है, इस प्रकार सत्यको किसी भी पुरुषके पराधीन नहीं बनाया जा सकता। सत्य स्वयंप्रकाश है। उसी की अमर कसौटी पर संसार भरके महापुरुष परखे जायंगे। जिसका जो व्यवहार सत्य की कसौटी पर ठीक उतरेगा, उसे ठीक माना जा सकेगा। शेष सबको असत्य कह देना पडेगा।

मनुष्य को चाहिये कि, सत्यकी अमर कसौटीपर अपने कर्तव्यों का निर्धारण करे। किन्हीं उदाहरणों के आधार से अपने कर्तव्योंका निर्धारण करना भ्रांति-रहित मार्ग नहीं है। किसी विशेष मत का अनुयायी बनकर उसका मण्डन करने के साथ सत्यान्वेषण का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे प्रयत्नों से सत्यके लिए प्रेम प्रकट नहीं होता। किन्तु किसी विशेष मनुष्य या किसी विशेष मत के लिये मोह अथवा दासोचित अनुकरणप्रीति की सूचना मिलती है।

व्याघ्र के सम्बन्ध में मनुष्य के कर्तव्य की जो कसौटी ऊपर बतायी जा चुकी है, व्याघ्रकासा स्वभाव रखनेवाले मनुष्यों के साथ व्यवहार पडने पर उसी कसौटी से काम लेना चाहिए। ऐसे अवसरोंपर विचारभ्रान्ति न हो जाय इस के लिये केवल इतनी बात देख लेनी चाहिये कि, हमारे अधिकार पर हस्तक्षेप करनेवाला दूसरा कोई मनुष्य है, या हमारीही निर्बलता हमारी मनुष्यता को कलंकित कर रही है? इस बात की पूरी छानबीन कर लेने के पश्चात् मनुष्य देखेगा कि हमारी निर्बलता ही हमारा अधिकार छिनवा रही है। यदि हमें अपनी ही निर्बलता अत्याचारी के वश में फंसने का कारण ज्ञात हो तो हमें उस निर्बलताको ही भयानक व्याघ्र मानकर नष्ट कर डालना चाहिये। यदि हम ऐसा करेंगे, तो हमारी आत्मरक्षा हो जायगी और अत्याचारी अपने आप हमें छोडकर दूर खडा हो जायगा। यदि हम अपनी निर्बलता को पालते रहेंगे और दूसरों को अपने ऊपर अत्याचार करने का दोषी ठहराते रहेंगे या उन्हें गाली देते रहेंगे, तो इससे आत्मरक्षा के स्थान पर हमारी आत्महत्या हो जायगी।

मनुष्य को अपने मनसे इस बात का स्पष्ट उत्तर लेना चाहिये कि क्या मैं दुर्बल हूं, इसीलिये अत्याचारी लोग मुझपर अत्याचार कर रहे हैं? या अत्याचारी लोग अत्याचार कर रहे हैं, इसलिये मैं दुर्बल बनकर अत्याचार सह रहा हूं? यदि मनुष्य विचार करेगा, तो देखेगा कि अत्याचार का मुख्य कारण अत्याचार सहनेवाले मनुष्य की मानसिक दुर्बलता होती है। यदि मनुष्य को अपनी दुर्बलताही अत्याचार का मुख्य कारण ज्ञात हो जाय, तो उसे उस निर्बलता को ही नष्ट करनेयोग्य वस्तु मान लेना चाहिए। ऐसी अवस्था में दुष्टोंका अत्याचार मनुष्य की चिन्ता का गौण विषय बन जाता है। मुख्य कारण को नष्ट कर देनेपर गौण कारण अपने आप नष्ट हो जाता है। दुर्बलता को त्यागते ही अत्याचारी शक्ति का लोप हो जाता है।

यदि मनुष्य अपनी दुर्बलता की ओर ध्यान नहीं देगा, अर्थात् उसे नहीं हटायेगा और दूसरों को अत्याचारी समझकर उन्हीं को हटाने या उन्ही के शरीरोंपर चोट पहुचाने का प्रयत्न करने में फंस जायगा, तो ऐसे मनुष्य की आत्मरक्षा नहीं होगी। उसका अत्याचारी उसके पास से नहीं हटेगा। ऐसा मनुष्य आत्मघात कर लेगा। अर्थात् ऐसे मनुष्य के विनाशका मुख्य कारण उसी के मन में बना रहेगा। अत्याचार का कारण अपने स्थान पर जमा रहेगा और मनुष्य को अत्याचार का शिकार का बनाता रहेगा। अपने में निर्बलता रखना आत्महत्या या हिंसा है।

जहां कहीं अत्याचार होता है, वहां सर्वत्र अत्याचार सहनेवालों की निर्बलता ही अत्याचारों का मुख्य कारण होती है। सूक्ष्म विचार ने इस बात का निर्णय कर दिया है कि, संसार में अत्याचारी नामकी कोई शक्ति नहीं है। निर्बलों की निर्बलताही उनपर अत्याचार करती है। वही अत्याचार करनेवाली शक्ति बन जाती है। मनुष्य सबसे प्रथम अपनी निर्बलता को त्याग दे, यही अत्याचार के बन्द होने का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से मनुष्य की

आत्मरक्षा हो सकती है और वह अहिंसाधर्म को पाल सकता है।

अत्याचार करनेवाले मनुष्य दूसरों को अत्याचार सहने के लिये सन्नद्ध, सहमत या विवश नहीं करते। किन्तु अत्याचार सहने का स्वभाव रखनेवाले मनुष्य ही अत्याचारियों के जन्मदाता होते हैं। अत्याचार सहनेवालों को देखकर कोई भी देशी या विदेशी लोभी अत्याचार करने के लिये उत्तेजित हो जाता है। अत्याचार सहनेवालोंमें सेही कुछ लोग अत्याचारी बन जाते हैं। यदि अत्याचार सहनेवाले मनुष्य संसार से हट जांय, तो संसार में अत्याचारियों का अस्तित्व ही असम्भव बन जाय। अत्याचारी की यही परिभाषा है कि वह अत्याचार सहनेवालों की निर्बलता से लाभ उठानेवाला प्राणी है। वस्तुतः इस ससार में अत्याचारी नाम की कोई शक्ति नहीं है। अत्याचारी मनुष्य मनुष्यसमाज की निर्बलता का मूर्तिधारी रूप है। अत्याचारी एक प्रकार की अशक्ति या निर्बलता है। वह निर्बल लोगों की कृपा से अस्तित्व में आया है। उसे उन्हीने जन्माया है। अपनी हिंसा करनेवाले मनुष्य ही अत्याचारियों के जन्मदाता होते हैं। जब मनुष्य अपनी निर्बलता से अपने आत्मा की हिंसा कर लेता है, उस हिंसा में ऐसी अत्याचारियों का जन्म होता है। मनुष्यों की निर्बलता ही अत्याचारियों की माता है। यही अत्याचारी का नग्न रूप है।

यदि मनुष्य अत्याचारी को जन्मानेवाले सिद्धान्त को नहीं समझेगा, अर्थात् अपनी निर्बलता को नहीं हटायेगा, अर्थात् अपनी हिंसा को नहीं रोकेगा और उस स्वोत्पादित अत्याचारी को अपना प्रतिद्वन्द्वी मान बैठेगा, तथा उस की निर्बलतासे लाभ उठाकर आत्मरक्षा या विजय प्राप्त करना चाहेगा, तो अवश्य हार जायगा। मनुष्य को अपने प्रतिपक्षी की निर्बलता से विजय की असम्भव इच्छा नहीं करनी चाहिये। विजय की इच्छा तो आत्मशक्ति के सहारे से ही करनी चाहिये। जिस समय मनुष्य आत्मशक्ति से विजयी बनने का निश्चय ठान लेगा, तब देखेगा कि, उसके प्रतिपक्षी अत्याचारी का अस्तित्व लुप्त हो गया है।

सच्चे शक्तिमानों का विरोध कर सकनेवाली और अन्ततक विरोध में डट सकनेवाली विरोधी शक्ति संसार में नहीं है। विरोधी को मार कर आत्मरक्षा करने की अर्थात् उस के भौतिक अस्तित्व को मिटाकर आत्मरक्षा करने की दुर्बल कल्पना सच्चे शक्तिमानों के मन में कभी स्थान नहीं पाती। शक्तिमान् मनुष्य अपना विरोध कर सकनेवाली किसी शक्ति को नहीं मानते। जो कोई विरोधी शक्ति उनके अधिकारक्षेत्र में विरोध करने के लिए घुस आती है, वह अपना ही सर्वनाश करने के लिये आती है। शक्तिमान मनुष्य अपने विरोधियों के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्ण उदासीन रहते हैं। वे उन्हें फूटी आंखों से देखते हैं। वे जानते है कि, विरोधी शक्ति की भौतिक मृत्यु परमात्माके प्रबन्धसे चाहे जब हो, परन्तु उसकी मानसिक मौत तो मेरे सत्य का विरोध करते ही हो चुकी। क्योंकि वह असत्य है, इसलिये मैंने उसे तिरस्कार तथा उपेक्षा के पक्ष में फेंक दिया।

यदि किसी विरोधी शक्ति के विघ्न डालने से किसी स्वाधीन अहिंसक पुरुष का शरीर नष्ट हो जाय, तो भी उसकी कुछ हानि नहीं होती। भौतिक हानि, हानि नहीं है। मानसिक पतनही हानि है। भौतिक लाभ लाभ नहीं है। मानसिक उत्थानही सच्चा लाभ है। उसने जिस उदार मानसिक अवस्थामें रहकर शरीर छोडा है, उसी से वह अमर हो चुका है। अमरता मन की अवस्था है, शरीर की नहीं। शरीर का धर्म तो मृत्यु है। मृत्युभय का भाग जाना ही 'अमरता' है।

यहां तक के विचारसे यह सिद्धान्त हाथ आ गया कि, मनुष्यको केवल अपने कर्तव्यके विषयमें ही विचारना चाहिये। मनुष्यको दूसरोंके कर्तव्य-अकर्तव्य के संबन्धमें अधिकारहीन हस्तक्षेप कदापि न करना चाहिये। यदि मनुष्य इस सचाई को ध्यान में रखेगा, तो सत्यको पहचान सकेगा, नहीं तो नहीं। मनुष्यका कर्तव्य केवल इतना है

कि, स्वयं अपने जीवनव्यवहारमें अहिंस्य बना रहे। यही मनुष्यकी 'अहिंसा' है। दूसरों के व्यवहारों में हस्तक्षेप करना, दूसरों से कुछ आशा करना, उनके व्यवहारों के विषयमें कुछ सोचना, मनुष्य का कर्तव्य नहीं है। ऐसा करना अनधिकार चर्चारूपी 'हिंसा' है।

उदाहरण के रूपमें हम निरामिष भोजन करते हैं और अहिंसाधर्म की दृष्टिसे ऐसा ही करना उचित है या नहीं? इस प्रकारका विचार हम अपने ही विषयमें कर सकते हैं, दूसरोंके विषयमें नहीं। दूसरे मनुष्य मांसाहार करके या पशुवध करके अहिंसाधर्मको त्याग रहे हैं या नहीं? इस प्रकार की परचिन्तामें फंसनेका मनुष्यको कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकारकी अनधिकार चर्चा करना या औरों के अधिकार की बातमें हस्तक्षेप करना आत्मविस्मृति, आत्महिंसा या असत्य आचरण है। जिसे हम अपना कर्तव्य समझते हों, जिससे हमें सन्तोष होता हो, उसपर हमें स्वयं आचरण करना चाहिये, उसे हमें अपने जीवनव्यवहार में उतारना चाहिये। यही कर्तव्य का सरल मार्ग है। हमने अपने धर्मका पालन करके अपनी मनुष्यताको अक्षुण्ण बनाये रखा है या नहीं? हम सत्यानुमोदित मार्गपर डटे रहे हैं या नहीं? हमने कामक्रोध आदि रिपुओं को जीता है या नहीं? हमने अपने स्वतंत्रता नामके जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा की है या नहीं? हमने अपने निर्विकार अनुभावित आत्माको सुरक्षित रखा है या नहीं? हमें केवल इस प्रकारकी बातों के विचार करनेका ईश्वरीय अधिकार है। यदि हम इस ईश्वरदत्त अधिकार से बाहर भटक कर दूसरों के अधिकार में हाथ डालने लगेंगे, तो हम गेहूं की रोटी खाते हुए भी अपने मनकी रक्षारूपी स्वधर्म से च्युत होकर हिंसक हो जायंगे।

किसी को मारने या न मारने के साथ हिंसा-अहिंसा का कोई संबन्ध नहीं है। जीवन के साथ मौत लगी हुई है। ये दोनों अटल साथी हैं। प्रकृतिके प्रबन्ध से जन्म होता है और उसी के प्रबन्ध से मृत्यु होती है। जन्मप्रकृति के प्रबन्ध से हो और मौतका प्रबन्धक मनुष्य को मान लिया जाय, प्रकृति को न माना जाय, यह सिद्धान्त विवेकानुमोदित नहीं है। जन्ममृत्यु दोनों प्रकृति के ही काम हैं। वह प्रकृति किस देहको किसकी मृत्युका द्वार बनाती है, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। यह बात सर्वथा प्रकृति के वशमें है। वह शत्रुमित्र दोनों से मनुष्य की प्राणरक्षा तथा प्राणनाश कराती हुई पायी जाती है। इसलिये किसी को जीवित रहने देने, या उसकी मृत्युका कारण बन जानेके साथ हिंसा-अहिंसा का कोई संबन्ध नहीं है। जो कर्म प्रकृति की अटल आज्ञासे अपरिहार्य रूपमें हो रहे हैं, उनमें से कुछ कर्मोंको हिंसा तथा कुछ को अहिंसा नाम देना समझने की भूल है। कर्म की अपनी कोई उपाधि नहीं है। कोई कर्म न तो हिंसा है और न वह अहिंसा है। हिंसा या अहिंसा कायिक वस्तु नहीं है। ये दोनों मानसिक स्थिति हैं। कर्म हिंसा या अहिंसा नहीं हो सकता। कर्म करानेवाली भावनाको ही हिंसा या अहिंसा कहा जा सकता है।

यदि कोई मनुष्य किसीपर क्रुद्ध होकर चोट करे, तो उसका चोट करना तथा दूसरे को चोट लगना, ये दोनों काम हिंसा शब्द के अर्थ नहीं हैं। इन दोनों कामोंको प्रकृतिका प्रबन्ध कहा जा सकता है। क्रोधी मनुष्यके क्रोध के वशमें आ जाने तक ही हिंसा का क्षेत्र है। क्रुद्ध होनेवाला क्रुद्ध होकर अपनी हिंसा कर लेता है। क्रोधी होना हिंसा है। लोभी होना हिंसा है। मोही होना हिंसा है। मत्सरी होना हिंसा है। कामी होना हिंसा है। भयभीत होना हिंसा है। इन सब हिंसाओंसे अपने मनको बचाये रहना अहिंसा है।

हिंसा-अहिंसा किन्हीं हथियारों में छिपी हुई नहीं हैं। वे देहोंपर उडकर चिपटनेवाले रोग नहीं हैं। किन्तु जो भावना शस्त्र आदि का प्रयोग कराती है, उस भावना में से हिंसा-अहिंसा को

ढूंढना चाहिये। इन दोनों को अपने बाहर न ढूंढकर अपनी भावनाओंमें ढूंढना चाहिये। भावना की ही हिंसा होती है और भावना की ही अहिंसा होती है। भावनामें ही हिंसा होती है और भावना में ही अहिंसा होती है। भावना से बाहर हिंसा-अहिंसाका क्षेत्र नहीं है। हिंसाअहिंसा के कायिक, वाचिक, मानस ये तीन भेद करना भ्रमपूर्ण विचार है। हिंसाअहिंसा केवल मानस होती हैं। हिंसात्मक समझे हुए, बाह्य व्यापार कामक्रोध आदि रिपुओं के वशवर्ती होकर किये जाते हैं। जिनके मन इन रिपुओंके वश में आ जाते हैं। वे आत्महिंसा कर चुकने के पश्चात् हिंसात्मक बाह्य आचरण करते हैं। उन का परिणाम किसी को मारना, या किसी के हाथसे मारे जाने के डरसे भागना, या किसी के हाथ से मारा जाना आदि सब कुछ हो सकता है। इस दृष्टिसे किन्हीं भी मरणरूपी या मारणरूपी क्रियाओंको हिंसा का निवास नहीं माना जा सकता। इसके साथ ही मरने और न मरने की अनुपस्थिति में अहिंसा के निवासको कैद नहीं किया जा सकता। किसी को शारीरिक हानि पहुंचाना या उसे रोकना मनुष्य के वशसे बाहरकी बात है। संसार का दैनिक अनुभव इस बातका साक्षी है। मनुष्य को केवल इतना अधिकार है कि, वह अपनी हिंसा करे या अपनी हिंसा करनेसे बचे। अपनी हिंसा कर लेनेके पश्चात् उसके बाह्य दिखावे भी अपनी हिंसा के ही अन्तर्गत होते हैं। इसी प्रकार आत्मरक्षा कर लेनेके पश्चात् उसके भी बाह्य दिखावे दूसरोंके हानि या लाभ दोनों रूपों में हो सकते हैं। यदि उनसे किसी की बाह्य हानि हो जाय, तो उसे 'दूसरों की हिंसा' यह नाम देना सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार यदि उससे किसीको बाह्य लाभ पहुंच जाय, तो उसे किसी की अहिंसा नाम देना सर्वथा अनुचित है। ये दोनों प्रकारकी घटनायें अपने आत्मा की रक्षारूपी अहिंसा से पृथक् नहीं हैं।

अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर माननेवाला भी एक विचार संसार में पाया जाता है। इस विचारने अहिंसा और अप्रतिकार को पर्यायवाची शब्द बना डाला है। अहिंसा शब्दका अर्थ करते समय अप्रतिप्रकारमूढ़ता, स्वकार्यनाश, दुष्टोत्साहवर्धन आदि सबही संभावित आपत्तियों को अहिंसा शब्द के अर्थ में से बहिष्कृत रखना पड़ेगा। यदि शिवलिंगके समान मौन-मुद्रा और हाथ जोड़ना मात्र अहिंसा होगी, तो मनुष्य का जीवनाधिकारही अस्वीकृत हो जायगा। यदि अहिंसा शब्द का अर्थ जीवनाधिकारविरोधी होगा, तो सब ऐसी अहिंसा को दूरसे नमस्कार करके त्याग देंगे। किसी व्यक्ति की कसौटी से अहिंसा नहीं परखी जायगी। सत्य की कसौटी पर अहिंसा को परखा जायगा। अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर माननेवाले मनुष्य शस्त्रयुद्ध के हिंसात्मक होनेकी घोषणा करना चाहते हैं। उनके मन्तव्यानुसार मनुष्यको शस्त्रयुद्ध न करना चाहिये। प्रतीत होता है कि, इस मन्तव्यवालोंने आत्मरक्षार्थ प्रतियुद्ध की परिस्थितिपर विचार न करके इस मन्तव्यकी घोषणा की है। माना कि कुछ युद्ध हिंसात्मक होते हैं, परन्तु युद्धमात्र का हिंसात्मक होना कदापि संभव नहीं है। हिंसा के विरोध के लिये जो प्रतियुद्ध करने पड़ते हैं, उन्हें भी हिंसात्मक कहना, हिंसा-अहिंसा दोनों का अपरिचय प्रकट करना है। जब कभी मनुष्यता के नाते हिंसा के विरोध में आततायीसे लोहा लेना पड़ता है, तब युद्ध शुद्ध अहिंसा की बाह्य अभिव्यक्ति बन जाता है।

युद्ध पापी लुटेरे को ही हिंसा है, लूट रोकनेवाले के युद्धको हिंसा कहना अविचार की बात है। वह तो अहिंसा अपातित्य या वीरधर्म है। यदि प्रतिकार करनेका अधिकारी प्रतिकारस्वरूप दुष्टसे प्रतियुद्ध न करे, और अपनी जान चुरा ले, तो उसकी हिंसा होती है। यदि उसे लूटका विरोध करने के लिये लुटेरे को मारना पड़ जाय, तो उसके वध को हिंसा का नाम नहीं दिया जा सकता। उसे तो 'हिंसा का प्रतिकार' यह पवित्र

नाम दिया जायगा। आक्रान्त पुरुषको आक्रमणकारी आततायी के प्राण हरने तक का अधिकार ईश्वरीय व्यवस्था की ओर से प्राप्त हो जाता है। इसीलिये संसारमें आत्मरक्षा के लिये आततायी के वध को अपराध नहीं माना जाता। यही कारण है कि, समाज कभी कभी ऐसे आततायी-वधोंपर बडे बडे पारितोषिक देकर इस कामके अहिंसा होने का प्रमाणपत्र भी देता है। आततायी को मारनेमें कोई अपराध या हिंसा नहीं है। वह तो आक्रान्त की आत्मरक्षा या जीवनाधिकार-रूपी अहिंसा है। आततायीको मारना आत्मरक्षक की अहिंसासे भिन्न स्थिति नहीं है।

सामाजिक अधिकारकी रक्षाके लिये छेडे हुए शस्त्रयुद्ध के समय इतनी बात अवश्य देखनी चाहिये कि, जब शत्रुसे शस्त्रयुद्ध करके आत्मरक्षा हो सकती हो, उस समय शस्त्रयुद्ध छेडना 'अहिंसा' तथा शस्त्रयुद्ध न छेडना 'हिंसा' है। परन्तु जब शत्रुसे शस्त्रयुद्ध छेडकर आत्मरक्षा की कोई भी संभावना न रह गयी हो, तब शस्त्रयुद्ध छेडना 'हिंसा' अर्थात् स्वकार्मनाश है, तथा शस्त्रयुद्ध न छेडकर राष्ट्रजागरण आदि उपायोंसे देशमें दूसरे प्रकार का मानसिक युद्ध छेड देना 'अहिंसा' है। अर्थात् अहिंसा का और युद्ध का जन्मवैर नहीं है। युद्ध की नीति तो बदली जा सकती है, परन्तु अहिंसा के नामपर युद्धत्याग का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता।

पापी की लूट उसी की हिंसा है। उसकी लूट के विरोधमें युद्ध न होना लूटनेवाले की 'हिंसा' है। मनुष्य अपनी ही हिंसा या अहिंसा कर सकता है। लुटनेवाला अपनी हिंसा कर सकता है और लूटनेवाला अपनी हिंसा कर सकता है। इन दोनों की दो पृथक् पृथक् हिंसा हैं। पापी दूसरे को लूट कर अपनी हिंसा करता है। लुटनेवाला दूसरे की लूट को सह कर, अपनी हिंसा करता है। लुटेरेने भी अपनी हिंसा अपने आप की है। लुटनेवाले की नहीं। इसी प्रकार लुटनेवालेने भी अपनी हिंसा अपने आप की है। लुटेरेने नहीं। यदि वह लुटेरा अपनी लूटको अकर्तव्य समझ जाय और अपनी ओरसे लूट त्याग दे, तो वह अपनी अहिंसा कर सकता है, लुटनेवाले की नहीं। इसी प्रकार के यदि लुटा जानेवाला अन्तिम चेतना तक लूट का विरोध न छोडे, तो वह लुटेरे के अत्याचारकेन्द्र में भी पूर्ण अहिंसक कहा सकता है।

यदि शत्रुता करनेवाला लुटेरेने अपनी मूढतासे उस अहिंसक मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यको अपने ऊपर वार करने के लिये विवश किया हो और वह कर्तव्यपालन समझ, उसपर वार करे या मार भी डाले, तब भी उस मृत्युका कारण वह अहिंसक मनुष्य नहीं है। किन्तु उसी की मूर्खता मृत्यु का कारण है। उसने अपनीही मूर्खता से उसे अपने ऊपर वार करने के लिये विवश किया है। ऐसे आततायियों को मारनेवाले अहिंसक ही रहते हैं। इस मृत्यु को आततायीकी आत्महत्या नाम दिया जा सकता है।

हिंसा या अहिंसा के विचार में ही सत्यासत्य का विचार भी समाया हुआ रहता है। जिसमें अपनी हिंसा है, वह 'असत्य' है। जिसमें अपनी अहिंसा है, वह 'सत्य' है। यही मनुष्यके कर्तव्याकर्तव्य विचार करनेका सीधेसे सीधा राजमार्ग है। कर्तव्य अकर्तव्य का विचार निरन्तर करते रहना, यह मनुष्यका स्वधर्म या स्वभाव है। परधर्मनिर्णय करने की धृष्टता करना 'हिंसा' है। जब मनुष्य कर्तव्य का काल उपस्थित होनेपर मुझे क्या करना चाहिये? इस आत्मधर्म का योग्य निर्णय करता है, तब वह 'अहिंसा' धर्मका पालन कर लेता है।

शारीरिक रोगों में योग का महत्त्व।

(श्री स्वामी कुवलयानन्दजी)

श्रीयुत कुवलयानन्द का भाषण 'दैनिक जीवन में योग का स्थान' विषय पर दरबार के गणेशजी के सामने हुवा। ग्वालियर के सम्बन्ध में महाराष्ट्रवालों के अभिमान को प्रगट करते हुए आपने कहा कि मराठशाही गोब्राह्मणप्रतिपालन के लिये ही स्थापित हुई थी। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मविद्या का अभ्यास करनेवाला और ब्रह्मविद्या का मूल है योगविद्या।

अब यह योगविद्या परलोक के लिये ही है, या इस लोक के लिये भी, इस सम्बन्ध में आपने कहा कि, प्राचीन लोग यह लोक को भी तुच्छ नहीं मानते थे। इस लोक में सुखपूर्वक रहनेके लिए अच्छे स्वास्थ्य की जरूरत है, जो योगविद्या के द्वारा प्राप्त हो सकता है। आपने कहा कि आधुनिक सभ्यता का परिणाम शरीर पर बहुत बुरा पडा है। आजकल शरीर में कई 'सभ्यता की बीमारियाँ' उत्पन्न हो गई हैं और इनमें मुख्य हैं, कोष्ठबद्धता (constipation)। यह सब जगह फैला है और इसके परिणाम भयंकर होते हैं। ऐसा कोई भी रोग नहीं है, जो कोष्ठबद्धता के द्वारा उत्पन्न न हो सकता हो। इससे मनुष्य की रोग-निरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है और वह बडी जल्दी बीमारियों का शिकार हो जाता है। इसके बाद आपने इस संबंध में अपने अनुभव बताते हुए कहा कि, इसका सबसे अच्छा उपाय योग के आसन ही हैं। आपने कहा कि, इस उपाय का अथवा इन आसनों का श्रेय मुझे नहीं है, बल्कि उस प्राचीन पद्धति को है, जो मानवजाति के कल्याण के लिए ही निकाली गई थी।

स्वास्थ्य के लिए आहार का महत्त्व भी आपने बताया। आहार शुद्ध होना आवश्यक है। विपरीत आहार एक प्रकार से मरने की तैयारी है। योगशास्त्र ने भी आहार पर बहुत ध्यान दिया है। क्या खाने से सुख मिलता है, क्या खाने से कष्ट, इसका उसमें विवेचन किया गया है। पर आजकल की सभ्यता में यह शुद्ध आहार कठिन ही हो गया है। चक्की का आटा और मशीन के चावल आदि सभी खाते हैं। यह चीजें भी कोष्टबद्धता में सहायता पहुंचाती हैं। अतः जहां तक हो शुद्ध आहार पर भी सदा ध्यान देना चाहिये।

शरीरस्वास्थ्य से योग का सम्बन्ध बताते हुए आपने कहा कि, श्वासोच्छ्वास तो सब लोग करते हैं, पर यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उसका पचन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यहां आपने अपने साथ आए हुए एक योगाभ्यासी सज्जनको खडा करके पचनक्रिया समझाई। फिर आपने बताया कि, योग के कुछ बन्धों-नौलि और उड्डियान से पेट की स्नायुओं को किस प्रकार कसरत और मालिश होती है और उन्हें बल मिलता है। आपने कहा कि, उन बन्धों के जो एक्स-रे फोटो तैयार किए गये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे पेट के रोगों पर क्या प्रभाव पडता है। इससे एपेन्डीसाइटीज और कोष्ठबद्धता को बडा लाभ पहुंचता है। यहां आपके साथवाले सज्जन ने नौलि और उड्डियान का प्रत्यक्ष दर्शन किया। इसी प्रकार आपने बस्ति का उल्लेख किया और बताया कि, उसके द्वारा किस प्रकार जल से पेट की और आंतों की सफाई हो जाती है और पानी पेट को साफ

करके निकल आता है। वास्तवमें कहा गया है कि, जिसे बस्ति आ गई, वह आधा योगी हो गया। पानी पीकर मुख के द्वारा निकाल देने का भी आपने प्रदर्शन कराया और कहा कि, इस तरह शरीर के भी अंग साफ हो सकते हैं।

इस के पश्चात् आपने अपने आश्रम का थोडा परिचय दिया और बताया कि किस प्रकार कई प्रांतीय सरकारों ने उसमें दिलचस्पी ली है। अपने प्रयोगों के सम्बंध में कई डाक्टरों की आलोचना का भी आपने उल्लेख किया, जिन्होंने इस पद्धति को अशास्त्रीय बताया था और कहा कि, वास्तव में यह पद्धति अशास्त्रीय नहीं, शास्त्रीय है और अनेक पाश्चात्य डाक्टरों ने भी इसके लाभों को स्वीकार किया है।

अन्त में महल में व्याख्यान का अवसर प्राप्त होने पर आपने प्रसन्नता प्रगट की और कहा कि, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उन्नति का साधन योग है।

काया-कल्प।

(लेखक—पं० बालकृष्ण शर्मा वैद्यराज, जीवन-रसायन-कार्यालय, भोपाल

आयुर्वेद और रसायनशास्त्रों मे आयुष्य बढाने-वाले सैंकडों प्रयोग छपी और हस्तलिखित पुस्तकों में हैं। परन्तु आज इसकी तरफ भारतीय और दूसरे देशवासियों का ध्यान नहीं पहुंचा, कारण कि पूज्य पं० मदनमोहन मालवीयजी के कायाकल्प के पहले कोई भी इस बात की चर्चा करते थे, तो भी किसी का लक्ष नहीं होता था, परन्तु श्री पं० मालवीयजी ने ही सबों का ध्यान इस कायाकल्प की तरफ आकर्षित किया, जिससे अधिकतर आयुर्वेदशास्त्र के आयुष्यवर्धक रसायनप्रयोगों पर देशीविदेशी जनसमाज की श्रद्धा उत्पन्न हो गई। श्री पं० मालवीयजी ने अपने ऊपर जो प्रयोग कराया है, उस प्रयोग का संपूर्ण वृत्तान्त प्रसिद्ध नहीं हुआ, याने आरंभ से अन्त का विवरण नहीं छपा है, उसके ऊपर से और उसका जो परिणाम निकला है, उसको देखते हुए मालूम होता है कि, यह प्रयोग पूर्ण सफल नहीं हुआ, जिसका कारण हमारी समझ में शास्त्रीय विधिकी अपूर्णता हो सकती है। या श्री०मालवीय-जी जैसे प्रसिद्ध पुरुष के ऊपर शंकित भाव से धीमे धीमे प्रयोग कराया होय, ऐसे अनुमान के लिए नीचे लिखे हुए पांच कारण हो सकते हैं-

(१) इस प्रयोग को करने के पहले स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि देहशुद्धि की क्रियाओं को करना चाहिये, जिसके पश्चात् औषधिसेवन करने के लिए कुटीप्रवेश करना। श्री मालवीयजी के ऊपर यह क्रियायें करके देहशुद्धि न की हो। 'अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः। वाजीकरो न मलिने वस्त्रे रंग इवाफलः॥' जिस तरह मैले कपडे पर रंग सुन्दर नहीं चढ सकता, ठीक उसी प्रकार देहशुद्धि-कर्म करने के बगैर रसायन या वाजीकरणप्रयोग निष्फल ही होते हैं।

(२) इस रसायनप्रयोगों के लिये हिमालय को बहुत उत्तम समझा है अथवा हिमालय-प्रदेश की वनस्पतियों का सेवन करने की आज्ञा है।

औषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैल उत्तमः।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि च॥

इस तरह पलास और आंवलों का मुख्य प्रयोग उन पर किया गया है, वही औषध हिमालयन नहीं होंगी, ऐसा मालूम पडता है।

(३) कुटीप्रवेश करने से पहले जो जो मंगल क्रियाएं करने का शास्त्रों में विधान है, उनमें शिखावशेष-मुंडन, डाढी, मूंछतक हजामत करने की शास्त्रों में आज्ञा है। श्री मालवीयजी अपना प्रयोग पूर्ण होने के पश्चात् बाहिर निकले, उस वक्त उनकी मूंछें पहले जैसीही सफेत थीं, इससे मालूम होता है कि कुटीप्रवेश करने के पहले जो जो क्रियाएं शास्त्रकारों ने लिखी हैं, उनकी अवहेलना की गई है।

(४) जो प्रयोग आंवला और पलास का किया गया है, वह यदि विधिवत् होता तो-

एकादशेऽह्य ततो व्यतीते पतंति केशा दशना नखाश्च॥

ग्यारह दिन बीतने पर उस पुरुष के बाल, दांत, और नख निकलकर नवीन ऊगने लगते हैं। ऐसा इस प्रयोग का गुण लिखा है, परन्तु श्री मालवीय-जी के शरीर में ऐसा कोई विशेष परिवर्तन देखने में नहीं आया, मात्र स्फूर्ति आ गई है, त्वचा की झुर्रियां कुछ कम हो गई हैं, तथा नेत्रों में कुछ तेज आ गया है। इस थोडेसे फेरफार से प्रयोग

की सफलता का चिह्न नहीं अथवा कायाकल्प के दूसरे प्रयोगों से भी इतना फेरफार हो सकता है।

(५) प्रयोग करनेवाले महात्माजी की १५० वर्ष की या इससे भी अधिक की उमर क्यों न हो, तथा उन्होंने ३-४ बार रसायनप्रयोग अपने ऊपर किया हो, परन्तु हमारी समझ में नहीं आता, कारण कि उनके शरीर पर सफेद बाल हैं। इसलिए रसायनप्रयोगी पुरुष जरा-वृद्धावस्था के प्रत्येक चिह्न से रहित होना चाहिए। यह उपरोक्त पांच या दूसरे कारणों को देखते हुए श्री पं० मालवीयजी के ऊपर रसायनप्रयोग सफल नहीं हुआ। उस प्रयोग के लिये समाचारपत्रों में कितना ही हल्ला मचा हो, परन्तु रसायनप्रयोग की पूर्ण सफलता नहीं मान सकते हैं।

इस विवेचन से हम रसायनप्रेमी लोगों का विश्वास हटाना नहीं चाहते हैं। प्रत्युत इसको उन्नत करना चाहते हैं। कारण कि इस प्रयोग के बाद श्री पं० मालवीयजी के दर्शनार्थ देशविदेश से सैंकडों मनुष्य दौडे आये होंगे, उस समय समाचारपत्रों में इसकी बडी चहलपहल थी, तथा बडी बडी प्रशंसाएं छपा करती थीं, वे प्रशंसाएं ठीक न दिखीं हों, तो उनके मन में आयुर्वेद-शास्त्र के रसायनप्रयोगों पर अश्रद्धा उत्पन्न होना संभव है। ऐसे अविश्वास को हटाने तथा वृद्धावस्था को दूर कर सैंकडों वर्ष की आयुवृद्धि की इच्छावालों के लिये सच्चा मार्ग क्या है? शास्त्रीय पद्धति क्या है? वह सब संक्षेप से बतलाने का प्रयत्न किया जायगा। वृद्धावस्था रोकने के और आयुष्य, बुद्धि, मेधा, बल, बढानेवाले प्रयोग चरकादि संहिताओं में वानस्पतिक हैं और रसरत्नाकर आदि रसायनशास्त्र के ग्रन्थों में पारद, गंधक, धातुभस्मादिक के योगों का वर्णन है। वानस्पतिक प्रयोग मानुषी प्रयोग कहलाते हैं और पारदादि से बने प्रयोग दैवी देवताई प्रयोग कहलाते हैं। जो राजा, महाराजा अथवा श्रीमंत ऐसे शास्त्रीय रसायनप्रयोगों का सेवन कर अपने शरीर को दीर्घायु प्राप्त करने, वृद्धावस्था को नष्ट करने, बल, कान्ति, वीर्य और सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति तथा ओज तेज को कायम रखने की इच्छावाले लोगों को हम यथाशक्ति रास्ता बताने तथा कायाकल्प सफल हो, ऐसे साधनों का विवरण करने का विचार किया है। जिन प्रयोगों का हम नीचे वर्णन करते हैं, वह सभी प्रयोग निर्दोष तथा किसी भी प्रकार से शरीर को कष्टकर नहीं हो सकते हैं। हां उनके साथ साथ लिखे पथ्यापथ्य का ध्यान जरूर रखना चाहिये।

काया-कल्प।

कायाकल्प-रसायन।

इस छोटेसे लेख में विस्तारभय से श्लोकों को छोड देना पडा है, परन्तु जो जो वर्णन इस लेख में है, वह शास्त्र के आधार पर ही है।

हाल में रसायन शब्द से कायाकल्प अधिक प्रसिद्ध हो गया है, इसलिए जहां कायाकल्प शब्द आवे, वहां आयुष्य, बुद्धि, बल, कांति बढानेवाले, वृद्धावस्था को रोकनेवाले रसायनप्रयोग जानना।

वृद्धावस्था क्यों आती है।

हलका खुराक, खट्टे, खारे, तीक्ष्ण क्षारवाले सूखे शाक-पत्र, मांस, तैल के पदार्थ, मेदा की वस्तुएं, नये अन्न, प्रकृति के विरुद्ध रूखे भोजन, शरदी, कफकारी पदार्थों के खानेवाले, सडे, बिगडे रात के बासे पदार्थों के खानेवाले, स्त्री और मदिरा में शराबोर रहनेवाले, अयोग्य और अधिक व्यायाम करके शरीर को शिथिल करनेवाले, भय, क्रोध, शोक, लोभ, अति परिश्रम करनेवालों का मांस लटक पडता है, संधियां ढीली पड जाती हैं, रक्त में उष्णता आ जाती है, चरबी बढने लगती है, हड्डियों में मज्जा आना रुक जाता है, वीर्य बढना रुक जाता है, ओज क्षीण हो जाता

है, इसके बाद इस दशा को पहुंचे हुए मनुष्यों को चैन नहीं पडती है, कष्ट पाते हैं, निद्रा, तन्द्रा घेरे रहती हैं; सदा निरुत्साही होकर जीता है, मन व शरीर की परिश्रमशक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी स्मरणशक्ति और कांति नष्ट हो जाती है, साफ साफ शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि, शरीर रोगों का घर ही बन जाता है, जिसके कारण पूर्णायु तक जीवित रहना असंभव हो जाता है। इसलिए शरीररक्षा के लिए ऊपर के मिथ्या आहारविहार का विचार कर तथा उनका त्याग करके मनुष्यों को रसायन औषधियों का विधिवत् सेवन करना चाहिये ।

इस प्रकार पुनर्वसु आत्रेय महाराज का उपदेश है।

रसायन-कायाकल्प की व्याख्या ।

(चरक चि० स्था० अ० १)

लंबी आयु, उत्तम स्मरणशक्ति, आरोग्य, तरुणावस्था, कान्ति, रूपलावण्य, सुकोमल स्वर, शरीर तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों का बल, वाणी की सिद्धता, नम्रता, यह सब कायाकल्प के सेवन से प्राप्त हो सकते हैं ।

कायाकल्प के पहिले की तैयारी ।

प्राचीन ऋषियों ने रसायनसेवन करने के लिए दो प्रकार की विधि बतलाई हैं । कुटी-प्रावेशिक और दूसरी वातातपिक अथवा सूर्यमारुतिक। कुटी-प्रावेशिक प्रयोग कुटी में रहकर करने का है और दूसरा पवन, धूप आदि खुले स्थानपर रहकर करने का है।

कुटी-प्रावेशिक रसायन सेवन करनेवाला कैसा होना चाहिये ?

(चरक० संहिता चिकित्सा स्थान अ० १)

जो सत्यवादी, क्रोधरहित, मदिरा और स्त्रीसंग तजनेवाले, अहिंसक, अधिक परिश्रम और कसरत न करनेवाले, शांत वृत्तिवाले, प्रिय भाषण करनेवाले, पवित्र रहनेवाले, धीर, दानी, तप के प्रेमी, देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु और वृद्धों की सेवा करनेवाले, शांतिपरायण, दयालु, दिन में न सोनेवाले, रात्रि में न जगनेवाले, घी, दूध हमेशा खानेवाले, देशकाल को पहचाननेवाले, युक्तिप्रयुक्ति समझनेवाले, अहंकाररहित, सुन्दर आचरणवाले, कुलवान्, तत्त्वज्ञानपरायण, वृद्ध, आस्तिक और जितेन्द्रिय पुरुषों की सेवा करनेवाले, धर्मशास्त्र में रत ऐसे गुणवाले मनुष्य स्वयं रसायनरूप कहनेयोग्य हैं । अर्थात् ऐसे गुणवाले परन्तु उपरोक्त सद्गुणों को सेवन करनेवाले पुरुष ही रसायन औषधियों का फल पा सकते हैं ।

कायाकल्प के लिए स्थान ।

जिस देश में राजा, वैद्य, ब्राह्मण, साधु पुरुष, पुण्यवान् मनुष्योंका वास हो,ऐसे प्रदेशमें कायाकल्प साधना । जिस स्थान में निर्भय ही गुणवान पुरुष रहते हों, आवश्यकीय वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हों, ऐसे शहर के पास ही उत्तर दिशा की तरफ जो गांव हो तथा उस गांव में भी उत्तर दिशा की तरफ सुन्दर रमणीय स्थान पर कुटी बनावें ।

कुटी की दीवारें ऊंची और १ हाथ मोटी ऐसी बनावें, जिसके तीन खंड हों, जिनमें छोटी छोटी खिडकियां रखना चाहिए, दीवारें मिट्टी की ही बनाना चाहिए। बाहर के अप्रिय शब्द कोठरी में न सुनाई देवें, इसका प्रबंध रखना; स्त्री, दुष्ट, अनिष्ट चाहनेवाले तथा कोई भी फालतू आदमियों को नहीं आने देवें तथा सब प्रकार के साधनसामग्री और जरूरी चीजों को तैयार रखना । वैद्य, औषधी और वेदपाठी ब्राह्मणों को हाजिर रखना। धुंवा, सूर्य की धूप, घोडा, सर्प, मूर्ख मनुष्य कुटी के पास न आ सकें। कुटी की दीवारों को सफेद मट्टी से पोत देवें, गौ के गोबर से लीप देवें; अब यह कुटी कायाकल्प के लिए उपयुक्त हो गई। कुटी का १ खंड मलमूत्रादि के लिए

रखें, दूसरे में आवश्यक वस्तुएं रखें, तथा तीसरे खंड में कल्प करनेवाले को रखें।

कुटीप्रवेश करने के पहिले और पीछे के नियम।

कायाकल्प करनेवाले साधक को जब सूर्य उत्तरायण हो, तिथि, नक्षत्र, करण आदि शुभ हों, उत्तम दिन हो, शुभ मुहूर्त देखकर शिखा छोडकर उसतरे से क्षौर कराकर कुटी में प्रवेश करने के पहले शरीर पर तैल की मालिशविधि प्रमाण करावें, पीछे औषधीद्वारा स्वेद (पसीना) करावे। इसके बाद औषधी से वमन करावें, इसके बाद जुलाब करावें, कोठा शुद्ध होनेपर ३-५ या ७ दिन तक जौ का दलिया खिलावें, जिससे पुराना मल निकल जावे, इसके बाद स्नान कर श्वेत वस्त्र की धोती आधी पहन और आधी ओढकर कुटी में प्रवेश करें।

साधक को ब्रह्मचर्य धारण करना, धैर्य रखना, वैद्य और औषधियों पर श्रद्धा रखना, इन्द्रियों को वश में रखना, सुपात्र ब्राह्मणों को दान देना, दया रखें, सत्य बोलें, व्रती और धर्मपरायण रहना, देवीदेवताओं का स्मरण करते रहना, निद्रा नियमित रखना, मंद हास्य से मधुर भाषण करना, क्रोध, राग, द्वेष, ईर्षा, मत आदि मानसिक दोषों को त्याग देवें, प्राणीमात्र पर स्नेह रखना, ब्राह्मणों और देवताओं की पूजन-प्रदक्षिणा करके कुटी में प्रवेश करें।

इत्थं संशुद्धकोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत्।
यस्य यद्योगिकं पश्येत्सर्वमालोच्य सात्म्यवित्॥

प्रथम साधक उदर शुद्ध करावे। बाद में मनुष्य की प्रकृति को देखकर जिस रसायन औषधी को उपयुक्त समझें, उसीका विधिवत् सेवन करावें, कुटी का द्वार उत्तर या पूर्व दिशा में रखें।

श्री पार्वतीपुत्र नित्यनाथ सिद्धजी अपने रसायन खंड में वर्णन करते हैं।

निर्वात स्थान में रहना, यदि सुविधा हो, तो जमीन में प्रकाश और थोडी वायु का आवागमन हो सके, ऐसी गुफा सी बनाकर रहना। चिन्ता, मानसिक उपाधि मन में न रखना; इन्द्रियों को वश में रखना। क्रोध न करना, दूध, भात, यव, गेहूं, मूंग का पानी, जंगली जानवर का मांस, (यह आज्ञा मांस खानेवालों के लिए है) अथवा केवल दूध का ही सेवन करें, हरी शाक और लवण नहीं खावें। दही का पानी शरीर पर मलकर उष्ण जल से स्नान करें, शरीर पर तैल का मर्दन करना नहीं, सिरका खारे, खट्टे पदार्थ तथा मदिरा, दही, तरबूज, करेला, खट्टे शाक, तैल, कुम्हडा, कद्दू, राई, बैलफल, बैंगन, दाल, मूली, लहसन, प्याज, तीक्ष्ण, गरम, भारी, ठन्डे आदि पदार्थों का त्याग करना। मैथुन, क्लेश, उद्वेग चिन्तादि से बिलकुल दूर रहना।

पण्डित श्री मालवीयजी की पलाश-मलकीय रसायन।

(अष्टांगहृदय संहिता उ० स्था० अ० ३९)

ऐसा पलाश वृक्ष जिसको कीडों ने न खाया हो, तथा कोई मनुष्य ने काटा पीटा न हो, न उसकी जड खोदी गई हो, ऐसा निरोगी वृक्ष देखकर उसको जमीन से नापकर अन्दाजन तीन हाथ ऊंचा रखकर ऊपर का भाग आरा से काट देवे, तथा उस कटे हुए धड में डेढ हाथ गहरा छेदा करावे। यह छेदा चौडाई में ९-१० अंगुल होना चाहिए, तथा उसके चारों तरफ लाल व लकडी की मुटाई भी तीन तीन अंगुल रखना चाहिए। अब इसके खड्डे में जितने भी आ सकें, उतने बडे बडे और खूब पके हुए आंवले भरकर उसी लकडी में से निकले हुए बूरे से ढांप देवे, तथा उस सब पलास के धड पर डाभ (घांस) लपेटे याने चारों तरफ ३-३ अंगुल मोटा डाभ का लपेटा देकर, कमल पैदा होता हो,ऐसे तालाब की मिट्टी लाकर उसपर लेपे तथा उसपर पलास की जड का वक्कल लपेट देवे तथा चारों तरफ उसके चार दीवारें पेड पत्तों की इतनी ऊंची

बनावे कि पलास के थड को चारों तरफ से हवा न लगे तथा इतनी दूरी पर इन दीवारों को खडी करें कि, थड से चार चार हाथ दूर रहें। अब इस थड के चारों तरफ की मट्टी खोदकर जमीन से १॥-२ हाथ गहरा गड्ढा करके उसमें चारों तरफ अरने उपले इतने भरें कि, थड का ऊपरवाला भाग १ बालिश्त खुला रहे। अब इसमें चारों तरफ से अग्नि लगा देवें और अन्दाज रखें कि, अन्दर के आंवले पूरी तरह से उसीज जावें; परन्तु जलें नहीं।

अब अन्दाज हो जावे कि थड के ऊपर की मट्टी अग्नि से लाल होकर डाभ को जलाने लगी है, उसी वक्त लकडी के डन्डे से अग्नि को अलग कर देवें और यदि अग्नि कम मालूम होवे, तो उपले लगा दे। जब आंवले अच्छी तरह उसीजे समझें, तब निकालकर उनको तोले। उसकी तोल के बराबर शहद तथा आधी तोल घी गौ का मिलाकर चीनी के बर्तन में भरकर रख लेवे। अब इसमें से प्रातः सायं इच्छानुसार आंवले खाकर ऊपर से थोडी शकर मिलाकर दूध ताजा गौ का पियें (दूध को थोडा गरम करके ठंडा कर लें)। इस प्रकार यह मधुघृतयुक्त आंवले और दूध का बराबर एक महीना तक सेवन करें और कुछ भी न खावें न पियें। ठन्डे पानी को छुयें भी नहीं, तथा पांव धोने और स्नान करने के लिये गरम पानी ही इस्तेमाल करें।

इसका फल— उपरोक्त विधि से बराबर ग्यारह दिन सेवन करने से सफेद बाल, दांत और नख निकल जाते हैं और क्रम क्रम से नये काले बाल, दांत और नये नख निकलना आरंभ हो जाते हैं और थोडे दिन बाद हाथी जैसा बलवान् हो, तथा बुद्धि, बल, मेधा और पराक्रम बढता है। यदि शरीर में कोई असाध्य रोग हो, वे भी सब नष्ट हो सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त होती है, ऐसा इसका महत्त्व महर्षियों ने लिखा है। हमारे विचार से प्रत्येक दस वर्ष में इसी प्रयोग को करनेवाले आरोग्य दृढ कायम रहकर बहुत समय तक जीवित रह सकते हैं।

कायाकल्प ब्रह्मरसायन।

(अ० हृ० उ० अ० ३९)

बडी हड १००० नग, ताजे आंवले ३००० नग, पंचमल १००० तोला, सबसे दसगुने पानी में डालकर पकावें और दशांश भाग रहनेपर मलकर वस्त्रगाल कर लेवे। फिर उसमें इलायची, नागरमोथा, हल्दी, पीपल, अगर, चन्दन, ब्राह्मी, नागकेसर, शंखपुष्पी, वच, तगर, मुलेठी और वायविडंग प्रत्येक १६ तोले, शकर ४४०० तोले, घी गौ का ७६९ तोले, तिल का तेल ५१२ तोले इन सबको मिलाकर इतना पकावें कि, अवलेह से भी कठिन हो जावे। तब उतारकर ठन्डा होनेपर इसमें उत्तम मधु (शहद) १२८० तोला मिलाकर सबको एक जानकर चांदी के या चिकने मट्टी के बर्तन में रख लेवें। इसमें से प्रातःकाल इतनी मात्रा में खावें कि, क्षुधा नष्ट न हो जावे। इसके पचने के बाद दूधभात का भोजन करें।

वैखानस और वालखिल्य ऋषियों ने तथा अन्य तप करनेवाले ऋषि-मुनियों ने इस ब्रह्मरसायन का सेवन किया था, जिससे तन्द्रा, सुस्ती, श्रम, वलि, पलितरहित युवावस्थावाले तथा बुद्धि, मेधा, स्मृतियुक्त और दीर्घकाल तक अमर्याद आयुष्य और पराक्रमवाले हुए थे।

इसी प्रकार— (१) आंवले, हर्ड और पलाश, (२) आंवला, बहेडा और पलाश (३) हर्ड, बहेडे और पलाश, (४) हर्ड, बहेडे, आंवला और पलाश इनमें से कोई भी प्रयोग को विधि से पकाकर दही, घी, मधु, शकर के साथ सेवन करना और पचने पर दूधभातका भोजन करना।

यह ऊपर जितने भी प्रयोगों का वर्णन है, वे सभी कुटी-प्रावेशिक प्रयोग हैं। ऐसे ही सैंकडों प्रयोगों का वर्णन लिखा है। परन्तु ऊपर हमने जिन जिन प्रयोगों का वर्णन किया है, वह भी कम

महत्त्व के नहीं हैं। पाठकोंकी रुचि होगी, तो दूसरे प्रयोगोंपर भी प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जावेगी।

वातातपीय कायाकल्प।

(अ० हृ० अ० ३९, उ० स्था०।)

याने यह प्रयोग खुली हवा प्रकाश में सेवन कर सकते हैं। कुटी-प्रावेशिक रसायनप्रयोगों को राजेमहाराजे, श्रीमंत, सेठ, साहूकार और धनवान् पुरुष ही सेवन कर सकते हैं। कारण कि कुटी-प्रावेशिक प्रयोगों में यथोचित नियमपालन न किया जाय, तो उससे शारीरिक हानि की संभावना निश्चय है, तथा साधारण स्थिति के मनुष्य इनका सेवन नहीं कर सकते, परन्तु सामान्य स्थिति के मनुष्य खुल्ली हवा और प्रकाश में रहकर भी जिन प्रयोगों को सेवन कर सकते हैं, उन प्रयोगों के सेवनकाल में साधारण भूल से पथ्यापथ्यका उलंघन हो जावे, तब भी शरीरको कोई प्रकार की हानि की संभावना नहीं रहती।

ऐसे प्रयोगोंको वातातपीय अथवा सूर्य-मारुतिक कहते हैं। जिनमेंसे कुछ प्रयोग नीचे दिए जाते हैं।

प्रयोग सं० १— लोहभस्म, वायविडंग, मधु और घी इन सबों को बीजेसार घनसत्त्व से पोते हुए कोरे मट्टी के बर्तन में भरने का है, जिसका ठीक ठीक प्रमाण निम्न प्रकार समझें-

लोहभस्म २० तोला, वायविडंग ४० तोला, मधु १० सेर, घी ५ सेर, सबको भरकर मुख मुद्राकर १ वर्षपर्यन्त रखें और १ वर्ष बाद निकालकर शरीर और प्रकृतिके अनुकूल मात्रासे सेवन करे, तो सफेद बाल काले हों, सौ वर्ष की आरोग्यदृढ देह हो।

प्रयोग सं० २—विजयसार का घन सत्त्व २ मासे, त्रिफला ४ मासे तथा रुचि अनुसार घी, शकर और मधु मिलाकर १ वर्ष तक सेवन करने से अकालमें आई हुई वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है।

प्रयोग सं० ३—भृङ्गराज (भांगरा) का स्वरस १ तोलेसे आठ तोलेतक नित्य १ महीना पियें और केवल दूधके आहार पर ही रहे, तो बलवीर्यकी वृद्धि हो निरामय १०० वर्षकी आयु प्राप्त होती है।

प्रयोग सं० ४—श्वेत पलाश का पंचांग ले छाया में सुखाकर चूर्ण बना नित्य १-१ तोला मधु में मिलाकर खावें और दूधभात का भोजन करें, तो १ वर्ष में मृत्यु (अकालमृत्यु) वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त कर सिद्ध होता है। लिखा है कि-

मासान्मृत्यु। प्रज्ञायुर्जायते सिद्धो वर्षमात्रा-
न्नसंशयः।

प्रयोग सं० ५—श्वेत पलाश बीज तैल की अल्प मात्रासे आरंभ कर आधा तोलातक मात्रा पहुंचे, तबसे बराबर १ महीना तक मधु-घीके साथ इस तैल का सेवन करे, तो योगीसमान प्रतापवान् हो, दीर्घायु प्राप्त कर देवासुरोंका प्रिय बनता है।

प्रयोग सं० ६—मालकांगणी का तैल दूध के साथ बराबर १२ मास पीवे, तो दिव्य देह हो यक्ष, गन्धर्व और देवताओं को प्रिय हो, सैंकडों वर्ष की आयु प्राप्त हों, महापराक्रमी हों। इसी प्रकार आश्चर्यकारी फल वनस्पतियों का विशद वर्णन आया है।

रसमाधव में भी रसायन के कई प्रयोगों का वर्णन है, उनमेंसे एक सीधासाधा प्रयोग निम्न है-

मृत्युंजय रस।

पारद गंधक के विशेष संस्कार करने के बाद वालुका यंत्र में ३ दिन की अखंड अग्नि दें तैयार करें, तथा इसमें से १-१ रत्ती मधु, घी के साथ १ वर्षपर्यंत सेवन करने से वृद्धावस्था नष्ट हो, युवावस्था प्राप्त होती है, तथा शरीर पुष्ट हो, ओज तेज बढकर कामदेवसा रूप होता है। इसी प्रकार आयुष्य, बुद्धि, बल बढानेवाले, वृद्धावस्था वलिपलित नष्ट करनेवाले, कांति, शक्ति, स्मृति बढानेवाले, आकाश में गमन करानेवाले, दिव्य दृष्टि देनेवाले सैंकडों प्रयोगों का वर्णन रसायनशास्त्र व तंत्रशास्त्र में लिखे हैं।

किन्तु कायाकल्प शब्द का आज दिन प्रयोग अधिक रूप में सुनाई पड रहा है, अतएव इसके लिए ग्रंथाधार आयुर्वेद में क्या है, वह जनता के सामने स्पष्ट रूप में रखने का एकमात्र प्रयोजन इस लेख के लिखने का है।

वेद आर्षेय ज्ञान है।

(वैयक्तिक मत।)

(लेखक-श्री० अर्जुनदेव अग्रवाल, मोगा-पंजाब)

मेरा संक्षिप्त जीवनचरित्र इस प्रकार है। मैं 'अग्रवाल' वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ। मेरा जन्म लगभग १९६० विक्रमी में हुआ। जन्मकालसे अस्वास्थ्य था। तीसरी श्रेणी में बाईं टांगपर (घम्बीर) नसूरका फोडा निकला और लगभग ८ वर्ष उसके दुःखसे कष्ट रहा। अधिक समय तक रोगी रहनेके कारण और माता-पिताके दूर रहने से विशेष कष्ट भोगना पडा। दिमाग कुछ चिड़चिड़ा हो गया और लाड-प्यार में न पलनेसे सम्बन्धियों में मोह कम हो गया, संसारसे कुछ उदासीनता हो गई। कुछ धर्मकी ओर रुचि हुई।

माता-पिताके विचार न ही सामाजिक और न ही सनातन धर्म के थे। कुछ 'जपजी-साहिब' तथा रौहरास का पठन आरम्भ कर दिया, क्योंकि मेरे चाचाजी जिनके पास आरम्भिक पांच श्रेणी तक पढा और पालनपोषण हुआ सिख मतसे सम्बन्ध रखते थे।

उसी टांगके इलाज के लिये और विद्या भी मिलती रहे, डी. ए. वी. स्कूल लाहौर में छठी श्रेणी में प्रवेश किया। आर्य-समाज का पता लगा, हिन्दी संस्कृत पढनी आरम्भ कर दी। धर्म में रुचि प्रबल हो गई। मनमें विचार हुआ कि वेदादि सत्यशास्त्रों को पढकर समय व्यतीत करना चाहिये। पढनेमें बड़ा मन लगा। ७-९ वीं श्रेणी तक तो मोगा में पढता रहा और १० वीं श्रेणी में फिर डी. ए. वी. स्कूल में प्रवेश किया। ९, १० वीं श्रेणी में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का स्कालरशिप मिलता रहा। ऐफ. ए. की परीक्षा के सम्बन्ध में डी. ए. वी. कालिज कमेटी का स्कालरशिप (एफ. ए. की संस्कृत योग्यता में) थर्ड ऐण्ड फोर्थ यीअर में १०)रु० मासिक मिला। परन्तु संस्कृत में अधिक रुचि होनेके कारण बी. ए. में फेल हो गया और पास न कर सका। सन् १९२९ से १९३८ अर्थात् आज तक संस्कृतका स्वाध्याय बराबर जारी है। काशी, हरिद्वार आदि भी भ्रमण किये।

सन् १९२९ मे, पूज्य बडे भाईने बैंककी नौकरी ६०-५-१०० रु० की लेकर दी। तीन वर्ष पर्यन्त बैंकमें काम किया। मन उक्ता गया, नौकरी छोड दी। रिश्तेदार, भाईबन्धु सब विरोधी बन गये। मन शान्त रहा, सब दुःख झेले परन्तु शास्त्रोंकी लग्न लगी रही। इस कालमें (सन् १९२३-१९३८ तक) चार पांच सौ पुस्तक गूढ विषयोंपर अच्छे अच्छे लेखकों के मैंने पढे। बी. ए में पाश्चात्य दर्शन एक आध्येय विषय था, इसलिये अन्य पाश्चात्य विद्वानोंकी पुस्तकों का अच्छा स्वाध्याय किया। कालिजकी लायब्रेरीका तो क्या कहना, 'पंजाब यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी' तथा 'पञ्जाब पब्लिक लायब्रेरी' छान मारी। 'पञ्जाब पब्लिक लाइब्रेरी' लाहौर का तो कई वर्षों तक मैं मेम्बर भी रहा हूं और सब शेल्फों की अच्छी देख भाल की हुई है।

पाश्चात्य विद्वानों डारविन, हीगल, कैन्ट आदिके विचारों का भली भान्ति अवलोकन किया। संस्कृत भाषाके अच्छे अच्छे ग्रन्थ भी देखे। ब्राह्मण सूत्र ग्रन्थ आदिको आंगल भाषा के अनुवादों द्वारा पढा। व्याकरण में सब से पहले लघुकौमुदी पढी। फिर लाहौर में सिद्धान्त पढता रहा। परन्तु मन चाहता था कि किसी प्रकार अष्टाध्यायी पढी जाये ताकि वेदके साहित्यको पढूं। स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। मनमें उत्साह बढता गया और काम चलता रहा। आज अष्टाध्यायी को भली प्रकार आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

के सुगम सिद्धान्तों द्वारा लगभग दो वर्षों में पढा और बोध करवा सकता हूं । यदि हो सके तो कोई पब्लिशर मेरेको उसका हिन्दी अनुवाद करनेमें सहायता दे ताकि मैं आर्य जनता तथा वेदाभिलाषियों को दिखला सकूं कि अष्टाध्यायी के पढे बिना वेदों तथा वैदिक साहित्य (ब्राह्मण, सूत्र-ग्रंथादि) का स्वाध्याय कितना कठिन और इसके पढनेसे कितना सुगम हो जाता है । जहांपर सिद्धान्त के विद्यार्थियोंको व्याकरण का प्रत्येक विषय अगम्य और अथाह दीखता है, वहांपर अष्टाध्यायी के पाठी को कैसे प्रत्येक विषय सीमाबद्ध और सुगम हो जाता है । किस प्रकार सारीकी सारी अष्टाध्यायी एक माला की भांति लडी से लडी गुंथी हुई प्रतीत होती है । मेरा अपना विश्वास है कि यदि अष्टाध्यायी मूल न भी कण्ठ की जावे तो भी उसी सुगमता से उसको पढ सकता है, बल्कि बिना विद्वान्के पढाये, स्वयं कण्ठ करनेवाला सूत्रोंका अशुद्ध पाठ कण्ठ कर लेगा और पढते समय अष्टाध्यायी के सूत्रोंका बोध क्रमपूर्वक रहेगा । हां! यद्यपि विद्वान्से उच्चारित की हुई कंठ की जावे तो अवश्यमेव ॥=) का लाभ होगा जो कि मूल अष्टाध्यायी का मोल है । प्रत्येक पुरुष अपनी प्रत्येक अवस्था में इसको पढ सकता है ।

इस सारे कष्टमय जीवनको व्यतीत करता हुआ और इस स्वाध्याय के पश्चात् ऐसा समझता हूं और मानता हूं कि वेद ऋषिकृत, काव्य का ग्रन्थ है । वेदों में विशेष प्रकार से ईश्वरका दिया हुआ ज्ञान नहीं है, किन्तु ऋषिजनों के मनन किये हुए छन्दोबद्ध विचार हैं । सारे संसारकी लाइब्रेरियोंमें सबसे पहली पुस्तक वेद है और वह केवल ऋग्वेद है । उसके मन्त्रों को कांट छांट कर यथावश्यक अन्य तीनों वेद रचे गये । ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रंथ याज्ञिक काल में विद्वान् लोभी तथा निर्लोभी ब्राह्मणों के समयानुकूल लिखे हुए हैं । अथर्ववेद में मनन करने योग्य विषय हैं । ऋग्वेद के गाये जानेवाले मन्त्रों का संग्रह सामवेद में है । यजुर्वेद प्राचीन आर्यों के यज्ञोंकी पद्धति है । ऋग्वेद में ऋषियों के विचार भिन्न भिन्न विषयोंपर छन्दोबद्ध हैं । ऋग्वेद से हमको प्राचीन आर्योंकी सभ्यताका दिग्दर्शन होता है । यदि फिर समय मिला तो प्रमाण सहित ऊपर के विचारों का मण्डन करूंगा ।

यदि सम्पादकजी की अनुज्ञा हुई तो यह दिखलाने का प्रयत्न करूंगा कि आधुनिक आर्यसमाजें स्वामी दयानंद जी के विचारों तथा मंतव्यों से कितनी दूर हैं । हमारे गुरुकुलों, पूज्य संन्यासियों का उद्देश्य और उनके रचे हुए आडम्बर भी आपके सम्मुख रखूंगा ताकि आपको ज्ञान हो सके कि पञ्जाबकी आर्यसमाजें तथा उनके सभासद कहां तक वेदसे प्रेम रखते हैं । इतना अवश्यमेव कहना चाहता हूं कि पञ्जाबमें ऋषिका उद्देश्य पीछे छोड दिया गया है और प्रत्येक आर्य पार्टीबाजी में पडकर किस किस प्रकार सामाजिक टट्टीकी आडमें रुपै बटोरनेका खेल खेल रहा है । इस समय समाजकी नौका पञ्जाबमें अवश्यमेव मंझधार में पडी हुई है । संन्यासी पेटू बन चुके हैं । आर्यसमाज के नामपर बडे बडे मठ खडे हो चुके हैं ।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	।)
यजु अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ रुद्रशक्तिका विकास।	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	।॥)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

मार्च १९३९
फाल्गुन १९९५



वर्ष २०, अंक ३]

श्री० बा० सुभाषचन्द्र बोस

[क्रमांक २३१

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ३

विषयानुक्रमणिका

१ ईश्वरका व्रत।		१५१
२ अथर्ववेद छप चुका है।		१५२
३ सामवेदका मुद्रण।		१५३
४ वेदमंत्रोंका वर्गीकरण।		१६८ई
५ चतुर्थ नियम।	पं० मदनमोहन विद्याधर।	१६१
६ पंचम नियम।	,, ,,	१६२
७ अथर्ववेद।	स्व० पं० रघुनन्दन शर्मा।	१७६
८ चार उपदेश।	पं० चन्द्रकान्तजी।	१८०
९ सोमलताका वैदिक स्वरूप।	पं० रामगोपालजी शास्त्री।	१८४
१० सोम।	पं० विश्वेश्वर दयालुजी।	१८८
११ वैदिक दिग्दर्शन।	पं० रमाकान्त झा।	१९३
१२ वेदमंत्रोंके उपदेश (१)	स्व० पं० रघुनन्दशर्माजी।	२००
१३ भक्तकी भावना।	श्री० लालचन्दजी।	२१७
१४ वैदिक छंदोंके नाम।	पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार।	२१९
१५ पं० सातवलेकरजीका विरोध।	पं० तडित्कांतजी।	२२०
१६ देवकामा और वेद।	पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार।	२२५

वर्ष २०

अंक ३

क्रमांक २३१

धर्म

फाल्गुन संवत् १९९५

मार्च सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

ईश्वर का व्रत

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः।
यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥ १ ॥

(अथर्व० ७।४०।१)

जिसके नियम में सब पशु चलते हैं, जिसके नियम में सब जल बहते हैं, जिसके नियम में पोषणकर्ता कार्य करता है, उस जिवनदाता ईश्वरकी हम अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं ।

एक ईश्वर के आधीन सब स्थिरचर विश्व है, पशु-पक्षी जल-वायु तथा राजा-प्रजा सभी उसीके आश्रयसे कार्य करते हैं उसके अटल नियमोंका कोई उल्लंघन कर नहीं सकता। अपनी रक्षा के लिये उसीकी सहायता प्राप्त करनी चाहिये। अतः सब लोग उसीकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें।

अथर्ववेद छप चुका है।

स्वाध्यायमण्डल में वेदों के शुद्ध मुद्रण का कार्य हो रहा है। ऋग्वेद, यजुर्वेद छप चुके थे और अथर्ववेद छप कर तैयार हुआ है। अब सामवेद का मुद्रण प्रारंभ होना है। इस अथर्ववेद में ये विशेषताएँ हैं—

सर्वप्रथम विस्तृत भूमिका में अथर्ववेद के अनेक नामों की व्युत्पत्तियां बतायी हैं, अथर्ववेद के परिमाण का विचार किया है, शाखाभेद का वर्णन किया है, अथर्ववेद में कहे कर्मोंका स्वरूप दर्शाया, तथा अथर्वपाठभेद के कारणों का विचार किया है।

पश्चात् विषयवार सूक्तसूची दी है। हरएक विषयके सूक्त एकत्रित करने से अध्ययनकर्ता को बडीहि सुविधा होगी, अतः लेखक, उपदेशक विचारक तथा प्रवचनकारों को यह सूची बडीहि उपयोगी हो सकती है।

इसके नन्तर काण्डानुसार अथर्ववेद की मन्त्रसंख्या दर्शायी है। प्रत्येक काण्ड में प्रपाठक, सूक्त और मन्त्र कितने हैं, इसका पता इससे विदित हो सकता है। इस अथर्ववेद में कुलमन्त्रसंख्या ५९७७ है।

पश्चात् १ से ४५६ पृष्ठतक मूल अथर्ववेद की संहिता है। जिस में प्रत्येक सूक्त का शीर्षक, ऋषि-देवता-छन्द आदि अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणीके आधार से दिये हैं।

इसके पश्चात् पृ० ४५७ से ५१९ तक के ६२ पृष्ठों में अथर्ववेदमन्त्रों के पाठभेद दिये हैं। इन पाठभेदों में कई पाठभेद केवल स्वरकम्प के हैं, कई उदात्तादि स्वर-भेद के हैं, कई पदच्छेद के हैं और कई शब्दभेद और वाक्यभेद के हैं। अथर्ववेद का अर्थ करनेवालों के लिये ये पाठभेद बडे सहायक होनेवाले हैं। इनमेंसे कई पाठभेद अन्य अथर्वशाखासंहिताओं के होंगे, ऐसा हमारा ख्याल है।

इन पाठभेदों में अन्य वेदों के तथा पिप्पलाद संहिता के पाठभेद दिये नहीं हैं। इनका विवेचन हम स्वतंत्र निबंध में करेंगे। ऋग्वेदयजुर्वेद में एकभी पाठभेद नहीं है और अथर्ववेद में ६२ पृष्ठ पाठभेदों से भरे हैं, इसके कारणोंका वर्णन हम स्वतंत्र निबंध में करेंगे।

इस तरह यह अथर्ववेद का पुस्तक ५२० पृष्ठोंका हुआ है। यह ग्रन्थ हमने स्वदेशी कागज पर छापा है और पूर्ववत् सुनहरी अक्षरोंवाली जिल्द बनवाकर ग्राहकों के पास भेज देंगे। इस समय जिल्द बननेका कार्य हो रहा है, अगले महिने में ये ग्रन्थ ग्राहकों के पास भेजे जायगे।

पहिले अनुमानकी अपेक्षा यह ग्रंथ डेढ गुणा बढा है, तथापि हम ग्राहकों को उतनेही मूल्यमें देंगे।

ऋग्वेद	३) रु०	डा० व्य० ग्राहकोंके जिम्मे।
यजुर्वेद	२)	,,
सामवेद	२)	,,
अथर्ववेद	३)	,,
	१०) रु०	

इन का १०) रु० मूल्य है, तथापि पेशगी मूल्य भेजनेवालों को ये ग्रंथ हम ६) रु० में देंगे। (डा० व्य० ग्राहकों के जिम्मे है)। जो ग्राहक इस समय डा० व्य० सहित मूल्य भेजेंगे, उनकोही यह सहूलियत मिलेगी, पीछे मूल्य बढेगा। चारों वेदोंका डा० व्य० ३) है और रेलवेपार्सल का व्यय १॥) है। मूल्य भेजने के समय ग्राहक यह प्रेषणव्यय भी भेज दें।

अनेक ग्राहक मिलकर अनेक सेट इकट्ठे मंगावेंगे, तो रेलसे मंगानेमें ग्राहकों का लाभ हो सकता है।

'ऋग्वेद' प्रथम वारका समाप्त हुआ है, द्वितीय वार का मुद्रण प्रारंभ हुआ है। छः महिनोंमें यह ऋग्वेद छपकर तैयार होगा। बहुत ग्राहक ऋग्वेद शीघ्र मंगा रहे हैं, समाप्त होने के कारण इस समय भेजने में हम असमर्थ हैं। छपकर तैयार होते ही भेजा जायगा।

सामवेद का मुद्रण

कौथुमी शाखा के ग्रंथ।

(अ) संहिता।

संहिता तीन भागों में विभक्त है- (१) पूर्वार्चिक, (२) आरण्यक (आरण्यकसंहिता+), (३) उत्तरार्चिक। इनसे संबद्ध चार गान-ग्रन्थ हैं — (१) (ग्राम) गेयगान, (२) आरण्य (गेय)— गान, (३) ऊहगान× (४) ऊह्यगान।

ये सब ग्रंथ सत्यव्रत सामश्रमीने Bibliotheca Indica में प्रकाशित किये हैं। इन के अतिरिक्त श्री. बेन्फे तथा म. स्टीवन्सन के संस्करणों में भी पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक का मूलपाठ प्रकाशित हुआ है। आरण्यक का संस्करण गोल्डस्मिथ (Monatsber. der Kgl. Ak. zu Berlin 1868) तथा (Fortunatov) फार्चूनेटव (Moskau 1875) ने भी प्रकाशित किया है।

पहला गानग्रंथ पूर्वार्चिक से सम्बद्ध है। इसमें १७ प्रपाठकों में साम (मंत्र) ठीक उसी क्रम से दिये गये हैं, जिस क्रमसे कि उनकी आधारभूत ऋचायें पूर्वार्चिक में दी गई है। इन सामोंके संपूर्ण नाम क्रमसे आर्षेय ब्राह्मण के प्रथम भागमें दिये हुए है। बर्नेल (Burnell) का संस्करण, पृ० 7—61) इस गान-ग्रंथका मूलपाठ Bibliotheca Indica (Vol. I, पृ० ९४ से, Vol. II, पृ० २४० तक) के संस्करण में मुद्रित है। ग्रामगेयगान का कृष्णस्वामी श्रौती (तिरुवदी, 1889) द्वारा ग्रंथलिपिमें प्रकाशित "सामवेदसंहितायां कौथुमशाखाया- गेयगानम" एक अत्युत्तम संस्करण प्रकाशित हुआ है।

आरण्यगान नामक दूसरा गानग्रंथ आरण्यकसंहितासे नहीं, अपितु पूर्वार्चिक ही से संबन्ध रखता है। आरण्यक-संहिता की ऋचाओं के आधारपर बने हुए जो साम है, वे आरण्यगानमें इधरउधर बिखरे हुए मिलते है - हां उन सामों का क्रम वही है, जो कि आरण्यकसंहितामें ऋचाओंका। आरण्यगानका संस्करण Bibl. Ind. (Vol. II पृ.३८७—५१८) में प्रकाशित हुआ है। इन पृष्ठोंपर केवल वही साम दिये गये हैं, जो कि पूर्वार्चिक की भिन्नभिन्न ऋचाओं पर अवलम्बित है, क्योंकि आरण्यकसंहिता से संबन्ध रखनेवाले साम Vol. II, पृ० २४४—३८४ पर पहले ही दिये जा चुके हैं। यह ६ प्रपाठकों में विभक्त आरण्यगान, जिसमें कि कोई कोई **'महानाम्न्यः'** नामक. ७ वें को भी गिनते हैं, ४ पर्वों में हैं—**अर्कपर्व** (= प्रपाठक १—२. १); **द्वन्द्वपर्व** (= प्रपाठक २. २—३. २); **व्रतपर्व** (= प्रपाठक ४. १—५ .२); **शुक्रियपर्व** (= प्रपाठक ६) **परिशिष्ट**—महानाम्नी ऋचाओं के साम।

ऊहगान तथा ऊह्यगान नामक दो अन्तिम गानग्रंथ उत्तरार्चिक से संबद्ध हैं। ऊहगान का मूल Bib. Ind. के Vol. III से Vol. V पृ० ३८० तक Vol. V के पृ० ६०२—६७३ तक छपा है ❀ सब सामोंकी क्रमबद्धसूची

+ आरण्यकसंहिता उत्तरार्चिकसे प्राचीन है, इस बातका प्रमाण हमको II. 814, 868 के उद्धरण के प्रकार से मिलता है और इसकी प्रतीक आर. सा. वे. १ (Ar. S. V. 1) को निर्दिष्ट करती है।

× कोनो Konow के मतानुसार -**सामविधानब्राह्मण**, पृ० १४-१६,-**रहस्यगान**। अन्यथा, रहस्यगान सर्वदा **ऊह्यगान** ही का द्योतक है। देखिये—A Catalogue of South Indian Mss. by Winternitz 1902, p. 237, किन्तु इस ग्रंथ के पृष्ठ ८पर भी देखो।

❀ वास्तव में तो Vol V के ३५१ पृष्ठ तक, क्योंकि **अप्रतिरथ-गान** वास्तव में छन्दोग-विधिसे संबद्ध नहीं है।

Vol. V, भूमिका, पृ० ट से घ तक छपी है। ऊह्यगान Vol. V के पृ० ३८१ से ६०० तक छपा है। ❀ दोनों गानों में से प्रत्येक ७ पर्वों में विभक्त है। यथा- १. दशरात्रपर्व, २. संवत्सरपर्व, ३. एकाहपर्व, ४ अहीनपर्व, ५. सत्रपर्व, ६. प्रायश्चित्तपर्व, ७. क्षुद्रपर्व। इसके अतिरिक्त ऊहगानमें २३ प्रपाठक है और ऊह्यगान में ६ प्रपाठक हैं। ऊहगान के ९ वें, ११ वें और २३ वें प्रपाठकों को जो कि तीन तीन भागों में विभक्त है, शेष प्रपाठक दो दो भागो में विभक्त है। ऊहगान तथा ऊह्यगान दोनो सोमयाग के अभ्यास में सामगायकों के काममें आते है। इस कारण सामों के, क्रम भी (और उनसे संबद्ध उत्तरार्चिक की योनियां भी) जिनके कि सब नाम सामवेदसंहिता के पहले दो भागों (पूर्वार्चिक तथा आरण्यकसंहिता) में दुहराये गये है, इनसे बिलकुल भिन्न है।

अब यह बतलाया जाता है कि पिछले दो गानग्रंथों का पहले दो से क्या संबन्ध है, तथा पूर्वार्चिक का उत्तरार्चिक से और ऊहगान का ऊह्यगान से क्या संबन्ध है।

ऊहगानका असली उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट है— इस में साम उसी क्रम से दिये गये है, जिस क्रमसे उनका यज्ञ-क्रिया में उपयोग होता है। इसी से पर्वोंके नामकरण (दशरात्र, सांवत्सर इत्यादि) की बात भी स्पष्ट हो जाती है। श्री शेषगिरि शास्त्री अपने Descriptive Catalogue of the Sanskrit Mss. of the Government Oriental Mss. Library, Madras, Vol.I, Vedic Literature, first part के ७३ वें पृष्ठपर लिखते है कि, उत्तरार्चिक की विशेषता यह है" कि साधारणतया यहां पर तीन तीन मंत्रों की एक एक ऋचा (अर्थात् एक तृच) बनी है और पहला मंत्र पूर्वार्चिक मे दिया हुआ है और यह मंत्रसमूह प्रकृति (ग्रामगेय) में पठित सामों (अर्थात् रागोंके अनुसार) के साथ साथ भिन्न भिन्न रूपों में पढे जाते है।" पहले दृष्टिपात में यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि उत्तरार्चिक के पहले तृच की पहली ऋचायें, जैसे 'उपास्मै गायता नरः' 'दविद्युतत्या' इत्यादि, तथा दूसरे तृच की 'पवस्व वाचो' नाम की ऋचा, और २.२, ३.१, ३.२, ४.१, ५.१, ५.२ इत्यादि पूर्वार्चिक में नहीं मिलतीं। और यह बात भी निःसंदिग्ध है कि न तो ऊहगान में और न ऊह्यगान में इन तृचों से संबद्ध सामों का निर्देश मिलता है। यह बात मेरी समझ में बहुत दिन तक नहीं आई थी कि, किस कारण यह सामप्रयोगों में तो मिलते हैं, किन्तु गान-ग्रंथों में नहीं। परन्तु इस पहेली का उत्तर बहुत ही साधारण है। -जो साम कि प्रातःसवन के समय गाये जाते थे, वे गायत्र- राग× में गाये जाते थे और क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि यह राग सावित्री मंत्रोंसे संबद्ध राग है। (यह देवताध्यायब्राह्मण ३ में बताया जा चुका है और Bibl. Ind संस्करण के Vol V, पृ० ६०१ पर छपा है) इसलिये इन तृचों के सामरूपोंका बतलाना व्यर्थ होता। ऊहगान का ग्रामगेयगान (तथा उत्तरार्चिक का पूर्वार्चिक) के साथ संबन्ध अब स्पष्ट हो जाता है— उत्तरार्चिक के वे तृच, जिनके कि पहले मंत्र पूर्वार्चिक के कुछ विशिष्ट मंत्रोंसे अभिन्न है और जिनके कि राग ग्रामगेयगान में बतलाये गये हैं, (यानी उक्त तृचों के तीनों मंत्र) उसी राग में गाये जाने चाहिये। यह सब मामला यहीं तै हो जाता यदि ग्रामगेयगान और आरण्यगान में केवल वही राग होते जिनका प्रयोग सोमयागमें होता है और जो कि दो अन्तिम गानग्रंथों में पाये जाते है।

परन्तु बात तो यह है कि "पूर्वार्चिक में बहुतसी योनियां है और बहुत से गानप्रकार है, जो कि उत्तरार्चिक के गानों में नहीं मिलते।+" और इसी प्रकार "उत्तरार्चिक

❀ दोनों गानग्रंथों के सामों की एक महत्त्वपूर्ण सूचि उषा में प्रकाशित सामप्रातिशाख्य (अर्थात्-फुल्लसूत्र) प्रपाठक १ तथा २ में दी हुई है, जहां कि सामों के नाम संक्षिप्त दिये हुए हैं। Bibl. Ind. के S. V. संस्करणमें ऊह, तथा ऊह्य गानों के साम मिलने अत्यन्त कठीन क्योंकि सूचीमें बहुतसी अशुद्धियां हैं।

× गायत्रं वै प्रातःसवनम्, ऐत० ब्रा० द. ३.८; त. सं. २. २. ९. ५.

+ देखिये-Winternitz Geschichte der Indischen Literature I. p. 145

में बहुत से गान हैं, जिनका गानप्रकार पूर्वार्चिक में नहीं मिलता।" इस बात से यह सिद्धान्त निकाला गया है कि "उत्तरार्चिक की उत्पत्ति पूर्वार्चिक के अनन्तर हुई है+।" परन्तु मेरी रायमें यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, बल्कि मैं तो उत्तरार्चिक को पूर्वार्चिक से प्राचीन मानता हूं। क्योंकि छंदोगों के यज्ञविधान में केवल उन्हीं रागों का प्रयोग नहीं होता, जो केवल उद्गाताद्वारा गाये जाते हैं, अपितु बहुत सी स्तोत्रीया तथा सामों का प्रयोग होता है, जो कि अधिकतर प्रस्तोताद्वारा और कभी उद्गाताद्वारा अकेले (परिसाम) गाये जाते हैं और जिनका संकुचितरूपयुक्त सोमयागमें ही सिर्फ प्रयोग नहीं होता, बल्कि प्रवर्ग्य, अग्निचयन, अग्न्याधेय तथा अन्य स्थानों में भी प्रयोग होता है। इन गानप्रकारों का भी तो निर्देश होना चाहिये था। यद्यपि मैने उन सब स्थलों को पूर्ण रूप से नहीं खोजा है, जनमें कि एक साम पहले दोनों गान-ग्रंथोंमें पाया जाता हो, तथापि यह मालूम कर सका हूं कि पहले गान-ग्रंथ में पाये जानेवाले सामों की एक बहुत बडी संख्या का प्रयोग केवल विशिष्ट याज्ञिक विधियों में ही होता है। इसके विरुद्ध जब Winternitz ऐसा कहते है, कि उत्तरार्चिक में बहुत से ऐसे 'गान' हैं, जिन का गानप्रकार पूर्वार्चिक मे कहीं नहीं मिलता, तो यदि वे 'गान' का अर्थ 'योनि' रखें, तो ठीक हो सकते है। (आर्चिकों में 'गान' है ही कहाँ ?)। परन्तु हम ऊपर बता चुके है कि इसका क्या उत्तर है— **उत्तरार्चिक की वे सब योनियां, जिन से संबन्ध रखनेवाले कोई साम पूर्वार्चिक में (या यों कहिये कि ग्रामगान या आरण्यगान में) नहीं मिलते, प्रातःसवन में काममें लाई जाती हैं** और क्योंकि वे सब योनियां **गायत्र-राग** में गाई जाती है, इसलिये इनके वास्ते किसी रागविशेष को अलग बतलाने की आवश्यकता नहीं हुई। यह माना कि ऐसे बहुतसे सामलक्षण, विशेषकर ऊह्यगान में, मिलते हैं, जिनका पहले दोनो गान-ग्रंथोंसे ठीक इसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता, तथापि यदि मैं भूल नहीं करता हूं, तो ये साम बिलकुल नवीन नहीं हैं, अपितु पूर्वपरिचित सामों के रूपान्तरमात्र है।

चार गानग्रंथों में अभी तक मैने ऊह्यगान का इतर गानग्रंथों से संबन्ध नहीं बतलाया है। ऊहगान का उद्देश्य भी, अपने पर्वों के नाम के अनुसार, वही है जो कि ऊहगानका है। मेरी समझमें Burnell (catalogue of a collection of sanskrit mss, part I, vedic mss,p.48)ने ठीक कहा है कि 'ऊह्य' शब्द 'ऊहरहस्य' का संक्षिप्त रूप है। **जो ऊहगान का ग्रामगेयगान से संबन्ध है ठीक वही संबन्ध ऊह्यगानका आरण्यगान से है।** ऊह्यगान की सूक्ष्म परीक्षा से यह पता चलता है कि यह गानग्रंथ ऊहगान का परिशिष्ट भाग नहीं है। सोमयागों में प्रत्येक साम, विना किसी अपवाद के, प्रयोग मे आता है और उन सामों का क्रम निःसंदेह बिलकुल वही है, जो कि ऊहगान में है, लेकिन हां, उनमें ऊह्यगान के साम भी मिले रहते हैं। प्रारंभ के एक ही उदाहरण को लीजिये-ज्योतिष्टोम- अग्निष्टोम मे प्रयुक्त होनेवाले लगभग सब सामों का क्रम वही है, जैसा कि ऊहगान में— बस एक साम की कमी रह जाती है और वह है '**रथन्तर**' और यह साम ऊह्यगान का सर्वप्रथम साम है। मैं इस समस्याको भी हल करने में समर्थ हुआ हूं। ऊह्यगान, इसलिये सामो का एक विशिष्ट संग्रह है, क्योंकि इसमें दिये हुए साम अपने रागो (और नामो) के अनुसार आरण्यगान से संबद्ध है।

जिसने ऊपर लिखे वर्णन को ध्यान से पढा होगा वह अब एक प्रश्न कर सकता है— (गायत्र-राग में गाये जानेवाले सामों को छोडकर) यज्ञमें काम आनेवाले समस्त साम, जिनकी योनियां उत्तरार्चिक में दी हुई है, अगर ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान में दिये हुए रागों के अनुसार गाये जाते हैं, तो भला ऊहगान तथा ऊह्यगान नामक दो अंतिम गानग्रंथों का प्रयोजन ही क्या रह गया? स्वयं प्राचीन भारतीयों की रायें भी इस बात पर भिन्न भिन्न है— कि ऊहगान मनुष्यकृत है अथवा नहीं— "**ऋषिकृतः स्विद् ऊहा३ अनृषिकृत इति वै खल्वाहुः।**" (निदानसूत्र २. १.)। सत्यव्रत सामश्रमी '**ऊषा**' में प्रकाशित '**त्रयीपरिचय**' नामक अपने लेख में १०५ पृष्ठपर सामवेद के किसी भाष्यसे निम्नलिखित श्लोक का उद्धरण करते है--

ऊहग्रन्थोऽपौरुषेयः पौरुषेयोऽथवाग्रिमः।
वेदसामसमानत्वाद् विधिसार्थत्वतोऽन्तिमः॥

× देखिये "विंटरनिट्झ पृ. १४५ (पृ० १५४ परकी अन्तिम टिप्पणी)

अर्थात्— " क्या ऊहगान पौरुषेय है अथवा अपौरुषेय ? यज्ञविधि से संबद्ध होने के कारण यह पौरुषेय है और सामवेद के समकक्ष होने के कारण यह अपौरुषेय भी है ।" (अर्थात् सूत्र पौरुषेय है) । सत्यव्रत सामश्रमी स्वयं तो इसको पौरुषेय मानते है । इस विषय में हमारे लिये सबसे महत्त्व की बात है, वह ' प्रकार ' जिस के अनुसार क्षुद्रसूत्र (इस ग्रंथ पर आगे देखिये) में सामोंका निर्देश किया है और जो सबके सब साम हमें ऊहगान तथा ऊह्यगान में मिलने चाहियें और मिलते है । मैं इस ग्रंथ (क्षुद्रसूत्र) से दो उदाहरण लेता हूं । आरंभ में ही कहा है–

' नौधसस्यर्क्षु जनित्रं ब्रह्मसाम न हि वश्चरमं चनेत्येतयोः पूर्वम् । '

अर्थात्— " नौधस-साम के मंत्रोंमें (यानी- उत्तरार्चिक १. १. १३, १–२= ३५–३६) (वह) जनित्र को, अर्थात् ' नहि वश्चरमं चन ' इस से प्रारंभ होने- वाले दो सामों में से पहले को, ब्रह्मसाम के रूप से (अर्थात् तीसरे पृष्ठस्तोत्र के रूपसे) (गाता है) । "

उद्धृत वाक्य पूर्वार्चिक ३. १.५. ९.=२४१ का निर्देश करता है । इन मंत्रोंमें वास्तव में दो जनित्रसाम हैं (ग्रामगेयगान ६. २. १७ और १८) और यहाँ पर पहले से अभिप्राय है । अब यह जनित्रसाम ऊहगान में (१३. १. ५) तृच— उत्तरार्चिक ३५–३६— बन जाता है (एक भागको दुहरा कर दो सामो के तीन बन जाते है) क्षुद्रसूत्र १. ६ में लिखा है—

'अन्नाद्यकामस्येन्द्रा याहि धियेषित इति मध्यमां तृचस्य प्रभृतिं कृत्वा तासु कालेयम् । '

अर्थात्— " अन्न चाहनेवाले के लिये (वह) 'इन्द्रा याहि धियेषित' नामक मध्यभाग के मंत्र को तृच की पहली ऋचा बना कर, (इस क्रम से बनी हुई तीन) ऋचाओं द्वारा कालेय को (गाता है) । " यानी ४९६, ४९७, ४९८ ऋचाओं को ४९७, ४९६, ४९८ के क्रम से लेकर कालेय राग से (जो कि ग्रामगेयगान ६. २. ७ पर दिया हुआ है) गाना चाहिये । अब ऊहगान (१३.२. २.४.) में यह साम बिलकुल वैसा ही दिया हुआ है, जैसा कि सूत्र- कार ने कहा है । मशककल्पसूत्र में इससे मिलताजुलता ही कहा है । वहां लिखा है (९. ९)

'औशनस्यर्क्षु वैश्वज्योतिषमन्त्यं यत्प्रगायन्तीति ॥

अर्थात्—"पूर्वार्चिक ५३५ को ग्रामगेयगान (१५.२.२०) के वैश्वज्योतिष-राग में उत्तरार्चिक २७–२९ के साम (बनाता है ?) " जो कि सचमुच ऊहगान में (१९. १.७) इसी रूप में मिलते हैं । मशककल्पसूत्र ११. १० में लिखा है–

' पुनानः सोम धारयेति.. ..सँसर्पमेकस्यां यत् तृतीयम्,...इयेतस्यर्क्षु सँसर्पं यत् प्रथमम्....... पुरोजिती वो अन्धसा इति.. ...सँसर्पं त्रिषु यद् द्वितीयम् ।'—

इसका अभिप्राय यह है —१. वह गान जिसका कि राग पहला सँसर्प है (आरण्यगान २, १.१) उत्तरार्चिक २. २६ में गाया जायगा । २. वह गान जिसका कि राग दुसरा संसर्प है (आ० गा० २. १. २) इयेतसाम के मंत्रों में (अर्थात् उत्तरार्चिक १६१–२) गाया जायगा । ३. वह गान जिसका कि राग तीसरा सँसर्प है (आ० गा० २. १. ३) उत्तरार्चिक २. ४७–९ में गाया जायगा। ऊपर लिखे सामों को हम क्रमसे ऊह्यगान ९. २. ६, ७, ८ में पाते हैं । यदि ऊह्यगान सूत्रकार के सामने होता, तो वह दूसरी प्रकार से इसी बात को कहता और 'यत् तृतीयम्, यत्प्रथमम्, यद् द्वितीयम्' इस क्रम के स्थान पर ' यत् प्रथमम्, यद् द्वितीयम्, यत् तृतीयम्' ऐसा क्रम बतलाता । इसी प्रकार ५. ९ में एक 'महासामत्रयाणां यत् प्रथमम्' और 'यद् द्वितीयम्' का निर्देश किया गया है, जो कि निःसंदेह ऊह्यगान मे (३. २. २ और ३) आये है। टीकाकार के मतानुसार यहां अभिप्राय ' हा उ हा उ हा उ अस् फट् इत्यादि' इस साम (राग) से है । अर्थात् वास्तव में आरण्यगान २, १, ३६ का प्रारंभ और वह साम जिनका प्रारंभ इन शब्दों से होता है, **'त्रीणि रुद्रसामा- नि '** कहलाते हैं । और क्योंकि ऊह्यगान में केवल दो साम मिलते हैं, इससे पता चलता है कि मशक ने साक्षात् ऊह्यगान का निर्देश नहीं किया है । अतः दोनों अन्तिम गानग्रंथ अपनी वर्तमानावस्था में बाद के समय के बने हुए प्रतीत होते हैं । इसकी साधक यह बात भी है कि प्राचीन. ग्रंथों में (ब्राह्मण, सूत्र) कहीं भी ऊह या ऊह्य का नाम नहीं मिलता । तथापि यह बात निर्विवाद है कि सोमयाग- प्रकरण में जिस साम को **'ग्रामे गेयम्'** या **'अरण्ये गेयम्'** ऐसा कहा जाता है, उसका स्वरूप वह समझना

चाहिये, जैसा कि ऊहगान और ऊह्यगान में दिया हुआ है। उदाहरणार्थ-द्राह्यायण ९. ३. ८ (= लाट्यायन ३.६. २८) में कहे गये '**तस्य बृहत्यामरण्ये गेयानि तृचेषु**' इस वाक्य का अभिप्राय **ऊह्यगान** १. २-३-६ से है। 'ग्रामे गेयः श्येनः' (लाट्या० ७.४.१) का **अर्थ है**, वह जो कि ग्रामगेयगान १०. १. २९ में दिए हुए राग के अनुसार गाया जाता है, और यह ऊहगान १८. १.१८ में दिया हुआ है। '**अरण्ये गेयः श्येनः**' (लाट्या० ७.५. १३) का अर्थ है, वह साम जो कि आरण्यगान ३. १. १९ में दिये गये राग के अनुसार गाया जाता है और यह ऊह्यगान १ १. १९ में दिया हुआ है। गानग्रंथ का स्वयं नाम भी हमारे मत की पुष्टि करता है, क्योंकि 'ऊह' से पहले 'प्रकृति' होनी चाहिये। यहाँ पर द्राह्यायण १०. १. ११ (=लाट्या० ३. ९. १२) कथन देखिये

' विश्वे देवा इति वसिष्ठस्य निहवं ऊहेत्। '

'वसिष्ठस्य निहव' नामक राग ग्रामगेयगान ८. १. ३६ में मिलता है। इसी राग के अनुसार अब **आरण्यक संहिता** (३. ९) में दिये हुए मंत्र गाने चाहियें। इस अवस्था को प्राप्त साम **ऊहगान** ९. ३. १२ में मिलता है। और सूत्रकार की यह कथनशैली भी हमारे इस मत की पोषिका है कि सूत्रकार के समय में दोनों अन्तिम गानग्रंथ नहीं बने थे। यदि ये उनके सामने होते, तो सूत्रकार की कथनशैली भिन्न होती। अतः न केवल कोनो(Konow)का ही मत (देखो पृ० १, नोट २), कि आरण्यगान का नाम 'रहस्य' है, ठीक है, अपि तु Burnell भी ठीक है जब कि वह ऊह्यगान का नाम 'रहस्यगान'बतलाता है। स्वरूपतः ग्रामगेयगान और ऊहगान, तथा आरण्यगान और ऊह्यगान एक ही हैं। या यों कहिये कि एक में दूसरे का पूर्ण अन्तर्भाव है।

तथापि मुझे यहां एक बात बतला देनी चाहिये, जो कि मेरे पक्षके विरुद्ध प्रतीत होती है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि मशककल्पसूत्र और क्षुद्रसूत्र, किसी ऊहगान तथा ऊह्यगान का पूर्ववर्तित्व मानते हैं। मशककल्पसूत्र ६.८. में लिखा है—

'आमहीयवद् उत्तराण्याग्नुभार्गवप्रभृतीनि षट्' और **'अग्रेबार्कात् उत्तराणि सुरूपप्रभृतीनि चत्वारि'**

ऐसे वचन हम को बाधित करते हुए मालूम पड़ते हैं कि, हम यह मानें कि सूत्ररचनाकाल में कोई न कोई न ऐसा संग्रह रहा होगा, जिस में सोमयागप्रकरण में गाये जानेवाले साम क्रमशः दिये होंगे। किन्तु इस विरोध का परिहार इस प्रकार होना संभव है-उदाहरणार्थ यह असंभव नहीं कि मशककल्पसूत्र के प्राचीन संस्करण में यहां पर संगृहीत समस्त साम नामद्वारा निर्दिष्ट थे, किन्तु परकालवर्ती संस्करणकर्ताओंने, जिनके सामने ऊहगान मौजूद था, इन वचनों को संक्षिप्त कर डाला।

अब मैं सामवेद के प्राचीन भाग की उत्पत्ति के विषय में अपना सिद्धान्त संक्षेप मे वर्णित करता हूं। सोमयाग और अग्न्याधान, अग्निचयन, प्रवर्ग्य, इत्यादि कर्मकाण्ड, ऐतिहासिक काल से बहुत पूर्वही जन्म ले चुके थे। इन अवसरों पर भिन्न भिन्न साम गाये जाते थे– सोमयाग में (साम) तृचों के स्वरूप में (प्रत्येक स्तोत्रीया उसी राग में), और दूसरे क्रियाकाण्डों में, एक एक स्तोत्रीया के स्वरूप में भी (किन्तु तीन तीन बार दुहरा कर) ऐतिहासिक काल से पूर्व ही, इन सब का आधारभूत एक मंत्रों का संग्रह बन चुका था जो कि भिन्न भिन्न शाखाओं के अनुसार भिन्नभिन्न था।

यह मंत्रसंग्रह एक संहिता के रूपमें लाया गया, जिसमें कि यज्ञमें काम आनेवाले क्रमके अनुसार मंत्रोंका क्रम रक्खा गया –यह बना **उत्तरार्चिक**। अब रागों को याद रखने की सुविधा तथा रागों को नियम-बद्ध करनेके अभिप्राय से, बहुत पूर्व ही ऋषियों द्वारा 'दृष्ट' गानप्रकारों के आधार पर एक सूची बनी, जिसमें कि तृच की केवल पहली ऋचा के रागको देने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार **ग्रामगेयगान**, **आरण्यगान** और **योनियों** की सूची जिनमे कि इन रागो का प्रयोग होता था, (**पूर्वार्चिक** और **आरण्यक-संहिता**) उत्पन्न हुए। दोनो पहले गानग्रंथो में वे साम भी दे दिये गये, जो कि अन्य क्रियाकाण्डों में प्रयुक्त होते थे। वह प्रकार जिसके अनुसार ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान में दिये हुए रागों का रूपान्तर किया जाता है और उनमें से वैसे साम बनाये जाते हैं, जैसे सोमयाग में प्रयुक्त होते हैं, यदि मैं गलती नहीं करता, तो वह प्रकार परकालवर्ती सूत्र-साहित्य द्वारा

विशेषकर पुष्पसूत्रद्वारा, नियमित किया गया* । जो वेद का अध्येता छन्दोग बनना चाहता था, वह इन सूचियों का अध्ययन करता था । -- ग्रामगेयगान को पूर्वार्चिक के साथ **ग्राममें** (अध्ययन करता था); **और** आरण्यगान को आरण्यकसंहिता के साथ, पवित्रता तथा भय इत्यादि के कारण, **जंगल में** । इसीलिये ये भिन्न भिन्न नाम पडे । इस मत का कोई आधार नहीं है कि ग्रामगेयगान में केवल वह गान है जो कि ग्राममें किये हुए सोमयज्ञ में गाये जाते हैं और आरण्यगान में वह गान हैं, जो कि जंगल में किये जानेवाले सोमयज्ञ के समय गाये जाते हैं। (देखो Winternitz Gesehichte der Ind. Literatur I, पृ० १४५)

अतः अन्तिम दोनों गान-ग्रंथ (ऊह, ऊह्य,) इस साहित्य के अनन्तर, ऊपर लिखे हुए नियमों के अनुसार रचे गये और प्रकाशित किये गये । भारतीयों का यह सन्देह कि ऊह (तथा ऊह्य) **पौरुषेय हैं** अथवा **अपौरुषेय,** अत्यन्त कारणसङ्गत है । अपने उद्गम के दृष्टिकोण से ये **अपौरुषेय** हैं, और रचना के दृष्टिकोन से पौरुषेय है । और हमारी गवेषणा का यह परिणाम ऊपर उद्धृत किये हुये सामवेदभाष्य के श्लोक से पुष्ट होता है ।

जिस मूल-ग्रंथ का हम यहां पर वर्णन कर रहे हैं, वह कौथुम शाखा का है । हमारा यह वर्णन कहां तक **राणायनीय** शाखा को भी लागू है, इसकी सूक्ष्म गवेषणा करनी होगी । वेबर (Weber)ने पहले ही + कुछ पाठभेदों - का निर्देश किया है, जो कि स्टीवनसन (Stevenson) और बेन्फे (Benfey) के संस्करणों में मिलते हैं-विशेष ध्यान योग्य निम्नलिखित है —

२. ७. २. १. १. (= 2. 885) जहां पर Benfey का पाठ है- 'कोह कस्मिन्नसि श्रितः।' किन्तु Stevenson का पाठ-' को ह रुस्मिन्नसि श्रितः । ' २. ७. ३. १०. ३ (= २. ९४२) यहां Benfey का पाठ है— 'रोचमानो वयो दधे । ' किन्तु Stevenson का पाठ है- 'रोचमानो गभस्तयोः । ' Stevenson का उत्तरार्चिक का पाठ भी कुछ कुछ Benfey के पाठ से भिन्न है । राणायनीयों का कौथुमो से सामों के स्वर तथा अंकनिर्देश में तो भेद है ही, यह बात सत्यव्रत सामश्रमीने अपने **त्रयीसंग्रह** नामक

* क्यों कि **पुष्पसूत्र** इतना कठिन है कि बिना टीका या भाष्य के समझ में नहीं आ सकता, इसलिये मै इसका अच्छी तरह अध्ययन नहीं कर सका हूं, बल्कि सरसरी दृष्टि से देखा है । लेकिन मुझे यह प्रतीत होता है कि इस सूत्र का उद्देश्य शायद यह है—उन नियमों का प्रतिपादन करना जिनके अनुसार उत्तरार्चिक के तृच और प्रगाथ, ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान में दिये हुए रागों में परिणत कर के अभ्यासार्थ बनाये जा सकें । इसमें संदेह नहीं कि सूत्र के प्रारंभ में दी हुई सूची में (१और २प्रपाठकों में) कभी कभी उन मंत्रों की भी प्रतीकें मिलती हैं, जो मंत्र केवल पूर्वार्चिकमे मिलते हैं । (उदाहरणार्थ ५३५. ५५६. ५६७. ५८४) । ये प्रतीकें शायद जैसा कि मशककल्पसूत्र में लिखा है, ग्रामगेयगान के सामों की नहीं हैं, बल्कि उन रागों की है, जिनके अनुसार कि उत्तरार्चिक के मंत्र गाने चाहियें । (देखिये १५७ पृष्ठ पर मशककल्पसूत्र ९.९ का उद्धृत वचन) । लेकिन एक स्थान पर बात बिलकुल भिन्न है । उदाहरणार्थ, पूर्वार्चिक के अन्तिम दोनों मंत्र (५८४, ५८५) जो कि शार्करसाम (ऊह ४. १. ११) और शंकुसाम (ऊह १८. २. १) के आधारभूत हैं। क्या ऐसे स्थलों में यह समझना चाहिये कि उत्तरार्चिक संपूर्ण नहीं है ? इन दोनों मंत्रों के बारेमें एक बात अवश्य पक्की है कि, ये दोनों जैमिनीय—शाखा में पूर्वार्चिक के स्थान पर उत्तरार्चिक (३. ४०, १-२) में पठित हैं। सामवेद के प्राचीन मूल के बारे में यदि मेरा मत सिद्ध माना जाय, तो यह प्रतीत होगा कि 'ऊह' तथा 'ऊह्य' के निर्माण के अनन्तर पुष्पसूत्र की व्यावहारिकता नष्ट हो गई है, इसका महत्व केवल साहित्यिक तथा ऐतिहासिक रह गया है । पुष्पसूत्र के अध्ययन में व्यापृत (R. Simon) सीमन की गवेषणायें यह बतलायेंगी कि मैं कहां तक ठीक हूं।

\+ Indische Studiem I, p. 63.

लेखमें (जो कि ' उषा ' नामक पत्रिकामें छपा है), विशेषकर सेतुसाम के बारे में, तथा उसपर **त्रयी टीका** में (पृ० २४९) साफ बतलायी है कि कौथुम इस साम को ' हा उ ' से प्रारंभ करते हैं, किन्तु राणायनीय 'हाऽ वु' से। सायण, जिसको सब जानते हैं कि उसने राणायनीय शाखा का अनुसरण किया है, के द्वारा प्रणीत एक प्रयोगमें (देखिये Caland - Henry lagnistoma, p. XX) मैंने सदा यह पाया कि भंग अथवा छेद का परित्याग किया गया है (जैसे ' रा इ ' का प्रयोग न कर ' रा यि ' का प्रयोग किया गया है) और इस बात में सत्यव्रत सामश्रमी के कथन से संमति भी है। Burnell प्रणीत हस्तलिखित-ग्रंथसंग्रह में (देखिये Catal. of a Collection of Sanskrit Manuscripts, part I, 47 ff) केवल कौथुमों के ही गानग्रंथ नहीं अपि तु राणायनीयों के भी मिलते हैं। राणायनीयों के गानग्रंथ कौथुमों के गानग्रंथों से कहां तक भिन्न है, इस विषय का स्पष्टीकरण अत्यन्त महत्त्व का होगा।

आरण्यकसंहिता का कुछ ही भिन्न एक और शाखा-भेद मिला है, जिसका नाम **नैगेय** है। इस शाखा का कौथुम से केवल इतना भेद है कि ' आकन्दय ' नामक मंत्र (सामवेद Bibl. I., Vol. II, 426-427) नैगेयशाखा में पहली दशति का दसवां मन्त्र है, + परन्तु कौथुमशाखा में यह मंत्र और इससे संबद्ध साम आरण्यगान में आये है। ×

(आ) ब्राह्मण।

१. **ताण्ड्य**-या **प्रौढ**- या **पञ्चविंशब्राह्मण** (Biblio. Indica संस्करण)

२. **षड्विंशब्राह्मण**-विद्यासागरका संस्करण (कलकत्ता १८८१) प्रथम प्रपाठक K. Klemm का भी संस्करण (Guterslot 1894)

३. **सामविधानब्राह्मण**, Burnell का (London 1873) तथा सत्यव्रत सामश्रमी का (**उषा** में प्रकाशित १८९१-१८९२) संस्करण।

४. **सामविधान ब्राह्मण**-Burnell (Mangalore, 1876) द्वारा तथा सत्यव्रत सामश्रमीद्वारा (उषा, कलकत्ता १८९५) प्रकाशित।

५. **देवताध्यायब्राह्मण**— Burnell द्वारा (Mangalore, 1873) तथा विद्यासागरद्वारा षड्विंश ब्राह्मण के साथ प्रकाशित।

६. **उपनिषद्ब्राह्मण**-जिसके पहले दो प्रपाठक **मन्त्र-ब्राह्मण** है। सत्यव्रतसामश्रमीद्वारा (उषामें १८९०) प्रकाशित; प्रथम प्रपाठक को K. Stonner (Halle a s. 1901) ने भी प्रकाशित किया है। इसके ही अन्तिम ८ प्रपाठक छान्दोग्य उपनिषद् है, जिस उपनिषद् को Roer ने Bilbio. Indica में प्रकाशित किया है।

७. **संहितोपनिषद्ब्राह्मण**-Burnell (Mangalore 1877) द्वारा प्रकाशित।

८. **वंशब्राह्मण**- Burnell (Mangalore 1873) तथा सत्यव्रत सामश्रमीद्वारा (उषा १८९२ में) प्रकाशित.

अब तक की गवेषणाके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये ब्राह्मण कौथुम तथा राणायनीय दोनों शाखाओं के है।❋

(इ) सूत्र तथा अन्य कर्मकाण्डात्मक ग्रंथ।

१. **मशककल्पसूत्र**— जिसका कि दूसरा नाम

+. Benfey's Samaveda, Nachtr. und Verb, Page 268

×. जब यह मैं लेख लिख चुका था, तब मुझे Oldenberg का दोनों सामवेदार्चिकों पर लेख (Z. D. M. G. XXXVIII, p. 464) पढ़ने को मिला। मेरे विचार कुछ कुछ Oldenberg से मिलते जुलते हैं।

❋ भविष्य में शायद गवेषणाद्वारा ब्राह्मणों में भी शाखाभेद मालूम पडे। मेरे विचार का आधार यह है कि अभी स्वयं षड्विंशब्राह्मण के (कौथुम और राणायनीयों के अनुसार) दो भेद मिलते हैं। आर्षेय ब्राह्मण में भी भिन्न भिन्न पाठ मिलते हैं, जिनसे यही सिद्ध होता है।

आर्षेयकल्प भी है, केवल हस्तलिखित अवस्था में प्राप्त है। जो थोडा बहुत हमें इसके बारे में मालूम है, उसका आधार Weber का कथन है, जो कि हमें उसके द्वारा प्रकाशित Berlin के हस्तलिखित·· संस्कृत- ग्रंथों की सूची में मिलता है। इस ग्रंथ की सूक्ष्म गवेषणासे तथा इसकी लाट्यायन— द्राह्यायण सूत्रों के साथ तुलनासे यह पता चलता है कि यह कल्प अत्यन्त प्राचीन होना चाहिये, तथा इस श्रौतसूत्र का निर्माता प्रसिद्ध रहा होगा। इस (कल्प) से ब्राह्मण का पूर्ववर्तित्व होना सिद्ध होता है। यह (कल्प) निःसंदेह कौथुम या राणायनीय शाखा का है ×, जैमिनीय का नहीं। यह सामों के नाम से निर्विवाद सिद्ध है। मेरा विचार है कि सामवेदीय कर्मकाण्ड के इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का भे एक संस्करण प्रकाशित करूं।

२. क्षुद्रसूत्र-इस ग्रंथ का तो अबतक केवल नाम ही मालूम है। देखिये-

Weder: Ind Stud. I. 56, 58; Ind. Literaturgesch, 2, p. 92, M Muller's A Histroy of ancient Sankrit Literature p. 210. जहाँ तक मुझे मालूम है, इस ग्रंथ की गवेषणा अभी तक कभी नहीं हुई। आर्षेयकल्प में वर्णित कर्मकाण्ड ऊहगान २० (वें तक) तथा ऊह्यगान ४. २. ८ तक मिलता है और अन्तिम दो पर्वो (प्रायश्चित्त तथा क्षुद्र) के कर्मकाण्ड का वर्णन वहाँ नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि क्षुद्रसूत्र आर्षेयकल्प का परिशिष्ट है। और जैसा कि मुझे India office की एक हस्तलिखित प्रति की गवेषणा से पता चला है, यह अनुमान ठीक ही है। क्षुद्र सूत्र में तीन प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक के दो दो भाग है। इस में किसी विशेष कामना से किये जानेवाले एकाह, अहीन और सत्र, अर्थात् काम्य अध्वरों का वर्णन है। यह ग्रंथ भी गानग्रंथों से अत्यन्त सम्बद्ध है और इसमें क्रम भी वही है, जो कि इनको परिचित है। इसकी शैली अत्यन्त प्राचीन तथा ब्राह्मण-ग्रंथों जैसी है और भाषा और विषय की दृष्टि से यह ग्रंथ बडे महत्त्व का है। दुर्भाग्य से इस पर कोई टीका नहीं मिलती। अतः इसका समझना अत्यन्त कठिन है। मेरा विचार है कि मशककल्प सूत्र के साथ इस ग्रंथ को भी प्रकाशित करूं।

३. लाट्यायन श्रोतसूत्र-(Bibliotheca India संस्करण)

४. गोभिल-गृह्यसूत्र— Knauer द्वारा प्रकाशित (Dorpat 1884) कुछ परिशिष्टों सहित Bibl. Ind. में भी छपा है।

५. गोभिल अथवा वासिष्ठ-विरचित श्राद्धकल्प (लेखक का Altindischer Ahnenkult पृ. ११३ देखिये)। Biblio. Ind. में गोभिलसूत्र के परिशिष्ट भाग में छपा है।

६. कर्मप्रदीप अथवा छन्दोगगृह्यपरिशिष्ट,-जीवानन्द विद्यासागरद्वारा (धर्मशास्त्रसंग्रह, कलकत्ता १८७६ में) प्रकाशित। इसका १ ला प्रपाठक fr, Schrader ने भी प्रकाशित किया है। (Halle a. s. 1889)। दूसरा प्रपाठक V. Stael-Holstein (Halle 1900) द्वारा प्रकाशित।

७. गृह्यासंग्रह-Bloomfield द्वारा Z.D.M.G 35 में गोभिल के संस्करण में प्रकाशित और उषा नामक पत्रिकामें भी मुद्रित।+ ऊपर लिखे समस्त ग्रंथ कौथुमशाखा के हैं। यद्यपि मशककल्पसूत्र और क्षुद्रसूत्र के बारे में यह बात अभी पक्की तौर पर नहीं कही जा सकती।

× टीकाकार वरदराज, इस बात को निश्चितरूप से प्रकट करता है कि वह राणायनीय शाखावलम्बी था, इसका प्रमाण वरदराजद्वारा किया हुआ अग्निष्टोम का वर्णन है जो कि द्राह्यायण की पद्धति के अनुसार है।

+ कौथुमशाखा के समस्त ग्रंथों की पूरी सूची बनारस १८८६ में प्रकाशित गोभिलीय गृह्यकर्म— प्रकाशिकका के १२५ पृष्ठ पर मिलती है।:—

द्विपञ्चाशदिमे ग्रन्थाः शाखायाः कौथुमेरिह। प्रोक्ताः सामोद्भवौ यस्माच्छ्रौते स्मार्ते सुनिश्चिताः।
तस्माद्वै सामशाखायां ग्रंथमेवो निगद्यते। श्रौतस्मार्तोदिते यस्मान्न मुह्येत कथंचन ॥
वे (गे?) यारण्यकमूहोऽत्र रहस्यं गानमुच्यते। छन्दस्यारण्यके चैवं मन्त्राः सोत्तरकाः स्मृताः॥
छन्दस्यात्रियं स्तोमः सपदं स्याच्चतुष्टयम्। ताण्ड्यः षड्विंशकं सामविधानार्षेयके तथा॥

राणायणीय शाखा के ग्रंथ ।

यह अभीतक पूर्णतया निश्चित नहीं है कि कौथुमशाखा की संहिता तथा गानग्रंथ राणायनीयों को भी उपयुक्त है या नहीं । आजतक की गवेषणाके आधार पर × यह कहा जा सकता है कि निम्नलिखित कर्मकाण्ड केवल राणायनीय शाखा के हैं ।

१ द्राह्यायणश्रौतसूत्र-इसका कुछ भाग धन्विन् की महत्त्वपूर्ण टीकासहित Reuter के सुन्दर संस्करणमें छपा है ।

२ खादिर-गृह्यसूत्र—Oldenberg द्वारा प्रकाशित तथा अनूदित (S. B. E. XXIX) इसका एक संस्करण दक्षिणभारतमें भी प्रकाशित हुआ है। देखिये Stonner, मन्त्रब्राह्मण, भूमिका p. XVI.

(पूर्व टिप्पणी-) देवताध्यायवंशाख्यः संहितोपनिषत्तथा । अष्टमोपनिषच्चैव ब्राह्मणे समुदीरिताः ॥
नारदी लोमशी शिक्षा गौतमी चेति वै त्रिधा । कल्पसूत्रं तथा क्षुद्रं लाट्यायनकमेव च ॥
उपग्रंथः पञ्चविधो निदानं ताण्डयलक्षणम् । अनुपत् स्याद् अनुस्तोत्रं कल्पानुपदमेव च ॥
एतद्दशविधं सूत्रं सामगेषु च विश्रुतम् । ऋक्तंत्रं सामतन्त्रं च संज्ञाकरणमेव च ॥
धातुलक्षणकं च स्यादिति व्याकरणानि च । अनुक्रमणिका चेति नैगेयं च ततः परम् ॥
फुल्ल गोभिलगृह्यं च मन्त्रलक्षणकं तथा । गायत्र्यादिविधानं च ततः स्तोभानुसंहारः ॥
छन्दोगपरिशिष्टं तु गृह्यासंग्रह एव च । श्राद्धकल्पं ततो वेद्यासाधनं गोभिलीयकम् ॥
स्नानविधिरूपाकर्म श्रावणेन परो विधिः । द्विपञ्चाशदिमे ग्रंथा वृषोत्सर्गान्तगाः स्मृताः ॥

अर्थात् वे ग्रंथ ये है— ग्रामगेय, आरण्यगान, ऊहगान, ऊह्यगान छन्दस्य (– पूर्वाचिक), आरण्यक, उत्तरार्चिक तथा स्तोभ; पञ्चविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषद् और उपनिषद्; नारदीय शिक्षा ('उषा'मे), लोमशीय तथा गौतमीय शिक्षा (जो कि Burnell के हस्तलिखित ग्रंथो के संग्रह में मिलती हैं); आर्षेयकल्प, क्षुद्रसूत्र, लाट्यायन, उपग्रंथ ('उषा' में) पञ्चविध सूत्र (यहभी Burnell के संग्रहमें, देखिये- संहितोपनिषद्ब्राह्मण पृ०. १४), निदानसूत्र ('उषा' में), ताण्डयलक्षण, अनुपद, अनुस्तोत्र, कल्पानुपद(देखिये Ind.Stud. I,p. 43). ऋक्तन्त्र (Burnell-संहितापनिषद्, p.XVI) सामतन्त्र (Burnell आर्ष० ब्रा०; पृ. २४), संज्ञाकरण (पिछला Brack- et देखिये). धातुलक्षण, अनुक्रमणिका , नैगेय (Burnell – आर्ष० ब्रा०, पृ. २१), पुष्पं (फुल्ल) सूत्र (सामप्रातिशाख्यके नामसे छपा है । देखिये ऊपर पृ २, नोट २), गोभिलगृह्य, मन्त्र- (या कहिये मात्रा-) लक्षण (Burnell के संग्रह का नंबर B.496 और दक्षिण भारत में मुद्रित), स्तोभानुसंहार (Burnell, संहितोपनिषद्, पृ. १६ और दक्षिण भारत में मुद्रित), छन्दोगपरिशिष्ट (देखिये Ind. Stud. I, p. ५९), गृह्यासंग्रह, श्राद्धकल्प, वेद्यासाधन (?), स्नानविधि (गृह्यसूत्रे के परिशिष्टस्वरूप में Biblio. Ind. में मुद्रित), उपाकर्म, वृषोत्सर्ग (कोई एक परिशिष्ट !) । किन्तु संख्या ५२ पूरी नहीं होती । बहुत संभव है कि 'गायत्र्यादिविधान'में प्रस्तावसूत्र, प्रतिहारसूत्र तथा निधनसूत्रकाभी अन्तर्भाव है (देखिये Burnell- आर्षेयब्राह्मण, पृ. २५) मै यहांपर ग्रंथाक्षरोंमें Tiruvadi में मुद्रित संस्करण की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, जिसमें निम्न लिखित ग्रन्थ अन्तर्भूत है- छलप्रक्रिया षड्वार्गिकम् , छन्द आर्चिक-पदस्तोमपद-वेयगान-छलाक्षराणि, आर्चिकलक्षणम्; अवग्रहहितवाद्यम्, अवग्रहव्याख्यानम्, मात्रालक्षणम्, गायत्रविधानसूत्रम्, स्तोभानुसंहारः, सामप्रकाशकम्, तृतीयचतुर्थधार्यः, उपनिदान-सूत्रम्, सामस्वर निर्णयः ।

× देखिये- Konow Samavidh. br. p. 82 ; Stonner; Mantrabrahmana, p. XXXV

२

३ गौतमपितृमेधसूत्र(Abh. f. d. Kunde d' Morgenl. X. 3. pp. 63 ff) में Caland द्वारा प्रकाशित श्राद्धकल्प (Bijdragen tot de Taal-land-en volkenkunde van N. Inide में प्रकाशित) के साथ। और दक्षिणभारतमें पितृमेधकारिका सहित कृष्णस्वामी द्वारा प्रकाशित।

४ गौतमस्मृति (देखिये-लेखक Altind. Ahnenkult, पृ०१११) यह ग्रंथ तेलगूटीकासहित तेलगू अक्षरोंमें (पं० चेन्तसलराव) P. Chentsal Rao Puntulu द्वारा मद्रासमें सन् १८९० में प्रकाशित की गई है।

ये चारों ग्रंथ एकही शाखा के हैं, यह आभ्यन्तर कारणों से स्पष्ट होता है। हां, यह अभी निश्चित रूपसे मैं नहीं कह सकता कि ये राणायनीयशाखा के ही हैं। Weber (II × p. ९३) कहता है कि कर्मप्रदीप के टीकाकार आशार्क के मत में गोभिलीय गृह्यसूत्र, राणायनीय तथा कौथुमीय शाखा दोनों का है। अतः, यह असंभव मालूम पडता है कि कमसे कम खादिर-गृह्यसूत्र भी केवल राणायनीय शाखा का हो। हेमाद्रि भी (श्राद्धकल्प, पृ० १४६०, १४६८ देखिये पृ० १४२४) गोभिल को राणायनीयशाखा का सूत्रकार मानता है। इस संबन्ध में विशेष महत्व की बात तो यह है कि एक खादिरगृह्यसूत्र शार्दूल-सामगोंका भी मिलता है। देखिये—Report on a search for Sanskrit Mss. in the Bombay Presidency during the years 1891-95 by A. V. Kathavate, Bompay 1901, जहां पर ७९ नंबर पर शार्दूल-सामगोंका एक खादिरगृह्यसूत्र दिया हुआ है। यह ग्रंथ पूछने पर मुझे मालूम हुआ है, यत्र तत्र पाठभेदों को छोड कर Oldenberg द्वारा प्रकाशित खादिरगृह्यसूत्र से बिलकुल मिलता है। हेमाद्रि के श्राद्धकल्प से यह पता चलता है कि हेमाद्रिके समय में शार्दूलशाखाकी परंपरा जीवितावस्था में थी। श्राद्धकल्प के पृ० १०७८ पर एक वेदमन्त्र दिया हुआ है जो कि श्राद्धमें ब्राह्मण भोजन के समय, केवल कौथुम तथा राणायनीय शाखावलम्बियों द्वारा नहीं अपितु शार्दूलाशाखावलम्बियों द्वारा भी पढा जाना चाहिये।

३. अनिश्चित शाखाओं के ग्रन्थ।

निम्नलिखित ग्रंथ किस शाखा के हैं, यह जानना कठिन है।

१. गौतम-धर्मसूत्र-Stenzler द्वारा London 1876 में प्रकाशित। देखिये Buhler (S. B. E. II, PP. XLVIff) जो कि इसे सामवेद से संबद्ध मानता है।

२. (छान्दोग्य) परिशिष्ट-इसका नाम मुझे एक हस्तलिखित ग्रंथ से मालूम हुआ है (Burnell, a Catalogue of a collection of Skt. mss. part I, p. 57, number CLXXVIII) इसकी एक हस्तलिखित प्रति Whish के संग्रह में भी मिलती है (Winternitz, Catalogue of South Indion mss. p 119)

३. एक छन्दोगगृह्यसूत्र जो कि मेरे परिचित ग्रंथों से सब से भिन्न है, और जिसके केवल उद्धरण मिलते हैं (देखिये लेखक का Altind Ahnenkult p. 121)

४. निदानसूत्र-सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 'उषा' में प्रकाशित।

ऊपर नंबर २ का ग्रंथ कुल्लूक द्वारा मनु (२.४४) टीकामें उद्धृत परिशिष्ट नहीं है जैसा कि Burnell कहता है। यह न तो गोभिलसूत्र न खादिरसूत्र से साक्षात् संबद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित आठ व्रतों का उल्लेख है— उपनयन, गोदान, व्रातिक, आदित्यव्रत, महानाम्नीक, औपनिषद, भौतिक तथा ब्रह्मसामव्रत।

ऊपर के ४ नंबरवाले निदानसूत्र का एक लम्बा वाक्य (इस पर देखिये Weber: Ind. Stud. I pp. 44-46) गौतमपितृमेधसूत्र से अक्षरशः मिलता है — निदा सू०२,६ गौतम० पि० सू० १.७.१- ३७से बिलकुल भिन्न नहीं है। और क्योंकि वाक्य लाट्यायन (viii.8. 17) की अपेक्षा द्राह्यायण (xxiii. 4) से अधिक मिलता है; और क्योंकि निदा० सू० iv. 3 गोभिलीयसूत्र (iii2) की अपेक्षा खादिर सूत्र (ii.5) से अधिक संबद्ध है; इसलिये मुझे यह प्रतीत होता है कि यह विशिष्ट निदान-

× यह नाम किस आधार पर दिया गया है, इसकी खोज बडे महत्त्व की होगी।

सूत्र, कौथुमोंकी अपेक्षा राणायनीय शाखासे अधिक संबद्ध है। यह बात विशेष उल्लेख के योग्य है कि ऊपर लिखे हुए (देखिये राणायनीय शाखाके ग्रन्थ, नं. ३) गौतमपितृमेधसूत्र के दक्षिणभारतीय संस्करणमें यह लिखा है कि निदा० सू० २,६ का उद्धरण पातञ्जलनिदानसूत्र से लिया गया है। वीरराघव-प्रणीत प्रयोगमुक्तावली (Burnell, Catal. of a cole. of skt. Mss, part I, p.55) में भी पातञ्जल ही का नाम दिया है। इसके अनुसार निदानसूत्र के रचयिता का नाम पातञ्जल मालूम पडता है।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि कण्ठभूषण-टीका सहित तेलगू अक्षरों में मुद्रित **गृह्यरत्न** (मैसुर १८८१) में **गौतमगृह्य** नामक ग्रंथ कई बार उद्धृत किया गया है। प्रत्येक उद्धरण के आदि या अन्तमें 'अत्र गौतमः' 'इति गौतमः' लिखा हुआ मिलता है। गौतम के नामसे संबद्ध जितने भी उद्धरण इस ग्रंथ में हैं, वे सब मुझे अक्षरशः वैसेही खादिरसूत्रमें मिले। पितृमेधसूत्र, जो कि खादिरसूत्र से अत्यन्त संबद्ध है, परंपराद्वारा गौतम-प्रणीत ही बतलाया जाता है। हमें गौतमस्मृति और गौतमधर्मसूत्र नामक ग्रंथ भी मिलते हैं। क्या यह संभव है कि ये ग्रंथ गौतमप्रणीत हों और सामवेदकी एक विशिष्ट शाखा निर्माण करते हों? खादिरगृह्य राणायनीय शाखाका है, इस मतके समर्थन में मुझे कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु इसके विरुद्ध यह भारतीय परंपरा है कि यह (**खादिरगृह्य**) शार्दूलशाखावलम्बियों का गौतमीयशाखावलंबियोंका है।

४. जैमिनीय शाखाके ग्रन्थ

कौथुमीयादि शाखासे संबद्ध उपरीनिर्दिष्ट ग्रन्थोंके अतिरिक्त एक और सामवेदीय शाखा का साहित्य है। इस शाखा का नाम **'जैमिनीय शाखा'** है। सामवेद-साहित्य की सबसे महत्व की सेवा करनेवाले A. C. Burnell अत्यन्त महत्वपूर्ण जैमिनीय ब्राह्मण की हस्तलिखित प्रतियां युरोप में लाये हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है। इससे पूर्व इस ब्राह्मण का एक बहुत छोटासा भाग- अर्थात् तलवकार या केनोपनिषद्— ज्ञात था। इसी विस्तृत ब्राह्मण में से, जिसका कि पूरा संस्करण Prof. Oertel तैयार कर रहे हैं। Oertel ने पूरी उपनिषद् का प्रकाशन 1894 में (Journ. Amer. Or. Soc. vol. xvi) किया है। समय समय पर इस ग्रंथके कुछ भाग विद्वानों ने प्रकाशित किये है, जैसे Burnell ("A legend from the Talavakara or Jaiminiya Samaveda, Mangalore 1878,) Oertel (J.A.O.S. xv, 233-251 xviii; 15-48, xix 97-125, xxiii 325-349; actes du xi me Congres des Orientalistes, Paris 1897 p. 226); Hopkins (J. A. O. S, xxvi, p. 58-65) इसके अतिरिक्त जैमिनीयशाखा का आर्षेय ब्राह्मण भी प्रकाशित हो चुका है (यह भी Burnell द्वारा, Manglore 1878)। तबसे इस सामवेद—शाखा पर बहुत कुछ गवेषणायें हो चुकी है। Burnell के Catal. of a collection Sanskrit mss, part I p 49, यह बात मालूम है कि जैमिनीय शाखा के ग्रामगेयगान तथा आरण्यकगान, गवेषणार्थ प्राप्य है। जैमिनीय गृह्यसूत्र, सुबोधिनी-टीकासे उद्धृत कुछ उद्धरणों सहित, मैंने प्रकाशित किया है। (Die literatur van den Samaveda en het Jaiminiyaguhyasutra" Verh der Koninkl. Akademie v. Wetensch. te Amsterdam Afd. Letterk. N. R deel vi nr. 2, 1905) अनुवाद, कारिका तथा पदसूची सहित श्रौतसूत्र frl. Dr. Gaastra ने प्रकाशित किया है (" Bijdrage tot de Kennis van het Vedische Ritueel· het Jaiminiyasrautasutra, Leiden, Brill, 1906), इसी समय Burnell द्वारा लाये हुए और India Office में रखे हुए हस्तलिखित ग्रंथो में मुझे संहिता भी मिल गई है। इस विषयमें मैं एक लेख "Versl. en Meded. der Kon. Akad. v. Wetensch.", Afd. Letterk. IV, Reeks VII, deel pag. 300-304 में लिख भी चुका हूं। अच्छा तो जैमिनीयशाखा में हमें निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—

१. संहिता; २. ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान; ३ ब्राह्मण; ४. उपनिषद्; ५. श्रौतसूत्र; ६. गृह्यसूत्र।

इस सूचीमें केवल ऊह तथा ऊह्यगान नहीं उपलब्ध है, संभव है कि यह अब भी दक्षिण-भारत में उपलब्ध

होते हों। पहिले मैं जैमिनीय शाखाके गानग्रंथोंका वर्णन करता हूं।

जैमिनीय शाखाके गानग्रंथ।

प्रथम दो गानग्रंथ (ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान) पूरे पूरे मुझे ३ हस्तलिखित प्रतियोंमें मिले हैं। Burnell की हस्तलिखित प्रतिमें, जो अभीतक सूचीपत्रमें नहीं दर्ज हुई, और अबतक बिलकुल अपरिचित थी, दोनों गानग्रंथ हैं। यह नीले कागजपर लिखी है, ग्रंथाक्षर लिपि है, त्रि (चनापली) से मिली है। इसके प्रारंभमें एक और ग्रंथ है जिसका नाम सभापतिविरचित धारणालक्षण है और यह लाल स्याहीसे शुद्ध किया हुआ है। धारणालक्षण जैमिनीय शाखाके साहित्यकी दृष्टिसे बडे महत्त्वका ग्रंथ है। अन्य बातोंके अतिरिक्त, इस प्रतिमें सामवेदकी इस शाखाके समस्त सामोंका वर्णन दिया है। तदनन्तर, दोनों आर्चिकों के भिन्न भिन्न मंत्रोंकी संख्या, उनके छन्द और सम्पूर्ण आर्षेय ब्राह्मण इसमें दिये हुए हैं। अन्तमें इस प्रतिमें सामलक्षण नामक एक ग्रंथ है, जिसमें भिन्न भिन्न स्वर-समूहोंका संस्कृत तथा तामिलमें विशदीकरण दिया हुआ है। इसमें प्रत्येक सामके उचित अक्षरोंपर स्वरनिर्देश भी किया हुआ है। Burnell की और जो दोनों गानग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियां है (Catal. of a Collection of Skt. Mss., I, Vedic Mss. p. 49., ncs. cxlviii and cxlix, new numbers 61 and 62) वे उत्कृष्ट परंपराकी मालूम पडती है। इसमें प्रत्येक पर्व (सामोंका एक विभाग) के अनन्तर, उस पर्वसे संबद्ध स्वर क्रमसे दिये हुए हैं। क्योंकि Burnell की हस्तलिखित प्रतियां नं. ४९७, जो कि नं. ६१ और ६२ से निर्दिष्ट हैं, स्वरनिर्देशकी दृष्टिसे एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है और क्योंकि मेरे पास इस समय इस समस्या को समझनेका कोई साधन नहीं है, इसलिये इनको मुद्रित करनेका विचार मुझे छोडना पडता है।

ग्रामगेयगान का विभाग Burnell द्वारा प्रकाशित आर्षेयब्राह्मण से बिलकुल मिलता जुलता है। आग्नेय पर्व के १२ भाग हैं; ऐन्द्र पर्व में १२ भाग गायत्र के, ८ बार्हत के और ९ आनुष्टुभ के हैं— बिलकुल Burnell द्वारा प्रकाशित आर्षेयब्राह्मण के अनुसार। किन्तु हमारी एक हस्तलिखित प्रति में अवशिष्ट ऐन्द्रपर्व एक वर्ग में है, जिसके १० विभाग हैं। इसके अतिरिक्त ऐन्द्रपर्व में हमें प्रारंभ से प्रत्येक खण्ड की लगातार गणनसंख्या का भी पता चलता है। इस गणना के अनुसार यह पर्व ३६ भागों में विभक्त है (इसका प्रमाण इस बातसे मिलता है कि Burnell के आर्षेयब्राह्मण के संस्करण में १७ पृष्ठपर ' ६ ' से पहले ' ३३ ' संख्या भी मिलती है)। जैसे Burnell के यहां वैसेही यहांपर भी पवमान पर्व के११ भाग हैं। Burnell की हस्तलिखित प्रति नं० ६२ के अनुसार आरण्यगान के पहले (व्रत–) पर्वमें १० भाग हैं, दूसरे (अर्कपर्व) में ६ तीसरे (द्वन्द्वपर्व) में भी ६। किन्तु दूसरी हस्तलिखित प्रति में (B. 497) प्रारंभ से अन्ततक सब भागों की लगातार गणना की गई है। इसके अनुसार संपूर्ण आरण्य-गान के शुक्रियपर्व तक २४ भाग हैं। औपनिषद्–पर्व परिशिष्टस्वरूप दिया हुआ है और इस पर कोई संख्या नहीं दी हुई है।

गानग्रन्थों के परिमाण के बारे में हमें ठीक ठीक पता दिया गया है। उपरिनिर्दिष्ट (धारणालक्षण में अन्तर्भूत) ग्रंथ में कहा है—

आग्नेयस्य शतं साम द्व्यशीत्यधिकमीरितम्।
ऐन्द्रस्य षट्शतं चैकचत्वारिंशत्प्रकीर्तितम्॥
पावमानस्य सामात्र नवाधिकचतुःशतम्।
आरण्यस्यैकनवति द्विशतात्परमिष्यते॥
त्रयोविंशच्छिरः पञ्चशतोत्तरसहस्रकम्।
प्रकृतेस्साम विज्ञेयं सामसागरचारगैः*॥
द्वादशाहस्य वै साम ह्यभ्यूहस्य× ततः परम्।
एकत्रिंश (त्) शिरस्साम शतमेकाहसंज्ञिनः॥
नवात्युत्तरपञ्चाशच्छतं साम विनिश्चितम्।
अहीनस्य च चत्वारिंशच्छिरश्चैकचतुश्शतम्॥
आहत्योहस्य सामानि द्व्यधिकाष्टशतोत्तरम्।

---

*. ० चारकैः या ०पारगैः पढना चाहिये ?

×. Sic !

सहस्रमिति निर्णीतं प्रसंख्याय यथामति ॥
रहस्यस्य तु षट्पञ्चाशाच्छिरस्कशतत्रयम् ।
प्रकृत्यूहरहस्यानां सामान्याहत्य संख्यया ॥
एकाशीत्युत्तरोद्भाशी षट्छताधिकमिष्यते ।
त्रिसहस्रं जैमिनीयशाखायां वेदवित्तमैः ॥

ऊपर लिखे के अनुसार जैमिनीय शाखामें गानग्रंथों में सामों की निम्नलिखित संख्या है ।

ग्रामगेयगान	१२३२
आरण्यगान	२९१
ऊहगान	१८०२
ऊह्यगान	३५६
जोड	३६८१

कौथुमीय शाखाके गानग्रंथोंकी एक गणनाके अनुसार— ११९७+२९४+१०२६+२०५=२७२२ साम हैं । ×

जैमिनीय शाखाके गानग्रंथ, इस प्रकार, बहुत विस्तृत हैं और कौथुमशाखाके गानग्रंथोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर अवस्थामें उपसंक्रान्त हुए मालूम पडते हैं । कौथुमशाखाके आर्षेयब्राह्मण (Burnell का संस्करण, पृ. ३२) के अनुसार, पूर्वार्चिक नं. २५८ (बृहदिन्द्राय गायत) में चार साम है । किन्तु ग्रामगेयगानमें (ग्रंथलिपि के संस्करणमें भी) केवल दो ही साम दिये हैं । और लाट्या० ८. ८.१०-१३ में भी चार साम दिये हैं । जैमिनीय शाखाके गानग्रंथमें ठीक चार ही साम मिलते है, जो कि कौथुमशाखामें दो रह जाते हैं । सामविधान ब्राह्मण १.३.१० (देखिये Konow. Das Samavidh. br. Introdrction, p. 1o) में भी चार ही साम मिलते हैं ।

क्योंकि मैं ग्रामगेयगानका संस्करण नहीं निकाल सकता, अतः उसके विषयमें कुछ थोडासा वर्णन करना अपना कर्तव्य समझता हूं। पहली बात तो यह है कि Burnell का आर्षेय ब्राह्मण का संस्करण बिलकुल शुद्ध नहीं है; इसका पता हमें हस्तलिखित गानग्रंथोंमें उचित स्थानोंपर दिये हुए सामोंके नामोंसे चलता है। क्योंकि तलवकार ब्राह्मणको सामोंके नामोंकी एक बहुत बडी सूची देनी पडी है, तो इस लिये सबसे पहली आवश्यकता इस सूचीको शुद्ध कर लेने की है।

अतः मैं यहांपर आर्षेयब्राह्मणके (Burnell के संस्करणके) पाठभेद और संशोधित पाठोंकी सूची दूंगा । Burnell द्वारा प्रकाशित आर्षेय ब्राह्मण की सहायतासे हरेक आदमी सामोंकी ' योनि ' स्वरूप ऋचाओंका पता लगा सकता है । किन्तु आरण्यगानकी बात बिलकुल भिन्न है और क्योंकि आरण्यगानके सामोंकी ' योनियों ' का ज्ञान भी किसी किसी दशामें बडे महत्त्वका हो सकता है, अतः मैं कौथुमगानके साथ तुलना करता हुआ आरण्यगानके ऊपर भी दृष्टिपात करूंगा । इसका परिणाम यह निकला है कि जैसा हम आर्षेयब्राह्मणके आधारपर समझते थे, वैसा भेद दोनों गानग्रंथोंमें नहीं है, क्योंकि साम अधिकतर नामभेदमात्रसे भिन्न है ।

सबसे पहले मैं ग्रामगेयगानके आधारपर Burnell के आर्षेयब्राह्मणके संस्करणमें पाठभेद और संशोधन देता हूँ । दहिने हाथ पर लिखी हुई संख्या यह द्योतित करती है कि कितनी हस्तलिखित प्रतियोंमें ये पाठभेद मिले हैं ।

१. बार्हिषीयम् २
६. संवर्गवार्त्रघ्ने (यही शुद्ध है) १
१७. भार्गवे च (नाद्वे नहीं चाहिये) १
३३. सौर्यवर्चस्य (यही शुद्ध है) ३
३४. गौर २
३५, ३७, ४१, ७९, १०८, १२२ भरद्व०(भारद्व०के स्थान पर)
३५ श्रुष्टीगवम् ३
४७. गाथिनश् २
५०. कार्ण०, कार्ष्ण०, काष्ण०
६२. वास्रस्य
७२ इति वा तम् (तन्)–यह नहीं चाहिये २
७८-७९ घृताश्चेराङ्गिरसस्य सामनी द्वे
८०. भरद्वाजस्य प्रासाहम् ।
८३, ८५ कौल्मदम् । दूसरा पाठ १
९०. सयोनि । १
९२. ऐषं चारूढवद् वाङ्गिरसम् । १
९९. क्रुध्ये १ क्षुध्ये १

× कलकत्तेके संस्करण (vol V, p. ६७४) के श्लोकोंमें भिन्न ही गणना दी हुई है ।

१०५. बृहदाग्नेयं च१; सौमकतवं वा १.
११२. साध्रं च, साद्धं च, स्याद्धयं च
१२३. गौरीवीतम् १.
१३३. ऐध्मवाहानि
१३४. अहेः पैप्वस्य २, अहेश्चैप्वस्य १; अभिह्नो, अभिह्नेनो (sec. m. ऐह्निनो); बैल्वस्य २; वैल्वस्य १.
१३७ संवेशीयं ३.
१३९ काक्षीवतम् ३ (०कांक्षी० १ secm.)
१५३ वाजदावर्यं च १.
१५६ गौरिवीतानि १.
१५८ श्रौतकक्षाणि ३.
१५९ वामदेवोदासं ३.
१६० औदले (स्तत्तौतले) १.
१६४ मैधातिथं १.
१६७ गौरिवीते १.
१६८ ०गौरिवीतं १.
१९५ इन्द्रस्य वा २.
२२२ विष्णोश्च साम ५. १.
२३१ अभी (अभि) वादस्य ५. १.
२४० कौल्मुल०, कौन्मुल०, कन्मुल०
२४५ कण्व० ३.
२४९ इन्द्रस्येन्द्रियम् २.
२५८ संश्रवसो, विश्रवसो, सत्यश्रवसो ५५. ११.
२६२ श्रुष्टीगवं ३.
२६८ व्राभ्रं २; वाभ्र १.
२८० कौन्मुले २.
२८३ गौरिवीतेः १.
३१३ निह्नवः १.
३२३ सौमरश्मे १.
३३२ आदित्याम् (सिच्, स्तत्त अदित्यास्) सामनी १.
३३७ कश्यपस्य बानितोदौ १.
३५१ रयिष्ठ १
३५२ कौन्मुद०, कौन्मल०.
३५४ कौन्मल० २.
३५५ मधुश्चुन्निधनं २.
३७९ श्येनः २.
४१९ सेनदे वा, सेनुदे वा, स्सेन्वदे वा.
४२६ गोरयेश्० २
३८५ पुराधसश्० २ (स्तत्त प्रा०)
३८९ त्रैककुभानि त्रीणि ३.
३९० औक्ष्णोरन्ध्राणि त्रीणि (२) औक्ष्णोनियानानि वा (१) (कौकुथमीयार्षेयब्राह्मणे)
३९१ रेवचैव १.
४४९ सन्तनीके ३.
४६८ सुरूपे द्वे; शिल्पे द्वे; संहितं च (२) स्तत्त सुहितं च; संहितं चैव २.
४६९ इन्द्रसामनी द्वे.
४८१ कुम्भस्य २.
४८५ प्रक्रीडास्; संक्रीडा वा निक्रीडा वा.
४९८ वाभ्रानि २.
५०० वैतदश्वेः १.
५११ उद्वेच; सदोविशीयं जमदग्नेः सवासीनी (स्वासिनी)
५१२ अधीवास० ३; गोष्ठापुंसिनी; पुंस्त्वीनी.
५१७ औक्ष्णोनियानानि १.
५२० वैवाङ्गिरसं.
५२३ ०प्रशस्य जानस्या० ३.
५२४ वाजजितौ
५४७ त्वाष्ट्री सामानि; त्वाष्ट्री सामानि चैव.
५५४ वाजसननी ५. १
५५८ दाशशीर्षे १
५६९ कार्ण०, काण्ण०
५८१ कौन्मल० ३
५८३ श्यैतेर्षाणि, श्येतेष्याणि, शैतेष्याणि.

अब मैं आरण्यगान की सूची देता हूं। इसका आधार जैमिनीय शाखाकी सूची है। प्रत्येक योनि-निर्देशक संख्या, कौथुम-शाखाके आरण्यगान में मिलते हुए सामकी द्योतक है। ar. s. का अर्थ है, जैमिनीय शाखाकी आरण्यकसंहिता। रोमन तथा अरबी लिपिकी संख्यायें कौथुमार्चिककी लगातार गिनी हुई ऋचाओंको द्योतन करते हैं।

सामवेदकी संहिता

(नं.५०६ की) Burnell की हस्तलिखित प्रति (ग्रंथलिपि, दोनों ओर लिखे हुए ७० पत्र, नीला कागज, प्रत्येक पृष्ठपर २४ पंक्तियां) के ऊपर के कागज पर Burnell ने अपने हाथ से लिख रक्खा है— " सामवेद (तलवकार) जैमिनीयसंहितापाठ.

पूर्वार्चिक पृ० १.
आरण्यकसंहिता २६ ब.
उत्तर आर्चिक २९.

कहीं कहीं शुद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल पाठ किसी अल्पज्ञ विद्यार्थीने लिखा हो। "

पहले पृष्ठ पर भी Burnell के हस्ताक्षरों में यह लिखा है—

"सामवेद संहितापाठ जैमिनीय शाखा, Tinavelly की लगभग १७०० ई० की प्रति से (लिखा)- A.B. 1879."

पूर्वार्चिक तथा आरण्यक निःसंदेह संपूर्ण है। Burnell के जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण संस्करण के सर्वोत्तम नियामक है। दोनो के मूल पाठों में संपूर्ण ऐक्य है। दोनो शाखाओं के आर्षेयब्राह्मण के पाठों की तुलना से हमें यह मालूम हो जाता है कि कौथुमीयसंहिता की जैमिनीयसंहिता से कहां तक भिन्नता है। पूर्वार्चिक में दोनों का भेद किसी विशेष महत्त्व का नहीं है। अधिकतर यह भेद कहीं कहीं मन्त्रोंके क्रम का है। जहां पर आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार मन्त्रोंका (या सामों का) दूसरा क्रम होना चाहिये, वहां पर संहितामें वास्तव में ऐक्य मिलता है। परन्तु दोनों संहिताओं के आरण्यक में भेद अधिक है--; जैसा कि दोनों शाखाओं के आर्षेयब्राह्मणों की तुलना से पहले ही प्रतीत हो चुका है,* जैमिनीय आरण्यक में बहुत बडी भिन्नता है और यह Burnell की महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित प्रति से अब पूर्णतया सिद्ध हो गया है। दोनों शाखाओं के अनुसार आरण्यक में ५५ मन्त्र हैं (इन में 'महानाम्नी' का परिगणन नहीं किया गया है)। इन में से ४५ मन्त्र दोनों में समान हैं। यहां तक आर्षेयब्राह्मण, जो कि एक प्रकार की ग्रामगेयगान तथा आरण्यगान की अनुक्रमणी है, संहितापाठ के नियामक की हैसियत से हमारी सहायता कर सकता है। परन्तु उत्तरार्चिक के लिये हमें केवल Burnell की हस्तलिखित प्रति का सहारा लेना पडता है।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि, यह भाग हमको पूरा या अधूरा प्राप्त हुआ है। यदि यह मान लिया जाय कि हस्तलिखित प्रति अधूरी है, तो अन्त में ही मन्त्रोंकी कमी माननी पडेगी, क्योंकि इसमें खण्ड और मन्त्र लगातार संख्यामें बिना किसी कमी के परिगणित हैं। अब कम से कम यह अवश्य मालूम पडता है कि हमारे जैमिनीय उत्तरार्चिक में बहुतसे मंत्र नहीं पाये जाते, जो कि ग्रामगेयगान के स्तोत्रों की 'योनि' रहे होंगे। संहिता के इस भागमें, पहले दो भागों की अपेक्षा, कौथुमीयशाखा से बहुत भेद है। क्रम तो बहुत ही भिन्न है, और जैमिनीयशाखामें तीन तीन के समूह में 'योनि'-स्वरूप बहुतसी ऋचायें मिलती हैं, जो कि कौथुमीयशाखा की ऋचाओंसे बिलकुल भिन्न हैं। इस से यह सिद्ध होता है कि द्वादशाह इत्यादि यज्ञों में भी जैमिनीयों की विधि कौथुमो से भिन्न रही होगी। तलवकारसंहिता का प्राप्त होना वैदिक संहिता के इतिहास की दृष्टि से महत्त्व की बात है, क्योंकि वैदिक साहित्य के अपरिचित मन्त्र इस संहिता में अपेक्षाकृत बहुत कम मिल पाये हैं।

यह हम देख चुके है कि जैमिनीय तथा कौथुमीयशाखा का विभजन प्रधान प्रधान बातों में एकसा है। और इन प्रधान भागों का खंडों में विभजन भी, पूर्वार्चिक और आरण्यक में, लगभग एकसा ही है। पहले अग्निके मंत्र आते है, फिर इन्द्र के और फिर पवमान। जैमिनीय शाखा के आग्नेय पर्व में लगातार गणना मिलती है; किन्तु कौथुम शाखाके अनुसार गणना के सूत्र का भी पता चलता है। हां जैमिनीयशाखा का उत्तरार्चिक जो कि दो शाखाओं में विभक्त है, कौथुम शाखा के उत्तरार्चिक से भिन्न है। क्योंकि अभी तक हमें ऊह तथा ऊह्यगान प्राप्त नहीं हो सके हैं, इसलिये मैं यह नहीं बता सकता, यह दो भागों में विभजन किस तत्त्व के आधार पर हुआ है।

Burnell की हस्तलिखित प्रति में कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनका ठीक ठीक विभाग नहीं किया गया है– अक्सर ऐसा

हुआ है कि पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में मिल गया है; कहीं कहीं पर तो दो दो या तीन तीन मन्त्र एक एक करके गिने गये हैं। क्योंकि गानग्रंथ और आर्षेय ब्राह्मण की तुलना से पूर्वार्चिक तथा आरण्यक की अशुद्धियों का पता चल जाता है, इस लिये मैंने निम्नलिखित जैमिनीय संहिता के सारांश में उत्तरार्चिक की अशुद्धियों का भी निर्देश करना उचित समझा है। इस प्रकार आवश्यक तुलना से जैमिनीय संहिता और कौथुमीयसंहिता में निम्नलिखित मन्त्रसंख्या मिलती है।

	जैमि०	कौथु०
पूर्वार्चिक	५८७	५८५
आरण्यक	५९	५९
उत्तरार्चिक १	७४५ }	
२	२९६ }	१२२५
जोड	१६८७	१८६९

इसके अनुसार जैमिनीयसंहिता कौथुमीयशाखासे १८२ मन्त्र कम हैं +। यह हुई विस्तारकी बात। अब यदि मन्त्रोंके पाठ पर विचार किया जाय, तो यहाँ पर भी जैमिनीयसंहिता बिलकुल स्वतंत्र मार्ग का अवलम्बन करती है। क्योंकि यह संहिता हमें केवल एक हस्तलिखित प्रति (जो कि स्थान स्थान पर अत्यंत अशुद्ध है) के आधार पर मिली है, इसलिये यह कहना कठिन है कि दूसरा पाठ पाठभेद है या अशुद्ध पाठ है। यहांपर गानग्रंथों में दी हुई और गायन के लिये प्रस्तुत की हुई ऋचाओंकी तुलना बडे महत्त्व की है। मेरी की हुई तुलना से ऐसे बहुत से स्थलों का पता चलता है, जहांपर कौथुमशाखा से जैमिनीयशाखा भिन्न है; ये भेद कहीं कहीं पर पाठकी अशुद्धि के कारण है और बहुत सी जगह पाठभेद के कारण हैं। आरण्यगान में ऐसे बहुत से मंत्र मिलते हैं जो कि पहले ग्रामगेयगान में आचुके है। इनकी भी मैंने प्रत्येक स्थान पर तुलना की है। गानग्रंथों की तुलना हमें एक बारेके बारेमें अवश्य संदेह में डालती है, और वह है अंतिम स्वरोंका विस्तार। जहां जहाँ कौथुमीयशाखा में अन्तिम स्वर ह्रस्व आया है, यदि उसी स्थल पर जैमिनीयसंहितामें अन्तिम स्वर दीर्घ मिलता है तो मैंने वहाँपर प्रश्नसूचक चिह्न बना दिया है। अन्य जो पाठभेद हैं, कम से कम जो कि संहिता के दोनों प्रथम भागोंमें मिलते हैं, वे हरेक स्थान पर गानग्रंथों की तुलना से समर्थन किये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातें निश्चयपूर्वक कही जा सकती हैं।

जैमिनीयसंहिता × में साधारण संधिनियम यह है कि स्वरके पहले अन्तिम **आन्** के स्थानपर अं हो जाता है। यदि हस्तलिखित प्रति ग्रंथलिपि के स्थानमें देवनागरी लिपिमें होती, तो इस स्थान पर शायद अँ होता। अन्तिमाक्षर का यह संधिनियम मैत्रायणीय और कपिष्ठल संहिताके मंत्रों में भी लागू है (देखिये—V. Schroder की भूमिका-मैत्रायणीय संहिता Vol. I p. XXIX, XXXIX, XLII, Wackernagel: Altind. Gramm. 1 २७९ b. a. note)- उदाहरणार्थ ऋग्वेद का यह मन्त्र **'महाँ इन्द्रः परश्च नो'** ऋ० १.८ ५ (= सामवेद कौथुमशाखा १.२.२.३.२) जैमिनीयसंहिता में इस प्रकार मिलता है—**'महं इन्द्रः परश्च नौ'**। ऋग्वे० ८.३ १. का **'वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः'** (=सामवेद कौथुमशाखा १.३.१.५.७) मंत्र जैमिनीयसंहिता में इस प्रकार है-**'वृधे अस्मं अवन्तु ते धियः'**। ऋग्वेद ८.९७. १ का **'या इंद्र भुज आ भरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः'** (= सामवेद कौथुमशाखा १.३.२.२.२.) मंत्र जैमिनीयसंहिता में इस प्रकार है—**'या इंद्र भुज अभरः स्वर्वं असुरेभ्यः'**। ऋग्वेद १.२७.१. का **'मीळ्वाँ अस्माकं बभूयात्**, (= सामवेद कौथुमशाख २.७.१.७.२) मन्त्र जैमिनीय संहिता में इस प्रकार है—**''मीळ्वं अस्माकं बभूयात्''**। किन्तु यह अन्तिम स्वर का नियम प्रत्येक स्थानपर नहीं लगा है। उत्तरार्चिकमें कहीं कहीं अं के स्थानपर **आं** भी मिलता है। उदाहरणार्थ **' अग्ने देवां इह '** (= सामवेद कौथुम–२.२.१.६.३) इत्यादि। तथापि, ब्राह्मण और सूत्रों के उद्धरणों में ऐसे स्थलोंपर सर्वत्र अं के मिलने के कारण, इस विशेषता को समग्र संहितामें लागू नियम कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—देखिये जैमिनीय ब्राह्मण (J.A.O.S. XXIII, p. 348 में उद्धृत)-**'परस्या अधि संवतो वरम्** (हस्तलिखित प्रति जिसमें 'वरं' है, ठीक।

+ वास्तव में तो केवल १५५, यदि अप्रतिरथसाम को, जो कि छन्दोगकर्मकाण्ड से संबद्ध नहीं है, निकाल दिया जाय

× उद्धरणोंमें कौथुमीय शाखा की लगातार संख्या दी गई है।

ठीक है) अभ्यातर यत्राहमास्मि तम् ('तं' पढिये) अव।' किन्तु स्वयं ब्राह्मणों या सूत्रों में यह नियम बिलकुल लागू नहीं है, या इतना कम लगू है, जितना कि मैत्रायणीयसंहितामें। कहीं कहीं यह स्वर-ह्रस्वीकरण ऊन् के सबन्ध में भी मिलता है। उदाहरणार्थ- ' त्वमग्ने वसुँर् इह रुद्रं आदित्यं उत'(सामवेद कौथुमशाखा १.१.२.५.६- त्वमग्ने वसूँर् इह रुद्राँ आदित्याँ उत)। 'पिबा सोमऋतुंर् अनु'(=सामवेद कौथुम-१.३.१.४.७ ऋतूँर् अनु)।

२. जैमिनीयसंहिताकी एक यह विशेषता है कि ड के स्थानपर तामिलै-मलयालम् का ळ प्रयुक्त होता है(देखिये Burnell-जैमिनीय आर्षेयब्राह्मण, Introduction p. IX)। यह निम्नलिखित × स्थानोंमें मिलता है-

मृळ (१. २३), मृळिम् (१. ३२७), वीळाव् (१, २०७), वीळाद् (२. ४१२), वीळाव. (१.२९६), कीळन्तम् (२. २९१,४६८,५०३), क्रीळम् (२. ९६५), बळ् (१. २७६), भूरिषाळ् (२. ८२२), सनीळा (१. ४३३), ईळिष्व (१. ४९, ९३, १०३, २. १०३८), ईळेन्यो (२. ८८८, ९१२), इळानाम् (१.५८२), इळा. (१. ४५५), इळाम् (२. १८२), इळया (१. ३३८), ईळे (आर्षे० १. १०, २. ८९३ और ऋग्वेद ३. २७.२), ईळते (१. १५१, २. ८९०), ईळित (२. ७००)। किन्तु अपवाद इसके भी मिलते है; जैसे- ईडते (१. ७०), उदानड् (१. ७१), ईड्यो (१. ७९) इन्द्र स्पड् उत (आर्षे० ३. ५= ऋग्वेद ८. ६१.१५), विराड् (आर्षे० ३. १०), मृड्या (२. १३८,१९६), ईड्यम् (२.९१८) और ये अपवाद और स्थानोंपर भी कई बार मिलते है। क्योंकि इस अक्षरका प्रयोग ब्राह्मण (आर्षेयमें भी) श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रमें भी मिलता है, इस लिये इसे जैमिनीयसंहिताकी विशेषता समझनी चाहिये।

३. जो स्वर कौथुमीयशाखामें स्वरित हो जाते है, वे जैमिनीयशाखामें नहीं होते। जैसे-' ईडिष्वा हि प्रतीव्या- ३म्' (१. १०३), यह मन्त्र जैमिनीय शाखामें, ऋग्वेदके समान, ऐसे पढा जाता है- ' प्रतीव्यां '। कौथुमशाखाका 'पाहयूइत ' (१. ३५), जैमिनीयशाखामें 'पाहयुन' हो जाता है।

४ कुछ स्थलोंमें जैमिनीयसंहिता की शब्दलेखन-पद्धति कृष्णयजुर्वेद, अर्थात् तैत्तिरीयशाखासे मिलती है। पहली बात तो यह है कि व्यञ्जनोंके अनन्तर (कहीं कहीं) य के स्थान पर इय् मिलता है। जैसे— ' दुश्चप्रियम्' (१ १४१), ' क्षिप्रियन्धव ' (१. २९७), ' हस्तिया ' (१. ३४५), ' क्रविये ' (१. ५५८), इत्यादि। किन्तु इसके साथ साथ- ' ऋग्म्यम् ' (१. ३७६) भी मिलता है। दूसरी बात यह है कि जहा जहां ऋग्वेद या कौथुमशाखा मे 'पुरुवसु ' शब्द है, वहां ' पुरोवसु ' मिलता है (देखिये- १. १४६, १९३, २३५, २४८, २५०, ३०९, २. ९०४), तैत्तिरीयको मे भी ऐसाही है— देखिये- तैत्तिरीयसंहिता १. २. ५. १, ३. २. १० ('मयि- वसुः पुरोवसु ' इसकी तुलना आश्वलायन श्रौतसूत्र ५.६.१- ' एष वसु, पुरूवसुः' से कीजिये)। तीसरी बात यह है कि एक मंत्र तैत्तिरीयक (और मैत्रायणीय) शाखामें मिलता है— अर्थात् २. ८७० जैमिनीयसंहितामें दो बार इस रूपमें आया है— ' दधत् पोषं रयिं मयि।' किन्तु इसके विरुद्ध ऋग्वेद, कठ तथा कौथुनशाखामें इसका यह रूप है— 'दधद् रयिं मयि पोषम्।'

५. लगभग प्रत्येक स्थानपर किसी शब्दका आदिका ' न-'कार, यदि वह 'र-'कार अथवा 'ष-'कार का परवर्ती हो जाता है,तो मूर्धन्य में ('ण'-कार में) परिणत हो जाता है- जैसे- 'रेवतीर्णः ' (१. १५३, २. ४३४), 'रेवतीनः' के स्थान पर (ऐसाही गानग्रंथोंकी हस्तलिपि, ऋग्वेद तथा कौथुमीय सामवेदमे भी मिलता है)। 'वाजिषु नो' (ऋग्वेद तथा कौथुमीय) के स्थानपर ' वाजिषु णो ' (२. १४८) कौथुमशाखाके 'परि न ' के स्थान 'परि णः' (२. २४७) ऋग्वेदियोंके समान मिलता है। कौथुम शाखाके ' प्र नः' + के स्थान पर, ऋग्वेदियोंके समान ' प्र णः ' (२. ५८०) मिलता है।

इनके अतिरिक्त इस नई प्राप्त संहिता में किसी किसी मंत्र

× उद्धरणोंमें कौथुमीय शाखा की लगातार संख्या दी गई है।

+देखिये— ' अप्सु षाडयेत् ' (गृह्यसूत्र १. १९), ' यथेमां जरिमा ण यात् ' (वही, पृ० १०, लाइन ९), ' रक्ष णो ' (वही- पृ० ३, लाइन १)।

में काथुमों की अपेक्षा बहुत पाठ-भेद मिलता है, और यह पाठ-भेद ऋग्वेद के पाठों से अधिक मिलने हैं। किन्तु इस जैमिनीयसंहिता में कुछ ऐसे महत्त्व के पाठभेद मिलते हैं, जो कि ऋग्वेद के मूल के लिये उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ— ऋग्वेद ९. ८३.३ में 'बिभर्ति' पाठ है, किन्तु कौथुमशाखामें (६. २२७) तथा आर्षेयब्राह्मण (२. २) में 'मिमेति' पाठ है; जैमिनीयसंहिता में दोनो स्थलों में 'मिमाति' पाठ है। ऋग्वेद १०. १३४. ३ का जैमिनीयसंहिता में 'धूनुहि' के स्थान में 'धूनुषे' (जैसा कि ऋग्वेद १०. १३४. ४ में) पाठ है। ऋग्वेद ९. २८. २. का जैमिनीयसंहिता में 'विश्वा धामान्याविशन्' (ऋग्वेद और कौथुमशाखा का पाठ) के स्थान पर 'विश्वा वसून्याविशन्' पाठ है। ऋग्वेद ९. २८. २ का जैमिनीयसंहिता में 'विश्वा धामान्याविशन्' (ऋग्वेद और कौथमशाखा का पाठ) के स्थानपर 'विश्वा वसून्याविशन्' पाठ है। ऋग्वेद ९. २८.६ का जैमिनीय संहितामें 'सोमः पुनानो अर्षति' (ऋग्वेद और कौथुमशाखा का पाठ) के स्थान पर 'सोमो वाजमिवासरत्' पाठ है। ऋग्वेद ९. १. ८ में 'त्रिधातु वारणं मधु' पाठ है, किन्तु जैमिनीयसंहिता में 'त्रिधातु सारघ (म्) मधु' यह पाठ है। यह केवल नमूने के तौर पर दिये गये हैं।

जैमिनीयसंहिता में (४. १०. ३ और ४, तथा ४. २५. ८) ऐसे दो मन्त्र आते हैं जिनमें से एक तो अथर्वसंहिता में और दूसरा केवल अथर्वसंहिता और तैत्तिरीय-ग्रन्थों में मिलता है।

फिर एक मन्त्र जो कि अबतक केवल मैत्रायणीयसंहिता में मिलता है, वही मन्त्र पाठभेद से जैमिनीयसंहितामें मिलता है। देखिये जैमिनीयसंहिता १. १. १२. १०

एक मन्त्र जो कि केवल तैत्तिरीयसंहिता में मिलता है, वही पाठभेद से जैमिनीयसंहिता में भी आया है। देखिये जैमिनीयसंहिता १. १. १२. ९

अब तक जो मंत्रसाहित्य परिचित है, उसके लिये निम्नलिखित मंत्र बिलकुल नये हैं– २. १. ५; २. १.९; २. ४. ७; ३. ३८. १. २ ३। बहुत संभव है कि अधिक खोज करने पर इन ६ मंत्रों में से भी कोई परिचित मंत्र निकल आये।

जैमिनीयसंहिता के प्राप्त होनेके कारण हम को सामविधान-ब्राह्मण के बारे में कुछ कहने का अवसर मिल जाता है। इस जैमिनीयसंहिता में कुछ ऐसे उद्धरणों की प्रतीकें मिलती हैं जो कि सामसंहिता में नहीं मिलतीं। सामविधानब्राह्मण (कौथुमीयशाखा का) इस सामसंहिता का अंश ही है। देखिये—Konow की सामविधान ब्राह्मणके अनुवाद की भूमिका, पृ० १९। Burnell यह बता चुका है कि 'अयमग्निः श्रेष्ठतमः' यह उद्धरण जैमिनीयसंहिता का है। Konowके मतानुसार 'यदितस्तन्वो मम' इस प्रतीक का पता नहीं चलता। अब क्योंकि ये दोनों प्रतीक ऐसे मन्त्रों की है, जो कि जैमिनीयसंहिता में मिलती हैं, और क्योंकि सामविधान ब्राह्मण के और बाकी उद्धरण जैमिनीयसंहिता में मिलते हैं × इसलिये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि

× कुछ ऐसे अपवाद मिलते है, जिनका सुलझाना भविष्य पर छोडना पडेगा, क्योंकि हमें अभी तक ऊह तथा ऊह्यगान नहीं मिले हैं। इन दोनों की खोज से अभी यह पता लगाना है कि क्या जैमिनीयों को कक्षवर्ग, सेतुषा (सा) म तथा भारण्डसाम मालूम थे? (देखिये Konow का उपरिनिर्दिष्ट ग्रंथ पृ०१९)। सामविधानब्राह्मण में आये हुए आपोहिष्ठीय मंत्र जैमिनीयसंहिता में नहीं मिलते, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि, ये मंत्र श्रौतसूत्र में पूरे उद्धृत किये है। और इन मंत्रों का सामविधानब्राह्मण से विशिष्ट संबंध है, यह Konow के उपरिनिर्दिष्ट ग्रंथ, पृ० ५ पर के कथन से सिद्ध है। यहि बात कि सामविधानब्राह्मण में इसके अतिरिक्त अन्य सामों का प्रयोग अभिचार में ही होता है, मेरे इस अनुमान का पोषण करती है कि हमें प्राप्त सामविधानब्राह्मण पुनः संस्कृत हो चुका है। और Burnell का यह कथन (जैमिनीय-आर्षेयब्राह्मण, भूमिका, पृ० १८) कि 80, 232, 386 और 403 नंबर के मंत्र जैमिनीयों में नहीं मिलते, अशुद्ध है। नं०२३२ जैमिनीयों की आरण्यकसंहिता में मिलता है और अन्य मंत्र अपने अपने स्थान पर हैं।

शायद सामविधानब्राह्मण वास्तव में जैमिनीयों का ही था और बाद में अन्य सामवेदियों ने उसका संस्करण किया है। किन्तु इस पुनःसंस्करण में इस वास्तविक रूप को उन्हों ने नहीं बदला है। इस बातके अन्य उदाहरण भी मिलते हैं. जैसे कि पैप्पलादशाखा का प्रायश्चित्तसूत्र, अन्य अथर्ववेदियों के भी काम आता है। ※

जैमिनीयसंहिता के इस संस्करणमें, जिसका आधार कि Burnell की हस्तलिखित प्रति है, प्रत्येक मंत्र, जो कि ऋग्वेद या (कौथुमीयशाखाके) सामसंहितामें मिलता है, आदि तथा अन्त के पद द्वारा निर्दिष्ट है। इन दोनों पदोंके बीचमें (कौथुमीय) सामसंहिताकी लगातार गणनाके अनुसार संवादीमंत्र की संख्या दे दी गई है। यही लगातार गणना आर्षेय ब्राह्मणमें भी प्रयोग की गई है और Aufrecht ने भी अपनी ऋक्संहिताकी सूचीमें साम-मंत्रोंके उद्धरणके लिये इसी लगातार गणना का उपयोग किया है। इस प्रकार संहिताकी आर्षेयब्राह्मणके साथ तुलना सरल हो जाती है। प्रत्येक मंत्र के बादकी संख्या जैमिनीयसंहिता की है। नवीन आये हुए मंत्र पूरे कर दिये गये हैं, तथा अन्य शाखाओंमें आये हुए पाठभेद भी दे दिये गये हैं। पाठ-भेद गिने चुने ही दिये हैं ×, जो स्पष्ट अशुद्धियां हैं, वे नहीं दी गई हैं। जहां जहां मंत्र अशुद्धिसे जोड दिये गये हैं या अलग कर दिये गये हैं, वहां वहां शुद्धि कर दी गई है और तदनुसार हस्तलिखित ग्रंथ में दी हुई संख्या बदल दी गई है। संहिताकी अकारानुक्रमसे सूची दे दी गई है, जो कि Benfey की सूचीका आधार है। इस प्रकार जो जैमिनीय संहिताका अध्ययन करना चाहेगा, उसे हर प्रकारकी सरलता हो जायगी। प्रत्येक अध्याय के आदि या अन्त में आने वाली छंद, इत्यादि पर टिप्पणी जहां जहां संभव है, वहां वहां दे दी गई हैं और Burnell के ५०९ नंबरके खंडित हस्तलिखित ग्रंथ के साथ उनकी तुलना कर ली गई है। अतः निम्न-लिखित सक्षेपको Burnell की हस्तलिखित प्रति का परिशोधित संस्करण समझना चाहिये। (अपूर्ण)

※ देखिये WZKM. XVIII, p.202 ff.

× जहां जहां ळ मिलता है, वे सब स्थल ३१ पृष्ठ पर उद्धृत कर दिये गये हैं और उनका दुबारा निर्देश नहीं किया गया है।

वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण।

(१) पं० जयदेव शर्माजीका आक्षेप।

'वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण' यह लेख 'वैदिक धर्म'के मार्गशीर्षके अंकमें प्रकाशित हुआ। इसको पढकर बहुत ही विद्वानोंने अपनी अनकूल सम्मति लिखकर भेजी और साथ साथ यह भी लिखा कि यदि ऐसा वर्गीकरण किया जायगा, तब वेदमंत्रोंका अर्थ वेदमन्त्रोंके अन्तर्गत प्रमाणोंसे हि सिद्ध हो सकेगा, इसमें संदेह नहीं। इतना महत्व इस वर्गीकरण का है और वह अनेक विद्वानोंको संमत भी हुआ है।

आज कल जो उठता है, वह वेदभाष्य करने लगता है!!! किसका भाष्य सत्य और किसका अशुद्ध यह एक विवादास्पद विषय हो रहा है। यदि वेदमंत्रोंका वर्गीकरण उक्त लेखके अनुसार एकवार प्रकाशित हो जाय, तब तो कौनसा अर्थ ठीक है और कौनका असत्य, यह आन्तरिक प्रमाणोंसे हि सिद्ध होगा और कपोलकल्पित भाष्योंकी और अन्दाधुन्दीसे भाष्य करनेवालोंकी पोल भी खुल जायगी। और भाष्यकारोंपर इस बातका उत्तरदायित्व आवेगा कि इस वाक्यका ऐसा अर्थ क्यों किया है, इसके प्रमाण दिये जाय।

आजकल अन्दाधुन्दी इतनी हुई है कि स्व० पं० क्षेमकरणदासजीने अपने अथर्ववेदानुवादमें 'मूत्र' शब्दका अर्थ 'परमेश्वर' कर डाला और पं० जयदेव शर्माजीके भाष्यमें कई द्विवचनी पदोंका अर्थ 'स्त्रीपुरुष' लिखा गया है। पढनेवाले स्तब्ध होते हैं और ऐसे अर्थोंका आश्चर्य करते हुए चुपहि रहते हैं! स्व० पं० क्षेमकरणदासजी ने जो 'मूत्र' शब्दका भी परमेश्वर अर्थ किया, उसकी जड में यह गलत कल्पना थी, कि वदके सब शब्द ईश्वरवाचक हैं। यह अशुद्ध कल्पना मनमें रखकर जो अनुवाद किया गया है, उसमें ऐसी अशुद्धियां रहना स्वाभाविक ही है।

यहां शंका उपस्थित होती है कि क्या वेदका अर्थ निश्चित, निःसंदेह और सरल करनेके लिये कोई साधन है वा नहीं? या हरएक पण्डित मनमान अर्थ करता जाय और अपनी मनकी बातें वेदसे कहलवाता जाय? क्या इस अनर्थका कोई परिहार है वा नहीं? सच्चे वेदके अर्थके जिज्ञासु इस निर्णायक प्रमाणके अन्वेषणमें लगे हुए हैं।

हमने सबसे पहिले यह घोषित किया, कि उक्त प्रकार वेदोंके मन्त्रोंका वर्गीकरण किया जाय, तो वेदका अर्थ स्वय वेद बोलेगा और वही सत्य अर्थ होगा, क्योंकि वह अन्तगत प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ है। आज ऐसा हो रहा है कि लेखक प्रथम मनमें किसी विषयकी धारणा करता है, उसके लिये वेदसे मंत्र लेता है और उसका अर्थ अपने मतानुसार घडता है और अपना मत वेदसे सिद्ध हुआ ऐसा मानता है!!

यह व्यवस्था नहीं, प्रत्युत यह अन्दाधुन्दी है। वेदने जो अर्थ स्वयं बताया है, वही मानवोंका धर्म हो सकता है। वेदके मंत्रोंको तोडमरोड करके जो बनाया जाता है, वह धर्म नहीं हो सकता, वह तो अधर्म ही है। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये। ये मंत्र और अर्थ पं० जयदेव शर्माजीके भाष्योंसे लिये हैं-

वीरसूर्देवृकामा स्योना॥ (ऋ १०।८५।४६)

(पं० जयदेव शर्माजी का अर्थ) = (वीरसूः) उत्तम पुत्र को उत्पन्न करनेवाली (देवकामा) विद्वानों को वा अपने कान्त पतिको सदा चाहनेवाली (स्योना) सुखकारिणी (एधि) हो।

शंका— यहां मंत्रमें 'देवकामा' रखकर अर्थ में 'देवकामा' लिया है, इसमें कौनसा सत्य है? अच्छा, देवकामा पद जो अर्थ में लिया है, उसका नियत अर्थ प्रकरणानुकूल क्या है? विद्वानों को चाहनेवाली या पतिको चाहनेवाली? अथवा इस पदका अर्थ अनिश्चित ही है? ऋग्वेदका पाठ कौनसा सत्य है? क्या इन शंकाओं का उत्तर प्रमाणोंसे किसीके पास है?

हमारे मतसे यहां का पाठ 'देवकामा' ही निश्चित है और उसका अर्थ भी 'ईश्वरकी भक्ति करनेवाली' यह भी निश्चितहि है। परंतु इन विद्वान् भाष्यकारोंने उक्त प्रकार संदेह फैलाया है। इसीका अथर्ववेदमें इसी विद्वान् भाष्यकारने जो अर्थ किया है, वह देखिये—

वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि।

(अथर्व० १४।१।१७)

(पं० जयदेवशर्माजीका अर्थ)= (वीरसूः) वीर बालकोंको उत्पन्न करनेवाली (देवृकामा) पतिसे उतरकर देवरको संतान निमित्त चाहने-वाली (सुमनस्यमाना) उत्तम चित्तवाली हो!! तथा-

प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं
गार्हपत्यं सपर्य। (अथर्व० १४।१।१८)

(पं० जयदेवशर्मा का अर्थ)- (प्रजावती) प्रजासे युक्त (वीरसूः) वीर बालकोंको प्रसव करनेवाली (देवृकामा) पतिसे सन्तानके अभाव में देवरकी कामना करनेवाली होकर (गार्हपत्यं) गृहपतिरूप (अग्निं) अपने गृहस्थके नेता पतिको (सपर्य) गार्हपत्याग्नि देवके समान ही पूजा कर॥

आगे येही भाष्यकार इस मन्त्रपर इस तरह टिप्पणी देते हैं- "पाणिग्राह पतिकी सन्तान नाश होनेपर नियोगविधिसे देवर, तदभावमें सपिण्ड पुरुषसे स्त्री सन्तान प्राप्त करे। वाणीसे प्रतिज्ञा-मन्त्रोंद्वारा पतिको वर लेनेपर भी नियोगविधिसे हि देवर उस कन्याको स्वीकार करे।"

इस टिप्पणीसे पं० जयदेव शर्माजीका यह मत निश्चित है, कि इस मन्त्रमें पाठ 'देवृकामा' है और उसका अर्थ देवरसे संतान प्राप्त करना ही है। फिर यह अर्थ ऋग्वेदमें क्यों नहीं दिया? या ऋग्वेदमें यह अर्थ नहीं है और केवल अथर्ववेदमें हि है? यदि ऐसा माना जाय, तो ऋग्वेदमें इस सूक्तके जो ऋषि देवता हैं, वेही अथर्ववेदमें हैं। न ऋषि दूसरा है और नाही दूसरा देवता। फिर ऋग्वेदका जो मन्त्रभाग 'देवृकामा' पदसे 'अपने कान्त पतिको चाहनेवाली' अर्थ दर्शाता है, वही मन्त्रभाग अथर्ववेदमें 'देवरसे पुत्र उत्पन्न करनेकी आज्ञा' किस तरह देता है?

क्या वेदके शब्द इस तरह मनमाना अर्थ दर्शानेवाले हैं? हमारे मतसे इस सूक्तमें ऋग्वेद और अथर्ववेद में दोनों स्थानोंका मंत्रपाठ 'देवकामा' हि निश्चित है और सर्वत्र अर्थ 'ईश्वरभक्ति करनेवाली' यह भी निश्चित ही है। किसी भी माननीय गृह्यसूत्रकारोंने इस मंत्रमें देवृकामा पाठ माना ही नहीं, चाहे वे ऋग्वेदके हों या अन्य वेदोंके!

क्या ऐसे स्थलोंमें भाष्यकारको अपने अर्थ के लिये सर्वथा उत्तरदायी नहीं होना चाहिये? यहां हमने पं० जयदेव शर्माजीके तथा स्व० पं० क्षेमकरणदासजीके वेदानुवाद से उदाहरण दिये हैं, इसका यह मतलब नहीं है कि, उनके कार्यपर हमें आक्षेप करना है। ये उदाहरण केवल इसीलिये दिये हैं कि ऐसे स्थान बडे गंभीर विचारसे विचार करने योग्य होते हैं, और इनका अर्थ उत्तरदायित्वके भारके साथ करना चाहिये। ऊटपटांग अर्थ लिख मारनेसे वेदका भाष्य नहीं हो सकता। वैसा जो होगा वह वेदका अनर्थ ही होगा, जो इस समय हो रहा है।

आजकल जिन्होंने वेदानुवाद किये हैं, उनमें कुछ दोष हुए तो उनकी क्षमा ही करनी योग्य है। क्योंकि साधनग्रंथ अभीतक जैसे चाहिये वैसे बने नहीं, अतः उन ग्रंथोंके अभावमें जो कुछ बनाया जा रहा है, वह तब तक आक्षे-पणीय समझना नहीं चाहिये, जबतक साधन-ग्रंथ तैयार नहीं होते। इसी कारण भाष्य और

अनुवाद करनेके पूर्व साधनग्रन्थ निर्माण करने में सब बल लगाना चाहिए । इसी उद्देश्यसे हमने 'वेदमन्त्रोंका वर्गीकरण' यह लेख लिखा । यदि इस तरहका वर्गीकरण वेदाभ्यासके भावसे किया जाय, तब तो वेदका अर्थ करनेके प्रमाण स्वयं वेदमन्त्रोंके अन्दरसे स्वयं प्रकाशित होंगे. और अर्थ करनेवाले उन की सहायता से वदका अर्थ असंदिग्ध रीतिसे करनेमें समर्थ होंगे।

उस लेखमें जितने वर्गीकरण दिये हैं, उतनेही वर्ग हैं और अधिक नहीं, ऐसा हमारा आग्रह नहीं है. प्रत्युत कई अधिक वर्ग होना संभव है, जैसा समान उपदेश देनेवाले मंत्र, विषम उपदेश देनवाले मंत्र, प्रश्नार्थक मंत्र, उत्तरार्थक मंत्र, आदि अनेक वर्गीकरण और अधिक भी करने आवश्यक होंगे, जिनका बोध वर्गीकरण करनेके समय होना संभव है। अर्थात् हमने वह लेख किसीपर आक्रमण करने की इच्छासे नहीं लिखा था, अपितु वेदाभ्यास की दृष्टिसे ही लिखा था।

परंतु श्री पं० जयदेव शर्माजीने उसका करीब करीब 'आर्यमित्र' में उपहासहि किया है । प्रथम लेखमें हमने बताया था कि वेदमें 'वेद-श्रुति-निगम' आदि शब्द यद्यपि आधुनिक वाङ्मयमें समानार्थक माने जाते हैं. तथापि मूलमें उनके अन्दर अर्थका भेद है और उनके विभिन्न उदाहरण दर्शाकर बताया था कि इस तरह वर्गीकरण किया जाय. तो वेदार्थ करने में सुविधा हो सकती है।

इस लेखपर पं० जयदेव शर्माजीका सर्वप्रथम आक्षेप यह है कि 'श्रुति-वेद' ये शब्द विभिन्नार्थक किसी स्थानपर प्रयुक्त ही नहीं हुए हैं। इस विषयमें पं० जयदेव शर्माजी की संतुष्टि के लिये हम श्रीमद्भगवद्गीताकी साक्षी देना चाहते हैं- देखिये—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
(गी. अ. २।५३)

"श्रुतिसे विप्रतिपन्न हुई तेरी बुद्धि जब निश्चल होगी. तब याग सिद्ध होगा ।" यहां श्रुतियोंके कारण बुद्धि विप्रतिपन्न, चञ्चल, अस्थिर, भ्रान्त होती है, ऐसा गीतामें कहा है । तथा—

वेदानां सामवेदोऽस्मि । (गी. अ. १०।२२)
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥ (गी. अ. १५।१५)

"वेदोंमें सामवेद ईश्वरका रूप है । और सर्व वेदोंद्वारा एक ईश्वरकाही ज्ञान होता है।"

यदि श्रीमद्भगवद्गीताकारके मत से श्रुति और वेद एक ही वस्तु के दो नाम हैं और जैसा कि पं० जयदेव शर्माजीका मत है, वैसे ये शब्द पर्याय ही हैं, तब तो 'श्रुति से मति विप्रतिपन्न होती है', इसका तात्पर्य वेदसे मति चञ्चल होती है. ऐसाही होगा और इस तरह, चञ्चलता बढानेवाले वेद ईश्वरका रूप दर्शाने में किस तरह समर्थ होंगे? यह एक बडा सदेहका स्थान होगा। परंतु श्रुति और वेदमें भेद माननेसे यहां अर्थका कोई भ्रम नहीं हो सकता। जिससे मतिमें चञ्चलता होती है वे श्रुतियां भिन्न हैं और जिन वेदोंसे ईश्वरका साक्षात्कार होता है और मन स्थिर होकर आत्मदर्शन होता है. वे वेद मंत्र भिन्न हैं, ऐसा माननेसे उक्त भगवद्गीता की आद्योपान्त संगति लगती है । श्रुति और वेदके जो लक्षण हमने अपने पूर्व लेखमें बताये, उनमें यह सब विवेचन किया है । अतः उनका पुनः विचार करनेकी आवश्यकता यहां नहीं है।

इसलिये पं० जयदेव शर्माजीके सन्मुख हम नम्र भावसे गीता की उक्त साक्षी रखना चाहते हैं और उससे दर्शाना चाहते हैं कि उस ग्रंथमें श्रुति और वेद इन शब्दोंका प्रयोग विभिन्न मन्त्रभागोंके उद्देश्यसे किया है। इसी तरह अन्य आम्नायादि के विषयमें भी बताया जा सकता है. परंतु हमारे मतसे इतना प्रतिपादन पं० जयदेव शर्मा जैसे विद्वानोंके लिये पर्याप्त है।

अनेक ग्रन्थोंमें श्रुति-वेद-समाम्नाय आदि शब्द एकार्थवाची प्रयुक्त हुए हैं, इससे उनका विभिन्न अर्थ लुप्त नहीं हो सकता । जिसके एकार्थवाची, अनेक शब्द भी भिन्नार्थक कैसे हैं

इसकाभी विवरण हमने अपने पूर्वलेखमें किया है।

इससे हमारी स्थापना पुष्ट होती है। और यदि स्वयं पं. जयदेव शर्माजी भी इस तरह वेदमंत्रोंका वर्गीकरण करेंगे, अथवा हमारा किया हुआ मुद्रित करवा देंगे, तो उनका ही भाष्य वेदान्तगत प्रमाणोंसे पुष्ट होता है या विरुद्ध अर्थ बताता है, इसका निश्चय होनेमें यह संग्रह बडा सहायक हो सकेगा। अतः यह हमारा बताया हुआ वेदवर्गीकरण उनकोही बडा उपयोगी होनेवाला है। क्षणमात्र मानभी लें कि श्रुति-वेद आदि शब्द समानार्थकही हैं, तथापि पूर्वकथित वर्गीकरण करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि वेदमंत्रोंका कैसा भी वर्गीकरण किया, तो भी उनका वेदत्व मारा नहीं जा सकता, अतः किसी तरह भी वर्गीकरण करनेपर डरनेका कोई प्रयोजन नहीं है।

अस्तु। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीताकी साक्षीसे बताया कि वहाँ 'श्रुति और वेद' ये शब्द भिन्न वर्गोंके मन्त्रविभागों के दर्शक हैं। इतना पं० जयदेव शर्माजीके आक्षेप के लिये उत्तर पर्याप्त है।

श्री स्वा० वेदानन्दतीर्थजीका आक्षेप।

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थजीने हमारे सामवेद-मुद्रण के विषयमें आक्षेप किये हैं। वे लिखते हैं कि "कलकत्तेमें स्व० पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने सामवेद और उसके गान छापे हैं और फिर पं० सातवलेकरजी क्या नया गान छापना चाहते हैं या यह उनका अज्ञान है?"

पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने जो सायणभाष्य सहित सामवेद और उसके गान छापे थे, वे सब ग्रंथ स्वाध्यायमंडलमें हैं, अतः यह कोई नयी बात नहीं है। परंतु ये ग्रन्थ इस समय दुष्प्राप्य हैं अतः पुनर्मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक ही है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने जो सामवेदमुद्रण कलकत्तेमें किया था, जो अब अप्राप्य है, उसमें मंत्रोंकी, पदोंकी, गानोंकी अशुद्धियां अनेक हैं, और कई स्थानपर मंत्रक्रम और मंत्रगणनाकी भी अशुद्धियां हुई हैं। अतः इन सबकी शुद्धि करके सामवेद का पुनः मुद्रण करना अत्यंत आवश्यक है। अशुद्ध धर्मग्रंथोंको कहांतक गलेमें बांधकर रखेंगे? क्या यह लज्जाकी बात नहीं है कि वैदिक धर्मीयों के आधारग्रन्थोंमें से उपासना का प्रधान अंगभूत जो सामवेद वह शुद्ध स्थितिमें किसो जगह नहीं मिलता? इस कलक को धोनेके यत्न "स्वाध्यायमण्डल" कर रहा है। इस प्रयत्न की सबको सहायता करना चाहिये।

अर्थात् कलकत्ते में ४० वर्ष पूर्व छपा हुआ सामवेद हमारे पास है। उसका पता हमें है। इतनाही नहीं, परंतु तंजावरके सुप्रसिद्ध सामवेदियोंके द्वारा छपा संपूर्ण गानों सहित सामवेद हमारे पास है, परतु वह ग्रन्थलिपि में छपा है। अतः उसका पढना सबके लिये असंभव है। अर्थात् य ग्रंथ होते हुए भी एक अप्राप्य और दूसरा अपाठ्य होनेके कारण देवनागरी अक्षरोंमें शुद्ध सामवेद का संपूर्ण गानोंके समेत मुद्रण होना अत्यंत आवश्यक है। यही अत्यावश्यक कार्य हम कर रहे हैं, इसमें श्री स्वामी वेदानंदजी को असमाधान क्यों हो रहा है?

सामवेदका जो हम मुद्रण कर रहे हैं, उसमें कई विशेषताएं भी हैं, वे ये हैं—

(१) कलकत्तेमें तथा अजमेरमें जो सामवेद छापे थे, उनकी संपूर्ण अशुद्धियां दूर करनेका यत्न किया है।

(२) कौथुमी, राणायणी, जैमिनी आदि शाखाओंकी संहिताओंका पाठभेद संग्रहित करके गानग्रन्थोंमें ये सब पाठभेद दिये जा रहे हैं। इस से तीनों चारों सामशाखाओंका परिचय पाठकों को होगा।

(३) सामगानोंके सभी शाखाओंके संपूर्ण गान हमारे गानग्रंथोंमें छापे जायगे और मंत्रोंसे गानका विस्तार करनेका ढंग भी दर्शाया जायगा, और कई गानोंकी 'सा-री-ग-म' दर्शाकर समग्र गान किस तरह गाये जाने चाहिये, इस का ढंग भी बताया जायगा। आजतक सब शाखाओंके सब गान किसीने भी इकट्ठे किये नहीं

और सामगानके गायनका भी शास्त्रीय ढंग किसीने किसी जगह दिया नहीं, जो सर्वप्रथम स्वाध्यायमण्डल द्वारा ही प्रकाशित हो रहा है।

(४) सामगानका नोटेशन सिद्ध करनेका प्रयत्न बिलकुल शास्त्रीय रीतिसे किया जा रहा है, जिसके लिये काशी, गुजराथ, म्हैसूर, मद्रास आदि स्थानोंसे परंपरासे पढे सामवेदी लाकर उनके गान देखकर उनका शास्त्रीय ढंग निश्चित करके सामगानके सब चिह्नोंका निर्णय किया गया है। सामपाठी उक्त स्थानों में हैं, परंतु सामगायक कहीं भी नहीं हैं, क्योंकि वेदपाठीको वेद कण्ठ होता है, वैसा मंत्रगायन नहीं आता। इस न्यूनता को दूर करनेका यत्न किया जा रहा है।

(५) मामूलीसे मामूली बातके लिये कितना परिश्रम करना पडता है, वह देखिये। नारदीय शिक्षामें कहा है कि—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।

'जो सामगानमें "१" एक अंक से स्वरका निर्देश है,वह वेणु (मुरली) का मध्यम स्वर है।' इससे अन्य स्वर किस तरह सिद्ध होते हैं, वह वैदिक धर्म में मुद्रित किये पूर्व लेखमें दर्शाया ही है (देखो वैदिक धर्म—आश्विन क्रमांक २२६)

यहां 'अंक१' का अर्थ 'म' स्वर निश्चित हुआ, परंतु अनेक प्रकारकी वेणुओंसे अनेक प्रकारके मध्यम स्वर उत्पन्न होते हैं, उनमेंसे कौनसा स्वर नारदीय शिक्षामें कहा है, जो सामवेद में गाया जाना चाहिये, यह एक बडा खोजका विषय है। इसका निश्चय करनेके लिये हमारे प्राचीन ऋषिमुनियोंने 'वेणु' का प्रमाण क्या निश्चित किया था, इसका निश्चय करना आवश्यक हुआ। इस विषयमें भरताचार्य का ग्रंथ प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध है, इससे प्राचीन ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। उसमें जो आर्ष वेणु का वर्णन और परिमाण दिया है, उसके अनुसार ठीक ठीक मापकी वेणु बनायी गई। इसके बनानेके लिये भी बहुत खोज करनी पडी और अनेक वार यत्न करना पडा। इस साधारण सी बातके लिये समय, व्यय और परिश्रम बहुत ही करने पडे। तब जाकर वह प्राचीन वेणु सिद्ध हुई। इसके सब स्वर ठीक हैं, ऐसा निश्चय कराकर, जब सब स्वर ठीक होनेका निश्चय हुआ, तब उसी वेणुका 'म' (मध्यम) स्वर सामका '१' अंक से गाया जानेवाला स्वर है, ऐसा निश्चय हुआ।

प्रत्येक विषयमें इस तरह खोज की जा रही है। प्रत्यक्ष सामगायक रखे हैं, जिनके स्वर इस तरह देखे जाते हैं। काशीसे मद्रास तक जो इसकी खोज के लिये भ्रमण करना पडा है, उसमें भी कितना व्यय हुआ है। इतने अथक परिश्रम से सामवेदकी प्रत्येक बात निश्चित की जा रही है। इसपर भी श्री० स्वा० वेदानन्दतीर्थजी पूछ रहे हैं कि 'यह अज्ञान है वा घमंड है?'

मैं स्वामिजीसे कहना चाहता हूं कि वेही इसका निर्णय करें। जिसको इस खोजका मूल्य समझता नहीं उसको हम नहीं समझा सकेंगे। जो समझेंगे वेही इसका महत्त्व जानेंगे और वेही सहायता करेंगे। अन्य लोग निंदा कर सकते हैं, वे वैसा करते जांय।

आगे स्वा० वेदानंदजी क्रोधसे पूछते हैं कि "पं० सातवलेकरजी अजमेरमुद्रित सामवेद की अशुद्धियां क्यों दर्शाते हैं?" उत्तर में निवेदन है कि अशुद्धियां शीघ्रही दूर होनी चाहिये। अशुद्धियां छिपा छिपाकर रखनाही बुरा है। यदि उन्नति होगी, तो अशुद्धि को दूर करनेसे ही होगी। इसीलिये उनको बताया जाता है। इसमें कोई द्वेषभाव नहीं है।

धर्मपुस्तकमें एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिये। सब विद्वानों को इसके लिये हि यत्न करना चाहिये। अतः अशुद्धि का दर्शाना बुरा नहीं है। जो लोग स्वाध्याय-मण्डलके ग्रंथोंमें अशुद्धियां दर्शाते हैं, उनका हम स्वागत करते हैं, उनको धन्यवाद देते हैं। जो लोग अशुद्धियों को गुप्त रखना चाहते हैं, वे ही धर्मके विरोधी हैं।

चतुर्थ नियम

(लेखक— पं० मदनमोहन विद्याधर, विशारदम्)

"सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोडने
में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए ।"

हे विश्वगुरो ! मुझको असत् (मिथ्या) और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुडाके सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार में स्थिर कर। [हे जगन्मङ्गलमय ! सब दुःखों से मुझको छुडाके, सब सुखों को प्राप्त कर (करा)] (आर्याभि० द. प्र. प्र. भा, पृ. ३८)

हे सच्चिदानन्द ! सत्यव्रतों का आचरण मैं करूंगा। मैं अनृत अनित्य दोहादि पदार्थों से पृथक् होके इस यथार्थ सत्य जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता, उस विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूं (आर्याभि० द. प्र. प्र. भा. पृ०७१)

सब मनुष्यों को सब प्रकार से, सब काल में, सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं। ... हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में ... प्रीति कभी मत करो। (ऋग्वेदादि द. प्र. द्वि. भा. पृ०३७८)

सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और युक्ति का उत्तम सुख मिलता है। (ऋग्वेदादि०द. प्र. द्वि. भा. पृ० ३९६)

जो सत्य का आचरण करनेवाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे कामों का करनवाला है, वह सदा पराजय और दुःख को ही प्राप्त होता है। ... सत्य से ही सुख को प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्यधर्म का आचरण और असत्य का त्याग सब मनुष्यों को उचित है। (ऋग्वेदादि० द. प्र. द्वि. भा. पृ० ३९९)

सब दिन मिथ्यावाद को छोड के सत्य ही बोलना चाहिये। (ऋग्वेदादि० द. प्र. द्वि. भा. पृ० ४४८)

हम लोग ... सर्वज्ञ सत्यस्वरूप सत्य न्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा होके यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। (ऋग्वेदादि० द. प्र. द्वि. भा. पृ० ४५३)

सत्याचरण का ठीक ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे वे सब सफल हो जाते हैं। (ऋग्वेदादि०द प्र. द्वि भा. पृ० ४७६)

जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थानमें सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना लिखना मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य का भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी लिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि, उपदेश वा लेखद्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग कर के सदा आनन्द में रहें। (स० प्र० भूमिका, द. प्र. प्र. भाग पृ. ७८)

आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में वे पक्षपात छोड सर्वतंत्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें वर्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के

विरोध से अविद्वानो में विरोध बढकर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है। इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु **सत्यमेव जयते नानृतं,सत्येन पन्थाः विततो देवयानः** अर्थात् सर्वथा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। इस दृढ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ प्रकाश करने से नहीं हटते। (स प्र. भूमिका द्. प्र प्र भाग.)

अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ गया है, इसका निवारण करना बुद्धिमानो का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अङ्कुर डाले कि, जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोध भाव छोडके आनन्द को बढावें। (स प्र. दशम समु० पृ. ३९७)

विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं। (स. प्र. दशम समु पृ. ३९८)

सब मनुष्यों को न्यायदृष्टि से वर्तना उचित है। मनुष्यजन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने कराने के लिये है, न कि वादविवाद विरोध करने कराने के लिये। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो जो अनिष्ट फल हुए होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा तथा अन्योन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड सत्यासत्य का निर्णय करके सत्यका ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें, तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोधजाल में फंसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्यमत हो जायें। .. सर्वशक्तिमान् परमात्मा एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों के आत्माओं में प्रकाशित करे। (स० प्र० उत्तरार्ध, अनुभूमिका १, द्० प्र० प्र० भा० पृ० ४००)

जब तक वादीप्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाय, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पडकर बहुत दुःख उठाना पडता है, इसलिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो। (स० प्र० उत्तरार्ध, अनुभू० २, द्० प्र० प्र० भा० ५५१-५५२)

सब मनुष्यों को उचित है कि, सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझ कर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें। क्यों जैसे पढने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके, तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है, जो कोई पक्षपातरूप यानारूढ होके देखते हैं, उनको न अपने और न पराये गुणदोष विदित हो सकते हैं। मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित व श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है। यदि एक मतवाले दूसरे मतवाले के विषयों को जानें और अन्य न जानें, तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाडे में गिर जाते हैं। ... जो जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं, वे तो सब में एक से हैं ... यदि वादीप्रतिवादि सत्यासत्य निश्चय के लिये वादप्रतिवाद करें, तो अवश्य निश्चय हो जाय। (स० प्र० उत्तरार्ध, अनुभूमिका ३, द्० प्र० प्र० भा० ६३१, ६३२)

... यही सज्जनों की रीति है कि अपने व पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ दुराग्रह

न्यून करें करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं? सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है। (ऋ० प्र० उत्तरार्ध अनुभूमिका ४ पृ० ७०३)

पितृयज्ञ से जब मातापिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। ... जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य-विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र में एक ही धर्म स्थिर रहता है। बिना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती, सन्देहनिवृत्तिके विना दृढ़निश्चय भी नहीं होता। निश्चयके बिना सुख कहां? (स.प्र. ४ र्थसमु० पृ १९९)

जब सच्चा उपदेश न रहा, तब (आर्यावर्त्त में) अविद्या फैल कर परस्पर में लड़ने झगड़ने लगे। ... क्योंकि जब उत्तम उत्तम उपदेशक होते हैं, तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं। और जब उत्तम उपदेशक और श्रोता नहीं रहते, तब अन्धपरम्परा चलती है। फिर भी जब सत्पुरुष उत्पन्न होकर सत्योपदेश करते हैं, तभी अन्धपरम्परा नष्ट होकर प्रकाश की परम्परा चलती है। (स. प्र. एकादश समु० पृ. ४०९)

हम तो यही मानते हैं कि, सत्य भाषण, अहिंसा, दया आदि शुभ गुण सब मतों में अच्छे हैं। बाकी वादविवाद, ईर्ष्या, द्वेष, मिथ्या भाषणादि कर्म सब मतों में बुरे हैं। यदि तुमको सत्य मत ग्रहण की इच्छा हो, तो वैदिक मत को ग्रहण करो। (स. प्र. चतुर्दश समु० पृ.७८५)

यह मेला (चांदापुर) सत्य और असत्यनिर्णय के लिये किया गया है, इसलिये हम तीनों (आर्य, मुस्लिम, ईसाई) को उचित है कि, पक्षपात छोड़कर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें, किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं। (सत्यधर्मविचार, द प्र. प्र. आ. पृ. ८१७)

यह मेला (चांदापुर) केवल सत्यनिर्णय के लिये किया गया है और यह ही... प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौनसा मत सत्य है, जिसको सत्य समझें, उसी को अंगीकार करें, इसलिये यहां हार और जीत की अभिलाषा किसी को नहीं होनी चाहिये, क्योंकि सज्जनोंका यह ही मत होना चाहिये कि, सत्य की सर्वदा जीत और असत्यकी सर्वदा हार होती रहे। विद्वानोंके बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक दूसरे की निन्दा करना, बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से ही कहना कि, यह हारा और मैं जीता ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। इस प्रकार पक्षपात छोड़कर सत्य भाषण करना सबको उचित है। और एक दूसरेसे विरोधवाद करना, यह अविद्वानों का स्वभाव है, विद्वानों का नहीं। [सत्यधर्मविचार पृ. ८२४,८२५]

पक्षपात को छोड़कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके अर्थको सिद्ध करना चाहिये। सब अन्याय, अधर्म और पक्षपात से होता है। [सत्यधर्म-विचार पृ. ८३९]

जब सभा में जावे तब दृढ़निश्चय कर लेवें कि, मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा [अभिमान न रक्खें, अपने को बड़ा न मानें। अपनी बात का कोई खण्डन करे, उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो।] जो कोई कहे उस वचन को ध्यान देकर सुनके जो उसमें कुछ असत्य भाग हो, उस अंशका खण्डन अवश्य करें और जो सत्य हो, तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करें, [बड़ाई छोटाई न गिनें, व्यर्थ बकवाद न करें] कभी मिथ्या का पक्ष न करें और सत्य को कदापि सत्यको न छोड़ें (ऐसी रीतिसे बैठे वा उठे कि जिस से किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर] दृष्टि रक्खे, जिसमें सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो, उसको करे। (सज्जनोंका संग करें और दुष्टोंसे अलग रहें।) जो जो सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करो। (व्यवहार पृ.७४०)

यदि सभामें प्रवेश करे, तो सत्य ही बोले, यदि सभामें बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनकर मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अति पापी है। (संस्कारविधि, पृ. २११)

पञ्चम नियम

(लेखक-पं० मदनमोहन विद्याधर, विशगापट्टम्)

" सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ। "

जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होनेसे सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है, उसको धर्म कहते हैं।... जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोडकर और पक्षपातसहित अन्यायी होके विना परीक्षा करके अपना ही हित करना है, जो अविद्या हठ क्रूरतादि दोषयुक्त होनेके कारण वेदविद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोडने के योग्य है, वह अधर्म कहाता है। (आर्योद्दे. द. ग्र. प्र सा. पृ ८९१, रत्न सं.२,३)

जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदोंसे अविरुद्ध है, उसको धर्म और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञा-भंग वेदविरुद्ध है, उसको " अधर्म " मानता हूं। (स्वमन्त० प्र. स. ३)

सब अन्याय, अधर्म और पक्षपात से होता है... पक्षपातसे ही नित्य अधर्म होता है। अधर्म से काम को सिद्ध करना, इसीको अनर्थ कहते हैं। ...ईश्वर की आज्ञा का पालन करना, इस को धर्म और उसकी आज्ञा का तोडना इसको अधर्म कहते हैं। सो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं। (सत्यधर्मविचार पृ. ८३९)

धर्मका स्वरूप न्यायाचरण है। न्यायाचरण उसको कहते हैं, जो पक्षपात को छोडकर सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना। (ऋग्वेदादि० पृ. ३१५)

जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्यका परित्याग पांचों परीक्षाओं (पृ. ७३८ में कथित) के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञापालन, परोपकार करना रूप धर्म, जो इससे विपरीत वह अधर्म कहाता है। क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म। पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म। सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है। (व्यवहारभानु, पृ. ७३९)

जो पक्षपातरहित सत्याचरण करना है, वह न्याय और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है, वह अन्याय कहाता है। जो न्यायाचरण सबके हित का करना आदि कर्म हैं, इनको धर्म जो अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं, उनको अधर्म जानो। (व्यवहार भानु, पृ. ७४६)

उत्तम संन्यासी अकेला भी जिस धर्मव्यवहार के करने का निश्चय करे, वही परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोडों पुरुषों का कहा हुआ, धर्म-व्यवहार कभी न मानना चाहिये, किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परम विद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सबको मानना चाहिये। (संस्कारविधि, पृ. २१०)

जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी को तुम लोग धर्म जानो। (संस्कारविधि, पृ. २११)

धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोडकर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना, इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं। (अहिंसा) किसी से वैरबुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्तना। (धृतिः) सुखदुःख, हानिलाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोडना, किन्तु धैर्य से ही धर्म में स्थिर रहना। (क्षमा) निन्दा, स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना। (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना। (अस्तेयम्) मन कर्म वचन से अन्याय

और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना। (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादिसे शरीर को शुद्ध रखना।(इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म ही में चलाना। (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्संग करने और कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना। (विद्या) जिससे भूमिसे लेके परमेश्वर-पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना। (सत्यम्) सत्य मानना सत्य बोलना सत्य करना। (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है और अन्याय पक्षपात-सहित आचरण अधर्म जो कि हिंसा वैरबुद्धि, अधैर्य असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि को नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है, उसमें फंसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर, अधर्मी, दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिये। (संस्कारविधि, पृ० २१०, २११)

वेद, स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है, जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है। उसीका नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपात-सहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसीको अधर्म कहते हैं। (स. प्र, तृतीय समु पृ० १३९)

(प्रश्न) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है ? क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है, उसका निर्णय करने में क्या क्या निश्चय साधन हैं ? (उत्तर) पांच हैं। उनमें से प्रथम ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या; दूसरा सृष्टिक्रम; तीसरा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण; चौथा, आप्तों का आचार-उपदेश, ग्रंथ और सिद्धान्त; और पांचवा अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान। (आगे उदाहरण दिये गये हैं) जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रियामें, होने जानने जनाने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये। इन पांच प्रकार की परीक्षाओंमें पढ़ते पढ़ाते हारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें। (व्यवहार० पृ० ७३७, ३८, ३९) (तुलना करो स. प्र. तृतीय समुल्लास द. प्र. प्र, भा. पृ.१४०)

परीक्षा पांच प्रकार की होती है। इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुणकर्मस्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवी अपने आत्मा की पवित्रता विद्या इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना, चाहिये। (स्वम. प्र. सं. १९)

जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचार के सत्यासत्य को ठीक ठीक निश्चय करना है, उसको परीक्षा कहते हैं। (आर्योद्दे० रत्न सं० ५२, पृ. ८९९)

जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझ ले तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट हो जाते हैं और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं, उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करनेका नाम धर्म और विपरीतका का अधर्म है। क्या धर्म का सुखलाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता ? ... इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा है, उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें? यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य मनुष्य वे हैं

जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किंचिन्मात्र भी नहीं करते हैं। (व्यवहारभानु पृ ७५३)

धर्म तो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्यका परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियोंका का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है। (स. प्र. पंचम समु. पृ० २२८)

सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षण की गई हो वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है। उसके आचरण में सब दिन प्रीति रखो और ''' अपने आत्मा, प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो। (ऋग्वेदादि० पृ. ३७८)

सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नही है। क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्योंको व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिये सब मनुष्यों को सत्यमें ही रमण करना चाहिये। जो न्याय और पक्षपात को छोडकर सत्यका आचरण और असत्यका परित्याग करना है, उसीको धर्म कहते है।...(ऋग्वेदादि पृ.३९६)

सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उस से सब लोगों का, प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है। तथा सत्पुरुषोंमें सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है।... धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्मसे ही लोग पापों को छुडा देते हैं, जितने उत्तम काम हैं, वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (ऋग्वेदादि. पृ. ३९७)

मनुष्यों को योग्य है कि काम से अर्थात् झूठ से कामना-सिद्धि होने के कारण से वा निन्दास्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करे और न लोभ से, चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तथापि धर्म को छोडकर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन, छादन, जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोडें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं, तथा सुखदुःख दोनों अनित्य हैं।... धन्य वे मनुष्य, वे हैं जो अनित्य शरीर और सुखदुःखादि के व्यवहार में वर्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते।... जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही वीर पुरुष धन्य हैं। (संस्कार-विधि पृ. २१२, २१३)

जिस पुरुष ने जिसके सामने एकवार चोरी, जारी, मिथ्या भाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि मिथ्या प्रतिज्ञा करने-वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इसमे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी उसके साथ वैसे ही पूरी करनी चाहिये।... सदा सत्य भाषण और सत्य प्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये। (स० प्र० द्वितीय समु० पृ ११७)

(मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि) जो धर्म-युक्त व्यवहार में ठीक ठीक वर्तता है, उसको सर्वत्र सुख-लाभ और जो विपरीत वर्तता है, वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है।... जब मनुष्य धार्मिक होता है, तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है, तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। (व्यवहारभूमिका, पृ. ७२६)

सत्पुरुष का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान, वैसा वचन और जैसा वचन, वैसा ही कर्म करना और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है, वही असत्पुरुष का लक्षण है। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों। (व्यवहार भूमिका पृ० ७४९)

...जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो, वैसा ही सदा भाषण करें। इससे विपरीत कभी नहीं। (आर्याभि० पृ. ४९)

धार्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं। इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि, सर्वथा झूठ छोडकर सत्य

ही से सब व्यवहार करें, जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें।...

सत्य विद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का संग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्यादि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है, वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता। (क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता, वह क्यों कर धर्मात्मा हो सकता है? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्मयुक्त चेष्टा करनेमें तो भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते।(व्यवहारभानु, पृ. ७२७)

बहुत मनुष्य ऐसे हैं जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरोंके दोष देखने में अत्युद्युक्त रहते हैं। यह न्याय की बात नहीं, क्योंकि प्रथम अपने दोष देख निकाल के पश्चात् दूसरोंके दोषोंमें दृष्टि देके निकालें। (स. प्र. द्वादश समु० अनुभूमिका पृ. ५५२)

(प्रश्न.) जो माता, पिता, आचार्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिये वा नहीं? (उत्तर) कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को बुरा उपदेश करते हैं।— जो जो तुम्हारे उत्तम कर्म और उपदेश हैं, उन उन को तो हम ग्रहण करते हैं अन्य को नहीं।(परन्तु तुम कैसे ही हो हम को तनमनधन से तुम्हारी सेवा करना परम धर्म है, क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है, वैसी तुम्हारी सेवा क्यों न करें?... उत्तम माता आदि उनसे कहते हैं कि ... तुमको चाहिये कि जो जो उत्तम चरित्र हैं, सो सो करो और कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो।) इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे मातापिता आचार्य-श्रेष्ठ कहाते हैं। (व्यवहारभानु पृ. ७४१-४२-४३)

माता, पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो! वा शिष्य-लोगो! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीचमें विद्वान् और ब्रह्म के जाननेवाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के वचनों में विश्वास करो।... जब तुमको किसी बातमें सन्देह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित धर्मात्मा मनुष्योंसे पूछ कर शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस प्रकार से जिस जिस धर्म काम में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो।(ऋग्वेदादि० पृ. ३९३)

माता, पिता, आचार्य अपने सन्तान और शिष्योंको सदा सत्य उपदेश करें कि जो जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन उन का ग्रहण करो और जो जो दुष्ट कर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो। जो जो सत्य जानें उन उन का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी, दुराचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस जिस उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें उस उस का यथेष्ट पालन करें। (स० प्र० द्वितीय समु० पृ. ११६—११८)

जिस मार्ग से इसके पिता, पितामह चले हों, उसी मार्ग में सन्तान भी चले, परन्तु (सतां) जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों, उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता पितामह दुष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चले, क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख नहीं होता। जो ऐसा न माने, तो उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड लेवे? जिसका पिता कुकर्मी हो, क्या उसका पुत्र भी कुकर्म करे? नहीं नहीं, किन्तु जो जो पुरुषों के उत्तम कर्म हों, उनका सेवन और दुष्ट कर्मोंका त्याग कर देना, सब को अत्यावश्यक है। (स० प्र० चतुर्थ समु० पृ० १७९)

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, पर दुष्ट व्यवहारों को छोडकर धार्मिक हो के खानेपीने बोलने सुनने, बैठनेउठने, लेनेदेने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। (व्यवहारभानु पृ ७६९)

अथर्ववेद।

(लेखक- स्व० पं० रघुनन्दन शर्माजी)

बहुतसे लोगों का ख्याल है कि, अथर्ववेद ऋगादि तीनों वेदों के बाद बना है। वे अपने इस विचार की पुष्टि में दो दलीले पेश करते हैं। वे कहते हैं कि, एक तो अनेकों जगह त्रयीविद्या का ही नाम आता है और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ही के नाम कहे जाते हैं। दूसरे अथर्ववेद का नाम अथर्ववेद के सिवा अन्य तीनों वेदों में नहीं आता, इसलिए अथर्ववेद बाद का है।

हम यहाँ इन दोनों दलीलों की आलोचना करके बतलाना चाहते हैं कि, ये दोनों दलीले निस्सार हैं। जो लोग कहते हैं कि, त्रयीविद्या से अभिप्राय ऋक्, यजु और साम ही से है, वे ग़लती पर हैं। त्रयीविद्या का वह मतलब ही नहीं है। त्रयीविद्या का अभिप्राय तो ज्ञान, कर्म और उपासना है। ज्ञान, कर्म, उपासना ही का वर्णन चारों वेदों में आता है, इसलिए चारों वेद त्रयीविद्या कहलाते हैं, तीन ही नहीं। महाभारत में लिखा है कि—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाकृतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा।
(महाभारत शांति० १३५)

अर्थात् ऋग्यजुस्साम और अथर्व में ही त्रयीविद्या है। यहाँ त्रयीविद्या के साथ चारों वेदों के नाम दिये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि, त्रयीविद्यासे अभिप्राय चारों वेदों से ही है। दूसरी बात यह है कि चारों वेदों में तीन ही प्रकार के मन्त्र हैं, इसलिए चारों वेदों का समावेश तीन में हो जाता है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥

अर्थात् विनियोग किये जानेवाले मन्त्र चारों वेदों में तीन ही प्रकार के हैं। मीमांसा में इन तीनों प्रकार के मन्त्रों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि, जिन मन्त्रों के अर्थ के साथ पादव्यवस्था है वे ऋक्, जो गानेयोग्य हैं वे साम और जो इन दोनों के अतिरिक्त हैं वे सब यजु हैं ×। इससे ज्ञात होता है कि चारों वेदों को तीन ही विभागों में विभक्त करने का कारण मन्त्रों के तीन प्रकार और उन मन्त्रों में प्रतिपादित तीन (ज्ञान, कर्म, उपासना) विषय ही हैं। रहा यह कि प्राचीन ग्रन्थों में तीन ही वेदों के नाम कहे गये हैं, यह ग़लत है। समस्त ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों वेदों के साथ अथर्ववेद का भी वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि, 'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'। यहाँ स्पष्ट अथर्व का नाम आया है। इसी तरह ताण्ड्य महाब्राह्मण १२।९।१० में लिखा है कि, 'भेषजं वा अथर्वणानि' अर्थात् अथर्व में औषधि विद्या का वर्णन है। इसके अतिरिक्त यज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह अथर्व का ही विशेष ज्ञाता होता है। उसके लिए सर्वत्र ही लिखा हुआ है कि— 'अथर्वैवा ब्रह्मा' अर्थात् ब्रह्मा अथर्ववेदवाला ही हो। इन प्रमाणों से विदित होता है कि, तीनों वेदों के साथ अथर्व की गणना समस्त प्राचीनतम साहित्य में है। इसलिए त्रयीविद्या अथवा कारणवश केवल ऋग्यजुः और साम का ही नाम आ जाने से यह न समझना चाहिये कि अथर्ववेद तीनों वेदों के बाद बना है। अथर्ववेद उतना ही प्राचीन है, जितने प्राचीन ऋग्यजुः और साम हैं।

इस दलील के अतिरिक्त अथर्ववेद के नवीन होने में जो दूसरी दलील दी जाती है कि, अथर्ववेद का नाम ऋग्यजुः और साम में नहीं आता, वह भी निस्सार ही है। हम लिख आये हैं कि अथर्व में भी उसी त्रयीविद्या

× तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः।

का वर्णन है और उसी प्रकार के मन्त्रों का समावेश है, जिस प्रकार से अन्य तीनों वेदों में है, किन्तु अथर्ववेद के मन्त्र कुछ सरलार्थबोधक हैं इसलिए अथर्व का पृथक् अस्तित्व स्थिर किया गया है। मीमांसा में लिखा है कि '**निगदो वा चतुर्थ स्याद्धर्मविशेषात्**' अर्थात् विशेषता के कारण ही निगद नामक चतुर्थ वेद का अस्तित्व है। अथर्व का निगदत्व ही उसको तीनों से पृथक् किए हुए है। बाक़ी सब बातें चारों की समान ही हैं। यही कारण है कि अथर्व न तो तीनों से अलग ही हो सकता है, न तीनों में समा ही सकता है और न ऋग्यजुः और साम की तरह उसका कोई स्थिर नाम ही रक्खा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में हमको अथर्ववेद के चार नाम- निगद, ब्रह्म, अथर्व और छन्द मिलते हैं। ये चारों नाम इसके चार गुणों के कारण पड़े हैं। निगद नाम इसका इसकी सरलता के कारण पड़ा है, जैसा कि हमने ऊपर मीमांसा के प्रमाण से लिखा है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म है। अथर्ववेद १५।७।८ ही में लिखा है कि, '**तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च**' यहाँ ऋग, यजुः और साम के साथ ब्रह्म का भी नाम है। यही बात गोपथब्राह्मण में इस तरह लिखी है कि, '**चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः**' यहाँ स्पष्ट तीनों वेदोंके साथ ब्रह्मवेदका भी खुलासा कर दिया गया है। इसका यह ब्रह्मवेद नाम इसलिए पड़ा है कि, यज्ञ का अधिष्ठाता ब्रह्मा इसी वेद के साथ नियुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि '**ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः, सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा**' अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा नियुक्त करे। अथर्ववेद से ब्रह्मा की नियुक्ति के लिए गोपथब्राह्मण में कहा गया है कि '**अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्**। **अथर्वांगिरोविद् ब्रह्माणम्**' अर्थात् अथर्व से ब्रह्मा होता है- अथर्व का जाननेवाला ब्रह्मा है। इसका अभिप्राय यही है कि चारों वेदों का जाननेवाला अर्थात् ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक का जाननेवाला ब्रह्मा होता है। इसी से ब्रह्मा चार मुखवाला कहलाता है। तात्पर्य यह कि, यज्ञ में ब्रह्मा की नियुक्ति अथर्व से ही होती है, इसलिए अथर्व का नाम भी ब्रह्मवेद रक्खा गया है। इसी तरह इसका तीसरा नाम अथर्व है। अथर्ववेद में विराट् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम्।
(अथर्व० १०।७।२०)

इस मन्त्र में तीन वेदों से विराट् के अन्य अन्य अङ्ग बतलाये गये हैं, परन्तु अथर्व से विराट् का मुख बतलाया गया है। विराट् के मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद में लिखा है कि '**मुखादग्निरजायत**' अर्थात् विराट् के मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। मालूम हुआ कि अथर्व भी अग्नि ही है। ऊपर के मन्त्र में स्पष्ट ही अथर्व के साथ अंगिरस शब्द आया है। अंगिरस अंगारों को कहते हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि, अथर्व अग्नि ही है। जिस प्रकार यज्ञ में ब्रह्मा विशेष वस्तु है, उसी तरह यज्ञ में अग्नि भी प्रधान वस्तु है। अग्निप्रधान होने से ही अथर्ववेद का यज्ञ में विशेष स्थान है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि राजा दशरथ ने अथर्ववेद के ही अनुसार पुत्रेष्टि यज्ञ किया था ×। ऋग्वेद में भी अथर्व को यज्ञप्रधान कहा गया है। वहाँ लिखा है कि '**यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते**' अर्थात् अथर्वा ने पहिले यज्ञ से धर्ममार्ग क़ायम किया, '**अग्निर्जातो अथर्वणः**' अर्थात् अथर्वा से अग्नि उत्पन्न हुई और '**त्वमग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत**' अर्थात् हे अग्नि! तुझको पुष्कर (आकाश) में अथर्वा ने मथकर निकाला। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि अथर्व यज्ञ का भी वाचक है। अग्नि और यज्ञ का वाचक होने से ही अथर्व नाम इस वेद के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद का चौथा नाम छन्द भी है। अथर्ववेद ११।७।२४ में ही लिखा हुआ है कि '**ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह**'। इस मन्त्र में ऋग,

× इष्टिंतेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। (वाल्मीकि बाल० ८।६)

यजुः साम के साथ अथर्व को छन्दांसि कहा गया है। अन्य नामों की अपेक्षा इसका यह नाम अधिक युक्तिसङ्गत है। यह नाम इसके प्रधान निगद गुण के कारण पड़ा है। निगद सरलार्थ छन्दों को कहते हैं। इस वेद में हर प्रकार के छन्द हैं और सब सरलार्थद्योतक ही हैं, इसीलिए इसका नाम छन्दवेद है। इसका यह नाम जिस मन्त्र में आता है, वह मन्त्र चारों वेदों में आया है। यहाँ हम उस मन्त्र को उद्धृत करते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यह मन्त्र पुरुषसूक्त का है और पुरुषसूक्त चारों वेदों में आता है, इसलिए यह मन्त्र चारों वेदों में आया हुआ समझना चाहिए और मानना चाहिए कि चारों वेदों में अथर्व को छन्द कहा गया है। कुछ लोग इस छन्द शब्द से वेदों में आये हुए अनेक छन्दों का ग्रहण करते हैं, पर यह उनकी भूल है। क्योंकि जब चारों वेद ही छन्दों में हैं ※ तब वेदों का नाम आने से ही छन्दों का नाम आ गया और अलग छन्द कहने की कोई आवश्यकता न रही, प्रत्युत सब छन्दवाले वेदों के साथ—ऋक्, यजुः, साम के साथ—छन्द का नाम आने से यही सिद्ध होता है कि, यहाँ यह छन्द शब्द अथर्व के ही लिए आया है। यह बात हमारी कल्पना नहीं है। अथर्ववेद का गोपथब्राह्मण स्वयं अथर्ववेद को छन्दवेद कहने का कारण बतलाता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि, ' अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्थानम् ' अर्थात् अथर्ववेद का चन्द्रमा देवता है, वही ज्योति है, सभी प्रकार के छन्द हैं और जलस्थान है। यहाँ सभी प्रकार के छन्द कहकर बतला दिया गया है कि, अथर्ववेद में सब प्रकार के सरलार्थबोधक छन्द हैं। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।५ में लिखा है कि ' यदिदं किंचर्चो यजूंꣳषि सामानि छन्दांꣳसि '। यहाँ ऋग्, यजुः, साम के साथ छन्दवेद का वर्णन किया गया है। यही नहीं, किन्तु ऋग्वेद ९।११३।६ में स्पष्ट कर दिया गया कि, ' यत्र ब्रह्मा पवमानछन्दस्यां वाचं वदन् ' अर्थात् जहाँ यज्ञ में ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। यज्ञ में ब्रह्मा अथर्ववेद से ही नियुक्त होता है। वही बात इस ऋचा में कह दी गई है। ऋचा कहती है कि, ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। इसका मतलब यही है कि, ब्रह्मा अपने अथर्ववेद को पढ़ता है। इस तरह से स्पष्ट हो गया कि, छन्द अथर्ववेद ही है। पुराणों में तो यह बात बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दी गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है कि—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्याःसविस्तराः॥
(हरिवंशपुराण)

यहाँ ऋग्, यजुः साम के साथ 'छन्दांसि अथर्वणानि' कहा गया है, जिससे अब निर्विवाद हो गया कि अथर्ववेद का ही नाम छन्दवेद है। इस छन्दवेद का वर्णन चारों वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों में एक स्वर से अथर्ववेद के ही लिए किया गया है, इससे कह सकते हैं कि अथर्ववेद का वर्णन चारों वेदों में आता है। यही नहीं, किन्तु पारसी धर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थ गाथा में भी अथर्ववेद को छन्द ही कहा गया है।

हम बचपन से यह बात सुनते आते हैं कि मुसलमानी, यहूदी और पारसी आदि धर्म अथर्ववेद से ही निकले हैं। परन्तु अथर्ववेद के पन्ने उलटने पलटने पर कहीं भी हमको अल्ला बिस्मिल्ला का पता न मिला। हमने समझा कि सम्भव है यह बात सत्य न हो, किन्तु पारसी धर्म की पुस्तकों और उन पुस्तकों के पढ़ने से जिनको योरोपीय विद्वानों ने ढूँढ़ तलाश के साथ लिखा है, यह बात खुल गई कि इसलाम आदि धर्मों का स्रोत अथर्ववेद ही से बहा है। अरबी भाषाके प्रसिद्ध पण्डित और कुरानशरीफ़ के ज्ञाता सेल साहब अपनी कुरान की भूमिका में लिखते हैं कि 'हज़रत मुहम्मद ने अपने विश्वास यहूदियों से लिए हैं और यहूदियों ने पारसियों से' +। पारसियों

※ तीनों वेद छन्दों में ही हैं। यजुर्वेद की कण्डिकाएँ भी किसी न किसी छन्द के ही नाम से लिखी हैं।

\+ Mohammed borrowed from the Jews who learned the names and offices of those beings from the Persians, as they themselves confess. (Talmud Hieros and Roshbashan. Sale's Koran, p. 56.)

के विश्वासों के सम्बन्ध में मार्टिन हॉग कहते हैं कि 'पारसियों के पुराने साहित्य गाथा में महात्मा ज़रदुस्त एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथर्वा की प्रशंसा करते हैं और उसी अङ्गिरा की प्रशंसा करते हैं, जिसका वेदों में वर्णन है' ×। गाथा के जिस श्लोक में अङ्गिरा का वर्णन आता है, वह यह है—

स्पेन्तेम अतथ्वा मज्दा में गही अहुरा
ह्यत मा वोहु पइरि-जसत् मनंगहा
दक्षत् उष्या तुष्ना महतिश वहिश्ता
नोइत् ना पोउरुश् द्रेगवतो ख्यात् चिख्नुषो
अत् तो वीस्पेंग अंग्रेग अषाउना आदरे।

(गाथा, य० १८ । १२)

अर्थात् हे अहुरमज्द ! मैंने तुझे आबादी करनेवाला जाना। जब तेरा संदेश लानेवाला अङ्गिरा मेरे पास आया, तो उसने ज़ाहिर किया कि सन्तोष सबसे अच्छी चीज़ है। एक पूर्ण मनुष्य कभी भी पापी को राज़ी नहीं रख सकता। क्योंकि वह सत्य ही का पक्ष करता है। इस श्लोक में अंग्रेग शब्द अङ्गिरा के लिए आया है। अङ्गिरा अथर्व का ही वाचक है। क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि 'अथर्वाङ्गिरसो सुखम्' अर्थात् अथर्व-अङ्गिरा विराट् का मुख है। इस वाक्य में अथर्व और अंगिरा एक ही वस्तु बतलाये गये हैं। इसलिए जरदुस्त देव जिस अंगिरा के द्वारा परमात्मा का संदेश अपने पास आना बतलाते हैं, वह अथर्ववेद ही है। अथर्ववेद छन्दवेद कहलाता है, इसीलिए पारसी-धर्म का उपदेश जिस साहित्य के द्वारा हुआ है, वह भी ज़न्द अथवा ज़न्दावस्था कहलाता है। ज़न्द और ज़न्दावस्था छन्द और छन्दावस्था का ही रूपान्तर है। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि ज़न्द शब्द संस्कृत के छन्द शब्द का ही अपभ्रंश है, जिसे पाणिनि और अन्य विद्वानों ने वैदिक भाषा के लिए कहा है'❀। छन्द शब्द वैदिक भाषा में वेदों के लिए इसी कारण प्रयुक्त हुआ है कि, वेदों का चतुर्थ भाग अथर्व छन्दवेद ही कहलाता है। पारसियों का अथर्ववेद ही से अधिक सम्बन्ध है, इसलिए उनके साहित्य का छन्द नाम अथर्ववेद ही के कारण पड़ा है। अतएव अथर्ववेद के छन्दवेद होने में अब कुछ भी सन्देह नहीं है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक देखा कि अथर्ववेद त्रयीविद्या के अन्तर्गत है और अथर्ववेद का नाम समस्त प्राचीन साहित्य तथा ऋग्यजुः और सामवेद में उसी तरह आता है, जिस तरह दूसरों का, इसलिए अथर्ववेद भी उसी तरह अपौरुषेय है, जिस तरह ऋग्यजुः और साम तथा अथर्ववेद को भी उसी तरह वेदत्व प्राप्त है, जिस प्रकार ऋग्यजुः और साम को।

× In the Gatha (which are the oldest parts of the Zend-Avasta) we find Zarthushtra alluding to old revelation and praising the wisdom of Saoshyants, Atharvas, fire-priests. He exhorts his party to respect and revere the Angra (yas. XVIII, 12) i. e. the Angiras of the Vedic hymns. (Haug's Essays, p. 294.)

❀ I still hold that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word छन्दः Chhanda, which is the name given to the language of the Veda by Panini and others.

(Chips from a German Workshop, Vol. I, p. 84)

चार उपदेष्टा

(लेखक– आचार्य पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, गुरुकुल महाविद्यालय, सोनगढ)

छान्दोग्योपनिषत् प्रपाठक चतुर्थ के तृतीय खंड में कथा आती है कि, जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व अपनी माता से अपना गोत्र जानना चाहा। माता ने अनभिज्ञता बताई। सत्यकाम ने गौतम गोत्रोत्पन्न हारिद्रुमत ऋषि के पास जा कर कहा कि मैं ब्रह्मचर्यव्रत को पालन करने के लिये आप की सेवा में आया हूं। गौतम ने सत्यकाम से गोत्र पूछा, तो उसने सच्ची हकीकत कह सुनाई। गुरु ने कहा-सोम्य! तू ब्राह्मण है, समिधा ले आ, तुझे उपनयन दूंगा। उपनयन के अनुसार गुरुने कृश, दुर्बल गौओंमेंसे चार सौ गायें निकालकर कहा कि, इन्हें वनमें ले जा। सत्यकाम उन्हें ले जाते हुए बोला, हे गुरो! इन्हें हजार किये बिना मैं नहीं लौटूंगा। इस प्रकार वर्षोंतक वह जंगल में घूमता रहा। इस समय में ब्रह्मचारी सत्यकाम को 'ऋषभ' ने पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशारूपी कलावाले चतुष्कलपाद प्रकाशवान् रूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मके स्वरूपको समझाया, 'अग्नि' ने भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु और समुद्ररूपी चार कलासे संपन्न 'अनन्तवान्' नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मका स्वरूप समझाया, 'हंस' ने अग्नि, सूर्य, चांद तथा बिजली इन चार कलावाले ज्योतिष्मान् ब्रह्मका स्वरूप बताया और, 'मद्गु' ने प्राण, नेत्र, श्रोत्र तथा मनकी कलाओंसे युक्त आयतनवान् नाम ब्रह्मके स्वरूप को समझाया।

उपनिषत्की उपरिलिखित कथामें ब्रह्म (पूर्णता) की ओर प्रमाण करनेवाले ब्रह्मचारीके चार उपदेष्टा बताये गये हैं। संसार तथा संसारके विविध पदार्थोंको गुरु बना कर उनसे ज्ञान प्राप्त करनेके विधान वैदिक सारस्वतमें बहुत मिलते हैं। "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।" ज्ञानी पुरुष पर्वतोंकी गुफाओं और नदियों के मनोरम संगमस्थल में पैदा हुआ करते हैं। अथर्ववेदके ब्रह्मचर्यसूक्त (अथर्व० ११।५ सूक्त) को देखनेसे प्रतीत होता है कि, सूर्य, चन्द्र, द्यु, पृथिवी, मेघ आदि आधिदैविक देव, बैल आदि पशु तथा पक्षी और औषधि वनस्पतियां आदि आधिभौतिक देव ब्रह्मचर्यके पथ पर चलते हुए ब्रह्मचारीके पथप्रदर्शक बताये गये हैं। यूरोपके महाकवि शेक्सपीयरने भी क्या ही सुंदर कहा है–

> And this our life, exempt from public haunt,
> Finds tongues in trees, books in the running brooks,
> Sermons in stones, and good in Everything I would not change it.

जंगलके मूक पत्थरों में-शांत वनराजियोंमें और बहते हुए नदीनालोंमें ज्ञानी लोग अमर सन्देश सुना करते हैं। ऐसाही मधुमय उपदेश गुरु गोविन्दने नर्मदा नदी के तट पर बैठकर उजियाली रातमें अपने शिष्य शंकरस्वामी को भव्य तथा सुन्दर दृश्यों को बताकर दिया था। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि दत्तात्रेय महाराजने पृथ्वी- समुद्र- पर्वत- भ्रमर आदि २४ गुरु बनाये थे। इसी प्रकार उपनिषद्में ब्रह्मचारी सत्यकामके ऋषभ-अग्नि-हंस और मद्गु ये चार गुरु बताये गये हैं। इन चारों का क्रमशः वायु ❀, अग्नि, सूर्य + तथा जल ×

❀ तमेतं श्रद्धातपोभ्यां सिद्धं वायुदेवता दिक्संबंधिनी तुष्टा सता ऋषभमनुप्रविश्यर्षभभावमापन्नानुग्रहायाथ हैनमृषभोऽभ्युवाद... (शंकरस्वामी)

\+ हंस आदित्यः (शंकरस्वामी)

× मद्गुरुदकचरः पक्षी स चाप्संबंधात् प्राणः।

के साथ संबंध है । ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये इन चारों देवों से विशेष विशेष गुण का आधान करते हुए अग्रेसर होता जाता है । प्रबल प्रभंजन, पहाड, समुद्र किसीकी भी परवाह न करके वेग से आगे ही बढता जाता है । वायुके समान वेगसे चलनेवाला 'वृषभ,' अपने मार्ग से बालमात्रभी बिना हटे मार ले कर आगे ही आगे बढता जाता है-इसी प्रकार ब्रह्म के मार्ग का राहगीर कर्तव्यपरायण हो कर आगे आगे बढता जाता है। मानवजीवनके उत्तरदायित्व को समझता हुआ तीव्र संवेग से अपने मंजिले मकसूद तक दौडा जाता है-संसार के संकटोंकी परवाह किये बिना "देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि" के वीरघोष को गुंजाता हुआ शूलोंको फूलोंकी सेज बनाता है- संसारके मरुस्थल को नंदनवन समझता है । इस अवस्था में ब्रह्मचारी की ऋतंभरा प्रज्ञा भगवान् सविता के 'वरेण्य भर्ग' का प्रकाश करती है- यही अभय पद है- " अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि " अब जीवन क्या और मरण क्या? प्रकाश क्या और छाया क्या? जीवन संग्राम है- There is but to do and die. कर्तव्यपथपर चलते हुए सुख आवे, दुःख आवे-फूलोंके समान हंसते हंसते खिलते खिलते जीना होगा-परंतु'अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा । न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' धीर पुरुष न्यायके-कर्तव्य के मार्गसे च्युत नहीं हुआ करते हैं । परिणाम विषमय हो- अमृतमय- परवाह नहीं, क्योंकि कर्तव्य की ज्योति आत्माको प्रकाशमान और स्वस्थ बनाया करती है- जिससे फलतः साधक का रोमरोम आनन्दसे पुलकित हो उठता है। जीवनकी अंधेरी रात्रिमें निष्कामकर्म(Duty clear of consequences) की मशाल ही इस पथिक का मार्ग रोशन किया करती है । इस अवस्था में साधक की आत्माके अन्तस्तल में धीर गंभीर समुद्र की शांतिका राज्य छा जाता है - जीवन के क्षुद्र लहरों के, समान उठ उठकर विलीन हो जाते हैं । उपनिषद् ने ऋषभ को गुरु बनाकर सत्यकाम जाबाल को कर्तव्य के आग्रहका, शक्तिके संचय का, उपदेश दिया है और " विपदि धैर्य " का रहस्य समझाया है ।

अग्नि की ज्वालायें आकाश को चूमती हुई अपनी भुजाओं से भगवान् का आलिंगन किया करती हैं-" अग्नेऊर्ध्वगमनम्"-अंधकार को छिन्नभिन्न करके ऊपर उठाना-नहीं नहीं आनन्दघन सच्चिदानन्द के अभिमुख हो कर अनेक शिखाओं से भगवान् की अपार महिमा का गान करना - यही जीवन की पवित्र ज्योति है । इस के बिना जीवन निर्जीव, निस्सार है । "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् " जो साधक अपने से महान् को-भूमा- को नहीं मानते हैं, वे अहंकार की गागरमें सागर को भरनेका वृथा यत्न करते हैं । महती सत्त्वशक्ति के अभाव में अल्प सत्त्वशक्ति का अहंकार तुच्छता है । सृष्टि के अणु अणु और रोम रोम चेतन की प्रतिमा है । जड संसार चैतन्य की भाषा है-प्रतीक है- विश्व ब्रह्माण्ड प्रभुका विलास है- यह जान लेना ही सच्चा प्रकाश है, ज्ञान है । प्रभुका सच्चा साक्षात्कार- To see God face to face- यही है । इस कोटिमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद कहां रहा ?

" विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता " इसी अखण्डता में-एकरस होने में सच्चे आनन्द का उद्रेक होता है-आनन्द की पराकाष्ठा इसी ब्रह्मानुभूति में है-"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" संसार के समस्त आनंद इसी ब्रह्मानन्द के अनुभव के सामने फीके पड जाते हैं । यह न हो तो जीवन निस्सार हो जावे । "क एव प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।" सचमुच ज्ञानी पुरुष अग्नि के समान पार्थिव संसार के ऊपर उठ कर ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके प्रेरक सविता-स्वरूप परमात्माके श्रेष्ठ ज्ञानरूपी प्रकाश में (summum bonum)

(तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य) आप्लावित हुआ करते हैं। और स्वभावतः आत्म-गान की-सावित्री की पवित्र सरिता को बहाते हैं। इस प्रकार भगवान् को आलिंगन करने के लिये दौडना 'अग्नि,' से सीखा जा सकता है।

उपनिषद् ने ब्रह्मचारी का तीसरा उपदेष्टा हंस बताया है। हंसके विषयमें पाश्चात्य कवि Doane ने सुंदर कहा है –

What is that, mother! swan, my love!
He is floating down, from his halive grove;
No loved one him, no nestling high,
He is floating down, by himself to die:
Death darkens his eye, and unplumes his wings:
Yet his sweetest song is the last he sings;
Live so, my love, that when death shall come,
Swan-like and sweet, it may waft thee home.

पवित्र निर्मल हंस मौत की घडी में भी धीर गंभीर शान्तिका अनुभव करता है- मधुरतम गान गाया करता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी के आत्मारूपी हंस का कोई असुर दमन नहीं करता- इस की जीवननौका कोई भी तूफान डावाडोल नहीं कर सकता। जीवन-मरण, यश-अपयश, हानि और लाभ में वह समान रहता है। त्रिलोकी का वैभव उसके लिये तिनकेके समान है- 'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रय-सत्वसारा' (उ. रा.)। वैराग्य की दृढ भूमि पर ज्ञान तथा कर्म के पंखोंके द्वारा कोटि कोटि जन्मोंमें उडते हुए आत्मारूपी हंस को जन्म-मरण नहीं सताते- सुखदुःख का लेप नहीं चढता। जिस समय आत्मा की गुहामें परमात्माकी आनन्द-लहरियां प्रवेश करती हैं, उस समय हंस किसी अपूर्व दिव्य शांतिके मानस-सरोवरमें हिलोरें मारने लगता है। इस अवस्थामें संसारके पदार्थ क्षणभंगुर हो जाते हैं – यश, काफूर और धनदौलत राख हो जाती है। " पूर्वा मात्रा मर्त्यस्य " "अपि सर्वं जीवितमल्पमेव " (कठ-उपनिषत्) " इति स्वप्नोपमान्मत्वा कामान्मागास्तदंगताम्" (किरातार्जुनीयम्) "आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्" (भर्तृहरि) इनका रहस्य साधक के सामने इसी अवस्था में खुला करता है। इस प्रकार उपनिषद् ने हंस के दृष्टान्त से विवेक तथा सविराग शांति का उपदेश दिया है। जब साधक को राजहंस के समान मृत्यु के समय शांत, गंभीर शांतिका अनुभव होने लगता है, तब उसका जीवन कैसा दिव्य हो जाता है।

ब्रह्मचारी सत्यकाम को अंतिम उपदेश "मद्गु" से मिला है। यह जलचर पक्षी है। इस से प्रेम का-भक्तिका-पाठ सीखा जा सकता है। प्रेमकी सरितामें रागद्वेष की मैल बह जाया करती है। समस्त भूतों को यही प्रेम रसमय और उज्ज्वल बनाता है। परंतु भगवान् की अव्यभिचारिणी भक्तिके बिना मानवजाति पर ऐकान्तिक प्रेम की गंगा बहाना नितांत अशक्य है। अनंत विपदाओंमें प्रभु के प्रति क्षणमात्र के लिये तिल भर भी प्रेम शिथिल न होने देना चाहिये। प्रकृतिके पदार्थों से उत्पन्न सुखदुःख की तरंगोंसे आत्माको अस्पृश्य रखकर 'निस्त्रैगुण्य दशा' का अनुभव करना ही सच्चा प्रेम और सच्ची भक्ति है। इस अवस्था में दुःखका नाममात्र भी नहीं रहता है। प्रभुके प्रेम-पंथ की ज्वाला में जलते हुए साधक के लिये सुखदुःख का विचारमात्र भी सर्वथा अप्रासंगिक है। अब उसे तो भूतमात्र के सुख की न्यूनता से दुःख होता है- अपना दुःख दुःख नहीं लगता है। हम सब तो परमात्मा के विरहानल में नहीं जल रहे, घोर निद्रामें घूम रहे हैं। जिस समय प्रभु के अज्ञानकी घोर

निद्रा दूर होती है और प्रभु कहां है? इस प्रकार की स्वप्न की उत्कंठा उत्पन्न होती है, तब प्रभु हमें अपनी सहस्र भुजाओं से आलिंगन करने लगते हैं (ततः परिष्वजीयसी देवता ॥ अथर्व० "स परिष्वक्तः।" उपनिषत्) इस प्रकार भक्ति ज्ञान की अनुगामिनी बन जाया करती है। एवं मद्गु को गुरु मान कर सत्यकाम को सच्चे, एकनिष्ठ प्रेम का—पवित्र भक्तिका उपदेश दिया गया है। मद्गु पक्षी जलमें निमग्न होकर प्राणन किया करता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को भी प्रभु-भक्तिकी नदीमें डूबकर ही जीवन जीना चाहिये।

संक्षेपमें उपनिषत् की कथामें 'ऋषभ, अग्नि, हंस तथा मद्गु' को गुरु बना कर सत्यकाम जाबाल को 'कर्म, ज्ञान, विवेक और भक्ति' का उपदेश दिया गया है। इनसे परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है और यही ब्रह्मचारीके सच्चे पथप्रदर्शक हैं। ये चारों साधन पृथक् होते हुए भी एक ही हैं। ब्रह्म (पूर्णता) की प्राप्तिमें ये चार ही मार्ग हैं। हम भी इन पर चल कर अपना कल्याण कर सकते हैं।

सोमलताका वैदिक स्वरूप।

(लेखक- श्री० वैद्य प० रामगोपालजी शास्त्री वैद्यभूषण, लाहौर)

वेदों में सोम वनस्पति की सब प्रकार की ओषधियों से अधिक महिमा है।

सोम ओषधि नामाधिराजा। (गोपथ उ० ११७)

केवल ऋग्वेद में ही सारा नवम मण्डल (जिस के ११४ सूक्त हैं,) तथा अन्य मण्डलों के ६ सूक्त सोम की महिमा में लिखे गये हैं। यह पर्वतस्थानीय वनस्पति है।

"शृङ्गे शिशानो अर्षति" (ऋग्वेद ९।५।२)

इस मन्त्र-पद में शृंगे-चोटी पर होनेवाला सोम स्पष्ट है।

सहस्सोमो न पर्वतस्य पृष्ठे। (ऋ० ५।३६।२)

पर्वत की पृष्ठ पर सोम उगता है।

सोममद्रौ। (ऋ० ५।८५।२)

सोम को पर्वत पर।

ऋग्वेद १।९३।६ में "अमथ्नात् अन्य परिश्येनो अद्रेः।"

अद्रि (पर्वत) पर से श्येन (इस सोम को) (अमथ्नात्) बलपूर्वक ले आया, पाठ स्पष्ट करता है कि, यह पर्वत पर भी चोटीके स्थानोंमें ही उगता है। विशेष पर्वत मुजवान् है, जहा इस की उत्पत्ति है-

'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः' (ऋ० १०।३४।१)

इसका ऊँचा पौदा होता है, इसकी अनेक शाखायें और वे नीचेंकी ओर झुकी हुई होती हैं, ऐसा- 'दिविस्पृशे' (ऋ० ९।११।४) आकाश को स्पर्श करनेवाला; 'अन्तरिक्षेण रारजत्' (ऋ० ९।५।२) जो अन्तरिक्षमें विरा जता है, सहस्रवल्श (ऋ० ९।५।१०) अनेक शाखावाला, 'नैचा शाख' (ऋ० ३।५३।१४) नीची ओर शाखावाला विशेषणोंसे सिद्ध है। सोम का वर्ण हरित है, यह वनस्पति सुनहरी वर्ण की दीप्तिमति है, ऐसा-

हरित भ्राजमान हिरण्यम्। (ऋ० ९।५।१०)

विशेषणों से स्फुट है। सोम का वर्ण बभ्रु अरुण भी लिखा है।

बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय (ऋ० ९।११।४)

प्रतीत होता है कि शाखाओं के दो वर्णों के कारण वनस्पति के ये दो नाम दिये गये हैं। सोम की शाखाओं के भार लाये जाते थे—

'भरासः कारिणामिव' (ऋ० ९।१०।२)

इन शाखाओं को कूट कर सोमरस का प्रयोग करते थे—

'अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममात्रेभिः सिचता मद्यमन्धः' (ऋ० २।१४।१) सोम धारया (ऋ० ९।१।१)

पाठोंसे प्रतीत होता है। सोमरस स्वाद में मधु, सुगन्धियुक्त तथा मदकारी होता है। तदर्थ देखो, विशेषण—

स्वाऽदिष्ठया मदिष्ठया सोम धारया।
(ऋ० ९।१।१)

मन्द्रया सोमधारया। (ऋ० ९।६।१)

त्व मद्य मद। (ऋ० ९।६।२)

मदच्युत। (ऋ० ९।१२।३)

मत्सरः। (ऋ० ९।१३।८)

वारण मधु। (ऋ० ९।१।८)

सहस्रधार सुरभिः। (ऋ० ९।९७।१९)

इसका रस कूट कर भेडों की ऊनके कपडेसे छानते थे।

अव्यये वारे। (ऋ० ९।१०३।३)

सोमरस इकेला तथा दूध, दही और यवों में मिलाकर भी पिया जाता था।

सोमाः शुक्राः। (ऋ० ११२३७।१)

तथा 'इमे शुचयः' (ऋ० १।५।५) पद स्पष्ट करते हैं कि, इकेला पिया जाता था।

सोमासो दध्याशिरः। (ऋ० १।५।५)

दधियुक्त सोम।

'गाशिरः सोमः' (ऋ० १।१३७।१)

गोदुग्धयुक्त सोम।

यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे।

(ऋ० १।१८७।९)

यवाशिरः। (श० ब्रा० ४।१।३।६)

पाठों से स्पष्ट है कि सोमरस में दुग्ध, दधि तथा यव मिलाकर पीने का वर्णन है। कभी कभी इस में मधु मिलाकर भी पिया जाता था, यह भाव इस मन्त्र से स्पष्ट होता है,

परिकोशं मधुश्चुतमव्यये वा अर्षति।

(ऋ० ९।१०३।३)

सोमरस बहुत ही श्रेष्ठ, बलदायी, वीर्यवर्धक है, इसके पान के लिये प्रति दिन इस की स्तुति की जाती है और इसे मन का प्रिय माना है, तदर्थ देखो—

महिश्रवः। (ऋ० ९।४।१)

ईळेन्यः। (ऋ० ९।५।३)

वर्धन्तो अस्य वीर्यम्। (ऋ० ९।८।१)

नित्यस्तोत्रः। (ऋ० ९।१२।७)

मनश्चित् मनसस्पति.। (ऋ० ९। ११।८)

शुष्मी। (ऋ० ९।२७।६)

इस के रसपान से योद्धा के अन्दर विशेष बल उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह शत्रुओंपर विजयी होता है।

अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते।
शूरो मघा च मंहते। (ऋ० ९।१।१०)

सोमरस सुरा नहीं थी, इस को मेधावी लोग भी पीते थे।

अनु विप्रा अमादिषुः। (ऋ० ९।८।४)

इसके पान से जननशक्ति बढती है।

भक्षीमहि प्रजाम्। (ऋ० ९।८।९)

सोमपान से प्रजा (संतान) को प्राप्त करें। सोम के विशेषणा से तो सैंकडों नाम निश्चित किये जाते हैं, परन्तु उन में से कुछ एक नाम यहां संगृहीत किये हैं—

सोमः। (ऋ०९।१।१)

रक्षोहा, विश्वचर्षणिः, अयोहतः। (ऋ० ९।१।२)

मदिष्ठः। (ऋ० ९।१।१)

इन्दुः। (ऋ० ९।१।५)

मधु। (ऋ० ९।१।८)

शिशुः। (ऋ० ९।१।९)

हरिः। (ऋ० ९।२।६)

गोषा, वाजसा, नृषा, अश्वसा। (ऋ० ९।२।१०)

सहस्त्रवल्शः, हरितः भ्राजमानः, हिरण्ययः।

(ऋ० ९।५।१०)

महिश्रवः, (ऋ० ९।४।१)

ज्योतिः, दक्षः, क्रतुः। (ऋ० ९।४।२-३)

योनिः। (ऋ० ९।१।२)

वृत्रहन्तमः। (ऋ० ९।१।३)

देववीः। (ऋ० ९।२।१)

वृषा, द्युम्नवत्तमः। (ऋ० ९।२।२)

दवयुः, अश्वयुः। (ऋ० ९।६।१)

अमर्त्यः। (ऋ० ९।३।१)

पवमानः। (ऋ० ९।३।२)

पुरुव्रतः। (ऋ० ९।३।१०)

कविः। (ऋ० ९।७।४)

इन्द्रपीतः। (ऋ० ९।८।९)

नप्त्योर्हितः। (ऋ० ९।९।१)

सूनुः, शुचिः। (ऋ० ९।९।३)

वह्निः, क्रिविः। (ऋ० ९।९।६)

पुमः। (ऋ० ९।९।७)

अमित्रहा। (ऋ० ९।११।७)

विश्वचित्, मदच्युत्। (ऋ० ९।१२।३)

सबर्दुघः। (ऋ० ९।१२।७)

विप्रः। (ऋ० ९।१३।२)

गव्युः, हिरण्ययुः। (ऋ० ९।२७।४)

मत्सरः। (ऋ० ९।१३।८)

आदि आदि। सोमरस का अधिक प्रयोग वमन लाता है और विशूचिका रोगोत्पादक है, देखो

मैत्रायणी संहिता २।२।१३।

वैदिक काल में इतनी प्रसिद्ध वनस्पति, इस समय सर्वथा लुप्त है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि, इस का प्रचार ब्राह्मणकाल में ही लुप्तप्राय था। शतपथ ब्राह्मण ४।५।१०।१-६ में लिखा है कि, "आदार" वनस्पति को सोम के प्रतिनिधिरूप में प्रयुक्त कर लेना चाहिये। प्रतिनिधि-द्रव्य उस समय डाला जाता है, जब वास्तविक द्रव्य लुप्त हो अथवा दुष्प्राप्य हो। तांडय ब्राह्मण के

"यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि। (ब्रा० ९।५।३)

इस पाठ में स्पष्ट है कि, इस तांडय ब्राह्मण के समय सोम दुष्प्राप्य था और सोमाभाव में पूतीक वनस्पति का और पूतीकाभाव में अर्जुन वृक्ष का प्रयोग अभिषवण में लिखा है। सामयिक वेद-भक्त वैद्यों का कर्तव्य है कि, इस वनस्पति के अन्वेषण में बद्धपरिकर हों।

आयुर्वेदिक सोम।

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों चरक-सुश्रुतादियों में भी सोम का वर्णन मिलता है। जिस सोम रसायन का वर्णन सुश्रुत में बहुत विस्तार से किया गया है, "वह वैदिक सोम से सर्वथा भिन्न है।" चरक तथा सुश्रुत में लिखा है कि सोम ओषधियों का राजा है और उसके १५ पत्ते होते है, जो चन्द्रमा की भांति घटते बढते रहते है, पूर्णमासी को इस पर १५ पत्ते और अमावस को यह ओषधि निष्पर्णा हो जाती है।

"सोमो नामौषधिराजः पंचदशपर्णा सोम इव हीयते वर्धते च।" (चरक चिकि०)

तथा-

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पंच च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च।२०
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्ततः।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः॥२१
शीर्य्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥२२॥

वैदिक सोम से भेद में हेतु।

(१) वेद में सैंकडों मन्त्र सोम के सम्बन्ध में आये हैं, वहां कहीं भी नहीं लिखा है कि, इसके पत्ते घटते बढते है।

(२) सामयिक ग्रन्थ इसे लता कहते हैं, वेद सोम को नीचे की ओर शाखावाला अनेक शाखा-युक्त वनस्पति लिखते हैं, तदर्थ देखो सोम के विशेषणोंमें सहस्रवल्शः (ऋ० ९।५।१०) तथा नैचाशाखः (ऋ० ३।५३।१४)।

(३) वेद सोम को हरिः तथा हरित् लिखता है, जिसका तात्पर्य है कि यह सदाही हरिद्वर्ण रहता है, इसके पत्ते घटते बढते नहीं।

(४) सुश्रुत कहता है कि, सोम के कन्द को सोने की सूई से विदारण करके उस कन्द का दूध लेवे। 'सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्' (सुश्रु० चि० स्था०अ० २९) वेद सोमके कन्द मानता ही नहीं। वेद तो इसकी शाखाओं को कूट कर रस निकालने को लिखता है। सोम पत्थरों से कूटा जाता है और मूसल तथा उलूखल में भी कूट कर रस निकाला जाता था। देखो 'यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥ (ऋ० १।२८।१) सोम की शाखायें कूटने से पहले चर्म पर रखते है- "अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि" (ऋ० १०।९४।९)

(५) सुश्रुत लिखता है, कि-जीर्णे सोमे छर्दिरुपपद्यते" (सु० चि०२९ अ०।) सोमरस जब जीर्ण हो जाता है, तो सोमसेवी को छर्दि होती है और उस छर्दि में कृमिमिश्रित रक्त निकलता है, 'ततः शोणिताक्तं कृमिव्यामिश्रं' परन्तु वैदिक साहित्य मे इससे सर्वथा उल्टी बात लिखी है। वहां लिखा है कि, सोमरस यदि अधिक पान किया जावे, तो छर्दि (वमन) हो जाता है, देखो मैत्रायणी संहिता २।२।१३।

(६) सुश्रुत में लिखा है, कि सोमरस-पायी को पान के चतुर्थ दिन शोथ होता है, 'श्वयथुरुपपद्यते' फिर सब अङ्गों से कृमि निकलते है, 'ततः

सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति' फिर सप्तम दिन में 'निर्मांसं त्वगस्थिभूतः' इसी प्रकार दन्त, नख, केश गिर जाते हैं, फिर इसके दशम दिन के अनन्तर त्वचा, केश, दन्त आदि सब लग जाते हैं और फिर सोमपायी नवशरीरी हो जाता है। वेद में सोम-सम्बन्धी छोटी से छोटी बात का वर्णन आया है, परन्तु सुश्रुतवाली बात का लेशमात्र भी वर्णन नहीं। वहां तो वारंवार यही लिखा है, कि इसके पान से मद हो जाता है, जिसका वर्णन सुश्रुत में नहीं है।

(७) सुश्रुत ने चौबीस प्रकार का सोम लिखा है, वेद में एक ही प्रकार लिखा है।

(८) सुश्रुत सोम को आज्य-गन्ध लिखता है। वेद सुरभि-सुगन्धियुक्त लिखता है, 'आज्यगन्ध' नहीं।

(९) तांड्य ब्राह्मण अपने काल के सोम के अर्जुन (धवल) वर्ण पुष्प लिखता है, सुश्रुत में पुष्प नहीं लिखे, 'सोमस्य यानि पुष्पाण्यवशीयन्ते तान्यर्जुनानि।' (तांड्य ८।४।१) इन पूर्वोक्त नौ हेतुओं से स्पष्ट है कि, सुश्रुतादि प्रोक्त वह सोम नहीं, जो वैदिक भिषकों को अभिप्रेत था।

प्रतीत होता है कि, मध्यकाल में वैदिक सोम की महिमा जान कर वास्तविक सोम की अन्वेषणा में ऋषिजन निकले थे, उन्होंने अनेक स्थानों में घूम घूम कर जब इस सोमको न पाया, तो सोम (चन्द्रमा) की भांति पत्तों से घटने बढ़ने वाली लता सोम को× हिमालय, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरी, देवसह, पारियात्र, विन्ध्य, देव, सुन्द, ह्रद आदि प्रदेशों में देखकर और गुणों में कुछ समानता अनुभव करके इस वल्लरी का नाम ही सोम रक्खा।

इस समय वेदोक्त तथा सुश्रुतोक्त दोनों सोम वनस्पतियों का लोप हो गया है।

वैदिक सोम वनस्पति बिकती थी—

चन्द्रं ह्येतच्चन्द्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन।
(श० ब्रा० ३।३।३।६)

शुक्रं ह्येतच्छुक्रेण क्रीणति यत्सोमं हिरण्येन।
(का० ३।३।३।६)

× हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रमलये तथा। श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥ २७ ॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा। उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥ २८ ॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः। ह्ठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः।
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि ॥ २९ ॥ काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्।
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः प्रोक्तो जागतः शांकरस्तथा ॥ ३० ॥ अत्र सन्ति अपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः।

(सु० चि० अ० २९)

सोमः

(ले०- श्री० पं० विश्वेश्वरदयालुजी, प्रधान सम्पादक "माला")

सोमवसुप्रभेदे कर्पूरे नीरे सोमलतौषधौ ।
हिमदीधितौ । इतिमेदिनी

सोम शब्द ऐसा व्यापक हो गया है कि आज इसका इकाइक निर्णय होना बहुत ही असम्भव हो गया है। वेदकालसे लेकर आज तक यदि इसपर विचार करें, तो अलग अलग ही निष्कर्ष निकलते हैं। चन्द्रमा के नामों को देखने से पता चलता है, कि सामंजस्य इससे बहुत मिलता है।' चन्द्रं कर्पूरं साहश्येन भाति तुलयतीति चन्द्रः। ' अथवा ' चदि आल्हादे । चन्द्रमाल्हादं मिमीते निर्मितेऽति चन्द्रः । '

अब यह विचार करनेकी बात है कि, चन्द्र अथवा कर्पूरके समान श्वेत वर्णवाला पदार्थ सोम है। दूसरे चन्द्रमा के समान आनन्द देनेवाला वह पदार्थ है। तीसरे जल का मधुरत्व और द्रवत्व गुण इसमें होने से जल के नाम से भी सोम का नाम विहित किया गया है। इसके खाने से आयुष्मान् होता है, यह बात भी 'जैवातृकः चंद्र' शब्दके पर्यायसे साफ हो जाता है, यथा ' जैवातृकः पुमान् सोमे कृषकायुष्मतोऽस्त्रिषु । इति मेदिनी । '

सोम से आयुष्य भी बढती है। यह सभी बातें चन्द्रमा में भी हैं। इसलिए मालूम होता है कि सबसे प्रथम चन्द्रमा से लोगोंने इस सोम का व्यवहार किया हो और उसी से सोमरस का पान किया हो। चन्द्र से सोमप्राप्ति करने का विधान यत्र तत्र पुराणों में मौजूद है। देखें चन्द्रलोक का वर्णन, परन्तु कुछ काल बाद यह विधान लोगों के लिये बहुत ही कठिन एवं दुस्तर हो गया, तब फिर लोगों में सोम की आवश्यकता हुई और उसके लिए ढूंढ ढांढ की गई और वनस्पतियों का विश्लेषण किया गया। ढूंढते ढूंढते सोम नामक वनस्पति मिली जिसका वर्णन सुश्रुत में आया हुआ है। ऋषियों ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की तब उन्होंने अमृत नामक सोम की उत्पत्ति की, जिसका वर्णन पुराणों में समुद्र के द्वारा हुआ और इसे देवताओं ने ही ग्रहण किया। फिर इसके तीन विभाग पीयूष, अमृत, सुधा के नाम से किये गये। पीयूष देवता लोग स्वर्ग में ले गये, सुधा को दानव लोग या नागलोग में ले गये, मनुष्यों के लिये अमृतरूप सोम वनस्पतिरूप से पृथ्वी पर पैदा हुआ और इसकी २४ जातियां हुईं, यथा-

१ अंशुमान्, २ मुंजवान्, ३ चन्द्रमा, ४ रजतप्रभा, ५ दूर्वा सोम, ६ श्वेताक्ष, ७ कनकप्रभा, ८ प्रतापवान, ९ तालवृन्त, १० करवीर, ११ अंशुवान्, १२ स्वयंप्रभ, १३ महासोम, १४ गुरुडाहृत, १५ गायत्र्य, १६ अष्टुभ, १७ पांक्त, १८ जागत, १९ शांकर, २० अग्निष्टोम, २१ रैवत, २२ गायत्र्य, २३ त्रिपदा, २४ उडुपतिः। यह हुये। कुछ इनमें वानस्पतिक और कुछ वेदोक्त छांदस् माने गये हैं।

पहिचान।

अंशुमान् (घृत के समान गन्धवाला होता है) और यह कंद होता है। २ रजतप्रभ कदलीके समान कंदवाला होता है। ३ मुंजवान् के पत्ते लहसन के समान होते हैं। ४ चन्द्रमा सुवर्ण के समान रंग का होता है और सदा जल के ऊपर तैरता रहता है। ५ गुरुडाहृत और ६ श्वेताक्ष पाण्डुर वर्ण का होता है। यह दोनों सांपकी कंचुली के समान पेडों पर लटके हुये रहते हैं। अन्य समस्त मंडलयुक्त विचित्रता लिये हुये होते हैं और मानों इन्हें किसी ने लगाया है, ऐसे प्रतीत होते हैं। शेष समस्त १५ पत्तेवाले होते हैं, परन्तु कुछ कन्दवाले, कुछ लतावाले, कुछ दूधवाले होते हुये नाना तरह के देखने को मिलते हैं।

स्थान।

हिमालय, अर्बुद (आबू पहाड), सह्य (इस पर्वत

से कावेरी, तुंगभद्रा, गोदावरी, कृष्ण वेणुवा यह नदी निकली है, यह पूनो के आस-पास समुद्र के किनारे पर है।) महेंद्र यह उत्तम पहाड है, जिसका नाम २० उत्तम पहाड़ों में आया है। मलय यह मैसूर के पहाड़ का नाम है, जहां चंदन होता है। श्रीपर्वत यह स्वर्णश्रृङ्ग नामक पर्वत सुमेरके उत्तर में रहनेवाला पहाड है। देवगिरी यह कैलाशपर्वत है, सहस्र शिखर भी इसे कहते है; यह सुमेर के पश्चिम है, ऐसा मार्कण्डेय ने लिखा है।

देवसह-परिपात्र यह सुमेर से पश्चिम की तरफ है, ऐसा पुराणों में आया है। विन्ध्य विंध्याचल प्रख्यात पर्वत है। देवसुन्द नामक एक तलाव है, इस का वर्णन श्रीपर्वत पर ही पाया जाता है। यथा—

श्रीपर्वते महादेवो देव्यासह महाद्युतिः।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह॥
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयत मानसः।
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति॥
(महाभारत व० अ० ८५)

उत्तर की तरफ बडे बडे पहाडों से निकलनेवाली जो सिंध नदी है, उसमें चद्रमा नामक सोम तैरता हुआ मिलता है। उसी के पास मुंजवान और अंशुवान पाये जाते है। काश्मीर में मानससरोवर नाम का एक तलाव है, उसमें गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पांक्त, शांकर तो वहाँ होते ही है, परन्तु और भी सब तरह के सोम वहा मिलते हैं। परन्तु इन सोमों के मिलने में एक कठिनता है कि यह साधारणतया नहीं मिल सकते।

न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ··· ···॥

यह अधर्मी, कृतघ्न, भेषज द्रोही और ब्राह्मणद्रोहियों को नही दिखाई देते। इसलिये समय पर मिलना कठिन देख। वैदिक सोम का आविर्भाव हुआ, जिसका विधान निम्न है—

भारत का वैदिक युग भी एक बडे महत्त्व का युग था, इस युग में कितने बडे बडे महत्त्वशाली, अद्भुत आश्चर्यजनक आविष्कार हुये थे, जिन्हें सुन कर दाँत, तले अंगुली दबानी पडती है, जो लोग आजकल के पाश्चात्य युग को आविष्कार का युग माने बैठे हुये हैं, उनसे प्रार्थना है कि वे एक बार वैदिक युग के साहित्य पर दृष्टि डालकर देखें कि आविष्कारक युग कौनसा श्रेष्ठ था और किस युगके आविष्कार आश्चर्यजनक और निरामय जनहितकारी थे, प्रत्येक विद्वान को वैदिक आविष्कारों पर दृष्टि डालना चाहिये और मनुष्यों के लिये प्रकट करने की उदारता करनी चाहिये, ताकि मनुष्य लाभ उठा सके।

प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्य्य रूपसे इस आविष्कार से लाभ उठाना चाहिये, कारण प्रत्येक मनुष्य बलवान, कीर्तिवान्, वीर्यवान्, बुद्धिमान्, आयुष्मान् बनने की स्वाभाविक अभिलाषा रखता है, जो ऐसा चाहता हो, उसको चाहिये कि उत्तरायण सूर्य के शुक्ल पक्ष मे उत्तम दिन, तिथि चंद्रादि को देख, इस विधि के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो। प्रथम द्वादश १२ दिन तक दूध ही पीकर रहे, फिर १३ वें दिन हस्तनक्षत्रमें गूलर वृक्ष के, गोलाकार पात्र में × व्रीही औषधियां और फलों की पिट्ठी भर कर दही, घृत, मधु मिलाकर मथानी से मथकर रख ले, पृथ्वी को शुद्ध कर लीप कर अग्नि स्थापन करे, उस अग्नि के चारों ओर इस प्रकार कुशा बिछावे कि उनका अग्रभाग पूर्व या उत्तर की ओर रहे, फिर घृतका संस्कार करके हस्तनक्षत्र में गुलर के स्रुवे से घृत का हवन निम्न मन्त्रों से करे।

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तर्यं चोदनन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहंभागधेयं जुहोमि ते मातृप्राः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा।

या निरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तात्वा घृतस्य धारया यजेस ॐ राजनीय मह ॐ स्वाहा। ज्येष्ठाय स्वाहा। प्रत्येक बार घृत हवन कर स्रुव में लगा घृत मन्थ में टपकावे।

प्राणायस्वाहा, वाचेस्वाहा, चक्षुषेस्वाहा, श्रोत्रायस्वाहा,

× साठी, जौ, तिल, चना, उडद, कंगुनी, गेहू, मसूर, मटर, कुलथी यह दश व्रीही अन्न है।

मनसेस्वाहा, रेतसेस्वाहा, अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वतः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, भूताय स्वाहा, भविष्यते स्वाहा, विश्वाय स्वाहा, सर्वाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा, वशिष्ठाय स्वाहा, सम्पदे स्वाहा, आयतनाय स्वाहा, प्रजापत्यै स्वाहा।

फिर मंथन के द्रव्यों के मथानी से मथ कर मंथ को निम्न मंत्र पढता हुआ स्पर्श करे।

भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसममसिहि क्रियमाणमस्यु द्गीथ मस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसिप्रत्याश्रवितमस्या र्द्रे संदीप्तमसि विभुरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥

इस मन्त्र से शुद्ध कर चमस सहितमंथको हाथ में लेकर यह मंत्र पढे।

अथैन मुद्यच्छत्यामं ॐ स्याम ॐ हिते महि सहि राजेशांन्योऽधिपतिः समा ॐ राजे शानोधि पति करोत्विति।

फिर इस मन्त्र से चार ग्रास अलग करके रख ले और प्रत्येक ग्रास को निम्न मन्त्रों को पढकर भक्षण करे।

तत्सवितुर्वरेण्यं। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। गाध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा

भर्गो देवस्य धीमहि। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधुद्यौरस्तुनः पिता। भुवः स्वाहा॥

धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पति मधुमाꣳ अस्तुसूर्यः। माध्वीर्गावोभवन्तुनः। स्वः स्वाहेति।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् मधुवाता, मधुनक्त, मधुमान्नो।

इन तीनों ऋचाओंको पूर्ण पढकर अहमेवेद ॐ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वाहा॥ बादको वह पात्र धोकर पीले, फिर आचमनादि कर शुद्ध हो अग्नि से पश्चिम-पूर्व शिर करके सो रहे, फिर प्रातः उठ कर संध्या, आदि करके सूर्य की तरफ देखता हुआ यह मंत्र पढे।

दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेक पुण्डरीकं भूयासमिति॥

यह मंत्र पढकर अग्नि के पश्चिम तरफ बैठकर ईश्वर का ध्यान करे। इसके विषय में अनेक ऋषियों का मत है कि यदि यह मंथ सूखे वृक्ष में लगा दिया जाय, तो उसमें भी डाल निकल आती है। अन्य कर्मों में इसके अमोघत्व की चिन्ता करना वृथा है, इसलिये प्रत्येक सत्कर्मी को इससे लाभ उठाना चाहिये।

सोमप्रयोग।

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥

इस औषधिपति सोम के सेवन से दश हजार वर्ष तक नवीन देह को धारण करनेवाला मनुष्य होता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र, अस्त्र, उसके शरीर को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते। उत्तम जाति के साठ वर्षवाले मद चुवानेवाले हजार हाथियों के समान बल होता है। क्षीरसागर, इन्द्रलोक, उत्तर कुरुदेशमें जाने की इच्छा होती है और वहां जानेके लिए उसकी गतिरुद्ध नहीं होती। कामदेव के समान रूप, चन्द्र के समान कान्ति, भूतों के मनों को हर्षित करनेवाला होता है। साङ्गोपाङ्ग वेद को जाननेवाला देवताओंके समान अमोघ संकल्पवाला होता है।

अंशुमान को स्वर्णपात्र में, चन्द्रमा को रौप्य पात्र में निचोडे, इसके सेवन से अष्ट सिद्धियां प्राप्त होती हैं और शिव का अनुगामी हो जाता है। शेष रहे सौमों को ताम्र, मिट्टी, रोहित, चाम के विस्तीर्ण पात्र में निचोडे और शूद्रों को छोड पान करावें। जिस दिन सोमपान किया हो, उस के चौथे महीने शुभ योग में पौर्णिमासी के दिन मङ्गलादि स्वस्ति वाचन कराके कुटी से बाहर निकले और अपना कार्य करें।

उत्तम सुन्दर देश में तीन मकानवाली गुफा बनवावे, उस में परिचारक और रसायनोपयोगी सभी सामान रख, पंच कर्मादिकों से निवृत्त होकर

उत्तम तिथि, कर्ण, मुहूर्त, नक्षत्र में यज्ञविधान से सोम को लेकर और हवन कर मङ्गलादि से सहित कुटि में प्रवेश करें और सोमकन्द को स्वर्ण की सूची से चीर कर स्वर्णपात्र में अंजलिप्रमाण दूध सोम का निकाल लें और उसे एक बार में ही पिला दें। इसका स्वाद न ले। शेष पीने से जो बचे उसे जल में मिलाकर पी लें और यमनियम से आत्मा को दृढ कर बैठें और अपने हित-चिन्तकों से रक्षित सुन्दर सुन्दर बातों से आमोदित हो, उसी कुटि के अन्दर विचरण करता रहे।

सायंकाल दूधपान कर वेदपाठ सुनता हुवा कुश शय्या पर या काले हरिण की छाल पर सोवें, प्यास लगने पर ठंढा पानी पीवें, सुबह उठने पर वेद का श्रवण एवं शान्तिपाठ सुनें और मांगलिक वस्तुओं का दर्शन कर गौ का स्पर्श करें, सोम जीर्ण होने पर वमन होता है इस वमन में रक्त लपेटे हुये कृमि निकलते हैं। रात्रि में श्रृतशीत दुग्धपान करें। तीसरे दिन कृमियुक्त अतिसार होता है। इस प्रकार शरीर शुद्ध हो जाने पर सायंकाल स्नान कर दूध पीवें। अब इस रोगी को रेशमी कपड़ोंवाली शय्या पर लिटावें, फिर चौथे दिन रोगी का समस्त शरीर शोथयुक्त हो जाता है और समस्त अंग से कृमि निकलने लगते है। ऐसा होने पर रालशय्यापर सुलावें। और रात्रिको बराबर दूध देते रहें। पांचवें और छठवें दिन ऐसा ही क्रम रखें, परन्तु दोनों समय दूध देते रहें। सातवें दिन केवल मांसरहित चमड़ा और हड्डीयुक्त देह सोम के प्रभाव के कारण केवल श्वास लेती हुई मिलेगी। उस दिन से देह को सुखोष्ण दुग्ध से देह का परिसिंचन करें या कपड़े को दुग्ध में तरकर चमड़ी पर फेरें, और तिल, मोरेठी, चन्दन को दुग्ध में पीस लेप फेरें और दूध पिलाते रहें। आठवें दिन दुग्ध और चंदनादि से लेपकर राख की शय्या को छोड़कर रेशमीके मुलायम गद्दोंवाली शय्यापर लिटावें। अब मांस बढ़ता हुआ दिखाई देगा और चमड़ी फटने लगेगी। दांत, नख, रोम सब गिर जावेंगे। नवमें दिन से अणु तैल की मालिश और सोम के छिलकों के कषाय से अभिषेचन करता रहे, यह क्रिया १६ वें दिन तक करें।

सत्रहवें दिन और अठारहवें दिनमें दांत निकल आते हैं सुन्दर वज्र के समान, बस अब षष्ठिक चावलों की बनी यवागू का सेवन करें, २५ वें दिन तक, फिर दुग्ध से मृदु पके हुये उत्तम चावल दें। दोनों समय, अब नख पैदा होंगे और काले बाल निकलेंगे और चमड़ी ठीक हो जावेगी। एक मास के बाद बालों को घुटा दें और उशीर, चंदन, काले तिलों का तेल सिर पर लगवा दें और दूध से स्नान करावें। बस ७ दिन के अंदर उत्तम काले केश हो जावेंगे। अब प्रथम कुटि को छोड़ दूसरी कुटि में उत्तम मुहूर्त में प्रवेश करें। बला तैल लगाने को, यव का आटा उबटन के लिये सुखोष्णजल परिषेकार्थ और अजकर्णकषाय उत्सादनार्थ (मैल साफ करनेके लिये) उशीरयुक्त कुंआंका पानी स्नानार्थ, चंदन अनुलेपनार्थ, आमलक रस मिश्रित यूष, सूप, मोरेठी से शोधित दुग्ध पीने को, कृष्ण तिल अवचारणार्थ, इस तरह दश रात्रि करे. फिर तीसरी कुटी में प्रवेश करें और दश रात्रि तक रहें थोड़ी थोड़ी हवा, धूप का सेवन करें, बाहर निकल फिर भीतर चले जांय। इस प्रकार दश रात्रि रहे, फिर दश दिन अधिक अधिक सेवन करें, परन्तु सोसेमें अपना रूप न देखें और क्रोधादि न आने दें, विशेष कर वल्ली प्रतानवान सोम का सेवन करें।

फिर इस सोम का आविर्भाव मन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत हुआ, यहां मन्त्रजाप से जैसे गायत्री पुरश्चरण और केवल दुग्धपान करके आयुके बढ़ाने का उद्योग किया गया, चरक में भी एक वर्ष गायत्री का जप और आंवलों के सेवन से आयुर्वृद्धिकर प्रयोग का उल्लेख मिलता है। देवी भागवत में भी काम्य प्रयोगों में गायत्रीजप के साथ हवन कर आयु बढ़ाने के अनेक प्रयोग देखे गये हैं। सुश्रुत में भी बिल्वादि के योग हवन के बाद प्रयोग में आए है। इसके बाद इस सोम का आविर्भाव योग में हुआ और योगियों ने खेचरी आदि मुद्राओं के

द्वारा अमृतपान करने की विधि निकाल, सोम का प्रादुर्भाव कर अभीष्ट प्राप्ति की।

आजकल के समय में हम लोग सभी तरह के सोम से रहित हैं और अपनी इच्छा के विरुद्ध भी यमालय की तरफ जाने को प्रस्तुत हो रहे हैं। न हम में जप का ही सामर्थ्य है, न योग की, न सदाचार की, न धार्मिक कृत्यों की हो। इसीलिये हम से सोम भी हजारों मील दूर चला गया है। यदि हम सच्ची लगन के साथ इसको ढूंढें, तो अवश्य ही हमें सोम मिल सकता है। सुश्रुतकार का कथन है कि सोम या अन्य सोम के समान गुण करनेवाली दिव्य ओषधियां काश्मीर में क्षुद्र मानस नामक तालाब के आसपास हैं।

यह बात अक्षरशः सत्य मालूम देती है कि मैने कुछ काल पूर्व "बालक" पत्र मे पढा था कि, महाराज दरभंगा के दीवान महाराजा को ढूंढते ढूंढते रात्रि में जब मार्ग भूल गये, तो रात्रि को एक तपस्वी के स्थान में प्राप्त हुये, उसने इनको भूखा देख खिचडी बनानेको इन्हें दी। इन्होंने वहीं आश्रम के पास उसे पकाया और एक लकडी से चला कर परोसा और खाया। खाते ही यह बेहोश हो गये और प्रातः अपने में कायाकल्प देखा। अतः वैद्योंको उधर जाना चाहिये और वहां के साधुसन्तोंसे मिल पता चलाना चाहिये, इसके सिवाय सुश्रुतकार यह भी कहते हैं कि—

नदीषु शैलेषु सुरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गतव्याः सर्वत्रभूमिर्हि वसूनिधत्ते॥

पृथ्वी वसुगर्भा है, इसमें जहां जो प्राप्ति हो, वह संभव है, अतः सभी पुण्यक्षेत्रों में और नदी-तालाबों तथा पर्वतों पर देखें। कौशिकी नदी जो बिहार में प्रसिद्ध है, वहां और आबू पर्वत, काश्मीर यह ऐसे निश्चित स्थान हैं, जिनमें कोई भी तर्क-वितर्क की कल्पना नहीं, परन्तु श्रम करने की जरूरत है और धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान की आवश्यकता है, ये औषधियां भी सोम के समान ही प्रभावशाली हैं—

श्वेत कापोतकी, कृष्ण कापोतकी, गोनसी, अजगरी, बाराही, कन्या, छत्रा, अति छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महा श्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महा वेगवती यह अठारह सोम के समान गुणवाली औषधियां हैं। इनकी पहिचान आदि सभी सुश्रुत में मयस्थान के लिखी है। देखो सुश्रुतचिकित्सास्थान अ० ३०।

वैदिक-दिग्दर्शन।

(ले०- वैद्यरत्न पं० रमाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक-'माला')

संस्कृत में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है। पूर्वकाल में वेद विभाजित नहीं था, अर्थात् शृंखलाबद्ध नहीं होकर, सब मन्त्र, ब्राह्मण-अनुब्राह्मण सब एकहि जगह मिश्रित था। क्योंकि प्रतिभाकी अलौकिकता के कारण से तत्कालिक द्विजों के विभाग करना आवश्यक भी नहीं था। अपरकाल में आ कर अब लोगों (द्विजों) की वह अलौकिक प्रतिभा कम होने लगी और भविष्य में यह मन्द ही होती जायगी, यह जानकर भगवान् वेदव्यासजीने यज्ञादि कर्मसुविधाके हेतु इसका चार विभाग किया। यह विभाग पाठक्रम का ध्यान रखकर किया गया है। अर्थात् प्रथम ऋग्वेद, द्वितीय यजुर्वेद, तृतीय सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद इस पाठक्रम का वर्णन उपनिषद्कारोंने भी इसी तरह किया है, यथा—

ऋग्वेदो भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्। (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)

ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः स शाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति॥

(नृसिंहतापनीयोपनिषद् १।२)

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वणः।

(मुण्ड-उपनिषद् १२ ख १, म० ५)

यथापि—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचा तद् दृढम्। (तैत्तिरीय सं० ६।५।१०।३०)

इत्यादि प्रमाण से यज्ञसाधन में भी ऋग्वेदही का प्राधानता दिया गया है। तथापि उक्त श्रुतियों के अर्थवादपरक मानकर यज्ञसाधन में यजुर्वेदही को सर्वसिद्धांतसिद्ध प्राधान्यता दिया गया है। क्योंकि यज्ञानुष्ठान में वेदार्थज्ञान रहना प्रधान कारण है और वह प्राधान्यता यजुर्वेदहि में है। यथा—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

(ऋ० २१।२४।५)

भावार्थ-होता नामका एक ऋत्विक (ऋग्वेदज्ञ) जिस जिस यज्ञमें जो जो क्रिया, द्रव्य तथा देवताप्रबोधार्थ जिन जिन ऋचाओं की आवश्यकता देखते हैं। उन सबका संकलन करते हैं, जो शास्त्र कहलाता है और उद्गातानाम का एक ऋत्विक (सामवेदज्ञ) शक्वरीनामक ऋचाओंमें गायत्रनाम का मन्त्र मिला गायन करते हैं। जो स्तोत्र कहाता है। ब्रह्मा नामके एक ऋत्विक अन्यान्य ऋत्विजों के देखभाल में रहते हैं, कि यज्ञकर्ममें कहीं प्रमाद होनेपर उन्हें उचित उपदेश देते हैं। तथा प्रमादजन्य प्रायश्चित्त देते हैं।

ब्रह्मा वही होते हैं, जो सकल वेदशास्त्रका पूर्ण रूपेण तत्वावधान किए हुए रहते हैं।

ब्रह्मा सर्वं विद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। (यास्कनि०)
एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां संस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाता चान्यतराम्॥ (छा० उ० ४।१६।१)

सारांश यह है, जो यज्ञ के दो मार्ग हैं। एक वचनरूप और दूसरा मनरूप। इनमें वचनरूप मार्ग का संस्कार होता, उद्गाता, अध्वर्यु ये तीनों मिलकर करते हैं। परन्तु मनोरूपक मार्गका संस्कार ब्रह्माको अकेले ही करना पड़ता है। अध्वर्यु नाम का एक ऋत्विक् यज्ञ के शरीर का संपादन करते हैं।

विभक्त होनेपर भी जो बहुत से वेदमन्त्र एक वेद के होते हुए भी दूसरे वेद में मिलते हैं, वे तत्तच्छाखाभेद से भिन्न भिन्न यजमानादि को अपनी अपनी शाखोक्त आदि का अनुसरण करने के लिये जानना चाहिए।

यथापि—

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।

(साम० प्र०४, अ० प्र० २)

ऋचं वाचं प्र पद्ये साम मनो यजुः प्र पद्ये प्राणं प्र पद्ये। (यजु० ३६ अ०, १ म०)
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(ऋ० १० मं०, ८०अ०, ९सू०)

इत्यादि मन्त्र सब में परस्पर एक वेदका मन्त्र दूसरे वेद में देखकर, कौन वेद पूर्वकालिक और कौन वेद परकालिक, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है।

तथापि ऋग्वेदोक्त वचन में और अन्य वेदोक्त वचन में कहींभी वैमत्य नहीं देखा जाता है। तथा बहुत पौरस्त्य और पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के सिद्धांत को मनन करने पर यही मानना पडता है कि, ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है। सायणाचार्यने ऋग्वेद से पहले यजुर्वेद का भाष्य लिखा है। किंतु वह केवल यज्ञ में यजुर्वेद का प्राधान्यता की वजह से। जिसको वह स्वयम्—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

इस प्रतिज्ञावाक्य से 'ऋग्वेदभाष्य-भूमिका' में स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित किये हुए हैं। यहां 'आध्वर्यवस्य' शब्द का अर्थ है, यजुर्वेदसम्बन्धी कर्म का और 'व्याकृतः' का अर्थ है व्याख्यात।

वेदका अपौरुषेयत्व।

ऋग्वेद का समय पाश्चात्य विद्वानोंने ४००० वर्षसे कुछ और पूर्व मानते हैं। जर्मनका प्रख्यात प्रोफेसर 'जैकोबी' का कथन है कि, ऋग्वेदका वह मन्त्र, जिसमें ऋतु का संक्षिप्त वर्णन है, वह मन्त्र इसवी सन् से ४००० वर्ष से पूर्व का है। "जैकोबी" साहब उस मन्त्र में वर्णित ऋतु-अवस्था को ज्योतिषशास्त्र के हिसाब से विचार कर उपरोक्त समय निर्धारित किया है। अर्वाचीन विद्वान् अपनी अपनी सम्मतिद्वारा निम्न प्रकार से समय का निर्णय किया है।

नाम।	अल्पसे अल्पकाल।	अधिकसे अधिक काल
मोक्षमूलर	८००	१५००
मैग्डानल्ड	१०००	२०००
हॉग	१४००	२०००
ह्विटनी विल्सन ग्रिफथ जैकोबी	१५००	२०००
पार्जिटर	२०००	२२००
डॉ० प्राणनाथ	३०००	६०००
* लोकमान्य तिलक	६०००	८०००
अविनाश चन्द्रदत्त	२७०००	३००००
दीनानाथ शास्त्री	२००००	३००००
पावगी	२४०००	६००००

परन्तु वादी का मत है कि, केवल एकाध मन्त्र ही से वेदकी वर्ष संख्या नियतकर लेना असम्भव ही नहीं, बल्की अविश्वसनीय भी है। तथापि जो सनातनधर्मी ईश्वर के श्वासप्रश्वास से वेदों की उत्पत्ति मानते हैं। अर्थात् किसी वादी का मत है कि, जैसे वैयासिक, महाभारत, रामायण आदि विशेषण तात्पर्यसे उपलब्ध होता है और उन्हें व्यास, वाल्मीकी आदि प्रणीत मानते हैं। इसी तरह यह वेदभी काठ, कुथुम, कलापी, तित्तिर आदिसे प्रणीत है। अतएव वाक्य होने के कारण-वेदवाक्य-पौरुषेय (पुरुषप्रणीत) है, जैसे कालिदासादिक वाक्य है।

किंतु यह वादीका मत सर्वथा अज्ञानमूलक है। क्योंकि काठक आदि शब्द का निर्वचन—

कठेन प्रोक्तम्, कुथुमेन प्रोक्तम्, कलापिना प्रोक्तम्, तित्तिरिणा (याज्ञवल्क्य-वान्त वेदग्रहणार्थ-'तित्तिरि' रूपधारिणा वैशम्पायन शिष्यगणेन) प्रोक्तम्। इत्यादि किया गया है और प्रोक्त अर्थ ही में अण्-छण् आदि प्रत्यय भी है। अतएव प्रोक्तका अर्थ होता है—प्रकर्षेण उक्त अर्थात् अच्छी तरह पढाया गया। तात्पर्य यह है कि जो जो ऋषि जिन जिन शाखाओं का अधिक अध्यापन कर शिष्योपशिष्यकी संख्याको बढावे, उन्हीं उन्हीं

* लोकमान्य का यह 'वेदकाल' निर्देश, जब पाश्चात्य विद्वानों के साथ विवाद हुआ था, उस समय का है।

ऋषियों के नाम से वे वे शाखायें प्रसिद्ध हुईं। इस बात को 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) यह पाणिनीसूत्र के भाष्यमें "कथं काठकं कापालकमिति, यत्तेन प्रोक्तम् न तु तेन कृतमिति।" इत्यादि वाक्य से भगवान् पातंजलिने स्पष्ट किया है।

वादी के मत में कालिदासि का दृष्टांत दिया गया है। सो कालिदासादिक वाक्य में कर्ता का उपलम्भ होता है और वेद में यह बात कहीं नहीं है। अतएव वादी का मत असिद्ध समझना चाहिए और दृष्टान्तकर्ता की सिद्धि से कारण व्यभिचारमें अनुमान नहीं हो सकता है।

अतएव—

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥
(शंकरभाष्य १।३।२८)

नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥
(मी० ना० स्मृति)

कल्पे कल्पे विनश्यन्ति तन्नामानो भवन्ति च।
(देवीपुराण)

अनादिनिधना नित्या स्वयं सृष्टा स्वयं भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(स्मृति)

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥
(अथर्ववेद)

विशेषरूपेण ऋग्वेद में १०।७१।३ में कहा हुआ है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्
ऋषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा
तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

अर्थात्-विद्वान् लोग यज्ञेन (पूर्वपुण्य) द्वारा वाचः (वेदवाणी की) पदवीयम् (मार्ग को) आयन् (प्राप्त किये) और प्रथम उस वेदवाणीको दिव्य दृष्टिसे सब पदार्थों को साक्षात्कार करनेवाले योगीश्वरोंने (उच्छिष्ट विराट 'परब्रह्म' की प्रेरणा से) प्रवेश कर गुरु पारम्पर्यद्वारा प्राप्त किया। फिर गुरु से प्राप्त कर शिष्योपशिष्यद्वारा उसको देशदेशान्तर में प्रचार किया, उसी वेदवाणी को सात छन्द (गायत्री, अनुष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् जगति ये सातों छन्द हैं) द्वारा सब गान करते हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋ० १० म०, ८० अ०, ९० सू०)

अर्थात्-उन यज्ञों में सबसे पूजनीय तथा सबसे हवनीय विराटरूप परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, गायत्री आदि छन्द सब उत्पन्न हुए।

वाचा विरूप नित्यया। (ऋ० ८।७५।६)

अर्थात् रूपरहित नित्य वेदवाणी से ही संसार के सब पदार्थों का प्रदर्शन हुआ है। इत्यादि अनेकानेक संगत वचन मिलता है।

इस प्रसंग का सविस्तर वर्णन—

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाऽऽख्या। (१।१।२७)
अनित्यदर्शनाच्च। (१।१।२८)

इन दोनों सूत्र से पूर्व पक्ष कर

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्। (१।१।२९)
आख्या प्रवचनात्। (१।१।३०)
परन्तु श्रुति-सामान्यमात्रम्। (१।१।३१)
अतएव च नित्यम् (१।३।२९)
समान समानरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधः।
(१।३।३०)

इत्यादि सूत्र से उत्तरमिमांसा के देवताधिकरण में जगद्गुरु शंकराचार्य और—

स्वयम्भुवो वेद कर्तृत्वेऽपि न कालिदासादि-
वत्स्वतन्त्रत्वमपि तु पूर्वसृष्टयनुसारेण।

इत्यादि प्रमाण से भामतीमें षड्दर्शनाचार्य मैथिल वाचस्पति मिश्र स्पष्ट किये हुए हैं। वेदही के प्रमाण से वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में अन्योन्याश्रयदोष का शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, जैसे संसार के समस्त पदार्थों के प्रकाशक सूर्य है, किन्तु सूर्य का प्रकाशक कोई नहीं है। वे अपनेहि तेज से प्रकाशित होते हैं। इसी तरह 'वेद' भी भूत, भविष्य, वर्तमान, दूर, दूरतर,

दूरतम, व्यवहित, विप्रकृष्ट इत्यादि समस्त पदार्थका बोधक होकर अपना भी बोधक स्वयं ही है।

किसी किसी का मत है कि ऋग्वेद के मन्त्र में प्रायः अधिक स्थान में गंगा, चन्द्रभागा, (चनाव) विपाशा (ब्यासा) सरस्वती, वेत्रवती (वेतवा, जो बुंदेलखंड में है) यमुना शतद्रु (सतलज) गण्डकी, वितस्ता, सिन्धु, इरावती, (रावी) पयोष्णी (उष्णजला), सुवास्तु (स्वात), गोमती, दृषद्वती (घाघरा), वेदवती, सरयू, क्रमु, चर्मण्वती (चम्बिल) नर्मदा आदि नदियों का नाम आया है। अतएव सम्भव है कि उन उन नदियों के तट पर निवास करते हुए महर्षिगण उन उन मन्त्रऋचाओं के पाठ किये हैं। परन्तु यह बात असंगत मालूम पडती है, क्योंकि वेद में केवल नदियों के ही नहीं, बल्की पदार्थमात्रका ही उल्लेख आया है। तब यह निश्चय करना कठिन ही नहीं, बल्की असम्भव हो जायगा कि कौन मन्त्र का कहां आविर्भाव हुआ है।

पारसी लोगों के धर्मग्रंथ 'जेन्द आवस्ता' में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद के मन्त्र से मिलते-जुलते है और इसी धर्मग्रंथानुसार वे लोग अपना कार्यक्रमभी करते हैं। तथा उस में अग्नियज्ञ एवं सूर्योपस्थानादि देखकर ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वैदिक सभ्यता समस्त संसारभरमें विस्तृत थी। जिसका ध्वस्तावशेषपालन आजभी पारसी लोग करते हैं।

ऋग्वेदपर भाष्य।

ऋग्वेद-संहितापर दो भाष्य हैं। एक 'यास्काचार्य' का, दूसरा 'सायणाचार्य' का। इन में यास्काचार्य का बहुत प्राचीन है। वैदिक 'निरुक्त (व्याकरण), जिसका पूर्वमें तीन अध्याय का प्रथम कांड (नैघण्टुक) एक अध्याय का द्वितीय कांड। नैगम तथा एक अध्याय का तृतीय कांड (दैवत) सब मिलाकर पांच अध्याय में विभक्त तीन कांड (सर्ग) था। उसको व्याख्यारूप से पल्लवित करने के लिए 'समाम्नायः समाम्नायः' यहां से प्रारम्भ कर 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति।' एतत्पर्यन्त तीन कांड को १२ अध्याय में विभक्त यास्काचार्य ही ने किया। जो वर्तमानकाल में 'निरुक्त' शब्द से व्यवहृत है।

सायणाचार्य दक्षिणभारत के 'विजयनगर' ग्राम में रहते थे। ये महापुरुष आज से साढे पांचसौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। इन्हीं के ज्येष्ठ भ्राता 'माधवाचार्य' संस्कृत के आजन्मसेवी 'बुक्कण' राज्य के प्रधान मंत्री थे। आपके विरचित दो ग्रन्थरत्न हैं। एक पूर्वमीमांसा और दूसरा माधवनिदान।

वेदभाष्य लिखने के लिए पहिले आपको ही 'बुक्कण राजा ने आज्ञा दी, किन्तु सायणाचार्य वेद के विशेष तत्त्वज्ञ थे। अतएव माधवाचार्य की प्रार्थनापर बुक्कण राजाने सायणाचार्य से ही वेदभाष्य का निर्माण कराये। जिसकी भूमिका का उपोद्घात निम्न है। यथा—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् 'बुक्क' महीपतिः।
आदिशन् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायाति संग्रहात्।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः॥
स प्राह नृपतिं राजन् सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदार्थव्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्॥
(ऋग्वेद-भाष्य)

उपरोक्त दोनों भाष्यातिरिक्त एक दयानन्द 'भाष्य' है।

ऋग्वेद की टीका अंग्रेजी में सब से पहले विलसनसाहब ने की। परन्तु 'ग्रिफिथसाहब' का अंग्रेजी अनुवाद गवेषणापूर्ण माना जाता है।

मोक्षमूलरसाहब का वैदिक पाण्डित्य जगत्प्रसिद्ध है। वेदांश के ज्ञाता जितने सायणाचार्य थे, उन्हीं के समकक्ष मोक्षमूलर को भी लोग मानते हैं; किंतु इस में कहां तक सत्यता है, ईश्वर जाने।

शाखा- ऋग्वेद में ५ शाखायें हैं। १ शाकल्य, २ वाष्कल, ३ आश्वलायन, ४ शांखायन, ५ माण्डूक्य, इन में आश्वलायन और शांखायन को शाकल्य से बहुत कम अन्तर है। अर्थात् कहीं कहीं एकादश बालखिल्य सूक्त के यज्ञसम्बन्ध में दिखाया गया है। कहीं इस से कुछ कम

इसी तरह माण्डूक्य तथा बाष्कल कोभी शाकल्य से बहुत कम भेद है। प्रायः इसीलिये वर्तमानकाल में भी-ऋग्वेद का केवल 'शाकल्य' शाखामात्रका ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

पाठ- ऋग्वेद में पाठ ४ हैं। पद १, २ क्रम, ३ घन, जटा, ४। पदपाठ में पदच्छेद रहता है और क्रमपाठमें प्रत्येक शब्द दो-बार और जटा पाठमें प्रत्येक शब्द तीन तीन बार कहे जाते हैं। तथा घनपाठ में दो दो शब्द के स्थान में तीन तीन शब्द किया जाता है। किन्तु प्रथम दो दो शब्द क्रमपाठ के अनुसार ही होता है। इन सबों की विवेचना-अनुक्रमणिका में विस्तृत रूप से किया गया है।

स्वरभेद- सामवेद में १।२।३ अंकद्वार, उदात्तादि स्वर-भेद समझाया गया है। शतपथ में उदात्त का चिन्ह अधो-मुख- (-) सतरिका रहता है और कृष्ण यजुर्वेद में उदात्त का चिन्ह ऊपर (।) सत्तर रहता है। ऋग्वेद में उदात्त का कोई नियत चिन्ह नहीं रहता है। सिर्फ स्वरित चिन्ह के ऊपर (।) सत्तरि रहता है और अनु-दात्त चिन्ह का अधोमुख सत्तरि रहता है।

भेदगणना- ऋग्वेद में दश मण्डल, आठ अष्टक और २०२४ वर्ग हैं। एक-एक अष्टक में ८-८ अध्याय हैं। उसमें प्रथमाष्टक के प्रथमाध्यायमें ३७ वर्ग, दोसरे में ३८, तृतीयमें ३५, चतुर्थमें २९, पंचममें ३१, छठेमें ३२, सप्तममें ३७ और अष्टम में २६। कुलवर्ग प्रथमाष्टकका २६५ है। द्वितीयाष्टक के प्रथमाध्याय में २६, दोसर में २७, तेसर में २६, चौथे में २९, पांचवें में २१, छठवें में ३२, सातवें में २५ और आठवें में २७। कुलवर्ग द्वितीयाष्टक का २२१। तृतीयाष्टक के प्रथमाध्याय में ३४, द्वितीय में २६, तृतीय में ३१, चौथे में २५, पांचवें में २६, छठवें में ३०, सातवें में २७ और आठवें में २९। कुलवर्ग तृतीयाष्टक का २२१।

चतुर्थाष्टक के प्रथमाध्याय में ३३, द्वितीय में २८, तृतीय में ३१, चौथे में ३६, पांचवें में ३०, छठवें में २५, सातवें में ३४ और आठवें में ३२। कुलवर्ग चतुर्थाष्टक का २५०। पंचमाष्टक के प्रथमाध्याय में २७, द्वितीय में ३०, चतुर्थ में ३०, पांचवें में २७, छठे में २५, सातवें में ३३, और आठवें में ३६। कुलवर्ग पंचमाष्टक का २३८। षष्ठाष्टक के प्रथमाध्याय में ४०, द्वितीय में ४०, तृतीय में ३९, चतुर्थ में ५४, पांचवें में ३८, छठे में ३८, सातम में ३९, आठम में ३३, कुलवर्ग षष्ठाष्टक का ३३१। सप्तमाष्टक के प्रथमाध्याय में ४१, द्वितीय में ३३, तृतीय में २६, चतुर्थ में २८, पंचम में ३३, छठे में २८, सातवें में ३०, आठे में २९। कुलवर्ग सप्ताष्टक के २४८।

अष्टमाष्टक के प्रथमाध्याय में ३०, द्वितीय में २४, तृतीय में २८, चतुर्थ में ३१, पांचवें में २७, छठे में २७, सात में ३०, आठम में ४९। कुलवर्ग अष्टक के २४६ होते। टोटल संख्या उपर्युक्त २०२४ होती हैं।

मंडल	अनुवाक	सूक्त	मन्त्र	ऋषि
१	२४	१९१	२००६	प्रचुरतरकण्व
२	४	४३	४२९	गृत्समदगोत्री
३	५	६२	६१७	विश्वामित्रादि
४	५	५८	५८९	वामदेव आदि
५	६	८७	७२७	अत्रि
६	६	७५	७६५	भरद्वाज आदि
७	६	१०४	८४१	वसिष्ठ आदि
८	१०	१०३	१७१६	प्रचुरतरकण्व
९	७	११४	१००८	काश्यप आदि
१०	१२	१९१	१७५४	गृत्समद आदि

चरणव्यूह तथा शौनकीय अनुक्रमणिका के अनुसार इन वर्गों में, ऋचाओंमें गणना क्रमानुसार परस्पर कुछ भेद है। जो लेखविस्तारभय से हम यहां उद्धृत नहीं कर सकते हैं।

देवता-परिचय- ऋग्वेद के अष्टम और नवम को छोडकर और सब मण्डल के प्रथम सूक्त से विशेषतया अग्निही की स्तुति की गयी है। दशम को छोडकर सब मण्डल में कहीं एक, कहीं दो, कहीं इससे भी अधिक सूक्तसे पहले इन्द्र की स्तुति की गयी है। चतुर्थ, छठा तथा अष्टम से भिन्न मण्डल सब में कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन। 'आप्री' सूक्त बारह ऋचा का है और प्रत्येक ऋचामें अग्नि, तनूनपात्, इडा वार्षिक आदि भिन्न भिन्न देवताओंके लिए विनियुक्त है। विश्वामित्रक "मधुच्छन्दा।" बहुतों ऋचाके ऋषि हैं। यज्ञकाण्डोपयोगी सब ऋचायें-यजुर्वेद तथा सामवेद में निर्दिष्ट से विनियुक्त किये गये हैं। यद्यपि कहीं इन्द्र, कहीं वरुण, कहीं अग्नि, कहीं तनूनपात, कहीं रुद्र, कहीं विष्णु, इत्यादि अनेक देवताओं के उद्देश से ऋचाओं के विनियोग हैं। किन्तु वे सब देव परब्रह्मही के अनेक स्वरूप हैं, अतएव आराध्यमें विरोध नहीं कह सकते।

ऋग्वेद २।३।२२ मन्त्रवर्ण ४६ में—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
> तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजत्येकैकं देवमेत-स्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः।
> (शतपथब्राह्मण १४।१२)

दोनों श्लोक का अर्थ स्पष्ट ही है।

ब्राह्मणग्रन्थ- प्रत्येक वेदसंहिता के साथ साथ उसका विनियोग तथा द्रव्य-देवता, हविष आदि का परिचय कराने के लिए पृथक् पृथक् ब्राह्मणग्रन्थ वर्तमान हैं। जिस का महत्व प्रत्येक सनातनधर्मी संहिता से कुछ कम नहीं समझते, क्योंकि दोनों ऋषिप्रोक्त है, तथा समानवाली और समकक्ष हैं।

अर्थात् जैसे-पाणिनीमुनिप्रणीत अष्टाध्यायी, कात्यायन मुनिप्रणीत वार्तिक तथा पातंजलि मुनिप्रणीत महाभाष्य इन तीनों की एकवाक्यता तथा ऋषिप्रणीतत्व मान्य होनेके वजह से, मूलभाष्य में भेद रहते हुए भी इन सब को व्याकरण ही कहा जाता है, इसी तरह संहिता की व्याख्या रहते हुए भी-ब्राह्मणभाग वेदहि कहाता है। इस विषयका सविस्तर वर्णन—

> तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। (२।१।३२)
> शेषे ब्राह्मणशब्दः। (२।१।३३)

इन दोनों सूत्र से तथा पू० मी०में "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्" इत्यादि तथा आपस्तम्ब प्रमाण के आधारपर जैमिनीय मुनिवर्णन किये हुए हैं। यज्ञकाण्ड की विधि इस में सविस्तर यथाक्रम है। इसका 'ब्राह्मण' नाम होनेका दो कारण हैं। एक यह कि 'ब्रह्म' कहते हैं वेदको इस वेदका तत्वविचार इस में तथा दूसरा यह कि यज्ञ करानेके अधि-कारी ब्राह्मण ही हैं। और उस (ब्राह्मणग्रन्थ) में प्रधान तथा यज्ञादि का विधान ही है। अतएव ब्राह्मणोंके उपयोगी होने के वजह से ग्रन्थका भी नाम 'ब्राह्मण' रखा गया।

आरण्यक और उपनिषद् भी ब्राह्मण कहलाता है।

ऋग्वेद में ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीत की ब्राह्मण ये दोनों ग्रन्थ बहुत बडा है। ऐतरेय में ४० अध्याय तथा ८ पंजिका है और प्रारम्भ से १६ अध्याय तक अग्निष्टोम तथा सोमयाग का निरूपण है।

'गवामयन' यज्ञ, जो ३६० दिन में सम्पादित होता है। उसका निरूपण १७-और १८ म अध्याय में है। द्वादशाह यज्ञ (रात्रि सत्र) का तथा होता के कर्तव्य का वर्णन १९ से २४ अध्याय तक में है। फिर २५ में अध्यायमें प्रमाद, प्रायश्चित्त तथा अग्निहोत्र की विधि निर्दिष्ट है और २६ से ३० अध्याय तक होता के सोमयज्ञयांतर्गत सहायक तथा प्रसंगवशात् शिल्पशास्त्रका भी कुछ वर्णन है और ३१ से ४० अध्याय तक राजा को राज्यासनपर बैठाने तथा पुरोहित आदि के धर्मोपदेश करने का क्रम दिखलाया गया है।

कौषीतकी ब्राह्मणग्रन्थ ३० अध्याय का है। इस में भी बहुत विषय ऐतरय ब्राह्मण ही जैसे हैं। किंतु प्रथम अग्न्या-धान, तब अग्निहोत्र, फिर पौर्णमास आदि यज्ञका और विस्तृत रूपसे 'चातुर्मास्य' यज्ञ का वर्णन किया गया है।

ऐतरेय-आरण्यक १८ अध्याय कर पांच भागमें विभक्त किया है। प्रथम भाग में ५ अध्याय और २२ खण्ड

हैं। जिस में प्रधानतया सोमयज्ञका विचार किया गया है। द्वितीय भाग में ७ अध्याय तथा २६ खण्ड हैं। जिस के तीसरे अध्याय में प्राणपुरुष का तथा ४–७ अध्याय में ऐतरेय उपनिषद् (ब्रह्मविचार) का निर्णय है। तृतीय भाग में २ अध्याय और १२ खण्ड हैं। इस में अलंकारिक रीति से संहिता के पदपाठ तथा क्रमपाठ का विवेचन और अक्षरवर्णनओंका माना जाता है। पंचम भाग में ३ अध्याय, १४ खण्ड हैं, जो शौनक ऋषि से प्रोक्त है।

'कौषीतकि' ब्राह्मण के साथ एक 'कौषीतकि' आरण्य भी है। जिसमें १५ अध्याय हैं। प्रथम दो अध्याय में सोमका वर्णन है।

तथा ४।५।६ में कौषीतकि उपनिषद् और ७ तथा ८ अध्यायमें पूर्ववत् पदपाठका और क्रमपाठ का रहस्य अलंकारिक रूपसे निर्दिष्ट है।

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमोंके लिए क्रमशः मन्त्रभाग (संहिता) आरण्यक भाग, तथा उपनिषद्भाग किया गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकाशक प्रसंगसे सायणाचार्य ऋग्वेद-भाष्य के प्रारम्भ में लिखते हैं कि, एक ऋषि को बहुत स्त्रियां थी। जिनमें से एक का नाम 'इतरा' था। इनके पुत्र 'महीदास' नामके थे। एक रोज वह ऋषि सब पुत्रोंको अपने गोद में स्नेहभाव से बैठाकर प्यार करने लगे, किंतु महीदासको उन्होंने नहीं प्यार किया, जिससे दुःखी होकर 'महीदास' रोने लगे। यह देखकर इनकी माता 'इतरा' ने अपने कुलदेवता भूमिसे प्रार्थना की। भूमि प्रसन्न हो गई और प्रसन्न होकर वहींपर एक सुन्दर यज्ञमण्डप का निर्माण किया, जिस पर महीदास के वरदान देने को लिए बैठाया और बैठाकर यह वरप्रदान किया। कि तुम्हारे नाम से ४० अध्याय का 'ऐतरेय ब्राह्मण' संसार में प्रसिद्ध होगा।

उपनिषद्।

जैसे प्रत्येक वेदके ब्राह्मण पृथक् पृथक् हैं, वैसेही उपनिषदें भी भिन्न भिन्न हैं।

ऋग्वेदोपनिषद्–ऋग्वेदान्तर्गत दश उपनिषदें हैं। यथा १ अक्षमालिका, २. आत्मबोध, ३. ऐतरेय, ४. कौषीतकी, ५. त्रिपुरा, ६. नादबिन्दु, ७. निर्वाण, ८ मुद्गला, ९. बहवृच १०. सौभाग्य।

(अपूर्ण)

वेदमन्त्रों के उपदेश।

(लेखक- श्री० स्व० पं० रघुनन्दनशर्माजी।)

मनुष्य की इच्छाएँ।

मनुष्य की इच्छाएँ सात भागों में विभाजित हैं। (१) बहुत दिन जीने की इच्छा। (२) स्त्री, पुत्र, रति, शोभा, श्रृंगार की इच्छा। (३) खाने पीने, पहिरने ओढ़ने, मकान, गृहस्थी, बाग़ बग़ीचे और खेत तथा पशुओं की इच्छा। (४) यश और मान आदि की इच्छा। (५) विद्या, ज्ञान, विज्ञान और मालमात की इच्छा। (६) अपने साथ कोई अन्याय न करे, अर्थात् न्याय की इच्छा और (७) बार बार जन्ममरण के दुःख से छूटकर मोक्षप्राप्ति की इच्छा मनुष्यमात्र को रहती है। वेदोंने गायत्री मन्त्र के द्वारा इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए नित्य परमेश्वर से प्रार्थना करने का उपदेश किया है। गायत्री का माहात्म्य वर्णन करते हुए अथर्ववेद १९।७१।१ में कहा गया है कि—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अर्थात् प्रचोदयात् पदान्तवाली और द्विजों को पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री की मैं इसलिए स्तुति करता हूँ कि वह मुझको आयु, बल, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन और वैदिक ज्ञान देकर ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्षपद को पहुँचावे। इस आदेश से ज्ञात हुआ कि मनुष्यमात्र की ये इच्छाएँ स्वाभाविक हैं। फ्रीनॉलॉजीवाले भी बतलाते हैं कि मस्तिष्क में ज्ञान, मान, अर्थ, काम, आयु, विज्ञान और न्यायधर्म के ही प्रधान सात स्थान हैं। अन्य स्थान तो इन्हीं के अन्तर्गत इन्हीं की शाखाएँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये इच्छाएँ नैसर्गिक हैं। इन सबमें दीर्घ जीवन की इच्छा सर्वप्रथम है, इसलिए सबसे पहिले हम दीर्घजीवन के ही मन्त्रों का नमूना दिखलाते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

शतमिन्नु शरदो अंति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ (यजु० २५।२२)

अर्थात् हे विद्वानो! मनुष्य की आयु सौ वर्ष नियत है, अतः जब तक हमारे शरीरों की जरा अवस्था न हो जाय और हमारा पुत्र भी पिता न हो जाय तब तक हम जिएँ अर्थात् सौ वर्ष के अन्दर हमारी आयु क्षीण न हो। इतना ही नहीं कि हम किसी प्रकार सौ वर्ष तक जिएँ, प्रत्युत आरोग्यता और बल के साथ जिएँ, जैसा कि लिखा है कि—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
(यजुर्वेद ३६।२४)

अर्थात् ज्ञानियों का हित करनेवाला शुद्ध ज्ञाननेत्र उदित है। उससे हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष तक दीन न हों और सौ वर्ष से भी अधिक दिन तक आनन्द से रहें।

वेद में दीर्घजीवन की इस इच्छा के आगे काम की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ (अथर्व० १९।५२।१)

अर्थात् जो 'काम' मन में बीजरूप से है, वह पहिले हुआ। हे काम! तूने बहुत बड़े काम का विस्तार कर दिया है, इसलिए अब धन दे।

प्रियः देवानां भूयासं; प्रियः प्रजानां भूयासं।
प्रियः पशूनां भूयासं; प्रियः समानानां भूयासं॥
(अथर्व० १७।१।२-५)

अर्थात् देवों के लिए, प्रजा के लिए, पशुओं के लिए और समानों के लिए प्रिय होऊँ। कामना से सम्बन्ध रखनेवाले इन दोनों मन्त्रों में कहा गया है कि मन और रेत ही काम का मूल है। इस काम से ही आगे बड़ी बड़ी पुत्रादि की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और इसी से बनाव चुनाव, शोभा शृंगार और ठाटबाट की आवश्यकता होती है। इन सबका मूल मन और रेत अर्थात् रति ही है। रति ही प्रजा, पशु और अन्नादि धन की ओर विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न कराती है। क्योंकि दीर्घजीवन और कामजन्य स्त्रीपुत्रादिकों के लिए ही धन की इच्छा होती है।

मनुष्य को इस धन की इच्छा किस प्रकार रहती है, उसका नमूना वेद ने निम्न मन्त्र में दिखलाया है—

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ (ऋ० १०।११७।८)

अर्थात् एक गुना धन रखनेवाला अपने से दुगुने धन रखनेवाले के मार्ग का आक्रमण करता है, दुगुने धनवाला तिगुने धनवाले के पीछे दौड़ता है और चौगुने धनवाला अपने से दूने धनवाले की महत्ता को प्राप्त होता है। अर्थात् मनुष्य धनवानों को देखकर स्पर्धा करते हुए अधिकाधिक धन प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

इस धन की इच्छा के आगे मान की इच्छा होती है। वेद में मान की इच्छा का नमूना इस प्रकार दिखलाया गया है—

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १७॥ यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि। एवा०॥१८ यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि। एवा० ॥१९॥ यथा यशः कन्यायां यथास्मिन् संभृते रथे। एवा ॥२०॥ यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा० ॥२१॥ यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा० ॥२२॥ यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा० ॥२३॥ यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि। एवा० ॥२४॥ यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्। एवा० ॥२५॥ (अथर्व० १०।३)

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य, चंद्रमा, पृथिवी, ब्रह्मचारिणी कन्या, मधुपर्क और सोमपानप्राप्त विद्वान्, अग्निहोत्री, यज्ञ करनेवाला यजमान, परमेष्ठी और प्रजापति यश और कीर्ति को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार की कीर्ति, तेज और यश मुझको भी प्राप्त हो। इन मंत्रों में यश, कीर्ति और मान के लिए प्रार्थना की गई है। क्योंकि लिखा है कि 'सर्वे नन्दन्ति यशसा' अर्थात् सबको यश से आनन्द मिलता है।

इस मान की इच्छा के आगे वेद में ज्ञान की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे॥
(यजु० ३२।१४-१५)

अर्थात् जिस मेधा (ज्ञान) की देवता और पितर उपासना करते हैं, उस मेधा से हे परमेश्वर! मुझे शीघ्र ही मेधावी कीजिये। वह मेधा मुझको वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु और परमात्मा देवे। अर्थात् इन सब पदार्थों का ज्ञान मुझे शीघ्र हो। इसलिए—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्
(अथर्व ६।४१।१)

अर्थात् मन, अन्तःकरण, बुद्धि, विचारशक्ति, ज्ञानशक्ति, मति, श्रवणशक्ति और दृष्टिशक्ति की उन्नति के लिए हम सब यज्ञकर्म करें। ज्ञानेच्छा के आगे वेद में न्याय की इच्छा इस प्रकार बतलाई गई है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते॥
(यजु० ३।५०)

अर्थात् मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू उत्तम गुण मुझमें धारण कर और मैं तुझमें धारण करूँ। यह मैं लेता हूँ

और यह तू ले, अर्थात् परस्पर न्याययुक्त व्यवहार हो। कैसा सुन्दर न्याय का आदर्श है ! इसके आगे परमपद की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१।१८)
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥
(ऋ० ९।११३।११)

अर्थात् मैं उस अन्धकार से परे महान् प्रकाशमय सूर्यतुल्य परमात्मा को जानता हूँ। उसी के जान लेने से अमृतत्व प्राप्त होता है, इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसलिए जहाँ आनन्द ही आनन्द है और जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस मोक्षधाम में मुझे अमर कीजिए। इन मन्त्रों में दीर्घातिदीर्घ जीवन अर्थात् अमृतत्व की महान् इच्छा वर्तमान है। संसार में बहुत दिन जीने की जो इच्छा पाई जाती है, वह इसी अनन्त जीवन की अभिलाषा है। इस प्रकार से मनुष्य की ये सातों स्वाभाविक इच्छाओं को दर्शानेवाले मन्त्र वेद में मौजूद हैं। परन्तु ये इच्छाएँ विना गृहस्थाश्रम के पूर्ण नहीं हो सकतीं।

गृहस्थाश्रम।

उपर्युक्त इच्छाएँ विना गृहस्थाश्रम के पूरी नहीं हो सकतीं, इसलिए वेदों में गृहस्थाश्रम का पर्याप्त वर्णन है। यहाँ हम नमूने के तौर पर गृहस्थाश्रम की खास खास बातें लिखते हैं। सबसे पहिले देखते हैं कि वेदमन्त्रों के अनुसार गृहस्थ की हालत कैसी होनी चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

इहैवस्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।
(ऋ० १०।८५।४२)

अर्थात् किसी से विरोध न करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द करते हुए अपने ही घर में रहो और घर को आदर्शरूप बनाओ। इसके आगे यह दिखलाते हैं कि गृहस्वामी दंपति का परस्पर कैसा आदर्श होना चाहिये। ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥
(ऋ० १०।८५।४७)

अर्थात् संसार की समस्त शक्तियाँ और विद्वान् हम दोनों—पतिपत्नी—को अच्छी प्रकार जानें, हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त हों और हम दोनों की प्राणशक्ति, धारणाशक्ति और उपदेशशक्ति परस्पर कल्याणकारी हो। यह वैदिक दम्पति का आदर्श है। अब देखना चाहिये कि इस वैदिक दम्पति का घर कैसा है। वेदमन्त्रों के आदेशानुसार सर्वसाधारण के घर बहुत ही सादे होना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥
(अथर्व० ९।३।१६)
तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी। मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती। (अथर्व० ९।३।१७)
या द्विपक्षा चतुष्पक्षा या निमीयते। अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये।
(अथर्व० ९।३।२१)

अर्थात् उपजाऊ और पानीवाली भूमि पर छोटी सी निर्वाहयोग्य जिसमें समस्त आवश्यक अन्न भरे हैं, ऐसी हे शाला! तू अपने ग्रहणकर्ता (निवासी) को मत मारना। तृण से छाई हुई और तोरण बन्दनवारों से सजी हुई हे शाला! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देने वाली है और लकड़ी के खम्भों पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी सी ज़मीन पर स्थित है। जो शाला दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छे छप्परवाली और जो आठ तथा दश छप्परवाली बनाई जाती है, उस इज्ज़त बचानेवाली शाला में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ। यह है वैदिक घरों की सादगी। अब देखना चाहिए कि इन घरों में खाद्य और पेय पदार्थों के तैयार करनेवाली गृहस्थी का कैसा वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥१॥
यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता। उलू० ॥२॥
यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते। उलू० ॥३॥
यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव। उलू०॥४॥
यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥५॥
(ऋ० १।२८)

अर्थात् जहाँ बड़ा स्थूल पत्थर (चक्की) नीचे ऊपर चलता है, जहाँ दो जंघाओं के बीच में सिलबट्टा चलता है, जहाँ स्त्रियाँ पदार्थों का धरना, उठाना और राँधना पकाना जानती हैं, जहाँ मथानी को रस्सी से बाँधकर दही मथा जाता है और जहाँ घर घर में उलूखल मूसल चलता है, वे घर ऐसे प्रकाशित होते हैं, जैसे जय के समय दुंदुभी प्रकाशित होती है। इन वैदिक घरों में चक्की, सिलबट्टा, उखली मूसल और मथानी के शब्द दुंदुभी के समान अन्न चाहनेवालों को घोषित कर रहे हैं और गृहदेवियाँ पदार्थों के धरने उठाने और रांधने, पकाने में लगी हुई हैं। इन घरों में जिस प्रकार अन्नदान की धूम मची हुई है, उसी तरह घी-दूध की भी धारा बह रही है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः। (अथर्व० ४।३४।७)

अर्थात् चार चार घड़े दूध और चार चार घड़े पानी चारों ओर देता हूँ। ये सब अपको स्वर्ग में-सुखस्थान में-पोषण पहुँचावें।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामममृतेन संभृताम्। इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ (अथर्व० ३।१२।८)

अर्थात् हे स्त्री! तू दूध और घी को घड़ों में भरकर उनकी धारा से इन पीनेवालों को तृप्त कर और वापी कूप तड़ाग तथा दान आदि सब प्रकारों से इनकी रक्षा कर।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ (यजुर्वेद २।३४)

अर्थात् बलकारक जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा टपके हुए मीठे फलों की धारा बह रही है, अतः हे स्वधा में ठहरे हुए पितरो! आप तृप्त हों। इन मन्त्रों के अनुसार वैदिक घरों में देव, ऋषि और पितरों की तृप्ति के लिए घी, दूध और फलों का विशाल आयोजन दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं प्रत्युत वैदिक गृहस्थ अपने इष्टमित्रों, अतिथियों और क्षुधापीड़ित मनुष्यों को किस प्रकार अन्न, जल और सेवा से तृप्त करने के लिए बुला रहे हैं, वह भी देखनेयोग्य है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण। गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥१॥ इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः। पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२॥ येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः। गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥३॥ उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः। अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥४॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५॥ सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः। अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६॥ इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत। ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥७॥ (अथर्व० ७।६०।१–७)

अर्थात् हे वीर्य, धन, सम्पत्ति, मेधा, सुहृद्भाव और अच्छे मनवालो! आप लोग इन घरों में प्रेमपूर्वक आइये, डरिये मत। घरों में आनेवालों के लिए ये घर आरोग्यवर्धक, बलशाली, दुग्धवाले, लक्ष्मीवान् और श्रीमान् हैं। ये घर अमित धनवाले, मित्रोंके साथ आमोद-प्रमोद करनेवाले और क्षुधातृषा के हरनेवाले हैं, इसलिए आइये डरिये, मत। गौवें, बकरी और नाना प्रकार के रसीले अन्न हमारे घरों में भरे पड़े हैं। ये घर सत्यवालों, भाग्यवानों, धनियों, हसमुखों और भूखप्यास से रहितों के हैं, इसलिए डरिये मत। थके हुए पथिक जो इन

घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें वे घर अपनी ओर बुलाते हैं, इसलिए कहीं मत जाइये, यहीं रहिये। वे घर अनेक प्रकार से पोषण करते हैं, इसीलिए हम भी यहाँ आ गये हैं, ठहरे हैं और सब प्रकार से सुखी हैं। इस उपदेश में गृहस्थाश्रम का कैसा भव्य वर्णन है और कैसे उदार गृहस्थों का चित्र खींचा गया है! इसका कारण यही है कि वेदों में अतिथिसत्कार न करनेवाले और क्षुधातुरों को अन्न न देनेवाले गृहस्थों की निन्दा की गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विंदते ॥२॥ स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥३॥

(ऋ० १०।११७)

अर्थात् जो अन्नवान् होता हुआ, अन्न चाहनेवालों और ग़रीबी से पास आये हुए दुखियों के लिए मन कठोर कर लेता है और आप मज़े में खाता है उसे सुख देनेवाला मित्र नहीं मिल सकता। जो अन्न चाहनेवाले दुबल याचक को अन्न देता है वही सच्चा भोजन करता है। ऐसे दाता के पास दान करने के लिए पर्याप्त अन्न आता है और कठिन समय में सहायक मित्र उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से इन वेदमन्त्रों ने आदर्श गृहस्थ का चित्र खींचते हुए बतलाया कि मकान तो सदैव साधारण ही हो, पर वह साधारण मकान अन्न आदि आवश्यक पदार्थों से भरा हो और मकान पर आनेवालों का उत्तम सत्कार किया जाय।

पर स्मरण रहे कि इस दानशीलता के कारण ऋण न होने पावे। ऋण मनुष्य को बहुत ही नीच बना देता है, इसलिए उतना ही खर्च चाहिये जितनी अपनी निज की आमदनी हो। अथर्ववेद में लिखा है कि—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥

(अथर्व० ६।११७।३)

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात् ॥

(अथर्व० १९।३१।५)

अर्थात् इस लोक, परलोक और तीसरे लोक में हम सब अऋण होवें और देवयान तथा पितृयान के जो मार्ग और स्थान हैं, उन सबमें हम अऋण होकर निवास करें। मैं चतुष्पाद पशुओं से, द्विपाद मनुष्यों से और धान्यों से प्राप्त पदार्थ स्वीकार करता हूँ और बृहस्पति तथा सविता देव परमात्मा ने जो मुझको पशुओं का दूध और औषधियों का रस दिया है, उसी से पोषण करता हूँ। इन मन्त्रों का यही तात्पर्य है कि जो कुछ अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हो, उसी के अनुसार खर्च किया जाय, ऋण लेकर नहीं। इस प्रकार से गृहस्थ की दशा का वर्णन करके अब गृहस्थ के नित्य करने योग्य पञ्चमहायज्ञों का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे ॥

(यजुर्वेद० ३।४५)

अर्थात् ग्राम में, जंगल में और सभा में हमने इंद्रियों से जो पाप किया है, उसे इस यज्ञ में होम करके दूर फेंकते हैं। इस मन्त्र का मतलब यही है कि गृहस्थ से जो पाँच स्थानों में पाप होता है अथवा वृक्षों और हिंस्र पशुओं की हत्या से जो पाप होता है अथवा ग्राम में, जंगल में और सभाओं में जो मन, वाणी और कर्म से बिना किसी इरादे के पाप हो जाता है, वह पञ्चमहायज्ञों और इष्टापूर्तादि लोकोपकारी कार्यों के करने से दूर हो जाता है, अर्थात् एक प्रकार से नित्य प्रायश्चित्त हो जाता है। इन पञ्चमहायज्ञों में सबसे पहिले वेदों का स्वाध्याय और प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप है। यही ब्रह्मयज्ञ है। वेद में इस ब्रह्मयज्ञ के करने की ताकीद की गई है। वेद के स्वाध्याय के लिए यजुर्वेद में लिखा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यांँ शूद्राय चार्याय च स्वाय

चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु।
(यजुर्वेद २६।२)

अर्थात् जैसे इस कल्याणकारिणी वाणी को मनुष्यों के लिए मैं बोलता हूँ, वैसे ही ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, स्त्रियों और अनार्यों के लिए आप भी बोलिये और समझिए कि इस प्रकार के विद्यादान से मैं देवताओं में प्रिय हाऊँ, मुझे परोक्ष सुख मिले और सब कामनाएँ पूर्ण हों। यह वेद के स्वाध्याय की महिमा है। पर वेद-स्वाध्याय का मतलब केवल वेदों का रटना ही नहीं है, प्रत्युत उनके अर्थों का जानना है। इसीलिए अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते॥
(अथर्व० ९।१०।१८)

अर्थात् ऋचाएँ परमव्यापक अक्षर में ठहरी हुई हैं, जिसमें वेद के देवता-अर्थ-ठहरे हुए हैं, अतः जो अक्षर और उनके अर्थों को नहीं जानता, वह केवल ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है? ठीक है, जो अक्षर और अर्थों को जानता है, वही अच्छी तरह वेद के तात्पर्य को पहुँचता है, इसलिए वेदों को अर्थसहित ही पढ़ना चाहिये। वेद-विचार के बाद प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप करना चाहिये। अथर्ववेद में गायत्री की महिमा इस प्रकार लिखी है कि –

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। (अथर्ववेद १९।७१।१)

अर्थात् द्विजों को प्रेरणा करनेवाली पवित्र वेदमाता गायत्री की मैं स्तुति करता हूँ। वह मुझे आयु, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मवर्चस अर्थात् वेदज्ञान को देकर ब्रह्मलोक को पहुँचावे। यही ब्रह्मयज्ञ है। इसके बाद देवयज्ञ का अनुष्ठान है। देवयज्ञ का तात्पर्य दोनों समय हवन करना है। अथर्ववेद में लिखा है कि–

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधी-न्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम॥
(अथर्व० १९।५५।३-४)

अर्थात् शाम का नित्य हवन प्रातःकाल के समय गृहस्थ के मन को प्रसन्न करनेवाला होता है और प्रातःकाल का नित्य हवन सायंकाल के समय मन को प्रसन्न करनेवाला होता है, इसलिए गृहस्थ को नित्य दोनों सन्ध्याओं में हवन करना चाहिये। यही देवयज्ञ है। इस देवयज्ञ के पश्चात् पितृयज्ञ का विधान है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषाँल्लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
(यजु० १९।४५)

अर्थात् यम के राज्य में जो पितर एक समान हैं और समान विचारवाले हैं, उन पितरों को देवतों के बीच में लोक, स्वधा, नमस्कार और यज्ञ प्राप्त हों॥। इस पितृयज्ञ के बाद बलिवैश्वदेव का विधान है। उसके लिए यजुर्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि—

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥
(यजु० १८।६४)

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥ (अथर्व० १९।५५।६)

॥ ये पितर सौम्य हैं, इसलिए इनका सत्कार प्रायः जल से ही होता है। उधर वृक्ष भी सौम्य कहलाते हैं, यही कारण है कि पितृजल वृक्षों में ही डाला जाता है। पञ्च महायज्ञों में जहाँ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और कीटपतङ्गों तक को भोज्य भाग दिया जाता है, वहाँ सौम्य पितरों का हक़ सौम्य वृक्षों को ही दिया जाता है। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव' लिखकर पतंजलि ने महाभाष्य में इसी प्रकार का इशारह किया है।

अर्थात् जो अभी दिया है और जो इसके पहिले दिया है तथा जो आगे दिया है और जो पीछे दिया है, वह सब बलिवैश्वकर्म की अग्नि को प्राप्त हो। जिस प्रकार नित्य घोड़ा घास पाता है, उसी प्रकार प्रतिदिन प्राणियों को उनका भाग अर्थात् बलि देना चाहिये। इसके बाद अतिथियज्ञ है। अतिथियज्ञ के विषय में लिखा है कि—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥२॥
(अथर्व० १५।१०)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥१॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥ (अथर्ववेद १५।११)

अर्थात् जब विद्वान् और व्रतधारी अतिथि राजा के घर आवे, तो राजा को उचित है कि वह अतिथि को अपने से भी अधिक श्रेष्ठ माने। इससे राजा न तो क्षत्रियकुल में ही दोषी होता है और न राष्ट्र की ही ओर से दोषी होता है। जिसके घर में व्रतशील और विद्वान् अतिथि आ जाय, तो उसे चाहिये कि वह उठकर अतिथि से कहे कि हे व्रात्य! आप कहाँ से आ रहे हैं? आइये, लीजिये यह जल है, आप तृप्त हों और जो आपकी इच्छा हो, वह भी हाज़िर किया जाय तथा जो आज्ञा हो, वही किया जाय। यह वैदिक आतिथ्य का नमूना है। इस प्रकार से पञ्चमहायज्ञों के द्वारा गृहस्थ सबको अन्नजल पहुँचाता है और इसी प्रकार का गृहस्थ पहिले कही हुई आयु, बल, कीर्ति, विद्या, प्रजा, धन और मोक्ष आदि इच्छाओं को प्राप्त कर सकता है। परन्तु ये बातें गृहस्थ को तभी प्राप्त हो सकती हैं, जब उसका सामाजिक व्यवहार भी उत्तम हो।

सामाजिक व्यवहार।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। परन्तु उसका सम्बन्ध केवल अपने आप ही से नहीं है, प्रत्युत उसका संबंध दंपति, कुटुंब, जाति, समाज और समस्त संसार के मनुष्यों तथा समस्त संसार के प्राणिमात्र से है, इसलिए उसे सबके साथ प्रेम, दया और सहानुभूति से बर्तना चाहिए। वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में यही उदात्त उपदेश दिया गया है। यहाँ हम पहिले दंपतिप्रेम का नमूना दिखलाते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि—

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नि त्ययाशिरा॥ (ऋग्वेद ८।३१।५)
स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ (अथर्व० १४।२।४३)

अर्थात् जो दम्पति एक मन होकर यज्ञ अर्थात् उत्तम कामों के लिए साथ साथ दौड़ते हैं और नित्य परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं, वे देवता हैं। हे दंपति! तुम दोनों इस सुखदायक घर में अच्छे प्रकार जागते हुए, हँसी खुशी के साथ, बड़े प्रेम से आनन्द मनाते हुए, सुन्दर सुपुत्रों और सुन्दर गृहस्थीवाले होकर प्रकाशयुक्त बहुत से प्रातःकालों को देखो, अर्थात् बहुत दिन तक जीओ। इन वेदमन्त्रों में दंपतिप्रेम का उत्कृष्ट नमूना यह बतलाया गया है कि दोनों एक मन होकर आनन्दपूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहें और परस्पर प्रेम और विनोद के साथ व्यवहार करें। इस दंपति कर्तव्य वर्णन के आगे कौटुंबिक व्यवहार का उपदेश इस प्रकार है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥
(अथर्व० ३।३०)

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो, तथा स्त्री पति से मधुर और शांत वाणी से बातचीत करे। भाई से भाई द्वेष न करे और न बहन से बहन ही ईर्षा करे। सब लोग अपने अपने व्रत अर्थात् मर्यादा में रहकर सदैव आपस में भद्रभाषा से ही बातचीत करें।

कैसा सुन्दर कौटुंबिक व्यवहार है! इन समस्त कुटुंबियों में माता का स्थान बहुत ऊँचा है, इसलिए वेद में माता की बड़ाई इस प्रकार की गई है कि—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे। अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ॥ (ऋ० ५।२।१)

अर्थात् युवती माता पुत्र को अपने ही गर्भ में धारण करती है, अपने तुल्य पिता को नहीं देती और न उसके बल को क्षीण होने देती है, इसीलिए विद्वान् पुरुष माता को प्रथम स्थान देते हैं। इस मन्त्र में माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है कि वह बराबरी का दावा करनेवाले अपने पति का बल नष्ट न करके गर्भ को अपने ही पेट में धारण करती है और पति को उस कष्ट से बचा लेती है। इस मातृभक्ति के आगे घर के बड़ों बूढ़ों की सेवा से पवित्रता मानने का उपदेश इस प्रकार है—

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः
पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा।
पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥३७॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥३९॥
(यजुर्वेद १९)

अर्थात् सौम्य पिता मुझे पवित्र करें, सौम्य पितामह मुझे पवित्र करें और सौम्य प्रपिता-मह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष जीनेवाला होऊँ। पितामह और प्रपितामह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष की आयु प्राप्त करूँ। मुझे समस्त देवजन पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करे, समस्त पञ्चभूत मुझे पवित्र करें और अग्नि मुझे पवित्र करे। इन मन्त्रों में वृद्धों की सेवा से पवित्रता और दीर्घायु की प्राप्ति बतलाई गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक शिक्षा में बड़े बूढ़ों के मान और सेवा के लिए कितना ज़ोर दिया गया है। इस कौटुम्बिक व्यवहार के आगे हम दिखलाना चाहते हैं कि वेदों में अपने कुटुम्ब से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जातिबन्धुओं के लिए किस प्रकार सुख की कामना करने का उपदेश है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः। ससंतु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ (ऋ० ७।५५।५)

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये।
(अथर्व० ९।५।३०)

अर्थात् माता, पिता, जातिवाले, नौकर, चाकर और कुत्ते आदि पशु सब सुख से सोवें। आत्मीय जन, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, स्त्री, पितामही, माता और जो स्नेही हैं, उनको मैं आदर से बुलाता हूँ। इन कुटुम्बियों और जाति से सम्बन्ध रखनेवालों के साथ व्यवहार का वर्णन करके आगे मित्रों के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः। किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ (ऋ० १०।७१।१०)
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ (ऋ० १०।११७।४)

अर्थात् मित्र के सहवास और यश से सब आनन्दित होते हैं। मित्र धन देकर समाज के पापों को दूर करता है और सबका हितकारी होता है। वह सखा अर्थात् मित्र नहीं है, जो धनवान् होकर अपने मित्र की सहायता नहीं करता। उसका घर सच्चा घर नहीं है। उसके पास से तो सदैव दूर ही भागना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों में मैत्री का भाव और कर्तव्य अच्छी तरह बतला दिया गया है और दिखला दिया गया है कि मित्र को भी कुटुम्ब और जाति की भाँति ही सहायता देना चाहिये। इसके आगे अब समस्त आर्यजाति के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥
(अथर्व० १९।६२।१)
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
(यजु० १८।४८)

अर्थात् मुझको ब्राह्मणों में प्रिय कीजिये, क्षत्रियों में प्रिय कीजिये, वैश्यों में प्रिय कीजिये और शूद्रों में प्रिय

कीजिये । हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो, वैश्यों और शूद्रों में रुचि हो तथा इस रुचि में भी रुचि हो । इन मन्त्रों में आर्यजाति के चारों वर्णों के साथ रुचि रखने और उनके बीच में प्रिय होने का उपदेश है । इसके आगे समस्त मनुष्यजाति के साथ व्यवहार करने का आदेश इस प्रकार है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ (अथर्व० ३।३०।६)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
(अथर्व० ३।३०।१)

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समाः ॥
(यजुर्वेद १९।४६)

अर्थात् तुम सब मनुष्यों के जलस्थान एक समान हों और तुम सब अन्न को एक समान ही बाँट चूँट कर लो । मैं तुमको एक ही कौटुम्बिक बन्धन से बाँधता हूँ, इसलिए तुम सब मिलकर कर्म करो, जैसे रथचक्र के सब ओर एक ही नाभि में लगे हुए आरे कर्म करते हैं । मैं तुम्हारे हृदयों को एक समान करता हूँ और तुम्हारे मनों को विद्वेषरहित करता हूँ । तुम एक दूसरे को उसी तरह प्रीति से चाहो, जैसे गौ अपने सद्यःजात बछड़े को चाहती है । जो जीव, मन, वाणी से इस प्रकार की समानता के पक्षपाती हैं, उन्हीं के लिए मैंने इस लोक में सौ वर्ष तक समस्त ऐश्वर्यों को दिया है । इन मन्त्रों में मनुष्यमात्र के साथ समता का व्यवहार करने का उपदेश किया गया है । इस उपदेश में अच्छी तरह बतला दिया गया है कि समस्त मनुष्यों की सम्पत्ति, विचार और रहनसहन एक समान होना चाहिये, तभी सौ वर्ष तक लोग सुख से जी सकते हैं । समस्त मनुष्यों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने की आज्ञा के बाद वेदों में अच्छी तरह कह दिया गया है कि मनुष्यों के ही साथ नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्र के साथ प्रेम, दया और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए । वेद उपदेश करते हैं कि—

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति । ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वाँश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ (अथर्व० ९।१।२२)
दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।
(यजुर्वेद ३६।१८)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, धेनु, बैल, धान, यव और मिठाई, ये सात मिठाइयाँ हैं । जो मनुष्य ज्ञान के इन सात मधुओं (मिठाइयों) को जानता है, वह मधुमान् अर्थात् मधुर हो जाता है । हे दृष्टिस्वरूप परमात्मन् ! मेरी दृष्टि को दृढ कीजिए, जिससे सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें । इसी तरह मैं भी सब प्राणियों को मित्रदृष्टि से देखूँ और हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्रदृष्टि से देखें । यहाँ तक हमने सामाजिक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रों का संग्रह किया । इस संग्रह में अपने कुटुम्ब से लेकर समस्त संसार के मनुष्यों और समस्त प्राणियों तक के साथ प्रेम, दया, समता, सहानुभूति और मित्रता के भावों के दर्शानेवाले वेदोपदेश ग्रथित हैं । हम नहीं समझते कि समाज से सम्बन्ध रखनेवाले इससे अधिक उदात्त और व्यापक व्यवहार और कहीं संसार में होंगे । परन्तु ये सामाजिक व्यवहार जब तक सदाचार की सुदृढ भूमिका पर स्थिर न हों, तब तक स्थायी नहीं हो सकते ।

सदाचार ।

विना सदाचार के सामाजिक व्यवहार उत्तमता से निभ ही नहीं सकते । सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुख से रह सकता है । सत्यता, शुद्धता, चरित्रशीलता और व्रत आदि के विना मनुष्य की समाज में गुज़र ही नहीं है । इसीलिए सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाले अनेकों उपदेश वेदों में दिये गये हैं । यहाँ हम नमूने के तौर पर थोड़े से मन्त्र उद्धृत करते हैं । ऋग्वेद में लिखा है कि—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् । आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ (ऋ० १०।५।६)

अर्थात् हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुवा, असत्य भाषण और इन पापोंके करनेवाले दुष्टोंके सहयोग का नाम सप्त मर्यादा है। इनमें से जो एक भी मर्यादा का उल्लंघन करता है, अर्थात् एक भी पाप को करता है, वह पापी होता है और जो धैर्य से इन हिंसादि पापों को छोड़ देता है, वह निस्सन्देह जीवन का स्तम्भ (आदर्श) होता है और मोक्षभागी होता है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र। (ऋग्वेद ७।१०४।२२)

अर्थात् गरुड़ के समान मद (घमंड), गीध के समान लोभ, कोक (चिड़ा) के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उल्लूक के समान मोह (मूर्खता) और भेड़िया के समान क्रोध को मार भगाइये। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छे विकारों को अपने अंतःकरण से हटा दीजिये। इन हिंसा आदि बाह्य और कामादि अन्तर्दुर्वासनाओं के त्याग से ही मनुष्य उत्तम सामाजिक हो सकता है। इन सबमें सत्य की महिमा महान् है। वेद उपदेश करते हैं कि—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाची। (ऋ०१०।७१।२)

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धा मनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ (यजु० १९।७७)

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम। आपो मा तस्मात्सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः॥ (अथर्व० १०।५।२२)

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ (ऋग्वेद ७।१०४।१२)

अर्थात् जिस प्रकार छानने से सत्तू छाने जाते हैं, उसी तरह जहाँ विद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से शुद्ध करके बोलते हैं, वहीं पर लक्ष्मी और मित्रता ठहरती है। हे परमेश्वर! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपनी शक्ति भर सत्य का पालन करूँगा, अतः इस असत्य से निकल कर सत्य में आता हूँ। प्रजापति ने सत्य और असत्य को समझ बूझकर अलग किया है और असत्य में अश्रद्धा तथा सत्य में श्रद्धा उत्पन्न की है। तीन वर्षों के इस पार जो हम झूठ बोले हों तो हे परमात्मन्! उन सब दुष्फल पापों से हमारी रक्षा कीजिये। मनुष्य की सुविधा के लिये सत्य और असत्य के विज्ञान को एक दूसरे के विरुद्ध कहा गया है। इन दोनों में जो सत्य है, वह सरल और सीधे स्वभाव से कहा जाता है, तथा उससे कोमलता आती है। पर जो असत्य है, वह तो हर प्रकार से सत्यानाश ही कर देता है। इन सत्य के प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों ने सत्य भाषण की समस्त खूबियों का सुन्दर वर्णन कर दिया है। अब आगे मधुर भाषण की खूबियों का वर्णन करते हैं।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥२॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥३॥
(अथर्व० १।३४)

अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता! मेरे कर्म में तेरा वास हो और मन के अन्दर भी तू पहुँच जा। मेरा आनाजाना मधुर हो, मैं जो भाषा बोलूँ वह मधुर हो और मैं स्वयं मधुर मूर्ति बन जाऊँ। यहाँ तक सत्य और मधुर वाणी बोलने की शिक्षा देकर अब वेद उपदेश करते हैं कि अपनी किसी भी इन्द्री से अभद्र, असभ्य और अमङ्गल व्यवहार न होने दो, किंतु सब व्यवहार भद्र ही भद्र हों। यजुर्वेद उपदेश करता है कि—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ (यजु०२५।२१)

अर्थात् हे यज्ञ करनेवाले परमेश्वर के भक्त विद्वानो ! हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानों से सुनें, कल्याणकारी दृश्य ही आँखों से देखें और अपने दृढ अंगों के द्वारा शरीर से यावज्जीवन वही कर्म करें, जिससे विद्वानों का हित हो। इसके आगे मनसा, वाचा, कर्मणा बुराई से बचने का उपदेश किया गया है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्। येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥४॥ इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता। ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥३॥ इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ (अथर्व० १९।९।३-५)

अर्थात् यह जो ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ मन है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। यह जो ब्राह्मण के द्वारा संस्कृत हुई परमेष्ठिनी वाणी है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। ये जो पाँचों ज्ञान अथवा कर्मेंद्रियाँ हैं और जिनसे छठे मन के साथ भयंकर पाप हो पड़ते हैं, वे हमें शान्ति दें। इस प्रकार से इन मन्त्रों ने मनसा, वाचा और कर्मणा पापों से बचने और शान्ति से रहने का उत्तम उपदेश दिया है। इन सब मन, वाणी और कर्मों में मन ही प्रधान है। उसी से सब पापों की उत्पत्ति होती है, इसलिए मन को निष्पाप करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ (अथर्व० ६।४५।१)

अर्थात् हे मेरे मन के पापो ! तुम मुझसे दूर हो जाव। मुझसे बुरी बातें क्यों करते हो ? मैं तुमको नहीं चाहता, इसलिये मेरे पास से दूर हो जाव और जहाँ वनवृक्ष हैं, वहाँ चले जाव। क्योंकि मै अपने शरीर, इन्द्रिय और मनमें चित्त लगा रहा हूँ। इसी तरह मनसे सम्बन्ध रखनेवाले ईर्षाद्वेष से बचने का भी उपदेश दिया गया है। अथर्ववेद में है कि—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ (अथर्व० ६।१८।२)

अर्थात् जैसे पृथिवी मुर्दे से भी अधिक मननशक्तिशून्य है और जैसे मरे हुए का मन भी शून्य हो जाता है, उसी प्रकार ईर्षा करनेवाले का मन भी मुर्दा हो जाता हैं। इस उपदेश का यही मतलब है कि ईर्षाद्वेष करने से मन की विशालता नष्ट हो जाती है, वह अत्यन्त संकुचित हो जाता है, मर जाता है और निन्दा भी होती है। निन्दा से बचने के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

अयुतोहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे। प्राणोयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ (अथर्व० १९।५१।१)

अर्थात् मैं अनिन्दित होऊँ, मेरा आत्मा अनिन्दित होवे और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान अनिन्दित होवें। इस के आगे वेदमन्त्रोंमें व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों के त्याग करने की शिक्षा इस प्रकार दी गई है।

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः। अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः ॥ (ऋ० १।१२५।७)

अर्थात् दुष्ट कर्म मत करो और न प्रतिष्ठित तथा धर्मात्माओं में व्यभिचार ही करो, क्योंकि व्यभिचार करनेवालों के लिए दूसरा ही क़ानून है, जिससे वे शोक को प्राप्त होते हैं। इसके आगे हिंसा का निषेध इस प्रकार है।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः। यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥ (अथर्व० १०।१।२९)

ये श्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते। ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥ (अथर्व० १२।२।५१)

अर्थात् हे हिंसा! निर्दोषों की हत्या निश्चय ही महाभयानक है, अतः तू हमारी गौ, घोड़े और पुरुषों को मत मार। जहाँ जहाँ तू गुप्तरूप से छिपी है वहाँ वहाँ से हम तुझे निकालते हैं, अतः तू पत्ते से भी अधिक हलकी हो जा। अश्रद्धावाले जो धन की कामना से मांस खानेवालों का साथ करते हैं, वे सदैव दूसरों की ही हंडी का खाते हैं

इन मन्त्रों में पशुवध और मांसभक्षण का निषेध किया गया है। इसके आगे मद्य का निषेध इस प्रकार है--

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ (ऋ० ८।२।१२)

अर्थात् शराब को दिल खोल कर पीनेवाले दुष्ट लोग आपस में लड़ते हैं और नंगे होकर व्यर्थ बड़बड़ाते हैं, इसलिए शराब का पीना बुरा है। जिस तरह शराब का पीना बुरा है, उसी तरह जुवा खेलना भी बुरा है। वेद उपदेश करते हैं कि—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्। ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति। (ऋ० १०.३४।१०)

अर्थात् जुवारी की स्त्री सदा कष्टमय अवस्था के कारण दुखी रहती है, गली गली मारे मारे फिरनेवाले जुवारी की माता रोती रहती है, क़र्ज़े से लदा हुआ जुवारी खुद सदा डरता रहता है और धन की इच्छा से वह रात के समय दूसरों के घरों में चोरी करने के लिए पहुँचता है, इसलिए जुवा खेलना निहायत ख़राब है। इसी तरह चोरी को भी बुरा बतलाया गया है। अथर्ववेद में है कि--

येऽमावस्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्।
(अथर्व० १।१६।१)

अर्थात् जो मुफ्तखोरे, भूखे और भटकनेवाले अँधेरी रात में बस्ती के भीतर चोरी करने और डाका डालने के लिए आते हैं, उनसे बचने के लिए राजपुरुष सबको सचेत करता है और उन्हें पकड़कर मार डालता है। इसलिए कभी किसी की चोरी नहीं करना चाहिये।

यहाँ तक स्थूल सदाचार का वर्णन करके अब सभ्यता-सम्बन्धी सदाचार का वर्णन करते हैं। सभ्यता में सबसे पहिली बात स्वच्छता और पवित्रता की है। इसलिए वेद उपदेश करते हैं कि--

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः।
(यजुर्वेद २०।२०)

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा।
(यजुर्वेद १९।३९)

अर्थात् जैसे वृक्ष से सूखे पत्ते गिर जाते हैं, जैसे पसीना निकला हुआ आदमी स्नान से मल को धो डालता है और जैसे घी से पवित्रता होती है, उसी तरह हे जल! मेरे शरीर, वस्त्र और घर के मलों को शुद्ध कर दीजिये। मुझे विद्वान् पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करें, समस्त संसार के प्राणी मुझे पवित्र करें और यह अग्नि मुझे पवित्र करे। इस स्वच्छता और पवित्रता के उपदेश के आगे सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाली दिनचर्या का उपदेश इस प्रकार है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥
(ऋ० १०।१५१।५)

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति। यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥ (ऋ० १।१२५।२)

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या नि धत्ते। तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः॥ (ऋ० १।१२५।१)

अर्थात् मैं प्रातःकाल श्रद्धा की पूजा करता हूँ, मैं मध्यदिन में श्रद्धा की पूजा करता हूँ और मैं सूर्य छिप जाने पर श्रद्धा की पूजा करता हूँ, इसलिए हे श्रद्धा! तू श्रद्धा के लिए आ। जो प्रातःकाल उठता है, उसे सुन्दर गौएँ, सोना, घोड़े और लम्बी आयु प्राप्त होती है और उसे सूर्यदेवता वसु के द्वारा इस तरह बाँध देता है, जैसे कोई रस्सी से बँधा हो। अर्थात् प्रातःकाल उठने का अभ्यास करने से सूर्य आप ही आप उठा देता है। प्रातःकाल उठनेवालों को अनेक प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होती है, इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य उस समय को पकड़ कर रखते हैं, क्योंकि प्रातःकाल के जागरण से प्रजा, आयु, धन, पुष्टि बढ़ती है और बहादुरी आती है। इस प्रकार दिनचर्या का वर्णन करके अब सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाली उदारता अर्थात् दान का वर्णन करते हैं—

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः। ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः। (ऋ० ५।४२।८)
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यंति दिवमुत्तमाम्॥
(अथर्व० ९।५।२९)

अर्थात् हे बृहस्पते! जो आपकी रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, वे दुःखों से रहित, धनवान् और पुत्रपौत्रवाले होते हैं और जो गायों, घोड़ों और वस्त्रों का दान करनेवाले होते हैं, वे सौभाग्यवाले होते हैं और उनके घरों में अनेक प्रकार के धन सदा प्रस्तुत रहते हैं। जो जननेवाली गौ, बोझा ढोनेवाला बैल, शिर के नीचे रखनेवाली तकिया, वस्त्र और सुवर्ण का दान करते हैं, वे उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। इस उदारता और दानसम्बन्धी उपदेश के आगे अब सदाचार के मूल सत्सङ्ग का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में आया है कि—

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति। तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥
(ऋ० १।१२५।५)

अर्थात् जो सदा विद्वानों के साथ रहता है, वह सुखकारी स्वर्ग में निवास करता है, जहां अपतत्त्व (ईश्वर) स्थान देता है और सूर्यकिरणें दक्षिणा देती हैं। इस मंत्र में विद्वानों के सत्संग का फल बतलाया गया है। इसके आगे विद्वानों को दक्षिणा देकर उनकी सेवा करने का फल भी बतलाते हैं। ऋग्वेद में है कि—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ (ऋ० १।१२५।६)
दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति। तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय। (ऋ० १०।१०७।५)
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्। दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्।
(ऋ० १०।१०७।७)

अर्थात् दक्षिणावान् पुरुषों को नाना प्रकार के सुख, सूर्य के समान ऐश्वर्य और अमृत के समान फल तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। जो सबसे प्रथम श्रेणी का दक्षिणावान् होता है, वह सबसे पहिले बुलाया जाता है, वही ग्राम का अगेवान होता है और वही राजा के यहाँ सम्मान पाता है। जो विद्वानों को दक्षिणा में अश्व, गौ, सोना, चाँदी और अन्न देता है, उसके लिए यह दक्षिणा कवच का काम देती है- उसकी रक्षा करती है। परन्तु यह सदाचारसम्बन्धी समस्त व्यवहार तभी सम्पन्न हो सकता है, जब मनुष्य व्रतवाला हो, जिसका सङ्कल्प दृढ हो और जो सदैव अपने सिद्धांत पर कायम रहे। इस व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
(यजु० १९।३०)

अर्थात् मनुष्य व्रत से दीक्षावान् होता है, दीक्षा से दक्षिणावान् होता है, दक्षिणा से श्रद्धावान् होता है और श्रद्धा से सत्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार से यह व्रत ही सदाचार का मूल है। जो व्रतधारी हैं, दृढ प्रतिज्ञावाले हैं, वही सदाचार में सफलता प्राप्त करते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह दृढता और इस प्रकार का व्रत विना अभ्यास के नहीं हो सकता और न अभ्यास विना संस्कारों के हो सकता है।

इसलिए आगे देखते हैं कि संस्कारों के सम्बन्ध में वेद क्या उपदेश देते हैं।

विवाह और गर्भाधानादि संस्कार।

जिस प्रकार के सदाचार का वर्णन किया गया है, उस प्रकार के सदाचारी मनुष्य समाज में तब तक उत्पन्न नहीं हो सकते, जब तक वे उत्तम संस्कारों के द्वारा जन्मसे ही संस्कृत न किये जायँ। संस्कार का अर्थ है मन, वाणी और शरीर का सुधार। इसलिए मनुष्यों के जन्म से ही नहीं प्रत्युत जन्मके पूर्व गर्भ से भी संस्कार होना चाहिये। इतना ही नहीं प्रत्युत जिन स्त्री-पुरुषों के द्वारा गर्भाधान होनेवाला है, उनको भी अच्छी प्रकार सुसंस्कृत होना चाहिये। कहने का मतलब यह कि समस्त संस्कारोंका

मूल विवाह को ही समझना चाहिये। विवाह करनेवाले वरवधू की क्या योग्यता हो, उनकी क्या आयु हो और उनका क्या कर्तव्य हो, ये बातें संस्कारों के आरम्भ के पूर्व विवाहकाल में ही स्थिर हो जानी चाहिये। वेदों ने इन समस्त बातों को बहुत ही उत्तम रीति से स्थिर कर दिया है, इसलिए हम यहाँ इन बातोंका इसी क्रम से वर्णन करते हैं। वेदों की आज्ञानुसार सबसे पहिला संस्कार विवाह ही है और विवाह में सबसे पहिली बात वरवधू की योग्यता की है। अतएव हम वेद के वे मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनमें विवाह करनेवाले वरवधू की योग्यता का वर्णन है। अथर्ववेदमें लिखा है कि–

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि। यत्काम इदमभि-षिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

अर्थात् शुद्ध, पवित्र और पूजनीय इन स्त्रियों को मैं ज्ञानियों के हाथों में अलग अलग सौंपता हूँ और जिस कामना के लिए मैं यह तुम्हारा अभिषेक कर रहा हूँ, वह मेरी कामना सब देवता पूर्ण करें। इस मन्त्र में विवाह करनेवाली कन्या को शुद्ध, पवित्र और पूजनीय बतलाया गया है और जिसके साथ विवाह करना है, उसे ज्ञानी विद्वान् कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि हर प्रकार से योग्य कन्या और वर का ही विवाह वैदिक है, अयोग्यों का नहीं। क्योंकि अबोध कन्याएँ स्वयं अपने योग्य वर के लिए अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकतीं। पर वेद उपदेश करते हैं कि योग्य कन्याएँ अपना वर आप ही चुन लें। ऋग्वेद में लिखा है कि—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित् ॥ (ऋ० १०।२७।१२)

अर्थात वधू बननेवाली कितनी ही स्त्रियाँ जो भद्र और सुरूपा होती हैं, मनुष्यों की योग्यता को पसन्द करके अपने मित्र (पति) को जनसमूह से खुद चुन लेती हैं। इस मन्त्र में पतिवरण करने में कन्याओं की स्वतन्त्रता दिखलाई पड़ती है। इसके आगे विवाह के समय कन्याओं की आयु का उपदेश इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये ।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ।
(ऋ० १०।८५।४०-४१)

अर्थात् पहिला पति सोम है, दूसरा गन्धर्व है, तीसरा अग्नि है और चौथा मनुष्य है। सोम गन्धर्व को देता है, गन्धर्व अग्नि को देता है और अग्नि धन और पुत्रों के लिए मुझको देता है। इन मन्त्रों के द्वारा बतलाया गया है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि के उपभोगों के बाद केवल सन्तान के लिए ही विवाह होना चाहिए। इन मन्त्रों का अर्थ करते हुए अत्रिस्मृति में कहा गया है कि मनुष्य के पूर्व कन्या को सोम, गन्धर्व और अग्नि आदि देवता भोगते हैं, अर्थात् रोमकाल में सोम, स्तनकाल में गन्धर्व और रजोदर्शनकाल में अग्नि का प्रभाव रहता है। इसलिए कन्या का विवाह रोम, स्तन और रजोधर्म के बाद ही होना चाहिये ×।

इस तरह से कन्या की आयु को बतलाकर वर की आयु के लिए ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भ-वति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयंति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ (ऋ० ३।८।४)

अर्थात् जो युवावस्था को प्राप्त होकर, विद्या पढ़कर और यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्रों को पहिने हुए आता है, वही श्रेय को पाकर प्रसिद्ध होता है और उसी को विद्वान् तथा धीर पुरुष अन्तःकरण से उन्नत करते हैं और बड़ा मानते हैं। इस मंत्र में समावर्तन के समय की आयु का वर्णन है। समावर्तन के बाद ही विवाह होता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय पुरुष भी युवा ही होना चाहिये। क्योंकि यदि विवाह करनेवाले योग्य और युवावस्था को प्राप्त न हों तो वे अपना कर्तव्य समझकर परस्पर प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वरवधू की परस्पर

× पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः। पश्चात्तु मानवाः भुञ्जते न ता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
रोमदर्शनसंप्राप्ते सोमो भुङ्क्ते तु कन्यकाम् । रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः। (अत्रिस्मृति)

वैवाहिक प्रतिज्ञाओं को वेदमन्त्रों में बहुत ही अच्छी तरह दर्शाया गया है। विवाह के समय वर प्रतिज्ञा करता है कि—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।

(अथ० १४।१।५०)

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् । पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥

(अथर्व० १४।१।५१)

अर्थात् भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि आदि देवताओं ने मुझको गार्हपत्य के लिए तुझे दिया है। अतएव मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूँ। तू वृद्धावस्थापर्यन्त मेरे साथ रह। भग और सविता आदि देवताओं ने मुझे तेरा हाथ पकड़ाया है, इसलिए अब तू धर्म से मेरी पत्नी है और मैं धर्म से तेरा पति हूँ। वर की इस प्रतिज्ञा पर वधू प्रतिज्ञा करती है कि--

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा । यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ।

(अथर्व० ७।३७।१)

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामहं त्वं वद । ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥

(अथर्व० ७।३८।४)

अर्थात् हे मननशील पुरुष ! मैं तुझे अपने वस्त्रसे बाँधती हूँ कि जिससे तू मेरा ही रहे और दूसरी स्त्रियों की कभी बात न करे। मैं प्रतिज्ञा कर रही हूँ और इस सभा में तू भी प्रतिज्ञा कर कि जिससे तू मेरा ही होवे और अन्य स्त्रियों की कभी बात न करे। इस प्रकार के इन प्रतिज्ञावचनों के बाद ही विवाह हो जाता है। विवाह हो चुकने पर मातापिता को उचित है कि वे वरवधू को आवश्यक पदार्थ देवें। यह बात वेदमन्त्र ने सूर्या के अलङ्कार से इस प्रकार बतलाई है कि—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् । द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ।

(अथर्व० १४।१।६)

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितोऽददन्त । तास्त्वा जरसे सं व्ययंत्वा-युष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥ (अथर्व० १४।१।४५)
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः । अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखाद् ।

(अथर्व० १४।२।६८)

अर्थात् जब सूर्या (कन्या) पति को प्राप्त हो, तो चैतन्यबुद्धि ही ओढ़नी हो, दर्शनशक्ति ही अञ्जन हो और ज़मीन आसमान का सम्पुट ही पिटारी हो। जिन स्त्रियों ने सूत काता है, जिन्होंने ताना किया है, जिन्होंने बुना है और जिन देवियों ने अंचल काढ़ा है, वे सब स्त्रियाँ कन्या को वस्त्र पहिनावें और कहें कि हे आयुष्मती वधू ! तू इन्हें पहिन ले। कृत्रिम काँटों का बना हुआ अनेक दाँतोंवाला जो यह कंघा है, वह वधू के केशों और शिर के मलों को निकाल डाले।

इस प्रकारसे अञ्जन, पिटारी, ओढ़नी, काढ़े हुए वस्त्र और कंघा आदि आवश्यक पदार्थ वधू को दिये जावें और पति के घर को वह अच्छी सवारी में बिठलाकर रवाना की जावे। वेद आज्ञा देते हैं कि—

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् । आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥

(अथर्व० १४।२।३०)

अर्थात् ज़री के बिछौनेवाली सेजगाड़ी जो अनेक प्रकार के पदार्थों से सजाई गई हो, उस पर सौभाग्यवती वधू पति के घर जाने के लिए चढ़े। जिस समय वधू सवारी में चढ़कर चलने लगे उस समय विद्वान् आशीर्वाद दें कि—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः । अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज । (अथर्व० १४।१।६४)
यथासिंधुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा । एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ।

(अथर्व० १४।१।४३)

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु । ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥

(अथर्व० १४।१।४४)

अर्थात् ब्रह्म आगे, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म मध्य में और ब्रह्म अन्त में समझकर हे वधू! तू अपने सुदृढ़ देवपुर-पतिगृह को-सुखदायिनी और कल्याणकारिणी होकर आ और विराजमान हो। जैसे बलवान् समुद्र ने नदियों का राज्य प्राप्त किया है, वैसे ही तू पति के घर की राज-राजेश्वरी हो। श्वशुर की दृष्टि में रानी की भाँति, सास के निकट रानी की भाँति और ननन्द तथा देवरके लिए महारानी की भाँति होकर रह। इस प्रकार का आशीर्वाद पाकर वधू पतिगृह में पहुँचती है और पतिग्राम के स्त्रीपुरुष उसकी अगवानी करते हैं, तथा कहते हैं कि—

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत
बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो
बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः। (अथर्व १४।२।१४)

अर्थात् यह आत्मवान् और उपजाऊ नारी आई है, इसलिए हे नर! इसमें बीज बो और यह शुद्ध वीर्य को धारण करके अपने गर्भ से तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करे। यहाँ तक वेदमन्त्रोंने अच्छी प्रकार बतला दिया कि विद्वान् योग्य युवा और धनधान्यसम्पन्न ही विवाह करने के अधिकारी हैं, अन्य नहीं। अयोग्यों के विवाह की निन्दा करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥
(अथर्व० १४।१।२७)

अर्थात् दरिद्री पुरुष जब स्त्री के वस्त्रों को पहनकर बाहर निकलता है, तब स्त्री का शरीर नग्न हो जाता है, इसलिए ऐसों के साथ विवाह न करना चाहिये। विवाह सदैव योग्य स्त्रीपुरुषों का ही होना चाहिये। वही गर्भाधानादि संस्कारों को अच्छी प्रकार कर सकते हैं और उन्हीं की सन्तान सदाचारी होकर समाज के योग्य हो सकती है और आरम्भ में बतलाई हुई सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकती है। उपर्युक्त वेद के मन्त्रों ने आदर्श विवाह का चित्र खींचकर बतला दिया है कि इस प्रकार के आदर्श विवाह के बाद ही गर्भाधान होना चाहिये। वेद का गर्भाधानप्रकरण प्रजननशास्त्र के बहुत ही सूक्ष्म नियमों का उपदेश करता है। वह इस रहस्य को एक उच्च श्रेणी के वैद्य की भाँति बतलाता है, जिससे सन्तान उत्तम पैदा हो और दम्पति उन व्याधियों और हानियों से बच जायँ, जो प्रायः अनजान युवकों और सद्योविवाहिताओं को भोगना पड़ती हैं। इन उपदेशों को अश्लील न समझना चाहिये।

गर्भाधानसंस्कार के बाद प्रातःकाल गाँव घर के वृद्ध पुरुष वधू का मुख देखते हैं और आशीर्वाद देते हैं। वेद आदेश करते हैं कि—

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् ।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छंतु ॥
(अथर्व० १४।२।७३)

अर्थात् वधू के देखनेवाले पितर जो इस विवाह में आये हैं, वे सब पतिसहित वधू को उत्तम प्रजा के लिये आशिर्वाद दें। इस प्रकार से यह वैदिक विवाह और गर्भाधान समाप्त होता है, किन्तु कभी कभी दुर्भाग्य से पतिसयोग के पूर्व ही कन्या विधवा हो जाती है। ऐसे आपत्काल के लिये वेद उपदेश देते हैं कि—

ग्राह्या गृहाः स सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ य. क्रव्याद निरादधत् ॥
(अथर्व० १२।२।३९)

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम् ।
पञ्चौदनं च तावज्ज ददातो न वि योषतः ॥२७॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥२८॥
(अथर्व० ९।५।२७–२८)

अर्थात् जब स्त्रियों के पति मर जाते हैं, तब घर उजड़ जाते हैं, इसलिये कन्या का पति सदैव वेदवेत्ता ही ढूँढना चाहिये, जिसने कभी मांस न खाया हो। जो स्त्री पहिले पति को पाकर दूसरे पति को प्राप्त होती है, वह पञ्चौदन के द्वारा उससे जुदा नहीं होती। दूसरा पति विधवा स्त्री के साथ पचौदन-यज्ञ-द्वारा विवाह करके अपनी जाति में समानता से स्थान पाता है। यहाँ तक हमने वेदमन्त्रों से विवाह और गर्भाधानसंस्कार का वर्णन किया।

अब आगे पुंसवनसंस्कार से संबंध रखनेवाले मन्त्रों को लिखते हैं। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भस्थ को

पुत्र बनाना है। यह कार्य एक औषधि के द्वारा किया जाता है। वेदमें लिखा है कि—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥
(अथर्व० ६।११।१-२)

अर्थात् जिस शमी वृक्ष पर अश्वत्थ वृक्ष उगा हो, उसकी जड़ को गर्भाधानके दिन से दो तीन मास तक स्त्री को देने से पुत्र की प्राप्ति होती है। जो वीर्य स्त्री में डाला जाता है, वह पुंसत्व (पुत्र) को प्राप्त हो जाता है और पुत्र की प्राप्ति होती है, यह बात प्रजापति-परमात्मा ने कही है। इस पुंसवनसंस्कार के आगे सीमन्तोन्नयन-संस्कार होता है । जब गर्भ चार पाँच महीने का हो जाता है तब मस्तिष्क उन्नत होता है और बुद्धि जागृत होती है । इसी को सीमन्त-उन्नयन अर्थात् शिर की उन्नति कहते हैं। शिर के विषय में वेद में लिखा है कि—

तद्वा अथर्वणः शिरोः देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥
(अथर्व० १०।२।२७)

अर्थात् ज्ञान का केन्द्र शिर है जो देवताओं का सुरक्षित कोश है । इस कोश की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं । ऐसे ज्ञानकोश शिर की वृद्धि के समय से गर्भिणी को चाहिये कि वह वीरों की कथाएँ सुने, उत्तम चित्र देखे और उत्तम कर्मों (यज्ञों) का अनुष्ठान करे, जिससे गर्भस्थ का मस्तिष्क उत्तम संस्कारों से संस्कृत हो जाय। इस संस्कार के आगे जातकर्मसंस्कार है। वह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर किया जाता है। जिस समय बालक उत्पन्न होने लगता है, उस समय की प्रार्थना का अर्थात् कुदरत की वैज्ञानिक क्रिया का वर्णन वेदों ने इस प्रकार किया है—

यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः ।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः ॥७॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥८॥

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥९॥
(ऋ० ५।७८-९)

अर्थात् जिस प्रकार हवा से छोटा तड़ाग सब ओर से हिलने लगता है, वैसे ही दश मास में तेरा गर्भ हिले और बच्चा बाहर आवे । जिस तरह हवा, वन और समुद्र हिलते हैं, वैसे ही हे बालक ! तू जरायु के सहित आ । जीती हुई माता के जीवन पर जीनेवाला हे जीव (बालक) ! तू माता के गर्भ में दस महीने सोकर अक्षत निकल । इन मन्त्रों के द्वारा बतलाया गया है कि गर्भिणी के पेट में जो चारों ओर से दर्द पैदा होता है, उससे विचलित होकर वह गर्भस्थ के प्रति बुरे भाव न सोचे कि जिसका प्रभाव बालक पर बुरा पड़े, प्रत्युत वह यह समझे कि यह दर्द बालक का पैदा किया हुआ नहीं है, किन्तु प्राकृतिक शक्तियों के कारण हो रहा है । इसके आगे सबसे प्रथम दुग्धपान की क्रिया पर वेद कहते हैं कि—

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये । उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ (यजु० १७।८७)
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि। यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ (ऋ०१।१६४।४९)

अर्थात् हे अग्नितुल्य बालक ! तू सम्बन्धियों के बीच में आकर इस जलीय रस से स्थूल हुए स्तन को पी और स्वादिष्ट, गतिशील तथा समुद्र के समान ज्ञान देनेवाले इस स्तन का सेवन कर । हे ज्ञानवती प्रसूता ! तू अपना यह सुख देनेवाला शरीरस्थ स्तन जो बालक के अंगों को पुष्ट करनेवाला, दुग्धरूप रत्न का धारण करनेवाला और शोभा का देनेवाला है, इस बालक के मुँह में दे । इन मन्त्रों में आरम्भिक दुग्धपान की शिक्षा दी गई है । इस शिक्षा के द्वारा बच्चे में माता के दुग्ध के गुणों का संस्कार डाला जाता है, जिससे बच्चा आजीवन माताका भक्त बना रहे और प्रसव के समय माता के कष्ट के कारण जो बच्चे में खराब असर हुआ है, वह दूर हो जाय । इसीका नाम जातकर्म अर्थात् पैदा होनेका कर्म है।

(क्रमशः)

भक्त की भावना

(लेखक— श्री० लालचन्दजी ।)

भक्त का जीवन भावमय है । भक्त अपने भगवान को अपने हृदय में, प्रत्येक प्राणि में और सारे जगत् में व्यापक अनुभव करता है । भक्त निःस्वार्थ जनसेवा भगवान् की पूजा के निमित्त करता है । अपने पुरुषार्थद्वारा परदुःख-निवारणको वह अपनी भक्ति की ही साधना समझता है । भक्त संसार में रहकर अपने जीवनभर शुभ कामना और पूरा यत्न करके निश्चिन्त हुआ हुआ अपना धर्म पालन करता है । अपने कर्तव्य से कभी च्युत नहीं होता । शुद्ध मन से सदा सब का हित चाहता हुआ, भक्त सदा अपने भगवान् के प्रेम में मग्न रहता है ।

भक्त के लिये भगवान् से बढकर संसार भर में कुछ भी नहीं । भक्त को भगवान् पुत्र से प्रिय, धन से प्रिय, सम्पत्ति से प्रिय, अन्य सब से प्रिय होता है । भक्त ही वास्तव में अद्वैतवादी है । उस के ध्यान में, चिन्तन में, मननमें, दर्शन में, केवल भगवान् रहता है ।

भक्त की भावना में निरंतर भगवान् की झलक, उन का सौन्दर्य, उन की सौम्य मंगलमय मूर्ति, विराजमान रहती है । भक्त अपने भगवान को परम कल्याणकारी शिवरूप में स्मरण करता है और साथ ही अपने प्रेमपूर्ण हृदय में भगवान् से अधिक किसी को सुन्दर भी नहीं मानता । भक्त अपने भगवान् को सनातन, अविनाशी और निरंतरका साथी अनुभव करता है । ''सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्'' उसका ध्येय होता है ।

भक्त ही प्रेमी हो सकता है, अन्य लोग प्रायः मोह ही को प्रेम कहते हैं और नकली चीज को असली के स्थान लिये फिरते हैं । साधारण लोग असली मोती और नकली मोती को नहीं पहचानते, इसी प्रकार भक्त के सिवा अन्य जन मोह में फंसे हुए अपने आपको बुद्धिमान् और विवेकी मानते हैं । परन्तु जब होती है, जब उन की कोई ऐसी चीज जिस में उन का मोह होता है, उन से अलग की जाती है, तो वे चिल्लाते हैं । भक्त का प्रिय कभी नष्ट नहीं होता. क्योंकि उसका अनन्य प्रेम अपने भगवान् पर है और भक्तवत्सल भगवान् अविनाशी है ।

भक्त कभी आलस्य नहीं करता, प्रमाद नहीं करता, इस लिए अवसाद भी नहीं करता । भक्त सदा पुरुषार्थी, उत्साही और साहसी होता है । भक्त स्वयं सरल सीधा, सच्चा रहता हुआ भी सदा सावधान रहता है और अपने भगवान् को अपने अंगसंग अनुभव करता हुआ अभय रहता है । यही अवस्था कर्मयोगकी कही है । वास्तव में कर्मयोगी ही भक्त हो सकता है । भक्तही की प्रज्ञा स्थिर होती है । भक्त की बुद्धि निश्चयात्मक होती है । भक्त होना और स्थितप्रज्ञ योगी होना एकही है ।

निश्चयात्मिक बुद्धिद्वारा कर्तव्य करना और भरसक यत्न करके कर्तव्य पालन करते हुए परिणाम भगवान् के ऊपर छोड देना ही आस्तिकता है, यही कर्मयोग है । कर्तव्य में तन्मय होकर लगे रहना, भक्त ही पूरा कर सकता है । पूरे यत्न से, पूरे पुरुषार्थ से, मन और प्राण को भी बुद्धि के वश करके जो बुद्धि की विवेचना द्वारा स्थिर निश्चय से कार्य किये जाते हैं, वह अवश्य सफल होते हैं, पर भक्त वह सफलता भी भगवान् के चरणों में अर्पित कर देता है ।

व्यापक ब्रह्मके सहवासको भक्त ही अनुभव करता है और भगवान् को विभु जानकर वह कभी अशिव संकल्प नहीं करता । नित्य अपना जीवन ऋत और सत्य पर अवलंबित रखता हुआ भक्त भगवान् का प्रेमभाजन बनता है और सदा प्रसन्न रहता है ।

भक्त के अन्दर यह दृढ विश्वास होता है कि भक्तवत्सल भगवान् का सहवास और उन का दर्शन करते हुए कर्तव्यपालन द्वारा जनसेवा करते रहना ही जीवन का ध्येय है । भगवान् स्वयं अपनी प्रजा में व्यापक रूप से निवास करते हैं । सदा अपनी प्रजा के अन्दर और बाहर रहते हैं, तो भगवान् को अपना आदर्श जानने-वाला साधक अनथक अनवरत कार्य करता हुआ सदा सजग रहता है और अपने जीवनद्वारा भगवान् की प्रसन्नता लाभ करता है । भक्त के लिए जनार्दनसेवा के

अतिरिक्त कोई मनोरथ शेष नहीं। भक्त इसी में प्रसन्न मग्न रहता है, जब उसे यह विश्वास रहता है कि भगवान् उसके साथ हैं और उस के विचारों और कार्यों से प्रसन्न होकर उस से प्रेम करते हैं।

भक्त के अंदर प्रेम की निरंतर धारा बहती रहती है, जिसमें वासनाजनित पाप और प्रलोभन सब बह जाते हैं। संसार में एक-निष्ठा से अपने कर्तव्य निभाते हुए उस पर वासना अपना कुप्रभाव नहीं डाल सकती। भगवान् की भक्ति में रत, कर्तव्यपरायण पुरुष सदा आनंद और आत्मतृप्त रहता है। चिंता उस के मन को दुःखी नहीं करती। उसे यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् अर्पण कर्म करने के पश्चात् भगवान् उस का योग और प्रेम स्वयं करते हैं।

भक्त होना बहुत कठिन है, किंतु भक्त कहलाना बहुत सुगम है। ऊपरी कुछ बातों के कारण लोग किसी को भक्त कहने लगें यह संभव है,पर भक्त होने के लिये अपनी बुद्धि को भगवान् की शक्ति द्वारा प्रेरित होने देना चाहिये। गायत्री मंत्र में यही भाव है। जब बुद्धि भगवान् से प्रेरित होकर कार्य करती है,तो परिणाम आनंद होता है। तृष्णा, द्वेष, क्लेश, चिंता आदि विकारों को फिर अंतःकरण में स्थान नहीं मिलता। हृदय में आनंदभेरी निरंतर बजा करती है और भक्त उसकी ध्वनि में मस्त रहता है। नित्य नूतन उत्साह उत्पन्न होता है और भक्त आत्मवान् होने के कारण अपने शरीर पर पूर्ण स्वत्व रखता है। भक्त भगवान् के भरोसे अपने आप को नित्य ऊंचा उठाता है, गिरता नहीं, वह अनायास संयम में अपने आप को सार्थ पाता है। उस के चरित्र में खिंचावट नहीं रहती। सब काम बिना आलस्य और प्रमाद के करके पूर्ण निद्रा प्राप्त करता है। सुख और शान्ति मानो सदैव उसके समीप निवास करती हैं। यह सब क्यों होता है? क्योंकि भगवान् ने उसे अपना लिया है और अब उस के जीवन का नियंत्रण भगवान् कर रहे हैं।

भगवान् पर श्रद्धापूर्वक विश्वास करने से आत्मबल बढता है, आत्मशक्ति का पूर्ण विकास होता है और पुरुष बडे से बडे कार्य सहज ही में कर लेता है। भक्ति में विपुल शक्ति है। भक्त के ऊपर भगवान् का हाथ सदा रहता है। भक्त का यश बढता है और उसके द्वारा भगवान् का अपना यश महान होता है। भक्त और भगवान् का प्रेम अकथनीय है, वह रहस्य वाणी के अगोचर है।

भक्ति का प्रसाद विमल प्रेम है, निर्भयता है, सरलता है और उदारता है। भक्त की जीवनचर्या भ्रम और संशय-रहित हुआ करती है। भक्त के अंतःकरण में एक दिव्य प्रकाश रहता है, वह उसे मोह अंधकार से अलग रखता है। प्रलोभन में फंसने नहीं देता और सत्य मार्ग भक्त के स्पष्ट कर देता है।

भक्त ही यशमय जीवन व्यतीत करता है और सब लोग स्वार्थवश अपने लाभ के लिए दूसरे की हानि न करने में संकोच नहीं करते। भक्त में भगवान् के गुणों की आभा दिखाई देती है और हो भी क्यों न? निरंतर के सहवास से अवश्य अंतःकरण पर प्रभाव पडता ही है। भक्त का भगवान् के साथ संबंध प्रेम का हुआ करता है और भक्त गद्गद होकर कहता है —

"तेरे अटल प्रेमबंधन में मुझे मुक्ति की चाह नहीं।" भक्त की इच्छा केवल यही रहती है कि भगवान् का उससे प्रेम रहे और उसकी श्रद्धा भगवान् पर बनी रहे।

भक्त का जीवन निरंतर उन्नति का जीवन है, प्रगति का जीवन है, सफलता का जीवन है।

वैदिक छन्दोंके नाम

(लेखक-पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार 'प्रतिष्ठित स्नातक ' गुरुकुलकांगड़ी, M. R. A. S., अजमेर।)

ता.३ फरवरी के आर्यमार्तण्ड में एक लेख ' वेदसंस्थान के अध्यक्ष श्री पं. ब्रिजेन्द्रनाथजी शास्त्री की नई रिसर्च' शीर्षक से श्री पं. ब्रह्मदत्तजी के प्रिय शिष्य युधिष्ठिरजी का छपा है। हमने इस सम्पूर्ण वादाविवाद में अभी तक बहस की दृष्टिसे भाग नहीं लिया है और नहीं हम लेना चाहते हैं । श्री पं. ब्रह्मदत्तजी के व अन्य भी कुछ विद्वानों के लेख जो पं. ब्रह्मदत्तजी की तरफ सेही लिखवाये गये मालूम होते थे, अच्छी तरह पढे । उनमें कितने हेत्वाभास (Fallacy) थे, इसका हमें न आज उल्लेख करना है और नहीं कभी भविष्यत् में। इसी कारण से हमने आजतक भाग नहीं लिया है। आज भी हम ऊपर संकेतित लेखपर किसी भी टीकाटिप्पणी न करेंगे, न हम कोई समालोचना करेंगे। क्योंकि इससे हमारा तात्पर्य नहीं।

दिल में कई बार विचार उठे कि जैसे देवता के सम्बन्ध में हमने गत वर्ष 'वैदिक धर्म'के आश्विन के अंक में लेख लिखा था, उसी प्रकार से ऋषि, छन्द और स्वर भी लिखते । परन्तु किन्हीं कारणों से नहीं लिखा। यदि सम्भव हुआ, तो आगे लिखेंगे।

सन १९३८ के आर्यविद्वानों का मत छन्द के विषय में क्या था और वह आज कहां पर खिसक आया है- वह एक देखने व विचारने की बात है। पर खैर, यदि वैसा ही मान लिया जाये, जैसा कि मार्तण्ड के ऊपर संकेतित लेख में दिया है, तो भी वह वेदके सम्बन्ध के अज्ञान की पराकाष्ठा है। थोडे से में वह मत इस प्रकार है कि (केवल सारांश)—

" गायत्री आदि नाम जो छन्दों के आज हैं, वे नाम अनिश्चित हैं। जैसे छन्दों में गायत्री सबसे छोटा है, अतः उसका नाम गायत्री न रखकर यदि ' लघु ' रख दिया जाये, तो वह भी ठीक है।"

हमें इसकी समालोचना नहीं करनी।

यदि वेद स्वतःप्रमाण हैं, तब तो हमारा ख्याल है कि छन्दों के गायत्र्यादि नाम निश्चित हैं और उनके स्थानपर ' लघु ' आदि छन्दों का नाम नहीं रख सकते। क्योंकि गायत्र्यादि नाम परमात्मा के द्वारा हमें प्राप्त हैं और वेही निश्चित हैं, उनके स्थानपर लघ्वादि छन्द बनाना वेद में हस्ताक्षेप करता है। जो कि उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से वेद का स्वतः प्रमाण नहीं रहता।

वेद ने हमें छन्दों के गायत्र्यादि नाम बतलाये हैं। मैं चारों वेदों में से सम्पूर्ण स्थलों को उद्धृत करना नहीं चाहता। केवल यजुर्वेद के त्रयोदश अध्याय के ५३ से ५८ तक मंत्रों को देखिये। केवल यहां एक उदाहरण पर्याप्त है। इसकी पुष्टिके लिये कि छन्द भी परमात्मा की तरफ से ही निश्चित हैं।

१ गायत्रेण त्वा छन्दसा...त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा, जागतेन त्वा छन्दसा, आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा, पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा।

२. प्राणः, वसन्तः, गायत्री, रथंतरं, वसिष्ठ,

३. मनः, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप्, बृहत्, भरद्वाजः,

४. चक्षुः, वर्षा, जगती, वैरूपं, जमदग्निः,

५. श्रोत्रं, शरत्, अनुष्टप्, वैराजं, विश्वामित्रः,

६. वाक्, हेमन्तः, पंक्तिः, शाकररैवते, विश्वकर्म,

यही कारण है कि आजतक इनको किसी ने बदलने का न केवल प्रयत्न ही किया सो बात नहीं, किसी ने नाम भी नहीं लिया।

हमें यहांपर उस प्रकार से विवेचन नहीं करना है, जैसा कि देवताओंका। अतः अन्य पक्षादि को दिखला कर केवल इतना ही लिखा है।

फिर उसकी आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि सन १९३८ आर्य विद्वानों का मत भी पहले से बदल गया है और केवल मात्र संकेत पर आ गया है।

पं. सातवलेकरजीका विरोध !

(लेखक- पं० तडित्कांतजी वेदालंकार, साहित्यमनीषी, अफ्रीका)

प्राय: जनसमाजके अंदर एक ऐसी मनोवृत्ति पायी जाती है कि जब कभी उसे नये विचारों या सुधारोंको ग्रहण करनेका समय आता है, तो वह सहसा इतना ज्यादा बेचैन हो उठता है कि वह उस नये विचार या सुधारके प्रेरकको जीवित रहने देनाभी उचित नहीं समझता! उसकी बस चलतेही वह उसके खूनसे अपनी बेचैनी की प्यास बुझाता है। यदि इतनी दूरतक उसे सफलता न मिली, तो और अनेक तरीकोंसे वह उसे परेशान व हैरान करनेमें कोई कसर बाकी नहीं रखता। दुनियाका इतिहास इस सत्यका स्वयं साक्षी है।

मनुष्यजातिके इस स्वभावको उसका गुण कहा जाय या दुर्गुण, इसका सहसा निर्णय करना तो कठिन ही है, फिरभी इससे कई बार बजाय फायदेके नुकसानही ज्यादा-तर होता हुआ दिखाई दिया है। धार्मिक क्षेत्रमें यह मनो-वृत्ति अधिकतर अपना जोर दिखाती हुई प्रतीत होती है। धर्म इस वृत्तिका वस्तुत: पोषक है, या धर्मकी मर्यादा न समझनेकी वजहसे धर्मको बदनाम होना पड रहा है, यह एक गंभीर तथा विचारणीय विषय है। अस्तु। चाहे कुछ भी हो, पर आज तो जो कुछ हो रहा है, उससे तो आखिरकार धर्मही को बदनाम होना पडा रहा है।

पं० सातवलेकरजीकी अमूल्य सेवाओंपर जब कभी मुझे दृष्टिपात करनेका अवसर प्राप्त होता है, तब उनके साथभी धर्म और समाजके नामसे लोगोंकी वही मनोवृत्ति कार्य करती हुई नजर आती है। यों तो बहुतसी ऐसी घट-नायें पेश की जा सकती हैं, पर मैं उन सबका जिक्र न करता हुआ, यहां पर सिर्फ एक ही मुख्य घटना को रखूंगा कि जिसके साथ थोडाबहुत मेराभी संबंध था।

जहां तक मुझे याद है १९२८ की यह घटना है। उस साल मैंने लगातार डेढ सालके स्वाध्यायके पश्चात् 'वैदिक धर्म' मासिकमें 'वेदोंमें यम और पितर' नामकी एक लेखमाला लिखनी प्रारंभकी थी। इस लेखमालाको प्रारंभ करनेसे पूर्व एक अत्यावश्यक प्रारंभिक निवेदन भी प्रकाशित किया था, जिससे कि पाठकोंको किसीभी प्रकारकी गैर समझ उत्पन्न न हो। परंतु मुझे खेदसे लिखना पडता है कि मेरे उस निवेदन की ओर किसीनेभी ध्यान न दिया और मेरा वह लिखना अरण्यरोदनसे बढकर ज्यादा साबित न हुआ। उस लेखके प्रकाशित होते ही सर्वत्र खलबली मच गई। बस फिर क्या था? छोटेसे लेकर बडे तक सारेके सारे महारथी चारों ओरसे अपना अपना वाग्वज्र तथा कलमकुठार लेकर पं० सातवलेकरजी पर टूट पडे! एकतरफा जंग शुरू हुआ। जवाबदार तथा बेजवाबदार सभीने वितण्डवाद शुरू किया और मूछोंपर ताव देते हुए अपनी अपनी विजयका डंका बजाने लगे! कुछ लोग तो यहांतक पहोंच गये कि उन्होंने आगे देखा न पीछा। वादविवादका विषय तो एक ओर रहा, उन्होंने इसीमें अपनी जीत समझी कि कैसे ज्यादा से ज्यादा व्यक्तिगत आक्षेप करके पं० सातवलेकरजीको जनता की दृष्टिमें ज्यादा से ज्यादा नीचा दिखाया जाय! जिन्होंने पंडितजीको शायद कभी रास्तेमें एकाध बार जाते हुए देख लिया होगा या कभी दो एक बातें करनेका अवसर प्राप्त हुआ होगा, ऐसे लोगभी उनके सिद्धांतों के बारेमें तथा सिद्धान्तों के आचरणके संबंधमें मनमाना लिखने लगे, जिसे कुशल संपादकोंने अपने प्रसिद्ध पत्रोंमें योग्य स्थान दिया!!! कुछने तो यहांतक लिख मारा कि 'पंडितजी अंदर अंदरसे सनातनी हैं, तथा मृत श्राद्ध आदिमें न सिर्फ मानते ही हैं, अपितु स्वयं करते हैं और अतएव उसका प्रचार आर्यसमाजकी आडमें रहकर करना चाहते हैं। और इसके लिये उन्होंने एक विद्वान् को (मुझको) बीचमें रखकर यह सब करना प्रारंभ किया है' इत्यादि।

यहांपर प्रसंगवश मैं यह भी लिख दूं कि ईश्वरकी कृपासे या अन्य किन्हीं कारणोंकी वजहसे इस सारे झगडेमें मेरे साथ बहुतही थोडी छेडखानी हुई थी। मेरे बदलेमें भी उन्हींपर बौछार हो रही थी। इस प्रकार पंडितजी पर

दुहरी मार पड़ रही थी। परंतु यह सब होते हुए भी उस समय जो पंडितजीने अपूर्व शांति धारण कर रखी थी, वह वस्तुतः असाधारण थी। वह समय स्वाध्याय-मंडलके ग्राहकों के लिए एक बड़ी भारी कसौटीका था। क्योंकि उसके पश्चात् स्वाध्याय-मण्डलके वही ग्राहक रह गये थे जो कि सत्यासत्यका निर्णय कर सकते थे, तथा जिनमें प्रतिपक्षीके कथन को भी सुनने की क्षमता थी। मैं तो उन्हें उन राजहंसोंसे उपमा देना चाहूंगा कि जो पानी में से दूधको पृथक् करनेकी योग्यता रखते हैं। अथवा कविराज जगन्नाथके शब्दोंमें उन राजहंसोंसे उपमा देना पसंद करूंगा कि जो छाती ठोककर कह सकते हैं कि—

गंगातीरमपि त्यजन्ति मलीनं
ते राजहंसा वयम् ।

अर्थात् हम तो उन राजहंसोंमें से हैं जो कि गंगाका तीर भी अगर मैला हो तो छोड देते हैं।

उधर सार्वदेशिक सभा को भी घबराहट पैदा हुई। उसे ऐसा भान पडने लगा कि मानो आर्यसमाजके सिद्धांत रसातलको चले जायेंगे। उसने झटपट एक पंडित को रोककर इस लेखमालाके जवाबमें एक पुस्तक तैयार करवाई। उस पुस्तक को कितनी सफलता मिली, यह तो सार्वदेशिक सभाही जाने, पर मैं इतना अवश्य जानता हूं कि बहुतसे कार्यकर्ताओंको जिनसे कि मेरी बातचीत हुई थी, उससे जितना चाहिए, उतना संतोष नहीं हुआ था। वैसे तो उस पुस्तकके प्रारंभ में जो सम्मतियां दी गई हैं, वेही उस पुस्तककी सफलता बतलाने के लिए काफी हैं। उनको पढनेके बाद उस पुस्तकका जवाब देनेकी जराभी आवश्यकता नहीं रह जाती।

इस बडेभारी आन्दोलनके पश्चात् आज लगभग ९-१० वर्षके बाद फिर उसी तरहका ज्वालामुखी फूटा है। यों तो छोटेमोटे ज्वालामुखी फूटते ही रहे हैं। प्रारंभमें इस ज्वालामुखी का कुछ और रूप रहा। उस समय कुछ विघ्नसंतोषियोंने एक दानी महाशयको कुछ झूठे आधारोंपर बहकानेका प्रयत्न किया। उनकी ओर निर्देश करते हुए मैंने सितंबर १९३७ के वैदिक धर्ममें 'वेदमुद्रण और विघ्नसंतोषी' के शीर्षकमें बहुत कुछ खुलासा करनेका प्रयत्न किया था। तत्पश्चात् फिर काफी समय तक अंदर ही अंदर कुछ लोग आगबबूला होते रहे, परंतु उपरसे कोई कुछ न बोला।

पाठकोंको यहां एक बात याद दिला देना चाहता हूं कि शुद्ध वेदमुद्रण करनेसे पहले हमने सब प्रतिनिधियों, सार्वदेशिक सभा, परोपकारिणी सभा अजमेर तथा ऐसी ही अन्य सभाओं तथा भिन्न भिन्न व्यक्तियोंसे प्रार्थना की थी कि वे इस नितांत आवश्यक कार्यको हाथमें लें और हमसे जितनी हो सकेगी हम मदद देंगे। उनकी ओर से जो जो निराशाजनक तथा लज्जास्पद जवाब आये थे, वे हम यथासमय वैदिक धर्ममें प्रकाशित कर चुके हैं। इनमें से परोपकारिणी सभा के मंत्रीका जवाब आया था कि, उनकी सभा का अधिवेशन साल में एक ही दफा नवेंबर या डीसेंबर में हुआ करता है। उस समय आपके पत्रपर विचार किया जायगा। सभाका यथासमय अधिवेशन तो हो गया, परंतु हमें किसी भी तरह का कोई भी जवाब न मिला। पीछेसे पता चला कि ऐसे ही किसी जवाबदार विघ्नसंतोषीने सभा को अंटसंट समझाकर इस मामले को टलवा दिया था।

स्वाध्याय-मंडलने तो अपना कार्य प्रारंभ कर ही दिया था। शुद्ध वेद मुद्रणके संबंधमें स्वाध्यायमण्डलकी ओर से भिन्न भिन्न लेखभी यत्र तत्र प्रकाशित किये जा रहे थे। उन्हें पढकर कुछने इस कार्य की न सिर्फ सराहना ही की, बल्कि यह भी लिखा कि हम आपके कार्य के साथ सहमत हैं, तथा हमें भी ये भूलें महसूस हो रही हैं।

डीसेम्बरमें यू० पी० आर्यप्रतिनिधि सभा की मेरठमें रजतजयन्ती थी। उस अवसर पर वेदसम्मेलन रखा गया था और उसके अध्यक्षके लिए पंडितजी को चुना गया था। पंडितजी आवश्यक पत्रव्यवहारके बाद वहाँपर गये। वहांपर वेदमुद्रण के संबंधमें कुछ प्रतिपक्षियोंसे बातचीत हुई, जिसके परिणाममें पंडितजीने अमुक खास घोषणा की। इस संबंधमें वैदिक धर्मके सितंबर के अंकमें पं० नरदेवजी शास्त्री का पत्र छपा है, अतः मैं उस विषयका पिष्टपेषण न करता हुआ यही कहूंगा कि वे उन लोगोंकी चालमें आ गये और उसका परिणाम यह हुआ कि पीछेसे प्रतिपक्षियोंने मनमाने उनपर आक्षेप करते हुए लेख लिखे।

यह बात इतनेसे ही समाप्त न हुई। पं० ब्रह्मदत्तजीने तथा यू. पी. प्रतिनिधिकी ओर से श्रीयुत कालीचरणजी ने जोशमें आकर शास्त्रार्थ करनेके लिए पंडितजी को आह्वान दे मारा। उन्होंने शायद मनमें सोचा होगा कि जिस तरह आजतक और शास्त्रार्थ होते रहे हैं, उसी तरह दोचार घंटे पंडितजी से मुठभेड करके फिर हो हा मचाकर मामला समाप्त कर देंगे। कुछ अखबार भी अपने हाथमें हैं ही। अतः कोई डरकी बात नहीं है। परंतु उनकी यह नीति सफल न हुई। पंडितजीने इस शास्त्रार्थ के आह्वान को स्वीकारते हुए शास्त्रार्थ के ऐसे तरीके पेश किये कि जिनके अनुसार शास्त्रार्थ किया जानेसे इस झगडे का सर्वदाके लिए अंत हो सकता था। उन्होंने इस विषयमें बहुतसी चीजों को स्पष्ट करते हुए एक लेख वै० धर्ममें प्रकाशित किया था, जो पाठकोंकी स्मृतिपर अबभी ताजा ही होगा।

परंतु असलमें तो शास्त्रार्थ करना ही किसे था? पंडितजी के प्रत्याह्वान का आजतक किसीने योग्य उत्तर नहीं दिया। जहां सिर्फ वितण्डावादका ही आश्रय लेना हो, तथा जनताको किसीभी तरह अपने मनमाने सिद्धांतोंके नामसे या किसी बडी व्यक्ति अथवा महापुरुषके नामसे ही अपील करनी हो, वहां सच्चे शास्त्रार्थ होने संभव कैसे हो सकते हैं !!!

इस विरोध के सिलसिलेमें अजमेर के श्रीयुत भद्रसेनजीने तो लिखनेमें कमाल ही कर दिया। उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण लेखोंके जो शीर्षक लिखे हैं, वे उनकी मनोवृत्तिका खूब अच्छा चित्र खींच रहे हैं। उन्होंने जो जो सैद्धान्तिक आक्षेप पंडितजीपर किये हैं, उन्हें या तो वे सिद्ध कर दिखायें, नहीं तो उन्हें चाहिए कि वे भले मानुस की तरह अपने लिखे हुए शब्दों को वापस लेते हुए उन्हीं पत्रों में जिनमें कि उन्होंने पंडितजीपर सैद्धान्तिक आक्षेप करने हुए लेख लिखे हैं, तथा जिनसे साधारण जनताको व्यर्थमें बहकाकर पाप किया है, पंडितजीसे सच्चे दिलसे क्षमा मांगें। अगर वे ऐसा करके इस विषयमें कोईभी बहाना ढूंढनेका प्रयत्न करेंगे, तो उसका स्पष्ट मतलब होगा कि उन्होंने जो कुछ किया है, वह द्वेषों-द्वेष की वजह से किया है न कि किसी सिद्धान्त विशेषकी रक्षाकी दृष्टिसे!

मुझे यहांपर अफ्रीकामें बहुतसे भाइयोंने आग्रह करके कहा है कि मैं इस विषयमें योग्य खुलासा करनेके लिए श्री भद्रसेनजीसे कहूं। असलमें तो यह कार्य उन संपादकों का था, जिन्होंने कि ये लेख छापे थे और इसलिए मैं उन संपादकमहोदयोंसे भी पूछता हूं कि, पंडितजीपर किये गये आक्षेपोंके लिये आपके पास क्या सबूत हैं? यदि आपके पास कोई सबूत नहीं, तो आपने पंडितजीके बारेमें आर्य जनतामें जो गलतफहमी फैलानेमें एक बडा भारी हाथ बटाया है, उसके लिए आप क्या खुलासा करते हैं?

स्वाध्याय-मंडल तथा पंडितजीकी स्थिति साफ करनेके लिए ऊपर पूछे अनुसार खुलासा किया जाना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि जब जब ऐसे अवसर आते हैं, तब पंडितजीको इसी बेहूदे तरीकोंसे नीचा दिखानेका अनिच्छनीय प्रयत्न किया जाता है। अतः इस बार इसका आखिरी फैसला हो जाना निहायत जरूरी है। 'प्रकाश'के अध्यक्ष म० कृष्णजीने पंडितजीसे कुछ सवालात पूछे थे। पंडितजीने उसका जो जवाब दिया था, वह उर्दूके प्रकाशमें प्रकाशित हो चुका है। पंडितजीके विरोधियोंने उसे अच्छी तरह पढा ही होगा। अब विरोधियोंका कर्तव्य है कि वे पंडितजीपर किये गये आक्षेपोंको सत्य सिद्ध कर पंडितजीके जवाबको भी गलत साबित करें, यदि वे अपनेको सच्चे आर्य-समाजी तथा ऋषि दयानंदके सच्चे अनुयायी समझते हों।

मैं १९३७ के डीसेंबर आफ्रीका आया हुआ हूं। अतः लगभग १०—१२ माससे इस झगडेसे बहुत कुछ अनभिज्ञ हूं। मुझे इस झगडेका विशेष विकृत रूप यहां पर पहले पहले अगस्तमें नैरोबीमें आकर पता चला। कुछ लोगोंने मेरा इस ओर ध्यान खींचा। उन्होंने मुझसे कुछ इस विषयक सवालात भी किये, तथा प्रकाशके कुछ लेख भी दिखाये। मैंने वे लेख ध्यानसे सुने तथा खुदभी पढे। उन्हें पढने-सुननेके बाद इस बातका पूरी तौरसे खयाल आ गया कि इसीको कहते हैं, 'सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग।'

इन सारे लेखोंको पढनेके बाद कोईभी समझदार व्यक्ति इस बातका स्वयं परिणाम निकाल सकती है कि साधारण

जनताको आर्यसमाज तथा ऋषि दयानंदके नामसे किस तरह बहकाया गया है। प्रायः आजकाल जब किसीसे योग्य जवाब नहीं बन पड़ता, तो वह यही तरीका अख्त्यार करता है। यह एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है कि जिससे अनपढ जनताके मर्मस्थलको बेधकर मनमाना परिणाम उपजाया जा सकता है। जब मैंने इन लेखकोंकी यह हालत देखीतो फौरन एक पत्र नैरोबीसे पंडितजीको लिखा है कि कृपया आप इस वादविवादमें न पड़ें तथा किसी भी प्रतिपक्षीके पत्र या लेखका जवाब देनेकी जरूरत नहीं। आप कितनाभी कैसाभी लिखेंगे, वह अरण्यरोदनके समान ही होगा। जिस तरीकेसे ये लोग जनताको अपील करना चाह रहे हैं, वह तरीका आप नहीं अजमा सकते, क्योंकि उसके लिए आपके पास आर्यसमाजकी कोई गद्दी नहीं है। आप सिर्फ अब उतनाही वैदिक धर्ममें लिखें, जिससे आपका अपना सिद्धांत ही पुष्ट हो, आप इन बातोंमें समय खोनेकी अपेक्षा अपने कार्य पर ही विशेष ध्यान दें। आप इस बातकी परवाह न करें कि आपके कार्यकी कुछ लोग अनिच्छित समालोचना कर रहे हैं अथवा आपके प्रत्युत्तर आर्यसमाजके उदार (!) अखबार नहीं छाप रहे और यदि छाप रहे हैं, तो इस तरहसे कि उसका छापना न छापना बराबर है।

मुझे वैदिक धर्ममें पं० नरदेवजीका पत्र पढकर बड़ी खुशी हुई कि जिस बातको मैं अनुभव कर रहा था, उसी बातको देखके और विद्वान्‌भी उसी तरह अनुभव कर रहे हैं तथा चाहते हैं कि पं० सातवलेकरजी इस झगडे में न उतरकर अपना तमाम समय वेदमुद्रणके अमूल्य कार्यमेंही बदस्तूर लगाये रखें। मैं तो पंडितजीसे अबभी यही प्रार्थना करूंगा कि इस झगडेमें पड़ना आपके लिए उतना आवश्यक नहीं, जितना कि वैदिक साहित्यको शीघ्र प्रकाशित करना आवश्यक है। यदि मैं इतनी दूर परदेशमें न होता, तो शायद पंडितजीका यह अमूल्य समय बचा लेता, जो कि उन्हें इस वितण्डावादके पीछे न छुटके देना पड़ा है!

वेदादि शास्त्रोंको शुद्ध तथा सस्ता छापना बड़ी भारी मेहनत तथा धनसे होनेवाला कार्य है। इस कार्यमें चित्तकी शांतिभी उतनीही आवश्य है। इस कार्य का महत्त्व वही जान सकता है, जिसे करना पड रहा हो। वंध्या प्रसूतिकी वेदनाको क्या समझे ?

पंडितजी सच्चे ब्राह्मण हैं। वे इस मानापमानकी ओर कभीभी लक्ष्य नहीं करते। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो निःसंदेह आज हमें उनकी अमूल्य सेवाओंसे वंचित रहना पड़ा होता। यह निष्ठुर व ऐहसानफरामोश संसार जीतेजी कभी किसीका आदर नहीं करता। अतः इन सब विरोधोंकी ओर थोडासाभी ध्यान न देते हुए पंडितजी अपना कर्तव्य करते जा रहे हैं, यही हमारे लिये सबसे बढकर खुश किस्मती की बात है। परमात्मा उनको चिरायु करे ताकि हम उनकी अधिकसे अधिक सेवाओंका लाभ उठा सकें।

मैं स्वाध्याय-मंडलके ग्राहकों, पाठकों तथा सहानुभूति रखनेवाले सज्जनोंसे प्रार्थना करूंगा कि जिन्हें वस्तुतः स्वाध्याय-मंडल या पंडितजीके बारेमें जाननेकी अभिलाषा हो, उन्हें चाहिए कि वे अपनी तमाम शंकाओंको पत्रद्वारा या रूबरू मिलकर पूछें तथा योग्य खुलासा प्राप्त करें। बाकी जिन लोगोंको ऐसे ही लेख पसंद हों अथवा उसीको मानना चाहते हों, जोकि उनके मनमाने अखबारमें प्रकाशित हो रहा हो, तो उनसे हमें कुछ नहीं कहना। वे बेशक उसीको मानते रहें। उनके उस अंधविश्वासको शायद परमात्माभी दूर न कर सके!

विरोधसे लाभ हुआ है या हानि ?

जहांतक मेरा अनुमान है, इस विरोधसे स्वाध्याय-मंडलको कोई खास आर्थिक नुकसान उठाना नहीं पड़ा। क्योंकि इस विरोधसे स्वाध्यायमंडलद्वारा प्रकाशित वेदोंकी खबर सर्वत्र पहोंच चुकी है और परिणामतः बहुतसे लोग पेशगी मूल्य भेजकर अपना नाम ग्राहकोंमें लिखवा रहे हैं। ग्राहकोंकी इस शीघ्रताकी वजहसे प्रथम बारका छापा हुआ ऋग्वेद आज सर्वथा समाप्त हो गया है, तथा इस थोडेसे समयके अंदरही फिर दुबारा ऋग्वेद छापना पड रहा है।

इस विरोधसे जो थोडाबहुत आर्थिक नुक्सान हुआ हुआ कह सकते हैं, वह यही कि कुछ उर्दू जाननेवाले ऐसे सज्जन कि जिन्होंने आजतक किसी सत्-कार्यमें न दिया है और शायद भविष्यमें भी कभी न

देगें, ऐसोंको न देनेके लिए यह एक और खासा बहाना मिल गया है।

इस विरोधने निःसंदेह स्वाध्यायमण्डलको औरभी विशेष प्रसिद्ध कर दिया है। जो लोग स्वाध्याय-मण्डलको विशेष रूपसे नहीं जानते थे, या जिन्होंने सिर्फ नामही सुन रखा था, वेभी अब उसे अच्छी तरह जानने लग गये हैं। दुनियामें कभी कभी विरोधभी अभीष्ट परिणामपर पहोंचा देता है, इसके लिए यह एक उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है।

सच है कि- सत्कार्योंमें परमात्माका सर्वदा हात रहता है। अतः विरोधभी नुकसान न पहोंचाकर लाभप्रदही साबित हुआ करता है। इत्योम् ॥

देवृकामा और वेद।

[लेखक— पं० लक्ष्मणसिंह वेदालंकार, 'प्रतिष्ठित स्नातक' गुरुकुलकांगडी, M. R. A. S., अजमेर]

'देवकामाः' या 'देवृकामाः' शब्द का झगडा आर्यसमाज के सामने आज खडा हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। आर्यसमाज के सामने यह समस्या बहुत पुरानी है। परन्तु श्री पं० सातवलेकरजी के वेदमुद्रण के कार्य से वह जनता के सामने प्रकट हो गई है। अंतर केवल इतना ही हुआ कि यह प्रथम उपदेशकों व आर्यविद्वानों के सामने ही थी और अब यह संसार के सामने आ गई है। और फिर आज इसको करीब एक वर्ष से ज्यादा हो गया है, परंतु यह अभीतक हल नहीं हुई।

यह ठीक है कि वेद से सम्बन्ध रखनेवाली कोई समस्या जल्दी से हल नहीं की जा सकती और उस पर एक दम निर्णय दे देना ठीक भी नहीं। परंतु इसका यह भी अर्थ नहीं कि हरएक बात में चाहे कोई आसान हो या कठिन हो, वही बरसों का समय लगाना और वह केवल इस कारण से कि वह वेद से सम्बंध रखती है- किसी बुद्धिमान् की समझ में नहीं आ सकता। यह ठीक है कि एक्च्यूरीयल कोर्स के सवालों को करने में या ज्योतिर्विज्ञान के समीकरण सरल करने में न केवल कुछ दिन ही या महीने ही लगते हो, परंतु कई बार बरसों भी लग जाते हैं, परंतु इसका यह मतलब नहीं कि हम हम और और को जोडने में भी दिन, महीने या बरस लगा दें केवल इसलिये कि वह भी गणित से सम्बंध रखता है।

आज मुझे इस पर लिखने की क्यों आवश्यकता महसूस हुई, यह भी जान लेना आवश्यक है।

अभी ता० १ फरवरी को श्री पं० सातवलेकर जी दो एक दिन के लिये अजमेर की ओर आये थे, और हमारे यहीं ठहरे थे। एक दिन रात्रिको वार्तालाप करते हुए उनसे ज्ञात हुआ कि उन्होंने इस सम्बंध का एक पत्र सब आर्यप्रतिनिधिसभाओं व सार्वदेशिक सभा के पास भी भेजा था, परंतु उनका एक भी पत्र उत्तर में नहीं प्राप्त हुआ। केवल मात्र पत्र पहुंच की सूचना तो एक प्रतिनिधिसभा (राजस्थान व मालवा) की तरफ से पहुंचा। अस्तु।

इससे एक सज्जन क्या परिणाम निकालेगा, वह तो हम सब जान सकते हैं। परन्तु इससे इतना तो मालूम होता है कि आज आर्यसमाज में सत्य का कितना स्थान रह गया है। क्या आज आर्यसमाजें अपने दस नियमों में से चौथे नियम का, जो मेरी दृष्टि में आर्यसमाज का आधार है, पालन करती हैं? यह प्रश्न जरूर उपस्थित हो जाता है।

श्री० पं० सातवलेकरजी के पत्र का उत्तर न देने के तीन कारण हो सकते हैं—

१. हम अपने पंडितों द्वारा विचार करवा रहे हैं।

२. 'देवृकामाः' शब्द को पुष्ट करने के लिये उसके अर्थ में परिवर्तन करने की चेष्टा करना अथवा उसको पुष्ट करने के लिये नये 'अभूतपूर्व' साधनों की खोज करना तथा।

३. उपेक्षा।

इन तीनों कारणों में से पत्र का उत्तर न देने में कौनसा हेतु है, हमें अब यह विचार करना है। यद्यपि मैं यह कह सकता हूं कि इसका उत्तर न देने में तीसरा ही कारण है, अर्थात् 'उपेक्षा'। परंतु थोडी देर के लिये हम यह मान लें, क्योंकि

इससे आर्यसमाज की नैतिक अवस्था का घोर पतन होता है कि इसका यह कारण (उपेक्षा) नहीं है। तब प्रथम दो ही कारण शेष रह जाते हैं। इसमें से भी प्रथम कारण नहीं हो सकता, क्योंकि इतना दीर्घ समय इसके लिये पर्याप्त था, परन्तु उत्तर नहीं मिला। इस बात का हम आगे विचार करेंगे कि क्यों इतना समय इस पर विचार करने के लिये पर्याप्त था। फिर हमें यह विश्वस्त सूत्र से मालूम है कि अभीतक विविध प्रतिनिधिसभाओं ने इसके लिये कोई खास प्रयत्न नहीं किया, जिससे कि उनको इतना समय हो गया हो। परिशेषन्याय से हमें यही मानना चाहिये कि उत्तर न देने में यह दूसरा ही कारण मुख्य होना चाहिये। जिसके कारण से उनको इतना विलम्ब हुआ। असली कारण तो जैसा हमने ऊपर बतलाया, उपेक्षा है। परंतु यदि दूसरा ही कारण मान लिया जाय, तो हमें यह विचार करना है कि क्या यह हेतु ठीक है?

आज, आर्यसमाज वेद पर इस प्रकार से विचार करने लगेगी, तो वेद का अनर्थ होने में कोई सन्देह नहीं। आर्यसमाज की यह खोज कि मध्ययुग में प्राचीन साहित्य के अंदर स्थान स्थान पर पाठभेद घुसेडे गये हैं, अपना कोई मूल्य नहीं रखती। विविध स्थलों को हम प्रक्षेप क्यों मानते हैं, क्योंकि उसमें उद्धृत सिद्धांत ग्रंथलेखक के विचारों से विपरीत आते हैं। केवल इसी नींवपर हम 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' जैसे वाक्यों को प्रक्षेप मानकर निकाल देते हैं।

यदि परस्परविरोधी सिद्धान्त भी एक ही ग्रन्थ के लेखकके विचारों के अनुकूल हो सकते हों, तो फिर किसी भी अंशको प्रक्षेप मानने में बडी कठिनाई का सामना करना होगा। और उस अवस्था में ग्रंथ का कोई मूल्य भी नहीं रहता।

दूसरा हम ऐसा करने को क्यों तैय्यार होते हैं, यह भी एक सवाल है। आर्यसमाज के सामने 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' का कोई मूल्य नहीं, और इसका हमारे आचार्य ऋषि दयानंद ने घोर विरोध किया है। दूसरे ग्रंथों के लिये तो हम स्वामीजीके इस प्रकार के विचार का अनुकरण करने लगते हैं, परंतु जब घर की खोज होती है, तब सब भूल-भाल जाते हैं।

आज हम ऐसा करने को क्यों तैय्यार होते हैं? वह इसलिये कि यह महर्षि दयानंद सरस्वती ने लिखा है, इसलिये इसमें अशुद्धि हो नहीं सकती। अभी तो यह भी एक प्रश्न है जो हल नहीं हुआ कि स्वामिजी के सम्पूर्ण ग्रंथ उनका एक-एक अक्षर स्वामिजीनेही हाथ से लिखा हुआ है, या उन्होंने उनके पण्डितों द्वारा लिखे हुए, पर यत्र-तत्र लेखिनी का उपयोग किया है और अन्त में केवलमात्र हस्ताक्षर कर दिये हैं। ऐसी अवस्था में क्या कोई सिद्धांत या अन्य अर्थ इस आधार पर मानना कि ऐसा स्वामिजी ने कहा है या लिखा है, हमारे अंदर के 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के भावों को पुष्ट नहीं करता। और क्या हमारे अंदर आज पुनः वेही संस्कार उत्पन्न नहीं हो रहे जिनको हटाने के लिये महर्षि ने जन्म लिया था?

अच्छा हमने थोडी देर के लिये यह भी मान लिया कि अक्षर-अक्षर (उनके ग्रन्थों का) स्वामिजीके हाथ काही लिखा हुआ है। ऐसी अवस्था में भी हम उनके ग्रंथों को दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो ग्रंथ का स्वरचित भाग और दूसरा उन ग्रन्थों में दूसरे ग्रंथों के, वेद-ब्राह्मण, स्मृति उपनिषदादि, उद्धृत वचन। प्रथम भाग तो स्वामिजी के ही मस्तिष्क का है, परन्तु क्या दूसरा भाग भी स्वमिजी के ही मस्तिष्क का है। क्या दूसरे भाग के उद्धृत वचनों में जो शुद्धि या अशुद्धि है, उसके लिये भी क्या स्वामिजी ही उत्तरदायी है।

दूसरे भाग में उद्धृत वचनों को हम पुनः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वेदवाक्य जो स्वतःप्रमाण हैं और दूसरे अन्य सब वाक्य

परतःप्रमाण हैं। और क्या स्वामिजी इन दोनों के लिये उत्तरदायी हैं? अब यदि आप यह कहें कि स्वामिजी क्योंकि ऋषि थे, इसलिये स्वतः प्रमाण वेद के लिये तो वे उत्तरदायी हैं और परतःप्रमाण अन्य ग्रन्थों के लिये वे उत्तरदायी नहीं। उस अवस्था में हमारा विचार आगे चलता है और यदि स्वामिजी किसी के लिये भी उत्तरदायी नहीं, तो उनके नाम पर कोई बात क्यों थोपी जाती है। और उस अवस्था में विवाद समाप्त हो जाता है। परन्तु हम उनको उत्तरदायी मानने से प्रतीत होते हैं। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि वे उसके लिये भी उत्तरदायी नहीं।

अगर आप उनको उत्तरदायी मानते हैं, तो क्या आप मुझे यह बतला सकते हैं कि क्या स्वामिजी पर उसी प्रकार से वेद आविभूत हुए थे, जैसे सृष्टि के प्रारंभ में चार ऋषियों पर या ब्रह्मा पर हुए? इसमें पुनः तीन अवस्थायें हो सकती हैं—

१. स्वामिजी पर अग्न्यादि चार ऋषियों की तरह से वेदों का आविर्भाव हुआ।

२. उस समय के छपे वेदों (जैसा उनके जीवन-चरित्र से मालूम होता है कि उन्होंने जर्मनी से मेक्समूलर के वेद मंगवाये) पर ही उनका आश्रय था और वे ही उनके पास थे। अथवा—

३. स्वामिजी ने जर्मनी से चारों वेद मंगवाकर उसमें स्वबुद्धि के प्रभाव से संशोधन किया और वे वेद हम तक छपवाकर पहुंचाये।

यह तीसरी बात तो हुई नहीं, क्योंकि न तो आर्यसमाज के किसी तत्कालीन सज्जन ने इस पर प्रकाश डाला और नाहीं यह बात उनके विस्तृत जीवनचरित्र में आती है। इसके अलावा हमें उनके हाथ से संशोधित वेदों की प्रतियें भी प्राप्त नहीं होती हैं। और नाहीं हमें ऐसा कोई वेद मिलता है, जिस पर महर्षि दयानन्द द्वारा संशोधित लिखा हो। ऐसी अवस्था में केवल दो हो बातें शेष रहती हैं। उनमें से भी प्रथम को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि स्वामिजी ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया। फिर यदि उनको ऋषि होने के कारण वेदों का दर्शन आविर्भाव हुआ होता, तो उन्हें जर्मनी से वेदों को मंगवाने की जरूरत नहीं थी। परंतु उन्होंने जर्मनी से वेद मंगवाये-इसमें तो जरा संदेह नहीं। इसलिये यह तो माना नहीं जा सकता कि उन पर पुनः परमात्माने वेदों का आविर्भाव किया। पुनः ऐसा मानना एक हास्यास्पद बात भी होगी कि, परमात्मा के पुनः इस बीसवी सदी में वेदों को देने की आवश्यकता अनुभव हुई।

ऐसी अवस्था में एक ही बात शेष रहती है कि उन्होंने जर्मनी से वेद मंगवाये और वे ही उनके आश्रय थे और अगर यह ठीक है, तो हमें उनको उसी प्रकार से समझना चाहिये और इस कारण से यदि कहीं प्रक्षेप या परिवर्तन का ज्ञान हो, तो उसे हटाने व बदलने के लिये भी तैय्यार रहना चाहिये। इसी में उस महर्षि का सच्चा गौरव है। परन्तु आज हम इसका कहां तक पालन कर रहे हैं, यह हमें अपने दिलों से पूछना चाहिये।

वेद के एक शब्द पर विचार होता है और चाहे विपक्षियों की तरफ से अथवा अपने ही आदमियों की तरफ से। परन्तु विचार उठाया गया और वेद के एक शब्द पर सन्देह प्रकट किया गया, तो उस पर आर्यसमाज के विचार न करना अथवा करना तो जान-बूझकर गलत करना-हमारे दिलों के जो वेदका संदेश दूर दूर तक फैलाना ही अपने जीवन का उद्देश्य समझे बैठे हैं, कितने दुःख का कारण बननी चाहिये। परंतु हमें इस पर तनिक भी लज्जाका अनुभव नहीं होता। यदि आर्यसमाज में वेदों के विद्वान् नहीं हैं, तो हमें यही कह कर संतोष करना चाहिये? परन्तु हम यह भी तो मानने को तैय्यार नहीं। धन्य है उन पाश्चात्य विद्वानों को जिन्होंने सत्य की खोज के लिये कोई कसर उठा न छोड़ी और सत्य को मानने के लिये अनेकों यातनायें भोगीं। धन्य है 'ब्रूनो' को जिसने सत्य

*

सिद्धान्त को मानने के लिये जीवित अग्नि पर जलना स्वीकार किया। गैलिलियो जैसी महान् आत्मा को सत्य विचारों व सिद्धांतों को फैलाने के खातिर जेलों में सड़ना पड़ा। वास्तव किसी ने ठीक कहा है कि—

'सचाई छिप नहीं सकती कभी झूठे असलों से।
सुगन्धि आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से।

विद्याप्रेम क्या है, यह तो हमें अभी अपने पाश्चात्य विद्वानों से सीखना है। केवल चिल्लाना मात्र विद्याप्रेम का चिह्न नहीं।

मैं आर्यसमाजियों से पूछता हूं कि भाई! वेद के अनुसार अपने को चलना है, या अपने अनुसार वेद को चलाना है? यदि वेदों को अपने अनुसार चलाना है, तब तो हमें कुछ नहीं कहना, परंतु यदि वेदों के अनुसार अपने को चलाना है, तो अपने सिद्धांतों को वेद पर नहीं मढना चाहिये और युक्तिपरम्परा को ठीक रखना चाहिये। नहीं तो वेदों की रक्षा करना एक कठिन कार्य हो जायेगा।

इसी प्रसंग में 'आर्यसमाज और वेद' पर इतना लिख कर अब हम 'वेद और देवृकामाः' तथा आर्यसमाज और देवृकामा पर प्रकाश डालेंगे।

अभीतक इस विवादके स्थलपर आर्यप्रतिनिधि-सभाओं के या यों कहना चाहिये कि रजिस्टर्ड पंडितों ने कुछ नहीं कहा है और नहीं लिखा है। यदि इसका अर्थ जैसा कहा जाता है।

'मौनं स्वीकारलक्षणम्'

हो। तब तो ठीक-परन्तु उस अवस्था में भी पत्र-पत्रिकाओं में न सही, पं० सातवलेकरजी को उनके पत्र के उत्तर में उत्तर तो जरूर देना चाहिये था। परंतु-

'एक और खाई और उत्तर दूसरी ओर पहाड' वाली कहावत चरितार्थ होती है। आर्यप्रतिनिधि सभाओं अथवा अंधविश्वासी आर्यों के लिये एक कठिन समस्या है। एक ओर झुके तो वेद अशुद्ध होता है और दूसरी ओर झुकें, तो स्वामी दयानंदजी का (So called) पाठ अशुद्ध होता है। मुझे पाठक क्षमा करें, मुझे सत्य के विषय में गोलमाल लिखने का अभ्यास नहीं। हमारी व स्वामी दयानंद के सच्चे अनुयायियों की दृष्टि में तो न खाई है न पहाड। हम तो समझते हैं कि जैसे सीधे रस्ते पर बच्चा फिसल जाता है, हम फिसल गये और पुनः रस्ता दिखलाये जाने पर सही मार्गपर चलने लग पड़े। पर उनका क्या किया जाये, जो फिसल भी गये और फिर भी कहें, हम नहीं फिसले और जहां फिसल कर आ पड़े, उसको ही वास्तविक रास्ता समझ बैठे। यह एक आर्यसमाज की परीक्षा का समय था, कि वह 'देवृकामाः' और 'देवृकामाः' में से किसी एकको चुनती, पर नहीं। यहां तो

'सबसे भली चुप'

हम देखते हैं कि आर्यसमाज अभी उत्तीर्ण होने में समर्थ नहीं हुआ।

मुझे किसी पर कटाक्ष नहीं करना, क्योंकि मैं भी उन्हीं स्वामी दयानंद के अनुयायियों में से एक हूं, परंतु फिर भी एक नमूना, जिससे कि हमारी विचारधारा अशुद्ध न हो, उदाहरण के तौर पर रखना चाहता हूँ।

आर्यमित्र ता० ३० जून १९३८ के अंक में एक पत्र श्री० प्यारेलालजी वैद्य वानप्रस्थी का छपा है। उसमें उन्होंने ऋग्वेद में 'देवृकामा' ऐसा पाठ है, पुष्ट करते हुए अनेकों युक्तियाँ दी हैं। वे कितनी लचर हैं या अखंड हैं, मुझे इसकी समालोचना नहीं करनी। वैद्यजी अपनी ५ वीं युक्ति में ऋग्वेद के पाठ के लिये सायणकृत अथर्ववेद-भाष्य का प्रमाण देते हैं, जब कि इसी सायण का इसी स्थान के पाठ के लिये उसका सायणभाष्य भी मौजूद है। इसमें क्या भावना कार्य कर रही है, इसकी विवेचना मुझे नहीं करनी। परंतु क्या इस प्रकार की युक्तियें देकर आर्यसमाज के रजिस्टर्ड पंडित दूसरे विद्वानों को निरा मूर्ख ही समझते हैं ? मेरे विचारों में हो सकता है, इस

प्रकार का भी एक प्रमाण पुष्टि में दिया जा सकता है, परंतु वह इस रूप से नहीं जैसे वैद्यजी ने दिया है। इस बात को तो कोई नहीं कह सकता कि, वैद्यजी पंडित नहीं हैं, क्योंकि जो अध्ययन व मनन करे वह पंडित हो सकता है, (जन्म से न भी हो), इसका किसी ने कोई ठेका नहीं ले रक्खा। यह लिखने से हमारी आर्य विद्वानों को चेतावनी है, कि यदि वे विचार कर रहे हों, तो इस प्रकार की असंगत युक्तियों को न रक्खें। और यदि विचार ही न कर रहे हों, तो वैसा लिखें, ताकि लोगों को भ्रम न हो। हमें शुद्ध रूप व पवित्र भावना से विचार कर इस बात का सदैव प्रयत्न करना चाहिये कि हम वेदों को शुद्ध रक्खें। अब भी चेतने का समय है और आर्यसमाज को इधर उधर बगलें न झांककर स्पष्ट सामने आना चाहिये। और जैसी बात हो उसको कहनी चाहिये।

भाइयो ! यदि केवल अर्थपरिवर्तन में ही इतना समय लग रहा हो, तो मैं आपको देवृकामाः का अर्थ बतला देता हूँ, जिसमें किसी को आक्षेप नहीं। 'देवृकामा' अर्थात् देवरकी कामना करनेवाली अर्थात् मेरे बहुत सारे देवर-पतिके भाई हों, जिससे मेरा परिवार हराभरा रहे। इसमें किसी को आक्षेप नहीं और इसमें भी शक नहीं कि स्वामिजी ने यदि इतना ही अर्थ किया होता, देवर की कामना करती हुई–तो आर्यसमाजी आज 'देवृकामाः' पाठ को बदलने के लिये कभी तैय्यार नहीं होता। और उस अवस्था में आर्य विद्वान् पं० सातवलेकरजी के पत्र का उत्तर भी तुरंत दे देते। परंतु कठिनता है स्वामिजी के अगले शब्दोंमें अर्थात्-नियोग की भी इच्छा करनेहारी- कि इनका क्या किया जाये, इसको पंडितों, लेखकों का प्रक्षेप मान लीजिये जैसा सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में हुआ, यह मैंने यों ही नहीं लिख दिया है, आज हम ऐसा कर रहे हैं।

जिस समय गुरुकुलकांगड़ी महाविद्यालय में हमें संस्कारविधि पढाइ गई तब हमने इस ओर ख्याल नहीं किया और जब यह मंत्र 'देवृकामाः' पद सामने आता, हम इतना ही अर्थ कर आगे चल देते कि देवर की कामना करने वाली, हमने अगले शब्दों पर ख्याल ही नहीं किया। परंतु उन्हीं दिनों (ग्रीष्मावकाश) में हमें एक बार एक विवाहसंस्कार में जाने का अवसर प्राप्त हुआ और वहां हमने पुरोहित, जो संस्कार करवा रहा था के मुख से जब 'देवकामाः' सुना तब सबसे प्रथम हमारे हृदय में यह शक उत्पन्न हुआ और तब से हम व्यक्तिगत-रूपमें 'देवकामाः' पाठ ही मानते आये हैं। परंतु क्योंकि उन दिनों हमें यह ज्ञात नहीं था कि यह विवादास्पद स्थल है, नहीं तो शायद हम उसी समय इस पर कुछ लिखते। परंतु उसके बाद एक नहीं अनेकों विवाहसंस्कार देखे, और सब जगह हमने यही पाया, कि या तो पुरोहितजी मंत्र-भाग पढते हुए ही 'देवकामाः' पढते और उसका अर्थ करते 'देवों की कामना...' अथवा जो कुछ झिझकी हो, वे पढते तो देवृकामा पर अर्थ करते देवों की कामना करनेवाली, बहुत से ऐसे भी उपदेशक देखे, जो इस शब्द का उच्चारण ही नहीं करते, परंतु ऐसा उपदेशक शायद ही कोई मिला होगा, दो एक को छोडकर जो केवल समाज में पुरोहित का काम उस वक्त करते हैं, जब कोई अच्छा विद्वान् नहीं मिलता और संस्कारविधि लेकर उसको ज्यों का त्यों पढते हैं, जिसने 'देवृकामाः' उच्चारण कर अर्थ भी वही किया हो, जो संस्कार-विधि में छपा है।

मुझे समझमें नहीं आता कि यह कमजोरी क्यों? जिस बातको हम क्रिया में लाते हुए शर्माते हैं, उसको मानने से इन्कार करते हुए क्यों झिझकते हैं? यदि ऐसी बात नहीं और यदि हम वेदों में सच्चा विश्वास रखते हैं और मानते हैं कि वेद का वही पाठ है, तो फिर चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, भगवान् की आज्ञा समझ कर करते जाना चाहिये। यदि हम सच्चे हैं, तो यह हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने संपूर्ण उपदेशकों

व पुरोहितों को यह हिदायत करदें कि, वे उसे वैसा ही प्रयोग में और कार्य में लायें जैसा कि संस्कारविधि में छपा है । उस समय हम समझेंगे कि हम आर्यसमाजी सच्चे हैं। और हमें अपनी बहिनों, लडकियों व पुत्रवधुओं को भी इसी प्रकार के आशीर्वाद देने चाहिये। परंतु है कोई ऐसा करनेवाला ? इसी को वेद ने उपद्वयुता (Duplicity) कहा है । इसे छोडना चाहिये । हमें स्वामी दयानन्द के नाम वेद में हस्ताक्षेप करने का अधिकार नहीं ।

अब हम अपने लेख के तीसरे अंशपर विचार करेंगे कि वेद का, चाहे वह अथर्ववेद या ऋग्वेद हो, 'देवृकामाः' शब्दसे कोई सम्बंध है या नहीं। हमारा तो विचार है कि वेद में 'देवृकामाः' शब्द है ही नहीं । किसी बात को पुष्ट करने के लिये दर्शनकारोंने ८ प्रमाण माने हैं । और हम देखेंगे कि उनसे (जितने भी प्रमाण इसको पुष्ट करने के लिये उपयोग में आ सकते हों) क्या वेद से 'देवृकामाः' शब्द का सम्बंध जुडता है या नहीं ?

पं० सातवलेकरजी अथर्ववेद छाप रहे हैं, परंतु उसमें उन्होंने क्या पाठ रक्खा है× या रक्खेंगे, यह तो जब वेद छप कर सामने आयेगा, उसी वक्त मालूम होगा. परंतु हमारा विश्वास है कि यह शब्द परमात्मा की तरफ से वेद में नहीं हो सकता।

आज वेद के किसी पाठ को जांचने के लिये हमें जो साधन उपलब्ध हैं, उनको हम निम्न प्रकार से बांट सकते हैं और उनको हम ८ प्रमाणों में से कुछ के अन्तर्गत कर सकते हैं ।

१. हस्तलिखित प्राचीन वेद।
२. वेदों की शाखासंहिताएं।
३. ब्राह्मण, आरण्यक व अन्य सूत्रादि प्राचीन ग्रन्थ।
४. विविध प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य।
५. पाश्चात्य विद्वानों की खोज से निकाले गये परिणाम।
६. वेदों की जीवित मूर्तियें, अर्थात् वेद जिनके कण्ठ में निहित हैं ।
७. तर्क।
८. प्रकरण।
९. इनके अतिरिक्त यदि किसी को हो तो परमात्मा के द्वारा प्रकट होना।

आगे कुछ लिखने से पूर्व हम दो एक शब्द यहां प्रथम सवाल कि क्या आर्यसमाज इसके लिये प्रयत्न कर रहा है, कि यहां पर ऋग्वेद में क्या पाठ है, एक वाक्य में दे देना आवश्यक समझते हैं ।

पिछले लगभग एक वर्ष के समय में आर्यप्रतिनिधिसभाओं व सार्वदेशिक प्रतिनिधिसभा ने कितने हस्तलिखित वेदों का संग्रह इस निमित्त किया, कितनी शाखासंहिताओं को खोज कर पढा, कितने ब्राह्मण आरण्यक तथा सूत्रादि ग्रंथों को इस निमित्त से देखा, कितने पाश्चात्य विद्वानों के परिश्रम का लाभ उठाया, कितने वेदपाठी विद्वानों से पूछा, और कितना उक्त पाठ को तर्क के अनुसार पाया और क्या इतना कार्य हमारी सब सभायें मिलकर इतने समय में नहीं कर सकती थी ? इसलिये यह कहना पडता है कि वे इस पर विचार नहीं कर रहे ।

यहां मैं एक बात और पूछना चाहता हूँ कि जब स्वामिजी को वेद प्रकट नहीं हुआ तो स्वामिजीने जर्मनीसे वेद मंगवाकर उपरोक्त साधनों में से कितनों का उपयोग बढा कर उन्हों ने वेदों का शुद्ध मुद्रण करवाया ? वास्तव में, पाठकवृन्द! उस महर्षि को इतना समय नहीं था, जो संसार में प्रभु का एक संदेश लेकर आया था, कि एक स्थान पर बैठ कर वे इस कार्य को करते । उन्होंने

× स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित अथर्ववेदमें "देवकामा" पाठही स्वीकृत किया गया है। -संपादक "वै०धर्म"

भी वर्ष में जो कार्य किया, वही बहुत है। और जो कार्य स्वामिजी अधूरा छोड गये, उसे पूर्ण करने को हमें कटिबद्ध होना चाहिये। यदि हम न भी करना चाहें, तो भी कम से कम हमें विरोध तो न करना चाहिये।

ऋग्वेद के पद 'देवृकामाः' के सम्बन्ध में तो 'वैदिक धर्म' के श्रावण (अगस्त) के अंक में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है और इसके अतिरिक्त यह शब्द वेदों में एक ही स्थान पर और आता है और वह है अथर्ववेद में।

अथर्ववेद के सम्बन्ध में इतना कार्य अभी नहीं हुआ है, जितना कि ऋग्वेद के संबंध में। और जो कार्य हुआ है, उसके अनुसार अथर्व में दोनों पाठ माने गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में हमारे लिये एक समस्या खडी हो जाती है।

यदि हमारा यह विश्वास सत्य है कि वेद ईश्वर की तरफ से आये हैं, तो यह तो मानना पडेगा कि परमात्मा ने हमें दो पाठ नहीं दिये। वहां से एक ही पाठ आया है। जब यह सत्य है, तो हमें यह भी मानना पडेगा कि अथर्ववेद में भी 'देवृकामाः' और 'देवकामाः' में से एक ही शब्द परमात्मा का उच्चारित है। और दूसरा शब्द क्योंकि उसकी तरफ से नहीं आया, अतः उसका स्वतःप्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमें वहां भी एक ही पाठ जो स्वतः प्रमाणित है, मानना चाहिये और उसे खोजनेका प्रयत्न करना चाहिये।

इस बात का अच्छी तरह से ध्यान रखना चाहिये कि, ऋग्वेद के संबंध में जरा भी संदेह नहीं है। और यदि ऐसा है, तो हमारा बहुत कुछ कार्य हलका हो जाता है।

यों तो यह एक स्वतंत्र विषय है, जिसपर प्रकाश डालने के लिये एक स्वतंत्र ही लेख की आवश्यकता है। परंतु फिर भी हम संक्षेप में उपरोक्त साधनों को ध्यान में रखते हुए अपना विचार लिखेंगे।

हमारा ऐसा दृढ विश्वास है (कम से कम अभी तक) कि अथर्ववेद में भी 'देवकामाः' ही पाठ होना चाहिये।

अथर्ववेद की शाखासंहितायें सबसे कम हैं और वे केवल नौ हैं। इसी प्रकार से ब्राह्मण, आरण्यक सूत्रादि ग्रंथों में ऋग्वेद का जितना उल्लेख है, उतना अन्य वेदों का नहीं। (इसमें भी एक बडा भारी कारण है, जिसपर विचार करना विषय से बाहर जाना होगा) इसलिये बहुत कुछ कठिनता अवश्य है। पाश्चात्यों की खोज का उपयोग इसलिये नहीं ले सकते कि, उन्हों ने प्रायः दोनों पाठों को स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था में केवल तर्क और प्रकरण ही शेष रहते हैं। इन सबसे आगे जो एक मुख्य युक्ति है कि, जिसके सामने हमें अपना सिर झुकाना ही पडता है वह है वेदों की दैवत और आर्षेय संहितायें। वेदों की इन शाखासंहिताओं का तात्पर्य समझ लिया जाये तो यह प्रश्न हल हो सकता है कि वेदों में 'देवकामाः' पद होना चाहिये या 'देवृकामाः'। पर इनसे इतना तो निश्चय है कि दोनों मंत्रों का पाठ एक ही होना चाहिये। नहीं तो दैवतसंहिता और आर्षेय संहिताओं की कोई सत्ता नहीं रहती। ये दोनों संहितायें इस बात की द्योतक हैं कि एक मंत्र जो एक ही ऋषि और देवतावाला है, उनके पाठों में भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। नहीं तो ये संहितायें बन ही नहीं सकतीं। इससे भी ऊपर हमारे पास तर्क और प्रकरण दो साधन और हैं, जिनसे हम दोनोंमें से कौनसा पाठभेद ठीक है यह निश्चय कर सकते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों का मन्त्र "अघोरचक्षुः" एकही प्रकरणमें आया है। जितने भाष्यकारोंने इन दोनों वेदोंपर भाष्य किया है, उन्होंने अर्थ भी एक ही किया है, ऐसी अवस्थामें एक ही प्रकरणके होते हुए जिन युक्तियों से हमने एक स्थान का पाठ

निश्चय किया है, उन्हीं युक्तियों से हम दूसरे स्थान का पाठ भी निश्चय कर सकते हैं। अर्थात् अथर्ववेद में भी ऋग्वेद की तरह से 'देवकामाः' ही पाठ ठीक सिद्ध हो सकता है, 'देवृकामाः' नहीं। वहीं तो हमें उन्हीं सब हेतुओंका समाधान करना होगा जो कि हम नहीं कर सकते।

प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार भी 'देवकामाः' शब्द को ज्यादा स्थान मिला है। आजतक किसी विद्वान् ने भी 'देवकामाः' के पक्ष में 'देवृकामाः' का तिरस्कार नहीं किया, परन्तु देवृकामा का 'देवकामाः' के पक्ष में तिरस्कार किया है। ऐसी अवस्थामें हमें वही पाठ 'देवकामाः' अथर्व में स्वीकार करना चाहिए। यदि हम आज नहीं करेंगे तो कल करना होगा।

यद्यपि हमने जीवित मूर्तियोंसे नहीं पूछा है, परन्तु यदि कोई अथर्ववेदपाठी हो तो मैं पं० सातवळेकरजी से निवेदन करूंगा कि वे उनसे जरूर पूछे और यथासाध्य इस स्थानपर एक ही पाठ 'देवकामाः' छापे। कुछ एक संहिताओंको छोडकर तथा आर्षेय, दैवत संहिता, तर्क तथा प्रकरण के अनुसार हमारा यह विचार और विश्वास है कि वेद का 'देवृकामाः' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।



वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ से ५)रु. वी.पी. से ५।।)रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ४

विषयानुक्रमणिका

१ अपना विजय।		१
२ वेदमुद्रणका कार्य।		४
३ परमेश्वरका साक्षात्कार। (३)	संपादकीय।	२३३
४ वेदमंत्रोंके उपदेश। (२)	स्व० पं० रघुनन्दन शर्माजी	२४१
५ वैदिक आधारपर शुद्ध निरुक्ति।	श्री. रामपालसिंह तवतिया	२६५
६ व्यापक भगवान्। आत्मार्पण-भावना। (काव्य)	श्री. लालचन्द्रजी	२६८
७ भारतीय स्वतंत्रताकी रूपरेखा (१)	श्री रामावतार विद्याभास्कर	२६९
८ नियम सप्तम।	पं० मदनमोहन विद्याधर।	२८९
९ जिन्दगीका सच्चा सुख और आनन्द कब मिले?		२९६

वर्ष २०

अंक ४

क्रमांक २३२

धर्म

चैत्र

संवत् १९९५

अप्रैल

सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

अपना विजय।

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥

(अथर्व० ५।३।१)

"हे अग्ने! युद्धोंमें मेरा तेज विशेष रीतिसे प्रकट होवे, हवन में तुझे प्रदीप्त करते हुए हम सब अपने शरीरोंको बलवान् और कार्यक्षम बनाते रहें। सब चारों दिशाओंमें रहनेवाले विभिन्न देशोंके लोग हमारे आगे नम्र होकर रहें, मैं इस अपने राष्ट्रका अध्यक्ष होऊंगा और अपने राष्ट्रमें ऐसा चैतन्य उत्पन्न करूंगा कि जिससे हमारे मिलकर किये प्रयत्नसे शत्रुओंके संपूर्ण सैन्योंका सतत पराजय होता रहे, और हमारा सतत विजय होता रहे।"

युद्धमें प्रचण्ड पराक्रम करना चाहिये। प्रतिदिन हवन करके ईश्वरभक्ति करनी चाहिये, तथा शरीर बलवान् रखने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। चारों दिशाओंके राष्ट्रोंमें ऐसा प्रभाव जमाना चाहिये कि जिससे वे लोग नम्र होकर रहेंगे। स्वयं अपने राष्ट्र में अध्यक्ष बनकर अपने राष्ट्रमें ऐसा क्षात्र तेज बढाना चाहिए कि जिससे शत्रुका पराभव और अपना विजय सदा होता रहे।

वेद-मुद्रण का कार्य।

अथर्ववेद।

अथर्ववेद छप चुका है। इसकी जिल्द बनवाईका कार्य चल रहा है। क्रमशः ग्राहकोंके पास जैसी जिल्दे हो रहीं हैं वैसी भेजी जाती हैं। मई मासके अन्ततक सब ग्राहकों के पास अथर्ववेद के ग्रन्थ भेजे जांयगे ऐसी आशा है। दस पंद्रह दिन अधिक लगेंगे, पर कम नहीं।

इसलिए पाठक अथर्ववेद न मिलने के पत्र दो मास तक न लिखे, क्योंकि हम क्रमशः भेज रहे हैं और सब रजिस्ट्री से या रेल से ग्रन्थ भेजे जा रहे हैं। इसलिये किसी को न मिलेंगे ऐसा हो नहीं सकता।

जिन ग्राहकों के पते बदले हों, वे अपने नये पतोंकी सूचना हमें दें, नहीं तो उनकी पुस्तक पुराने पते पर जायगी और वापस होगी। इसलिये अपने पते बदले होंगे, तो सूचना दे।

सामवेद।

सामवेद की मांग बडी जोर शोर से आ रही है। अभी सामवेद छपकर तैयार नहीं हुआ। सामवेद की छपाई बहुत कठिण है। इस कार्य के लिये काशी, मथुरा, बंगाल, बडोदा, शुक्लतीर्थ, बंबई, पूना, बंगलोर, म्हैसूर, आदि स्थानों के सुप्रसिद्ध सामवेद-पाठियों की सहायता प्राप्त की है, तथा कौथुमी, राणायणी, जैमिनी आदि शाखा के ग्रंथ प्राप्त करके अत्यंत शुद्ध छापने का बडा यत्न किया जा रहा है।

इस कारण इसका मुद्रण धीरे धीरे हो रहा है और वह इससे शीघ्र होना असंभव है। सामवेद-संहिता इस दिन से आगे तीन मास में छपकर तैयार होगी। तब ग्राहकों को भेजी जायगी।

यदि पाठक उपन्यास-मुद्रण और वेद-मुद्रण में कोई भेद नहीं मानते, तो हमारा दुर्भाग्य है। कृपा करके वे इस मुद्रण की कठिता का विचार करें और देरी की क्षमा करें।

ऋग्वेद मुद्रण।

कई ग्राहक ऋग्वेद न मिलाने के कारण बडे क्रुद्ध हुए हैं और हमपर विश्वासघातका मुकदमा चलाने के लिये भी उद्यत हुए हैं !!! उनसे हमारा ऐसा विनय है कि, पहिली वार छपा ऋग्वेद ३।४ महिनों में हातों हात बिक गया, जिसके विषय में हमारा ख्याल था कि यह २।३ वर्षों में भी नहीं बिकेगा। ऋग्वेद का शीघ्र बिक जाना ग्राहकों की और साथ साथ ईश्वरकी भी दया ही है।

हमने अति शीघ्र द्वितीय वार उसका मुद्रण करने का कार्य सिद्ध शुरू किया है। इसमें (१) पाद-चरण-का निर्देश, (२) संकीर्ण देवताओं का विशेष स्पष्टीकरण, (३) विश्वे देवा का स्पष्टीकरण आदि अनेक सुधार जो अत्यावश्यक थे, वे किये जा रहे हैं। प्रति मंत्रपर विचार करना पडता है, इसलिये प्रत्येक फर्मे की छपाई थोडी देरीसे हो रही है।

जो पाठक इस कार्य का महत्त्व जानेंगे वे इसको देरी अवश्य लगेगी ऐसा स्वयं मान सकते हैं। अन्य ग्राहक जलदी न छपने के लिये हमपर मुकदमा भी चलाने को उद्यत हुए हैं ! उक्त कारण का ग्राहक विचार करें और जो करना हो वह करें। हम यहाँ दिन और रात दूसरा कुछ भी कार्य नहीं कर रहे हैं और सब शक्ति वेद-मुद्रण पर ही लगाई जा रही है। हमारा ख्याल है ऋग्वेद की छपाई छः महिनों में समाप्त होगी, तब हम उस ग्रन्थ को ग्राहकों के पास भेजने में समर्थ होंगे।

इस समय हम यह ऋग्वेद कम से कम पांच हजार छाप रहे हैं। ग्राहक बढनेपर भी उनको न मिलने की शिकायत करने का कारण इससे न रहेगा।

"संपादक"

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है ?

इस विषय में वेदका संदेश क्या है ?

(तृतीय लेख+)

पूर्वग्रहदोष।

गत दो लेखोंमें बताया है कि, यदि मनुष्य अपना पूर्वग्रह छोड देवे, और मन पूर्वग्रहदोषसे रहित करे, तो वह ईश्वरका साक्षात्कार वैसा कर सकता है, जैसा आंखवाला मनुष्य दोपहर का सूर्य देख सकता है (दिवीव चक्षुराततम्। ऋ० १।२२।२०) पूर्वग्रह ऐसे बलवान् होते हैं कि, वे छोडे नहीं जाते। जो जो उपदेशक और आचार्य आते हैं, वे पुराने पूर्वग्रह तो छुडवाते हैं, परंतु नये खडे कर देते हैं। इसलिए बडी मुष्कील हो रही है। प्रत्येक पथमें कई नये पूर्वग्रहदोष सुदृढ हो गये हैं सहसा कोई उनको छोडनेको तैयार नहीं होता। दूसरोंके पूर्वग्रह हानिकारक हैं इतना तो सब मानते ही हैं, परंतु अपने अन्दर भी वैसेहि पूर्वग्रह दोष हैं, इसको मानने के लिये कोई तैयार नहीं होता!! यह एक मानवी मनकी घटना का चमत्कार है। और इसी कारण सूर्य के समान सर्वत्र दीखनेवाला परमेश्वर अदृश्यसा बना है, अथवा नजर आते हुए भी उसको कोई देखता नहीं।!!!

पूर्वग्रहदोष की खराबी सभी पथोंमें और सभी धर्मों में होने के कारण उसका इससे अधिक विशेष वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह बडा भारी विघ्न है, जो दूर होना महा कठिन कार्य है, और केवल इसी कारण मनुष्योंको ईश्वरका साक्षात्कार होता नहीं है। यदि मनुष्य इस दोष को दूर करेगा, तो उसी समय उसको परमेश्वर का साक्षात्कार होगा।

वेद का उपदेश।

पूर्वग्रहदोष के कारण वेदका स्पष्ट उपदेश भी लाग नहीं मानते और उस पवित्र वेदका अर्थ अपने पूर्वग्रह दोष के अनुसार करने लगते हैं, और मानते हैं कि हम इस अर्थके आधारसे पार होंगे। महान् आचार्य इसीलिए कहते आये हैं कि, 'सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करना आवश्यक है।' यह तो आचार्य कहते ही हैं, पर मानता कौन है? पूर्वग्रहदोष दूर होने पर ही सत्य दीखेगा, नहीं तो दीखेगा कैसा ? इसलिए इस दोषसे जिनकी दृष्टि विकृत हुई है, वे उलटे को सीधा और सीधे को उलटा मानते हैं और इस कारण अज्ञान अधिक ही बढ जाता है। इस वेदोपदेशके संबंध के कुछ उदाहरण इस लेखमें देनेका यत्न करने का विचार है। इस विषयमे एक मंत्र देखिये।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्यु मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि॥
(वा० यजु० १९।९)

'हे ईश्वर! तू तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहोरूप हो, अतः इन तेज, वीर्य, बल, ओज मन्यु और सहोंको मेरे अंदर स्थापित करने की कृपा कर।'

+ द्वितीय लेख वैदिक धर्म क्रमांक १३०, पृ० ८९ पर देखो।

यह वेद का मन्त्र ईश्वर का स्वरूप बताता है और ईश्वर से उक्त तेजादिकों की अपने अन्दर स्थापना होने की संभावना निःसंदेह दर्शा रहा है । यहां एक उदाहरण लेना चाहिए और देखना चाहिए कि मानवी उन्नति की प्रक्रिया वेदानुसार कैसी है । उदाहरण के लिये समझ लीजिये कि जलरूपी मानव अग्निरूपी ईश्वर की उपासना करके कहता है कि 'हे अग्ने! तू उष्णतारूप हो, अतः मुझमें उष्णत्व की स्थापना करो'। अग्नि की उपासना से -अग्नि के सान्निध्य से-जल के अन्दर उष्णता आती है, और जल उष्ण हो जाता है। अर्थात् अग्नि का अंश जल में अवतीर्ण होता है, जल में अग्नि का अवतार होता है।

ठीक इस प्रकार तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सह शक्तिवाला ईश्वर है, उससे उपासक इन को प्राप्त करना चाहता है। इसी उपासनाका यह मन्त्र है। इस में पहिला तेज है । संपूर्ण तेज तो ईश्वर का ही है, यह बताने के लिये इस मन्त्र में कहा है कि (तेजोऽसि) ईश्वर तेजः-स्वरूप है, सबको ईश्वर से ही तेज मिलता है, यह बात अन्य ग्रन्थों में इस तरह कही है—

सब तेज ईश्वर का है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
(भ० गी० १५।६)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(भ० गी० १५।१२)

'सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि उस परमात्मा के पदको प्रकाशित नहीं करते। जो तेज सूर्य, चन्द्र और अग्नि में है, वह भी ईश्वरका-आत्माका-ही तेज है।' अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, दीप आदि में जो तेज है वह ईश्वर से ही उनको प्राप्त हुआ है । जो ईश्वर अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्रमा में अपना तेज रखता है, वही सच्चा तेजवाला है। उसके तेज से जो तेजस्वी होते हैं, उन परप्रकाशितों के तेज का विचार क्या करना है, जो उनको प्रकाशयुक्त करता है, वही सच्चा तेजस्वी उपास्य है। इसी हेतु से वेदमन्त्र में कहा है कि—

तेजोऽसि, तेजो मयि धेहि। (य० १९।९)

"हे ईश्वर! तू ही सच्चा तेजवाला है, अतः तुम्हारा तेज थोडासा मुझमें स्थापन कर, जिससे मैं तेजस्वी बनूं और कृतकृत्य होऊं।" ईश्वर सच्चा तेजस्वी है, इसीलिये यह प्रार्थना सुसंगत होती है । यदि उसके पास अपना निजी तेज न हो, तो यह प्रार्थना किस तरह सार्थक हो सकती है? दूसरे से तेज लेनेवाले, जो दूसरे के तेज से चमकनेवाले हैं, वे हमको कितनासा तेजस्वी कर सकते हैं? स्वयं-प्रकाशी ईश्वरही हमें तेजस्वी कर सकता है। अतः यह वेद की प्रार्थना ईश्वरका सत्यस्वरूप दर्शाकर तेजस्वी बनने का सच्चा मार्ग बता रही है।

केनोपनिषद् में कहा है कि अग्नि को एक समय अपनी दाहक शक्ति की घमंड हुई, परन्तु जब आत्मा ने अपनी दाहकता अग्नि से वापस ली, तब अग्नि घासके तिनके को प्रयत्न करनेपर भी जला नहीं सकी, इसी तरह वायु भी अपनी वाहक शक्ति की घमंड से गर्व करने लगा, पर जब परमात्माने अपनी शक्ति वायु से वापस ली, तब वायु एक तिनके को भी उठा नहीं सका। यह है अग्नि-वायु की कथा। सर्वथा इन अग्नि, वायु, सूर्य, विद्युत्, चंद्रमा आदि का सामर्थ्य परमात्मा के सामर्थ्य का ही चमत्कार है । इनका सामर्थ्य निजी सामर्थ्य नहीं है, ये देवतागण ईश्वर से सामर्थ्य लेते हैं और विश्व में देते हैं। इसी कारण सच्चा तेज तो परमात्माका ही है, अग्नि आदि में जो दीखता है, वह भी परमात्मा का ही तेज है। अतः कहा है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(श्वेताश्व० ६।१४)

"उस परमात्मा के प्रकाशित होनेसे सब प्रकाशित होता है, क्योंकि उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है।" परमात्मा का तेज अग्नि विद्युत सूर्य चन्द्र में जाता है और इस तेज से ये देव प्रकाश देते हैं। यदि चन्द्र सूर्य में भी उसी आत्मा का ही प्रकाश है, तब अग्नि का प्रकाश उसी आत्माका प्रकाश होने में संदेह कैसे हो सकता है? सच्चा तेज परमात्मा का है, अतः तेज की प्राप्ति की प्रार्थना करनी हो, तो परमात्मा से ही तेज की प्रार्थना करनी चाहिये, जो उक्त मन्त्र में कही है।

अस्तु। इतने विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि 'तेज'परमात्मा का रूप है। जहां तेज है, वहां तेजके रूपसे परमात्मा ही बसता है। जिस तरह उष्ण जलमें उष्णता के रूप से अग्नि बसता है, जिस तरह शरीर में उष्णता के रूपसे अग्निका वास्तव्य माना जाता है, ठीक इस तरह जहां जहां तेजस्विता होगी, वहां वहां तेजके रूप से परमात्मा का दर्शन होगा। यह तो गुणरूप से परमात्माके साक्षात्कार करने की वैदिक रीति है। जहां तेज है, वहां उस तेज के रूपसे परमात्मा है।

अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, सूर्य आदि में तेज है, यही परमेश्वर का रूप इन वस्तुओंमें है, इस तेजरूपसे परमेश्वर का साक्षात्कार हम इन वस्तुओं में कर सकते हैं। अग्नि जलायी गयी, ज्वालाएं धधकने लगीं, तो उस अग्निद्वारा प्रकट होनेवाले तेजसे परमात्माका साक्षात्कार मनुष्यको होता है, जो लोग हवन के समय अग्नि के तेज से परमात्मा के तेजका साक्षात्कार नहीं कर सकते और जो मानते हैं कि यह अग्नि जड और ईश्वर से विभिन्न ही वस्तु है, वे तो हतबुद्ध लोग हैं, उनके सामने तेजोरूप से परमात्मा प्रकट हुआ है, तो भी उसे वे अपने पूर्वग्रह-दोषसे दूर करते हैं और हतभाग्यसे मानते हैं कि, हमें जन्मजन्मांतर में कभी ईश्वर का साक्षात्कार होगा, तो होगा !!! कितने अभागे ये लोग हैं देखिये।

मुखसे 'तेजोऽसि' इस मन्त्रको बोलते हुए और अपने सामने धधगनेवाली अग्निके रूपमें परमात्मा का तेज प्रकट हुआ है, यह न देखते हुए, उसका तिरस्कार करते हुए, ये आंखें बंद करते हुए स्थिर बैठते हैं और मानते हैं कि, हम ईश्वरकी उपासना करते हैं !! यह हमारे समझमें नहीं आता कि इस वेदमन्त्रका अर्थ वे कैसा मानते हैं। यदि 'तेज' यह ईश्वर का सचमुच रूप है, तब तो जहां तेज होगा, वहां उस तेजके रूपसे ईश्वर ही साक्षात् हो रहा है। यह दूसरे किस का तेज है? सिवाय परमात्मा के सच्चा तेज धारण करनेवाला दूसरा कौन यहां है? सर्वत्र परमात्माकाही तेज भरा है। जहां तेज है, वहां उस रूप से परमेश्वर हि है।

व्यापक तेज।

अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र में ही तेज है और अन्य वस्तु-ओंमें तेज नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वृक्ष, फल, फूल पशु, पक्षी, मनुष्य, इतर वस्तु आदि सब में न्यूनाधिक तेज है। कोई भी वस्तु तेजके बिना नहीं है, अतः सर्वत्र तेजके रूपसे परमात्मा विराजमान है। जो ईश्वरका साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे इस तेजके परमेश्वररूप को हरएक वस्तुमें देखकर वहां ईश्वरका साक्षात्कार करने का यत्न कर सकते हैं।

पाठक जानते ही हैं कि उक्त वेदमंत्रमें परमेश्वर का तेजोरूप सर्वत्र देखने और अनुभव करनेका आदेश है। 'तेजोऽसि' कहते हुए हर एक वस्तुमें तेजोरूप से विराजमान होनेवाले ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना चाहिये। शीत जलमें उष्णतारूपसे घुसकर रहनेवाले अग्निके अंशका साक्षात्कार उष्ण जलमें हर कोई कर सकता है, इतना ही नहीं परंतु उष्ण जल की जितनी उष्णता अधिक होगी, उतना अग्निका कार्य भी वहां देखा जाता है, जैसा कि अति उष्ण जलसे चमडी का उबल जाना, उससे फोडे उत्पन्न होना आदि भी अग्नि-कार्य ही है। इससे जलमें भी अग्नि का साक्षात्कार होता है।

इसी तरह ईश्वर के तेजोरूप का साक्षात्कार हरएक वस्तु में हो सकता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में ईश्वर तेजोरूप से वसता है और प्रत्येक वस्तु में जो तेज दीखता है, जो तेज अनुभव में आता है, वह परमेश्वर का ही तेज है। यह हरएक वस्तु में ईश्वर का साक्षात्कार ही है। कौन इसका इन्कार कर सकता है?

ईश्वर का अवतार।

प्रत्येक पदार्थ में तेज के अंश से ईश्वर का अंशावतार हुआ है। इसका अनुभव करना मनुष्य का कर्तव्य ही है।

उक्त मन्त्रभाग का तीसरा मंत्रभाग है "बलमसि बलं मयि धेहि" हे ईश्वर! तू बलस्वरूप है, अतः तेरा थोडासा बल मेरे अन्दर स्थापित करके मुझे बलवान् बनाओ! ध्यान में रखिये कि ईश्वर का दूसरा स्वरूप 'बल' है। विश्व में बल को देखकर जहां बल का साक्षात्कार होगा, वहां बलस्वरूप ईश्वर को देखना चाहिये। मनुष्य,

घोडा, बैल, गौ, कीट, पतङ्ग आदि प्राणियों में, वृक्षादिकों में भूमि, पत्थर, आदि में, बल है, यह बल परमेश्वरका ही रूप है। बल को परमेश्वर का रूप मानकर, बलमें परमेश्वर का अनुभव करके विश्व की ओर देखेंगे, तो सर्वत्र बलरूप से विद्यमान ईश्वर का साक्षात्कार होगा। यही बात छांदोग्य-उपनिषद् में इस तरह कही है—

स यदा बली भवति, उत्थाता भवति, द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति, बलेन वै पृथवी तिष्ठति, बलेन अन्तरिक्षं, बलेन द्यौः, बलेन पर्वताः, बलेन देवमनुष्याः, बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदाऽन्याकीटपतंगपिपीलिकं, बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्वेति। स यो बलं ब्रह्म इति उपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते॥

(छां० उ० ७।८।१-२)

"जब बलवान् होता है, तब उठता है, ... देखता है, सुनता है, मनन करता है, जानता है, कर्म करता है, विज्ञानी होता है, बल से पृथ्वी स्थिर हुई है, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, मनुष्य, पशुपक्षी, घास,वृक्षवनस्पति, कीडेमकौडे ये सब बल से ही रहते हैं; बल से ही सब लोक की स्थिति है, इसलिये बल की उपासना कर। जो इस बलरूपी ब्रह्म की उपासना करता है, उस का बल की गति जहां तक है, वहांतक संचार होता है। इसलिये बलरूपी ब्रह्म की उपासना करना चाहिये।"

यहां बल को ब्रह्मका, ईश्वरका, आत्माका रूप माना है। उक्त वेदमन्त्रमें (बलमसि) हे ईश्वर! तू बलस्वरूप है, ऐसा कहकर उसके बल-स्वरूप का वर्णन किया, इसी ईश्वर के बलस्वरूप का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् के इस विभाग में विस्तारसे किया है। मनुष्य से लेकर कीटपतंगपर्यंत के सब प्राणियों में, सब वृक्षवनस्पतियों में, तथा सब स्थिरचर पदार्थों में जो बल है, वह सब परमेश्वर का बल है। इसीलिये—

बलं असि, बलं मयि धेहि॥

'हे ईश्वर! तू बलस्वरूप है, अतः कृपा कर उसमें से थोडासा बल मुझ में स्थापित कर, जिससे मैं बलवान् बनूं और उस बलसे इस विश्व में बलवान् होकर विचरूं।'

इस प्रार्थना में सब बल प्रभु का ही है, यह निश्चय दर्शाया है। भक्त को इस विषय में कोई किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

वैदिक धर्मी भक्त सब तेज और बल प्रभुका ही है, ऐसा मानता है, प्रभुकी उपासना से अपने अन्दर बल प्राप्त होने का अनुभव करता है, तथा जहां जहां बल दिखाई देता है, वहां बलरूपी परमेश्वरकी उपस्थिति है, ऐसा मानता है और वहां बलरूप से प्रभुका ही प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है।

बल तो प्रत्येक वस्तु में है, अतः बलरूप से प्रभु प्रत्येक वस्तु में उपस्थित है, ऐसा वह भक्त देखता है और उसका वहां साक्षात्कार करता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है कि, जिस में बल न हो, सब वस्तुओं में बल है और यह बल अनुभव में भी आता है। यही बल प्रभुका रूप है, अतः वेद की प्रार्थना (बलं असि) प्रभु बलरूप है, यह सार्थ और अनुभव में आनेवाली ही है। जहां बल है, वहां बल के अंश से प्रभुका ही अंशावतार हुआ है। जो भक्त प्रभुसे बलप्राप्ति की प्रार्थना करता है, वह अपने अन्दर बल के रूपसे प्रभुका अंशावतार होने की ही प्रार्थना करता है। वेदमन्त्र ने भी यह निश्चय दिया है कि मनुष्य में तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सह रूप से ईश्वरका अंशावतार होता है। मनुष्य अपने अन्दर इस प्रकार प्रभुका अंशावतार होने की सत्यता का अनुभव करे और वस्तुवस्तु में बलादि रूप से प्रभुका अवतार हुआ है, इसको प्रत्यक्ष देखे। इस तरह प्रभुका साक्षात्कार होना संभव है, यह तो विश्वव्यापी प्रभु के अनुभव करने की वैदिक रीति है। ये गुण तो मनुष्य के प्रतिक्षण के व्यवहार में आनेवाले हैं, और यदि इन गुणों को वेदने परमेश्वर का रूप कहा है, तब तो इन गुणों में प्रभु को पहचाननेका ही विश्वासपूर्वक अभ्यास साधकोंको

करना चाहिए। जो बात तेज और बलकी है, वही वीर्य, ओज, मन्यु और सह की समझनी चाहिये। ओज शारीरिक बल का नाम है, मन्यु उत्साह को कहते हैं और सह शक्ति वह है, जिससे शत्रु का हमला आया, तो उसको सह कर अपने स्थानपर सुस्थिर रहा जाता है। तप में होनेवाले कष्ट सहन करने की यह सह-शक्ति है। इस तरह इन गुणों में प्रभुका साक्षात्कार करने का उपदेश इस वेद के प्रार्थनामन्त्र ने दिया है।

पहिली सीढी।

वह तो सबसे प्रथम की सीढी है, जो सबको साध्य हो सकती है। हरएक के अनुभव में आनेवाली यह बात है। कितना सरल और सुगम नियम वेदने दिया है, जिस से सुगमतया ईश्वर का साक्षात्कार होना संभव है। परन्तु कितने लोग इस तरह चारों ओर ईश्वर को देखने का यत्न करते हैं। इसके विरुद्ध अग्नि और सूर्य के तेज को ईश्वरीय तेज न मानते हुए, इनको केवल जड, स्थूल और भौतिक मानकर इनमें विराजमान ईश्वरीय तेज की उपेक्षा ही बहुतों के द्वारा की जाती है। सर्वत्र बलका अनुभव करके उससे सर्वत्र प्रभु की उपस्थिति देखने का अनुभव करने के स्थानपर ये सब पदार्थ निरे जड हैं और इनका बल जड का ही बल है, ऐसा मानकर प्रभु को सर्वत्र न देखने का ही यत्न हो रहा है!! ऐसा विरुद्ध आचार करते हुए भी बहुत लोग उक्त मन्त्र का उच्चारण तो करते ही हैं, उस उच्चारण का उनको क्या उपयोग होगा? जो वेद के तत्त्व को नहीं समझते (किं ऋचा करिष्यति) वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा?

सत्यका सूत्र।

अस्तु। इस पूर्वोक्त आशय को ध्यान में धारण करके निम्नलिखित दो मन्त्रों का विचार करनेसे ईश्वरसाक्षात्कार के वैदिक मार्ग का पता लग जायगा—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्।
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च॥
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य।
आत्मनात्मानमभि संविवेश॥११॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा।
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः॥
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य।
तदपश्यत्, तदभवत्, तदासीत्॥१२॥

'भूतों, लोकों और सब दिशोपदिशाओंको अच्छी तरह (परि इत्य) चारों ओर से देख कर ऋतके प्रथम प्रवर्तक की उपासना करके अपना अपने आत्मा के अन्दर हि प्रवेश किया। द्यावापृथिवी, सब लोक, दिशा और स्वर्गलोक को (परि इत्वा) चारों ओर से देख कर सर्वत्र सत्य का धागा ही व्याप रहा है यह देख कर, उसको देखा, इससे वह वैसा बना जैसा वह पहिले था।'

इन मन्त्रों में (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यका पहिला प्रवर्तक और (ऋतस्य विततं तन्तुं) सत्यका सर्वत्र फैला धागा कहा गया है। यही परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर है। जब उपासक प्रत्येक भूत में, प्रत्येक लोक में, प्रत्येक दिशा और उपदिशा में चारों ओर से सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है और अनुभव करता है कि वह प्रभु तेजोरूप से, बलरूप से, वीर्यरूप से, ओज के रूपसे, सह और मन्यु के रूप से परमेश्वर प्रत्यक्ष हो रहा है और वही सत्य-स्वरूप है, ऋत स्वरूप है, और सब में व्यापक सबका सूत्रात्मा एक जैसा है, तब वह उसे ठीक समझता, मानता और अनुभव करता है, और उसका सर्वत्र साक्षात्कार कर सकता है। जैसा वह सर्वत्र है, वैसा ही उसको सर्वत्र देखता है, कोई संदेह उसे नहीं रहता। इस तरह निःसंदेह होनेके पश्चात् ही उसको सच्चा साक्षात्कार हुआ, ऐसा समझना चाहिये।

वेदका उपदेश कितना सरल है, परंतु उपदेशकोंने नये नये पूर्व-ग्रह उत्पन्न किये हैं, इसलिये यह सरल से सरल उपदेश भी जनता के समझमें आना कठिन हुआ है, उस कारण परमेश्वरसाक्षात्कार का सीधा मार्ग भी कठिन हुआ है, समीपका परमेश्वर बहुत दूर पहुंचा है और यहां तक वह दूर हुआ है कि जन्मजन्मान्तर में भी उसका साक्षात्कार होना कठिन और असंभव माना जा रहा है!!! परंतु वेदमन्त्र तो ऐसी युक्ति बता रहे हैं कि

जिससे वस्तु वस्तुमें मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता, उसकी सत्ता देख सकता और अपने अन्दर ही परमेश्वर का अनुभव कर सकता है। ब्रह्मचर्याअवस्था से ही यह दृष्टि उत्पन्न होगी, तो वह स्नातक होने तक पूर्ण आत्मज्ञानी बनेगा, सिद्ध बनेगा और ईश्वरसाक्षात्कारी होवेगा। परंतु आज क्या है? जो बात विद्याकाल में प्रथम आयु में ही सिद्ध होनेवाली बात थी, वह आज जन्मजन्मान्तर में भी सिद्ध न होनेवाली बन गयी है !!!

अपने अन्दर देखो।

प्रत्येक उपासक अपने अन्दर देखे कि क्या अपने अंदर तेज-वीर्य-बल-ओज-मन्यु-सह ये शक्तियां हैं वा नहीं, अर्थात् ये तो प्रत्येक में न्यूनाधिक प्रमाण से हैं, अर्थात् ये शक्तियां अपने अन्दर हैं। ये शक्तियां अपने अन्दर हैं, इस का अर्थ इन शक्तियों के रूप से परमेश्वर का अंशावतार हम सब में हुआ है और उसी परमात्मा का अपने अन्दर अनुभव करते हुए हम उसे कहते हैं कि—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।

'हे आत्मन्! तू तेजस्वरूप हो, अतः यह तेरा तेज मेरे अन्दर स्थापित कर।' ये तेजोवीर्यादि सब गुण अपने अन्दर हैं, अतः इनके रूप से परमेश्वर हमारे अन्दर है, इसी तरह इस विश्वके संपूर्ण पदार्थों में ये गुण हैं, अतः इन गुणों के रूप से परमेश्वर इन सब पदार्थों में है, जैसा बारीक सूक्ष्म सूत्र माला में रहता है, वैसा ही यह सूत्रात्मा सब वस्तुओं में है और इसी सूत्रात्मा के ही ये तेज-वीर्य-बलादि गुण हैं, इन गुणों को देखने से गुणी का ज्ञान हो सकता है। इस तरह वह उपासक मनन करता हुआ अपने अन्दर और अपने बाहर ईश्वर का साक्षात्कार करता है और सर्वत्र एक सूत्रात्मा देखकर और उसी का निवास अपने अन्दर देखकर उसे वैसा आनन्द मिलता है, जैसा दूसरे किसी के लाभ से उसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि अपने अन्दर प्रत्यक्ष ईश्वर का निवास अनुभव करने का सौभाग्य उसे इस समय प्राप्त होता है और इससे उसे ऐसी निर्भयता मिलती है कि जिसकी कोई तुलना नहीं है।

ईश्वर का अंशावतार।

अपने अन्दर और अपने बाहर प्रत्येक वस्तु में तथा सब वस्तुओं में एक जैसा ईश्वर है, उसको प्रत्यक्ष करने का यह सुगम से सुगम साधन है। श्री राममूर्ति में बल की प्रधानता थी, बल तो ईश्वर का ही रूप है, अतः राममूर्ति में बल के रूप से ईश्वर का अंशावतार हुआ था। क्या ऐसा कहने में किसका डर है? जो राममूर्ति में बलरूप से परमेश्वर अवतीर्ण हुआ था, ऐसा न मानना चाहें, वे न मानें, परन्तु वेद कहता है कि बल ईश्वर का रूप है, जहां बल है वहां बल के रूप से ईश्वर विद्यमान है। यदि यह सत्य है, तो जहां बल है, वहां ईश्वर का अवतार निःसंदेह है। श्रीमहात्मा गांधीजी में तेज और सह ये शक्तियां प्रबल हैं, अतः इनके रूपसे परमेश्वर का अंशावतार उनमें हुआ है। इस तरह अन्यान्य मनुष्यों और प्राणियों में इन गुणों को देखने से उपासक परमेश्वर का अवतार वहां कैसा हुआ है, इसको प्रत्यक्ष करे। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में देखे और सत्य का सूत्र सर्वत्र देखकर सर्वत्र ईश्वर का साक्षात्कार करे। इसी तरह देखिये—

शर्मासि। (य० १।१४)
धरुणमसि। धर्त्रमसि। (य० १।१८)
तेजोऽसि। शुक्रमसि। अमृतमसि। (य० १।३)
वेदोऽसि। (य० २।२१)
स्वयंभूरसि। श्रेष्ठो वर्चोदा असि। (य० २।२६)
तनूपा असि। आयुर्दा असि। (य० ३।१७)
शिवो नामासि। (य० ३।६३)
चक्षुर्दा असि (य० ४।३)
ऊर्गसि। (यजु० ४।१०)
शुक्रमसि। (यजु० ४।१८)
चिदसि, मनासि, धीरसि, दक्षिणासि, क्षत्रियासि (यजु० ४।१९)
आयुरसि। (यजु० ५।२)
ध्रुवोऽसि। ध्रुवक्षितिरसि। (यजु० ५।१४)

स्वराड् असि सपत्नहा, सत्रराडस्यभिमातिहा, जनराडसि रक्षोहा, सर्वराडस्यमित्रहा।

(यजु० ५। २४)

विभूरसि । पवमानोऽसि। (यजु० ५।३१)

ज्योतिरसि विश्वरूपं। (यजु० ५।३५)

अग्रेणीरसि। (यजु० ६।२)

संज्ञानमसि। (यजु० १२।४६)

क्षत्रस्य योनिरसि। (यजु० २०।१)

'हे देव! तू सुखस्वरूप है, तू धारण करनेवाला है, (शुक्र) बल और पवित्रता करनेवाला है, तू अमृत है, तू वेद अर्थात् ज्ञानरूप है, तू स्वयंभू श्रेष्ठ है, शरीररक्षक और आयु देनेवाला है, (शिवः) कल्याणस्वरूप है, चक्षु देनेवाला अर्थात् दिव्य दृष्टि देनेवाला है, बल और पवित्रता देनेवाला है, चैतन्य, मनन, बुद्धि, दाक्षिण्य, और क्षात्र बल देनेवाला है, तू स्वयं सुस्थिर है, तू हि स्वराट् (सत्रराट्) सर्वशासक, लोगोंका प्रिय राजा और सब शत्रुओं का नाश करनेवाला समर्थ शासक है, तू विभु-व्यापक और सब की पवित्रता करनेवाला है, विश्वप्रकाशक ज्योति तू हि है, तू सबको (अग्रेणी) अग्र भाग में ले जानेवाला है, (संज्ञानमसि) उत्तम ज्ञानरूप तू हि है, क्षत्रियका बल उत्पन्न करनेवाला तू है।'

ये सर्व वेदके वर्णन साधक को अनुभव में लाने योग्य हैं। जिस तरह पहिले दिये मंत्रके वर्णन विश्वमें देखकर ईश्वर के स्वरूप का अनुभव किया, इसी तरह इन सब मन्त्रोंको भी अनुभव में लाना चाहिये। इसी लिये ये मन्त्र हैं। ईश्वर का कार्य विश्वभर में किस तरह चल रहा है। यह देखना ही साधक का कर्तव्य है।

विश्व में देखो।

प्रत्येक वस्तु में धारण करने का गुण है, यह धारणगुण ईश्वर का है, देवता का है, ईश्वर का वास्तव्य उस वस्तु में होने से हि उस वस्तु में वह धारक शक्ति रही है। विश्वगत वस्तुओं में सर्वत्र यह धारक शक्ति देखना और वहां परमेश्वर की, दैवी शक्ति की प्रत्यक्षता करना साधक के लिए अत्यंत आवश्यक है। इतने इस विषय के सूचक मन्त्र होते हुए भी यदि साधक इस सुगम अनुष्ठान का अभ्यास न करेंगे, तो उनकी उन्नति होने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

सामने गुलाब का फूल रखिये, उसमें तेजस्विता है, सुन्दर मधुर सुवास है, अप्रतिम सौंदर्य है, आकर्षकता है। इसका यह अप्रतिम सुमधुर तेज परमेश्वर का ही होने से वहां ईश्वरका तेज प्रकट हुआ है, क्योंकि एकमात्र (तेजोऽसि) तेजस्विता का स्रोत ईश्वर ही है और सब अन्य वस्तुओं का तेज उसी से फैला है, क्योंकि—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

उसीके प्रकाश से सब अन्य वस्तुएं प्रकाशित होती हैं, वह प्रकाशता रहा, तो ही सब का प्रकाश हो सकता है। तात्पर्य यह है कि गुलाब के पर्दे के पीछे ईश्वर का स्वरूप है, अथवा ईश्वर की अप्रतिम सत्ता ही गुलाब के पीछे कार्य कर रही है। जिस तरह कारीगरीकी वस्तु देखकर कारीगर के महत्त्व का ज्ञान होता है, नाटक या चित्रपट देखकर उसकी रचनाकर्ता की बुद्धिमत्ता का ज्ञान हो सकता है, उसी तरह वस्तुओं को देखकर उनके पीछे रह कर वस्तु के वस्तुत्व को प्रकट करनेवाली आत्मा की शक्ति का ज्ञान हो सकता है। यह सीधा नियम वेद ने यहां कहा है और ईश्वर के साक्षात्कार का सीधा मार्ग बताया है।

श्रीमद्भगवद्गीताने इसी पद्धति का आश्रय करके ईश्वर की विभूतियां कही हैं—

तेजश्चास्मि विभावसौ।
तपश्चास्मि तपस्विषु॥ (गी० ७।९)
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।
तेजस्तेजस्विनामहम्।
बलं बलवतामस्मि॥ (गी० ७।११)
सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ (गी० १०।३६)
ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ (गी० १०।३८)

"सूर्य का तेज, तपस्वियों का तप, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज, बलवानों का बल, सात्त्विकों का सत्त्व, ज्ञानियों का ज्ञान ईश्वर का रूप है।" यही गीता का आशय पूर्वोक्त वेदके मंत्रों से हि लिया है। इस तरह गीता

का उपदेश और वेद का आदेश परस्पर मिलताजुलता है, देखिये।

वेद	गीता
तेजोऽसि	तेजश्चास्मि
ज्योतिरसि	तेजस्तेजस्विनामहम्
बलमसि	बलं बलवतामस्मि
संज्ञानमसि	ज्ञानं ज्ञानवतामस्मि
धीरसि	बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि

इसी तरह अन्य विभूतियां वेद के आदेशों के साथ तुलना करके देखने योग्य हैं। इनमें जहां वेदमें 'असि' पद है, वहां गीता में 'अस्मि' पद है इतना ही भेद है। तथापि दोनों का आशय एक ही है।

प्रथम उपदेश।

यहां वेदमंत्र किस तरह ईश्वर का साक्षात्कार करने का आदेश देते हैं, इसका संक्षेप से विचार किया है। यह पहिला पाठ है, जो ब्रह्मचारी का उपनयन होते ही उसे सिखलाने का है। अग्निहोत्र के लिए अग्नि जला दी. तो उसका तेज परमेश्वर का तेज है, इस अग्नि में प्रकाश से परमेश्वर का साक्षात्कार करो, परमेश्वरका ही (अग्निर्मुखं) मुख यह अग्नि है, इस अग्नि में ईश्वर के मुखका साक्षात्कार करो, इसी तरह आगे बिजुली में, सूर्य में और चन्द्र में प्रकाशरूप परमेश्वर का साक्षात्कार करने का अभ्यास ब्रह्मचारी को सिखाना होता है। यह बात उसके ध्यान में आते ही आगे हरएक वस्तु के प्रकाशगुण से उसमें ईश्वर को देखने का अभ्यास करना सुगम होगा। इस तरह संपूर्ण विश्व में परमेश्वर के गुण देखकर उसके अस्तित्व का परिचय किया जाता है।

गुणों से गुणी का साक्षात्कार करने का यही मार्ग है। हर जगह गुणों के अनुभव से गुणी को प्रत्यक्ष करना है।

आगे के पाठों में इससे भी प्रत्यक्ष ईश्वरको देखने का मार्ग वेदने बताया है, उसका मनन हम आगे के लेखों में करेंगे।

[सूचना— जिन पाठकों को इस लेखमाला के संबंध में कुछ आशंका करना हो, वे अपनी शंका स्पष्ट शब्दों में लिखकर हमारे पास भेजेंगे, तो उनकी शंका का निरसन हम आगेके लेखों में प्रथम करेंगे।

'संपादक']

वेदमन्त्रों के उपदेश।

(२)

(लेखक–श्री० स्व० पं० रघुनन्दनशर्माजी।)

जातकर्म के आगे नामकरणसंस्कार है। वेद में आया है कि—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो
वीरैः सुपोषः पोषैः। (यजु० ७।२९)

अर्थात् तू कौन है और तेरा नाम क्या है? तू बड़े नामवाला हो और पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष और द्यौ तक पूजा और पोषण के साथ बढ़। इस मन्त्र में नामकरणसंस्कार की शिक्षा है। इस संस्कार का तात्पर्य बच्चे के नाम से है। नाम का मनुष्य पर बहुत बड़ा असर होता है। उत्तम, सार्थक और उच्चभाव का बोध करानेवाला नाम नामी को हर समय अपने नाम की सूचना देकर उसे अनेक दुर्व्यवहारों से बचाता है और उच्च बनने की प्रेरणा करता है। इसलिए वेद ने इस संस्कार की आज्ञा दी है। इस नामकरणसंस्कार के आगे निष्क्रमणसंस्कार है। इस संस्कार के द्वारा बालक घर से बाहर लाया जाता है। इसी संस्कार के द्वारा बालक का पहिलेपहिल संसार से परिचय होता है। इसके सम्बन्ध में वेद उपदेश करते हैं कि—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥१४॥
शिवास्ते सन्त्वोषधय उतत्त्वाहार्षमधरस्या
उत्तरां पृथिवीमभिः।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥१५॥
(अथर्व० ८।२)

अर्थात् हे बालक! तेरे लिए यह द्यौ और पृथिवीलोक दुःख न देनेवाले, कल्याणकारी और शोभा तथा ऐश्वर्य को देनेवाले हों। यह सूर्य तेरे लिये प्रकाश का देनेवाला हो, वायु तेरे हृदय को शान्त करनेवाला हो और जल तेरे लिए सुन्दर स्वादवाला हो कर बहे। तुझे भीतर से बाहर इसीलिए लाया हूँ कि तेरे लिए औषधियाँ कल्याणकारी हों और सूर्यचन्द्र दोनों तेरी रक्षा करें। इन मन्त्रों में निष्क्रमण के दो मतलब बतलाये गये हैं। एक तो बालक को पदार्थों का परिचय कराना। दूसरा शीतोष्ण सहन करने का अभ्यास कराना। इसलिए यह संस्कार आवश्यक समझा जाता है। इसके आगे अन्नप्राशन है। इस संस्कार के द्वारा पदार्थों के स्वाद का ज्ञान कराना और हानिकारक पदार्थों के तिरस्कार का संस्कार जमाना है। इसके सम्बन्ध में वेद उपदेश करते हैं कि—

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे
चतुष्पदे॥ (यजु० ११।८३)

अर्थात् हे अन्न के स्वामी परमात्मन्! आप हमारे लिए, हमारे पशुओं के लिए और अन्य मनुष्यों के लिए रोगरहित और बलकारक अन्न को दीजिए और उसी को बढ़ाइये। इस प्रार्थना का यही मतलब है कि हम रोगरहित, बलकारक अन्नों का ही सेवन करें और उसी प्रकार के अन्नसेवन के संस्कार बालकपन से ही सन्तति में डालने का प्रयत्न करें। इस संस्कार के आगे मुण्डनसंस्कार है। वेद में उसके लिए इस प्रकार आज्ञा है कि—

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य
विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्व-
वानयमस्तु प्रजावान्॥ (अथर्व० ६।६८।३)

अर्थात् जिस प्रकार छुरे से सोम और वरुण का क्षौर सविता विद्वान् करता है, उसी तरह ब्राह्मण को चाहिये कि वह इस बालक का मुण्डन करे जिससे यह बालक

धनवान् और प्रजावान् हो। यहाँ बालक की हजामत का तरीका बतलाया गया है कि जिस प्रकार सोम अर्थात् जलतत्व पर सूर्य अर्थात् अग्नितत्व अपना संचार करता है, उसी तरह बालक की ठंढी खोपड़ी पर गर्म जल डालकर हजामत की जाय। यह मुण्डनसंस्कार गर्भ के अपवित्र बालों को काटने के लिये किया जाता है, जिससे शुद्धता आवे और आरोग्यता बढ़े। इस संस्कार के आगे कर्णवेध-संस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। कर्णवेध से अण्डवृद्धि की बीमारी नहीं होती और इसी से आरोग्यता के लिए सुवर्ण पहिनने का काम भी निकल जाता है। वेद उपदेश करते हैं कि—

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु॥
(अथर्व० ६।१४१।२)

अर्थात् दोनों कानोंमें अश्विन देवताओं ने पहिले ही चिह्न किया है, उसी चिह्न पर लोहे के शस्त्र से हे वैद्यो! बहुत सी प्रजा के देनेवाले छिद्र को कीजिये। इस छिद्र को सुश्रुत में 'देवकृते छिद्रे' लिखा हुआ है। कानों में तीन नसों के बीच में जो स्थान है, वही देवछिद्र है। उसी के छेदन करने से और उसमें सुवर्ण पहिनने से अण्डवृद्धि नहीं होती और अण्डदोष न होने से ही संतान होती है। इसीलिए यह संस्कार आवश्यक है। ये दोनों मुण्डन और कर्णवेधसंस्कार बालक में आरोग्यरक्षा के संस्कारों का प्रभाव डालना शुरू करते हैं। इस तरह से इन छोटे बड़े किन्तु महत्वपूर्ण संस्कारों के बाद उपनयनसंस्कार होता है। वेद में इस संस्कार का वर्णन इस प्रकार है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भ-मन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं यन्ति देवाः॥३॥ इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥४॥ (अथर्व० ११।५)

अर्थात् आचार्य आये हुए ब्रह्मचारी को अपने समीप गर्भ की भाँति तीन दिन तक रखता है और सब लोग उस ब्रह्मचारी को देखने के लिये आते हैं। उसकी पहिली समिधा पृथिवी, दूसरी अन्तरिक्ष और तीसरी द्यौ के लिये होती है। वह समिधा से, मेखला से, श्रम से और तप से तीनों लोकों को पालता है। इन दोनों मन्त्रों में ब्रह्मचारी का आचार्यकुल में जाकर और आचार्य के घर पैदा होकर द्विज बनना बतलाया गया है और कहा गया है कि वह सादगी, यज्ञ, श्रम और तप से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के ज्ञान-ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद-को प्राप्त करे। इसके आगे उसकी भिक्षावृत्ति का गौरव वेद में इस प्रकार बतलाया गया है कि—

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च। ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥
(अथर्व० ११।५।९)

अर्थात् ब्रह्मचारी ने पहिले विशाल भूमि और द्युलोक की भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी उनकी दो समिधा बनाकर उपासना करता है, क्योंकि उन दोनों के बीच में सब भुवन स्थित हैं। इस मन्त्र में पृथिवी से द्यौपर्यन्त ईश्वर के उत्पन्न किए हुए पदार्थों की भिक्षा का उपदेश है। इसका यही मतलब है कि परमात्मा ने जीविका का बन्दोबस्त कर दिया है, इसलिए भिक्षा से उसे ग्रहण करो और विद्याध्ययन करो। इसके आगे वेद में ब्रह्मचर्य का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रो भवद् वशी॥१६॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥१७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥१८॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥१९॥
(अथर्व० ११।५।१६-१९)

अर्थात् ब्रह्मचारी ही आचार्य होता है, ब्रह्मचारी ही प्रजापति होता है और प्रजापति अर्थात् इन्द्र ही विराट को वश में करनेवाला होता है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही आचार्य ब्रह्मचारियों को पढ़ा सकता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा

पति को प्राप्त करती है, ब्रह्मचर्य से ही बैल और घोड़े घास को हज़म कर सकते हैं, ब्रह्मचर्य और तप से ही देवता मृत्यु को हटा देते हैं और ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देवताओं को सुख से भर देता है। इस प्रकार से इस सदाचार और सभ्यता के मूल तथा लोक और परलोक के साधनरूप ब्रह्मचर्य की महिमा वेदों में विस्तार से वर्णित है। इसलिए इस संस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। इस संस्कार के द्वारा मनुष्य उत्कृष्ट गुणों को पाकर ही समाज में मिलने के योग्य होता है। इस मिलाप का ही नाम समावर्तनसंस्कार है। समावर्तनसंस्कार की भी बड़ी महिमा है। क्योंकि यही समाज का मूल है। इसके लिए वेद आज्ञा देते हैं कि –

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ (अथर्व० ११।५।२६)

अर्थात् जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर होकर और उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास करके महातप को धारण करता है और वेदपठन, वीर्यनिग्रह तथा आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा करके और समावर्तन की स्नानविधि को करके उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों से प्रकाशित होता है, वही धन्यवाद के योग्य होता है। इस मन्त्र से समावर्तनसंस्कार का महत्त्व दिखलाया गया है। इसके आगे विवाह और गृहस्थाश्रमसंस्कार हैं, जिनका पूर्ण रूप से वर्णन हो चुका है। यहाँ पर लौकिक संस्कारों की समाप्ति होती है। गृहस्थाश्रमसंस्कार के आगे परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले तीन संस्कार और हैं। उनके नाम वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टिसंस्कार हैं। बिना इन तीनों संस्कारों के मनुष्य का जन्म सफल नहीं होता। क्योंकि बिना वानप्रस्थ और संन्यास के मनुष्य अच्छी तरह परलोकचिन्ता नहीं कर सकता और न परमतत्त्व को ही पा सकता है। इसीलिए ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त का उपदेश किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि--

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥ (ऋ० १०।१४६।५)

अर्थात् इस वानप्रस्थी को जंगल में कोई नहीं मारता और न कोई उसके पास जाता है। वह स्वादिष्ट फलों को खाकर सुख से जहाँ इच्छा होती है, वहाँ विचरण करता है। इस संस्कार के द्वारा एकान्त में रह कर तप और योग के द्वारा गृहस्थाश्रम अर्थात् लोक के संस्कारों को दूर किया जाता है और परमात्मा से मिलने की उत्कट अभिलाषा के पारलौकिक संस्कारों को बद्धमूल करने का प्रयत्न किया जाता है। इस संस्कार के आगे संन्याससंस्कार है। परन्तु वैदिक संन्यास का अभिप्राय आजकल के संन्यासियों से नहीं है। आजकल के संन्यासी तो बौद्ध भिक्षुओं की नक़ल हैं। वैदिक संन्यासी इस प्रकार के न थे। वैदिक संन्यासी देव कहलाते थे और वे संसार से विरक्त होकर समाधि के द्वारा परमात्मा के दर्शनों का हर समय प्रयत्न किया करते थे। वेद में लिखा है कि 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप से ही समस्त देव मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये देवसंस्कार का उपदेश वेद में इस प्रकार है—

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ (अथर्व० ९।५।१७)

अर्थात् हे अग्ने-परमेश्वर! जिस गृहस्थाश्रम को हज़ारों आदमी धारण किये हुए हैं, उसको छोड़कर हम देवों में प्रवेश करने के लिए तैयार होते हैं। यही संन्यास धारण करने का संस्कार है। इस संस्कार के आगे अन्त्येष्टिसंस्कार है। वेद में अन्त्येष्टिसंस्कार की बड़ी महिमा है। इसको भी पितृयज्ञ के ही नाम से कहा गया है। इस क्रिया का वेदों में विस्तार से वर्णन है। हम यहाँ उस प्रकरण का केवल एक मन्त्र देकर इस संस्कारप्रकरण को समाप्त करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि–

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ (ऋ० १०।१६।३)

अर्थात् चक्षु सूर्य में जावें, प्राण वायु में जावें, पृथिवी का अंश पृथिवी में जावें, जल का अंश जल में जावे और

औषधियों का अंश औषधियों में जावे। इस प्रकार से पैदा होने के पूर्व से लेकर मरने के बाद तक के संस्कारों का वर्णन वेदों में है। इन संस्कारों के द्वारा मनुष्य का मन, वाणी और कर्म सदाचारयुक्त बनाया जाता है, जिससे वह समाज में उत्तम गृहस्थ बन कर अपनी सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकता है। परन्तु मनुष्यसमाज का काम केवल सदाचरण से ही नहीं चल सकता। उसे सदाचार के साथ ही साथ जीविका की भी आवश्यकता होती है। इसलिए आगे देखते हैं कि वेदों में जीविका के विषय में क्या आज्ञा है।

जीविका, उद्योग और ज्ञानविज्ञान।

जीविका उत्पन्न करने के लिए सबको कृषि, पशुरक्षा और वाणिज्य का ही सहारा लेना पड़ता है। कृषि, पशुपालन और व्यापार पृथिवी की उपज से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए बिना भौगोलिक ज्ञान के जीविका का प्रश्न हल नहीं हो सकता। वेदों में भौगोलिक शिक्षा इस प्रकार दी गई है—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥६१॥ इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥६२॥ (यजु० २३।६१-६२)

अर्थात् तुझसे इस पृथिवी का अन्त पूछता हूँ, भुवन का मध्य पूछता हूँ, सेचन करनेवाला अश्व का रेत पूछता हूँ और इस आकाशमयी वाणी को पूछता हूँ। यह वेदी ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है, वह यज्ञ ही भुवन का मध्य है, यह सोम ही सेचन करनेवाला अश्व का रेत है और यह वेद ही आकाशमयी वाणी है। इन दोनों मन्त्रों में प्रश्नोत्तर की रीति से बतला दिया गया है कि यह यज्ञवेदी अर्थात् जहाँ खड़े हो, वही पृथिवी का अन्त है और यही स्थान भुवन का मध्य है। क्योंकि गोल पदार्थ का प्रत्येक बिन्दु (स्थान) ही उसका अन्त होता है और वही उसका मध्य होता है। पृथिवी और भुवन दोनों गोल हैं, इसलिए दोनों का प्रत्येक बिन्दु ही अन्त और मध्य है। इस भूगोलवर्णन के आगे पृथिवी के जल स्थल विभागों का ज्ञान कराने के लिए टापुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि—

वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद्दुच्छुनोभे युजन्त रोदसी। प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः॥ (ऋ० ८।२०।४)

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ (अथर्व० ११।७।१४)

यनाव्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय। समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः॥ (अथर्व० ४।८।७)

अर्थात् जब पृथिवी और आकाश में आकर्षण होता है और कंपन होता है, तब कहीं न कहीं या तो नवीन द्वीप उत्पन्न हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं और समस्त स्थावर दुःख पाते हैं। नई भूमि समुद्र से बाहर निकलती है और सूर्य रातदिन अपना प्रभाव करता है। पृथिवी के स्थलभाग समुद्र से घिरे हुए हैं, जिनमें सिंहव्याघ्रादि जन्तु गर्जते हैं। इन मन्त्रों में द्वीपों और टापुओं की उत्पत्ति और उनका समुद्र से घिरा रहना बतलाया गया है। इसके आगे पृथ्वी की पैदावार का वर्णन करते हैं। सबसे पहिले जंगलों का वर्णन इस प्रकार है—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीम् ॥१॥
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥२॥
उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥ ३ ॥
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥ ४ ॥
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥ ५ ॥ आंजनगंधि सुरभिं बह्वन्नाम-कृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्या-निमशंसिषम् ॥ ६ ॥ (ऋ० १०।१४६।१-६)

अर्थात् इस महावन में गौ आदि पशु घास चर रहे हैं। वह वन मकान के सदृश दिखता है। कोई गाड़ियों को मेज रहा है, कोई गायों को बुला रहा है, कोई सूखा काष्ठ काट रहा है और कोई सन्ध्या के समय घबरा रहा है। यदि कोई क्रूर जन्तु न हो, तो यह अरण्य किसी को नहीं मारता। अरण्य में स्वादिष्ट फल खाने को मिलते हैं, यह कस्तूरी और पुष्पों की सुगन्धि देता है और विना खेती के बहुत सा अन्न देता है। अनेकों प्रकार के पशुओं का उत्पत्तिस्थान यह अरण्य महाप्रशंसा के योग्य है। इस जंगल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के यज्ञान्नों का वर्णन इस प्रकार है—

> व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
>
> (यजु० १८।१२)

अर्थात मेरे धान, यव, उड़द, तिल, मूँग, चना, काकुन, कोदो, साँवाँ, पसाही, गेहूँ और मसूर आदि सब अन्न यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। इन अन्नों के आगे हर प्रकार के जलों का वर्णन इस प्रकार है—

> या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः। समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥
>
> (ऋ० ७।४९।२)

अर्थात् जो पवित्र जल बरसते हैं, जो खोदने से होते हैं, जो खुद (नदियों द्वारा) उत्पन्न होते हैं और जो समुद्र से बनाये जाते हैं, वे दिव्य जल यहाँ मेरी रक्षा करें। इस प्रकार से जलों के वर्णन के आगे खनिज पदार्थों का वर्णन इस प्रकार है—

> अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
>
> (यजु० १८।१३)

अर्थात् मेरे ये पत्थर, मिट्टी, गिरि, पर्वत, बालू, वनस्पती, सोना, ईस्पात, लोहा, सीसा, जस्ता आदि सब यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार से पृथिवी की बनावट, द्वीपों की उत्पत्ति और पृथिवी में हर प्रकार की उपज का ज्ञान देकर पोषण करनेवाली मातृभूमि की वेद इस प्रकार प्रशंसा करते हैं और उपदेश करते हैं कि वेद के माननेवालों को मातृभूमि का गुणगान और अभिमान किस प्रकार करना चाहिये। अथर्ववेद में आया है कि—

> यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः। यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥ यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्य-वर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥ विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र-ऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥ गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ॥ ११ ॥ शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः सन्धृता धृता। तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥ यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥ यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः। युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः। सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥ यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्चकृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥ निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥ ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमान-मित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥ ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् । संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्य ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः । तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥ १२ ॥
(अथर्व० १२।१)

अर्थात् जिस भूमि पर समुद्र, नदी और कुएँ हैं, जिस पर अन्नों की खेती होती है और जिस पर प्राणी बसते हैं, वह रक्षा करनेयोग्य भूमि हमको स्थान दे। जिस पर हमारे पूर्वजों ने बढ़कर कर्तव्य किये हैं और जिस पर देवताओं ने असुरों को हराया है वह गौवों, घोड़ों और अन्नों की खान हमारी पृथिवी हमको ऐश्वर्य और तेज दे। सबको सहारा देनेवाली धन और सुवर्ण को अपनी छाती पर रखनेवाली और सुख देनेवाली हमारी भूमि हमको बल दे। तेरे पहाड, तेरे हिमवान् पर्वत और तेरे जंगल हमको सुखकारी हों। जो पृथिवी शिला, पत्थर और धूलि को धारण किये हुए है और जो सुवर्ण को अपनी छातीपर लिए हुए है, उस मातृभूमि को नमस्कार है। जिस पर वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और जो बड़े बडे वीरों द्वारा धारण की गई है, उस पृथिवी का हम स्वागत करते हैं। जिस पर एक भाषा को अनेक प्रकार से बोलनेवाले बसते हैं, जिस पर नाचनेवाले नाचते हैं, जिस पर युद्ध करनेवाले कोलाहल करते हैं और जिस पर नाना प्रकार के बाजे बजते हैं, वह हमारी पृथिवी शत्रुहीन हो। जिस पर अनेक प्रकार के जौ आदि अन्न होते हैं और जिनके सम्बन्धी पाँचों तत्व हैं, उस वर्षा से प्रेम करनेवाली और मेघों के द्वारा पालन की गई भूमि को नमस्कार है। अपने गुप्त खज़ाने में अनेक प्रकार की निधियों को सुरक्षित रखनेवाली मातृभूमि हमें मणि और सुवर्ण देवे और हमारा पोषण करे। जिसमें बहुत से मनुष्य चलते हैं, जिसमें रथ और छकड़े दौड़ते हैं, जिसमें भले और बुरे सभी निवास करते हैं, वह शत्रुरहित और तस्कररहित मंगलमय भूमि हमको विजय देकर सुखी करे। तुझ पर जो ग्राम हैं, वन हैं, सभाएँ हैं, जो संग्राम और समितियाँ हैं, उन सब स्थानों में हम तेरा यश वर्णन करें। हे मातृभूमि ! हमको सुबुद्धि के साथ बड़ी प्रतिष्ठावाला बनाये रख और श्री तथा विभूतियों से सम्पन्न रख। हे पृथिवीमाता ! तू अपना मध्य, अपना कर्म और अपने शरीर का बल हमको दे। हे मातृभूमि! तू हमारी माता है और हम तेरे पुत्र हैं। इस प्रकार से इन मन्त्रों में मातृभूमि के महत्व का, उसकी उपज का, उसकी पोषक शक्ति का और उसके प्रति भक्तिभाव का उपदेश किया गया है, जिससे भौगोलिक और भौगर्भिक ज्ञान की अच्छी तरह उन्नति हो सकती है। अब इसके आगे जीविका से सम्बन्ध रखनेवाले वैश्यधर्म का वर्णन करते हैं।

वैश्यधर्म में कृषि, जंगल, खनिज पदार्थ, पशु और अन्य अनेकों वाणिज्य से सम्बन्ध रखनेवाले और जीविका प्रदान करनेवाले साधन सम्मिलित हैं। जब तक ये समस्त साधन न उपस्थित किये जाएँ और जब तक समस्त समाज को उसके व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार कारीगरी, श्रम और अन्य बौद्धिक कामों में न लगाया जाय, तब तक समाज की जीविका का प्रश्न अच्छी तरह हल नहीं हो सकता। इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः । आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ (ऋ० १०।७१।७)

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते । यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥
(ऋ० १०।११७।९)

अर्थात् नेत्र आदि इंद्रियों के एक समान होने से सब मनुष्य समान ही दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु मनोवेगों और बुद्धिबलों में सब असमान ही हैं। कोई मुख पर्यन्त सरोवर के समान है, कोई बगल पर्यंत सरोवर के समान है और कोई केवल स्नान कर लेने मात्र भर के जलाशयों के ही बराबर है। दोनों हाथ एक समान होते हुए भी वे समान कर्म नहीं कर सकते, एक ही माता से उत्पन्न दो गौवें भी बराबर दूध नहीं देतीं, साथ ही जन्मे हुए दो यमज भाई भी एक सा पराक्रम नहीं करते और एक ही जाति के होते हुए भी सब एक समान दान नहीं करते। इन दोनों मन्त्रों में बतलाया गया है कि यद्यपि

समस्त मनुष्य शारीरिक बनावट में समान हैं, परन्तु सबके मन की शक्तियाँ और कर्तव्य अलग अलग हैं। परमेश्वर को इस प्रकार की असमानता में भी अर्थ, काम और मान की समता समस्त मनुष्यों में एक समान रखनी है, इसलिए उसने धन को समान रूप से बाँटते हुए उपदेश किया है कि—

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम् ॥ (यजु० ३०।४)

अर्थात् नाना प्रकार के सुखदायक धनों का जिसने विभाग किया है, उस सबके उत्पादक और ज्ञानदाता परमात्मा की हम लोग पूजा करें। इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि समान भोगों के लिए सारा समाज यथायोग्य काम को करके जीविका उत्पन्न करे, जिससे समाज में दरिद्रता न आने पावे। दरिद्रता के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिंबिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥
(ऋ० १०।१५५।१)

अर्थात् हे धनहीन, विरूप, कुरूप, सदा आक्रोश करनेवाली दरिद्रे! तू निर्जन पर्वत पर जा। यहाँ हम दृढ़ अन्तःकरणवाले मनुष्यों के पुरुषार्थ से तेरा नाश करेंगे।

इस दरिद्रता के नाश करनेवाले सर्वप्रधान व्यवसाय खेती के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥ १ ॥ क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ॥ २ ॥ मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वंतरिक्षम्। क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥ ३ ॥ शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिंगय ॥ ४ ॥ अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगासति यथा नः सुफलासति ॥ ६ ॥ शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः। शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥८॥ (ऋ० ४।५७)

अर्थात् खेत के स्वामी के हित के लिए हम गाय, घोड़े और पोषक पदार्थ देते हैं, उसी तरह वह किसान भी हमें सुख देवे। हे कृषक! धनपति! आप गोदुग्ध की भाँति मीठा पवित्र जल, दूध और मीठे आम के फल हम लोगों में परिपूर्ण कीजिये। उत्तम औषधियाँ, द्युलोक, जल और अन्तरिक्ष अनुकूल रहे, जिससे क्षेत्रपति हमारे लिए मधुर हो सके और सज्जन पुरुष उसके अनुकूल रहें। बैल, मज़दूर, हल के अंग, वरेत (रस्सी) आदि सब सुखकारी हों और खेती के अन्य अवयव भी सुखकारी होकर चलाये जायँ। हे सौभाग्यवती फाल! नीचे की चलनेवाली हो। जैसे तू हमारे लिए सौभाग्य देनेवाली और सुफला है, वैसे ही हम तेरी याचना करते हैं। हमारी सुख देनेवाली फाल ज़मीन को जोते, हमारा जोतनेवाला बैलों से सुख प्राप्त करे, वर्षा उत्तम जलों से तृप्त कर दे और खेती हम लोगों में सुख धारण करे। इस प्रकार खेती का वर्णन करके अब बाग़बग़ीचों का वर्णन करते हैं। वेद में वृक्षों को पशुपति कहकर उनका आदर बतलाया गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः।
(यजु० १६।१७)

अर्थात् हे हरिकेश वृक्षों! तुम पशुपति हो इसलिए हम तुम्हारा आदर अर्थात् पालन करते हैं। वनस्पति के आदर का यही कारण है कि समस्त मनुष्य और पशु वृक्षों से ही जीते हैं। वनस्पति न हो, तो न मनुष्य ही रह सकें और न पशु ही। इसलिए खेती के साथ बाग़बग़ीचे लगाना और जंगलों की रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वेद में वनस्पतिरक्षा के आगे पशुरक्षा बतलाई गई है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता। दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ (ऋ० ८।४६।२२)

अर्थात् साठ हज़ार घोड़ी, दश हज़ार ऊँट, तीन हज़ार भेड़ी, एक हज़ार गधी और दश हज़ार गौवें हों। इस प्रकार पशुधन की वृद्धि की जावे और इन्हीं को व्यापार का

माध्यम बनाया जावे। वेद उपदेश करते हैं कि—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या मातां ऋणुत व्रजं गोः। यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥ (ऋ० ५।४५।६)

अर्थात् हे मित्रों! आओ इकट्ठे होकर हम लोग धन के देनेवाले व्यापार को मिलकर करें और गौवे के बड़े बड़े व्रज बनावें। इस प्रकार व्यापार की बात कहकर ऐश्वर्य की बड़ाई करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

भग एव भगवाँ २ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जो-हवीति स नो भग पुर एता भवेह।

(यजु० ३४।३८)

अर्थात् ऐश्वर्य ही भगवान् हो और उससे ही देवता हमको भाग्यवान् करें, इसलिए हे ऐश्वर्य ! तुझको समस्त जन पुकारते हैं और तेरा मुह देखते हैं कि तू ही हमारा अग्रगामी हो। इस ऐश्वर्य देनेवाले व्यापार और व्यापारियों को उत्तेजन और सहायता देने के लिए वेद में राजा को इस प्रकार उपदेश दिया गया है कि—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु। नुदन्नरातिं परिपंथिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्। (अथर्व० ३।१५।१)

अर्थात् मैं (राजा) उत्तम व्यापारी को अपने पास बुलाता हूं और उसे अपना मुखिया बनाता हूँ, इसलिए हे धनदाता! इन अनुदार, बटमार (डाकू) और सिंहादि क्रूर पशुओं को दूर करके हमको धन दे। इसके आगे व्यापारी को अपने व्यापार में मन लगाने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धन-मिच्छमानः। तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥

(अथर्व० ३।१५।६)

अर्थात् धन से अधिक धन मिलाने की इच्छा से धन के द्वारा जो व्यापार करता हूं, उसी व्यापार में मेरी रुचि रहने दीजिये। यह रुचि तभी बढ़ सकती है, जब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार काम किया जावे। वेद उपदेश करते हैं कि लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने अपने धन्धों को ही करें-

नाना नं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्। तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वंतमिच्छति॥

(ऋ० ९।११२।१)

अर्थात् अपनी और अन्य लोगों की बुद्धि और कर्म सचमुच ही भिन्न भिन्न हैं। बढ़ई चीड़ने फाड़ने की, वैद्य रोगनिवृत्त की और ब्राह्मण यज्ञ की इच्छा करता है।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानां। कर्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवंतमिच्छति।

(ऋ० ९।११२।२)

अर्थात् परिपक्व औषधि लेकर वैद्य, पक्षियों के पङ्ख लेकर चीज़ बनानेवाले कारीगर, चमकते हुये रत्न लेकर सुनार और अन्य चीजों को लेकर अन्य धधादार अपनी अपनी दुकानों में बेचने की इच्छा करते हैं। इसके आगे वेद उपदेश करते हैं कि पूर्वसञ्चित कर्मानुसार एक ही कुटुम्ब में पैदा होते हुए और रहते हुए भी मनुष्यों को अलग अलग कामों में रुचि होती है और वे लोग अलग अलग अपने अपने धन्धों को करते हैं। निम्नलिखित मन्त्र में यही उपदेश किया गया है। यथा—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम॥

(ऋ० ९।११२।३)

अर्थात् मैं बढ़ई हूँ, मेरा बाप वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है, इसलिए इसी प्रकार के विविधबुद्धि और कलाकुशलतावाले लोगों में हम बसें। इसका यही अभि-प्राय है कि स्वाभाविक रुचि और मनोवृत्ति (tendency) के अनुसार काम करने से ही कला और व्यापार में उन्नति होती है और सब लोक पर्याप्त जीविका प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए वेद में विविध प्रकार के कारीगरों को मानपान देने की आज्ञा इस प्रकार दी गई है-

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो
नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो
नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥

(यजु० १६।२७)

अर्थात् तक्षा, रथकार, कुलाल, बढ़ई, निषाद और अन्य छोटे बड़े कारीगरों का सत्कार हो। कारीगरो की इस प्रतिष्ठा से प्रतीत होता है कि भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थीसे सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थ तैयार कराने का वेदों में आदेश है। कपड़ा बनाने के लिए वेद उपदेश देते हैं कि--

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। अश्विना यज्ञꣳसविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्॥

(यजु० १९।८०)

अर्थात् सीसा के यन्त्र से मननशील विद्वान् ऊन को उसी तरह बुनते हैं, जिस तरह दोनों बिजलियों को बरसात में वरुणदेव ओतप्रोत करते हैं। इसके आगे कवच सीने का उपदेश इस प्रकार है--

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्राच्चमसो दृंहता तम्॥ (ऋ० १०।१०१।८)

अर्थात् हे राजन्! बड़े बड़े गौवों के व्रज कायम करो, मोटे मोटे चमड़े के वर्म सिल्वाओ और लोहे के किले बनवाओ, जिससे तुम्हारा हवन का चमचा न टपके- राज्य न नष्ट हो जाये। यहां सीने का प्रयोग पाया जाता है, इसके अतिरिक्त नाव और विमान बनाने का उपदेश इस प्रकार है--

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥ (ऋ० १।२५।७)

अर्थात् जो पक्षी बादल आदि 'वी' के स्थान को और अन्तरिक्ष में उनके चलने की गति को जानता है, वह आकाश के विमान और समुद्र की नाव को जानता है। क्योंकि पक्षी जिस नियम से उड़ते हैं, उसी नियम से विमान और नौका भी चलाई जाती है। इसी लिए वि=पक्षी और मान= सदृश अर्थात् पक्षी के सदृश ही को विमान कहते हैं। इसके अतिरिक्त वेदों में हल, रथ, गाड़ी, धनुष बाण, यज्ञपात्र और गृहनिर्माण सम्बन्धी अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और औषधि आदि बनाने के समस्त औज़ारों का विस्तृत उपदेश है, इसलिए वेदों में कलाकौशल का पर्याप्त ज्ञान पाया जाता है। परन्तु विना गणित के व्यापार का काम नहीं चल सकता, इसलिए देखते हैं कि वेदों में अङ्कगणित और रेखागणित का कैसा वर्णन है।

यजुर्वेद अध्याय १५ के मन्त्र ४ और ५ में अनेक प्रकार के छन्दों का वर्णन करते हुए 'अक्षरपंक्तिश्छन्दः' और 'अङ्काङ्कं छन्दः' का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें अक्षर और अङ्क अलग अलग कहे गये हैं। इससे पाया जाता है कि वेदों में अङ्कविद्या है। अथर्ववेद में दश तक अङ्कों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि —

य एतं देवमेकवृतं वेद। (अथर्व० १३।४।५४)
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।

(१३।४।१६-१८)

इन्हीं नौ अङ्कों की दहाई बनाने का वैज्ञानिक क्रम अथर्ववेद काण्ड ५ सूक्त १५ के कई मन्त्रों में विस्तारपूर्वक इस प्रकार बतलाया गया है कि —

एका च मे दश च मे०, द्वे च मे विंशतिश्च मे०, तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे०, चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०, पञ्च च मे पञ्चाशच्च मे०, षट् च मे षष्टिश्च मे०, सप्त च मे सप्ततिश्च मे०, अष्ट च मेऽशीतिश्च मे०, नव च मे नवतिश्च मे०, दश च मे शतं च मे०, शतं च मे सहस्रं च मे०।

(अथर्व० ५।१५।१-११)

इस मंत्र के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वेदों के आदेशानुसार एक से लेकर नौ तक अङ्कों से ही दस, बीस, तीस, चालीस, पचास और नब्बे आदि दहाइयां बनाई गई हैं। दहाइयों के लिए कोई नवीन संज्ञा मुकर्रर नहीं की गई। यही नहीं बल्कि जिस संकेत से दो का बीस, तीन का तीस और नौ का नब्बे बनता है, उसी से दश का सौ और सौ का हज़ार भी बनता। क्योंकि उपर्युक्त मन्त्र में '**दश च मे शतं च मे शतं च मे सहस्रं च मे**' स्पष्ट कहा गया है। इस दहाई का क्रम बतानेवाला नीचे दिया हुआ यजुर्वेद का मंत्र बड़ा ही स्पष्ट है—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च, दश च शतं च, शतं च सहस्रं च, सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च, नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके। (यजु० १७।२)

इस मंत्र में दहाई का चिह्न बढ़ाते हुए परार्द्ध तक की संख्या बतलाई गई है। संसार में इससे बड़ी संख्या का पता अबतक नहीं लगा। इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि एक का दश, दश का सौ, सौ का हज़ार हो जाता है और इसी तरह दहाई बढ़ाते हुए परार्द्ध तक हो जाता है।

इन नौ तक अङ्कों, बीस, तीस, चालीस तथा नब्बे तक की दहाइयों और दश, सौ, हज़ार आदि परार्द्ध तक की संख्याओं के संकेतों का वर्णन करके अब आगे दहाइयों और अङ्कों के संयोगों से जो संख्याये बनती हैं, उनका नमूना दिखलाते हैं। इनका वर्णन यजुर्वेद और ऋग्वेद में इस प्रकार आया है—

एका च मे तिस्रश्च मे, तिस्रश्च मे पञ्च च मे, पंच च मे सप्त च मे, सप्त च मे नव च मे, नव च मे एकादश च मे एकादश च मे त्रयोदश च मे, त्रयोदश च मे पंचदश च मे, पंचदश च मे सप्तदश च मे, सप्तदश च मे नवदश च मे, नवदश च मे एकविंशतिश्च मे, एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे, त्रयोविंशतिश्च मे पंचविंशतिश्च मे, पंचविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे, सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे, नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च मे, एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।२४)

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ मे च द्वादश च मे, द्वादश च मे षोडश च मे, षोडश च मे विंशतिश्च मे, विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे, चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे, अष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे, द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे, षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे, चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे, चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।२५)

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव॥ (ऋग्वेद १।८४।१३)

यहाँ हमने तीन मंत्र उद्धृत किए हैं, जिनमें क्रम से दो दो और चार चार बढ़ाकर एक, तीन, पाँच, ग्यारह, तेरह, सत्रह, इक्कीस, पच्चीस, इकतीस और तेंतीस आदि तथा चार, आठ, बारह, सोलह, बीस, चौबीस, बत्तीस, चालीस, चवालीस और अड़तालीस आदि संख्याओं का वर्णन किया गया है। इसी तरह ऋग्वेदवाले मन्त्र में निन्यानवे का भी वर्णन है। जिससे पाया जाता है कि वेदों ने इस जोड़ और बाक़ी का ज्ञान देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि एक से लेकर निन्यावे तक की जितनी संख्याएँ हैं वे सब उन्हीं नौ अंकों और दहाई के संकेतों से ही बनी हैं, इसके लिए किसी अन्य संकेत की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से हमने यहाँ तक के वर्णन से देखा कि वेदों में दो ही प्रकार के संकेत हैं, एक तो एक, द्वि, त्रि, चत्वारि, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट और नव आदि इकाई के लिए और दूसरे दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्द्ध आदि दश के क्रम से बनी हुई संख्याओं के लिए। बस, इनके अतिरिक्त और किसी प्रकार के संकेत नहीं हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में इन्हीं दो प्रकार के संकेतों से सारी अङ्कविद्या फैलाई गई है। क्योंकि हमने मन्त्रों को लिखकर दिखला दिया है कि एक से लेकर निन्यानवे तक की संख्याएँ उन्हीं नौ तक अङ्कों और दश के संकेतों के ही उलटने पलटने से बनी हैं। जिस प्रकार एकादश, त्रयोदश, सप्तविंश, चतुश्चत्वारिंश और नवतिनव आदि संख्याएँ बनी हैं उसी तरह विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि, सप्तति, अशीति और नवति आदि दहाइयाँ भी उन्हीं द्वि, त्रि, चत्वारि, षट्, सप्त और नव से ही बनी हैं। तात्पर्य यह कि समस्त अङ्कजाल उपर्युक्त नौ तक अङ्कों और केवल दहाई के चिह्नों से ही फैलाया गया है, अनेकों मनमाने नामों से नहीं।

एक से लेकर दश तक अंकों में दश शब्द बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि और नवति आदि शब्द जिस प्रकार अपने उच्चारण से द्वि, त्रि, चत्वारि, षष्ठ और नव से बने हुए ज्ञात हो जाते हैं, उसी तरह बना हुआ यह दश सूचित नहीं होता। षष्ठ का षष्टि के साथ और चत्वारि का चत्वारिंश के साथ जो सम्बन्ध सूचित होता है, वही सम्बन्ध एक और दश के साथ सूचित नहीं होता–एक का दश से कोई वास्ता ही प्रतीत नहीं होता। इसी तरह शत, सहस्र, अयुत और नियुत आदि का भी एक, द्वि, त्रि, चत्वारि अथवा विंश, त्रिंश आदि से वास्ता प्रतीत नहीं होता। वे भी दश की तरह स्वतंत्र ही मालूम होते हैं। परन्तु दश का संकेत अंकों की भाँति अकेला अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। वह नौ अंकों को ही किसी विशेष सूचना से दशगुना कर देता है। इसका एक अच्छा उदाहरण अथर्ववेद में आया है। वहाँ लिखा है कि—

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥३॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥४॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ॥५॥
(अथर्व० १९।४७)

इन मन्त्रों में ९९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२ और ११ का क्रम से वर्णन है। एक ओर से ग्यारह ग्यारह की हानि है और एक ओर से ग्यारह ग्यारह की वृद्धि है। हर तरह से यह ग्यारह का पहाड़ा है, पर इसमें दहाई की (११ × १०=११०) संख्या नहीं है, जो निहायत आवश्यक थी। परन्तु हम लिख आये हैं कि दश के लिए वेदों में किसी खास अंक की आवश्यकता नहीं बतलाई गई। दश के लिए तो शून्य का ही चिह्न स्थिर किया गया है। इसीलिए इस मन्त्र में दहाई के लिए कुछ भी नहीं कहा गया। यह मन्त्र चूँकि ग्यारह से आरम्भ करता है और ग्यारह के पहिले दश हो चुके हैं, अतः जो दश पहिले कायम हो चुके हैं, वही यहाँ ग्यारह पर रख देने से ग्यारह दहाई बन जायँगी। दहाई न लिखने का यही कारण है। क्योंकि दहाई अंक नहीं है। वह तो केवल संख्या का चिह्न है। इसी से उस चिह्न को शून्य माना है। क्योंकि शून्य का अर्थ अंक का अभाव ही है।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में जहाँ ग्यारह का पहाड़ा समझाया गया है, वहाँ प्रकारान्तर से ९ + ९ = १८, ८ + ८=१६, ७ + ७=१४, ६ + ६=१२, ५ + ५=१०, ४ + ४ = ८, ३ + ३ = ६, २ + २= ४ और १ + १=२, का जोड़ भी बतलाया गया है। इस जोड में २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६ और १८ अंकों की प्राप्ति होती है और मज़े से दो का पहाड़ा बन जाता है। इसके अतिरिक्त ऊपरवाली संख्या को ९ × ९ = ८१, ८ × ८ = ६४, ७ × ७ = ४९, ६ × ६=३६, ५ × ५=२५, ४ × ४=१६, ३ × ३ = ९, २ × २ = ४, इस प्रकार गुणित करने से ८१, ६४, ४९, ३६, २५, १६, ९, ४ ये संख्याएँ प्राप्त होती हैं। ये एक दूसरी से १७, १५, १३, ११, ९, ७, ५, ३ के क्रम से छोटी हैं। इन छोटाई के अङ्कों में नीचे से ऊपर की ओर जाने से ठीक दो दो की संख्या अधिक है और ऊपर से नीचे की ओर आने से ठीक दो दो की संख्या कम है। अर्थात् जब नीचे से चलते हैं, तो तीन और दो पाँच, पाँच और दो सात, सात और दो नौ आदि के क्रम का जोड़ प्राप्त होता है और जब ऊपर से नीचे की ओर आते हैं, तो सत्रह में से दो निकल गये तो पन्द्रह, पन्द्रह में से दो निकल गये, तो तेरह आदि के क्रम की बाक़ी प्राप्त होती है। इसी क्रम में गुणा भी सम्मिलित है। जब ९×९=८१ का क्रम चलता है, तब गुणन की विधि होती है, परन्तु जब ८१ से नौ नौ के निकालने का क्रम चलता है, तो वहाँ भाग हो जाता है। क्योंकि जोड़ का विशाल रूप गुणा है और बाक़ी का विशाल रूप भाग है, जो उपर्युक्त मन्त्रों से पाया जाता है। इसी तरह 'इन्द्रो दधीचो' मन्त्र में नौ के नौ से गुणनफल को नै से ही वध करना कहा गया है, जिसका यह मतलब है कि नौ के पहाड़े की प्रत्येक संख्या फिर नौ होती हुई पाई जाती है। अर्थात् ९, १८, २७, ३६, ४५, ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० की कोई संख्या जोड़ी जाय, तो नौ ही हो जायगी। जैसे १८ के एक और आठ मिलकर नौ, २७ के दो और सात नौ, ३६ के तीन और छे मिलकर

नौ हो जाते हैं, उसी तरह ८१ पर्यन्त समझना चाहिये। ८१ का उलटा १८, ७२ का उलटा २७, ६३ का उलटा ३६, और ५४ का उलटा ४५है। नौ के पहाड़े की पाँचवीं संख्या तक ९, १८, २७, ३६, और ४५ के अङ्क होते हैं और यही आगे उलट कर ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० हो जाते हैं। इस मन्त्र में जोड़ के साथ साथ नौ तक अङ्कों की पूर्ण महिमा दिखलाई गई है और बतला दिया गया है कि समस्त अङ्कगणित नौ तक के मौलिक अङ्कों में ही भरा हुआ है। इसी तरह इन्हीं के द्वारा संख्या, जोड़, बाकी, गुणा और भाग बतलाया गया है, जो अङ्कविद्या का मूल है।

जिस प्रकार यह अङ्कगणित का नमूना है, उसी तरह रेखागणित के मौलिक सिद्धांतों का नमूना भी वेद ने बतला दिया है। रेखागणित के तीन सिद्धान्त हैं-नापने के साधन, त्रिकोण का सिद्धांत और वर्तुलक्षेत्र का गणित। नापने के साधनों को बतलानेवाला यह ऋग्वेद का मन्त्र प्रसिद्ध है—

> कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥
>
> (ऋ० १०।१३०।३)

अर्थात् उस हवनकुंड का पैमाना क्या था, नक़्शा क्या था, परिधि क्या थी, घी क्या था और किन मन्त्रों से उसका हवन किया गया था, जिसमें देवों ने समस्त देवों का यजन किया था? इसमें नाप, नक़्शा और परिधि का वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में लिख आये हैं कि हवनकुण्ड रेखागणित के ही हिसाब से बनते थे। इसीलिए यज्ञप्रकरण में पैमाना, नक़्शा और परिधि की बात कही गई है। इन रेखागणित के साधनों के आगे त्रिकोण क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है—

> यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः। वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥ (अथर्व० ८।९।२)

अर्थात् पानी के लेवल (सतह) को सच्चा मानकर और आधार तथा लम्ब को ठीक करके त्रिभुज चक्र (क्षेत्र) बनावे, जिसके भीतर वत्सरूप से क्षेत्रफल बैठा है। इस समकोण त्रिभुज का सिद्धान्त ३, ४ और ५ है। यदि लम्ब ३ और आधार ४ होगा, तो करण ५ ही होगा और इन्हीं में गुणा बाक़ी करने से क्षेत्रफल ज्ञात हो जायगा, जिस प्रकार यह त्रिकोणक्षेत्र का सिद्धान्त बतलाया गया है, उसी तरह त्रित का वर्णन करते हुए गोल क्षेत्र का भी सिद्धान्त बतला दिया गया है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के त्रितों का वर्णन है। पहिले त्रित के विषय में लिखा है कि—

> अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः। इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद्वलस्य परिधीँरिव त्रितः॥५॥
>
> (ऋ० १।५२।५)

अर्थात् वृष्टि की इच्छा से युद्ध करता हुआ इन्द्र अपने वज्र से बादलों का ऐसा भेदन करता है, जैसे नपी हुई परिधि को त्रित छेद देता है। यहाँ व्यास को त्रित कहकर परिधि का छेदनेवाला कहा गया है। व्यास परिधि का प्रायः तिहाया होता है, इसीलिए उसे त्रित कहा है। परिधि और व्यास का सम्बन्ध $\frac{22}{7}$ है। यदि परिधि २२ होगी तो व्यास ७ होगा ही। परन्तु परिधि उपर्युक्त ठीक तिहाया सच्चे व्यास से कुछ अधिक होता है। इसीलिये लिखा है कि त्रित ने परिधि को छेद दिया-वार पार कर दिया अर्थात् ठीक न निकला। दूसरे त्रित के विषय में लिखा है कि—

> त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये।
> तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु०॥
>
> (ऋ० १।१०५।१७)

अर्थात् त्रित कुएँ में गिर गया और उसने देवताओं को पुकारा, किन्तु उसकी आवाज़ को केवल बृहस्पति (ज्ञानवान्) ने ही सुना और उसे कुएँ से निकाल कर ठीक कर दिया। तात्पर्य यह कि यह भी ठीक न था पर गणितज्ञ ने तीसरे त्रित को $\frac{33}{7}$ करके ठीक कर दिया। रेखागणित के इस सिद्धान्त को प्राचीन ग्रन्थों में एक कथा के रूप में लिखा गया है जिसका मतलब यही है कि त्रित अर्थात् गोल वस्तु का तिहाया भाग यदि व्यास से

कुछ अधिक या कम होता है, तो वह गोल चीज़ को छेद देता है या उसमें समा जाता है। परन्तु पूरा $\frac{22}{7}$ वाला व्यास न तो छेदता और न समाता है। प्रत्युत घेरे में डटके बैठ जाता है-फ़िट हो जाता है। यही तीनों त्रितों की कथा का सार है और यही वेदों में त्रिकोण तथा क्षेत्रों के सिद्धान्तों का वर्णन है। रेखागणित के ये दोनों सिद्धान्त-कोण और वर्तुल-ही विस्तार से ज्यामितिशास्त्र में वर्णित हैं, इसलिए कह सकते हैं कि वेद रेखागणित के मौलिक सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं।

जिस प्रकार वेदों में अंक और रेखागणित का उपदेश है, उसी तरह ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उपदेश किया गया है, क्योंकि गणित का विशाल रूप ज्योतिष में ही दिखलाई पड़ता है। व्यापारियों को गणित की ही भाँति ज्योतिष की भी आवश्यकता होती है। नाविक ज्ञान, पदार्थों की उत्पत्ति का ज्ञान और देशदेशान्तर की ऋतुओं का ज्ञान जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वह ज्योतिषशास्त्र से ही जाना जाता है। इसीलिए वेदों में ज्योतिषशास्त्र का पर्याप्त वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में ज्योतिष का विस्तृत वर्णन कर आये हैं, अतएव यहाँ उसे सारांशरूप से ही लिखेंगे। ज्योतिष में सबसे पहिले ग्रहों की स्थिरता का वर्णन आता है। इसीलिये वेद कहते हैं कि—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥२॥
(ऋ० १०।८५।१-२)

अर्थात् पृथिवी निराधार केवल सत्य अर्थात् अपने नियम पर स्थित है, द्युलोक सूर्य से ऊपर स्थित है और सोमशक्ति से बारहों आदित्य अपने पथ में स्थित हैं। सोमशक्ति से ही सूर्य बलवान् है, उसी से पृथिवी बलवान् है और उसी सोम से समस्त नक्षत्र ठहरे हुए हैं। इसके आगे सूर्य द्वारा पृथिवी के आकर्षण का वर्णन है—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥ (ऋ० १।३३।८)

अर्थात् बाँधनेवाली किरणों से सूर्य के द्वारा मणि की तरह पृथिवी अपने मार्ग का उल्लंघन न करती हुई चक्राकार फिरती है। इस मन्त्र में सूर्य के द्वारा खिंची हुई और घूमती हुई पृथिवी का वर्णन है। इसके आगे चन्द्रमा के नवीन नवीन होने का वर्णन इस प्रकार है—

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ (ऋ०१०।८५।१९)

अर्थात् यह चन्द्रमा रोज़ नया नया होता हुआ दिखलाई पड़ता है, जो हमें दीर्घजीवन देता है। इस चन्द्रमा के विषय में यजुर्वेद १८।४० में लिखा है कि 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य' जिस पर निरुक्तकार कहते हैं कि 'अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्यति' अर्थात् सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रमा में उसका निज का प्रकाश नहीं है, किन्तु वह सूर्य से ही प्रकाशित है। इसके आगे नक्षत्रों का वर्णन इस प्रकार है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु। प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥१॥ अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे। योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥२॥ (अथर्व० १९।८।१-२)

अर्थात् जिन नक्षत्रों को आकाश के मध्यलोक में, जिनको जल के ऊपर, भूमि के ऊपर, बादलों के ऊपर सब दिशाओं में चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है, वे सब मेरे लिए सुखदायक हों। अट्ठाईस नक्षत्र मेरे लिए कल्याणकारी और सुखदायक हों तथा योगक्षेम अथवा क्षेमयोग को मैं पाऊँ। यहाँ तक वेदमन्त्रों के द्वारा पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का वर्णन हुआ। इन्हीं सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा तथा नक्षत्रों से ही वर्ष और कालविभाग होता है। इस समस्त विभाग की गणना इस प्रकार की गई है—

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरा-

त्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पतां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्तांᳪ संवत्सरस्ते कल्पताम्० ॥ (यजुर्वे० २७।४५)

अर्थात् तू संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर और वत्सर है। तूने प्रातःकाल, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और वर्ष को बनाया है। इसके आगे अधिक मास अर्थात् लौंद मास का वर्णन इस प्रकार है--

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥ (अथर्व० १३।३।८)

अर्थात् उसके क्रोध से डरो जिसने तीस अहोरात्र और तेरहवाँ महीना निर्माण किया है। प्रत्येक वर्ष में लगभग १२ दिन अथवा १२ रात्रि का अन्तर पड़ता है, तभी तीसरे वर्ष में अधिक मास होता है। इन १२ दिनों और १२ रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है-

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥
(अथर्व० ४।११।११)

अर्थात् ये बारह रात्रियाँ संवत्सर की यज्ञ के योग्य कही गई हैं। उनमें जो सूर्य का यज्ञ करता है, वही जीवन पहुँचानेवाले वर्ष को जानता है। इन बारह दिनों की बारह रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है--

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ (ऋ० ४।३३।७)

अर्थात् सोती हुई ऋतुएँ आकाश में प्रत्यक्ष आतिथ्य ग्रहण करने को १२ दिन अच्छी तरह ठहरती हैं। इससे नदियों का जल नीचे आता है, औषधियाँ खेतों में होती हैं और सब प्रकार के सुख होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि १२ दिन साल में घट बढ़कर चान्द्र और सौर वर्ष बराबर हो जाते हैं, जिससे ऋतुएँ ठीक समय में पानी बरसाती हैं और फल फूल होते हैं। इस घटाव बढ़ाव से चान्द्रवर्ष और सायनवर्ष बराबर हो जाता है। सायनवर्ष के १२ मास और प्रत्येक मास के ३० अंशों का वर्णन इस प्रकार है--

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥
(अथर्व० १०।८।४)

अर्थात् वर्षचक्र के बारह मास पुट्ठी हैं, पूरा वर्ष पहिया है, तीन ऋतुएँ नाभि हैं और तीन सौ साठ दिन काँटे हैं, जो टेढ़े टेढ़े चलते हैं। इसके आगे इस सायनवर्ष के दोनों अयनों का वर्णन इस प्रकार है--

द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ (ऋ० १०।८८।१५)

अर्थात् देवयान और पितृयान दो मार्ग हैं, इन्हीं के द्वारा मोक्ष और आवागमन होता है। इन्हीं को उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं। अथर्ववेद में इनके लिए लिखा है कि 'षडाहुः ऊष्णान् षडाहुः शीतान्' अर्थात् छे मास गर्मी और छे मास शीत होता है। इसी तरह वेद में अनेक ऋतुओं का वर्णन है। यजुर्वेद २२।३१ और ७।३० में छे ऋतुओं के अतिरिक्त एक सातवीं ऋतु 'अंहसस्पतय' का भी नाम आता है और अथर्व० ८।९।१८ में 'मधूनि सप्त' तथा 'ऋतवो ह सप्त' का वर्णन भी हुआ है। इसी तरह अथर्व० ८।९।१५में 'ऋतवोनु पञ्च' कहकर पाँच ऋतुओं का भी वर्णन कहा गया है। छे ऋतुएँ तो प्रसिद्ध हैं ही। इस प्रकार से संसार की अनेक परिस्थितियों के कारण अनेक प्रकार की ऋतुएँ बतलाई गई हैं। इसके आगे राशिचक्र का वर्णन इस प्रकार है—

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त। वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥ (ऋ० ६।७।२)

अर्थात् यज्ञों की नाभि, धनों का घर, बड़े से बड़े अध्वरों का मार्ग और यज्ञ के पताका वैश्वानर को देवता जानते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। भूमि के इस मार्ग में भ्रमण करने के कारण जो रातदिन में अन्तर पड़ता है-घट बढ़ होती है, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है--

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम। अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः॥ (ऋ० १।१२३।८)

अर्थात् आज भी एक समान और कल भी एक समान ही रात मालूम होती है, पर दोनों में महान् भेद होता है और वरुणस्थान में शीघ्रता के कारण एक एक से तीस तीस योजन का फ़र्क़ पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि तीस योजन चलने में जितना समय लगता है, उतने ही समय के हिसाब से प्रत्येक रात्रि एक दूसरी से छोटी या बड़ी होती है। इस गणना के अनुसार ही ग्रहण जाने जाते हैं। ऋग्वेद में ग्रहण जानने के लिये यन्त्र बनाने का आदेश दिया गया है।

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्। गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥ (ऋ० ५।४०।६)

अर्थात् चन्द्रमा की छाया से जब सूर्यग्रहण होता है, तब उसको तुरीययन्त्र से आँख देखती है। इस प्रकार से वेद ज्योतिषज्ञान के ख़ास ख़ास आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य अपनी समुद्रीय यात्रा और अनेक प्रकार के अन्नों की फ़सलें तथा देशदेशान्तर के मौसमों को जान सकता है और व्यापार तथा जीविकासंबंधी आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार के समस्त आवश्यक ज्ञानविज्ञानों और कलाओं में ललित कला की भी गणना है। ललित कला में काव्य और संगीत ही प्रधान है। वेदों में काव्य और संगीत का बहुत वर्णन है। अथर्ववेद में काव्य के लिए लिखा है कि 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' अर्थात् परमेश्वर का संसाररूपी काव्य पढ़ो जो न कभी पुराना होता है और न कभी नष्ट होता है। इसी तरह काव्य और संगीत के लिए ऋग्वेद में लिखा है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
(ऋ० १।१०।१)

अर्थात् हे शतक्रत! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं, सूर्य पूजा करते हैं और ब्राह्मण तुम्हारे वंश का बखान करते हैं। इस मन्त्र में ऐतिहासिक काव्य के गाने का एक साथ ही वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त चारों वेद कविता में ही वर्णित हैं और सामवेद तो बिलकुल ही गाने के लिए ही रक्खा गया है। वेदों में वीणावादन का भी वर्णन आता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में काव्य और संगीत की शिक्षा प्रचुर परिमाण में है। काव्य और संगीत भी जीवन प्रदान करनेवाले हैं, इसलिए जीविका में ही उनका भी समावेश है। इस प्रकार से जीविकासम्बन्धी विस्तृत ज्ञान वेदों से प्राप्त होता है और ज्ञात होता है कि वेदमन्त्रों के अनुसार उद्योग करनेवाला समाज धनधान्य से पूर्ण रह सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे सुखी, सदाचारी और सीधेसादे समाज की रक्षा का प्रबन्ध वेदों ने क्या बतलाया है।

समाज और साम्राज्य की रक्षा।

उपर्युक्त आदर्श वैदिक आर्यसमाज का पवित्र चित्र देखकर उसकी रक्षा का प्रश्न सामने आ जाता है और उस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि जहाँ जहाँ भय की सम्भावना हो, वहीं वहीं रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये। वेदों में रक्षासम्बन्धी अनेकों प्रकार के उपदेश हैं, जो स्थूल रूप से चार भागों में बँटे जा सकते हैं। बीमारी से रक्षा, प्राकृतिक विघ्नों से रक्षा, समाज के भीतरी दुष्टों से रक्षा और बाहर के शत्रुओं से रक्षा। इन चारों प्रकार की रक्षाओं को आयुर्वेद, यज्ञ, प्रार्थना और राज्यप्रबन्ध के अन्तर्गत रक्खा गया है। इनमें सबसे पहिला आयुर्वेद ज्ञान है। आयुर्वेद दो प्रकार का है–व्यक्ति का और समाज का। व्यक्ति का आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र है और समाज का यज्ञ है। व्यक्तिगत व्याधियाँ वैद्यकशास्त्र से और ऋतुसम्बन्धी या महामारी आदि सामाजिक व्याधियाँ यज्ञों के द्वारा नष्ट होती हैं। वेदों में दोनों प्रकार का ज्ञान दिया गया है। यहाँ हम पहिले वैद्यक ज्ञान का नमूना दिखलाते हैं। वेद में सबसे पहिले जीवन का उपदेश इस प्रकार है—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ (ऋ०१०।१८।४)

अर्थात् मैं मनुष्यों के आयु की मर्यादा १०० वर्ष मुकर्रर करता हूँ। इससे पहिले इस जीवनधन को न गँवाओ, सौ वर्ष जिओ और अपमृत्यु को पर्वत से दबा दो। इस मन्त्र में अपमृत्यु से बचने का उपदेश है। अपमृत्यु बीमारियों से ही होती है और बीमारियाँ दोषों के ही कोप से होती हैं। इसलिए वेद में दोषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती ।
वाजेवाजे हव्या भूत् । (ऋग्वेद ६।६१।१२)

अर्थात् तीन स्थानों (कफ, वात और पित्त) में ठहरी हुई सात धातुएँ पाँच तत्वों से उत्पन्न होकर बढ़ती हैं और अन्न से पुष्ट होती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि पाँचों तत्वों से बने हुए खानेपीने के पदार्थों से ही सातों धातुएँ उत्पन्न होती हैं जो वात, पित्त और कफ में स्थित हैं। इसके आगे हृदय और नाडी आदि के विषय में लिखा है कि--

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥
(ऋ० १०।१३५।७)

अर्थात् यह हृदय देवमान-नियमित गति का बतानेवाला-यम का घर है और यही नाडी को धौंकता है। इस मन्त्र में हृदय की चाल का नियमित रूप बतलाकर नाडीज्ञान का उपदेश किया गया है। इसके आगे पथ्याहार का वर्णन इस प्रकार है—

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् । आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ (अथर्व० १८।१।१७)

अर्थात् बुद्धिमानों ने अनेक प्रकार से निरूपण करने योग्य, अद्भुत गुणवाले, सबके जानने योग्य और आनन्द देनेवाले तीन पदार्थों को बहुत तरह से समझ लिया है। वे तीनों पदार्थ जल, वायु और औषधियाँ हैं, जो संसार को दी गई हैं और हर जगह में मौजूद हैं। यहाँ स्वास्थ्यरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले और हर समय उपयुक्त होनेवाले वायु, जल और अन्नों का वर्णन किया गया है। क्योंकि मनुष्य का स्वास्थ्य इन्हीं के अधीन है। इसके आगे आहार का नियम बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१॥
यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥२॥
यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३॥
(अथर्व० ६।१३५ १-३)

अर्थात् जो कुछ मैं खाता हूँ उसे बल बना देता हूँ, तभी मैं शत्रु के कंधों का तोड़नेवाला वज्र उसी तरह ग्रहण कर सकता हूँ, जैसे वृत्र के लिए इन्द्र अपने वज्र को ग्रहण करता है। इसी तरह जो कुछ पीता हूँ वह भी यथाविधि ही पीता हूँ, जैसे समुद्र यथाविधि पीता है। इसलिए जो कुछ हम पीवें, वह उस पदार्थ के सारभाग को चूसकर पीवें। इसी तरह जो कुछ चबाता हूँ, वह यथाविधि चबाता हूँ जैसे समुद्र चबाकर पचा जाता है, इसलिए पदार्थों के प्राणस्वरूप सार को खूब दातों से पीसकर चबाना चाहिये। इन मन्त्रों में खूब चबाकर उतना ही खाने की आज्ञा है, जितना पच जावे और बल उत्पन्न करनेवाला हो। समुद्र के उदाहरण से बतला दिया गया है कि कभी अजीर्ण न होना चाहिये, क्योंकि समुद्र को जल से कभी अजीर्ण नहीं होता। इसके आगे संसार की दोनों ताक़तें-सर्दी और गर्मी-इस प्रकार बतलाई हैं।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥
(ऋ०१०।९।६)

अर्थात् मुझसे सोम ने कहा कि पानी में सब औषधियाँ हैं और अग्नि सबको आरोग्य देता है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि अग्नि और जल ही अर्थात् सर्दी और गर्मी ही दो दवाएँ हैं। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण १।६।२।८ में लिखा है कि 'अग्नि षोमावाभि सम्बभूव सर्वा विद्याः सर्वयशः सर्वमन्नाद्यं सर्वांश्च श्रीम्' अर्थात् संसार में अग्नि और

सोम (जल) दो ही पदार्थ हैं, इन्हीं से सब वैद्यविद्या, यज्ञ, अन्न और शोभा प्राप्त होती है। इसीलिए वेदमें सर्दी की दवा गर्मी और गर्मी की दवा सर्दी बतलाई गई है। वेद में लिखा है कि—

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥९॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥१०॥
(यजु० २३।९-१०)

अर्थात् कौन अकेला चलता है? कौन बार बार पैदा होता है? सर्दी की दवा क्या है और बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान क्या है? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा बार बार पैदा होता है, अग्नि (गर्मी) सर्दी की दवा है और पृथिवी ही बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान है।

इस मंत्र में सर्दीकी दवा गर्मी बतलाई गई है, परन्तु अर्थापत्ति से यह बतला दिया गया है कि गर्मी की दवा सर्दी है। इसके आगे समस्त शरीर के भीतरी बाहरी अंगों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ। केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य। जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्। श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य। कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन् ॥४॥

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति। अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्यादधौ ॥ ५ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरुचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्। स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्। चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥
(अथर्व० १०।२।१-८)

अर्थात् किसने पैर की दोनों एड़ियों में मांस भरकर पुष्ट किया? किसने मांस जोड़ा? किसने दोनों टखने जोड़े, किसने उँगलियों के जोड़ों को जोड़ा, किसने नख और किसने पाँव के दोनों तलवों को जोड़ा है? किसने पैर के नीचे के दोनों टखने, ऊपर के दोनों घुटने, दोनों टाँग और दोनों घुटनों के भीतर दोनों जोड़ों को जोड़ा है? किसने दोनों कूलों और जाँघों को चार प्रकार से सटी हुई नोकों के ऊपर इस ढीले धड़ को जोड़ा है? किसने मनुष्य की छाती और गले को मिलाया, किसने दोनों स्तनों को बनाया, और किसने दोनों गालों, कन्धों और पसलियों को एकत्र किया? किसने इन वीरकर्म करनेवाले भुजाओं को पुष्ट किया है और कन्धों के साथ मिलाया है? किसने शिर में दो आँख, दो कान, दो नासाछिद्र और एक मुख को बनाकर सात गोलकों में जोड़ा, जिसके सहारे द्विपद और चतुष्पाद प्राणी अपना अपना कार्यनिर्वाह करते हैं? किसने दोनों जबड़ों के बीच में बहुतसी बोलनेवाली जिह्वा को जोड़ा है? किसने इसके मस्तिष्क, ललाट, शिर के पिछले भाग और कपाल को दोनों जबड़ों के साथ मिलाया है? यहाँ तक इन मन्त्रों में मनुष्य के पैर से लेकर शिरपर्यंत समस्त आवश्यक अङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकार का शारीरिक वर्णन वेद के और भी कई स्थलों से आया है, जिससे प्रतीत होता है कि वेद में शरीर के अवयवों का वर्णन है। इसीलिए सुश्रुत शारीरस्थान ५।१८ में लिखा है कि 'त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते' अर्थात् वैदिक लोग शरीर की हड्डियों की संख्या तीन सौ साठ बतलाते हैं। इससे प्रकट होता है कि वेद में शरीर का पूरा वर्णन है। क्योंकि शरीर के अन्तर्भाग ही में तो वैदिक लोग जीव और ब्रह्म को भी ढूँढ निकालते थे। इसी शरीरप्रकरण के आगे लिखा है कि—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः
॥ २६ ॥
तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः
॥ २७ ॥
ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ्नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः
पुरुष आ बभूवां३। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः
पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै
ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः
॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते
॥ ३० ॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां
हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो
विदु ॥ ३२ ॥ (अथर्व० १०।२।२६-३२)

अर्थात् परमेश्वर ने मस्तिष्क को हृदय के साथ सी दिया है, जो अग्निविशेष के द्वारा शरीर को प्रेरित करता है। यह शिर देवकोश है। इसी में सब ज्ञानविज्ञान निवास करता है इसका प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। परमात्मा ही इन उलटे, आडे और साधे शरीरों को अपनी व्यापकता से बनाता है। इसलिए जो इस पुररूपी शरीर को जानता है, वही पुरुष कहलाता है। जो उस अमृत ब्रह्म से इस शरीरपुर को जानता है, वही वेद को, परमात्मा को, स्वास्थ्य को, बल को और सन्तति को प्राप्त होता है। उस मनुष्य के, बुढापे के पूर्व, न नेत्र खराब होते हैं और न बल ही कम होता है, जो इस ब्रह्मपुर--शरीर--को अच्छी तरह समझता है। इस आठ चक्र और नव द्वारवाले अयोध्यानगर में प्रकाशमान कोश है, जो स्वर्गीय ज्योति से छाया हुआ है। उस तिहरे और तीन ओर से रक्षित कोश में जो आत्मा की भाँति महान यक्ष बैठा है, उसी को ब्रह्म के ढूंढनेवाले प्राप्त करते हैं। इन मन्त्रों में शिर को विज्ञान का कोश बतलाकर और हृदय के साथ सिया हुआ कहकर बतला दिया कि शरीर के हृदयाकाश में ही वह, ज्योतिःस्वरूप परमात्मा विराजमान है, जिसको ब्रह्मज्ञानी ही ढूँड पाते हैं। इस प्रकार शरीर मस्तिष्क और हृदय के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों का वर्णन करके अब वैद्य का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि--

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥
(ऋ० १०।९७।६)

अर्थात् राजसभा में जिस प्रकार सभासद् एकत्रित होते हैं, उसी तरह जिसके पास औषधियाँ एकत्रित रहती हैं, उसको विद्वान् लोग रोगों को दूर करनेवाला और अपमृत्यु का नाश करनेवाला--वैद्य-कहते हैं। वैद्य के पास इकट्ठी रहनेवाली सैकड़ों औषधियों का वर्णन वेदों में है। यहाँ नमूने के लिए दो तीन का वर्णन करते हैं। वेद में अपामार्ग-लटजीरा-के लिए लिखा है कि--

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥
(अथर्व० ४।१७।६)

अर्थात् क्षुधा मारनेवाले, तृषा मारनेवाले, निर्धनता और निर्वंशता दूर करनेवाले हे अपामार्ग (लटजीरा)! तुझे हम तलाश करते हैं। इस मन्त्र के द्वारा लटजीरा में उपर्युक्त गुण बतलाये गये हैं। इसके आगे पिप्पली के गुण इस प्रकार लिखे है—

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी। ता
देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥
(अथर्व० ६।१०९।१)

अर्थात् विद्वानों ने पिप्पली को उन्मत्त की औषधि, बड़े घाववाले की दवा और जीवन देनेवाली माना है। पीपल के गुण इसी प्रकार वैद्यक में भी लिखे हैं। इसके आगे बालों को बढ़ाने, श्याम रखने और दृढ करने की औषधि का वर्णन इस प्रकार है—

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे। केशा
नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥
(अथर्व० ६।१३७।३)

अर्थात् हे औषधि! तू बालों की जड़ों को दृढ कर, नोक

को बड़ा और मध्यभाग को लम्बा कर जिससे केश काले होकर लम्बी घास के समान बढ़ें। औषधियों के अतिरिक्त वायुसेवन के द्वारा रोगनिवृत्ति करने का उपदेश इस प्रकार है—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥ ४ ॥ (ऋ० १०।१६८।४)

अर्थात् देवों का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायुदेव अपनी इच्छा से चलता है। इसका केवल शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप नहीं दिखता। उस वायु के लिए हम हविष देते हैं।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे ॥ (ऋ० १०।१८६।३)

अर्थात् हे वायु ! आपके घर में जो अमृत का खजाना है, वह हमें जीने के लिए दीजिये।

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभुनो हृदे। प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ (ऋ० १०।१८६।१)

अर्थात् वायु आरोग्यता के लिए औषधि है। उससे हृदय की आरोग्यता बढ़ती है, बल प्राप्त होता है और आयु बढ़ती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि ॥ (ऋ० १०।१८६।२)

अर्थात् हे वात ! तू हमारा पिता है, हमारा भाई है और हमारा सखा है, अतः तू हमको जीवन के लिए तैयार कर। इसके आगे जल के द्वारा आरोग्य प्राप्त करने का उपदेश इस प्रकार है—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् अपामुत प्रशस्तिभिः। अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः ॥ (अथर्व० १।४।४)

अर्थात् जल में अमृत है और जल में औषधि है, इसीलिए जल के इन श्रेष्ठ गुणों से गौ, बैल और घोड़े बलवान् होते हैं। जिस तरह जल से आरोग्यता होती है, उसी तरह सूर्यताप से भी आरोग्यता होती है। एक मंत्र में वेद उपदेश करते है कि—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥ (ऋ० १।५०।११)

अर्थात् आज और नित्य प्रातःकाल आनेवाले हे सूर्य ! मेरे हृदय के रोगों का और रात के समय चोरी करनेवालों का नाश करो। इसका तात्पर्य यही है कि सूर्य देवता उदय होकर हृदयरोग और चोर दोनों का नाश करते हैं। इसके आगे शल्यकर्म (सर्जरी) का उपदेश इस प्रकार है—

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः। अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ (अथर्व० ४।६।५)

अर्थात् शल्यकर्म से, लेप से, पर से, सींग से (सींगी से चूसकर), चाकू से और बाण से विष निकालता हूँ। इस मंत्र में चीर फाड़, पोल्टिस, सींगी और बाण की नोक से मवाद निकालने का उपदेश है। इसके आगे रुके हुए पेशाब को खोलने के लिए इस तरह कहा गया है कि—

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ (अथर्व० १।३।१)

अर्थात् हम जानते हैं कि वृष्टि की अधिकता से सरकंडा होता है। उस सरकंडे से तेरे शरीर को आरोग्य करता हूँ। अब तेरे मूत्र का प्रवाह पृथिवी पर हो और बलबलाकर बाहर निकले। इसके आगे टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने का उपदेश इस प्रकार है—

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ॥ ८६ ॥ सन्धाता संधिं मघवा पुरुवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ ८७ ॥ (अथर्व० १४।२)

अर्थात् जो वैद्य टकराने से टूटी हुई ग्रीवा आदि जोड़ों की हड्डियों को यथास्थान चिपका कर जोड़ता है, वही टेढ़े और अकड़े हुए अङ्ग को भी सीधा कर देता है। इस मंत्र में बतलाया गया कि टकराने आदि से टूटी हुई हड्डियों को ठीक ठीक बाँधकर जोड़नेवाला ही टेढ़े अंगों को भी ठीक कर सकता है। इसके आगे बिना दवादारू के केवल रोगी के मन को उत्तेजना, उत्साह और प्रेरणा (Suggestion) देकर रोगों को निर्मूल करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ (ऋ० १०।१६३।६)

अर्थात् मैं अपने आत्मबल से अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम, जोड़-जोड़ से यक्ष्मारोग को निकाल बाहर करता हूँ । इस प्रेरणा को आकर्षणशक्ति के साथ किस प्रकार करना चाहिये, उस क्रिया का उपदेश इस प्रकार किया गया है--

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥ (अथर्व० ४।१३।६-७)

अर्थात् मेरा यह हाथ प्रभावशाली है, मेरा यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब रोगों की दवा है और मेरे इस हाथ के स्पर्श से आरोग्यता होती है। मैं प्रेरणात्मक वाणी और दशशाखा (अंगुली) वाले तथा आरोग्य देनेवाले दोनों हाथों से तुझे स्पर्श करता हूँ। इन मन्त्रों में पास के द्वारा प्रेरणात्मक वाणी से रोगी को आरोग्य करने का उपदेश है। इसके आगे वाजीकरण औषधियों का वर्णन इस प्रकार है--

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥
(अथर्व० ६।१३९।५)

अर्थात् जैसे नेवला साँप को चीथकर फिर ज़ख्मों को भर देता है, वैसे ही मैं गुह्येन्द्रिय की क्षीणता को ठीक करता हूं ।

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम् ।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः॥
(अथर्व० ६।१०१।२)

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥
यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥
(अथर्व० ६।७२।२-३)

अर्थात् जिससे कृश रहता है और जलदी पात हो जाता है, उस कारण को दूर करके तेरे उपस्थ को धनुष की तरह फैलाता हूँ । जिस तरह से वह स्थूल हो जाय और जितना आवश्यक है, उतना बढ जाय, वह उपाय करता हूँ। जितना समर्थ पुरुषों का होना चाहिये, उतना (गार्दभ) बडा (हास्तिन) स्थूल और (वाजिन) तेज हो जाय, वह उपाय करता हूँ ।

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥
(अथर्व० ४।४।१)

अर्थात् जिस औषधि को मृत वरुण के लिए गन्धर्व ने खोदा था, उसी वाजीकरण औषधि को मैं खोदता हूँ। इस प्रकार से इन वाजीकरण उपचारों के द्वारा नपुंसकत्वादि दोषों को दूरकर पुरुषों को अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के योग्य बनाना वेद का तात्पर्य है । इसीलिए यह चिकित्सा सब चिकित्साओं से अधिक मूल्यवान् है । क्योंकि इसी के द्वारा भविष्य प्रजानिर्माण का कार्य सम्पादन होता है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक वेदों से आयुर्वेदसम्बन्धी आवश्यक उपदेशों को इकट्ठा कर दिया है । इतने आयुर्वेदिक ज्ञान से मनुष्य आरोग्यता के नियम समझ सकता है और रोगों से आरोग्यता प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तिचिकित्सा का उपदेश हुआ। अब समाजचिकित्सा का वर्णन करते हैं।

व्यक्तिव्याधियों की आयुर्वेदिक चिकित्सा के बाद वेद में सामाजिक व्याधियों की निवृत्ति का भी उपदेश किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि बहुत सी चेपी व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो आयुर्वेदिक चिकित्सा से दूर नहीं होतीं और सर्वत्र फैलकर असंख्य मनुष्यों का संहार कर देती हैं । उनके दूर करने का उपाय केवल यज्ञ ही है । हम यज्ञों का विस्तृत वर्णन पहले कर आये हैं और बतला आये हैं कि यज्ञों का सिद्धांत शिल्प और विज्ञान की नींव पर स्थिर है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड में यज्ञों के लिए नाना प्रकार के शिल्पों और विज्ञानों की आवश्यकता बतलाई गई है ×। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है

× ततोऽब्रवीद् द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान् । स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान् ॥
कर्मान्तिकान् शिल्पकारान्वर्धकीन् खनकानपि । गणकान् शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥
तथा शुचीन् शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान् । यज्ञकर्मसमीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥
इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति । उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः ॥ (वाल्मीकि० बालकाण्ड)

कि ऋतु-सम्बन्धिनी सार्वजनीन बीमारियाँ यज्ञों से ही दूर होती हैं ×। वेद स्वयं उपदेश करते हैं कि अज्ञात और सर्वत्र फैली हुई चेपी और मारक बीमारियाँ यज्ञों से दूर हो जाती हैं। अथर्ववेद में आया है कि—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-
यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्। ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं
तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥
(अथर्व० ३।११।१)

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहा-
र्षमेनम्। इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य
दुरितस्य पारम्॥ (अथर्व० ३।११।३)

अर्थात् हे मनुष्य! तुझे मैं हवन के द्वारा अज्ञात महामारी रोग से और क्षयरोग से सुखमय जीवन के लिए छुड़ाता हूँ। इस रोगी को असाध्य रोग ने पकड़ रक्खा है, इसलिए हे इन्द्र और अग्नि! आप इसे आरोग्य करें। मैंने इस हवनीय हविष को सैंकड़ों गुणदायक और आयु बढ़ाने-वाली औषधियों को डालकर तैयार किया है, इसलिए हे यज्ञपति इन्द्र! आप इस संसार में फैले हुए रोग को हटाकर इस बीमार को सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

इन मन्त्रों में अनेकों औषधियों का हवन करके अज्ञात और सर्वत्र फैले हुए चेपी और मारक रोगों को हटाने का उपदेश है। ऐसे यज्ञों का माहात्म्य वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय। आयुः
प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥
(अथर्व० १९।६३।१)

अर्थात् हे ब्रह्मणस्पते! उठो और यज्ञों से देवताओं को जगा दो, जिससे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति और राजा की उन्नति हो। यज्ञ का इस प्रकार माहात्म्य बताकर यज्ञ में सबसे प्रधान वस्तु अग्नि का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि
जातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान
एनं जरते स्वाधीः॥ (यजु० १२।१८)

अर्थात् पहिले अग्नि—सूर्य—द्यौ से पैदा हुआ, दूसरा जातवेद हमसे (पृथिवीपर) पैदा हुआ और तीसरा (विद्युत्) अन्तरिक्ष के जलों से पैदा हुआ। इस मन्त्र में अग्नि के तीन रूप तीन स्थानों में बतलाये गये हैं। इसके आगे अग्नि को देवताओं तक हुत द्रव्यों के पहुँचानेवाला दूत कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे।
देवाँ२ आ सादयादिह॥ (यजु० २२।१७)

अर्थात् पूर्व ही अग्निदूत को धारण किया गया है और यह हव्य पदार्थों का ढोनेवाला कहा गया है। यह देवता तक पदार्थों को पहुँचाता है, अतः यज्ञ के लिए इस अग्नि की स्थापना इस प्रकार बतलाई गई है कि—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्ना-
द्यायादधे॥ (यजु० ३।५)

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में स्थित महान् सूर्य इस विस्तृत पृथिवी के ऊपर देवयज्ञ कर रहा है, उसी प्रकार भोज्य पदार्थों के लिए मैं भी इस अग्नि की स्थापना करता हूँ। इसके आगे अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए लिखा है कि—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृ-
जेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्
विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥ (यजु० १५।५४)

अर्थात् हे अग्नि! तू प्रदीप्त हो और हमको सतेज कर तथा तू और हम मिलकर इष्ट सुख की युक्ति और प्राप्ति करें, जिससे यहाँ हम और अन्य यजमान तथा दूसरे विद्वान् भी यज्ञ किया करें। इसके आगे समिधा में घी डालने की विधि बतलाते हैं।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ (यजु० १२।३०)

अर्थात् समिधा से अग्नि को प्रदीप्त करो, घृतादि से उसे प्रज्वलित करो और उस प्रदीप्त हुए अग्नि में हवन करो। इसके आगे यह बतलाते हैं कि हवन किये गये पदार्थ किस प्रकार वायु की मलिनता को दूर करते हैं।

× भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। (शतपथ ब्रा०)

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य (यजु० ३।३)

हे अंगारो! बढ़ी हुई अग्निओ! तुम सब पदार्थों को (विष्ठ्य) छेदन-भेदन करके (बृहत्-शोचः) महान् शुद्धि करनेवाले हो। इसीलिए समिधाओं और घृत से हम तुम्हें बढ़ाते हैं। इन मन्त्रों में अग्नि को जलाने, प्रदीप्त करने और उसके द्वारा पदार्थों के छेदन-भेदन की क्रिया को बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि यह अग्नि वायु को हुत पदार्थ देता है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथा वशं चरति
देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै
वाताय हविषा विधेम॥ (ऋ० १०।१६८।३)

अर्थात् देवताओं का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायु अपनी इच्छा से चलता है। यद्यपि इसका शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप देखने को नहीं मिलता, तथापि हम उसके लिए हविष देते हैं।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः॥
(यजु० ८।२१)

अर्थात् हे हमारे मन के पति! इस यज्ञको सुहुत बनाकर हुत द्रव्यों को वायु पर स्थापित करो और मार्ग की खोज लगानेवाले हुत द्रव्यों से कहो कि वे अपने मार्ग से जायँ। इस मन्त्र में यज्ञ के हुत पदार्थों को वायु में जाने देने का उपदेश किया गया है। इसके आगे यज्ञ में किन किन पदार्थों की आहुतियाँ देनी चाहिए, वह बतलाते हैं—

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र।
प्रातर्जुषस्व नः। (ऋग्वेद ३।५२।१)

अर्थात् हमारे धानवाले, दधिदूधवाले, मालपुएवाले और स्तोत्रवाले ढेरों को हे इन्द्र! प्रातःकाल के समय सेवन कीजिए।

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय
धानाः। अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब
वृत्रहा शूर विद्वान्॥ (ऋ० ३।५२।७)

अर्थात हे वृत्र के मारनेवाले विद्वान् शूर! तेरी पोषण करनेवाली *किरणों के लिए हमने जो दिया है, उस दूध,* दधि, धान और मालपुवा आदि को खा तथा मरुतों के साथ सोम को पी। इसके आगे हवन किए हुए पदार्थों के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि जो धन यज्ञ में लगाया जाता है, वही सुकृत होता है। क्योंकि—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो
व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च
ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥
(ऋ० ६।२८।३)

अर्थात् जो देवों को दिया जाता है और जिससे यज्ञ किया जाता है, उसका न नाश होता है, न उसे चोर चुरा सकते हैं, न उसका कोई शत्रु होता है और न उस पर कोई आफत डाल सकता है। उसके द्वारा यजमान सदैव ही गोपति के साथ रहता है, अर्थात् वह धनवान् बना रहता है। सत्य है, ऐसे सार्वजनिक पुण्यकार्य में धन खर्च करने से ही धन का सदुपयोग कहा जा सकता है। धन के सदुपयोग से अधिक धन की वृद्धि होती है, इससे सन्देह नहीं। इस प्रकार से यज्ञों के द्वारा सार्वजनिक बीमारियों से रक्षा पाने की युक्ति बतलाकर अब प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का जो उपाय वेदों ने बतलाया है, उसका वर्णन करते हैं।

वैद्यक और यज्ञों के द्वारा व्यक्तिगत व्याधि और समाजगत चेपी रोगों की रक्षा हो सकती है, परन्तु इनके द्वारा प्राकृतिक विप्लवों से-भूकम्प, ज्वालाप्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, पाला, पत्थर और वज्रपात आदि से-रक्षा नहीं हो सकती। इन उत्पातों से रक्षा करनेवाला परमात्मा ही है। इसलिए ऐसे समयों में परमात्मा की प्रार्थना करने का ही वेद में उपदेश है। यहाँ हम ऐसी प्रार्थनाओं के कुछ नमूने लिखते हैं, जो इस प्रकार हैं—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥२७॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥२८॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥२९॥
(यजुर्वेद १३।२७-२९)

अर्थात् हे परमात्मन्! संसार में वायु मधुर होकर बहे, नदियाँ मधुर होकर बहें, औषधियाँ मधुर होकर उगें। रात मधुर हो, प्रभात मधुर हो, पृथिवी मधुर हो और हमारा द्यौ पिता मधुर हो। वनस्पतियाँ मधुर हों, सूर्य मधुर हो और गौवें मधुर हों। इसके आगे फिर प्रार्थना है कि--

यतो-यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥

(यजु० ३६।२२)

अर्थात् जहाँ जहाँ हमारे लिए जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो, वहाँ वहाँ हमें हर प्रकार से अभय करिये तथा प्रजा और पशुओं की ओर से भी हमें सुखी और अभय कीजिये।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥५॥ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥६॥

(अथर्व० १९।१५।५—६)

अर्थात् हमें अन्तरिक्ष अभय करे, द्यावा तथा पृथिवी हमें अभय करें और नीचे-ऊपर तथा आगे-पीछे से भी हमें अभय प्राप्त हो। मित्र से अभय हो, अमित्र से अभय हो। जाने हुए से अभय हो और अज्ञात से अभय हो। रात से अभय हो और दिन से अभय हो। अर्थात् हमारी समस्त आशाएँ वा दिशाएँ अभय हों। इसके आगे संसार की समस्त जड शक्तियों के कल्याण-कारी और शांत होने की अभिलाषा की गई है और परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि--

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न-इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥९॥ शन्नो वातः पवताꣳ शन्नस्तपतु सूर्यः। शन्नः कनिक्र-ददेवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥१०॥ अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम्। शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या। शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुवि-ताय शं योः ॥११॥ शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१२॥ स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥१३॥ आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥१४॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति-र्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥१७॥

(यजुर्वेद अध्याय ३६)

अर्थात् मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु और उरुक्रम आदि देवता हमारा कल्याण करें। वायु की चाल कल्याणदायक हो, सूर्य का ताप कल्याणदायक हो और शब्द करते हुए पर्जन्यदेव की वर्षा भी कल्याण-कारी हो। दिन कल्याणकारी हो, रात्रि कल्याणकारिणी हो और इन्द्र, अग्नि तथा वरुण आदि देवता भी कल्याणकारी हों। पीने का जल कल्याणकारी हो और वर्षा का जल भी कल्याणकारी हो। पृथिवी हमारे लिए कंटकरहित और उत्तम बसने योग्य हो। पानी हमारे लिये सुखकारी हो, उसे हम बल के लिए धारण करें और प्राकृतिक युद्धों में हमारी विजय हो। द्यौलोक शांत हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथिवी शान्त हो, जल शान्त हो, औषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, संसार की समस्त शक्तियाँ शान्त हों, ज्ञान शान्त हो, सब कुछ शान्त हो, शान्ति भी शान्त हो और वह शान्त शान्ति यावज्जीवन बनी रहे। इस प्रकार से जिस समय समस्त जनसमूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति के द्वारा प्रार्थनापूर्वक प्रेरणा होती है, उस समय ईश्वर की इच्छा से बड़ी बड़ी प्राकृतिक शक्तियों में भी असर हो जाता है और विघ्न शान्त हो जाते हैं ※।

※ ये प्राकृतिक विप्लव जीवों के सामुदायिक पापों के कारण अज्ञात शक्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसलिए सिवा परमात्मा की प्रार्थना के इनसे बचने का और कोई उपाय नहीं है। प्रार्थना का मतलब उपाय और उद्योग है, किन्तु यहाँ प्रार्थना ही उपाय और उद्योग है। क्योंकि सामूहिक प्रार्थना का-जन समूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति का-भी बड़ा असर होता है।

यहाँ तक वैयक्तिक व्याधि, सामाजिक व्याधि और प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाकर अब वेद मनुष्यों द्वारा उत्पन्न किए गए विघ्नों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं। मनुष्यों द्वारा जो उत्पात होते हैं, उनके दो विभाग हैं। पहिला उत्पात सामाजिक है। यह ईर्षा, द्वेष, आलस्य, मूर्खता और विलासिता से उत्पन्न होता है और नाना प्रकार के पाप कराता है। दूसरा बाह्य शत्रुओं के द्वारा उत्पन्न होता है, जो नाना प्रकार के कष्ट देता है। वेदों में इन दोनों से बचने के लिये राज्यव्यवस्था का उत्तम उपदेश किया गया है।

राज्यव्यवस्था का उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। रक्षित समाज ही उन्नत और आदर्शरूप होता है। समाज की रक्षा भीतरी और बाहरी दो प्रकार की है। भीतरी रक्षा समाज के दुष्टों से की जाती है और बाहरी रक्षा *बाहर के शत्रुओं से। जिस समाज की इस प्रकार रक्षा* होती है, वह बड़ा ही दिव्य होता है। वेद में ऐसे दिव्य समाज की कामना का वर्णन इस प्रकार है--

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (यजु० २२।२२)

अर्थात्--

हे जगदीश दयालु ब्रह्म प्रभु ! सुनिये विनय हमारी। हों ब्राह्मण उत्पन्न देश में धर्मकर्मव्रतधारी॥ क्षत्रिय हों रणधीर महारथ धनुर्वेद अधिकारी। धेनु दूधवाली हों सुन्दर वृषभ तुंग बलधारी॥ हों तुरंग गतिचपल अङ्गना हों स्वरूपगुणवाली। विजयी रथी पुत्र जनपद के रत्न तेजबलशाली॥ जब ही जब जग करे कामना जलधर जल बरसावें। फलें पकें बहु सुखद वनस्पति योगक्षेम सब पावें॥ पूर्ण

परन्तु ये बातें तभी हो सकती हैं, जब शासन अच्छे राजतन्त्र के द्वारा हो। अच्छा राजतन्त्र तभी हो सकता है, जब राजा प्रजाद्वारा मनोनीत हो। प्रजा के द्वारा ऐसे राजा को चुनने के लिए वेद उपदेश करते हैं कि--

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवास्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छंतु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥१॥ इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतेवाविचाचलिः। इन्द्र इवेह ध्रुवास्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारयः॥२॥ (ऋग्वेद १०।१७३)

अर्थात् हे महापुरुष ! हम तुझको लाये हैं, इसलिए अन्दर आ और चञ्चल न होकर स्थिर रह, जिससे तुझे समस्त प्रजा चाहती रहे और तुझसे राष्ट्र का कभी पतन न हो। यहाँ आकर पर्वत के समान स्थिर होकर ठहर जा और इन्द्र के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण कर, जिससे कभी राष्ट्र का पतन न हो। इन मन्त्रों में प्रजा के द्वारा राजा के मनोनीत करने की आज्ञा है। आगे वेद उपदेश करते हैं कि किस प्रकार के पुरुष को राजा *बनाना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि*—

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव। तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ (अथर्व० ४।८।१)

अर्थात् वही सब प्राणियों का अधिपति होने योग्य है, जो समस्त संसार का दुग्धादि अन्नों से अच्छी तरह पोषण करता है। उसकी मृत्यु राजसूय को प्राप्त होती है, इसलिए वही राजा होकर इस राज्य को अङ्गीकार करे। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जो महापुरुष प्रजापालन के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर हो, वही राजा होने योग्य है। ऐसे राजा को पाकर प्रजा को चाहिये कि वह उसे खूब बलवान् बनावे। इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्। निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥ (अथर्व० ४।२२।१)

अर्थात् हे इन्द्र ! तू हमारे इस क्षत्रिय को बलवान् बना, इसी एक को सब प्रजाओं का नेता कर, इसके शत्रुओं को दूर कर और उनका सदैव नाश किया कर। इस मन्त्र के द्वारा वेदों ने प्रजा की ओर से राजा को बलवान् बनाने की आज्ञा दी है। (क्रमशः)

ईश्वरवाची वैदेशिक नामोंकी

वैदिक आधारपर शुद्ध निरुक्ति।

(लेखक- श्री० चौ० रामपालसिंह तेवतिया, 'रामाचार्य' बी.ए., एल्.टी., विशारद, जाट कालेज लखावटी, बुलन्दशहर, यू.पी.)

इस लेखमें हम संक्षेप रूप में निम्नलिखित ईश्वर-वाची नामों का वेदमन्त्रों के आधारपर शुद्ध निर्वचन करने का दिग्दर्शन कराते हैं। वे शब्द ये हैं, अल्ला (Allah), जेहोवा (Jehovah), गॉड (God), आमीन् (Amen), खुदा (Khuda), बॉग (Bog) तथा उर्मुज्द (Ormuzd).

> आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः। त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥ (ऋ० १०।११०।३)

इस उपर्युक्त मन्त्र का देवता 'ईल' है। ईल शब्द का यौगिक अर्थ यहां पर स्तुति के योग्य ईश्वर है। कुरानशरीफ के इला (Ilah) तथा अल्ला (Allah) शब्द निस्सन्देह इसी ईल शब्द के रूपान्तरमात्र हैं। सैमिटिक भाषाओं के ईश्वर-वाचक 'ईल' 'ईलोआह', 'ईलोहिम्' आदि शब्द हमारे इसी ईश्वरवाची ईल शब्द से निकले हैं। ईल धातु के 'स्तुतिप्रेरणादीसिज्ञानगमनप्राप्तिषु' ये छः मुख्य अर्थ हैं। और इस एक धातुसे ही प्रायः 'ईड्, ईल्, ईळ्, ईर्, ईड् तथा इड्, इल्, इळ्, इर्, इड्' ये दश रूपान्तरित धातुएं भाषा-विज्ञान के नियमानुसार निकली हैं। अरबी का इलहाम शब्द भी इनही उपर्युक्त धातुओंमें से ईल् अथवा इल्-प्रेरणे धातुसे निकला है। अरबी का अल्लाह (Al+Ilah Allah) शब्द संस्कृत के अल्लः अथवा अल्ला शब्द से नहीं निकला है, किन्तु संस्कृत के ईलः शब्द से निकला है। उपर्युक्त अर्बी का अल्ला शब्द एक संयुक्त शब्द है, जो अर्बी के अल् (जो अंग्रेजी की डेफीनिट आर्टिकल दी 'The' का अर्थ रखता है) और अर्बी के इला (जो संस्कृत के ईलः अथवा इलः का रूपान्तर है) शब्दों के संयोग से बना है। अतः इला का अर्थ है केवल ईश्वर (God) और अल्ला का अर्थ है ईश्वरविशेष वा परमेश्वर (The God)। अल्+इला=अल्ला (अर्बी कायदे से सन्धि होकर)। फ्रैंच भाषामें इसी अल् आर्टिकिल के रूपान्तर ला, ली, ले अथवा ल होते हैं, जिन का अर्थ दी (The) है। ये संस्कृत के अल्-भूषणसामर्थ्यपर्याप्तिवारणेषु धातु से निकले हैं।

उपर्युक्त मन्त्र के 'त्वं देवानामसि यह्व होता' अंश का शुद्ध अर्थ इस प्रकार है। 'O Lord Almighty! thou art the God of all divine beings' यहांपर जो यह्व शब्द है, मेरे विचार में इसी का रूपान्तर यहूदियों का ईश्वरवाची शब्द जेहोवा (Jehovah, also Yahoweh) शब्द है। यज्-देवपूजा संगतिकरणदानेषु धातुसे औणादिक प्रत्यय वन लगकर निपातन से तथा जकार को हकार होकर यह्वःशब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है महायजमान (Almighty Lord)। ईश्वर ही महान् (Almighty) है, वही संसार का यजमान (Lord) है और उपर्युक्त मन्त्र ही में प्रयुक्त होता शब्द से निस्सन्देह मेरे विचार में अंग्रेजी का गॉड (God) शब्द निकला है। हु-दानादान-दनह्यनतृप्तिषु तथा हु-आह्वाने धातुओं से होता शब्द सिद्ध होकर ईश्वरवाची होता है और इसी का रूपान्तर गॉड (God) शब्द है। होता को जेन्द भाषा में जओता (Zaota) बोलते हैं

और अओता का रूपान्तर गाथिक भाषा में गुथा (Gutta), गुथ (Guth) हुआ तथा जर्मन भाषा में गॉत (Gott) हो गया और फिर अंग्रेजी में गॉड (God) शब्द बन गया। इस प्रकार हमने यह दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया कि इसी एक वेदमन्त्रमें वैदेशिक ईश्वरवाचक तीनों नामों का मूल आधार पाया जाता है। ये शब्द ईश्वरवाचक ईळः, यह्वः तथा होता वेदोंके अन्य अनेक मन्त्रों में भी प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु तीनों शब्द इकट्ठे बडी सुन्दरतासे यहां एक ही मन्त्र में प्रयुक्त हैं। अरबी का आमीन् शब्द तथा अंग्रेजीका Amen शब्द जो न्यूनाधिक ॐ शब्द के पर्यायवाची हैं, वैदिक ओमन् शब्द से निकले हैं, जिसका मूल आधार ऋ० १।६९।४ में पाया जाता है। इस वेदमन्त्रमें ओमना (=अवनेन-रक्षा से) शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो रक्षा आदि २१ अर्थवाली 'अव्' धातुसे मन् प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। ओम् शब्द प्रायः मन्त्रादि के प्रारम्भ में तथा अन्त में भी उच्चारण करते हैं और आमीन (Amen) शब्द को कुरान तथा इंजील माननेवाले लोग प्रायः केवल अन्त में ही उच्चारण करते हैं। खुदा शब्द निस्सन्देह ष्वद् धातु से निष्पन्न स्वधा शब्द का रूपान्तरमात्र है।

जिस प्रकार ष्वप् धातु से 'ख्वाब' फारसी का शब्द निकला है, तथा स्वतः शब्दसे फारसी का खुद शब्द निकला है, इसी प्रकार ष्वद् धातु से ष्वदा फिर स्वधा तथा खुदा शब्द निकले हैं। इस का वैदिक आधार ऋ० १०।१२९।२-५ में मौजूद है। यद्यपि वेदों में स्वधा को प्रकृति अथवा ब्रह्म की शक्ति माना गया है, किन्तु जो अद्वैतवादी लोग स्वधा को ब्रह्महो मानने लग गये थे, वे स्वधा को खुदा ही मानने लग गये थे। इस प्रकार स्वधा से खुदा शब्द अर्थभेद तथा उच्चारणभेद को प्राप्त हुआ।

स्लैविक भाषा में ईश्वर के लिये जो शब्द प्रयुक्त किया जाता है, वह बॉग (Bog) है। यह शब्द निस्सन्देह संस्कृत के भगः शब्द का रूपान्तर है और इस का मूल ऋ० १०।१५१।१ इत्यादि मन्त्रों में भगः शब्द पाया जाता है। भज्यते सेव्यते मोगार्थिभिः इति भगः। भक्त द्वारा सेवनीय भगवान् को ही परमैश्वर्ययुक्त 'भगः' कहा जाता है।

पारसियों का उर्मुज्द (Ormuzd) ईश्वरवाचक शब्द अहुरमज्द (Ahuramazda) से निकला है, जो कि असुरमहद् का रूपान्तरमात्र है। इस का आधार अनेक वैदिक मन्त्रों में पाया जाता है। असुरमहद् का अर्थ है महादेव वा परमेश्वर। यहां असुर शब्द अपने शुद्ध प्राचीनतम वैदिक अर्थ का द्योतक है, जिस का अर्थ है देव। अकेला महद् शब्द भी ईश्वरवाचक वेदों में प्रयुक्त हुआ है। महत् तथा महती शब्दों के ही रूपान्तर Might और Mighty तथा Almighty शब्द हैं। जैसे अकेला Almighty शब्द परमेश्वरवाचक है, उसी प्रकार महान्, महद् आदि अकेले शब्द भी महती शक्ति अर्थात् ईश्वर के वाचक हैं। और इसी प्रकार महदसुर (महादेव) अथवा महासुर वा असुरमहद् (अहुरमज्द वा हुर्मुज्द वा उर्मुज्द) परमेश्वर के वाचक हैं। ऋग्० २।१।६ में असुरः महः तथा अथर्व० ५।११।१ में महे असुराय शब्द महादेव अर्थात् परमेश्वर के वाचक हैं, इन्हीं का रूपान्तर असुरमहद् (अहुरमज्द) अथवा हुर्मुज्द तथा उर्मुज्द हैं। इस उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है, कि संसार के विभिन्न धर्म तथा भाषाओं के ईश्वरवाचक नाम वैदिक शब्दों के ही रूपान्तर तथा विकृत रूप हैं।*

---

* God (गोड)-शब्द वैदिक 'गोदः' (गौ देनेवाला) इस शब्दसे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह ऋग्वेद १।४।२में प्रयुक्त है। 'खुदा' शब्द 'शुद्ध' शब्दका रूपान्तर प्रतीत होता है। शुद्ध, सुद्ध, खुद्ध, खुदा। (संपादक वै०धर्म)

ईश्वरीय स्वरूपकी टटोल

(लेखक- पं० गोपीनाथजी शास्त्री, चुलैट, ललितपूर)

जब यह बात हम अच्छी प्रकार समझ चुके कि 'शास्त्रीय प्रयोगचिकित्सा' ही विज्ञानशास्त्रकी मुख्य चेष्टा है और उस विज्ञानदीपकको प्रकाशसे जब हम देखने लगते हैं तब झट समझमें आता है कि निसर्ग कैसे असत्य हैं, यह झटसे समझमें आ जाता है। जिन्हें हम कठिन, ठोस, जड, मजबूत, फौलादकी तरह पक्का देखते हैं, या पतले, नरम, मुलायम, तथा कई पदार्थ जो हम मुलायम देखते हैं, वह उसका वास्तविक रूप न होकर इसमें कणोंका अभाव ही मुख्य पाया जाता है और वही उसे पदार्थ बनाता है। यही पदार्थों का धर्म विज्ञानशास्त्रसे सिद्ध है। सूक्ष्म कणोंकी उत्पत्ति परमाणुसे है। यह परमाणु परस्परमें जब संयोग प्राप्त करते हैं, तब कण बनता है और कणोंसे संयुक्त पदार्थ होता है और इसका न तो कोई नाश कर सकता है और न हुआ है, अत यह अविनाशी अच्छेद्य और अदाह्य है, ऐसा वेदोंमें बारबार समझाया है।

इसी अणुसाम्राज्यका घर्षण, स्पर्शन, प्लावन, आगम, निर्गमका ही तमाशा हमको क्षण-क्षणमें दीख रहा है। किसी जल भरे तालावमें जिस प्रकार कंकड या पत्थर फैंकने पर जलका तरंग-मण्डल गोलाकार रूपमें होता हुआ, हट कर उस आये पत्थरको अपनेमें मिलाता है। यही उसके मिलानेकी क्रिया है। इस गोलाकार तरङ्ग-मंडल का फैलाव बडी तीव्र गतिसे होता है; वह तरंग-मंडल पहलेकी तरह ही होकर क्षणार्धमें तमाम जलमंडलको घेर लेता तथा विस्तृत होकर निर्मलकी तरह हो जाता है। किन्तु पुनः देखने पर वह निःशेष नहीं होता, यानी पुनः पुनः उत्पन्न होता है। इससे हमको स्वीकार करना पडता है कि अस्तित्व नष्ट नहीं होता; यह दृष्टिभ्रम मात्र है। जिस जिस वस्तुको हम प्रत्यक्षमें सडना, जलना, गलना तथा विध्वंस होना देखते हैं, वह सब केवल हमारे ज्ञानचक्षुकी गति समाप्त होनेसे सत्य दीखता है; किंतु वास्तवमें देखा जाय तो संसारभरमें ऐसी कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है, जो अविनाशी न हो। अर्थात् संसारमें किसी भी वस्तुका नाश नहीं है। मनुष्य चाहे उसे घन स्थितिसे द्रव स्थिति या वायुस्थिति किसीमें झोक दे, किंतु वास्तवमें वह उसका नाश नहीं होता।

स्थित्यंतर होना यह सृष्टिका निसर्गनियम है। आज जिस बडेबडे सुन्दर राजमहलको देखते हैं, कल वही चकनाचूर हुआ दीखता है। जलमय प्रदेशमें किसी द्वीप या बेटके उभर आनेसे स्थलमय हो जाता है। स्थलमय जलमय हो जायगा। बडे-बडे गगनचुंबी महल, पर्वत, वृक्ष, आदि चूर-चूर हो जायँगे, किंतु अणुसाम्राज्य ज्योंका त्यों कायम रहेगा। कहनेका मतलब यह है कि वस्तु या पदार्थका नाश होते दीखना ही यह स्थूल दृष्टि है। सूक्ष्म दृष्टि या विज्ञानदृष्टि ही उसके देखनेकी पात्र है।

इसी प्रकार जिन नेत्रोंसे हम देख रहे हैं, जिन कर्णोंसे हम सुननेका काम ले रहे हैं, जिस जिह्वासे हम रसनेंद्रिय-सुख लेते हैं, जिस नासिकासे गन्धका अनुभव कर रहे हैं, एवं जो वायु हमारे शरीर में श्वासोच्छ्वासके साथ होकर पोषण कर रही है; इसमें जिस दिन स्थित्यंतर होता है या जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, उसीका प्रभाव प्रकृतिपर पड जाता है।

तब इसमें संदेह नहीं कि नेत्र, कान, नाक, मुख और शरीर यह वास्तविक रूप नहीं है। जिस दिन नेत्रका रूप तन्मात्रा स्थित्यंतर करेगा, उस दिन आंख होते हुए भी नहीं दिखेगा। जिस कानोंकी शब्द तन्मात्रा विराट् शक्तिमें जाने के लिये कूच कर जायगी, उस दिन कान होते हुए भी सुननेमें मनुष्य असमर्थ हो जायगा। उसी प्रकार नासिकाकी गंधतन्मात्रा, जिह्वाकी रस-तन्मात्रा एवं शरीरकी स्पर्शतन्मात्रा विराट्की महत् शक्तिमें जानेके लिये प्रस्थान करेंगी, तब इंद्रियोंके होनेमें भी असमर्थता आ जावेगी। इससे तो यह स्पष्ट ही पाठकोंको समझमें आने योग्य बात है कि—

न तो ये नेत्र वास्तविक नेत्र हैं और न ये कर्ण वास्तविक कर्ण हैं। ऐसे ही मुख, नासिका शरीर भी वास्तविक इन्द्रिय नहीं हैं। क्योंकि इसका स्थित्यंतर होनेवाला होनेसे यह धोकेकी टट्टी हैं और वास्तविकता इसकी निराली है। रूपतन्मात्रावाला समूह इकट्ठा होनेपर ही मनुष्यके नेत्र देखनेका काम आरम्भ करते हैं। फिर वह रूपतन्मात्रावाला समूह चाहे सूर्यके या चन्द्रके या बिजली, गैस, बत्ती, दीपक, मोमबत्ती आदि किसीके द्वारा फैलाया गया हो। कहनेका मतलब यह है कि समूह पहले होता है, पश्चात् देखनेका कार्य जारी होता है।

ईश्वरीय शक्ति, वीर्य, प्रभाव, सामर्थ्य, तेज और उसकी दीप्ति बिम्ब रूपमें आकाश नभ-मण्डलमें दर्शित है, जो नित्य पृथ्वीकी रक्षामें अहर्निश तत्पर रहता है। इसका विस्तृत वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, जो आकाशीय नकशोंसे समझाया जा सकता है।

---

(१) व्यापक भगवान्।

इस जग में जब, मेरे प्रीतम !,
व्याप रहा तू सार॥
सदा सुमंगल, विजयमहोत्सव,
प्रीति प्रेम अपार॥१॥
मनुजहृदय में, मेरे प्रीतम !,
वास तेरा निष्काम॥
कहां अमंगल कहां पराजय,
कहां भीति, भगवान् !॥२॥
प्यारे ! प्रेम तेरे में जो जन।
रहता आठों याम॥
सब हितकर कारज में नित वह,
देता मन और प्राण॥३॥
निजहित परहित भेद तजे वह,
सत्य को ले पहचान॥
सत्यज्ञानयुत प्रीति भरा वह,
करे सदा कल्याण॥४॥

—लालचन्द

(२) आत्म-अर्पण भावना।

आत्म-अर्पण भावनापूरण, हृदय में प्रेम भर।
प्रेममय भगवान के संग, प्रेम भाजन मैं बनूं॥
नित प्रेम में होकर मगन, सद्भाव अन्दर आनकर।
संकोच तज निज हिये का, सुंदर समर्पण मैं करूं॥१॥

वह त्याग मेरे राग में, अनुराग इक जागृत करे।
सजग मैं नित प्रेमपूर्ण, मुदित मन जगमें रहूं॥
कर्तव्य अपना मैं करूं, सुन्दर सुखद भावों भरा।
प्रभु के निकट रहकर सदा, आनन्दमंगल मैं कहूं॥२॥

सत्ज्ञान और शुभ ध्यान में, सत्काममें लगकर यहां।
सबका सुमंगल, हित सभीका, अभय हो करता रहूं॥
धरता रहूं शुभ धारणा, सद्धर्म की, सत्कर्म की।
भगवद्भरोसे मैं रहूं, निज मानसे डरता रहूं॥३॥

-लालचन्द

सत्य-अहिंसासे

भारतीय स्वतन्त्रता की रूपरेखा।

[लेखांक १]

(लेखक— श्री० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर, यू. पी.)

समाजही समाज का राजा है।

आदर्श मनुष्यसमाजमें राजा नामका कोई मनुष्य नहीं होता। राम अर्थात् सब मनुष्योंकी मनुष्यता ही आदर्श समाज का राजा होता है। समाजवासी सब मनुष्यों के हृदय इस राम के सिंहासन होते हैं। इन सब सिंहासनोंपर विराजनेवाले राम 'राम की सामूहिक इच्छा' के रूपमें प्रकट होकर समाज में दैवी शक्ति की रक्षा करने के लिए समाजव्यवस्था या कानून बना लेते हैं। सार्वजनिक हितों के नियम बनाने का अधिकार भी सार्वजनिक ही होना चाहिए। संसार का सभ्य समाज इस अधिकार को अपने धर्मकामी निःस्पृह विद्वानों के द्वारा अपने ही हाथोंमें रखता है। वह इस अधिकार का किसी दूसरे के अधिकार में जाना नहीं सह सकता। जहां यह अधिकार दूसरे के हाथ में चला गया है, वहां की सभ्यता मर चुकी है। समाज की सामूहिक इच्छा ही समाज का कानून बन सकता है। दूसरे की इच्छा में दूसरे का लोभ घुसा रहता है, इस कारण दूसरेकी इच्छा को दूसरे का कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं है। जहां दूसरे की इच्छा दूसरे का कानून है, वहां अधिकारवालेने अंधा बनकर अपना अधिकार खो दिया है। जिस कानून में समाज की इच्छा मिली हुई नहीं है, वह कानून समाज के पैरोंके नीचे रौंदा जाना चाहिए। उसे रौंदने में ही समाज का कल्याण है। उसे रौंदनेमें ही समाज के मोक्षका रहस्य छिपा हुआ है। उसे रौंदते ही समाजमोक्ष प्रकट हो जाता है।

समाज के हाथोंसे बनायी हुई समाजकल्याणकारिणी व्यवस्था ही राजशक्ति नाम पाने योग्य है। समाज के हाथों से बनी हुई व्यवस्था ही समाज का कल्याण कर सकती है। जिस प्रकार विमाता के हाथसे बालक पुष्ट नहीं होता, इसी प्रकार दूसरे राष्ट्र के हाथसे दूसरे का कल्याण होना असंभव है। ऐसी अवस्था में एक ही स्वार्थ पर दो राष्ट्रों की खेंचातानी चली रहती है और इस खेंचातानी में पराधीन राष्ट्र पिसता पिसता अत्यन्त पतित हो जाता है। उसका धन और मन दोनों खोये जाते हैं। समाजके मनको ऊंचा वीर स्वाभिमानी तथा प्रतिष्ठायुक्त बनाए रखना ही समाज का कल्याण है। यह कल्याण दूसरे के हाथसे होना सर्वथा असंभव है। समाजही समाज का राजा है। समाज से भिन्न दूसरा राजा समाज का लुटेरा है। देशमेंसे रुपया बटोरनेवाले देशके धन, ऐश्वर्य और उसकी उपजपर स्वार्थ के दांत गाडनेवाले को राजा कहना इस शब्द का घोर दुरुपयोग है। ऐसों को राजा समझना छोड देने पर ही अर्थात् उसके साथ राजाप्रजा का संबंध तोड देने पर ही समाज का कल्याण सुरक्षित हो सकता है। किसी भी मनुष्य या मनुष्य-समूह को दूसरे का राजा बनने या किसी भी दूसरे को अपना राजा बनने देने का कोई अधिकार नहीं है। यही 'सामाजिक सत्य' का स्वरूप है। जिस देशमें सत्यानुकूल अर्थात् अपनी ही समाज-व्यवस्था नहीं है, वह पराधीन है। उसकी शासन-व्यवस्था में जहर मिला हुआ होता है, जिससे देशकी जीवनी शक्ति नष्ट हो जाती है। जिस भूमिपर जो मनुष्यसमाज ईश्वरकी ओर से उतारा

गया है, उसपर उसीका न्यायोचित अधिकार है। उसपर उसीका अधिकार होना मनुष्योचित अवस्था है। इसी को स्वतंत्रता कहा जाता है। अपनी भूमिपर दूसरों का अधिकार होना और उसे सहना अमनुष्योचित अवस्था है। इसी को परतंत्रता कहा जाता है। परतंत्रता से असहयोगही स्वतंत्रता का स्वरूप है। परतंत्रताको अपनी ओर से किसी प्रकार की सहायता न देना, दी जा रही हो तो उसे तोड देना ही, स्वतंत्रता का जीता जागता रूप है।

पराधीन देशों का यह ईश्वरीय अधिकार है और उनका यह पवित्रतम कर्तव्य है कि वे प्रत्येक संभव उपाय से अपने अधिकारापहारी को अपने देशसे बाहर निकाल दें और अपनी समाज-व्यवस्था में अमृत मिलाने के लिए उसे अपनी देशकी हितकारी दृष्टि से और अपने ही हाथों से करें। यही उस देशकी 'सत्य की सेवा' मानी जाती है।

स्वतंत्रता का स्वरूप।

स्वतंत्र रहना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। अर्थात् स्वतंत्र रहना मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है। यदि मनुष्य सच्चा मनुष्य रहना चाहता हो, तो उसे अपने जीवन में स्वतंत्र रहने का कौशल दिखाना चाहिए। अर्थात् उसे परतंत्रता से लडकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिये। यदि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, तो मनुष्य ही नहीं है। वह मनुष्य की सूरत का पशु है। स्वतंत्रताकी चमक ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है।

मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार हो स्वतंत्रता या स्वराज्य कहाता है। मनुष्यने जिस काम के लिए देह धारण किया है, उससे भिन्न उसका दूसरा कोई भी जन्मसिद्ध अधिकार नहीं हो सकता। जिस बातके बिना मनुष्य का जन्म लेना उद्देश्यहीन तथा निरर्थक हो जाता है,उसी बातको 'मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार' समझना चाहिए। जिस प्रकार पशुने पशु रहने के लिए शरीर धारण किया है, इसी प्रकार मनुष्यने मनुष्यताको पानेके लिए, उसे खण्डित न होने देने के लिए, अर्थात् अपने को सच्चा मनुष्य सिद्ध करनेके लिए जन्म-धारण किया है। यदि मनुष्यमें मनुष्यता न हो तो उसका देह-धारण करना सृष्टि की निरर्थक घटना हो जाता है। स्वराज्य पाना और मनुष्यता का पाना एकही बात है। स्वराज्य की समस्या मनुष्यताके अन्तर्गत समस्या है। यदि स्वराज्य पाना मनुष्यता से बाहर की समस्या हो, तो हम उसे स्वतंत्रता नहीं कहेंगे। भोगों के नामपर झगडना मनुष्यतासे बाहर की समस्या है। भोग का झगडा स्वतंत्रताका झगडा नहीं है। स्वाभिमान का झगडा ही स्वतंत्रताका झगडा है।

जिन बातों से मनुष्य मनुष्य बनता है, उन्हीं को मनुष्यता कहा जाता है। यदि मनुष्य मनुष्य रहना चाहेगा, तो उसे सत्य, प्रेम, अहिंसा, न्याय, शान्ति, उच्च आदर्श, शुद्ध आचरण, धर्मपरायणता, (ईमानदारी), शूरता, वीरता, स्वतंत्रता आदि गुणों को अपने प्राणोंसे भी प्यारा बनाना पडेगा। अर्थात् सच्चे मनुष्य को इन्हीं गुणों के लिए जीना होगा और इन्हीं के नामपर मर जाना होगा। यही मनुष्यताका जीवित स्वरूप है। इन गुणों से भिन्न मनुष्यताका और कोई रूप नहीं है।

जबसे भारतने स्वतंत्रता खोयी है, तबसे इन सब गुणों को भी खो दिया है। अर्थात् भारतने मनुष्यता को खो दिया है। मनुष्यता को खोना ईश्वर को खोना है। इसी को नास्तिकता कहा जाता है। आजका परतंत्र भारत पूरा पूरा नास्तिक बना हुआ है। आज भारत ईश्वर-भक्ति के नामपर अपने को ठग रहा है। स्वतंत्रता तथा ईश्वरभक्ति एकही मनोवृत्ति के दो नाम हैं। भारत में नास्तिकता फैली हुई है। परतन्त्र लोग ईश्वरभक्ति करें, यह भारतकी विडम्बना है। प्रभु-की सृष्टि में से

नास्तिकता का नाश करनाही प्रभुकी सच्ची सेवा है।

यदि बन्धन में आए हुए मनुष्य बन्धनमुक्त होना चाहे, तो उन्हें चाहिए कि वे सेवा करने लगें। सेवा मनुष्य का बन्धन काट डालती है। उसमें मनुष्य के बन्धन को काटने का सामर्थ्य है। बन्धन क्या है? सेवा न करना या सेवा से बचने की इच्छा करना ही बन्धन है। इसी को अज्ञान भी कहा जाता है। व्यक्तिगत सुख सुविधाओं के मोह में फंसकर मनुष्यता के आदर्श को भुला डालनाही बन्धन है। सामूहिक अर्थात् सामाजिक जीवन की सेवा ही मुक्ति देती है। सेवा ही मुक्ति का मार्ग है। मुक्त पुरुषों का सारा जीवन ही सेवा होता है। व्यास, वसिष्ठ, नारद, शुकदेव, ध्रुव, प्रल्हाद, बुद्ध, शंकर, चैतन्य, कबीर, नानक, गोविन्दसिंह, तुलसीदास, रामदास, दयानन्द आदि सब महात्मा देशसेवाधर्म का पालन करके धन्य हो गए। सेवा टोटेका काम नहीं है। सेवा परमसुख की अवस्था है। सेवा मनुष्य का सौभाग्य है, इसीलिए प्रत्येक भारतवासी को अपनी स्वतंत्रता के लिए भारतमाता की स्वतंत्रता की सेवा करनी चाहिए।

मनुष्य नहीं जानता कि सृष्टि और मनुष्य की वंशपरंपरा कबसे चली आ रही है। मनुष्य आता है और चला जाता है। यहां सदा रहने के लिए कोई नहीं आता। देख रहे हैं कि इस संसार में मनुष्य सदा नहीं रहता। किन्तु मनुष्यजाति ही सदा रहती है। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन की सुखसुविधा का मोहत्याग कर मनुष्यजाति के कल्याण की दृष्टि से ही अपना कर्तव्यमार्ग निर्धारित करना चाहिए। उसे अपनी देहसेवा को अपना जीवनलक्ष्य न बनाकर अपने मनकी अर्थात् मनुष्यता की अर्थात् मनुष्यजाति की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि ईश्वर ही अनंत मनुष्यों के रूपमें प्रकट होकर मनुष्यताका आनंद लेने के लिए मानवलीला करता रहता है। मनुष्यता ही मनुष्य का आराध्य ईश्वर है। भोग मनुष्यत्व-हीनता है। भोग ईश्वरविरोधी नास्तिकता है। भोगेच्छा से ही व्यक्तिगत जीवन के स्वेच्छाचार का जन्म हुआ है। जब मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है तब व्यापक मनुष्यतासे पृथक् होकर व्यक्तिगत जीवन को अपनाता है। भोगने ही द्वैत या पार्थक्य को जन्माया है। भोगने मनुष्य को मनुष्य का खून तक पिलाया है। भोगने एकही आदिपुरुष की सन्तान को लडाया है। त्याग में एकता, समता, दृढता आदि सब मनुष्योचित गुण हैं। भोग में अनेकता, द्वेष, विषमता, अदृढता आदि सब पशुसुलभ अमनुष्योचित दुर्गुण भरे पडे हैं। भोग मनुष्यजातिका शत्रु है। त्याग मनुष्यजातिका पालक परमेश्वर है। मनुष्यजाति ने जब जब अपनी मनुष्यताका कौशल दिखाया है, तब तब त्यागसे ही दिखाया है। त्याग को मनुष्यजातिने सदासे सिरपर रखा है। मनुष्यजाति त्यागी के चरणोंपर सदासे सिर रखती आयी है। त्यागियों के चरणों की धूलने अनन्तवार मनुष्यजाति का हार्दिक संताप मिटाया है। फिर न मालूम क्यों मनुष्यजाति इतनी अंधी हो गई है कि त्यागियों का आदर करके भी उनके त्याग को नहीं अपनाती और भोग में फंसी पडी है। आज तक मनुष्योंने सुखदुःख के न मालूम कितने उतार चढाव देखे हैं? उन सबकी आज स्मृतिचिन्ह भी कुछ नहीं है, उन सुखदुःखों की पीछे मरते फिरना मनुष्य का परम दुर्भाग्य है। दैवी संपत्ति ही मनुष्यजाति का सच्चा उपार्जनीय धन है। दैवी गुणों के लिए ही मनुष्यजाति बनी है। इन्हीं में मनुष्यजन्म की सफलता और शान्ति है। मनुष्यजातिकी जितनी पुरानी स्मृतियां हैं, वे सब मनुष्य के दैवी गुणों से भरी पडी हैं। ये दैवी गुण मनुष्यजाति के जन्म के साथ साथ चले आ रहे हैं। जब मनुष्य मर जायगा, तब भी ये दैवी गुण समाज के मनसे दूसरे मनपर पहुंचते रहेंगे, अर्थात् मनुष्य मरणशील है और मनुष्य के गुण-

अमर हैं। मनुष्य इसीलिए आया है, इन गुणों को धारण करे, इन्हें पाले, इनके अनुसार जीवन बिताए और इन गुणों को आनेवाली मनुष्य-सन्तान को देकर चला जाय। मनुष्य का मस्तिष्क यदि विकृत नहीं है, तो उसे केवल त्यागी, श्रेष्ठ, गुणवान जीवन बिताने का अधिकार है। भोगासक्त जीवन बिताना मनुष्य का अनधिकार है। इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि सेवाधर्म को अपनाकर जीवनयात्रा करें। भोगसंग्रह में जीवन बिताना टोटे में जीवन काटना है। इसलिए प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीय को अपने जीवन में त्याग के आदर्श को अपनाकर भारत में दैवी गुणों के प्रसार का वातावरण बनाना चाहिए, यही भारतमाता की स्वतंत्रता की सेवा का रूप है।

स्वतंत्रता की समस्यापर और अधिक विचार करने की आवश्यकता है। कारण यह है कि भोगों की सुविधा और यथेच्छाचार ही आज संसार की स्वतंत्रता बना हुआ बैठा है। वह स्वतंत्रता इस लेख की स्वतंत्रता नहीं है। आजका मनुष्य-समाज स्वतंत्रता के नामपर धोका खा रहा है। वह स्वतंत्रता के विषय में बहक गया है। वह स्वतंत्रता तथा स्वेच्छाचार को एक समझने के भ्रम में फंस गया है। वह स्वतंत्रता के नामपर भोगों की सुविधा चाहता है। वह स्वतंत्रताके सच्चे स्वरूप को भूलकर पतित प्रवाह में बह निकला है। उसने मनुष्यका मानसिक उत्कर्ष कहांतक होना चाहिए ? इस बात को भुला डाला है और मनुष्य को क्या क्या पाना चाहिए ? इस वृथा चिन्ता में फंस गया है। उसने इस फन्दे के 'समाजवाद' आदि बडे बडे मनोहर नाम रख लिए है। परन्तु हम इन सब वादों को 'रोटीवाद' इस एक ही नाम से कहना चाहते हैं। इन सब वादों में एकही भाषा प्रतिध्वनित हो रही है कि 'अच्छा खाओ, अच्छा पहनो और मौज उडओ'। भ्रान्त मनुष्यसमाज ने भोगों को ही मनुष्यजीवन का आदर्श घोषित कर दिया है। उसने मनुष्यताकी निर्मम हत्या कर डाली है। उसने मनुष्यों की बस्ती में से मनुष्यता को निर्वासित कर डाला है। उसने मनुष्य को मनुष्य के खूनका प्यासा बना दिया है। उसने मनुष्यों को भेडिया और बकरी बना डाला है। आज मनुष्यसमाज निर्लज्ज होकर खुल्लम खुल्ला भोगी बन गया है। बालक, युवा, वृद्ध सब भोगी जीवन को ढूंढ रहे हैं। वे भोगों का मोह भी छोडना नहीं चाहते और स्वराज्यरूपी स्वप्नराज्य को भी पाना चाहते हैं !!!

भोगविलास में फंसनेवाले लोगों को अत्याचारी शासकों की इच्छानुसार नाचना पडता है। भोगी लोग गरीब किन्तु सच्चे मनुष्य न रहकर पतित, अपमानित, तिरस्कृत और पददलित किन्तु अमीर जीवन बिताने के मोह में फंस जाते हैं। इनका आत्मा दास बन जाता है। आत्मा की दासता छुडाना ही देश को मुक्ति देना है। जो अपने देशसे दासता को भगाना चाहते हों, उन्हें अपने देश में से भोगों का मोह तथा आलस्य का प्रेम छुडाना चाहिए। देश को यह सिखाना चाहिए कि अपमानित सुखी जीवन से सम्मानित भूका, नंगा जीवन अधिक मूल्यवान और तेजस्वी होता है। देशका भोगमोह छोडना तथा आलस्य त्यागना ही संग्राम के लिए उद्यत हो जाना हो जाता है। भोगमोह संग्राम करने देनेवाली अवस्था है। जो देश की संग्रामविमुखता हटाना चाहें, उन्हें देशमें से भोगमोह हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। भोगमोह हटतेही देशमें कर्तव्यबुद्धि जाग उठेगी।

भोग ऐसी वस्तु है, जो मनुष्य को अपनी सुविधा के लिए कभी तो दूसरों के प्रति क्रूर राक्षस और कभी सबलका चरणचुम्बक बना देती है। भोग से मनुष्य युद्धविमुख हो जाता है। भोगी मनुष्य युद्धविमुख होकर अपने अधिकारों का सौदा (जुवा) करने लगता है। वह सम्मान बेचकर पेट भरने लगता है, भोग में स्थिर जीवन,

नीति, स्वाभिमान तथा मनुष्यता का नाम तक नहीं है। भोग की नीति बाह्य अनुकूलता पर निर्भर होती है। भोगार्थी का मन चूहे के समान निर्बल होता है। वह पद पद पर दबने को उद्यत बैठा रहता है। ऐसी अस्थिर तथा अनिश्चित नीति रखनेवाले सुख सुविधाके दास लोग स्वराज्य का पा सके और उसकी प्रसववेदना को सह सके, उसकी कठोर क्रीडाके समय धैर्यको थामे रहें, यह स्वप्नराज्य की बात है।

होना तो यह चाहिए था कि मनुष्य निर्बल का भेडिया, सबल का शिकार तथा भोगोंका कीडा न बनकर सच्चा मनुष्य बनता, अपने हृदय में पूर्ण मनुष्य बनने के आदर्श को प्रतिष्ठित करता, तथा विश्वव्यापी अमृत का आवाहन करके उसका स्वाद चखता। परन्तु हो यह रहा है कि मनुष्य मनुष्य का भेडिया बन गया है। उसने अपने मनमें भेडियों की भूकके समान भोगों की प्यासरूपी आग सुलगा रखी है। वह उस आगसे निर्बल का भेडिया, सबल का शिकार तथा भोगोंका कीडा बन गया है। निर्बल को पीटना और सबल से पिटना, यही आज के मनुष्यसमाज की नीति हो गयी है। आजके मनुष्य-समाजकी सम्पूर्ण शक्ति अपनी ही मनुष्यताका संहार करने में व्यय हो रही है। आज मनुष्यसमाज अपने को भोगी पशु बनाने की तयारी कर रहा है। जबतक मनुष्यसमाज अपनेको इस धोके से नहीं बचायेगा, तबतक उसे स्वतन्त्रता का मुंह नहीं दीखेगा। तबतक वह स्वच्छन्दताको स्वतन्त्रता समझकर स्वतन्त्रता से वंचित रहेगा।

जब मनुष्यसमाज में स्वतंत्रता आती है, तब आते ही सबसे पहले उसके भोगलोलुप स्वाभिमानहीन जीवनों को छीन लेती है, वह आते ही जीवनों में क्रांति उपस्थित कर देती है। यदि मनुष्य स्वतंत्रता के क्रान्तिकारी स्वभाव को देखकर न घबरा जाय, तो स्वतन्त्रता उसकी मुठ्ठी में आकर बैठ जाती है। स्वतन्त्रता आते ही देशके जीवन कुछसे कुछ हो जाते हैं। वह निर्बलों में जान फूंक देती है, कायरों को वीर बना देती है, पतितों को पुण्यात्मा बनाती है और अन्त में विजित को विजेता बना कर छोडती है। परन्तु भोगी मनुष्य स्वतन्त्रता की क्रांतिको देखते ही अधीर हो उठता है। स्वतन्त्रता आते ही नीचे दबी हुई दास आंखों को ऊपर उठा कर उन में तेज भर देती है। वह आते ही भोगी जीवन की सुख सुविधाओं की उपेक्षा करती है। वह आते ही मनुष्य को स्वाभिमान के नशे में मस्त कर देती है। स्वतन्त्रता मनुष्य के जीवन को आमूल बदल डालती है। वह मनुष्य के जीवित रहने के दृष्टिकोण को बदल डालती है। स्वतन्त्र मनुष्य प्रलयोत्पातों का भी स्वागत कर सकता है। परन्तु वह स्वाभिमान का या अपनी मनुष्यता का अपमान नहीं सह सकता। इन्द्रियोंके भोग तथा भोजन वस्त्र आदि के दास मनुष्य मनुष्यता का अपमान तो सह लेते हैं, परन्तु उनसे इन्द्रियों के भोगों की हानि नहीं सही जाती।

भोगों के दास बनकर आहारनिद्रा आदि की सुविधा के लिये झगडने में ऐसा कौनसा महत्त्व है? कि इस झगडे को स्वतन्त्रता नाम देकर भोगों के पीछे दौडने, उन्हीं को ढूंढने तथा उन्हीं की प्रति-द्वन्द्विता (चढा ऊतरी) करने में ही वीरता, पुरुषार्थ तथा शक्तिका गौरव देखा जाता है। सत्य तो यह है कि इन बातों में कोई भी मनुष्योचित विशेषता नहीं है। उसका कारण स्पष्ट है कि पशुपक्षी भी तो दिनरात इसी जीवनव्यापी स्वधर्म को पाल रहे हैं। यदि मनुष्य भी इसी सीमा में कैद हो जायगा, तो वह 'पशुराज' बन जायगा।

आज मनुष्यने अपनी भूलसे पशुओं के धर्म को मनुष्यता का चोला पहना दिया है। जो मनुष्य इस पशुधर्म को अपना लेते हैं, वे कभी भी मनुष्यो-चित धर्म का पालन करने के अवसरों पर हिचकिचा जाते हैं। जो मनुष्य भोगों की सुविधा को मनुष्यता में सम्मिलित करना चाहते हैं, वे सत्यका अपमान करते हैं। मनुष्य ने मनुष्यता की रक्षा करते समय आजकल अनन्तबार भोगों की सुविधाको पैरों के तले रौंदा है। मनुष्यता की

रक्षा के समय मनुष्य को भोगों की उपेक्षा करनी ही पडती है। इसलिए भोगों की सुविधाको मनुष्यता में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। भोगों को मनुष्यता में सम्मिलित करना चाहनेवाली प्रवृत्ति को मनुष्यत्वहीनता या पशुता कहा जाता है। मनुष्यत्वहीन स्वार्थी लोग स्वराज्य पानेका उद्योग करें, यह स्वप्न की गाथा है!

अर्थ के लिये जीने की भावना ही स्वार्थ है। अर्थ और रोटी कपडे को ही जीवन का लक्ष्य समझकर उसी के पीछे पड जानेवाला मनुष्य अवश्य ही रुपये का गुलाम हो जायगा। ऐसा मनुष्य स्वतन्त्रता को कभी नही समझ सकेगा। वह अपने को रुपये के लिए जीवन भर बेचता फिरेगा, वह जीवनभर अपनी शक्ति के टके बनाता रहेगा। बोलचाल में रुपये को अर्थ कहा जाता है। परन्तु यह अर्थ नहीं है। यह पूरा पूरा अनर्थ है। यह मनुष्य को स्वतन्त्रतासे पृथक् रखनेवाला पदार्थ है। अत्याचारी इसी की नकेलको पकडकर मनुष्यके प्राणोंपर अधिकार जमाता है। जिसे संसार में दबकर रहना हो, उसे कुछ धनका मालिक बन जाना चाहिये। धन ही मनुष्य की स्वतन्त्रता छिनने का मार्ग है। धन मनुष्य की मनुष्यता हरनेवाली नकेल है। हम धन के उपयोग का विरोध नही कर रहे है। क्योंकि धनको अपना न मानकर भी उसका सदुपयोग किया जा सकता है। धन को अपना न मानकर उसका सदुपयोग करना ही स्वतन्त्रता है।

कुछ दिनसे देश में औद्योगिक स्वतन्त्रता नाम की अर्थहीन (बेमतलब) अलीक अवस्था को पाने की इच्छा जाग उठी है। यह देशसे स्वतन्त्रता को भुलवानेवाला वाग्जाल है। यह विदेशों की उधारी भावना है। इसे स्वतन्त्रता कहना दासता में मिठास उत्पन्न करके दासता को भी स्वतन्त्रता या स्वराज्य कहकर अपने को ठगना है। परन्तु दासता में स्वतन्त्रता का मिठास होना असम्भव है। इसी कारणसे विगत स्वराज्यसंग्राम रोकना पडा था। यदि वह न रुकता तो आश्चर्य होता। अभी भारत की ओरसे सच्ची लडाई छिडनी शेष है। सच्ची स्वतन्त्रता की लडाई असफलता नही जानती। शुद्ध स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है। आर्थिक स्वतन्त्रता नाम की किसी स्वतन्त्रता का होना मनोविज्ञान के अनुसार असम्भव है। परतन्त्रता का ही दूसरा नाम आर्थिक स्वतन्त्रता है।

आर्थिक स्वतंत्रता का यही अर्थ है कि व्यय आयसे कम हो और हाथमें पैसा जमा रहे। परन्तु क्या हाथमें पैसा रहनेसे पैसे की प्यास मिट जायगी? जिनके हाथ में पैसा है, क्या उनकी पैसे की प्यास मिट चुकी है? क्या वे स्वतन्त्र हैं? जब कि करोडपति भी स्वतन्त्रता नही भोग रहे हैं, तब दोचार आने अधिक आयवाला कैसे स्वतन्त्र हो जायगा? पैसे की प्यास अर्थात् भोगों की अधीनता का मिट जाना ही स्वतंत्रता है।

आर्थिक स्वतन्त्रता का अच्छे से अच्छा यही अर्थ हो सकता है कि मनुष्य अर्थ का दास अर्थात् अर्थ से कान पकडवानेवाला न रहे। अर्थवाले मनुष्य अर्थ के दास को ही अपना दास बना लेते हैं। वे उस को अर्थ के लिए अपना दास बनने के लिए विवश कर लेते हैं। परन्तु जो मनुष्य अर्थ की दासता छोड देता है, उसे दास बनानेवाली शक्ति आजतक संसारने नहीं जन्मायी।

अर्थ का दास न रहना तथा प्रचुर धन जमा करना, ये दोनों परस्परविरोधी अवस्था हैं। अर्थ का दास न रहने की अवस्था ऐसी अवस्था है कि इसके साथ किसी जमाखर्च का, गणित के हिसाबकिताब का, या पैसे के न्यूनाधिक होने का कोई संबन्ध नहीं है। मनुष्यता पैसों में आकने की वस्तु नहीं है। इन सब बातोंका सम्बन्ध तो केवल धनसंग्रह से है। जो मनुष्य रोटी, कपडे या रुपये पैसे का दास नहीं है, वह किसी का भी दास नहीं हो सकता। जो मनुष्य रोटी कपडे का दास है, उसे सर्वत्र सबका दास रहना पडेगा। दासता रोटी कपडे की दासता से ही प्रारम्भ होती है। सच्ची स्वतन्त्र मनोवृत्ति रोटी, कपडे या आराम की इच्छा से सर्वथा दूसरी प्रकार की है।

आज सारा भारत स्वतंत्र मनोवृत्ति से विपरीत

मनोवृत्तियों से भरा पड़ा है । आज इस देशमें ऐसी ही भावना काम कर रही है कि सूईके नकवे जितने स्थान-पर खड़ा होने के लिये भी हमें किसी बन्दूक बन्द पशु-शक्तिको मालिक मान लेना पडता है । बताओ कि ऐसे अभागे देशमें रोटी के दासमें तथा पशुशक्ति के दास में क्या भेद है ? जब देशके मनमें से इस दास-भावनाको हटाकर उसे सबके सच्चे मालिक परमात्मा से जोड दिया जायगा, तब भावना का रूप ही दूसरा हो जायगा। तब भावना बदलकर यह हो जायगी कि, हमें संसार के स्रष्टा संसार के एकमात्र सम्राट् परमात्मा की भूमिपर अपनी ही संचारशक्ति से रहने का पूर्ण अधिकार है। हम इस पृथिवीपर सत्य-रूपी परमात्मा की सेवा या दर्शन करने के लिएही जीते हैं। हम अपने जीवन में सत्य की रक्षा करते हुए उसी को प्रकट करने के लिये ही जीते हैं। हम अपने जीवनमें सत्यकी रक्षा करते हुए उसीको प्रकट रखने के लिए अपने देहका उपयोग करेंगे। हम सत्यको छोडकर अपना देह नहीं रखेंगे ।

हम अपनी आंखोंसे सत्यकी विजय (सत्यको किसी से न दबनेवाला) देखने के लिए अपने देहों का बलिदान करके देहका सदुपयोग करेंगे । यही हमारी सिद्धि, सफलता, स्वराज्य, या जन्मसिद्ध अधिकार का आदर्श है । जब देश में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न होगी तब रोटी कमाने की भावना या उपा-र्जनवृत्ति को प्रतिष्ठित स्थान नहीं मिलेगा। इसलिए भारतीय सेवकों को देशवासियों की आय बढाने में शक्ति न लगाकर भारतीयों का चित्त दृढ करने में अपनी शक्ति लगानी चाहिए ।

अपना शासन ही स्वराज्य शब्द का शब्दार्थ है। इस बात को विचारना चाहिये कि शासन में अपनापन क्या होता है ? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए गहरा उतरने की आवश्यकता है। संसार में एक सचाई राज्य कर रही है। वही सदा से मनुष्य बनती चली आ रही है। उसे आत्मा, ईश्वर या अपना आपा कहा जाता है। यहींसे अपने-पन का निकास हुआ है। मनुष्य में रहनेवाली अमर सचाई ही मनुष्य का अपनापन है। जिस समय मनुष्य इस अपने पन में अर्थात् अपनी मनुष्यता में डट कर खड़ा हो जाता है, उस समय उसे ईश्वर दर्शन होता रहता है। उस समय वह अपने स्वरूप में होता है, वह अपने अधिकार में होता है। उस समय मनुष्य अनभिभवनीय होता है। कहावत है कि घर पर कुत्ता भी शेर हो जाता है। अपने अधिकार पर खड़ा होनेवाले के पास बल का अनन्त स्रोत बहकर आ जाता है। जो अपने अधिकार पर नहीं होता, उसे अन्त में मैदान छोड-कर भागना पडता है। क्योंकि अनधिकारी पुरुष का, बल के स्रोत हार्दिक सचाईसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, इससे उसे अन्त में निकम्माहित होना पडता है। वह अधिकारी के अधिकार पहचाननेतक ही बल की मिथ्या प्रदर्शनी करता है। सच्चे बल के सामने उस की प्रदर्शनी समाप्त हो जाती है ।

अपने अधिकार पर डटने की अवस्था में संसार भर की शक्तियां सत्यारूढ मनुष्य की चरणवन्दना करने के लिये अपना माथा नवां देती हैं। यही 'शासन का अपनापन' या 'स्वराज्य का स्व' है। यही मनुष्य की सत्यावस्था है। सत्य और अपनेपन में कोई अन्तर नहीं है। शासनमें अपना-पन ही मनुष्यसमाज की सत्यनुकूल अवस्था है। सत्य ही मनुष्य बना है। सत्य ही मनुष्य के भीतर राज कर रहा है। राज्य का अर्थ शासन करना है। सत्य ही इस संसार पर शासन करने योग्य वस्तु है। असत्य को संसार में कहीं भी शासन करने का अधिकार नहीं है। असत्य का शासन शासन नहीं है, वह अपहरण है। इस समस्त ब्रह्माण्ड पर सत्य का ही शासन तप रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड का शासक सत्य ही मनुष्य के हृदय का राजा है। वही मनुष्य का स्वरूप है। उसी में से मनुष्य व्यक्त हुआ है। सत्यही सत्यारूढताका आनन्द लेनेके लिये मनुष्य बनता रहता है। इसलिए मनुष्यको चाहिये कि वह अपने जीवन में सत्यरूपी स्वरूपमें डटा रहे। वह तिलमात्र भी सत्य से न डिगे। जो बात एक मनुष्य को करनी चाहिये, वही बात सारे मनुष्य-समाज को करनी चाहिये। अर्थात मनुष्यसमाज

को भी सत्य पर डटे रहना चाहिये । उसे सत्य से हटानेवालों का अदम्य तथा अत्याज्य विरोध करना चाहिये और अपने देशके शासन में अपनपन पैदा करना चाहिये । इस दृष्टि से स्वराज्य, सत्यका राज्य, अपना राज्य, मनुष्यता का राज्य, ये सब एक ही अर्थ को कहनेवाले शब्द हैं ।

स्वराज्य मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है। यह स्वराज्य का महासूत्र है। इस सूत्रका सच्चा कर्तव्य-परायण अर्थ तो यह है कि जिसे मनुष्य रहना हो, उसे स्वराज्य लिए बिना चैनसे नहीं बैठना चाहिए। परन्तु कुछ लोग इसके सच्चे अर्थ को न समझकर भारत के सम्बन्ध में इसका ऐसा समन्वय करना चाहते हैं कि क्योंकि भारतपर राज्य करना भारत-वासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है, इसलिए इस सूत्रके अनुसार अंग्रेजों को हमारा अधिकार हमें देकर यहां से चला जाना चाहिए। आजकलके भारतीय स्वराज्यवादी इस सूत्रको अंग्रेजों के लिए उपदेशवाक्य बनाना चाहते हैं । इस सूत्रका यह अर्थ कदापि संगत नहीं है। कारण यह है कि अधिकारों की दुहाई को कोई नहीं सुनता। युक्तियों से निरुत्तर करने से ही स्वराज्य मिला करता होता, तो हम इस सूत्रका यह अर्थ मान लेते । परन्तु अनधिकारी के मुंह लगा खून अपने अधिकारों की रक्षा करनेवालों के पुरुषार्थ से ही छूटता है । जबतक अधिकार पहारी की लोभ की नसपर चोट नहीं पहुंचायी जाती तबतक कोई किसी का अधिकार छोडना नहीं चाहता। लोभी समझाने से नहीं मानता। उसपर युक्तियों का कोई प्रभाव नहीं होता। वह जबतक अपना प्रबल विरोध नहीं देख लेता तबतक अपने लोभ का संवरण नहीं करता। यदि समझाने से अनधिकारी मान जाते होते, तो अत्याचार का नाम संसार से लुप्त हो गया होता।

अत्याचारियों का लोभ बलात्कार से छुडाना पडता है। बलात्कार ही लोभ छुडाने का अनादिकाल से खुला हुआ राजमार्ग है । इसलिए इस स्वराज्य-सूत्रका अर्थ भी इस अनादि नियम के अनुसार ही होना चाहिए अर्थात् भारत को अपने ही पुरुषार्थ से स्वराज्यप्राप्ति की आशा बनानी चाहिए। भारत को भारतीय स्वराज्य के विषय में अंग्रेजों से तो एक भी शब्द नहीं कहना चाहिये। इस विषय में अंग्रेजों से कुछ कहने का भारत का कोई भी अधिकार नहीं है। बिचारे अंग्रेज तो भारतीय स्वराज्यके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कर सकते। वे बिचारे तो भारत की मौनाज्ञासे भारत पर राज्य कर रहे हैं। भारत चाहे तो अपनी इस मौनाज्ञा को लौटा सकता है। जिस भारत को विधाताने सब कुछ करने का अधिकार दिया है, वह भारत अनधिकारी के सामने हाथ फैलाकर गिडगिडाता फिरे, यह उसकी मस्तिष्कहीनता है। अंग्रेज भारत के सम्बन्ध में जो भूल कर रहे हैं, उसे सुधारने के उत्तरदाता स्वयं अंग्रेजही हैं। भारत को उन्हें उनकी भूल सुझाने का भी अधिकार नहीं है। यह अंग्रेजों के ही विवेक से संबन्ध रखनेवाली बात है कि वे भारत के साथ कैसा बर्ताव करें ? स्वाभिमानी भारत उन से इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने को उद्यत नहीं है। क्योंकि उनसे कुछ कहना अपना अपमान करना और उनका अहंकार बढाना है ।

हम भारतीय स्वराज्य को किसी भी रूपमें अंग्रेजों के वश की बात नहीं देख रहे हैं । भारतीय स्वराज्य केवल भारत के ऊपर निर्भर है। भारतने ही उन्हें यह अधिकार दे रखा है। भारत अंग्रेजोंको अधिकार-रक्षा के लिए ७ लाख नौकर दे रहा है। यदि भारत असहयोगपर तुल पडे, तो अंग्रेजों का भारत शासन असम्भव हो जाय। भारतके निश्चय की देर है ।

३५ करोड मनुष्यों का निश्चय हिमालय को अपने स्थान से उठाकर भारतसागर में ले जाकर डुबो सकता है। यदि भारत सचेत हो, तो भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक घंटे का काम है। भारत केवल अनुत्साह का रोगी। उसे अपने राष्ट्रबल की कल्पना नहीं है। जिस दिन भारत को अपने राष्ट्रबल की कल्पना हो जायगी, उस दिन अंग्रेज हाथ मलते

रह जांयगे और भारत स्वतंत्र हो चुका होगा। जिस दिन भारत का विशाल राष्ट्रबल जागा हुआ होगा और भारत अपने जागे हुए राष्ट्रबल से स्वराज्य लेने का दृढ निश्चय कर लेगा, उस दिन भारत हाथ में फूंस का तिनका भी उठाये विना स्वराज्य ले लेगा। उस दिन स्वराज्य भारत की मुट्ठी में नाच रहा होगा।

अपने ऊपर केवल अपना अधिकार होना ही 'स्वराज्य' है। कोई भी अनधिकारी दूसरे से अपनी किसी भी प्रकार की आज्ञा न मनवा सके यही व्यावहारिक स्वराज्य है। अपने बल बूतेपर अपने पैरों खडा हो जाना ही स्वराज्य है। बल- कोई भीक नहीं है, जो किसी को मांगनेसे मिल जाती हो। बल तो मानसिक दृढता का नाम है। कोई किसी को मंगा हुआ मानसिक बल नहीं दे सकता। न तो मानसिक बल मांगने की वस्तु है और न देने की वस्तु है। बल को मांगने तथा देनेवाले दोनों मूर्ख तथा धोकेबाज हैं। दोनों दोनों को ठगना चाहते हैं। स्वराज्य तथा देश का मनोबल ये दोनों एक बात है। इसलिये बलके समान स्वराज्य भी मांगने या देने की वस्तु नहीं है। जो स्वराज्य मांगता और जो देता है, दोनों दोनों को ठगना चाह रहे हैं। स्वराज्य देना और मांगना एक दूसरे की आंख में धूल झोकना है। जब से संसार बना है, तबसे आजतक भीखमगों पर स्वराज्य कभी नहीं आया। भीख के खप्पर में स्वराज्य कभी नहीं दिया गया। स्वराज्य उन तेजस्वी लोगों के चरणों में अपने आप आकर लोटा है, जिन्होंने मांगना छोड दिया और अपने मनोबल को ही स्वराज्य माना है। जो स्वराज्य दूसरेके देने से आता है, वह दूसरोंके ही छीनने से भाग भी जाता है। वह दूसरों की ही हाथ की कठपुतली होता है।

इस स्वराज्यसूत्र के उपर्युक्त अर्थ ने भारत के स्वराज्यप्राप्ति के कर्तव्य को अंग्रेजों के ऊपर डाल दिया है और भारत का कर्तव्यहीनता की नींद लेने का एक और अवसर दे दिया है। इसने भारत की आंखों को अंग्रेजों की मुट्ठी की ओर लगा दिया है। स्वराज्य प्राप्त करना भारत का ही कर्तव्य है। स्वराज्य देना अंग्रेजों का वर्तव्य नहीं है। अंग्रेजों का दिया हुआ स्वराज्य स्वराज्य नही होगा। वह पानी में घुला हुआ दूध के रंग का आटा होगा। वह भी जब चाहे लौटाया जा सकेगा। यदि किसी आकस्मिक कारण से भारत की वर्तमान निर्बल मानसिक परिस्थिति में अंग्रेज भारत को स्वराज्य देकर भाग जांय, तो वह स्वराज्य विदेशी आक्रमण की विपत्ति को बुलानेवाला होगा। जो भारत अपने मनोबल से अंग्रेजों को हटाने में असमर्थ होगा वह भारत दूसरे राष्ट्र के आक्रमण को भी नहीं हटा सकेगा। इसलिये भारतीय मानसिक बलसे कमाया हुआ स्वराज्य ही स्वराज्य होगा। भारत की मानसिक चेतना को देखकर अंग्रेजों का अपने को भारत छोडने के लिये विवश देखनाही भारत का स्वराज्य होगा। वही मानसिक चैतन्य विदेशी आक्रमणों की रुकावट बनकर देशको सुरक्षित रख सकेगा।

जन्मसिद्ध अधिकार वह अधिकार है, जो मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त रहता है। अर्थात् कभी वियुक्त नहीं होता, जिसे पाना नहीं पडता, जो कभी मनुष्य से पृथक् हो ही नहीं सकता, जिसे मनुष्य अपने साथ लेकर आता है, जिस अधिकार को छोडते ही मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, किन्तु मनुष्य की सूरत का पशु बन जाता है।

जब कि स्वराज्य मनुष्य को जन्म से स्वभाव से ही मिला हुआ अधिकार है, तब स्वराज्यसे पृथक् या वञ्चित रहने की तो कोई अवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती। उत्तरदायित्वहीन मनुष्यों की बात छोड दीजिये। प्रामाणिक मनुष्यों के ऊपर यह उत्तरदायित्व है कि वे अपने जन्मके साथ जिस अधिकार को लेकर आये थे, उन्होंने उस की रक्षा की? या उसे खो दिया?

सचमुच स्वराज्य को पाने का प्रश्न बडा झूठा प्रश्न है। मनुष्य केवल स्वराज्य को खो सकता है, पा नहीं सकता। स्वराज्य तो मनुष्य को जन्म से ही मिल

जाता है । मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ तथा उसके लिये डर इन दो बातों से जन्म से मिले हुए स्वराज्य को खो देता है । स्वराज्य नामका अधिकार मनुष्य को जन्म से ही मिलता है। वह जन्म लेने के पश्चात् कहीं बाहरसे नहीं आता। जिस दिन मनुष्य को होश आता है, उस दिन उसके सामने दो विरोधी प्रश्न आते हैं कि या तो अब तुम स्वराज्य की रक्षा करो और उसके लिये आत्मत्याग करो । और यदि यह न कर सको तो स्वराज्य को खो डालो। जिस मनुष्य को जन्म से ही स्वराज्य मिलता है, उसका कहीं बाहर से स्वराज्य आने की प्रतीक्षा में बैठे रहना मस्तिष्कहीनताकी सूचना है ।

भारतमें स्वराज्य न होना, यह सिद्ध कर रहा है कि जो स्वराज्य जन्म से ही भारतवासियों के अधिकारमें होना चाहिये था, उन्होंने उसकी रक्षा नहीं की। अर्थात् भारत ने स्वराज्य के बिना रहना स्वीकार कर लिया है । स्वराज्यविना रहना पसन्द करना मनुष्यता के विना रहना पसन्द करने के बराबर है। मनुष्यताके बिना मनुष्यजीवन बिताना लुहार की धौंकनी के समान श्वास लेते रहना है । जिस वस्तु से जीवन सार्थक होता है, उसी के बिना जीवित रहने से जीवन मूल्यहीन तीन कौडी का हो जाता है ।

जिस समय मनुष्य को अपने में मनुष्यता का न होना खटकने लगता है, तब उसे मनुष्यता प्राप्त होने में विलम्ब नहीं होता। मनुष्यता के अभाव का अखरने लगना और उसे पा लेना, दोनों एक बात है । ये पृथक् बात नहीं हैं। ये दोनों एक ही साथ होती हैं । इन दोनों के बीचमें समय या कारण कोई नहीं है । जिसे अपने में मनुष्यता का न होना खटका है, उसने मनुष्यता को तत्क्षण पाकर छोडा है । जब सोया हुआ मनुष्य जागने की आवश्यकता अनुभव कर लेता है, उस समय उससे जागे बिना नहीं रहा जाता । जब अन्धेरेवाले मनुष्य को प्रकाश की इच्छा होती है, तब वह अन्धकार को हटाये बिना नहीं मानती ।

यदि भारत में स्वतंत्रता की इच्छा मनुष्यता के नामपर हो तब ही हम उसे स्वराज्य की इच्छा कह सकते हैं । यदि भारत की स्वतंत्रता की इच्छा भारतीय मनुष्यता के नाम पर होगी, तो वह पूरी हुए बिना नहीं रहेगी । मनुष्यता ही मनुष्यजाति का सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। मनुष्य मनुष्यताके नामपर जितने भी काम छेडेगा, वह उन सबमें अजेय रहेगा। कारण यह है कि उस में मनुष्य को अपने स्वभाव का सहयोग प्राप्त होगा । उसमें मनुष्य को अपने संपूर्ण गुणों को दिखाने का अवसर प्राप्त होगा। चोरी में मनुष्य मनुष्यता का वर्चस नहीं दिखा सकता। चोरी के विरोध मेंही मनुष्यता का गौरव (जौहर) देखनेको मिलता है। चोरीमें वीरता नहीं दिखाई जा सकती । चोरी रोकनेमें ही वीरता दिखाई जा सकती है। मनुष्यता मनुष्य का ऐसा साथी है, जो भयंकर से भयंकर उत्पातों में भी मनुष्य का साथ नहीं छोडती। जब भारत की स्वराज्येच्छा इसी सर्वशक्तिमती मनुष्यताके नामपर होगी, तब भारत की मनुष्यता यह सिद्ध करके दिखायेगी कि भारत में स्वराज्यकी अर्थात् मनुष्यता की सच्ची चाह उत्पन्न हो गयी है । जिस प्रकार जलता हुआ दीपक जलानेवाले की प्रकाश की अवन्ध्य इच्छा का पता देता है, इसी प्रकार स्वराज्य की लडाई लडनेवाले का स्वराज्यप्रेम उसकी मुट्ठीमें आये हुए स्वराज्य से ही जाना जाता है। जब स्वराज्यसंग्राम समग्र जीवनके लिये स्वराज्य-रक्षाका रूप धारण कर लेता है, तब स्वराज्य की लडाई किसी शिकार पीछे लगायी हुई दौडके समान अनिश्चित दौड नहीं रहती ।

यदि ऐसा न हो और स्वराज्यके लडाकों को यह शिकायत करनी पडे कि हमें लडकर भी स्वराज्य नहीं मिला, तब यह मानना पडेगा कि वे स्वराज्य पाने के लिये नहीं लडे थे। यदि कोई मनुष्य अंधेरेमें से प्रकाश में आनेको कहकर फिर अंधेरेमें ही पडा रह जाय, तो वह अपने व्यवहारसे अंधेरेमें रहनेकी इच्छाको अपनाकर यह सिद्ध करता है, कि उसको कभी भी प्रकाशमें आनेकी

इच्छा न थी। किन्तु उसके मनमें यह था कि मुझे कुछ करना न पड़े और किसी बाह्य सहायता से प्रकाश मिल जाय, तो अच्छा हो। मुझे प्रकाश के नामपर कोई साहस वा त्याग न करना पड़े। मुझे अपना वर्तमान साहसहीन जीवन भी न छोड़ना पड़े और प्रकाश भी प्राप्त हो जाय। जो मनुष्य अंधेरेमें निष्क्रिय निरुद्योग होकर पड़ा रहना चाहता है, उसे अंधेरा बुरा नहीं लगता। उसे तो अंधकार निष्क्रियता (निकम्मापन) और आलस्य के लिये इतना प्रेम है कि वह कुछ न करके सब कुछ पाना चाहता है। अंधेरेमें आलसी रहकर प्रकाश में जाने की इच्छा अंधेरेकोही प्रकाशके रूपमें पानेकी असंभव इच्छा है।

जो मनुष्य अपने को सांसारिक सुखभोगों की दासतामें जकड़कर स्वराज्यसंग्राम लड़ना चाहते हैं वे अंधेरेमें रहकर प्रकाश पाना चाहते हैं। वे अंधेरेकोही प्रकाश बनाना चाहते हैं. ऐसे लोग या तो संग्राममें ही नहीं जायंगे, जायंगे तो वीरता दिखाने का अवसर आते ही पीठ दिखाकर चले आयेंगे। उन्हें जब उनके सुखभोग याद आयेंगे तब उनके मनको निर्बल तथा उत्साहहीन कर डालेंगे। सुखभोग की लड़ाई को दासों की लड़ाई कहा जाता है। दासोंकी लड़ाईको चाहे स्वराज्य का नाम दे दिया जाय, परन्तु वे स्वतंत्रता के लिये नहीं लड़ते। वे तो अपने सांसारिक सुखों के अर्थात् स्वेच्छाचार के कांटे को हटाना चाहते हैं।यदि स्वतंत्रता भी किसी तरह की दासता होती, तो हम इस लड़ाई को भी स्वतंत्रता की लड़ाई कह देते। परन्तु यह लड़ाइ तो भोगों की रुकावट को हटानेकी इच्छा है। इस लड़ाई में स्वतंत्रता की झलक नहीं आ सकती।

स्वतंत्रता मनुष्यसे पूछती है कि इन्द्रियों के भोगोंको इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है? किसीकी मनुष्यता की रक्षा के लिये सांसारिक भोग्य पदार्थों का मनुष्य के अधिकार में होना आवश्यक नहीं है। मनुष्य भोग्य पदार्थों के जमघट्ट के बिना भी मनुष्य रह सकता है। विलासिता (आरामतलबी) को मनुष्यता का नाम नहीं दिया जा सकता। मनुष्यता किन्हीं बाह्य साधनों का मुंह नहीं तक सकती। मनुष्योचित मनोदशाको सुरक्षित रखकर ही मनुष्यता का जीवन बिताया जा सकता है।

जिस क्षण स्वराज्य की मांग उत्पन्न हो जाती है, उसी क्षण स्वराज्य आ चुकता है। यह बात तो सर्वथा असंभव है कि संपूर्ण राष्ट्रमें स्वराज्य न चाहनेवाला कोई भी न रहे। परन्तु क्या केवल इस छोटेसे बहानेसे देशमें स्वराज्य आना असंभव रह सकता है? यदि स्वराज्य के साथ सब का चाहना आवश्यक माना जायगा, तो स्वराज्य आना असंभव हो जायगा। ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती, जिसे सब स्वीकार कर लें। समाज के सर्वोत्तम कल्याण को दृष्टिमें रखनेवाले मनुष्य जिस बातको स्वीकार कर लेंगे, सारा लोकमत उसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। कुछ अवस्थायें ऐसी होंगी, जिनका सन्त तो स्वागत करेंगे, परन्तु वे चोरों को स्वीकार नहीं होंगी। ऐसी अवस्थामें चोर चाहे उन्हें स्वीकार न करें, परन्तु उन्हें मनुष्य-मात्रको स्वीकार तो करना ही चाहिये। इस दृष्टिसे स्वराज्य की परिभाषा ऐसी होनी चाहिये. जो स्वराज्यका संपूर्ण अर्थ बतानेवाली हो। वह परिभाषा ऐसी हो कि कोई भी जनकल्याण की आध्यात्मिक दृष्टिसे उसका विरोध न कर सके।

स्वराज्यकी परिभाषा।

'स्वराज्य उस राजव्यवस्थाका नाम है,जो देशके प्रत्येक मनुष्य के स्वीकार करने के योग्य हो, जो मनुष्यसमाजके सर्वोत्तम सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि के सामने रखकर बनायी हो, जिस राज्यव्यवस्था से मनुष्यता के नैतिक आधार पर चोट न पहुंचती हो।' इस प्रकारके स्वराज्य की मांग सार्वजनिक न हो, तो पड़ोमत हो, उससे स्वराज्य की कुछ हानि नहीं है। स्वराज्यकी मांगका सार्वजनिक न होना स्वराज्यकी रुकावट नहीं है। स्वराज्य तो वह चीज है, जिसे आंधा, लूला,

लंगडा अपायज मनुष्य भी भोग सकता हो। जिस स्वराज्यकी परिभाषा ऊपर लिखी है, यह स्वराज्य ऐसा ही स्वराज्य है। इसे एक दो या दस जितने मनुष्य चाहें भोग सकते हैं। दूसरे लोग उन एक दो या दसको सहयोग न दें तब भी वे उसे पा सकते हैं और तब भी उन्हें स्वराज्य का उद्योग चालू रखना चाहिये।

परन्तु इससे कोई यह न समझे, ये एक दो या दस पांच मनुष्य सारे देशके लिये अर्थात् सारे देशकी ओरसे स्वराज्य पा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने ही लिये स्वराज्य पा सकता है। प्रत्येक मनुष्य केवल अपने को ही स्वतंत्र कर सकता है। भारतमें ३५ करोड मनुष्य हैं। आप इसके ३५ करोडवें भाग हैं। आप इस पैंतीस करोडवे भागको ही स्वतंत्र करने के उत्तरदाता हैं। आपपर इससे अधिक कोई उत्तरदायित्व नहीं है। जितनी शक्ति उतना कर्तव्य। शक्तिसे अधिक कर्तव्य नहीं होता। शक्ति ही कर्तव्यकी सीमा है। यदि आप अपने आपको स्वतंत्र कर चुके हो, तो आप स्वतंत्र भारत के निवासी बन चुके हो। तब आप पराधीन भारत में नहीं हो। भारतके शेष मनुष्य पराधीन रहें, तो उन्हें रहने दीजिये। उनकी पराधीनता से आपकी स्वाधीनता नहीं बिगड सकती। आप अपने आपको स्वतंत्र कर लेनेके पश्चात् जहां कहीं घूमोगे, वहीं आपका स्वतंत्र भारत आपकी जेबमें पडा पडा आप के साथ घूमेगा। अर्थात् आप पृथिवी के जिस किसी भागमें जाओगे, वहीं अपने जीवनको सत्यपर निछावर करके अपनी ही अकेली शक्तिसे अपने स्वतंत्र देशके सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उद्यत रहोगे। यदि आपने अपने आपको स्वतंत्र नहीं बनाया होगा और आप दूसरों के साथ मिलकर या दूसरों को अपने पीछे चलाकर स्वतंत्रता पाने की खिलवाड करते रहोगे, तो आप अपने आपको धोका दोगे।

स्वतंत्रताके लिए संगठनकी बडी रौल सुनी जाती है। परन्तु उसके लिए संगठन की आवश्यकता आजतक कभी नहीं हुई। स्वतंत्रता इन कृत्रिम संगठना के बुलानेसे कभी नहीं आई। रजिस्टरोंमें लम्बे चौडी गिनती लिखाकर बनाए हुए कृत्रिम संगठन स्वतंत्रता को न आने देने के लिए होते हैं। इसीसे विरोधी शक्ति ऐसे संगठन हो जाने देती है। स्वतंत्रता लानेवाले संगठन इन संगठनों से सर्वथा विपरीत स्वभाव के होते हैं। वे देश में स्वतंत्रता को आने के लिए विवश कर देते हैं। संगठन उस कठोर मिलन का नाम है, जब किसी काम को करने के लिए एकत्रित होनेवाले दस-पांच मनुष्य सौ हजार या लाख की डाट से भी अपना काम छोडकर पीछे नहीं हटते। वह काम इन दसपांच के शरीरों से पूरा हो या न हो, परन्तु इन प्रत्येक के मन में अपनी अन्तिम ऊष्मा (गरमी) तक इस काम को पूरा करने का दृढ, अजेय, अत्याज्य, अदृश्य और अनभिभवनीय संकल्प होना चाहिये।

शक्ति मनुष्यों के शरीरों में नहीं रहती। वह मनुष्य के मन में रहती है। इसलिए मानसिक शक्तियों का संगठन ही संगठन है। शरीरों का एक साथ मिल बैठना और मनों का एक सिद्धांत पर न अडना संगठन नहीं है। निर्बल मनवाले मनुष्य एक साथ मिलकर शक्तिमान् नहीं बन सकते। वे तो अपनी अपनी निर्बलताओं को इकट्ठा कर लेते हैं। परन्तु बलवान् मन रखनेवाले मनुष्य सत्यकी रक्षा करने के लिए अर्थात् पवित्र कार्यों के लिए स्वभाव से ही संगठित होते हैं।

जो संगठन शिकायत करने तथा मांग पूरी करने के लिए होते हैं, वे संगठित दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। जो संगठन दासताको जड से उखाड फेंक ने के लिए होते हैं, वे इस प्रकार झुंड बनाने से भिन्न प्रकार के होते हैं। निर्बल मनुष्य एक साथ मिलकर कोई बडा काम नहीं कर सकते।

दुर्भाग्य से भारत का वर्तमान स्वराज्यार्थी संगठन शिकायत और मांग के ही लिए है। वह

भीख मांगनेवाला संगठन है। जैसे भीख मांगनेवाला स्वाभिमान को ताकपर रखकर भीक मांग मांगकर अमीर बनना चाहता है, इसी प्रकार कांग्रेसका संगठन भारतीय स्वाभिमान को भुला कर ब्रिटिश सरकार के दरबार का भिखारी बना हुआ है। वह संगठन कहलाने योग्य नहीं है। इसमें स्वराज्य लाने की शक्ति नहीं है।

संसार की स्वराज्य की परिभाषा में ही दूषण है। वह स्वराज्य के तत्व को नहीं समझ रहा है। इसीसे संसार का ध्यान सच्चे स्वराज्य की ओर से हट गया है। संसार के लोग किसी देशपर उसी देशवासियों के शासन को स्वराज्य मानना चाहते हैं और इस स्वराज्यसूत्र को इसी अर्थ में सीमित करना चाहते हैं। संसार की यह धारणा भ्रमपूर्ण है। जब कि स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार बताया जाता है, तब बताइये कि जो अधिकार मनुष्य के पास जन्म से ही साथ आया हो, उसे कौन छीन सकता है? यदि वह छिन गया हो, तो वह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार कैसे है? जन्मसिद्ध अधिकार तो मनुष्य से कभी वियुक्त होना ही नहीं चाहिए। जो अधिकार वियुक्त हो जाता हो, उसे जन्मसिद्ध अधिकार मानना छोड देना चाहिए। देखते हैं कि देशों के शासनाधिकार छिन जाते हैं। जब छिन जाते हैं तब किसी देश का स्वयंशासित होना जन्मसिद्ध अधिकार कहां रहा? इससे प्रतीत होता है कि जन्मसिद्ध अधिकार कोई दूसरी ही बात है। यदि यही अधिकार जन्मसिद्ध अधिकार होता, तो कभी किसी देशपर किसी दूसरे देश का शासन न हो पाता। इसी कारण इस सूत्र का यह अर्थ ठीक नहीं है। मनुष्य के पाससे हट जानेवाले किसी अधिकार को उसका जन्मसिद्ध अधिकार कैसे मान लिया जाय? कहने का तात्पर्य यही है कि अपने देशपर अपना अधिकार होना, यह स्वराज्यका संपूर्ण अर्थ नहीं है। स्वराज्य नामक अवस्था इस अवस्था से बहुत ऊंची है। वह अवस्था इस अवस्था के बिना भी अर्थात् स्वयंशासित न होने की अवस्था में भी रह सकती है। यदि घटनावश किसी देश की भूमि पर स्वदेशवासियों का अधिकार न हो, तबभी उसमें स्वराज्यभोगी लोग रह सकते हैं। तब भी उस देश के स्वतंत्र मनवाले मनुष्य स्वराज्य नामक जन्मसिद्ध अधिकार को भोग सकते हैं। इसलिए जन्मसिद्ध अधिकार की परिभाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे इक्केदुक्के स्वराज्यसेवक लोग भी भोग सकें। इसलिये आइये जन्मसिद्ध अधिकार का संभावित अर्थ ढूंढें कि वह, क्या हो सकता है?

जन्मसिद्ध अधिकार।

जन्मसिद्ध अधिकार वह अधिकार है, जिसे भोगने में मनुष्य को किसी भी दूसरे के ऊपर निर्भर न रहना पडे, जिसे वह अकेला भी ले सके। भौतिक अधिकार ऐसा अधिकार है कि इसमें मनुष्य को दूसरों के अधीन रहना ही पडता है। इसलिए भौतिक अधिकार को जन्मसिद्ध अधिकार नहीं कहा जा सकता। मनुष्य को प्रत्येक बात में प्रकृति के हाथ के नीचे रहना पडता है, वह प्रकृति की घटनाओं के विषय में निपट अंधा है।। वह नहीं जानता कब किस का क्या हो जानेवाला है, वह अपनी इच्छानुसार भोगों का संग्रह तथा उनका भोग करने में भी स्वाधीन नहीं है। इसलिये भौतिक पदार्थों का मालिक बन जाना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। आध्यात्मिक अर्थात् मानसिक अधिकार ही ऐसा अधिकार है, जिस में मनुष्य को किसी के भी ऊपर निर्भर नहीं होना पडेगा। अकेला मनुष्य भी आध्यात्मिक तेज दिखा सकता है। मनुष्य के अधिकार में केवल एक बात है कि, वह अपने देह को अपने मनमाने उपयोग में लगाये और दूसरे के मनमाने उपयोग में लगाने का अवसर आते ही उस को दृढता से मना कर दे। केवल इसी बात में मनुष्य स्वतंत्र है। बस यहीं मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। अनधिकारी के अनधिकार को अस्वीकार कर देना, और इसके

लिए सारे संभावित कष्टों को ललकार देना ही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

मनुष्य का शरीर ही मनुष्य का किला है। वह इस किले का स्वामी दुर्गपाल बनकर संसार भरके शत्रुओं का विरोध अन्तिम क्षण तक करता रह सकता है। मनुष्य चाहे तो इस शरीर को सचाई का विमल आनन्द भोगने में भी लगा सकता है और चाहे तो विषयाधीन बनकर इसे सुखदुःख के अकाट्य बन्धन में भी डाल सकता है। मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार का यदि कोई सुन्दर से सुन्दर अभिप्राय हो सकता है, तो वह यही हो सकता है कि, वह अपनी पतित होने तथा महान् बनने की स्वतंत्रता का सदुपयोग करे। अर्थात् पतित न होकर महान् बने। अर्थात् सत्यपर डटकर खडा हो जाय, जीवन का आनन्द लूटे और कह दे कि आज से मुझपर मेरा ही अधिकार है, किसी दूसरे का नहीं। यही मनुष्य का एकमात्र जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने ऊपर पराधिकार को न मानना और माना जा रहा, तो उसे अस्वीकार कर देना ही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

सम्मानित मनुष्यों का जीवन बिताना ही मनुष्य का जन्मजात अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य को ईश्वरने यह अधिकार देकर भेजा है कि, जाओ संसार में सम्मान का जीवन बिताकर आओ। जब कोई तुम्हारे सम्मानपर चोट करे, तब अपनी मनुष्यता के नामपर उसका विरोध करके अपने सम्मान को बचाकर लाओ। जो मनुष्य या देश इस अपने जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा करने पर तुल जायगा, वह अपने को अनन्त शक्तिमान् पायेगा। क्योंकि उसके हृदय में बसनेवाले देवता इस काम में उसकी सहायता को दौड पडेंगे। यही वह अधिकार है, जिसे मनुष्य से संसार की सारी शक्ति मिल कर भी नहीं छीन सकती। इस अधिकार को पाने के लिए किसी बाह्य सहायता या संगठन की आवश्यकता नहीं पडती। क्योंकि मनुष्य इस अधिकार को तो जन्म से ही अपने साथ लाया है। इससे भिन्न अन्य किसी भी प्रकार का अधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं कहा जा सकता। जो होना चाहिए, उस बात पर डटकर खडे हो जाना और संसार भरके ललकारने पर भी विचलित न होना ही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

जो होना चाहिए, वही स्वराज्य है। जो नहीं होना चाहिए, वही स्वराज्य से विपरीत पराधीनता या परराज्य है। पराधीनता या परराज्य को स्वीकार करके जीवन के दिन काटना ही किसी राष्ट्र की हिंसा या आत्मघात है। इस आत्मघात के पाप को छोड देना ही राष्ट्र की अहिंसा है।

स्वराज्यसे देशको टुकडा मिलने लगेगा, देशको भौतिक आराम मिलेगा, इस प्रकार का स्वराज्यवाद भी भारत में जहां तहां सुनने में आता है। वह स्वराज्य नहीं है। इस स्वराज्य में मनुष्य के निर्बल बनने का पूरा अवसर है। देशको टुकडा और भौतिक आराम मिलेगा, यह बात केवल कहने और सुनने में ही अच्छी लगती है। इस मीठी बात से जनता को फुसलाकर अपने झुंड में सम्मिलित करना सरल होता है। परन्तु इस प्रकार लालचके बने झुंड स्वतन्त्रता का बडा विकृत रूप होते हैं। यह परतन्त्रता है। ऐसी लोगों की भीड सदा भागने के काम आती है। स्वराज्य मनुष्य को इसलिए नहीं चाहना चाहिए कि, इससे रोटी, कपडा मिलेगा। रोटी, कपडा तो अमीरोंके कुत्तों, घोडों तथा चपरासियों को भी बहुत बढिया मिल जाता है। क्या इस रोटी, कपडे को उनका स्वराज्य कहा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। रोटी, कपडे और स्वराज्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। हो सकता है कि स्वराज्य लेने में लगा हुआ सारा देश स्वराज्य लेता लेता अपने

प्राणापर खेल जाय और उसके हाथमें अन्तिम श्वास तक भी भौतिक स्वराज्य न आय। परन्तु क्या स्वतन्त्रताके नामपर मिट जानेवाले उस देशने स्वराज्य नहीं पा लिया? या हम तो कहेंगे कि चाहे उस देशमें रोटी, कपडों के भोगके लिए एक भी मनुष्य शेष न न रहा हो, तब भी उस देशने स्वराज्य पा लिया। वह तो स्वराज्य पाकर ही स्वराज्य के लिए लडने चला था। बिना स्वराज्य पाये हुए लोग स्वराज्य-रक्षाके लिए नहीं लड सकते।

सचमुच भारतको रोटी, कपडे के लिए स्वराज्य की आवश्यकता नहीं है। किंतु स्वराज्य के बिना संमानित मनुष्य नहीं बना जा सकता, इसीलिए उसे स्वराज्य की आवश्यकता है। यह स्वराज्य ऐसा स्वराज्य है कि जिसके पीछे उत्साह, सामर्थ्य और निश्चित विजयका अनन्त खजाना लगा हुआ है। इस स्वराज्य का सैनिक रोटी के लिए लडनेवाले के समान संग्रामक्षेत्रसे पीठ दिखाकर नहीं लौट सकता। इसका सैनिक या तो विजय या जाज्वल्यमान मौत इन दोनों में से एकको वरता है। वह संग्राम-विमुखता को कभी नहीं अपनाता। जबतक भारत रोटीकपडे के लिए स्वराज्य का युद्ध छेडता रहेगा, तबतक रोटी-कपडेपर चोट आते ही विगत संग्रामके समान युद्ध छोडकर भागता रहेगा। परन्तु जिस दिन भारत स्वाभिमान, मनुष्यता अर्थात् अपनी अहिंसा के नामपर युद्ध छेडेगा, उस दिन युद्धको भारत को स्वतन्त्र किए बिना कैसी भी प्रबल पशु-शक्ति के दबाव से बन्द नहीं किया जा सकेगा।

मनुष्य के समान पशुपक्षी भी अपने घरोंपर दूसरों का शासन स्वीकार करने को उद्यत नहीं होते। इस स्वभाव में मनुष्य के मन की उच्चता का आभास नहीं है। यह स्वभाव मनुष्यों और पशुओं के शरीरों की भोगेच्छा का परिणाम है। मनुष्य भी अपने घरमें अपने भोगकी स्वतन्त्रता में किसी दूसरे को बाधक देखना नहीं चाहता। इसीसे उसे अपने घर में दूसरे का शासन सहन नहीं होता। परन्तु दूसरे के असह्य होने में स्वतंत्रताकी झलक कहीं नहीं है।

स्वतंत्रता इस स्वभाव से बहुत ऊंची अवस्था है। स्वतन्त्रता का स्वभाव पशुओं में कहीं नहीं पाया जाता। स्वतंत्रता केवल मनुष्य के मन की चीज़ है। पशुस्वभावसे ही पराधीन बद्ध प्राणी है। उसके पास अपमान नाम की स्थिति नहीं है। परन्तु मनुष्य के पास अपमान का सवाल है। मानापमान का प्रश्न ही मनुष्य का अस्तित्व है। यदि यह प्रश्न नहीं, तो मनुष्यमनुष्य नहीं है। अपमान या तिरस्कार न सहना, अपमान या तिरस्कार को अस्वीकार करके स्वाभिमानकी रक्षा करना, यह केवल मनुष्य के ही मनकी विशेषता है। यही मनुष्य की स्वतंत्रता का अभ्रान्त रूप है।

दूसरे देशके लोग दूसरोंके देशोंमें जाकर वहां के भोगोंके बाधक बन जाते हैं। इसी से विदेशियों का प्रवेश बुरा माना जाता है। ऐसे प्रसंगोंपर सब देशवासी मिलकर विदेशियों को भगाते हैं। मिलकर विदेशियोंको भगाना ही 'राष्ट्रीय भाव' कहाते हैं। मनुष्यकी भोगाकांक्षाही राष्ट्रसंगठन का मूलाधार है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने घरमें दूसरेका घुसना असह्य मानता है, इसी प्रकार मनुष्यसमाज अपने देशमें विदेशियों के प्रवेश को स्वभाव से ही बुरा मानता आया है। अब आगे यह दिखाया जायगा कि, जिस कारण से अपने देशमें दूसरों का प्रवेश असह्य होता है, उसी कारणसे अपने देशमें दूसरों को बुलाया जाता है।

जब राष्ट्रमें परस्परकलह और स्वार्थ फैल जाता है, तब देशमें मिलकर शत्रुविरोध करने का भाव ढीला पड जाता है। तब सब अपने अपने आराम तथा भोगों के लिये विदेशियोंसे सहायता लेने लगते हैं। तब पारस्परिक संगठन शिथिल तथा छिन्नभिन्न हो जाता है। मनुष्य सांसारिक

सुखोंकी अभिलाषा से दूसरोंके चरणों में मस्तक तक रख देता है। जब कोई विदेशी शक्ति आकर राष्ट्रपर आक्रमण करती है, तब राष्ट्र के पास जनता की शत्रुविरोध करनेवाली संगठित शक्ति न होनेसे उस राष्ट्रपर विदेशी शासन जम जाता है।

अब आप इस बात को देख लीजिए कि जो भोगाकांक्षा राष्ट्र में राष्ट्रीय भाव उत्पन्न करके उन्हें बाह्य आक्रमणों से बचाती है, वही भोगाकांक्षा फूट और स्वार्थ के राज्य में विदेशियों को बुलाकर ले आती है और देश को परतंत्र बनाती है। इस के साथ स्वतंत्रता का कोई सम्बंध नहीं है। अपने देशपर अपने शासन के सिद्धांत का मूलाधार भोगाकांक्षा है। वह इतना तुच्छ और अविश्वास्य है कि, उसे स्वतंत्रता नहीं माना जा सकता। जो आधार विदेशियों को बुलाकर भी ला सकता है और स्वतंत्रता को छिनवा भी सकता है, उसीको स्वतंत्रताका आधार बना लेना बडी भारी अविचारशीलता है। इस सिद्धांतको माननेसे स्वराज्य के सैनिकों में निर्बलता आ जायगी और वे संग्राम छोडकर भाग जायंगे। जबतक मनुष्य के मनमें भोगाकांक्षा रहेगी तबतक उसे सच्ची स्वतंत्रता तथा शान्ति नहीं मिलेगी।

जिस देश में सच्ची स्वतंत्रता की भावना जागी रहती है, अर्थात् जिस देशके लोग आराम से जीवन बिताने के लिए नहीं, किन्तु मनुष्य को स्वतंत्र रहना चाहिए, इसीलिए स्वतंत्रता की उपासना करते हैं, उस देश में कोई भी विदेशी शक्ति अपने पैर नहीं जमा सकती। सच्ची स्वतंत्रता का स्वरूप यही है कि राष्ट्र के घरघर में पूर्णता, मनुष्यता, स्वाभिमान, भ्रमशून्यता और आनन्दरूपता स्वभाव बन चुका हो। राष्ट्र का प्रत्येक मनुष्य सत्यरक्षा के लिए अपने को अजेय दुर्ग माननेवाला हो। राष्ट्र का अकेला अकेला मनुष्य भी असत्य के विरोध के लिए लाख का विरोध करने के लिये भी खडा हो जाने के उत्साह से भरपूर हो। राष्ट्र का कोई भी मनुष्य किसी अधिकारहीन पुरुष की आज्ञा मानना घोर पाप माननेवाला बन चुका हो। राष्ट्रका प्रत्येक मनुष्य अपने ऊपर केवल अपना ही अधिकार माननेवाला हो। जिस देश में ऐसी स्वतंत्रता लहर मारने लगती है, वह ही देश स्वतंत्रताका विमल आनन्द भोगता है।

यदि परतंत्र देश के निवासी इस भावना को अपना लें, तो वे एक ही क्षण में स्वतंत्र होने का आनन्द ले सकते हैं। जिस देश में सच्ची स्वतंत्रता की भावना जागी नहीं होती, वह चाहे अपने देश में स्वयं ही शासन क्यों न कर रहा हो, तब भी वह दास है। वर्तमान योरोप के एक एक घंटे में स्वतंत्रता खोनेवाले देश इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि, वे सच्ची स्वतंत्रता नहीं भोग रहे थे। उनमें भोगाकांक्षा राज्य कर रही थी। उस भोगाकांक्षा ने आक्रामकके सामने झट घुटने टेक दिये। सचमुच वे देश विषयों के दास थे। विषयों के दास अपने विषयों के खो जाने के डर से देश की सामूहिक लूटका विरोध त्यागकर विषयलिप्त हो जाते हैं। आज सारे संसार पर भोगाकांक्षा का ही राज्य तप रहा है।

दासता विषयों से ही प्रारंभ होती है। विषयों के दास ही दास कहाते हैं। वे एक दूसरे का दास होना सह लेते हैं। आक्रामक लोग तो अपने भोगों के लिए मनुष्यता का अपमान करते हैं और आक्रान्त लोग अपने भोगों के लिये उसे सह लेते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों के मनमें सच्ची स्वतंत्रताकी भावना आठ पहर जागी रहती है, वे तो परतन्त्र समझे जानेवाले देशोंमें रहकर भी स्वतंत्रता का आनन्द चखते रहते हैं। संसारकी बडी से बडी शक्ति न तो उनका अपमान कर सकती है और न उनके आनन्द को घटा सकती है।

जब तक सच्ची स्वतंत्रताकी भावना नहीं आती, तब तक देशपर विदेशी शासन जमा रहता है। क्योंकि मनुष्यसमाजने भोगोंको बडा भारी महत्त्व

दे डाला है, इसलिये सब देशोंपर सब समय बाह्य आक्रमणों की संभावना बनी रहती है। परन्तु जो देश सच्ची स्वतंत्रताको पहचानते हैं, वे न तो किसी की अधीनता स्वीकार कर सकते हैं और न किसी को अपने अधीन करना चाहते हैं।

भोगाकांक्षासे अर्थात् शरीरबन्धन से मुक्त मनुष्य ही भौतिक भयों के विरोध में डटकर खड़े हो सकते हैं। स्वतंत्रता चाहनेवालों को सबसे प्रथम अपने शरीरसे अपने स्वजनों से, अपनी संपत्तिसे मुक्त होना चाहिये। स्वतंत्रतादेवी मनुष्य के इस त्याग मेंसे ही प्रारंभ होती है। यह त्याग ही स्वतंत्रता का सबसे पहला अंकुर है। यही स्वतंत्रता राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रसव करती है। जो लोग देशमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता देखना चाहते हों, उनको देशमें विदेह जीवन्मुक्त ईश्वर के राज्यमें रहनेवाले स्वतंत्र मनुष्यों का निर्माण करना चाहिये।

ईश्वरको छोडकर दूसरे किसी के भी वश को स्वीकार न करना 'स्वतंत्रता' या 'स्वराज्य' है। अर्थात् अपने ईश्वरके भरोसे अपने पैरोंपर खडे होकर जीवन बिताना 'स्वतंत्रता' है। जो मनुष्य सत्यको कभी नहीं छोडता, वही ईश्वर का भरोसा कर सकता है। ऐसे मनुष्यों के पास ईश्वर की ओर से बल प्रवाहित होता रहता है। उनके जीवन में ऐसी अपूर्वता आ जाती है कि वे अपने को कभी निर्बल नहीं पाते। संसारकी कोई भी शक्ति ऐसे मनुष्योंपर भय या दबाव डालकर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। ऐसे मनुष्य कभी किसी के दास नहीं बन सकते। ऐसे मनुष्य न तो पराधिकार खाते हैं और न किसी अनधिकारी को निजाधिकार खाने देते हैं। वे हर्ष, ईर्ष्या आदि को अपने पास तक नहीं फटकने देते। आत्मतृप्ति, पवित्रता तथा आत्मदर्शन यही ऐसे लोगों का जीवनलक्ष्य होता है। इनके मनोराज्य में हर्ष, शोक, अवसाद, आलस्य, अकर्तव्य, आकर्षण, विकर्षण, प्रभाव, परवशता, पातित्य आदि को प्रवेश नहीं मिल सकता। ऐसे लोग अनुकूल, प्रतिकूल सब परिस्थितियों में स्थिर रहते हैं। ये सदा अनासक्तिरूपी अमृतपान करते रहते हैं। जब तक किसी युद्ध में इस प्रकार के विश्वविजयी वीर सम्मिलित नहीं होते, तबतक वह युद्ध नाटकमात्र रहता है। ऐसे युद्ध विजय पाये बिना बन्द हो जाते हैं। आत्मविजय ही विश्व-विजय का मूल मन्त्र है। आत्मविजयी मनुष्यों द्वारा छेडे हुए युद्ध उनकी अन्तिम चेतना तक चलते हैं, तथा शत्रुका नाश किये बिना नहीं रोके जाते।

जो मनुष्य सचाईको त्याग देते हैं, वे एक दूसरे को हानि पहुंचाने लगते हैं। एक दूसरे को हानि पहुंचानेसे परस्पर विरोध खडा हो जाता है। जहां परस्पर विरोध होता है, वहां निर्बलता आ जाती है। एकताही ईश्वरीय शक्ति है। स्वार्थ से एकता भाग जाती है। अपने को देशसे पृथक् समझकर केवल अपने हानिलाभपर दृष्टि रखना, तथा देशके हानिलाभ की उपेक्षा करना, अर्थात् देशकी हानि करके स्वयं लाभवान् बननेकी इच्छा करना 'स्वार्थ' कहाता है। सचाई तो यह है कि स्वार्थी मनुष्य अपनी सबसे बडी हानि करते हैं। स्वार्थी अपने शत्रु होते हैं। वे कभी लाभ नहीं उठाते। लाभ पहुंचानेवाली पद्धतिपर कुठार चलानाही स्वार्थसाधन है। स्वार्थी सदा अपनी हानि करते हैं। हानि उठानेवाला तथा स्वार्थी ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। स्वार्थी सदा अपने ही दुष्ट प्रयत्नोंसे लाभसे वंचित रहते हैं वे अपने दुष्ट प्रयत्नों से समाज तथा देशको भी लाभ से वंचित कर देते हैं। वे अपने आपको भी समाज तथा देशके प्रेमसे वंचित कर लेते हैं। जिसके हृदयमें स्वार्थ घुसा बैठा है, वह शैतान का दास है। स्वार्थ छोडना और स्वतंत्र होना एकही बात है। स्वार्थहीन मनुष्योंसेही स्वतंत्र देशों का निर्माण होता है।

जबतक देशमें ईश्वरदर्शी मनुष्यों की संख्या नहीं बढेगी, बताओ कि तब तक देश पराधीनता के विरुद्ध उठ खडा होने को साहस कहां से

लायेगा? सामर्थ्य का दर्शन ही ईश्वरदर्शन है। मनकी दृढता ही सामर्थ्य का स्वरूप है। असत्य का मानमर्दन और सत्यकी स्थापना ही मनकी दृढता है। असामर्थ्य से संग्रामही सामर्थ्य का स्वरूप है। निर्बल न रहना ही सामर्थ्य है। यही ईश्वरदर्शन है। जबतक मनुष्य अपने हृदयस्थ सत्यनारायण या अपनी मनुष्यता में से बल को बुलाना नहीं सीखेगा, तब तक संसारमें सबसे पिटनेको उद्यत हो जायगा। परन्तु जब वह अपने हृदयके देवता का अर्थात् आत्मबल का भंडार पा लेगा और वहां से बल बुलाना सीख जायगा तब उसकी आज्ञा पाते ही ईश्वरों को अपनी ईश्वरलीला खेलनी पडेगी।

ईश्वरभक्त ईश्वर के अधीन नहीं होते। ईश्वर ही भक्तों के अधीन होता है। उसे अपने भक्तों की इच्छानुसार उनकी सेवामें उपस्थित होना पडता है। जिस वीर प्रह्लाद बालक के दृढ मन की आज्ञा पाते ही नरसिंहावतारको खम्बे से निकलनेके लिये विवश होना पड़ा था, उस वीर बालक का ईश्वर को प्रकट होनेके लिये विवश करनेवाला वीर हृदय ही भगवान् था। जिस समय मनुष्य का हृदय अपने आपको अर्थात् अपने संसारको अपनी मनुष्यताके चरणों में भेट चढाता है, उस समय संसारमें ईश्वरीय लीला होती हैं। जिनजिनको आजतक ईश्वरदर्शन करने का यशस्वी नाम मिला है, उन सबके मन पवित्र थे। यही उनकी साधारण मनुष्यों से विशेषता थी। इसलिये हम क्यों न उनकी इस विशेष अवस्था कोही ईश्वरदर्शनकी अवस्था मानें? अर्थात् हम यह क्यों न मान लें कि मनुष्य का पवित्र मनही ईश्वर है? ईश्वरदर्शी मनुष्यका अपने पवित्र मनके साथ समर्पण का संबन्ध रहता है। पवित्र मनही मनुष्यका आराध्य देव है।

इस पवित्र मनके अतिरिक्त हमसे पृथक् शासक के रूपमें ईश्वर माननेवाला विचार भ्रमसे पूर्ण है। ऐसा ईश्वर आजतक संसारने नहीं देखा। मान लें कभी दीखेगा, तो भी उससे मनुष्य की मनुष्यता का क्या लाभ होगा? सो बताना चाहिये। निश्चय ही इस तटस्थ ईश्वर से संसार का कोई लाभ नहीं है। इस तटस्थ ईश्वर की कल्पनाने ही सम्प्रदायों के साथ मिलकर संसार में खूनकी नदी बहायी है। इस बातको आगे न बढने देकर हम फिर अपने प्रतिपाद्य विषयपर आते हैं कि ईश्वरदर्शी मनुष्यों की बढती से ही किसी समाज की प्रतिष्ठा बढती है। ईश्वरदर्शी की यही परिभाषा है कि, जो केवल अपनी पवित्रता का भक्त है, जो अपने आपको एक क्षण के लिये भी धोके में नहीं रखता, जो अभ्रान्त जीवन बिताता है। जो अपने दुःखों को अपनी अनासक्ति के प्रभाव से तिरस्कृत करता रहता है, जो रागद्वेष, ममता तथा अहंकार से रहित है, संयमी है, दृढनिश्चयी है, वह ईश्वरदर्शी है। जो पराधिकार न खानेवाला तथा निजाधिकार न खाने देनेवाला, हर्ष, ईर्ष्या तथा भयसे रहित है, स्थिरबुद्धि है, उसे ईश्वरदर्शन हो रहा है। उसका ऐसा होनाही ईश्वर-दर्शन है। जिसमें आत्मतृप्ति है, पवित्रता है, उदासीनता है, जो विरोधी तथा सहायक दोनों परिस्थितियों में स्थिर रहकर अनासक्तिरूपी अमृत पीता रहता है, उसे ईश्वरदर्शन हो रहा है।

जब कभी ईश्वर मनुष्यको दीखेगा, तब मनमें इन्हीं गुणों के विकास के रूपमें दीखेगा। वह कभी किसी भौतिक चेहरेके रूपमें नहीं दीखेगा। जब देशमें इस स्वरूपभूत ईश्वरदर्शियोंकी संख्या बढेगी, तब किसी भी लोभी का भारत पर गृध्र-दृष्टि डालना असंभव हो जायगा।

बहुधा यह विश्वास पाया जाता है कि ईश्वर-दर्शन जीवनयात्रामें कभी अकस्मात् होनेवाली कोई अलौकिक घटना है। परन्तु ईश्वरदर्शन का लौकिकपना और उसके दर्शन का कभी कभी होना दोनों घोर अज्ञान की कल्पना हैं। ईश्वर-दर्शन कर्तव्यपालनसे पृथक् कोई स्थिति नहीं

है। कर्तव्य-पालन का यह स्वभाव है कि उससे मनुष्यको कुछ न कुछ भौतिक हानि उठानी पडती है। उस हानिको सहने के लिये एक विशेष तेज की आवश्यकता पडती है। वह तेजही मनुष्य का ईश्वर है । कर्तव्यपालन के समय सत्य नारायण अपनी कठोरता दिखाने लगते हैं। भौतिक सुखसुविधा कर्तव्यपालन को टालना चाहती है । कर्तव्यपालन के समय अपने को अकर्तव्य की ओर झुकानेवाली मनोवृत्ति को डाटना पडता है। तब मनुष्यको अपने आत्मबलके दर्बारमें से बल बुलाना पडता है। असत्य का विरोध करने के लिये जहां से बल आता है, वहीं 'ईश्वर का दरबार' है। यह बल अपने अपने पवित्र हृदयों में से आता है, इसलिये अपने हृदयकी पवित्रता ही 'ईश्वर का दरबार' है। असत्य का विरोध करने के लिये मनुष्यको बाहर कहीं से भी बल नहीं आता।

उसे बलके लिये अपनेही हृदय का द्वार खट-खटाना पडता है। बलकी पुकार सुनते ही अन्दर से हार्दिक बल का स्रोत फूट पडता है। जिन्होंने संकट के अवसरोंपर बलके लिये बाहरकी ओर अपनी कातर आंखोंको नहीं फेंका, किन्तु बल के लिये अपनी मानसिक पवित्रता की शरण ली है, उन्होंने संसार को बल के स्रोत का पता देकर धन्य किया है। संसारके संपूर्ण महापुरुषोंने अपने हृदय से ही बल प्राप्त किया है। उन्होंने उस बलके सहारेसे अपने कर्तव्य का पालन किया है। अर्थात् उन्होंने कर्तव्यपालन में आनेवाली मानसिक निर्बलताओं को अपने हार्दिक बलसे परास्त किया है। मनुष्य की जो शक्ति मानवीय निर्बलताओंको कुचलवाती है, वही ईश्वर है उस शक्तिका व्यावहारिक जीवन में आ जानाही ईश्वर-दर्शन है। कर्तव्यपालनमें ही ईश्वर का दर्शन होता है। जिन्हें कर्तव्यपालन से पृथक् कर्तव्यहीन सूने जंगलमें ईश्वरदर्शन हुआ है, उन सब लोगोंने ईश्वरदर्शन के नामपर अपने को ठगा है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

स्वतंत्र मनुष्यों की यही पहचान है कि वे किसी भी अवस्थामें परमात्मा अर्थात् सत्य को छोडकर किसी भी दूसरे की अधीनता मानने को उद्यत नहीं होते। उनका किसी अनीश्वर राज्य के शासन को स्वीकार करना असंभव बात होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि, असत्य के शासन को न मानना अर्थात् उसकी प्रत्येक आज्ञा को टाल देना ही 'स्वतंत्रता' की निष्कलंक परिभाषा है। पवित्र हृदयों की पवित्रताही सत्यका स्वरूप है। जो स्वतंत्र मन सत्य से भिन्न किसी भी शासन (हकूमत) को सहने को उद्यत नहीं हो सकते, वे अपनी पवित्रता के रक्षक और पवित्रता के ही आज्ञाकारी माने जाते हैं। यही पवित्र मनों की स्वतंत्रता का स्वरूप है। वे अपने पवित्र मनके सामने संसारकी संपूर्ण राक्षसी शक्तिको ठुकरा देते हैं। अपवित्रता को त्यागनेवाली अर्थात् अपवित्रता से रहित मनोदशाही 'पवित्रता' कहाती है। पवित्रता मनकी ही एक सत्कारणीय अवस्था है।

भौतिक संपत्ति तथा दूसरे देहों के आकर्षण के साथ बंधा जाना मनकी अपवित्रता है। क्योंकि यह कर्तव्यभ्रष्ट होनेकी अवस्था है। भौतिक संपत्तिके मोहमें फंसे हुए लोगोंको कर्तव्य-हीन कर देना कौन कठिन है? इससे यह अभिप्राय हाथ आ गया है कि स्वतंत्रता पार्थिव वस्तु नहीं है। किन्तु मानसिक अवस्था है। अपने स्वाभिमानमें मस्त रहना, तथा इस मस्ती की उदात्तता को भोगनेके लिये अपने जीवनोपकरणों में आसक्ति उठा लेना ही स्वतंत्र मनुष्यों की स्वतंत्रता का स्वरूप है। अपनेको भौतिक पदार्थोंका मालिक मानना 'दासता' है। कुछ पदार्थोंका मालिक बननेकी इच्छा ही दासता का स्वरूप है। अन्य संपूर्ण प्रकारकी दासता इसी दासता से उत्पन्न होती हैं। हम इसी को नास्तिकता या ईश्वरविद्वेष नामसे कहना चाहते हैं। घर बाहर स्वजनबान्धव आदिही भौतिक पदार्थ कहाते हैं।

जिस समय स्वतंत्रतारूपी अमृत-भंडार के भंडारी स्वाभिमानी मनुष्यों के सामने स्वतंत्रता की रक्षा करनेका प्रश्न उपस्थित होता है, तब वे भौतिक पदार्थोंकी मोहममता से अपने कान पकडवाने को उद्यत नहीं होते। यद्यपि सच्चे मनुष्य दूसरे मनुष्यों के समानही भौतिक पदार्थों से वेष्टित होकर अपने घरोंमें रहते हैं, परन्तु वे घर बाहर के मोहको यह अधिकार नहीं देते कि वह उनके स्वाभिमानपर चोट पहुंचा सके। वे स्वाभिमानका आह्वान होते ही घरोंके मोहको तोडकर स्वाभिमानकी चौकीदारी करने लगते हैं।

यह मनुष्य कुछ घरोंका तुच्छ मालिक नहीं है। सच्चा मनुष्य स्वतंत्रता के सर्वव्यापी अमृतभंडार का मालिक है, वह घरके बन्धन में कैसे रह सकता है? सच्चा मनुष्य अपनी मोहरक्षा के लिये दूसरों को अपने कान पकडने का अवसार कैसे दे सकता है? अमृत का पुत्र यह मनुष्य चाहे भी जहां रहे, यह सबही जगत् अपने सर्वशक्तिमान् पिताकी सर्वव्यापी गोदमें खेलता रहता है, तथा सत्यकी उस अक्षय, अनन्त संपत्तिका अधिकारी बना रहता है, जिसे न काल खा सकता है, न भूकम्प हिला सकता है, न राक्षस चाब सकता है, और न लुटेरा लूट सकता है।

यही वह अभौतिक संपत्ति है, जिसमें मनुष्यमात्र का सार्वजनिक अधिकार है। इसका भौतिक संपत्ति से कोई संबन्ध नहीं है। इसीको मनुष्य नामवाली मानसिक स्थिति कहा जाता है। जिस समय मनुष्य इस संपत्तिको अपना लेता है, उस समय उसे यह निश्चय हो जाता है कि जो संपत्ति मनुष्यको मनुष्य बनाती है वह तो सब यह मनुष्य के पास बराबर बराबर रहती है। जो संपत्ति बराबर बराबर नहीं रहती है, उसका लोभ मनुष्यको पशु बना देता है। यह मनुष्यसे मनुष्यको पृथक् करती है, लडवाती है, पिटवाती है और एक दूसरे के खून का प्यासा बना देती है। इस लिये वह मनुष्य के अपनाने योग्य संपत्ति नहीं है। उसका होना या न होना मनुष्यता का सहायक नहीं है, परन्तु यह मानसिक संपत्ति ऐसी संपत्ति है जो सब मनुष्यों में बंटकरभी किसी के पास न्यूनाधिक नहीं पहुंचती। यह सब के पास पूरी पूरी पहुंचती है और अपने सब सेवकों को पूर्ण बनाकर छोडती है। पार्थिव संपत्तिमें तो न्यूनाधिक होनेका अनिवार्य महादोष लगा हुआ है। पार्थिव संपत्तिका यह दोष को प्रयत्नों से भी नहीं हटाया जा सकता। पार्थिव संपत्ति मनुष्य को निश्चित रूपसे स्वार्थान्ध तथा अज्ञानी बनाती है। उसका लोभी उस मनुष्य अपने जीवन भर न्यूनके लिये रोता और अधिक के लिये तरसता रहता है। उसके पास मनुष्यजीवनको सफल बनानेवाली अलम् (बस) या संतोष नामकी अवस्था कदापि नहीं आती। परन्तु अपार्थिव संपत्तिमें पार्थिव संपत्ति के इन दोषोंमें से कोई भी दोष नहीं पाया जाता।

जिस मनुष्यकी खोपडी स्वतंत्रता का ऊंचा नाम लेकर सब मनुष्योंमें भौतिक संपत्तिको समान भागमें बांटनेकी अपूरणीय निष्फल इच्छा में व्यग्र हो जाती है, वह अपने ही दूषित प्रयत्नोंसे स्वतंत्रताके दिव्य प्रकाशसे वंचित होकर दासमनोवृत्ति का शिकार बनकर दयनीय अवस्थामें फंस जाता है। इस प्रकार ये अविश्वासी लोग यह समझनेके अयोग्य बन जाते हैं कि सच्ची स्वतंत्रता या सच्ची मनुष्यता उन्हें तबही हाथ आ सकती है और वे तब ही ईश्वर की अतुल संपत्ति के मालिक बन सकते हैं, जब कि वे परमात्मा के उस राज्य के समान हिस्सेदार बन जांय जिस राज्यमें किसी से किसी के विरोध का प्रश्न उठना संभव नहीं है।

मनुष्यकी मनुष्यताही परमात्मा का राज्य है। मनुष्यताही सच्चे मनुष्यों का आराध्य देव सत्यनारायण रूपी परमात्मा है। जैसे सूर्य में परमात्मा तेजोरूप होगया है, इसी प्रकार मनुष्योंमें परमात्मा का वास मनुष्यताके रूपमें प्रकट होता है। जिस मनुष्यमें परमात्मा का वास होता है, उसमें

मनुष्यताका वास होता है। मनुष्यताके वासको ही परमात्माका वास कहा जाता है। परमात्मा स्वभावसे सर्व रूपमें व्यक्त होता रहता है। इस स्वभाववाला परमात्मा मानवदेहावतीर्ण होते समय मनुष्यताका रूप धारण कर लेता है। जो मनुष्य ऐसी मनुष्यताके गौरवको अपना लेता है, उसे पार्थिव संपत्तिके बोझों की आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार वमन को वान्तभोजियोंके लिये छोड दिया जाता है, इसी प्रकार मनुष्यताके उपासक तथा प्रेमी लोग भौतिक संपत्तिको इसपर लड मरनेवालोंके हाथोंमें छोडकर, इससे उदास रहकर अपनेको स्वतंत्रताकी उदार *तथा उद्वेगरहित अवस्थामें प्रतिष्ठित कर* लेते हैं।

जो किसीसे लूटता है या जो किसीको लूटता है, वे दोनोंके भौतिक संपत्तिके झाडलाडू कीडे हैं। लूटनेवाला तथा लुटनेवाला दोनों दास मनोवृत्तिके एक समान शिकार हैं। इन दोनोंके मनोंको पार्थिव संपत्तिकी भेडियोंकी सी भूक सताती रहती है। जिस प्रकार बकरीके बच्चेको खा डालनेवाला भेडिया पशुपनमें बकरीके बच्चेसे ऊंचा नहीं है, इसी प्रकार लूटनेवाले को लुटनेवालेसे ऊंचा मत मानो। लूटनेवाले दुष्टमें लुटनेवाले कायरसे अधिक मनुष्यता या सभ्यता है, इस भ्रममें कोई भी न रहे। जैसे किसी दुष्टसे लुट जाना निन्दनीय मनोदशा है। इसी प्रकार लूटना भी उससे कम निन्दा और घृणा के योग्य बात नहीं है। ये दोनों मनुष्य नाम पानेके अयोग्य और मनुष्यतासे निर्वासित हैं।

मनुष्यता नामकी ऊंची स्थिति उसी मनुष्यके पास है, जो न तो किसीको लूटता है और न अपने जीते जी किसीसे लूटा जा सकता है। मनुष्यतानामवाली यह ऊंची अवस्था अर्थात् सत्यनामकी अक्षय संपत्ति उसी पुरुषके पास रह सकती है और वही पुरुष अपने को स्वतंत्र रख सकता है, जो भौतिक संपत्तिसे रहित या सहित दोनों अवस्थाओंमें अपने को भौतिक संपत्तिके बन्धनसे मुक्त रख सकता है। ऐसा पुरुषही स्वतंत्र पुरुष कहलाने को योग्य होता है। जिस देशमें ऐसे पुरुष बसते हैं वह देश स्वतन्त्र देश कहाता है।

जिस प्रकार स्वतंत्र मन किसी भौतिक वस्तु के बन्धनमें नहीं रहता, इसी प्रकार वह अपनेको किसी भौगोलिक सीमा या किसी भूखण्डके भीतर सुरक्षित या अरक्षित मानने की भूल कभी नहीं करता। वह स्वतंत्र होने में अपने देशकी ३५ करोड की जनसंख्याका ३५ करोडवां भागही क्यों न हो और चाहे देशकी शेष महती जनसंख्या स्वतंत्र रहने में उसका साथ देती हो या *न देती हो, वह स्वयं स्वतंत्रताका पूर्ण अधिकारी* बन कर उसीकी रक्षामें मग्न रहता है।

स्वतंत्र पुरुषके मनमें इस प्रकारके बहाने को स्थान नहीं मिल सकता कि क्योंकि देशके सब लोगोंने बन्धन को स्वीकार कर रखा है, इसलिये मुझेभी लाचार होकर उनके साथ पराधीन ही रहना पडेगा। जो मनुष्य सब दासों तथा दासमनोवृत्तियोंसे नाता तोड चुकने के पश्चात् संसार भरके विरोध की उपेक्षा कर सकनेवाली अजेय अनन्त शक्तिको अपने हृदयसिंहासन पर अधिकार जमाकर बैठी हुई पा रहा है,वह संसारके चाहे जिस भागमें चला जाय, उसका स्वतंत्र देश उसी के साथ साथ घूमता है। उसके स्वतंत्र देशपर संसारकी कोई शक्ति शासन नहीं कर सकती।

स्वतंत्र समझा जानेवाला कोई साथी भूमिखण्ड (देश) किसी दासमनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यको स्वतंत्र नहीं बना सकता। किरायेपर रखे हुए हत्यारों की बडीसे बडी संख्या जो किसी कायर के शरीरकी रक्षा के लिये रखी जाती है, कायर की कायरता को नहीं हरा सकती, वह उसे वीर नहीं बना सकती।

स्वतंत्र मनुष्य इस बातपर कभी विश्वास नहीं करता, कि मनुष्यकी मनुष्यता या स्वतंत्रता किसी

भूखण्ड की सीमामें या अस्त्रशस्त्रों की अनकूलता पर निर्भर रह सकता है। स्वतंत्र मनुष्य पूर्ण रूपसे ईश्वरके हाथमें समर्पित होकर ऐश्वरी शक्तिसे पूर्ण शक्तिमान् बनकर, अपने लिये संसारकी सब महिमाओंको तुच्छातितुच्छ जानकर केवल 'ईश्वर का' होने में ही गौरव मानता है।

सत्यके साथ अटूट संबन्ध रखना ही स्वतंत्रता का मूल मन्त्र है। परमात्मासे अत्याज्य संबन्ध जुड जाना ही ईश्वरभक्ति या अध्यात्म है। जैसे सत्य स्वतंत्र मनुष्यकी स्वतंत्रता है, इसी प्रकार वह आध्यात्मिक की आध्यात्मिकताभी है। स्वतंत्र मनुष्य अपने को कदापि सत्यसे च्युत असत्यका उपासक या शैतान का दास बननेवाली पतितावस्था में जाना कदापि नहीं सह सकता। न तो आध्यात्मिकतासे हीन स्वतंत्रता हो सकती है और न स्वतंत्रतासे रहित ईश्वरभक्ति हो सकती है।

जो लोग आध्यात्मिकताको तिलांजलि देकर स्वतंत्रता कमाना चाहते हैं, वे बिना बुनियादका महल चिनना चाहते हैं। इसी प्रकार जो स्वतंत्र हुए विना ईश्वरभक्ति करना चाहते हैं, वे भी अपने को धोका देते हैं। भारतका स्वतंत्रताहीन ईश्वर-विश्वास धोके की टट्टी बना हुआ है। भारतके ईश्वरविश्वासने ईश्वरको विषयभोग बांटनेवाला भंडारी बना दिया है। उसने समझा है कि कोई दया, क्षमा, तथा प्रार्थना सुननेवाली विशालकाय सत्ता मनुष्य की दयाभिक्षा, क्षमाप्रार्थना तथा विषयों की मांग पूरी करनेके लिये उद्यत बैठी है मनुष्य उसका भिखारी है और वह भीखका भंडारी है। यही भारतका वर्तमान ईश्वरविश्वासका रूप है। भारत की वर्तमान ईश्वरभक्ति भोगोंको मांग के विना कुछ नहीं है। यहभी ईश्वरकी पराधीनता है। जिस दिन भारतीय स्वतंत्रता तथा भारतीय ईश्वरविश्वास दोनों बात मिलकर एक वस्तु हो जायगे उस दिन भारत आस्तिक कर स्वराज्यभोगी बनेगा।

इसी प्रकार आध्यात्मिकतासे रहित स्वतंत्रता नामकी भी कोई स्थिति नहीं होती। अंग्रेजोंके आनेसे प्रथम भारतमें भारतवासियों का ही शासन था। क्या उसे भारतकी स्वतंत्र अवस्था कहा जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। अपने देशमें अपने देशवासियों का शासन होने मात्रसे हम किसी देशको स्वतंत्र देश मानने को उद्यत नहीं हैं। वर्तमान योरोपकी घटनाओंने युद्धके आह्वानमात्रसे पराधीनता स्वीकार करके अपनी स्वशासित होने की स्वतंत्रताका खोखलापन सिद्ध कर दिया है। हम स्वातंत्र्य-सूत्रको ढूंढनेके लिये भारतके विगत इतिहासपर ही दृष्टि डालना चाहते हैं। अर्जुन जबतक भोगवादी रहा, तबतक अपने अधिकार परसे शत्रुको हटानेमें असमर्थ रहा, अर्थात् आनाकानी करता रहा। परंतु जब श्रीकृष्णने उसे आत्मदर्शन कराया तब वह अनधिकारीसे लोहा लेनेको उद्यत हो गया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भोग स्वतंत्रता का बाधक है, तथा आध्यात्मिकता स्वतंत्रताकी साधक है। आध्यात्मिकतासे हीन स्वतंत्रता हो सकती है, इस बातपर हम विश्वास नहीं कर सकते।

जब तक कर्तव्यत्यागी को कर्तव्यतत्पर करने वाली महाभारतकीसी आध्यात्मिक विचारधाराके द्वारा भारतकी वर्तमान मानसिक जडताकी चिकित्सा नहीं की जायगी तबतक भारतको सच्चा स्वातंत्र्यसुख प्राप्त नहीं हो सकेगा। जबतक देशमें स्वराज्यप्राप्तिके लिये आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न नहीं किया जायगा, तबतक भारत लाउड स्पीकरोंसे बढाये हुए प्रस्तावोंके कोलाहल में वक्ताओंके औपनिवेशिक स्वप्नराज्यमें बिजली की जगमगाती रोशनीमें लम्बे चौडे शामयानों में बैठकर स्वराज्यका स्वप्न देखता रहेगा।

इस स्वराज्ययोजना को सुनकर आजकलकी विचारपद्धति कहेगी कि यह स्वराज्य तो आध्यात्मिक स्वराज्य हुआ। देश ऐसा आध्यात्मिक स्वराज्य नहीं चाहता। उसे तो केवल भौतिक

स्वराज्यकी आवश्यकता है। आध्यात्मिक स्वराज्य १-२ मनुष्य ले सकते हैं। सपूर्ण राष्ट्र आध्यात्मिक स्वराज्य नहीं ले सकता । यह कहना सर्वथा विचारहीन है। यह स्वराज्य को न समझनेकी स्थिति है । भौतिक स्वराज्य लेना नानीका घर नहीं है। उसे लेनेके लिये भी तो देशवासियोंको कठोर हो कर लोहा लेना पडेगा। बताओ कि क्या भौतिक स्वराज्य लेनेके लिये मानसिक दृढताकी आवश्यकता नहीं पडेगी? पडेगी और अवश्य पडेगी, यह तो सब ही स्वीकार करेंगे। जब यह बात स्वीकार करनी ही पडेगी, तब हम कहेंगे कि भौतिक स्वराज्य लेने के लिये जिस मानसिक दृढताकी आवश्यकता पडेगी, उसी को तो आप आध्यात्मिक स्वराज्य कहकर टाल देना चाहते हो । यदि सारे देशमें आत्मज्ञान या आध्यात्मिकता के प्रचारसे निर्भयता नहीं फैला दी जायगी, तो देशसेवाके लिये निर्भय सैनिक कहांसे मिल जांयगे? आध्यात्मिक विचारोंसे ही मनुष्य निर्भय बनता है । जबतक मनुष्य सृष्टि नियमको नहीं पहचानता तब क निर्भय नहीं बनता । आध्यात्मिक स्वराज्य ले चुका हुआ देश ही भौतिक स्वराज्य ले सकता है। आध्यात्मिक स्वराज्य से निर्भय बने बिना भौतिक स्वराज्य प्राप्त होना असंभव है । इसलिये भारतको हिचकिचाहट छोडकर यह सिद्धान्त बनाना पडेगा कि आध्यात्मिक स्वराज्य ही स्वराज्य है । आध्यात्मिक स्वराज्यसे पृथक् भौतिक स्वराज्य नामकी कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं है।

भौतिक स्वराज्य स्वराज्य चिल्लाना देशको स्वराज्यके नामपर धोका देना है । गीदड का शिकार खेलने जानेवालेको शेरके शिकारकी तयार करके जाना चाहिये। हो सकता है कि किसी झाडी में शेर निकल आये। इसी दृष्टिसे भौतिक स्वराज्याभिलाषियोंको भी आध्यात्मिक स्वराज्य पानेका हथियार चलाना चाहिये । अर्थात् भौतिक स्वराज्य चाहनेवालोंको भी आध्यात्मिकी स्वराज्यवालोंके समान सब कुछ त्यागनेको तत्पर होकर युद्धभूमिमें उतरना चाहिये । नहीं तो स्वराज्य का शिकार नहीं खेला जा सकेगा।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	१॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	≠)
३ देवताविचार०	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।≠)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	≠)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	≠)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	‍८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भवतके भगवान्	।≠)	≠)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

नियम सप्तम ।

(लेखक- पं० मदनमोहनजी विद्याधर, विशाखापट्टम् ।)

'सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ।'

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुखदुःख और हानिलाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे । इतना ही नहीं, किंतु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके, वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

[द०प्र०प्र०भा०स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश पृ० ७८९]

परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति, परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों ।

[द०प्र०प्र०भा०स० प्र० १४ समु०, पृ० ७८५]

जब सब को लाभ और सुख में ही प्रसन्नता है, तो विना अपराध किसी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे? सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों की आत्माओंमें अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करें कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वोपकारक काम करें । और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें।... गो आदि पशु जहां तक सामर्थ्य हों बचायें जावें और इनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढने से सबको सुख बढता रहे।... इन को ध्यान दे पक्षपात छोड विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें, कि जिससे दोनों के लिये सुख बढता ही रहे।

[द० प्र०द्वि०भा० गोकरुणानिधि, भूमिका पृ० ९२०]

सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो जो पदार्थ बनाये हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं । किन्तु एक एक वस्तु अनेक अनेक प्रयोजन के लिये रची है । इसलिये उनसे वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है । क्या जिन जिन प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो जो पदार्थ बनाये हैं, उन उन से वे वे प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार मे बुरा कर्म नहीं है। पक्षपात छोडकर देखिये गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं ?..

[द० प्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि, पृ० ९२१]

छः गाय की पीढिपर पीढियोंका हिसाब लगाकर देखा जावे, तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है । और इसके मांससे अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो हो सकते हैं। देखो ! तुच्छ लाभके लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ? ... गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ कम लाभ पहुंचाता है... जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है, उतना भैसियों के दूध और भैंसों से नहीं... [परन्तु ये भी रक्षणीय हैं]... और ऊन्टनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है, तो भी...

गाय के सदृश नहीं। ऊन्ट और ऊन्टनी के गुण भार ढठा कर शीघ्र पहुंचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

उन में से १२ बकरियों के दूध से...उसकी पीढ़ी पर पीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन होता है।...और बकरा, बकरी और भेडा-भेडी के रोम और उन के वस्त्रों से मनुष्यों को बडे बडे सुखलाभ होते है।...इसी प्रकार अन्य दूध देनेवाले पशुओंके दूध से भी अनेक प्रकार के सुखलाभ होते हैं। जैसे ऊंटऊंटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही घोडे, घोडी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें, तो ले सकते है।...देखिये जो पशु निःसार घास, तृण, पत्ते, फल-फूल आदि खावें और सार, दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाडी आदि में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सब के बुद्धिबल पराक्रम को बढा के नीरोगता करें। पुत्र, पुत्री और मित्रादि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें उधर से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें, अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमडा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जंगल में चरके अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थानपर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तनमन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभ गुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती अनुपकारी दुःख देनेवाले और पापी जन होंगे? इसी लिये यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में परमात्मा की आज्ञा है कि हे पुरुष! तू इन पशुओंको कभी यह मत मार और यजमान अर्थात् सबके सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। इसीलिये ब्रह्मा से लेकर आज पर्यन्त आर्यलोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं।... गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। . सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाडमांस तक भी नहीं छोडते।...हे मांसाहारियों! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे तब मनुष्यों का मांस भी छोडोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओंपर, जो कि विना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या उनके लिये तेरी न्यायसभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीडा छुडाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थ-पन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता, जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि, पृ० ९२२-९२५]

भाई! सुनो तुम्हारे शरीरको जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं, तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुमको उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है, वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस पर चलता है। तो इनके लिये तुम क्यों नहीं? (९२६)

(प्रश्न) हिंसक-देखो जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं, वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं, वे निर्बल होते हैं। (उत्तर) रक्षक-क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते? .जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो, तो एक मांसाहारी का एक दूध-घी और अन्नाहारी के मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छातीपर चढ ही बैठेगा।...भला तनिक विचार तो करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है,

उसके खाने से? मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है। इस को जो युक्तिपूर्वक खावे, तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक क्यों नहीं? (प्रश्न) हिंसक जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां वा आपत्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता। (उत्तर) रक्षक-यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है, जहां पृथिवी है, वहां खेती व फलफूल आदि होते हैं। और जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊपर भूमि है, वहां मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं, जैसे कि मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी औषधियों से यथावत् होता है। इसलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९२८]

जिस जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो, वह वह अधर्म और जिस जिस व्यवहार से उपकार हो, वह वह धर्म कहाता है। तो लाखों के सुखलाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना धर्म क्यों नहीं मानते? देखो! चोरी, जारी आदि कर्म इसी लिए अधर्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं, वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं।... जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप में गिनते हो तो गवादि पशुओं को मारके बहुतों की हानि करना महा पाप क्यों नहीं? देखो मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं। किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने में ही सदा रहते हैं।

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९२८]

जैसे मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिए मांस खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं। (प्रश्न) हिंसक-जब तक पशु काम में आवें तब तक उनका मांस न खाना चाहिए जब बूढ़े हो जावें वा मर जावे, तब खाने में कुछ भी दोष नहीं। (उत्तर) रक्षक- जैसे दोष, उपकार करनेवाले मातापिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है वैसे ही उन पशुओं की सेवा न कर मार कर मांस खाने में है।...इसलिए किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये। (प्रश्न) हिंसक-जिन पशु और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहनेवालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना वा नहीं? (उत्तर) रक्षक- न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं।...एक सुअर व मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्पादि की निवृत्ति करने से पवित्रता और नेक उपकार करते हैं ... और जो विद्या व विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें, तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इसलिए मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये। भला जिनके दूध आदि खाने-पीने में आते हैं, वे मातापिता के समान माननीय क्यों न होने चाहिए? (९२९)

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९३०]

(प्रश्न) प्रमत्त- कहो जी मांस तो छूटा सो छूटा परन्तु मद्य पीने में तो कोई दोष नहीं? (उत्तर) शान्त- मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं, जैसे कि मांस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्तव्य कर लेता और कर्तव्य को छोड देता है। न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है। इसलिए इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं। और जो मद्य पीता है, वह विद्यादि शुभगुणों से रहित होकर उन दोषों में फंस कर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिए नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिए। जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं। इसलिए इनका भी सेवन कभी न करे। क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद-

आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध है।

हे धार्मिक सज्जन लोगों! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय!! बडे शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय, बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं तब वे अनाथ तुमहम को देखके राजा और प्रजा पर बडे शोक प्रकाशित करते हैं कि देखो! हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हैं और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दुध आदि अमृत पदार्थ देने के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते। देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है और हम इसलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषामें अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते। नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढवा (९३१) देते? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। ... जो उपकारी हैं वे इन के बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें। ... इसी लिये आर्यवर्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों। जिनके खानेपीने से आरोग्य, बुद्धिबल, पराक्रम आदि सद्गुण बढें।... परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना पशुओं को मार और मरवा खाना, . स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना,... गाय आदि का मांस विषवत् महारोगकारी को छोडकर उनसे उत्पन्न हुए दूध अमृतरोग नाशक है उनको लेना। अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सबको होना चाहिये। सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन, मन, धन, गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे, तो किस काम का है?

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९३१-९३२]

क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा, जो अपने सुखदुःखवत् दूसरे प्राणियों का सुखदुःख अपने आत्मा में न समझता हो?

[द० ग्र० द्वि० भा० गोकरुणानिधि पृ० ९४५]

हे गृहस्थादि पुरुषों तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि जैसे .. विद्वान् लोग मिलके सत्य-असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड सत्य की उपासना करते हैं, वैसे आत्मा से धर्माधर्म प्रियाप्रिय को सम्यग् जाननेहारे तुम्हारे मन एक दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म समस्त होवे और तुम इसी धर्म को सम्यग् मिलके प्राप्त होओ, जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्ध वाद अधर्म को छोडके सप्यार संवाद प्रश्नोत्तरप्रीति से करके एक दूसरे की उन्नति किया करो।... (पृ०२१३) .. स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, मित्र-मित्र, पिता-पुत्रादि ... इम दोनों प्रीति से मिल के एक दूसरे के पराक्रम की बढती सदा किया करें।...हम एक दूसरे से कभी विद्वेषविरोध न करें। किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढाते हुए सदा आनन्द में बढते जावें।... हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रह कर सबको आनन्द में रखें।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कारविधि पृ० २१३-२१४]

वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढावें जिससे वे सन्तान, मातृ-पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पडोसी इष्टमित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से बर्तें।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० समु० ३ व पृ० १६६]

इसलिये सदा सत्य भाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिये। किसी को अभिमान न करना चाहिये। छल, कपट व कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरों की क्या कथा कहनी चाहिये। छल और कपट उसको कहते हैं, जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। 'कृतघ्नता' उसको कहते

है कि किसी के लिये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिये, उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जाके उच्चासन पर बैठावे, प्रथम 'नमस्ते' करे। इनके सामने 'उत्तमासन' पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान पर बैठे जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग अपने मातापिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम उत्तम पदार्थों से प्रीति-पूर्वक सेवा करे।

[द० प्र० प्र० भा० स० प्र० समु० २य पृ० ११७]

सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले। अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले। अनृत अर्थात् झूठ। दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले।... सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे। शुष्क वैर अर्थात् बिना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे। जो जो दूसरे का हितकारक हो और बुरा भी माने, तथापि कहे बिना न रहे।

[द० प्र० प्र० भा० स० प्र० समु० ४र्थ, पृ० १९१]

इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिये प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक लोग बहुत है, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो और वह कल्याण करनेवाला वचन हो, उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है। क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे को दोष कहना और अपना दोष सुनाना परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना। और दुष्टों की रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना। जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं कहता तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता। ... जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह निन्दा और गुणों में गुण-दोषों का कथन करना स्तुति कहाती है। अर्थात् मिथ्या भाषण का नाम निन्दा और सत्यभाषण का नाम स्तुति है।

[द० प्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढने पढाने हारे, पितर जो मातापिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी। पितृयज्ञ के दो भेद हैं। एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण। श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है। 'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय, उसको श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय, उसका नाम श्राद्ध है। और तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्' जिस जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान् मातापितादि पितर प्रसन्न हों और और प्रसन्न किये जावें, उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिये है, मृतकों के लिये नहीं।

अपनी स्त्री तथा भगिनीसम्बन्धी और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सबको अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्नवस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे रहे, उस उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।

[द० प्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

स्त्री का पूजनीय देव पति और पुरुष की पूज्य अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है।

[द० प्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

जब तक गुरुकुल में रहें तब तक मातापिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

[द० प्र० प्र० भा० ४ र्थ समु० स० प्र० पृ० १९२]

सब प्रकार से अपने अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन-मन-धन से सर्वदा परमार्थ किया करें। अपने मातापिता, सासुश्वसुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें। मित्र और अड़ौसी पड़ौसी राजा विद्वान् वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रख के और जो दुष्ट अधर्मी हैं, उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोड़कर उनके सुधारने का यत्न किया करें। जहां तक बने वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों

का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान्, सुशिक्षायुक्त कर दें और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें।'

[द० ग्रं० प्र० भा० ४ थं समु० स० प्र० पृ० २१९]

अतिथि उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला पूर्ण विद्वान्, परम योगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे, तो उसको प्रथम पाद्य अर्घ और आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाल कर खानपान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवाशुश्रूषा करके उसको प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञानविज्ञानादि जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चालचलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे। समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत्सत्कार करनेयोग्य हैं। परन्तु (पाषण्डी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्ता मिथ्या भाषणादि युक्त जैसे बिडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम बैडालवृत्तिक (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी आप जानें नहीं, औरों का कहा मानें नहीं, (हैतुक) कुतर्की व्यर्थ बकनेवाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती बकते हैं, हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं, इत्यादि; गपोडा हाकनेवाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के बैरागी और खाकी आदि हठी, दुराग्रही, वेदविरोधी हैं; ऐसोंका सत्कार वाणीमात्र से भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं, पर साथ ही सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबो देते हैं।

[द० ग्रं० प्र० भा० स० प्र० ४ र्थ समु० पृ० १९३]

...जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छलकपटरहित और नित्य भ्रमण करके विद्याधर्म का प्रचार और अविद्या-अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको अतिथि कहते हैं।... जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणयुक्त उत्तम गुणसहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करे।... गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर बड़े प्रेम से उठकर नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठावें। ... जब वे स्वस्थचित्त हो जावे तब पूछे कि . . हे अतिथे! यह जल लीजिए और हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये कि, जिससे हमारे इष्टमित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें। हे विद्वान् जिस प्रकार आप की प्रसन्नता हो, हम लोग वैसाहि काम करें तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिए ...जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें।

[द० ग्रं० द्वि० भा० ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ६००]

हे सर्वसुहृदीश्वर सर्वान्तर्यामिन्! सब भूत-प्राणीमात्र मित्रदृष्टि से यथावत् मुझको देखें, सब मेरे मित्र हो जावें। कोई मुझसे किंचिन्मात्र भी वैर न करे। हे परमात्मन्, आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब चराचर जगत् को मित्रदृष्टि से अपने प्राणवत् प्रिय जानूं।... पक्षपात छोडके सब जीव देहधारी मात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर अपना बर्ताव करें। अन्याय से युक्त होके किसी पर कभी हम लोग न वर्तें, यह परमधर्म का सब मनुष्यों के लिये परमात्माने उपदेश किया है, सबको यही मान्य होने के योग्य है।

[द० ग्रं० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ०४१]

हे महेश्वर दयालो! जिस जिस देश से आप...सम्यक् चेष्टा करते हो, उस उस देश से हमको अभय करो। अर्थात् जहां जहां से हम को भय प्राप्त होने लगे, वहां वहां से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो तथा प्रजा से हमको सुख करो, हमारी प्रजा सदा सुखी रहें, भय देनेवाली कभी न हो, तथा पशुओं से भी हमको अभय करो किंच किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को न हो, तथा पशुओं से भी हमको अभय करो।...जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और निरन्तर आपका राज्य तथा आपकी भक्ति करें।

[द० ग्रं० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ० ४४]

सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय (ज्ञान) करना, उसी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। इस हेतु से तन-मनधन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के सहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये।

[द० प्र० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ० ६८]

सब मनुष्यों को अच्छा मीठा कल्याण करनेवाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये।... मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये, कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीचमें वर्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं।... सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने में ही सदा सन्तोष करें। सब दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करनेवाले होम को किया करें।... सब दिन मिथ्यावाद को छोड के सत्य ही बोलना चाहिये।

[द०प्र०द्वि०भा० ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ०४४७-४४८]

हम सब लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ न्यायकारी सबके पिता एक परमेश्वरको छोड के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इस लिये हम लोग उसी को अपना राजा मानके सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं।...हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्यभाव से प्रजा होके यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आज्ञा करना उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्परविरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पितापुत्र के समान प्रेम से वर्तें।

[द० प्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका,पृ० ४५३]

जिन्दगी का सच्चा सुख और आनंद कब मिले?

जब शरीर निरोग और बलवान् हो।

परंतु शरीर निरोग रहने के लिये तथा शक्ति बढाने के लिये आप क्या करेंगे? किसी डॉक्टरी, वैद्यकी, हकीमी या पेपरोंमें आनेवाली दवाओं की जाहीरात वगैरह देखकर उसका ही अनुकरण करेंगे। अवश्य। आप वही करेंगे क्योंकि जब आपको मालूमही नहीं कि बिना पैसे जीवन भर नीरोग रखनेवाला सच्चा मार्ग कौनसा है। जिस प्रकार संसार में गरीब लोगों की संख्या श्रीमानों के बनिस्बत कई गुणा है, हर तरह देखो श्रीमंत लोग इने गिने ही होते हैं, परन्तु गरीब तो असंख्या में दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार डॉक्टर, वैद्य, हकीम व अमुक पेटेन्ट दवाएं जैसे टोनिक पील्स वगैरा की जाहिरात व स्थान तो हर जगह मिलेंगे। परन्तु मुफ्त का इलाज बिना पैसे व बिना कडवी मिठी दवा पिये बिना आराम होने का स्थान कहीं भी मिलेगा? वह क्या? 'कुदरती इलाज।'

मैं खुद पेट के रोगों से कई वर्षों से पीडित था और सेकडो इलाज कर चुका, काफी पैसा भी बिगाड चुका, परंतु परिणाम में एक रोग जरा कम हुआ तो दूसरा नया उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार चलता रहा। जिसमें कबज व मंदाग्नि तो मुख्य रही, कुछ भी लाभ नहीं हुआ, बडी परेशानी थी। आखिर फिर जाहिरातों कोही टटोलने लगा कि कोई अच्छी वस्तु (दवा) या डॉक्टर या वैद्य हकीम मिल जाय परंतु उसके बदले एक जगह 'मुफ्त इलाज' का हीडिंग देखा, उसे पढा, उसमें क्या था? 'रामतीर्थ योगाश्रम' में सभी रोगों का इलाज बिना दवा के मुफ्त होता है। बस वहां पहुंचे, वहां के कार्य कर्ता से मिले उन्होंने साहस दिलाया कि बहोत जल्द ठीक हो जावोगे। खैर मैंने उपाय पूछा उन्होंने मेरे रोगों के लिये एक प्रयोग बताए, उसे मैंने एक सप्ताह बराबर किया, उससे बहोत ठीक मालूम हुआ और दूसरे सप्ताह में तो रोग समूल नाश होकर शक्ति, स्फूर्ती, साहस, वजन और मनकी एकाग्रता बहुत ही बढ गई। अब भी वही प्रयोग करता हूं और तंदुरस्ती में वृद्धि होती है।

मैं तमाम जनता से निवेदन करता हूं कि आपको अपने शरीरसंबधी कोई भी शिकायत हो तो 'रामतीर्थ योगाश्रम' सेन्डहर्स्ट रोड मुंबईमें जाकर बिना दवा के मुफ्त इलाज करवाइये। चंद दिनों में आपको स्वयं प्रतीति हो जायगी, फिर आप कभी भी फिजूल पैसे बर्बाद कर दवा का आश्रय न लेंगे।

यदि कोई सज्जन मुझ से प्रायवेट सलाह लेना चाहे तो मैं सहर्ष बताउंगा। वहां स्त्री पुरुष दोनों का इलाज बखूबी होता है। मेरे अनुरोध से एक वक्त जरूर अनुभव करें।

आपका
कमलचंद जैन
बम्बई, ता० २९-१२-३८

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० मातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद (,,)	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	१॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत ।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना ।(१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा.(१-२)	३)	॥।)
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत ।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग ।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास ।	॥)	=)
उपनिषद् माला । १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद् ।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१॥)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औध।

वैदिक धर्म।

मे १९३९
वैशाख १८६१



बालहास्य।

वर्ष २०, अंक ५] [क्रमांक २३२

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५)रु. वी.पी. से ५॥)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २०]

विषयानुक्रमणिका

[अङ्क ५

१ हमारा विजय ।		२९७
२ अथर्व भेजा जा रहा है ।		२९८
३ ईश्वरका साक्षात्कार । (४)	संपादकीय	२९९
४ दैवत-संहिता ।	"	३०७
५ वेदमंत्रोंके उपदेश । (३)	स्व. प. रघुनन्दन शर्मा	३१३
६ भारतीय स्वतंत्रताकी रूपरेखा । (२)	प० रामावतारजी विद्याभास्कर	३२९
७ विचार-महत्त्व । (३)	श्री. रामचन्द्रजी	३४५
८ अष्टम नियम ।	प. मदनमोहन विद्याधर	३५५
९ द्रुह्यद् धर्म ।	पं. जयदेव शर्मा वेदालंकार	३६९
१० मंत्रार्थ और गायत्री ।	प. रमाकान्त झा	३७९
११ वैदिक संध्यारहस्य ।	" "	३८२

वर्ष २०
अंक ५
क्रमांक
२३३

धर्म

वैशाख
संवत् १९९६
मई
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर । सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार ।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

हमारा विजय ।

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि ।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥ ३ ॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् ।
सासह्याम पृतन्यतः ॥ ४ ॥

(ऋ० १-८)

" हे इन्द्र ! तेरी सुरक्षाके आश्रयसे हम अपने शस्त्रोंसे शत्रुओं को मारेंगे और अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करेंगे । हे इन्द्र ! हमें यदि तेरी सहायता प्राप्त हुई, तो हम अपने शूर वीर योद्धाओं की सहायता से शत्रु के सैन्यों का सहजही से विध्वंस करेंगे । "

सबसे प्रथम ईश्वर की सहायता प्राप्त करो, अपने शस्त्रास्त्र सज्ज करो और ऐसा युद्ध करो कि जिससे शत्रुका नाश हो जाय । अपने सैनिकों में शूरता और वीरता बढाओ, जिससे शत्रु के सैन्यका विध्वंस सहजही से हो सके ।

ग्राहकों के पास

अथर्ववेद भेजा जा रहा है।

अथर्ववेद छपकर तैयार हुआ और जिनको रेलपार्सलोंके द्वारा भेजा जा सकता है, अर्थात् जिनकी मांग ५; १०, २५, ५० या इससे अधिक संख्या में थी, उनके पास भेजा जा रहा है। इस समयतक करीब एक सहस्र पुस्तकें भेजी गयी हैं। और प्रतिदिन भेजी जा रहीं हैं।

अब शीघ्रही पोष्टद्वारा जिनके पास भेजनी चाहिये, उनके पास भेजी जायगी। पोष्टद्वारा उनको ही भेजी जाती हैं, जिनके पास केवल एक दो ही प्रतियां भेजनी होती हैं। एक अथर्ववेद के पुस्तक पर रजिस्ट्री डाक का व्यय बारह आने होता है और यदि रेलद्वारा अधिक संख्यामें मंगवायीं जायगीं, तो रेलपार्सल का व्यय छः आने प्रति पुस्तक पंजाबतक का होता है।

कई लोग मालगाडीसे पुस्तकें मंगवाते हैं, उनको मालूम हो की मालगाडी से यहांसे रवाना हुआ माल कलकत्ते में पहुंचने के लिये करीब दो मास लगते हैं, लहौर, हरद्वार तक पहुंचने में डेड महिना लगता है और बंबईको पहुंचनेके लिये पंदरह दिन लगते हैं। इससे रेलपार्सल द्वारा शीघ्र पहुंचता है। मालगाडी का किराया आधा है और पार्सलगाडीका किराया उससे दुगुना है। मालगाडीसे इतने दिनोंके बाद पहुंचनेवाला माल मार्गमें खराब होनेका भी सम्भव है। अतः सब लोग तथा अधिक संख्यामें मंगानेवाले ग्राहक पार्सलगाडीसे वेद की पुस्तकें मंगावे। मालगाडीसे मंगानेपर देरी लगी, तो उसका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर नहीं है। पार्सल से गया हुआ माल पंजाब, बंगाल तक ५ दिनोंके अन्दर हि पहुंचता है। यह भी लाभ ही है।

जहां हमारा अथर्ववेद पहुंचा है, वहांसे सबने उसकी प्रशंसाही की है। क्योंकि ऐसा सुंदर पुस्तक इस समय किसी भी स्थानपर मिलता नहीं है। पूनामें बनाये स्वदेशी कागजपर यह छपा है। छपाई, कागज, जिल्द आदि सब सुन्दर हैं। पुस्तक अत्यंत आकर्षक हुई है। अतः जो अपने घरोंमें वेदों के सुन्दर पुस्तक रखने के इच्छुक हैं, वे शीघ्र ही ग्राहक बनें और पुस्तकें मंगावें। पुस्तकें वी० पी० से भेजी नहीं जाती। मूल्य म० आ० द्वारा पेशगी आनेपरही भेजी जाती हैं। क्योंकि कई लोग वी० पी० मंगवाते हैं और वापस करते हैं, इससे मंगानेवालोंका कोई नुकसान नहीं होता, अधिक से अधिक उनका नुकसान तीन पैसोंका होता है। पर चार वेद वी० पी० से भेजनेके लिये ३॥) डा० व्य० लगता है, वी० पी० वापस आनेपर हमारा इतना नुकसान होता है। अतः ऐसा नुकसान उठानेके कारण वेदके पुस्तक वी० पी० से न भेजनेका ही निश्चय किया है। अतः ग्राहक म० आ० से वेदोंका मूल्य भेज देवें।

सामवेदकी छपाई वेगसे चलायी जा रही है। यह सामवेद तीन चार महिनोंमें छप चुकेगा। तब ग्राहकों के पास भेजा जायगा। जिस तरह सब सुधारों के साथ यह सामवेद छप रहा है, वैसा इस समयतक किसी भी जगह छपा नहीं है। इसलिये ग्राहक त्वरा करें और ग्राहक बनें।

ऋग्वेद प्रथमवार का मुद्रण समाप्त हुआ। अब एक भी पुस्तक शेष नहीं है। नया संस्करण छप रहा है। कृपया ग्राहक ५।६ महिने तक धैर्य धारण करें। तब ये पुस्तक तैयार होंगे।

अन्य शाखासंहिताएं भी छपेंगी। सम्पूर्ण वेद के संहिता ग्रंथ छापने हैं। एक भी छोडना नहीं है। क्रमशः ये सब ग्रंथ छपनेपर ग्राहकों को मिलते जांयगे। जो ग्राहक वेदके ग्रंथ अपने पास रखना चाहते हैं, वे शीघ्र मंगावें। मूल्य का विज्ञापन अन्यत्र इसी अंक में देखिये।

क्या मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है ?

इस विषयमें वेद क्या कहता है ?

(चतुर्थ लेख)

पूर्वसम्बन्ध।

गत तीन लेखों में बताया गया कि ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य कर सकता है, परन्तु मनुष्य के मन में जो पूर्वग्रह-दोषों के मल भरे हुए हैं, उनको दूर करना चाहिये। यही मन की शुद्धि है। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। ईश्वर का साक्षात्कार होनेके लिये मनकी इस तरहकी शुद्धि होनी चाहिये।

इस लेखमालाके तृतीय लेख में ईश्वरसाक्षात्कार की प्रथम सीढी बताई है। जिससे गुणों को देखकर ईश्वर की सत्ता कहां किस रूपसे है, इसका पता हरएक साधक को लग सकता है। जैसा 'तस्य भासा सर्व-मिदं विभाति' उस ईश्वर के प्रकाश से यह सब प्रकाशित हो रहा है, किंवा 'तेजोऽसि' ईश्वर प्रकाश-स्वरूप है, इन वर्णनों से ईश्वर का स्वरूप 'प्रकाश' है, यह सिद्ध है। जहां जहां प्रकाश होगा, वहां प्रकाश के रूपसे ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहिये। यह नियम साधक के लिये उत्तम मार्गदर्शक है। यह सहज सिद्ध होनेवाली बात है।

उदाहरण के लिये देखिये कि एक कमरा बिजुली की रोशनी से प्रकाशित हो रहा है; परन्तु वहां ऐसी युक्तिसे बिजली की रोशनी की गई है कि विद्युद्दीप तो न दीखे, पर प्रकाश पडे। ऐसे कमरे में प्रकाश तो दीखेगा, हरएक वस्तु प्रकाशित तो होगी, परन्तु बिजली का दीवा तो किसी भी स्थानपर दिखाई नहीं देगा। अज्ञानी लोग कहेंगे कि हरएक वस्तुका ही यह प्रकाश है, जिससे वह वस्तु दीख रही है, क्योंकि दूसरा कोई प्रकाश का केन्द्र वहां दीखता नहीं है। परन्तु ज्ञानी क्या देखेगा ? ज्ञानी तो यही समझेगा यह सब प्रकाश युक्तिसे छिपायी बिजुली का ही है, जिससे इस कमरे की वस्तुएं प्रकाशित हो रही हैं। अज्ञानी और ज्ञानी के समझ में कितना भेद है देखिये।

ईश्वर का प्रकाश।

इस विश्व में अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र, दीप आदिका प्रकाश अग्नि आदिकों का ही है, ऐसा हरएक मनुष्य मानता है, पर वेद कहता है और उपनिषदें कहती हैं कि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस परमात्मा के प्रकाश से ही सर्व अग्नि, सूर्य आदि प्रकाशित हो रहे हैं। अग्नि, सूर्य आदिका अपना कोई प्रकाश नहीं है, जो प्रकाश इनसे प्रकट हो रहा है, वह सब परमेश्वर का ही प्रकाश है। परमेश्वर का प्रकाश सूर्यको न मिलेगा, तो सूर्यका प्रकाश कोई नहीं दीखेगा।

जिस तरह हम आज भी देखते हैं कि सूर्य का प्रकाश न रहा, तो चन्द्र प्रकाशित ही नहीं होगा, ठीक इसी तरह ईश्वर का प्रकाश न मिला, तो सूर्य प्रकाशित ही नहीं होगा। क्योंकि (तं एव भान्तं अनुभाति सर्वं) उस ईश्वर के प्रकाशित होने से ही यह सब विश्व प्रकाशित हो सकता है। इसलिये यहां ऐसी कल्पना करनी चाहिये कि अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र के पीछे परमेश्वर रहता है और इनके द्वारा अपना प्रकाश हम तक पहुंचाता है। जैसा कोई पडदे के पीछे रहकर प्रकाश दिखावे, जैसा चित्र परदेपर दिखाई देता है, पर वह सब विद्युद्दीप की ही चमत्कृति है, इसी तरह यहां समझना योग्य है।

चित्रपट।

चित्रपट के परदेपर हिलनेवाला चित्र देखकर यदि कोई

मानने लग जाय, कि यह चित्र इस परदेका ही चित्र है, तो उसको सब लोग आजकल पागल ही कहेंगे, क्योंकि आजकल सब लोगोंको यह विदित है कि, यह चित्र बिजुली के दीपसे चित्रपट पर फेंका जाता है। अतः यहां (तस्य भासा सर्वं इदं विभाति) उस विद्युद्दीप के प्रकाशित होनेसे हि यह सब परदेपर चित्र प्रकाशित होता है, यही सत्य ज्ञान है। इसी तरह अग्नि, सूर्य चन्द्र के परदों पर परमात्मा के दीपसे जो प्रकाश आता है, वही अग्नि आदि के रूपों में हमें दीखाई देता है, यह सत्य ज्ञान है।

वेदमंत्र कहते हैं वैसा ही हमें मानना चाहिये। वेद-मन्त्र तो यही कहते हैं कि सब प्रकाश परमात्मा का ही है। अतः हमें वैसा ही मानना चाहिये और प्रकाश जहाँ दिखाई देगा, वहाँ परमात्मा की सत्ता माननी चाहिये।

सर्वसाधारण लोग तो ऐसा माननेको इस समय तैयार नहीं हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके मत से वेदका वचन ' तेजोऽसि ' यह अप्रमाणहि है। जब तक प्रकाश का आदिस्रोत एकमेव परमेश्वर है, ऐसा असन्दिग्ध रीतिसे नहीं माना जाता, तब तक उतना वेद का भाग उनको अप्रमाण हि रहेगा। अपने अन्दर के पूर्व अज्ञान के कारण वेद को भी न मानने तक मनुष्य उद्यत होता है, और इतना अनर्थ करनेपर भी पूर्वग्रहदोष छोडता नहीं, यही सब से बडा आश्चर्य और सब से बडा विघ्न है और जब तक यह विघ्न रहेगा, तब तक परमेश्वर दीखना असंभव है। इस अपने ही दोषके कारण अति समीप की वस्तु अति दूर हो चुकी है।

यहाँ और एक युक्ति से विचार करिये। अग्नि, दीप, विद्युत्, सूर्य और चन्द्र ये सब विभिन्न वस्तुएं हैं, ऐसा अज्ञानी लोग कहते ही हैं। सब लोग ऐसा ही समझते हैं। पर क्या ये पदार्थ मूलतः एक नहीं हैं? सूर्य का ही तेज चन्द्रमा पर पडता है और उस चन्द्रमा से शीत प्रकाश हमें मिलता है। वस्तुतः सूर्य का प्रकाश उष्ण है, चन्द्र-प्रकाश शीतल है, उष्णता और शीतलता ये गुण परस्पर विरुद्ध हैं, तथापि चन्द्र का प्रकाश चन्द्रका नहीं है, प्रत्युत सूर्यका ही है। अर्थात् सूर्य ही चन्द्रमा के द्वारा प्रकाशता है।

इसी तरह सूर्यकान्तमणीसे सूर्य के किरण किसी सूखे कपडे पर डालनेसे वहाँ कपडा जलने लगता है और अग्नि उत्पन्न होती है। अतः यह अग्नि सूर्यकिरणोंका ही परिवर्तित रूप है। अब पाठक देखें कि सूर्य का एक किरण अग्नि में परिणत हुआ और दूसरा चन्द्रमा में जाकर शीतलता देने लगा। अग्नि और चान्दने में कितना भेद है, परन्तु ये दोनों विभिन्न दीखनेवाले पदार्थ मूल में एक ही हैं। अतः दीप, अग्नि, चन्द, विद्युत्, सूर्य ये सब सूर्य ही के प्रभाव हैं। दीपके रूप में हमारे घरों में सूर्य ही प्रकाश रहा है, चान्दने के रूप में सूर्य ही शीतल प्रकाश दे रहा है, मेघमण्डल में बिजुली के रूप में सूर्य ही चमकता है। सूर्य न रहा, तो इन में से कोई भी प्रकाशित नहीं हो सकता, इसलिये यदि किसी ने कहा—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ (श्वे० उ०)

" उस सूर्य के प्रकाश से ही दीप-अग्नि-विद्युत्-चन्द्र प्रकाशते हैं, उसी के प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है " यह कितना सत्य है ?

यहां हमने देखा कि सूर्यप्रकाश से हि अग्नि आदिकों का प्रकाश हो रहा है, अतः सब प्रकाश सूर्य का है। अब और आगे जाकर हम यह कहेंगे कि परमात्मा के प्रकाश से सूर्य प्रकाशित हो रहा है। बस इतना मानने से यह सिद्ध हुआ कि अग्नि, सूर्य आदिकों का प्रकाश परमात्मा का है, परमात्मा से प्रकाश आता है और दीप-अग्नि-विद्युत्-चन्द्र-सूर्य आदि परदोंपर वैसा वैसा अलग अलग दिखाई देता है। (तस्य भासा सर्वं इदं विभाति) उस ईश्वरके तेजसे हि यह सब विश्व प्रकाशित हो रहा है। अब कहिये कि इस विश्व के परदे के पीछे सतत प्रकाश देनेवाला कौन है? इस का उत्तर ' परमात्मा ' ही है। विश्वके परदे के पीछे परमात्मा है और उसका ही प्रकाश अनेक रूपों में हमारे पास आ रहा है। प्रकाश परदे के लाल शीशेसे आया, तो लाल दीखेगा और पीलेमें से आया, तो पीला दीखेगा, परन्तु सब प्रकाश मूलतः परमेश्वर का ही है।

इतना विचार करनेपर परदे के पीछे परमात्मा का दर्शन हुआ। उसीका प्रकाश दीख रहा है, उसके प्रकाशका तो दर्शन हुआ, परन्तु अभीतक वह परदे के पीछे ही रहा है।

यह परदा किस तरह खोला जाय यह प्रश्न आगे के लेखोंमें विचार करने के लिये लेंगे। यहां तक के मनन से विश्वके परदे के पीछे परमात्मा है और उस परदेमें से उसका प्रकाश आ रहा है और उसी को हम देख रहे हैं। जो प्रकाश हम देख रहे हैं, वह उसीका प्रकाश है इतना यहाँ सिद्ध हुआ। यह अनुभव करने के पश्चात् हि वेदने कहा कि—

वही सब है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२।१)

"(तत् एव अग्निः) वही परमात्मा अग्नि, (तत् एव आदित्यः) आदित्य, (तत् उ चन्द्रमाः) चन्द्रमा है, वही (तत् वायुः) परमात्मा वायु है, (ताः आपः) वही (परमात्मा) आप् है, वही (परमात्मा) प्रजापालन करनेवाला है, (सः प्रजापतिः) वही प्रजापति है, वही परमात्मा (शुक्रं) शुद्ध पवित्र बल, या वीर्य है और उसी को ब्रह्म या ज्ञानस्वरूप कहते हैं।"

अथवा इसका दूसरा अर्थ यह है-

(अग्निः तत् एव) अग्नि वही परमात्मा है, (आदित्यः तत् एव) आदित्य वही परमात्मा है, (चन्द्रमाः तत् एव) चन्द्रमा वही परमात्मा है, (वायुः तत् एव) वायु भी वही परमात्मा है, (आपः ताः एव) जल भी वही है, (प्रजापतिः सः) प्रजापति-प्रजापालन करनेवाला भी वही है, (शुक्रं तत् एव) पवित्र बल वीर्य भी वही परमात्मा है, ब्रह्म (ज्ञानरूप) भी वही परमात्मा है।

तत् एव अग्निः। (वही अग्नि है)
अग्निः तत् एव। (अग्नि वह ही है)

इन दो प्रकार के अर्थों का तात्पर्य एक ही है। इसके पूर्व बताया गया है कि अग्नि-दीप-विद्युत्-सूर्य-चन्द्र का प्रकाश परमात्मा के प्रकाश से ही हो रहा है, परमात्मा का ही सच्चा प्रकाश है। वह परमात्मा का सच्चा प्रकाश न मिला, तो न सूर्य प्रकाशित हो सकेगा और न अग्नि आदि पदार्थ। इसलिए जिसका निज प्रकाश है वही सच्चा अग्नि, वही सच्चा सूर्य, वही सच्चा चन्द्रमा है, यह बात स्पष्ट ही है। इसी दृष्टिसे (तत् एव अग्निः) वह ब्रह्म ही अग्नि है, (तत् आदित्यः) वह ब्रह्म ही आदित्य-सूर्य है, (तत् उ चन्द्रमाः) वह ही निश्चय से चन्द्रमा है, इस तरह उक्त मन्त्र में कहा है। यदि यह सत्य है और यदि इस मन्त्र का आशय यही है, तब तो यह भी निःसन्देह सत्य है कि (अग्निः तत् एव) अग्नि वही ब्रह्म है, (आदित्यः तत् एव) सूर्य भी वही ब्रह्म है और (चन्द्रमाः तत् एव) चन्द्रमा भी वही है।

यहां का 'तत्' शब्द ब्रह्म का वाचक है, अतः नंपुसक लिंग में पडा है। सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों का प्रकाश और चमकाहट ब्रह्म के प्रकाश से होती है, इसमें अब किसी को सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि-

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (श्वे० उ०)

उस ब्रह्म के प्रकाश से ही यह सब विश्व चमक उठता है, यह ऋषियों का वैदिक सिद्धान्त सर्वमान्य ही है। और यही वेदका मुख्य सिद्धान्त है। इसको माननेपर ही उक्त मन्त्र का आशय ध्यान में आ सकता है, अन्यथा उस मन्त्र का आशय समझना असंभव है।

राजा और ओहदेदार।

यहाँ एक उदाहरण लेते हैं। प्रत्येक राज्यशासन में हर एक ओहदेदार-अफसर-अधिकारी राजाकी सत्ता लेकर हि उस स्थान में कार्य करते हैं। सिपाही से लेकर महामन्त्री तक के सब अधिकारी राजाकी शक्तिसे शक्तिमान् बने होते हैं। यह तत्व तो सब ही जानते हैं। राजा जिसको उस अधिकारके स्थानपर नियुक्त करता है और जब अपनी शक्ति उसे प्रदान करता है, तब वह उस स्थान का कार्य करता है। कोई मनुष्य कितना भी विद्वान् क्यों न हो, जब तक राजाकी शक्ति उसको प्राप्त नहीं होती तब तक वह किसी राज्यशासन का अंग बन कर कार्य करने में असमर्थ ही रहेगा। ऐसी अवस्था में यदि कोई कहे कि राजा ही महामन्त्री, दीवान, प्रधान, तहसीलदार, लेखक और चपरासी के रूप में कार्य कर रहा है, तो वह जैसा सत्य है, वैसा ही यदि कोई कहे कि 'चपरासी, लेखक, तहसीलदार, थानेदार, तालुकदार, मन्त्री, प्रधान आदि राजा ही है, क्योंकि राजाकी शक्ति लेकर हि ये अधिकारी बने हैं, निज शक्ति से नहीं,' तो वह भी सत्य ही है। ये लोग

राजासे शक्ति प्राप्त करते हैं, राजा उनको अपनी शक्ति देता है और ये उस शक्ति से शक्तिमान् होकर कार्य करते हैं।

इसी तरह अग्नि सूर्य चन्द्र ये भी ईश्वर के विश्वरूपी महाराज्य के अधिकारी हैं, वे भी ईश्वर से प्रकाशादि अनेक शक्तियां प्राप्त करके ही अपने अपने स्थान का कार्य करने के लिये नियुक्त हुए हैं, अतः अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा परमेश्वर ही है, अथवा ब्रह्म ही अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा है ऐसा कहा तो भी वह सब प्रकार से सत्य ही है।

यहां तक हम मानते आये हैं कि अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा-रूपी पर्देके पीछे परमेश्वर है और उसका प्रकाश अग्नि आदिकों में से आकर हमें अग्न्यादिकों के विभिन्न प्रकाश प्राप्त होते हैं। यह तो हम इस समय तक लिखते और मानते आये हैं, पर पाठक यहां देखें कि उक्त वेद-मन्त्रने वह परदा भी हटा दिया है। इस मन्त्र की भाषा परदा रख कर कही नहीं है। (अग्निः तत् एव) अग्नि वही ब्रह्म है, (आदित्यः तत् एव) सूर्य भी वही है और (तत् उ चन्द्रमाः) वही चन्द्रमा है। बीचमें परदा नहीं। यदि परमात्मा के प्रकाश से ही अग्नि आदि प्रकाशते हैं, और अपने निज प्रकाश से प्रकाशने की शक्ति उनमें नहीं है, तब तो अग्नि-सूर्य आदि वही है ऐसा कहने में भय किसका है?

वेद का स्पष्ट अर्थ मानने के लिये यदि किसी को भय लगता होगा, तो वह वैदिक धर्मी नहीं रहेगा। वेद तो कहता ही है कि—

तेजोऽसि।
अग्निः तत् एव।

हे ईश्वर! तू तेजस्वरूप हो, तेज देनेवाला अग्नि वही है। है ना यह स्पष्ट अर्थ, तो वैसा मानकर वैसा ही विश्वमें अनुभव करनेका यत्न करिये। यही ईश्वरसाक्षात्कार का मार्ग है।

इस समय तक हमने तेजस्तत्त्व का ही विचार किया। परन्तु इस मन्त्रने तो तेजस्तत्त्व की मर्यादा तोडकर आप् और वायु तत्त्व भी वही परमात्मा है ऐसा कहा है। देखिये—

जल और वायु।

वायुः तत् एव (तत् एव वायुः)।
आपः ता एव (ताः एव आपः)।

इस मन्त्र में जो चन्द्रमा है वह भी जलतत्त्वकी देवता है और जो शुक्र है, यदि इसका अर्थ (वीर्य, प्रजनन करनेवाला) माना जाय तब तो वह जलतत्त्वका ही है (देखो ऐतरेय उपनिषद्)। तथापि हम यहां के प्रतिपादन की सुगमता के लिये इन दोनों को छोड देते हैं और केवल वायु और जल का ही विचार करते हैं।

जल में शीतता है, वायु में रूक्षता है और अग्नि में दाहकता है। यदि ऊपर लिखी अग्नि के विषय की बातें सत्य हैं तो वही बातें जल और वायु के विषय में समझी जा सकती हैं। परमेश्वर में जो अप्रतिम शान्ति और शीतलता है उसमें से थोडीसी शीतलता लेकर जल विश्वमें अवतीर्ण हुआ है। यह उसकी निज शक्ति नहीं है। सच्ची शांति न तो चन्द्रमा में है और ना ही जलमें ही है। सच्ची शान्ति तो एकमेव परमात्मा में ही है। उसका अंश जल में आया है वैसा ही चन्द्रमा में भी गया है। अतः जल के रूप में परमेश्वर की शीतलता अवतीर्ण हुई है। जैसा अग्नि में प्रकाशगुण अवतीर्ण हुआ है, वैसाही जल में शान्त गुण अवतीर्ण हुआ है। ठीक वैसाही वायु का बल, रूक्षत्व, गतिमत्त्व ये सब गुण ईश्वर से ही आये हैं। इसी कारण केन उपनिषद् की गाथा सार्थ होती है कि वायु से ब्रह्मने अपनी शक्ति वापस ली, तब वायु एक तिनके को भी उडा नहीं सकी (केन उ० ४)! क्या परमात्मा ने अपनी शक्ति वापस ली तो जल शान्ति और तृप्ति कर सकेगा? कदापि नहीं। केनोपनिषद् में तो अग्नि और वायु का गर्व हरण होने की कथा कही है, पर वह कथा जल, अग्नि, वायु पर समानरूप से घटती है। और जो कथा उक्त तीनों तत्त्वोंपर घट सकती है क्या वह पृथ्वी-आप-तेज-वायु-आकाश पर नहीं घट सकेगी? अवश्य अवश्य घटेगी। इसीलिये पंचभूतों के गुणधर्म तब तक ही पंचभूतों में कार्य करेंगे, जबतक उन में परमात्मा की शक्ति कार्य करेगी।

ईश्वर की शान्त तनु ।

वा० यजुर्वेद अ० १६ में रुद्रवाचक नामोंमें "स्रुत्य, कुल्य, सरस्य, नादेय, वैशन्त, कूप्य, वर्ष्य" ये नाम जलवाचक हैं, नदी कूप तालाव में रहनेवाला जलरूपी रुद्र परमेश्वर है, क्योंकि ईश्वर की शान्त तनु जलमें अवतीर्ण हुई है और क्रूर तनु अग्निमें अवतीर्ण हुई है।

इतने विवरणसे पाठकों को पता चलेगा कि जिस प्रकार अग्नि सूर्य आदि ईश्वरशक्ति के रूप हैं, उसी तरह जल और चन्द्रमा ये भी उसी की शक्ति के रूप हैं। क्योंकि उसी की शक्ति से सब शक्तिमान् हुए हैं ।

यद्यपि उक्त मंत्र में पञ्चमहाभूतोंमें से 'आप्, अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा' के नाम आ गये हैं, तथापि पृथ्वी और आकाश का अन्तर्भाव उसमें नहीं लिया जायगा, ऐसी बात नहीं। और यदि लिया जायगा, तब तो उक्त पांचों महाभूत उसीकी शक्ति से सामर्थ्ययुक्त बने हैं। इसीलिए कह सकते हैं कि जो कार्य पंचमहाभूतों से हो रहा है वह उसीकी शक्ति से हो रहा है, अर्थात् जैसा (अग्निः तत् एव) अग्नि वही है वैसी ही (पृथ्वी तत् एव) पृथ्वी भी वही है और आप वायु आकाश भी वही है।

शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति ।

उक्त मंत्र के 'शुक्र, ब्रह्म, प्रजापति' ये शब्द अवशेष रहते हैं। इनका अर्थ निश्चित करना चाहिये। 'शुक्र' शब्द का अर्थ 'बल, पावित्र्य, शुचित्व, वीर्य' है। बलका रूप ईश्वर का है, इस विषयमें पूर्वलेख में 'बलमसि बलं मयि धेहि' की व्याख्या करते हुए पर्याप्त कहाही है। पवित्रता, ओज आदि अर्थों के विषयमें भी वही बात है। हम इस शब्द का अर्थ 'वीर्य' लेते हैं और यह वीर्य परमेश्वर का रूप है ऐसा मानते हैं, क्योंकि—

तत् एव शुक्रं । (शुक्रं तत् एव)

ऐसा ऊपर वाले मंत्रमें कहा है। जिस वीर्यमें संतति उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है, एकही संतान नहीं अपितु उनकी खानदानमें जितना वंश होनेवाला होगा, वह सब उत्पन्न करनेका सामर्थ्य वीर्यबिन्दुमें है। इस सामर्थ्य का अंदाजा कौन लगा सकता है? इसलिए अनंत शक्तिवाला वीर्य निःसंदेह ईश्वरकी शक्तिका प्रत्यक्ष रूप है।

इस सम्बन्ध का वर्णन आगे बहुत होनेवाला है, अतः इस स्थानपर हम अधिक नहीं लिखेंगे। इसका सम्बन्ध वेद के अनेक मंत्रोंके साथ है, अतः उन सबका वर्णन हम आगे एक दो लेखोंमें करेंगे।

इसके आगे कहा है कि (तत् ब्रह्म) वह ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द के कई अर्थ हैं, उनमें 'ज्ञान, जीवन, जल और ब्रह्म' ये यहां देखनेसे ही हमारा कार्य चल सकता है। ज्ञान ईश्वर का रूप है, यह तो प्रसिद्ध ही बात है। 'चित्' आत्मा का अपना स्वरूप ही है, क्योंकि 'सत्-चित्-आनन्द' रूप ही आत्मा है।

ज्ञानं ज्ञानवतामस्मि। (भ० गी०)

'ज्ञानियोंका ज्ञान ईश्वरका रूप है' यह भगवद्गीता का कथन इसी आधारपर अधिष्ठित है। जहां ज्ञान है वहां ज्ञान के रूप से परमेश्वर का अवतार हुआ है। परमेश्वर ज्ञानरूप है इसीलिए उसकी उपासना से ज्ञान बढता है। इस तरह इस मंत्र के सब पदों का आशय देखा। अब इस मंत्र का एक ही पद रहता है, वह है 'प्रजापति' इसका अर्थ क्या है? इसका 'प्रजापालन करनेवाला' यह अर्थ प्रसिद्ध है। प्रजा का पालन करनेवाला राजा होता है, अतः यदि प्रजापति का अर्थ राजा लिया जायगा, और—

सः प्रजापतिः । (प्रजापतिः सः)

'प्रजापति ही उस ईश्वर का रूप है' ऐसा इसका अर्थ होगा और ऐसा अर्थ करनेपर 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' यह पुराणों के कथन के लिए यह एक वेद का आधार मिलेगा।

भगवद्गीता में कहा है कि-
नराणां च नराधिपम्। (भ० गी० १०।२७)

'मनुष्यों में नरोंका अधिपति ईश्वर का रूप है।' यह भगवद्गीता का कथन प्रजापति शब्द के इस अर्थ के साथ संगत होता है। भगवद्गीता तो केवल राजा को ही ईश्वर का रूप मानती है ऐसा नहीं है। देखिये—

पाण्डवानां धनञ्जयः। १०।३७
देवर्षीणां नारदः। १०।२६
सिद्धानां कपिलो मुनिः। १०।२६
मुनीनामप्यहं व्यासः। १०।३७

अर्थात् 'पाण्डवों में धनंजय, देवर्षियों में नारद, सिद्धों में कपिल मुनि, मुनियों में व्यास' ईश्वर की विभूति है। इस तरह भगवद्गीता तो विशेष तेजस्वी विभूतियों को ईश्वर का रूप मानती है। तथा—

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि । ७।१०
ज्ञानं ज्ञानवतामहम् । १०।३८
तपश्चास्मि तपस्विषु ७।९
व्यवसायोऽस्मि । १०।३७
सर्वभूतानां बीजं तदहम् । १०।३९

बुद्धिमानों की बुद्धि, ज्ञानियों का ज्ञान, तपस्वियों का तप, व्यवसायियों का व्यवसाय, सब भूतोंका बीज अर्थात् वीर्य ईश्वर का रूप है। इस तरह राजा के अतिरिक्त अनेक मानवों में ईश्वर के स्वरूप का अवतार होनेकी संभावना भगवद्गीता मानती है। क्या यह वेदको संमत है वा नहीं इसका विचार करना चाहिये। वा० यजुर्वेद अ० १६ में रुद्रसंज्ञक ईश्वर की अनेक विभूतियाँ कहीं हैं, जिन में ये मानवी विभूतियाँ कहीं हैं—

'मंत्री, गृत्स, पुलस्ती, वृद्ध, सभापति, सभा, शूर, सेनानी, पथीनां पति, पत्तीनां पति, वनानां पति, क्षेत्राणां पति, व्रातपति, रथकार, धनुष्कृत्, इषुकृत्, क्षत्ता, कर्मार, कुलाल, सूत, उष्णीषी, परिचर, तस्कराणां पति, मुष्णतां पति, स्तायूनां पति, स्तेनानां पति, नक्तंचर, वाणिज।' (यजु० १६)

'राजाका मंत्री, गृत्स ऋषि, पुलस्ती ऋषि, बुड्ढा, सभापति, सभा, शूरवीर, सेनापति, सेनाका अधिपति, वनोंका रक्षक, खेतोंका रक्षक, समूहका रक्षक, रथ बनानेवाला, तर्खाण, बढई, धनुष्य बनानेवाला, बाण बनानेवाला, लुहार, यंत्रकर्ता, कुलाल, सारथी, पगडी धारण करनेवाला, नौकर, चोर लुटेरोंका मुखिया, रात्रीके समय घूमनेवाला, बनिया' आदि ये सब रुद्र देवताके अर्थात् ईश्वरके रूप हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका कथन इस यजुर्वेदके कथन के साथ मिलाया जाय तो दोनोंका मेल हो सकता है। अर्थात् मनुष्यों में भी कई श्रेष्ठ या विशेष प्रकार के मनुष्य ईश्वर के रूप हैं। यदि इस यजुर्वेद का यही सत्य अर्थ है तब तो प्रजापति शब्द से ज्ञात होनेवाले राजा तथा राजपुरुष जो प्रजापालन के कार्य में नियुक्त हैं, वे सबके सब ईश्वर के रूप हैं। प्रजापति का अर्थ राजा और राजपुरुष दोनों है।

परन्तु हम इस मंत्र के इस अर्थ के विषय में यहां कुछ भी विशेष कहना नहीं चाहते। क्योंकि यह विषय इतना गंभीर है कि इसका अनेक पहलुओंसे विचार होना चाहिये जो इस लेखमें इस समय नहीं हो सकता। परन्तु यहां के मंत्र के 'शुक्र' शब्द का अर्थ यदि 'वीर्य' मानना पडेगा तो उसका सम्बन्ध मानवों से भी जोडा जा सकता है, और यदि वैसा सम्बन्ध माना गया, तो 'प्रजापति' पद का अर्थ 'राजा और राजपुरुष' होना सम्भव है।

प्रजापति का अर्थ 'स्तनयित्नु मेघ' है तथा अन्य भी अर्थ हैं।

१ प्रजापतिः संवत्सरः। श. ब्रा. १४।४।३।२२
२ यज्ञो वै प्रजापतिः। तै. ३।३।७।३. श. १।१।१।१३
३ प्राणो वै प्रजापतिः। श. ८।४।१।४
४ अन्नं वै प्रजापतिः। श. ५।१।३।७
५ प्रजापतिर्ह्यात्मा। श. ६।२।२।१२
६ पुरुषः प्रजापतिः। श. ६।२।१।२३
७ प्रजननं प्रजापतिः। श. ५।१।३।१०
८ प्रजापतिर्वै क्षत्रम्। श. ८।२।३।११
९ प्रजापतिरेव सर्वम्। कौ. ६।१५

इस तरह प्रजापति शब्द "संवत्सर (काल), यज्ञ, प्राण, अन्न, आत्मा, प्रजननका बल, क्षात्र (पराक्रम), सब कुछ" इतने अर्थ और इससे भी अधिक अर्थ बताता है। इन सब अर्थों का विचार यहां करने की आवश्यकता नहीं है। यहां इन अर्थों से एक बात सिद्ध हुई कि अन्न, प्रजनन ये भी प्रजापति के रूप हैं, और अन्त में 'सर्व' प्रजापति है, इस में सब कुछ आ गया। यदि सब प्रजापति है तो उस में राजा और राजपुरुष भी आ गये हैं।

हम यहां किसी पद के अनेक अर्थ लेनेके इच्छुक नहीं हैं। प्रायः एक पद का एक मन्त्र में एक ही अर्थ होना चाहिये। इस अर्थका निश्चय हम आगे करेंगे। यहां तो एक और अनेक अर्थ लेनेपर भी पूर्वोक्त आशय में भिन्नता नहीं हो सकती यही बताना है। क्योंकि 'क्षत्र' शक्ति को

प्रजापति कहा है और वही राजा में होती है, इसलिये इन दोनों अर्थों की संगति राजामें चरितार्थ हुई। इसी तरह अन्य अर्थ भी संगति लगाकर देखने योग्य हैं।

अस्तु। इतने विवरणसे यह स्पष्ट हुआ कि "अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, जल, ब्रह्म और प्रजापति" ये सब ईश्वर के ही रूप हैं। यहां इनके पीछे ईश्वर है यह वेद नहीं कहता, परन्तु अग्नि आदित्य चन्द्रमा ही ईश्वरके रूप हैं, (तत् एव अग्निः आदित्यः, चन्द्रमाः) पाठक इसका विचार करें और जैसा वेद कहता है वैसाही मानने के लिये अपने मनकी तैयारी करें। परमात्मा का साक्षात्कार वेदकी रीतिके अनुसार करना हो तो वेद जैसा कहता है वैसाही मान कर चलना चाहिये और वेद के अनुसार हि अपना तर्क या अपनी बुद्धि चलानी चाहिये। अपनी बुद्धि के अनुसार वेद को खींचना नहीं चाहिये।

आजकल लोग ऐसा करते हैं कि वेदका मन्त्र कहता है कि (अग्निः तत् एव) अग्नि ब्रह्म ही है। यह तो वेद का संदेश है। पर हमें पता है कि यह हवन में प्रदीप्त किया हुआ अग्नि तो हमने अभी प्रदीप्त किया है, वह ईश्वर कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका करके उक्त अर्थकी खींचातानी करके दूसरा ही इसका आशय बताने का यत्न करते हैं। परन्तु यदि वेद परमात्माका शब्द है, तब तो उसको मानकरहि चलना चाहिये। उसको बिगाडना मनुष्य को योग्य नहीं है। और वैसा दुराग्रह के साथ करना मनुष्य के लिये लाभप्रद कभी नहीं हो सकता। अब देखिये 'तत् एव अग्निः' का अर्थ कैसा किया गया है—

(वेद) १ तदेवाग्निः। वा० यजु० ३२।१

(ब्राह्मण) २ आत्मैवाग्निः। श० ब्रा० ६।८।१।२०; १०।१।२।४

आत्मा वा अग्निः। श० ७।३।१।२

अग्निरेव ब्रह्म। श० १०।४।१।५

ब्रह्म वा अग्निः। श० २।५।४।८

(उपनिषद्) ३ एतद्वै ब्रह्म दीप्यते, यदग्निर्ज्वलति॥ (कौ० उ० २।१२)

(उवट) ४ तदेवाग्निः। विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टाग्न्यादिषु ओतप्रोतत्वेन उपास्योऽभिधीयते।

(महीधर) ५ अग्निः तदेव, कारणं ब्रह्मैव।

(श्री स्वा० दयानन्द तथा जयदेव शर्मा) ६ (तत्) वह सर्वत्र सर्वव्यापक सनातन अनादि सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त न्यायकारी दयालु जगत्स्रष्टा जगत्हर्ता जगन्नियन्ता अन्तर्यामी परमेश्वर (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप स्वयं प्रकाशित होनेसे 'अग्नि' है।

(ज्वालाप्रसाद मिश्र) ७ (अग्निः) अग्नि (तत्) वह (एव) ही है अर्थात् कारण ब्रह्म है।

८ (M. Girphith) Agni is that (that). तत् the supreme self.

यजुर्वेद के एक मन्त्रभाग का अर्थ शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद्, उवट, महीधर, स्वा० दयानन्द, पं० जयदेवशर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र, मि० ग्रिफिथ इन सब लोगोंने कैसा किया है, वह यहां देखने योग्य है। सबका आशय प्रायः एक जैसा ही है। अग्नि ब्रह्म है अथवा ब्रह्म ही अग्नि है इ०। ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर स्वयंप्रकाश होनेसे अग्नि है। और इस अग्नि का अग्निपन भी उसी के मूल प्रकाश से सिद्ध होनेवाला है, यह बात यहां सिद्ध हुई। इसी तरह आदित्य चन्द्रमा के विषय में पाठक जान सकते हैं।

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलति। कौ० २।१२

'जो अग्नि जलती है वह ब्रह्म ही प्रकाशित होता है' ऐसा उपनिषदों में जो कहा है उससे सब अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जैसा अग्नि ब्रह्म है, वैसा ही आदित्य आदि भी ब्रह्म हैं।

इस तरह ईश्वर का साक्षात्कार करने के विषय में वेद के आदेश हैं। अग्नि, दीप, विद्युत, सूर्य, चन्द्रमा ये प्रकाशवाले देव, आप, जल, मेघ, नद नदी, समुद्र आदि आप् तत्ववाले शीतलता देनेवाले देव, वायु, धूम, गैस आदि वायुरूप पदार्थ, पृथ्वी पत्थर रेत आदि पदार्थ, वीर्य, ब्रह्म, ज्ञान, प्रजनन आदि पदार्थ, प्रजापति, राजा, राजपुरुष,

मन्त्री, वणिक् आदि मानव ये सब परमेश्वर की शक्तिसे कार्य करनेवाले हैं, इसलिये, ये ईश्वर के रूप हैं। इनके पीछे परमेश्वर है और वह अपनी शक्ति इनमें रखता है और इनको सामर्थ्य देता है, अतः इनके अन्दर परमेश्वरका कार्य देखकर वहां परमेश्वरका साक्षात्कार करना चाहिये।

यह साक्षात्कार की दूसरी सीढी है।

इस सीढीपर आरूढ होनेपर भी प्रत्यक्ष ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता, क्योंकि अन्तर्यामी रूपसे इनमें वह है ऐसा मानना पडता है। अतः हमें आगेके लेखोंमें देखना चाहिये कि दोपहरके सूर्य के समान जो ईश्वर का दर्शन होनेवाला है वह कैसे होगा ?

अग्नि सूर्य आदि के अन्तर्यामी को तो हम मानते ही हैं, पर यहां जो कहा है कि अग्नि सूर्य आदि प्रत्यक्ष ब्रह्मके रूप हैं, उनका भी आशय समझमें नहीं आया। अतः इस का विचार आगामी लेख में करेंगे।

दैवत-संहिता

के

मुद्रण की तैयारी हो रही है।

वेदों की सब संहिताओं का मुद्रण स्वाध्याय-मण्डल में हो रहा है। ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद की संहिताएं छप चुकी हैं। प्रत्येक शाखा की जो अनेक संहिताएं उपलब्ध होती हैं, उन सबका क्रमशः मुद्रण होना है। शाखा उपशाखा की संहिताएं मिलकर बडाभारी संहिता संग्रह हो जायगा। इसका अध्ययन करना बडाही कठिन कार्य है। इसके लिए क्या उपाय किया जावे, इस आवश्यक विषयपर हमने कई वर्ष सोचा और अन्त में निश्चय किया कि यदि इन सब संहिताओं के मंत्र संग्रह की एक 'दैवत-संहिता' बनायी जावे और उसमें से पुनरुक्त सूक्त तथा मंत्र हटाए जावे, तो वह 'दैवत-संहिता' बहुत बडी नहीं होगी और हरएक के पाठके लिए सरल भी हो जायगी।

दैवत-संहिता का स्वरूप।

दैवत संहिता का स्वरूप क्या होगा, यह यहां कहना अत्यंत आवश्यक है। प्रथमतः पाठक यह समझें की वेद की संपूर्ण संहिताओं में जो ज्ञान दिया है वह देवता के वर्णन के द्वारा हि दिया है। प्रत्येक सूक्त का और प्रत्येक मन्त्र का कोई एक देवता निश्चित होता है और उस देवता के वर्णन से वेद ज्ञान देता है। संपूर्ण संहिताओं में यही पद्धति है। जैसा औषधि सूक्तों में दवाओं का वर्णन है, इन्द्र सूक्तों में क्षत्रियों के लिए उपदेश है, ब्रह्मणस्पति सूक्तों में ब्राह्मणों के लिए उपदेश है इत्यादि प्रकार स्थूल रीति से पाठक समझ सकते हैं।

यस्य वाक्यं स ऋषिः।
या तेन उच्यते सा देवता॥

जिसका जो वाक्य होता है वह उसका ऋषि है, और (तेन) उस ऋषिने जिस शब्द द्वारा उस देवता का (उच्यते) उच्चारण-वर्णन-किया होता है, वह उस मंत्र का देवता है अर्थात् देवता मन्त्र में प्रायः (उच्यते) उक्त ही होता है, इसलिए सूक्तों और मंत्रों को देखने से उन में ऋषिद्वारा उक्त देवता का पता सत्वर लग सकता है। मंत्र में या सूक्त में देवता ऋषिद्वारा उक्त (उच्यते) होता है। जिसने वेदमन्त्र सबसे प्रथम उच्चारे उसीने देवता वाचक पद का भी उच्चार उसी समय किया है।

मानवधर्म का उपदेश।

इन देवताओं के वर्णन से वेद मनुष्यों को मानव धर्म का उपदेश देता है। वेद से मानवधर्म जानने की यही प्राचीन परिपाटी है। यह परिपाटी अति सुगम और अति सरल है और यदि इस परिपाटी के अनुसार वेद पढे जायगे, तो मनुष्य को वेद के धर्म का ज्ञान सुगमता के साथ हो सकता है।

आज कल अज्ञानी लोगोंने अनेक दिवारें खडीं कर के वेद को अतिदुर्गम और दुर्बोध बनाया है। ये सब अडचनें दूर करनी चाहिए और वेद को शुद्ध रूप में ही पढना चाहिए। ऐसा होने से साधारण संस्कृत जाननेवाला भी वेद को अच्छी तरह पढ सकेगा और समझ सकेगा और अपना कर्तव्य जान सकेगा।

आप किसी वेद की संहिता खोलकर देखिये, उसमें अग्नि आदि देवताओं के मंत्र इधर उधर बिखरे हुए आपको मिलेंगे। थोडेसे सूक्त प्रथम मण्डलमें और वैसेही अन्य मण्डलों में बिखरे हुए हैं और अन्यान्य संहिताओं में भी वैसे ही बिखरे पडे हैं। अतः अग्नि के विषय में या इन्द्रके विषय में क्या क्या ज्ञान वेद देता है, वह पूर्ण रूपसे पाठकों के संमुख आताही नहीं। सामान्य पाठक बिखरे हुए सूक्तोंका अनुसन्धान कर नहीं सकते और ठीक तरह अनुसन्धान न होने से मानव धर्म को वेदसे जान भी नहीं सकते।

देवतावार मंत्रसंग्रह का महत्त्व।

देवता के वर्णन के मिषसे वेद मानव धर्म का ज्ञान देता है, यह सत्य है। और देवताओं के मन्त्र वेद की विविध संहिताओं में बिखरे पडे हैं यह भी सत्य ही है। ये दोनों सत्य बातें संमुख रखने से हर कोई अतिशीघ्र यही कहेगा कि ये बिखरे मन्त्र देवताओं के शीर्षक के नीचे एकत्रित और संग्रहित किये जांयगे और अग्निके, इन्द्रके, सूर्यके, मित्रावरुणौके मन्त्र उस उस देवताके प्रकरण में यथास्थान संग्रहित किये जांयगे और इनका इकट्ठा विचार हो जायगा तो वैदिक धर्म का ज्ञान शीघ्र हो जायगा।

यही बात जो सरल से सरल है और जो इस समय तक किसीने नहीं की, वह हम वैदिक धर्म की सुबोधता के लिए करना चाहते हैं। हमने सब वेद की संहिताओं के मंत्र अग्नि इंद्र आदि देवताओंके प्रकरणानुसार व्यवस्था के साथ, संग्रहित किये हैं। इसीका नाम 'दैवतसंहिता' है। इस पुस्तक में अग्नि के सब मंत्र एक प्रकरण में, इन्द्र के मंत्र दूसरे प्रकरण में, वायु के तीसरे प्रकरण में इस तरह प्रकरणशः मिलेंगे।

इस तरह देवतानुसार मंत्रसंग्रह करने से एक एक विद्वान् एक एक देवता के मंत्रों का मनन बिना आयास कर सकता है और संगति लगा सकता है और मानवधर्म का बोध जान सकता है। वेदमन्त्रों का सत्य अर्थ जानने की यह सरल से सरल रीति है।

यह संग्रह करने के समय जो सूक्तों का क्रम चारों वेदों में है, वही हमने रखा है, अर्थात् ऋग्वेद में जिस क्रम से अग्निमंत्र आए हैं, उसी क्रमसे यहां रखे हैं, तत्पश्चात् अन्य वेदों के रखे हैं। जो पुनरुक्त सूक्त और मंत्र हैं, वे हटा दिये हैं और उनका पता स्थान स्थानपर दिया है कि यहां यह पुनरुक्त मंत्र था। क्योंकि वह पहिले आया होता है। उस पहिले स्थान का पता वहां दिया है।

कुल मंत्रसंख्या।

ऋग्वेद के ११००० कुल मंत्र; यजुर्वेद से (६०० पुनरुक्त हटाकर शेष) १२०० मंत्र, सामवेद के (१७०० पुनरुक्त मंत्र हटाकर) ७५ मंत्र, अथर्ववेद के (२००० पुनरुक्त मंत्र हटाकर) ४००० मंत्र तथा अन्य संहिताओंके कुछ मंत्र मिलकर करीब बीस हजार मंत्र होते हैं। ठीक ठीक मंत्रसंख्या छपनेपर विदित होगी। परन्तु वह १६००० से कम नहीं होगी और २०००० से अधिक नहीं होगी, ऐसा हमारा ख्याल है।

दान।

इसका मुद्रण अब शुरू करना है। अजमेरनिवासी श्री० पं० नाथूराम शर्माजी पेन्शनर ने इस शुभ कार्य के लिए २०००) दो सहस्र रु० का दान दिया है। जिससे कार्य शुरू हो रहा है। जहांतक हो, वहां तक प्रयत्न करके इसका मुद्रण अति शीघ्र करना है। इस मुद्रण के विषय में निम्नलिखित नियम निर्धारित किये हैं और ये आपके पास विचारार्थ और आपकी संमति प्राप्त करने के लिए भेजे जाते हैं।

दैवतसंहिता की बनावट।

(१) इस दैवत-संहिता को प्रथमवार स्वरों के विनाहि मुद्रित करने का निश्चय किया है। इसका कारण यह है कि हरएक मनुष्य स्वरोच्चारण स्वरचिह्न रहनेपर भी यथोचित रीति से नहीं कर सकता। गुरुपरंपरा से ही इन स्वरों का उच्चारण सीखा जाय तो वह ठीक उच्चारण हो सकता है, इसलिए मंत्रों के ऊपर नीचे स्वरचिह्न लगानेपर भी उनका किसी को मन्त्रोच्चारण के लिए उचित उपयोग नहीं हो सकता। केवल स्वरचिह्नों को देखकर हि कोई मनुष्य वेदमन्त्रों के उदात्त, अनुदात्त, स्वरितादि स्वरोंका उच्चारण ठीक ठीक कर सकेगा, यह बात सर्वथा असंभव है।

अर्थ-ज्ञान के लिये क्वचित् स्थानपर स्वरोंका उपयोग होता है, परन्तु ऐसे स्थान बहुत ही थोडे हैं और जहाँ ऐसा अर्थ का संदेह होगा, वहां स्वरसहित संहिता और स्वरसहित पदपाठ छपा है, उससे उस शंकाका निरसन हो सकता है। अतः इस दैवतसंहिता में किसी भी वेदके स्वरचिह्न न रहे, तो कोई हानि नहीं होगी। और आगे उनकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तो दूसरी वारके मुद्रण के समय वे सब स्वरचिह्न दिये जा सकते हैं। अतः प्रथम बार का यह ग्रंथ बिना स्वरहि मुद्रण करनेका संकल्प किया है।

(२) इस में देवतानिर्देश के शब्द बडे अक्षरोंमें छापे है, जिससे उस मन्त्र में आये देवता का ज्ञान होगा और वेदोक्त देवता का ज्ञान सहज हो से होगा। सूक्तकी देवता और मन्त्रान्तर्गत निपातित देवता भी इसी स्थूलाक्षरोंसे ज्ञात होगा। मन्त्रमें जो ऋषिवाचक शब्द आते हैं, उनके बोधार्थ ... ऐसा चिह्न उस पदके नीचे किया है।

(३) एक ऋषिके नामपर जितने मन्त्र हैं, उतने सब एकत्र ही रखे गये हैं, इस लिये एक वार ऋषिनाम देनेपर उसीका पुनः निर्देश नहीं किया है। जब दूसरा ही ऋषि आ जायगा तब पहिले के मन्त्र समाप्त हुए, ऐसा समझना चाहिये।

(४) देवतावार मंत्रसंग्रह होने के कारण और मंत्र में देवतादर्शक पदको दर्शानेवाला संकेत होने के कारण पुनश्च प्रति सूक्त में देवतानिर्देश नहीं किया है। क्योंकि मंत्र देखते ही पाठकों को देवताज्ञान होगा और मंत्रमें निपातित देवता भी उसी तरह ज्ञात होंगे। इसलिए सूक्तपर देवता दर्शाने का प्रयोजन ही नहीं है।

(५) प्रत्येक सूक्त के ऋग्वेद के तथा अन्य वेदों के आवश्यक पते यथा स्थान दिये हैं, पाठभेद नीचे टिप्पणी में दर्शाये हैं, पुनरुक्त मंत्रभाग के पते भी दिये हैं। इससे पाठक इन मंत्रोंको आवश्यकता होने पर मूल संहिताओं में देख सकते हैं और स्वरादि विवरण वहाँसे जान सकते हैं।

(६) जो मंत्र ऋग्वेदमें आते हैं, उनका मूल ऋग्वेदका पाठहि मुख्य मान कर दिया है और अन्य वेदके पाठभेद नीचे दिये हैं तथा जो अन्य वेदोंके मन्त्र हैं और ऋग्वेदमें नहीं हैं उन के उस उस वेदके पाठ ऊपर दिये हैं और उनके पाठभेद नीचे दिये हैं। इस तरह इस एक दैवतसंहिता को प्राप्त करने से सब संहिताओं को प्राप्त करनेका श्रेय मिल सकता है और इसका ठीक ठीक अर्थ होनेसे सब संहिताओं का अर्थ भी ज्ञात हो सकता है।

(७) सामवेद के मन्त्रों पर जो अङ्क होते हैं, वे केवल ऋग्वेद के उदात्त-अनुदात्त-स्वरित के ही चिह्न हैं, उनका और कोई तात्पर्य नहीं है, इसलिए वे अंक साममन्त्रों पर भी यहां दिये नहीं हैं। जैसे ऋग्वेद-अथर्ववेद के स्वरचिह्न दिये नहीं हैं, वैसे ही साम के स्वरचिह्न भी दिये नहीं हैं। और वा० यजुर्वेद के स्वरचिन्हों के साथ उस वेद के अक्षरोच्चारणके, अनुनासिक आदि के भी अनेक चिह्न हैं, वे सब यहां दिये नहीं जायंगे। क्योंकि ये उसी शाखा के अपने चिह्न हैं और दैवतसंहिता किसी प्रकार भी शाखासंहिता नहीं हो सकती, इसलिए मन्त्रों के शाखा-चिह्न यहां दिये नहीं हैं। और अर्थज्ञान के लिए उनका उपयोग भी नहीं है। इसलिये इस दैवतसंहिता में किसी शाखा के चिह्न देने की आवश्यकता भी नहीं है।

(८) प्रत्येक वेद के परिशिष्ट होते हैं, वे संहिताओं के समान प्राचीन नहीं माने जाते, इसलिये उनका संग्रह इस दैवतसंहिता में नहीं किया है, परन्तु जो मंत्र संहिता में आये हैं, जैसे वालखिल्य कुन्ताप आदि हैं, उनका संग्रह यहां किया है।

(९) यजुर्वेदमें बहुतसा भाग गद्य है, जिसको यजु कहते हैं, उसका यहां संग्रह नहीं किया है। यहां केवल पादबद्ध छन्द मन्त्रों का ही संग्रह किया है। क्योंकि याजुष भाग का यज्ञक्रमानुसार संग्रह करके स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित किया जायगा। याजुष भाग यज्ञप्रक्रिया के ही होते हैं और सब संहिताओंसे उसका अलग संग्रह करना यज्ञ के विचारकों के हित के लिए उचित है, इसलिए उस गद्य-भाग का संग्रह यहां नहीं किया गया है।

(१०) ब्राह्मणों और आरण्यकों में भी ऐसे कई मन्त्र हैं कि जो देवतास्तुतिरूप हैं, परन्तु उनका संग्रह हमने यहां इसलिए नहीं किया कि वे संहिताओं में नहीं अन्तर्भूत हुए हैं। अर्थात् यह केवल संहितान्तर्गत पाद-बद्ध-मन्त्र-भागों का ही संग्रह है।

(११) प्रायः प्रत्येक मन्त्र उसके छन्द के अनुसार पाद का छेद करके ही छापा जायगा। क्योंकि इससे छन्द के विषय में किसी को किसी प्रकार की शंका न रह सकेगी। इसके साथ साथ जहां पदच्छेद होने की सुगमता से संभावना होगी, वहां पदच्छेद भी किया जायगा। जहां देवता का संबोधन होगा, वहां (!) ऐसा चिह्न दिया

जायगा, जहां वाक्य पूर्ण हो रहा होगा वहां (, ; .) ये चिह्न भी दिए जांयगे। जो प्रश्नोत्तररूप या संवादरूप सूक्त होंगे, वहां संवाददर्शक संवादकर्ताके नाम आदि ब्रेकेट में ( ) रखे जांयगे, जिससे सुगमता से अर्थ जानना सहज होगा।

निवेदन।

जिनके पास यह निवेदनपत्र जायगा, वे कृपा करके अपनी संमति लिखकर हमारे पास अति शीघ्र भेजें। एक मास की अवधि में यह कार्य शुरू करना है और ४।५ महिनों में पुस्तक ग्राहकों के पास भेजना ही है। इसलिए अपनी संमति अति शीघ्र हमारे पास आने से उनका विचार छपाई की पद्धति निश्चित करने के समय किया जा सकता है।

यहां इस निवेदनपत्रके साथ **'दैवतसंहिताके नमूना'** पृष्ठ भी रखे हैं जिससे पाठकों को पता लग जायगा कि टाईप, पंक्तिका आकार और मंत्रसूक्तोंकी व्यवस्था किस प्रकार की होगी। इस विषय में किसको कुछ सूचना करनी हो, तो वह शीघ्र ही करे।

२०००० मन्त्रों के लिये एक हजार पृष्ठ लगेंगे, ऐसा अंदाजा हमने किया है। न्यून वा अधिक पृष्ठ होंगे, तो छपाई करनेपर पता लग जायगा। सब वेदोंके इस मंत्र-संग्रह का मूल्य ६) रु० होगा, पर पेशगी मूल्य भेजनेवालोंको हम केवल ३) में ही देंगे। डा० व्य० १) होगा अथवा रेलव्यय ॥) होगा। डा०व्य० तथा प्रेषणव्यय ग्राहकों के जिम्मे होगा। यह एक दैवतसंहिता का पुस्तक लेनेपर सब वेदों के पुस्तक लेनेका श्रेय मिलेगा, क्योंकि सब वेदोंके मंत्रों का संग्रह यहां होगा ही और यहां कोई मंत्र छोडा नहीं जायगा।

संपूर्ण 'वेद'।

मानो यह संपूर्ण 'वेद' ही होगा। जिस मूल वेदराशी के सब शाखाग्रन्थ जगत् में फैले हैं, वही मूल वेदराशी यह होगी। क्योंकि सब वेदों के पादबद्ध मंत्र यहां लियेहि जायंगे। अर्थात् सभी मंत्र यहां देवताप्रकरणानुसार संग्रहित होंगे। अध्ययन के लिये यह सुबोध होगा, पास रखने के लिये छोटासा होगा और मनन करके लिये अतीव सहायक होगा।

हमने प्रथमवार इसके केवल दो हजार पुस्तक छापने का विचार किया है। पेशगी ग्राहक अधिक बने, तो अधिक छापेंगे। इसलिए ग्राहक अपना पेशगी मूल्य भेजकर इसको प्राप्त करें। छपने पर इसका मूल्य बढ जायगा।

देवतावार प्रकरण।

जो ग्राहक देवतावार अलग अलग पुस्तक चाहेंगे, उनके पास प्रत्येक देवता का प्रकरण छपकर तैयार होते ही विना जिल्द भेजा जायगा। जो सब ग्रंथ एक साथ लेना चाहेंगे, उनको यह दैवतसंहिता की पुस्तक सजिल्द दी जायगी।

प्रत्येक देवता के सजिल्द ग्रंथ जो चाहेंगे उनको ॥) आठ आणे प्रति पुस्तक की जिल्द के लिए देने होंगे।

जो पढते समय कुछ विचार उसी पुस्तकपर लिखने के इच्छुक हैं, उनके लिये एक ओर मंत्र और दूसरी ओर कोरा कागज ऐसा एक ओर छपा हुआ पुस्तक दिया जायगा। इस के लिए उनको दो रु० ३) अधिक मूल्य होगा। परन्तु जो सबसे प्रथम ऐसे पुस्तकों की मांग करेंगे, उनको ही ऐसे पुस्तक मिल सकेंगे। क्योंकि जितनी मांग होगी, उतने ही ऐसे पुस्तक हम छापेंगे, अधिक नहीं।

वेदज्ञान सुगमतासे प्राप्त करने के इच्छुक इस पुस्तक के शीघ्र ग्राहक बनकर लाभ उठावेंगे, तो ही उनको यह पुस्तक मिल सकेगा।

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

इन्द्र देवता ।

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । गायत्री ।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो ! सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥४॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥५॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य, आ गहि ॥६॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥७॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।
दधाना इन्द्र ! इद् दुवः ॥८॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥९॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।
पतयन् मन्दयत् सखम् ॥१०॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो ! घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥११॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो! ।
धनानामिन्द्र ! सातये ॥१२॥
यो रायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१३॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१४॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥१५॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमत् वाजेभिरा स नः ॥१६॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१७॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ॥१८॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः ।
इन्द्र ! ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥१९॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र ! गिर्वणः ।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥२०॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो ! ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥२१॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् ।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥२२॥
मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र ! गिर्वणः ।
ईशानो यवया वधम् ॥२३॥

४ (ऋ० १।६।१-३,१०)

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥२४॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥२५॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥२६॥

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि।
इन्द्रं महो वा रजसः ॥२७॥

५ (ऋ० १।७।१-१०)

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहद् इन्द्रमर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥२८॥
इन्द्र! इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥२९॥
इन्द्रो दीर्घाय चक्षस, आ सूर्यं रोहयद् दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥३०॥
इन्द्र! वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च।
उग्र! उग्राभिरूतिभिः ॥३१॥
इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे।
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥३२॥
स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि।
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥३३॥
तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥३४॥
वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥३५॥
य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥३६॥
इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः।
अस्माकमस्तु केवलः ॥३७॥

६ (ऋ० १।८।१-१०)

एन्द्र! सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्।
वर्षिष्ठमूतये भर ॥३८॥
नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै।
त्वोतासो न्यर्वता ॥३९॥
इन्द्र! त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि।
जयेम सं युधि स्पृधः ॥४०॥
वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र! त्वया युजा वयम्।
सासह्याम पृतन्यतः ॥४१॥
महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥४२॥
समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ।
विप्रासो वा धियायवः ॥४३॥
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते।
उर्वीरापो न काकुदः ॥४४॥
एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे ॥४५॥
एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र! मावते।
सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥४६॥
एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या।
इन्द्राय सोमपीतये ॥४७॥

७ (ऋ० १।९।१-१०)

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥४८॥
एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥४९॥
मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे।
सचैषु सवनेष्वा ॥५०॥
असृग्रमिन्द्र! ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
अजोषा वृषभं पतिम् ॥५१॥
सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र! वरेण्यम्।
असदित् ते विभु प्रभु ॥५२॥
अस्मान्त्सु तत्र चोदय इन्द्र! राये रभस्वतः।
तुविद्युम्न यशस्वतः ॥५३॥
सं गोमदिन्द्र! वाजवद् अस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥५४॥
अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्।
इन्द्र! ता रथिनीरिषः ॥५५॥
वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्।
होम गन्तारमूतये ॥५६॥
सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः।
इन्द्राय शूषमर्चति ॥५७॥

वेदमन्त्रोंके उपदेश।

(३)

(लेखक श्री० स्व० पं० रघुनन्दनशर्माजी।)

अब अगले मन्त्र में प्रजा को आश्वासन देने के लिए राजा को आज्ञा दी गई है। राजा कहता है कि—

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे॥ (यजुर्वेद २०।१०)

अर्थात् मैं क्षत्र में, राष्ट्र में, घोड़ों में, गौवों में, अङ्गों में, चित्तों में, प्राणों में, पुष्टि में, द्यौ में, पृथिवी में और यज्ञ में प्रतिष्ठावाला होऊँ। इस मन्त्र में राजा ने बतला दिया है कि मैं ऐसे काम करूँगा, जिससे मेरी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो। अब अगले मन्त्रों में बतलाया जाता है कि राज्य का उत्तम काम चलाने के लिए राजपुरुषों और प्रजापुरुषों की सभाओं की आयोजना होनी चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु (अथर्व० ७।१२।१)
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ (अथर्व० ७।१२।२)

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः। अविस्तस्मात्प्र मुंचति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥१॥ सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन्। आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥२॥ (अथर्व० ३।२९।१-२)

अर्थात् राजा की सभा और समितिरूपी दो लड़कियाँ मेरी रक्षा करें। वे दोनों आपस में मेल रखनेवाली हों, जिससे मैं जिस सभासद के साथ मिलूँ, वह मुझे ज्ञान देवे, अतः हे सभासदों! आप लोग संगतों और सभाओं में ठीक ठीक बोलिए। हे सभा! हम तेरा नाम जानते हैं, अतः जो तेरे सभासद हैं, वे मेरे साथ सत्य वचन बोलनेवाले हों। राष्ट्रपति के जो बड़े बड़े राजे (प्रान्तिक सरकार) सभासद हैं, वे इष्टापूर्त का सोलहवाँ भाग केन्द्रिय सरकार को बाँट देते हैं। वह बाँटा हुआ धन उनका रक्षक होता है, उन्हें हानि से बचाता है और आत्मनिर्णय के लिए बल देता है। यह दिया हुआ कर रक्षक बनकर हानियों से बचाता है और सङ्कल्पों को पूर्ण करता हुआ सब कामनाओं को विजयी, प्रभावशाली और वृद्धियुक्त करके पूर्ण करता है। इन मन्त्रों में राजसभा और सभासदों का कर्तव्य वर्णन करके अब अगले मन्त्रों में वेद आज्ञा देते हैं कि राष्ट्र को चाहिये कि वह सबसे पहिले अपने अन्तर्गत घुसे हुए दुष्ट मनुष्यों को ढूँढ़े, जाने और उनको न्यायद्वारा दण्ड से शिक्षा दे। ऋग्वेद में लिखा है कि—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥ (ऋ० १।५१।८)

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र। धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥ (ऋ० १।३३।४)
इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आनमन्ति। इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरु द्वेषो अररुषे दधन्ति॥ (ऋ० ७।५६।१९)

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥ (ऋ० ८।७०।११)

ताविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥
(ऋ० ७।९४।१२)

अर्थात् हे राजन् ! आप उत्तम गुणवाले आर्यों को जानो और धर्म की रक्षा के लिए अव्रती दस्युओं (डाकुओं) को शासित करो और मारो, जिससे आपके राज्य में धर्म के कार्य न बिगड़ें । हे राजन् ! आप एक ही झपट से धनुष्य बाण के द्वारा ठग और यज्ञ न करनेवाले धनी दुष्टों को मार डालें । जो गुरु से द्वेष करनेवाले हैं और हवा की भाँति जल्दी से साहस के साथ बल को दिखलाते हैं तथा लोगों के सामने व्यर्थ की बड़ाई हाँकते हैं और जो नास्तिक हैं, पशुस्वभाववाले हैं और यज्ञ न करनेवाले हैं, उनको पहाड़ों में कैद कर दीजिए। जो बुरा भाषण करनेवाले हैं, जो दुष्ट ज्ञान धारण करनेवाले हैं, जो अपने रमण (भोग) के लिए दूसरों का क्षय करनेवाले हैं और जो सब प्रकार से अपने ही भोगों की फ़िक्र में रहनेवाले दुष्ट दुर्जन हैं, उनको विचार करके अवश्य हनन कीजिए। इस प्रकार से इन मन्त्रों में आर्यों और दस्युओं अर्थात् भले और बुरों को जानकर दुष्टों को विचारपूर्वक शासित करने का उपदेश है। इसी तरह दुष्ट स्वभाववाले अन्य दुराचारियों को भी दण्ड देने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने ।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥
(अथर्व० ५।१४।६)

अर्थात् चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, जिसने पाप का कृत्य किया हो, उसको पशु की तरह बाँधकर वैसे ही ले जाना चाहिये, जैसे घोड़ा बागों से खींचा जाता है ।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये ।
योनिं यो अन्तरारेल्हि तमितो नाशयामसि ॥१४॥
यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१५॥
यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१६॥
(अथर्व० २०।९६।१४-१६)

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥
(अथर्व० ८।६।२३)

अर्थात् दम्पति के बीच सो कर जो तेरी जंघाओं को फैलाता है और जो तेरी योनि को भीतर से सींचता है, उसका हम नाश करते हैं । जो कोई भाई व्यभिचारी बनकर अथवा पति बनकर तेरे पास आ जावे और तेरी सन्तान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं । जो कोई सोते हुए नशा खिलाकर अँधेरे में तेरे पास आ जावे और तेरी सन्तान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं । जो कच्चे अर्थात् ज़िन्दा पशुओं के मांस को, जो मनुष्यों के मांस को और जो गर्भों (अंडों)को खाते हैं, उनका हम नाश करते हैं। इस प्रकार शासन के द्वारा पहिले समाज का संशोधन करके भले आदमियों को दुष्टों के पीडन से बचाना चाहिए । किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि दुष्टों का सुधार केवल कठोर शासन से ही नहीं हो जाता । इसलिए राज्य में ज्ञान, विद्या, सभ्यता, सदाचार और आस्तिकता का भी प्रचार करना आवश्यक है। यह काम ब्राह्मणों से ही हो सकता है, अतः राजा को चाहिये कि यह ब्राह्मणों, विद्वानों और सदाचारी पुरुषों का आदर बढ़ावे। इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि —

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः । तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥९॥ पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः । राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥१०॥ पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् । ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥११॥ नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये । यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्या ॥१२॥ न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते । यस्मिन् राष्ट्रे०॥१३॥ नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१४॥ नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१५॥ नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् । यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१६॥ नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या

दोहमुपासते। यस्मिन् राष्ट्रे० ॥१७॥ नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्। विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥१८॥

(अथर्व० ५।१७।९-१८)

अर्थात् मनुष्यसमाज का ब्राह्मण ही अधिपति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। जिस तरह सूर्य पाँचों ग्रहों को आज्ञा करता हुआ चलाता है, उसी तरह विद्याबल से सबको ब्राह्मण ही चलाता है। इस विद्या को देवताओं ने पहिले ब्राह्मणों को दिया, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को और क्षत्रियों ने दूसरों को दिया। इस प्रकार से विद्या को सबमें बाँटकर ही मनुष्य बल और कीर्ति को प्राप्त होते हैं। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ वह सैकड़ों धाराओं से बहकर और कल्याणकारी होकर प्रतिष्ठित नहीं होती। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ बहुश्रुत और बड़े दिमाग़ का कोई मनुष्य पैदा नहीं होता। जिसके राज्य में विद्या का प्रचार बन्द है, ऐसे राजा का अलंकृत नौकर भी ऐश्वर्यवाले पुरुषों के सम्मुख नहीं जा सकता। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रकाश रोका जाता है, वहाँ श्यामकर्ण घोड़ा भी रथ में जुड़कर बड़ाई नहीं प्राप्त कर सकता। जहाँ विद्या का प्रचार नहीं होता, वहाँ न खेतों में पुष्करिणी होती है और न पृथिवी में कुछ पैदा ही होता है। पृथिवी की उपज खानेवाले वे किसान जिनमें विद्या का लेश नहीं है, भूमि में अधिक अन्न नहीं पैदा कर सकते। जहाँ ब्राह्मण रात्रि को भूखा सोता है, वहाँ न गौओं के दूध होता है और न बैल गाड़ी खींच सकते हैं। अर्थात् जहाँ ब्राह्मण और विद्या का निरादर होता है, वहाँ हर प्रकार से सर्वनाश हो जाता है।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥११॥

(अथर्व० ५।१९।११)

अर्थात् सौ में निम्यानबे देशों के राजाओं का पराभव हुआ है, जिन्होंने ज्ञानियों को सताया है। इस विषय में अथर्ववेद १२।५।७-११ में लिखा है कि—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥७॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥८॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥९॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥ तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥११॥

अर्थात् ओज, तेज, सहनशक्ति, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, ब्राह्मण, राष्ट्र, प्रजा, कान्ति, यश, वर्चस्व, धन, आयु, रूप, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, यव, सत्य, ऋत (नीति), यज्ञ, वापी, कूप, तड़ाग, वाटिकादि, प्रजा और पशु आदि समस्त पदार्थ उस राजा के नष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मणों को सताता है और विद्या को छीन लेता है अर्थात् पढ़ना पढ़ाना बन्द कर देता है। इस प्रकार विद्या की अवहेलना और ज्ञानियों के तिरस्कार का दुष्ट फल बतलाकर ब्राह्मणों की उपयोगिता का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि-

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमंतो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ (अथर्व० ५।१८।९)

अर्थात् जिनके बाण तीखे हैं और जो हथियार धारण करते हैं, ऐसे ब्राह्मणों के फेंके हुए ज्ञानशस्त्र व्यर्थ नहीं जाते। वे तेजस्वी बल के साथ तपकर शत्रु का पीछा करते हैं और निश्चय ही दूर से उसका भेदन कर देते हैं। इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

(यजु० २०।२५)

अर्थात जहाँ ब्रह्मबल और क्षत्रबल साथ साथ अच्छी तरह प्रीतियुक्त होकर व्यवहार में लाये जाते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ रहते हैं, वही देश पुण्यलोक होता है। कहने का मतलब यह कि जहाँ केवल शासन ही होता है, वहाँ उत्तम मनुष्य नहीं होते। प्रत्युत जहाँ शासन और शिक्षा दोनों होते हैं, वहीं समाज पुण्यमय होता है। इसीलिए वेद कहते हैं कि—

इदं मे ब्रह्म क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥

(यजु० ३२।१६)

अर्थात् ये मेरे ब्रह्मबल और क्षत्रबल दोनों श्रेय को प्राप्त हों। जिस तरह देवता मुझको शोभा और लक्ष्मी से विभूषित करें, उसी तरह तुम ब्राह्मण को भी सुशोभित करें। यहाँ तक समाज की भीतरी दुर्बलताओं से जो कष्ट होते हैं, उनको दूर करने के उपायों को बतलाकर अब वेद उपदेश करते हैं कि जो बाहर के शत्रु इस आर्यसमाज को नष्ट करने और उस पर शासन करने के लिए आवें, उनके साथ युद्ध किया जाय और उनको परास्त किया जाय। इस विषय में ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

हत्वाय देवा असुरान् यदायन्देवा।
देवत्वमभिरक्षमाणाः॥ (ऋ० १०।१५७।४)

अर्थात् जो तेजस्वी क्षत्रिय देवत्व के विरोधी शत्रुओं (असुरों) को युद्ध में मारकर विजयी होते हैं, वही रक्षा पाकर सुख से रहते हैं। क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है कि—

ये युध्यन्ते प्रधने षु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(ऋ० १०।१५४।३)

अर्थात् जो शूर वीर क्षत्रिय, धर्मरक्षा के लिए युद्ध में सम्मुख लड़कर शरीर का परित्याग करते हैं वे अनुत्तम सुखवाले लोकों को प्राप्त होते हैं। इसीलिए वेद में युद्धविजय की बहुत ही प्रबल कामना का उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः
समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोमि
धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ (यजु०२९।३९)

अर्थात् हम धनुष से पृथिवी और संग्राम को जीतें और हम धनुष से बड़ी वेगवाली सेना को भी जीतें। यह धनुष शत्रु की कामना को नष्ट कर देता है, अतः हम धनुष से सब दिशा विदिशाओं को जीत लें। विजयी योद्धा के लिए लिखा है कि—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा
बलेन। समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ्
त्वमेह्युप जीवलोकम्॥ (अथर्व० १८।२।६०)

अर्थात् हे वीर! तू अपने क्षात्रधर्म, तेज और बल के द्वारा इस संग्राम में मरे हुए शत्रुओं के हाथ से धनुष को और अन्य पुष्ट करनेवाले बहुत से सामानों को लेकर इन पराजितों के सामने से आदर के साथ आ। इसके आगे सेना का वर्णन इस प्रकार है—

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि-
दधाम्यास्ये॥७७॥

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ२ उत।
हनुभ्याᳬ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद
सुखादितान्॥७८॥

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः॥७९॥

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा
कुरु॥ ८०॥

(यजु० ११।७७-८०)

अर्थात् जो सेना सुस्त, बीमार, नालायक और चोर है, उसको मैं जलती हुई ज्वाला में डालता हूँ। हे अग्नि! आप उन चोरों और मैले कर्म करनेवाले लोगों को अपनी डाढ़ों जबड़ों और दाँतों से खा डालें। हे अग्नि! जो नकब लगानेवाले, डाका डालनेवाले, ठग और पापकर्म से जीनेवाले हैं, उन अधमों को आप चबा डालें। हे अग्नि! आप शत्रुता करनेवाले द्वेष करनेवाले, निन्दा करनेवाले और दम्भ दिखानेवाले दुष्टों को भस्म कर डालें। वेद ने इन मन्त्रों में बतलाया है कि नालायक सेना को नष्ट कर देना चाहिये और समस्त समाज को चाहिये कि वह युद्ध के लिए राजा को उत्तेजित करे। उत्तेजना का उपदेश इस प्रकार है—

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्।
धनञ्जयं रणे-रणे॥ (यजुर्वेद ११।३४)

अर्थात् दस्यु के मारनेवाले, धन जीतनेवाले और अन्न देनेवाले तुम राजा को हम प्रदीप्त कर रण के समय उत्तेजित करें। इस राष्ट्रीय सेना के प्रत्येक योद्धा को किस प्रकार उत्साहित होना चाहिये, उसका उपदेश वेद में इस प्रकार है—

अभीऽ३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति। खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥
(ऋ० १०।४८।७)

अर्थात् मैं हूँ तो अकेला ही पर एक, दो, तीन शत्रु भी मेरा कुछ नहीं कर सकते। मैं शत्रुओं को इस तरह कुचल डालूँगा, जैसे खलिहान में अन्न कुचला जाता है। क्योंकि जिनका कोई मार्गदर्शक सेनापति ही नहीं है, वे शत्रु मेरी क्या निन्दा कर सकते हैं ?

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥
(अथर्व० ५।१४।५)

अर्थात् ये शत्रुनाशक सेनाएं हिंसाकारी और दुर्वचन बोलनेवाले शत्रु के लिए हों। ये शत्रुनाशक सेनाएँ हिंसाकारियों में इस तरह चक्कर लगावें, जैसे रथ का पहिया चक्कर लगाता है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सेनाएँ हिंसकों, दुष्टों और बदमाशों के दमन के ही लिए हैं, अतः रथ की भाँति वे उक्त बदमाशों के अड्डों और देशों में चक्कर लगाती रहें। इस प्रकारसे आवश्यकता पड़ने पर लड़नेवाला राजा अपने युद्धोपकरणों को मिट्टी के घरों में न रक्खे। इसके लिए वह अच्छे पक्के मकान बनावे। वेद उपदेश करते हैं कि—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ (ऋग्वेद ७।८९।१)

अर्थात् हे राजन्! आप मिट्टी के घरों में निवास न करें, क्योंकि मिट्टी के घरों को वर्षाऋतु मिट्टी कर देती है-गिरा देती है। मिट्टी के सादे घरों में तो हम प्रजा को ही रहना चाहिये। इस मन्त्र के अतिरिक्त वेद में राजा के लिए लोहे के किले बनवाने की आज्ञा है। अथर्ववेद में आया है कि—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि। पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥
(अथर्व० १९।५८।४)

अर्थात् हे राजन्! आप बड़े बड़े व्रज (चरागाह) तैयार करवाइए, बहुत से मोटे मोटे वर्म (कवच) सिलवाइये और अपना पुर बड़े बड़े लोहे के किलों से घेर दीजिये जिससे आपके यज्ञ का चमचा न टपक जाय। उसके दृढ करने के लिए यही प्रबन्ध कीजिये। ये चीज़ें आपकी रक्षा करेंगी। इस मन्त्र में राज्य की इस तैयारी का कारण चमचे की रक्षा बतलाया गया है। जिसका यही मतलब है कि राज्य में छिद्र न होने पावे और वैदिक सभ्यता की रक्षा होती रहे। इसके अतिरिक्त राजा को और क्या क्या तैयारी करना चाहिए, उसका वर्णन इस प्रकार है—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि। राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ५ ॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः। मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥
(यजु० २०।५-८)

अर्थात् श्री मेरा शिर है, यश ही मुख है, केश और डाढ़ी मूछ ही प्रकाश है, राजा ही प्राण है, सम्राट् ही चक्षु है, विराट् ही कान है और यही सब अमरता है। भद्रता ही जिह्वा है, कीर्ति ही वाणी है, क्रोध ही मन है, स्वतन्त्रता ही प्रकाश है, आमोदप्रमोद ही अंगुलियाँ और अङ्ग हैं, तथा सहनशीलता ही मित्र है। बल ही बाहु हैं, कर्म ही इन्द्रियाँ हैं, वीर्य ही हाथ हैं, क्षत्र ही हृदय और आत्मा है। राष्ट्र ही पीठ है, प्रजा ही उदर, ग्रीवा, पैर, जंघा, घुटना और अन्य समस्त अङ्गप्रत्यङ्ग हैं।

इन मन्त्रों में राष्ट्र की विशालता का वर्णन है। पर यह सब विशाल राज्यकार्य बिना धन के नहीं हो सकता, इसलिए वेद कहते हैं कि राजा प्रजा से थोड़ा थोड़ा कर लेकर इस महाकार्य का सम्पादन करे।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते। महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ (अथर्व० १०।८।१५)

अर्थात् पूर्णों के द्वारा दूर तक और अधूरों के द्वारा निकट तक भुवन के मध्य में राज्य का प्रबन्ध करनेवाला बैठा है। उसके लिए समस्त राष्ट्र बलि अर्थात् कर अदा करता है। इस प्रकार का राष्ट्रीय उपदेश करके अन्त में वेद शिक्षा देते हैं कि खण्डराज्यों में सदैव वैमनस्यजन्य उत्पातों का डर बना ही रहता है, इसलिए सबको सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत हो जाना चाहिए, अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का प्रयत्न करना चाहिये। यजुर्वेद में लिखा है कि-

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा।
(यजु० ५।२४)

अर्थात् स्वराज्य शत्रुओं का मारनेवाला है, सत्र-राज्य अभिमानियों का मद मारनेवाला है, जनराज्य दुष्टों का मारनेवाला है और सर्वराज्य अमित्र का मारनेवाला है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सर्वराज्य से शत्रु नहीं रहते। यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि शत्रुओं का सर्वथा नाश तो सर्वराज्य अर्थात् सार्वभौमराज्य से ही होता है। इसके आगे फिर वेद उपदेश देते हैं कि—

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको विराजति। (यजु० १२।११७)

अर्थात् हे अग्नि! तू भूत, भविष्य और प्रियों तथा प्रियस्थानों में विना किसी परिवर्तन के एक समान अकेला एक ही राजराजेश्वर विराजमान है। इस मंत्र के द्वारा अग्नि की उपमा देकर वेद ने बतला दिया कि समानता की स्थिरता तो तभी हो सकती है, जब अग्नि के समान सारा पृथिवी का एक ही सम्राट् हो। इसके आगे वेदों में राजा के लिए आपद्धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया गया है कि—

ऋतस्य पन्थानुम तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु
रेत आगुः। प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका
रक्षति देवयूनाम् ॥ (अथर्व० ८।५।१३)

अर्थात् ऋत की तीन विधियाँ चलती आई हैं और तीनों मार्ग अनुधर्मा हैं। एक विधि प्रजा (समाज) की, एक राष्ट्र की और एक धर्म की रक्षा करती है। यहाँ ऋत अर्थात् आपद्धर्म की तीनों शाखाओं का वर्णन किया गया है। आपद्धर्म की आवश्यकता धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रोंमें आया ही करती है, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर सत्य के जोड़े ऋत से भी काम लेना चाहिये। आगे वेद उपदेश करते हैं कि—

इंद्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं
वस्यो अच्छ। भवा सुपारो अतिपारयो नो
भवा सुनीतिरुत वामनीतिः॥ (ऋग्वेद ६।४७।७)

अर्थात् हे राजा! हमको नेताओं की भाँति देखिये और शत्रुओं के बल को उल्लंघन करनेवाले हमारे धर्मबल की अच्छी प्रकार परीक्षा कीजिये कि जिससे हमारा सब कुछ अच्छी प्रकार पार लगे अथवा बिलकुल ही पार लगने लायक हो जाय, इसलिए हमारे पास सुनीति और वामनीति दोनों होना चाहिये। इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि यदि सुपार हो अर्थात् सरल हो तो सुनीति से-धर्म से-चले जावे, किन्तु यदि अतिपार हो अर्थात् दुर्गम हो, तो वामनीति से-आपद्धर्म से-पार हो जावे। इस प्रकार से वेद ने इस राज्यप्रकरण के द्वारा समाज को भीतरी और बाहरी आफ़तों से रक्षा करने का उपदेश दिया है। इस उपदेश से मनुष्य अपनी और अपने समाज की रक्षा कर सकता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि मृत्यु से कोई रक्षा नहीं कर सकता। सबको एक न एक दिन अवश्य मरना पड़ेगा, इसलिए मरने के बाद के रहस्य का जब तक ठीक ठीक ज्ञान न हो जाय और जब तक परलोक की जटिल ग्रन्थि सुलझ न जाय तब तक लोक के समस्त सुख और प्रबन्ध निकम्मे हैं। इसलिए अब हम दिखलाना चाहते हैं कि वेद में परलोकविषय की क्या शिक्षा है।

वैदिक उपनिषद्।

सब प्रकार से उन्नत समाज का लक्षण यही है कि वह सदाचारी हो, विद्वान् हो, उद्योगी हो और हर प्रकार से अपनी खुद रक्षा कर लेता हो। ऐसे समाज के लिए लोक की कोई अभिलाषा शेष नहीं रह जाती और ऐसी उन्नत दशा में पहुँचकर उस समाज के उन्नतमस्तिष्क मनुष्यों में परलोकविचार की चरचा उत्पन्न हो जाती है। वे सोचने लगते हैं कि, मृत्यु से बचने का क्या उपाय है और मरने के बाद क्या होता है, तथा इस संसार की उत्पत्ति का कारण क्या है। उनके हृदयोंमें

यह प्रश्न बड़े वेग से प्रभाव उत्पन्न करने लगता है कि, जड़ और चेतन का भेद क्या है और इनके मूल कारणों के प्रत्यक्ष करने की युक्ति क्या है। विद्वानों ने इसी प्रकार की जिज्ञासाओं के ऊहापोह का नाम दर्शन रक्खा है और इस ऊहापोह के अन्तिम उत्तरों को ही उपनिषद् कहते हैं।

इस औपनिषद् ज्ञान के दो विभाग हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और नाश के कारणों का अनुसन्धान करना पहिला विभाग है और उन कारणों के प्रत्यक्ष कर लेनेवाले साधनों का उपयोग करना दूसरा विभाग है। यहाँ हम इन दोनों विभागों से सम्बन्ध रखनेवाले वेदमन्त्रों को एकत्रित करके दिखलाते हैं कि वेदों ने इन विषयों का कितना विशाल ज्ञान दिया है। इस सृष्टि को देखकर किसी भी विचारवान् मनुष्य के हृदय में जो सबसे पहिले स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है, उसको वेदों ने इस प्रकार कहा है—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा-
पृथिवी निष्टतक्षुः । मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

(ऋ० १०।८१।४)

अर्थात् कौनसा वह वन है और कौनसा वह वृक्ष है, जिसकी लकड़ी से वह द्युलोक और पृथिवीलोक बनाया गया है? हे बुद्धिवान् लोगो! अपने मन से पूछो कि इन भुवनों का धारण करनेवाला और उनका अधिष्ठाता कौन है? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो
व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य
शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न
आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं
सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्त-
पसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

(ऋ० १०।१२९।१-३)

अर्थात् यह सृष्टि पहिले न तो सत् अर्थात् बनी हुई दशा में थी, न असत् अर्थात् अभाव अथवा शून्य दशा में थी, न रज अर्थात् बनने की आरम्भिक दशा में थी और न उस समय यह ऊपर का नीला आकाश ही था। उस समय न मृत्यु थी, न जन्म था और न रात्रि थी, न दिन था। उस समय तम अर्थात् आरम्भ का पूर्वरूप केवल अन्धकार था और एक हलचलरहित स्वधा (मैटर, माद्दा, माया, प्रकृति) कुहर की भाँति सर्वत्र फैली हुई थी। इन मन्त्रों में इस सृष्टि के पूर्वरूप का वर्णन करके अब वेद यह बतलाते हैं कि यह सृष्टि तीन अनादि स्वयम्भू पदार्थों के मेल से बनती है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि
षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो
अभि चाकशीति ॥ (ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् दो पक्षी एक में मिले हुए मित्रभाव से अपने ही समान एक वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक मित्र उस वृक्ष के फलों को खाता है और सुखदुःखों को भोगता है और दूसरा मित्र फलों को न खाता हुआ केवल देखता है। इस मन्त्र में परमेश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। यही तीनों पदार्थ इस संसार का कारण हैं। इन्हीं के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति विनाश होता है। इन तीनों में से परमेश्वर के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः
प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृत-
स्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ (यजु० ३२।११)

अर्थात् परमेश्वर सब भूतों, लोकों और सब दिशाविदिशाओं को सब ओर से व्याप्त करके सत्य और अनादि स्वयंभू आत्मा में भी अच्छी तरह प्रवेश किये हुए हैं। इस मन्त्र में परमेश्वर का सर्वत्र व्यापकत्व बतलाया गया है। इस व्यापक परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरे व्याप्य चेतन जीवों का वर्णन इस प्रकार है—

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिं ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥१९
यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु ।

स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्
॥ २० ॥
(अथर्व० १०।८।१९-२०)

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥२३॥
शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्
निविष्टम् । तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्
देवो रोचत एष एतत् ॥ २४ ॥
बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥२५॥
इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि
विश्वतोमुखः ॥२७॥
(अथर्व० १०।८।२३-२७)

अर्थात् यह जीव जिसके भीतर ज्येष्ठ ब्रह्म ठहरा हुआ है, वह सत्य से ऊँचा होकर प्रतापी होता है और असत्य से नीचा होकर प्राणों के साथ तिर्यक् योनियों में जीवन धारण करता है। जो इन दोनों (ज्येष्ठ ब्रह्म और प्राण धारण करनेवाले जीव) को यज्ञ की दोनों अरणियों की तरह जान लेता है, वह ज्येष्ठ ब्रह्म को भी जान लेता है और दूसरे सनातन जीव को भी जान लेता है। ये सनातन जीव रातदिन की भाँति भिन्न भिन्न रूपों को धारण करते रहते हैं और नित नये ही होते रहते हैं। ये सनातन जीव सौ, हज़ार, दश हज़ार, दश करोड़ और असंख्यों की तादाद में उस व्यापक परमात्मा में ही भरे हुए हैं। जब ये उस सर्वज्ञ परमात्मा को प्राप्त होते हैं, तभी सबको रुचते हैं । इन दोनों व्याप्य व्यापक ईश्वर और जीव में एक तो बाल की अनी से भी छोटा है और दूसरा तो बिलकुल ही अदृश्य है। यह जीव उसी अदृश्य प्रिय देवता में चिपकनेवाला अर्थात् व्याप्य है। यह उस कल्याणकारिणी अजरा और अमृता प्रकृति माता के गर्भरूपी घर में सोता है। हे जीव ! तू कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी कुमार, कभी कुमारी होता है और कभी वृद्ध होकर और लाठी लेकर चलता है, इसलिए तू जन्म लेनेवाला सर्वतोमुख है। इन मन्त्रों में वेदों ने जीव को सनातन, असंख्य, व्याप्य, जन्म धारण करनेवाला और परमेश्वर की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त करनेवाला बतलाया है। इसके आगे इस सृष्टिके तीसरे कारण प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है–

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता
स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (यजु० २५।२३)

अर्थात् अदिति ही द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है, अदिति ही पुत्र है, अदिति ही विश्व के देवता हैं, अदिति ही ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और अनार्य हैं और अदिति ही पैदा करनेवाली तथा वही पैदा होनेवाली है। अर्थात् यह सारा जगत् अदिति का ही प्रपञ्च है। इस मन्त्र में अदिति–माया–का विशाल रूप दिखलाया गया है। यथार्थ में संसार के समस्त नामरूपात्मक पदार्थ प्राकृतिक ही हैं। यही बनते और बिगड़ते हैं और इन्हीं के द्वारा संसार का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है । कहने का मतलब यह कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार उनको इस अदिति नामक प्रकृति के शरीररूपी घेरे में बन्द करके और उसी प्रकृति के इस ब्रह्माण्डरूपी बड़े घेरें में लाकर छोड़ देता है। इसी का नाम सृष्टि की उत्पत्ति है। परन्तु परमात्मा इस सृष्टि को किस प्रकार उत्पन्न करता है, इस बात का वर्णन वेद में इस प्रकार है–

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
(ऋ० १०।१९०।१–२)

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
(यजु० ३१।५)

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः । ॥
(ऋ० १०।१९०।३)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
(यजु० ३१।६)

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥
(यजु० ३१।९)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत ॥
(यजु० ३१।११)

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु० ३१।७)

अर्थात् ऋत और सत्य (नीति और धर्म) को विचार कर परमात्मा ने तप (ईक्षण) किया। उस ईक्षण से हलचल उत्पन्न हुई और प्रकृतिरूपी अँधेरा हो गया, तथा उससे आकाश पैदा हुआ। उस आकाश से वायु और मेघरूप ऊपर का समुद्र और संवत्सररूपी सूर्य हुआ और उसी सूर्य से पृथिवी का समुद्र हुआ और रात दिन हुए। इसके बाद विराट् हुआ और विराट् के बाद पृथिवी उत्पन्न हुई। परमात्मा ने इन सूर्य, चंद्र, अन्तरिक्ष, दिन और पृथिवी आदि को उसी तरह बना दिया, जिस तरह उसने इन सृष्टि के पूर्व अन्य भूत सृष्टियों में बनाया था। पृथिवी उत्पन्न हो जाने के बाद उस पर वनस्पति उत्पन्न हुई। वनस्पति के बाद पशुपक्षी उत्पन्न हुए और पशुपक्षियों के बाद देव, ऋषि, साध्य, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए तथा इन्हीं श्रेष्ठ मनुष्यों के हृदयों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का उपदेश हुआ। उपर्युक्त मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति के क्रम का बहुत ही अच्छा वर्णन है। इन मन्त्रों में बतला दिया गया है कि परमात्मा ने अपनी ईक्षणशक्ति से प्रकृति में प्रेरणा की। प्रेरणा से गति उत्पन्न हुई और गति से आकर्षण उत्पन्न हुआ। आकर्षण से प्रकृति परमाणु आपस में मिले, जिससे रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हुई। वह स्थिति जब चक्राकार गति में घूमी तो और भी सघन हो गई और उसके चारों ओर आकाश उत्पन्न हो गया। उस खाली स्थान-आकाश-में वायु का समुद्र भर गया और वायुसमुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ, जिससे मेघ, वर्षा, नक्षत्र, पृथिवी और रातदिन उत्पन्न हुए। अर्थात् यह समस्त सृष्टि उपर्युक्त क्रम के साथ परमात्मा की प्रेरणासे ही उत्पन्न हुई है और इसके उत्पन्न होने का प्रधान कारण जीवों का कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है। उस न्यायकारी, दयामय और कारणों के भी कारण परम पिता परमात्मा का वर्णन वेदोंमें इस प्रकार किया गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ० १।१६४।४६)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥१॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥३॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्य-माणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥४॥
यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सरराण-स्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥५॥
(यजु० ३२।१-५)

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृतमानशानास्तृ-तीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ (यजु० ३२।१०)

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धम-पापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्या-थातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
(यजु० ४०।८)

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्मा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति आदि नामों से कहा जाता है। सब निमेषादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर नीचे, आड़े, तिरछे और बीच से पकड़ा नहीं जा सकता। उसकी कोई नाप नहीं

है, क्योंकि उसका नाम बड़े यशवाला है, इसीलिए अनेक वेदमन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। वही देव सब दिशा विदिशाओं में व्याप्त है और वही सबके अन्दर पहिले से ही बैठा है। वह सब ओर से सब प्राणियों में ठहरा हुआ है और वही पहले संसार का रूप धारण करके पैदा होता है और फिर सबको पैदा करता है। जिसके पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ और जो सब भुवनों में अच्छी तरह स्थिर है, वही सोलह कलांवाला पूर्ण प्रजापति समस्त प्रजा में रमण करता हुआ तीन प्रकार की ज्योतियों को-अग्नि, विद्युत् और सूर्य को-उत्पन्न करता है। वह कायारहित, छिद्ररहित, नाडीरहित, पापरहित है। वह शक्तिस्वरूप, शुद्ध, कवि, मनीषी, दुष्टों से दूर, स्वयंसिद्ध है और शाश्वत प्रजा के लिए सब ओर से व्याप्त होकर यथायोग्य अर्थों को उत्पन्न करता है। वही हमारा बन्धु, पिता, विधाता और सब भुवनों का जाननेवाला है, इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमको तृतीय लोक में जहाँ देवता मोक्ष प्राप्त करते हैं, वहाँ पहुँचावे। इन मन्त्रों में परमात्माके स्वरूप और उसके कार्य का वर्णन करके मोक्षसुख की याचना की गई है। वेदों में इस प्रकार के मन्त्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। सब में उसके स्वरूप का वर्णन और अपने कल्याण की याचना का वर्णन है। इन वर्णनों के द्वारा संसार के कारणों और कारणों के भी कारण परमात्मा की महत्ता का ज्ञान होता है और जिज्ञासु के हृदय में मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यह वैदिक उपनिषद् का पूर्वार्द्ध है।

इसके आगे उस कारणस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करके अनन्त ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की विधि को भी वेदों ने बतलाया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (यजु० ३१।१८)

अर्थात् उस आदित्यस्वरूप प्रकाशमान परमात्मा को मैं जानता हूँ, अतः उसी के साक्षात्कार से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
(अथर्व० १०।८।३७)

अर्थात् जिस सूत्र में ये समस्त प्राणी पिरोये हुए हैं, जो मनुष्य उस फैले हुए सूत्र को जानता है और जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, वही उस महान् ब्रह्म को जान पाता है। इन मन्त्रों में बतलाया गया है कि परमात्मा के साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। अब अगले मन्त्र में वेद उपदेश करते हैं कि परमात्मा सर्वत्र मौजूद है।

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥
(अथर्व० १।३२।१)

अर्थात् हे मनुष्यो! परमात्मा उपदेश करता है कि जिससे वनस्पति आदि प्राणी प्राण धारण करते हैं, वह परम पिता परमात्मा न केवल पृथिवी में है और न केवल द्यौलोक ही में है, प्रत्युत वह सर्वत्र परिपूर्ण है। इस मन्त्र में उसकी सर्वत्र उपस्थिति बतलाई गई है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसको सर्वत्र ढूँढ़ते फिरें? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥४३॥ अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥४४॥
(अथर्व० १०।८।४३-४४)

अर्थात् इस नव दरवाज़ेवाले त्रिगुणात्मक शरीर में जो आत्मा की भाँति यक्ष बैठा है, उस को ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। वह निष्काम, धीर, अमर, स्वयम्भू, रस से तृप्त और पूर्ण है, अतः उसी धीर, अजर, युवा आत्मा को विद्वान् जानकर निर्भय हो जाते हैं। इसके आगे फिर कहते हैं कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥
(अथर्व० १०।७।१७)

अर्थात् जो इस पुरुष के अन्दर ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं और जो परमेष्ठी, प्रजापति और ब्रह्म को जानते हैं, वे इस समस्त स्तम्भ को जानते हैं। इन मन्त्रों में जीव ब्रह्म की व्याप्य और व्यापकता बतलाकर स्पष्ट कह दिया है कि जो व्यापक ब्रह्म को जान लेता है, वह व्याप्य जीव को भी जान लेता है और एक दूसरे के परिचय से सबका ज्ञान हो जाता है और मोक्ष हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस शरीर के अन्दर परमात्मा कैसे ढूँढा जाय? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि परमात्मा को इस शरीर में ढूँढने की तय्यारी करने के साथ साथ अर्थ और काम के फन्दे से अलग रहना चाहिये।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(यजु० ४०।१-२)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥
(अथर्व० ११।५।१९)

अर्थात् परमेश्वर को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उसी के दिये हुए पर सन्तोष करना चाहिये और दूसरों के धन की कभी इच्छा न करना चाहिये। इस प्रकार का जीवन बनाकर शेष आयु तक कर्म करने से मोक्ष हो जाता है, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देवों से द्यौलोक को पूरा करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य और तप से ही विद्वान् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इन मन्त्रों में मुमुक्षु के लिए अर्थ (धन) और काम (रति) का परित्याग बतलाया गया है। जब अर्थ और काम की इच्छा समूल निवृत्त हो जाय तब किसी ब्रह्मविद्या के जाननेवाले के पास जाकर सत्सङ्ग करना चाहिये। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥
(अथर्व० १०।७।२४)

अर्थात् जहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्म की उपासना करते हैं, वहाँ जाकर जो मुमुक्षु उनको जानता है—मिलता है—उसी सत्सङ्गी को ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ समझना चाहिये। इस मन्त्र में ब्रह्मविदों का सत्सङ्ग आवश्यक बतलाया गया है। जब सत्सङ्ग से मुमुक्षु ब्रह्मविद्या में निर्भ्रान्त हो जाय, तो उसे चाहिये कि वह किसी एकान्त स्थान में निवास करे। ऐसे स्थान का निर्देश करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ (ऋग्वेद० ८।६।२८)

अर्थात् पहाड़ों की कन्दराओं और नदियों के सङ्गमों में ही मुमुक्षु की बुद्धि का विकास होता है। ऐसे शान्त और उपद्रवरहित स्थान में निवास करके योग का अनुष्ठान करना चाहिये। वेद उपदेश करते हैं कि—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥
(अथर्व० १०।२।२७)

अर्थात् मनुष्य का जो शिर है, वह ज्ञानविज्ञान का ख़ज़ाना है। उस शिर की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। इस मन्त्र में विचार करने का अङ्ग शिर बतलाया गया है और उसके साथ अन्न, मन और प्राणों का सम्बन्ध भी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्न, प्राण, मन और विचारों की शृङ्खला का क्रम है। क्योंकि विचारों के रोकनेवाले को मन रोकना पड़ता है, मन रोकनेवाले को प्राण रोकना पड़ता है और प्राण रोकनेवाले को अन्न का नियन्त्रण करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि मुमुक्षु को एकान्त में युक्ताहार होकर प्राणों के निग्रह में लग जाना चाहिये और मन तथा विचारों के प्रवाह को बन्द कर देना चाहिये। इस योगक्रिया के लिये वेद उपदेश करते हैं कि—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
(ऋ० ५।८१।१)

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥ (यजुर्वेद ११।२)

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ (यजु० ११।५)

अर्थात् बड़े बड़े यज्ञयाग करनेवाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान् अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान् देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखों के लिए अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोलकर सुन लें कि पूर्वजों ने योगबल से ही सूर्यमार्ग से यात्रा की है, इसलिए जो योग करेगा-ब्रह्ममें मन लगायेगा-वही उस उत्तम गति को प्राप्त होगा। इन मन्त्रों में योग का बहुत बड़ा महत्व बतलाया गया है। क्योंकि योग का सम्बन्ध मन से है। मन को एकाग्र करके उसे परमात्मा में लगाना ही योग है। इसीलिए वेद में मन को कल्याणकारी बनाने का बहुत बड़ा उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥२॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥ यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥५॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥ (यजु० ३४।१-६)

अर्थात् जो सोते और जागते समय दूर दूर जाता है, वह दूर दूर तक जानेवाला ज्योतिरूप मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो। जिसके द्वारा बुद्धिमान् और धीर पुरुष नाना प्रकार के सुकर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह सबके अन्दर बैठा हुआ अपूर्व शक्तिवाला मेरा मन उत्तम विचार करनेवाला हो। जो प्रज्ञान, चेतना और धारणा शक्तिवाला है, जो अन्तर्ज्योति है, जो सब प्राणियों में अविनाशी सत्तारूप से विराजमान है और जिसके बिना किञ्चिन्मात्र भी कोई काम नहीं हो सकता, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। जिसने अपनी अमरता से भूत, भविष्य और वर्तमान को ग्रहण कर रक्खा है और जिसकी सहायता से आँख, कान, नाक और जिह्वा आदि सातों कार्यकर्ता इस शरीर के व्यवहार को कर रहे हैं, वह मेरा मन कल्याणकारी विचारवाला हो। जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, रथचक्र के आरों की भाँति जुड़ रहे हैं और जिसमें सब प्राणियों के चित्त ओतप्रोत हैं, वह मेरा मन शुभ विचारवाला हो। जिस तरह अच्छा सारथी रथ के घोड़ों को चलाता है, उसी तरह हृदय में बैठा हुआ और अपनी क्रियाबल से मनुष्यों को नियम में चलानेवाला मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो। इन मन्त्रों में मन की महत्ता बतलाते हुए उसको उत्तम विचारवाला बनाने का उपदेश किया गया है, जिससे योगसिद्धि में शीघ्र सहायता मिले। यह योग मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। मनुष्य योगानुष्ठान करके जप, तितिक्षा तप, और समाधि तक अपना पुरुषार्थ कर सकता है। परन्तु यदि परमात्मा इतने पर भी मुमुक्षु के हृदय में स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन न दे और मोक्ष प्राप्त न हो, तो वह अपने पुरुषार्थ से उसे प्रकट होने के लिए और मोक्ष देने के लिए विवश नहीं कर सकता। इसलिए उसके शरणागत होकर दर्शन और मोक्ष के लिए प्रार्थना करता है। वेद में परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करने का उपदेश इस प्रकार है—

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥६॥ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो० ॥७॥ यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥८॥ यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥९॥ यत्र कामा

निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥१०॥ यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि इन्द्रायेन्दो० ॥११॥ (ऋ० ९।११३।६-११)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा॥ (अथर्व०१९।४३।८)

अर्थात् जहाँ वेदवेत्ता ब्रह्मा अथर्ववाणी को बोलता हुआ योगद्वारा परमात्मा को प्राप्त होता है और परमात्मा के द्वारा आनन्द पाता है, वहीं हे परमात्मन्! इस योगी को भी अमृतबिन्दु देकर-दर्शन देकर-पहुँचाइये । जहाँ निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता है और जहाँ सब सुख ही सुख है, उस अक्षय आनन्द में मुझे पहुँचाइये । जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ का द्यौलोक दरवाज़ा है और जहाँ अमृत जल की वृष्टि होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिये। जहाँ इच्छानुसार विचरण होता है और जहाँ ज्योतिरूप स्थान है, उसी तीसरे द्यौलोक के उस पार मुझे अमर कीजिये। जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जहाँ सब से बड़ा सुख प्राप्त होता है और जहाँ स्वधा तथा हर प्रकार की तृप्ति प्राप्त होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिये। जहाँ पूर्ण हर्ष, पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वहीं हे परमात्मन्! दर्शन देकर मुझे पहुँचाइये। जहाँ ब्रह्मविद् विद्वान् तप और दीक्षा के प्रताप से जाते हैं हे ब्रह्म! मुझमें ब्रह्म को धारण करके वहीं पहुँचाइये। इन मन्त्रों में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि मुझे पहिले दर्शन दीजिये जिससे मैं जीवन्मुक्त हो जाऊं और फिर मरने के बाद तृतीय लोक के बाहर जहाँ प्राकृतिक जगत् का लेश भी नहीं है और जहाँ केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, वहाँ हमेशा के लिए पहुँचा दीजिये । इस प्रकार की निरन्तर प्रार्थना से समाधिस्थ निश्चल आत्मा में परमात्मा प्रकट हो जाता है। उस समय वह जीवन्मुक्त कहता है कि—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ (यजु० २०।३२)

अर्थात् जो सब भूतों का अधिपति है, जिसमें सब लोक ठहरे हैं और जो बड़ों से भी बड़ों का स्वामी है, उस तुझ परमात्मा को मैं ग्रहण करता हूँ—अपने अन्दर तुझको ग्रहण करता हूँ। इस मन्त्र में जीवन की अन्तिम सफलता का वर्णन है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वरदर्शन से कृतार्थ होकर, सब प्रकार की शंकाओं से निवृत्त होकर और सब कुछ जानकर शेष जीवन में लोगों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता हुआ प्रसन्नता से मृत्यु को प्राप्त होता है और मुक्त हो जाता है। यह वैदिक उपनिषद् का उत्तरार्ध है।

वेदों में आरम्भ से लेकर अन्त तक इसी प्रकार की शिक्षा है, जिसका नमूना हमने इन शिक्षा के पृथक् पृथक् आठ विभागों में अच्छी तरह दिखला दिया है। हमारा दृढ विश्वास है कि जितनी विस्तृत शिक्षा वेदों में है, यदि उतनी शिक्षा विधिपूर्वक किसी भी मनुष्य-समाज को दी जाय, तो वह समाज अपनी उन्नति हर विभाग में आसानीसे अच्छी तरह कर सकता है। परन्तु आज कलकी सी विस्तृत उन्नति वेदों की दृ से समस्त मनुष्यजाति और समस्त प्राणिसमूह के लिए कल्याणकारी नहीं है, इसीलिए वैदिकों ने अकेले वेद ही को एक पूर्ण साहित्य का काम देनेवाला माना है। वेद स्वयं समस्त मनुष्योपयोगी शिक्षा दे देते हैं, इसलिए वे किसी अन्य ग्रन्थ या अन्य साहित्य के मोहताज नहीं हैं। वेद अकेले ही अपनी शिक्षा से मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि वह अपना हरएक आवश्यक कार्य आसानी से कर सकता है और अपने ज्ञान को विस्तृत भी कर सकता है।

सङ्गीत।

(ले०- श्री० रामावतार विद्याभास्कर, रतनगढ)

साहित्य, संगीत तथा कला ये तीनों मनुष्य में स्वभाव से पाई जाती हैं। संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसमें कोई न कोई कला न हो। भीतर के आनन्द की निर्लेप अवस्था को इन्द्रियों के द्वारा बाहर प्रकट करने लगना ही 'कला' का स्वरूप है। कोई इसे सद्ग्रन्थ लिख-कर बाहर प्रकट करता है, कोई सुन्दर चित्र बनाकर बाहर प्रकट करता है और कोई संगीतानुराग के रूप में बाहर प्रकट करता है।

संगीत भी एक कला है। इससे भी भीतर का आनंद इन्द्रियों के द्वारा बाहर प्रकट होने लगता है। जिस प्रकार निर्विकार स्थितिका शिल्प लेखिनीबद्ध होकर 'सद्ग्रन्थ' नाम पालेता है, इसी प्रकार सप्तस्वरका शिल्प 'संगीत' कहाने लगता है। जिस प्रकार सद्ग्रन्थ के भाव मानवी भाषामें स्पष्ट होते हैं, इस प्रकार संगीत में भावों की स्फुरता नहीं होती। संगीत में केवल एक निर्लेप भावकी प्रदर्शनी होती है। जो निर्लेपभाव सद्ग्रंथ में भाषा के वस्त्र पहनकर सज धजकर बाहर आता है, वही निर्लेपभाव संगीत में रसास्वादात्मक अव्यक्त भाषा में संगीतज्ञ का आराध्य देव बना रहता है। जिसकी वृत्ति बहिर्मुख नहीं है, वह शुद्ध संगीत में आत्मदर्शन कर सकता है। निर्लेप-भाव ही आत्मदर्शन की अवस्था है। संगीतज्ञ पुरुष देखता है कि सारा संसार अपनी अव्यक्त भाषा में निर्लेप भाव का महासंगीत गा रहा है और मुझे सुना रहा है। जिस प्रकार सुयोग्य चित्रकार आंखोंसे जो सुन्दर रूप देखता है, उसे तूलिकाके सहारे से कागज पर प्रतिफलित कर लेता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ पुरुष अपने हार्दिक कानों से निर्लेप भावकी जो पुनीत ध्वनि सुनता है, उसे अपनी जिह्वा तथा वाद्य यन्त्र पर प्रतिध्वनित कर के आनन्दमग्न होता रहता है। संगीतज्ञ पुरुष स्रष्टा तथा सृष्टि के अभेदभावकी प्रदर्शनी होता है। तन्मयता तल्लीनता तदास्वाद तथा तद्दर्शन आदि दिव्य भाव संगीतज्ञ पुरुषको अपना क्रीडाक्षेत्र बना लेते हैं।

संसार के सब पदार्थ तथा सब घटनायें अपने अपने जीवनरूपी संकेतों के द्वारा दिनरात मनुष्यसे अव्यक्त भाषा में कह रही हैं कि हे मानव! तुम जिन पदार्थोंको अपनाना चाहते हो, वे सब अनित्य हैं। जहां तक तुम्हारी दृष्टि पहुंच सकती है, वहां तक अनित्यता ही अनित्यता फैली हुई है। तुमको माताकी गोदसे प्रथमही अनित्यता की गोद में बैठना पडता है। तुम जिन पदार्थों को चाहते हो, उन सबपर अनित्यता का एकच्छत्र अधिकार है। तुम जिस शरीर के भोग के लिये दूसरे पदार्थों को चाहते हो, इस देहपर तथा उन सब पदार्थों पर भी अनित्यताकाही पूर्ण आधिपत्य है। अनित्यताही इस सृष्टि का अटल अखण्ड नियम है। इसलिए तुम यहां आकर कुछ पदार्थों को अपनाने के झगडे में मत पडो, ऐसा करोगे, तो जीवन निष्फल हो जायगा। तुम निर्लेप जीवन बिताकर जीवन को सफल कर जाओ। तुम यहां सदा रहने के लिये नहीं आये हो। तुम तो जीवन को धन्य कर ने के लिये आये हो। सृष्टि की गाई हुई यह निर्लिप्तताकी वेदध्वनि ही संगीत का निर्मल रूप है। यही ईश्वरकी वाणी और यही सृष्टि की अनक्षर भाषा है। निर्विकार भोला-नाथ सर्वस्रष्टा महादेव ही इस भाषा के वक्ता तथा इस महासंगीत के गायक हैं।

इस सृष्टि में सर्वत्र आसक्तिरूपी विष भरा पडा है। यह संपूर्ण विषैले महासर्प के समान है। यह सदा मनुष्य के मानस में आसक्तिरूपी डंक मारती रहती है। जिस प्रकार वीणा की मधुर ध्वनि से सर्पको व्यामोह हो जाता है और वह मनुष्य को काटना भूल जाता है, इसी प्रकार जब मनुष्य इस सृष्टिको स्रष्टा का महासंगीत सुना देता है, तब यह सृष्टि उसके चिन्मय देह में डंक मारना भूल जाती है।

स्रष्टा का संगीत नामवाली इस वेदध्वनि को ज्ञानी हृदयमें पकड लेते हैं। यों भी कह सकते हैं कि, यह ध्वनि ज्ञानी हृदयों में से उठती है। यह ध्वनि कहीं तो सुसाहित्य

बनती है। कहीं सुकविता बनती है, तथा कहीं शुद्ध राग-रागिणी के द्वारा अपने आपको प्रकट करती है। संगीतानुराग जीवमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कामादि सर्पों को वश में रखना सर्वभूतस्थ आत्मस्वरूप का स्वभाव है। भजनहि कामादि सर्पों को वश में रखने का एकमात्र उपाय है। संगीत भक्तजीवन में अनिवार्य रूप से भजन का रूप लेकर रहता है। बिना भजन का भक्त नहीं होता। बिना संगीत का भजन नहीं होता। संगीत भजन का साधन है। संगीत नैष्ठिक जीवन का स्वाभाविक तथा दिव्य भजन है। सृष्टिके बजाये हुए संगीतको हृदय के कानों से सुनते रहना तथा उसे अपनी इंद्रियों में प्रतिध्वनित करते रहना, अर्थात् अपने अस्तित्व को भजनमुखर भजनमन्दिर बनाये रहना ही शुद्ध संगीत का स्वरूप है।

गीत, वाद्य तथा नृत्य ये तीन संगीत के भेद हैं। ताण्डव तथा लास्य ये नृत्य के दो भेद हैं। ताण्डव में जो तीव्रता है, वह पुरुषभाव' कहाता है। लास्य में जो मृदुता है, वह 'स्त्रीभाव' कहाता है।

शुद्ध संगीत का प्रवाह पशुपक्षीतक को वहायें कर लेता है। संगीत की मोहनी समस्त बाह्य आरोपित भावों को भुला डालती है। संगीत में मनुष्य का निर्लेप केवल रूप प्रकाशित हो उठता है। 'मन में किसी प्रकार की सांसारिक चिन्ता नहीं है,' इस मानसिक स्थिति का ब ़ प्रकाशही 'संगीत' कहाता है। शुद्ध संगीत प्रत्येक की निजी संपत्ति है। आत्मा की निर्लेप अवस्था (शुद्ध रूप) का वाणी तथा कान में प्रतिपालित हो जाना ही संगीत का स्वरूप है।

संगीतका प्रभाव सांप तथा हरिण जैसे प्राणियों पर भी पड़ता है। संगीतश्रवण से प्रभावित होकर सांप अपने घातक स्वभाव को भूल जाता है। संगीत के प्रभाव से हरिण अपनी असाधारण लज्जालुता और संकोच को भूल कर बेसुध हो जाता है। यह सब इसी लिए कि जब प्राणियों में प्रतिष्ठित वह एकही आत्मतत्व निर्लिप्तता तथा आनन्द प्रवाह का अनुभव करता है तब बाह्य आवरण तथा सांसारिक लीला को भूलकर कुछ समय के लिए उन्मत्त हो जाता है। कृष्ण के वंशी में यही अमर संगीत था, नारद की अमर वीणा में इसी विश्वसंगीतकी झंकार थी। संगीत की इस असाधारण शक्ति का महत्त्व अपने ही भीतर दीख पड़ता है।

संपूर्ण संसार में प्रत्येक क्षण अनन्त भावना तथा अनन्त ध्वनि उत्पन्न होती रहती हैं। संसार में जितनी भावनायें तथा जितनी ध्वनियाँ उत्पन्न हो रही हैं वे सबकी सब एक अनन्त विश्वसंगीत की सर्वव्यापी शृंखला में जुडी हुई हैं।

ध्वनि तथा भावना का अर्थात् शब्द और अर्थका नित्य साथ है। भावना ही मनुष्यका स्वरूप है। मनुष्यजातिके मन में एक गुप्त भावना भरी हुई है। वह भावना ही मनुष्य बन गयी है। वह भावना अनादि कालसे मनुष्यशरीर धारण करती रहती है। मनुष्य के मनमें जो अव्यक्त वाणी गूंज रही है, अज्ञानी मनुष्य उसकी भाषा *बनाना नहीं जानता। यदि मनुष्य इसकी भाषा बनाना* जान जाय तो उसका संसार-बन्धन कट जाय। यदि उसे भाषा में व्यक्त किया जाय तो वह मनुष्य से मनुष्यताके संरक्षक रहने तथा निर्लेप जीवन बिताने के लिये कह रही है। इस भावनाका ही दूसरा नाम 'निर्लेप भाव' है। दृश्यमान संसार के अस्तित्वकी अर्थात् संसार के मनपर डाले हुए प्रभाव की उपेक्षा करना अर्थात् इस दृश्यमान संसारको अपने मनको विकारग्रस्त करने में असमर्थ मान लेनाही इस अव्यक्त भावनाका स्वरूप और 'संगीतका प्राण' है।

जहां जगत् है वहीं उसका बन्धनकारी स्वभाव भी रहता है और यह इस सृष्टि की अद्भुत विचित्रता है कि इसमें उसी के पास बन्धनमोचनी निर्लिप्तता भी खडी रहती है अर्थात् बन्धन और उससे मुक्ति ये दोनों एक ही स्थानपर रहते हैं। यही कारण है कि इस बन्धनबहुल संसार में मुक्ति रूपी निर्लिप्तता की ध्वनि बन्धनों के साथ ही साथ सर्वत्र गुंजार रही है। यह ध्वनि ही 'विश्वसंगीत' है। जो अपने इस विश्वसंगीत में विलीन करने की कला जान गया, वह 'विश्वसंगीत का गायक तथा श्रोता' बन गया। यह संगीत बाह्य जगत् में सुनने सुनाने की वस्तु नहीं हैं। संगीत तो अपने आपही अपने को पूर्णता की अवस्था में देखने और आत्ममग्न हो जाने की पवित्रतम अवस्था है।

संगीत व्यापार की वस्तु नहीं है। वह दूसरोंको मोहित करने की विद्या नहीं है। वह दूसरों से प्रशंसा कमाने का साधन नहीं है। वह कानों का रस या इंद्रियों की आसक्ति नहीं है। संगीत तो आत्मदर्शन के प्यासे हृदय की प्यास बुझानेवाला अमृत है। इसी संगीत को आर्यजाति ने अपनाया था।

बाजारु संगीत संगीत नहीं है। आजकल संसार संगीत के नाम पर इन्द्रियासक्ति की दासता कर रहा है। भोलानाथ महादेव संगीतके आदिम आचार्य माने जाते हैं। वे सृष्टिको बनाकर भी निर्लिप्त जीवन बिताते हैं। उन जैसी अप्रभावित मनोदशा रखनेवाले को ही संगीत का ज्ञान हो सकता है। परन्तु आज संगीत विद्याने वेश्याओं भांडों या गन्दे सिनेमा थियेटरों में जाकर आश्रय लिया है। और आज वह मनुष्य की दुष्टतम वृत्तियों को जगाने वाला मजदूर बन गया है। संगीतार्थीको इस जनरंजक धनोपार्जक आसक्त्युत्पादक संगीत से विष के समान बचकर रहना चाहिये। संगीत की साधना फकीरी मनोवृत्ति में ही हो सकती है।

जिस प्रकार पद्यरचनामें छन्द अपने आप फुरता है, जिस प्रकार छन्दों का निर्माण करना मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है इसी प्रकार संगीत में भी मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। संगीत संगीतज्ञ के लिये अपने आपही अपना मार्गदर्शक बन जाता है। संगीत-प्रेमही संगीतका आचार्य माना जाता है। संगीताचार्य लोग तो केवल संगीत का मार्ग दिखा सकते हैं। संगीत शिक्षा के लिये शिक्षार्थी तथा शिक्षककी स्वतंत्रता और अटल धैर्य की आवश्यकता है।

शिक्षार्थी की स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि शिक्षार्थी किसी प्रकारकी बाह्य बाधासे विचलित न हो। संगीत का स्थान स्वाधीन हो। वहां संगीतार्थी को ऐकनेका अधिकार किसी को नहीं। संगीतार्थी में संसार के विरोध या हंसी ठट्ठेकी उपेक्षा होनी चाहिये। मनमें किसी प्रकार की चिन्ता तथा बन्धन न होनी चाहिये।

शिक्षककी स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि शिक्षक निःसंकोच होकर शिक्षार्थीको अपना संगीत दिखा सके, अपने संगीतप्रवाहको खोल सके और सिखा सके। उसे किसी भी प्रकार झिझकनेका अवसर न मिले। उसे यह न सोचना पडे कि मेरे संगीत सिखाने से पडौसी के अधिकारपर आक्रमण या उसके काममें अव्यवस्था तो नहीं हो जायगी। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि संगीतस्थान में किसी भी प्रकारकी बाह्य अभ्यन्तर दशायें संगीतरस में व्यवधान न डाल सके।

संगीतके विद्यार्थी में अपरिमित धैर्य होना चाहिये। संगीतका पाठ ग्रन्थोंके समान कण्ठाग्र करनेकी वस्तु नहीं है। संगीतका पाठ अंगुलियों को सिखाना पडता है। शब्द के सूक्ष्मतम स्पन्दनों तक पर अधिकार जमाना पडता है। सचमुच संगीतमें बडे भारी धैर्य का काम है। शीघ्रही संगीतज्ञ बन जानेकी अभिलाषा न करनी चाहिये। यों तो विद्याका विस्तार अनन्त है; किन्तु स्वाधीन स्थिर भावमें रहकर एक बातको पूरे धीरजसे अच्छी तरह सीखना ही 'संगीतकी पूर्णता' है। संगीतप्रवाहका कहीं अन्त नहीं है, परन्तु संगीतके इस अनन्त प्रवाह का एक बिन्दु भी अपने आपेमें पूर्ण है। इस लिये संगीत के विद्यार्थी को अगला पाठ न देखकर वर्तमान पाठपर पूरा बलव्यय करना चाहिये। संगीतके स-र-ग-म में भी पूर्णता है। स-र-ग-म का पूर्ण अभ्यास करके तब आगे चलना चाहिये। वर्तमानके अमृतके आनन्दको चखना सीखना चाहिये और उस में डुबकी लगाना आना चाहिये। इस मार्गका प्रथमपद भी पूर्णता है। इस मार्ग में अन्तिम पद कभी नहीं आता। मनुष्य प्रथम ही उद्यममें संगीतज्ञ बन जाता है। मनुष्यों को संगीतके अन्तिम उद्यमकी कल्पना से बचना चाहिये।

जो संगीतकी केवल एकही बातमें सुन्दरता से पूर्ण है और जिसने केवल एकही राग का दर्शन किया है उसके हृदयमें शेष संपूर्ण राग स्वयमेव अवतीर्ण हो जायगे। उसे विश्वसंगीत का स्वतः दर्शन हो जायगा।

सत्य अहिंसासे

भारतीय स्वतंत्रताकी रूपरेखा।

[लेखांक २+]

(लेखक— श्री० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर यू. पी.)

जो मनुष्य भौतिक सुखसुविधाओं के मोह में फंस जाते हैं, वे सदा एक दूसरे के दास बने रहते हैं। ऐसे मनुष्यों को तथा समाज को एक दूसरे का दास बनकर रहना पडता है। जो भौतिक दासताओं में बंधा रहकर दासता को मिटाने की इच्छा करता है, वह असंभव प्रयत्न कर रहा है। क्योंकि स्वतंत्र हुए बिना स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न नहीं हो सकता। परतन्त्र रहनेवाले लोग स्वतन्त्रताको नहीं ला सकते। स्वतन्त्र मनुष्य ही स्वतन्त्रता को ला सकते हैं। अर्थात् भारतीय स्वतन्त्रता को लाने के लिए स्वतन्त्र मन रखनेवाले भारतीयों की आवश्यकता है। जो मन पराधीन हो सकता है ऐसा मन रखनेवाले भारतवासी भारत को स्वतन्त्र नहीं कर सकेंगे। स्वार्थी को सत्य नहीं दीखता। यदि देश स्वार्थ नहीं छोडेगा, तो उसे स्वराज्य के सम्बन्ध में सत्य का स्वरूप नहीं दीखेगा। स्वार्थ के कारण देश में से महत्वाकांक्षा नष्ट हो गई है उसे फिर उत्पन्न करना पडेगा। जिन्होंने स्वतन्त्रताका मर्म पहचाना है, उन्होंने भौतिक सुविधाओं के मोहमें न फंसने को ही स्वतन्त्रता कहा है।

यदि किसी भौतिक सुखों में फंसे हुए मनुष्य के पास स्वतन्त्रता की भावना को आता देखो, तो उसे बनावटी समझो, वह सचमुच स्वतन्त्रताकी भावना नहीं है। वह भौतिक सुखाभिलाषा का सताव या यन्त्रणा है। उसने भौतिक सुखको और अधिक भोग सकने की भूक को स्वतन्त्रता मान लिया है।

किसी मनुष्य के पास भोगसुख के विपुल साधनों को देखकर चंचल हो उठना कौनसे महत्त्व की बात है। यह पशुपक्षियों का धर्म है। इस प्रवृत्ति के वश में आजाने में मानवसत्ता का कोई महत्त्व नहीं है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति मनुष्य से मनुष्यता छीन लेती है और उसे पशु बना देती है। दूसरे के भोजनों तथा भोगों पर दृष्टि डालना और संभव हो, तो उसे छीनकर खालेना पशुपक्षियों तथा कुत्तों का स्वभाव है।

मनुष्य को दासता का यह तत्त्व समझ लेना चाहिए कि दासता दो दासों के बिना जन्म नहीं लेती। जहां दास बनानेवाला तथा दास बननेवाला इन दो दासनामके पतितोंका समागम होता है,वहीं दासता का प्रसव होता है। दास बननेवाला दास बनानेवाले का दास बन जाता है और उसे दास बनानेवाला उस दास बननेवाले का दास अर्थात् उसके ऊपर निर्भर हुए बिना नहीं रहता। दासता सदा पारस्परिक आधार पाकर पनपती है। दास अपने प्रभुका मालिक होता हुआ भी अपने को दास मानता रहता है। और प्रभु अपने दास का दास रहता हुआ भी वृथाही प्रभुता के घमंड में मरता रहता है। ये दोनों एक दूसरे के वश में आए रहते हैं। वे दोनों एक दूसरे से अनुचित

+ प्रथम लेख वैदिक धर्म क्रमांक २३२, पृ० २६९ पर देखो।

लाभ उठाना चाहते हैं। यही इन दोनों को परस्पर का दास बनानेवाली दासमनोवृत्ति है। प्रभुता काल्पनिक है और दासता सचाई है। यह नहीं हो सकता कि दास तो सदा दास ही रहे और उसका प्रभु समझा जानेवाला उस की दासता से न बन्धे और स्वतन्त्र मनुष्य कहा सके।

स्वाधीन पुरुष वे हैं, जो न तो किसी के दास बन सकते हैं और न किसी के प्रभु होना स्वीकार कर सकते हैं। स्वाधीन पुरुषों की दृष्टि में प्रभुता भी उतनी ही घृणा करने योग्य स्थिति है, जितनी की दासता। स्वाधीन पुरुषोत्तम प्रभुता तथा दासता को एक समान पतितावस्था मानते हैं।

जिस मनुष्य के मन में जिसकी चिन्ता अशान्ति का रूप धारण करके बैठी रहती है, अर्थात् जो मनुष्य जिस दूसरे को याद कर कर के सदा अशान्त चंचल, लोभी तथा कामी आदि बना रहता है, वह उसका 'दास' है, यह एक निश्चित सचाई है। यही दास मनोदशा का वास्तविक चित्रण है। क्योंकि लूट के शिकार बने हुए मनुष्य के मन में लुटेरे की पिशाचमूर्ति सब समय डर जगाती रहती है, इसलिए लूटे जानेवाले लोग अपने को लुटेरों का दास मान बैठते हैं और शहद की मक्खियोंके समान अपने लुटेरे के लिए कमाते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार लूटे जानेवाले का असाहस कायरता तथा अपौरुष लुटेरे के मनको चंचल बना देता है। वह उसे मनुष्य का मन न रहने देकर उसे एक शिकारी जानवर बना देता है। लुटनेवाले लोगों की कायरता लुटेरों के मनकी शान्ति को छीन लेती है और धनको अपने अधिकार में कर लेने के उद्देश्य से आक्रमण करने का दुष्ट उत्साह उत्पन्न करती है। यह वस्तुस्थिति स्पष्ट सिद्ध कर रही है कि, लुटनेवाला भी लुटनेवाले का दास है। लूटे जानेवाले ही लुटेरों के जन्मदाता मातापिता हैं। वे ही उन्हें जन्म देते हैं और वे ही इन्हें अपने मुंह का टुकडा खिलाकर पालते-पोसते हैं। जिस प्रकार बिच्छू के बच्चे अपनी माता की कमर पर चढ बैठते हैं और उसी को तोड तोडकर खाते रहते हैं, इसी प्रकार लुटेरे लोग अपने उत्पादक अपने अन्नदाता लूटे-जानेवालों को ही खाकर जीते हैं। लुटेरों का शिकार बनना सहनेवाली निर्बल मनोदशारूपी गन्दगी में जो कीडे उत्पन्न होते हैं, वे ही लुटेरे कहाते हैं। लूट सकनेकी दुर्बल अवस्था में से ही लूटने का लालच उत्पन्न होता है।

कभी कभी लुटनेवालों के मन में लुटेरों से जलकर लूट से बचने की इच्छा उत्पन्न होती पायी जाती है। जैसी कि आजकल भारत में पायी जा रही है। भारत की इस इच्छा को स्वतन्त्रताकी इच्छा के नामसे सम्मानित नहीं किया जा सकता। इसे तो भारत की स्वेच्छाचारी जीवन की मांग कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छाचार में बडा भारी अन्तर है। स्वेच्छाचारी जीवन की मांग के पीछे शक्ति काम नहीं कर सकती। क्योंकि स्वेच्छाचार मनुष्य की अशक्ति अर्थात् उच्छृंखल प्रवृत्ति है। शक्ति सदा स्वतन्त्रता की मांग के ही पीछे रहा करती है। सच्ची बात पर कोई भी मनुष्य कहीं भी चाहे जितने मनुष्यों से भिड सकता है। परन्तु झूठी असार बातपर डट सकना बहा असंभव है। शक्ति सदा सचाई का साथ देती है। भारत की वर्तमान स्वराज्य की मांग स्वतन्त्रता की मांग न होकर स्वेच्छाचार की मांग है, इसके निम्न कारण हैं।

अंग्रेजों को भारतपर शासन करते हुए लगभग २०० वर्ष हुए हैं। आजकल भारत में सरकारी नौकरों की संख्या ७ लाख के लगभग है। इनमें नगण्य संख्या अंग्रेजों की है, शेष सब भारतवासी हैं। अंग्रेजों का स्वार्थ ही भारत का राजा है। अंग्रेजी सरकारने इंग्लैंड के स्वार्थ से भारत को दुहने के लिए भारत में अपना शासन-जाल फैलाया है। यदि भारत के पास समझ होती तो उसे इसमें किसी प्रकारका सहयोग न देना चाहिए था। अर्थात् अंग्रेजों को अपना शासनचक्र घुमाने

के लिए भारत में से नौकर न मिलना चाहिए था।

परन्तु अभागा भारत २०० वर्षों से लगातार और ५० वर्षों से तो स्वराज्य की धूमधाम के अस्तित्व में ही सरकार को नौकर अर्थात् भारत पर चलायी जानेवाली सरकारी कुल्हाडी के लिए दस्ता दे रहा है और अपनी सम्पूर्ण सामाजिक शक्ति लगाकर अनेक अर्धसरकारी तथा सहायता-प्राप्त शिक्षणालयों में इसी काम के लिए युवकों को तयार कर रहा है। भारतने मनुष्यता के आदर्श को नीचा करके सरकारी नौकरी को अपना आदर्श बना लिया है। भारत के युवक के पास महत्वाकांक्षा नामकी कोई चीज़ नहीं है। सिविल सर्विस एक ही भारत के योग्यतम मस्तिष्कोंका स्वर्ग है। भारतदोहन के लिए फैलाए गए प्रबन्धजाल को पूरने के लिए अंग्रेजों को नौकर देते रहना और उसी अपमानजनक आत्मनाशक काम के लिए अपने लाल तयार करते रहना भारत के लिए घोर अपमानकारक स्थिति है। देश का अज्ञान (अनात्मबोध) कितना बडा अनर्थ कर सकता है ? यह यदि किसी को देखना हो तो वह यह देखे कि अभागा भारत अपनेको ही लूटने के लिए अपने ही होनहार युवकोंको सज सजाकर देता जा रहा है। वह अंग्रेजी सरकार की दी हुई पेटी पगडी बिल्ले तथा वरदी पहनने में अहोभाग्य तथा जीवन की सफलता देख रहा है। भारत के दुर्भाग्य से बडी से बडी योग्यता रखनेवाले भारत के योग्यतम मस्तिष्क इंगलैंड का लाभ सोचने उसकी आय बढाने और भारत में उसका जाल फैलाने तथा उसे फैलाए रखनेके उपाय सोचने में लगे हुए हैं। मानो भारत के बच्चे अंग्रेजों के ही भाग्य से उत्पन्न हुए हों। भारतकी इसी मनोवृत्तिमें भारतीय पराधीनता का बीज छिपा हुआ है। बहुत से भारतीय विचारक भारतीय पराधीनता के बीज को अंग्रेजों की मुट्ठी में से ढूंढना चाहते हैं। वे भूल करते हैं।

भारत का स्वार्थी हो जाना ही भारतीय पराधीनता का बीज है। भारत का यह पराधीनता का बीज बना रहा है कि जिस दिन भारत स्वार्थ-त्याग कर देगा उस दिन भारत स्वतन्त्र हो जायगा। भारत में स्वतन्त्रता न होने से यह सिद्ध होता है कि अभी तक भारत स्वतन्त्रता नहीं चाहता। वह केवल शासन सुधार चाहता है। वह शासन-सुधार के भूत में लिपट गया है। वह केवल वर्तमान शासन-चक्र को भारत-हितकारी तथा भारत के लिए सह्य बनाना चाहता है। स्पष्ट शब्दों में भारत अपनी दासता को मीठा करना चाहता है। वह डटकर यह सिंहनाद करने का साहस खो चुका है कि हम अनधिकारी अंग्रेजी सरकार से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखेंगे। हमारा उससे कोई नाता नहीं है। हम उससे किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करेंगे।

हम भारतीय स्वतन्त्रता को सौदा नहीं बनने देंगे। वे भारतपर अनधिकार करना त्याग दें, केवल इसी एक शर्तपर उनका हमारा समझौता हो सकता है। यही भारतीय स्वातंत्र्य की सच्ची रूपरेखा है।

परन्तु दुर्भाग्य से अज्ञ भारत इस स्वतन्त्रता का आवाहन करने के बाद आधमकनेवाले संकटों से डरा बैठा है और स्वतंत्रता के नामपर संगठन तथा सदस्य-संख्यावर्धन आदि बहाने बना रहा है। उसे दीख रहा है कि स्वतन्त्रता आते ही अबकी मुरदा शांति विदा हो जायगी और भारत की वायुमण्डल क्षुब्ध हो जायगा, क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा होते ही भारतीय स्वतंत्रता का शत्रु अपने भागने का उपयुक्त मुहूर्त नियत करने के लिए भारत की स्वतंत्रता के खरे-खोटे-पन को अच्छी तरह ठोक बजाकर देखेगा कि क्या भारत सचमुच स्वतंत्रता-का प्यासा हो चुका है ? स्वतन्त्रता आते ही मुरदा निर्विघ्नता को कान पकडकर देश से बाहर कर देगी और अपना कठोर खेल प्रारंभ कर बैठेगी।

भारतके भोगमग्न समाज में स्वतन्त्रता की कठोर क्रीडा नहीं सही जायगी। भारत में स्वतन्त्रता न आने का यही कारण है कि भारत स्वयं सच्ची स्वतन्त्रता के कठोर स्वभाव से डरा बैठा है। स्वतन्त्रता न आने में भारत स्वयं अपराधी है। उसमें स्वातन्त्र्य की चेतना नहीं है।

देश की फूट तथा स्वार्थपरता इन दो कारणों से देश परतन्त्र होते हैं। जिस समाज में भोग को जीवन का लक्ष्य मान लिया जाता है वहां फूट और स्वार्थपरायणता का होना स्वाभाविक हो जाता है। जबतक भोगी जीवन का मोह बना रहता है तबतक देशों का स्वतन्त्र होना असम्भव रहता है।

जिस देश में मानसिक पवित्रता को जीवन का लक्ष्य मान लिया जाता है वहां भोगाकांक्षा अपमानित हो जाती है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो जिस देशवासी इस महासत्य को पहचान जाते हैं कि आत्मा अमर है। आत्मा सब का एक है। सब भूतों के आत्मा में और हम में कोई अन्तर नहीं है और मनुष्यता ही मनुष्य का स्वरूप है; उस देश में भोगाकांक्षा अपमानित हो जाती है दैवी गुण प्रादुर्भूत हो आते हैं और स्वाभिमानी जीवन चमकने लगते हैं। यदि परतन्त्र देश स्वतन्त्र होना चाहे तो उसका केवल एक उपाय है कि उन्हें अपने समाज में सर्वभूतस्थ आत्मा की एकता का प्रचार करना चाहिए और आत्मज्ञानी कर्तव्यपरायण मनुष्य तयार करने चाहिए। यही स्वतन्त्रता-प्राप्ति का ईश्वरीय मार्ग है।

जिस देश के निवासी देशोंको स्वतन्त्र बनाने वाले इस सीधे तथा सच्चे मार्ग को न अपनाकर दूसरे दूसरे मनुष्य को परतन्त्रता के लिए सहमत करनेवाले अधूरे मार्गों के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, स्वतन्त्रता उनसे सदा दूर बनी रहती है। वे इन अधूरे मार्गों को अपना कर उस देशमें स्वतन्त्रता पानेके स्थानपर विदेशी शासन की जड को पुष्ट बनाते रहते हैं।

यदि विदेशी शासन कभी किसी आकस्मिक कारण से दूसरोंपर शासन करना अशक्य या अनुचित समझकर, अपनी ओर से शासित देश को स्वतन्त्र कर भी दे, तो भी वह देश भोगों का दास बन जाने के कारण सच्ची स्वतंत्रता से वंचित रहता है और देशी विदेशी किसी न किसी शासक का दास बना रहता है। इसलिए यदि परतन्त्र देश स्वतन्त्र होना और विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रहना चाहे तो उसका केवल एक मार्ग है कि वे अपने देशवासियों को भोगोंका अपमान करना सिखायें, देश में मनुष्यता नामवाली सच्ची स्वतंत्रता की भावना को फैलाए, तथा देश को सत्य का दर्शन करना सिखाए।

स्वतन्त्रता देश का धर्म नहीं है किन्तु मनका धर्म है। मन के सामने सब समय दो दो विरोधी विचार आते रहते हैं। प्रत्येक बात में इंद्रियां तो मन को आराम की ओर खींचती और पतित होने के लिए उकसाती हैं तथा आत्मा का आनंदमय रूप मनको अपनी ओर खीचता है और मनुष्य से पवित्र तथा पूर्ण मनुष्य रहने के लिए कहता है। मन इन दोनों प्रस्तावों में से किसी एक को अपनाकर दूसरे की उपेक्षा करता है। दो में से किसी एक को अपनाने की स्वतन्त्रता ही मन का स्वरूप है। जब मन सुखसुविधा का पक्षपात करता है तब इंद्रियाधीन होकर परतंत्र हो जाता है। तब मन आत्मस्वरूप को अपनाता है तब आत्मस्थिति में रहकर स्वतन्त्रता के विमल आनन्द का अधिकारी बना रहता है। स्पष्ट बात यह है कि भोगों की ओर जाना परतन्त्रता और त्याग को अपनाना अर्थात् आत्मा की ओर जाना स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता में मनुष्य सुख समझते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता में सुख नहीं है। इसमें दुःख भी कोई नहीं है। वह तो सुखदुःखरहित स्वाभाविक अवस्था है। वह तो माता की गोद में लिटे हुए, किसी

बाह्य आकर्षण से इधर उधर न खिंचे हुए बालक की सी निरक्षेप अवस्था है। स्वतंत्र रहना सच्चे मनुष्यों का स्वभाव है। सुखदुःख के साथ फंस जाना तो परतन्त्रता है। अपने ही अधीन रहना, किसी बात में दूसरे के अधीन न होना स्वतन्त्रता है। स्वतंत्र रहना अर्थात् अपने आपे में मस्त रहना मनुष्य के लिए माता की गोद के समान आनन्द की स्थिति है। इस स्थिति को त्यागकर इन्द्रियों के वश में आ जाना सुखदुःख नामवाली परतन्त्रता को स्वीकार कर लेना है।

मनुष्य के मन में स्वभाव से एक विचारशक्ति रहती है। उसका बुरा उपयोग मनुष्यकी परतंत्रता तथा उसका भला उपयोग मनुष्य की स्वतंत्रता है। जबतक मनुष्य या मनुष्यसमाज आत्मस्वरूप को नहीं पहचानेगा तबतक उसकी विचारशक्ति निर्मल नहीं होगी। तबतक देश को स्वाधीनताके पुजारी योद्धा भी नहीं मिल सकेंगे। मनुष्य की विचारशक्ति आत्मस्वरूप को जान लेने पर ही निर्मल होती है और वह मनुष्य को तथा मनुष्य-समाज को स्वतन्त्रता रुपी आनन्द प्राप्त कराती है। यों मनुष्य के मन की स्वाभाविक सत्य अवस्था ही स्वतंत्रता है। स्वतंत्र हो जाना ही देशप्रेम है।

अपने देश को वही स्वतन्त्र कर सकता है जो अपने को स्वतंत्र कर चुका है। ऐसा पुरुष जिस समय जहां रहता है वहीं उसका स्वतंत्र देश बन जाता है। स्वतंत्रता किसी के पीछे चल-कर या औरों को अपने पीछे चलाकर पाने की वस्तु नहीं है। अपने को परतन्त्र समझना छोड़ देना ही स्वतन्त्रता है।

जिसे मणि पा जाती है वह उससे अपने आप अपनी रक्षा करा लेती है। वह उससे अपनी रक्षा के उपाय सुचवाती और उन्हें प्रयोग में लाने के लिए उत्तेजित करती है। जिसे मणि नहीं पाती वह उसकी रक्षा तथा उसके उपायों से अनभिज्ञ रहता है। मणि आने से प्रथम कोई उसकी रक्षा नहीं करता। यही स्वराज्य की अवस्था है। जिसे स्वराज्य मिल चुकता है वही उसकी रक्षा करता है। स्वराज्य पाए हुए लोग ही स्वराज्य की रक्षा कर सकते हैं। जिन्हें स्वराज्य नहीं मिला वे स्वरा-ज्य की रक्षा नहीं कर सकते। लोग स्वतन्त्र न हों अर्थात् वे स्वतंत्रता के स्वरूप को न समझते हों और स्वतंत्रता उनका लक्ष्य हो यह सर्वथा असम्भव बात है। पायी हुई स्वाधीनता रूपी मणि अपने आप अपनी रक्षा करा लेती है। स्वा-धीन मनुष्य को स्वाधीनता रूपी मणि पहले से ही मिल चुकी होती है। वह फिर उसे स्वाधीनता की रक्षा के लिए विवश कर डालती है। पराधी-नताका अदम्य तथा अत्याज्य विरोध ही स्वाधी-नताका अभिप्राय है।

मनुष्य जिस समय जिस स्थानपर रहता है उस स्थान के साथ उसके कुछ कर्तव्य बन जाते हैं। जहां मनुष्य का कर्तव्य है वही मनुष्य का देश है। देश के प्रति कर्तव्य-पालन करना ही देश-प्रेम है।

शुद्ध मन ही कर्तव्यपालन कर सकता है, अशुद्ध नहीं। अशुद्ध पतित दास मन रखनेवाले लोग देशप्रेम कर सकें यह असंभव कल्पना है। दूसरे शब्दों में आत्मदर्शी मनुष्य ही कर्तव्यपालन कर सकते हैं और वेही देशप्रेमी हो सकते हैं। भोगपरायण लोग देशप्रेमी नहीं हो सकते। वे तो भोगप्रेमी होते हैं। वे देश का ध्यान छोड़कर केवल अपने भोग को सुरक्षित रखना चाहते हैं। भोगार्थी से देशप्रेम की आशा बांधना अज्ञान की बात है। आत्मदर्शी ज्ञानीके सामने जब जो कर्तव्य आता है क्योंकि वह उसे पालकर आत्मदर्शन के आनन्द लेने का लोभी होता है इसलिए वह उसे तन्मयता से पालता है। ज्ञानी के जीवन में अज्ञान से संग्राम करने का अवसर प्रत्येक क्षण आता है। उस समय ज्ञानी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अज्ञान से बचा रहकर अपने को ज्ञानी और विजयी बनाए रहे। ज्ञान की अवस्था को विजयी रखना ही ज्ञानियों का देशप्रेम है।

देशप्रेम केवल ज्ञानी आत्मदर्शी पुरुषों का काम है। अज्ञानी नास्तिकों का नहीं। स्पष्ट शब्दों में ज्ञानी पुरुषों का आत्मप्रेम ही देशप्रेम बन जाता है। इस प्रकार के देशप्रेमी लोग ही किसी देश को स्वतन्त्र रख सकते हैं। बात यह है कि जब देश की स्वतन्त्रता अपने स्वभाव के अनुसार कठोर क्रीडा करना प्रारंभ करती है तब भोगार्थी देशप्रेमी देशप्रेम का बाना उतार कर फेंक देते हैं। अपने अन्तिम श्वासों तक देशप्रेमी बने रहना केवल आत्मज्ञानी ब्रह्मदर्शी स्थितप्रज्ञ ब्रह्मीभूत वीर पुरुषों का काम है। आत्मज्ञान ही राष्ट्र के सब रोगों का एक इलाज है। आत्मज्ञान से मनुष्य को संसार का नियम ज्ञात हो जाता है जिसको वीर बनाना चाहो उसे संसार का नियम समझाकर आत्मज्ञानी बना दो। भोगासक्त समाज से ऐसी आशा बांधना अज्ञान की बात है।

कहने का भाव यही है कि जबतक भारत में आध्यात्मिक आग नहीं सुलगेगी तबतक भारत में देशप्रेम प्रकट नहीं होगा। आज भारत में देशप्रेम नहीं है। भोगप्रेम ही भारतवासियों का देशप्रेम है। यह तो सच है कि आज भारतवासियों में अंग्रेजों का वैभव भोगने की ईर्ष्या जाग उठी है।

भारत इसलिए स्वराज्यार्थी नहीं बना है कि मनुष्य को स्वतन्त्र रहना ही चाहिए किन्तु भोग की मांगने ही भारत को स्वतंत्रताका नाम रटवाया है। जिस रोटी कपडे की समस्याने भारत को पराधीन बनाया है वही रोटीकपडे की समस्या भारत को स्वतंत्रता कमाकर देगी यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है। यह वर्तमान भारतीय विचारपद्धति की समझ की भूल है। यह भारत को परतन्त्र रखनेवाला विचार है। यदि भारतवासियों का मन रोटीकपडे की समस्या को ताकपर रखकर स्वाभिमान मनुष्यता उच्चता उदारता गौरव आदि गुणोंको भारतीय स्वतंत्रता का ध्येय घोषित कर दे अर्थात् सत्य और अहिंसा को भारत का लक्ष्य मान ले और भारत में मानसिक उच्चता का वातावरण बना डाले तो भारत को स्वतन्त्र होने में एक क्षण की भी देर न लगे और रोटीकपडे की समस्या भी अपने आप हल हो जाय।

भारत की भूमि परतंत्र नहीं है। भारत का मन परतंत्र हो गया है। भारतीय मन परतंत्रता को सह गया है। भारत का मन इतना गिर गया है कि मानो भारत पराधीन रहने के ही लिए बना हो। भारतमें स्वाधीनताका उत्साह नहीं पाया जाता। आज भारत अपने को दूसरों की आज्ञा पालने के लिए विवश मान बैठा है। मनुष्य मनुष्य का कहना माने, मनुष्य मनुष्य से दब जाय; मनुष्य मनुष्य होकर अपमान के घूंट पी जाय; मनुष्य मनुष्य के दिल में चुभनेवाली पराधीनता और अपमान के विरोध में खडा न हो यह बडी अस्वाभाविक अवस्था है।

भारत की भूमि परतंत्र नहीं है। परतंत्रता भूमिका धर्म नहीं है। परतंत्रता मन का धर्म है। भारत के मनने परतंत्रता को स्वीकार तथा सहन कर लिया है। मनकी परतंत्रता ही भारत की परतंत्रताका स्वरूप है। जबतक भारतवासियोंके मनका यह स्वभाव नहीं हटाया जायगा तबतक लाख बरस तक भी भारत को स्वराज्य प्राप्त नहीं होगा। जबतक भारत में सामाजिक जीवन नहीं आयेगा, जबतक भारतमें समाजके प्रति कर्तव्यबुद्धि जागकर खडी नहीं होगी, जबतक भारत में मनुष्यता के नामपर काम करनेवाली शक्ति नहीं जागेगी तबतक भारतीय समाज दास बना रहेगा।

जहां मनुष्य का कर्तव्य का सम्बंध है वहीं मनुष्य का समाज है। विना समाज का कोई मनुष्य नहीं होता। मनुष्य समाज में उत्पन्न होकर आजीवन समाज से संबद्ध रहता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह समाज के साथ अपने कर्तव्यपालन के संबंध को उत्तरदायित्व के साथ निभाए। ऐसा करने से मनुष्य का तथा समाज

का दोनों का कल्याण होगा। नहीं तो दोनों का अकल्याण होगा और यही दोनों की मृत्यु मानी जायगी। जहां समाज तथा मनुष्य का संबंध कर्तव्यपालन से सुरक्षित नहीं रखा जायगा, वहां के मनुष्य तथा समाज दोनों मृत माने जांयगे। ज्ञान ही मनुष्य का जीवन है, और अज्ञान ही मनुष्य की मौत है। ज्ञान ही मनुष्य की विशेषता और महत्व है। समाज के साथ मनुष्यका जीवन-मरण का सम्बन्ध जुडा हुआ है।

यदि समाज ज्ञानी हो तो उस समाज में जन्म लेने वाले मनुष्य ज्ञानरूपी अमृत के अधिकारी होकर जीवित रहते हैं। यदि समाज अज्ञानी हो तो उस समाज में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अज्ञानरूपी विषपान करनेवाले श्वास लेते रहने पर भी मृत पराधीन और पददलित होते हैं। पृथक् पृथक् मनुष्यों के जैसे व्यक्तिगत जीवन होते हैं वैसाही समाज का सामूहिक जीवन बन जाता है। इसलिए समाज-गठन का उत्तरदायित्व मनुष्य के व्यक्तिगत जीवनपर निर्भर होता है।

मनुष्यको स्वतंत्र बनानेवाले विचार (ज्ञान)का स्वरूप।

यदि समाज को सुधारना हो तो देश व्यक्तिगत जीवनों के सुधारने की सेवा की जानी चाहिए। यदि देश का व्यक्तिगत जीवन पवित्र कर लिया जायगा तो सामूहिक जीवन अपने आप सुधर जायगा। इस उत्तरदायित्व को समझ जाना ज्ञान है। ज्ञानी मनुष्य अपने आपको आदर्श ज्ञानी समाज का सदस्य मानकर सब प्रकार के विघ्नों को परास्त करके सत्य की सेवा करता रहता है। सत्यकी सेवासे ही समाजकी सेवा होती है। सत्य ही ज्ञानियों की सेवा लेता है। जबतक भारत में इस प्रकार के जीवन नहीं आयेंगे तबतक भारत की स्वतंत्रता को सिंभालनेवाली शक्ति कहां से उतर आयेगी? यदि सारा भारत रोटी-कपडा कमाने को जीवन का लक्ष्य मानकर उसमें फंसा रहेगा तो बताओ कि भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सैनिक कहां से आयेंगे? यदि भारत में भारतीय स्वतन्त्रता के स्वयंसेवकों की भीड देखने की इच्छा हो तो भारत के बच्चे बच्चे में आध्यात्मिक चेतना फूंकने पडेगी। अर्जुन को दिया हुआ श्रीकृष्ण का यह संदेश आज फिर दुबारा भारतवासियों को बताना पडेगा कि तुम स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाली सत्ता नहीं हो। मनुष्य बनने वाली शक्ति सदासे मनुष्य बन रही है और बनती रहेगी। वह सदासे मानव-लीला कर रही है और करती रहेगी। मनुष्यताका आनन्द भोगना ही उस मनुष्य बननेवाली शक्ति का अभिप्राय है। वह एक ही सत्ता अपने इसी अभिप्राय को पूरा करने के लिए अपने आपको कोटि कोटि मनुष्य-देहों में प्रकट कर रही है। इसलिए मनुष्यों को अपने को संसार से पृथक् अस्तित्व रखनेवाली सत्ता न मानकर, अपने आपको सर्वव्यापी विराट् अस्तित्व जानकर, कर्तव्यपालन का विमलानन्द भोगकर, जीवन को धन्य बना लेना चाहिए। मनुष्य-जातिके व्यक्तिगत जीवनों तथा उनकी क्षुद्र सुविधाओंके कीचडोंमें नहीं फंसना चाहिए।

क्योंकि व्यक्तिगत जीवन का स्वेच्छाचार देह-विकार होनेसे मनुष्य की मूढता है। मनुष्य पूर्ण है, परब्रह्म है, नारायण है, अमृत का पुत्र है और आनन्दस्वरूप है। जो मनुष्य शरीरमोह से या देहविकारों से ऊपर उठकर कर्तव्यपरायण हो गया है उसका जीवभाव नष्ट हो चुका है, वह साक्षात् नारायण है। उसके शरीर में साक्षात् पर-ब्रह्म मानव-लीला कर रहा है। मनुष्य-जाति को अपने इस स्वरूप भूत-माहात्म्य को पहचानकर अपनी छाती ऊंची रखकर संसार-यात्रा करनी चाहिए। उसे भोगोंकी दासता को छोडकर अर्थात् भोगों के नामपर किसी से दबना छोडकर अपने अमृतपुत्र होने का सौभाग्य भोगना चाहिए। उसे शत्रुओं को अर्थात् कर्तव्यपालनके विघ्नोंको हटानेमें अपनेको घृताहुति के समान होमकर अपने जीवन को सफल बनाकर अपने शरीर में मनुष्यता को विजयोत्सव मानने का अवसर देना चाहिए।

जबतक भारत में इस प्रकार की अनभिभवनीय अदम्य अत्याज्य चेतना नहीं जगाई जायगी, जब तक मनुष्यताही भारत का सम्राट् नहीं बन बैठेगी, तबतक भारतीय स्वराज्य भारतीय नेताओं के नेतृत्व का साधन मात्र बना रहेगा और स्वराज्यार्थी भारत पराधीनता की जडों को सींचता रहेगा। जबतक भारतीय स्वराज्यवादी भारत के मन में घुसकर बैठे हुए अंग्रेजों को वहां से न निकालकर उनको भारत की भूमिपर से भगाने के उपाय सोचते रहेंगे तबतक अंग्रेजों के पंजे भारतकी गहरे गडते चले जायगे।

संसार में जितने मनुष्य हैं सब एकही सर्वव्यापी आत्मा के मनुष्यता का आनन्द लेने के लिए कोटि कोटि मनुष्य-शरीर धारण करने के स्वभाव में से उत्पन्न हुए हैं। सब एकही आदि पुरुष के सन्तान हैं। सब एक जैसा अधिकार लेकर आये हैं। कोई किसी से न्यून या अधिक अधिकार लेकर नही आया। मनुष्यताके नाते इस संसार में सब का समान अधिकार है, अधिकारों का न्यूनाधिक होना मनुष्य की दुष्ट बुद्धि का परिणाम है। क्योंकि कोई किसी से कम अधिकार लेकर नहीं आया, इसलिए किसी को अपने आपको किसीसे कम अधिकार वाला मानकर किसी के दास या लूट के शिकार बनने या दुष्टविरोध त्याग देने का अधिकार नहीं है। क्योंकि कोई किसीसे अधिक अधिकार लेकर नहीं आया इसलिए किसी को अपने आपको किसी से अधिक अधिकार वाला मानकर किसी के प्रभु अर्थात् लुटेरे बनने का अधिकार नहीं है। जो अपने अधिकार को किसी दूसरे की तुलना में घटा लेता है वह भी मनुष्य नहीं है और जो अपने अधिकार को दूसरे के अधिकार से बढा लेता है वह भी मनुष्य नहीं है। तुलना और लूटना दोनों पतित अवस्था हैं। यह फाड खानेवाले तथा शिकार बननेवाले जानवरों का स्वभाव है।

जबसे मनुष्यने इस लुटने तथा लूटने के पशुस्वभाव को अपनाया है तबसे मनुष्यजाति मनुष्यता से पतित हो गई है और परिणाम-स्वरूप दुःख, दारिद्र्य, कलह, वंचना, रक्तपात तथा भयंकर संघर्ष का क्षेत्र बन गई है।

क्योंकि प्रत्येक मनुष्य एकही आत्मा का रूपांतर है इसलिए सबको सब के जीवनाधिकार का ध्यान रखना चाहिए। सबको सबका अविरोधी सर्वहितकारी जीवन बिताना चाहिए। किसी के हितपर स्वार्थ के दांत न गाडना ही सर्वहितकारी जीवन बिताना है।

जबतक मनुष्य इस महा सत्यको नहीं पहचानेगा कि मनुष्य का मनुष्य से ऐकात्म्य के नाते अच्छेद्य भ्रातृभावका सम्बन्ध है, मनुष्य मनुष्य के साथही नही किन्तु त्रिलोकी के साथ अच्छेद्य भ्रातृभाव से जकडा हुआ है, तबतक वह लुटना भी नहीं छोडेगा और लूटना भी नहीं छोडेगा। अर्थात् तबतक मनुष्य-समाज में से दूसरों से लुटनेवाले आसुरी (राक्षसी) स्वभावको निकाल सकना असंभव रहेगा। ऐकात्म्य का परिज्ञान ही एक ऐसा व्यावहारिक शान्तिदायक सिद्धांत है, जो मनुष्य को दैवी संपत्ति से संपत्तिमान, सब को आत्मरूप दिखाकर सबसे मनुष्यता से बर्ताव करनेवाला, आत्मसंयमी, जितेंद्रिय, स्वतंत्र, धीर, वीर, क्षमी, उदार, अहिंसक, सहिष्णु समचित्त, दृढ, आदर्शनिष्ठ, सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ विचारशील, तथा कर्मकुशल बना देता है। आत्मदर्शी पुरुष न तो कभी किसीसे बुरा बर्ताव कर सकता है, और न कभी किसीके बुरे बर्तावको सह सकता है। वह जन्ममृत्यु को तो देह का स्वभाव जानकर और भय से न घबराने को अपना (आत्माका) स्वभाव मानकर अनधिकारियों का अदम्य विरोध करने के लिए एक ही क्षण में कटिबद्ध हो जाता है। ऐसे ज्ञानी मनुष्यों से ही किसी देश की सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा होती है।

यदि समाज को स्वतंत्र देखने की इच्छा हो तो

ऐकात्म्य ज्ञान को ही जातीय लक्ष्य घोषित करके सारे समाज का संपूर्ण ध्यान इस ओर खेंच लेना चाहिए। देशको यह बताना चाहिए कि आत्मा का स्थान शरीर से बहुत ऊंचा है। देह नाशवान है, आत्मा अमर है। अमर को तो पतित कर लेना और मरनेवाले को मरने से बचाने की चिन्ता करके कायर बनना मनुष्यका घोर अज्ञान है। संपूर्ण सामाजिक नियम तथा व्यवस्था अध्यात्मवाद को ध्यान में रखकर ही रची जानी चाहिए। यही सामाजिक सुव्यवस्था का मूल मंत्र तथा ध्रुव यंत्र है। समाजव्यवस्था में सबका समान अधिकार होना चाहिए। इसके विपरीत किन्हीं मनुष्यों का अधिकार घटानेवाली तथा किन्हीं का अधिकार बढानेवाली व्यवस्था से पूर्ण असहयोग कर देना चाहिए। दूषित व्यवस्था में असहयोग करनेसे ही सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा होती है।

जो देशसेवक देशमें सच्ची शक्तिको काम में आता हुआ देखना चाहें, उन्हें सबसे प्रथम देश का अज्ञान मिटाना होगा और देश में ज्ञानज्योति फैलानी होगी। मनुष्य का अपने स्वरूप को न जानना ही अज्ञान का मूल रूप है। अज्ञान ही भय का कारण होता है। देशको निर्भय करने के लिए उसे बताना होगा कि आत्मा अमर है। मरना जीना शरीरों का अनिवार्य धर्म है। कौनसी विपरीत घटना कब किस शरीर के सामने आकर खडी हो जायगी, इस बातपर मनुष्य का लेश मात्र भी अधिकार नहीं है।

इसलिए मरना जीना शोककी बात नहीं है। यह तो आत्मा का स्वभाव है। किसी के स्वभावपर रोना, शोक मनाना या मरने से डरकर का-पुरुषों तथा दासों का जीवन बिताना यह सब अज्ञानी पामर लोगों का स्वभाव है। जिस तत्त्व से मनुष्य बनता है, वह सदासे है और सदा रहेगा। जिस प्रकार देह में कुमारावस्था, यौवन और जरा आती हैं, इसी प्रकार मृत्यु भी आती है। मनुष्यशरीर धारण करनेवाली सत्ता पुराने वस्त्रों के समान पहले देहों को छोडकर नवीन वस्त्रों के समान नये देहों को धारण कर लेती है। मनुष्य को इस अपने निर्माता नियम को जानकर धीर तथा निर्भय रहना चाहिए। धीर रहने का अभिप्राय यह है कि सत्य की सेवा के नाते जीवन में क्रांति या उथलपुथल होने लगे, कष्ट समझी हुई घटनायें आने लगें, तो उनसे घबराना नहीं चाहिए।

अर्थात् मनुष्य को भय के प्रसंगों में भी कर्तव्य-परायण रहना चाहिए।

मनुष्य को अपने आपको इंद्रियों के रूपस्पर्श आदि अनुभवों तक सीमित नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को अपने को इंद्रियों के सुखदुःखों के साथ बांधकर नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को अपनी मनुष्यता के उस विशाल क्षेत्र को जानना चाहिए। जहां सुखदुःख के प्रश्न नगण्य हो जाते हैं, जहां केवल आत्मसम्मान, आत्मगौरव, आत्मनिष्ठा तथा सत्यकी सेवा काही एकमात्र ध्यान रखना पडता है और शरीर को सेवाग्नि का ईंधन बना देना पडता है। इसके लिए मनुष्य को इंद्रियों की खेंचातानी की उपेक्षा करके अत्याचारियों के गर्जन, तर्जन, वर्षण तथा अशनिसंपात को फूटी आंखों से देखकर अपने मनुष्यता नामके सिंहासन से एक पैर भी नीचे नहीं उतारना चाहिए।

जो पुरुष इंद्रीयोंके सुखदुःखसे तंग नहीं होते, वे धीर हैं। वे अमर हैं। वे साक्षात नारायण हैं। उनके शरीरों में साक्षात परमेश्वर मानवलीला कर रहा है।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि मैं कभी नहीं मरूंगा तथा यह शरीर अमर नहीं है। न तो मनुष्य को अपने मरने का डर होना चाहिए और न मनुष्य को शरीर को अमर रखने की चिन्ता करके किसी अन्याय के नीचे पिसकर मरना चाहिए।

मनुष्य को जानना चाहिए कि मनुष्य बननेवाला सर्वव्यापी आत्मा ही केवल अमर है। वही

अमर आत्मा मनुष्य बना है। वही मैं हूं। इस अमर को मारनेवाली शक्ति संसार में नहीं है।

मनुष्य को जानना चाहिए कि हम सबको हम सबके नित्य अविनाशी, सर्वव्यापी आत्माने अपनी मनुष्यताका आनन्द भोगने के लिए उत्पन्न किया है। उसने केवल कुछ काल के लिए जो अनन्त मानवदेह धारण कर लिए हैं, उन्हीं में से मेरा समझा हुआ यह एक देह भी है। हम सबका अविनाशी आत्मा ही इस देह का मालिक है। इसलिए हमें मरने के भय को त्यागकर असत्य के विरोध की आहुति बन जाना चाहिए। जो इस आत्मा को मरनेवाला मानकर डरते हैं या जो अत्याचारी के मारने को हिंसारूपी अपराध समझ कर इससे घबराते हैं, वे दोनों नहीं जानते कि वे स्वयं क्या हैं? वे सब अज्ञानी हैं। वे दास बनकर संसार में आए हैं और दास रहकर ही यहां से चले जायंगे।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि मैं कोई आज नया नहीं बना हूं या मैं मरकर लुप्त नहीं हो जाऊंगा। मैं तो सदासे हूं सदा रहूंगा। मैं अजन्मा आत्मा हूं। शरीर के टुकडे टुकडे कर दिये जाने पर भी मैं अमर रहूंगा। जो मनुष्य अपने को अविनाशी नित्य अजन्मा अव्यय आत्मा समझ जायेंगे, उन्हें संसार की कोई शक्ति कर्तव्यविमुख नहीं कर सकती। वे मरनेमारने का नाम सुनकर कभी नहीं घबराते। वे रणयात्रा करते समय समझते हैं कि हम अपने सत्यनारायणरूपी आत्मा की आज्ञा से पुराने वस्त्र उतारकर नये वस्त्र पहनने जा रहे हैं। वे मन में यह संतोष लेकर असत्यविरोधी समरयात्रा करते हैं कि हमें कर्तव्यपालन की प्रेरणा देनेवाले हमारे सत्य की पुकार शस्त्रों या भौतिक बलों से नहीं रोकी जा सकती। जबतक हम जियेंगे तब हमारे सत्यकी पुकार रोकी नहीं जा सकती। यह बदली या दबायी नहीं जा सकती।

यदि भारतवासियों को आत्मा का यह स्वरूप भले प्रकार समझा दिया जाय, तो सारा भारत वीरों की सेना बनने में देर न करे और इतने से ही भारतविरोधियों का कलेजा कांप उठे।

भारत की पराधीनता की व्याधि केवल उसका अनुत्साह है। जिस समय ज्ञान के फैलाव से भारत का ३५ करोड मनोबल जागकर खडा होगा, तब ही भारत के अनुत्साह के बादल फटेंगे तब अनधिकारी लोग भारत की तेजोदृप्त आखों के सामने ठहरने का साहस खो बैठेगा। ३५ करोड मनोबल का विरोध सहना अर्थात् किसी जागे हुए राष्ट्र की थाली का टुकडा उठाना साधारण बात नहीं है। आज देश के दुर्भाग्य से देश को आत्मबोध नहीं है। इसी कारण अनधिकारी को विना मूल्य चुकाए विजेताका यश मिला हुआ है। यदि भारत केवल इतनी बात समझ जाय कि मेरे अनुत्साहने ही अनधिकारियों का उत्साह बढा रखा है, तो भारत में स्वराज्य आ गया समझा जायगा।

ज्ञान होने पर ही कर्म में पूर्णता आती है। यदि मनुष्य अज्ञानी रहकर कोई काम करता जाय, तो उसका काम लक्ष्य से चुका रहता है। वह काम सैंकडों वर्षों तक अधूरा रहता चला जाता है। वह अंधेरे में हाथ पैर मारता रहता है।

जिस प्रकार भारत कांग्रेस के भ्रांतमार्ग से गत ५० वर्षों से स्वराज्य के लिए असफल प्रयत्न कर रहा है, वह भारत का अज्ञानपूर्वक किया हुआ काम है। उस काम के नीचे बुनियाद नहीं है। वह कुछ व्याख्याताओं के व्याख्यानों से पैदा की हुई एक निष्फल चर्चा है। परन्तु जब कर्म ज्ञानपूर्वक होता है, अर्थात् कर्म के साथ ज्ञान का सम्बन्ध होता है तब कर्म में एकही क्षण में पूर्णता आ जाती है। सीधी सादी डेढ बात है कि भारत के अज्ञान से भारत बंधा है। अंग्रेजों के आने से भारत नहीं बंधा। भारत बंधने को तैयार बैठा था तब अंग्रेजों को प्रवेश मिला। भारतने अपने अज्ञान से अंग्रेजों

को भारत में ठहराया। भारत के इस बंधन को भारत का आत्मबोध ही काट सकता है। भारत का आत्मबोध ही स्वराज्य की पक्की बुनियाद बनेगा। यदि भारत को आत्मबोध नहीं कराया जायगा, तो स्वराज्य के संपूर्ण प्रयत्न स्वराज्य की दूरी बढाते चले जांयगे।

मनुष्य के भोगासक्ति रहने तक कर्तव्यपालन की अवस्था नहीं आ सकती। भोगासक्त मनुष्य सदा ही कर्तव्य को टालते और अकर्तव्य को अपनाते हैं। भोगबंधन त्यागनेपर ही कर्तव्य के दर्शन होते हैं। तब मनुष्य अपने समझे हुए सब कर्मों को विश्वव्यापी कर्ममें सम्मिलित कर देते हैं। तब मनुष्य केवल अपनी मनुष्यता के दर्शन करने के लिए कर्म करता है। ऐसे पुरुषों की अपनी कहानेवाली कोई आवश्यकता नहीं होती। वे किसी पदार्थ को अपना नहीं मानते। ऐसे पुरुषों को कभी शोक नहीं होता। वे कभी भय या दबाव नहीं मानते। ऐसे पुरुष सृष्टिप्रबंध के दिये हुए काम में सहर्ष सम्मिलित हो जाते हैं। फिर चाहे वह कर्म उनके शरीर का अन्त करनेवाला ही क्यों न हो। वे भयके विषय में पूर्ण रूप से भ्रम-शून्य होते हैं।

जब देश इन सब बातों को समझ जायगा तब उसके लिये इन्हें अपने व्यवहार में लाना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जायगा। तब देश को किसी को कर्तव्य बताना नहीं पडेगा। तब देश को कर्तव्य सुझानेवाले व्याख्याताओं(लैक्चरारों) की आवश्यकता न रहेगी। तब देश स्वयं ही अपना नेतृत्व करेगा। देश का विवेक ही देश का नेता बन जायगा और वह देश को असत्य का विरोध करने के लिये घसीटकर युद्धभूमि में ले जाकर खडा कर देगा। जबतक देश को ज्ञानी न बना कर देश में नेताओंके व्याख्यानों का कोलाहल होता रहेगा, तबतक देश सुस्ती करता रहेगा। परंतु अपने अन्दर जागा हुआ विवेक देश को सुस्तीमें नहीं रहने देगा। तब देशमें ज्ञानियों का स्वभाव आ चुका होगा और वह सारे भारत को ३५ करोड मोर्चों के रूप में बदल डालेगा। यही मनोबल भारतीय स्वराज्य की अवस्था बनेगा।

जबतक देश के मन में अपनी ओर से लडने की अन्तःप्रेरणा नहीं उठेगी, तबतक वह किसी के भी बुलाने से संग्रामभूमि में नहीं जायगा। देश कभी किसी के कहने से नहीं लड सकता। देश जब लडेगा तब अपनी ही अन्तःप्रेरणा से लडेगा। देश से लडने के लिए कहना सर्वथा बेकार है।

मनुष्य ज्ञान से युद्ध करता है और अज्ञान से युद्धविमुख होता है। जिसे युद्धमग्न देखना चाहो, उससे युद्ध करने को न कहकर युद्ध की कर्तव्यता के विषय का ज्ञान दो। ज्ञान उसे अपने आप लडाकर छोडेगा। इस सम्बन्ध में देशसेवकों का केवल यह कर्तव्य है कि वे देश की मानसिक सेवा करें। उन्हें देश के सामने वे सारी सचाइयां खोलकर रख देनी चाहिएं जो मनुष्यमें आग फूंक देती हैं और क्षणभरमें मनुष्य को युद्धोद्यत कर डालती हैं। आज भारत को लडने की अन्तःप्रेरणा देनेवाली सेवा की परम आवश्यकता है। जिस समय देश का अपना अपना ज्ञान देश की स्वतंत्रता के लिए लडने को विवश करने लगे तब सेवा को पूरा हुआ समझना चाहिए। यही वही समय होगा, जब देशको लडने के लिए कहना नहीं पडेगा। तब देश युद्धार्थी, युद्धप्रिय, युद्धमग्न और युद्धविजयी होगा।

जब भारत ज्ञानपूर्वक स्वराज्य का काम हाथ में लेगा तब भारत को विगत युद्ध के समान अपना विरोध रोकना नहीं पडेगा। क्योंकि तब भारत के कर्म के साथ ज्ञान का अटूट सम्बन्ध जुड चुका होगा। तबही भारत निष्पाप होकर चमकेगा। तब भारत अज्ञानरूपी महाभय से बच जायगा और निर्भय स्थिति में रहकर सम्मान से दिन बितायगा।

ज्ञानका मार्ग ऐसा मार्ग है कि इसमें मनुष्य अपने अन्तर्नाद के ऊपर एक पक्का निश्चय कर लेता है । फिर वह उसे बदलना छोड देता है । फिर वह आगामी छान देखकर उसी निश्चय का उपासक, सेवक तथा भक्त बन जाता है। फिर संसार की बडी से बडी राक्षसी शक्ति उस ज्ञानी का निश्चित किया हुआ मार्ग छुडाने में बुरी तरह हारती है। फिर सुखदुःखों के सारे उतारचढाव उसे उसके निश्चित मार्ग से विचलित करने में असमर्थ हो जाते हैं। ज्ञानी भौतिक सुख नहीं चाहता । वह केवल अपना कर्तव्यपालन चाहता है ।

परंतु अज्ञान से कर्म करनेवाले मनुष्य सदा अनिश्चयात्मक होते हैं । वे कभी किसी के कहने से युद्ध जैसा निश्चयात्मक काम नहीं कर सकते। उनकी बुद्धि चंचल होती है । कारण यह होता है कि वे चंचल भौतिक सुखों के भिखारी होते हैं । वे अस्थिर पदार्थों में से सुख ढूंढते हैं। इस लिए सदा अस्थिर रहते हैं। वे सदा अभाव और आवश्यकताओं से सताए जाते रहते हैं। वे संग्रामक्षेत्र में भी अपनी सुखसुविधाओं का मोलतोल करके संग्राम हार कर आते हैं। वे जो चाहते हैं, वह उनके पास नहीं है । जो उनके पास नहीं है, उसी को वे चाहते हैं। वे सम्मान, स्वाभिमान, गौरव, तथा मनुष्यता के अमर आनंद को नहीं पहचानते। वे भौतिक सुख को ही अहो भाग्य मानते हैं । वे जन्मभर आय बढाने के उपायों में लगे रहते हैं। वे सम्मानरक्षा के समय भी आय बढाना चाहते हैं। वे आय बढानेवाली बातों के पीछे भेडों के समान दौडते हैं। वे भोगों के पीछे पडकर चित्त को डावांडोल कर देते हैं।

जबतक मनुष्यजाति अपने स्वरूप को नहीं समझेगी तब भोगों के ऊपर जान देना और सम्मान खोना नहीं छोडेगी। जब वह ज्ञानी हो जायगी तब उसे भौतिक सुखों की चिंता छोड देनी पडेगी, तथा मानसिक शांति पाने में ही जीवन की सफलता का मार्ग पा जायगी । वह फिर सुखदुखातीत निष्काम तथा पूर्णता की अवस्था में चली जायगी ।

जब देश में ज्ञान की बाढ आयेगी, तब संगठनी उपदेशों की आवश्यकता हट जायगी । तब देश की आंख खुलेगी और आंख खोलकर कर्म करना अनिवार्य बन चुकेगा। तब सब अपना अपना अधिकार रखना सीख जायंगे। तब कोई न तो अपने अधिकार से बाहर जायगा और न किसी को अपने अधिकार की सीमा में आने देगा। तब सब देशवासी कर्तव्यकर्म की पूज्यता को समझेंगे। देशमें से फल का लालच हट चुका होगा। तब भारतवासी मनुष्य देखेगा कि मैं तो भारतीय स्वतंत्रता की सेवा के लिए पैदा किया गया हूं। मेरा अपने को पराधीन रहने में सुखी मानने का कोई अधिकार नहीं है । तब स्वतंत्रता के मार्ग में आनेवाले कष्ट स्वतंत्रता के ही उत्तेजक बन जायंगे। तब देश में फललोभियों का बोलबाला न रहकर कर्तव्य के सेवकों का बोलबाला हो जायगा । देशका प्रबन्ध कर्तव्यपालनार्थी इस नम्र सेवकों के हाथों में होगा, जो कि देशसेवा करके अपनी मनुष्यता की आराधना कर रहे होंगे । तब कोई भी फललोभी होकर कर्तव्य से बचनेवाला न रहेगा।

मनुष्य को भौतिक विजय के लिए स्वराज्य-संग्राम छेडने की भूल न करनी चाहिए। उसे तो भौतिक सिद्धि-असिद्धि को सम मानकर और दोनों को देखने के लिए पूर्ण तत्पर रहकर कर्तव्य-कर्म करना चाहिए । मनुष्य को अज्ञानपूर्वक कर्म न करना चाहिए। अज्ञानपूर्वक कर्म करना मनुष्य की मृत्यु है। परंतु जबतक मनुष्य बुद्धि (ज्ञान) की शरण में नहीं जायगा, अर्थात् जब तक कर्म करते हुए फलाशा रखना नहीं छोडेगा, तबतक विषयासक्त रहेगा, फलाशा से कर्म करेगा और उलटे उलटे काम करता रहेगा।

मनुष्य अज्ञान में फंसकर उन्मार्गगामी हो जाता है। मनुष्य को जानना चाहिए कि इस सृष्टि की एक व्यवस्था है। वह सदा से होती चली आ रही है और सदा होती चली जायगी। जब मनुष्य नहीं था तब भी यह व्यवस्था थी। जब मनुष्य नहीं रहेगा, तब भी यह व्यवस्था रहेगी। इस सृष्टि-व्यवस्था में कर्मों की माला घूम रही है। कभी कुछ होता है और कभी कुछ होता है। अचिंतित भाव से ऐसे ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं कि, मनुष्य अवाक् रह जाता है। तब मनुष्य को अपना अकर्तापन और सृष्टिव्यवस्था का अचिन्त्यपना ध्यान में आता है। मनुष्य देखता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। सृष्टिव्यवस्था अपने आप सब कुछ कर रही है। मनुष्यजीवन भी सृष्टि की कर्ममाला में का एक कर्म है। मनुष्यशरीर से होनेवाले कर्म भी इसकी कर्ममाला के कर्म हैं। मनुष्य को कर्म का यह स्वरूप पहचानकर निष्कामभाव से कर्म करना चाहिए।

ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले का निष्काम होना अनिवार्य है। ज्ञानी जन्ममरण, हानिलाभ आदिको भी सृष्टिका कर्म मानता है। ज्ञानी होते ही मनुष्य के मंगतापन का अन्त हो जाता है। वह ईश्वर से भी मांगना छोड देता है। वह कहता है हे ईश्वर! तुम चाहे जितने बडे ईश्वर हो, मुझे तुम से कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थरूपी ईश्वर की शरण में हूं। मेरा पुरुषार्थरूपी ईश्वर मुझे जो देता है, वही मेरे लिए पर्याप्त है। इसी मनोदशावाले पुरुष को ज्ञानी कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष को स्वतंत्रता के सम्बंध में व्याख्यान सुनना अनावश्यक हो जाता है। वह किसी व्याख्यानका अंधश्रद्धालु नहीं रहता। उसका ज्ञान कानों से होकर भीतर नहीं आता। उसका ज्ञान का झरना उसीके हृदय में लहर मारता रहता है। वही ज्ञानी का शासक और राजा है। इसके राज्य में रहना ही ज्ञानी का स्वराज्य है।

सुनी सुनाई बातें मनुष्य की बुद्धि को बहक में डाल देती हैं। वह कुछ निर्णय करने में असमर्थ बन जाता है। ज्ञान न होने तक मनुष्य प्रतिकूल अवस्थाओं से तथा उनकी संभावनासे भी घबरा उठता है। ज्ञान आते ही घबराने की अवस्था कूच कर जाती है। संसार का कोई भी लोभ उसका स्वीकृत मार्ग नहीं छुडा सकता। जबतक देशमें इस प्रकार की स्थिर बुद्धि नहीं जगायी जायगी, तबतक भारत का स्वराज्य स्वप्नराज्य बना रहेगा।

आज देश में स्थितप्रज्ञ अर्थात् अपनी बातपर स्वाभिमानपर या सत्यपर डटनेवाले लोगों को उत्पन्न करने की आवश्यकता है। सत्यपर वही मनुष्य डट सकता है, जो सत्य की तुलनामें अपनी संपूर्ण सांसारिक अभिलाषाओं को उठाकर ताकपर रखने में देर नहीं करता; जो केवल स्वाभिमान से तृप्त रहना जानता है; जो दुःखों के ईश्वरीय नियम से नहीं घबराता और अपने पास न आनेवाले भौतिक सुख के लिये लालायित नहीं रहता, जो राग, भय या क्रोध से चंचल नहीं होता, जो न अच्छे का अभिनंदन करता है और न बुरेसे घबराता है, जो अपने आपको सांसारिक खिंचावसे कछवे के समान सकोडकर अपने ऊपर पूर्ण शासन तथा सुदृढ नियन्त्रण रखता है; जिसकी सब इंद्रियां,जिसकी गौरवरक्षामें ही प्रयुक्त हो सकती हैं, जो रागद्वेषहीन होकर संसार के सब काम करता है। ऐसा मनुष्य जीवनभर केवल आनंद ही आनंद भोगता है। मौत का भय भी उसके पास निरानंद अवस्था नहीं ला सकता। वह कभी दुखी नहीं होता। उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

आत्मनिष्ठ होना ही शांति तथा आनंद का स्वरूप है। मनुष्य को आत्मबोध हुए बिना शांति तथा सुख प्राप्त नहीं होता। क्योंकि तबतक मनुष्य को सदसद् का विचार करनेवाली कसौटी नहीं मिलती। इसीसे वह इंद्रियों का दास बनकर भोगों के पीछे दौडता है। वह विवश होकर भोगी, अशांत तथा दुःखी बना रहता है।

मनुष्य की इंद्रियां सब प्रकार से निगृहीत और संयत रहें, यही बुद्धि की स्थिरता का स्वरूप है। यदि इंद्रियां निगृहीत नहीं, तो मनुष्य कब कौनसी भूलकर बैठेगा? इसका कोई ठिकाना नहीं रहता। आत्मनिष्ठ होनेपर इंद्रियां स्वभावसे मनुष्यता की सेवा करनेवाली बन जाती है। आत्माअनात्मा का विचार करके विषयों में अनासक्त रहना ही स्थिर बुद्धि का स्वरूप है।

ज्ञानियों तथा अज्ञानियों के विचारों की कसौटी एक दूसरे से सर्वथा विपरीत होती हैं। दोनों की दृष्टि में उल्लू तथा कव्वे के रातदिन का सा महान भेद रहता है। जिस प्रकार उल्लू का दिन कव्वे की रात तथा उल्लू की रात कव्वे का दिन होता है, इसी प्रकार जिस बातको ज्ञानी अच्छा समझता है। अज्ञानी उस बातको पागलपन कहता है। वह उससे सर्वथा विपरीत परिस्थिति को अच्छा समझकर उसमें लिपटा रहने में अहोभाग्य मानता है। ज्ञानी मानसिक उत्थान, पतन के दृष्टिकोणसे अपना कर्तव्यमार्ग बनाता है। अज्ञानी सत को ताकपर रखकर कर्तव्य को संसारी लाभहानि की दृष्टि से सोचता है।

वह सदा अस्थिर विषयों में सुख ढूंढकर चंचल, अस्थिर अपमानित और पददलित जीवन काटता है। ज्ञानी इंद्रियनिग्रह में कल्याण तथा इंद्रियों के बंधनमें आने को दुःख मानता है। अज्ञानी इंद्रियों के बंधन में रहने को सुख मानता है और इंद्रियनिग्रह में सुख का अभाव देखकर उसे दुःखदायी मानता है। ज्ञानी अपने आत्मा को जानकर पहले से ही तृप्त अवस्था में रहकर दूसरों से व्यवहार करता है। वह जीवन की प्रत्येक चेष्टा में आनंद भोगता है। उसे कभी सुखसे पृथक् नहीं किया जा सकता। अज्ञानी अप्राप्त सुखों के पीछे दौड दौडकर सुखकी दूरी बढाता रहता है। ज्ञानी वह समुद्र है, जिसमें सारी सांसारिक इच्छायें आकर डूब मरी हैं। उसके मन में सदा शांति बसती है। मैं मेरा तथा मेरी आवश्यकता का रोना ही संसार का बंधन है।

यही अशांति है। इससे विपरीत मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं, मेरी कोई आवश्यकता नहीं, सत्य ही सब कुछ है। उसीका सब कुछ है, उसीकी सब आवश्यकता हैं, यह मान लेना ही शांति है। सुख-दुःख को सम मानना, किसीको अपना न कहना, किसी भौतिक फल के नामपर कोई कामना छोडकर कर्तव्य के ऊंचे दृष्टिकोण से काम करना यही मनुष्यजीवन की सफलता है। यही स्थिर बुद्धि का स्वरूप है। इसीको ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है। यही सफलता की ऐसी कुंजी है, जो सदा मनुष्यकी मुट्ठी में रहती है।

संसार मनुष्यों का यात्रीगृह (मुसाफिरखाना) है। इसमें आकर मनुष्य जहां से आया है, वहां जाने के काल की प्रतीक्षा करता रहता है। मनुष्य का संपूर्ण जीवन अन्तकाल की प्रतीक्षा है। ज्ञानी मनुष्य इस बात को जानता है। वह अपने को प्रत्येक क्षण ज्ञान की मौत मारता रहता है।

इस स्थिति को पा चुका हुआ मनुष्य विषयासक्त नहीं हो सकता। इसे पानेवाला मनुष्य जल्लादोंकी तलवारों के सामने भी भौतिक सुख तथा स्वाभिमान इन दोनों में से स्वाभिमान को वर कर मौत तकको चूमने को तत्पर रहता है। स्थिर-बुद्धि ज्ञानी प्रथम ही अपने आपको ज्ञान की मौत मार चुकता है। उसे कोई क्या मारेगा? वह प्रत्येक क्षण अपने आप ही अपने को शरीर से पृथक् अनादि पुरुष के अशरीरी रूप में पहचानता रहता है। वह शरीर से धरती पर दीखता है, परंतु मन से त्रिलोकी में जगदात्मारूप से व्याप्त रहता है। उसे कोई क्या मारेगा? सत्यरक्षा के समय होनेवाली ऐसे पुरुषों के शरीर की मौत त्रिलोकी को कंपा डालती है।

जिस समय ऐसे सत्यनिष्ठ वीरों के अन्तिम श्वास किसी सत्य की रक्षा के लिए असत्य से युद्ध करते हुए शरीर को त्यागते हैं, तब उन वीरों

का सत्य के प्रति आत्मसमर्पण देशों में चेतना की बिजली दौड़ा देता है। सत्यनिष्ठों की सत्य-निष्ठा का यही स्वरूप है कि जब वे किसी काम को सत्य समझ लेते हैं तब फल की ओर न देखकर उस सत्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। जब ऐसे नित्यमुक्त पुरुष भारत की स्वतंत्रता के सैनिक बनेंगे तब स्वराज्य को भारत के चरणों में लौटना पड़ेगा।

स्वराज्य का एक प्राचीन उदाहरण।

यदि इतिहास का कोई लाभ है, तो अधिकारापहारी से अपना अधिकार लौटाने के लिए भारत अपने अतीतमें महाभारत में जो एक सफल उपाय कर चुका है, हम लोग वर्तमान में उससे लाभ क्यों न उठाएं? और नये नये वृथा परीक्षण क्यों करते फिरें? अर्जुन अपना अधिकार लौटने में आना कानी कर रहा था। वह हिंसा-अहिंसा आदि वृथा विवादोंमें पड़कर कर्तव्य करने के बहाने ढूंढ रहा था। क्योंकि वह यह नहीं समझ रहा था कि मैं कौन हूं? मेरा क्या स्वरूप है? क्या कर्तव्य है? मुझे बनाने बिगाड़नेवाला सृष्टिनियम क्या है? कर्तव्य कहां से और क्यों आता है? मनुष्य का कर्तव्य से क्या सम्बंध है? तथा उसका कर्तव्य के विषय में क्या अधिकार है? इन सब बातों को न समझ कर ही तो वह भीख मांगने में सुखी जीवन समझ रहा था। जिस प्रकार आज भारत स्वतंत्रता के संकट से डरकर इंग्लैंड की कृपापर निर्भर हो रहा है। परन्तु ज्ञान की अवस्था आते ही वह अपने स्वरूपको, कर्तव्य को सृष्टिनियम को उसके भेजे अटल कर्तव्य को, कर्तव्य से अपने सम्बंध को तथा कर्तव्य के विषय में अपने अधिकार को समझ गया और पूरा क्रूरकर्मा बनकर संहार-लीला में जुट पड़ा। अज्ञानी रहने तक शत्रुसंहार से बचते फिरना, बहाने बनाते फिरना और ज्ञानी होते ही आगापीछा देखना छोड़कर शत्रु-संहार करने लगना यही महाभारत से सीखनेयोग्य ज्ञान की महत्ता का पाठ है।

जबतक देश इन सब बातों को भले प्रकार नहीं समझेगा तबतक किसी के कहने से किसी के झुंड में भरती नहीं होगा। तबतक वह स्वराज्य को भी भीख मांगने की वस्तु बनाए रहेगा और अर्जुन के समान भिक्षाजीवन में ही सौभाग्य या मिठास ढूंढता रहेगा। परन्तु जब देश को ज्ञानी बना दिया जायगा, तब देश की आवश्यकता के समय बड़ी से बड़ी सेनाएं अपने आप संगठित हो जाया करेंगी। तब भारत को नौकर, सैनिकों की आवश्यकता न रहेगी। तब तो अजेय वीर स्वयंसेवक ही भारत की वीर सेना बनकर देश का कलंक छोड़ा लेंगे। इसलिए भारत के देश-सेवकों को भारत के सामने ज्ञान की सब अवस्थायें खोलकर रख देनी चाहिएं। जिनको देख कर भारत के कोटि कोटि कंठ एक स्वर में अपनी ही ओर से सिंहगर्जन करने लगें कि अब हमपर हमारा ही अधिकार है। अब संसार की कोई शक्ति हमारे मनोंपर शासन नहीं कर सकती, अब संसार की कोई शक्ति हमसे अपनी आज्ञा नहीं मनवा सकती, अब हम कर्तव्यबुद्धि से भारतीय स्वराज्य की सेवा करना अपना परम सौभाग्य मानेंगे।

यदि देश से भय का भूत भगाना हो, तो उसे डरो मत के व्याख्यान न सुनाकर उसे बस आत्म-शक्ति का पता दे दो, जिस आत्मशक्तिने हमारे देशसेवकों को निर्भय बनाया है। जिस शक्ति से देशसेवक लोग शक्तिमान बने हैं, वही ज्ञान शक्ति सारे देश में बांटने का प्रबंध हो, तो देशभय के आंतकसे स्वयमेव बच जाय। डरो मत के लैक्चरों से भय का भूत देश को छोड़कर कदापि नहीं भागेगा। इस से तो डरानेवाली शक्ति की कल्पना दृढ होती चली जायगी। देशव्यापी आत्मबोधही भय आदि संपूर्ण संभावित निर्बलताओं को धक्का देकर देशसे बाहर कर देगा और स्वराज्य को बुला लायगा।

अध्यात्मवाद से स्वतंत्रता।

कुछ लोग भौतिक उन्नतिशील नास्तिक देशोंका उदाहरण देकर भारतीय स्वतंत्रता के लिए इन सब आध्यत्मिक चर्चाओं को बहिष्कृत रखने के पक्षपाती हैं। वे स्वतंत्रता में से ईश्वर को भी बाहर रखना चाहते हैं। यह उनकी बडी भारी भूल है। वे आध्यात्मिकता तथा ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को न समझकर उसका निषेध करते हैं। उन्हें चाहिए कि वे आध्यत्मिकता तथा ईश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें। ईश्वर तथा मनुष्य की मनुष्यता दोनों एक वस्तु हैं। इन दोनों की एकता को पहचान चुकना ही अध्यात्मवाद है। मनुष्यतारूपी प्रभु ही मनुष्य का आराध्य ईश्वर है। ईश्वर का निषेध करना अपनी मनुष्यता का निषेध करना है। इस सृष्टिका जो सार है, वही ईश्वर है। जिस प्रकार सूर्य का तेज पवन की गति तथा जल की शीतता ईश्वर है, इसी प्रकार मनुष्य की मनुष्यताही उसका ईश्वर है। मनुष्य की अपनी मनुष्यता से पृथक् तटस्थ शासक के रूप में ईश्वरीय सत्ता कहीं भी नहीं है। ईश्वरही मनुष्यों के शरीरों में मनुष्यता के रूप में आत्मानंद ले रहा है। इसलिए भारतीय स्वतंत्रता में से ईश्वर या अध्यात्म का बहिष्कार करना अपने घोर अज्ञान तथा अपने स्वतंत्र बनने की अयोग्यता की सूचना देना है। भारतीय स्वतंत्रताका अन्तिम लक्ष्य नर को नारायण विश्वका सम्राट् तक बना देना है।

देशसेवकों का सेव्य समाज।

देशसेवकों को अपनी कल्पना में एक आदर्श समाज बना लेना चाहिए। और फिर सारे समाज को वैसा उसी सांचेमें ढालनेके प्रयत्नमें लग जाना चाहिए। हमें मूर्ख, स्वार्थी समाज की सेवा नहीं करनी है। अर्थात् देशका लोभ बढानेवाले व्यवसायों में सहायता नहीं देनी है। हम तो अपनी कल्पनाके आदर्श समाज की सेवा करेंगे। हमें तो केवल देश मनोबल या चरित्रबल बढाने की ओर अर्थात् इसे जगानेकी ओर ध्यान देना है।

आज भारतीय राष्ट्र को पेट के छके हुए और कपडों से ढके हुए मनुष्यों की आवश्यकता नहीं है, ऐसे तो भारत में अन्न भी करोडों भरे पडे हैं। ऐसे लोग स्वतंत्रता की सेवा नहीं कर सकते। हमें तो मन के छके हुए ऐसे अजेय वीरों की आवश्यकता है। जो प्रलयोत्पातों के सामने भी अपने सिद्धांतोंपर डटे रह सकें। हमें तो लाखों और करोडोंके लाखपने और करोडपनेकी उपेक्षा करके अपने पक्षको अकेले भी संमुख रखनेवाले मनोबली लोगों की आवश्यकता है। हम तो देश में ऐसे मनुष्य बढाना चाहते हैं, जो दूसरों को अपना अधिकार न खाने दें, जो प्रतिकूल अवस्थाओंकी उपेक्षा करने का अदम्य, अत्याज्य साहस रखते हों, जो जीवन के साधनों को सत्य की पुकार आते ही लात मारकर घरसे बाहर निकलकर सामाजिक क्षेत्र में डटकर खडे रह सकते हों, जो ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले हों, जो दूसरों का अधिकार न खाना, न चाहते हों, जो असत्य विरोध में किसी से न दबाए जा सकते हों, जो केवल कर्तव्यबुद्धि से विरोधी अवस्थाओं का प्रतिकार करते हों, जिन्हें अपनी आत्मशक्तिपर दृढ विश्वास हो, जिनका मन तथा व्यवहार दोनों शुद्ध हों, जो कभी सत्य का विरोध न सह सकते हों। यदि देशसेवकों की सेवा के परिणाम के रूप में देश में ऐसे मनुष्यों की संख्या बढ जाय तो देश में स्वराज्य को आना पडेगा। यदि देश ज्ञानी हो जायगा, तो वह स्वयं ही ईश्वर का सैनिक हो जायगा। तब संसार की कोई भी शक्ति देशको पराधीन नहीं रख सकती।

(क्रमशः)

विचारमहत्त्व।

(लेखांक ३ ×)

(लेखक- श्री० रामचन्द्रजी, रिटायर्ड हेडमास्तर, अम्बाला शहर)

पिछले लेखमें जो कि 'वैदिक धर्म' बाबत मार्गशीर्ष १९९५ के पृष्ठ ८९१ में छपा है, यह दर्शाने का प्रयत्न किया था कि विचारस्पन्दन के कौन कौन से नियम हैं और वह किस तरह मनुष्य के लिए उपयोगी हो सकते हैं। इस लेख में हम कुछ और आवश्यक नियम इस सम्बन्ध में लिखते है।

किसी पिछले लेखमें हमने यह कहा था कि, विचारों का रंग और रूप भी होता है। आज हम पहिले इस ही के सम्बन्ध में कुछ लिखते हैं-

विचार की आकृति का रंग उसके गुणानुसार और उसकी प्रकृति उसकी जातिके अनुसार और उसका मूर्त स्वरूप उसके स्पष्टता के अनुसार होते हैं।

१. स्वार्थी, लोभी विचारों की आकृति तीखी शेर के मूंछ के बाल जैसी होती है, जिसपर काले नीले रंग के धब्बे होते हैं।

२. क्रोधी, असूयायुक्त विचार काले बादल के समान जिसमें क्रोध के परमाणु विद्युत्कण के समान चमकते हैं।

३. द्वेषी, विरोधी, बदला लेनेवाले विचार काले सर्प के समान होते हैं।

४. विषयवासनायुक्त- सडे हुए मांस के समान क्षण क्षण में रंग बदलनेवाले।

५. भयभीत विचार- सिंहाकार और अति चंचल होते हैं।

६. क्रोधयुक्त और बदला लेनेको तत्पर विचार काले धब्बावाले, काले बादल के समान दीखते हैं। इत्यादि-

शुभ विचारों की आकृति-

१. स्वार्थत्यागी विचारों की आकृति प्रफुल्लित कमलपुष्पके समान सुन्दर ठीक अस्मानी या कृष्ण के रंग की होती है।

२. प्रेम, शक्ति, अभय, परोपकारी विचारों की आकृति मनोहर गुलाब के फूलके पत्रों के समान होती हैं, जिसपर तेजस्वी सुंदर पीले छींटे पडे होते हैं।

३. मैत्री, प्रेम, वात्सल्यवाले विचार किरमजी रंगके कुंडलाकार; उस व्यक्ति के गिर्द घूमते दीखते है, जिसके साथ प्रेम किया जाता है।

४. मैत्री करुणामयी अथवा आशीर्वादयुक्त प्रेम के विचार गुलाबी या लाल चन्दन के समान आकृति रखते हैं। और प्रेमपात्र के पास दौडते हुए जाते हैं।

५. बुद्धियुक्त विचारों की आकृति मन्द या तीव्र पीला रंग रखती है।

६. धार्मिक विचारों का आसमानी रंग होता है।

७. प्रेमभक्तियुक्त विचार नीले कृष्ण रंग के होते हैं। एवं मिश्रित विचार जैसे मैत्री, करुणा, वात्सल्यादि भावोंके विचारों की आकृति गुलाबी; अभिमानादि प्रशंसात्मक विचार नारंजी रंग के; सर्वत्र अनुकूलतायुक्त विचार हरे रंग के; ईर्षा, द्वेष, भययुक्त विचार काले रंग में आच्छादित होते हैं। एवं विषयवासना के विचार रजोगुणीत अत्यन्त होने से लाल रंग में, लोभ तृष्णा के विचार बादामी रंग के या भूरे रंग के दीखते है।

दैवी जीवन के विचार प्रकाशमय होते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि हमें यह विचारों के रंग क्यों नहीं दीखते। इसका कारण यह है कि हमें आकाश शून्य दीखता है, परन्तु यह शून्य नहीं है। वहां कणभर भी शून्यता नहीं है। सर्वत्र चेतनतत्व भरा हुआ है। विचारों के अनुसार चिदाकाश के

× द्वितीय लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २२८ पृ० ८९१ पर देखो।

पर प्रमाणु संकोच या विकासको पाते हैं। जैसे बीज में वृक्ष बननेकी शक्ति छिपी रहती है और दृष्टि-गोचर नहीं होती, इसी तरह विचारपरिवर्तन-शक्ति भी परोक्ष है। परन्तु अभ्यासगम्य है। अभ्याससे दिव्यदृष्टि और दिव्य ज्ञान उत्पन्न होकर यह सब परोक्ष वृत्त प्रत्यक्ष हो सकते हैं।

यहां फिर वादी प्रश्न कर सकता है कि इसकी प्रत्यक्षता में क्या प्रमाण है। प्रथम तो उपनिषद् का प्रमाण है। देखो बृहदारण्यकोपनिषत् अध्याय २' ब्राह्मण ३, ६ ठा मन्त्र—

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं। यथा महारजनं वासो यथा पांड्वाविकं, यथेन्द्रगोपो, यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं, यथासकृद् विद्युत्तम्।

इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल शरीर के गिर्द एक सूक्ष्म परमाणुवों का जल होता है, जो पुरुषाकार अर्थात् शरीराकार ही होता है। यह मनुष्य के विचारास्पन्दन मानो एक जाल है और उसका रंग, रूप विचारों के अनुकूल रंगबेरंग कपडे, इन्द्रगोप, या अग्निज्वाला, या पुण्डरीक या विद्युत्की चमकादि की तरह होता है।

यह केवल निर्देशमात्र ही दिया है। अर्थात् इस शरीरस्थ पुरुष के रंग उसके विचारवृत्तिके अनुकूल ही बदलते रहते हैं। योगदर्शन में भी 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इस सूत्र में यही बताया है कि द्रष्टा का रूप मनोवृत्तियों के अनुसार ही बदलता रहता है। वृत्तियों के शान्त होनेपर ही वह अपने स्वरूप में आता है।

द्वितीय Mr. W. J. Kilner, B. A. M. B. of St. Thomas Hospital, London ने aura अर्थात् विचारस्पन्दनका scientific analysis (वैज्ञानिक पृथक्करण) किया है। उनकी पुस्तक Human atmosphere नामी को आप देखें। ऐसे ही डॉ॰ पेट्रिक ओडानेल ने जो अमेरीका देशका है, एक यन्त्र द्वारा ऐसा तजरबा किया है और यह भी सिद्ध किया है कि मृत शरीर के गिर्द प्राण निकल आने के बाद ही यह विचारस्पन्दन आकृति नष्ट हो जाती है। जैसे फूल के गिर्द उसकी गन्ध विस्तृत होती है, यद्यपि वह दीखती नहीं, केवल घ्राणशक्तिद्वारा अनुभूत होती है, इसी तरह मनुष्यशरीर के गिर्द विचारों का जाल बिछा हुआ रहता है। यह मनुष्य के दिमाग से प्रतिक्षण निकलनेवाले विचारों के अत्यन्त सूक्ष्म रजकणों का द्रव्यांश है। इन द्रव्यांशों के भिन्न भिन्न रंग हैं। जो योगदृष्टि द्वारा द्रष्टव्य हैं। Dr. Baruduc of Paris एक दिन किसी फोटो की प्लेट को धो रहे थे। प्लेट पर उनको एक धुंधला चित्र दीख पडा। अनुसन्धान करने से ज्ञात हुआ कि, यह डाक्टरसाहिब के विचारों का चित्र है, होते होते उन्होंने सिद्ध किया कि विचारों की आकृति होती है।

इसी प्रकार एक और पाश्चात्य वैज्ञानिकने एक मापसे भरे हुए कमरे में मनुष्योंको कुछ देर बिठाकर उनके शरीर के पसीने की रासायिनिक परीक्षा की। जिस से ज्ञात हुआ कि अमुक अमुक मनुष्य क्रोधी है, इत्यादि। यही बात उन मनुष्यों की मुखाकृति की परीक्षा से भी जान पडी है।

Professor Eelmer Gates of Washington ने भी यही बात एक और प्रकार से सिद्ध किया है। उन्होंने एक शोकग्रस्त मनुष्यका श्वास लेकर उसको एक कांच की ठंडी नली में भरकर Analyse किया और उसका रंगरूप देखा। तथा एक परोपकारी पुण्यशील के श्वास का घन तत्त्व एक सूअर के शरीर में डालने से उस को कुछ हानि नहीं हुई। परन्तु एक दुराचारी मनुष्य के श्वास के घनतत्त्व उसी सुअरके शरीर में डालने से वह तुरन्त मर गया।

इन सब बातों से यही निश्चित होता है कि विचार कोई खाली हवाई चीज नहीं, अपितु एक द्रव्यात्मक वस्तु है। जिसकी आकृति, रंग और रूपादि सभी कुछ है। पहिले हम यह कह आए कि विचार स्पन्दनात्मक हैं, अर्थात् मानसिक तालाव में लहरे ही हैं। परन्तु वह लहरें किस तरह उठती हैं, किस

तरह यह नाद का रूप धारण करती हैं, क्या क्या आकृति इनकी होती हैं, इत्यादि, यह भी जानना कुछ अनुपयुक्त न होगा ।

अतः हम इसपर भी कुछ थोड़ासा विचार करते हैं। न केवल विचार ही स्पन्दनात्मक हैं। अपितु सकल दृश्यादृश्य सृष्टि ही स्पन्दनात्मक है। प्रथम स्पन्दन प्रजापति के अव्यक्त समुद्र में उठा 'एकोऽहं बहुस्याम्.' यह लहर उत्पन्न हुई। यह लहर 'परा' भूमि की लहर है। फिर उसने सोचा अर्थात् वृद्धि, शक्ति में हलोर या लहर का पहुंचाया तब 'स तपोऽतप्यत' उसने विचार किया, यह 'पश्यन्ति' भूमि की लहर है। इसमें और परा में यह भेद है कि परा में शब्द और उसके अर्थ अभिन्न तथा अस्पष्ट हैं। पश्यन्ती में शब्द और अर्थ में कुछ स्पष्टता आ जाती है। फिर यही स्पन्दन मानसिक समुद्र में पहुंचते हैं और 'स तपस्तप्त्वा मिथुनं उत्पादयते' का रूप धारण करते हैं। अर्थात् वह विचार करके एक मिथुन का (Combination of two forces) को उत्पन्न करता है, अर्थात् मिथुन का रूप धारण करता है। फिर यह स्पन्दन और आगे बढकर, घनित होकर स्थूलता को प्राप्त होता है।

यह उसका 'वैखरी' रूप है, अर्थात् अब यह स्पष्टतया 'रयि' और 'प्राण' के विविध मिथुन (Combination) बनकर परमाणु से लेकर सूर्य-पर्यंत नाना रूपों में विस्तृत हो जाता है। यही बात आजकल के वैज्ञानिक भी कहते हैं कि, इस प्राकृतिक सृष्टि के मूलमें दो स्पन्दन हैं, जिनको वह Positive और Negative या Objective कार्यात्मिक और Subjective या क्रियात्मक कहते हैं। और इन दोनों को केन्द्र एक मानते हैं, जिसको Mr. Wallace और हर्बर्ट स्पेन्सरादि वैज्ञानिक Divine Fire (दिव्याग्नि) कहते हैं। यह दिव्याग्नि शायद वही है, जिसको वेदों में 'हिरण्यगर्भ' कहा है।

जो बात ऊपर समष्टिजगत् में कही है, वही व्यष्टिजगत् में भी है। जो विचार-स्फुरण, विज्ञानघन तत्त्व में 'एकोऽहं बहु स्याम' के रूपमें उठा था और जो स्वाभाविक सहज समुद्भूता शक्ति है, वहां प्रत्येक शरीर के कण कण (Cell) में व्यापक है। यह स्पन्दन अर्थात् विचारान्दोलन (Thought vibration) कारण रूप हो के जिन जिन कार्यों में अर्थात् महत्, अहंकार, पंच तन्मात्रादि द्रव्यों में प्रवेश करता है, उन्हें विशेष रूपों में प्रकाशित करता है। यही स्पन्दन वर्णात्मक वाणी का मूल है। वाणी या वाक् तथा विचार बाहर से ही पृथक् दीखते हैं, वास्तव में यह एकही हैं; उपनिषदों * में कई स्थलों में वाक् या विचार एकही वस्तु मानी है। आधुनिक निरुक्तविद्या के प्रसिद्ध विद्वान् मोक्षमूलर साहिब भी यही कहते हैं। वह अपनी पुस्तक Science of Language में एक प्रभावपूर्ण शब्द देते हैं, जिससे इनकी एकता प्रकट होती है। वह लिखते हैं,

'Thougot and word are not two different things. They are two aspects of one and the some thing. When we think, we speak low and when we speak, we think aloud.'

अर्थात् शब्द और विचार दो पृथक् वस्तु नहीं, अपितु एकही वस्तुके दो पहलू है। जब हम बोलते हैं, तो हम जोर जोर से सोचते हैं और जब सोचते हैं तो मानो हम चुपचाप बोलते हैं।

बस सारांश यह है कि जब देशाभिमानी देव 'जीवात्मा' कुछ विचार उठाता है, तो वह प्रथमो-

* बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय १, ब्रा० ५ में यह बताया गया है कि मन, वाक् और प्राण यह तीनों एकही शक्तिके विविध अवस्थाओं (Aspects) के नाम हैं। वागेवर्ग्वेदो, मनो यजुर्वेद, प्राणः सामवेदः। ऋग्, यजुः, साम यह तीन प्रकार की विद्याएँ या ज्ञानभूमियां हैं। जिससे किसी वस्तुके गुणोंका ज्ञान हो, वह ऋग्वेदज्ञान है।' ऋग्भिर्स्तुवते।' क्रियात्मक ज्ञान को यजुर्वेद कहते हैं। यजुर्भिर्क्रियते। सर्व ज्ञान के मूलभूत शक्ति ब्रह्मको अनुभव करना और उस ज्ञान में निमग्न होना सामवेद का ज्ञान है। सामभिर्गीयते।

स्थान या विचारस्पन्दन हमारी 'परा' नामक अन्तःकरण-भूमिका में होता है। जब आत्मतत्त्व उसके बुद्धि के सुपुर्द करता है, तो वह 'पश्यन्ति' नामक भूमिका में आता है, जब यही विचारस्पन्दन मनोभूमिका में आता है। तो उसको 'मध्यमा' का नाम दिया जाता है और जब वह कायाग्नि को ताडकर कंठादि स्थलों में * प्रवेश करता है, तो वह ध्वन्यात्मक होकर 'वैखरी' कहलाता है। परा-भूमि के विचार को यदि हम 'संकल्प' या वासना कह दे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। पश्यन्ती और मध्यमा भूमियोंमें वह 'विचार' कहा जाय, तो कुछ हानि नहीं। वैखरी भूमि के विचार को वाक् 'शब्दात्मक' कहा जाए तो ठीक ही है। बस इससे समझ लो कि हमारी 'वाक्' विचारमूलक है। विचार संकल्पमूलक तो सब हमारे कार्य सङ्कल्पमूलक हुए ※।

यही कारण है कि संकल्पशुद्धिः पर वेद बहुत जोर देते हैं। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' सूक्त का पाठ कीजिये और मनकी महत्ता को अनुभव कीजिये।

उपरोक्त कथन से यह बातें सिद्ध होती हैं-

१. विचार संकल्पमूलक हैं।

२. विचारों की दृढतादि संकल्प की दृढतादि पर निर्भर है।

३. हमारे शरीर के प्रति कण (Cell) में हमारे विचारों का प्रभाव विद्यमान रहता है।

४ यह सकल संसार ही संकल्पमूलक है। प्रजापति के अन्दर संकल्प न उठता, तो संसार न होता। चित्रकारके भीतर संकल्प न उठे, तो कोई चित्र न बन सके। कारीगर के हृदय में विचारतरंग न उठे, तो कोई वस्तु बन न सके। इत्यादि।

५. संकल्प से विचार, विचार से क्रियाशक्ति में हरकत आती है। क्रियाशक्ति की हरकत से वस्तु-सिद्धि होती है।

इन सब नियमों से यह नतीजा निकल सकता है कि, हम जब कोई कार्यारम्भ करना चाहें, तो हमें अपने दिलमें शुद्ध तथा दृढ संकल्प धारण करना चाहिए। दृढ संकल्प से ही क्रियाशक्ति में उत्तेजकता आकर कार्यसिद्धि होती है। वैदिक कर्मों में सब से पहिले संकल्प धारण किया जाता है। क्योंकि विना संकल्प के किया हुआ कर्म मनकी सूक्ष्म भूमिकामें नहीं प्रवेश करता। अतः उसका प्रभाव भी पूर्ण नहीं होता। उदाहरण के लिये देखिये कि एक भिखारी आप के पास कुछ मांगने के वास्ते आता है। आप उस समय शतरंज खेल रहे हैं। आप उसको एक पैसा दे देते हैं, ताकि वह आप के कान न खावे और आप के खेल में हरज न डाले। एक दूसरा मित्र जो आप के पास बैठा हुआ है, वह यह समझ कर कि यदि मैं भी कुछ इस भिखारी को नहीं दूंगा, तो मुझ को मित्रलोग कंजूस समझेंगे, अतः उसको एक पैसा दे देता है। एक तीसरा मित्र जरा विचार करता है कि देखो यह भी हमारे जैसा मनुष्य है, भूक से तडप रहा है, इस की सहायता करना मेरा धर्म है। वह भी उस को एक पैसा दे देता है।

यहां देखिये पैसा देने का काम तो सब तीनों का एकसा है, परन्तु विविध मनोभूमियों से उसका उपजाव हुआ है। अतः उनके फल भी भिन्न ही होंगे। जिसने केवल अपने खेल में विघ्न न पडने के

---

* आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥ (महाभाष्य)

※ संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्पसंभवः।
व्रतनियमधर्मांश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥ (मनु०)
क्रतुमय एवायं पुरुषः। (उपनिषद्)।

भय से उसको दिया है, वह बहुत ही क्षुद्र फल रखता है। उसका फल केवल खेल खेलने तक ही सीमित है। दूसरे ने केवल लोकाचार से दिया है, उसका फल भी बहुत ही न्यून है। तीसरे ने मनो-भूमि में एक उच्च विचारस्पन्दन करके दिया है, वह उसके कारण शरीर में प्रवेश कर गया है। अतः वह मरण पर्यन्त अपितु अगले जन्म तक उसके साथ रहेगा। और उसके जीवन में तथा बहुत से अन्योंके जीवन में जो उसके साथ संपर्क में आवेंगे अनेक उत्तम दयार्द्रभाव उत्पादन करेगा। इसी से उपनिषदों ने कहा है कि—

'यद् विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'

जो कर्म कर्मतत्त्वके ज्ञान, श्रद्धा और उसके रहस्य को समझ कर किया जाता है वही बृहत् फलवाला होता है।

अब आप समझ गए होंगे कि छोटी बातें यथा, 'मनमें कोई बुरा भाव न उठाओ,' किसी का बुरा न चितवो, जो काम करो ईश्वरस्मरणपूर्वक श्रद्धा से तथा शुभ संकल्प से करो, इत्यादि जिनको आज-कल के बाबू केवल वहम या भ्रम समझते हैं कितने रहस्यपूर्ण हैं।

अब हम कतिपय ऐसे साधन लिखते हैं, जिन से मनुष्य इस अद्भुत शक्तिद्वारा न केवल अपनी ही उन्नति कर सकता है, अपितु उन सबको, जो उसके संपर्क में आते हैं, सहायता दे सकता है। यही नहीं अपितु दूरदेशस्थ अपने इष्टमित्रों को बहुत कुछ सहायता दे सकता है।

यह पूर्व लिखही आए है की, प्रत्येक विचारस्पन्दन सबसे प्रथम विचार उत्पादन करनेवाले के मन पर ही अपना असर अर्थात् प्रभाव छोडता है। वह उसके मनमें एक प्रकार की रुचि या अरुचि उत्पन्न करते हैं। यह रुचि या अरुचि कुछ काल में दृढ जड पकड जाती है। जो क्रमेण आदत या स्वभाव का रूप धारण कर लेती है। स्वभाव ही आचार है। बस मनुष्यका आचरण उसके विचार पर निर्धारित है। बस यदि हमारे विचार शुद्ध हैं, तो हम स्वभावसे ही सदाचारी बनते जायेंगे और यदि हमारे विचार दुष्ट हैं, तो शनैः हम दुराचारी बनते जायेंगे। यदि हम यह चाहें कि हमारे आचार शुद्ध ही रहें, तो हम शुद्ध विचारयुक्त वातावरण में ही रहना चाहिये। इस ही नियम को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रकार हमारे लिए तीर्थयात्रा, सत्संगति आदि अनेक साधन बताते हैं। दूसरे हमें अपने मनपर इतना अधिकार होना चाहिए कि जब भी कभी कोई प्रतिकूल विचार हमारे मन में बाहर से घुसना चाहे, हम उसको वहीं रोक दें। इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए हमें दो काम करने होंगे।

एक तो हम अपने मन को कभी खाली न छोडें। क्योंकि खाली मन में ही बाहर से विचार घुस करते हैं। यदा किसी न किसी अच्छे व्यसन (Hobby) में लगे रहें और यदि कभी कोई बुरा विचार मनमें आने लगे, तो उसी समय कोई श्लोक, भजन या मन्त्रोच्चारण करें कि जिससे हमारे मन में एक प्रकार का उत्साह आ जावे, जिससे वह उस दुष्ट विचार को लात मारकर बाहर निकाल देवे। आप प्रतिदिन देखते हैं कि जब कभी कोई खेल रहे हों या दो पहलवान कुश्ती लड रहे हों, तो यदि एक पार्टी जरा हारनेवाली हो, तो यदि उसको समय पर बाहर से कुछ उत्साह मिल जावे, तो वह उस उत्साह से उत्साहित होकर अपने प्रतिपक्षी को जीत लेती है। यही उत्साह इन मन्त्रों, या श्लोकों या गीतों से मिल जाता है। इस बात को स्पष्ट करने के वास्ते हम यहां एक ऐतिहासिक घटना लिखते हैं—

कहते हैं कि इंग्लैंड में एक अनाथ कन्या थी जो बडी शुद्धाचारिणी और ईश्वरभक्त थी। वह यद्यपि मिहनत मजदूरी करके पेट पालती थी, तो भी प्रति रविवार गिरजा (चर्च) में जा कर साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित हुए विना न रहती और वहां जाकर वह प्रेम से भजन गा गाकर अपने प्रभुको प्रसन्न करने की चेष्टा किया करती। एक दिन

बडी बर्फ बर्डी, चर्चका रस्ता बर्फ से रुक गया था, अतः वह चर्च में तो न जा सकी, परन्तु गलियोंमें ही भजन गाकर कीर्तन करती फिर रही थी। इधर यह लडकी कीर्तन कर रही थी। उधर एक विचित्र घटना और हो रही थी। एक बडा क्रोडपति साहुकार अपने बडे सुन्दर सजे हुए महल में एक स्त्रीसे बातें कर रहा था। वह स्त्री एक गरीब मजदूर की धर्मपत्नी थी, पर बडी सुन्दरी थी। साहुकार उसको फिसला रहा था, किंतु अपने पति को तलाक देकर मुझ से शादी कर ले। मैं अमीर हूं। तू यहां इस असीम संपत्ति की मालिक होगी, उस गरीबसे क्या लेगी। इत्यादि।

परन्तु वह स्त्री नहीं मानती थी और कहती थी, मेरा पति बडा अच्छा है, सत्पात्र है, गरीब हुआ तो क्या? इत्यादि। परन्तु लोभ का जादु भी बडा प्रबल है। उस अमीर ने एक सन्दूक खोला और उसमें से बडे ही सुन्दर रत्नजडित भूषण और वस्त्र निकाले। बिजली की चमक में रत्नजडित भूषण अपना काम कर गए। उनकी अतुल शोभा ने उस साध्वी स्त्री की आंखें चुन्धलादी। और वह उस अमीर की बातों में आकर इस बातपर राजी हो गई कि मैं तलाक तो नहीं देती, तुम खुद ही उसे किसी तरह मरवा दो। यह सलाह करके और रत्नजडित भूषणों को लेकर वह जीने से उतर रही थी; जब कि वह अनाथ बालिका भी कीर्तन करती करती वहां आ गई। वह गा रही थी एक भजन, जो ब्रौनिंग कविकृत था और उस का यह पद उसकी जबान से निकला रहा था—
'God is in Heaven, all is well on Earth.'

अर्थात् जब ईश्वर हमारे हृदयाकाशमें हो, तो सब हमारे विचार और व्यवहार शुद्ध ही होंगे। प्रातःकाल का अमृत वेला था। शुद्ध भावसे और शुद्ध जबान से यह पवित्र वचन निकले। वह सुन्दरी यद्यपि प्रलोभनग्रस्त थी, पर थी तो वास्तवमें शुद्धाचारिणी। यह शब्द उसके कानपर पडे। कानों ने हृदयकोश में भेजे। जहां क्या हि अच्छा परिणाम हुआ, वह साध्वी स्त्री हक्की नक्की रह गई। न ऊपर जाती है, न जीने से नीचे उतरती है। दो बार फिर यही शब्द उसके कान में पडते हैं। आखिर उसका मन व्याकुल होता है। हाथ सुना हो गए, टांगें हिलती नहीं। जबान कांपती है। बडी कठिनता से ऊपर जाकर उस साहूकार के चरणों में शिर रखकर वह भूषण वापिस कर, अश्रुपातद्वारा उस कुविचारोत्पन्न पाप को धोकर वापिस आती है। उस बालिका को गले लगाकर उसके चरणों में पडती है कि 'बहन तूने मुझे एक घोर पाप से बचा लिया।' इत्यादि। इस आश्चर्यजनक घटनाको देखकर उस अमीर के भीतर भी सद्भाव की अग्नि चमकी और उसने भी उस पापाचरण से दूर जाने का विचार किया। यह घटना हमें बताती है कि शुद्ध, दृढ विचार शुद्धहृदय से निकले हुए किस तरह काम करते हैं। और शुद्ध वाक्य, भजन, मन्त्र कैसा काम करते हैं।

दूसरा उपाय यह है कि छोटे से छोटा भी काम क्यों न हो; उसको भी पूर्ण ध्यान तथा सोच विचार से और उसके सांगोपांग को समझ कर करो। उसकी प्रत्येक घटना अर्थात् Details तुम्हारे मनोनेत्र के सामने हस्तामलक बन खडे हों। यह मनकी एकाग्रता प्राप्त करने का सब से सुगम उपाय है। कहते हैं कि निपोलियन बोनापार्ट अपने युद्धकार्यों में जो कामयाबी प्राप्त थी, वह इसी आदत के कारण थी। यदि आप एक पोस्टकार्ड भी लिखो तौभी यदि आप अपना पूरा मन लगाकर उस पत्रको लिखेंगे, तो वह पत्र एक विशेष प्रभाव डालेगा।

हम यहां एक अपने अनुभव की बात लिखते हैं। एक बार अखबार में मैंने यह समाचार पढा कि 'प्रोफेसर कुलकरणी, ग्वालयार कालेज मन्त्री टीचर एण्ड पेरन्टस लीग दौरा करनेवाले हैं। वह बच्चों के सुधार के सम्बन्ध में व्याख्यान देने के लिए निकलेंगे, जो सज्जन उनको बुलाना चाहे, वह निमन्त्रण-पत्र भेज दें।' मैंने यह इश्तहार पढकर उनको पत्र लिखने की ठानी। मेरा उनसे कोई परिचय नहीं था, परन्तु मैंने यह विश्वास करके कि मेरा पत्र

अवश्य उनके दिलपर अपना असर करेगा, बडे विचार और एकाग्रता से पत्र लिख दिया। वापिसी डाक में जवाब आया कि मैं आ रहा हूं। जब वह आ गए तो मेरे पास आकर उन्होंने कई दिन प्रचार किया। एक दिन बातों बातों में उन्होंने यह भी कहा कि जिस दिन तुम्हारा निमन्त्रणपत्र पहुंचा था उस दिन मेरे पास लगभग ५० निमन्त्रणपत्र आए थे परन्तु किसी में भी वह आकर्षणशक्ति विद्यमान नहीं थी जो तुम्हारे पत्र में थी। मैं समझ गया यह सब कुछ मेरे एकाग्रता से पत्र लिखने का प्रभाव है। बहुतसे मनुष्यों की यह आदत होती है कि हाथ से कुछ काम कर रहे हैं तो मन कहीं और जगह की सैर कर रहा है।

इसका नतीजा यह होता है कि उस काम में हमारा पूरा मन न होने से उसमें सफलता नहीं होती। इसी से सर्व कर्मकांड में मन की एकाग्रता की बडी महिमा है। संस्कारों में जो ऋत्विज नियत किये जाते थे उसका भी यही मतलब था कि वह अपने मनोबल से यजमान की कार्यसिद्धि करवा दे। देखो उपनिषद् *।

परन्तु बडे शोक से कहना पडता है कि आजकल यह रहस्य संस्कारकर्ताओं और यजमानों के मनसे उड गया है। आजकल बाबुलोगों के संस्कार एक Social function अर्थात् यार दोस्तों के साथ मेल जोल प्राप्त करनेका साधन ही रह गया है। सो उसका फल भी कुछ नहीं। संस्कारों के मौकोपर खानेपीने में तो जितना खरच हो जावे उसकी कुछ परवाह नहीं। परन्तु संस्कारपर अर्थात् हवनादि की सामग्री तथा ऋत्विजों की सेवा या दक्षिणा आदि में जितना भी संकोच हो सकता है उतना करना चाहते है। इसका कारण एक मात्र इस महान् रहस्य की अनभिज्ञता ही है।

एकाग्रता को प्राप्त करने के और भी बहुत से उपाय हैं। योगदर्शन और गीतादि पुस्तकों में विस्तारपूर्वक दिए हैं। जिन साधकों को उसकी लगन हो वह वहां से देखले। परन्तु कोईसा भी उपाय ले उसमें अभ्यास और वैराग्य [अर्थात् यह विचार कि वस्तु की सत्य मूल्यता (Right valuation of things) क्या है] की सब से बढकर जरूरत है। हाँ, इतना कहना यहां अनुचित न होगा कि जो मन भक्तिशील है (Devotional mind) वह अपने इष्टदेव की मूर्ति या गुणोंका चिन्तन या ध्यान करके मनको एकाग्र कर सकते हैं, उनके लिए यह उपाय बडा सुगम है। परन्तु ऐसे आदमी थोडे ही होते हैं। जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये यही उचित है कि वह किसी एक तत्त्वविशेष या विषयविशेषपर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करें। जैसे एक लडका हिसाब या बीजगणित या रेखागणित के सवाल निकालते, या नकशा खैंचते या चित्रकारी करते या तीर अंदाजी सीखते या कुछ निबन्ध लिखते समय करता है। ऐसा करते करते भी उनको एकाग्रता प्राप्त हो जावेगी।

तीसरा तरीका एक और है कि मनुष्य अपने आहार, व्यवहार, आचार, उच्चार की परीक्षा

---

* तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात्सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा॥ एवमेषां लोकानां आसां देवतानां अस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति॥ एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति एवंविदं ह्वा एष ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद् गच्छति॥ मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक् कुरूनश्वाभिरक्षत्येवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवं विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम्॥ (छां० ४।१७।७-१०)

(भाव यह है कि यहां यह बताया गया है कि किस प्रकार का पुरुष यज्ञ में ब्रह्मपद का अधिकारी होना चाहिये)

नित्य प्रति सोने से कुछ मिनट पहिले किया करे। तथा देखे कि कहीं इसमें कोई त्रुटि तो नहीं। पहिले पहिले उसको कोई त्रुटि नहीं दीख पडेगी। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास से उसको अपनी त्रुटियां ज्ञात होने लग जाएगी। जब उसको अपनी त्रुटियां दीखने लग जावें जान लो कि उसके भाग खुल गए है। उसकी उन्नति का रास्ता खुल गया है। जब उसको कोई त्रुटि दीख पडे तो उसको चाहिये कि उस त्रुटि पर तो जरा भी ध्यान न दे अपितु उसको भूल जावे, हां उसके प्रतिकूल जो गुण हैं उसको ध्यान करे, उसको वार वार चिन्तन करे, विचारे कि उसको किस तरह अपने जीवन में ला सकता हूं। उदाहरणतया समझिए कि किसी का स्वभाव चिड-चिडापन बहुत है, झट आए से बाहर हो जाता है। उसको चाहिए कि इसका उलट अर्थात् धैर्यता प्रसन्नता का चिंतन करना चाहिए। उसको कैसे अपने आचार व्यवहार में लावे, उसके वास्ते मन में दृढ प्रतिज्ञा करे। और फिर प्रतिदिन सोने से पहिले विचार करे कि आज दिनभर में कितनी वार धैर्य या प्रसन्नता को कायम रक्खा है इत्यादि। इस उपाय को योगदर्शन में ' प्रतिपक्ष-भावना ' का नाम दिया है। इसी तरह असत्यका प्रतिपक्ष सत्य, कंजूसी का उदारता, बुराई का भलाई, क्रोध का क्षमा, जल्द बाजीका धृति, ईर्ष्या का प्रसन्नता, द्वेषका प्रेम इत्यादि का अभ्यास करे। यदि पाठक लोग दृढतासे इस नियमको एक सप्ताह तक भी पालन करेंगे तो उनको इस कथन की सत्यता का निश्चय हो जावेगा।

यह भी ध्यान रहे कि चित्तकी निर्मलता (प्रसाद) ही एकमात्र उसकी एकाग्रता का कारण है। पर यह निर्मलता किस तरह प्राप्त हो यह अब यहां विचारते हैं।

श्रीभगवान् गीतामें लिखते हैं-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

अर्थात् जो साधक रागद्वेषसे निखरी हुई और अपने वशमें की हुई इन्द्रियों से विधिपूर्वक सांसारिक भोगों को भोगता है तो उसके मनमें निर्मलता आ जाती है। मन निर्मल होनेपर सब दुःख और आपत्तियां अपना डंक खो बैठती हैं अर्थात् निर्मल चित्तवाले मनुष्य के सामने दुःख और आपत्तियां कुछ अपना असर नहीं कर सकती। और फिर ऐसे प्रसन्न चित्तवाले मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है, मन एकाग्र हो जाता है।

रामायण का इतिहास इस बात की पूर्ण साक्षी भरता है। रामको वनवास हो चुका है। दशरथ विलाप कर रहा है। कैकेयी को गालियां दे रहा है। और रामवियोग में तडप तडपकर व्याकुल हो रहा है। इसी व्याकुलतामें कुछ निद्रा और कुछ बेहोशी होती है। उस में उसको श्रवणवध और उसके बूढे अन्धे मातापिता का शाप याद आता है। बस क्या था अपनी त्रुटि सामने आई और चित्त निर्मल हो गया। अपना बोया काटना ही तो पडता है। यह समझा और शान्ति से अपने पाप का हिसाब बेबाक करने के वास्ते खुशी खुशी से प्राण छोड देता है।

मनःप्रसाद को प्राप्त करने के लिए योगदर्शन में एक और उपाय भी बताया है। वह यह है कि हमें चार प्रकार के मनुष्यों के साथ सम्पर्क में आनेका अवसर पडता है। प्रथम वह मनुष्य जो हम से अधिक सुखी या धनादि सम्पत्ति से सम्पन्न है। दूसरे वह जो हमसे निकृष्ट अवस्था में है। तीसरे वह जो धर्मात्मा या पुण्यशील है। चौथे वह जो पापात्मा है। जब हम ऐसे मनुष्यों के साथ सम्पर्क में आवे तो हमको सावधान होना चाहिए। साधारणतया यह देखा जाता है कि अपने से अधिक सम्पन्न मनुष्य को देखकर मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि भडक उठती है। किसीने सत्य कहा है-

सहज विषयों का त्यागना, सहज त्रिया का नेह।
यान बडाई ईर्षा दुर्लभ तजना एह॥

परन्तु हम नहीं विचारते कि ऐसा करने से हम अपनी और उसकी क्या हानि कर रहे हैं। प्रथम ईर्षा की ज्वाला हमारे ही रक्तको जलकर हमें बेचैन और दुःखी करती है। हमको अपने पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। दूसरे हम अपने ईर्षायुक्त विचारों से उसके मन में भी ईर्षा का अंकुर उत्पन्न करके उसको भी दुःख में घसीटते हैं। इसके विपरीत यदि हम उसको मित्रकी दृष्टिसे देखे तो हमें अपने मित्र की ऋद्धिसिद्धि की समृद्धि देखकर बड़ा आनन्द होगा मानो उसकी सम्पत्ति हमारी अपनी है। अर्थात् हम उसकी खुशी में हिस्सेदार बन जावेंगे। और उसकी खुशी का भी द्विगुण करे देंगे। और यह सब उतार चढाव मनकी व्यवस्था पर ही निर्भर है जो हमारे अपने अधीन है।

एवं जब हम अपने से हीन दशायुक्त मनुष्य को देखें तो साधारण मनुष्य की तरह हमारे भीतर गर्व-अभिमान घृणा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये अपितु हमें ईश्वर का धन्यवाद करना चाहिये कि उसने तुमको उससे अच्छा बनाया है। अतः तुम्हारा यह धर्म है कि तुम अपने अच्छेपन का सबूत दो अर्थात् उसके साथ करुणा अर्थात् सहानुभूति दिखाकर उसके दुःखको यथाशक्ति कम करो। और जब आप पुण्यशील मनुष्य को देखें तो उसके पुण्यत्व को अनुभव करो और उसकी सराहाना करते हुए खूब प्रसन्नचित्त हो जावो। अतः इससे तुम्हारे चित्तमें उसके पुण्यत्वके लिये श्रद्धा होगी और 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है। अर्थात् उसके पुण्यत्व तुम्हारे अन्दर भी आजावेगा।

और जब आप किसी पापात्मा को देखो तो साधारण मनुष्यों की तरह उसको घृणा की दृष्टि से न देखो और न ही ऐसी बात कहो जिससे वह खिज कर तुमसे दूर हट जावे। अपितु उससे अधिक प्रेम करो जिससे उसका तुम्हारे पर विश्वास जम आवे। जब विश्वास जम जावे तो फिर उसको अपने प्रेममय वचनों से उसकी बुराई हटा दो। यदि आप अपने में ऐसी सामर्थ्य नहीं देखते तो उससे उपरामवृत्ति (Indifference) को धारण करो। न घृणा करो और न उसको बुरा भला कहो या उसकी निन्दा करो (१)।

किंबहुना हमको येनकेन प्रकारेण अपने चित्तको निर्मल रखना चाहिए। चित्त निर्मल होने से हमें सब कुछ प्राप्त हो जावेगा। कबीरजीने क्या हि अच्छा कहा है।

चित्त जब निर्मल भयो जैसे गंगानीर।
पाछे पाछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर॥

बाजे भोले भाइ यह कहकर पीछा छुडा लिया करते हैं कि शरीरों का जो स्वभाव बन गया सो बन गया। स्वभाव बदला नहीं जा सकता। इससे वह अपने को निर्दोष ठहराकर बात टाल देते हैं। हम उनसे प्रार्थनापूर्वक निवेदन करते हैं कि उनकी यह बड़ी भूल है। स्वभाव का बदलना कठिन जरूर है पर असम्भव नहीं। किसी बातको बार बार करनेसे वह स्वभाव हो जाता है ऐसे ही उसको बार बार हटाने और उसके ध्यान में उसका प्रतिपक्षभाव को स्थापन करने से स्वभाव भी बदल जाता है। क्या वाल्मीकि ऋषि डाकू से नहीं बना था? इतिहास में ऐसी बहुत सी कथाएं आती हैं जिन में स्वभाव भी परिवर्तन हो गए हैं।

हाँ स्वभाव परिवर्तन यत्न साध्य है। जैसा पुराना स्वभाव होगा वैसा ही उसके वास्ते अधिक यत्न करना पडेगा। और 'यत्ने कृते न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः' यदि यत्न करने पर भी स्वभाव में कोई परिवर्तन न हो तो भी कोइ हानि नहीं। यह प्रयत्न उसका खाली नहीं जायगा। अब नहीं तो समयान्तर या जन्मान्तरमें अपना फल अवश्य दिखावेगा क्योंकि श्रीभगवान् गीता में कहते हैं, "नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।" शुभकार्य, शुभभाव, शुभप्रयत्न, कभी दुर्गति को देनेवाला नहीं होता।

यह याद रक्खो कि हमारी शक्ति परिमित है,

(१) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥

हमारा जीवनकाल ※ भी परिमित है, जो विघ्न हमारे रास्तेमें आते हैं वह भी बहुत हैं। इस परिमित समय में जो हमारे लिए कर्तव्य या ज्ञातव्य है वह अपरिमित है, फिर क्या यह हमारी बुद्धिमत्ता होगी कि हम इस बहुमूल्य जीवन को, इस बहुमूल्य शक्ति को वृथा और निकम्मे झगडों, गुस्से और चिड-चिडेपन में गंवाते रहें, क्यों न हम अपने विचारों को शुद्ध और पवित्र करें जिससे हमारे इस जन्मके झगडे दूर होकर हमारे आगामी जन्म का रास्ता साफ है। इसका कारण एक मात्र इस विचारमहत्त्व की अनभिज्ञता ही है।

विश्वास करलो कि हमारे बहुत से दुःख, झगडे, मुसीबतें, शोच, फिकर, उदासीनता, निरुत्साहता, कमजोरी, बुढापा, आदि अनेक आपत्तियां हमारी अपने आप खरीदी हुई होती हैं। यदि हम अपने विचारों को तोलना, जांचना, अपने काबू में रखना सीख जावें तो हम हम सब मुसीबतों से बच सकते हैं।

शोक है हमारी आयुका एक बडा हिस्सा अनेक वृथा और निरर्थक बातों के पढने पढाने और सीखने सिखाने में व्यतीत होता है और विचार संयम जैसे जरुरी ज्ञातव्य विषय की ओर हम ध्यान भी नहीं देते। इससे बढकर शोचनीय अवस्था और क्या होगी।

शायद यहां कोई यह प्रश्न करे कि यदि कोई मनुष्य अपने विचारों का संयम करने में असमर्थ हो तो क्या वह निराश और हताश होकर अपना जीवन रोनेधोने में बितावें? हमारा उत्तर है कदापि नहीं, दयालु प्रभु की सृष्टि में निराशता की कोई गुंजायिश नहीं। मनुष्य को आशाबद्ध रहना चाहिए, प्रभु की दयालुता, न्यायकारिता, पर अटल विश्वास रखना चाहिये, जब भी प्रभुकृपासे उसकी आंख खुल गई और उसको यह बोध हो गया कि विचार-संयम से सब कुछ प्राप्त हो सकता है, उसी क्षणसे विचार-संयम का काम आरम्भ कर दे। जिस तरह जन्मजन्मांतर के महादोष से विचार-संयम में उसको असमर्थता मिली है, इसी तरह मलदोषोंको दूर करने और विचार-संयमता की प्राप्ति के यत्न करने से कभी न कभी ऐसा समय आजावेगा, चाहे वह इस जन्म में हो चाहे किसी आगामी जन्म में, जब कि उसको विचार संयम की सामर्थ्य प्राप्त हो जावेगी।

अब हमें यह उचित ज्ञान होता है कि अपने पाठकों की सुविदता के वास्ते यह स्पष्टतया लिख दें कि इस विचारमहत्त्व के (१) बोध होने से अपनी या दूसरों की क्या हानि करते हैं, (२) बोध होने से हम अपना क्या क्या लाभ कर सकते हैं और किस तरह; (३) दूसरों को जो निकटवर्ति हों तो किस तरह लाभ पहुंचा सकते हैं। यदि (४) दूरस्थ हों तो किस तरह लाभ पहुंचा सकते हैं। (५) मरते हुए या मृत इष्टमित्रों को किस तरह लाभ पहुंचा सकते हैं। इत्यादि विषयोंपर कुछ अधिक प्रकाश डालें। यह लेख चूंकि काफी लम्बा हो गया है। इसके लिए पाठक किसी आगामी लेख का इन्तिजार करें।

---

(२) ※ अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यम् अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत् सारभूतं तदुपासितव्यम् हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ॥

अष्टम नियम

"अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।"

(लेखक- पं. मदनमोहन विद्याधर, बेजवाडा)

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य! वह सन्तान बडा भाग्यवान्! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से संतानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसीसे नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, (और) उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता, इसलिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु पृ १०९]

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अंगसे कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे (कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठस्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठोंको मिलाकर बोलना ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत अक्षरोंको ठीक ठीक बोल सकना। मधुर गंभीर सुंदर स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य मिल संहिता अवसान भिन्न श्रवण होवे।) (द० प्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु. पृ.११)

पठनपाठन की आदि में लडकों और लडकियों की ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णोंका ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगे। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकारका ज्ञान होना चाहिये। एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठोंसे होता है, परन्तु दो ओठोंको ठीक ठीक मिलाके 'पकार' बोला जाता है। इसका ओष्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर व व्यंजन मिला हो, तो उसको भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है।

(द प्र. द्वि भा. ऋग्वेदादि पृ ६५२ !)

जब वह कुछ कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बडे छोटे, मान्य माता, पिता, राजा, विद्वान् आदिसे भाषण उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संगमें रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीडा, रोदन, हास्य, लडाई, हर्ष, शोक किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दनसे वीर्य की क्षीणता नपुंसकता होती और हस्तमें दुर्गन्ध भी होता है, उससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो करावें।

जब पांच पांच वर्षके लडका लडकी हों तब देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास करावें। अन्य देशी भाषाओंके अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा विद्या, धर्म, परमेश्वर, मातापिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि राजाप्रजा, कुटुंब बन्धुभगिनी भृत्य आदिसे कैसे कैसे वर्तना इन बातों के मंत्र, श्लोक, सूत्र, गद्यपद्य भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें। जिनसे सन्तान् किसी धूर्त के बहकावे में न आवे और जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूतप्रेत आदि मिथ्या बातोंका विश्वास न हो। (द. प्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीय समु पृ.१११, ११२)

... इन सब [भूतप्रेतादि तथा शीतला मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि] मिथ्या व्यवहारों को छोडकर धार्मिक, सब देशके

उपकारकर्ता निष्कपटता से सबको विद्या पढानेवाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोडना चाहिये और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं, उनको भी महापामर समझना चाहिये। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था में ही सन्तानों के हृदयों में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पडके दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में और नाश करने में दुःखप्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे "देखो जिसके शरीर मे सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयोंका ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चुकोंगे, तो पुनः इस जन्म मे तुमको वह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जबतक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तभीतक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढाना चाहिये। " इसी इसी प्रकार की अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें। ..

... जन्म से ५ वें वर्षतक बालकों को माता, छठे वर्ष से आठवें वर्षतक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के आरम्भ मे द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्या दान करनेवाली हों, वहां लडके और लडकियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें। [द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. द्वितीयसमु. पृ. ११५, ११६]

लडके और लडकियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता, पिता और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

[द. ग्रं. द्वि. भा. व्यवहार पृ. ७३२]

... माता, पिता, आचार्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य का उपदेश करें और यह भी कहें कि जो जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन उनका ग्रहण करो और जो जो दुष्ट कर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो। जो जो सत्य जानें उन उन का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी, दुराचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस जिस उत्तम कर्म के लिये माता, पिता और आचार्य आज्ञा देवें, उस उस का यथेष्ट पालन करें।

हे शिष्य ! जो अनिन्दित, पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरणरहित न्यायधर्माचरणसहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य जो तेरे माता, पिता, आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर। ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् है उन्हीं के समीप बैठना, संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर। हे शिष्य! यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्य शास्त्रों का सुनना अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग करना, जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उनका यथाशक्ति ज्ञान करना और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म की उपासना करना, ये सब कर्म करना ही तप कहाता है।

हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ और पढाया कर। सत्योपदेश करना कभी मत छोड, सदा सत्य बोल, पढ इत्यादि। हर्षशोकादि छोड, प्राणायाम, योगाभ्यासादि कर तथा पढ इत्यादि । अपनी इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा, अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा, न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ और सदा पढाया कर। अग्निहोत्र

करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर।... इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे। तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल को जावें।

(द. प्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. ९८, ९९)

[तथा तुलना करो (द. प्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. ११९)]

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति नहीं कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में बगुला। यही माता, पिता का कर्तव्य-कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करना।(द. प्र. प्र.भा.स. प्र. द्वितीय समु.पृ.११८)

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव, रूप, आभूषणों का धारण कराना, माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चांदी, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि (का) भय तथा मृत्यु आदि का भी सम्भव है।

... आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज देवें।

जो अध्यापकपुरुष वा स्त्री दुराचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।

द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्यकुल अर्थात् अपनी अपनी पाठशाला में भेज देवें।

(द. प्र. प्र. भा. स. प्र तृतीय समु. पृ. ११९, १२०)

पांचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें।

(द. प्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२७)

यदि पुत्र हो, तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो, तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें। यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो, तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री (पाणिनिमुनिकृत) वर्णोच्चारण-शिक्षा १ (एक) महीने के भीतर पढ़ा देवें।

(द. प्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. ९९)

विद्या पढ़नेका स्थान एकान्त देश में होना चाहिये और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये। जो वहां अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषोंकी पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियोंकी पाठशाला में ५ वर्ष का लड़का और पुरुषोंकी पाठशाला में पांच वर्षकी लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषय कथा, परस्परक्रीड़ा, विषयका ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनोंसे अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

(द. प्र. प्र. भा. स. प्र तृतीय. समु पृ. १२०)

भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने, चालने, बड़े-छोटेसे यथायोग्य व्यवहार करनेका उपदेश करें।

(द. प्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु पृ. १२४)

पाठशालाओंसे एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम व नगर रहें। सबको तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसन दिये जावें, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिये। उनके मातापिता अपने सन्तानोंसे वा सन्तान अपने मातापिताओंसे न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्तासे रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जावें तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य, प्रमाद करें।

(द. प्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२०)

इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिये।

कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लडके और लडकियों को घरमें न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। प्रथम लडकों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में हो। पिता, माता वा अध्यापक अपने लडका-लडकियों को अर्थसहित गायत्री मंत्र का उपदेश कर दें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२०)

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लडकों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो इसके मातापिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लडका व लडकी किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्यकुल में रहें (जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने. पावे।)

(द. ग्र. प्र. भा स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६७)

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढाने में लडकों का लाडन कभी नहीं करते, किन्तु ताडना ही करते रहते हैं। ...

जो माता, पिता और आचार्य, सन्तान और शिष्योंका ताडन करते हैं, वे जानों अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और सन्तानो व शिष्यों का लाडन करते है वे अपने सन्तानों और शिष्योंको विष पिलाके नष्टभ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाडन से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताडन से गुणयुक्त होते है। ... सन्तान और शिष्य लोग भी ताडना से प्रसन्न और लाडन से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताडन न करें। किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें। जैसी अन्य शिक्षा की वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषोंके छोडने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें।

(द. ग्र. द्वि. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. ११६)

.. विद्यार्थी... जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लडाई, बखेडा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्टसट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे, तो उस को यथापराध कठिन दंड देवे। ...

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताडना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाडन करना है, उतना ही उनके लिये बिगाड और जितनी ताडना करनी है, उतना उनके लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताडना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लडकेलडकी लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं।

(द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहारभानु. पृ. ७३५)

जब तक गुरुकुल में रहे तब तक मातापिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. २०५)

गायत्री मंत्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो स्नान आचमन प्राणायामादि क्रिया है सिख लावें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२२)

जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति का ज्ञान न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढता जाता है। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। (प्राणायाम की विधि— जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न जल बाहर निकल जाता है, वैसे प्राणको बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो जब धीरे धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसे ही

करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में (ओ३म्) इसका जाप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन को पवित्रता और स्थिरता होती है। एक "बाह्य विषय" अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यन्तर" अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय, उतना रोक के। तिसरा 'स्तंभवृत्ति' अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा बाह्याभ्यन्तरापेक्षी अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध किया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढकर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि, जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्यशरीर-में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता सब शास्त्रों को थोडे ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा।) **स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।**

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२३, १२४)

जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खें।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १२८)

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। उनमें से कनिष्ठ जो (पुरुष अन्नरसमय देह और पुरि अर्थात्) देह में शयन करनेवाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से सङ्गत और सत्कर्तव्य है, इसको आवश्यक है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करें और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास करानेवाले होते हैं। इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में संतप्त करे और वह आचार्य वैसा ही उपदेश किया करे और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक ठीक ब्रह्मचारी रहूँगा, तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य बलवान् होके शुभ गुणों को बसानेवाले मेरे प्राण होंगे, हे मनुष्यो! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्यका लोप न करूं। २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूंगा, तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूंगा और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी। मध्यम ब्रह्मचर्य यह है कि जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियां अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को हटाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं। जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूं तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढाओ, जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूँ और उसी आचार्यकुल से आता और रोगरहित होता हूं जैसा कि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है,... उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं।

जो आचार्य और मातापिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिये तपस्वी कर और उसीका उपदेश करें और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्यसेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चारसौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढावें, वैसे तुम भी बढाओ। क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

(द. ग्र. प्र भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ १२९, १३०)

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होके पढपढा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण और आचार्य के लिये प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड, प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड, देव=विद्वान् और मातापिता आदि की सेवा में प्रमाद कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म हैं, उन सत्य

भाषणादिको किया कर, उनसे भिन्न मिथ्या भाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहणकर और जो हमारे पापाचरण हों, उनको कभी मत कर, जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धासे देना, शोभा से देना, लज्जासे देना, भयसे देना और प्रतिज्ञासे भी देना चाहिये। जब कभी तुझ को कर्म व शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकारका संशय उत्पन्न हो, तो जो वे विचारशील पक्षपातरहित योगी अयोगी आर्द्रचित्त धर्म की कामना करनेवाले धर्मात्माजन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में बर्त्तें वैसे तूभी उसमें बर्त्ता कर।..... इसी प्रकार बर्त्तना और अपना चाल-चलन सुधारना चाहिये।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु पृ. १३७,१३८)

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेष कर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें। क्योंकि जो ब्राह्मण हैं, वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। जब क्षत्रियादि विद्वान होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ पर चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें, तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्य शास्त्रका अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने हारे हैं। ... जब सब वर्णों में विद्या, सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। ... इसलिये सब वर्णों के स्त्रीपुरुषोंमें विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु पृ. १३९, १४०)

जो वेदको .. पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु, धान्य आदिका भार उठाता है। वैसे भारवाह अर्थात् भारका उठानेवाला है और जो वेद को पढ़ता और उसका यथावत् अर्थ जानता है, वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है।

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते, अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्यावाणी के रहस्य को नहीं जान सकते। किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला है, उसके लिये विद्या जैसे सुन्दर वस्त्र, आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपना शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् के लिये अपने स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिये नहीं।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १५८, १५९)

इस लिये जो कुछ पढ़ना वा पढ़ाना हो, वह अर्थज्ञान सहित चाहिये।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १५९)

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषिमुनिप्रणीत वैद्यक शास्त्र हैं, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तुके गुण ज्ञानपूर्वक चार वर्ष के भीतर पढ़े पढ़ावें।

तदनन्तर धनुर्वेद अर्थात् जो राजसम्बन्धी कार्य करना है, इसके दो भेद एक निजराज पुरुषसम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सभासेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्रविद्या नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल कवायद कहते हैं, जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीख के न्यायपूर्वक, सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें। दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें।

इस राजविद्या को दो दो वर्ष में सीखकर गान्धर्ववेद कि जिसको गानविद्या कहते हैं, उसमें स्वर, राग, रागिणी,

समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें। परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और नारदसंहिता आदि जो जो आर्षग्रन्थ हैं, उनको पढ़ें परन्तु भडुए वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।

अथर्ववेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, गुणविज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखके अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है, उस विद्या को सीख के... दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्य सिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें।

तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यंत्रकला आदि को सीखें।

(द. ग्र. प्र भा, स. प्र. तृतीय. समु. पृ. १५९, १६०)

संस्कारविधि में भी ठीक यही विषय प्रतिपादित किया है।

[द. ग्र. द्वि. भाग संस्कार पृ. ९९-१०१] तथा देखो [द. ग्र द्वि. भाग ऋग्वेदादि पृ. ६५६ से ६६० तक]

(ऋतुसमय में (पूर्वोक्त प्रकार से) गर्भाधानक्रिया करें, तो अत्युत्तम सन्तान् होवें) जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है, वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है, इस पर मनुष्यलोग बहुत ध्यान देवें, क्योंकि इसके न होनेसे कुल की हानि, नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है।

(द. ग्र. द्वि. भा. संस्कारविधि पृ. ३७ का फुटनोट)

(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंको ही ब्राह्मणवर्ण का अधिकार देना, उससे विद्याका प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्याके प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। (रियिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये। .. ... (वर्चश्च) सत्य विद्याओंके प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओंका अच्छा रीतिसे पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये।... सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये। .. (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने सन्तान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओंको भी अच्छी रीतिसे सुशिक्षित करना उचित है।

(द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि पृ. ३८७, ३८८,६८९)

ये शिक्षा से लेके आयुर्वेद तक १४ विद्याओंको ३१ (इकत्तीस) वर्षों में पढ़के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें।

(द. ग्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. १०१)

..परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझ के कभी न पढ़ें और पढ़ावें।

(द. ग्र. प्र. भा, स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६०)

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ानेवाले करें कि, जिससे बीस वा इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्यलोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। (इससे आगे पाठ्य तथा त्याज्य ग्रन्थों का विशद वर्णन द्रष्टव्य है। विस्तारभय से छोड़ते हैं। तुलना करो संस्कारविधि. द. ग्र. द्वि. भा. पृ. ९९=१०१ तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरण यही पुस्तक पृ० ६०० से ६०८ तक)

(द ग्र. प्र. भा. स. प्र. समु. पृ .१६०)

जो विद्या पढ़नेपढ़ाने के विघ्न हैं, उनको छोड़ देवें जैसा कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्ट व्यसन जैसा मद्यादि का सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्षसे पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना, राजा, मातापिता और विद्वानोंका प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अति भोजन, अति जागरण करना, पढ़नेपढ़ाने, परीक्षा लेने व देनेमें आलस्य व कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना,

ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना, ईश्वरका ध्यान छोड अन्य पाषाणादि जड मूर्तिके दर्शनपूजन में व्यर्थ काल खोना माता, पिता, अतिथि और आचार्य विद्वान इनको सत्यमूर्ति मानकर सेवा, सत्संग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड ऊर्ध्वपुण्ड्, त्रिपुण्ड् तिलक कण्ठी, मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर होनेका विश्वास, पाखण्डियोंके उपदेश से विद्या पढने में अश्रद्धाका होना, विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथा से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना। इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना, इत्यादि मिथ्या व्यवहारोंमें फँस के ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६३]

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरोंको विद्या, सत्संग से हटा और अपने जाल में फंसा के उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढकर विद्वान् हो जायेंगे तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जान कर हमारा अपमान करेंगे। इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर कर के अपने लडकों और लडकियों को विद्वान् कर ने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. तृतीय समु. पृ. १६३, १६४]

सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढने का अधिकार है। ... सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढने, सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मंत्र है।... परमेश्वर कहता है कि— जैसे मैं सब मनुष्यों के लिये इस कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे ही तुम भी किया करो।... हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य व स्त्रियादि और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है। अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ पढा और सुन सुनाकर विज्ञान को बढाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों। ···क्या परमेश्वर शूद्रों का भला नहीं करना चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि जो वेदों के पढनेसुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे।? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढाने- सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? ... जहां कहीं (इनको पढाने का) निषेध है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढनेपढाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढना- पढाना व्यर्थ है और जो स्त्रियोंके पढने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। ... जो वेदादि शास्त्रों को न पढी होवें, तो [" इमं मंत्रं पत्नी पठेत्= अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मंत्र को पढे, " के अनुसार] यज्ञ में स्वरसहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढके पूर्ण विदुषी हुई थी, यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्य प्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहां? इस लिये जो स्त्री न पढें, तो कन्याओंकी पाठशालाओंमें अध्यापिका क्यों कर हो सकें तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य जो पतिको स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थी, क्योंकि जो न जानती होती, तो केकयी आदि दशरथ आदिके साथ युद्धमें क्यों कर जा सकती? और युद्ध कर सकती? इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहारविद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढनी चाहिये। जैसे पुरुषों को व्याकरण-धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यूनसे न्यून अवश्य पढनी चाहिये, वैसे स्त्री को व्याकरण

धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से अवश्य पढनी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म वैद्यक गणित शिल्पविद्या तो अवश्य सीखनी चाहिये। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्तन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसे चाहिये वैसा करना, वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्नपान बनाना और बनवाना नहीं कर सकती, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्पविद्या के जाने बिना, घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के विना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्रविद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जान के अधर्म से कभी नहीं बच सके।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र ३ य समु. पृ. १६५, १६६]

[तथा देखो द. प्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ६४७-६४९]

... जो शूद्र को वेदादि पढने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता।

[द. प्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि पृ. ६५०]

... क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढने से रोक कर मूर्ख रक्खा चाहे।

[द. प्र. द्वि. भा. व्यवहार, पृ. ८४५]

ऐसे लडकों और लडकियों को बोलने सुनने चलने बैठने उठने खाने पीने पढने विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोडने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये।

[द. प्र. द्वि. ऋग्वेदादि पृ. ६५६]

जो ब्राह्मण वर्णस्थ हों तो पुरुष लडकों को पढावें तथा सुशिक्षिता स्त्री लडकियों को पढावें। नानाविध उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें।

[द. प्र प्र. भा. स. प्र. ४ थं समु पृ २०५]

अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढाके समग्र वेदादि शास्त्रों में विद्वान् हों सदा उनकी कुचेष्टा छुडाने में और विद्या पढाने में चेष्टा किया करें। और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय शान्त पढने हारों में प्रेम विचारशील परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जाय।

[द. प्र. प्र. भा. स प्र. ४ थं समु. पृ २०८]

जहां तक बने वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों का व्यय कर के उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दे।

[द. प्र प्र. भा. स. प्र. ४ थं समु. पृ २१९]

धन्य! वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं, जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं।

[द. प्र प्र. भा. स. प्र. ८ म. समु. पृ. ३३८]

अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्य) अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर में नित्य बुद्धि) तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर जीव जगत् का कारण, क्रिया क्रियावान्, गुण गुणी और धर्म धर्मी है, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा (अशुचि) मलमूत्र आदि के समुदाय दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि का करना, तथा तालाब बावरी कुण्ड कूंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुडाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्याव्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना, स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यंत प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थोंको शुद्ध मानना और सत्यविद्या सत्य भाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सबसे प्रेमभाव से वर्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग। तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम क्रोध लोभ मोह, शोक ईर्ष्या द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुख रूप व्यवहारों मे दुःखबुद्धि करना यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी

प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड में चेतनभाव और चेतन में जडभावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। [यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु हो के उनको सदा नचाती रहती है।] परंतु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता दुःख और अनात्मा में नित्य पवित्रता सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। [जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।]

[द. ग्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि. पृ. ४२७, ४२८]

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा बना रहता है, वैसी विपरीतबुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यंत विषयसेवन रूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इस से विपरीत अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है।

अर्थात्... जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्वस्वरूप न जान पडे, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह अविद्या कहाती है।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ९ म. समु. पृ. ३५१, ३५२]

जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जायें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह अविद्या कहाती है।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार भानु पृ. ७४६]

जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य-विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है।

[द. ग्र. द्वि. भा. आर्योद्देश्य पृ. ८९२]

जो विद्या से विपरीत है, भ्रम अन्धकार और अज्ञान रूप है इसको अविद्या कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. आर्योद्देश्य पृ. ८९३]

जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानके इससे उपकार लेके और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु. पृ. ७३१]

जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोडके सदा आनन्दित हो सकें वह शिक्षा कहाती है।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७३१]

मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये...वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७३१]

जहां [ऐसे ऐसे] मूढ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करने हारे होते हैं वहां सुखों का तो दर्शन कहां किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग [ऐसे ऐसे] मूढोंका प्रसंग वा इनके साथ पठन पाठन किया को व्यर्थ समझ कर... धार्मिक विद्वानों का प्रसंग और उनही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों को ही पढाया करें।...

... आलस्य, नशा करना, मूढता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्डबण्ड बातें करना, जडता कभी पढना कभी न पढना, अभिमान और लोग लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है उसको विषय सम्बन्धी सुख चैन कहां? इस लिये विषय-सुखार्थी विद्या को छोडे और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे, नहीं तो परमधर्मरूप विद्या का पढना पढाना कभी नहीं हो सकेगा। ...(प्रश्न) कैसे कैसे मनुष्य विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं? (उत्तर) ... जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुणस्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर,

ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास आदि कर्म करते हैं उनके वे सब उत्तम गुण, बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति कराने हारे होते हैं और उन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७२९, ७३०]
[देखो द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ र्थ समु. पृ. २०७, २०८ तुलना करो]

जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये तथा आचार्यकुल में आकर विद्या ग्रहण के लिये प्रयत्न करें वह ब्रह्मचारी कहाता है। ... जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा पूर्वक विद्या होने के लिये तन मन और धन से प्रयत्न करे उसको आचार्य कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु० पृ. ७३२]

शिष्य उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला हो।

[द. ग्र. प्र. भा. स्वमन्तव्यामन्त. प्र. स. ३२।७९४]

जो सांगोपांग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह 'आचार्य' कहाता है।

[द. ग्र. प्र. भा. स्वमन्तव्यामन्त० प्र. स. ३१, ७९४]

जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढा देवे उसको आचार्य कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. आर्योद्देश्यरत्न. स. ६१ पृ. ८९७]

माता पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुडावे वह भी गुरु कहता है।

[द. ग्र. प्र. भा. स्वमन्त. प्र. स ३३ पृ. ७९४]

जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को गुरु कहते हैं और अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे उसको भी गुरु अर्थात् आचार्य कहते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. आर्योद्देश्य. र. स. ६२ पृ. ८९७]

जबतक गुरुकुल में रहें तबतक माता पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझे।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. चतुर्थ समु. पृ. २०५]
आचार्य शिष्य के पारस्परिक व्यवहार के लिये देखो
[द ग्र. द्वि. भा. व्यवहार भानु पृ. ७३४, ७३५]

जो अपने पुत्र पुत्री और विद्यार्थियों को सुनाये कि सुन मेरे बेटे बेटियां और विद्यार्थी! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी दाढी मूंछ पकड ले, इसकी जटा पकड के ओढनी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपडा छीन ले, पगडी वा टोपी फेंक दे, खेल, कूद, हंस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं उनको माता पिता और आचार्य न समझना चाहिये किन्तु संतान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं। क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लडकों को न घुडकते और न दण्ड देते हैं वे क्यों कर मातापिता और आचार्य हो सकते हैं? ...जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरी कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन मन धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं वे माता पिता और आचार्य कहाकर धन्यवादके पात्र कभी नहीं हो सकते। और जो अपने अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्याप्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही माता पिता और आचार्य कहाते हैं।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार० पृ. ७३२, ७३३]

अहोभाग्य उस मनुष्यका है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता पिता आचार्य के सम्बन्ध में हो, क्योंकि इन तीनों की ही शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्रधारण करने, मातापिता आदि के मान्य करनेके उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध

चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसा जैसा उनका सामर्थ्य बढता जाय वैसी वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७३२]

जहां तक बनें वहां तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों का व्यय उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दें [और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें]

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ४ थे समु. पृ. २१९]

विद्या चार प्रकार से आती है-आगम स्वाध्याय प्रवचन और व्यवहारकाल। आगमकाल उसको कहते है कि जिससे मनुष्य पढाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें। स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं जो पठनसमय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापार विचार के ठीक ठीक हृदय मे दृढ कर सके। प्रवचनकाल उसको कहते हैं कि जिससे दूसेंर को प्रीति से विद्याओं को पढा सकना। व्यवहार काल उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्य विद्या होती है तब यह करना यह न करना वही ठीक ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके, ये चार प्रयोजन हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं-श्रवणमनननिदिध्यासन और साक्षात्कार। श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इंद्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकले उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना। मनन उसको कहते हैं कि जो जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा मे एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या क्या हानि होती है? इत्यादि। निदिध्यासन उसको कहते हैं कि जो जो अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक ठीक हैं वा नहीं इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ निश्चय करना और साक्षात्कार उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चय किये हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

[द. ग्र. द्वि भा. व्यवहारभानुः पृ. ७३३, ७३४]

(प्रश्न) विद्या को किस क्रम क्रम से प्राप्त हो सकता है? (उत्तर) शुद्धवर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का संग, विषयकथा-प्रसंग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि शब्द अर्थ और सम्बन्धोंको यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस जिस विद्या के लिये जो जो साधनरूप सत्य ग्रन्थ हैं उन उन को पढ कर वेदादि पढनेके योग्य ग्रन्थोंके अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होनेके साधनहैं।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७४४, ७४५]

(प्रश्न) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें? (उत्तर) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीतिसे विद्या और सुशिक्षा करें कि जिसमें उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढता जाय, ऐसी चेष्टा व कर्म कभी न करें कि जिसको देख व करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें। दृष्टान्त- हस्तक्रिया, यंत्र कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें, अपने आत्मा में इस प्रकार का ध्यान रखें कि जिस जिस प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढती और मेरे पढाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न हो जायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त न गिना जाऊं, ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुणकर्मस्वभाव से मेरे गुण-कर्म-स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना हो। ... विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें, रातदिन विद्याहीके विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढाते जावें। जहां विषय व

अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खडे भी न रहे। जहां जहां विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहां से अलग कभी न रहें। भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढे। जो बुद्धि के नाश करने हारे नशा के पदार्थ हों उनको ग्रहण कभी न करें, किन्तु जो जो ज्ञान बढाने और रोग नाश करने हारे पदार्थ हों इन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो जो पठने में विघ्नरूप कर्म (जिनका इसी नियम में पूर्व वर्णन कर आये हैं) हों उनको छोडकर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ. ७३६, ७३७]

... विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना विद्या का फल है। क्योंकि बिना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भया किसी को क्षणभर सुख हुआ, न हुआ सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जान कर सिद्ध कर सकें। इसलिये सबको उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करे। ...... जहां विद्या रूप सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है वहां दुःखो की तो भरमार, सुख की क्या कथा कहना है? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ ७३६]

वेदादि विद्या का पढना सत्संग करना होता है, जिससे कोई इसको ठगाई में न फंसा सके औरों को भी बचा सकें। क्योंकि मनुष्य का नेत्र विद्या ही है। बिना विद्या शिक्षा के ज्ञान नहीं होता। जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं वे ही मनुष्य और विद्वान् होते हैं। जिनको कुसंग है वे दुष्ट पापी महामूर्ख होकर बडे दुःख पाते हैं।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ११ समु. पृ. ५४६]

विद्या के बिना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है।

[द. ग्र. द्वि. भा. संस्कार पृ. २४६, २४७]

विद्या पढते समय व पढके किसी दूसरे को ..बराबर पढाता जाय, क्योंकि पढने से पढाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढके आप अकेला विद्वान् रहता है और पढाने से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तरकाल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्यों कि जैसे अन्धा कुएं में गिर पडता है वैसे देखने हारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि आदि प्रयोजन पढाने से ही सिद्ध होते है।

[द. ग्र. द्वि. भा. व्यवहार. पृ ७४७]

यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करें उतना ही बढता जाय, अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निजभाग लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी है।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १६७]

इसलिये वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जे अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढावें जिससे वे सन्तान मातृ पितृ पति सासु श्वसुर राजा प्रजा पडोसी इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें।

[द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १६६, १६७]

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इस लिये जितना बन सके उतना प्रयत्न, तन मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। (जिस देशमें यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्मका प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. ३ य समु. पृ. १६६, १६७)

जो मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य ! वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जाननेके लिये परिश्रम करते हैं, जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं।

(द. ग्र. प्र. भा. स. प्र. २ स समु. पृ. ३३२)

सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढाते हुए (एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें) उसके साथ वेदादि शास्त्रोंका पढना पढाना भी बराबर करते जायं...पढना पढाना भी कभी न छोडो। . . तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार की शिल्पविद्या की उन्नति करो। जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी, सत्यकारी पूर्ण विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के संग से करनेके योग्य व्यवहारोंको सदा बढाते रहो। ...अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन शिक्षा से विद्वान करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। ··· (ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सब के साथ देखो द. ग्र. प्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि पृ ३९२) स्वाध्याय जो पढना और प्रवचन जो पढाने का उपदेश किया है सो इस लिये है कि (पूर्वोक्त) जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढें (और तभी सदा सुख में रहेंगें) क्यों कि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है।··· धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करों अर्थात विद्या का जो पढना पढाना है, यही सबसे उत्तम है।... जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देनेवाला है वह विद्या पढने के समय और जब तक न पढ चुके तक न तबतक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रों ! वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो इसमें आलस्य व प्रमाद कभी मत करों आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो। और युवावस्थामें ही विवाह करो, प्रजा की उत्पत्ति करो, तथा सत्य धर्म को कभी मत छोडो, कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढाते जाओ और पढनें पढानेमें कभी आलस्य मत करो। ··· देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और सङ्ग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य व प्रमाद कभी मत करो। माता, पिता आचार्य अर्थात विद्याके देने वाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के देने वाले विद्वान् पुरुष हैं उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो। माता पिता और आचार्य आदि अपने संतानों व शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो ! व शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं। जो हमारे बीचमे विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य है, उन्ही के वचनों मे विश्वास करो और उनको सदा दान देते रहो तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुमको किसी बातमे सन्देह हो तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपात रहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ कर शङ्का निवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवे वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटाके उसके स्थान में विद्या को और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है. इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं।

(द. ग्र. द्वि. भा ऋग्वेदादि. पृ. ३९२-३९३)

(तुलना करो ग्र. प्र. द्वि. भा. ऋग्वेदादि पृ. ३९६-३९७)

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो पर दुष्ट व्यवहारों को छोडकर धार्मिक होके खाने पीने बोलने सुनने बैठने उठने लेने देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता और जो संपूर्ण विद्या पढके पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लडके लडकी इष्ट मित्र अडौसी पडौसी और स्वामी भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें।

(द. ग्र. द्वि भा, व्यवहार...पृ. ५६९)

द्रूइद्-धर्म-त्रैविद्य धर्म।

(ले०- श्री० पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, अजमेर)

ब्रिटन टापूमें अतिप्राचीन धर्म के पुरोहित लोग 'द्रूइद्' (Druids) कहलाते थे। द्रूइदों का धर्म अति प्राचीन था। यह गाल, ब्रिटन्, और अन्य सेल्ट जातियों में प्रचलित था। इस धर्मका आगम-उद्गम नोह के पोते और जाफेट् के पुत्र 'गोमेर' से मानते हैं। इस धर्म में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। बादमें जाकर यह इतना बिगड़ा कि इसमें सिवाय क्रूरतापूर्ण अंध विश्वास के कुछ नहीं रहा। ईसा से ५६ वर्ष पूर्व ब्रिटन द्वीपमें जूलियस सीजरने आक्रमण किया था, उस समय ब्रिटिश द्वीपों में 'द्रूइद्' धर्म मुख्य रूपसे था। उस समय वहां के गाल देश के लोग द्रूइद् धर्मका विशेष अभ्यास करते थे। वे लोग द्रूइद् धर्म का विशेष ज्ञान करनेके लिये ब्रिटिश द्वीपों में जाते थे। ब्रिटिश टापू इस समय द्रूइद् धर्म की मुख्य गढ़ था।

मूलशब्द।

सीजरने जिस धर्मका वर्णन किया है, वह उस समय 'द्रूइद्' धर्म था। 'द्रूइद्' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियां बताई जाती हैं। कोई तो उस शब्द का मूलशब्द 'द्रूथिव्' शब्द बतलाता थे, जिसका अर्थ है 'सत्यका सेवक'। दूसरे इसका मूल वेल्श भाषा का शब्द 'दर्-गविद्' बतलाते हैं, जिस का अर्थ है, 'मुख्य पुरोहित' [तर-क्-विद्- तर्क विद् या ग्रिक विद्।] बहुतसे यूनानी भाषा के 'द्रुस्' (वृक्ष) शब्द को इस का मूल शब्द बतलाते हैं।

द्रूइदोंकी मान-प्रतिष्ठा।

द्रूइद् धर्म के पुरोहित प्रजा और सर्वसाधारण के धार्मिक कार्योंपर अपना बड़ा अधिकार रखते थे। सीजर के कथनानुसार दो वर्गों का जनतापर बड़ा प्रभाव था, एक तो 'द्रूइद्' लोगों का, दूसरे धनी लोगों का। डाइडोरसका कहना है कि कोई भी धर्मकार्य विना 'द्रूइद्' के हो नहीं सकता था। वे परमेश्वर के विशेष दया-कृपा के पात्र समझे जाते थे। जनसाधारण उस समय इनको परमेश्वर और देवताओंका विशेष कृपाभाजन मानती थी। जनता इनके लिये अनेक बलि चढ़ाती, अनेक धन्यवाद देती, इनकी मनौती करती, इनकी बात को बड़ी श्रद्धा और विनय से मानती थी।

इन का इतना अधिक मान था कि जब दोनों पक्षों की बड़ी बड़ी सेनाएं क्रोधमें उमड़तीं, तलवारें खेंचकर, भाले तानकर लड़ने को तैय्यार खड़ी हो जाती थीं, उस समय भी 'द्रूइद्' लोग बीचमें आ पड़ने पर वे अपनी अपनी तलवारें वापस मियानों में डालकर अपने अपने देशों को लौट जाती थीं। उस समय भी इन धार्मिक पुरोहितों को जनसमाजने बहुत अधिक अधिकार और रियायतें दे रखी थीं। इनके शरीर पवित्र और अवध्य समझे जाते थे। इनपर हाथ उठाना पाप समझा जाता था, इनपर कोई टेक्स या राज-कर न होता था, वे सेनामें भी सम्मिलित या भर्ती नहीं किये जाते थे। बड़े बड़े धनी, मानी और राजकुमार तक भी 'द्रूइद्' बनने के लिये अभिमानपूर्वक तैयार होते थे। जिस देश वा नगर में जितने अधिक द्रूइद् होते, उस देश वा नगर का उतना ही भाग्य समझा जाता था। जितनी इन की संख्या बढ़ती देशका अहोभाग्य इतना अधिक समझा जाता था।

व्यवस्था।

द्रूइद् पुरोहितों में बड़ी व्यवस्था थी। उनमें कई भेद थे, वे अपनी भिन्न भिन्न पोशाकों से पहचाने जाते थे। समस्त जनता के ऊपर सर्वोच्च 'द्रूइद्' नियत होता था, वह (Arch-druid) 'आर्क द्रूइद्' कहलाता था। ऐसे दो प्रमुख द्रूइद् तो बर्तानियामें, एक एंग्लेसिया द्वीपमें था और एक मान टापू में था। यह पुरोहिताई पितासे पुत्र को जाती थी, परन्तु प्रमुख पुरोहिताई

का पद बहुसम्मति से चुना जाता था। प्रमुख पुरोहित के पद के लिये लोग बड़े उत्सुक रहते थे, उम्मेदवार भी बड़े उत्साह से आगे आते थे। वोट देनेवालोंमें कभी कभी इतना संघर्ष हो जाता था कि अच्छी खासी घरू लड़ाई (civil war) हो जाती थी।

द्रूइद लोगों के भी बहुत से वर्ग थे। कुछ भाट थे, और कुछ अन्य पेशे करते थे। भाट (ब्रह्मभट्ट Bards) कवि होते थे, वे वीरता की कविता बनाते थे, इतिहास-वंशावलियों के चरित्र कविता में रचा करते थे। जर्मनी, गॉल और ब्रिटिनमें अधिक थे। 'त्राएड्' (Traides) लोग पुराने द्रूइदों के ही सच्चे प्रतिरूप समझे जाते थे, वे भी भाटों और कवियों का काम करते थे। वे अपने समाजमें अनेक प्रकार का सुधार करते थे। वे उत्तम, भले कार्यों की सदा प्रशंसा करते थे। वे यद्यपि किसी व्यवस्थित धार्मिक संस्था के अंग न थे, तो भी सारंगी आदि पर गागाकर लोगों को शिक्षा देते थे, भले पुरुषों के चरित्र छन्दों मे गाया करते थे, किसी धर्म वा सम्प्रदाय का उसमें सम्बन्ध न होता था, यद्यपि सभ्यता की दृष्टि से जनता इतनी उच्च न थी तो भी इन लोगोंने अपने प्रति जनता का भारी आदर प्राप्त कर लिया था।

दूसरा वर्ग इनका 'इयू बेगम्' था, ये कुछ विज्ञानप्रिय थे, तो भी इनका रहनसहन जादूगरों के समान था। इनके साथ इनके कर्तव्योंको आश्चर्य से देखनेवाली भीड सदा जमा रहती थी, इनको नैसर्गिक शक्तियों का अच्छा ज्ञान रहता था। (यूबेगम्=सुवाग्)

इनके अनेक वर्ग।

एक वर्ग था 'वेट्स'। इस वर्ग में बडे धार्मिक पवित्र सन्त पुरुष थे, ये फेड्स या प्रॉफेट (सन्त) कहाते थे, वास्तविक पुरोहित कहे जा सकते थे। ये देवबलि भी कराते थे, वे ईश्वरभक्ति में अनेक भजन स्तुति भी बनाते थे, उनको धार्मिक कृत्योंके अवसरों में गाते थे। ये 'वेट्स' लोग तीन वर्ग के थे। गायक, कवि और सन्त। वे अपनी कविताएं और छन्द ऐसे भक्तजनों के समक्ष गाते थे, जो उनको परमेश्वर की भक्तिसे आविष्ट समझते थे। [वेट्स=वेदस=वेदी लोग]

इनके कार्य।

द्रूइद लोग एक धर्म के प्रवर्तक थे, वे लोगों को परमेश्वरसम्बन्धी बातों की शिक्षा देते थे, वे धार्मिक कृत्यों में मुख्य भाग लेते थे। उनके कुछ धार्मिक कृत्य थे, वे बच्चों को भी धार्मिक बातों की शिक्षा दिया करते थे। वे अपने समय के कानूनों की व्याख्या करते, दीवानी और फौजदारी के मामलों में विचारपति के रूप में न्याय-व्यवस्था दिया करते थे।

व्यवसाय-धन्धा।

डॉ० हेनरीने इन द्रूइद लोगों के रहन सहन के सम्बन्ध में लिखा है कि- बहुत से द्रूइद लोग तो आश्रम बनाकर साधु, तपस्वी का जीवन व्यतीत करते थे, वे सब के प्रति भ्रातृभाव से रहते थे, एक मन्दिर के पास अनेक द्रूइद लोग उस मन्दिर के पूजनादि कार्य के लिये रहते थे। ब्रिटेन का प्रमुख द्रूइद एंगलेसी में रहता था, वह वहां बड़ी शान से रहता था, उसकी महंती के अधीन भी अनेक द्रूइद रहते थे। वे भी अपने अपने कार्योंपर नियत रहते थे। इन महन्तोंके महलोंके भग्नावशेष अभी तक भी कदाचित् ढूंढनेपर मिल सकते हैं। बहुतसे द्रूइद लोग तो राजदर्बारों में, बडे धनियों के घरों में धार्मिक कृत्य कराने के लिये रहा करते थे। क्योंकि मन्दिरों और घरों में भी कोई धार्मिक कृत्य विना 'द्रूइद' की उपस्थिति के नहीं हो सकता था। इनमें से बहुतसे प्राचीन पुरोहित जनसमाज को त्याग कर एकान्त संन्यासी, तपस्वी के रूप में भी रहने लगते थे। इस से इनकी तप और पवित्रता की बड़ी ख्याति हो जाती थी। स्काटलैण्ड और इंगलैण्डके पश्चिमी जंगली भागों में अभी भी ऐसी गोल झोपडिया प्राप्त होती हैं, जिनमें केवल एक ही आदमी रह सकता है, जिनको लोग 'द्रूइद का घर' कहते हैं। इस प्रकार का एकान्तजीवन गृहस्थ होकर व्यतीत करना कठिन मालूम होता है, इस लिये प्रतीत होता है कि अधिक संख्यामें वे लोग अविवाहित जीवन ही व्यतीत करते थे। उनके इर्दगिर्द स्त्री-भक्तिनें भी रहा करती थीं, इन महिलाभक्तिनों की एक और व्यवस्थित संस्था थी। वे द्रूइदेस्' (Druidess) कहलाती थीं। इनका विवरण हम आगे करेंगे।

इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटश टापू के द्रूइद् लोग जिस जनता में यत्नवान् थे, उस जनता में उनके प्रति बड़ा सद्भाव था, जनता उन की हर बात में सहायता करती थी। बहुधा मन्दिर के आसपास उनकी जमीनें भी होती थीं। मन्दिरों में जो चढावा चढता था, वह उन पुरोहितों का ही होता था। प्रत्येक घरपर कुछ वार्षिक दानरूप में नियत था, वह नियम से प्रतिवर्ष मन्दिर के पुजारी महाशय को अवश्य दे दिया करते थे। जो व्यक्ति इस पवित्र दान को नहीं देता था, वह जाति से बाहर निकाल दिया जाता था। अनेक लेखकोंने यह बात लिखी है कि द्रूइद् लोगोंने वार्षिक लेन लेनेके बहुतही उत्तम नियम बना रखे थे।

प्रत्येक गृहस्थ अपनी घरकी यज्ञाग्निको अक्तूबरकी अन्तिम रात्रिको बुझा देता था और अगले दिन १ नवम्बर को उसे अपना दातव्य दान देना होता था। उस दिन उसका कर्तव्य होता था कि, वह मन्दिर में अवश्य आवे और मन्दिर की यज्ञवेदिमें से अपने गृह के यज्ञाग्नि को पुनः जला लेवे। जो व्यक्ति अपने दातव्य दान देवे और मन्दिर से अग्नि न लेवे, तो उसको शीत ऋतु के पूर्व अग्नि शीतकाल के लिये कभी न मिल सकती थी और वह सालभर शीत का दुःख पाता था। साथ ही मन्दिर, न्यायालय, कचहरी, और अडोस-पडोस सर्वत्र उसका सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता था।

द्रूइद् लोगों में ६ क्रमिक पदाधिकार थे, क्रमसे उत्तरोत्तर मान अधिकार पद पर पहुंचनेके लिये उनको यत्न करना पडता था। छहों की पोशाक भिन्न भिन्न होती थीं। पहले पदकी पोशाक बड़ी सादी होती थी, इसे कमर में पेटी से बांध लिया जाता था। द्वितीय मानपद के पुरोहित लम्बे चोलेपर एक रेशमी पट्टी पहनते थे, जो दायें कंधेपर से होकर यज्ञोपवीत के समान बाईं ओरको आकर चोलेपर सुशोभित होती थी। तृतीय और चतुर्थ पदके पुरोहित गलेमें एक हलका दुपटा धारण करते थे, जो छातीपर आगे को लटकता रहता था। पांचवें पदके पुरोहित भी यज्ञोपवीत के समान एक रेशमी पट्टी धारते थे। छठे पद के सर्वोच्च पुरोहित मुख्य पुरोहित (Arch Druids=अर्ध्य-पुरोहित या अग्रपुरोहित) थे, वे बडा लम्बा चौड़ा चोगा पहनते थे, जो उनके सारे शरीर को ढक लेता था। उनके सिरपर ओक वृक्ष का एक ताज या मुकुट रहता था, वे हाथ में अधिकारसूचक एक दण्ड (Staff or sceptre) धारण करते थे। जब वे किसी पवित्र धार्मिक कृत्य में लगते थे तो वे सब छहों वर्ग श्वेत वस्त्र धारण करते थे। गले में ओक के पुष्पपत्रों की माला धारण करते थे। कम आयु के द्रूइद् लोग दाढी न रखते थे, उनके गलेमें कण्ठका आभूषण, बाजूबन्द, गले में धातुके आभूषण भी होते थे। वृद्ध द्रूइद् पुरोहित की आकृति गम्भीर होती थी, उसकी दाढी लम्बी और गले में सोने की जंजीर होती थी। उनके चोलेपर भी सुनहरी कोर लगी रहती थी।

द्रूइद् लोगों के धार्मिक सिद्धांत।

द्रूइद् लोगों के दो प्रकार के सिद्धांत होते थे। एक तो गुप्त, दूसरे प्रकट सर्वसाधारणोपयोगी। गुप्त रहस्यमय, सिद्धांत तो केवल विशेष दीक्षा लेनेवालोंको ही बतलाये जाते थे, जो उनको सदा गुप्त रखने की प्रतिज्ञा लेनेपर ही सिखाये जाते थे। वे उसको सब मनुष्यों से छुपाकर रखते थे, वे उन रहस्यों का उपदेश भीतरी पर्वतगुफाओं, और जंगल के गहन गंभीर स्थानों में, निर्जन एकांत में सिखाए जाते थे। और प्रकट सिद्धांतों को तो सर्वसाधारण के समक्ष सदा ही वर्णन किया जाता था।

अमर आत्मा।

मि० टामसने अपने- Illustration of the British History मे द्रूइद् लोगोंके ईश्वरवाद का बड़ा मनोरंजक चित्रग्राही चित्र खेंचा है। द्रूइद् लोगों का सब से अधिक रहस्यमय और बड़ा सिद्धांत था कि- परमेश्वर एक है। वही जगत् की रचना करता और वही सबका शासन करता है। इस सिद्धान्त को वे बाद में मूर्तिपूजा प्रचलित होने के बाद भी बराबर मानते ही रहे। यह वही सिद्धांत है, जिसको भारतवर्ष के ब्राह्मण लोग भी बड़ा ही गुप्त रखते हैं। सीजर का कथन है कि- द्रूइद् लोगों ने अमर देवताओंकी अनेक शक्तियों के बारे में बहुत सी बातों की शिक्षा दी थी। परन्तु यह भी विश्वास किया जाता है कि वे अपने शिष्यों को सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में मूसाकी वर्णित सृष्टिक्रम से मिलता जुलता कोई क्रम

उपदेश किया करते थे । वे पुरुष की रचना, मनुष्य का अधःपतन और स्वर्ग से देवों का अवतरण, जलप्रलय, और अन्त में अग्निप्रलय होना मानते थे ।

वे मुख्य रूपसे आत्मा के अमर होने के सिद्धांत को मानते थे । और जनसाधारण में वीरता को उत्तेजित करते हुए इस सिद्धान्त का आश्रय लेते थे । प्राय: सभी पुरानी जातियें आत्मा के अमरत्व के सिद्धांत से मृत्यु को अति तुच्छ गिनते थे । द्रूइद् लोगों के अगले त्रैद (Triad) लोग भी इसी सिद्धांत को मानते थे । वे इस सिद्धांत को युद्ध में वीरता से लडने के लिए स्मरण करते थे। आत्मा तो अमर है, वह कभी नहीं मरता, जीने के पश्चात् दूसरा जीवन प्रारम्भ हो जाता है । इस सिद्धांत का प्राय: जीवका अनेक जन्म ग्रहण करना, शरीर से शरीरान्तर लेना और पुनर्जन्म ग्रहण करना ही था । वे तो यहां तक मानते थे कि मरकर जीव आगे भी मनुष्य और नर नर ही बनेगा, नारी नारी ही बनेगी । इसी कारण वे अपनी कबरों में शस्त्र कवच आदि भी रख दिया करते थे । जीव के लिए वे दो प्रकार के लोक मानते थे । एक को वे 'ल्फाथ इन्निस' (प्रातरिन्द्र.) कहते थे । इस लोक में धर्मात्मा लोग रहते हैं, जीव इसमें चढता था । इसी प्रकार दूसरा लोक अंधकारमय है, जिसको वे "अइ फुरिन" [अहिपुरी] कहते थे । वहां अति शीत होती है, वहां हानिकारक जीव, व्याघ्र और सांप, बोर और भेडिये खा जाने को होते हैं ।

पुनर्जन्म ।

द्रूइद् लोग और उनके अनुयायी गॉल और ब्रिटेन के रहनेवाले अपनी भविष्य में भी सत्ताको प्रमाणित करने के लिए वीरता से युद्ध में जाते थे, और सेनाओं को खूब उत्तेजित किया करते थे । वे हिसाबखाते भी तै नहीं करते थे, इसलिए कि वे फिर अगले जन्म में मिल के सुलझा लेंगे। वे अपने मित्रों की कबरोंपर चिट्ठियां लिखकर डाल देते थे कि वे अगले जन्म में उसको बाँचेंगे । वे कबरों में मृत पुरुष के हिसाब-किताब लिखकर गाड देते थे कि वह उनको पढकर अगले जन्म में चुका देगा। वे उसको उधार देते थे कि वह उसको भी चुका देगा। यदि उनके किसी माननीय तपस्वी गुरु वा आदरणीय महात्मा पुरुष को कोई सताता था, तो वे उसके लिये सहर्ष अपने प्राणों तक को न्योछावर कर देते थे, जिससे वे मरण के उपरांत भी उसके पवित्र सत्संग का अनन्त काल के लिये लाभ कर सकें। कवियों और भाटों के छन्दों में भी पुनर्जन्म और अगले पिछले जन्मों के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। उनके सिद्धांत-अनुसार मनुष्य अनेक मार्गों में रहता है । उसके आगे अच्छाई-बुराई दोनों सामने रहती हैं, इनमें से एक को चुन लेना उसकी अपनी इच्छापर निर्भर है । यदि वह अच्छाई (श्रेय) को चुन लेता है, तो मृत्यु उसको इस पृथिवीलोक से उठाकर सुखमय लोक (The circle of felecity) पहुंचाता है, यदि वह व्यसनी हो जाय, और भोगमय वस्तु (प्रेम) को चुन लेता है, मृत्यु उसको ऐसे मार्ग जाल-चक्रों (circle of courses) में डाल देता है, जहां उसे पशुशरीरों में प्रायश्चित्त करना पडता है । और फिर उसके पश्चात् पुनः उसे मानव-शरीर में आनेका अवसर मिलता था । पुनः मानवशरीर पाने का अंतर उसकी पाप मात्रापर निर्भर होता है । कुछ जन्मों के बाद उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, उसकी पाप-वासनाएँ (Passions) शान्त हो जाती हैं, उसकी आत्मा फिर स्वर्गलोक में चली जाती है । यह संक्षेप से 'त्रैद' या द्रूइद् लोगों के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण है ।

रहस्यभरे २० सहस्र मन्त्र ।

श्री० डायोजिनस लाएर्टियस ने इनके एक और बडे महत्वपूर्ण सिद्धांत का वर्णन किया है, जिसका हम यहां उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। यह सिद्धांत है "भगवान् की पूजा करो और कोई पाप न करो और निरन्तर तप और तितिक्षा (Fortitude) का अभ्यास करो ।" द्रूइद् लोगों के सिद्धांतों का बतलानेवाले २०००० (बीस सहस्र) श्लोक वा मंत्र थे । उनका अभ्यास करने के लिए २० वर्ष लगते थे । वे मंत्र या श्लोक द्रूइद् लोगों के गुरु और उनके शिष्य कण्ठाग्र रखा करते थे । उनको लिखकर रखना धर्मविरुद्ध समझा जाता था । जब उनका उपदेश जनता को किया जाता था, तो उच्च नियत अधिकारी द्वारा ही किया जाता था। इन उप-

देवों में से अनेक उपदेश अभीतक भी प्राप्त होते हैं। परन्तु उनकी प्रमाण प्रतीक साथ नहीं जाती थी। द्रूइद् शिष्यों को बड़ा गुप्त रीतिसे पर्वतों की गुफाओं और जंगलों के एकांत स्थानों में शिक्षा दी जाती थी, जिससे उनको सिखाई शिक्षाएं कोई छुपकर सुन न ले। ईसाइयत का राज हो जानेपर भी इस शिक्षाविधि का सिलसिला चलता रहा, बाद मे द्रूइद् लोगों के सिद्धांतों को द्रूइशों के ढंगपर संकलित किया गया और उनको गागाकर प्रचार करने के लिए काम में लाया गया, जिनको "पाल के त्रैद" नाम से पुकारा जाने लगा।

सूर्यकी उपासना।

द्रूइद्-धर्मशास्त्र के अति पवित्र और विशुद्ध भाग अति अधिक प्राचीन थे। बाद में बहुत से असत्य देवीदेवता आ घुसे, जिन्होंने द्रूइद्-के-धर्मों के बिगाड दिया। बाद के कुछ आचार्योंने मूर्तियों की पूजा भी घुसेड दी और परमेश्वर के अनेक स्थानापन्न रूप भी चला दियें। वेही द्रूइद् लोगों के सबसे प्रथम अनुयायी थे। उन्होंने 'सूर्य' को सब जगत् के प्राणों के प्राण परमेश्वर का मुख्य प्रतिनिधि नियत किया, उसको समस्त-निसर्ग का बडा प्राणदाता समझा। उसके बाद के द्रूइद् लोगों ने परमेश्वर की मूर्ति में कुछ पशुसम्बन्धी अंगों की योजना की, जिनसे परमेश्वर के गुणों को पूर्ण रीति दर्शाने की पूर्ति की गई। क्योंकि देवों की किसी बात को भी मानवरूप में बतलाना द्रूइद् सिद्धांतों के विपरीत समझा जाता था। महाशय 'गिल्डास' ने द्रूइद् लोगों की देवमूर्तियों का वर्णन किया है, जो कभी बर्तानिया (ब्रिटिश) टापुओं में विद्यमान थीं। वे मिश्र देशके भूतप्रेतों की भयावनी सूरत की मूर्तियों से भी बढी चढी थीं। ऐसी मूर्तियां उनके मंदिर की चौगिर्दी दीवारों के भीतर और बाहर भी रहा करती थीं, उनके विकृत भयावने रूप होते थे।

सर्वोपरि 'देव'।

तर्कद्वारा यह निर्णय हो चुका है कि ब्रिटिश द्वीपों में भी मूर्तिपूजा का प्रचलन रोमन-आक्रमणों के पूर्व न था, परन्तु रोमन आक्रमणों के पश्चात् ब्रिटिश द्वीपों में भी सेल्टिक नामों से इन्हीं देवी-देवताओं की मूर्तियां पुजने लगीं जिनकी पूजा रोम और यूनान में होती थी। एक वृक्ष के रूप में परब्रह्म परमेश्वर की पूजा होती थी। वा उसको सस् (शासः) नाम से पुकारते थे। हास्स् (शासः) का अर्थ है, महा शक्तिशाली (Mighty)। द्रूइद् लोगों ने सर्व शक्तिमान् परमेश्वर देव के लिए इस वृक्ष को प्रतिनिधिरूप से नियत करने के लिए अपने अडोस-पडोस तथा अपने समस्त पुरोहित-मण्डल की सहमति ली थी, और एक बहुत ही सुन्दर और उत्तम वृक्ष चुना। उन्होंने उस महावृक्ष की इधर उधर की अनेक शाखाएं काटकर उनमें से दो बडी शाखाओं को तने के साथ ऐसे ढंग से जोडा, कि वे उसकी दो विशाल मानवभुजाओं-के समान प्रतीत होती थीं। उन्होंने उस वृक्षकी छाती पर नाम खोदकर लिख दिया Thau 'थऊ' (देव)। वे इसी नामसे परमेश्वर का स्मरण करते थे। दाईं भुजाकी शाखापर लिख दिया Haesus [हासः सं० शासः] बाईं भुजापर लिख दिया Belenus बेलेनस [सं० बेलेन = वरुण] तने के बीच में लिख दिया (Tharanis) थारनिस [सं० धरणीश, धरुणः]

जब द्रूइद् धर्म का अधःपतन होने लगा, तब अनेक देवताओंकी पूजा के साथ एक देवकी पूजा का भाव विलुप्त होने लगा। 'हासस्' देवताको Mars 'मार्स' मंगल देवता समझा जाने लगा। उसको युद्धों और सेनाओंका अधिष्ठातृ देवता मानते थे, उसको और भी अन्य नामों से भी पूजते थे, उसकी पूजा नंगी तलवार के रूपमे भी करते थे। उसकी भेंट वे समाज लूटपाटकी सम्पत्ति चढा देते थे। सीजर का कहना है कि जब वे विजयी होते थे, वे विजय में जो कुछ भी पाते थे, उनमें से समस्त पशुओंको इस देवता के आगे समर्पित कर देते थे और शेष विजय लक्ष्मी को एक नियत सुरक्षित स्थान में रख देते थे। अनेक प्रान्तों में इस प्रकार के समर्पित पदार्थ देखे जा सकते थे। कभी कभी तो लोभवश लोग धर्म की उपेक्षा कर के लूट का माल छुपा भी देते थे और बहुत से देवतापर समर्पित वस्तुओं में से चुरा ले जाते थे। परन्तु ऐसा करनेवालों को बहुत कडा दण्ड दिया जाता था।

'देव-तात' तथा अन्य देवी देवता।

समस्त विश्वके पिता के रूप मे द्रूइद् लोग एक और देवता की पूजा करते थे, जिसको वे 'त्वेउतेतस' (Teutates) जिसमें इंग्लिश दो शब्द थे Deu-Tatt, जिनका अर्थ है, परमेश्वरपिता (देव-तात) बाद में इस देवता को पाताललोक का राजा माना जाने लगा, उसको 'दिस' (Dis) नामसे पुकारा जाने लगा। उसी को रोमन और यूनानी लोग प्लूटो (Pluto) नाम से कहते थे। कई समझते हैं कि लोग उसे 'मर्करी' (Mercury) नाम से पूजते थे। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिन द्वीप के लोग आकाशी ग्रहो की भी पूजा करते थे, उन्होंने सूर्य के अनेक मन्दिर खडे किये थे, वे सूर्य को अनेक नामों से पुकारते थे, जैसे-बेल Bel, बेलिनस Belinus, बेलतुकर्दस Belatucardus, अपोलो Apollo, ग्रानिअस Granius इत्यादि, ये सब नाम सूर्य के अनेक गुणों को बतलाते थे। इसी प्रकार चन्द्र की भी बहुत पूजा होती थी। चन्द्र के भी सूर्य के समान, उसी के पास अनेक मन्दिर थे। ब्रिटान लोग विद्युत् की पूजा करते थे, जिसे वे 'Taranis' 'तरनिस' (स० तरणि) नाम से पूजते थे।

परन्तु ब्रिटिन् राजके बहुतसे देवता तो मानवरूप देवता हो गये थे, अनेक उनमें विजयी राजा थे, अनेक बुद्धिमान् अज् थे या वे थे, जिन्होंने पूर्वकालमें कोई बडा उपयोगी थे शिल्प आविष्कार किया था। प्रायः उनमें अधिकाश वही जिन को रोमन और यूनानी पूजते थे। सम्भव है इनमें कुछ बहुत प्राचीन काल के हों, वे प्रायः सेल्ट या कैल्ट जाति क थे, ये शब्द कैल्टिक् भाषा के ही थे। रोम और यूनान के लोग दूसरी जातियों के देवीदेवताओं को अपना लेने में भी बडे चतुर थे। जो अधिक जगली और असभ्य जातियें होती हैं, वे अपने रिवाजों और पूर्वजोंको अधिक दृढता से पूजा करती हैं। एक अर्धदेवता Saturm सैटर्न था। यह 'तीतान' जाति का आदिपुरुष था। इस नाम का शब्दार्थ है रणवीर (Saturn = शत-रण)। ज्यूपिटर का मूल नाम है 'जौ' (Jow) यह भी कैल्ट भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है जवान [Jow = युवा, युवन्]। जूपिटर सैटरन का कनिष्ठ पुत्र था, जिसे राजगद्दीसे च्युत कर दिया था। उसके बडे पुत्र थे (Neptune) नेपचून और (Pluto) प्लूटो। वे इसके युवराज के समान काम करते थे। रोमनों ने उसके नाम के साथ 'पातर' (पिता) का नाम और जोडकर बडा कर दिया और वह 'जुपितर' कहलाने लगा।

ब्रिटिन द्वीप में 'मर्करी (Mercury) एक घन आकार-रूप में पूजा जाता था। गोल बालों का वही मुख्य देवता था, इस के साथ कई प्रतिमाएं थीं, उसको समस्त शिल्पों का प्रवर्तक माना जाता था। वह यात्राओं में उनको मार्ग वा दिशा दिखाता था, लाभ और वणिज्-व्यापार का अधिष्ठातृ देवता था। वह माइया (Maia) द्वारा ज्यूपिटर का बडा कृपापात्र पुत्र था। उसको पिता से योरोप का पश्चिमी भाग शासन के लिये प्राप्त हुआ था। वहां उसको सेल्ट-भाषा का नाम प्राप्त हुआ 'मर्करी' Mercury (Merc = वाणिज्य के पदार्थ और Wr = मनुष्य Merc wr = Mercury)

इसी प्रकार ब्रिटिश द्वीप में अन्य भी अनेक देवी और देवता थे, जिनकी प्राचीन काल से पूजा होती थी। जैसे-एन्द्रास्ते (Andraste = इन्द्रहस्त) इसको (Venus) वीनस' कहते थे, इस का दूसरा नाम था दियाना (Diana) और (Minerva) मिनर्वा, (Ceres) सेरेस, (Porserpine) पोर्सेरपोइन। इत्यादि, ब्रिटिश लोग सर्प और बैल की पूजा भी करते थे। कोई ताल, तालाब, पर्वत, या जगल ऐसा नहीं था, जहां कोई जिन्न न रहता या न माना जाता था। उसके निमित्त खूब धन चढता था। सुवर्ण, भोजन, वस्त्र लोग पानी में भी डालते थे।

धर्मस्थल।

प्राचीन ब्रिटिन के द्रूइद लोगों के पूजा के स्थलों में प्रायः घने ओक के वृक्षों के झुण्ड होते थे, जो देशमें प्रायः अनेक स्थानोंपर थे। इन घने वृक्षों के भीतर पूजा का खुला स्थान होता था, बीचमें वे बडे बडे पत्थरों की इकहरी या दोहरी कतार खडी करते थे। कभी उनपर आडे पत्थर भी रख देते थे। प्रायः देवता के नाम से वे शिला खडी कर देते थे। बीचमें एक चौडी वेदी रखते थे, जिसपर

देवताके निमत्त अग्निमें सुगंधित पदार्थ जलाते थे। कभी कभी वे अहातेके बीच में केवल पत्थरों की ढेरीभर लगा देते थे।

परिक्रमा।

द्रुइद् लोगोंकी पूजा और पद्धतियों के सम्बन्ध में बहुत रहस्य हैं, जो अभीतक स्पष्ट नहीं हुए हैं। उनमें एक रिवाज था, जिसे वे 'दियासूइल' (Deasuil) कहते थे। इसका सम्बन्ध सूर्यपूजा से था। इस संबंधमें डा० लिन्डसे अलेक्जेंडर ने अपने एक निबंन्ध 'अयोना' (Iona) में लिखा है– "वे अपने पवित्र चक्र में पूर्व से पश्चिम को तीन बार परिक्रमा करने को बड़ा महत्त्व देते थे। इस प्रकार वे सूर्य के मार्ग का अनुसरण करते थे ×। इस प्रकारसे वे समझते थे कि वे परम प्रभुकी इच्छा और आज्ञा के अनुकूल रहते हैं। इससे वे अपने प्रति सब कुशल-मङ्गल सम्पादन करते थे"। 'इसी प्रकार जब वे सूर्य की गति का अनुकरण करते थे, तो उसे वे मांगलिक समझते थे, इसी प्रकार दूरके किसी पवित्र तीर्थ में पूर्व से पश्चिम की ओर तीन वार परिक्रमा करने को धार्मिक कर्तव्य समझते थे।"

द्रुइद् लोग मंदिर का एक परिक्रमा मार्ग बनाते थे। वह परिक्रमामार्ग सूर्यका क्रांतिमार्ग समझा जाता था, वह प्रायः दक्षिणकी ओर पूर्व से पश्चिमको बना होता था, उसको 'दियासूल' (Deasuil) कहते थे। इससे विपरीत बाईं ओर से आने को (Cartuasuil) 'कार्तुआसूइल' कहते थे [Car-आना, tua-बाईं ओर] यह अच्छा नहीं समझा जाता था। परिक्रमाका यह अति प्राचीन रीवाज था, जो अन्य देशोंमें भी प्रचलित था। यहूदी लोग अपने पूजनीय अग्निकी दक्षिणा-परिक्रमा करते थे। और इसरायल लोग जैरिकोकी दीवारकी परिक्रमा करते थे। 'दियासूइल' की विधि आयर्लैंण्ड और वैल्स और स्काटलैण्ड के पर्वती भागों में भी प्रचलित थी। और अभी भी इसका सर्वथा लोप नहीं हुआ है।

इसी प्रकार एक रिवाज था कि १० मार्चको या वर्षके प्रथम दिवस वे मिसलेटो नामक पौधेको काटते थे। चन्द्र की षष्ठि, अमावास्याकी प्रतिपदा और पूनम (दर्श पूर्णमास) कोभी बड़ा पवित्र मानते थे। १ मई और १ नवम्बर (वैशाख कार्तिक) का वे अग्निद्वारा दीपोत्सव मनाते थे। वे अग्निकी देखरेखमें कुमारी स्त्रियों को नियुक्त करते थे, जो प्रति वर्ष वसन्त संक्रांति के अवसर पर नई की जाती थीं।

धर्मसभा, धार्मिक कृत्योंकी व्यवस्था।

द्रुइद् लोगोंकी धार्मिक सभामें स्त्री और पुरुष दोनों ही सम्मिलित होते थे। धार्मिक कृत्योंके अवसरपर शान्ति बड़ी कठोरता से रखी जाती थी। जो व्यक्ति धार्मिक कृत्योंके अवसरोंपर बातचीत करते पाये जाते थे, उनको तीनवार धमकाया जाता था। इस पर भी न मानते थे, तो उनकी पोशाक का पल्ला काट दिया जाता था। फिर भी आज्ञा उल्लंघन करने पर और भी कठोर बर्ताव किया जाता था। सीजर का कथन है कि गॉलवासियों के लिये सबसे कठोर दण्ड यह था कि, उनको धार्मिक देवपूजन अवसर पर आने से रोक दिया जाता था।

पशुबलि और नरबलि।

कई देवताओं पर पशुबलि किए जाते थे। श्वेत बैल विशेष रूपसे बलि किया जाता था। उनमें कभी कभी नर-बलि भी की जाती थी। मि० टामसन का कथन है कि कभी कभी बलि योग्य मनुष्य को बाणोंसे छेदा जाता था, और पवित्र वृक्ष-निकुंजों में उसे शूली भी दी जाती थी। कभी कभी यह हत्याकाण्ड बड़ी क्रूरता से किया जाता था, उनको बड़ी मात्रा में कतल करते थे। कभी एक बड़ा भारी घास फूसा का भारी ढेर लगा देते थे, उसमें फूस के पूले लकडियां और उनमें ही पशु और बलि के मनुष्य बांधकर आग लगाकर भस्मसात् कर दिये जाते थे। बलिके नरोंको मन्दिर में नंगा करके लाया जाता था। और औषधियों का रस डालते थे। ऐसी नरबलियां कभी कभी जनताके समक्ष करते थे। कभी कभी विशेष विशेष अवसरों पर विशेष भविष्य बातें जानने के लिए करते थे। डायोडोरस का कथन है कि– वे लोग बलि के मनुष्य को ले लेते थे और तलवार के एकही हाथ में उसे पेट और छाती के बीचमें से

× उपनयन में सूर्यदर्शन– 'सूर्यस्यावृतमन्वावर्तस्व' की विधि देखो।

काटकर दो टुकडा कर देते थे। उसके धड के गिरने, तडपने और रुधिर की धार के फूटने की क्रियाएँ देखकर वे भविष्य की बातों अनुमान किया करते थे। इस सम्बन्ध में उनके पूर्वजोंने कुछ नियम निर्धारित कर रखे थे, जिनके अनुसार वे भविष्य जांचा करते थे। बलि के टुकडों को बाद में अग्नि में ही डाल दिया जाता था। यद्यपि वे नरबलिको उचित नहीं समझते थे, तो भी बलि योग्य नर को सूअर से भी भयानक जानकर उसकी बलि कर देते थे। गॉलिक भाषा में एक भी शब्द नरबलि या पशुबलि का सूचक नहीं है, तो भी जो शब्द देवता के लिए चढावा देनेका है, उसका शब्दार्थ है—

"पूण्या टिकडी के समान अन्त की बलि"

नरबलि का दोष ड्रूइद् लोगों पर ही नहीं लगाया जा सकता, उस समय के मिस्र, कार्थेज, फ्रोनिशिया आदि में भी नरबलि होती थी। ड्रूइद् लोगों की पूजा-आदि कर्म फोनिशियावालोंके इतने सदृश थे कि अनेक लेखकोंने दोनों के सम्बन्ध में एक साही लिख दिया है।

ड्रूइद् धर्म का संहार।

ड्रूइद् लोगों ने ब्रिटेन और गॉल प्रान्तों में खूब राज्य किया है। रोमनों के आक्रमण ने ड्रूइद् लोगों को धक्का लगाया। आगस्टस् सीजर ने रोमन नागरिकों के लिए एक राजाज्ञा निकाली कि- वे ड्रूइद् लोगों के किसी प्रकार के धर्म करको स्वयं न करें।

टायबिरियनें रोमसे ड्रूइदों की सब देवपूजाओंको निकाल दिया था। साथके प्रान्तोंमेंसे भी ड्रूइदोंको राजा क्लाडियसने निकाल बाहर किया क्लाडियसने उनको गॉलमेंसे भी निकाल बाहर किया, ब्रिटन प्रान्तमें भी उन पर बडे अत्याचार होने लगे, वे बिचारे भागकर एग्लेसी टापुओं में आ गए। रोमके बादशाह नीरो के समय के शासकोंने ड्रूइद् लोगों के पूजा-स्थानों की वृक्षों के समूहों को काट गिराया उनके मन्दिर गिरा दिए गए, उनकी वेदियां उखाड डाली गईं, उनके बहुत से पुरोहितोंको जीते जी जला दिया गया। इस प्रकार के लगातार अनेक अत्याचारों के पश्चात् ड्रूइद् लोगों की विधि से पूजा करनेवालों का अन्त हो गया। ब्रिटिन में इनके अवशेष १७७ ईस्वी तक तो पाए गए। बाद में राजा लूसियस स्वयं ईसाई हो गया। मोना टापू में सौ साल बाद तक भी 'ड्रूइद्' लोगों का मत चला। ज्यों ज्यों ईसाइयत फैली त्यों त्यों ड्रूइदों को धर्म नष्ट होता गया। बादके कोलम्बा और कुलदी नाम शासका ने अन्य धर्मों को बडी कडाई से दबाया और ईसाइयत मानवसमाज पर लाद दी गई और ड्रूइद् धर्म सदा के लिए कूच कर गया।

आलोचनात्मक दृष्टि।

ड्रूइदों के धर्म का जो वर्णन हमने पूर्व किया है, उसका मुख्य आधार 'The Faiths of the World' नामकी पुस्तक है। यह ग्रंथ आठ खण्डों में पूर्ण हुआ है। और समस्त धर्मों और मतों, पंथों के सम्बन्ध में पर्याप्त विस्तार और ईमान्दारीसे विश्वकोश के रूप उत्तम रीतिसे लिखा गया है। अपनी ओर से इस लेखमें हमने कुछ नहीं मिलाया है। इसके पढने से हमें इस विलुप्त धर्म-सम्प्रदायके सम्बन्धमें अनेक बातोंका ज्ञान होता है।

'ड्रूइद्' नामके सम्बन्ध में।

हमने इस संप्रदाय का नाम 'ड्रूइद्' लिखा है। अंग्रेजी अक्षरों में Druids लिखा जाता है, जिसे लोग प्रवाह से 'ड्रूइड' उच्चारण करते हैं, परन्तु इसका उच्चारण 'ड्रूइद्' ही करना चाहिये। 'मूल शब्द' शीर्षक में इसका एक मूल शब्द द्रुस (Drus) यूनानी भाषा के शब्द को बतलाया है, जिसका अर्थ वृक्ष है। वस्तुतः यह यूनानी शब्द 'द्रुस्' संस्कृत का 'द्रु' शब्द है, जिसका अर्थ वनस्पति या वृक्ष है। 'द्रुम' शब्द भी संस्कृत का है। वेद में द्रु-अन्न=द्रुन्न शब्द अग्नि के लिये आता है, जिसका अर्थ है वृक्षको अन्नवत् खानेवाला। इस विवेचना से हम केवल 'ड्रूइद्' शब्द का ठीक उच्चारण निर्धारित कर सकते हैं, अर्थात् इस का उच्चारण 'द्रु' है 'डु' नहीं है।

परन्तु यह 'द्रु-इद्' यह शब्द भी स्वतः मूल शब्द नहीं है। इसका भी मूल शब्द और है। लेखकने अपने काल की एक कल्पना के अनुसार मूल शब्द 'द्रुथिव' बतलाया है, जिसका अर्थ 'सत्य का सेवक' है। इसमें मूल शब्द में (truth) सत्यवाचक इंग्लिश शब्द का आभास प्रतीत होता है। सम्भवतः यह शब्द 'ड्रूइद्'

न उच्चारण होकर इसका उच्चारण 'ब्रुइद्' रूप से भी होता हो। आगे हम देखते भी हैं कि इनके बादके उत्तराधिकारी बाद में त्रैद (Traid) नाम से कहे गए हैं। इस नाम में 'त्र' जैसा का तैसा सुनाई दे रहा है, सम्भवतः मूल शब्द 'त्रि-विद्' 'त्रयीविद् 'त्रैविद्य' हो। यदि truth को मूल शब्द मानें, तो इसका भी मूल शब्द 'श्रुत्' की कल्पना हो सकती है, अर्थात् ब्रुइद्=श्रुत-विद्। वेद में 'श्रत्' शब्द सत्य का वाचक है। श्रत्= truth—त्रुथ=त्रृथ' यह वर्णविपर्यास देशभेदसे बोल न सकने के कारण हो गया हो। या 'श्रुत' शब्द वेद का वाचक है। वेदको ही प्राचीन काल में 'सत्य' त्रिकाल सत्य, मानते हैं, इससे 'श्रुत' से 'ट्रुथ' बना हो।

स, या श, ट या त में बदलता दीखता है। श्रीयुत पोकाकने अपनी 'इण्डिया इन् ग्रीस्' नाम पुस्तक में लिखा है कि अनेक संस्कृत शब्दों में स, श, त, र में बदले है, जैसे-पर्वत 'तोमेरस' 'सुमेरु' का अपभ्रंश है। इसी प्रकार संस्कृत का 'श्री' शब्द अंग्रेजी के (Treasury) ट्रैयरी (खजाना) में उपस्थित है। इसी प्रकार 'ट्रुथ' शब्द में श्रुत् शब्द की सत्ता सम्भव है। इसी प्रकार 'ड्रुइद्' में त्रुइत्, श्रु-विद्, श्रुतविद्, अथवा त्रैद्, त्रैविद्य, त्रयीविद् शब्दों का भी आभास प्रतीत होता है। परन्तु यह सब केवल कल्पना-मात्र हैं। जब तक इनमें से हम कोई प्राचीन प्रचलित शब्द नहीं पकड़ेंगे, तबतक ये कल्पनाएं बहुत महत्त्व की नहीं हैं।

हम देखते हैं कि ये 'ड्रुइद्' लोग अपने धर्म के मन्त्रों को बड़े रहस्य से रखते थे, गुरुपरम्परासे सुनते थे, इनकी संख्या २०००० के लगभग थी। इत्यादि ये सब बातें 'त्रयी' के साथ मेल खाती हैं। और कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यहां अवश्य मूल शब्द 'त्रयी-विद्' या त्रैविद्य है। यहूदियों का जो धर्मग्रन्थ Torah है, वह भी 'त्रयी' 'त्रयः' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। वे उसको अग्निपटलों में सृष्टि के आदि में प्रकट हुआ मानते हैं, और उसके शब्दों से संसार को उत्पन्न हुआ मानते हैं। इधर भारतीय प्राचीन विद्वान् भी वेदके शब्दों से संसार को उत्पन्न हुआ मानते हैं, जैसा कि सायण के मंगल श्लोक तथा मनुके श्लोक से विदित भी होता है—

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥

अस्तु। हमारा कहनेका तात्पर्य यही है कि प्राचीन धर्मोंका मूल वेदत्रयी था, जिसे हिब्रू या यूनानी लोग 'त्रयः' का अपभ्रंश Torah 'तोरा' कहते थे और ब्रिटिश टापू के धार्मिक पुरोहित लोग इसको जानने से 'त्रैविद्य' या 'त्रयीविद्' बिगड़ कर (Traid) त्रैद और 'त्रुइद' 'ड्रुइद्' कहलाते थे।

इनकी सारी व्यवस्था को आप ध्यान से पढ़ें, तो ज्ञात होगा कि ये सर्वथा वेदज्ञ ब्राह्मणों के समानही मान प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए थे। इनका एक वर्ग 'वेत्स' था, जिस में हमें 'वेद' शब्द का विकृत रूप स्पष्ट प्रतीत होता है। क्या अंग्रेजी का (Faith) फेथ शब्द वेद शब्द का अपभ्रंश तो नहीं? और फेथ से रहितों का नास्तिक भी कदाचित् इसी भावना से माना जाता हो, जिससे हम 'वेद' के माननेवाले को नास्तिक' कहते हैं। 'फाइ डेलिटि' में भी वही 'वेद' शब्द ध्वनित हो रहा है। Infidel (अविश्वासी, अवैदिक=वेदविरुद्ध) प्रधार्मिक शब्द उसी प्रकार नास्तिक के समकक्ष शब्द है। इसी प्रकार 'वेट्स' वर्ग में से 'प्रोफेट्' आदि गुरु या सन्तमहात्मावाचक शब्द भी विचारणीय हैं। वे 'फैडस्ट' कहलाते थे इसका मूल शब्द 'वेदस्थ' प्रतीत है, 'प्रोफेट' का मूलक 'प्र-वेद' (= उत्तम ज्ञाता) प्रतीत होता है।

ड्रुइद् लोगोंकी जीवनचर्या और धर्मकृत्योंपर ध्यान देने से उनकी समस्त बातें यहां के ब्राह्मणों से मिलती हैं। रोमन-राज्य ने इनका सर्वनाश कर दिया और ईसाईयों के अत्याचारी शासनने तो इनका मूलोच्छेद ही कर डाला। इसकी बड़ी करुण-कथा है, जो पाठकों को किसी अन्य लेख में सुनावेंगे।

'त्रैविद्य' और त्रयीविद् शब्द का प्रयोग प्रायः मनु आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों में अनेक बार आया है, जैसे—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की (मनु० १)

सम्भव है यह शब्द पूर्वकाल में विशेष वेद-विद्वानों के लिए योगरूढ़ हो गया हो और वे लोग ही योरोपके ब्रिटिश टापुओं में जा बसे हों। और फिर वे भी धर्मविद्या-हीन होकर अपने विकृत रूप में रोमनों के शासनों और ईसाइयों के अत्याचारों से नष्ट हो गये हों।

इनके धार्मिक विश्वास सर्वथा हिन्दू मन्तव्यों या उपनिषदों के मन्तव्यों से बहुत अधिक मिलते हैं। जीव के पुनर्जन्म, और आवागमन के सिद्धांतों में तो कोई भेद ही नहीं है। गीता में अमर आत्मा को मानकर जैसे वीरता के लिए प्रोत्साहित किया गया है, वह बात इन 'द्रुइद्' लोगों में इतनी अधिक थी, जिसका उल्लेख बडे आवश्यक रूप में किया गया है। आगे 'श्रेय, प्रेय मार्ग' का वर्णन सर्वथा कठ-उपनिषद् से लिया मालूम होता है। लोकों की व्यवस्था, ईश्वर की पूजा, धर्म, तप, तितिक्षा के सिद्धांत, मन्त्रों की २० सहस्र संख्या, उनका कण्ठाग्र रहना यह सब बडी आश्चर्य की बातें हैं, जो निश्चय करती हैं कि ये अवश्य वेद-धर्म के माननेवाले थे। इनके पास तीन वेद थे, इनके आश्रम वृक्षों के झुरमुटों में रहते थे, क्या ये वैदिक वानप्रस्थी सन्त तो न थे? इनके यज्ञ के शिलामय यूप खडे होते थे, यह सब बडा रहस्यवाद है। इन लोगोंने परमेश्वर का प्रतिनिधि 'सूर्य' को माना, क्या यह वेद की झलक नहीं है? "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इसी प्रकार 'सविता' को मुख्य मानकर उसी के मन्त्र को गुरुमन्त्र मानना, कदाचित् इन लोगों में भी हो, परन्तु जिन लोगो ने इनके धर्मों का कुछ कुछ वर्णन किया है, वह भी अनेक अनुवाद-प्रत्यनुवाद होकर हमें वैसा भी मिल रहा है, उसमें भी सत्यता फूट फूट कर निकल रही है।

आपको यह पढकर आश्चर्य होगा कि द्रुइद् लोगों में रोमन आक्रमणों से पूर्व मूर्तिपूजा नहीं थी, यह आसुरी रीति रोमनों से इनमें आई। वे वृक्षरूप में भी परमेश्वर को मानते थे। क्या अश्वत्थ रूप से परमेश्वर का वर्णन नहीं है? फिर क्या अन्धविश्वासियों ने पीपल की पूजा नहीं चलाई? वैसी ही बाद में इन लोगों में 'ओक' (oak) वृक्ष की पूजा प्रचलित हुई।

बडे भारी वृक्ष को 'हासस्' के रूप में बताकर जो पूजा की यह भी एक आश्चर्यजनक बात है। उसका नाम 'हासस्' संस्कृत के 'शास' शब्द का रूपांतर है। 'शास' शब्द इन्द्र का वाचक वेद में आता है। उसका अर्थ महान् शक्तिशाली वेद में ज्यों का त्यों आता है—

शास इत्था महान् असि।

उसका नाम उन्होंने Thau (थेओ) रखा। क्या यह देव शब्द का रूपांतर नहीं? यही चीन में 'तेओ' धर्म या ताओ धर्म (Taoism) कहा जाता है। इनसे आप इन्हें देव, शास, महान् के उपासक सहज ही मान सकते हैं। वही बाद में नंगी तलवार के द्वारा बतलाया गया। संस्कृत में, वेद में 'शास' का अर्थ तलवार भी है। रोमनों के सम्पर्क से इनमें ग्रहों की पूजा चल पडी। सम्भव है, रोमन अत्याचारों से पीडित होकर पराया धर्म इनमें चल पडा हो। इसी प्रकार आगे एक देववाचक शब्द 'तेओ तातस' है जो स्पष्ट ही 'देवतात' का रूपांतर है।

अन्त में आप यज्ञवेदी की परिक्रमा का रिवाज भी पाते हैं, जो सर्वथा भारतीय है। मन्दिर और तीर्थों की परिक्रमा का रिवाज अभी तक भारत मे प्रचलित है, यज्ञवेदी की परिक्रमा, आचार्य की परिक्रमा यह सब 'सूर्यावृत' ही कही जाती है। यही भाव द्रुइद् लोगों में था। इसी प्रकार द्रुइद् लोगों में पहले अन्न से ही देवपूजा (यज्ञ) होती थी, बाद में उनमें नरबलि तक घुस गई। क्या यह परिवर्तन भारत में होनेवाले वाममार्गीय परिवर्तन के समान प्रतीत नहीं होता? जब उनकी भाषा का देवता के बलियोग्य पदार्थ के वाचक शब्द का अर्थ ही 'अन्नमय पूआ' है, तब उनमें पशुबलि का रिवाज हो ही नहीं सकता। यह शब्द अपूप या पुरोडाश भी, नहीं कह सकते। क्योंकि उस मुख्य शब्द का लोप ही हो गया है। भारतवर्ष के प्राचीन आर्यकाल का भी यही सिद्धांत था कि 'अज' आदि शब्दों का अर्थ बकरा आदि नहीं पर बीज हैं।

प्रतीत होता है कि सीजर आदि बादके लेखकों ने अन्य धर्मों की उलटी सुलटी बातों को भी द्रुइदों के साथ ही रलामिला दिया है। इससे उनके धर्मका विशुद्ध रूप जानना और भी कठीन हो गया है। तो भी इस दिशामें अनुसन्धान करने से और भी प्रखर सत्य वैदिक सिद्धांतों और मन्तव्यों की दृढ पुष्टि होगी। यदि ये जीवित रहते, इन पर ईसाइयत का सर्वापहारी अत्याचार न हुआ होता, तो न जाने वेदके धर्म का कितना भारी खजाना हमारे हाथ आता। कौन कौन सी विलुप्त शाखाएँ इन के पास प्राप्त होती। तोभी अनुसन्धानकर्ता इनके धर्मोंका खूब तुलनात्मक अध्ययन करें, इस आशय से हमने इन के धर्मोंके सम्बन्ध में यह विस्तृत लेख लिखा और कुछ दिग्दर्शन भी कराया है।

मंत्रार्थ और गायत्री ।

(ले०- वैद्यराज पं० रमाकांत झा आ० शास्त्री, स० संपादक 'माला')

मंत्रार्थ का वर्णन हम प्रश्नोत्तरद्वारा करेंगे ।

प्र०- मंत्रार्थ कै प्रकार का होता है ?

उ०- मन्त्रार्थ ६ प्रकार का होता है ।

प्र०- उन सबके क्या नाम हैं ?

उ०- १. भाव, २. संप्रदाय, ३. निगम व्याख्या, ४ सर्वरहस्य, ५, कौलिक, ६. महत्व । ये छः प्रकार के अर्थ शिवजीने 'गंधर्वतंत्र' में किया है ।

प्र०- भावार्थ किसको कहते हैं ?

उ०- जिस मंत्रार्थ में मंत्रके भाव साधार रीत्या समझ में आने के लिए स्थूल रूप से वर्णन किया जाय, वह भावार्थ कहलाता है ।

प्र०- संप्रदायार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- प्राचीन आर्यों तथा द्विजातियों की केवल संध्या अर्थात् गायत्रीही की उपासना करना संप्रदाय है । वह जिस अर्थ से सांगोपांग उपासना की विधि का प्रतिपादन किया जाय, वह संप्रदायार्थ कहलाता है ।

प्र०- निगम व्याख्यार्थ किसको कहते हैं ?

उ०- निगम वेद को कहते हैं और जिस मंत्रार्थ में वेदमतानुसार, विशेष करके आख्यान यानी कथन किया जाय, वह निगम व्याख्यार्थ कहा जाता है ।

प्र०- सर्वरहस्यार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- जिस मंत्रार्थ में मंत्रांतर्गत अलक्षित अर्थ को भी सम्यक् वर्णन कर दिया जाय, वह रहस्यार्थ कहा जाता है ।

प्र०- कौलिकार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- जिस मंत्रार्थ में कुलशक्ति अथवा गायत्री है और केवल उसी गायत्री ही की उपासना करने से द्विजातियों के अर्थरूपी मोक्ष का प्राप्त होना सम्भव है, अन्य से नहीं, ऐसा ज्ञान जिस से सिद्ध किया जाय, वह कौलिकार्थ कहलाता हैं । अथवा परब्रह्म (ओं शिव) का साकार स्वरूप गायत्री है और फिर वही निराकारावस्था में ओं कहलाती हैं । और इन्हीं दोनोंपर ब्रह्म तथा ब्रह्म की योगानुष्ठान द्वारा षट्चक्रांतर में कलाधिकारभेद से उपासना करने से मोक्ष होती है । ऐसा स्पष्ट ज्ञान जिस अर्थ से सिद्ध किया जाय, वह कौलिकार्थ कहलाता है ।

प्र०- महत्तत्वार्थ किसे कहते हैं ?

उ०- महत् नाम आत्मा और ब्रह्म का है कि जो सब तत्वों का तत्व है । ऐसा भाव जिस अर्थ से सिद्ध किया जाय, वह महत्तत्वार्थ कहलाता है। अथवा वेदांतशास्त्रानुसार अद्वैतभाव से ब्रह्म की उपासना जिस अर्थ से सिद्ध किया जाय, वह महत्तत्वार्थ कहलाता है ।

मंत्र का वर्णन ।

प्र०- मंत्र किसको कहते हैं ?

उ०- यहांपर मंत्र शब्देन केवल वैदिक मंत्र समझना चाहिए । क्योंकि ब्राह्मणादि द्विजातियों को ही केवल वेद के पाठ का अधिकार है । अन्य को नहीं ।

प्र०- वैदिक मंत्र किस मन्त्र को कहते हैं ।

उ०- केवल ओंकार (ॐ) को, क्योंकि यही सब मंत्रों के राजा है तथा सर्वव्यापक भी है ।

प्र०- उपासनाप्रकरण में ओंकार (ओं) शब्द किस देवता का वाचक है ?

उ०- गायत्री का । क्योंकि द्विजातियों को मोक्षप्राप्तिके लिए केवल गायत्री ही की उपासना शास्त्रों

में देखने को आता है। जिससे यह ज्ञान होता है कि मुख्य गायत्री मंत्र ओंकार (ओं) ही है। और इसी का जप और इसी के प्रतिपादक देवता की उपासना करना योग्य है।

प्र०- क्या आप तत्सवितुरिति चतुर्विंशाक्षरी मंत्र को जो सब वेदोंमें गायत्री छन्द प्रतिपादक गायत्री मन्त्र वर्तमान है, गायत्री मंत्र नहीं मानते ?

उ०- हम इस मंत्रको गायत्री छन्दभेदसे गायत्री मन्त्र नहीं मानते, किन्तु ओंकारस्वरूपा गायत्री की सांगोपांग उपासनाविधिप्रतिपादक होनेसे इस मन्त्रको गायत्री मन्त्र मानते हैं। यदि यह छन्दभेदसे यह मंत्र गायत्री मंत्र माना जाय, तो वेदोंमें अनेकों मन्त्र चतुर्विंशाक्षरी गायत्री छन्दप्रतिपादक हैं। तो उन सबको गायत्री संज्ञा होनी चाहिये। और जब उन सबकी गायत्री संज्ञा होगी, तो इसमें कुछ भी विशेषता न रहेगी। तथा यज्ञोपवीतादि कार्य में कोई भी चतुर्विंशाक्षरी गायत्री छन्दप्रतिपादक मंत्र का उपदेश होने लगेगा, न कि खासकर इसी मन्त्रका और यज्ञोपवीतप्रकरण में इसी गायत्री मन्त्र का उपदेश देने की आज्ञा है। तो वहां भी दोष होगा, अतएव गायत्री ही की उपासना प्रतिपादक होनेसे तत्सवितुरिति मंत्र की गायत्री मंत्र संज्ञा मानी गयी है। न कि छन्दभेदेन।

प्र०- ओंकार (ओं) मंत्र का क्या अर्थ है और मंत्रार्थ किस को कहते हैं ?

उ०- ओंकार (ओं) का अर्थ गायत्री है। और उस गायत्री का केवल ध्यान करनाही मंत्रार्थ शिवजीने माना है।

प्रथम सोपान।

इस सोपान में ओंकार (ओं) व्याहृतियुक्त तत्सवितुरिति गायत्री मंत्रके अर्थ से सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों में गायत्री को व्यापक मान उसकी उपासना का निरूपण करेंगे।

गायत्रीमन्त्र-

ओम् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

पदार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) सूर्यादिक जो प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन प्रकाशमान पदार्थों के बीच में (तद्भर्गः) तिस अज्ञानादिक पापों के नाश करनेवाले तेज अर्थात् गायत्री के तेजस्वरूप (ओम्) ब्रह्म को (धीमहि) ध्यान करते हैं। कैसे स्वरूप को? (भूर्भुवस्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादिकों के उपासना करनेयोग्य को (यः) जो गायत्रीका स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है अथवा अपने प्रादुर्भूत होनेसे हम लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग सूर्यमंडलादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीचमें गायत्री के उस ज्योति स्वरूप (ओं) ब्रह्म का ध्यान करते हैं। जो गायत्री का स्वरूप हमारी बुद्धि को मोक्षप्राप्त्यर्थ धर्ममार्ग में लगाता है।

कहीं ऐसा भी लिखा मिलता है- मेरा स्वरूप वास्तविक (ओं) ओंकार है। ओंकार का मतलब प्रकृति-पुरुष और गुणोंकी एकाग्रता से है। भूर्भुवः स्वः ये तीन लोक संसारप्रसिद्ध हैं। इन्हीं का स्वरूप जब शरीर पर घटाया जाता है, तब शरीर को भूः, सूक्ष्म शरीर को भुवः और इनके भीतर जो सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्मा वास करती है, इसी को स्वः लोक कहते हैं। इसी को आत्मा या परमात्मा भी कहते हैं। यही मेरा असली स्वरूप है। यही जब अपने को व्यष्टिभावसे न देखकर समष्टिभाव से संसार के सब जीवोंकी मन, बुद्धि, इन्द्रियोंका मालिक होकर अपने तेज स्वरूप का समष्टिभाव से सबपे स्थित इन्द्री, मन और बुद्धियोंका एकत्वभावसे अपने असली स्वरूपका ध्यान करता है, तब ये संसार की सब बुद्धियोंका प्रेरणा करता है और अपने को 'अहम् ब्रह्मास्मि' होता हुआ देखता है।

दूसरा अर्थ।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग (तत्) उस (देवस्य) प्रकाशमान पदार्थ के बीचमें (वरेण्यम्) श्रेष्ठ उपासना करनेयोग्य (भर्गः) भर्गाख्य तेज अथवा गायत्री के तेजःस्वरूप (ओं) ब्रह्म को (धीमहि) ध्यान करते हैं। किस प्रकाशमान पदार्थ को (भूर्भुवः स्वः) अग्नि, वायु और सूर्यसंज्ञक के, फिर कैसे प्रकाशमान पदार्थ? (सवितुः) प्रेरणा करनेवाले के (यः) जो प्रकाशमान पदार्थ (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) लौकिक और पारलौकिक कामोंमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- जो अग्नि, वायु और सूर्यादिक प्रकाशमान अपने अपने प्रकाशोंके द्वारा, हम लोगों की बुद्धि को लौकिक और पारलौकिक कामों में प्रेरणा करते हैं, सो उन प्रकाशमान पदार्थों में गायत्री के ज्योतिःस्वरूपका हम लोग ध्यान करते हैं।

तीसरा अर्थ।

हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीचमें (तद्भर्गः) तिस तेजके अर्थात् गायत्री स्वरूप (ओम्) ब्रह्मको ध्यान करते हैं। किस प्रकार से? (भूर्भुवः स्वः) ऋग् यजुः सामाख्य गायत्री के स्वरूपों करके। कैसे रूपको? (वरेण्यम्) उपासना करनेयोग्य को (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम द्विजाति लोग गायत्री के उस उपासना करनेयोग्य तेजःस्वरूप को ऋग् यजुः सामरूपोंसे सूर्यादिक प्रकाशमान पदार्थों के बीच में ध्यान करते हैं, जो गायत्री का स्वरूप हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में लगाता है।

चौथा अर्थ।

हम द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान चन्द्रमा के बीच में (तद्भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को उपासना करनेयोग्य (भर्गः) तेज अर्थात् गायत्री के तेजःस्वरूप को (धीमहि) ध्यान करें। किस प्रकार से? (ओम्) ओंकार की अकार, उकार, मकार संज्ञक गायत्री के स्वरूप कर के (यः) जो गायत्री का स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजातियों को उचित है कि गायत्री को सर्वव्यापक मान अपने उपासना करनेयोग्य पापों के नाश करनेवाले गायत्री के उस तेजःस्वरूप को प्रकाशमान चन्द्रमण्डल में ध्यान करें, जो गायत्री का स्वरूप हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में लगाता है।

पांचवां अर्थ।

हम द्विजाति लोग (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमान अग्नि के बीचमें (तद्भर्गः) उस पापों के नाश करनेवाले तेज अर्थात् गायत्री के तेजःस्वरूप (ओम्) ब्रह्म का (धीमहि) ध्यान करते हैं। किन किन शक्तियों द्वारा? (भूर्भुवः स्वः) इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति द्वारा। कैसे स्वरूप को? (वरेण्यम्) हम लोगों के उपासना करने योग्य को, (यः) जो गायत्री स्वरूप (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिक द्विजाति लोग अपने उपासना करने योग्य, पापों को नाश करनेवाले, गायत्री के उस तेज स्वरूप (ओं) ब्रह्मका इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति द्वारा प्रकाशमान अग्नि के बीचमें ध्यान करते हैं।

वैदिक सन्ध्यारहस्य।

(ले०- श्री वैद्यरत्न पं० रमाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक 'माला')

हिन्दुओं के उपासना-तत्वमूल में जो जो ब्रह्मतत्त्व निहित है, वह ब्रह्मतत्व बहुतही सूक्ष्मभावात्मक और उसकी उपासनापद्धति बहुतही रहस्यमय और बहुतही ऊंचे विज्ञान से भरी हुई है। संध्या में जो अमूल्य रत्न छिपा हुआ है, उसका पता लगानेके लिये आपको आध्यात्मिक भावरूपी समुद्रमें गोता लगाना पडेगा। अतएव हिन्दू के उपासनातत्त्व को ढूंढनेवाले उद्यमशील भाइयोंसे प्रार्थना है कि एक बार शास्त्रसमुद्रमें गोता लगा सन्ध्यास्वरूप आत्मसत्त्वरूप रत्नको पाकर सुखी बनने की चेष्टा करें।

सन्ध्यातत्त्व आध्यात्मिक जगत् का विषय है। इस आध्यात्मिक जगत् में निर्धनी या धनी का विचार नहीं है। केवल गुणागुण का विचार है। इस विश्वब्रह्मांडकी कारवाईपर विचार कर आप देखेंगे कि इसके मूल में केवल तीन गुण वर्तमान हैं। जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय या हम लोगों के अनुदित सभी कामकाज इन्हीं तीनों के फल हैं। जगत् की सृष्टिकाल में रजोगुण, स्थिति काल में सत्त्वगुण, लयकालमें तमोगुणका पूर्ण विकास रहता है। अतएव भगवान् की शक्ति त्रिगुणात्मिका है। हम लोग भी उसी गुणों की उपासना किया करते हैं। यथा ब्रह्मा के रूप में रजोगुण को, विष्णु के रूपमें सत्त्वगुणको, शिवके रूपमें तमोगुण की उपासना करते हैं।

सन्ध्या करनेके समय में शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर को परिशुद्ध करना बहुत आवश्यक है। और देह तथा मनको स्निग्ध करनाभी परमावश्यकीय है। इसी उद्देश्य से हम लोग बहुत पवित्र और स्वभावतः शीतल जल का आश्रय लिया करते हैं। एक बार इसपर भी हम को विचारना चाहिये कि 'जल' हम लोगों में क्यों पूजनीय है ?

प्यास से व्याकुल होनेपर जब प्राण होठोंपर लगता है, जब जल न मिलने से क्षणभर में प्राण के निकलने की शंका होती है, उस समय थोडासा भी जल मिल जाने से शायद् हम उसे प्राण समझने में कुछ संकोच न करेंगे। शरीर जिस समय तप जाता है या थक जाता है, उस समय और किसी के पास न जाकर केवल जल के ही पास आना पडता है। कारण यह जल स्वभाव से ही शीतल और सत्त्वगुणप्रधान है। यही जीवजगत् और औद्भिज्ज जगत् का प्राण है।

जल में जो शीत है, वह समझो सत्त्वगुण द्रवीभूत होकर मिल गया है। अतएव जल का एक नाम नारायण है। जल की आराधना से हम लोग सत्त्वगुणप्रधान विष्णुकी ही आराधना करते हैं। जो नारायण जल के रूपमें या विष्णु के रूपमें सृष्टि का पालन करते हैं, उनकी उपासना करनेसे भला लज्जा कौन बात की है ? जलको अत्यन्त पवित्र समझ उससे आचमन या मार्जन कर बाहर और भीतर से पवित्र होकर भगवदुपासना में प्रवृत्ति होने से उनकी अलौकिक भक्ति की उद्दीप्ति होती है।

इसी उद्देशसे 'ऋतं च सत्यं च' इत्यादि मन्त्र पढा जाता है। इसी में सृष्टिप्रकरण वर्णित है। वस्तुतः आप जिनकी उपासना करेंगे, उनकी गुण-गरिमाको गाये बिना आपके हृदयमें भक्ति कैसे उत्पन्न होगी ?

हम लोगों के सन्ध्योपासन के व्यापार में 'आत्मतत्त्व' साधनप्रणाली जिस प्रकार से अन्त-

निविड़ भाव से निबद्ध है, उसे हृदयंगम करने के लिये पहले हमको शरीरतत्त्व से अवगत होना परमावश्यक है। शरीरतत्त्व के विना कुछ जाने साधनक्षेत्र में उतरा नहीं जाता। अतएव उतनाही कहेंगे। विशेष भावों के वर्णन करने का इस लेख का उद्देश्य नहीं है।

शुक्र, शोणित, मज्जा, मेद, मांस, अस्थि और त्वग् इन सात धातुओं द्वारा बने इस ब्रह्माण्ड में हेती ग्राम की तरह अनेक अनेक नसें वर्तमान हैं, इन नाडियों के एक काम समाचार ले आना अर्थात् अनुभूति उत्पन्न करना भी है। इन में तीन नाडी प्रधान हैं- इडा, पिंगला, सुषुम्ना। इडा का दूसरा नाम वामा या चन्द्रनाडी भी है। यह सत्त्वगुणविशिष्ट और यह मनुष्योंके बायें भागमें बहती हुई बायें नथुनेसे जाती जाती है। इसे पितृयान भी कहते हैं। क्यों कि साधक इसमें अपना मन स्थापित कर साधनमें पूरे होते हैं। ऐसे साधक आकाशमार्ग द्वारा पितृलोक के स्थान चन्द्रमण्डल में जाते हैं।

पिंगला का नाम दक्षिण या सूर्यनाडी है, यह रजोगुणविशिष्ट होकर मनुष्य के दायें अंगमें बहकर दाहिने नथुने से बहती है। इसे देवयान भी कहते हैं। क्योंकि साधक पिंगला नाडी में मन स्थापन कर साधनमें प्रवृत्त होते हैं। वह आकाश मार्ग द्वारा सूर्य लोकमें जाते जाते हैं। इस प्रकार चन्द्र लोक और सूर्य लोक कहनेसे बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों के चन्द्र सूर्य लोक समझना।

यह दोनों नाडियां मूलाधार से उत्पन्न हो मेरुदण्ड की बाहरी ओर से अर्धचन्द्राकार में मेरु दण्ड से लिपटती हुई भ्रूमध्यमें आकर समाप्त हुई हैं। इन दोनों ही नाडियों के अर्धचन्द्राकार में मेरुदण्ड के अधो भाग से दोनों भौंहों तक आने में छः वार लिपटने के कारण इनमें छः गाँठ और दो गाँठो के मध्यस्थान वृताकार हो गया है। फिर इस इडा और पिंगला का ही दो मूल (सिकडी) मूलाधार से बाहर निकल कर दोनों पैरों के अंगूठे तक पहुंचा हैं।

सुषुम्ना नाडी- त्रिगुणात्मिका और बहुत सूक्ष्म है। यह मूलाधार से उत्पन्न होकर मेरुदण्ड के भीतर से छओ गाँठों को भेदन करती हुई मस्तक के सहस्रदल कमल तक पहुंची है।

इस सुषुम्ना नाडी के भीतर चन्द्र सूर्यादि देवगण, पंचभूतादि, चतुर्दशभुवन, दश दिक्, सर्व तीर्थादि क्षेत्र, सप्त सागर, समस्त पर्वत, सप्तद्वीप, गंगादि नदी, चारों वेद, मीमांसादि शास्त्र, अक्षरादि पंचाशत् वर्ण, सप्त स्वर, गायत्र्यादि मंत्र, अष्टादश पुराण प्राणादि वायु प्रभृत् अर्थात् ब्रह्माण्ड के सभी वस्तुयें इस के अन्दर हैं।

अतएव ऋषिगणने इसे ब्रह्माण्ड नाम रखा है। अतः वे लोग ध्यानावस्थित हो मुहूर्तभर में आन्तरिक ब्रह्माण्ड में बाह्य ब्रह्माण्डका प्रतिबिम्ब डालकर सम्पूर्ण विश्वभर का हाल मालूम कर लेते थे। इस सुषुम्ना नाडी के भीतर पूर्वोक्त छहों गाँठों में ६ कमल वर्तमान हैं। उन के दलानुसार नाम हैं। यथा चतुर्दल, षड्दल, द्वादशदल, षोडशदल, अष्टदल और द्विदल हैं। इनका स्थान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र हैं। इनका स्थान लिंगमूल में, नाभिप्रदेश, हृदय, गला और दोनों भौंहों के बीचमें है। इनके अतिरिक्त और भी तीन चक्र हैं यथा-तालु में चौंसठ दलका, ब्रह्मरन्ध्र में १ दलका और मस्तकमें सहस्र दलका कमल है।

इसके बाद शरीरान्तर वायु १० प्रकार के हैं। यथा- प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कुर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय। इनमें प्राण से लेकर व्यान तक ५ वायु प्रधान हैं। इनका स्थान इस तरह है-हृदय में-प्राणवायु, गुह्य में-अपान, नाभिमें-समान, कंठ प्रदेश में-उदान, और व्यान वायु सर्व शरीर में फैली हुई रहती है।

इनमें प्राण और अपान में सर्वदा खटकती रहती है। प्राण वायु चाहती है कि हम अपान को जीतकर अमर कर लें। और इसके विपरीत अपान चाहती है कि हम सबको नाश कर दें। किन्तु नाभिप्रदेश में समान वायु के रहने से किसी की भी नहीं चलती है, फिर भी आपसमें संघर्ष होता ही रहता है।

जब श्वास लेनेके समय प्राणवायु नाभिस्थित समान वायु में आकर प्रतिहत होती है। तब उस समय अपान वायु भी प्राणवायु को पकडने के लिये समान वायु में जोरसे धक्का देती है। जिसका फल यह होता है कि प्राण वायु धक्का खाकर चली जाती है। किन्तु इसे अन्यत्र भागने का स्थान नहीं है। क्यों कि अपान वायु से यह सदा खिंची हुई रहती है। अतएव बाहर जाकर फिर शीघ्र ही भीतर को खिंच जाती है। इन्ही दोनों के संघर्ष से हम लोग जीवित रहते हैं।

यह प्राणवायु जीवन और अपानवायु यम है। अन्तिम समयमें जब अपान वायु समान वायु को जीतकर शनैः शनैः ऊपर को चढती है, तब हम लोग कहते हैं अब प्राणने नाभि स्थानको छोड दिया, फिर जब प्राण को जीतकर शरीर से निकाल देते हैं, तब हम लोग कहते हैं कि अब 'मृत्यु' हो गई। योगी लोग इसी प्राणापान वायु के संयोग को 'प्राणायाम' कहते हैं।

इस प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य यही रहता है कि प्राणवायु द्वारा समान और अपान वायु को जीत कर शरीर को प्राणमय बना दें। प्राणायाम करने के समय प्रणवका ध्यान करना पडता है। यहां यह प्रश्न होता है कि प्रणव क्या चीज है?

प्रणवही परब्रह्मका बीज है और सन्ध्याका सार पदार्थ है। वही अव्यक्त, अव्यय, निराकार, निर्विकार, अवाङ्मनसो गोचर, तुरीय ब्रह्मकी प्रकट अवस्था अर्थात् प्रकृतिपुरुषात्मक परब्रह्म है। साधारण मनुष्यों को इस ब्रह्म का ध्यान करना असम्भव है। एकमात्र योगीगण ही चरम साधन द्वारा इस भाव को धरण करनेमें समर्थ होते हैं।

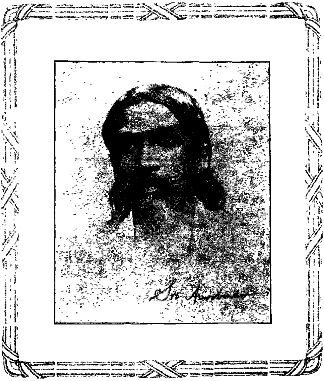
अस्तु, प्रणव में तीन अक्षर हैं। अ, उ और म्, इन तीनों की संधि करनेसे प्रणव होता है।

अकारेण जगत् पाता संहर्ता स्यादुकारतः।
मकारेण जगत् स्रष्टा प्रणवार्थ उदाहृतः॥

अर्थात् 'अ' शब्द से सत्व युक्त विष्णु जगत् को पालन करता है। 'उ'कार शब्द से तमोगुण-विशिष्ट शंकर सृष्टि को नाश करता है। और 'म्'कार शब्द से रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मा जगत्‌की सृष्टि करता है। यही प्रणव का अर्थ है। प्रणव द्वारा सत्व रज और तम का प्रकाशक सगुण ब्रह्म ही लक्ष्य होते हैं। इसमें विष्णु क्रम माना गया है। बादमें ब्रह्मा या शंकर, यह तीनों समष्टि ही प्रणव है। अतएव इसका उच्चारण करने का अधिकार सिर्फ द्विजातिमात्र ही को है। यहां तक है कि इसका उच्चारण करना स्त्रियों के भी अधिकारमें नहीं है।

वैदिक धर्म।

जून १९३९
ज्येष्ठ १८६१



योगी श्री अरविंद घोष।

वर्ष २०, अंक [illegible]]। [क्रमांक २३४

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ से ५)रु. वी.पी. से ५।)रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ६

विषयानुक्रमणिका

१ मनका दोष दूर होवे।		३७७
२ सामवेद और अथर्ववेद।		३७८
३ ईश्वरका साक्षात्कार। (५)	संपादकीय	३७९
४ दैवत-संहिता।	,,	३८८
५ स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित वेदोंके विषयमें संमतियां		१-२
६ मेरी अफ्रीकाकी यात्रा। (३)	प, तडित्कान्तजी वेदालंकार	३९३
७ सामवेद संगीत	प धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार	४०५
८ तब भारत क्या करें?	पं. वसिष्ठजी	४०७
९ महामुद्रा और उसका लाभ।	योगिराज उमेशचन्द्रजी	४१२
१० आर्योंका दक्षिण-दिग्विजय।		४१४
१२ भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा (३)	प रामावतार विद्याभास्कर	४१७
१३ सूर्य और स्वास्थ्य।	डॉ० जैन	४३३
१४ नवम नियम।	प० मदनमोहन विद्याधर	४३५
१५ दशम नियम।	,, ,, ,,	४४०
१६ तॅओ धर्म।	प० जयदेव शर्मा विद्यालंकार	४४१
१७ दैवत-संहिताके विषयमें संमतियां।		४४९
१८ वेदोपदेश।		१-८

अपूर्व पुस्तक! आर्य सभ्यताका दर्शन! आर्य आदर्श!

वैदिक सम्पत्ति।

(द्वितीय संस्करण)

[लेखक- श्री० स्व० पं० साहित्यभूषण रघुनन्दन शर्माजी।]

इस अपूर्व पुस्तक के विषयमें विद्वान् लोगोंकी संमति देखिये-

१. श्री. स्वा. स्वतन्त्रानन्दजी महाराज, आचार्य उपदेशक-महाविद्यालय लाहौर की संमति—

'यह पुस्तक अत्यत उपयोगी है। वेदकी अपौरुषेयता, वेदका स्वतःप्रमाण होना, वेदमें इतिहास नहीं है, वेदके शब्द यौगिक हैं, इत्यादि विषयोंपर बडी उत्तमतासे विचार किया है। मैं सामान्य रूपसे प्रत्येक भारतीयसे और विशेष रूपसे वैदिक धर्मियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वह इस पुस्तकको अवश्य क्रय करें और पढें। इस पुस्तकका प्रत्येक पुस्तकालयमें होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सके, तो भी प्रत्येक समाज में तो एक प्रति होनीहिं चाहिये।

२. श्री. आचार्य रामदेवजी, गवर्नर कन्या-गुरुकुल, देहरादून की संमति।

('प्रकाश' में प्रकाशित २० मई १९३४

'मैं प्रकाशकके इन विचारों के साथ पूर्णतया सहमत हूँ कि, इसके लेखकके वैज्ञानिक, भौतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, पुराने शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, नाना-लिपिज्ञान तथा भाषा आदि अनेक विषयोंका दिग्दर्शन इस पुस्तकने हमें कराया है और भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये अनेक पाश्चात्य तथा पूर्वीय विद्वानों के विविध ग्रंथोंकी विवेचना करके आर्यसिद्धांतों को युक्ति और प्रमाणोंसे पुष्ट किया है।

वेदोंकी प्राचीनता स्थापित करते हुए, अर्वाचीन उदाहरण देकर जो वेदोंमें अनित्य इतिहास सिद्ध करनेका अशक्य प्रयत्न किया करते हैं, इसका खण्डन आपने बहुतसे युक्तियों द्वारा उत्तम प्रकार किया है। ...इस प्रकार अनेकानेक प्रमाणोंसे वेदमें अनित्य इतिहासकी स्थापना खंडित की गई है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आर्योंके कलाकौशल के ज्ञानके संबंधमें नयी खोज करके विद्वान् लेखकने अपनी खोजसंबंधी योग्यताका बडा उत्तम परिचय दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि...यह पुस्तक बडीहि उपयोगी और नयी खोज और उपयुक्त प्रमाणोंसे युक्त है। इसलिए हरएक आर्य पुरुष, आर्य उपदेशक, अध्यापक और व्याख्यानदाताके मनन करने और पास रखने योग्य यह पुस्तक है। सभासमाजोंमें इसकी कथा करनी चाहिए, ताकि जनता विद्वान् लेखकके परिश्रमसे पर्याप्त लाभ उठा सके।'

३. श्री. पंडित नरदेवशास्त्रीजी वेदतीर्थकी संमति।

(मसूरी पर्वत ३।९।३४)

'हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यह ग्रंथ 'यथा नाम तथा गुणः' कोटी का है। कई प्रकरण तो इतने

मनोरंजक हैं कि उनको चार बार पढनेपरभी तृप्ति नहीं होती। वस्तुतः ऐसेहि ग्रंथ वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति की महत्ताको प्रसृत कर सकते हैं।.. प्रत्येक हिंदी पुस्तकालय व धर्ममंदिरमें रखनेकी वस्तु है।''

४. श्री. स्वामी व्रतानन्दजी महाराजकी संमति

(श्री गुरुकुल, चितौडगढ, राजपुताना, २८।८।३४)

'वैदिक संपत्ति' नामकी पुस्तक अपने विषयकी अद्वितीय पुस्तक है। आर्यसमाज के साहित्यमें इसकी समानता की अन्य पुस्तक आजतक नहीं लिखी गई। इस पुस्तक का क्रम ऐसा रोचक है कि पढने में रुचि उत्तरोत्तर बढतीहि जाती है। इस पुस्तकमें यह सफलतापूर्वक सिद्ध किया है कि सुखकी प्राप्ति के लिए वर्तमान सभ्य संसारने जिन उपायों का अवलंबन किया है, वे घातक हैं। उनके स्थानपर संसार जब वैदिक सभ्यता का आश्रय लेगा, तभी उसे सुख प्राप्त होगा। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तकको पढने के पश्चात् कोई भी सत्यान्वेषक वेद और वैदिक सभ्यता का प्रेमी बने विना नहीं रह सकता। यह पुस्तक संसार के लिये इतनी उपयोगी है कि इसका अनुवाद संसारकी सब भाषाओंमें यथाशक्ति शीघ्रहि हो जाना चाहिए।

५. श्री. पं. देवराजजी विद्यावाचस्पतिजी की संमति।

'बहुत दिन हुए आपकी भेजी हुई "वैदिक संपत्ति" नामकी पुस्तक मुझे संमत्यर्थ प्राप्त हुई थी। मैंने प्रायः सारी पुस्तक को पढ डाला। जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी है। ...इस पुस्तक में वैदिक सिद्धांतोंके पुष्टिके प्रकार को देखकर हम परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि इस पुस्तक का हिंदुओंके के घर घर में प्रचार हो।'

६. श्री०पं० भगवद्दत्तजी, M.A.की संमति।

(वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मोडेल टाऊन, लाहौर ५।९।३४)

'वैदिक संपत्ति' पुस्तक प्राप्त हुआ। अब प्रायः साराहि ग्रंथ देख गया हूं। ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय और भूरि परिश्रम का फल है। अनेक विषयों पर ग्रंथकारका लेखन मार्मिक है।...भाषाविज्ञानपर उनका लेख बहुत विचारपूर्ण है।...पुस्तक मार्मिक है। मैं इसकी जितनी प्रशंसा करूं थोडी है। मैंने स्वयं इससे कई बातों का लाभ उठाया है।......'

७. 'वैदिक विज्ञान' मासिक की संमति।

(अप्रैल स० १९३५)

'आपने इस पुस्तक में प्रायः वेद के संबंध में उठनेवाली सभी समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेदके काल-निर्णय, वेदकी रचना का काल, वेदमें इतिहास की सत्ता, वैदिक संस्कृति तथा वेद पर योरोपीयनों के आक्षेप और वेद में उच्च सभ्यता के दिग्दर्शन आदि नाना विषयों पर आपने बडीहि सुंदर, ललित और रुचिकर भाषा में विवेचन किया है। आपकी लेखनशैली विस्तृत और स्वतंत्र है। इसके बीच में से गुजरनेवाला पाठक लेखक के मंतव्यों से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। वेदकी बहुतही समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। .. .. स्वाध्यायप्रेमी के लिये तो यह एक उत्तम और विशद मानसिक भोजन है।'

८. 'आर्यप्रकाश' की संमति।

(ता० ९।९।१९३४)

'साहित्यभूषण पं० रघुनंदन शर्मानां अनमोला परिश्रमना परिणामस्वरूप 'वैदिक संपत्ति' ये विद्वानोने माटे अमूल्य गवरो ग्रंथ छे...विद्वान् पाठक वर्गना हृदयागारमां एमनूं स्थान अने श्रम हमेशाने माटे स्थायी जा रहेशे. आर्यप्रजाये आ ग्रंथनी एक एक नकल पोताना घरमां अवश्य राखवी ज जोइये. कपडां अथवा पान सोपारीनो खर्च कमी करी, पण वैदिक संस्कृति प्रत्ये प्रेम दर्शावनारी व्यक्तिये आ पुस्तक ने पोताना घरमां वसाविने पोताने प्रेममूर्त बनवावो जोइये.

९. 'वैदिक धर्म' मासिक की संमति।

'इस अमूल्य ग्रंथ में प्रथम के दो विभागों में वेदों की प्राचीनता, अपौरुषेयता और श्रेष्ठताकी सिद्धि अनेक प्रमाणों से की है। वेद का प्रत्येक वर्ण अपना अपना

स्वाभाविक अर्थ रखता है, यह ग्रंथकारका सिद्धांत है और 'अक्षरविज्ञान' नामक पुस्तक में इसकी सिद्धता की गई है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है और उसका संक्षेप से विवरण करना भी यहां असंभव है, परंतु यह बात इस ग्रंथके प्रथम दो भाग पढने से समझ में आ जायगी और अपनी आर्यसभ्यता की विशेषता भी ध्यान में आ जायगी।

'यद्यपि द्वितीय खण्डमें 'वेदोंकी अपौरुषेयता' बताने का मुख्य उद्देश्य है, तथापि ईश्वर, चैतन्य, तुलनात्मक शरीररचनाशास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानवजाति के मूल पुरुष, आदिसृष्टि का स्थान, आदिभाषा, वैदिक भाषा आदि भाषा का संस्कृत, जन्द, फारसी, अंग्रेजी, मिश्र, अरबी, जापानी, द्राविड आदि भाषाओंसे सम्बन्ध, वैदिक भाषाकी अपरिवर्तनशीलता, अक्षरार्थ और लिपि इत्यादि प्रकरण बडे हि उद्बोधक हैं। **यज्ञोंमें आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल, वास्तु, पदार्थविज्ञान, पशुपालन, सर्वभौमराज्य-शासन आदि संपूर्ण शास्त्रों का सम्बन्ध कैसा है, यह सुयोग्य प्रमाणोंसहित इस द्वितीय खंडमें पाठक देख सकते हैं।**... 'ऐसे अपूर्व ग्रन्थ का हम स्वागत करते हैं और प्रत्येक वैदिक धर्मीसे हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वह इस ग्रंथ को अपने घर में रखे और इस ग्रंथका पाठ प्रत्येक भारतवासी के घर में होता रहे।'

१०. 'सार्वदेशिक' दहली की संमति।

'ऐसे उत्तम ग्रन्थको प्रकाशित करके श्री सेठ शूरजी वल्लभदासजीने आर्य जनता - विशेषतः स्वाध्यायशील विद्वन्मंडली का बडा भारी उपकार किया है। प्रत्येक विषय का बडी योग्यता से इस ग्रंथ में सप्रमाण विचार किया गया है। प्रमाणों और युक्तियोंसे विषयों को खूब पुष्ट किया गया है। कागज, छपाई, प्रकाशादिक सब उत्तम हैं। इस पुस्तक की एकेक प्रति उत्तम पुस्तकालयमें अवश्य रहनी चाहिये। जिससे स्वाध्यायशील निर्धन सज्जन भी उससे लाभ उठा सकें।' -धर्मदेव विद्यावाचस्पति, बंगलौर।

११. अर्जुन (४ अक्तूबर १९३४)की संमति।

वैदिक संस्कृतिका विस्तृत परिचय देनेसे पूर्व लेखकने प्रथम दो खण्डों में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद अत्यंत प्राचीन और आदिसृष्टि में बने हुए हैं। लेखक की प्रतिपादनशैली उत्तम और विद्वत्तापूर्ण है। आजकल के प्रचलित मतोंका योग्यता-पूर्वक निराकरण किया गया है। तीसरा खण्ड ऐतिहासिक है, जिसमें बाहरसे आनेवाले विदेशियों के संसर्गसे आर्य संस्कृति में जो हेरफेर हुए, उनका जिक्र है। प्राचीन शास्त्रोंमें कहाँ-कहाँ परिवर्तन किए गए, इस संबन्ध में विद्वान लेखकने कम प्रकाश नहीं डाला। चतुर्थ खण्ड में वेद और उसकी शाखाओंपर विचार करने के अनन्तर वैदिक संस्कृति का आदर्श बनानेकी चेष्टा की गई है। वर्णाश्रमव्यवस्था, त्यागवादका आदर्श और मोक्षका परम उद्देश्य आदिपर जो विचार किया गया है, वह केवल धर्मशास्त्रीय चर्चा करनेवालेके लिए ही नहीं, परंतु इतिहास के विद्यार्थी के लिए भी उपयोगी है।

'संपूर्ण ग्रंथ में लेखक की शैली इतनी विद्वत्तापूर्ण है कि लेखक के बहुश्रुत, बहुज्ञ और मननशील होने में कोई संदेह नहीं रहता। लेखक आर्यसामाजिक विद्वान् हैं, परंतु उस में उनकासा हठ नहीं है। वे कहते हैं कि वेदोंसे तार, रेलगाडी निकालना व्यर्थ है, शब्दोंकी खेचतानी है। वैदिक सभ्यता त्यागकी सभ्यता थी, उनमें वर्तमान भौतिक उन्नतिको बहुत महत्त्व कभी नहीं दिया गया।

'हम अंत में प्रत्येक आर्यसामाजिक विद्वान्, शास्त्रीय चर्चा के प्रेमी और प्राचीन भारतीय इतिहासके विद्यार्थीसे इस अमूल्य ग्रन्थको पढने का आवश्य अनुरोध करेंगे।'

इत्यादि अनेकानेक महानुभावोंने इस पुस्तकको मुक्त कण्ठसे प्रशंसित किया है. इसलिए आप इसे लेकर एकवार पढिये—

पृष्ठसंख्या ८३२ है और मूल्य केवल ६) छः रु० है और डाकव्यय १।)है। शीघ्र लीजिये।

म० आ० से ७।) विदेशके लिये ८)

वर्ष २०
अंक ६
क्रमांक २३४

धर्म

ज्येष्ठ
संवत् १९९६
जून
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

मनका दोष दूर होवे।

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः
सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः
सं दधातु बृहस्पतिः ॥

(अथर्व १९।४०।१)

"(यत् मे मनसः छिद्रं) जो मेरे मनमें छिद्र या दोष हैं, (यत् च वाचः) जो मेरी वाणीमें छिद्र अर्थात् दोष हैं, जिस दोषके कारण (सरस्वती मन्युमन्तं जगाम) विद्या का क्रोध हुआ है, वह दोष (विश्वैः देवैः सह सं विदानः) सब देवोंके साथ संमिलित रहनेवाला बृहस्पति (सं दधातु) दूर करे, ठीक करे, मेरा फटा हुआ मन दुरुस्त करे।"

मेरी असावधानी के कारण मेरे मन और वाणीमें दोष उत्पन्न हुए हैं, जिन दोषोंके कारण विद्यादेवी की कृपा मुझपर नहीं होती, विद्या रुष्ट होती है। बृहस्पति सब देवताओंके साथ मिलकर वे सब मेरे दोष दूर करें और मेरा मन निर्दोष होनेसे मैं सरस्वतीदेवीका कृपापात्र बनूंगा अर्थात् मैं विद्वान बनूंगा।

सामवेद और अथर्ववेद

अथर्ववेदकी १५०० पुस्तकें बिक चुकी !

इस समयतक डेढ हजार पुस्तकें अथर्ववेदकी ग्राहकों के पास भेजीं गयीं हैं। शेष अगले मासमें भेजीं जायंगीं। इसी हिसाबसे यह अथर्ववेद भी प्रथमबार मुद्रित और २।३ महिनोंमें समाप्त होगा। वेद के ग्रंथ अच्छे छपने पर कितने शीघ्र बिक जाते हैं, इसका पत्ता यहां लग सकता है।

ऋग्वेद केवल चार हि महिनोंमें सब प्रथमवार का बिक चुका था। उससे दुगुणा हमने अथर्ववेद छापा वह भी आधा केवल दो महिनों में समाप्त हुआ। यहां तो जिल्दें बनने में भी फुरसत नहीं है, प्रतिदिन जितनी पुस्तकें तैयार होती हैं उतनी भेजी जाती हैं। इस गतिसे हमें पूर्ण आशा है कि आगामी २।३ महिनोंमें अथर्ववेद की प्रथमवार की सब पुस्तकें समाप्त होंगी.

इसलिये ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे अपना मूल्य अति शीघ्र भेज दें और वेदोंके ग्राहक अतिशीघ्र बनें। ऋग्वेद द्वितीयवार छापना प्रारंभ हुआ है और वह पांच महिनोंमें तैयार होगा। इस समय हमने ऋग्वेदके लिए टाईप पहिले की अपेक्षा बडा लिया है, चरण दर्शाये हैं, देवता के सूचक पद पर चिह्न किये हैं तथा अन्य भी कई आवश्यक सुधार किये हैं। इसलिये हमें पूर्ण आशा है कि यह भी प्रथमवार की अपेक्षा ग्राहकों को अधिक प्रिय होगा।

सामवेद।

सामवेदकी छपाई चल रही है. पूर्वार्चिक छप चुका है और उत्तरार्चिक छपना प्रारंभ हुआ है। इसके लिये टाईप बडा लगाया है, प्रत्येक मंत्र खुला छापा है, जो मंत्र ऋग्वेद में आया है, उसका ऋग्वेदका पता दिया है, जो मंत्र सामवेद में अनेकवार आया है, उसका सामवेदका भी सब स्थानका पता दिया है। अर्थात् प्रत्येक मंत्र ऋग्वेद में और सामवेदमें कहां है यह प्रत्येक मंत्र के साथ ही पाठक देख सकेंगे। इस तरह सामवेद आजतक कहीं भी नहीं छपा था।

सामवेद के मंत्रों के ऋषि देवताओं के विषय में आजतक जो अशुद्धियां छपीं थीं वह सब इस में दुरुस्त की है। जैसा कलकत्ते में स्व० सत्यव्रत सामश्रमीजीने जो सामवेद छापा था। इस पुस्तकमें सामवेद १।१।३।१० के 'परि वाजपतिः' मंत्रका ऋषि (उक्त कलकत्ता मुद्रित में) 'कामदेव' छापा था, यह केवल मुद्रण दोष ही था। क्योंकि यह मंत्र ऋग्वेद के मंत्र ४।१५।३ में से लिया है और वहां का ऋषि 'वामदेव' ही है। परंतु छपाई में दृष्टि-दोष से मुद्रण-दोष होते हैं, वैसा श्री सामश्रमी के ग्रंथमें 'वामदेव' के स्थानपर 'कामदेव' छप चुका। पर इस की खोज न करते हुए अजमेर वैदिक यंत्रालयवालों ने तथा अजमेर के आर्य साहित्य मंडल के पं० जयदेव शर्माजीने भी 'कामदेव' ही छापा है !! इस तरह यह अशुद्धि अनेक जगह गई। इस तरह की अनेक अशुद्धियां हमने शुद्ध की हैं। पहिले कलकत्ते के छापें में जो दोष हुए थे, उनको ही शुद्ध मानने के कारण इस तरह के दोष हुए, पर उनकी ओर किसीने देखा भी नहीं।

वेद जैसे परम पवित्र ग्रंथको कितना शुद्ध और किस तरह विचारपूर्वक छापना चाहिये, यह चिन्ता हमारे मन में सदा जाग्रत है और जितना यत्न हो सकता है उतना करके हमने निश्चय किया है कि वेद की सब संहिताएं एक दोवार अच्छेसे अच्छे प्रकार छपना ही है। हमारे सब पुस्तक तैयार होनेपर इनसे कितनी धर्मसेवा होगी, इसका ज्ञान सबको हो जायगा।

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है?

इस विषयमें वेद क्या कहता है?

(पञ्चम लेख)

परदे के पीछेसे पुकार।

गत चार लेखोंमें बताया कि परमेश्वर के गुणों का साक्षात्कार मनुष्य कर सकता है और उन गुणोंकी सत्ता जहां होगी वहां निः सन्देह ईश्वर है ऐसा ज्ञान मनुष्य प्राप्त कर सकता है। यह परदेके पीछे रहे ईश्वर का ज्ञान है। जैसा किसी का कोई मित्र घरके बाहेरसे पुकारता है, पर यह घर के अन्दर होने के कारण मित्र को देख नहीं सकता पर उसकी आवाज सुन सकता है और आवाज से ही पहचान लेता है कि यह फलाने अपने मित्रकी आवाज है। इस आवाजसे ही वह जानता है कि अपना फलाना मित्र जो दस वर्षसे दूर देश गया था, वह आया है। इतना पहचाननेके पश्चात् वह उस मित्रको अन्दरसे ही पुकारता है। दोनों परस्परको नामोंसेहि पुकारते हैं, पहचानते हैं, बातें भी करते हैं, पर द्वार बंद होनेसे एक दूसरे का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर नहीं सकते। गुणोंके कारण जो ईश्वर की पहचान है वह ऐसी ही पहचान है। उसमें ईश्वर की प्रत्यक्षता नहीं है, भक्तने प्रभुको तो पहचान लिया है कि इस परदेके पीछेसे मुझे प्रभु पुकारता है, पर वह प्रत्यक्ष नहीं हुआ। हमें तो प्रत्यक्ष प्रभुका दर्शन करना है।

कस्तूरी की सुगन्ध।

परले कमरेमें कस्तूरी की संदूक पडी है, उस संदूक में कस्तूरी भरी पडी है। उस संदूक से उस कमरे के बंद द्वारोंसे होती हुई कस्तुरी की सुगंध बाहर आती है। इस सुगंध के सूंघने से निश्चय होता है कि फलाने कमरे में कस्तूरी है। प्रत्यक्ष न होते हुए भी वहां कस्तूरी है इस बात का निश्चय होता है। यह भी एक प्रकार की प्रत्यक्षता ही है।

सुगंध क्या है? सुगन्ध भी कस्तूरी के सूक्ष्म अणुहि वायुके द्वारा बाहर आते हैं, अर्थात् सुगन्ध भी कस्तूरी का सूक्ष्म रूप हि है। कस्तूरी की प्रत्यक्षता नाक से ही होती है और कमरे के अन्दर की सन्दुकडी में बन्द रही कस्तूरी की प्रत्यक्षता इस तरह नाक से हो रही है। इतनी नाक से कस्तूरी की प्रत्यक्षता होनेपर भी हम कहते हैं कि वह तो उस कमरेमें सन्दूक में बंद पडी है। वह तो बंद होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं है। भला खुश्बू-सुगन्ध-आंख से प्रत्यक्ष किस तरह होगी? वह तो नाक से ही प्रत्यक्ष होती है जो नाक से प्रत्यक्ष हो ही रही है, पर भी आंख से कस्तूरी का मिट्टी जैसा काला काला रूप प्रत्यक्ष न होनेपर नाक से सुगन्ध द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाली हम प्रत्यक्ष हुई ऐसा नहीं मानते हैं!!! यह दोष हमारा हि है।

वाणी का रूप।

इसी तरह मनुष्य का रूप जैसा शरीर का रूप है वैसा ही उसकी वाणी का भी श्राव्य रूप है। जो वाग्रूप वैसा ही उस मनुष्य का है जैसा उस के शरीर का है, पर हम प्रत्यक्ष तो उसी को कहते हैं कि जो उसके शरीर से प्रत्यक्ष होता है। वस्तुतः मनुष्य के शरीर का रूप आंख-द्वारा प्रत्यक्ष होता है और उसी के वाणी के शब्दमय रूप की प्रत्यक्षता कानों से होती है, शरीर के गन्ध से नाक द्वारा प्रत्यक्षता होती है, यद्यपि मनुष्य नाकद्वारा दूसरे मनुष्य को नहीं पहचान सकता, पर कई पशु गन्ध से ही पहचान सकते हैं। शब्द से मनुष्य की पहचान होती है, पहचान होना और प्रत्यक्ष होना एक ही बात है। कला-कुशलता को देखकर यह फलाने कारीगर की कृति है,

ऐसा पहचानना भी एक प्रकार की प्रत्यक्षता ही है। चित्र और मूर्ति देखकर यह निःसन्देह फलाने चित्रकार की कृति है, ऐसा पहचाना जाता है। क्योंकि कारीगरी, कुशलता भी मनुष्य का एक रूप है, जो शरीर के समान ही प्रत्यक्ष है। कई पुत्र हूबहू पिता के समान होते हैं, उन पुत्रोंको देखनेसे भी पिताका साक्षात्कार होता है, क्योंकि-

आत्मा वै पुत्र नामासि।

' पुत्र रूपसे स्वयं पिताही जन्म लेता है। ' पिता स्त्रीमें अपने आपको जन्म लेनेके लिये स्थापित करता है। इसलिये वह पुत्र भी पिताका एक रूपहि है। ग्रन्थकार का ग्रन्थ देखनेसे और उसी का लेख पढनेसे भी उस ग्रन्थकार की प्रत्यक्षता होती है, क्योंकि लेख भी उसका एक प्रकार का लेख्य रूपही होता है, लेख वाणी का ही लेख्यरूप होता है। अब यहां कितने प्रकार प्रत्यक्षता के अथवा साक्षात्कार के हुए इसका विचार करिये —

१. शारीरिक प्रत्यक्षता- किसीके शरीरका आंखसे प्रत्यक्ष होना,

२. वाचिक प्रत्यक्षता- किसी की वाणी का कानों से श्रवण करना,

३. मानसिक प्रत्यक्षता- किसी के मानसिक विचारों को मनसे ग्रहण करना,

४. बौद्धिक प्रत्यक्षता- किसी के ज्ञान को बुद्धिसे प्राप्त करना,

५. ग्रांथिक प्रत्यक्षता- किसी के ग्रन्थ को पढना और उसकी योग्यता जानना,

६. प्राजनिक प्रत्यक्षता- किसी के पुत्र को देखकर पिता को (यदि समान रूप हुआ तो) जानना,

७. कारु-प्रत्यक्षता- किसीकी कारीगरी देखकर उसकी कुशलता को जानना, (इसमें काव्य आदि भी आते हैं),

८. प्रेमप्रत्यक्षता- किसी के हृदय के प्रेमभाव से उसको (पत्रादि के पढने से) प्रत्यक्ष करना।

इसी तरह अनेक प्रकार से प्रत्यक्षता होती है, परन्तु हम तो केवल शरीर को देखने से ही जो स्थूल की प्रत्यक्षता होती है, उसी को सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्षता मानते हैं। पर यह अशुद्ध विचार है।

मनुष्य के वाचिक, मानसिक, बौद्धिक, प्रेममय भावोंके प्रत्यक्ष रूप होते हैं, अत: उनसे भी उस व्यक्तिकी प्रत्यक्षता होती है, यह अनुभव की बात है। किसी प्रियकर के प्रेमभरे पत्र के दर्शनसे जो उसके प्रेम का साक्षात्कार होता है, वह एक अपूर्व आत्मा के श्रेष्ठ भाव का साक्षात्कारहि है। यदि हम केवल स्थूल शरीर के प्रत्यक्ष होनेका ही नाम साक्षात्कार समझ बैठेंगे, तो प्रेम आदिके अपूर्व श्रेष्ठ आत्मा के रूप का जो साक्षात्कार इस जीवन में होता है, उस से हम वंचित ही रहेंगे। केवल स्थूल शरीर के साक्षात्कारको ही सच्चा साक्षात्कार मानना और मनुष्य के उच्चतम अन्य जीवनांगोंकी ओर दुर्लक्ष्य करना, यह मनुष्य का एक बडा भारी हतभाग्य ही है। क्योंकि इससे वह अपने असंख्य श्रेष्ठ जीवन के भावोंसे वंचित ही रहता है।

भेदका अनुभव।

जितने मनुष्य हैं, उतने शरीर भिन्न हैं। अतः इस भेदसे पराशर और गौतम अलग होनेका पता लग जाता है। यदि सबोंके शरीर एक जैसे होते, तो यह मित्र है वा यह शत्रु है, इसकी पहचान न होती। शरीर भिन्न भिन्न हैं, इसलिये जानपछान हो रही है। जैसा स्थूल शरीर अन्नमय है, वैसाही वाङ्मय शरीर आपोमय है, अतः " आपोमयी वाक् " ऐसा उपनिषदों में कहा है। यह आपोमय शरीर प्रत्येक का विभिन्न होता है। इसीलिये एक का शब्द दूसरे के शब्द से अलग उच्चारित होता है, अतः आवाज से यह इस मनुष्य की आवाज है, ऐसा जाना जाता है। शरीर की पहचान के समान ही यह वाणी की पहचान है। वैदिक सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर अन्नका बना है और वाङ्मय शरीर जलतत्त्व का बना है। हम शरीर के समानही वाणीसे अन्यों को पहचानते हैं। हस्ताक्षर से भी बहुत अंशमें लेखक के स्वभावशीलादि गुणावगुण जाने जाते हैं और वाक्यरचनामें भी यह विभिन्नता रहती है।

पाठक यहां देखें कि एकही मनुष्य की प्रत्यक्षता कितनी विभिन्न रीतियोंसे होती है। शरीर का साक्षात्कार और वाणीका श्रवण तो १०० वर्षकी जीवनावधी तक ही सीमित है, पर किसी के काव्य, जैसे व्यासवाल्मीकी का रामायण-

महाभारत काव्य उनकी उच्च बौद्धिक सत्ता की पहचान हजारों वर्षोंके पश्चात् भी हमें कराते हैं। भरतका प्रेम, राम की सत्यनिष्ठा आज भी प्रशंसनीय समझी जाती है। इन रूपों से वे इस समय में भी हैं और हमें साक्षात्कार देते हैं। तुलसीदास का रामायण रामचन्द्र के प्रेमरूप का चित्र है, वह आज भी सहस्रों मानवोंके मनोंको हिला देता है, यह श्रीरामचन्द्रका शुद्ध मनोमय भावरूप देह ही है, जो स्थूल शरीर के नष्ट होनेपर भी स्थायी भाव से रहा है, और परिणाम भी करता है। अन्नमय स्थूल देह, आपोमय वाङ्मय देह, तेजोमय मनोदेह हैं, जो एकसे एक दीर्घायु-वाले हैं।

कस्तूरी के परिमलसे भी यह मनोमय भाव सूक्ष्मतम है। कस्तूरी के परिमल के अणु तो सूक्ष्म हैं, पर मन उनसे भी सूक्ष्म है। प्रेमरूप मन और क्रोधरूप मन यह शीत और उष्ण जल के समान भिन्न है। यही रुद्रकी 'शान्ततनू' और 'क्रूरतनू' वेदमें वर्णित है।

इससे स्पष्ट हुआ कि जिसे हम साक्षात् और प्रत्यक्ष करके कहते हैं, वह एक हीन और स्थूल भाव है। उससे स्थायी, प्रत्यक्ष तथा अधिक सत्य भाव इस विश्व में हैं और वे भी मनुष्य को प्रत्यक्ष ही होते हैं।

यदि मानव के साक्षात् होनेमें इतना सूक्ष्म विचार है, तब तो ईश्वर का साक्षात्कार होनेमें कितना सूक्ष्म विचार करना चाहिये, यह अब नयी रीतिसे किसीको कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ईश्वर का साक्षात्कार।

यहां कोई यह न समझे कि जैसा स्थूल दृष्टिसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को शरीर द्वारा साक्षात् होता है, वैसाही ईश्वर नहीं होगा। वेद का तो यह कहना है कि जैसा एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको आपने सामने आकर साक्षात् होता है, वैसा ईश्वर भी होता है, तथा जैसा प्रेमादि अनेक रूपोंमें मनुष्य का मनुष्य से साक्षात्कार होता है, वैसाही अनन्त उच्चतम रूपोंमें मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार भी होता है। केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उस उस इंद्रियको ईश्वर का रूप लेने योग्य बनावे और अपने इंद्रिय खोलकर उसे देखे।

जैसा बिलकुल संस्कारहीन अनाडी मनुष्य प्रेमके उच्च भावों को क्या जान सकेगा? जिसने अपना मन शुभ संस्कारोंसे संस्कृत बनाया होगा, वही मनुष्य उच्च मानसिक सूक्ष्म भावोंको जान सकता है। जैसा यह है वैसा ही ईश्वर के साक्षात्कार के सम्बन्धमें समझना चाहिये। वेदमें कहा है कि—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ० ६।४७।१८)

'प्रभु अपनी शक्तियों से अनेकरूप बना है।' अतः अनेक रूपोंमें हम उसको देख सकते हैं। यदि वह एकही रूपमें होता, तो संभव है कि उसको पहचानना कठिन होता। हरएक मनुष्य के विषय में हमने ऊपर देखा कि एक एक मनुष्य भी शरीर के स्थूल रूपमें, वाणीके वाङ्मय रूपमें, मनके विचारमय रूप में, लेख के अक्षरमय रूपमें, कारीगरीके मोहमय रूपमें ऐसा अनेकानेक रूपोंमें प्रकाशित होता है। यदि साधारण से साधारण मनुष्य इस तरह अनेकों रूपोंमें प्रकट हो सकता है, तो परमेश्वर अपनी अगाध अतर्क्य और अनुपम शक्तियोंसे अनंत रूपों में प्रकट हुआ तो उसके लिये वैसा होना सहज ही है। इस विषय में पूर्वोक्त मंत्र और देखिये—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥
(ऋ० ६।४७।१८)

" (इंद्र) इन्द्र (रूपं रूपं) प्रत्येक रूप में (प्रतिरूपः) तदाकार (बभूव) हुआ है, (अस्य तत् रूपं) इस इन्द्र का वह रूप (प्रतिचक्षणाय) प्रत्येक के अलग भाव के कथन के लिये होता है। यह इन्द्र अपनी शक्तियों से (पुरु-रूपः) बहुरूप होता है अर्थात् यह अनेक रूप धारण करता है।"

यह मन्त्र स्पष्टता के साथ कहता है कि इन्द्र ही अपनी अनंत शक्तियोंसे (पुरु-रूप) बहुरूप बनता है। एकरूप होता हुआ बहुरूप बनता है। इसीका नाम 'विश्वरूप' है, क्योंकि 'पुरुरूप, बहुरूप, विश्वरूप और सर्वरूप' का अर्थ एक ही है।

भाषामें 'बहुरूपी' उसे कहते हैं कि जो नये नये रूप

लेनेमें कुशल रहता है। ईश्वर या इन्द्र भी बहुरूपी है क्योंकि प्रत्येक रूप का वही धारण करता है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

'इन्द्र अपनी शक्तियोंसे अनेक रूप धारण करता है।' इस वर्णन को पढने के पश्चात् पुनः निम्न लिखित मंत्र देखिये कि—

तत् एव अग्निः, तत् आदित्यः, तत् वायुः, तदु चन्द्रमाः। तत् एव शुक्रं, तत् ब्रह्म, ता आपः, स प्रजापतिः॥ (वा० यजु० ३२।१)

'वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप् और प्रजापति है।' अर्थात् उसी इन्द्रने अपनी अद्भुत शक्तियोंसे ये रूप धारण किये हैं। अब आप अग्नि-आदित्य-चन्द्रमा, आप् को देखते हैं। बहुरूपी इन्द्रने अपनी अनेकविध शक्तियोंसे ये रूप धारण किये हैं। अथवा इन विविध रूपोंमें वही प्रकट हुआ है।

पाठक संभवतः यह माननेको तैयार नहीं होंगे, क्योंकि इन मंत्रोंके विपरीत भाव उनके मनोंमें घुसे हैं, इसलिये मन्त्र का सत्य उपदेश क्या है और मंत्र का विपरीत भाव कौनसा है, इस विषयमें पाठक निश्चय करनेमें इस समय असमर्थ हैं। यही ईश्वर स्वरूप के सत्य ज्ञान में बाधा है, यही बडा भारी विघ्न है। ऋग्वेद का मंत्र देखिये—

इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

'इस विश्वमें (एकं सत्) एकही सत् है, वही अग्नि आदि अनेक नामोंसे वर्णित होता है।' क्योंकि वही अपनी शक्तियोंसे अनेक पदार्थोंके रूपमें प्रकट हुआ, वही अग्निरूपमें प्रकट हुआ, वही आदित्यके रूपमें प्रकाशित हो रहा है, वही वायु है, वही वरुण है। जिन पाठकोंको कोई शंका हो वे इन तीनों मंत्रों का पुनः पुनः विचार करें—

१ तदेवाग्निः। (वा. यजु. ३२।१)
२ इन्द्रो मायाभिः (ऋ० ६।४७।१८)
३ एकं सत् (ऋ० १।१६४।४६)

इनकी संगति लगानेसे वेद का ठीक ठीक तत्व जाना जा सकता है। पाठक यहां पूर्वग्रहदोष से वेद का अर्थ न समझने की बात का अनुभव करें। वेद तो अनेकविध प्रमाणोंसे कहता ही है कि ईश्वर के अग्नि, वायु, आदित्य, विद्युत्, चन्द्रमा आदि रूप हैं। ईश्वरने ये रूप लिये, उन्होंने अपनी अनेक विध शक्तियोंसे ये रूप लिये हैं, जो ऐसा मानेंगे, वेही इन रूपोंमें ईश्वरकी शक्तियों का तथा प्रत्यक्ष ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं। परन्तु जिनके मनमें पहिलेसे विपरीत ही भावना जड करके बैठी है, वे कब इस वेदके उपदेशको मानेंगे ? इस लिये हमें इस विषयमें अधिक खोज करने की आवश्यकता है। देखिये वेद क्या कहता है—

ईश्वर के अङ्ग।

यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षं उत उदरम्।
दिवं यः चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३२॥
यस्य सूर्यः चक्षुः, चन्द्रमाः च पुनः नवः।
अग्निं यः चक्रे आस्यं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ, चक्षुः अंगिरसोऽभवन्।
दिशो यः चक्रे प्रज्ञानीः, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३४॥
(अथर्व. १०।७।३२-३४)

"भूमी जिसके पांव (प्रमा- मापनेका साधन Foot) हैं, अन्तरिक्ष जिसका पेट है, द्युलोक जिसका सिर है, सूर्य जिसका आंख है, फिर फिर नया नया बननेवाला चन्द्रमा भी जिसका आंख है, अग्नि जिसका मुख है, वायु जिसका प्राण और अपान है, चक्षु (अंगिरसः) अग्नि हैं, दिशाएं जिसके कान- ज्ञानसाधन हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।"

इन मंत्रों में श्रेष्ठ ब्रह्मका वर्णन है। आप समझते हैं कि ब्रह्मका दर्शन तो सहस्रों वर्ष होना नहीं है। पर यहां तो उस ज्येष्ठ ब्रह्मके अवयवोंका वर्णन ऐसा दिया है कि जो आपको प्रत्यक्ष हैं। भूमि तो आपको प्रत्यक्ष दीखती है, ना ? वह उस ब्रह्मके पांव हैं, यदि आपको वह भूमि दीखती है तो आपको परमेश्वरके पांव दीख रहे हैं। यदि आपको यह अन्तरिक्ष दीख रहा है तो आपको ईश्वर का पेट दीखता है। यदि आपको ऊपर का नीला प्रकाशमान आकाश दीखता है, तो वह है ईश्वर का मस्तक। यदि आपने कभी

सूर्य और चन्द्र अपनी आखोंमें देखे होंगे, तो वे उस प्रभुके दो आंख हैं, ये दो आंख प्रभुके आंख हैं, वे आप के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं। वेद कहता है कि ये ईश्वरके आंख हैं, पर आप अपनी बुद्धिमत्ता की घमेंड के कारण सूर्यचन्द्रमाको जड अचेतन आदि कहने में संकोच तक नहीं करते !! प्रभुके आखोंके विषयमें आपको यह अधिकार किसने दिया, जिससे आपने प्रभुकी अपार सत्ता का भी तिरस्कार किया और वेदके उपदेश का भी अपमान किया? जब आपसे इसका उत्तर पूछा जायगा, तब आप किसकी शरण जांयगे ?

किसी की पहचान तो उसके शरीरके अवयवों को देख कर हि करते हैं ना? आप अपने पिताको उनके आंख नाक कान पेट पांव देखकरही पहचानते हैं ना? या कोई अन्य रीतिसे अपने माता पिता को आप पहचानते हैं? वेद कहता है कि उसी रीतिसे तुम अपने परम पिताको पहचानो, तुम्हारा दयालु परम पिता तुम्हारे सामने खडा है, सूर्य चन्द्र देखो, जिनको तुम सूर्य और चांद कहते हो, वे तो तुम्हारे परम पिता के दिव्य आंख हैं। इन सूर्य चन्द्रमा में उसी परम पिताकी दर्शन शक्ति कार्य कर रही है, जैसी तुम्हारे पिताके आंखमें पिताके आत्मा की दर्शन शक्ति कार्य करती है। इसमें कोई भेद नहीं है।

क्या आप अपने पिता के आंखोंको, पेटको और पावोंको अपने पूजनीय पिताजीसे पृथक् जड हीन मानते हैं या पिताजीकाही वह रूप है ऐसा मानते हैं? यदि पिताजीका ही रूप उनके पांव हात पेट सिर और आंखों के रूपमें आप देखते हैं और इन अवयोंको देखनेसे पिताको देखने का आनन्द पाते हैं, तो वैसाही आनन्द आपको इस परम पिताके उक्त शरीरावयव देखनेसे मिल सकता है। वेदने आपको बताया है कि ये आपके परम पिता के शरीर के अवयव हैं। आप वेदके आदेशानुसारहि वैसा मान लीजिये।

वेद आपको धोखा देता है ऐसा तो आपका ख्याल नहीं है? फिर आप मान लीजिये कि आपके परम पिता के शरीर के अवयव-प्रभुके-ईश्वरके शरीरके अवयव सूर्य चन्द्र, दिशा, द्युलोक, अन्तरिक्ष, भूलोक, वायु आदि हैं, जो आपको प्रत्यक्ष हैं। यदि आपको ये अवयव दीख रहे हैं, तो आपको प्रभुके शरीर के विभाग-अवयव-इंद्रिय-दीख रहे हैं। प्रभुके आंखको देखा तो भी प्रभुको ही देखा है, प्रभुके पांवको देखा तोभी प्रभुका ही दर्शन किया है। फिर कहिये अब आप प्रभुकी गोदमें हैं या उससे बहुत दूर? कितनी दूर हैं, विचार करके तो कहिये।

उपनिषद् कहता है—

> अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ, दिशः श्रोत्रे,
> वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो,
> हृदयं विश्वं, अस्य पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष
> सर्वभूतान्तरात्मा॥ (मुण्डक उ. २।१।४)

' इस सर्वभूतान्तरात्मा- इस परमात्मा- इस ईश्वरका सिर अग्नि है, आंखें सूर्य-चन्द्र हैं, कान दिशाएँ हैं; वाणी का विस्तार वेद हैं, प्राण वायु है, हृदय विश्व है, पांव पृथ्वी है, यही सर्वभूतान्तरात्मा है। ' इस विश्व में सर्वभूतान्तरात्मा एक ही है। सर्वभूतान्तरात्मा शब्द ऐसा है कि जिस विषय में किसीको संदेह नहीं हो सकता। यह शब्द परमात्माका ही वाचक है और अन्त में ' एष सर्वभूतान्तरात्मा ' यह है सर्वभूतान्तरात्मा ऐसा कह कर सब संदेहों को दूर किया है। सर्वभूतान्तरात्मा के सिर, आंख, कान, वाचा, प्राण, हृदय और पांव यहां दर्शाये हैं। सिरसे लेकर पांव तक का वर्णन होनेसे इस प्रभुके विषय में किसी को संदेह रह नहीं सकता। यह वर्णन देखकर कहिये कि पूर्वोक्त वेदमंत्रमें कहे ईश्वर का ही यह वर्णन है वा नहीं? और इन प्रभुके अवयवों में से आप किस अवयव को नहीं देख रहे हैं? वेद और उपनिषदों ने प्रभु को इतना प्रत्यक्ष दिखा दिया है तो भी आप कहेंगे कि वह आपको दीखता नहीं और वह बहुतही दूर है और आपको वह सहस्त्रों जन्मों में भी दीखनेवाला नहीं है? वेद और उपनिषद् जैसा आपको और कौन समझानेवाला है? परन्तु वेद इतना दयामय है कि वह आप सुनते नहीं और मानते नहीं, इतना ही नहीं, आप वेदवचनों का अर्थ खींचातानी कर के विपरीत हि करते हैं, सच्चे अर्थको विपरीत और विपरीत अर्थको सच्चा दिखाते हैं, परभी वेद आपको बार बार वही बात कहता है देखिये—

> चन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्यो अजायत।
> मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायुरजायत।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं, शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्।
तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥
(ऋ. १०।९०।१३-१४)

इन मंत्रोंमें पूर्वोक्त वर्णनहि अन्य प्रकारसे कहा है। 'मन चन्द्रमा, आंख-सूर्य, मुख-इंद्र और अग्नि, प्राण-वायु, नाभी-अंतरिक्ष, सिर-द्युलोक, पांव-पृथ्वी, कान- सूर्य तथा अन्य लोक ईश्वर के अन्यान्य अवयव माने गये हैं।' यहां के शब्द तो ऐसे हैं कि 'उसके मनसे चन्द्रमा हुआ' पर यह उत्तर जिन प्रश्नोंके लिये दिया है, वे प्रश्न (मुखं किं अस्य, कौ बाहू, कौ ऊरू) उस परमात्मा का मुख कौनसा है, बाहु कौनसे हैं और ऊरू कौनसे हैं? ऐसे स्पष्ट हैं। ये प्रश्न इन मंत्रोंके पूर्व मंत्रमें ही कहे हैं और उन प्रश्नोंका उत्तर यहां दिया है। इसलिये प्रश्नोंके अनुसारहि इन मंत्रों का अर्थ करना चाहिये। यह वर्णन अथर्ववेद के वर्णन के अनुसार ही है। यह पुरुषसूक्त सब वेदोंमें है। इसलिये इसका महत्त्व अत्यंत है। इसके अतिरिक्त और भी कई मंत्र वेदमें हैं, जो परम आत्मा का वर्णन ऐसा ही कर रहे हैं, वह स्पष्ट वर्णन अब देखिये—

कस्मादंगाद्दीप्यते अग्निरस्य?
कस्मादंगात्पवते मातरिश्वा?
कस्मादंगाद्विमिमीतेऽधि चन्द्रमाः?
मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य?
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्?
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्याहिता द्यौः?
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्युत्तरं दिवः? ॥ ३ ॥
(अथर्व० १०।७।३-२)

'परमेश्वर के किस अवयवमें अग्नि, वायु, चन्द्रमा, भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक और ऊपरला द्युलोक रहे हैं?' ये प्रश्न यहां पूछे हैं और इनका उत्तर देते हुए कहा है कि 'इसके पावमें पृथ्वी, पेटमें अन्तरिक्ष, सिरमें द्यु, आंखमें सूर्य, मुखमें अग्नि रहे हैं' (३२-३३) ये मंत्र पूर्व स्थानमें दिये ही हैं, अतः फिर देनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। प्रश्न और उत्तर की संगति देखनेसे परमेश्वरका वर्णन विशेषही स्पष्ट हो जाता है। यह विषय स्पष्ट करने के लिये और भी कहा है—

यस्मिन् भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः यस्मिन् अध्याहिता।
यस्मिन् अग्निः चन्द्रमाः सूर्यो वातः तिष्ठन्त्यार्पिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१२॥
यस्य त्रयः त्रिंशत् देवा अंगे सर्वे समाहिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१३॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ॥१५॥
(अथर्व १०।७)

'जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः, अग्नि, चन्द्रमाः, सूर्य, वायु, रहे हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है। (यस्य अङ्गे) जिसके शरीर के अवयवों में (सर्वे त्रयः त्रिंशत् देवाः) सब तैंतीस देव रहे हैं, (समुद्रः नाड्यः) समुद्र तथा नदीयां जिसके शरीरकी धमनियां हैं, वह सबका आधार परमेश्वर है।' यहां तैंतीस देवताओंमें से एक एक देव ईश्वर के एक एक अवयवमें- एक एक इंद्रिय में रहते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा है और तैंतीस देवताओं में से नमूनेके लिये कौनसे देव किस अंग में हैं, यह भी बताया है। शेष अन्य कई देव रहते हैं, जो यहां कहे नहीं हैं, पर वे इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर में हैं, यह जाना जा सकता है। विचार करने पर तथा वेदका अन्य स्थान का वर्णन देखने से सब देवताओं के स्थानों का पता लग सकता है।

तथा और देखिये—

यस्य शिरो वैश्वानरः, चक्षुः अंगिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
(अथर्व १०।७।१८)

'परमेश्वरका सिर वैश्वानर है, चक्षु अंगिरस हुए हैं और जिसके अंग- अवयव- सब (यातवः) चलनेहिलने-वाले प्राणी हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है।' 'यहां का 'यातवः' शब्द गतिमानोंका वाचक है। भूमि, सूर्य, चन्द्र ये सब गतिमान् हैं और हलचल करनेवाले प्राणी भी गतिमान् हैं। क्यों कि सभी पदार्थ उस प्रभु के विश्वव्यापक शरीर के अवयव हैं, कोई पदार्थ उससे छूटा नहीं है। देखिये—

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं यत्र च भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥
(अथर्व १०।७)

"जिसमें द्वादश आदित्य, ग्यारह रुद्र और अष्ट वसु (सं-आ-हिताः) मिलकर एकरूप बनकर रहे है और जहां (भूतं) भूत काल के पदार्थ रहे हैं और (भव्यं) भविष्य कालमें होनेवाले पदार्थ रहेंगे और वर्तमान कालके पदार्थ रहते हैं, वही सर्वाधार परमात्मा है।' भूत, भविष्य, वर्तमान कालके सब पदार्थ उसके शरीरके अवयव बनकर रहते हैं, जिसके अंग होकर रहते हैं, वह है परमेश्वर।

भूतकालके पदार्थ जिसके शरीरके अवयव बने थे, इस वर्तमान कालके पदार्थ जिसके शरीर के अवयव बने हुए हैं और इसी तरह भविष्य काल के पदार्थ भी जिसके शरीर के भाग बनेंगे, वही निःसंदेह परमात्मा है।

यस्य अंगानि यातवः। (अ० १०।७।१८)

'जिस प्रभुके शरीर के अंग-अवयव-इन्द्रिय ये सब पदार्थ हैं।' यह बात तो और भी वेद स्पष्ट करता है-

एकं यदंगं अकृणोत्सहस्रधा। (अ० १०।७।९)

'जिसने अपना एक ही अंग सहस्रों प्रकार का बना दिया है।' अर्थात् जिसके एक अल्प अंगसे यह सब विश्व बना है। उसीके तेजसे सूर्य, सूर्य से विद्युत, विद्युत्से अग्नि, अग्निसे दीप, दीपसे प्रकाश, सूर्यसे चन्द्रमा इत्यादि प्रकार एक अंगसे अनेकानेक पदार्थ हुए हैं। आपको फिर भी सन्देह होगा, इसलिये कहा है—

यस्य त्रयस्त्रिंशत् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशत् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथ० १०।७।२७)

'तैतीस देवताएं जिस प्रभुके अंगोंमें विभक्त हो कर रहीं, उन तैतीस देवताओं को अकेले ब्रह्मज्ञानीहि जानते हैं।' वेदने ऐसा क्यों कहा? प्रभु के शरीर का ऐसा वर्णन करने के पश्चात् ब्रह्मज्ञानीहि इसे जानते हैं, अन्य जनता नहीं जानती, ऐसा क्यों कहा? ऐसा इसलिये कहा कि साधारण लोग तो अपने पूर्वग्रहदोषोंसे दोषयुक्त मनवाले रहते हैं, इसलिये वेदने कितना भी कहा, तो भी भ्रान्त लोग कभी समझते नहीं। पर जो ब्रह्मज्ञानी होते हैं, वे ईर्ष्याद्वेषरहित होते हैं, केवल सत्यके ही वे पुजारी होते हैं, अतः वे वेदका ठीक ठीक अर्थ जान सकते हैं और वेदोपदेश को विश्वास से मानते और उसे मानकर अपना उद्धार करते हैं।

अष्ट वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकत्तीस देव और यज्ञ तथा प्रजापति ये दो मिलकर ३३ देव होते हैं।

आठ वसु—पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, चन्द्रमा और द्यौः ये आठ वसु हैं।

एकादश रुद्र- ये एकादश प्राण हैं।

द्वादश आदित्य- बारह महिनोंके आदित्य के रूप हैं।

यज्ञ तथा प्रजापति ये ३३ देवताएं परमेश्वर के शरीर के अंग हैं। पृथ्वी पांव, अन्तरिक्ष पेट, द्यु सिर, सूर्य-चन्द्र नेत्र, वायु प्राण, जातवेदस् अग्नि वाणी, अग्नि मुख, अश्विनी नासिका, वनस्पतियाँ बाल-केश, नदियां धमनियां, आप वीर्य, इसी तरह अन्य सब देवताएँ अन्य अवयव हैं। यही सर्वभूतान्तरात्मा है। क्या इसमेंसे कुछ अवयव आपको दीखते हैं या अभी भी कुछ संदेह है?

आप चारों ओर देखेंगे तो आपको पता लग जायगा कि आपके चारों ओर जीवित जाग्रत और सर्वान्तर्यामी सर्वाधार प्रभु विराजमान है, उसके शरीर के ये सर्व विश्वमें दीखनेवाले पदार्थ अवयव हैं। हमारेसे भिन्न जैसा हमारा शरीरावयव नहीं होता, उसी तरह उससे भिन्न उसके शरीरावयव नहीं हैं। मानो यह विश्व उसका विराट् शरीर है। जैसा आप अपने मातापिता के शरीर को ही देख सकते हैं, वैसाही आपने अपने परम पिता के इस विराट् शरीर को ही देखना है। आप अपने मातापिताके शरीरको मातापिता केआत्मा से पृथक् मानेंगे और अपने मातापिता अपनेको दिखाई नहीं देते करके चिल्लाते रहेंगे, तो आपको कौन मातापिता का दर्शन करा सकेगा? आपको अपने मातापिता का दर्शन करना हो, तो उनके शरीरके पास जाइये और उनका शरीर देखिये। जीवित शरीर का दर्शनही मातापिता का दर्शन है।

इसी तरह आपका परमपिता प्रभु आपको दर्शन देकर आपको पावन करनेके लिये विश्वरूपी जीवित जाग्रत शरीर धारण करके आपके सामने रातदिन खडा है। आपको चारों ओरसे उसने अपनी गोदमें पकड रखा है।

जहां आप अपनी आंख करेंगे, वहीं उसी का रमणीय रूप आपके आंखको दिखाई देगा। यह अखण्ड विश्वरूप उसी का है, किसी दूसरे का नहीं है।

यह प्रभुका दिव्य रूप देखते हुए भी आप कहते हैं कि यह तो 'जड' सृष्टि है, यह तो मिट्टी है, यह तो अधम स्थूल विश्व है। परमेश्वरके सजीव विश्वरूप की इस तरह आप निन्दा करते हैं और फिर भी चाहते हैं कि उसका दिव्य रूप देखूं, उसका एक वार साक्षात्कार हो जाय तो अच्छा है, यह आपके प्रलाप कितने हानिकारक हैं? क्या कभी आपने इसका विचार किया है?

विश्वके अणुरेणु में प्रभु विद्यमान है और विश्वका अणु-रेणु उसीके कारण जीवित है। सब विश्व सजीव है। जैसा आपके पिता का संपूर्ण देह सजीव होता है, इसी तरह यह विश्व जीवित है। कोई वस्तु यहां निर्जीव, जड, ज्ञान-हीन नहीं है। भला परमेश्वर का शरीर निर्जीव किस तरह हो सकता है? यह सब विश्वको जड निर्जीव कहना एक अवैदिक भ्रम है, यह महान् अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण आप अपने परमात्मासे दूर हो रहे हैं।

आप इस बातका विचार करिये, केवल विश्वास न रखिये, सब वेदमंत्रों का अच्छी तरह मनन करिये, सब मंत्रों की संगति लगाने का यत्न करिये और देखिये कि आपको यह वेदका तत्त्वज्ञान मान्य होता है वा नहीं।

ईश्वरसाक्षात्कार के लेखपर एक आशंका।

कुल्लूके सुप्रतिष्ठित विद्वान् और वेदधर्म के सच्चे प्रेमी अपने पत्रमें निम्नलिखित शंका पूछते हैं--

(कुल्लू ३।५।३९)

श्रीमानजी। नमस्ते।

आपके लेख 'ईश्वरका साक्षात्कार' पढ कर ख्याल हुआ-

१. अवतार के माइने क्या हैं?

२. ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तो उसका अवतीर्ण होने के क्या माइने?

३. उतरना और चढना, आना और जाना, तो उसका हो सकता है, जो ऊपर हो व मौजूद न हो।

४. आत्माका, जो एकदेशी है, अवतार हो सकता है, जो स्वर्गसे उतर कर इस लोकमें आ सकता है।

५. वाइसराय हिंद को शासन के इखतियारात सम्राट् की ओरसे प्राप्त हैं, क्या हम व्हाइसरायको सम्राट् के अवतार कह सकते हैं? यदि नहीं, तो ईश्वर-अवतार की पहेली नीरस है।

कृपया अपने अगले लेखके साथ इसपर प्रकाश डालने की कृपा करें।

भवदीय
सर्वजित गौड

यह पत्र बडा महत्त्व का है, इसलिये पाठकोंके विचारार्थ यहां पूर्ण रूपसे दिया है।

सम्राट् अपने भारतीय शासन के अधिकार देकर श्री० व्हाइसरॉय साहब को भारतमें भेजते हैं। जबतक सम्राट् के अधिकार उनके पास रहते हैं, तबतक ही वह लाट-साहब 'व्हाइसरॉय' कहलाते हैं और तबतक वे भारत का शासन कर सकते हैं। जिस समय दूसरे व्हाइसरॉय आते हैं और पूर्व समयके व्हाइसरॉय अपने कार्य का चार्ज नये को देते हैं, तब चार्ज देनेके पश्चात् वही मनुष्य न व्हाइसरॉय कहलावेगा और न उसका शासन कोई मान्य सकेगा। क्योंकि जो सम्राट् की शक्ति उसके पास थी, वह उससे खींच ली गयी और वह नये राजकर्मचारी में बसने लगी है।

भारतीय शासनशक्ति का यह पुनर्जन्म है। इसे 'कर्मपुनर्जन्म' कहते हैं। सम्राट् की आंशिक शक्तिका इस तरह व्हाइसरॉयमें 'अंशावतार' होता है।

इसी तरह गुरु-आचार्य-अपनी विद्या अपने शिष्य को देकर स्वयं शिष्यके देहमें 'अंशावतार' लेता है, यही गुरु का पुनर्जन्म है। इसको 'विद्याजन्म' कहते हैं। यहां गुरु शिष्यकी बुद्धि में प्रविष्ट होता है, अपना पुनर्जन्म गुरु स्वयं देखता है। (इस विषय में अधिक विस्तार से देखना हो तो श्री० पं० श्री० दा० सातवलेकरलिखित 'ब्रह्मचर्य' पुस्तक देखिये, अथवा अथर्ववेदसुबोधभाष्य १२ काण्ड के पंचम ब्रह्मचर्यसूक्त का विवरण पढिये। वहां वेद का आशय अधिक स्पष्ट कर दिया है। इस समय विद्यामाता के गर्भ में ब्रह्मचारी रहता है और गुरुका ज्ञान-वीर्य ब्रह्मचारी को मिलता रहता है। यह द्वितीय जन्म की प्रसूति १२ वर्षोंसे होती है।)

इस तरह कई अंशावतार होते हैं। शीत जल चूल्हेपर किसी बर्तनमें रख दिया, तो थोडे समयमें गर्म हो जाता है। इस जलमें अग्निका 'अंशावतार' होता है। यह तो हरएक के लिये प्रत्यक्षहि है। सूर्य ग्रीष्म ऋतु में भूमिको तपाता है, सूर्यका अतिसूक्ष्म अंश पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है और यह तपानेका कार्य करता है। इसी तरह जो सूर्य का अंश भूमीपर आता है, वही वृक्षों में संग्रहित होता है, अतः लकडी या कोयले जलानेसे उष्णता की प्राप्ति होती है। यह उष्णता सूर्यकीहि वृक्षोंमें संग्रहित हुई है। इस तरह सूर्य अपनी शक्ति अनन्त वस्तुओं में रखता है, जिनसे हमें सूर्य की अनुपस्थितिमें उष्णता मिलती है। यह 'सूर्य का अंशावतार' है।

'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्' (ऐ० उपनिषद्) 'सूर्य आंख का रूप धारण करके शरीरमें नेत्रके स्थानमें रहने लगा' यह वैदिक सिद्धांत है। यह सूर्य के सूक्ष्म अंशका अवतार ही है। इसी तर वायु का अवतार प्राण में, जल का वीर्यमें, पृथ्वी का हड्डीयोंमें हुआ है। यह तत्वज्ञान वेदोपनिषदोंमें सर्वत्र है। देवोंके अंशावतार इस तरह शरीरमें होते हैं। यह तो प्रत्यक्ष देखा भी जा सकता है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥ (यजु०)

'हे ईश्वर! तू तेजःस्वरूप हो और वीर्यस्वरूप हो, अतः मुझमें तेज और वीर्य स्थापन कर और मुझे तेजस्वी और वीर्यवान् बनाओ।'

यह तो हरदिन प्रार्थना की जाती है। इसका मनन करने से स्पष्ट मालूम होगा कि परमेश्वर का स्वरूप 'तेज और वीर्य' है जब उसकी कृपा होती है और जब हमारी उपासना होती है, तब वह अपनी अतुल कृपासे अपने तेजको एक सूक्ष्म अंश और अपने वीर्य का अंश उपासक के अन्दर रख देता है, जिससे वह उपासक भक्त परमेश्वर के तेजसे तेजस्वी और परमेश्वर के वीर्यसे वीर्यवान् होता है और इस विश्वमें कृतकार्य होता है। यही ईश्वर का भक्त में 'अंशावतार' है।

जैसा शीत जलमें अग्निका अंश आनेसे जल गर्म होता है, वैसाही परमेश्वरीय तेजका अंश आनेसे भक्त तेजस्वी होता है। इसी तरह ज्ञान, वीर्य आदि ईश्वर के गुण उपासकमें आते ही हैं। येही अंशावतार है।

यदि आशंका करनेवाले विद्वान् ईश्वरउपासना से परमेश्वरीय गुणोंका भक्त में संक्रमण किस तरह होता है, इसका विचार करेंगे, तब उनकी सब शंकाएं दूर होंगी। उपासनासे एक एक ईश्वरीय अंशका धारण होकर भक्त की शक्ति बढती है। यह ईश्वरीय अंशका अवतार ही है। यही ईश्वरप्राप्ति है। वेदमें सैंकडों वचन इसकी पुष्टिके लिये हैं, जो इस लेखमाला में दिये जा रहे हैं।

वेदका धर्म ग्रहण करने के लिये बडा धैर्य चाहिये और हमे अपने मन पूर्वग्रहदोषों से दूर रखने चाहिये। एक ही मंत्र आप ले, पर उसे अच्छी तरह अपनाइये। तब सब शंकाएं दूर हो जांयगी। ईश्वरकी प्राप्ति का तात्पर्य उसके एक एक अंशकी अपने में स्थिति ही है।

इतने विवरणसे पूर्वोक्त शंकाएं दूर होंगी, तथापि उनके उत्तर ये हैं—

१. अवतार के माइने 'प्रकट होना,' (अव) समंतात् (तार) तारण के लिये प्रकट होना।
२. ईश्वर सर्वव्यापक है, परंतु सर्वत्र प्रकट नहीं। विद्युत् सर्वव्यापक है, पर यंत्रादि द्वारा जहां प्रकट की जाती है, वहीं दीप लगता है। सर्वव्यापक होनेपर भी प्रकट होना और बात है।
३. उतरना चढना आदि प्रश्न अब निरर्थक हैं।
४. एकदेशी और सर्वदेशी का प्रश्न भी निरर्थक है।
५. वाइसरॉय का विवरण किया है।

प्रश्न पूछनेके लिये हम पृच्छक के कृतज्ञ हैं। यदि इस लेखमालाके पाठक दो चार मिलकर इकट्ठे बैठकर विचार करेंगे; वेदमंत्र का आशय समझने का यत्न करते हुए आशंका करते रहेंगे, तो इन शंकाओंसे भी बडा अच्छा परिणाम निकल सकता है, पर खुले दिलसे शंका होनी चाहिये। पहिलेसेही 'नीरस या सरस' ठहरानेका आग्रह होगा, तो ठीक नहीं होगा। "सम्पादक"

दैवत-संहिता।

'दैवत-संहिता' के मुद्रण के विषय में हमारा लेख गत वैदिक धर्मके अंक में प्रकाशित हुआ और वह करीब करीब एक सौ विद्वानों के पास भी अलग डाकद्वारा भेजा गया। वैदिक धर्म के सहस्रों पाठकोंने तो वह पढा ही होगा। जिन विद्वानों के पास वह लेख भेजा था, उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपनी संमति अति शीघ्र हमारे पास भेज दें। तदनुसार कई विद्वानोंसे संमति आ चुकी है। संभवतः अन्यों की संमति भी शीघ्र आ जायगी।

बडे अक्षरों में मुद्रण।

बहुत ही विद्वान् यह लिखते हैं कि यह दैवत-संहिता बडे अक्षरों में स्वरसहित छापी जावे।

इस विषयमें हमारी संमति यह है कि बडे अक्षरों में यदि यह संहिता छापी, तो दो हजार पृष्ठ लगेंगे और मूल्य बढ जायगा। जितना मूल्य बढेगा उतना प्रचार कम होगा। हजार पृष्ठोंके ग्रंथका मूल्य हमने पेशगी ३) रखा था, दुगणे पृष्ठ होनेपर मूल्य पेशगी ६) रखना पडेगा।

हजार पृष्ठों के ग्रंथ की छपाई, कागज, जिल्द का मूल्य कमसे कम ४०००) होगा और स्वर के साथ बडे अक्षरों में छापा जाय, तो इससे दुगुणा व्यय होगा। इस समय हमारे पास २०००) का दान इसी कार्य के लिये आ गया है, जिस में से बनवाई में कुछ व्यय हुआ है और शेष करीब डेड हजार रु० हैं। जिस में स्वाध्याय-मंडल की ओर से कुछ रकम डालकर स्वरहित ग्रंथ नमूने के लिये सबसे प्रथम हम मुद्रित करना चाहते हैं। यदि इसी समय बडे अक्षरों में स्वरसहित छापना होगा, तो उसके लिये आठ हजार रु० का व्यय करना होगा यह इस समय बडा कठीन है। यदि कोई वेदप्रेमी धर्मात्मा सज्जन इस कार्य का महत्व समझ कर इस के लिये दान देंगे, तो स्वरसहित बडे अक्षरों में भी हम प्रथम बार हि छापने को तैयार हैं।

इस विषय में विचारणीय बात यह है कि यह दैवत-संहिता केवल देवताओं के अभ्यास के लिये ही है, इस लिये चरण दर्शाकर हि छापनी चाहिये और जहां पद अलग हो सकते हैं, वहां पदोंको भी अवश्य ही अलग दर्शाना चाहिये। इस कारण मंत्रोंको जगह अधिक लगेगी और जितना टाईप बडा होगा, उतनी पृष्ठों की संख्या बढ जायगी और उस कारण मूल्य भी बढ जायगा।

हमारा विचार यह है कि यह दैवत-संहिता सस्ते से सस्ते मूल्य में दी जावे; बहुत लोग इसे सहज ही में ले सकें और इसका अभ्यास चारों ओर बहुत व्यय न करते हुए हो जाय। जितना मूल्य बढेगा, उतना इसके प्रचारमें विघ्न ही खडा हो जायगा। यह तो अक्षर बडे रखने के विषय में हमारा कहना है। इस लेखके अन्त में दोनों अक्षरों के नमूना पृष्ठ रखे हैं। इनके देखने से बडे अक्षर कितनी जगह घेरेगा, इसका पता लग सकता है।

यदि कोई धनी वेदप्रेमी सज्जन इस कार्य के लिये और तीन चार हजार रु० का दान देंगे, अथवा कोई संस्था इतना व्यय करेगी, तो वह पुस्तक बडे टाईपमें छपकर सस्ती भी दी जायगी। फिर केवल दो हजार पृष्ठों का भार उठाने का ही सवाल पढनेवाले के सामने रह जायगा।

पाठक इसका पुनर्विचार करें और अपनी संमति इस विषय में शीघ्र मेरे पास भेजें।

स्वरोंकी आवश्यकता।

पूर्व लेख में बताया है कि अर्थज्ञान में स्वरोंकी बहुत ही थोडी आवश्यकता है। सौमें एक स्थानपर भी अर्थ के लिये स्वरोंकी आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने अर्थ, भाष्य, टीका या अनुवाद वेद के किये हैं, उन्होंने प्रत्येक शब्दका स्वर देख देख कर अपना अर्थ किया है, ऐसी बात नहीं। पर सहस्रों स्थलों पर केवल शब्द का कोशार्थ देखकर हि अर्थ किया है।

वादविवाद करने में हर कोई कहेगा कि 'इन्द्रः शत्रुः स्वरतोऽपराधात्' स्वर की अशुद्धि होनेसे वेद में अर्थ

का अनर्थ होता है। पर महाराष्ट्रीय वैदिक ब्राह्मणों को छोडा जाय, तथा दाक्षिणात्य पंडितों को छोडा जाय, तो उत्तरीय विद्वानों में एक भी ऐसा नहीं है कि जो ठीक ठीक उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि स्वरोंका यथोचित उच्चारण कर सकता है। यहाँ कोई किसी की निंदा करने की बात नहीं है। गुजरात, राजपुताना, पंजाब, यू.पी., सी.पी., बंगाल, आसाम के वेदविद्वान् देखे हैं। उनमें एक भी स्वरोच्चारण ठीक ठीक करने में समर्थ नहीं है। स्वर सामने रहते हुए भी उच्चारण ठीक नहीं करते। पर स्वरोच्चारण ठीक न होनेपर भी वेद का अर्थ तो ये पंडित करते ही हैं।

क्योंकि वेद का अर्थ करने के समय तो शब्दार्थहि जानने की आवश्यकता होती है। हम तो ऐसा ही यहां कहना चाहते हैं कि सब व्यवहार वेद को स्वर नहीं है, ऐसा मानकर हि पंडित लोग चला रहे हैं। महाराष्ट्रीय ऋग्वेदी, दाक्षिणात्य तैत्तिरीय और माध्यन्दिन, तथा महाराष्ट्रीय अथर्ववेदी इतने ही लोग-जो वैदिक परंपरा में पाले और पढाए गए हैं- वेही ठीक ठीक सस्वर वेद पाठ कर सकते हैं। यह तो हम शर्तिया कहने को तैयार हैं कि अन्यप्रांतीय बडे विद्वान् पण्डित भी ठीक स्वरोच्चारण करने में असमर्थ हैं।

जब अन्य प्रांत के विद्वान् भी वेद का सस्वर उच्चारण कर नहीं सकते, अर्थ के समय स्वरों का विचार भी नहीं करते, तो ऐसे लोगों के लिए स्वरों के रखने की क्या आवश्यकता है? अन्यों के लिए तो उपयोग है ही नहीं।

जब कभी अर्थ के विषय में विवाद पड जाता है, तब अपने पक्ष को कोई किसी तरह सहायता मिल जाय इसलिए पण्डित लोग स्वरका विचार करते हैं। परंतु किसी पद का स्वर ठीक है वा गलत है, इसका निश्चय केवल व्याकरण को देखकर करना भी असम्भव हि है। क्योंकि पाणिनीय व्याकरण भी स्वरों के सम्बन्ध में बडा ही अपूर्ण तथा अपवादयुक्त है।

स्वरों के विषय में और भी एक बात विचारणीय है। वह यह कि ऋग्वेद के मंत्रों के स्वर अथर्ववेद में बदले हैं और उनको ठीक करने में सिवाय वैदिकों के पाठके कोई और प्रमाण नहीं है। ऋग्वेद के मंत्र साम, यजु और अथर्व में गए हैं और वहां विभिन्न स्वरभेद के साथ वे पढे जाते हैं। जैसा—

ब्रह्मणस्पते; ब्रह्मणस्पते; ब्रह्मणस्पते
वृणतां राज्याय, वृणतां राज्याय।

इस तरह अनेकों उदाहरण दिए जा सकते हैं। ऐसे स्थानों में प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि दैवत-संहिता में कौनसा स्वर रखा जाय। पर यहां दूसरा भी प्रश्न ऐसा हो सकता है कि जब स्वाहाकार के समय स्वररहित एक-श्रुति में पाठ करने की पद्धति अति प्राचीन है, जब पिप्पलाद-संहिता स्वररहित ही कश्मीरी पुस्तक में है और जब ठीक सस्वर पढना करीब करीब सर्वसाधारण के लिए अशक्य हि है और जब अर्थ करने के समय कोई स्वरों का उपयोग भी नहीं करता, तब तो इसमें स्वरोंको रखना किस लिए?

स्वर क्या है?

प्रायः हरएक भाषा में स्वर होते ही हैं। वेद की भाषा जिस समय बोलने की भाषा थी, उस समय स्वर से ही बोली जाती थी; कौंकण के समुद्र किनारेपर बोलने वाले शब्दों के स्वर और लुप्त स्वर अब भी बोलते हैं।

मैं बाजार जाता हूँ।

यह वाक्य भाषा में करीब करीब ऐसे स्वर से बोला जाता है। पर इन अक्षरोंपर स्वर लिखे नहीं जाते, क्योंकि यह भाषा इस समय प्रचलित और जीवित है। सब लोक इसका ऐसा ही उच्चारण विना स्वर दिए कर सकते हैं। वेदभाषा इस समय जीवित नहीं है, इसलिए ठीक ठीक बोलने की शैली जानने के लिए स्वर देने चाहिए, पर स्वर देनेपर भी उनका उचित उच्चारण सर्वसाधारण से होना प्रायः अशक्य है और उपयोग तो कोई करता ही नहीं। इसलिए स्वर-चिह्न देने की कोई आवश्यकता नहीं है। गुरुकुल जैसी संस्थाओं में ठीक स्वरोच्चारण का प्रबंध नहीं, फिर अन्यत्र क्या होगा?

पाणिनी मुनीने उदात्त, स्वरित और अनुदात्त के स्वर भी दिए हैं, पर उनका उपयोग कोई नहीं कर सकता।

अतः सब स्वर शास्त्रग्रंथों में रहे हैं, प्रयोग में नहीं हैं, व्यवहार में तो नहीं हैं।

मेरे इतने वर्षों के अभ्यास से मेरा तो यह विचार निश्चित रूप से हुआ है कि, सहस्र स्वरोंके सहस्र अक्षरों में अर्थज्ञान के लिये कचित् एकाध स्वरका उपयोग होता होगा तो होता होगा। इतना थोडा अर्थज्ञान के लिये उसका उपयोग है। अत. हमें सर्वसाधारण के उपयोग के लिये अर्थात् एकश्रुति पढनेवालों के उपयोगार्थ- जो कभी ठीक स्वरोच्चारण नहीं कर सकते, उनके उपयोग के लिये विना स्वरोंकी हि दैवत-संहिता छापनी चाहिये।

स्वर छापनेमें एक और अडचन है।

ऋग्वेद के मंत्र अन्य वेदोंमें आते हैं, ऐसे स्थानोंमें ऋग्वेदके हि स्वर छापे जांयगे, अन्य वेदोंके नहीं जैसा—

अग्निमीळे पुरोहितं

यह मंत्र सामवेदमें इस तरह लिखा जाता है—

३ १ २ ३ १ २
अग्निमीडे पुरोहितं

इनमें से ऋग्वेद के स्वर लिखे जांयगे, सामस्वर नहीं, क्योंकि यह मंत्र दैवत-संहितामें एक ही बार आना है। इस कारण पुनरुक्त मंत्र हट जानेही हैं। इस तरह प्रायः पुनरुक्त मंत्र के स्वर रहेगे ही नहीं। जब दैवत संहिता में पुनरुक्त मंत्र और उनके स्वरभेद रहने नहीं हैं, तो सर्वत्र ही स्वर न रहे तो अभ्यासक के लिए क्या कठिनता रहेगी?

ऋग्वेदपाठ— अग्न आयाहि वीतये।

वा०यजुर्वेदपाठ— अग्नऽआ याहि वीतये॥
(य० ११।४६)

तै० संहितापाठ— अग्नऽआ याहि वीतये॥
(तै० सं०)

२ ३ १ २ ३ १ २
सामवेदपाठ— अग्न आ याहि वीतये॥
(साम० १।१।१।१)

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके स्वरचिह्नों में एक ही मंत्र में इस तरह भेद हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद में तो उच्चारण का भी भेद है। ऋग्वेद का 'अग्नि' और वा० यजुर्वेद का 'अग्निन' उच्चार में भिन्न है। दैवत-संहिता स्वर में छापनेका आग्रह किया जाय, तो विभिन्न वेदों के विभिन्न स्वरोच्चारण दर्शाने की नौबत आवेगी और वह किसी प्रकार भी उपयोगी सिद्ध होनेवाली बात नहीं है।

स्वर में कुछ बल है, अर्थ में तो कचित् विशेषता भी उनसे होती। यह सब मानते हुए भी मै उसका कोई उपयोग सर्वसाधारण के लिये नहीं देखता। इस लिये दैवत-संहिता विना स्वर प्रथम वार छापी जाय, तो कोई हानि नहीं है।

परंतु सब अभ्यासकों की संमति अध्ययन के बाद ऐसी हुई कि इसमें स्वर देने ही चाहिये, न देनेसे इतनी हानियां होती हैं, तब तो द्वितीय वार यह दैवत-संहिता सस्वर हि छापेंगे।

इस सब विवरण का पाठक विचार करे और उचित समति प्रदान करे। क्योंकि कार्य शीघ्र ही प्रारंभ करना है।

साथवाले दोनों पृष्ठोंसे ज्ञात होगा कि बडा टाईप रखनेसे दुगुणे पृष्ठ होंगे। अर्थात् मूल्य भी बढ जायगा।

जिस तरहकी "दैवत-संहिता" छापनेका निश्चय होगा, वैसा मूल्य ग्राहकोंसे लिया जायगा। सब विद्वान् अपनी संमति शीघ्र दें।

दैवतसंहिता का मूल्य

	मू.	पेशगी	डा. व्य.
१. दैवतसंहिता (विनास्वर छोटा टाइप)	६)	३)	१)
२. " (सस्वर बडा टाइप)	१२)	६)	२)
३. " (कागजकी एक ओर छपी) छोटा टाइप	८)	४)	१॥)
" " बडा टाइप	१६)	८)	२)

४. प्रत्येक देवताके अलग पुस्तक (उक्त मूल्य की अपेक्षा प्रति पुस्तक ॥) आठ आने अधिक।

सूचना— डा०व्य० या रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा।

इन्द्र देवता

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। गायत्री।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो! सुता इमे त्वायवः।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥४॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥५॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्य, आ गहि ॥६॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥७॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र! इद् दुवः ॥८॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥९॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।
पतयन् मन्दयत् सखम् ॥१०॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो! घनो वृत्राणामभवः।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥११॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो!।
धनानामिन्द्र! सातये ॥१२॥
यो रायोऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१३॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१४॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥१५॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्।
गमत् वाजेभिरा स नः ॥१६॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥१७॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
सोमासो दध्याशिरः ॥१८॥
त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः।
इन्द्र! ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥१९॥
आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र! गिर्वणः।
शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥२०॥
त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो!।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥२१॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्।
यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥२२॥
मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र! गिर्वणः।
ईशानो यवया वधम् ॥२३॥

४ (ऋ० १।६।१-३,१०)

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥२४॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥२५॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः ॥२६॥

इन्द्र देवता

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । गायत्री ।

१ (ऋ० १।३।४-६)

इन्द्रा याहि, चित्रभानो ! सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥
इन्द्रा याहि, धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥
इन्द्रा याहि, तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥

२ (ऋ० १।४।१-१०)

सुरूपकृत्नुमूतये, सुदुघामिव गोदुहे ।
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ४ ॥
उप नः सवना गहि, सोमस्य सोमपाः पिब ।
गोदा इद् रेवतो मदः ॥ ५ ॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अति ख्य, आ गहि ॥ ६ ॥
परेहि विग्रमस्तृतम् इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् ।
यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ७ ॥
उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।
दधाना इन्द्र ! इद् दुवः ॥ ८ ॥
उत नः सुभगाँ अरिर् वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ९ ॥
एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् ।
पतयन् मन्दयत् सखम् ॥ १० ॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो ! घनो वृत्राणामभवः ।
प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ११ ॥
तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ! ।
धनानामिन्द्र ! सातये ॥ १२ ॥
यो रायोऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १३ ॥

३ (ऋ० १।५।१-१०)

आ त्वेता नि षीदत इन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥ १४ ॥
पुरूतमं पुरूणाम् ईशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १५ ॥
स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमत् वाजेभिरा स नः ॥ १६ ॥
यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः ।
तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १७ ॥
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये ।
सोमासो दध्याशिरः ॥ १८ ॥

सूचना—इन मंत्रोंमें देवतावाचक शब्द पर * ऐसा चिन्ह किया है।

स्वाध्याय-मण्डलद्वारा प्रकाशित वेदोंके विषयमें संमतियाँ।

(१)

श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज सोलापूर- (ता० १७।५।३९)

"अथर्ववेद मिल गया है। यह बहुत ही सुन्दर छपा है, पढने में बहुत ही सरलता है। छपाई उत्तम है, मैंने अबतक छपे जो पुस्तक पढे हैं, उन सब से इसकी छपाई उत्तम है।

"स्वाध्यायमण्डलने यह उत्तम कार्य किया है। छपाई आदि के दृष्टि से दाम अत्यंत न्यून हैं। ऋषि- देवता-छन्द भी लिखे हैं। वेदप्रेमी सब को क्रय करके स्वाध्यायमण्डल का उत्साह बढाना चाहिये।"

(२)

श्री० पं० आस्थान विद्वान् रामचन्द्र दीक्षित, सामवेदाध्यापक श्री० महाराजा वेदमहाविद्यालय, बंगलूर (ता० १०।५।३९)

"आपका अथर्ववेद और शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त हुआ, अत्यन्त आनन्द हुआ। वेदमुद्रणविषयक आपका परिश्रम इससे भी अधिक सफल और सुफल हो जाये ऐसी पूर्ण आशा है।

(३)

श्री० पं० शंकर गंगाधर भट्ट कशाळीकर प्रधानाचार्य वेदपाठमाला, सावंतवाडी (जि० रत्नागिरी, सं सावंतवाडी) (ता० ५।५।३९)

"आपका अथर्ववेद मिला, बहुतही अच्छा मुद्रित हुआ है। इस सफलता के लिए अत्यन्त धन्यवाद हैं। अथर्व-पाठभेदों का संग्रह करके आपने बडा उपकार किया है। इस विषयका आपका मत निःसंदेह सत्य है।"

(४)

श्री० पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार अजमेर (ता० ११।५।३९)

"आपके भेजे अथर्ववेद और यजुर्वेद प्राप्त हुए। इन वेदों के विषय में जितना अधिक वर्णन किया जाय उतना ही थोडा होगा। शक्कर कभी अपने आपको मीठा नहीं कहती, जो खाता है वही इसको जानता है कि इसका स्वाद कितना मीठा है। जिनके सामने ये वेद जाते हैं और जो स्वाध्याय करते हैं, उनको इनकी उपयोगिता के विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है।

पहिले जो वेद थे उनको देखनेपर पढनेको दिल ही नहीं करता था, पर आपके वेद आने से स्वाध्याय करनेका उत्साह बढ गया है। साथ साथ आपका मुद्रण ऐसा स्पष्ट हुआ है कि जिससे वेद स्वयं अपने अर्थ प्रकट करता है, ऐसा प्रतीत होता है। मेरे हृदयमें आपके वेदोंको देखकर जो प्रसन्नता हुई है, उस को प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

मुझे बहुत लोग कहते हैं और कईयों ने लिखा भी है कि आप इस वेद मुद्रण में कमा रहे हैं। परन्तु पण्डितजी! मेरी समझ में नहीं आया कि इस में क्या कमाई होगी! इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने चारों वेदों का १०) तो लिखा है; परन्तु आप चारों वेद वस्तुतः ५) में ही देते हैं। यदि हिसाब लगाया जाय तो चार जिल्दें (सुनहरी), उत्तम मुद्रण, उत्तम स्वदेशी कागज काभी मूल्य ५) से अधिक होगा। इसलिए मैं तो यही समझता हूं कि आप ये वेद वास्तव में घाटे में ही दे रहे हैं।"

(५)

"अथर्ववेद मिला, बहुत सुंदर छपा है। पाठभेद छापकर आपने बडा ही उपकार किया है। प्रस्तावक लेख पढकर अनेक प्रकारकी शंकाएं दूर हो जाती हैं।

टाईप तथा कागज भी सुंदर हैं। तिसपर भी आप केवल तीन रुपये में देते हैं, इसीसे पूर्णतया प्रतीत हो जाता है कि आप वेदों में प्रचारार्थ हि इतने सस्ते दामों में जनता को पुस्तक दे रहे हैं।

मेरी सम्मती से प्रत्येक वैदिकधर्मी के घर में वेद की मूल चार संहिताएं तो अवश्य होनी चाहिये।

परमात्मा आपके इस शुभ प्रयत्न को सफल तथा सुफल करें, यही मेरी परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना है। आपके स्वाध्यायमण्डल द्वारा छपाई पुस्तकों से लोगों के हृदयोंमें वेदों के प्रति बहुत ही श्रद्धा उत्पन्न हुई है। परमात्मा आप को दीर्घजीवी करे, जिससे आप वेदों की अधिक से अधिक सेवा कर सकें।

वीरपुर-काठियावाड १५।४।३९ शंकरानंद स्वामी

(६)

"आपके भेजे अथर्ववेद प्राप्त हुए। आपका परिश्रम सराहनीय है।"

अजमेर (११।४।३९) (पं०) जयदेवशर्मा वेदालंकार

(७)

"अथर्ववेद मिला धन्यवाद। यह तो बहुतही उत्तम छपा है और बडाही उपयोगी हुआ है। मैं तो अब आपके सामवेद की प्रतीक्षा कर रहा हूं।"

लाहौर (२०।४।३९) (पं०) हलियारामजी कश्यप, M Sc.

(८)

मोरिस कॉलेज, नागपुर १३।५।३९

"...... अथर्ववेद की पुस्तक मिली। तदर्थ परम धन्यवाद। इतना सुसंस्कृत शुद्ध सुलभ और सुष्टिग्राह्य वेदों का संस्करण निकालने के लिए आप परम धन्यवादके योग्य हैं। आपकी वैदिक वाङ्मय सेवा अश्रुतपूर्व और इतिहास में स्मरणीय रहेगी।......

अब एक प्रार्थना है कि अब प्रत्येक वेद के लिए पृथक् पृथक् जिल्दों में सरल संस्कृत या हिंदी में टीका—विस्तृत नहीं—केवल स्पष्ट रूप से मूलार्थ को (प्रतिशब्दार्थ प्रकाशन पूर्वक) विशद करनेवाली-प्रकाशित कीजिए।

आपकी भूमिका की संस्कृत भाषा आदर्श मानी जा सकती है। मूल और टीकामें प्रतिपृष्ठ साम्य होना चाहिए, जैसा मैक्स मूलर का ऋग्वेद और पदपाठ छपा है। यदि आपने प्रत्येक संहिता की पर्याप्त कापियां छापी हैं, तो १३) या १५) रु० में संपूर्ण सेट देने की विज्ञप्ति समाचारपत्रों में देकर टीका- (अर्थ) मुद्रण के लिए पर्याप्त अर्थ का उपार्जन कर सकते हैं।

अब सामवेद कबतक आनेवाला है और तैत्तिरीय संहिताका भी इस आयोजना में स्थान है वा नहीं ?

भवदीय सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी
(M. A. प्रोफैसर)

(९)

श्री० वे० शा० सं० गोविंद भट्ट फाटक आचार्य वेदविद्यालय पूना लिखते हैं— (वैशाख व० १० शके १८६१)

"वेदोक्त आशीर्वाद। आपके पास से ऋग्वेद वा० यजुर्वेद और अथर्ववेद प्राप्त हुए। आपका वैदिक संशोधन अपूर्व है तथा आपका वेदाभिमान भी अभिनंदनीय है और आप वेदों के मुद्रण करने में जो कष्ट उठा रहे हैं, वे निः संदेह प्रशंसनीय हैं। ईश्वरकृपा से आपके द्वारा वेद के सुंदर और शुद्ध पुस्तक प्रकाशित हो रहे हैं, यह देखकर अत्यंत आनंद हो रहा है। इसी तरह भविष्य में आपके द्वारा परमेश्वर वेद की सेवा करवा के यही हमारी इच्छा है।"

मेरी अफ्रीकाकी यात्रा

(३)

(लेखक- पं० तडित्कांतजी वेदालंकार, साहित्यमनीषी)

दक्षिण रोडेसिया (Southern Rhodesia)

इस प्रान्तमें आनेके लिए दो मार्ग हैं। एक जलका तथा दूसरा स्थलका। जलके मार्गसे आनेवालोंको पोर्तुगीझ ईस्ट अफ्रीकाके बैरा (Beira) बंदरगाह पर उतरना पडता है। वहांसे रोडेसिया रेलवेद्वारा इस प्रांतमें आया जाता है। ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाकी ओरसे स्थलके मार्गसे मोटरद्वारा भी इस प्रान्तमें आया जा सकता है। इसके लिए केनियाप्रांतकी राजधानी नैरोबी (Nairobi) से ठेठ साउथ अफ्रीकाके जोहानीसबर्ग (Johannesburg) शहर तक पक्का रास्ता बनाया गया है। यह रास्ता नैरोबीसे चलकर टांगानीकाके डोडोमा शहरमेंसे गुजरता हुआ उत्तर रोडेसिया तथा दक्षिण रोडेसिया होकर सीधा आगे चला गया है। परंतु बारिशके दिनोंमें यह रास्ता प्रायः बन्दसा रहता है। बारिशके दिनोंमें पुल आदि टूट जानेका जहां भय बना रहता है, वहां टांगानीकाका रास्ता इतना बिकट बन जाता है कि उसमेंसे गुजरना लगभग असंभवसा हो जाता है। टांगानीका छोडनेके बाद फिर इतना अधिक खतरा नहीं रहता। फिरभी बारिशमें इस रास्तेसे जानेके लिये सलाह नहीं दी जा सकती।

दक्षिण रोडेसियामें हरेक ऋतुमें स्थलमार्गसे सर्वत्र घूमा जा सकता है। क्योंकि यहांकी सरकारने रास्तोंपर कोलटारकी पट्टी बना रखी है। इससे रास्ता कायम अच्छा रहता है तथा उसे बारबार सुधारनेका झगडा भी नहीं रहता। यहांकी सरकारकी रास्ता बनानेकी यह पद्धति न सिर्फ प्रशंसनीय ही है, अपितु अनुकरणीय भी है।

इस प्रांतके पूर्वमें पोर्तुगीझ ईस्ट अफ्रीका, दक्षिणमें साउथ अफ्रीकाका ट्रांसवाल प्रांत, पश्चिममें दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका तथा उत्तरमें उत्तर रोडेसिया और न्यासा लैंड स्थित हैं।

कुदरतकी इस प्रांत परभी बडी भारी कृपा प्रतीत होती है। सारा प्रांत हराभरा तथा प्राकृतिक दृश्योंकी रमणीयतासे भरा पडा है। इस प्रांतमें ऐतिहासिक दृष्टिसे तथा प्राकृतिक सौन्दर्यकी दृष्टिसे कई भिन्न भिन्न द्रष्टव्य स्थल हैं, जिनका यथास्थान वर्णन दिया जायगा।

प्रवेशकी आज्ञाके लिए कष्ट।

अफ्रीकाके भिन्न भिन्न राज्योंके भिन्न प्रांतोंमें प्रवेश करनेके लिए पहलेसे आज्ञा लेनी पडती है। इसके लिए हरेक सरकारने अपने अपने प्रदेशोंके प्रवेशद्वारोंमें इमीग्रेशन दफ्तर कायम किये हुए हैं। ये बिना परवानगीके आगे जाने नहीं देते। पहलेसे आज्ञा प्राप्त न की हुई हो, तो जबतक परवानगी न मिले वहीं ठहरे रहना पडता है। पहलेसे आज्ञा प्राप्त किये बिना आनेवालोंको बेहद तकलीफ उठानी पडती है। कई बार काफी दिनतक अपरिचित प्रदेशमें पडा भी रहना पडता है। और कभी कभी तो इतने दिन पडे रहनेके बादभी आज्ञा न मिलनेसे वापस लौट जाना पडता है।

हिन्दीयोंको (Indians) इसके लिए सबसे ज्यादा कष्ट उठाना पडता है। ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाके केनिया, युगांडा तथा टांगानिका प्रांतोंको

छोडकर शेष सर्वत्र आज्ञा प्राप्त करना बहुत ही कष्टसाध्य है। सिर्फ ये ही प्रांत अफ्रीकामें ऐसे रह गये हैं,जहां कि थोडीसी कठिनताके बाद प्रवेश के लिए आज्ञा मिल सकती है। इन प्रांतोंमें कोई-भी हिन्दी दो सौसे ३०० शिलिंग की जमानत रखकर प्रवेश कर सकता है, परंतु अन्यत्र सर्वत्र बडी बडी जमानत रखनेपरभी आज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती।

पोर्तुगीझ ईस्ट अफ्रीकामें प्रवेश करनेके लिए अगर पहलेसे आज्ञा प्राप्त न की हुई हो तो वे लोग जहाज (स्टीमर) सेभी नीचे उतरने नहीं देते और उसी स्टीमरसे हैरान होकर वापस लौट जाना पडता है। अव्वल तो स्टीमरवाले टिकीट ही नहीं देते और देते हैं तो जमानत रखवा लेते हैं। यही हाल रोडेसिया का है। साउथ अफ्रीकावाले तो सबसे बढचढकर हैं। स्थिर तौरपर निवास करनेके लिए अब सिर्फ हिन्दियोंको B E. Africa में १० पौंड तथा N. Rhodesia में १०० पौंड लेकर आज्ञा मिल सकती है। परंतु सुना जाता है कि बहुत शीघ्रही N. Rhodesia में भी हिन्दियोंका प्रवेश बंद कर दिया जायगा। अतः जिन्हें इस तरफ आना हो, उन्हें शीघ्रता करनी चाहिए।

दुःख और लज्जाकी बात तो यह है कि इस संबंधमें सबसे ज्यादा सख्ती परतंत्र हिन्दियोंसे ही की जाती है। हिन्दीको छोडकर शेषके साथ इतनी सख्तीसे कहीभी व्यवहार नहीं होता। अन्य सरकारोंकी बात तो दूर रही, खुद ब्रिटीश सरकार कि जो जाति, धर्म तथा रंग (Caste, creed and colour) भेद को महत्त्व न देनेकी रातदिन दुहाई देती रहती है, वहभी हिन्दियोंके साथ जो कि उसकी अपनी ही प्रजा है, उसके साथ औरोंकी अपेक्षा अधिक बुरी तरह पेश आती है। इतनाही नहीं, खुद जरमनी, जिसको कि अंग्रेज आजकल अपना सख्त दुश्मन समझ रहे हैं तथा अफ्रीकामें टांगानिका प्रांत उसे वापस न देनेके लिए टांगानीकालीगके नामसे उसके विरुद्ध सारे अफ्रीकामें घूम घूम कर विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं, उसके निवासियों (जरमनों) को किसीभी इंग्लिश प्रांतमें आसानीसे प्रवेश करने दिया जाता है। तथा उन्हें जहां मरजी हो बसने दिया जाता है। उनके लिए कहीं भी किसीभी प्रकारका प्रतिबंध नहीं है। यह है हमारी अंग्रेज सरकारकी कास्ट, क्रीड तथा कलरके भेद न रखनेकी दुहाईका सच्चा नग्न स्वरूप !!!

हम हिन्दियोंके लिए इससे और ज्यादा लज्जाजनक तथा अपमानास्पद बात क्या हो सकती है? यदि यह सब आंखोंसे देखते हुए, कानोंसे सुनते हुए तथा खुद अपनेपर सहते हुए भी हमारी आंतरिक ज्ञानचक्षु नहीं खुल सकती, तो इससे ज्यादा और कौनसी वस्तु हमें जगानेके लिए काफी होगी, यह मेरी समझमें नहीं आता !!

निःसंदेह हिंदुस्थान स्वतंत्र हुए बिना प्रवासी भारतीयों के मान की रक्षा होनी संभव नहीं। दुनियांके किसीभी कोनेमें रहते हुए एकभी भारतीयका अपमान खुद हम भारतीयोंका तथा भारतीय सरकारका अपमान है, इस बातको दूसरे देशों तथा सरकारोंकी तरह हम तथा हमारी सरकार जबतक हृदयसे अनुभव नहीं करेंगे, तबतक प्रवासी भारतीय परदेशोंमें अमन चैनसे रह नहीं सकते। और यह तभी संभव होगा जब कि हिन्दुस्थान आजाद हो जाय। अस्तु।

मैं बैरासे दक्षिण रोडेसियाके लिए रेलवेद्वारा रास्तेमें मसिकेस (Macequece) शहर की मुलाकत लेता हुआ २२ मी फरवरी, मंगलवारको अमटाली पहोंचा।

अमटाली। (Umtali)

दक्षिण रोडेसियाका यह पूर्वीय प्रवेशद्वार है। बैराकी ओरसे आते हुए तमाम यात्रियोंको यहांपर अपना अपना प्रवेशका आज्ञापत्र दिख-

लाना पडता है। इस कार्यके लिए यहांपर रेलवे ट्रेन कोई सवा डेढ घण्टा ठहरती है। जिनके पास आगे जानेके लिए आज्ञापत्र नहीं होता, उन्हें यहांपर उतार दिया जाता है और जबतक आज्ञापत्र वे प्राप्त न कर लें तबतक यहींपर पडा रहना पडता है। यहां रहकर आज्ञा प्राप्त करनेके लिए कमसे कम ३ हप्ते चाहिए। इतना समय यहांपर पडे रहना असुविधाजनक, कष्टप्रद तथा खर्चीला है। युरोपियनोंके लिए होटल हैं। उनमें रंगभेदकी वजहसे हिन्दियोंको उतरने नहीं दिया जाता। यहांपर हिन्दी वसतीमें मुसलमान हिन्दुओं से प्रमाणमें ज्यादा हैं। कुल हिन्दियों के ३० घर होंगे। बाहरसे आये हुए अपरिचित को इतनी ज्यादा देरतक किसी के भी यहां रहना मुश्किल हो जाता है।

बैरासे अमटाली २०० मील पश्चिमकी ओर स्थित है। यह दक्षिण रोडेसियामें तीसरे नंबर का शहर माना जाता है। इसकी जनसंख्या पिछली वस्ती-गिनतीके अनुसार २००० से कुछ ऊपर है। इसका जलवायु उत्तम व स्वास्थ्यप्रद है।

शहरमें कोलटारकी सडकें, बिजलीका प्रकाश, पानीके नल, टेलीफोन आदि वर्तमान जगतके माने हुए सुखसाधन मौजूद हैं। इन सबके साथ साथ कुदरती दृश्य जो कि शहरकी शोभामें अभिवृद्धि करते हैं, बहुत अधिक मात्रामें हैं।

इसके पिछले भागमें दक्षिण पूर्वकी ओर वम्बा पर्वत (Vumba Mountains) आया हुआ है। इसकी घाटी तथा आसपासके दृश्य इतने अधिक मोहक हैं कि जब कभी कोई प्रतिष्ठित अतिथि शहरमें पधारता है, तो उसे यह नजारा अवश्य ही दिखाया जाता है।

अष्टम एडवर्ड जब कि राजगद्दीके हकदार थे और इस मुल्कमें पर्यटनके लिए आये थे, तब उन्हें यह नजारा दिखानेके लिए इस पहाडपर मोटरकी आवजावके लिए खास तौरपर सडक तैयार की गई थी।

अमटाली वैसेभी चारों ओरसे पहाडोंसे घिरा हुआ शहर है। यह इन पहाडोंके बीचमें बसा हुआ होनेसे बडाही सुंदर मालूम देता है। दिन तथा रात दोनोंहीमें इसकी शोभा देखतेही बनता है। इसकी कुदरती सुंदरता तथा इसके आसपासके अन्य कुदरती नजारे देखनेके लिए प्रायः बाहर से लोकोंकी आवजाव काफी बनी रहती है। बारिशके दिनोंमें बादलोंसे घिरी हुइ पर्वतमालाकी शोभा को देखते देखते न तो आंखही तृप्त होती हैं और ना ही जी भरता है। अमटाली शहरका साधारण ख्याल आ सके तदर्थ उसके कतिपय दृश्योंके चित्र यहां देता हूं। आशा है पाठकोंका उनसे पर्याप्त मनोरंजन हो सकेगा। (देखिये पृ० ३९६-९७)

शिक्षण (Education.)

अमटालीमें युरोपियनोंके बालकोंके लिए भिन्न भिन्न कई स्कूल तथा छात्रावास हैं। परंतु हिन्दियों-के लडकोंके लिए तथा कलर्ड माबापो (दोगले) की संतानोंके लिए यहां पर सिर्फ एक साधारण सम्मिलित स्कूल है। इधर ऐसी स्कूलको Indian and Coloured School के नामसे कहा जाता है।

शिक्षणके संबंधमें रोडेसियन सरकारकी नीति अत्यंत ही प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय कही जा सकती है। जहांतक मेरा ख्याल है न सिर्फ अफ्रीका में अपितु दुनियाके बहुतसे देशोंमें शिक्षणसंबंधी इतनी अधिक सहूलियत नही होगी, जितनी कि यहांपर है। यह ठीक है कि यहांकी सरकारने युरोपियनोंकी संतानोंके लिए जितनी व्यवस्था कर रखी है, उतनी औरोंकी संतानोंके लिए नहीं की। परंतु इसका कारण अन्य कौमोंकी संख्याकी ही कमी होना जान पडता है, अन्य कोइ नहीं।

यहांपर प्रत्येक लडके लडकीके लिए स्कूलमें जाना अनिवार्य है। सबको स्कूलमें जाना ही चाहिए। पाठशालामें पढने जानेवाले बच्चोंके माबापसे पढाइके लिए जराभी फीस नहीं ली जाती। यही नहीं, हरेक बच्चेकी पढाईका तमाम खर्चा अर्थात् पढाईके लिए आवश्यक सामग्री जैसे कि पाठ्य पुस्तकें, कागज, स्याही, कलम, पाटी, पेनसिल



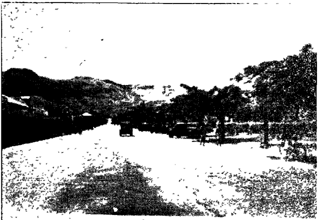


अमटाली शहरके दो दृश्य।

चाक वगैरा तमाम चीजें सरकारकी ओरसे मुफ्त दी जातीं हैं। माबापोंसे पढाईके संबंधमें किसीभी प्रकारका कोईभी कर नहीं लिया जाता।

यह ठीक है कि इन स्कूलोंमें पढानेसे हिन्दियों के बच्चे अपनी मूल संस्कृतिसे सवथा शून्य हो जाते हैं, तथापि बच्चे निरक्षर नहीं रह जाते और साथ हीमें गरीबोंके बच्चोंको भी पढाई से वंचित रह जाना नहीं पडता। इसका परिणाम भविष्यमें यहभी होगा कि एक समय ऐसा आयगा जब कि यहांपर एकभी आदमी अनपढ नहीं मिलेगा।

दक्षिण रोडेसियाकी राजधानी सोलीसबरी (Salisbury) एक ऐसा शहर था कि जहां अब-तक हिन्दुओंके लडकोंके लिए एक स्कूल थी। परंतु हालहीमें पंडित हरिशंकर विद्यार्थीजीके सतत प्रयत्नसे दक्षिण रोडेसिया के बुलवायो (Bulawayo) नामक शहरमें बालमंदिर तथा



अमटाली, मेन स्ट्रीटका दृश्य।



आमटाली, विक्टरी एवेन्यूका सुन्दर दृश्य।

प्राथमिक पाठशाला (school) **का उद्घाटन हुआ है।** पंडितजी का यह प्रयत्न अत्यंत प्रशम-**नीय कहा जा सकता** है। इसके लिए बुलवायों-**की** हिन्दुप्रजा पंडितजीका जितनाभी **उपकार माने तथा** धन्यवाद करे, उतना थोडा **है।**

रोडेसियामें बडे बडे शहर ही अव्वल तो **बहुत थोडे हैं।** तिसपर हिन्दी तथा हिन्दुओंकी वसती भी बहुत थोडी है। अब नये आदमियोंका यहांपर प्रवेश सर्वथा बंद कर दिया गया है। अतः ऐसी हालतमें इधरउधर थोडी थोडी संख्यामें बिखरे हुए हिन्दीयोंके लिए स्थान स्थान पर पाठशालाएं खोलना लगभग असंभव है। ऐसी दशामें या तो ये लोग अपने बच्चोंको हिन्दुस्थानमें शिक्षण लेनेके लिए भेजें या जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इन्हीं मिश्रित स्कूलोंमें

अपने लडकों को पढाते रहें । वस्तुतः प्रवासी भारतीयोंके सामने यह एक बडी भारी समस्या उपस्थित है। परंतु वर्तमान समयमें उसके लिए कोईभी उपाय नहीं । इसी लिए समझदार लोग जो कि पैसे आदिकी दृष्टिसे अच्छी स्थितिके हैं, वे प्रायः अपनी संतानों को हिन्दुस्थान पढनेके लिए भिजवा दिया करते हैं।

ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीकाके केनिया, युगांडा तथा टांगानिका प्रांतोंमें हिन्दियों की संख्या पर्याप्त है। वहांपर उनके बच्चोंकी पढाईके लिए सरकारी तथा जनतासे चलाई जातीं कई स्कूल हैं। धीरे धीरे ऊंची पढाईके लिए सरकारकी ओर से प्रयत्न भी चालू है, तथापि वहांपर पढाई इतनी ज्यादा मेहंगी है कि हरेक माबाप उनसे लाभ उठाने के लिए शक्तिमान नहीं हो सकता। अतः वहांकी सरकारको चाहिए कि वह यहांकी सरकारका योग्य अनुकरण करे कि जिससे वहांके साधारण लोगोंके बच्चे भी शिक्षा पा सकें। परंतु वहांकी सरकारका तो ध्येयही उलटा है। वह तो चाहती है कि किसीभी तरहसे वहांसे हिन्दियोंको मार भगाया जाय। वह अपने दुश्मन जरमनों को पसंद करती है, परंतु अपनी प्रजा हिन्दियोंको नहीं!!! हिन्दुस्थानमें भी हमारी महासभाकी सरकार जबतक इस प्रकारकी कोई खास व्यवस्था नहीं करेगी, तबतक हमारे यहांसे भी निरक्षरता दूर होनी संभव नहीं।

सींगाडीया कुटुंब के मूल स्तंभ।



श्री० जादवजी तथा श्रीमती मालीबहन।

सींगाडीया कुटुंब।

अमटालीके हिन्दु कुटुंबोंमें सींगाडीया कटुंब विशेष समृद्ध तथा प्रतिष्ठित है। सरकारमें भी इनकी अच्छी प्रतिष्ठा है। यही वजह है कि इमीग्रशनके अधिकारीभी इन्हींकी सलाह सम्मतिसे चलते हैं। अमटाली-से आगे अंदर जानेके लिए आज्ञा निकलवानेमें सींगाडीया कुटुंबकाही विशेष हाथ रहता है। यही नहीं, परवानगीके लिए अमटालीमें ठहरे हुए यात्रियोंके लिए सींगाडीया कुटुंबही एकमात्र सभी तरहका सहारा बना हुआ है। प्रायः सभी हिन्दी

इन्हींके यहां उतरते हैं, तथा आखरी दिनतक रहना, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सभी कुछ इन्हींके यहां होता है। इनकी इस प्रकारकी हिन्दियोंकी सेवा का इतिहास काफी पुराना,सुनने-के योग्य तथा रसप्रद है। इस तरफ आया हुआ शायदही कोई हिन्दी हो, जो कि सींगाडीया कुटुंब के उपकारसे दबा हुआ न हो अथवा उसके आतिथ्यसत्कार का स्वाद चख न चुका हो।

यह कुटुंब हिन्दी तथा हिन्दुभावनाका शुरुसेही अभिमानी रहा है। इसमें हिन्दुत्व-भावना तो कूट कूट कर भरी हुई है। इस देशमें हिन्दु लोग किसी भी तरह फूले फलें, उसके लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनोंही तरहके प्रयत्न करता आया है, तथा आजभी उसी तरह कर रहा है। हिंदुओंमें परस्पर मेल तथा प्रेम किस तरहसे बढता रहे, इस बातका ख्याल रातदिन दिमागमें घूमता रहता है। किसीभी बहाने हिन्दुओंका संगठन होता रहे, इसके लिए वे अवसरकी तलाशमें रहा करते हैं।

यज्ञोपवीत तथा हिन्दुसंगठन।

मैं स्वाध्याय-मण्डलकी प्रवृत्ति के लिए दक्षिण रोडेसिया की ओर आना चाहता हूं, ऐसा ज्योंही इनको पता चला कि इन्होंने हिन्दूसंगठन के लिए मेरा अच्छे से अच्छा उपयोग करनेकी ठानी। वे मेरी अमटाली आनेकी राह देखने लगे। मैं ज्योंही अमटाली पहोंचा, इन्होंने हिन्दूसंगठन के लिए मेरे सामने दो कार्यक्रम उपस्थित किये और वे ये कि एक तो जिन भाइयों का यज्ञोपवीत धारण करनेकी इच्छा हो, उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराया जाय तथा अमटालीमें थोडेसे समयसे हिन्दुओं में जो नाममात्रका विक्षेप पड गया है, उसे दूरकर के नये सिरेसे तमाम हिन्दुओंको जमाकर उनका एक मण्डल स्थापित किया जाय और इस प्रकार पुराना नाममात्रका भेदभाव भुला दिया जाय। मैंने उनकी सहायता से उपर्युक्त दोनों कार्यों के लिए प्रचार शुरू कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि ४-५ रोजमें ही २० हिन्दु भाइयोंमें से मुख्य मुख्य १३-१४ भाइयोंने यज्ञोपवीत लेना स्वीकार कर लिया। रविवार के दिन शुभ अवसर पर इन भाइयोंको विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण करवाकर गायत्री मंत्र दिया गया। यहांपर एक विशेष बातका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता और वह यह कि इस समय अमटालीमें विद्यमान सींगाडीया कुटुंबके मुख्य स्तंभरूप श्रीयुत करसन-भाई तथा लालजीभाई अपनी अपनी धर्मपत्नी के साथ यज्ञोपवीत धारण करके मेरे ख्यालमें न सिर्फ अफ्रिका में बल्कि हिन्दुस्थानमें भी अपनी जाति में पहल करके अन्य भाइयों के लिए उदाहरणरूप बने हैं।

हिन्दुओंके लिए यज्ञोपवीत एक ऐसी धार्मिक क्रिया है कि जिसके बाद प्रत्येक हिन्दु जहां विशेष धार्मिक अधिकार प्राप्त करता है, वहां वह एकता के सूत्रमें खुदबखुद बंध जाता है। हिन्दुओंको संगठित करनेके लिए तथा हिन्दुत्वका चिह्न सर्वदा अपने साथ रखने के लिए मेरे ख्यालमें यज्ञोपवीत जैसा अन्य कोई भी उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साधन हमारे पास नहीं है।

जिस प्रकार यह यज्ञोपवीतकी क्रिया उत्साह व आनंद के साथ समाप्त हुई, ठीक उसी प्रकार नये सिरेसे हिन्दुमण्डल की स्थापना में भी तमाम भाइयोंने स्नेह तथा उत्साहके साथ भाग लिया। अमटाली के तमाम भाइयों का 'अमटाली हिन्दु मण्डल (Association)' स्थापित करके उसके लिए आवश्यक कायदा कानून तैयार किये गये।

अमटाली दक्षिण रोडेसिया का पूर्वीय प्रवेशद्वार होनेसे उसमें इस प्रकारके संगठनकी खास जरूरत भी थी। क्योंकि उसमें अभीतक बाहरके हिन्दुओंके लिए उतरने ठहरने आदि के लिए तथा स्थानीय हिन्दुओंके लिए इकट्ठा होने आदि के लिए न कोइ निश्चित स्थान ही था और न कोई निश्चित एक संगठन। अमटालीके भाइयोंने इस कमी को कुछ अंश में पूर्ण करके रोडेसिया के हिन्दुओंके

लिए एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है और तदर्थ वे सर्व हिन्दु भाइयों के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

इस प्रदेशमें बहुत पुराने समयसे आये हुए कुछ भाई ऐसे भी हैं कि जिन्होंने यहां आकर यहांकी स्थानीय प्रजा की स्त्रियों से शादी कर रखी है तथा उनसे उन्हें पर्याप्त संतानें भी हुई हुई हैं। इस प्रकारके भाई हिन्दु तथा मुसलमान दोनोंही में से हैं।

अमटाली से ६५ मील दूर रूसापी (Rusapi) नामक गांव है, वहांपर ऐसे दो हिन्दू भाई रहते हैं, जिन्हें चार चार, पांच पांच संतानें यहां की स्त्री से हुई हुई हैं। सींगाडीया कुटुंब के प्रयत्नसे इन दोनों हिन्दु भाइयोंने अपनी अपनी संतानों के साथ यज्ञोपवीत धारण करके अपनी संतानों को हिन्दू-जातिका एक स्थिर अवयव बना दिया। उनके इस हिन्दुत्व के अभिमान के लिए उनका भी जितना धन्यवाद किया जाय थोडा है।

आसपासके द्रष्टव्य स्थल।

(उत्तर-पूर्वकी ओर)

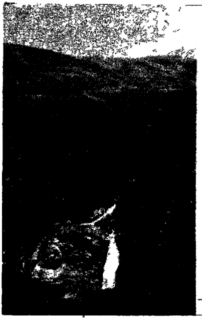
१- पेन्हालोंगा (Penhalonga)- अमटाली से कोई दसेक मीलके करीब उत्तर दिशा की ओर यह स्थल है। वहांपर छोटी मोटी कई सोनेकी खानें हैं। सारे रोडेसियामें सोनेकी खानोंकी दृष्टिसे यह स्थल तीसरे नंबर पर आता है। सोना निकालनेके लिए जो बिजलीका यंत्र लगाया गया है, वह बहुत ही बडा तथा देखनेके काबिल है। इस स्थानपर जितनी भी सोनेकी खानें हैं, वे सब एकही कंपनी के स्वाधीन हैं।

खानें जो कि भिन्न भिन्न दूरीपर स्थित हैं, उनमें से खोदकर आसपासकी निकाले गये सोनेके पत्थरको सोना निकालनेके यंत्र तक ले आनेके लिए आकाशमें मोटे मोटे लोहेके रस्से लटकाये गये हैं। इन रस्सोंके सहारे बिजली के द्वारा सोनेके पत्थरोंसे भरे हुए डोल सोना निकालनेके यंत्र तक सरकते चले आते हैं और खाली होकर फिर भरनेके लिए उसी तरह वापस सरकते हुए लौट जाते हैं। खान खोदनेसे लेकर सोना शुद्ध स्वरूप में प्राप्त हो जाने तक की तमाम भिन्न भिन्न क्रियायें बडी ही रसप्रद तथा देखने जैसी हैं। इनको देखनेके बाद ख्याल आ सकता है कि सोना प्राप्त करना कितनी महेनत तथा खर्चका काम है।

सोना निकालनेकी क्रिया इतनी ज्यादा कीमती है कि यदि सोनेका भाव ऊंचा न रहे, तो बहुतसी छोटी मोटी कंपनियां अवश्य ही बंद हो जायें या दीवाला फूंक दें। आजकल सोनेका भाव खूब ऊंचा है, अतः सब कंपनियां तेजीमें हैं। परंतु जब जब सोनेका भाव गिरा है, तब तब प्रायः अधिकांश कंपनियां दीवाले फूंक फूंककर भाग चुकी हैं। ऐसी कंपनियोंके अवशेष स्थान स्थानपर देखनेको मिल सकते हैं।

(२) ओडजानी प्रपात, पेन्हालोंगा- (Odzani falls, Penhalonga) ओडजानी नदीका यह सुंदर प्रपात अमटाली से इन्यांगा सीधा जाते हुए कच्चे रास्तेमें पेन्हालोंगासे आगे १५ मीलके लगभग ऊपर की ओर पडता है। अमटालीसे यहांपर आसानीसे जाया जा सकता है। प्रायः छुट्टी के दिन अर्थात् शनिवार रविवार या अन्य ऐसे ही वार तहेवारके दिन सैर के लिए लोग यहां आते हैं तथा कोई आधा दिन तो कोई सारा दिन नहानेमें, खानेपीनेमें मछली पकडनेमें या इधर उधर घूम फिरकर कुदरती शोभा का मज़ा लूटनेमें बिताते हैं। इस प्रपात का ख्याल नीचे दिए गये चित्रसे पाठकोंको थोडा बहुत आ सकेगा, ऐसी आशा है— (पृ० ४०१ देखें)

(३) पुंगवे प्रपात- Pungwe falls, Inyanga- ओडजानी प्रपातसे आगे इन्यांगा की ओर आते हुए यह प्रपात आता है। यह प्रपात चौडाईमें कम परंतु ऊंचा ज्यादा है। प्राकृतिक शोभा अपूर्व है। यहांपर भी लोग सैरके लिए अक्सर जाते रहते हैं। इस प्रपात का चित्र पाठकोंके मनोरंजनार्थ नीचे दिया जाता है— (पृ०४०१ देखें)



पुगवे-प्रपात इन्यागा।



ओडजानी-प्रपात पेन्हालौंगा।

(४) इन्यागा (Inyanga)-दक्षिण रोडसिया के उत्तर-पूर्व किनारे पर यह आया हुआ है। यह रोडेसिया में ऊचे में ऊचा पर्वतशिखर है। अमटालीसे कच्चे रास्तेसे सीधा जाया जाय, तो ८६ मीलके लगभग होता है और पक्के रास्तेसे वाया रसापी होकर जाया जाय तो १२५ मीलके करीबन होता है। यहा का पर्वतीय नजारा अवर्णनीय है। बादलोंसे घिरी हुई पर्वतमाला अपूर्व आह्लाद उत्पन्न करती है। यहापर युरोपियनोंके लिए उतरने आदिके लिये सुंदर होटलका इन्तजाम है। टेनीस, गोल्फ, तैरना घोडेकी सवारी, मछली पकडना आदि भिन्न भिन्न मनोरंजनके साधन मौजूद है। इसको देखकर काश्मीर के नजारे आबहूब नजरके सामने आ खडे होते हैं।

दक्षिण-पूर्वकी ओर–

(५) वुम्बा पर्वतमाला (Vumba mountains) इसके संबधमें अमटाली शहर के वर्णन के साथ थोडा बहुत ऊपर लिखा जा चुका है। अमटालीसे कोई २० मीलपर युरोपियनों के लिए वुम्बा होटलका प्रबंध है। वुम्बापर्वतमालाकी शोभा का आनद लूटनेवाले यात्री यहा जाते हैं तथा उसका मजा उडाते हैं। इस पर्वतमाला के बीचमेंसे उदय होते हुए सूर्यका मनोहर दृश्य इस

चिमानीमनी-पर्वत-माला, मेलसेटर।





बरकनफ पुल, लंबाई १०८० फीट।

शहर का दृश्य अत्यंत ही सुंदर मालूम होता है।

(६) चिमानीमनी पर्वतमाला, मेलसेटर (Chimanimani Mountains, Melsetter) यह पर्वतमाला अमटालीसे दक्षिण पूर्वकी ओर दक्षिण रोडेसिया तथा पोर्टुगीझ ईस्ट अफ्रीका की सरहद पर लगभग ९४ मील दूर आई हुई है। इसपर जानेके लिए अमटाली-फोर्ट विक्टोरिया के रास्तेमें से कोई ४१ मीलकी दूरीपर से पूर्वकी ओर रास्ता फटता है। वहां से ५३ मील पहाडी रास्ता तय करनेपर मेलसेटर (Melsetter) नामक स्थल आता है। यहांपर एक प्रपात भी है। इस प्रपात तथा पर्वतमाला के सुंदर दृश्यों के चित्र यहाँ दिये गये हैं।

पर्वतमाला के अद्भुत दृश्योंमें से एक कहा जा सकता है। मोटर से मुसाफरी करते हुए इस पर्वतमालाकी घाटियोंके दृश्य तथा अमटाली

(७) बरकनफ पुल, (Birchenough Bridge) यह सुंदर देखनेलायक पुल अमटालीसे फोर्ट विक्टोरिया जाते हुए रास्तेमें कोई ७०-७५



ब्रिडल व्हेल प्रपात, मेलसेटर।



बरकनफ पुल। (ऊंचाई २८० फीट)

मीलकी दूरीपर साबी नदी (Sabi River) पर आता है। इस विशाल पुलको जिसे ऐंजीनीयरीग की एक कमाल कहा जा सकता है, 'दी बाइट रेलवे ट्रस्टीयोंने' (The Beit Railway Trustees) बनाया था। इस पुल के बन जानेसे दक्षिण रोडेसिया के पूर्वीय जिले मध्य विभाग से संबंधित हो गए हैं।

यह पुल साबी नदी को एकही चाप (Arch) से पार कर जाता है। नीचेकी ओर से बीच में और किसी भी प्रकार का आधार नहीं है। यह पुल जिस एक चापसे बनाया गया है, वह बीचमेंसे उपर को २८० फीट ऊंची तथा १०८० फीब लंबी है। यह पुल इस प्रकार की अद्भुत बनावट में दुनियाभर में तीसरे नम्बरपर आता है। इससे दो बडे पुल. जिसमें से एक Sydney Harbour Bridge है तथा दूसरा न्यूयोर्क (New york) के दक्षिण तरफ The Kill van Kull Creek के ऊपर स्थित 'The Bayonne Bridge' नामक पुल है।

इस पुल के उत्तरपूर्वीय आधारभूत पाये में सर हेनरी (Sir Henry) तथा लेडी बरकनफा (Lady Birchenough) की राख रखी गई थी और उस स्थानपर चिन्ह के तौरपर पीतल क पतरा लगाया गया था। ई० सन् १९३८के एप्रिल की दूसरी तारीख को दक्षिण रोडेसिया गवर्नर महोदय श्रीयुत सर हरबर्ट स्टेनली (His Excellency, sir Herbert Staley, Governor of Southern Rhodesia) ने इस का फिर से

उद्घाटन किया तथा उसके बाद फिर से उसकी The Right Rev. E. F. Paget Bishop of S. Rhodesia ने धार्मिक क्रिया कर के स्थापना की।

श्रीयुत हेनरी महोदय अपने जीवनकाल में 'दी बाइट रेलवे ट्रस्टीज' के प्रधान रहे थे। और इस प्रकार उनके पीछे ऊपर दिया गया नाम इस पुल का रखा गया।

श्रीयुत बाईट (Beit) महोदय जो कि शायद जर्मन यहूदी थे, दक्षिण रोडेसिया में एक प्रतिष्ठित धनवान् व्यापारी हो गए हैं। ये अपने पीछे अपनी संपत्ति का सदुपयोग करनेके लिए ट्रस्टी बना गए हैं जो कि 'Beit Railway Trustes' के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण रोडेसिया में जितने भी छोटे बडे पुल हैं, उनमें से सैंकडों की तादाद में इन्हीं ट्रस्टियों द्वारा जनता के उपयोग के लिए श्रीयुत बाईट की स्मृति को जागृत रखने के लिए बनाए गये हैं। प्रस्तुत पुल भी उन्हींके ट्रस्टियों द्वारा बनाया गया है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। प्रस्तुत पुलके दो चित्र जो कि पुलके दो भिन्न भिन्न दृश्योंका ख्याल दे रहे हैं, पिछले पृष्ठोंपर दिये गए हैं। इनमें से दूसरा चित्र पृष्ठ ४०३ पुल के सामने से लिया गया है, जो चाप की २८० फीट ऊंचाई को दिखा रहा है। तथा प्रथम चित्र पृष्ठ ४०२ पुल की चौडाई तथा चापकी लंबाई जो कि १०८० फीट है, दिखा रहा है।

अमटाली में मुझे आगे जाने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए लगभग एक मासतक प्रतीक्षा करनी पडी थी। इस दर्म्यान सौंगाडीया कुटुंब के साथ भिन्न भिन्न स्थानों को देखने का तथा वहां जाकर आहार-विहार (Picnic) करने का अच्छा अवसर मिला। प्रायः शनि, रविवार के दिन इसी कार्य में लगाए जाते थे। मैं जिन दिनों में अमटाली में था, उन दिनोंमें एक तो वर्षाऋतु वैसे ही थी, तिसपर इस साल इस तरफ इतनी अधिक बारिश हुई है कि पिछले पांच वर्षों में इतनी ज्यादा वर्षा कभी नहीं हुई। इस अधिक वर्षा के कारण हम जितना आनन्द उठाना चाहते थे, उठा नहीं सके। वर्षा की वजह से कई दूर दूर के स्थल देखे भी नहीं जा सके। फिर भी आसपास के स्थलों का आनन्द पर्याप्त उठाही लिया था।

अमटाली के हिन्दु भाइयों के बीचमें तरह तरह की चर्चा तथा आनन्द-गोष्ठियां करते हुए एक मास इतनी जल्दी बीत गया कि पता भी नहीं चला। अंत में अमटाली तथा रुसापी के हिंदू भाइयोंने स्वाध्याय-मण्डल के कार्य में जिस उत्साह तथा प्रेम से हिस्सा बंटाया है, तदर्थ उनका मैं जितना भी धन्यवाद करूं, थोडा है। परमात्मा इन भाइयों का स्वाध्याय-मण्डल के साथ इससे भी ज्यादा गाढ सम्बन्ध बनाने में तथा टिकाए रखने में सहायता करे, ऐसी नम्र प्रार्थना है।

(क्रमशः)

सामवेद-स्वाध्यायमञ्जरी

अथवा

सामवेद-सङ्गीत।

(अनुवादक- पं० धर्मदेवजी, सिद्धान्तालङ्कार, विद्यावाचस्पति, वैदिक धर्मप्रचारक, बंगलौर)

(१) ओ३म् अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्। अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥

जो तुम को है नित्य बढाता
सब शुभकर्मसहायक है।
सबसे श्रेष्ठ उसी को मानो
सकल लोक अधिनायक है ॥

(२) ओ३म्। अग्निर्तिग्मेन शोचिषा यं सद्विश्वं ✱ न्यत्रिणम्। अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥

तीव्र तेजसे ईश्वर करता
है राक्षसगण का संहार।
वह ऐश्वर्य हमें देता है
जिसे भोगता सब संसार

(३) ओ३म्। अग्ने मृड महां अस्यय आ देवयुं जनम्। इयेथ ✱ बर्हिरासदम् ॥

सुखी करो तुम महादेव हो
प्राप्त उन्हीं को होते हो।
जो उत्तम बनना चाहें तुम
उन के दिल में रहते हो ॥

(४) ओ३म्। अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति ष्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह ॥

हमें पापसे नाथ बचाओ
हिंसक-गण से तथा प्रभो !
भस्म करो तुम अपने बलसे
पापतापको अमर विभो ॥

(५) ओ३म् अग्ने युंक्ष्वा हि ये × तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्त्याशवः ✱ ॥

जो तेरे ज्ञानी साधक हैं
उन्हें योग से युक्त करो।
साधु कर्मयोगी वे साधक
करत कर्मों में विचरो ॥

(६) ओ३म्। नि त्वा नैक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्। सुवीरमग्न आहुत ॥

शरण योग्य हे परमेश्वर तुम
सकल प्रजाके पालक हो।
सर्वशक्तियुत होकर तुमही
सकल लोक संचालक हो।
तेजोमय तेरे स्वरूप का
हम सब मिल करते हैं ध्यान।

✱ अत्रिम्- प्रजाया धनस्य प्राणस्य वा अत्तारं राक्षसम्।

✱ बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु निघण्टौ १।३; अत्र हृदयान्तरिक्षम्, मृड-सुखने।

× अश्वासः- अश्ववद् गतिशीला ज्ञानिनश्च यजमानो वा अश्वः॥ (तै० ३।९।१७।४)

✱ आशवः- शीघ्रं सिद्धिप्रापकाः अशू व्याप्तौ संघाते च।

भक्तों से आहूत दयामय ।
हम पाए बल सच्चा ज्ञान ॥

(७) ओ३म् । अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति ॥

ईश्वर मस्तकसम सर्वोत्तम
सब लोकों का धारक है ।

स्थावर जङ्गम लोक बीज का
वही परम उपकारक है ॥

(८) ओ३म् । इमम् षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् । अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥

देव हमारे प्राणों का शुभ-
रक्षक जो है उत्तम ज्ञान ।

धर्माधर्मविवेचक उसका
कर दे विद्वानों को दान ॥

(९) ओ३म् । तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः । स पावक श्रुधी हवम् ॥

तुझे प्रकट करता वाणी से
संयमशाली सज्जन है ।

अङ्ग अङ्ग में तू व्यापक है
ईश्वर ! भक्तों का धन है ॥

(१०) ओ३म् । परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् । दधद्रत्नानि दाशुषे ॥

बलका स्वामी सर्वज्ञानी
विद्यादिक रत्नों का दान ।
देता है नित निज भक्तों को
स्वीकृत कर उनका आह्वान ॥

शुद्ध चार वेद

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका का कार्य स्वाध्यायमण्डल में शुरू है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छापकर तयार हैं। अगले चार महिनों में सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओं का मूल्य इस प्रकार है—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
अथर्ववेद	२)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियत का मू० ६) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिये डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें । रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है, इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ६) रु० के अनुसार मूल्य भेजें । उनके ग्रन्थ To Pay रेलवेपार्सलसे भेजेंगे।

सामवेद छापनेतक ही चारों वेदसंहिताए ६) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें ।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल; औंध, (जि० सातारा)

तब भारत क्या करे ?

(लेखक- श्री० वसिष्ठजी)

इतिहासकार किसी वस्तुस्थिति को इसलिए स्वीकार नहीं करता कि वह उपयुक्त थी और न वह किसी घटना से इसलिए इनकार कर देता है कि उस का होना असम्भव था। वह सब की सम्भवता व सम्भावना को मानने के लिए उद्यत हो जाता है। वह तो यहा तक सम्भव समझता है कि ससारभर में बिछडा हुआ नन्हा सा तिब्बत देश निकट भविष्य में पृथिवी पर दिग्विजय करेगा और योरोप व अमरिकाके महाप्रदेशोंको अपना उपनिवेश बनावेगा। इतिहासकारने आखों से देखा है कि जर्मनी में उत्पन्न हुआ साम्यवाद जर्मनी से समूल नष्ट कर दिया गया और जहा की जनता इसे समझती भी न थी, उस रूस में वह फल फूल कर ससार मे व्याप्त होने के मनसूबे बाध रहा है। भारत में ही उत्पन्न होकर बौद्ध धर्म और बौद्ध राज्य समूल नष्ट हो गया और जिन सर्वहिंसक देशों में इस सर्व-प्राणी-प्रेम के महा उदार धर्म की स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी, वहां यह चारों ओर फैल गया है। इतिहासकार नहीं स्वीकार करता कि अमुक सिद्धांत उपयोगी है, जनता उसे सहर्ष ग्रहण करेगी, अत. वह सर्वत्र विजयी होगा। वह तो केवल यह मानता है कि आन्दोलन और सगठन-शक्ति जो निश्चय कर लेंगी अपने से निर्बल शक्तियों पर वही सफल होगा, चाहे वह अमृत हो या विष।

जब इतिहासकार इतनी कठिन बातों की सम्भावना को सहज सम्भव मानता है, तो उसे पूर्व में सहज सम्भव होनेवाली घटना की निकट सम्भावना को विचारने में देरी नही करनी चाहिये। पश्चिम और पूर्व में युद्ध के बादल गरज रहे हैं। इटली और जर्मनी का संगठित संघ एक ओर जिबराल्टर और नहर स्वेज को हस्तगत करके दूसरी ओर फ्रांस व इगलैंड के अफरीका-उपनिवेशों पर छापा मारकर अगरेजों का आवागमन रोक सकता है, तो इधर पूर्व में इस गुटका तीसरा मेम्बर दत्तात्रेय जापान चीन से भारत में प्रवेश करके इसे अपना उपयोगी उपनिवेश बना सकता है।

तब भारत क्या करे ?

रोम की तरह इगलैंड तो "मैं घरेलू झगडों में फसा हू" कहकर अपनी क्लीबता को छिपा जायगा, किन्तु सदियों से पिजड की मैना बनाया हुआ भारत क्या करेगा? उस समय यह विचार असमञ्जस में डाल देगा कि भारत हिंसा से शत्रु का सामना करे या अहिंसा से। यहां यह अभिप्रेत नहीं कि हिंसा श्रेयस् है या अहिंसा अथवा युद्ध में हिंसा ही माननीय है। विचारणीय विषय यह है 'भारत को सफलता किससे मिलेगी?"

प्राय संसार का यह विश्वास बना हुआ है कि हिंसाद्वारा ही युद्धमें प्रवृत्त होना पडता है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह मान्य हो या न हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनुभव में आता है कि हिंसायुद्ध में जुटे हुए दो पक्षों में जो पक्ष हिंसाकर्म में अधिक क्षम होता है, जिसके पास हिंसा करने के अधिक साधन व उपकरण होते है तथा जो युद्ध में अधिक हत्याए करता है, वही विजयी होता है। हिंसायुद्ध के इस प्रत्यक्ष व्यावहारिक परीक्षण में भारतवर्ष जापान से पराजित ही होगा, क्योंकि उसके पास न युद्ध के उपयुक्त उपकरण (मशीनगन, तोपें वायुयान बम, गैस के टैंक आदि) पर्याप्त हैं और न जापान जैसी सगठित शिक्षित सेना और न भारत को इगलैंड वा किसी योरोपीय युद्धप्रवीण राष्ट्र से किसी प्रकार की सहायता मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त जापान

आक्रमणकारी होगा और भारत आक्रमण को रोकनेवाला। हिंसायुद्ध में प्रवृत्त आक्रमण को रोकनेवाला जीतने पर पराजित और पराजय में मृत समझा जाता है। आक्रमणकारी जापान अपने वायुयानों से भारत के कलकत्ते का ध्वंस करेगा, किन्तु आक्रमणों के रोकनेवाले भारत ने जापान को पीछे हटा भी दिया, तो वह जापान के किस नगर का ध्वंस करके कलकत्ते के ध्वंस की क्षति पूर्ति कर सकेगा, क्योंकि हुगली के दूसरे किनारे पर टोकियो जैसा जापान का कोई नगर नहीं बसा हुआ है। यही कारण है कि आक्रमण को रोकनेवाला राष्ट्र विजयी होकर भी पराजित आक्रमणकारी से अधिक क्षति उठाता है। गत महायुद्ध में पराजित आक्रमणकारी जर्मनी तथा आक्रमणों को रोकनेवाले विजयी फ्रान्स व बेलजियम इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। हिंसायुद्ध में वही विजय पाता है, जो अधिक हत्याएँ करने में सफल होता है, किन्तु भारत हत्याओं में जापान से बाजी न ले सकेगा। अतः भारत की दशा हिंसायुद्ध में चीन और अबसीनिया से मिलती जुलती ही होगी।

दूसरा मार्ग है अहिंसा का। हिंसा का सदा ही यह प्रभाव रहा है कि हिंसा के लिए कटिबद्ध व्यक्ति का प्रतिद्वंद्वी यदि अधिक बलवान् व हिंसाकार्यमें अधिक क्षम होता है, तो उसका रोष, आवेश व हिंसावृत्ति एकदम अदृश्य हो जाती है और यदि वह अशक्त व अयोग्य है, तो उसमें भीरुता, कायरता घुसकर उसका कापुरुष की तरह वध कराती है। किन्तु यदि युद्ध में प्रवृत्त एक पक्ष सिर झुकाये सत्याग्रह करता हुआ मरने को उद्यत हो जाता है, तो क्रूरसे क्रूर प्रतिद्वन्द्वी की हिंसा भी कुछ हत्याओं के पश्चात् कुंठित हो जाती है। सजातीय प्राणी का वध करते करते शीघ्र ही उसे इस अप्रिय व्यापार को घृणा, लज्जा व शोक से त्यागना पडता है, जब कि प्रतिद्वन्द्वी की हिंसात्मक चेष्टा के संकेतमात्र से उसकी हिंसावृत्ति सहस्रमुखी हो जाती। इस प्रकार अहिंसायुद्ध में सिर झुकाकर वध होनेवालों की संख्या मुकाबला करके मरनेवालों की संख्या के दशांश भी न्यून होगी। हिंसात्मक युद्ध में भारतवासी हत्याओं से घबराकर, भागकर पराजय प्राप्त करेंगे, किन्तु अहिंसायुद्ध में आक्रमणकारी जापानी ग्लानि से हत्याओं को बन्द करके पराजय प्राप्त करेंगे।

किन्तु वे मशीनगन, बम और वायुयान ?

सुदूर स्थानों से वायुयान, मशीनगनों व टैंकोंद्वारा बम, गोले व गैस के फेंकनेवालों को नरहत्याओं का प्रत्यक्ष व्यापार देखकर ग्लानि करनी न पडेगी। अतः वे अहिंसा अनुष्ठान में बैठे सत्याग्रहियों का वध करनेसे क्यों हटने लगे ? वे तो जड वस्तुओं की तरह सोते, जागते-चलते फिरते स्त्रीपुरुषों और बालकों को नष्ट करते रहेंगे और इस मानव-संहार से उसके हृदय के कोमल स्थान को तनिक भी ठेस न लगेगी।

यदि बम और गोलों की वर्षा के परिणाम को व्यर्थ कर दिया जावे, तो शत्रु का आक्रमण व अग्रगमन व्यर्थ हो सकता है। भारतवर्ष गांवों और इने गिने शहरों में अपनी जनसंख्या को बसाये हुए है। शत्रु शहरों को हस्तगत करके ही विजयी हो सकता है। उसकी मशीनगनोंके गोले व वायुयानोंके बम नगरोंको नष्ट करके ही विजय प्राप्त करेंगे। यदि भारतवासी अपने नगरों व गांवों तक को त्याग कर बिखर जांय, एक स्थान पर पांच मनुष्य से अधिक न रहें, तो जापान की समस्त युद्धसामग्री का अन्तिम व्यय भी भारत के एक लाख से अधिक मनुष्यों के प्राण न ले सकेगा। भारत की जनसंख्या को देखते हुए प्रति वर्ग मील २०० मनुष्यों से कमही आते हैं। इस प्रकार प्रतिवर्ग फर्लांग ४ मनुष्य से कम होते हैं। यदि प्रतिवर्ग फर्लांग पर ४ मनुष्य बैठ या बस जांय, तो शत्रु की सेनाएं, वायुयान व मशीनगनें ८ करोड टुकडियों में एक एक फर्लांग की दूरीसे बैठे या बसे हुए चार चार मनुष्यों का संहार १६ करोड आक्रमणों से कम में न कर सकेंगे। इन १६ करोड आक्रमणों से आधे अनिवार्य असफल होंगे और १६ करोड बमों, गोलोंके व्यय कर सकने की शक्ति सारी

पृथिवी के राष्ट्रों की संयुक्त सेनाओं के पास भी नहीं है।

यदि किसी बड़े समूह पर बम वर्षा की जावे, तो अपने समूह के हताहत दुर्दशा को देख कर प्रजा घबरा जाती है। भय और आतंक से शत्रु के हाथों आत्मसमर्पण कर देती है, किन्तु एक एक फर्लांगपर बसी हुई टुकडियों को दो चार टुकडियों के हताहत का ही समाचार मिल सकेगा। हरेक टुकडी को यह आश्वासन रहेगा "अभी करोडों टुकडियां अपने स्थान पर सुरक्षित हैं," अतः उन्हें घबराकर आत्म-समर्पण की बात ही न सूझेगी। भारत की जनताके इस वितरण से शत्रु के किसी सैनिक को भारत की कोई खाद्य वस्तु किसी भावको न मिल सकेगी, क्योंकि देश के किसी स्थान पर ५० मन का भी संग्रह न होगा, अतः शत्रुओं को खाद्य वस्तुओंके विना शीघ्र ही पीछे लौटना पडेगा। वायुयान और मशीनगनें इस युद्ध में उपयोगी सिद्ध न होंगी, क्योंकि चारचार मनुष्यों की टुकडी को उक्त उपकरणों से नष्ट करना एकान्त असम्भव है। यदि पांच मिनट में एक बम गिराया जाय और एक वायुयान १२ घंटे बम-वर्षा करे, तो ५०० वायुयानोंको ३ वर्ष तक दैनिक १२ घंटे बम वर्षा करनी पडेगी। इतने बम व धन का मिलना असम्भव है। हजारो गोलियों के अपव्यय से एक दो आदमी ही मरेंगे और कभी कभी वह भी नहीं।

क्या यह सम्भव है? क्या भारतवासी ऐसा कर सकेंगे?

इसके लिए आवश्यकता है, भारतवासियों की स्थिति-नाडी का मनन करने की। भारत गांवों का देश है। यहां के ग्रामीण (९० प्रतिशत जनता) मोटा अन्न व मोटा वस्त्र भी ठीक ठीक नहीं पाते। दिन-रात कठिन श्रम करने पर भी उन्हें पूरा भोजन नहीं मिलता। उनका जीवन सचमुच तपस्या का है, उस तपस्या का है जिसका उचित पुरस्कार उन्हें नहीं मिलता। इतना कठिन श्रम करने पर भी भारत के ग्रामीण खान-पान, रहन-सहन में जंगली ही हैं। ग्रामीणों के लिए वह टुकडीवाला जंगली जीवन कोई कष्टकर अनुष्ठान नहीं होगा। भारत की शेष १० प्रति शत जनता जो सभ्य शिक्षित कहलाती है, भारत के भाग्य की बनानेवाली है। इसी शिक्षित जनता के एक भागने जयचन्द व मीरजाफर बनकर भारत को अधोगति के गड्ढे में ढकेला था। इसी ने मुंशी, जमीदार, वकील, बाबू, ठेकेदार आदि बनकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरशाही का शासनचक्र चलाया था और इसी के एक भागने सन १८५७ में दासता से छुटकारे का उपक्रम किया था। जनता के इसी भागने अर्ध शताब्दि से पूर्ण स्वराज्य की घोषणा कर रखी है। वास्तव में भारत को स्वतन्त्र व परतन्त्र बनानेवाला यह शिक्षित सभ्य भाग ही है। शेष ९० प्रतिशत तो पीछे चलनेवाले हैं।

ग्रामीणों की चिन्ता निर्वाह ही है, जिसके लिए वे दिनरात अथक परिश्रम कर रहे हैं, किन्तु उनके हृदय के कोने में एक छिपी हुई इच्छा धनसम्पन्न जीवन के लिए भी है, जो सभ्य शिक्षित नागरिकों के प्रभुतामय ऐश्वर्ययुक्त ठाठके जीवन को देखकर उत्पन्न हुई है। इस प्रकार के जीवनसुख की आंशिक प्राप्ति की आशा ही ग्रामिणों को सर्वस्व-त्याग-आंदोलन से दूर रखती है। यदि उन्हें विश्वास हो जावे, कि सभ्य शिक्षित नागरिकोंने सुकुमारता ऐश्वर्य आदि को त्याग कर एकदम संन्यासी विहंगम जीवन धारण कर लिया है, अब उस नागरिक घरेलू सम्पत्ति को बहिष्कृत करके नष्ट कर दिया गया है, जिसकी प्राप्ति की इच्छा रंक-रोदन में छिपी हुई थी, तब वे समस्त ग्रामीण अपने हृदयकी इच्छित वस्तुओं की प्रलय जानकर एकदम दरिद्र जीवन को छोडकर जंगली विहंगम-जीवन अपना लेंगे। यदि उनका नेतृत्व करनेवाला सभ्य शिक्षित समुदाय विचारों में महान् और रहन-सहन में जंगली बन उन में दूध-पानी की तरह मिल जावे।

किन्तु वे १० प्रति शत सभ्य?

क्या वे इस जंगली विहंगम-जीवन को स्वीकार करेंगे? जब जनता के इसी सभ्य शिक्षित भागने देश को गुलाम बनाया है, तो उस समय भी इसीका एक

बडा समुदाय शत्रु के उस नये शासनचक्र को चलाने के लिए मुंशी, बाबू, वकील, हाकिम, ठेकेदार, जमीदार व सिपाही बन कर आत्मसमर्पण कर देगा। वह भारत गारत होने की बात को हेय मान कर अपने व्यक्तिगत घृणित स्वार्थ को लक्ष्य में रख के प्रतिष्ठा व ऐश्वर्य के लोभ से उस अवसर का पूरा लाभ उठावेगा। सभी देशों के ऐश्वर्य व प्रतिष्ठालोलुप सभ्य सज्जनों ने ऐसा किया है। शिक्षित सभ्य समुदाय का यह अनुदार स्वार्थी भाग खतरे की वस्तु है। इसी शिक्षित दल का बचा हुआ तीसरा भाग सदासे तटस्थ रहा है। वह "कोऊ नृप होऊ हमें का हानि। चेरी छांडि न होवऊ रानि" का उपासक बन अपनी दुनिया चलाने के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। यह दल भी पीछे चलाये जानेवाला प्राणीसमूह ही है। जो दल क्रान्ति का मस्तिष्क रखता है, जिसे प्रगति, विकास, सामूहिक सम्मान प्यारा है, वह सदा नेतृत्व किया करता है और क्रान्ति के लिए कटकट कर मरने से भी नहीं डरता। शिक्षित समुदाय के इसी क्रान्तिकारी दल ने ५० वर्षों से पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर रखी है। शिक्षित समुदाय का यह क्रान्तिकारी दल सहिष्णु बनकर सब कष्ट और तपस्याओं का व्यसनी बन सकता है। यह ग्रामीणों को विहगम जंगली बना कर उन में दूधपानी के समान मिल कर मर मिटने तक को सदा तैयार हो सकता है। देश की बागडोर को सभालनेवाला यह कांग्रेसदल ही अहिंसायुद्ध में जापान से मोरचा ले सकता है। शेष नागरिक व ग्रामीण जनता तो इसके पीछे चलनेवाला समूहमात्र है।

तब यह क्या करें ?

क्रान्तिकारी दल अपनी शक्ति को अनेक दलों में बाट दे। कुछ दल ग्रामीणों का नेतृत्व करें, वे स्वयं ग्रामीणोंमें मिल कर विचारों में सभ्य रहते हुए रहनसहन में जंगली बन कर टुकडियों में बंट जावें। दूसरा दल नागरिकों (१० प्रतिशत शिक्षित सभ्यों) को नगरों से हटाकर खुले मैदानों में बांट दे। तीसरा दल नगर तथा गांवों की तमाम खाद्यसामग्री को बाट देवे +।

चौथा दल ऐश्वर्यलोलुप स्वार्थी लोगोंपर निगाह रखे। उन्हें ऐसी टुकडियों में विभक्त करे, जिससे वे शत्रु से मिलकर देशद्रोह न कर सकें। आवश्यकता पडने पर इस दल को देशद्रोही लोगों के साथ सत्याग्रह भी करना पडेगा। साहसी, सभाचतुर, तेजस्वी पुरुषों का पांचवा दल शत्रु के सैनिकों से सम्पर्क उत्पन्न करे। शत्रुओं को सद्व्यवहार व प्रेम से अपनी कुटियों पर लाकर उनका आतिथ्य करे। अपने व्यवहार, विचारविनिमय से शत्रु के प्रतिपक्षी को विश्वास दिला दे कि "भारतवासी" व "जापानी" के भेदभावको न मानकर केवल "सब मनुष्य भाई हैं" इसी भाव को काम में लावे। ऐसा करने से शत्रु के सैनिक अपनी युद्धपिपासा में ढीले पड जावेंगे, क्योंकि निम्न बातें उन्हें युद्ध से विन्मुख कर देंगी-

(क) सारे देश में मानव-शिकार का मोरचा न मिलना।

(ख) यत्र तत्र नरहत्याओं का घृणित वधिक व्यापार।

(ग) हत्याकारी सैनिकों के साथ भारतियों का संमान व प्रेमपूर्वक व्यवहार।

(घ) हत्याकारी सैनिकों को भारतियों की परिछिन्न कुटियों पर प्रेमपूर्वक आतिथ्य व सुखदायी आश्रय।

अहिंसायुद्ध के इस अजेय मोरचे को देखकर जापानके सेनानायकों की प्रार्थना होंगी "हमें स्वदेश लौट जाने में सहायता दीजिये" और सैनिकों की मांग होंगी "हमें भारत में ही बस जाने दीजिये।" भ्रान्त कल्पना में यह अहिंसायुद्ध कष्ट कर प्रतीत हो सकता है, किन्तु गोलियों के युद्ध में हाथ पैर कटा कर तडप तडप कर मरने की अपेक्षा जंगलीपन की अवस्था में बदलनेवाला यह युद्ध सचमुच स्वर्गीय सुख ही होगा।

+ ये परिछिन्न टुकडियां बिखरी पद्धति से निर्वाहमात्र अल्पोचित अन्न भी उत्पन्न करती रहें।

पूंजीपतियों का भी सचमुच इसी अहिंसायुद्ध से कल्याण हो सकता है। हिंसायुद्ध में उनके कल कारखाने वायुयानों के बमों का आहार बनेंगे। बम्बई, कलकत्ता प्रभृति नगरों की जितनी अट्टालिकाएं नष्ट की जावेंगी, अहिंसायुद्ध में शायद उसकी शतांश भी नष्ट न होंगी। पराजय होनेपर पूंजीपतियों का व्यापार जापानियों के हाथ में चला जावेगा। पूंजीपति न तो जापान से गुप्तसंधि करके देशद्रोही बनकर ही अपना व्यापार व पूंजी बचा सकेंगे और न हिंसायुद्ध करके ही किन्तु अहिंसायुद्ध में उनके कल कारखाने ज्यों के त्यों सुरक्षित रहेंगे। अहिंसायुद्ध के बाद इस "जंगलनिवास" से लौटकर वे पुनः अपने पुतली घरों को चालू कर सकेंगे।

औचित्य को छोडकर यदि केवल परिस्थिति, हिंसा-युद्ध-शक्ति व साधनों को लक्ष्य में रखकर विचार किया जाय, तो भारतवर्ष के लिए अहिंसामय मार्ग यही है कि वह अपनी जनसंख्या को अपने क्षेत्र में व्यापक वितरित करके आधुनिक युग के चमत्कारपूर्ण हिंसामय वैज्ञानिक युद्ध का सामना करे और विजयी हो।

महामुद्रा और उसका लाभ।

(लेखक- सञ्चालक- श्रीरामतीर्थ योगाश्रम, बम्बई ४.)

प्रथम योगाभ्यास करनेवाले साधकोंको नव प्रकार के विघ्नोंका समझना अति आवश्यक है। जैसे परदेश-गमन करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवाला पथिक उस देशसे सम्बंध रखनेयोग्य मुख्य शहर, रास्ता, वास करनेयोग्य मकान इत्यादि समझनेकी कोशिस करता है, उसी तरह प्रत्याहारमें रहते हुए मुद्राएँ, षट्चक्रभेदन आदिका अभ्यास कर लेना चाहिये। अचानक दुःख देकर योगाभ्याससे हटा देनेवाले नव प्रकारके विघ्नोंका यथा-योग्य स्पष्टीकरण निम्नलिखित है—

व्याधिस्त्यानसंशय प्रमादा-
ऽऽलस्याऽविरतिभ्रांतिप्रदर्शना-
लब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि
चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥
(योगद० समाधिपद सू० ३०)

अर्थात्—

(१) वात, पित्त, कफके विकारसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है। जैसे समशीतोष्णके अभाव से सप्त धातुमें उत्पन्न होनेवाला रोग, चक्षुओंके रोग एवं स्थूल शरीरसे सम्बंध रखनेवाले सर्व प्रकारके रोगोंका नाम 'व्याधि' है।

(२) 'स्त्यान' यानि चित्तके कर्मका अभाव (इच्छा तथा शक्ति होनेपर भी कर्तव्य न करना) और चित्त में स्थिरताके अभाव का नाम स्त्यान है।

(३) मुझसे योगाभ्यास होगा या नहीं? कहांतक और किस रीतिसे योगाभ्यास संपूर्ण होगा? इस प्रकारके अनेक विचारों का नाम 'संशय' है।

(४) अंतरंग साधनोंमें मन का न लगना। अतएव आज अधिक काम है, कल करेंगे, क्योंकि आज आफिस, दुकान, खेत अथवा नौकरी पर जाने के लिये देरी होती है, शामको करेंगे। इत्यादिका नाम 'आलस्य' है।

(५) ध्यान, धारणा और सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि में अत्यंत प्रेमसे मनका न लगना 'प्रमाद' कहाता है।

(६) विषय और इंद्रियोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली तृष्णा की अधिकतासे मन्द वैराग्य होकर हृदयमें रागका उत्पन्न होना 'अविरति' है।

(७) अन्य वस्तुओंमें अन्य प्रकार का ज्ञान, ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) की उपलब्धि करानेवाला श्रेष्ठ योग-साधन प्रत्यक्ष होनेपर भी उसे संशयात्मक दृष्टि होना 'भ्रांति' कहाती है।

(८) किसी भी प्रतिबंधसे चित्तकी वृत्तियां स्थिर हो जाना। आगे उपलब्ध होनेवाली मधुमति आदि योग-भूमिकाका न मिलना 'अलब्ध भूमिका' है।

(९) योगभूमिका अथवा योग का लाभ यत्किंचित् प्राप्त होनेपर भी चित्तवृत्तियोंका उसमें स्थिर नहीं रहना 'अनवस्थितत्व' कहाती है। अर्थात् प्रत्याहारके अभ्यास कालमें प्राप्त होनेवाले यत्किंचित् लाभ को ही महान् समझ कर पूर्ण रूपसे प्रयत्न नहीं करना। यह नव प्रकारके विघ्न ब्रह्मजिज्ञासु साधकोंके महान् रिपु समान हैं, अत-एव इनसे सावधान रहना चाहिये। जितने महान् कार्य करनेवाले पुरुष होते हैं, वे अपनी दृष्टिबिंदुको नियत स्थलमें रखकर ही आगेको बढते हैं। उनको कितनी भी आपत्ति क्यों न आ जाय वे घवडाते नहीं।

अष्टांगयोगके सतत अभ्याससे शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होकर क्रमसे पंच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) नष्ट होते हैं। पंच क्लेशोंके नाश हो जानेसे वासनाक्षय, मनोनाश और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है।

योगाभ्यासी पुरुष योगाभ्यास के पूर्व नीचे लिखा हुए श्लोकको कहने से अंतःकरण–पवित्र हो जायगा।

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे। योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥

(अथर्व० कां० १९ सू० ८ मं० २)

अर्थात् हे षडैश्वर्यसंपन्न मंगलमय परमेश्वर ! आपकी कृपासे मुझको उपासनायोग प्राप्त हो और उससे मुझको सुख भी प्राप्त हो । इसी प्रकार आपकी सदाकी कृपासे पंच कर्मेंद्रियाँ, पंच ज्ञानेंद्रियाँ एवं दश इंद्रिय, प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त, धनंजय एवं पांच प्राण तथा पांच उपप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल- ये कुल अट्ठाइस सर्व प्रकार के कल्याणोंमें प्रयुक्त-प्रवृत्त होकर उपासनायोगको हमेशा प्रेमपूर्वक सेवन करें । तथा हम भी उस योगके द्वारा रक्षाको और रक्षासे योगको प्राप्त हुआ चाहते हैं । इस लिये हम लोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं ।

श्रेष्ठ प्रकारका प्राणायाम अथवा मुद्रा ।
महामुद्रा करनेकी पद्धति ।

प्रथम बायें पैरकी एडी सीवन (गुदा तथा अण्डकोष के मध्यमें जो स्थान है, उस स्थान) में लगाकर दाहिना पैर लम्बा कर दे और दोनों हाथोंके पंजा, एकके उपर दूसरा, घुटने के ऊपर (दाहिना पैरके घुटने के ऊपर) रखके दोनों नथनोंसे पांच बार श्वास फेफडेमें भर और छोडें, अर्थात् पांच घर्षण करें । फिर बायीं नासिकासे पूरक (फेफडे में श्वासको भरना) करे। कुम्भक के समय लगाये हुए पैरके अंगुठे को दोनों हाथोंसे पकडे रहे और शिरको घटने पर लगा दे । कुम्भकके समय में मनमें यह तीव्र भावना करे कि 'मेरा शरीरमें अत्यंत बल बढ रहा है, मै निरोगी हूँ, स्वाधिष्ठा रहती हुई कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर मणिपुर आदि चक्रोंमें प्रवेश कर रही है ।'' यथाशक्ति कुम्भक काके सूर्यनाडीसे (दाहिनी नासिका) शनैः शनैः रेचक करे ! कुम्भकसे आधा समय पूरक में लगना चाहिये । इस प्रकार वामाङ्गमें जितनी मुद्राएँ करने की इच्छा हो इकट्ठी कर ले । फिर दक्षिणाङ्गमें भी उपरोक्त क्रमसे उतनी ही संख्यासे मुद्राएँ करें, जितनी वामाङ्गमें की थीं । यह ध्यान रहे कि जो पैर लम्बा हो, उस बाजु की नासिकासे रेचक करे और जो पैर मोड रखा है, उस बाजुका नासा-रंध्र से पूरक करे । उसी तरह पैर की एडी भी बदलती जाय ।

आठ दिन तक तीन मुद्राएँ करें । आठसे एक महिने तक छः मुद्राएँ करें, एक महिने के नंतर शक्ति के अनुसार ६ से १० तक बढावे ।

समय प्रातः ४ बजेसे ९ बजे तक उत्तम है । आहार सात्त्विक ग्रहण करे ।

महामुद्रासे निम्नलिखित लाभ हैं ।

गुल्म रोग, भंगदर, पार्श्वशूल, कमर की वेदना, नाडियोंकी शिथिलता, प्रमेह, क्षयरोग और कोढका नाश होता है । मलबद्धता, छातिकी वेदना नाश होती है । फेफडा बलवान् और विशाल बनता है । रक्त शुद्ध, वीर्य घट, तथा मूत्रदोष नाश होता है । निद्रा अच्छी आती है ।

मुद्राएँ करनेके नंतर आधा घंटेमें भोजन कर सकते हैं । भोजनके ४ घंटेके पश्चात् मुद्राएँ हो सकती है ।

१० बरस उमरसे १०० बरस उमर तकका पुरुष कर सकते हैं । स्त्रीएँ भी कर सकती हैं, परंतु मासिक धर्मके पांच दिनों में तथा गर्भवती स्त्रीएँ इस मुद्राको न करें ।

आर्यों का दक्षिण दिग्विजय !

निजाम हैदराबाद में अपने धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए जो आर्यसमाजी तथा हिंदू अपनी सत्य-निष्ठा और अहिंसाद्वारा सत्याग्रह से अपने विजय का प्रयत्न कर रहे हैं, वह आर्यों का धार्मिक क्षेत्र में दक्षिण दिग्विजय ही है। दक्षिण भारत में अन्धविश्वास, छूत-छात, सुदृढ जाति नियम आदि की अधिकता के कारण आर्यसमाज के उदार मत का प्रवेश होना वहां अत्यन्त कठिन था। कितने भी प्रचारकों का उपदेश होता, तो भी एक इंच भी आगे पांव बढाना आर्यों के लिए ३० वर्ष पूर्व असंभवसा था।

वैसा तो निजाम हैदराबाद में आर्यसमाज ४० वर्षों से कार्य कर रहा है। कई वार विविध शास्त्रार्थ भी हुए, पर आर्यों के विषय में बडा आदर वहां सुस्थिर नहीं हुआ था। इतने समय में इस वर्ष ऐसा सुयोग परमेश्वर की कृपा से आया कि जिससे जिस भूमि में आर्यों के लिए सन्मान का स्थान नहीं था, वहीं आर्योंका दिग्विजय होकर उनका संमान होने का सुअवसर आ गया !

इस सत्याग्रह के आंदोलन में आर्यसमाजी, हिंदुमहा-सभावाले, वर्णाश्रमस्वराज्यसंघवाले और हिंदुत्वनिष्ठ लोग अपना अपना कार्य कर रहे हैं। गत पांच छः महिनों के आंदोलन से यह बात स्पष्ट हुई कि आर्यसमाजी संगठनने जैसा जोर लगाया है, वैसा अन्य पक्षवाले अपना जोर नहीं लगा सके। इस समय तक आर्यसमाज ने संपूर्ण भारत-वर्षीय आर्यजगत् से करीब ८००० आठ सहस्र आर्य वीर निजाम हैदराबाद के सरकार के अतिथि बना दिए हैं !!! शेष सब दल मिलकर दोतीन हजार हि सत्याग्रह में भाग ले सके हैं। इस संग्राम में आर्यसमाजियों ने अपना संगठन विशेषहि प्रभावशाली है, ऐसा सिद्ध किया है। इसीलिए सब दाक्षिणी पत्रों में और सभाओं में मुक्त कण्ठ से आर्यसमाज की दिनरात प्रशंसा हो रही है, जैसी पहिले कभी नहीं होती थी।

अगले महीने में आर्यसमाज की ओरसे और ५।६ हजार सत्याग्रही हैदराबाद में धर्म का ध्वज लेकर जाने के लिए स्थान स्थान से आ रहे हैं, अर्थात् अगले महिने में आर्यसमाज के वीर करीब करीब १२।१३ हजार हो जांयगे और शेष दलों के कुछ थोडे से ही बढेंगे।

आर्यसमाज का त्याग, संगठन, धर्म के कार्य के लिए कुर्बानी करने की आतुरता और दृढ निश्चय इन सबका सुपरिणाम दक्षिण भारतपर इस धर्मयुद्ध के कारण हुआ है और इसीलिए हम समझते हैं कि यह आर्यों का दक्षिण-दिग्विजय ही है।

इस धर्मयुद्ध में संमिलित सभी पक्ष निजामसरकार के राजकीय अधिकारों को छीनना नहीं चाहते हैं, ना ही यह युद्ध मुसलमान जाति के विरुद्ध है। यह युद्ध तो प्रजाको पूर्ण स्वराज्य-जिम्मेवार शासन-प्राप्त करने के लिए हो रहा है। प्रजा के धर्मस्वातंत्र्य के अधिकार प्रजाके हाथ में सुरक्षित रखने के लिए ही यह धर्मयुद्ध हो रहा है। निजामराज्य में यहां तक नृशंसिता है कि आर्यों को हवनकुण्ड स्थापन करने का भी अधिकार नहीं और हिंदुओं को मन्दिर बनवाने का भी अधिकार नहीं है। इससे पता लग सकता है कि कहां तक मानवी अधिकारों का संकोच निजामराज्य में हुआ है ! इन मानवी अधिकारों की सुरक्षा के लिए हि यह सत्याग्रह युद्ध किया जा रहा है, जिसमें आर्यसमाज ही बलवान् सिद्ध हुआ है।

आर्यसमाज ने संपूर्ण भारतवर्ष के कोने कोनेसे आर्य-समाजियों के जत्थे लाने के कारण तो आर्यों की पुनः संघटना हुई है, वह भी आर्यों का बल बढावेगी और नया धैर्य उनमें निःसंदेह पैदा करेगी। इससे दूसरा यह लाभ हुआ है कि तमाम भारतवर्ष का लक्ष्य इस निजाम-राज्य के अत्याचारों की ओर आकर्षित हुआ है। इस

आन्दोलन में आर्यसमाजी न होते, तो हैदराबाद सत्याग्रह का इतना जोर न होता।

हिंदुओं का संगठन परिणामकारक न होने का एक कारण यह भी है कि निजामराज्य में मराठी-कानडी और तेलुगु लोगों की त्रिविध जनता है। इनकी भाषा विभिन्न होने के कारण एक का दूसरेसे मेल भी नहीं है। मराठी और कानडी भाषा भाषियों का विद्वेष मराठी साम्राज्य के समय से चला आता है और जिस कारण कानडी प्रान्तमें मराठी वक्ता मूह खोल भी नहीं सकता, यह आजकी बडी भारी विकट समस्या है। आज भी मराठी-कानडीवाद यहां तक बढ गया है कि दोनों भाषाओं के वक्ता एक स्थानपर आकर वक्तृत्व कर नहीं सकते !!!

तेलुगु लोगोंका मराठी-कानडीवालोंसे ऐसा द्वेष नहीं है, पर उनका अलग ही जमाव सदासे रहता आया है। इन तीनोंका आपस में मेल गत ३०० वर्षों में कभी नहीं हुआ। इस आपस की फूट में हि निजामराज्य का बल है और इसी कारण इस समय तक केवल हिंदुओं से निजामराज्य में संघटित कार्य नहीं हो सका। निजाम हैदराबाद में ऐसी एक भी संस्था नहीं है कि जिसमें इन तीनों भाषाओं के सदस्य हों और इन तीनोंका सहकार्य प्रेम के साथ चलता हो। निजामराज्य की प्रजा इन तीन भाषाओं में बट जाने के कारण प्रजाकी सङ्गठना नहीं हो सकती। निजामराज्य के अत्याचार का मुख्य कारण यह है।

ऐसी स्थिति में हैदराबाद में आर्यसमाज बढने लगा। इस समाज की मुख्य भाषा आर्यभाषा (हिंदी) है, इसलिये यह समाज उक्त तीनोंको संघटित करने की शक्ति रख सकता है। इसका कार्य मराठी-कानडी और तेलुगु भाषाओं में चलने के साथ मुख्य रूपसे आर्य भाषा में हि चलता है, जो एकता को संवर्धित करनेवाला सिद्ध हुआ है। इस तरह हैदराबाद में जो बात गत ३०० वर्षों में न हो सकी थी, वह गत ३० वर्षों में आर्य-समाजद्वारा होने लगी।

हिंदुओं से आर्यसमाज में विशेषता इस बातकी है कि इस समाज में जाती मानते नहीं, इस कारण जो इस समाज का सभासद होता है, वह समान अधिकार प्राप्त होने का अनुभव करता है। हिंदुसभा का ब्राह्मण और धेड सभासद हुआ तो धेड को कभी ब्राह्मण के बराबरी के अधिकार मिलना संभव ही नहीं है। वर्णाश्रमस्वराज्य-संघ के तो धेड सभासद भी नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में वहां संगठना का बल कहां प्राप्त हो सकता है?

निजामराज्य के सामान्य लोग तो एक प्रकार से मुसलमानी राज्यप्रबंध से दबे हुए हि थे और दूसरी प्रकार से उच्चनीच वर्णत्व की हिंदुव्यवस्था के कारण दलित हुए थे। इन नीच वर्णियों को आर्य-समाज ने आकर बडी आजादी दी, बडी स्वतंत्रता प्रदान की, उनकी दलितता नष्ट करके उन को उच्च वायुमण्डल में आकर सुख से विचरने के लिये अवसर दिया !! इस कारण सब दलित जातियोंका उद्धार करने का श्रेय आर्य-समाज को है, इसमें संदेह नहीं है।

निजाम हैदराबाद में गत ३०।४० वर्षों में कई स्थानों पर आर्यसमाज स्थापित हुए और निजामी राज्यके कुप्रबंध के होने पर भी और वहां आजादी न होने पर भी जनता का मन आर्यसमाज की ओर उक्त कारण आकर्षित हुआ। विशेषतः हीन जाति की हिंदुजनता आर्यसमाज को अपना उद्धारक मानने लगी और प्रेमसे उसके सदस्य बनने में आत्मगौरव मानने लगी।

धेडचभार भी जो हिंदु होता हुआ, अपने आपको हीन, दीन और दलित मानता था, वही आर्यसमाज में प्रविष्ट होते ही और सत्यार्थप्रकाश थोडासा पढतेही, जन्मजात ब्राह्मण की बराबरी करने लगता है। इसका प्रभाव अंग्रेजी हिंदुस्थान के लोग उतना नहीं जान सकते, जितना कि निजामराज्य के दोनों ओरसे दबे हीन जाति के लोग जान सकते हैं।

इस तरह की संगठना से आर्यसमाजने जो दलित जातिको उठाने में हैदराबाद में गत ३० वर्षों में कार्य किया, वह एक अपूर्व कार्य था और इससे इसका प्रभाव वहां दिनोंदिन अधिकाधिक ही बढने लगा।

आर्यसमाज का प्रभाव निजामराज्य में यहांतक बढ गया कि निजामराज्य को भी इसका विचार करना

पडा। इसीका परिणाम आर्यों को दबाने में हुआ। गत वर्ष वहां मुसलमानोंने आर्यों को पीटकर दबाने का भी बडा भारी यत्न किया, परन्तु उसमें भी आर्यों का विजय ही हुआ और उससे आर्यों का उत्साह अधिक ही बढ गया। और यह सिद्ध हुआ कि आर्यसमाजी सहज ही से दबनेवाले नहीं हैं। इस कारण दमन बढता गया और चारों ओर से आर्यसमाज की प्रगति को रोकने के लिए निजामराज्य कटिबद्ध हुआ।

निजाम हैदराबाद में दो प्रकार के मुसलमान हैं, एक का नाम है मुल्की मुसलमान और दूसरों को कहते हैं गैरमुल्की! मुल्की हैदराबाद के स्थानिक मुसलमान हैं और गैरमुल्की अलीगड आदि स्थानों के कट्टर मुसलमान हैं। मुल्की मुसलमान हिंदुओं के साथ समान भूमिकापर रहने को सदा तैयार रहते हैं, पर ये अलीगड के गैर मुल्की मुसलमान हिंदुओं के साथ कभी मेलजोल करने को तैयार नहीं होते। वे अपने आपको राजसत्ता के अंश मानते और औरों को दबाते हैं। इन दबनेवालों में हिंदुओं के साथ मुल्की मुसलमीन भी हैं।

इन गैरमुल्की आलिगडीय मुसलमानों से मुल्की मुसलमान उक्त कारण संतुष्ट नहीं हैं, क्योंकि बडे अधिकारोंपर वे ही होते हैं और मुल्की चारों ओर से दबाए जाते हैं। इसलिए यदि कांग्रेस का सत्याग्रह स्वराज्यस्थापना के लिए चल रहा होता, तो उसमें मुल्की मुसलमान भी शरीक हो जाते। पर कांग्रेस ने सत्याग्रह बंद किया और इससे यह यश परमेश्वर ने आर्यसमाज को अर्पण किया।

मुल्की मुसलमान आर्यसमाज और हिंदुसभा के सत्याग्रह में इसलिए संमिलित नहीं होते कि यह सत्याग्रह धर्म के अधिकारों की सुरक्षा के लिए चल रहा है। अतः यह झगडा हैदराबाद के आलिगडीय मुसलमानों के साथ आर्यों और हिंदुओं का है। और आर्यों का बल दक्षिण में बढने का कारण भी दलित जातियों को आर्यसमाज से प्राप्त होनेवाली विशेष आजादीहि है। आर्यसमाज में आनेवाला खुले वायुमण्डल में आनेका आनन्द प्राप्त करता है, यह आजादी निजाम हैदराबाद की तथा दाक्षिणात्य जनता को किसी अन्य संगठन से प्राप्त नहीं है।

हिंदुओंका बल कम होनेके कारण कुछ अन्य भी हैं। जैसा इन में श्री शंकराचार्य (बद्रिनाथ) जैसे धर्मपीठके अधीश तथा सर राजा किशनप्रसाद जैसे राजा भी निजाम सरकार की खुशामद तथा हिंदुओंको हताश करने के लिये तैयार हैं !!!

बद्रिनाथके शंकराचार्य तो वास्तव में सच्चे शंकराचार्य ही नहीं हैं, क्योंकि वहां कोई शंकराचार्य का पीठ ही नहीं है। पर पहिले हजारों साधु सत्याग्रह के लिये लानेका डंका बजा कर ये शंकराचार्य नामधारी महाशय निजाम सरकार के ही अतिथि बनकर हिंदुओं को सत्याग्रह से पीछे हटा रहे हैं। सर राजा किशन प्रसादजी का असत्य वक्तव्य तो सुप्रसिद्ध ही है। ऐसे लोग जिस समाज में होंगे, उनका बल किस तरह बढेगा? तथापि बै० सावरकर जी हिंदुसभा का संगठन बढाकर भरसक यत्न कर रहे हैं कि हिंदुओं का बल बढे। हम भी ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि हिंदू संगठित हों। यदि ३० करोड हिंदु संगठित हो जायंगे, तो भारत के भविष्य के सब प्रश्न शीघ्रही हल हो सकते हैं।

जब हिंदु संघटित हो जायंगे, तब उन के सत्याग्रही वीर संख्या में अधिक आकर हैदराबाद के जेलों में भरेंगे। वह कब होगा पता नहीं। आज आर्यसमाज ही दक्षिण का दिग्विजय करेगा। अखिल भारतीय आर्य इस कार्य के लिये संघटित हुए हैं और उन सबने एक मतसे अपने ओंकार की ध्वजा के संमान के लिये अपने आपको कुर्बान करने का सुदृढ निश्चय किया है। इस कारण इस धर्मयुद्ध में आर्यसमाज काही विजय होगा, इस विषय में हमें कोई संदेह नहीं है।

सत्य अहिंसासे

भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा।

[लेखांक ३ +]

(लेखक— श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर, यू० पी०)

मनुष्यों से ही समाज तथा देश बनते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य भोग की उपेक्षा करके अपना अपना कर्तव्य पालने लगे, तो वह देश या समाज एक क्षण में स्वतन्त्र हो जाय। जो कोई परतन्त्र देश इस मार्ग को अपना लेगा उसका स्वतन्त्र बनना असम्भव नहीं रहेगा। इस मार्ग को अपनाते ही उस देशवासियों में एक ऐसी विचित्र चेतना उत्पन्न होगी कि फिर कोई भी भौतिक शक्ति उस देशको अपने अधिकार में नहीं रख सकेगी।

सत्य-अहिंसासे स्वराज्य-प्राप्ति का मार्ग।

आज स्वराज्य प्राप्त करना हम भारतवासियों का स्वधर्म हो गया है, इसलिए हमें देखना चाहिए कि हमारे इस स्वधर्म के मार्ग में क्या रुकावट है? हमें उस रुकावट को पहचानकर हटाना चाहिए। इस रुकावट को प्रत्येक संभव उपाय से हटाना भारत की अहिंसा है। अहिंसा में उपाय का कोई बन्धन नहीं है। रुकावट अवश्य हटानी चाहिए, इतना ही अहिंसा का रूप है। रुकावट हटाने का दृढ निश्चय कर लेनाही अहिंसा है। इस निश्चय के पश्चात उपाय की ढूंढ पडती है। उपाय कौनसा उचित है, यह बाह्य परिस्थितिपर निर्भर रहती है। उपाय में हिंसा-अहिंसा नहीं है। निश्चय में हिंसा और अनिश्चय में अहिंसा है। रुकावट हटाने का दृढनिश्चय करनेवाले लोग जब जिस उपाय से अपने अधिकार की रुकावटको हटाना उचित समझते हैं, वही अहिंसा होती है। जब शत्रुका प्राणवध करके अधिकार की रुकावटको हटाना पडता है, तब वही अहिंसा होती है और जब शत्रुपर वार करना कार्य-नाशक होनेसे केवल पागलपन हो जाता है, उस समय शस्त्रप्रयोगका विचार छोडकर दूसरे बौद्धिक उपायों से शत्रु का नाश करना कर्तव्य हो जाता है। उस समय शस्त्रप्रयोग न करनाही अहिंसा तथा शस्त्रप्रयोग करना हिंसा अर्थात् स्वकार्य-विनाश बन जाता है।

भारत के स्वराज्य प्राप्त करने के कर्तव्य में अंग्रेजी सरकार बाधक हो रही है। इसे हटाना आज भारत का कर्तव्य हो गया है। अब भारत के सामने उपाय की यह समस्या है कि अंग्रेजी सरकाररूपी रुकावट को किस उपाय से हटाया जाय? भिन्नभिन्न प्रवृत्तियोंवाले मनुष्य इसके भिन्नभिन्न उपाय बताते हैं, परन्तु भारत ने इस रुकावट को हटाने के लिए सत्य तथा अहिंसा को अपना हथियार घोषित किया है। इस घोषणा का सार यही है कि भारत ने मनोबल से स्वराज्य लेने का निश्चय ठाना है।

जो जिसका अधिकार है, वही उसके लिए सत्य है। भारतपर भारतवासियों का ही अधिकार है। इस अधिकार में बाधा डालनेवाली अंग्रेजी सरकाररूपी रुकावट को हटाना ही भारत का सत्य है। इस अधिकार की रक्षा में भारत का संपूर्ण मानसिक बल लग जाना चाहिए। यही भारत

+ द्वितीय लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २३३, पृ० ३२९ पर देखो।

की सत्य अवस्था है। भारत ने इसी ईश्वरीय सत्य अवस्था के बलपर स्वराज्य लेने का निश्चय किया है।

अहिंसानामक दूसरे उपायपर कई प्रकार के विचार प्रचलित हैं। कोई हथियारों के स्पर्श को पाप समझते हैं और अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर मानते हैं। परन्तु हमारा विश्वास है कि भारत ने हथियार छूना पाप समझकर अहिंसा-धर्म स्वीकार नहीं किया। भारत ने हथियारों का स्पर्श पाप नहीं माना। भारत जब जहां आवश्यक होगा तब हथियार पकडने का संकल्प रखता है। अहिंसा तथा हथियारों का जन्मवैर नहीं है। अहिंसा हथियारों से नहीं डरती। हथियार चलाने वाले भी अहिंसक हो सकते हैं। अहिंसाकी रक्षा के लिए भी हथियार चलाए जा सकते हैं। अहिंसक रहता हुआ भी मनुष्य शस्त्रयुद्ध अथवा शत्रुवध कर सकता है। शत्रुवध करनेवाले सबके सब हिंसक नहीं होते। कर्तव्य की दृष्टि से शत्रुवध करनेवालों को अहिंसक श्रेणी से हटाया नहीं जा सकता।

हिंसा का विरोध करने के लिए ईश्वरने जितने हथियार दिये हों उन सबका उपयोग करना अहिंसा है। उन सबको काम मे न लाना अपनी हिंसा है। किसी को कभी न मारना अहिंसा की परिभाषा नहीं है। कभी किसी को मारना भी कर्तव्य हो जाता है। उस समय मारने को तो अहिंसा कहा जाता है और न मारने को अपनी हिंसा अर्थात् अपना पातित्य या दबजाना कहा जाता है।

अंग्रेजी सरकार बडी चौकस है। वह डेढ सौ साल से भारत को शस्त्रहीन बना रही है। भारत इतना शस्त्रहीन हो चुका है कि शस्त्रयुद्ध करना मूढता करना हो गया है। भारत का वर्तमान में शस्त्रयुद्ध का मार्ग रोककर ईश्वरने भारत की कोई हानि नहीं की है। उसने भारत की मानसिक चेतनाको संसारके सामने आनेका अवसर दिया है। ईश्वर मनोबल से स्वराज्य लेने की प्रदर्शनी भारतमें करना चाहता है। इसलिए अब भारतको अपना ज्ञानखड्ग पकडकर शत्रुपर चलाना चाहिये। अब भारत को अंग्रेजी सरकारपर शस्त्र न चला कर इसे बौद्धक समयोचित उपायों से नष्ट करने के लिए प्रयत्न में लग जाना चाहिए। आज यही भारत के अहिंसा-धर्मका बाह्य-रूप बन गया है।

यद्यपि संसार मे सदासे शत्रुओंपर हथियारों से वार करके वीरता दिखाने का मार्ग स्वीकार कर रखा है, परन्तु इस उपाय से अंग्रेजी सरकार का भारत से हटाना अशक्य बन चुका है। शत्रु जिस हथियार से नष्ट हो सकता हो, उसपर वही हथियार चलाना चाहिए। भारत के चौकस शत्रुने देश के हथियार चलाने का अवसर खो दिया है। उसने देश को प्लेटफार्मों सभासमितियों तथा सदस्यसंख्या से रजिस्टरों को भरनेवाली बेकार पंगु लडाई लडना सिखा दिया है। भारत को चाहिए कि वह अंग्रेजी सरकार के दिए हुए लडाई के इस प्लेटफार्मवाले मैदान से हट जाय और अपने ढग का नया मोरचा लगाये। अर्थात् भारत को चाहिए कि वह संगठन सभासमिति आदि से स्वराज्य लेने के धोकेसे बचकर अपने ढंग का हथियार चलाये।

इंगलैंडने भारत को इस योग्य कर रखा है कि जिस दिन भारत सशस्त्र क्रांति करना चाहे, उसी दिन इसे शस्त्रों से भूनकर कुत्ते की मौत मार डाला जाय। भारत से शस्त्रयुद्ध करना इंग्लैंड के लिए बहुत सरल बना लिया गया है। अर्थात् भारत के शरीरबल दिखाने का मार्ग पूरी तरह रोक दिया गया है। ऐसी परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति से भारतीय स्वराज्य का सुपना मस्तिष्क का खोखलापन है। परन्तु शरीरबल या शस्त्रबल के अवसर नष्ट हो जाने मात्र से अंग्रेजों को भारत से हटाने के संपूर्ण मार्ग बन्द हो गए हों, ऐसा मानना बडा भारी भ्रम होगा। मानसिक बल

शरीरबल से करोड़ों गुना अधिक कीमती होता है। शरीर-बल को मनोबल के सामने बुरी तरह अपमानित और कुण्ठित (निकम्मा) किया जा सकता है । किसी भी सरकार का जागे हुए ३५ करोड़ मनोबल के विरुद्ध डटे रहना असम्भव है। भारत के मनोबल का इंग्लैंड के पास कोई इलाज नहीं है। भारत तो सोने की (अज्ञान की) अवस्था में बांधा गया है । जागे भारतके ऊपर बांधने के लिए पाश फैंकना काले नाग से खेल करना हो जायगा।

भारत के पास इस सचाई को देखने की आंख होनी चाहिए कि भारत का शत्रु भारत में किस आधार पर ठहरा हुआ है ? आइये भारत के शत्रु के आधार को ढूंढें । भारत के सात लाख गांवों में एक मानसिक निर्बलता फैली हुई है । भारतीय ग्रामों में इस निर्बलता का अखण्ड राज तप रहा है। सारा देश राज्यप्रबन्ध से सर्वथा संबन्धहीन होकर बैठ गया है । वह अपनी पराधीनता को ईश्वरकी देन मान बैठा है । भारतका यह मानसिक रोगही अंग्रेजी सरकार को दूध पिला रहा है। भारत की निर्बलता अंग्रेजी सरकार के खूब काम आ रही है । यही भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की रुकावट बनी हुई है । इस निर्बलता को ही भारत का सच्चा शत्रु पहचानना चाहिए । अंग्रेजों को तो क्षमा की कोटि में रखकर देश को यह देखना चाहिए कि जिस दिन देश की मानसिक निर्बलता हटेगी, उसी दिन अंग्रेजों का बिस्तर लिपट जायगा । यदि भारत में वह मानसिक निर्बलता न आगयी होती तो अंग्रेजी सरकार को भारत में पैर जमाने को अवसर न मिलता। भारतका पहला शत्रु भारतकी मानसिक निर्बलता है। भारतवासियों का अनात्मदर्शी भोगनारायण नास्तिक हो जाना इस निर्बलता का कारण हुआ है । भारत का दूसरा शत्रु अंग्रेजी सरकार है । यह सरकार भारत की निर्बलता से लाभ उठाने के लिए भारत की निर्बलताके ऊपर जमकर बैठ गयी है । देश के इस दूसरे शत्रु को नष्ट करने के लिए भारत को पृथक् मोरचा बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । भारत से अंग्रेजी सरकार को हटाने का सर्वोत्तम उपाय भारत के गांवों की मानसिक आध्यात्मिक सेवा करना है, जिससे भारत व्यक्तिगत जीवन से बाहर आकर राजसत्तापर अधिकार जमा ले। जबतक भारतके गांवोंकी सच्ची आध्यात्मिक सेवा नहीं की जायगी, जबतक भारत के गांवों में फैली हुई मानसिक निर्बलता को हटाकर भारत को आत्मज्ञानी शूर नहीं बनाया जायगा, तबतक लाखों सभासमितियों प्रस्तावों, संगठनों तथा करोड़ों सदस्यों से भी भारत के शत्रु का सिंहासन नहीं डोलेगा । जिस दिन देश में आत्मबोध जाग उठेगा, जिस दिन देश मानसिक निर्बलता त्याग देगा उस दिन भारत देखेगा कि भारत का दूसरा शत्रु अपने साथी के भागते ही भाग गया है। परन्तु शर्त यही है कि भारत के गांवों की सेवा सच्चे सेवकों के हाथों से हो।

यदि सच्चे सेवकों के हाथों से गांवों की सेवा की जायगी, तो देश में मनुष्यता के नामपर काम करनेवाली शक्तियां जाग उठेंगी, फूलेंगी और फलेंगी । यदि किन्हीं देशसेवकों के मनों में सच्ची सेवा की कोई लगन हो, तो उनके सामने सबसे बड़ा यह काम है कि वे देश में मनुष्यता के नाम पर काम करनेवाली शक्तियों को जगाएं। आजकल भारत के गांवों की मानसिक अवस्था अत्यंत निकृष्ट हो गयी है । भारत के गांवों में स्वाभिमान या मनुष्यतानाम की कोई चीज काम नहीं कर रही है। गांवों में सर्वत्र स्वार्थ का बोलबाला है। कहीं सामाजिक जीवनका चिन्हतक नहीं है । गांवों में सर्वत्र केवल स्वार्थ के नामपर काम हो रहे हैं। परमार्थ के नामपर काम करनेवाली संस्थायें गांवों से लुप्त हो चुकी हैं । जिन गांवों को स्वराज्य लेना उनमें मनुष्यता के नामपर काम करनेवाला स्वभाव पैदा करना पड़ेगा ।

भारत की ३५ करोड़ जनसंख्या में ३१॥

करोड मनुष्य सात लाख गांवों में बसते हैं। इन सात लाख गांवोंकी स्वतंत्रताही भारत की स्वतन्त्रता है। गांवों में संगठन अर्थात् मानसिक तेज किंवा परमार्थिक जीवन न होने के कारण आज भारत दास बना बैठा है और २०० वर्ष से शहद की मक्खियों के समान दूसरों के लिए कमा रहा है। यदि भारत के गांवों में से दासमनोवृत्ति हटा दी जायगी, तो प्रेम तथा सहयोग उत्पन्न होकर इन सब गांवों का स्वाभाविक संगठन हो जायगा। तब भारत विदेशियों के लिए अपने आपही अनुपयुक्त क्षेत्र बन जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि सच्चे देशसेवकों की सावधान आंखें ग्रामवासियों की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति को हटाने में जुट पडें।

पहले भारत की मनुष्यता खो गयी है, पीछेसे भारत दास बना है। देश में मनुष्यता नाम की शक्ति को फिर स्थापित कर दो, यही देशकी स्वतन्त्रता है। कहा जा चुका है कि देश की भूमि पराधीन नहीं होती। देशवासीका मन ही पराधीन होता है। इसी प्रकार देश की भूमि स्वतन्त्र नहीं होती, देशवासियों का मन ही स्वतन्त्र होता है। इसलिए देशवासियों के मन को स्वतंत्र बनाने में भारत की संपूर्ण शक्ति लग जानी चाहिए। इससे भिन्न दूसरे संगठन, सदस्यसंख्या की वृद्धि या आय बढानेवाले सब उपाय स्वतंत्रता लानेमें वृथा सिद्ध होते हैं। उन्हें उपेक्षित करना चाहिये। उनसे देश को कोई लाभ नहीं होगा। उनसे देश की परतन्त्रता का कारण अपना स्थान नहीं छोडेगा और अंग्रेजी सरकार को ठहरानेवाली भारत की पराधीनता की मनोवृत्ति नष्ट नहीं होगी। भारत का असली शत्रु भारत की पराधीन मनोदशा है।

सशस्त्र क्रांति से हानि।

यद्यपि अंग्रेजी सरकार भारत को पशुशक्ति से सता रही है, इस कारण उसे शस्त्रदंड देना कर्तव्य की दृष्टि से कुछ अनुचित नहीं है। परन्तु आज उसपर हथियार चलाने का अवसर नहीं है। उसकी बनावट ही इस ढंग की है कि वह हमारे सामने कभी नहीं आती, किंतु उसके कुछ सहायक आते हैं। सरकार तथा उसके सहायकों में बडा अन्तर है। सहायकों को मारने से सरकार तक चोट नहीं पहुंचती। वह चोट की पहुंचसे बाहर है। एक सहायक के मरते ही दूसरा सहायक आकर खडा हो जाता है। उसपर चोट करने से अंग्रेजी सरकार को भारत को अपना आतंक दिखाने का अवसर मिल जाता है। आज सारा भारत सरकार का सहायक बना हुआ है। सारा भारत अंग्रेजी सरकार को अस्वीकार नहीं कर रहा है। सारे भारत को इस प्रकार कबतक मारा जायगा? यदि सारे भारत में १०-५ सहायकों को मारकर डराकर सहायक बनने से रोकना चाहा जायगा, तो इसका अभिप्राय देश को डराना तथा भय का दास बनाना होगा। ऐसा करना क्रोध से बदला लेने की दुर्बलता में फंस जाना होगा ऐसा करने से सच्चा शत्रु अछूता रह जायगा, तथा जो सच्चा शत्रु नहीं है, उसपर हथियारोंका वार होगा। यदि भारतवासी अपने शत्रु के एक दो मनुष्यों को बम या पिस्तौल आदिसे मार भी देंगे, तो भी क्या होगा? उससे राष्ट्र की निर्बलता ही जगविदित होगी। एक दो जान के बदले में दो चार को फांसी पर लटका दिया जायगा। शत्रु को देश में भय का आतंक बढाने का अवसर मिल जायगा।

भारतियोंका अंग्रेजोंपर शस्त्रप्रयोग करना, उन्हें अपने राष्ट्रपर शस्त्रप्रयोग करने का अवसर देना है। अंग्रेजों को ऐसा अवसर देकर देश को भयभीत करना बडी भयंकर भूल है। ऐसी हत्याओं से सारे देश को लज्जित होना पडेगा। इन बम पिस्तौल चलानेवालों के पास शत्रु के नौकरों के शरीरों पर चोट पहुंचाने के अतिरिक्त देश का एकमत नाम का ऐसा कोई हथियार नहीं है,

जिसकी चोट से शत्रु का अनधिकारभोगी मन निरुत्साहित किया जा सके। विचारना चाहिए कि क्या ऐसा करना स्वयं ही मनुष्यता से गिर जाना, विवेक खो बैठना, विचार से काम न लेना या मूर्खता करना नहीं है। अपनी मनुष्यता से गिर जाना ही हिंसा का रूप है।

कुछ लोगों को अहिंसा के प्रचार से कायरता बढने का भय दीखता है। वे डींग मारकर कहते हैं कि हमें वीरों के समान अपनी जान हथेलीपर रखकर देश की सेवा करनी चाहिए। उनके लिए यही उत्तर है कि अहिंसा कायरों का धर्म नहीं है। वह तो महान् वीरों या बलवान् आत्माओं का धर्म है। अहिंसा की लडाई का भाव अत्याचार या अपमान सहना नहीं है। पिट लेना अहिंसा का रूप नहीं है। किंतु उसका सर्वोपाय से और संपूर्ण शक्ति से विरोध करना अहिंसा है। मनुष्य को अत्याचार या अपमान कभी न सहना चाहिये। अत्याचार या अपमान सहना विजय का मार्ग नहीं है। प्रत्युत पराजय का मार्ग है। अत्याचार सहना मन की निर्बलता है। मन की निर्बलता अपनी हिंसा है। हिंसासे बचना अहिंसा है।

परन्तु अत्याचार का प्रतिकार करते समय ऐसी नीति स्वीकार करना कि जिससे प्रतिकार रुक जाय तथा अत्याचार और बढ जाय स्पष्ट हिंसा है। इसलिए अत्याचार के प्रतिकार के समय विचार को कभी न खोना भी अहिंसा का आवश्यक अंग है। प्रतिकार का निर्णय करते समय देश के स्थायी हित का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। विचारशक्ति जिस उपाय का समर्थन करे, उसीको स्वीकार करना अपनी अहिंसा है। यदि शत्रुपर वार करने से शत्रु नष्ट हो सकता हो, तब तो उसपर वार करना अहिंसा है। यदि शत्रु तक वार न पहुंच सकता हो, तब उसपर शस्त्र का वार न करना अहिंसा है। तब शत्रु को नष्ट करनेवाले दूसरे उपायों को खोज निकालना ही अहिंसा है। अहिंसा वीर का धर्म है।

वीरता।

बहुधा मनुष्य विना विचारे शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। लोगोंने वीरता की सूरत बिगाड रखी है। आज संसारसे वीरताका सच्चा आदर्श नष्ट हो गया है। सच्ची वीरता न रहने से सब जगह अशांतिका राज्य तप रहा है। मनुष्य नाममात्र का मनुष्य रह गया है। सचमुच तो वह पशु बन चुका है। वह लालच में फंसकर निर्बल का भेडियां सबलका शिकार तथा भोगी पशु बन गया है। मनुष्य कहलानेवाले लोग अमनुष्योचित लालच में फंसकर पशुओं के समान एक दूसरे के खून के प्यासे तथा जान के गाहक बन गये हैं। क्या मनुष्य मनुष्य का खून पी जाय, यही वीरता का चिन्ह है? दूसरे की जान खालेने में वीरता नहीं है। यह तो हिंसक पशुपना है। दूसरे की जान को अपनी जानके बराबर समझकर सबके साथ मनुष्योचित बर्ताव करना संसार की सब से बडी वीरता है। परंतु आजका संसार इतना पतित हो चुका है कि उसने हिंसक पशुपने कोही वीरता मान लिया है। वीरता कुछ दूसरी ही वस्तु है। धर्म या सत्यपर डटे रहना और उसी के लिये मरना ही वीरता है। अर्थात् धर्म या सत्य के सामने अपने जीवनकी अपेक्षा न करना वीरता है। जो लोग जान हथेलीपर रखकर घूमने को वीरता मानते हैं, वे धोके में हैं। जान हथेलीपर रखकर घूमने में कोई महत्त्व नहीं है। ऐसा तो चोर डाकू भी करते हैं। क्रोधी मनुष्य भी बदला लेनेके लिये जान की परवा नहीं करता। वेतनभोगी हत्यारे सिपाही भी जान को हथेलीपर लेकर लडते हैं। पागल भी अपनी जानकी परवा नहीं करते। क्या इन सबको वीर कहा जा सकता है? नहीं कदापि नहीं। सत्य के नामपर जीवन अर्पण कर देना ही वीरता है।

आज संसार से सच्ची वीरता का आदर्श लुप्त हो चुका है। आजके अज्ञानी संसारकी मूर्खता

से हथियारों चलाने में वीरता रह गयी है। परंतु शस्त्रों में वीरता की कल्पना करना या शस्त्रधारी होने से किसी को वीर समझ बैठना बडी भारी भूल है। कर्तव्य-बुद्धि से जो किसी अत्याचारी का विरोध करता है वह न तो अपने पास शस्त्र होने या न होने की अपेक्षा करता है, न प्रतिपक्षी के शस्त्रों की कुछ गणना करता है, न प्रतिपक्षी से दबना चाहता है और न प्रतिपक्षी को दबाना चाहता है। उसके शरीर में ईश्वरीय प्रबंध से जो कर्मशक्ति अवतीर्ण हो रही है या ईश्वरीय प्रबन्ध से जो विरोध करने के बाह्य साधन उसे मिले है, उन सबसे अपनी शक्ति भर विरोध करके अपने को धन्य बना लेना चाहता है। वह इस विरोध का बदला नहीं चाहता। वह कर्तव्य-पालन को ही कर्तव्य का बदला जानता है। प्रतिपक्षी दबे या न दबे, अन्तिम श्वास तक उसका विरोध करने से ही वह धन्य बन जाता है। भौतिक दृष्टि में उससे हारकर भी धन्य हो जाता है। उसका विरोध सफल हो जाता है। इस प्रकार का अजेय विरोध ही वीरों की सच्ची वीरता है। यह वीरता नंगे हाथों भी दिखाई जा सकती है और शस्त्रधारी हाथों से भी दिखाई जा सकती है।

अज्ञानान्ध मानवसमाज को वीरता की कल्पना करनी नहीं आती। वह मनमाने ढंग से वीरता की कल्पना कर बैठता है और वीर नाम से वेष्ठित होकर कायर बना रहता है। यद्यपि वीर देहका अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होना आवश्यक नहीं है, फिर भी अज्ञानान्ध मानवसमाज वीर देह के अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित रहने को अनिवार्य आवश्यक मानता है। वह लोहे लकडी के टुकडों का अतिरंजित वर्णन करने में अनावश्यक बल लगाता है और वीरता की विडम्बना करके, कायरता को ही वीरता का चेहरा पहनाकर वीर बनने के बदले में कायर बना रहता है। जहाँ कहीं वीरों का वर्णन पाया जाता है, वहाँ एक मांस पिंड का कुछ हथियारों और पेटियों से जकडा हुआ होना आवश्यक मान लिया गया है। कहीं धनुष्य, बाण और तरकसको, कहीं तलवार त्रिशूल या वज्र को, कहीं गदा या चक्र को वीरता का अभिन्न साथी बना लिया गया है। ऐसी कल्पना करनेवाले यह नहीं जानते कि वीर नाम की मानसिक स्थिति किसी भी देह पंजर या किसी भी नरक काल में बैठकर क्षणमात्र में धूल से ही हजारों शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और त्रिशूलधारियों को उत्पन्न कर लेती है। वह (मानसिक स्थिति) ही सच्ची वीरता कहलाने के योग्य है। प्रह्लाद जैसे निहत्थे वीर ने ऐसे वीर हृदय का स्वामी बनकर ही लोहे के ठोस खम्भे में से दानव दलनकारी नृसिंहावतार को उत्पन्न कर लिया था। अपने मानस संकेत से नृसिंहावतार को भी उत्पन्न होने के लिए विवश करनेवाले उस महावीर हृदय के सच्चे महत्त्व को उससे छीनकर उसे दानवदेहदलनकारी तीव्र नखदंतवाली मूर्ति को देना भ्रांति है। क्योंकि प्रह्लाद का गौरव उस मूर्ति से नहीं बढा। किन्तु उसने प्रह्लाद जैसे वीर की सेवा में उपस्थित होकर अपने आपको ही गौरवान्वित किया था।

सर्वव्यापक शक्ति वीर-हृदयों में ही उतरती है। वहां उसे उतरना पडता है। वह अपने आपको वीर-हृदयों के पास जाने से रोक नहीं सकती। वीर-हृदयों के न रहनेपर असुरसंहारकारिणी शक्ति को अवतार धारण करने का अवसर नहीं मिलता। तब उसके अवतार-धारण करनेका तब कोई आधार नहीं रहता। शक्ति वीरहृदयों का सहारा पाकर ही पृथिवी पर अवतीर्ण हो करती है। शक्ति वीरहृदयों के पीछे पीछे घूमती है। वीर-हृदय शक्ति के अनुचारी दास नहीं बनते। वे अपनी निर्विकार अप्रभावित स्थिति को अपनी छाती से लगा लेते हैं और भौतिक शक्ति की अपेक्षा न करके अपनी वीरता के अटल सिंहासन पर आरूढ हो जाते हैं। शक्ति ऐसे

वीरहृदयों की चरण सेवा करके अपने को कृतार्थ कर लेने के लिए ही उनके पास आती है।

जिस मनुष्य का हृदय भौतिक शक्तियों की अपेक्षा करना छोड कर, उन पर निर्भर न रहकर अपनी वर्तमान शक्ति और साधनों से ही अपना कर्तव्य पालने में जुट पडता है, उसकी मनोवृत्ति ही वीरता या सत्साहस कहाती है। भौतिक शक्ति की अपेक्षा रखना, भौतिक शक्ति होती तो हम कुछ कर दिखाते, इस प्रकार किसी पर निर्भर हो जाना और निर्भर होकर कर्तव्यहीन होना कायरता, डरपोकपन या उत्साह-हीनता है।

आज मानव-समाज ने इस सच्ची वीरता को भुला दिया है और लोहे लकडी के कुछ हथियारों को महत्त्व देकर बडी भारी भूल में फंस गया है। आज मानवसमाज ने बम, पिस्तोल, संगीन, बन्दूक, मैशीनगन, माइन, तारपेडो, दम घोंटनेवाले बिजली, भाप, धुएं आदि के द्वारा दुर्भेद्य कायरता का जाल बना लिया है और वह उसी में अपने चूहे जैसे निर्बल हृदय को पाल रहा है। जब तक हथियारों के मोह को छिन्न भिन्न करके उसमें से वीरता को बाहर नहीं निकाल लिया जायगा, तब तक यह जब का सब मानव-समाज चूहे जैसा निर्बल बना रहेगा और अपने लिए सच्ची वीरता के दर्शन को असम्भव बनाता रहेगा।

अपना पक्ष सत्य होने के सत्साहस से उत्पन्न होनेवाली सच्चे वीर पुरुष के मन की स्थिति शस्त्रों को तिनकों के समान गिनती है। उसके मन की स्थिति उसको ऐसा शस्त्रधारी बनने से लज्जित किया करती है, जो कि शस्त्रों पर निर्भर रहता हो। वह शस्त्रों पर निर्भर रहनेवाले शस्त्रधारियों को कलंकित मानती है। वह अपने को शस्त्रों के बिना ही वीरता के गौरवपूर्ण आसन पर पाकर तुच्छ शस्त्रों से हीन होनेपर भी अपनी सच्ची वीरता को अटल बनाये रखता है। वह शस्त्रों के न होने पर भी सच्चा शस्त्रधारी बना रहता है। उसकी तेजोदृप्त आंखों में लाखों शस्त्रों का ओज भरा रहता है। उस सच्चे शस्त्रधारी की प्रलय बुलानेवाली ज्वालाओं से भरी हुई आंखों के सामने से डाकू और लुटेरों को भाग जाना पडता है।

प्रकृत बात यही है कि अपनेको अहिंसक अर्थात् महान् मनुष्य बनाए रहने में ही सच्ची वीरता है। अहिंसा का अर्थ आत्मा की प्रसन्नता अर्थात् आत्मा की शुद्ध प्रेरणा (आवाज) के अनुसार काम करने से न रुकना है। किसी भी प्रकार के प्रलोभन या भय आदि से आत्मा की ध्वनि को न दबाना ही सच्ची वीरता या अहिंसा है।

अहिंसा की विवेचना।

किसी को न मारना अहिंसा शब्द की परिभाषा नहीं है। मारनेयोग्य को न मारना कैसे सहा जा सकता है? इस परिभाषा को बनाते समय मनोविज्ञान का ध्यान नहीं रखा गया। हमारे सामने अर्जुन तथा राम दो अहिंसकों के उदाहरण हैं, जिन्होंने शत्रुवध करके ही अहिंसाधर्मका पालन किया था। न मारने के अहिंसा होने की परिभाषा अर्जुन के सम्बन्ध में तो सर्वथा विपरीत हो जाती है। वह जबतक अज्ञानी रहा, तबतक आजके भारत के समान शस्त्रप्रयोग को हिंसात्मक कार्य समझने की भूल कर रहा था। इसी कारण वह उससे बचने की स्थिति ढूंढ रहा था। परन्तु जब अर्जुन को आत्मज्ञान हो गया तब उसके मनसे हिंसाअहिंसाका झूठा विचार लुप्त हो गया। तब उसने ज्ञानकी स्थितिमें आकर और तो और अपने सगेसम्बन्धी समझे हुओं को भी मौत के घाट उतारकर अहिंसा-धर्म का पालन किया। इसलिए यह निश्चित हो चुका कि, शत्रुपर शस्त्र-प्रयोग न करना अहिंसा की दूषित परिभाषा है।

परतन्त्र देश के लोग स्वराज्य से दूर बैठकर स्वराज्यकी विधि सोचा करते हैं। वे पानीमें बिना

घुसे तैरने की कलाके पारंगत बनना चाहते हैं। वे स्वराज्य को अप्राप्त मानकर उसे पाने का भ्रम पूर्ण उद्यम करते हैं। वे सोचा करते हैं कि हिंसासे स्वराज्य प्राप्त होगा या अहिंसा से ? प्रायः मनुष्य हिंसाअहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट नहीं समझते। हिंसा-अहिंसा मनकी स्थिति है। आत्मस्थिति को त्याग कर अपनेपर काम-क्रोध आदि रिपुओंका आक्रमण होने देना हिंसा है तथा आत्मस्थिति में रहकर इन रिपुओं का दमन करते रहना अहिंसा है। किसी को मारने न मारने के साथ हिंसा-अहिंसा का कोई सम्बंध नहीं है। मनुष्य का मानसिक निर्बलता के वश में आ जाना ही उसकी हिंसा है, तथा इन निर्बलताओंके आक्रमणसे बच जाना ही 'अहिंसा' है।

जो मनुष्य हिंसा-अहिंसा के इस तत्त्व को समझते हैं, वे क्या करते हैं ? तथा क्या नहीं करते? इसकी कोई सूची नहीं बनायी जा सकती। आत्मदर्शी मनुष्य जब जो कुछ करता है, वही अहिंसा होती है। आत्मदर्शी का किसी को मारना या बचाना दोनों अहिंसा होती हैं। ऐसे मनुष्य के सामने जब किसी जीवको चोट पहुंचाने, मारने या न मारने का अवसर आता है तब उसे चोट पहुंचाना या न पहुंचाना, मारना या न मारना इन बातोंका निर्णय उसका मन उसी समय करके देता है। उस समय वह जो कुछ निर्णय करके देता है, उसीपर अहिंसा की मोहर लग जाती है। कभी कभी प्राणवध पर भी अहिंसा की मोहर लग सकती है।

इस विवेचन में हमें यह बताया है कि हिंसा-अहिंसाकी उलझनमें पडना अपनेको सच्ची स्वतंत्रतासे दूर रख देना है। सत्यदर्शी स्वतंत्र मनुष्य ही हिंसा-अहिंसा के तत्त्व को समझ सकता है। ऐसा सत्यदर्शी मनुष्य भोगाकांक्षा से स्वभाव से दूर रहता है। इसलिए हम देख रहे हैं कि देश को सत्यदर्शन करा देना ही किसी भी परतन्त्र देश के निवासियों का स्वराज्य तथा उसकी प्राप्ति का एकमात्र अचूक मार्ग है और इस मार्गपर चल पडनाही उनकी अहिंसा है।

यदि आज भारत अंग्रेजी सरकार को शस्त्र-प्रयोगसे भगा सकता होता, तो क्या भारत शस्त्र-युद्ध छोड देता ? छोड देता तो क्या वह देश-द्रोहरूपी हिंसा न करता। यह स्पष्ट है कि तब शस्त्रप्रयोग से अंग्रेजों को निर्वासित कर देना ही भारत की अहिंसाका बाह्य रूप हो जाता। हिंसा-अहिंसा धर्मों का प्रतिपक्षीको चोट या चोट के बचाव से कोई संबंध नहीं है। ये दोनों शरीर से सम्बंध रखनेवाली बात नहीं हैं। ये दोनों तो मानसिक अवस्था हैं। ये कर्ता के मन के धर्म हैं। ये धर्मक्रिया के लक्ष्य से अपना कोई संबंध नही रखते। अपना मन पवित्र होनेपर दूसरेका प्राणघात भी हिंसा नहीं हो सकता। यही कारण है कि संसार भर के न्यायालय प्राणघातक की मनोदशा (नीयत) के अनुसार दण्ड देते हैं, क्रिया के अनुसार नहीं। अर्थात् संसार को किसी क्रिया के हिंसा-अहिंसा होनेपर विश्वास नहीं है। संसार भरका न्यायालय मनुष्य की नीयतमें ही हिंसा-अहिंसा को मान रहा है।

अहिंसा से अंग्रेजों का मन बदलने का भी एक विचार देश में पाया जाता है। यदि इस का अर्थ उनके मन का पवित्र हो जाना हो, तो वह युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि अहिंसकशिरोमणि प्रह्लाद की अहिंसा उसके संहारी पिताका मन बदलने में असमर्थ पायी जा रही है। फिर भारत अपनी अहिंसा से अंग्रेजों का मन बदल सकेगा, अर्थात् उन्हें साधु महात्मा अहिंसक बना सकेगा यह कल्पना निष्फल है। यह अहिंसा को छोडकर हिंसा को अपनाना है। अंग्रेज लोभी-लालची हैं। वे साधुसंतों की ढूंढ में उनसे दीक्षित होने के लिए भारत नहीं आए हैं। उन्हें पैसे की आवश्यकता है। वे निर्बल शिकार की तलाश में भेडिये की भूक लेकर आए हैं। वे भारत को अपना धर्मगुरु बनाने के लिए नहीं

आए। वे बकरी के धर्मोपदेश से प्रभावित होकर भूके स्वदेश लौटने के लिए भारत नहीं आये। अहिंसा से उनके मन बदलेगा यह भारतका वृथा विश्वास और भोलापन है। जबतक घर का मालिक साहस करके डाटनेवाला नहीं बनता, तबतक कोई अनधिकारी लूटका लालच नहीं छोडता, यह साधारण अनुभव की बात है। अंग्रेज अपनी ओर से लूट छोड़ेंगे, तो भारत में स्वराज्य आयेगा, यह भारतकी नदी बंद होनेपर पार जाने की सी प्रतीक्षा है। भारत को अपना कोई प्रयत्न इस आशा से स्थगित नहीं रखना चाहये कि अंग्रेज परमार्थवादी, साधुचरित, उदार और अहिंसक बनेंगे। भारत को तो अपनी स्वतंत्र बुद्धि से अपना सत्य मार्ग पकड लेना चाहिए। शत्रु चाहे जैसे विचार रखने के लिए स्वतंत्र है। भारत को उसके विचारों की ओर क्यों देखना चाहिए?

यदि भारत उन्हें धर्म का पाठ पढाकर उस पाठके बदले में देश को उनकी कृपासे मुक्त करना चाहेगा, तो वह भोलापन करके स्वराज्यप्राप्ति में अपनी ओर से देर करेगा। यदि भारत के स्वतंत्र होने के निश्चय में दृढता आ जायगी, तो अंग्रेज न तो भारत के इस विचार को हटा सकेंगे और न वे इसे कार्यरूप में परिणत होनेसे रोक सकते हैं। भारत को अंग्रेजों की यह कमजोरी अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि वे बिचारे भारत में बडी असहाय और बुनियादरहित अवस्था में हैं। उनके पक्ष में यह बडी भारी कमी है कि वे भारत के अधिकारी नहीं हैं। भारत के पक्ष में यह बडा भारी बल है कि भारतवासी भारत के स्वाभाविक अधिकारी हैं। अपने घरपर चींटी भी शेर हो जाती है। पराये घरपर शेर का बल गीदड के बराबर हो जाता है। आवश्यकता भारत के इस अपने ईश्वरीय अधिकार को सँभालने का निश्चय करने की है। यदि भारतने सचेत होकर इस अपने ईश्वरीय अधिकार को अपने हाथ में लेने का दृढनिश्चय कर लिया, तो अंग्रेज सरकार अपनासा मुंह लेकर रह जायगी। फिर अंग्रेज सरकार का मन भले ही न सुधरे और चाहे वह अब से भी अधिक खराब हो जाय, तब भी भारत की कोई हानि नहीं है। क्या अंग्रेजों के न चाहने से भारत का स्वराज्य रुका रहेगा? जब भारत की दृढता से भारत को मिला हुआ स्वराज्य अंग्रेजों के रोके नहीं रुक सकेगा, तब पीछेसे अंग्रेजों को मन बदलना पडेगा।

यह बात तो ठीक है कि अहिंसात्मक युद्ध से अंग्रेजोंका मन बदलेगा। परंतु हमें इसका अंग्रेजों का संतपन का प्रमाणपत्र देनेवाला अर्थ स्वीकार नहीं है। हम तो इसका केवल इतना अर्थ समझते हैं कि अहिंसात्मक सत्याग्रहके तेजस्वी बलिदान देशमें वह चेतना फूंक देंगे, जिसके सामने अंग्रेजों को अपना अधिकार रोकना पडेगा, छिना हुआ दीखने लगेगा, उन्हें अपना लूटका हाथ सकोडने के लिये विवश होना पडेगा, उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि जो भारत अब तक हमारी लूटका मैदान था, वह अब हमारे हाथ से निकल गया, अब हमारी लूट का शिकार राष्ट्र जाग उठा है। जागे राष्ट्र के सामने हमारा पाप असंभव हो चुका है। अब लूट जारी रखना अपने को अति अपमानित करवाना है। यही अंग्रेजों के मन बदलने का स्वरूप होगा।

हम ऊपर कह आये हैं कि अधिकारों की दुहाई को कोई नहीं सुनता। समझानेसे कोई किसी का अधिकार नहीं लौटाता। अनधिकारियों के मुंहलगा खून अधिकारवालों के पुरुषार्थ दिखाने पर छुटता है। अनधिकारी जबतक अपना प्रबल विरोध नहीं देख लेता, तब तक अपने लोभ को नहीं सकोडता। यदि समझाने से लोभी लोग मान जाया करते, तो संसार में अत्याचार न रहता। अत्याचारियों की लोभ की लहक बलात्कार से ही छुडानी पडती है।

जब भारतीय विचारक अंग्रेजों का मन बदलना चाहते हैं तब वे अपने को तथा भारत को अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर मान लेते हैं। ये लोग भारतवासियों के शरीर बचे रहने को ही भारत की रक्षा मानते हैं। ऐसा विचार करते समय भारत के स्वाभिमानी मनका ध्यान सर्वथा नहीं रखा गया। मनकी रक्षा ही रक्षा है। शरीर या धन आदि की रक्षा रक्षा नहीं है। यह विचार सांसारिक मोह है। इस प्रकार सांसारिक मोहमें फंसकर आत्मा का अर्थात् अपनी पवित्रता का हनन करना आत्महिंसा या हिंसा है। यह भारत को अशक्त मानना तथा अंग्रेजी सरकार को शक्तिमान् मान लेना है। यह विचार स्पष्ट रूपसे भारत की की हिंसा है।

अंग्रेजी सरकार पर चाहे जितना पशुबल हो, परन्तु वह भारतमें बडी निर्बल और असहाय अवस्था में है। क्योंकि वह दूसरों का अधिकार खानेवाले की स्थितिमें हैं। दूसरों को भी तो अपने अपने अधिकारों की आवश्यकता है। जिन्हें ईश्वरने जीवन दिया है,उन्हें जीनेका अधिकार भी दिया है। दूसरे की जीनेकी चीजें छीनते फिरना यह मनुष्य की बडी दयनीय अवस्था है। अंग्रेजी सरकारके ऐसा फसे का कारण उसकी लालचकी लहक है। वह उस के दिल की कमजोरी है। जहां कमजोरी है वहीं अशक्ति है, और वहीं पराजय का बीज है। अंग्रेज तो भारत में पराजित अवस्था में है। अंग्रेज भारत में पराजित अवस्थामें हैं,यह सत्य संसारको उस दिन दीखेगा, जिस दिन भारत अपना अधिकार लेनेका दृढ निश्चय कर चुकेगा। भारत के पक्षमें सचाई हैं। भारत ही भारतका स्वाभाविक अधिकारी है। अधिकारीपर ही शक्ति हो सकती है। अनधिकारी पर नहीं। अनधिकारीपर तो अशक्ति होती है। अनधिकारी के पास शक्ति या दिल नहीं होता। थोडीसी भी डाटसे अनधिकारीके हृदयमें बैठा हुआ पाप उसके कलेजे को कंपा देता है। जब अंग्रेजी सरकार स्वाधिकार पर डटनेवाले भारतकी हुंकार सुनेगी, तब अपने अनधिकार खानेवाले कलेजे की कांपनेसे नहीं रोक सकेगी !

असत्य के पास शक्ति नहीं होती, शक्ति न होना ही असत्य के पराजय का कारण बनता है। शक्ति सदा सचाई के साथ रहती है। शक्ति ही विजय दिलाती है। जिस दिन भारत और अंग्रेजों का सच्चा संघर्ष प्रारंभ हो जायगा, उस दिन शक्ति और विजय सदा भारत का साथ देगी। आवश्यकता केवल इस बात की है कि भारत मानसिक जडता को त्यागकर करवट बदले और अपने आपको पूरे शक्तिमान् के रूपमें पहचान जाय। भारत को यह समझना चाहिये कि 'मुझे अंग्रेजोंने अशक्त नहीं बनाया। मैंने स्वयं ही अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा करना छोडकर अशक्ति का अपना लिया है और अशक्त बनाया है। मैं अपना ही बनाया हुआ अशक्त हूँ। अब मुझे शक्तिको अपना कर शक्त बन जाना चाहिये। मुझे शक्ति बाहर से नहीं लानी है। मेरा आत्मबोध ही मेरी शक्ति है। मेरे पास ३५ करोड किले हैं। अपनी शक्ति को पहचानते ही मैं शक्तिमान् हो जाऊंगा।'

अपनी शक्ति को पहचान जाना ही इस महती शक्तिमान् बन जाना है। जहां सचाई नहीं है, वहां शक्ति शक्ति नहीं है। वहां अशक्ति का मायाजाल है। वह सब अशक्ति का खेल है। शक्तिहीन आततायी को शक्तिमान् होने का ऊंचा पद दे देना अपनी हिंसा करना है। दूसरों का अधिकार खानेवालों को शक्तिमान मानना अपनी शक्ति की अप्रतिष्ठा करना है और असे न पहचानना है। यदि दूसरोंका अधिकार खानेवालों को भी शक्तिमान् मान लिया जायगा और ऐसा काम करनेवालों को शक्तिहीन नहीं माना जायगा, तो बस मानसिक पवित्रता की प्रतिष्ठा संसार से कूच कर जायगी।

अपनी अहिंसा से दूसरों का मन बदलना, अपने को पवित्र रखकर दूसरोंपर उसकी छाप डालना,

भ्रमपूर्ण विचार है। संसार का अनुभव इस का समर्थन नहीं करता। यह अहिंसा से मिथ्या लाभ उठाने का संकल्प है। अहिंसा इसलिये नहीं है कि मनुष्य इससे कोई भौतिक लाभ उठाये। जो अहिंसा अहिंसकों के प्राण छोडने का भी वादा नहीं करती, वह किसी भौतिक लाभ देने का वादा करे, यह दुराशा है। अहिंसा तो केवल मनुष्य के आत्मसंतोष कमाने के लिये है। भारतीय स्वराज्य भारत का लालच पूरा करने के लिये नहीं है। वह तो भारत के स्वाभिमान की रक्षा करने के लिये है। भारतीय स्वाभिमानही भारतीय स्वराज्य का लक्ष्य है। आज देशमें जितनी संपत्ति है, उस सबको भी यदि कण कण करके कोई विदेशी उठा ले जाय और केवल भारतीय स्वाभिमान सुरक्षित रह जाय, तो हम कहेंगे कि भारत ने अहिंसा धर्म पाल लिया और भारत की कोई हानि नहीं हुई।

अहिंसा से भौतिक लाभ उठाने की अभिलाषा अहिंसाधर्म का अपमान करना है। अहिंसाधर्म की इस व्याख्या के अनुसार जब भारत का शत्रु अहिंसाधर्मकी प्रतिष्ठा नहीं करेगा, तब क्या भारत अहिंसा की ओर से निराश नहीं हो जायगा? तब क्या भारत को अहिंसापर अश्रद्धा नहीं हो जायगी? अहिंसा का अभिप्राय किसी की चाटुकारिता नहीं है। किसी की उद्दण्डता में सहायक बन जाना अहिंसा नहीं है। किसी से पिटते रहना अहिंसा नहीं है। किन्तु ईश्वर के दिये हुए संपूर्ण हथियारों को हिंसा के विरोध में काममें लाना ही अहिंसा है।

अंग्रेजी सरकारको भारतसे हटाने के कारण।

भारत में अंग्रेजी राज्य भारतका स्वाभाविक अधिकार छीनकर स्थापित किया गया है। इसी कारण भारतवासियों को उसकी सत्ताको अस्वीकार करना चाहिये। इसलिये कर देना चाहिये कि उनकी सत्ताको स्वीकार करना अपने आपको मार डालना है। भारत अपने आप तो मरना स्वीकार कर ले और भारतमें अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर ले, इस अन्यायको जागा हुआ भारत कैसे सह सकता है?

दो स्वार्थों का एक स्थान पर रहना ही अंग्रेजों तथा भारत के संबन्ध का स्वरूप है। जब एक वस्तु पर दो स्वार्थ रहेंगे, तब अंग्रेज तो अपना स्वार्थ चाहेंगे और भारत अपना चाहेगा। दोनों अपनी अपनी ओर खींचेंगे। इन दोनोंकी खींच एक दूसरे के विरुद्ध होगी। इस खेंचातानी को सोता हुआ अज्ञानी भारत भले ही सह जाय; परन्तु जागे भारत की आंखों में तो इस बातको देखकर खून उतर आयेगा। दूसरे का टुकडा उठाकर खाना और उसे भूखा मरने के लिये छोड देना कहां की मनुष्यता है? अंग्रेजों का भारतमें स्वार्थ उनके जीवनमरण का प्रश्न नहीं है। यह तो उनकी ऊपर की आमदनी है। परन्तु भारत की स्वतंत्रता तो भारत के जीवनमरण का प्रश्न है। यदि भारत स्वतंत्र नहीं होगा, तो भारत मर मिटेगा। बताइये उसे इस परिस्थितिमें अंग्रेजों से क्यों दबना चाहिये? बताइये भारत को इनके विरोध में तत्काल क्यों नहीं खडा हो जाना चाहिये? बताइये भारत को इनका अदम्य तथा अत्याज्य विरोध क्यों नहीं करना चाहिये? भारतपर अंग्रेजों का शासन रहना भारत की मौत, भारत का घोर अपमान और भारत के लिये घोर असत्य है। प्रत्येक पराधीन राष्ट्र का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह प्रत्येक संभव उपायसे अपना अधिकार छीननेवाले से युद्ध ठान दे। इस संबंध में भारत जितनी देर कर रहा है, उतना ही भारत नष्ट होता जा रहा है।

स्वाधीन राष्ट्रों में प्रत्येक मनुष्य को उन्नति का पूरा पूरा अवसर दिया जाता है। पराधीन राष्ट्र के मनुष्य उन्नति से वंचित रखे जाते हैं। पराधीन राष्ट्रमें प्रत्येक मनुष्य का उन्नति करनेका अधिकार छीन लिया जाता है। विदेशी शासक अपनी धाक

जमाकर निर्विरोध बनने के लिये जितने षड्यंत्र रचता है, उससे पराधीन राष्ट्रका मन पतित होता चला जाता है। पराधीन राष्ट्रका अधिक से अधिक पतन ही विजेता की भौतिक समृद्धिका कारण होता है। अभागा पराधीन राष्ट्र क्षुद्रसे क्षुद्र सुविधाओंके नामपर अपने आत्माको बेच देता है। यदि कोई अपने राष्ट्रको इस अधःपतन की अवस्था से बचाना चाहे, तो उस राष्ट्र को संग्राम छेड देना चाहिये और विदेशी सरकारसे अपना राजा-प्रजा का संबन्ध तत्काल तोड लेना चाहिये। जिन लोगों ने अपनी आंखों से दासता का पैदा किया हुआ पतितपना देखा है, वे दासता के विरुद्ध संग्राम किये विना नहीं रह सकते।

मनुष्यने राजशक्ति को इसलिये बनाया था कि देशमें दैवी गुणों की रक्षा और प्रचार किया जाय। परन्तु विदेशी राजा सौतेली मां की तरह लोभी और कर्तव्यभ्रष्ट होकर अपने बेटा को पालता और देशकी आत्माको पददलित करने के घृणित से घृणित उपाय सोचता रहता है। जैसे रावण के राज्य में ऋषियों (भले मनुष्यों) को भले मनुष्य होने के अपराधमें कर देना पडता था, इसी प्रकार विदेशी राजा विजित देश के सत्यसेवकों को (देशकी आंख खोलनेवालों को) सत्य के प्रचार को भी अपराध घोषित करके कैद, कालापानी तथा फांसी के तख्तोंपर लटकाकर देशको सत्यनिष्ठा की ओरसे निरुत्साहित करता रहता है और देशको लुटवानेवाले देशद्रोहियों को लम्बे लम्बे वेतन तथा बडी बडी उपाधियां देकर देशमें दासमनोदशा फैलानेवाले सुन्दर आकर्षक जाल पूरता रहता है। राष्ट्र का मानसिक पतन ही विदेशी राजा का ध्येय होता है। वही विदेशी राज के ठहरने की बुनियाद होता है। इसी पहलू को विपरीत करके देखें, तो देशका मानसिक उत्थान ही विदेशी राज्यकी मौत तथा आक्रान्त राष्ट्र को बचानेवाला होता है।

जिस प्रकार उलू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, इसी प्रकार विदेशी शासकके मनमें आक्रान्त राष्ट्र का मानसिक उत्कर्ष देखकर हौल पैदा हो जाती है। उसे राष्ट्रके जागने में अपनी कूचका डंका बजता सुनाई देता है। इन सब दृष्टियोंसे यह सिद्धान्त निश्चित करना पडता है कि जो अपने देशसे विदेशी शासन को भगाना चाहें, उन्हें विदेशियोंसे कुछ न कहकर अपनी संपूर्ण शक्ति देशमें मानसिक चेतना फैलाने में लगा देनी चाहिये। देशमें मानसिक चेतना फैलाना ही विदेशी राष्ट्रसे युद्ध ठानना है। क्योंकि विदेशी राष्ट्र मानसिक चेतना फैलानेवालों के साथ शत्रु जैसा बर्ताव करता है।

जब कोई देश सत्यहीन हो जाता है, तब उस देश की सन्तान पालन करनेवाली मातृत्वशक्ति राक्षसी रूप धारण कर लेती है। देशसे सन्तान पालनकी उचित रीति के नष्ट हो जाने के कारण देश पराधीनता सहनेवाले मनुष्योंसे भर जाता है। इसी से मनुष्य-समाजमें स्वतंत्रता के सैनिकों का अवतीर्ण होना रुक जाता है। मोही मातापिताओं की गोदमें स्वतंत्रता के सैनिक नहीं उतरते। देश में स्वतंत्रता के सैनिकों के न उतरने से समाजकी आंखों के सामने से स्वतंत्रता का आदर्श लुप्त हो जाता है। सामाजिक कल्याण, बुद्धि तथा पवित्रता नष्ट हो जाती और समाज के मनुष्य स्वार्थान्धता, लोभान्धता, कामान्धता आदि अज्ञानमय पातित्य-पंकमें सनकर अपना रूप बिगाड लेते हैं।

इस असत्य अवस्था का विरोध करने के लिये इस से युद्ध ठान देना देशका कर्तव्य हो जाता है। यदि इस असत्य अवस्था के विरोध के लिये युद्ध नहीं छेडा जाता, तो असत्य का शासन आठों पहर समाज में मनको पतित बनाने के षड्यंत्र करके अपनी नींव पुष्ट करता चला जाता है। उससे समाज में मनुष्यता के संरक्षकों का आना बन्द हो जाता है। फिर सारा देश निर्लज्ज होकर पाप का विरोध न करके पाप की सहायता करने में ही अपना भौतिक लाभ देखनेवाला पापी बन जाता है।

समाजमें स्वतंत्र मत रखनेवाले सेवकों का विरल होना देशवासी समाजके पापपूर्ण वातावरण का प्रभाव है। देशकी इस असत्य अवस्था का नाश करने पर ही देशकी पवित्रताकी रक्षा हो सकती है, सत्यनिष्ठा का प्रचार हो सकता है और देशमें स्वतंत्र मनुष्य माने योग्य क्षेत्र बन सकता है।

देशका वर्तमान वातावरण इतना दूषित हो चुका है कि अब भारतीय स्वातन्त्र्ययुद्ध छेडनेसेही धर्मद्वेषी दुःसाहसियों की बाढ रोकी जा सकती है। अधर्माचारियों के अभ्युत्थान को नष्ट करके समाजके मनमें धर्म (कर्तव्यपालन) की स्थापना करनाही युद्धरूपी कर्तव्य का महत्त्वपूर्ण फल है। संपूर्ण युद्ध समाजको कलुषित या अव्यवस्थित करनेवाले नहीं होते। धर्मयुद्ध तो अधर्माचारी, पददलित समाजमें संजीवनी सुधाका काम देते हैं। संपूर्ण युद्ध हिंसात्मक नहीं होते। लोभान्ध लुटेरों के युद्ध ही हिंसात्मक होते हैं। ऐसे युद्धों के विरोध के लिये किये हुए युद्ध शस्त्रयुद्ध होने पर भी हिंसात्मक नहीं होते। किन्तु अहिंसात्मक अर्थात् देशकी मानसिक पवित्रता के संरक्षक होते हैं।

युद्ध स्वयं देशनाशक या देशरक्षक नहीं होते। योद्धाओंकी मनोदशाओंसे ही देशनाश या देशरक्षा होती है। देशरक्षकों को स्वभाव से योद्धा होना चाहिये। देशरक्षकों का युद्धवेष देशध्वंसकारी अधर्म को सिर न उठाने देने के लिये प्रत्येक क्षण समरयात्रा के लिये सन्नद्ध रहना चाहिये। धर्मयुद्ध से मुंह मोडना देशविनाशक समाजद्रोहियों का स्वभाव होता है। असत्यका विरोध करना ही योद्धा की मनोवृत्ति है। इसलिये युद्धको देशनाश का कारण समझना भ्रम है।

जिस प्रकार युवतियों का रूपयौवन दुष्टोंकी लालच की वस्तु हो सकता है, इसलिये प्रत्येक युवती को अपने रूपयौवन को दुष्ट-भोग्य न बनने देने के लिये प्रत्येक समय सशस्त्र तथा प्रहारोद्यत रहकर नंगे हाथों कहीं बाहर न निकलकर अनधिकारी की अनधिकार चर्चा का विघ्नस्वरूप दुर्गादेवी या रणचण्डी बना रहना चाहिये, इसी प्रकार किसी देश की सस्य श्यामला उर्वरभूमि पर लोभी परराष्ट्रोंकी क्रूर दृष्टि न पडने देने के लिये संपूर्ण देश को सशस्त्र रहकर अपने देशकी अहिंसा की रक्षा के लिये युद्धोद्यत रहकर लोभियोंके लोभ को विघ्न बने रहना चाहिये।

अधर्म के विरोध में युद्ध न होना मृत अर्थात् पहले से ही अधर्म से दबे हुए शक्तिहीन समाज या देशका चिह्न है। अधर्म के विरोधमें युद्ध छेड देनेवाले देश या समाज ही धर्म को सुरक्षित रख सकते हैं। इस दृष्टिसे धर्मयुद्ध न होना अर्थात् देशमें संग्रामहीन अवस्था आ जाना स्वस्थ देश या समाज का चिह्न नहीं है। युद्धहीन देश मानसिक रोगों (निर्बलताओं) का शिकार बना रहता है।

यह अवसर ऐसा है कि यदि इस समय देश युद्धविमुख हो जायगा, तो देशको लूटनेवालों के हाथों से देशकी उतनी हानि नहीं होगी, जितनी कि लूटका विरोध न करनेवाले देशवासियों के हाथों से होगी। धर्मयुद्ध न होनेसे सारा देश सारे देश को लूट लूटकर खाने में मस्त हो जायगा और सामाजिक लूट की ओर से जानबूझकर आंखमिचौनी खेलता रहेगा। यदि अब भारत युद्धविमुख हो गया, तो भारत को भी भारत के लुटेरोंकी पंक्तिमें ही ले जाकर खडा करना पडेगा। अंग्रेजी सरकार अपनी लूटसे देशका उतना नाश नहीं कर सक रही है, जितना कि भारत इस लूट के विरोध में सिंहगर्जना न करके कर रहा है। यदि भारतने युद्ध नहीं किया, तो भारत के दो शत्रु हो जायंगे। पहला शत्रु भारत होगा तथा दूसरा अंग्रेजी सरकार होगी। भारत ही भारत का नाशक अपमानकारक लुटेरा बने, यह भारतके लिये बडे भारी

अपमान और अपयश की बात होगी। भारतसे तो भारत के रक्षक होनेकी आशा की जाती है। वह इस पापमयी लूटके विरोधमें युद्ध करके अपने देशरक्षक मानवीय भावों की अर्थात् भारतीय मनुष्यताकी रक्षा कर सकता है।

सच्चे मनुष्योंमें असत्यको पराभूत करते हुए सत्यको विजयी रखने की जो शक्तिमत्ता, आत्म-विश्वास तथा रणोल्लास पाया जाता है, वही देशकी क्षत्रशक्ति कहाती है। धर्म की रक्षा करने अर्थात् अधर्म का सर्व नाश करने के भाव को लेकर अपनी इस क्षात्र शक्तिका सदुपयोग करने के अतिरिक्त इस समय देशके सामने दूसरा कोई भी कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। जिसे इस कर्तव्य को छोड देने की इच्छा हो, वह उसकी स्वधर्म त्यागने की निर्बलता है। जो देश क्षत्रियत्व का अभिमान रखना चाहता हो उसे यह निर्बलता त्यागनी ही पडेगी। इस समय भारतवासियों के सामने देशकी क्षात्र शक्ति (असत्यको रोकनेके लिये उसके विरोध में खडी होनेवाली शक्ति) के सदुपयोग का ईश्वरदत्त सुअवसर आया है। हे भारतवासियों! अपने मनुष्यत्व को सुरक्षित अर्थात् अखण्डित रखने के लिये इससे लाभ उठाने में चूक मत करो। अब अधर्म का विनाश करके धर्म की रक्षा करना हम सब का पवित्र कर्तव्य हो गया है। इसी से हमारी आत्मरक्षा और स्वधर्मरक्षा हो सकेगी। यदि देश इसे त्याग देगा, तो धर्मत्यागरूपी आत्महत्या कर बैठेगा। इसलिये मनुष्य बने रहने के लिये अब अहिंसात्मक धर्म-युद्ध ठान देनेके अतिरिक्त कोई गति नहीं रह गयी है। इस समय भारतका युद्ध करना और अपने को अधर्म से बचाना एक ही बात होगी।

कर्तव्यपरायणों के पास कर्तव्य सदा ही आता रहता है। कर्तव्य को छोडना स्वर्ग में जानेसे मुंह मोडना है। विचारवान् सदा से कर्तव्य को ही स्वर्गद्वार मानते आये हैं। मनुष्य शोकमोहमें न फंसे, रोनेहंसने के वशमें न आये, तो सारा संसार मिल कर भी उसे पराधीन नहीं रख सकता। रोनेहंसनेवालों को सदा पराधीन रहता देखा गया है। सम्पूर्ण विकारों से रहित मन पाना ही स्वर्ग पाना है। स्वर्गवासी स्वतंत्रता भोग सकते हैं। अधर्म का नाश करके, अर्थात् अधर्म को अपने देशसे निर्वासित करके शोक-मोहातीत न रोने न हंसनेवाला मन रखना ही मनुष्यों के पाने योग्य स्वर्ग या स्वराज्य है। अधर्म का नाश करने पर ही ऐसे मनकी रक्षा हो सकती है। ऐसे मन की रक्षा करके ही स्वर्ग या स्वराज्य मिलता है। अपनी ही अनन्त शक्ति से अधर्म का संहार करके धर्म की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों को ऐसे कर्तव्य प्रतिक्षण दीखते रहते हैं। उन कर्तव्यों को पालकर अक्षय स्वराज्य को पाना ही उनके जीवन की अटल, अक्षय तथा अमूल्य संपत्ति होती है। वे इसे प्राप्त करने के सुअवसरों का स्वागत करते हैं।

अब भारत के सामने इस अतुलनीय सौभाग्य-सुख अपनानेका अवसर उपस्थित है। भारत को इसे हाथसे न जाने देना चाहिये। यदि भारतने इस सुअवसरसे लाभ उठाने में टालमटोल की तो भारत अपने को अनन्त काल के लिये दुःख के गहरे गढेमें धकेलनेकी भूल कर बैठेगा। भारतको चाहिये कि वह इस समय अपनी गौरवरक्षा के नाम पर भौतिक सुखसुविधाओं को ताकपर उठाकर रख दे और अपने स्वधर्मकी रक्षा करे। इस समय भारत का इस कर्तव्य को छोडना अपने हाथों अपना सर्वनाश करना है। यदि भारत सच्चे सुख का मुंह देखना चाहता हो, तो वह युद्ध ठानकर स्वधर्मकी रक्षा करे।

भारत का इस अहिंसात्मक युद्धरूपी इस स्वधर्म का छोड देना कीर्ति त्यागना और पापी बनना है। यदि भारत युद्ध नहीं करेगा, तो संसार में इसकी अकीर्ति स्थायी हो जायगी। कलाविद्या, दर्शनविज्ञान, धर्मसंप्रदाय, जीवन के प्रत्येक विभागमें उन्नतिशील महात्मा, शासक, राजनीतिज्ञ,

गणितज्ञ, पण्डित, कवि, सेनापति, उपनिवेश-संस्थापक, शिल्पी, कृषिविद्, जलस्थल के व्यापार के एकच्छत्रनियामक पैदा करनेवाले तथा हजारों वर्षों तक बडी ज्ञानके साथ एशियाखण्ड का अर्थात् संसार की आधी मनुष्यसंख्याका बौद्धिक नेतृत्व करनेवाले भारत जैसे कीर्तिसंपन्न देशकी अकीर्ति का स्थायी बन जाना भारत के समुद्रमें डूब जानेसे भी बडा अनिष्ट हो जायगा। गुणियों के समाजमें प्रतिष्ठित रहना ही कीर्ति कहाती है। वेही सच्चे मनुष्य हैं, जो स्वधर्म को नहीं छोडते, जो धर्म के नामपर अधर्म का विरोध करनेसे नहीं चूकते। ऐसे मनुष्य संसारमें ज्ञानज्योतिका काम करते हैं। ऐसे ज्ञानज्योतियों में गिना जाना भारत के लिये गौरव की बात है। ज्ञानियों के समाजमेंसे भारत का नाम कट जाना भारतकी मृत्यु है। यदि भारतवासी स्वजनधनकी मोहममता में फंसकर इस कर्तव्यरूपी भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्रामको न करके जीवित रहना चाहेंगे, तो इसीसे भारतकी मृत्यु हो जायगी। क्योंकि ऐसा होनेपर भारत का नाम ज्ञानियों के समाजमेंसे लुप्त हो जायगा। यदि भारत अपनी धर्मरक्षा के लिये युद्ध करेगा, तो उससे भारत का स्वधर्म रक्षित हो जायगा। अर्थात् भारतीय मन पतित होनेसे बच जायगा और भारतमें अनन्त चेतना के बादल बरसने लगेंगे। जो अक्षय कीर्ति कमा लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं। वे मरकर भी जगत् को ज्ञान-ज्योति दिखाते हैं। मरकर भी जगत् को ज्ञानज्योति दिखानेवाली उनकी मानसिक उदार अवस्था सदा कीर्तिमती होकर जगद्वन्द्य बनी रहती है। ऐसे लोगोंमें अपना यशस्वी स्थान प्राप्त करना ही भारतीयों के जन्म की सार्थकता है। भारत के सामने कर्तव्यरूप में उपस्थित युद्ध इसी अभिप्राय को सिद्ध करनेवाला सुअवसर बनकर आया है। यदि भारत अब इसे स्थगित रखेगा, तो आत्महत्या-रूपी महापाप करेगा।

कर्तव्यपालनसे सदा कल्याण होता है। कर्तव्य-पालन न करने से सदा अकल्याण होता है। युद्ध-क्षेत्रमें अपने शत्रुको उत्साहित होनेका अवसर न देनाही युद्धधर्म का पालन करना कहाता है। मनुष्य बाह्य शत्रुको उत्साहित होनेका अवसर तब ही देता है, जब वह उससे प्रथम अपने मनके शत्रु (मानसिक निर्बलता) के सामने घुटने टेक देता है।

आज भारतको यह ध्यान नहीं है कि देशमें कितनी बडी कर्मशक्ति भरी पडी है। वह लोभ में फंसकर शक्ति को भूला पड़ा है और भेडके समान कान पकडवा रहा है। आज भारत के पास अपनी सामाजिक शक्ति को आंक-नेवाली आंखका अभाव है। आज भारत व्यक्तिगत शक्तिके अनुभवों से बंधा पडा है। यदि किसी तरह भारतको अपनी विराट् कर्मशक्ति का ध्यान दिला दिया जाय, तो वह विदेशी राष्ट्र को फूंकसे उडा सकता है। भारत केवल अनुत्साह का रोगी है। भारत केवल अपने अनुत्साहसे अधर्मकी विजय को सुलभ बना रहा है। भारतके शत्रु भारत के अनुत्साहसे लाभ उठा रहे हैं। अधार्मिक विदेशी भारत की स्वधर्मत्यागरूपी कापुरुषता में से अपने पापा-चरणों का समर्थन ढूंढ रहे हैं। वे भारत के विरोध न करनेसे अपनी कायरता को ही वीरता कहकर उन्मत्त हो रहे हैं। वे भारत की असमर्थता को ही अपना सामर्थ्य कहते फिरते हैं और भारत को बदनाम कर रहे हैं। भारत की यह कायरता उनकी प्रसन्नता तथा गौरव का कारण बनकर भारत को कलंकित कर रही है। धर्मरक्षाके लिये भारत का यह असामर्थ्य विदेशियों को धर्म का विरोध करने में समर्थ बना रहा है और स्वयं निन्दित हो रहा है। यह भारत के लिये बडी लज्जा की बात है। भारत के ऐसा करनेसे उनको अपने अधर्माचरण का विजयडिण्डिम बजाने का अवसर मिल रहा है और इससे संसार को यह समझने का अवसर मिल रहा है कि भारतमें स्वधर्म की रक्षा करनेकी शक्ति ही नहीं रही।

अब भारत को यह सोचना है कि भारतके पक्षमें इससे बढकर दुःख की बात क्या हो सकती है? अब भारत को अपनी कीर्ति के उदयका मार्ग निकालना होगा। इसलिये अब भारत के लिये युद्ध करना ही कल्याणकारी कर्तव्य रहा गया है। ऐसा किये विना भारतको अपना गत गौरव प्राप्त नहीं होगा।

यदि इस युद्ध में भारतीय सेवकों के नाशवान् शरीर नष्ट भी हो जांय, तोभी वे जिस अप्रभावित स्वाभिमानपूर्ण निर्विकार मनको लेकर युद्ध करेंगे, वह अक्षय स्वर्ग तो उनको युद्धका निश्चय ठानते ही मिल चुकेगा। फिर चाहे वे युद्ध में मर जांय या जीते रहें। उनका वह अक्षय स्वर्ग दोनों अवस्थाओंमें एकसा रहेगा। भारत युद्धका निश्चय ठानते ही देखेगा कि भारत को आत्मबोध हो चुका है। तब भारत देखेगा कि वह युद्ध जैसे कोलाहलपूर्ण कर्तव्यमें भी निर्विकार मनोदशा रख रहा है और सत्यारूढता का आनन्द ले रहा है। तब भारत देखेगा कि उसके शत्रुओंकी विपत्ति उसके अनुत्साह से दबी पडी थीं। तब भारत देखेगा कि विजय भारत के उत्साहकी प्रतीक्षा कर रही थी। इसमें संदेह नहीं कि युद्ध में नाश होगा, परन्तु वह तो प्रत्येक अवस्थामें अनिवार्य है। नाश तो सृष्टिका नियम है। विना युद्ध भी नाश होता है। जब नाश अनिवार्य है तब सत्य के नामपर नाश सौभाग्य है। इस मनोदशाको लेकर भारतीय स्वतंत्रता के जितने सेवक मरेंगे वे सर्वव्यापी आत्मा के रूपमें अमर हो जांयगे। धर्मयुद्ध के लिये मरना अपने को अमर कर लेना है। जो मरनेसे डरते हैं, उन्हें संसार में सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार नहीं है। यदि वे ईश्वरेच्छासे युद्धके पश्चात् भी जीते रह गये, तो वे विदेह जीवन्मुक्त बनकर मोहबन्धन से बचकर भारतका भौतिक आधिपत्य करेंगे।

जब भारतवासी अपने अपने व्यक्तिगत जीवनों की कीचडसे बाहर निकलकर भारतीय मनुष्यता की दृष्टिसे कर्तव्य निर्णय करेंगे, तब भय उनके हृदयों को छोडकर भाग जायगा और जीवनमें महान् आनन्द का समावेश हो जायगा। तब भारत अपने आप संगठित हो जायगा। तब उसमें संयम, देशभक्ति तथा उत्साह आ जायगा। तब सारा भारत स्वतंत्रता का सैनिक बन जायगा। तब भारत देखेगा कि युद्ध न करना भारत के लिये पाप है।

जब भारत भौतिक सुखदुःख, लाभालाभ, जयपराजय आदि को ईश्वर की इच्छा मानकर कर्तव्यबुद्धि से युद्ध करेगा, तब भारत का एक भी सैनिक विजय पाये विना घरको नहीं लौटेगा। यों भारत की मुक्ति, भारत की निष्पाप अवस्था तथा भारतकी कर्तव्यनिष्ठाका मार्ग युद्ध करने से दूसरा नहीं है।

संग्रामका स्वरूप।

संसारमें जितने प्राणी हैं, सब के मन में शान्ति की मांग है। परन्तु शान्ति का स्वभाव बडा विचित्र है। वह सदा अशान्ति के कांटों की बाडमें छिपकर बैठती है। जो शान्ति चाहेगा, उसे अशान्ति से झगडना होगा। उसे अशान्ति का मानमर्दन और अस्तित्वनाश करना पडेगा। यदि वह अशान्ति के कारणों से डर जायगा और उन्हें नहीं हटायेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी। यदि भारत शान्ति चाहता हो तो उसे अपनी अशान्ति के कारणों के विरुद्ध युद्ध ठानना ही पडेगा। शान्ति की प्यास में से ही युद्धकी आग फूट निकलती है। जहां शान्ति की प्यास नहीं है, वहां युद्ध का अभाव है।

(क्रमशः)

सूर्य और स्वास्थ्य।

(लेखक—डॉ० श्री० एम० सी० जैन, एम०बी०बी०एस्०)

भारतीय हिन्दुओं की दिनचर्या का कोई भी एक कृत्य विज्ञानालोक में लाकार विवेकदृष्टि से देखिये—पहले की अपेक्षा कहीं अधिक चमकदार और उपयोगी सिद्ध होगा। आज आप भारतीयों के सूर्योपासना के विधान पर निगाह दौड़ाइये, उसके विज्ञान सम्मत होनेका स्पष्ट प्रमाण मिल जायगा। आप विश्व के इतिहास के पुराने पृष्ठों को पलटें, प्रायः प्रत्येक भूभाग में सूर्य-मन्दिरों का दर्शन होगा। आज भी दक्षिणी अमरीका, बेबीलोन और ग्रीक आदिके भूगर्भ से निकलने वाले खण्डरात और ईंट पत्थर इसकी गवाही दे रहे हैं। प्रत्येक प्रकार की उपासना अथवा स्तोत्रपाठ की जड़में श्रद्धाभक्ति द्वारा चित्त को एकाग्र करने की भावना काम कर रही है। जब तक किसी वस्तु पर हमारी श्रद्धा दृढ न होगी, चित्त उस पर जमही नहीं सकता। किन्तु भारतियों की सूर्योपासना द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य की भावना काम कर रही है। ऋग्वेदका आदेश है—

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावा-
पृथिवी अन्तरीयते। अपामीवां बाधते वेति
सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥

स्वर्णरश्मियो युक्त सूर्य आकाश और पृथ्वी के बीच से गुजरता है और रोग एवं अन्धकार का विनाश करता हुआ आकाशमण्डल को आलोकित करता है।

स्थितिः—सूर्य वृत्ताकार पृथ्वी की नाभि पर स्थित है। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी पूरे ३६५ दिन में समाप्त करती है। यह परिक्रमा करती हुई कभी उसके समीप अर्थात् ९१२५०००० मील के अन्तर पर पहुंच जाती है। सूर्य अपनी गर्मी का २० अरबवाँ भाग हम को प्रदान करता है और इतनी ही हमारे जीवन के लिये पर्याप्त भी है।

सूर्य और संसार।

१. सूर्य के उत्ताप द्वारा ही हमको प्रकाश और उष्णता मिलती है। वृक्ष, वनस्पति, औषधि आदि के उत्पन्न होने और फूलने फलने का कारणभी सूर्य ही है।

२. जलवृष्टि भी सूर्य द्वारा ही होती है। स्मृतिकार का वचन है— 'आदित्याज्जायते वृष्टिः।

३. ग्रह भी सूर्य के आकर्षण विकर्षण द्वारा अपने स्थान पर स्थित होकर ठीक काम करते हैं।

४. जलवायु भी सूर्य के प्रभावसे ही ठीक रहता और उसमें रासायनिक क्रियाएं होती रहती हैं।

५. समुद्रस्थ वडवानल और गर्म सर्द हवाएं भी सूर्य द्वारा ही उत्पन्न होती हैं।

६. सूर्य में कीटाणुओं को नष्ट करनेकी क्षमता है।

७. हमारी बुद्धि की वृद्धि करने और उनकी रक्षा करने की क्षमता भी आदित्य भगवान् को ही प्राप्त है।

८. यही नहीं, प्राण जो संसार की चैतन्यता का एक मात्र कारण है वह भी हमें सूर्यकी ही प्रेरणा से मिलती है। यही कारण है कि ऋग्वेद में सूर्य को जगत् की आत्मा बतलाया गया है।

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

उपनिषद् भी सूर्यरश्मियोंमें प्राणों की स्थिति स्वीकार करता है— 'आदित्य उदयन् यत्प्राचीं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते !' इस विवेचनद्वारा निश्चय हो गया कि सूर्य रश्मियों का समुचित रूप से सेवन कर मनुष्य स्वस्थ और दीर्घायु बन सकता है। आप नागरिक और ग्राम्य जीवन की तुलना करें। ग्रामीणों के पास पौष्टिक आहार और स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रायः सभी उपयोगी उपकरणों का अभाव होता है, फिर भी वे लोग स्वस्थ और दीर्घजीवी होते हैं, अपने दूध, मक्खन खाने वाले शहरी भाइयों की अपेक्षा। इस का एकमात्र कारण है कि खुले शरीर में सूर्य-रश्मियों का उपयोग करना। अस्तु, वर्तमान परिस्थितिमें भारतियोंको अपने स्वास्थ्य सुधार में सूर्य-रश्मियों से पर्याप्त सहायता लेना चाहिए। निर्धनता और शारीरिक क्षीणता की आधुनिक अवस्था में हमको अपने पुराने इष्टदेव की सेवा में पुनः उपस्थित हो जाना चाहिये।

नवम नियम।

" प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये; किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये । " यह नवम नियम है।

जब तक एक मत, एक हानिलाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र. दशम समु० पृ. ३९१]

अब तो बहुत से मतवाले होने से बहुत सा दुःख और विरोध बढ गया है, इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों, इसमें सब विद्वान् लोग विचारकर विरोधभाव छोडके आनन्द को बढावें।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र. दशम समु. पृ. ३९७]

...परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करे कि सबसे सब प्रीति परस्पर मेल और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रवृत्त हों।

[द. प्र प्र. भा. स. प्र. १४ समु पृ ३९७]

जहां तक हो वहां तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, बढे हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें। सब प्रकार... अपने अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक प्रयत्न से तन मन धन से सर्वदा परमार्थ किया करें।

[द. प्र प्र. भा. स. प्र. ४ र्थ समु. पृ. २१९]

सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंग जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र. १४ समु. अनु. पृ. ७०३]

...परोपकार करना और परहानि करना अधर्म कहाता है। इस लिये विद्वान् को यथा-योग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःखसागर से तारने के लिये नौकारूप होना चाहिये।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र. ११ समु. पृ. ५२८]

...मनुष्य को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख दुःख हानि लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूं।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र स्वमन्तव्या. २६, पृ. ७९३]

... जो यथार्थ वक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को आप्त कहता हूं।

[द. प्र. प्र. भा. स. प्र. स्वम प्र स. ३८. पृ. ७९४]

जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्तमान होकर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे उसको आप्त कहते हैं।

[द प्र. प्र. भा. स. प्र. आर्योद्देश्य. र. स. ८१, पृ. ८९९]

जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढें, उसके करने को परोपकार कहता हूं।

[द. प्र. प्र. भा स प्र. स्वमन्त. प्र. स ४०, पृ ७९५]

...अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिये जो तन मन धन से प्रयत्न करना है, वह परोपकार कहाता है। जो तन मन और धन सब से सुख बढाने में उद्योग करना है, उसको सर्वहित कहते हैं।

[द. प्र प्र. भा स. प्र. आर्योद्देश्य. र स ५७, ७४, पृ. ८९७-८९८]

हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मंत्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो। उसमें किसी

प्रकार का विरोध न हो । और जब जब तुम लोग मिल के विचार करो, तब तब सबके वचनों को अलग अलग सुन के जो धर्मयुक्त और सबका हित हो सो सो सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो [। जिससे सभों का बराबर सुख बढता जाय । ... जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्या आदि आश्रम, अच्छे अच्छे काम,उत्तम मनुष्योंकी सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि शरीर बल पराक्रम आदि गुण बढे तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों ऐसी जो उत्तम मर्यादा है सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो। जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं। ... हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोधरहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो। जो तुम्हारा मन और चित्त हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें। ...

[द ग्र. द्वि भा. ऋग्वेदादि पृ ७३, ७४]

हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उसको धर्म के साथ मिला कर सब सुखों को सब दिन बढाते रहो।... हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो. सदा वैसाही प्रयत्न करते रहो कि जिससे तुम्हारे.. हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें। [अपने श्रद्धा, अश्रद्धाः धृति, अधृतिः हीः, धीः, भीः आदि गुणों को]सब प्रकार से सबके सुखों के लिये युक्त करो। हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार... धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढे ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देखके अपने मन में सुख मत मानो। किन्तु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो ।

[द ग्र द्वि भा ऋग्वेदादि पृ. ३७६, ३७७]

... मैं सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं ।

[द. ग्र. द्वि भा. ऋग्वेदादि. पृ. ३७८]

परम धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्माके समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोडते ।

[द. ग्र. प्र भा. व्यवहारभानुः पृ. ७३७]

आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो जो अपना आत्मा अपने लिये चाहे सो सो सबके लिये चाहना और जो जो न चाहे सो सो किसी के लिये न चाहना।

[द. ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानुः पृ. ७३९]

पडौसी के साथ ऐसा बर्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं, वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें।

[द ग्र. प्र. भा. व्यवहारभानु पृ. ७४३]

जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है। बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीडा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीडा देने वाले अधर्मी बलवानों से किंचिन्मात्र भी भय शंका न करके इनको पीडा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन मन और धन से सदा करना है, वही मनुष्यों जाति का निज का गुण है [क्योंकि जो बुरे काम के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय शंका नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं ।]

[द॰ प्र॰ प्र॰ भा॰ व्यवहारभानु पृ॰ ७५२]

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं जो ईश्वर के गुणकर्मस्वभाव अभिप्राय, सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुंचाते हैं । और शोक है उनपर जो कि इनसे विरुद्ध, स्वार्थी, दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्तमान हैं । पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं । और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं ।

[द॰ प्र॰ प्र॰ भा॰ गोकरुणानिधि॰ पृ॰ ९१९]

सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन मन धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है ? देखो परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिये ही रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन मन धन परोपकार ही के अर्पण करो। . ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। .. इसलिये आजतक जो हुआ सो हुआ, आगे आंखें खोलकर सबके हानिकारक कर्मोंको न कीजिये और न करने दीजिये। . आप लोगोंका यही काम है कि पक्षपात छोड सबकी रक्षा और बढती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड, सर्वोपकारक कर्मोंको करके, सब लोग आनन्दमें रहे ।

[द॰ प्र॰ द्वि॰ भा॰ गोकरुणा॰ पृ॰ ९३२-९३४]

जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिये।

(द॰ प्र॰ प्र॰ भा॰ स॰ प्र॰ ३ य समु॰ पृ॰ १२६)

मनुष्यों को योग्य है कि सब मंगल कार्योंमें अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञद्वारा ईश्वरोपासना करें।

[द॰ प्र॰ द्वि॰ भा॰ संस्कारविधि, पृ॰ १३]

क्योंकि सबका उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। ...जब वायु और वृष्टि जल को बिगाडने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है। ... सबके उपकार के लिये यज्ञका अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

[द॰ प्र द्वि॰ भा॰ ऋग्वेदादि॰ पृ॰ ३२१]

जब होम से वायु जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होनेसे सबको दुःख होता है, इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये।

[द॰ प्र द्वि॰ भा॰ ऋग्वेदादि॰ पृ ३१९]

यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टि जलका दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है। इस कारण से इसका निवारण करना भी मनुष्यों को उचित है।

[द॰ प्र द्वि भा॰ ऋग्वेदादि॰ पृ ३२०]

देखो जहां होम होता है वहां... अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के वायु के साथ दूर देशमें जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। .. केशर, कस्तुरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि... सुगन्धका यह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंको छिन्न भिन्न और हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है। ... इस होम करनेके बिना पाप होता है । क्योंकि जिस मनुष्यके शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड कर रोगोत्पत्तिका निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है उतना ही

पाप उस मनुष्य को होता है। इस लिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध व उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्तिको सुख विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है।... जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तबतक आर्यदेश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था [अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय।]

[द० ग्र० स० प्र० भा० तृतीयसमु० पृ० १२६-१२७]
[देखो द० ग्र० द्वि भा० ऋग्वेदादि पृ० ३२६]

अग्निहोत्र [से लेके अश्वमेधपर्यंत जो कर्मकाण्ड है उस] में चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केशर आदि है, दूसरा मिष्ट-गुणयुक्त जो कि गुड और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशक गुणयुक्त जो कि सोमलतादि औषधि आदि हैं। [इस वाक्य के देखो स्पष्टीकरणार्थ विस्तारसे चार प्रकार के द्रव्यों के लिये (द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार पृ० १४ तथा द०ग्र० प्र० भा० पञ्चमहायज्ञविधि, पृ० ८७५-८७६ इन चारों का परस्पर-शोधन संस्कार और यथायोग्य मिलाके अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इससे जब जगत् को सुख होता है। ... सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उनमें छौंक देने से वे सुगंधित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगंधद्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढानेवाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है। इससे वह परोपकार के लिए ही होता है।... [जनता नाम जो] मनुष्यों [का है उसी] के सुख के लिए यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ३१६-३१७]
[देखो द० ग्र० प्र० भा० पञ्चमहायज्ञ पृ० ८.६]

जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग अलग होके आकाशमें रहते ही हैं; क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुतः अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गंधादि दोषों का निवारण करनेवाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बडा उपकार और सुख अवश्य होता है।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ३२६]

वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यंत यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ३९१-३९२]
[तुलना करो द०ग्र०द्वि०भा०ऋग्वेदादि पृ० ३९६]

सर्वदिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करनेवाले होम को किया करें।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ४४८]

जब विद्या से प्रकाशित ... ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्वसमुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तम समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है, वह सब लोगों का संग्रह करके बारम्बार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है। ... जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् सांगोपांग चारों वेदों का शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी

प्रकाशमान होता, उसमें सम्पूर्ण दिव्य गुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं । वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख-क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हितके लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ।

[द० ग्र० द्वि० भा० ऋग्वेदादि पृ० ८९]

हम स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि मिलके प्रीतिसे एक दूसरे की रक्षा किया करें और ...एक दूसरे के पराक्रम की बढती सदा किया करें ... हम एक दूसरे से कभी विद्वेष विरोध न करें । किन्तु सदा मित्रभाव और एक दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्त कर वह सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढाते हुए सदा आनन्द में बढते जावें । . हम लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल हो के सर्वेव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें ।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार० पृ० २१४]

संन्यासी मोहशोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब से उपकार करता रहे ।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार० पृ० २४६]

संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्यायधर्म में स्थित होकर सत्योपदेश सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाता रहे ।

[द० ग्र० द्वि० भा० संस्कार० पृ० २४७]

संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश शंका-समाधान वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें ।

[द० ग्र० प्र० भा० स० प्र० पंचम समु० पृ० २३८]

[मनुष्य] सदा पश्चात् करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता । जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सबका उपकार करें, इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिससे हम लोग सब को सदा सुख देते रहें ।

[द० ग्र० प्र०भा०स०प्र० पञ्चमहायज्ञ पृ० ८५७]

सब आर्य और आर्यसभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द के समय समाज पर भी दृष्टि रक्खें और उसकी धनादि से सहायता किया करें ।

[आ० स० उपनि० सं० ३८, प्रका० सार्वदे० सभा० सं० १९९१ वि]

हे सहनशीलेश्वर! आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों; एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर, प्रीतिमान्, पाखंड-रहित करें....हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें... हम लोगों का पठनपाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हो और अन्योन्य प्रीति से परमवीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें...हे जगदीश्वर! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे, जिससे हम लोग परस्पर विद्वेष न करें, किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सबके सुखोपकार में परम प्रीति से लगावें ।

[द० ग्र० प्र० भा० आर्याभिविनय पृ० ३७-३८]

दशम नियम।

'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।'

सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।

[आ० स० उपनियम स० ३८, प्रकाशक सार्वदेशिक सभा, सम्वत् १९९१ वि०]

[प्रजा के धनाढ्य आरोग्य खानपान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पितासदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।] दोनों अपने,अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। [प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हों। राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले।]

[द०प्र०प्र०भा०स०प्र०६ष्ठ समु०पृ०२७०]

(प्रश्न) जीव स्वतंत्र है या परतंत्र?

(उत्तर) अपने कर्तव्यकर्मों में स्वतंत्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है।...अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतंत्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतंत्र और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

[द० प्र० प्र० भा० स० प्र० सप्तम समु० पृ० ३०२] तुलना करो [द० प्र० प्र० भा० स० प्र० सप्तम समु० पृ० ३०३]

[जो जो पराधीन कर्म हो, उस उस का प्रयत्न से त्याग और जो जो स्वाधीन कर्म हो, उस उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे। क्योंकि जो जो पराधीनता है, वह वह सब दुःख और जो जो स्वाधीनता है, वह वह सब सुख।] परन्तु जो एक दूसरे के अधीन काम हैं, वह वह आधीनता से ही करना चाहिये। [जैसे स्त्री और पुरुष एक दूसरे के अधीन व्यवहार अर्थात् स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का परस्पर प्रियाचरण अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना, पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री और बाहर के काम पुरुष के अधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फसने से एक दूसरे को रोकना अर्थात् यही निश्चय जानना।]

[द० प्र० प्र० भा० स० प्र० चतुर्थ समु० पृ० १०५]

[महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद और जो उन सब में सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उस को राजसभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें।] तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें। सब के हितकारक कामों में संमति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं, उन उन में स्वतंत्र रहें।

[द०प्र०प्र०भा०स०प्र०६ष्ठ समु० पृ०२४२]

सब अपने अपने काम करने में स्वतंत्र हैं, परंतु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के करने के लिए है, बुरे के लिए नहीं।

[द०प्र०प्र०भा०स०प्र० सत्यधर्मविचार पृ०८४३]

सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में पराधीन भी है।

[द०प्र०द्वि०भा ऋग्वेदादि पृ०३८१]

चीन का तॅओ धर्म ।

(TAOISM)

देव-धर्म ।

(लेखक- श्री० पं० जयदेवशर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ, अजमेर)

मनुष्य क्या मानता है और क्या नहीं मानता है यह कहना बहुत कठिन है। जीवन भर मनुष्य अपने अनुभव संकलन करने में ही लगा रहता है। एक से एक अधिक विशेष ज्ञानी और चतुरवाक्-कोविद् पुरुष मनुष्यको टकरतेही रहते हैं। वह अपने जीवनमें उनसे कुछ न कुछ नया सीखता है और पुराने की परीक्षा किया करता है, सहस्रों बातें उसे ग्राह्य, सहस्रों अग्राह्य और अनेक स्वीकार करने योग्य और अनेक खण्डन करने योग्य मिला करती हैं। यदि मनुष्य ज्ञान-पिपासा के भाव से विचरे तो जिनको वह बालक भी समझता है, अनेक वार उनके वचनों में भी अनेक ग्राह्य बातें मिलती हैं, जिनको मूर्ख अनपढ़ कहते हैं, उनके साधारण से साधारण अनुभव भी विशेष महत्त्व के प्रतीत होने लगते हैं।

जिन दिनों मैं वेदभाष्य किया करता था, मैंने एक देहात का बालक नौकर रखा, वह उमर में १३-१४ वर्ष का था, परन्तु वह बडा सहृदय था, पढा लिखा तो कुछ न था। तो भी बात बड़ी गहरी कहता था। उसे एक दिन थोडीसी खीर खाने को दी, जब खा चुका तो प्रसन्न होकर बोला- "माताजी! नीक मलूक लागे" अर्थात् थोड़ी वस्तु बहुत मन को भांती है। यदि अधिक दी जाती तो वह भी अच्छी न लगती। यह कितनी गहरी सचाई उस दिहाती बालकने कही। अस्तु! इसी प्रकार हमारे जीवन में अनेक बातें ऐसी आती हैं जिन्हें जानकर हम उन्हें अन्तरात्मा से सराहने लगते हैं, अनेक बातों में हमें सन्देह उठकर विचारने का अवसर प्राप्त होता है। मनुष्य प्रायः अपने सुने-सुनाए वा पढे-पढाए धार्मिक और दार्शनिक विचारोंपर गर्व किया करता है, परन्तु कभी कभी जब अन्य देशोंके वा अन्य धर्मोंके माननेवालों के विचारों से टक्कर लगती है तब उसको बड़ा विस्मय होता है। वह धैर्यसे उनके मन्तव्य सुनता है, परन्तु अनेकवार उनके मन्तव्यों में भी गहरी बातें उसे मिलती हैं।

इसी विचारसे इस लेखमाला को 'वैदिक धर्म' में प्रारम्भ करते हैं, जिससे वैदिक धर्म को माननेवालों को अन्य देशों के धर्म-मत और सम्प्रदायोंकी बातें भी पढने को मिलें और वे समय समय पर उनकी तुलना वैदिक धर्म वा अन्य भारतीय परिचित धर्मोंसे कर सकें। इससे जहां उनको अनेक लुप्तप्राय समुदायों के विचार ज्ञात होंगे, वहां उनको अनेक ऐसे तथ्य भी ज्ञात होंगे जिन का बडा भारी सम्बन्ध हमारे अतिप्राचीन वैदिक धर्मसे ही होगा। और उसपर हम आश्चर्य करेंगे कि इसकी संगति सिवाय वैदिक धर्म के और किसी प्रकार लग नहीं सकती। अन्य प्राचीन विलुप्त जातियों के इतिहास में भी यदि कोई उज्ज्वल प्रकाश था तो वह 'वेद' वा आर्य-संस्कृति का ही विकृत वा सुकृत रूप था। इस लेख में हम चीन देश के प्राचीन 'तॅओ' धर्म पर कुछ लिखेंगे। ×

चीन में तीन सम्प्रदायोंने बहुत विस्तार प्राप्त

× Tao- तॅओ- इसको इस उच्चारण करना चाहिये जैसे उर्दूवाले 'ऐन' अक्षर का उच्चारण करते हैं या अंग्रेजी में cat में a का उच्चारण करते हैं। Tao का उच्चारण ऐसा है chaos केऑस यह शब्द 'देव' शब्द से विकृत हुआ है।

किया है—

(१) कन्फूशियस-सम्प्रदाय ने, (२) तॅओ धर्म ने और (३) बौद्ध धर्म ने। इन तीनों ने चीन में फैलकर अपने को जादू टोनेसे पृथक् नहीं रखा। इन में भी भूत-प्रेत-पिशाचों की पूजा और पितरों की पूजा का सम्बन्ध जुडा रहा है। कन्फूशियस-धर्म में पूर्वपुरुषों की पूजा ही मुख्य बात है। कन्फूशियन धर्मके विचार भी उदात्त, सुन्दर, चित्ताकर्षक और आगे बढे हुए हैं। तेओ धर्म और बुद्धधर्म भी प्राचीन हैं, उनके सिद्धान्त भी गम्भीरता और उदात्तता में कम नहीं, परन्तु चीन में इन धर्मों का कई शताब्दियों तक भूत-प्रेत-पिशाच-पूजाके साथ सम्बन्ध रहनेसे ये दोनों सम्प्रदाय अब बहुत नीचे आ गिरे हैं। वह अब घोर कर्म और "शमन-तन्त्र" (श्रमणतान्त्रिक) विद्या के सिवाय और कुछ नहीं रहा।

तेओ-धर्म।

'तॅओ' धर्म एक सदाचारकी स्मृति है, एक शिष्टाचार-का-धर्म है। उसमें जीवन-निर्वाह के लिये उत्तम उत्तम सद्विचार और उत्तम उत्तम नियमोंका संकलन किया गया है। ईसासे ६०४ वर्ष पूर्व तेओ धर्म का संस्थापक महात्मा लाओजे (Lao Tsze) अपनी माता के गर्भ में प्रकट हुए थे। ये महात्मा-कथा किंवदन्ती है, कि अपनी माता के गर्भ में ८० वर्ष तक रहे और जब उत्पन्न हुए तो उनके सिरपर हिम-धवल बाल थे। उसी से उनका नाम 'लाओ त्स्जे' पडा। इसका अभिप्राय है 'वृद्ध बालक' बूढा बालक और मान्य ऋषि।

चीन के इतिहास में यह कोई विस्मयजनक बात नहीं हुई। अस्सी (८०) वर्षों तक माता के गर्भ में रहना यह यद्यपि प्रकृति के नियमों के विपरीत है, तो भी इसका अभिप्राय वैदिक मर्यादा पर दृष्टिपात करने से ही खुलता है। बालक या शिष्य का गुरुगृह में जाकर विद्याध्ययन करना माता-सावित्री के गर्भ में रहना है। स्नातक होकर विद्याध्ययन करके दीर्घश्मश्रु होकर ४८-५० वर्ष के ब्रह्मचर्य के अनन्तर लोक-मार्ग में प्रकट होना यह प्राचीन काल में माता के गर्भसे उसका प्रसव ही समझा जाता था। विद्याध्ययन, ब्रह्मविचारणा आदि के लिये गुरुगृह में दीर्घजीवन वास करना यह आर्य वैदिक-मर्यादा उस समय चीन में थी ऐसा विदित होता है। परन्तु किंवदन्ती विकृत होकर इतनी ही रह गई कि "लाओ त्स्जे" महान् ऋषि थे और वे ८० वर्षों तक माता के गर्भ में रहे, अर्थात् वे सावित्री माता-गुरु-आश्रम के गर्भ में ८० वर्ष तक रहे और अनन्तर खूब ज्ञानवान् तपस्वी के रूप में संसार में प्रकट हुए। अस्तु।

'लाओ त्स्जे' की धर्मोपदेश-पुस्तक का नाम है 'तॅओ तेत किंग'। यह पुस्तक इतनी छोटी है कि जिसका विस्तार मार्कचित इंजीलसे भी आधा है। अर्थात् इसे भगवद्गीता का आधा समझिये। 'तॅओ' का अर्थ है मार्ग, अर्थात् मनुष्यको अपने जीवन में कौनसा मार्ग ग्रहण करना उचित है।

'तॅओ' (देव या तपः) वह एक मूल तत्त्व है जो सर्वशक्ति है, जो समस्त संसार पर शासन कर रहा है, वह सब का एक मात्र गम्य मार्ग, परम-अध्वा, महापथ, राजमार्ग है। तॅओ धर्म में कर्म-संन्यास का बडा उपदेश है। 'लाओ त्स्जे' का कथन है कि वह परम तत्त्व, परम धर्म, स्वयं कुछ नहीं करता और इसी कारण वह सब कुछ कर रहा है। लाओ त्स्जे के वचनों पर 'त्सुआंग त्स्जे' ने टीका की है। वह लिखता है कि- "मनुष्य 'तॅओ' में इसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे मच्छी पानी में। क्योंकि (१) वह सबको आच्छादित करता और सब को व्याप और ढक रहा है। (२) परन्तु कोई भी

१- परमेश्वर को जल से उपमा- " शं नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। (वेद)

'तॅओ' को सुन नहीं सकता। (३) मनुष्य जो वस्तु सुनता है वह 'तॅओ' नहीं है। कोई उसको देख नहीं सकता। (४) कोई इसको कह नहीं सकता। (५) उसका कोई रूप-आकार नहीं है। तो भी वह सबको रूप-आकार देनेवाला है। 'तॅओ' ने संसार के सब पदार्थ उत्पन्न किये हैं, परन्तु वह उनमें से स्वयं एक भी नहीं है। (६) अन्य सब विचारों से रहित, और सब ध्यानों से रहित होकर मनुष्य तॅओ का ज्ञान कर सकता है, सब कर्मों का त्याग कर दो, तो संसार भर तुम्हारे लिये कल्याणकारक हो जावेगा। (७) अपनी सब अकल (तर्क) मुंह के रास्ते उगल दो, भेदभाव देखना छोड दो, अपने आत्मा को सब बन्धनोंसे मुक्त कर लो, रिक्त हो जाओ और शून्य या अभाव, या अव्यक्त रूप हो जाओ।

(८) जब मनुष्य एक बार शिखर पर पहुंच जाता है, जहां वह इस सांसारिक जीवन के परस्परविरोधी व्यर्थ के व्यक्त जालोंसे ऊपर उठ जाता है, तब वह पवित्र आत्मा हो जाता है। (९) तॅओ सब पदार्थों का परम तत्त्व है, उसका न आकार है और न स्थूल द्रव्य, वह अनन्त है, आत्मा और प्रकृति दोनों का आश्रय है। जो मनुष्य 'तॅओ' को धारण कर लेता है, तॅओ उसको बहुत ऊपर उठा लेता है, चाहे तापके घोर दुःसह प्रभाव से सागर सूख जाय, परन्तु उस को कुछ भी ताप अनुभव नहीं होगा। चाहे आकाशगंगा जमकर हिमराशि हो जाय, परन्तु उसको शीत न लगेगा। चाहे समस्त पर्वत बिजलीकी कडक से टुकडे टुकडे हो जावें, चाहे समुद्र उमड कर करारों पर आ उछले तो भी वह अविचलित रहता है। (१०) इसके अतिरिक्त वह मेघोंपर भी सवार है, सूर्य चान्द को चला सकता है। वह बाह्य संसार की उन सीमाओंसे भी परे चला जाता है, जहां उसको मृत्यु सता नहीं सकती।

इस चीनी महात्मा का कथन है कि-'काल और भले और बुरे पर विचार मत करो और उस अनन्त के शासन में रहकर वहां नित्य निरन्तर विश्रान्ति प्राप्त करो। (११) तॅओ समस्त जीवन का मूलतत्त्व (प्राणों का प्राण) है। परन्तु कोई भी जीव उसके तुल्य नहीं है, ये समस्त प्राकृतिक रूप उसीके परिवर्तनशील विकृति हैं।'

यह 'तॅओ' तत्त्व का वर्णन है। क्या यह वर्णन पाठक उपनिषदों और गीता के वर्णनों के समान नहीं देख रहे? इसका एक वाक्य के समान उपनिषदों और गीताओं में से अनेक वाक्य तुलना-रूपमें उद्धृत किये जा सकते हैं। स्पष्ट प्रतीत होता है कि महात्मा लाओ त्जे कोई भारतीय उपनिषद्-कालका ऋषि था। जो उपनिषदों की प्राचीन

२-३-४ न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनो न विद्मो, न विजानीमः-(केन-उपनिषद्)। यद् वाचा नभ्युदितं. ...... यन्मनसा न मनुते, ... यच्चक्षुषा न पश्यति, ... यच्छ्रोत्रेण न शृणोति।' इत्यादि (केन उपनिषद्)

५-स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण ...... परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् ...... (ईशोपनि० ८)

६-नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (कठ उप० २, २३)

७-यदा स वै प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (कठ ६।१४) मुक्ति जैसे-तं स्वात् शरीरात्-प्रवृहेत् मुञ्जाद् इव इषीकं धैर्येण॥

८-अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। (कठ०)

९-न हन्यते हन्यमाने शरीरे। (कठ० २।१९) अच्छेद्योऽयमदाह्योयम् (गीता)।

१०-महद् भयं वज्र मुद्यतं, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। (कठ०६।३)

११- स उ प्राणस्य प्राणः। (केन १।२)

शिक्षाओं को चीनमें उपदेश करने के लिये २८ वर्ष तप करके सन्तरूप में प्रकट हुआ था और कर्मसंन्यास (Inaction) की दीक्षा देता था।

'तॅओ' शब्द 'तपस्' (तपः) शब्द या देव शब्द का रूपान्तर प्रतीत होता है। वेदमें 'तपः' या देव की बडी महिमा है। अघमर्षण मंत्रमें ऋत और सत्य को भी अभीद्ध (अति तेजोमय) तपसेही प्रकट या उत्पन्न हुआ मानते हैं। गायत्री में देव का महत्त्व है। ऋत का अर्थ ज्ञान और सत्य का अर्थ सत्-प्रकृतिसे उत्पन्न जगत् है। इसी प्रकार भागवत तथा उपनिषदोंमें भी तप और देव का बहुत वर्णन किया गया है। ब्रह्म को अरूप, अस्पर्श्य, अच्छेद्य, अग्राह्य आदि विशेषणोंसे स्थान स्थानपर बतलाया है, केनोपनिषद् में कितना सुन्दर कहा है कि-जो आंख, कान, प्राण आदिसे ग्रहण नहीं किया जाता और जो इन सबको ग्रहण करता है। इत्यादि। भेदभाव को छोडना, समदर्शी होना, यह सब गीता और उपनिषदों के ही विचारों के प्रतिबिम्ब हैं।

इसी प्रकार तॅओ की शरण में आकर मनुष्य का सब द्वन्द्वोंको सहने में समर्थ सिद्धियां प्राप्त कर लेना, यह भारतीय ऋषियों का प्रदर्शित मार्ग ही है, अन्य किसी का नहीं। योरोपीयन लोग इस तॅओ का रहस्यवाद पढकर वर्ड्सवर्थ (अंग्रेज कवि) के एकान्त रहस्यवाद के स्वप्न देखने लगते हैं। उसने अपने कुछ काव्योंमें वेही विचार प्रकट किये हैं, जो लाओ त्से ने किये हैं। अर्थात् जैसे 'संसार, सांसारिक पदार्थों की तृष्णा हमारी दिव्य भावना की निर्मल धाराओं को सुखा देती है, तब हम आन्तरिक सत्य जीवन का रसास्वाद नहीं ले सकते। वास्तविक सत्य जीवन वही है, उसीसे हमारे जीवन का सत्य अभिप्राय विदित होता है, उसीसे परम सुख प्राप्त होता है। सुख तो ध्यान ज्ञान में है, (कर्म) में नहीं। सुख हममें है, पदार्थों में नहीं। यदि वह हमारे हृदय में न हो तो ये पदार्थ हमें कोई सुख देही नहीं सकते' इत्यादि।

तॅओ धर्म की विकृति।

'लाओ त्से' की यह गम्भीर आध्यात्मिक औपनिषदिक शिक्षा कुछ कालतक विशुद्ध बनी रही, परन्तु बाद में उसको माननेवाले उसे भूलने लगे और भूत-प्रेत-की पूजा में फंसने लगे। तान्त्रिक मूल विद्याओं और आभिचारिक षड् कर्मों में लग गये। लाओ त्से का विशुद्ध दर्शन एक सम्प्रदाय या पन्थ वा मतवाद में बदल गया। उसमें छोटे बडे अनेक देवताओं के मिथ्या कथावाद घुसड गये। जहां लाओ त्से का ज्ञानोपदेश ३०० श्लोक भी न था परन्तु बढ कर वह भी एक पोथन्ना हो गया। उसमें इतनी मिथ्या वा काल्पनिक कथाएं आ जुडीं उसमें इतने जादू मन्त्र, सेनेटन मत आ घुसे कि उनका एक अच्छा कंठ का बोझा हो गया। यह वृद्धि ऐसीही समझनी चाहिये कि मानो भगवद्गीता का गुटका फैलकर भागवतपुराण हो गया। और फैला तो उसी में पद्मपुराण और वैष्णव आगम बन गये। २२१ ई० पूर्व में तॅओ धर्म के भिक्षुक और तान्त्रिक पूर्वके समुद्र में एक परियों का ऐसा टापू मानते थे, जहां अमर-लता उगती है। वे आकाशमें देवी देवताओं को बसा मानते, भूमिपर तान्त्रिक भिक्षुओं और तॅओ-मत के भोपोंको बसा मानते थे। यदि मरणशील आदमी सब भावनाओं का निरोध कर ले और अनन्त जीवन की विद्या सीख ले, तो वह स्वर्गमें जा सकता है। तॅओ धर्मकी देवताओं में एक दिव्य 'स्वर्ग की रानी' या 'पवित्र माता' है।

तॅओ मतकी 'समुद्र की तारा'—

उपरोक्त माता को 'समुद्रकी तारा' कहते थे। उसका नाम 'लिन' है। वह १७ वर्ष में देह छोडकर आकाश में चली गई और उसने वायु और समुद्र पर अधिकार कर लिया। इसकी पूजा वहां जहाजी मल्लाहों। इसकी प्रतिमा-मूर्ति हरेक चीनी केवट के घरमें मिलेगी।

लिन के सम्बन्ध में कथा भी बडी रोचक है। लिन

फूकिन नगरमें रहती थी। उसके पडोसी सब मछियारे थे। वह मछियारे-कुल की ही थी। एक रात बडा जोर के झक्कड चला, कुमारी एक झोंपडीमें अपनी माता के साथ सो रही थी, अचानक उस कुमारी का हृदय अपने भाइयों तथा अनेक बन्धुओं के प्रति गया, कि वे इस झक्कड में विकराल समुद्र-तल पर प्राणसंकट में होंगे। कन्या का हृदय बेचैन हो उठा। वह झोंपडी से निकल पडी, और अपना कुछ भी विचार न करके उनकी सहाय के लिये अधीर होकर समुद्र तट पर आई। समुद्रमें कूद कर तैरने लगी, समुद्र की पर्वतोंके समान भयकर उत्तुंग लहरों में वह निर्भय होकर तैर रही थी, उसका बल-साहस निरन्तर बढता ही जाता था, उसने तीन 'जक्' (यक्ष) देखे, जिन्हों ने उसके प्रिय बन्धुओं को पकडा हुआ था। उसने हाथ फैलाकर दो हाथों से दो को और तीसरे को मुख से पकडा और घर को लौट आई। जब तट की ओर आई, तो उसने अपनी माता की पुकार सुनी, उसने मुख का जक (यक्ष) तो छोड दिया, उसकी आत्मा झोंपडीमें फिर आ गयी। परन्तु उसने उस जक (यक्ष) को भी वास्तव में छोडा नहीं था।

बन्धुबांधवों के प्रति ऐसे प्रेम-अनुराग के कारण उसको 'स्वर्गकी रानी' मान लिया गया। चीनी समुद्री जहाजियोंने उसे अपना पूज्य सन्त-देवी मान लिया। जब जहाजी प्रार्थना करते हैं, तो वह तलवार लेकर आकाश में मेघों को चीरता से चीरती है, वह घोर तमोमय रात्रियों में तीन झक्कडों में भी समुद्रतलपर लाल दीपक लेकर उतरती है, उस प्रकाश के आश्रय से खेनेवाले सब भय-संकटों से मुक्त हो जाते हैं।

अमृत की वटी और जीवन की बूटी।

प्रथम शताब्दी में तान्त्रिक 'चाग-तेओ-लिंग' सबसे प्रथम तॅओ धर्म का गुरु और धर्माचार्य हुआ। उसके समय अमरता प्राप्त करने की गोली के खोज निकालने का भारी यत्न प्रारंभ हुआ। उस समय के तॅओ सम्प्रदाय के तपस्वी भी अन्य शमनों (श्रमणों) के समान अपने जड शरीर से आत्मा को पृथक् करके ऐसे ऐसे स्थानों की यात्रा कर आते, जहां मानवप्राणी कभी पहुंच न सकता था। वे ऐसा मानते थे कि, कहीं सुदूर पङ्कामयी भूमिमें एक वृद्ध तपस्वी है, जिसकी भौंहें पूरी पड गई हैं, वह वायु पर जीता है, उसकी आंखों में हरा तेज है, उससे वह समस्त वस्तुओं के छुपे रहस्य जान लेता है। प्रति सहस्र वर्ष वह अपनी हड्डियों को पलट लेता और सब देह के मल स्वच्छ कर लेता है। उत्तरपूर्व में आकाश में कहीं, जीवन की बूटियां आती हैं। यदि उनको मनुष्य खा ले, तो अमर हो जाय। उन बूटियों तक पहुंचने में मार्गमें लाल जलकी नदी है, जिसमें हलका पख तक डूब जाता है। इसी प्रकार उत्तरध्रुव के पास अग्नि-दर्पण का पहाड है, उसके पास एक झील के तटपर ऐसी घास उगती है, जो रातको दीपक के समान चमकती है। उसको तोडकर घरमें धर लो, घरभर चमक उठता है। उसके प्रकाश में भूतप्रेतों की शकलें भी नहीं छुप सकतीं। इसी प्रकार जीवन की निहारिका है, वह भी कहीं दिव्य सरोवरों में उठे पचरंगी बादलों से उत्पन्न होती है। जब मनुष्य इस निहारिकाके द्रवबिंदु पान कर ले, तो बूढा भी जवान हो जाय, बीमारभी चंगा हो जाय। चांग तओ लिंग बडा भारी तांत्रिक प्रसिद्ध हुआ, उसको बहुत चमत्कारिक शक्तियां और सिद्धि प्राप्त हो गई थीं, वह अपनी लेखनी के एक अक्षरमात्रसे सहस्रों भूतों और राक्षसों का दमन कर सकता था।

जीवन-गुटिकाएं।

ऐसा प्रसिद्ध है कि तॅओ-तांत्रिक लोमडी का रूप धरकर जीवन-अमृतवटिका तैयार किया करता है। चीनी कथा उस सम्बन्ध में इस प्रकार है कि एक नौ जवान किसान एक अमीर के महल के पासके बागों के पास से गुजर रहा था, उसने अचानक हवामें कुछ वस्तु तैरती हुई देखी। वह स्फटिक का स्वच्छ गोलासा था, वह उसके लिए बाग की बाडपर चढकर बागमें उतर गया। वहां

और कोई आदमी न था। उसने देखा कि कुत्ते की शकल का एक जानवर चान्द की ओर ताक रहा है, वह जब सांस लेता है, तो उसके मुंहमें से आग का गोला निकलता है और चान्द की ओर चला जाता है। जब वह सांस भीतर खींचता है, तो वह आगका गोला फिर वापस उसकी दाढों में आ अटकता है। यह वह जम्बुक-तांत्रिक था, जो जीवनामृत तैयार करता था। उस किसान नव युवकने उसकी बनाई गोली चुरा ली और स्वयं खा गया, उसको भी बडी सिद्धियां प्राप्त हो गईं, वह अदृश्य हो जाता, भूतप्रेत देख लेता, भूतों से काम लेता था।

जब तॅओ-सम्प्रदायके तांत्रिकों का जोर बढा, तो उस समय के राजे महाराजे अपने आश्रय में अनेक तांत्रिकों को जमा करते और अनेक अद्भुत अद्भुत प्रयोगों का चमत्कार देखा करते। उनके सम्बन्ध में भी अनेक कथाएं हैं। तॅओधर्मी चीन में 'तांत्रिक' होना बडे गौरव की बात समझी जाती है।

आजकलका तॅओ धर्म।

तॅओ धर्म के जादूगर लोग बडी लम्बीचौडी डींगें हांका करते हैं। वे गर्व करते हैं कि वे चूने को पकाकर उसको सोना बना लेते हैं, सीसे को चांदी बना लेते हैं, वे भी किमियागरों के समान पारसमणि की खोज में रहते हैं कि जिसे छूते ही सब धातु सोना हो जाय। वे बडा ही गुप्त जीवन व्यतीत करते हैं। वे पानी को ऐसे ढंग से पत्थर से मिलाते हैं कि जिससे पत्थर उबल कर मोती मोती हो जाय। वे सांपों और अजगरों को पाल लेते हैं, उनपर सवार हो कर पृथ्वी की आठों दिशाओं के आठों धामोंकी यात्रा कर सकते हैं। वे मायामय ढोल बजाते, मायापूर्ण वंशी बजाते हैं, जिनकी तालपर सूर्य की किरणें भी नाचने लगें।

तॅओधर्म के प्रथम आचार्य का शिष्य दावा करता था कि उसके पूर्वपुरुषों की आत्मा उसके शरीर में भी रहती थी, वह 'लुङ्ग ह्यू' पर्वतपर रहती थी। उसके पास पुराने धर्मग्रन्थ और इष्ट देव की मूर्ति, एक तलवार और एक मुद्रा थी।

सत्य बात यह है कि तॅओ धर्मके सच्चे सिद्धांतों को तो लोग भूलने लगे और चीननिवासियों की मूर्ख और जड प्रकृतिने उस औपनिषदिक दार्शनिक धर्मको 'भूत-प्रेत-पिशाच-पूजासे' और 'जादू टोना' से शबलित कर दिया। परब्रह्म के एकत्व के सिद्धान्त को उन्होंने पारसमणि की खोज में बदल दिया। अमरता अर्थात् जीव-आत्मा का विश्वात्मा में लय होने के गूढ सिद्धान्त को उन्होंने अब अमर-रसायन की खोज में लगा दिया। २०० वर्ष ईसासे पूर्वके चीनके अनेक राजे-महाराजों के द्वारोंपर अनेक तॅओ संन्यासी-साधु घिरे रहते थे, जो कच्ची धातों को फूंक फूंक कर दृढ धातु बनानेके उपाय ढूंढते रहते थे, जो जवानी की रसायनवटिकाएं बनाने में लगे रहते थे। तॅओ धर्म के संस्थापक की स्मृति यदि तॅओ धर्म का कुछ गुण शेष है, तो यह कि लोग अभी भी फूल फुलवाडी के निसर्गसौन्दर्य को प्रेम करते हैं। नही तो अधिकांश तो तॅओ-सम्प्रदायी लोग प्रायः नजूमी, नैमित्तिक, शाकुनिक, शामन् और टोना टमनन, भूतप्रेत के पुजारी हैं, जो भोले, अशिक्षित लोगोंकी सिधाई पर अपना जाल बिछाते रहते हैं।

तॅओ पन्थी साधु या भक्त के लिए स्वर्गारोहण का एक यह विचार भी बडा मोहक था कि, वह इतना सिद्ध तपस्वी हो कि वह वर्षों विना भोजन जी सके और एक दिन उसको उसकी इस तपस्याका फल मिले। मायामय दिव्य सुगन्ध आकाश में व्यापे, श्वेत और नीले हंस इधर उधर आकाश में विहार करें। मेघपर फूलों की गन्धदेवता और अन्य देवता विराजें और वह तपस्वी उन देवताओं के भीतर विचरने लगे, दिव्य गाजे-बाजे बजें, वह महान् आकाश में देवताओं के साथ विचरे और अपने बन्धुबांधवोंसे बिदाई ले। अलंकाररूप से तो भगवान् का अग्निमय रथ उस तपस्वी को स्वर्ग में ले जाता है, या यह भी एक मनोमोहक भावना हो सकती है कि शीतल

मेघ में वह किस उत्तमता से विहार कर के स्वर्ग जावे।

चीन और जापान में बौद्ध धर्म।

पांचवी शताब्दी में भारतवर्ष से बौद्धधर्म जाकर चीन और जापान में फैला। पहले वह भी बहुत शुद्ध रूपमें था, परन्तु बाद में उसपर भी वही तुषार पडी, जो तँओ धर्मपर पडी। मंगोल जातिके स्वभाव-सिद्ध भूत-प्रेत-पिशाचपूजन-धर्म पर वह भी विजय नहीं पा सका। एक तरफ तो बौद्धधर्म के ऊपर भी पितरों का तर्पण की गठडी लदी और दूसरीओर विकृत जादू-टोना, जन्त्रमन्त्रों से पूर्ण तान्त्रिक बोझा लदा। अब तो तँओ और बौद्ध धर्म दोनों में तांत्रिकता एक समान है। उनको पृथक् नहीं किया जा सकता।

जपानमें बौद्ध धर्म

५९३ के लगभग कोरिया के मार्ग से जापान में भी बौद्धधर्म फैला। बौद्ध धर्म के भी कई सम्प्रदाय हैं, सबसे नीचा पन्थ- हीनयान है। इसका ध्येय जीव की वैयक्तिक मुक्तिमात्र है। उसकी 'जोदो' शाखा यह मानती है कि प्रार्थना व मन्त्रों अनन्त वार पाठ करने और अन्धे विश्वास से धार्मिक कृत्य करने से मुक्ति हो जाती है। बौद्ध धर्म की 'जेन' (ज्ञान) शाखा मानती है कि केवल समाधि या ध्यानयोग से ही सत्य तत्त्व प्राप्त होता है। 'निचिरेन' सम्प्रदाय के मानते हैं कि केवल एकही बुद्ध है, वह आकाश में चन्द्र के समान चमकता है और सब बुद्ध तरंगों में अनेक चन्द्रप्रतिबिम्बों के समान उस एक सत्य बुद्ध भगवान् के प्रतिबिंब या आभासमात्र हैं। 'शिशु' सम्प्रदाय के लोग अन्य सम्प्रदायों से अधिक उन्नत हैं, वे जादू-टोना और गण्डा-तावीज कुछ नहीं मानते।

चीन और जापान के भिन्न भिन्न बौद्धसम्प्रदाय विचारों और मन्तव्यों की दृष्टि से भले ही बहुत भिन्न हैं, वे सम्प्रदाय परस्पर झगडते और वादविवाद भी करते रह सकते हैं, परन्तु उनमें ईसाई और मुसाई सम्प्रदायों के समान विचारभेद के कारण कभी एक दूसरे को क्रूरता से सताने का यत्न नहीं किया, एक दूसरेको ईसाइयों की तरह से आग की भट्टियों में नहीं भुनवाया या जेलों में अनेक यातना-पीडाओं में नहीं पीसा। इस दृष्टि से तो ईसाइयत को बौद्धसम्प्रदायोंने बुरी तरहसे नीचा दिखाया है। परन्तु दूसरी ओर जापान के भीतरी युद्धों में, [१२ से १६ शताब्दीतक] रोमन कैथलिकों के भिक्षु और बिशपों के समान ही बौद्धभिक्षु और आचार्यों, मठाधीशोंने भी सशस्त्र होकर तलवार को ही मुक्ति के द्वारका मुख्य साधन मान लिया था।

दैवत-संहिता के विषयमें सम्मतियाँ

'दैवत-संहिता' के विषयमें अनेक विद्वानो की संमतियाँ आगयी हैं, उनमें निम्नलिखित संमतियाँ यहां प्रकाशित करते हैं-

(१)

श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज सोलापूर से ता० १८।५।३९ के पत्र में लिखते हैं—

"दैवत संहिता" का नमूना मिल गया, तदर्थ धन्यवाद। **यदि आप इसके छापनेमें सफल हो गये तो आर्य जाति,वैदिक धर्मियों पर विशेष ही उपकार होगा।**

इस नमूने से अभी यह समझ में नहीं आया कि जहां एक ही मंत्र पाठभेद से उसी वेद में वा दूसरे में आया है, उसका आपने क्या प्रबन्ध किया है? यह मन्त्र अनेक वार लिखेंगे वा केवल पाठभेद देकर हि पता लिख देंगे?

(२)

श्री० पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति गुरुकुल-सोनगढ ता० १४।५।३९ के पत्र में लिखते हैं।

आपका 'दैवतसंहिता' विषयक पत्र मिला। चारों वेदों के मंत्रों के साथ जिस शाखा संहिता के मंत्रों को लिखें उस शाखा संहिता की प्रतीक भी टिप्पणी में लिखें तो उत्तम हो। जिस मंत्र में देवता शब्द का स्पष्ट निर्देश नहीं है किन्तु देवता को किसी विशेषणसे संबोधित किया है, तो उस विशेषणको मोटे अक्षर में करके आगे कोष्ठ में देवता-वाचक विशेष्य पद लिखें। एक एक देवता के जितने विशेषण आये हों उनके ऊपर एक दो तीन इत्यादि अंक लिखकर निर्देश करें तो मालूम हो जायेगा कि किस किस देवता के कितने कितने विशेषण हैं। उन विशेषणों के अर्थ परिज्ञान से देवता के स्वरूप के स्पष्टीकरण में सुविधा होगी। शेष कार्य सब उत्तम है। मेरा नाम ग्राहक संख्या में लिख दें।

(३)

पं० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार, अजमेरसे ता० १।५।३९ के पत्रमें लिखते हैं—

'आपने जो दैवतसंहिता को विना स्वरांकित छापने का विचार किया है, उसपर पुनः विचार करें। मेरा विचार है कि आप सर्वत्र वेदमंत्र सस्वरहि छापें। आपकी दैवत-संहिता विचार करनेवाले पंडितों के लिये है, इसलिये इसमें स्वर का होना आवश्यक है।

आपने जब यह कार्य हाथ में लिया है, तब आप जैसे विद्वान् के हाथ से यह सर्वांगसुन्दर, पूर्ण व शुद्ध होना चाहिये।

(४)

१. अथर्ववेद मिला, भारतमुद्रणालय की छपाई और सफाई ती पहिलेही भारतभर में प्रसिद्ध है, परन्तु वेद की छपाई तो पराकाष्ठा तक पहुंची हुई है। ओ३म् आपको वेद प्रचार में अधिक से अधिक सफल करें।

२. "दैवतसंहिता" पर आपका लेख में १९३९ के वैदिक धर्म के अंक में पढा, और इससे पूर्व भी पढता रहा हूं। मेरे विचार में दैवत-संहिता छप जाने पर बहुतही उपयोगी सिद्ध होगी!!!

दैवत-संहिता छप जाने के पश्चात् कदाचित् भाषांतर भी लोग दै० सं० का करना चाहेंगे!!! इन अवस्थाओं में जो आप दै० सं० के मंत्रों पर स्वर चिह्न न देने का विचार कर रहे हैं, वह कई पंडितों को बडा ही दुःखदायी होगा! क्यों? इस लिये कि दै०सं० स्वाध्याय के लिए चारों वेदों से सब प्रकार एक बढिया पुस्तक होगी! मुझे यह खुशी भी है कि जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में एक ही वेद था, उसी प्रकार आपके पुण्य-प्रताप से अब फिर एक वेद हो जायगा, जिस से कि पुनरुक्ति दोष भी हट जायेंगे, और प्रत्येक विषय के मन्त्र एकत्र मिल सकेंगे! जो काम आप कर रहे हैं, वह निःसंदेह सराहनीय हैं, और मुझे तो इस काम में भी ओ३म् का हाथ काम करता दिखाई देता है। ओ३म् आपकी सभी शुभ इच्छाएं पूर्ण करे।

गणपतराव बी० गोरे आर्य्य (कराची)

(५)

आपकी योजना दैवत-संहिता के विषय में अति सराहनीय है। मेरी अपनी धारणा है कि देवता एक रहनेपर भी प्रसंगवश उसी देवता के अन्तर्गत कई अर्थ मंत्रों के हो जाते हैं और चारों वेदों में वही पुनरुक्त होकर भी कुछ भिन्न भिन्न अर्थ दर्शाते हैं। इस दृष्टि से पुनरुक्त मंत्रों को छोड देनेपर उनका प्रसंगानुसार अर्थ लगाने में कठिनाई होगी। कदाचित् कई महानुभाव मंत्रों के एक ही अर्थ में फस जांये और वेदमें पुनरुक्त दोष भी अधिक सामने आ जाये। मैं केवल पल्लवग्राही स्वाध्याय करनेवालों में से हूं, तथापि अपने विचार आपके सम्मुख रखने का साहस किया है। पुस्तक का आकार अवश्य बहुत बढ जायगा इस प्रकार सब मन्त्र यथा स्थान फिर से देनेपर। परन्तु यदि सम्पूर्ण मन्त्र का देना पुस्तकाकार के कारण सम्भव न हो तो प्रत्येक ऐसे स्थलपर जहां मंत्र छोडा गया हो, उस मन्त्रकी प्राप्ति के लिये उसका पुस्तकस्थ स्थान संकेत द्वारा बतलाने पर भी स्वाध्यायशील व्यक्तियों को सहायता मिल जायगी। आप ऐसा करना आवश्यक तथा सहायक समझे तो पुस्तक के प्राक्कथ्य में इसका वर्णन भी कर सकते हैं। मेरे विचार में उस प्रकार पुस्तक अधिक उपादेय बन जायगी। वेदोद्धार के इस कार्य में आपका प्रयास स्तुत्य है। समाज आपका अत्यन्त आभारी रहेगा ऐसी आशा है।

भवदीय—श्रीभूषण गुप्त, सोजतरोड.

(६)

म० नारायण दलपतराम भगत ता० २०।५।३९ के पत्र में अहमदाबाद से लिखते हैं—

दैवतसंहिता अवश्य छापो, उसके भोक्ता अनेक होंगे। हरएक मंत्र उसके छन्दके अनुसार, पाद का छेद करके ही छापने का विचार है। आज तक ऐसा किसीने नहीं किया है। ऋषि देवता से छन्द का पूरा ज्ञान अधिक उपयोगी है। मंत्रों के छन्द आजतक संदेहयुक्त रहे हैं। आपने ही उनकी शुद्धि के लिये प्रयत्न किये हैं, धन्य है आपको। श्री प्रभु आपको वेदसंबंधी अधिक कार्य करने के लिए आयु और शक्ति दो ऐसी प्रार्थना है।

(७)

पं० मदनमोहन विद्याधर बीजवाडा ता० १५।५।३९ के पत्र में लिखते हैं—

'दैवत संहिता के मुद्रण' की सूचना नमूने की प्रति समेत मिली। जिन बातों पर १, २, ३, आदि करके सम्मति मांगी हैं, उनमें से प्रत्येक से मैं पूर्ण रूप से सहमत हूँ। मैंने उसे अत्यन्त ध्यान से पढ लिया है।

परन्तु उसके टाइप बनावट, छपाई आदि के विषय में कुछ बातें लिखना चाहता हूं। उचित समझे तो स्वीकार करने की कृपा करें।

दैवत-संहिता का प्रकाशन वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के पुनीत कृत्यमें युगांतर पैदा करनेवाला है। इसका प्रकाशन होने के बाद वेदार्थज्ञान इतना सरल हो जावेगा, शायद इसकी कभी कल्पना भी कभी नहीं की हो। वेद स्वयं अपने अर्थों का प्रकाशन कैसे करते हैं, यह दैवत-संहिता में प्रत्येक देवता के पृथक् संग्रहित मंत्रोंके पाठ मात्र से ही पता चल जावेगा। जो व्यक्ति जरासी भी संस्कृत जानता होगा और जरा बुद्धिमान् होगा तो उसके इस दैवत-संहिताके पाठ मात्रसे वेदार्थ गुत्थियां सुलझती जान पडेंगी। एक देवता विषयक मंत्रों को बार बार पढने से मुझे व्यक्तिगत ऐसा अनुभव हुआ, सो समझता हूं कि इस प्रकार का पृथक् देवतावार संग्रह सभी वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिए 'जायेव पत्युरुशती सुवासा' का उदाहरण बन जायेगी।

जब यह कार्य इतना महान् है तो इस के प्रकाशनमें भी अत्यन्त सावधानी होनी चाहिए। मैं उसके लिए दो सजेशन देना चाहता हूं।

(१) इसका प्रकाशन कुछ मोटे टाईप में होना चाहिए। टाईप बहुत छोटा है। इससे कागज की बचत् तो अवश्य होगी, पर पढने में, पाठ करने में अत्यन्त कठिनाई होगी।

वृद्ध जनों में धर्म के शास्त्रों के पढने की जितनी चाह होती है, उतनी जवानों को नहीं। यह स्पष्ट है, स्वाभाविक है। इससे आप भी इन्कार नहीं कर सकते। वे लोग इनका प्रतिदिन पाठ करना चाहेंगे। इसके लिये मोटा टाईप होना जरूरी है। क्योंकि उनकी दृष्टि कमजोर होती है।

मेरी युक्ति हंसीवाली प्रतीत तो होगी, पर एक तथ्यसे भरी है और वह यह कि इसका टाईप छोटा होने से इसकी लोकप्रियता घटेगी। खरीद कर भी, उससे कम पढा जावेगा, क्योंकि पढने में कष्ट अनुभव होगा।

(२) मंत्र दो कालमों में न छापकर जैसे ऋग्वेद छपा है वैसी ही दैवत संहिता छापीये।

यह ग्रंथ धार्मिक है, हमें इसे संसार के कोने कोने में पहुंचाना है। केवल कुछ पुस्तकालयों या विद्यार्थियों या विद्वानों के हाथों तक ही सीमित नहीं रखना। यदि यह सच है तो हमको उसी ढंग से प्रकाशित करना चाहिये जिस ढंग से यह—

१ अधिक आकर्षित हो सके।

२ पाठ के लिये सुविधाजक होवे।

३ उत्तम, सुस्पष्ट हो।

और वह ढंग वह नहीं जो आपने नमूने के पृष्ठ पर रक्खा। आंख चाहती है कि विना भार पडे, विना रुके आंखें सरकती जांये। ये दोनों बातें इस नमूने से पूरी नहीं होती। **अतः बडे टाईप में छापीये।**

मेरी सूचना यदि मानी जाये तो ठीक है कि १००० पृष्ठों के स्थानपर २००० लगेंगे, पर वह यदि आपके कार्य को अधिक सुचारु रूपसे सम्पादित करे तो वैसा हो ही जाना चाहिए, करना ही चाहिये।

आपका विनीत

मदनमोहन विद्याधर

(८)

श्री भारद्वाज नडियाद (ता० २१।५।३९) के पत्र में लिखते हैं कि **'दैवत-संहिता'**की आपकी कल्पना अच्छी है। इसमें प्रत्येक देवता के मंत्रों में उप प्रकरणों की व्यवस्था की जाय तो अच्छा होगा।

मुझे इस संहिताका ग्राहक समझिए।

(९)

श्री प्रो० स० प्र० मिराशीजी (मोरिस कालेज नागपूर) अपने २४।५।३९के पत्र में लिखते हैं कि **'दैवत-संहिता'** की योजनापत्रिका मिली। इस विषय में केवल एक मेरा अनुरोध है कि टाईप बडे (ऋग्वेद की तरह) लगाईये। चाहे दाम दूना कर देना पडे। अग्रिम ग्राहकों में मेरा नाम लिखिए। मैं शीघ्र ही मूल्य भेज दूंगा।

॥ ॐ ॥

वेदोपदेश।

यशके लिये पुरुषार्थ।

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥१॥

(ऋ०८।६७।१३)

"जो (क्षितीनां) मनुष्योंके (मूर्धानः) सिर स्थान में रहनेवाले (अदब्धासः) न दबनेवाले (अद्रुह) द्रोह न करनेवाले, (स्वयशसः) अपने यशके (व्रताः) कर्म (रक्षन्ते) रक्षा करते हैं, वे प्रशस्त हैं।"

तात्पर्य यह है कि अपने यश बढाने के पुरुषार्थ करके अपना धवल यश चारों दिशाओंमें बढाना चाहिये। इसके लिये सब मनुष्योंमे श्रेष्ठ होना चाहिये, किसीके सामने दब जाना भी उचित नहीं। तथा सत्य धर्म की सदा रक्षा करनी चाहिये। इस रीतिसे जो मनुष्य पुरुषार्थ करेंगे, वे यशस्वी हो सकते हैं।

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः। रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिं ॥२॥

(यजु० १२।११०)

"(अध्वरस्य) हिंसारहित सत्कर्मका (इष्कर्तारं) प्रचारक (प्रचेतसं) उत्तम ज्ञानी, (राधसः महः) सिद्धिदायक महत्त्वका (क्षयन्तं) निवास करानेवाला, (वामस्य) इष्टका (सुभगां रातिं) उत्तम दान देनेवाला,(महीं इषं) बडी प्रबल इच्छा और (सानसिं रयिं) विजय देनेवाले संपत्तिका (दधासि) तू धारण करता है।"

(१) सत्कर्मका प्रचार करना, हिंसारहित श्रेष्ठ पुरुषार्थ करना, (२) उत्तम ज्ञान प्राप्त करना, (३) महान् सिद्धिका साधन करना, (४) उत्तम दान देना और (५) विजययुक्त धनको पास करना चाहिये। इसीसे यश बढता है।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथुश्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ ३ ॥ (ऋ० १।९।७)

"हे (इंद्र) प्रभो! (अस्मे) हमारे लिये (बृहत्) बडा (गोमत्) गौ तथा इंद्रियोंवाला, (वाजवत्) बलयुक्त, (अ-क्षितं) नाश न होनेवाला (पृथुश्रवः) विस्तृत यश (विश्व-आयु) पूर्ण आयुतक (सं धेहि) उत्तम प्रकार धारण कर।"

मनुष्यको ऐसा यश संपादन करना चाहिये कि जो बल की वृद्धि करनेवाला, दीर्घ आयुके अंततक अपने नाम के साथ रहनेवाला और इंद्रिय-शक्तियोंको पूर्ण शक्तिमे रखनेवाला अर्थात् किसी प्रकार भी शक्तिकी क्षीणता न करनेवाला हो। तात्पर्य यश के साथ बल, आरोग्य और दीर्घ आयु होनी चाहिये।

सुमतिका प्रचार।

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥४॥ (ऋ० १।१७।४)

"(शचीनां युवाकु) शक्तियोंको प्राप्त करनेवाले, (सुमतीनां युवाकु) उत्तम बुद्धियोंके प्राप्त करनेवाले तथा(वाज-दाव्नां) बल देनेवालों में मुख्य हम (भूयाम) होवें।"

(१) शक्तिको बढाना,(२) मन और बुद्धि की शक्ति विकसित करना और (३) दूसरों की सहायता करनेके लिये अपने बलका प्रदान करना, ये मनुष्यके तीन कर्तव्य हैं। इनके करनेसे मनुष्य यशस्वी होता है।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे ॥५॥ (ऋ० १।८९।१)

"(नः भद्राः क्रतवः) हमारे कल्याणमय पुरुषार्थ के कर्म

(अ-दब्धास.) न दबते हुए, (अपरीतासः) विघ्नरहित और (उद्भिदः) उत्कर्षको पहुंचाने योग्य होकर (विश्वतः आ यंतु) फैलें, तथा (दिवे दिवे) प्रतिदिन (रक्षितारः) रक्षा करनेवाले (अप्रायुवः) न भूलते हुए ख्याल करनेवाले (देवाः) ज्ञानी लोग जिस प्रकार (नः सदं) हमारे घर (वृधे) वृद्धिके लिये (असन्) रहेंगे, ऐसा करो ।"

अपने पुरुषार्थ ऐसे होने चाहिये कि जो सबको लाभ पहुंचानेवाले, विजयी और सर्वत्र उपयोगी हों, जिनके कारण सब लोग हमारी रक्षाके लिये सिद्ध रहें और हम भी अपनी शक्तिके द्वारा सब अन्योंकी रक्षा कर सकें।

देवानां भद्राः सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभी नो निवर्तताम् । देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥ (ऋ० १।८९।२)

(देवानां) देवतालोगोंकी (भद्रा सुमतिः) कल्याणमयी सुबुद्धि हमें प्राप्त हो । (ऋजूयतां देवानां) सीधे स्वभाववाले देवता लोगोंका (रातिः) दान (नः अभिनिवर्ततां) हमें प्राप्त हो । देवतालोगोंके साथ (सख्यं) मित्रता (वयं उपसेदिम) हम करेंगे । ये देवता लोग (नः जीवसे) हमारी दीर्घ आयुके लिये हमे (आयु) दीर्घ आयु (प्रतिरन्तु) प्रदान करें ।"

सज्जनोंकी कल्याणमयी बुद्धि हमारे अनुकूल हो, उनकी सहायता और मित्रता हमें प्राप्त हो और वे हमें दीर्घ आयु प्राप्त करनेमें सहायता दे । अर्थात् जातिमें अथवा राष्ट्रमें जो श्रेष्ठ सत्पुरुष होते है, उनको उचित है कि वे अन्योंको उक्त प्रकार सहारा देकर श्रेष्ठ मार्ग में प्रवृत्त करें, जिससे सबकी सब जाति यशस्वी होने के कार्य कर सके।

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः । सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षस संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥७॥ (ऋ० १।११०।४)

"(वाघतः) पुरुषार्थी मनुष्य (शमी) शांति स्थापनके कर्म (तरणित्वेन विष्ट्वी) सत्वर करके (मर्तासः सन्तः) मरणधर्मवाले होते हुए (अमृतत्वं आनशुः) अमरपन प्राप्त करते हैं । (सौधन्वनाः) उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले (सूरचक्षसः) तेजस्वी, (ऋभवः) कारीगर ज्ञानी, (धीतिभिः) धारणाशक्तिसे (संवत्सरे समपृच्यन्त) एक वर्षके अंदर पूर्ण बने है । "

पुरुषार्थी मनुष्य शांतिस्थापनके कार्य करके अमरपन प्राप्त करते है । शूर, तेजस्वी और ज्ञानी मनुष्य धारणावती बुद्धिके योगसे एक वर्षके अंदरही पूर्ण सिद्धि प्राप्त करते है ।

प्रकाशका मार्ग ।

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति । आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥८॥ (ऋ० १।११३।१६)

"(उदीर्ध्वं) उठो, (नः असुः जीवः) हमारा प्राण जीवात्मा (आगात्) आया है । (तमः) अंधकार (अप प्रागात्) दूर हो गया है । ज्योति (एति) प्राप्त होती है । (सूर्याय यातवे) सूर्यके लिये जानेके अर्थ (पंथां) मार्ग (आरैक्) प्रकट हुआ है, (यत्र) जहां (आयु. प्रतिरन्ते) आयु बढती है, वहां (अगन्म) हम पहुंचे है ।"

(१) उठो, अपने चारों ओर देखो कि क्या चल रहा है । (२) प्राण अर्थात् नवजीवन हमें प्राप्त हुआ है । (३) हमारा अज्ञानांधकार दूर हो गया है और (४) हम ज्ञानसूर्यके प्रकाशमें आचुके हैं, (५) प्रगतिका मार्ग खुला गया है, (६) अर्थात् जहा हमारी आयु बढेगी, वहां ही हम आ चुके हैं । अब हम धर्मानुष्ठानद्वारा श्रेष्ठ पुरुषार्थ करेंगे और यशके भागी बनेंगे ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ब्रह्मणे स्वाहा॥ (अ०१९।४३।८)

"जहां (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी दीक्षा और तपके साथ

शुद्धाचरण करते हुए (यांति) जाते हैं, वहां (ब्रह्मा) ज्ञानी (मा तत्र नयतु) मुझे वहां ले जाय। (मे) मुझको (ब्रह्मा) ज्ञानी (ब्रह्म) ज्ञान (दधातु) देवे। ब्रह्मणे स्वाहा) ज्ञानके लिये त्याग करता हूं।''

जिस सर्वोत्कृष्ट स्थानमें ब्रह्मज्ञानी जाते है, वहां ज्ञानीकी सहायतासे मुझे जाना है। ज्ञानीसे ज्ञान प्राप्त करके उसके साथ ही वहां जाना होता है। इसलिये मैं भी उसी मार्गसे वहां जाऊंगा और ज्ञान प्राप्त करके श्रेष्ठ बनूंगा।

मनुष्य का उद्देश्य।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥१०॥ (ऋ० १।६।३)

''हे (मर्याः) मनुष्यो!(अ-केतवे)अज्ञानी के लिये (केतु) (कृण्वन्) देता हुआ और (अ-पेशसे) अरूपके लिये (पेशः) रूप देता हुआ तू (उषद्भिः) उषःकालोंके साथ (अजायथाः) उत्पन्न हुआ है।''

मनुष्य का जन्म इसलिये हुआ है कि वह अज्ञानी को ज्ञान देवे और विरूप को सुंदर, हृष्टपुष्ट करे। जिस प्रकार सूर्य उषःकालके पश्चात् आकर सबको प्रकाश और सुंदर रूप देता है, उसी प्रकार करनेके लिये मनुष्य जन्मा है।

भवा नो अग्ने अवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो वयोधाः। रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रास्वोत नस्तन्वोऽ अप्रयुच्छन् ॥११॥ (ऋ० १०।७।७)

''हे (अग्ने) अग्रणे! तू (नः) हम सबका (अविता) रक्षक भव (भव) हो जाओ। (उत गो-पा भव) और इंद्रियसंरक्षक बनो। (उतः वयः-कृत) और दीर्घ आयु करनेवाला तथा (नः वयो-धाः) हम सबमें तारुण्य का वय धारण करनेवाला हो जाओ। हे (सुमहः) अत्यंत पूज्य! (च नः) और हम सबको (हव्य-दातिं) अन्नका दान (रास्व) देओ। (उत नः) और हम सबके (तन्वः) शरीर (अ प्र युच्छन्) क्षीण न करता हुआ (त्रास्व) सुरक्षित करो।''

स्वत्व—रक्षण, इंद्रिय—संयम, दीर्घ आयु, तारुण्यका उत्साह, भक्ष्य अन्नका दान, शरीरपोषण और शरीरसंरक्षण सबको करना चाहिए।

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह। सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥१२॥(ऋ० १०।१०१।९)

''हे (देवाः) विद्वानो! (देवीं) दिव्य (यज्ञियां) पूज्य और पवित्र (व. धियं) आपकी बुद्धिको (ऊतये) संरक्षणके लिये (आवर्ते) आकर्षित करता हूं। (सा) वह आपकी बुद्धि (नः) हम सबको सहायता वैसी देवे, जैसी (मही) बडी (गत्वी) चपल गाय (यवसा) घास खाकर (पयसा सहस्रधारा) दूधकी हजारो धाराएं (दुहियात्) दोहन करके देती है।''

विद्वान् लोग अन्य साधारण जनोंको योग्य सहायता देकर उनको ऊपर उठनेका मार्ग बनावें।

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये। निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥१३॥ (ऋ० १०।१०१।१२)

''हे (नरः) लोको! आपमें (क-पृत्) आनंदकी पूर्णता करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इसलिये (क-पृथं) आनंदकी पूर्णता करनेवालेका (उत् दधातन)सन्मान कीजिए। सबको (वाज-सातये) बलकी प्राप्ति करनेके लिये (चोदयत) प्रेरणा कीजिये और आप स्वयं (खुदत) मर्दानी खेल खेलिए। (निष्टि-ग्र्यः पुत्रं) निष्ठा अर्थात् श्रद्धासे पवित्र बने हुए (इंद्रं) परम ऐश्वर्यवानको (इह) यहां (स-बाधं) उत्सुकतासे (ऊतये) सबके संरक्षणके लिये और विशेषतः

(सोम-पीतये) सोमपानके के लिये (आ-च्यावय) ले आइए ।

सदा आनंदित रहना चाहिये । बलकी उन्नति करनी चाहिये । खुली जगहमें खेल खेलने चाहिये और हरएक कर्म पूर्ण निष्ठा से करने चाहिये ।

आगे बढ ।

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुंचमानः । मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥१४॥ (अथर्व० ८।१।४)

"हे पुरुष! (अतः) इस वर्तमान अवस्थासे (उत्क्राम) आगे बढ । (मा अव पत्थाः) मत नीचे गिर । (मृत्योः पड्वीशं अवमुंचमानः) मृत्युके पाश को तोडता हुआ आगे बढ । (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे (अग्नेः सूर्यस्य संदृशः) अग्निरूप सूर्यके तेजसे (मा च्छित्थाः) मत अलग हो । "

वर्तमान अवस्थासे अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करना हर एक का कर्तव्य है । मृत्युके पाश तोडकर अमरपन प्राप्त करना चाहिये और कभी गिरने के कार्य करने नहीं चाहिये । इस लोकमें सूर्यप्रकाश ही आरोग्य का साधन है, इसलिये उन्नति करनेवाले मनुष्य सूर्यप्रकाश में रहकर आरोग्य प्राप्त करें और उन्नतिके मार्गसे आगे बढें ।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि । आ हि रोहेममममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥१५॥ (अथर्व० ८।१।६)

"हे पुरुष ! (ते उत् यानं) तेरी उन्नति होवे (न अवयानं) नीचे गिरावट न होवे । (ते) तेरे (जीवातुं) जीवन के लिये (दक्षतातिं) दक्षताका बल (कृणोमि) करता हूं । (इमं अमृतं सुखं रथं) इस अमृतमय सुख देनेवाले रथपर (आरोह) चढ और (जिर्विः) स्तुत्य बनकर (विदथं आवदासि) सभामें भाषण कर ।"

अपनी उन्नति करनी चाहिये । गिरावटके कार्य कभी करने नहीं चाहिये । इसीलिये जीवन और बल प्राप्त हुआ है । इस शरीररूपी उत्तम रथपर सवार होकर सभाओंमें कार्य करते हुए आगे बढना चाहिये ।

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् । गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १६ ॥ (अथर्व० ८।१।१३)

"(बोधः) ज्ञान और (प्रतिबोध) विज्ञान तेरी रक्षा करें । (अस्वप्नः) फूर्ति (अनवद्राणः) स्थिरता तेरा संरक्षण करें । (गोपायन) रक्षक और (जागृविः) जागनेवाले तेरा संरक्षण करें ।"

ज्ञान और विज्ञान, फूर्ति और स्थिरता, रक्षा करना और जागृत रहना, ये सब भाव मनुष्यके सहायक बनें, अर्थात् इनका यथायोग्य उपयोग करनेसे मनुष्यका अभ्युदय हो सकता है । "

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः । भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥१७॥ (अथर्व० ४।३१।७)

"(वरुण) श्रेष्ठ आत्मा और (मन्युः) उत्साह ये दोनों (संसृष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (समाकृतं) सुसंस्कृत किया (उभयं धनं) दोनों प्रकार का धन (अस्मभ्यं धत्तं) हमारे लिये धारण करें । शत्रुहृदयोंमें (भियः) भय (दधानाः) धारण करते हुए (पराजितासः) पराजित होकर (अपनिलयन्तां) भाग जायें । "

आत्मिक बल और उत्साहसे सब प्रकार का धन हमारे पास इकट्ठा हो जाय । तथा हमारे सब शत्रु पराजित होते हुए दूर भाग जाय । इस प्रकार अपने शत्रुओंको दूर भगाकर अपनी प्रगति का साधन करना चाहिये ।

विजयी उत्साह।

यस्ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्। साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१८॥(अथर्व०४।३२।१)

"हे (वज्र सायक मन्यो) शस्त्रके समान उग्र उत्साह! (यः ते अविधत्) जो तेरा सेवन करता है, वह (विश्वं सहः ओजः) सब प्रकारका विजयशाली बल (आनुषक्) सदा प्राप्त करता है। (त्वया युजा) तेरे साथ रहकर (सहस्वता सहसा) विजयी बलके साथ हम सब (दासं आर्यं) दास और आर्यका (साह्याम) निर्णय करेंगे।"

उत्साह बडाही तेजस्वी है। उत्साहसेही विविध प्रकारका विलक्षण बल प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठ और कनिष्ठ का निर्णय हो जाता है। इसलिये प्रगतिशील मनुष्यको सदा अपने अंदर विजयी उत्साह बढाना चाहिये।

सहस्रों युद्ध।

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्र प्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥१९॥(ऋ० १।७।४)

"हे (उग्र इंद्र) उग्र प्रभो! (उग्राभिः ऊतिभिः) अपने वीर्ययुक्त रक्षणोंके द्वारा (सहस्रप्रधनेषु वाजेषु) सहस्रों प्रकारके धन प्राप्त करनेके अनेक युद्धोंमें (नः अव) हमारा रक्षण कर।"

मनुष्यजीवन युद्धमय हो है। रोग, मनके दुष्ट विचार आदिकोंके साथ युद्ध, सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके साथ युद्ध, तथा सर्दीगर्मी के साथ युद्ध, ये सब युद्ध करके ही मनुष्य जीवित रह सकता है। उन्नति प्राप्त करना, विजय कमाना, ऐश्वर्य संपादन करना, आदिके लिये उक्त युद्ध करने होते है। जो उग्रवीर्यसे युक्त होते है, उनका विजय होगा और अन्य पराजित होंगे। इसलिये संपूर्ण युद्धोंमें उग्रवीर्य से पराक्रम करके अपना विजय प्राप्त करना चाहिये। परमेश्वर उग्रवीर्य होनेके कारण ही सर्वत्र विजयी और सबका रक्षक होता है। उसी प्रकार सबको होना चाहिये

निष्कंकट मार्ग।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्। समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥२०॥(ऋ०१०।८५।२३)

(अनृक्षरा) कंटकरहित (ऋजवः) और सीधे सरल (पंथाः संतु) मार्ग हों, (येभिः) जिनसे (सखायः) हमारे मित्र (यंति) चलते हैं। (अर्यमा) न्यायकारी (भगः) धनवान् सबको (सं निनीयात्) उत्तम प्रकारसे चलावे और हे देवो! (जास्पत्यं) जाया और पति अर्थात् स्त्रीपुरुष (सुयमं) उत्तम नियमोसे चलनेवाला (अस्तु) होवे।"

सब मार्ग निष्कंटक हों और सीधे हों। सीधे मार्ग से ही सब चलते रहें। सदाचारी भाग्यशाली सत्पुरुष अन्योंके मार्गदर्शक हों और हरएक कुटुंब उत्तम नियमोंसे चलनेवाला हो।

पत्थरोंवाली नदी।

अश्मन्वतीरीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः। अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाऽभि वाजान् ॥२१॥ (ऋ० १०।५३।८॥)

"(सखायः) भाईयो! यह (अश्मन्वती) पत्थरोंसे भरी हुई नदी (ईयते) जोरसे चल रही है। (सं रभध्वं) एक दूसरेको सख्त पकडो और (उत्तिष्ठत) उठो, सिद्ध होकर चलो और (प्र-तरत) जोरसे तैरो। (ये) जो (अ-सेवाः) सेवन करने अयोग्य पदार्थ (असन्) हैं, उनको (अत्र जहाम) यहां ही फेंकते हैं और (वयं) हम सब जब (उत्तरेम) पैल तीरपर उतरेंगे, तब (शिवान्-वाजान्) कल्याणकारक अन्नों और बलोंको (अभि) सब प्रकारसे प्राप्त करेंगे।"

यह मनुष्य जिस उन्नतिकी गतिसे चल रहा है, उसके मार्ग में पत्थरोंवाली एक भयंकर नदी है। उसके पार होनेके पश्चात् ही उसको सुख प्राप्त होना है। इसलिये मिलकर चलना और इसके पार होनेके लिये जोरसे तैरना अत्यंत आवश्यक है। पाठक इस अलंकार का अपने व्यवहार में अनुभव ले और इससे विशेष बोध प्राप्त करें।

समाजकी प्रगति के लिये मिलकर उन्नति करनी, जोरसे पार होनेका प्रयत्न करना, आवश्यक बातोंको पास करके अनावश्यक पदार्थोंको दूर फेंककर अपना बोझ हलका करना, इत्यादि उपदेश यहां हैं और वे हरएक को देखने योग्य है।

अश्मन्वतीरीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः। अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाऽभि वाजान् ॥ २१ ॥ उत्तिष्ठता प्रतरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् ॥ अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाऽभि वाजान् ॥ २७ ॥ (अथर्व० १२।२।२६–२७)

इन मंत्रोंमें "वीरयध्वं" (अर्थात् बडा पुरुषार्थ करो, शौर्यवीर्यके साथ बडा प्रयत्न करो) ऐसा अधिक उपदेश है। ऋग्वेदके मंत्रमें जहां "अ-शेवाः" (असेवनीय) शब्द है,वहां अथर्ववेदमें "दुरेवाः" (दुःखदायी, दुःख-परिणामी) और "अ शिवाः" (अ-शुभ) ये दो शब्द है। तथा ऋग्वेदके "शिवान्" (शुभ) शब्दके स्थानपर अथर्ववेदमें "अन्–अमीवान्" (रोगरहित) और "स्योनान्" (अनुकूल, हितपरिणामी) ऐसे शब्द हैं।

स्वावलंबन।

स्व१र्यन्तो नाऽपेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी यज्ञं ये विश्वतो–धारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥२२॥ (अथर्व. ४।१४।४)

"(ये) जो (सु–विद्वांसः) उत्तम विद्वान् (विश्वतो-धारं यज्ञं) सब प्रकारसे धारण-पोषण करनेवाले सत्कर्मोंको (वि–तेनिरे) विशेष प्रकारसे फैलाते हैं, वे (रोदसी द्यां रोहन्ति) दोनों लोकोंमेंसे ऊपर होते हुए स्वर्गपर चढते हैं और (स्वः-यन्तः) अपने तेजको फैलाते हुए (न अपेक्षन्ते) किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते।"

विद्वानोंको उचित है कि वे स्वावलंबन का आश्रय करें और सदा अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंपर निर्भर न रहें। जो मनुष्य स्वावलंबनके मार्गसे प्रगति करते हैं, वेही उत्तम यशस्वी होते हैं।

बलवर्धन।

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतनीकाय सुमनस्यमानाः। तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥२३॥ (अथर्व० १।३५।१)

"(यत्) जिस (हिरण्यं)सुवर्णको (दाक्षायणाः) बलवान् (सुमनस्यमानाः) उत्तम मनोभावनाओंसे युक्त लोगोंने (शत अनीकाय) सौ सेनाओंके नायक के लिये (आ अबध्नन्) बांधा है, (तत्) उसको (आयुषे) लाभके लिये, (वर्चसे) यशके लिये (बलाय) बलके लिये, (शत शारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षवाले दीर्घायुत्वके लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बाधता हूं।"

सेनानायकको सुवर्ण से सुभूषित करते हैं,उसी प्रकार हरएक शूरकोभी उसके अनुकूल सुवर्णभूषण देना योग्य है। भूषित होने के समय वह वीर मनमें यह समझे कि यह यश, तेज, बल तथा दीर्घायु के लिये मुझे प्राप्त हुआ है। अर्थात् अब इनकी प्राप्ति अवश्य करनी चाहिये।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवाना मोजः प्रथमजं ह्येऽतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥२४॥ (अथर्व० १।३५।२)

"(न रक्षांसि) न हिंसक (पिशाचाः) न मांसभोजी (एनं सहन्ते) इसको दबा सकते हैं। (हि) यह (देवानां) देवोंका (प्रथमजं ओजः) पहिला सामर्थ्य

है। (यः) जो (दाक्षायणं हिरण्यं) बलवर्धक सुवर्ण (बिभर्ति) धारण करता है, (सः) वह (जीवेषु) जीवोंमें (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयु (कृणुते) करता है।"

दाक्षायण सुवर्ण एक प्रकारका सुवर्ण है। उसको धारण करनेसे शरीरका बल तथा आयुष्य बढता है।

कुसंस्कारोंको दूर करो।

यदाशसा निःशसाऽभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप-दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥२५॥
(ऋ० १०।१६४।३)

"(आशसा) आशा के कारण, (निःशसा) दोषके कारण, (अभिशसा) कुसंस्कारके कारण, (जाग्रतः स्वपन्तः) जाग्रतिके समय अथवा स्वप्नके समय, (यद् यद् उपारिम) जो जो दोष हम सबसे हुए हैं, वे (अ-जुष्टानि) असभ्य (विश्वानि दुष्कृतानि) सब दुराचार (अग्निः) तेजस्वी आत्मा (अस्मद् आरे) हमसे सबसे परे (अपदधातु) करें।"

लोभ, दोष और कुसंस्कारोंके कारण मनुष्योंसे दुराचार होते हैं। इसलिये असभ्य भाव और दुराचारके भाव सबसे प्रथम दूर करने चाहिए।

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि। प्रचेता न आंगिरसो द्विषतां पात्वंहसः॥२६॥
(ऋ० १०।१६४।४)

"हे (इन्द्र ब्रह्मणः-पते) समर्थ ज्ञानके स्वामिन्! (यत्) जो (अभि द्रोहं) दुष्ट घातपात (चरामसि) मैंने किया होगा, उसके मूल कारण (द्विषतां अंहसः) द्वेषके पतित भावोंसे (अंगि-रसः प्रचेता) अंगोंमें रसरूप रहनेवाली विशेष प्रकारकी चेतनाशक्ति (नःपातु) हम सबको बचावे।"

द्वेषमूलक कुसंस्कारों के कारण घातपात करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये आंतरिक जीवनकी चेतना-शक्तिके बलसे उक्त द्वेषमूलक कुसंस्कारोंसे बचना चाहिए।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥२७
(अ० ४।१३।१)

"हे (देवाः देवाः) देवो विद्वानो! (अवहितं) अधोगत मनुष्यको पुनः (उन्नयथाः) उन्नत करते हो। हे देवो! (आगः-चक्रुषं) अपराध करनेवालेको (उत) भी पुनः (जीवयथाः) उत्तम जीवनसे युक्त करते हो।"

ज्ञानी विद्वान् महात्माओंको उचित है कि वे नीच, हीन अधोगत और अपराधी पापी मनुष्यको भी योग्य उपदेश द्वारा उन्नत और पवित्र जीवनवाला बनावें।

आयुर्वेदप्रकरण।

वैद्यका लक्षण।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥२८
(ऋ० १०।९७।६)

जिस प्रकार राजा लोक अथवा क्षत्रिय (समितौ इव) सभामें अथवा युद्धमें एकत्रित होते हैं, उस प्रकार (यत्र) जहां औषधियां (सं अग्मत) इकट्ठी होतीं हैं, उस (वि-प्रः) विशेष ज्ञानी मनुष्यको ही (भिषक्) वैद्य कहते हैं। वह ही (रक्षो-हा) राक्षसोंका हनन करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोग दूर करनेवाला कहा जाता है। इस मंत्रमें वैद्यका लक्षण बताया है। (१) संपूर्ण औषधियां अपने पास ठीक प्रकार रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध अर्थात् अपने शास्त्रका सांगोपांग जिसने अध्ययन किया है, (३) जो युक्ति और योजनासे (भिषज्यति) रोग दूर कर सकता है, (४) जो राक्षसोंका नाश कर सकता है और (५) जो रोगोंको मूलसे अर्थात् जडसे (चातनः) उखाड देता है। ये वैद्यके पांच लक्षण उक्त मंत्रमें कहे हैं।

" रक्षः, राक्षस " ये शब्द रोग-उत्पादक विषजंतुओंके हैं। " अमीव " नाम उन रोगोंका है कि जो रोग पेटके अपचित अन्न अर्थात् आमसे होते हैं।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो अधराचीः परासुव ॥ २९॥ (यजु० १६।५)

"सब (अ-हीन्) कम न होने, अर्थात् बढनेवाले रोगबीजोंको (जंभयन्) नष्टभ्रष्ट करनेवाला, सब (यातु-धान्यः) राक्षसोंको-रोगबीजो को (अधराचीः) नीचेकी ओरसे जो (परा सुव) निकालनेवाला है, वह (अधिवक्ता) उपदेशक पहिला दिव्य वैद्य (अधि अवोचत्) हम सबको बचाता है।"

इस मंत्रमे वैद्यके लक्षण कहे है-(१) रोगबीजोको नाश करनेला, (२) राक्षसोंका- रोगजंतुओंका संहार करनेवाला, (३) योग्य मार्गका उपदेश करनेवाला और (४) बचानेवाला वैद्य होता है। इस मंत्रमें " अ-हि " शब्द रोगबीजोंका वाचक आया है।

धमनियोंमें विषसंचार।

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः। तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ ३०॥

(अथर्व० ६।९०।२)

"मनुष्य के शरीर में (शतं धमनयः) सैंकडों नसें तथा नाडियां है।(अंगानि अनु) प्रति अवयव में इनकी (विष्ठिताः) स्थिति है। (तासां सर्वासां) इन सब धमनियों से (विषाणि) विषको हम (निः ह्वयामसि) बाहर निकालेंगे।"

इस मन्त्र में दो बातें स्पष्ट कही है-(१) एक यह है कि शरीर के प्रति अवयव में अनेक नाडियां है। तथा (२) दूसरी बात यह है कि उन नाडियोंमें विषसंचार होकर नाना व्याधियां होती हैं। इस कारण उन नाडियोंको सदा निर्विष अर्थात् शुद्ध रखना चाहिये। नाडियों की निर्विषता के ऊपर मनुष्य का स्वास्थ्य अवलम्बित है, यह बात यहां स्पष्ट प्रतीत होती है।

अंगभेदो अंगज्वरो यश्च ते हृदयामयः। यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तत् वाचा साढः परस्तराम् ॥३१॥ (अथर्व० ५।३०।९)

(१)(अंगभेदः) अंग टूखना, (२) (अंगज्वरः) शरीर का ज्वर, (३) (हृदयामयः) हृदय की व्यथा, (४) (यक्ष्मः) क्षयरोग यह सब व्याधियां एकदम नष्ट हो जांयगीं, जिस (श्येन इव) प्रकार श्येन झटपट भागता है।"

इस मन्त्रमें चार प्रकारकी व्याधियो का परिगणन किया है।

ये अंगानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव। यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ ३२ ॥ पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणीभ्यां ते परि भंससः ॥ अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशत् ॥३३॥ सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च ये विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥३४॥ (अथर्व०९।८।२०-२२)

"जिससे अवयवोंके अन्दर मद उत्पन्न होता है और नाना प्रकार के व्याधि होते है, वह विष होता है। पांव, जानु, श्रोणी, पेट, कमर, मस्तक, कपाल, हृदय तथा अन्य अवयव इनके अन्दर जो विष रहता है, उसका नाश उदय को प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंसे करता है। अर्थात् प्रातः काल के सूर्यकिरणोसे अनेक व्याधि नाश होते है।"

इस मंत्रमें विषसे व्याधियोंका उत्पन्न होना तथा सूर्यकिरणोंद्वारा विषका नाश होना स्पष्ट लिखा है। सूर्यकिरण विष दूर करके आरोग्यका संवर्धन करनेहारे है। इस सूर्य का नाम " शोचिष्+केश " ऐसा वेद में आया है, जिससे किरणोंका शुद्धता करनेका धर्म स्पष्ट पाया जाता है।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० मातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद ।	३)	१)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	१॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥
छूत और अछूत ।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना (१-२)	(२)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२)	३)	॥।)
१ सन्ध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	।)
यजु. अ ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत ।	।)	-)

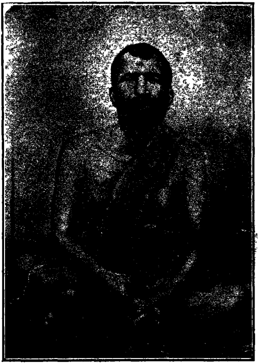
देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग ।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
वैदिक राज्यपद्धति ।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
९ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
८ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजन्तुशास्त्र ।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१६ इन्द्रशक्तिका विकास ।	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद् ।	१।)	।)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग५॥	)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	।।)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

श्रावण १८६१
अगस्त १९३९



श्री रामकृष्ण परमहंस।

वर्ष २०, अंक ८] [क्रमांक २३६

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] [अङ्क ८

विषयानुक्रमणिका

१ निर्भयता।		५१५
२ वैदिक धर्मका वेदांक।	संपादकीय	५१६
३ ईश्वरका साक्षात्कार। (७)	"	५१७
४ भगवद्गीता-समन्वयः।	"	५२८
५ भारतीय स्वतंत्रताको रूपरेखा। (५)	पं. रामावतारजी विद्याभास्कर	५३१
६ महाबन्ध मुद्राका शरीर तथा मनके उपर प्रभाव।	श्री. उमेशचन्द्रजी	५४५
७ उपासना।	पं. रुलियारामजी कश्यप	५४७
८ मंत्रार्थ और गायत्री।	पं. सभाकान्त झा	५५४
९ सत्याग्रहीका स्वाध्याय।	श्री. आचार्य अभयदेवजी	५५८
१० वेदका उपयोग।	श्री. बनवारीलालजी	५६१
११ सुप्रजा-शास्त्र।		५६३
१२ दैवत संहिताका मुद्रण शुरू हुआ है।	सपादकीय	५७१
१३ वेदोपदेश।		१७-२४

अपूर्व पुस्तक! आर्य सभ्यताका दर्शन! आर्य आदर्श!

वैदिक सम्पत्ति।

(द्वितीय संस्करण)

[लेखक- श्री० स्व० पं० साहित्यभूषण रघुनन्दन शर्माजी।]

इस अपूर्व पुस्तक के विषयमें विद्वान् लोगोंकी संमति देखिये-

१. श्री. स्वा. स्वतन्त्रानन्दजी महाराज, आचार्य उपदेशक-महाविद्यालय लाहौर की संमति—

'यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। वेदकी अपौरुषेयता, वेदका स्वतःप्रमाण होना, वेदमें इतिहास नहीं है, वेदके शब्द यौगिक हैं, इत्यादि विषयोंपर बडी उत्तमतासे विचार किया है। मैं सामान्य रूपसे प्रत्येक भारतीयसे और विशेष रूपसे वैदिक धर्मियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वह इस पुस्तकको अवश्य क्रय करें और पढें। इस पुस्तकका प्रत्येक पुस्तकालयमें होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सके, तो भी प्रत्येक समाज में तो एक प्रति होनीहि चाहिये।

२. श्री. आचार्य रामदेवजी, गवर्नर कन्या-गुरुकुल, देहरादून की संमति।

('प्रकाश' में प्रकाशित २० मई १९३४

'मैं प्रकाशकके इन विचारों के साथ पूर्णतया सहमत हूँ कि, इसके लेखकके वैज्ञानिक, भौतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, पुराने शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, नाना-लिपिज्ञान तथा भाषा आदि अनेक विषयोंका दिग्दर्शन इस पुस्तकने हमें कराया है और भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये अनेक पाश्चात्य तथा पूर्वीय विद्वानों के विविध ग्रंथोंकी विवेचना करके आर्यसिद्धांतों को युक्ति और प्रमाणोंसे पुष्ट किया है।

वेदोंकी प्राचीनता स्थापित करते हुए, अर्वाचीन उदाहरण देकर जो वेदोंमें अनित्य इतिहास सिद्ध करनेका अशक्य प्रयत्न किया करते हैं, इसका खण्डन आपने बहुतसे युक्तियों द्वारा उत्तम प्रकार किया है। ...इस प्रकार अनेकानेक प्रमाणोंसे वेदमें अनित्य इतिहासकी स्थापना खंडित की गई है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आर्योंके कलाकौशल के ज्ञानके संबंधमें नयी खोज करके विद्वान् लेखकने अपनी खोजसंबंधी योग्यताका बडा उत्तम परिचय दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि... यह पुस्तक बडीहि उपयोगी और नयी खोज और उपयुक्त प्रमाणोंसे युक्त है। इसलिए हरएक आर्य पुरुष, आर्य उपदेशक, अध्यापक और व्याख्यानदाताके मनन करने और पास रखने योग्य यह पुस्तक है। सभासमाजोंमें इसकी कथा करनी चाहिए, ताकि जनता विद्वान् लेखकके परिश्रमसे पर्याप्त लाभ उठा सके।'

३. श्री. पंडित नरदेवशास्त्रीजी वेदतीर्थकी संमति।

(मसूरी पर्वत ३।९।३४)

'हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यह ग्रंथ 'यथा नाम तथा गुणः' कोटी का है। कई प्रकरण तो इतने

मनोरंजक हैं कि उनको चार बार पढनेपरभी तृप्ति नहीं होती। वस्तुतः ऐसेहि ग्रंथ वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति की महत्ताको प्रसृत कर सकते हैं।... प्रत्येक हिंदी पुस्तकालय व धर्ममंदिरमें रखनेकी वस्तु है।''

४. श्री. स्वामी व्रतानन्दजी महाराजकी संमति

(श्री गुरुकुल, चितौडगड, राजपुताना, २८।८।३४)

'वैदिक संपत्ति' नामकी पुस्तक अपने विषयकी अद्वितीय पुस्तक है। आर्यसमाज के साहित्यमें इसकी समानता की अन्य पुस्तक आजतक नहीं लिखी गई। इस पुस्तक का क्रम ऐसा रोचक है कि पढने में रुचि उत्तरोत्तर बढतीहि जाती है। इस पुस्तकमें यह सफलतापूर्वक सिद्ध किया है कि सुखकी प्राप्ति के लिए वर्तमान सभ्य संसारने जिन उपायों का अवलंबन किया है, वे घातक हैं। उनके स्थानपर संसार जब वैदिक सभ्यता का आश्रय लेगा, तभी उसे सुख प्राप्त होगा। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तकको पढने के पश्चात् कोई भी सत्यान्वेषक वेद और वैदिक सभ्यता का प्रेमी बने बिना नहीं रह सकता। यह पुस्तक संसार के लिये इतनी उपयोगी है कि इसका अनुवाद संसारकी सब भाषाओंमें यथाशक्ति शीघ्रहि हो जाना चाहिए।

५. श्री. पं. देवराजजी विद्यावाचस्पतिजी की संमति।

'बहुत दिन हुए आपकी भेजी हुई ''वैदिक संपत्ति'' नामकी पुस्तक मुझे संमत्यर्थ प्राप्त हुई थी। मैने प्रायः सारी पुस्तक को पढ डाला। जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी है। ...इस पुस्तक में वैदिक सिद्धांतोंके पुष्टिके प्रकार को देखकर हम परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि इस पुस्तक का हिंदुओंके के घर घर में प्रचार हो।'

६. श्री० पं० भगवद्दत्तजी, M.A.की संमति।

(वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मोडेल टाउन, लाहौर ५।९।३४)

'वैदिक संपत्ति' पुस्तक प्राप्त हुआ। अब प्रायः सारा हि ग्रंथ देख गया हूं। ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय और भरि परिश्रम का फल है। अनेक विषयों पर ग्रंथकारका लेखन मार्मिक है।...भाषाविज्ञानपर उनका लेख बहुत विचारपूर्ण है।...पुस्तक मार्मिक है। मैं इसकी जितनी प्रशंसा करूं थोडी है। मैंने स्वयं इससे कई बातों का लाभ उठाया है।......'.

७. 'वैदिक विज्ञान' मासिक की संमति।

(अप्रैल सन् १९३४)

'आपने इस पुस्तक में प्रायः वेद के संबंध में उठनेवाली सभी समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेदके कालनिर्णय, वेदकी रचना का काल, वेदमें इतिहास की सत्ता, वैदिक संस्कृति तथा वेद पर योरोपीयनों के आक्षेप और वेद में उच्च सभ्यता के दिग्दर्शन आदि नाना विषयों पर आपने बडीहि सुंदर, ललित और रुचिकर भाषा में विवेचन किया है। आपकी लेखनशैली विस्तृत और स्वतंत्र है। इसके बीच में से गुजरनेवाला पाठक लेखक के मंतव्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वेदकी बहुतही समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। .. स्वाध्यायप्रेमी के लिये तो यह एक उत्तम और विशद मानसिक भोजन है।'

८. 'आर्यप्रकाश' की संमति।

(ता० ९।९।१९३४)

'साहित्यभूषण पं० रघुनंदन शर्मानां अनमोला परिश्रमना परिणामस्वरूप 'वैदिक संपत्ति' ये विद्वानोने माटे अमूल्य गवरो ग्रंथ छे विद्वान् पाठक वर्गना हृदयागारमां एमनूं स्थान अने श्रम हमेशाने माटे स्थायी जा रहेशे. आर्यप्रजाये आ ग्रंथनी एक एक नकल पोताना घरमां अवश्य राखवी ज जोइये. कपडां अथवा पान सोपारीनो खर्च कमी करी, पण वैदिक संस्कृति प्रत्ये प्रेम दर्शावनारी व्यक्तिये आ पुस्तक ने पोताना घरमां वसाविने पोताने प्रेममूर्त बनवावो जोइये.

९. 'वैदिक धर्म' मासिक की संमति।

'इस अमूल्य ग्रंथ में प्रथम के दो विभागों में वेदों की प्राचीनता, अपौरुषेयता और श्रेष्ठताकी सिद्धि अनेक प्रमाणों से की है। वेद का प्रत्येक वर्ण अपना अपना

स्वाभाविक अर्थ रखता है, यह ग्रंथकारका सिद्धांत है और 'अक्षरविज्ञान' नामक पुस्तक में इसकी सिद्धता की गई है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है और उसका संक्षेप से विवरण करना भी यहां असंभव है, परंतु यह बात इस ग्रंथके प्रथम दो भाग पढने से समझ में आ जायगी और अपनी आर्यसभ्यता की विशेषता भी ध्यान में आ जायगी।

'यद्यपि द्वितीय खण्डमें '**वेदोंकी अपौरुषेयता**' बतानेका मुख्य उद्देश्य है, तथापि ईश्वर, चैतन्य, तुलनात्मक शरीररचनाशास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानवजाति के मूल पुरुष, आदिसृष्टि का स्थान, आदिभाषा, वैदिक भाषा आदि भाषा का संस्कृत, जन्द, फारसी, अंग्रेजी, मिश्र, अरबी, जापानी, द्राविड आदि भाषाओंसे सम्बन्ध, वैदिक भाषाकी अपरिवर्तनशीलता, अक्षरार्थ और लिपि इत्यादि प्रकरण बडे हि उद्बोधक हैं। **यज्ञोंमें आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल, वास्तु, पदार्थविज्ञान, पशुपालन, सार्वभौमराज्य-शासन आदि संपूर्ण शास्त्रों का सम्बन्ध कैसा है, यह सुयोग्य प्रमाणोंसहित इस द्वितीय खंडमें पाठक देख सकते हैं।** .. 'ऐसे अपूर्व ग्रन्थ का हम स्वागत करते हैं और प्रत्येक वैदिक धर्मीसे हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वह इस ग्रथ को अपने घर में रखे और इस ग्रथका पाठ प्रत्येक भारतवासी के घर में होता रहे।'

१०. 'सार्वदेशिक' दहली की संमति।

'ऐसे उत्तम ग्रन्थको प्रकाशित करके श्री सेठ शूरजी वल्लभदासजीने आर्य जनता -विशेषतः स्वाध्यायशील विद्वन्मंडली का बडा भारी उपकार किया है। प्रत्येक विषय का बडी योग्यता से इस ग्रंथ में सप्रमाण विचार किया गया है। प्रमाणों और युक्तियोंसे विषयों को खूब पुष्ट किया गया है। कागज, छपाई, प्रकारादिक सब उत्तम हैं। इस पुस्तक की एकेक प्रति उत्तम पुस्तकालयमें अवश्य रहनी चाहिये। जिससे स्वाध्यायशील निर्धन सज्जन भी उससे लाभ उठा सकें।' -**धर्मदेव विद्यावाचस्पति**, बंगलौर।

११. अर्जुन (४ अक्तूबर १९३४)की संमति।

वैदिक संस्कृतिका विस्तृत परिचय देनेसे पूर्व लेखकने प्रथम दो खण्डों में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद अत्यंत प्राचीन और आदिसृष्टि में बने हुए हैं। लेखक की प्रतिपादनशैली उत्तम और विद्वत्तापूर्ण है। आजकल के प्रचलित मतोंका योग्यता-पूर्वक निराकरण किया गया है। तीसरा खण्ड ऐतिहासिक है, जिसमें बाहरसे आनेवाले विदेशियों के संसर्गसे आर्य संस्कृति में जो हेरफेर हुए, उनका जिक्र है। प्राचीन शास्त्रोंमें कहाँ-कहाँ परिवर्तन किए गए, इस संबन्ध में विद्वान लेखकने कम प्रकाश नहीं डाला। चतुर्थ खण्ड में वेद और उसकी शाखाओंपर विचार करने के अनन्तर वैदिक संस्कृति का आदर्श बनानेकी चेष्टा की गई है। वर्णाश्रमव्यवस्था, त्यागवादका आदर्श और मोक्षका परम उद्देश्य आदिपर जो विचार किया गया है, वह केवल धर्मशास्त्रीय चर्चा करनेवालेके लिए ही नहीं, परंतु इतिहास के विद्यार्थी के लिए भी उपयोगी है।

'संपूर्ण ग्रंथ में लेखक की शैली इतनी विद्वत्तापूर्ण है कि लेखक के बहुश्रुत, बहुज्ञ और मननशील होने में कोई संदेह नहीं रहता। लेखक आर्यसामाजिक विद्वान् हैं, परंतु उस में उनकासा हठ नहीं है। वे कहते हैं कि वेदोंसे तार, रेलगाडी निकालना व्यर्थ है, शब्दोंकी खेचतानी है। वैदिक सभ्यता त्यागकी सभ्यता थी, उनमें वर्तमान भौतिक उन्नतिको बहुत महत्त्व कभी नहीं दिया गया।

'हम अंत में प्रत्येक आर्यसामाजिक विद्वान्, शास्त्रीय चर्चा के प्रेमी और प्राचीन भारतीय इतिहासके विद्यार्थीसे इस अमूल्य ग्रन्थको पढने का आवश्य अनुरोध करेंगे।'

इत्यादि अनेकानेक महानुभावोंने इस पुस्तकको मुक्त कण्ठसे प्रशंसित किया है. इसलिए आप इसे लेकर एकवार पढिये–

पृष्ठसंख्या ८३२ है और मूल्य केवल ६) छः रु० है और डाकव्यय १।) है। शीघ्र लीजिये।

म० आ० से ७।) विदेशके लिये ८)

॥ हिन्दी साहित्यमें अनोखा रत्न॥

अक्षर-विज्ञान।

मूल्य १) रु० डा० व्य० ।=)

इस पुस्तक में तीन प्रधान विषय हैं- (१) इवोल्यूशन या विकासवाद की समालोचना। इस में दिखलाया गया है कि बन्दर ही मनुष्य नहीं बन गया— किन्तु वह आदि सृष्टि में इसी रूप तथा ईश्वरीय वैदिक ज्ञान और भाषा के साथ पैदा हुआ था। (२) वह भाषा वैदिक भाषा थी जिसको संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, चीनी और जापानी आदि अनेकों भाषाओं के सैकडों शब्दों से सिद्ध किया गया है। (३) प्रत्येक अक्षरकी ध्वनि से उसका अर्थ तथा रूप दिखलाया गया है।

इस पुस्तक की समालोचना भारत-प्रसिद्ध पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने अगस्त सन् १९१४ की 'सरस्वती' में इस प्रकार की है— "आज, हमें एक ऐसी पुस्तक का परिचय पाठकों से कराना है जिसका अधिकांश बिलकुल ही नया है। जिसके लिखने में लेखकने अपने दिमाग से बहुत कुछ काम लिया है, जिसमें जगह जगह पर लेखक की चिन्ताशीलता का प्रमाण मिलता है, जिसको लिखने के पहले लेखक को भिन्न भिन्न भाषाओं की अनेकानेक पुस्तकोंका परिशीलन करना पडा है। अक्षर-विज्ञान नामक पुस्तक ऐसी ही है। ऐसी महत्त्व-पूर्ण पुस्तक लिखने के कारण लेखक महाशय को बहुत साधुवाद। बेचारे डारविन के कीर्ति-चन्द्र पर खग्रास ग्रहण लगने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। प्रोफेसर बेटसन, प्रोफेसर मेंडल और मेडम हेनरी आदि के युक्ति-समूह राहु बन कर उसका ग्रास करने के इरादे में थे ही कि अक्षर-ज्ञान के लेखक के युक्तिवाद भी उनकी सहायता के लिये तैयार होकर निकल पडे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अक्षर-विज्ञान के कर्ता ने अपने विषय का विशेष मनन किया है। उनकी विद्याभिरुचि और गवेषणाशक्ति सर्वथा प्रशंसनीय है। उन्हों ने यह पुस्तक लिख कर अपनी योग्यता और चिन्ताशीलता का अच्छा परिचय दिया है। इस कारण हम साधुवाद से आपका पुनर्वार अभिनन्दन करते हैं।"

विशेष सहूलियत!

वैदिक संपत्ति। मूल्य ६) डा० व्य० ११) मिलकर ७।)

अक्षर-विज्ञान। मूल्य १) डा० व्य ।=) मिलकर १।=)

मनी आर्डर द्वारा ७।) भेजनेसे दोनों पुस्तकें विना डाकव्यय मिलेंगी।
उक्त प्रकार की सहूलियत निम्नलिखित पते पर ही ७।) भेजनेसे मिल सकती है।

सेठ शूरजी वल्लभदास,
कच्छ कैसल, सँडहर्स्ट ब्रिज,
बम्बई ४

॥ ॐ ॥

वेदमुद्रणका कार्य।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हि हैं। परंतु किसी को अपने घर में वेद के सब ग्रंथ रखने हों, तो शुद्ध छपे, सुंदर और सस्ते वेदग्रंथ किसी भी स्थानपर इस समय नहीं मिलते।

युरोप में मुद्रित कई वेदग्रथ मिलते हैं, परंतु उनका मूल्य सैंकडों रु० होनेसे वे भारतवासियों को दुष्प्राप्य ही हैं और वहां सब वेद छपे भी नहीं हैं।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हैं और वे संपूर्ण विश्वमें अति प्राचीन धर्मग्रंथ हैं। इतने प्राचीन धर्मग्रंथ इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं हैं। अतः इनका महत्व अधिक है।

सब अन्य धर्मियों के धर्मग्रंथ उत्तम छपे मिलते हैं, परंतु हमारे वेद हि अबतक शुद्ध, सुंदर और सस्ते छपे मिलते नहीं। भारतीय आर्यो-हिंदुओं-सनातनधर्मियों को यह बात लज्जास्पद है। इस कारण हमने वेदमुद्रण का कार्य प्रारंभ किया है। शुद्ध, सुंदर और सस्ते सब वैदिक ग्रंथ छापने का कार्य स्वाध्याय-मण्डल में प्रारंभ हुआ है। **ऋग्वेद, यजुर्वेद** और **अथर्ववेद** छप चुके हैं और सामवेद छप रहा है। अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद् पर्यंत के सब वैदिक वाङ्मय ग्रंथ तथा वेदके अंगोपांगादि सब ग्रंथ भी छापने हैं। इन ग्रंथोंकी संक्षिप्त सूची यह है।

१. ऋग्वेद।

ऋग्वेद-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रतिशाख्य, ऋग्विधान, चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय।

२. यजुर्वेद।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, **(कृष्ण)** तैत्तिरीय-संहिता, कपिष्ठल-संहिता, काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, इत्यादि संहिता ग्रंथ;

शतपथ ब्राह्मण (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य, उपनिषद् आदि यजुर्वेदीय वाङ्मय।

३. सामवेद।

सामवेदसंहिता, सामगान के सब ग्रंथ, आरण्यक संहिता, जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय।

४. अथर्ववेद।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलाद-संहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व-प्रातिशाख्यादि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय।

यह संक्षिप्त सूची है। इन सब ग्रंथोंको शुद्ध, सुन्दर और सस्ता छापना है, इनके भाषामें भाषांतर करने हैं और सर्व प्रकारकी सूचियां पदसूची, वाक्यसूची, विषयसूची, ऋषिसूची, देवतासूची, स्थानसूची, इत्यादि अनेक प्रकारकी सूचीयां बनानी हैं, जिनसे वैदिक विषयों की खोज करनेवालों की सहायता होगी।

इन सब ग्रंथोंका मुद्रण पांच वर्षों में समाप्त करना है और इस कार्य के लिए व्यय का अंदाजा एक लाख रु० का किया है।

इसमें मूल चार वेद की संहिताओंके ब्लाक बनाने का व्यय भी संमिलित है। वेद के ग्रंथों में कंपोजिंग के कारण अनेक अशुद्धियां रह जाती हैं। कितना भी प्रूफ संशोधन किया, तो भी किसी स्थान में कुछ अशुद्धि रही जाती है। अतः इनके ब्लाक एक वार बनाए जायंगे, तो आगे उनसे लाखों पुस्तकें छापने पर भी अशुद्धि होने की संभावना नहीं होगी। हमेशा के लिए इस तरह शुद्ध छापने का प्रबंध होगा और अत्यंत सस्ता देने का भी प्रबंध होगा। इसलिए यह कार्य वैदिक धर्मकी जाग्रति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

हमने इस समय केवल वैदिक वाङ्मय के मुद्रण को पांच वर्षों में समाप्त करनेका संकल्प किया है, इस का अर्थ यह नहीं है कि स्मृतिग्रंथ सूत्र (श्रौत और गृह्य)

ग्रंथ, इतिहास, पुराण ये छापने नहीं हैं और इनका वैदिक वाङ्मय से कोई संबंध नहीं है। सम्बन्ध तो अवश्य है, परन्तु जबतक वैदिक वाङ्मय छपकर तैयार नहीं होगा, तबतक इन ग्रंथों के मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया जायगा, इतना ही उक्त कथन का आशय है। वैसा तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा संपूर्ण महाभारत छापकर प्रकाशित हुआ ही है। परन्तु कोई एक ही कार्यपर विशेष लक्ष्य देनेसे वह कार्य ठीक रीतिसे और शीघ्र होता है, इसलिए हमने आगामी ५ वर्षों में इस एक ही वैदिक मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य देकर इसको मुद्रित करना है।

वैदिक वाङ्मय हमारे धर्म के आद्य आधारग्रंथ हैं। इनकी खोज याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियों से करनी अत्यंत आवश्यक है। इस खोजके विना किसी तरह भी वैदिक धर्म के सिद्धांतों का निर्णय नहीं हो सकता। जब लोगोंके पास वेद के शुद्ध ग्रंथ ही नहीं हैं, तो खोज करनेवाले खोज कैसी करें? इसलिए सर्वप्रथम वेदमुद्रण का कार्य होना अत्यंत आवश्यक होनेसे वही कार्य करने का हमने संकल्प किया है।

इस कार्य का व्यय करीब एक लाख रु० होनेवाला है। इस के लिए धनिक लोग दान देंगे, तभी यह कार्य हो सकता है। सब जगत् के धार्मिक ग्रंथ धनियों के दानोंसे हि मुद्रित होते हैं और वैदिक धर्मियों में धर्म-भावना किसी तरह भी कम नहीं है, इसलिए हमें पूर्ण आशा है कि धनिक वैदिक धर्मियोंसे इस पवित्र कार्य के लिए आवश्यक धन अवश्य ही प्राप्त होगा।

इस धार्मिक कार्य को धन देनेवालों के निम्न लिखित प्रकार वर्ग किए गए हैं—

(१) प्रतिपालक वर्ग ।

(अ) प्रथम प्रतिपालक वर्ग- जो दश हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(आ) द्वितीय प्रतिपालक वर्ग- जो पांच हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(इ) तृतीय प्रतिपालक वर्ग- जो तीन हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(२) पालक वर्ग ।

(ई) प्रथम पालक वर्ग- जो दो हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(उ) द्वितीय पालक वर्ग- जो एक हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऊ) तृतीय पालक वर्ग- जो पांच सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(३) पोषक वर्ग ।

(ऋ) प्रथम पोषक वर्ग- जो तीन सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ॠ) द्वितीय पोषक वर्ग- जो दो सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऌ) तृतीय पोषक वर्ग- जो एक सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

सूचना— यह सब तीनों वर्गों के लोगों की धनराशी एक समय हि स्वा० मण्डल में पहुंचनी चाहिए। क्योंकि स्वाध्याय-मण्डल का वेद मुद्रणकार्य वेग से चल रहा है, इसलिए उसके व्यय के लिए धनकी आवश्यकता रहती है।

उक्त सब धनदाताओं को स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ जो उनका धन आने के बाद छपेंगे, वे सब मिल ही जायंगे, परन्तु प्रतिपालक और पालक वर्ग के धनदाताओं को पूर्वमुद्रित ग्रंथ भी उनसे मांग आनेपर दिये जांयगे। 'पोषक' वर्ग के सदस्यों को पूर्वमुद्रित ग्रन्थ आधे मूल्य से मिलेंगे।

प्रतिपालक, पालक और पोषक वर्ग के सब सदस्य स्थायी सदस्य होंगे, अर्थात् वंशपरंपरातक उनका सदस्यपन रहेगा और उनके वंशजों को भी सब पुस्तक प्राप्त होते रहेंगे। तृतीय वर्गके पोषक सदस्यों को किसी एक भाषा के हि ग्रंथ मिलेंगे, शेष प्रतिपालक-पालक-पोषक सदस्यों को सब भाषाओं के अर्थात् जितनी भाषाओं में स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ मुद्रित होंगे, मिलते जायंगे।

इस समय मराठी और हिंदी भाषा में ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और गुजराती भाषामें ग्रंथ प्रकाशित करनेका कार्य अति शीघ्र शुरू होनेवाला है।

दान ।

(४) दानी– जो यथाशक्ति धन का दान करते हैं, नियमपूर्वक मासिक दान देते हैं, अथवा यथासमय सामयिक दान करते हैं। उनको उनके दान की रकम जितनी यहां प्राप्त होगी, उस रकम के अनुसार पुस्तकें, (उनकी इच्छा लेने की होगी तो) भेजीं जायंगी।

निधि-स्थापना ।

(५) निधि-स्थापना– स्वाध्याय-मण्डल में नियत धनराशी नियत समय के लिये रखी जाती है और उसके सूद में प्रतिवर्ष प्रतिशतक ६) रु० के हिसाबसे दी जाती हैं। निधि रखनेवाले की इच्छा के अनुसार ये पुस्तकें प्रतिवर्ष उनको भेजी जाती हैं।

इस प्रकार की धनराशीका उपयोग वैदिक ग्रंथोंके मुद्रण में होता है, इसलिये यह धनराशी कमसे कम तीन वर्षतक यहां रखनी चाहिये। यह रकम एक मास की सूचना से वापस हो सकती है।

इस प्रकार की धनराशी में १००) से कम अथवा १०००) से अधिक धनराशी नहीं ली जाती। एक हजार से अधिक धनराशी उस शर्तपर ली जायगी, जब प्रतिवर्ष एक हजार से अधिक वापस न ली जावे।

जो धनी महाशय इस रीतिसे वेदमुद्रण की सहायता कर सकते हैं, करें।

विभागशः दान ।

जो सज्जन एकदम रकम नहीं देना चाहते, वे नियम-पूर्वक प्रतिमास अपनी किश्त भेजकर एक वर्षके अन्दर अपने भागका रु० पहुंचा देवें। एक वर्ष के अंदर रु० पहुंचना चाहिये, क्योंकि यह वेदमुद्रण का कार्य पांच वर्षोंमें समाप्त करना है। जो विभागशः धन देना चाहते हैं, वे एक वर्षमें अपनी सुविधा के अनुसार धन यहां भेजें।

अनामत रकम ।

जो कुछ रकम अनामत अपने खातेमें रखना चाहते हैं, वे वैसा करें। उनकी रकम की समाप्तितक उनको उतने मूल्य की वैदिक या अन्य पुस्तकेंडाकव्यय माफ करके भेजीं जायंगी। इनको डा० व्य० का लाभ होगा। उनकी रकम समाप्त होने पर उनको सूचना दी जायगी।

वी० पी० से मांग ।

जो सज्जन १०) दस रु० स्वा०मण्डल में जमा करके अपना नाम वेदके ग्राहकवर्गमें लिखेंगे और वी० पी० से पुस्तकें मंगावेंगे, उनको वैसी भेजीं जायंगी। आधा डा० व्य० उनको माफ होगा। यदि वी० पी० वापस आ गयी, तो पूरा डा० व्य० उक्त रकमसे काटा जायगा।

कमीशन ।

जो सज्जन दस ग्राहक जिस प्रकार के बनावेंगे और उनकी रकम यहां भेज देंगे, उनकी रकम यहां प्राप्त होनेपर उनको एक ग्राहक उस प्रकारका बनाया जायगा। कई लोग इस तरह वेदकी बहुत सेवा कर सकते हैं।

इस समयतक बने सदस्य–

१	श्रीमंत महाराजा औंधनरेशजी	५०००)
२	श्री० डा० लालचंद्रजी पेंशनर	२०००)
३	श्री० पं० नाथूलालजी पेन्शनर	२०००)
४	मे० विठ्ठलदास हरिदास ऍड कं०	१०००)
५	श्री० सेठ रामभाई नारायण भाई	५००)
६	श्री० श्री भूषण गुप्त	५००)
७	श्री० धनीरामजी भल्ला	२००)

इनके अतिरिक्त पोषक वर्गके बहुत से सदस्य हैं, जिनके नाम रिपोर्ट में छपे जायंगे।

वेदके शुद्ध पुस्तकोंकी मांग।

ऋग्वेद हमारा प्रथम वारका मुद्रित सब का सब चार महिनों में समाप्त हुआ और अब द्वितीय वार अधिक सुधार करके मुद्रित करने का कार्य प्रारंभ करना पडा है। इतनी मांग अच्छे ग्रंथों को है। इसलिये इस वेद–मुद्रण की आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता जितनी हो सकती है, करना हरएक वैदिक धर्माभिमानी के लिये अत्यंत योग्य है।

निवेदक
श्री० दा० सातवळेकर,
(स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि० सातारा)

श्रीमान् प्रबंधकर्ता स्वाध्याय-मण्डल,
औंध, जि. सातारा

मैं आप के वेदमुद्रण के लिये ———— वर्गमें रु०)

(रुपये ————) सहायता देता हूं ————

————————————

कृपया स्वीकार करिये और मुझे ग्राहक बनाइये।
भवदीय

पूर्ण नाम ————————

पूर्ण पता ————————

तिथि ———— ———— जिला ————

शुद्ध चार वेद।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। (ऋग्वेद का नया द्वितीय संस्करण छप रहा है।) अगले तीन महिनों के पश्चात् सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओंके मूल्य इस प्रकार हैं—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
सामवेद	२)	॥)	।)	।॥)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६) रु० है तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ६॥) रु० अनुसार मूल्य भेजें। (इसमें ॥) पैकिंग और रजिष्ट्रीके हैं।) उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगीं। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वर्ष २०
अंक ८
क्रमांक २३६

धर्म

श्रावण
संवत् १९९६
अगस्त
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर । सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार ।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

निर्भयता

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

(ऋग्वेद १।११।२)

"हे (इन्द्र) प्रभो! (ते सख्ये) तेरे साथ मित्रता करनेसे हम (वाजिनः) बलवान् होनेका अनुभव करते हैं। हे (शवसः-पते) शक्तिके स्वामिन्! अतः हम (मा भेम) बिलकुल डरते नहीं। तू (जेतारं) शत्रुको जीतनेवाला और (अ-पराजितं) सदा विजयी है, इसलिये (त्वां अभि प्र णोनुमः) तुम को हम सब मिलकर प्रणाम करते हैं ॥"

निर्भयता प्राप्त करने के लिये ईश्वर के साथ अपना संबंध जोडो, क्योंकि सब प्रकार का बल उसीसे प्राप्त होनेवाला है। एक बार ईश्वरको अपना मित्र बनाने पर किसी से भी डर होने की संभावना ही नहीं है। ईश्वर ही सदा विजयी और सबसे अधिक बलवान् है, इस कारण उसके उपासक भी विजयी, निडर और बलवान् होते हैं।

वैदिक धर्मका वेदांक

"वैदिक धर्म" मासिक का 'वेदांक' गत वर्षके समान ही बडे उपयोगी लेखोंके साथ प्रकाशित होगा। इस वर्ष हम केवल वेदके संबंधके हि लेख इस अंकमें प्रकाशित करनेवाले हैं। इसलिये जो लेखक इस अंकके लिये लेख लिखनेके इच्छुक हैं वे अपने लेख केवल वेद तथा वेदमंत्रोंके विषयों पर हि लिखें। वेदके संबंध का ज्ञान इस अंकमें अधिकसे अधिक देनेका विचार है।

और तीन महिनोंके पश्चात् यह 'वेदांक' प्रकाशित होगा, इस लिये इस अंक के लिये लेख लिखनेवाले विद्वान् इस श्रावणमासका यह अंक प्राप्त होनेके पश्चात् दो मास की अवधिमें अपने लेख तैयार करके भेजे। तथा हमें सूचना दें कि इस विषय पर इतना बडा लेख लिखा जा रहा है, जो यहां इस दिन तक पहुंच जायगा।

लेखमें किसी प्रकार भी अन्यान्य विषय नहीं आने चाहिये। केवल वेदमंत्रोंमें कहे विषयोंपर लेख लिखें या वेदों के संबंधमे ज्ञान देनेवाले लेख लिखें। शेषबातों के लेख इस अंक के लिये नहीं लिये जांयगे। लेख लिखने वाले पाठक इस बातका विशेष ख्याल रखें।

वेद, वेदोंकी शाखाएं, वेदोंके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, इनके विषयमें ज्ञान देनेवाले, तथा इनके अन्दर कहे गये तत्त्वज्ञान का आविष्कार करनेवाले लेख इस 'वेदांक' में मुद्रित हो सकते है। हम तो केवल वैदिक संहिताओंके संबंधके ही लेख इस में लेंगे, तथापि किसीने उक्त विषयमर्यादा तक लेख लिखे, तो वे भी इस अंकमें मुद्रित होंगे।

वेदकी संहिताओंकी खोज अभी बहुत ही होनी है, वस्तुत अभी तक इस खोजका प्रारंभ भी नहीं हुआ है। अतः संहिता-वाङ्मय के विषयके हि लेख हमें चाहिये। उदाहरणार्थ वेदसंहिताओंमें (१) एकत्व. (२) द्वैत, (३) त्रैत, (४) सर्वभाव, (५) अनन्यभाव आदि वादों मे से कौनसा वाद है? यह अति महत्त्व का प्रश्न है। कई पण्डित वेदमंत्रोंमें 'द्वैतवाद' है, ऐसा कहते हैं और कई 'त्रैतवाद' होने की बात प्रतिपादन करते है, पर अन्य वादोंको किसीने अब तक छूआ भी नहीं। हम इस समय किसी वादके पक्षमें लिखने के इच्छुक नहीं है। तथापि लेख लिखनेवालोंको सूचना देनेके लिये ही केवल इस बातका निर्देश यहां किया है। वेदका तत्त्वज्ञान किस वाद का प्रकाश करता है, यह विषय लेखोंमें कोई लेखक लिखेंगे, तो पाठकों के लिये अच्छा हो जायगा। इस तरह के विषय इस अंकमें प्रकाशित हो सकते हैं।

वेदका अभ्यास करने के साधन भी अभीतक उपस्थित नहीं किये गये हैं। जनता वेदधर्मका अभिमान बहुतहि धारण करती है, पर वेदका धर्म इस भूमिपर प्रचलित करने के लिये क्या करना चाहिये, इस विषयके उद्योग करने के लिये किसी की भी तैयारी नहीं है। वेदधर्मके प्रचारकी अपेक्षा प्रथम वेदधर्मका ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, वही ऐसे 'वेदांकों' से देनेका विचार है। लेखक इस विचार से लेख लिखें।

क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है ?

वेद की संमति इस विषयमें क्या है ?

(सप्तम लेख)

पूर्व लेखमें पुरुषसूक्तके मंत्रोंका प्रमाण देकर चारों वर्ण परमेश्वर के चार अवयव हैं, और यही वेदके धर्मका मुख्य महासिद्धान्त है, यह दर्शाया है—

ईश्वर के शरीरके अवयव।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्,
बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः,
पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ (ऋ. १०।९०।१२)

" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण क्रमशः परमेश्वरके मुख, बाहु, ऊरु और पांव है।" यह इस मंत्र का स्पष्ट आशय है। इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं है। इसलिये वेदमें जो उपास्य देव कहा है, वही मानवों में चार वर्णात्मक मानवसंघ है, यह स्पष्ट है। शूद्र मे सच्छूद्र और असच्छूद्र समाविष्ट हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंके द्वारा ज्ञानी, शूर, व्योपारी और कारीगर ये गुणकर्मस्वभावयुक्त मानवजन माने जाते हैं, ऐसा माननेसे संपूर्ण मानवजातिमें गुणकर्मस्वभाव से ये चार वर्ण हैं, ऐसा विस्पष्ट होता है और संपूर्ण मानवजातीहि ईश्वरका उपास्य रूप है, यह वेदमंत्रोंसे निश्चित हो जाता है। यह मानवजाति पृथ्वीके चारों ओर के चारों देशोंमें सदासे रहती आयी है, यह बात तो उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्रने ही स्पष्ट कही है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः
सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा
अत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥ (ऋ० १०।९०।१)

" हजारों मस्तकें, हजारों आंखें, और हजारों पावोंवाला जो परमेश्वर है, वह पृथ्वीके चारों ओर (के देशोंमे) फैल कर, दशांगुल शेष भी रहा है।"

(सः भूमिं विश्वतः वृत्वा) वह ईश्वर भूमिके चारों ओर से व्याप रहा है, यह कथन बडा विचारणीय है। क्या यह मानवसमाजरूपी उपास्य देव हमारी पृथ्वीके ऊपर चारों ओर नहीं है ? है, वही भारतवर्षमें, चीन-जापान में, ईरान-तुर्कस्थान में, युरोप-अमरिकामें तथा अफ्रिका में इस तरह चारों ओर है, और यह अखण्ड एकरूप है, और यही हम सबका उपास्य है। अर्थात् इसके अलग अलग टुकडे नहीं है। यह सब मिलकर एक ही उपास्य देव है।

युरोपके श्वेतवर्णीय, अमेरिकाके रक्तवर्णीय, चीन-जापानके पीतवर्णीय, और अफ्रीकाके कृष्णवर्णीय ये चार वर्णके लोग इसमें हैं। भारतवर्षमें तो ये चारों वर्णके लोग सुव्यवस्थित रीतिसे विद्यमान हैं और चातुर्वर्ण्यव्यवस्था यहां बडे परिणत और शास्त्रशुद्ध रूपमें थी और बहुत अंश मे अब भी है। अन्य देशोंमें चारों वर्णोंकी व्यवस्था नहीं है, तथापि बीजरूपसे चारों वर्णोंके बीजरूप अविकसित गुणकर्म चारों भूविभागोंमें है, इसलिये यह चातुर्वर्ण्यरूपी विराट्पुरुष भूमिपर सर्वत्र है, जो एकही एक अखण्ड देव हम सब मानवोंका उपास्य है।

जो लोग इसकी उपासना देशविभागसे करते हैं, वे इस विराट् पुरुषके देशोंके अनुसार टुकडे करते है, इस कारण वे इस विराट् पुरुषको ठीक प्रकार जान नहीं सकते। अर्थात् जो चीन-जापान-भारतवर्ष और योरप देशवासियों को पृथक् विभक्त और परस्पर भिन्न तथा विभक्त मानते हैं, वे ईश्वर के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं समझते। यह

विराट् पुरुष देशभेदसे विभिन्न नहीं है। अर्थात् वैदिक धर्मी ईश्वर के भक्त देशभेद की विभिन्नता के कारण जनता को विभिन्न नहीं मान सकते। **वैदिक धर्म के सामने एक ही सार्वभौमिक अखिल मानवीय जातिका धर्म-क्षेत्र है।** सच्चा वैदिक धर्मी ऐसी देशभक्ति नहीं कर सकता जिससे देशदेशमें युद्धका अग्नि धधकने लग जाय, सच्चे वैदिक धर्मीके सन्मुख एक ही अखण्ड अविभक्त विराट् पुरुष-रूपी चार वर्णोंसे युक्त मानवजाति सदा रहती है, जिस स्वरूपको जानकर वह मानवधर्मकाहि विचार करता है।

अखण्ड विश्वरूप।

वैदिक धर्मका लक्षणहि यह है कि वह विश्वरूपको अवि-भाज्य, अविभक्त, अखण्ड, अपरिच्छिन्न, सार्वभौमिक विभू मानता है और इस सिद्धान्तके अनुसार अपने मानवधर्म का निश्चय करता है। इस विश्वमें विभिन्नता देखता हुआ भी उन विभक्तों में अविभक्त सत्ताको वह सदा देखता रहता है।

जिस तरह वह देशभेदसे मानवोंको विभिन्न नहीं मान सकता, उसी तरह वह धर्मभेदके,मतमतान्तरोंके, महजबोंके और पक्षान्तरोंके भेदसेभी मानवी समाज विभिन्न हुआ है, ऐसा भी वह कदापि मान नहीं सकता। ये सब भेद रहते हुये भी वह सब मानवोंको एक ही ईश्वरके अनेक रूप मानता है अथवा सब को ईश्वरीय विश्वरूपमें संमिलित मानकर हि अपने मानवधर्म को जाननेका यत्न करता है।

सब मानव मिलकर हि वैदिक ईश्वरका अखण्ड देह होता है, यह तो वैदिक धर्मका मुख्य सिद्धान्तहि है। मनुष्यके एक देहमें जिस तरह आंख, नाक,कान, मुख, गाल, मस्तक, गर्दन, बाहु, छाती, हाथ, पेट, नाभी, शिश्न, गुदा, जंघा, पींढरी, पांव, उंगलियां, नाखून, बाल, हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, वीर्य, चर्म आदि अनेक पदार्थ अलग अलग होते हैं, इनका पृथक्त्व सर्वत्र सबको स्पष्ट है; इनके पृथक् होनेमें कदापि किसी को संदेह नहीं रहता; इतना पार्थक्य होते हुए भी सबका मिलकर एक ही अखण्ड अविभक्त अविभाज्य मानवदेह होता है। एक देहकी एकता रहते हुए भी आंख, नाक, कानों की विभिन्नता इतनी है कि एक देहके दो इंद्रियोंकी एकता कदापि हो नहीं सकती। इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंकी कर्मसे भिन्नता स्पष्ट ही है, यह भेद होते हुए भी विराट् पुरुषके देहमें इन सब की एकता अखण्डित ही है। भिन्नतामें यह अभेद और अभेद.में यह भिन्नता विचारपूर्वक जाननी चाहिये। **यही द्वैत-में अद्वैत और अद्वैतमें द्वैत है।** अथवा इसीको द्वैतमय अद्वैत वा अद्वैतमय द्वैत कहते हैं। इसीलिये इसका वर्णन ऐसा वेदमें किया गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि
आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विचिकित्सति ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः
एकत्वमनुपश्यतः ॥ (वा० यजु ४०।५-६)

द्वैतस्थिति–"सब भूतोंको आत्मामें देखना और आत्मा को सब भूतोंमें देखना," यह एक अवस्था है। (इस अवस्थामें शोक-मोह रहते हैं, केवल जुगुप्सा दूर होती है।)

अद्वैत-स्थिति—" विज्ञान की अवस्थामें सब भूत आत्माही हो जाते हैं। उस अवस्थामें एकत्वका अनुदर्शन साक्षात्कार-होने के कारण शोकमोह नहीं होते।" यहभी एक अवस्था है। (इस अवस्थामें शोकमोह दूर होते हैं)

द्वैताद्वैत का झगडा।

द्वैताद्वैतके अवैदिक पंथाभिमानमें फंसनेवाले लोग इन मंत्रोंको तोडमरोडकर अपने मतानुसार इनके अर्थको बदलते हैं। द्वैतवादी लोग दूसरे मंत्रको बदलते हैं और अद्वैतवादी प्रथम मंत्रको बदलते हैं। वास्तवमें दोनों मंत्रोंकी संगति उक्त वैदिक सिद्धान्तमें समानतया लगती है। अविज्ञानकी अवस्था एक है और विज्ञान की अवस्था दूसरी है। दोनों अवस्थाओंमें विभिन्न अनुभव आते हैं। मनुष्य जन्मसेही विज्ञानयुक्त नहीं होता, पश्चात् विज्ञानी बनता है। इसलिये विज्ञान प्राप्त होनेपर सब विश्वरूप अखण्ड-सत्ता एक ही है, यह साक्षात्कार होनेपर जो अनुभव आता है, वह भिन्न है और उससे पूर्वका अनुभव भिन्न होना स्वाभाविक ही है।

अतः यहां स्पष्ट हुआ कि पाठकगण यदि द्वैत और अद्वैत के कमरोंमें बंद रहे, तो वैदिक धर्म का सिद्धान्त

समझने में उनको बडीहि कठिनता होगी। परंतु यदि वैदिक मंत्रोंके सिद्धान्तों को अनुभव की सीढियोंका दर्शक मानेंगे, तोहि सच्चे वैदिक धर्मका दर्शन उनको हो सकेगा।

इस सब विवेचन का तात्पर्य यह है कि **वैदिक धर्म के सम्मुख अखण्ड अभिन्न मानवसमाज सदा रहता है,** देशभेद, प्रान्तभेद, धर्म-मत-मतान्तरभेद, वर्णभेद, रंगरूपभेद, जातिभेद आदि भेद वहां नहीं रहता है। मानवधर्मका सिद्धान्त इसी रीतिसे ज्ञात होना संभव है, जो वेदमें कहा गया है।

ईश्वरका मुख।

सब मानवसमाज का अखण्ड, अविभक्त, अनादि-अनन्तरूप ईश्वर का ही रूप है। यही ईश्वर सबका उपास्य है। सब लोग अंग हैं और ईश्वर अंगी है। इन में भी तार्किक लोग मस्तिष्क के स्थानमें, दूरदर्शी कवि क्रान्तदर्शी आंखोंके स्थानमें, वक्ता प्रवचनकार उपदेशक धर्मप्रचारक मुखके स्थानमें, ऋषिमुनि सन्त,महन्त ये सब मस्तक के स्थानमें, जो शान्तिसे सुनते हैं वे कानोंके स्थानमें हैं। इन्हीं सबका एक नाम "ब्राह्मण" अथवा ज्ञानीविज्ञानी है।

वेदका उपदेश।

ईश्वर का ज्ञान वेद है, वह इसी ईश्वर का ज्ञान है और वह इसी ईश्वर के मुखसे कहा गया है। कई लोग प्रश्न पूछते हैं कि ईश्वर वेदरूपी अपने ज्ञानको किस तरह कहता है? उसका उत्तर यहां वैदिक मंत्रोंके आधार से ही मिलता है। वेदके मतसे ब्राह्मण ही ईश्वरका मुख है और वही मुख-स्थानीय ब्राह्मण-ऋषि-मुनि वेदका ज्ञान कहते हैं और कर्णस्थानीय श्रोता लोग वह मुखद्वारा कहा ज्ञान सुनते और अपनाते हैं जैसा कहा है—

पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत॥ (ऋ०१।१।२)

पूर्व-ऋषिओंके द्वारा (गुरुजनोंके द्वारा) ज्ञान कहा जाता है और नूतन ऋषियोंके द्वारा (शिष्यजनों के द्वारा) वह लिया जाता है। '**पूर्वऋषि**' मुख के स्थानमें और '**नूतन ऋषि**' कर्णके स्थानमें हैं। दोनों ईश्वरकेही शरीरके अवयव हैं; मुख बोलता है और कान सुनते हैं।

आचार्यका ब्रह्मयज्ञ।

जो ऋषि ईश्वरके सच्चे विराट् रूपको जानते हैं, वे ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शी हैं, वे अपने आपको भी उसीमें अनुभव करते हैं और शिष्योंको—नूतन ऋषियोंको भी उसीके देहमें देखते हैं। गुरुशिष्योंका मिलकर वह विराट् पुरुष बना है,यह प्रत्यक्ष अनुभव वे करते हैं, इस विषयमें उनको कोई संदेह नहीं रहता। वे अपने आपको ईश्वरसे अभिन्न अनुभव करते हैं। अपने सामने शिष्योंको देखते हुए वे समझते हैं कि, इन शिष्योंके रूपमें ईश्वरसेवा करके अपना कर्तव्य करने का अवसर हमें मिला है। स्वकर्मके अर्थात् ज्ञानयज्ञ के द्वारा—इन शिष्योंको ज्ञान देनेद्वारा-इनकी ज्ञानदानसे सेवा करके इस ब्रह्मयज्ञसे अपना जीवन ईश्वर की सेवा के कार्यमें लगाना अपना स्वाभाविक कर्तव्य है।

यदि आजकल के स्कूलों, कालेजों अथवा गुरुकुलों वा महाविद्यालयोंके अध्यापक और आचार्य-पूर्वऋषि-इस भावसे अपना ब्रह्मयज्ञरूपी कार्य करेंगे, अपने शिष्योंको परमेश्वरके विराट् देहका अंश मानकर उस ईश्वरकी ज्ञान-यज्ञसे सेवा करनेका पवित्र कार्य करनेका अवसर हमें प्राप्त हुआ है, ऐसा मानेंगे, तो कितना अच्छा होगा !!!

इससे स्कूलकालेजों, महाविद्यालयों और गुरुकुलोंसे सब छलकपट दूर होगा और वहां ऋषिआश्रमोंकी पवित्रता निवास करने लगेगी। इस तरह अपना कर्म ईश्वरार्पण हो रहा है, इसका अनुभव भी इस तरह हरएक गुरुको हो सकता है।

वैदिक समयके शिष्य-'**नूतन ऋषि**'-छात्रगण क्या समझते थे? वे अपने गुरुजनोंको ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञानरूप ही मानते थे और अध्यापकों की सेवा, उपासना करनेसे प्रत्यक्ष विराट् स्वरूपके ज्ञानराशीकी उपासना करनेका सुअवसर हमें प्राप्त हुआ है, ऐसा मानकर गुरुजनोंकी उपासनासे स्वयं ज्ञान को प्राप्त करते थे। इसके लिये वेदने एक उत्तम उदाहरण दिया है—

अग्निना अग्निः समिध्यते। ऋ० १।१२।६

गुरु के द्वारा शिष्यकी उपासना और शिष्यके द्वारा गुरुकी उपासना वैसीहि है, कि जिस तरह एक अग्निद्वारा

दूसरा अग्नि प्रदीप्त करना होता है, एक दीपके द्वारा दूसरा दीप जगाया जाता है। गुरु ज्ञानदीप है, जो शिष्यमें ज्ञानदीप जगाता है। **गुरुकी कृतार्थता शिष्यमें ज्ञानदीप जगानेसे और शिष्यकी कृतार्थता ज्ञानदीप अपनेमें जलने देनेसे होती है**। और इन दोनोंके संमेलनसे पूर्ण विराट् पुरुष का अखण्ड रूप होता है। ये दोनों अपने आपको विराट् पुरुषके देहमें अभिन्न रीतिसे समाये हुए समझते है। यदि ये परस्पर को भिन्न मानेंगे, तो वह वैदिक धर्मकी विराट् पुरुषकी उपासना नहीं होगी। संपूर्ण विश्वही विराट् पुरुषका अखण्ड अविभक्त देह है, उससे भिन्न कोई वस्तुहि नहीं है।

वस्त्र और धागे।

यह बात ठीक ठीक समझनेके लिये परमेश्वरको वस्त्र मानिये। इसमें ओतप्रोत हुए अनेक धागे है और धागोंमें कपास के तन्तुभी अनन्त हैं। जैसा प्रत्येक धागा अलग है, उसी प्रकार प्रत्येक तन्तुभी अलग ही होता है; परंतु वस्त्र कहते ही सब तन्तु और सब धागे उसमें वस्त्ररूप होनेका अनुभव आता है। यह उदाहरण अपना विषय समझनेके लिये अच्छा है। शिष्य और गुरु, नूतन ऋषि और पूर्व ऋषि, अग्नि और महानग्नि ये सब उस ईश्वर के वस्त्रमें तेडे और खडे धागे हैं। दोनों की परस्पर उपासनासे ही ईश्वर का पूर्ण अखण्ड और अभिन्न रूप वस्त्र बना है। धागों के भेदका अनुभव आते हुए भी वस्त्ररूपमें अभेदकी स्थिति इस तरह रहती है।

यहां पाठक पूछ सकते हैं कि ज्ञानी तो ईश्वरके रूप माने जा सकते हैं, क्योंकि ज्ञान ईश्वर का है, वह उन ज्ञानियों में रहता हि है, पर अज्ञानी शिष्य ईश्वरका रूप किस तरह माना जायगा ? यह शंका योग्य है, इस विषय में वेद का कहना प्रथम देखिये। स्कंभ सर्वाधार परमेश्वर का वर्णन करते हुए वेद कहता है—

असत् च यत्र सच्चान्तः।
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १०॥
एकं यदङ्गं अकृणोत्सहस्रधा॥ ९॥
यत्र अमृतं च मृत्युश्च॥ १५॥
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य असद् आहुः परो जनाः॥२५
(अथर्व० १०।७)

" जिसको स्कंभ अर्थात् सर्वाधार परमेश्वर कहा जाता है, उसके अन्दर सत् और असत् दोनों रूप हैं। उसमें अमृत भी है और मृत्युभी है। कई लोग कहते हैं कि स्कंभ का एक अंग असत् है (अर्थात् दूसरा सत् है।) स्कंभने अपना एक अंग सहस्रधा विभिन्न बनाया (जिससे यह सब विश्व हुआ है)।

अथर्व० १० काण्डमें द्वितीय सूक्तके १० वें मंत्रमें "**कुतो नु पुरुषे अमतिः। मतिकुदितयः कुतः**" पुरुषमें मनुष्यमें **मति (बुद्धि)** और **अमति (अबुद्धि)** कहांसे हुई है, ऐसा प्रश्न पूछा है। अर्थात् गुरुमें ज्ञान **(मतिः)** और शिष्य में अज्ञान **(अमतिः)** किस कारण आ गया ? दिन और रात कैसे हो गये? ऐसे अनेक प्रश्न किये हैं। इस सूक्तके प्रारंभके मंत्रोंमें ऐसे अनेक प्रश्न किये है, अन्तमें सबका एक ही उत्तर दिया है कि यह सब ' ब्रह्म ' के कारण होता है। इसी के अनुसार भगवद्गीतामें भी कहा है कि-

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ (भ० गी० १५।१५)

" सबके हृदयोंमें मैं (ईश्वर) निवास करता हूं, मेरे कारण ही (ईश्वरके ही कारण) स्मरण, ज्ञान और **'विस्मरण'** भी होता है, सब वेदोंद्वारा मैं (ईश्वर) ही जाना जाता हूं और मैं [ईश्वर] ही वेद तथा वेदान्त करनेवाला और उनका ज्ञाता भी हूं।" यहां ईश्वरके कारण **' स्मरण और विस्मरण '** ये दोनों होते है। विस्मरण भी बडी ईश्वरकी ही कृपा है, यह ईश्वरकी ही शक्ति है। संबंधीयोंकी मृत्युका विस्मरण शनैः शनैः होता है, इसलिये मनुष्योंको सुखलाभ हो सकता है, नहीं तो प्रथम दिनके समान दिनरात उनकी मृत्युका स्मरण रहे, तो नित्य रोनापीटनाही चलता रहेगा और किसीको थोडा भी सुख नहीं प्राप्त होगा। इससे हमारे जीवनमें विस्मरण का कितना महत्व है और उससे सुखका कितना घनिष्ट संबंध है, यह यहां स्पष्ट हो सकता है। जिस तरह स्मरण ईश्वरसे होता है, वैसाही विस्मृति भी उसीसे होती है, क्योंकि दोनों उसीके आधारसे हैं। यह बात जैसी वेदने कही, वैसीहि

भगवद्गीताने भी कही है।

जिस तरह जन्म और मृत्यु उसीके हैं, उसी तरह यह समझना उचित है। ज्ञानी (पूर्वऋषि) ब्राह्मण प्रवक्ता होनेके कारण ईश्वरके मुखके स्थानमें हैं और (नूतन ऋषि) शिष्य श्रोता होनेके कारण ईश्वरके कानोंके स्थानमें हैं। क्योंकि सभी ब्राह्मण ईश्वरके मुख हैं और मुखमें किसी स्थानपर उनका समावेश होनाहि है। इसी तरह ब्राह्मण वैद्य ईश्वरके नाकके स्थानमें हैं, क्योंकि अश्विनी देव 'नासत्य' [नासा+त्य] ईश्वरकी नासिकामें रहनेवाले हैं और वे वैद्यही हैं। ज्ञान लेनेवाले और ज्ञान देनेवाले सब प्रकारके ब्राह्मण, चिकित्सक ब्राह्मण आदि सब ये ईश्वर के मुखमें स्थानस्थानपर हैं। इन सबको देखनेसे ईश्वर के मुखका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा वेदका कहना है। हमें इस दृष्टिसे ईश्वरका साक्षात्कार करनेका यत्न करना चाहिये।

भेदका अनुभव।

इस समय हमें "ये ब्राह्मण भिन्न हैं और इनसे ईश्वर भिन्न है" ऐसा प्रतीत होता है। पर यह प्रतीति वेदविद्याके पूर्ण अज्ञानसे उत्पन्न हुई है। वेदका अज्ञान होनेसे प्रचारकोंके व्याख्यान, उपदेशकोंके उपदेश और लेखकोंके लेख सब वेदज्ञानके विरुद्ध हो रहे हैं, इसी कारण हमने इसी लेखमालाके एक लेखमें बताया था कि, यही पूर्वग्रह-दोष सबसे पहिले हटाना चाहिये, तब जाकर वेदका ज्ञान प्रकट हो सकता है। अस्तु, इससे यह स्पष्ट हुआ कि, **वेदविद्याके अनुसार ब्राह्मण ही ईश्वरका मुख है, और इसी ब्राह्मणरूपी अपनेहि मुखसे ईश्वर वेदोंका उपदेश करता है।** इसको न मानना वेदका धिक्कार करना है, जो तो हम करनेको कदापि तैयार नहीं हैं।

इसी तरह क्षत्रिय ईश्वरके बाहु तथा छाती है, वैश्य ईश्वरका पेट और जंघाओं के स्थानपर हैं और शूद्र ईश्वरके पांवों के स्थानमें हैं। यही ईश्वरस्वरूप हमारा उपास्य है। यह हमें प्रत्यक्ष दीखता है, इसे क्या चाहिये, इसका ज्ञान हमें होता है, स्वकर्मद्वारा इसकी हम सेवा कर सकते हैं, और **हमारी सेवासे यह संतुष्ट हुआ है या नहीं इसका ज्ञान भी हमें हो सकता है।** इन सबके विषयमें पाठक विचार करके विशेष विज्ञान जान सकते हैं।

किसकी सेवा करनी चाहिये?

चारों वर्ण ही मिलकर ईश्वरका उपास्य देह है, इस लिये इसी ईश्वर की सेवा उपासकों को करनी चाहिये। अतः यहां प्रश्न हो सकता है कि, हम किसकी उपासना या सेवा करें? इसका उत्तर आप अपने व्यवहार से ही जान सकते हैं। आप अपने मातापिता की सेवा किस तरह कर सकते हैं? जिस समय जो उनको चाहिये, वही उस समय उनको देकर हि उनकी सेवा हो सकती है?

पिता को प्यास लगी होगी, तो उनको उत्तम जल देना, माताको भूख लगी होगी, तो उस समय उनको उत्तम अन्न देना, हाथपाव दूखते हों तो उन दुःखी अवयवोंकी सेवा तेल आदिका उपचार करके यथायोग्य करना, शीत लगता हो, तो उनको गर्म कपडे ओढने के लिये देना, गर्मी लगती हो, तो पंखेसे वायु देना आदि प्रकारसे हरएक घरमें मातापिताकी सेवा हो रही है, अथवा किसी घरमें न होती हो, तो वहां इसी रीतिसे सेवा होनी चाहिये, क्योंकि सेवा की सच्ची रीति यही है। घरमें बालकोंकी सेवा उनको विद्या देकर, पोषक अन्न देकर, व्यायामादिद्वारा उनका शरीर सुदृढ होनेयोग्य उपाय करके बालको की सेवा हो सकती है।

जिस समय जिसको जो चीज नहीं चाहिये, वह उसको उस समय देकर किसी की सेवा नहीं हो सकती। माताको बिलकुल प्यास न लगी हो, तो इनको उस समय सुंदर जल देनेसे सेवा नहीं होगी। इसी तरह बालकको विद्या न देते हुए उसको चैन करनेके कार्यमें लगानेसे उनकी सेवा नहीं होती। यह तो उनका द्वेष करना ही है। सेवाका विचार इस तरह पाठक कर सकते हैं।

विराट् पुरुषकी सेवा।

इस विराट् पुरुषकी हमें सेवा करनी है, हम उसी ईश्वरकी सेवा करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं, इसी ईश्वरकी सेवा करनेसे हमारा जीवन पवित्र होना है, यह सबसे पहिले निश्चय करना चाहिये। इस ईश्वरके देहमें ज्ञानी, शूर, व्यापारी और कारीगर ये चार प्रकारके मानव

हैं। इनकी सेवा करनी चाहिये। इनकी सेवा यथायोग्य होनेसे ही हम कृतकृत्य हो सकते हैं। इमसे सेवा लेकर हमें कृतकृत्य करनेके लिये ही प्रभुने ये इतने मानवरूप धारण किये हैं। जो मानव हमारे सामने आता है, वह प्रभुका रूप है [इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋ० ६।४७।१८] यह जिस समय विश्वास अपने अन्दर होगा, उसी समय हम उससे वैसा शुद्ध और पवित्र आचरण कर सकेंगे कि, जैसा हमें ईश्वरके साथ करना चाहिये।

आज हमारा आचरण मनुष्यमनुष्यके साथ कैसा हो रहा है? यदि पति अपनी पत्नीको 'ईश्वरी, देवी' माने और यदि पत्नी अपने पतिको 'ईश्वर, देव' माने, तो दोनोंका आचरण परस्पर कैसा पवित्र हो सकता है? माता-पिताका आचरण पुत्रके साथ कैसा हो रहा है? यह पुत्र ईश्वरका अंश पुत्ररूपसे अपने घर आया है, ऐसे पवित्र भावसे मातापिता उससे आचरण करते हैं, या मोहवश प्यार कर रहे हैं? विचार करिये, वेद क्या कह रहा है? आप तो वेदमंत्र जानते हि हैं, पर उसके उपदेशको आचरण में नहीं लाते, देखिये वेदका आदेश क्या है-

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥
(वा० यजु० ३२।४)

" यह देव निश्चयसे सब दिशा-उपदिशाओंमें है, यही [पूर्वः जातः] पहिले जन्मा था और [स उ गर्भे अन्तः] वही इस समय गर्भमें आया है। वही [जातः] भूतकालमें जन्मा था और वही [जनिष्यमाणः] भविष्य-कालमें जन्म लेनेवाला है, यह प्रत्येक मनुष्यमें रहता है, इसीलिये इसको [सर्वतो मुखः] सब ओर मुखवाला कहा जाता है, इसीको अन्यत्र 'विश्वतो मुख' कहा है। संपूर्ण विश्वमें जो मुख दीखते हैं, वे सब मुख उसीके हैं। यह जैसा पूर्व भूतकालमें जन्म लेता [जातः] था, वैसाही इस वर्तमान कालमें जन्म [गर्भे अन्तः] ले रहा है और वही भविष्यकालमें इसी तरह [जनिष्यमाणः] जन्म लेगा। इसीके विषयमें और वेदका कथन यह है-

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः
अजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः
तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(वा० य० ३१।१९)

" [प्रजापतिः] प्रजापालक ईश्वर गर्भके अन्दर विचरता है। वह वस्तुतः [अ-जायमानः] जन्म न लेनेवाला है, परंतु अपनीहि शक्तिसे वह [बहुधा] अनेक प्रकारसे [विजायते] विविध प्रकार उत्पन्न होता है। इन्द्र अपनी शक्तिसे नाना रूप धारण करता है [ऋ० ६।४७।१८]। इसका मूल स्थान धीर लोग ही देखते हैं, उसीमें सब भुवन रहे हैं।"

यहां प्रजापति हि गर्भमें आता है और वारंवार जन्म लेता है, ऐसा कहा है। यही इन्द्रका अपनी शक्तियोंसे नाना रूपोंको धारण करना है। इसी तरह इन्द्रने, प्रजापति ने, प्रभुने या ईश्वरने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंके अनंत रूप धारण किये हैं—

एकं यदंगं अकृणोत्सहस्रधा।
[अ० १०।७।९]

"एक ही अपने अंगको सहस्रों प्रकार प्रभूने विभक्त किया है।" ऐसा जो वेदमें कहा है, इसका यही अर्थ है। चातुर्वर्ण्य मानवसंघ उसी का एक अंग सहस्रधा विभाग होकर बन गया है। अतः चातुर्वर्ण्यरूपी मानवसमाज ईश्वरका ही रूप है। वेदके सैंकडों मन्त्र विविध रीतिसे यही बात कहते हैं।

[१] एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत् [अ० १०।७।९] ईश्वरने अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त किया।

[२] स जातः स जनिष्यमाणः [वा० य० ३२।४] वह ईश्वर ही भूतकालमें जन्मा था और वही भविष्यमें अनेक जन्म लेगा।

[३] अजायमानः बहुधा विजायते [वा०य०३१।१९] जन्म न लेनेवाला ही विविध प्रकारके जन्म लेता है।

[४] ब्राह्मणोऽस्य मुखं, बाहू राजन्यः, ऊरू वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रः [ऋ० १०।९०]=इस ईश्वरके मुख, बाहु, ऊरू और पांव क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं।

[५] सहस्रशीर्षा पुरुषः,सहस्रबाहुः, सहस्रपात्। [ऋ० १०।९०, अथर्व० १९।६।१]= ईश्वरके हजारों सिर, सहस्रों बाहु, और सहस्रों पांव हैं।

[६] विश्वतोमुख, विश्वतश्चक्षुः, विश्वतोबाहु, विश्वतस्पात्। [वा० यजु० १७।१९] = ईश्वरके मुख, आंख, बाहु और पांव चारों ओर हैं।

वेद कितने प्रकारसे एकही बात बार बार कहता है, पर सुनता कौन है ? लोग सुनते नहीं इसका कारण उनका मन दूसरे विचारोंसे भरा रहता है।

एक राजाकी कथा।

एक राजा था, वह वेषान्तर से रात्रीके समय अपने राज्यमें घूमता था, प्रजा किस तरह का आचरण करती है, वह इस प्रकार स्वयं देखता था। उस समय वह राजा जिस गुन्हेगारको स्वयं पकडेगा, उसका बचाव कौन भला कर सकता है ?

इसी तरह हमारा प्रभु [इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋ० ६।४७।१८] अपनी अनेक वेषान्तर धारण करनेकी शक्तियोंसे अनेक रूप धारण करके घूमता है, चारों ओरसे वह हमारी परीक्षा करता है। क्या हम इसकी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं ?

व्यवहार की बातें।

साहुकार ऋणीके साथ किस तरह बर्ताव कर रहे हैं, पुंजीपति मज्दूरोंके साथ कैसे बर्त रहे हैं, डाक्तर और वैद्य रोगियोंके साथ किस प्रकार का बर्ताव कर रहे हैं, राजा प्रजाके साथ किस तरह व्यवहार करते हैं,ओहदेदार जनतासे कैसे पेश आते हैं, अध्यापक छात्रोंसे कैसे बर्तते हैं, मनुष्य मनुष्यसे कैसे व्यवहार कर रहे हैं, स्त्रियोंसे पुरुष और पुरुषोंसे स्त्रियां कैसा व्यवहार कर रहीं हैं, स्त्री,पुरुष, लडकों और लडकियोंसे कैसे बर्त रहे हैं, एक घरवाले दूसरे घरवाले-से कैसा व्यवहार करते हैं, एक गांव दूसरे गांवसे कैसा व्य-वहार करता है, एक देश दूसरे देशसे किस तरह का व्यवहार कर रहा है, यही तो धर्मकी खोज है। उक्त कसौटीसे ही इस मानवधर्मका पता लगता है। ऋषिमुनि योगियोंने इसी कसौटीसे मानवधर्मका निश्चय किया था। और इस समयमें भी हमें इसी कसौटीसे अपने आजके धर्मका निश्चय करना चाहिये। धर्मनिश्चय की दूसरी कोई कसौटी नहीं है।

पाठक यहां केवल मनुष्यके साथ मनुष्यका कैसा व्यव-हार होना चाहिये, इसी बाहि केवल विचार न करें,क्योंकि वैदिक धर्म में केवल मनुष्य-व्यवहारसे ही धर्मनिश्चय समाप्त नहीं होता। मनुष्य पशुके साथ और पक्षीके साथ तथा कीटपतंग के साथ कैसा व्यवहार करे, वृक्षों और वनस्पति-योंसे कैसा व्यवहार करे, अन्य स्थावर पदार्थोंसे कैसा वर्ते, इस सबका विचार वेदके मानवधर्ममें है। और उसका एक ही उत्तर वैदिक धर्मने दिया है कि 'प्रत्येक रूप अपने प्रभुका रूप है, ऐसा समझे और प्रभुसे जैसा बर्ताव करना चाहिये, वैसा बर्ताव उससे करे।' इसमें सब धर्म आ गया। इससे कभी अशुद्ध व्यवहार नहीं होगा, ऐसा यह नियम है। जिसको यह पूर्ण ज्ञान होगा, वही सच्चा ज्ञानी है, अन्य अभी बननेवाले हैं। वे कभी न कभी बनेंगे।

एक उच्च नियम।

"प्रत्येक मनुष्य अपना कर्तव्य करनेमें स्वतंत्र है और सामाजिक कर्तव्य करनेमें परतंत्र है।" प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति करनेमें स्वतंत्र है और सामा-जिक उन्नति करनेमें परतंत्र है। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य की यही व्यवस्था शुद्ध वैदिक है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति जितनी चाहे करे, पर वह अपनी उन्नति कुटुंब, ग्राम, देश और मानवसमाजकी हानि करनेवाली न बने। प्रत्येक कुटुंब अपनी उन्नति परमा-वधिकी करे, पर उससे ग्राम, प्रांत, देश और मानवजाति की हानि न हो। प्रत्येक ग्राम अपनी आत्यंतिक उन्नति करे, परंतु उससे प्रांत, देश, राष्ट्र और मानवजातिकी सच्ची उन्नतिमें बाधा उत्पन्न न हो। प्रत्येक जाति, देश वा राष्ट्र अपनी उन्नति जितनी चाहे उतनी करे, पर वह दूसरे देशों राष्ट्रों और जातियों की उन्नति को मारक सिद्ध न हो। यह वैदिक धर्म का नियम यहां सिद्ध होता है। क्योंकि संपूर्ण मानवजाति ही परमेश्वरका अखण्ड रूप है और वही हमारा उपास्य देव है। अतः जो लोग संकुचित भावसे अपनी व्यक्ति या जाति तक ही देखते हैं, वे ईश्वरसे विमुख होते हैं, वे वैदिक धर्मसे पतित होते हैं। कोई मनुष्य

ईश्वरके विभुरूपमें टुकडे नहीं मान सकता। संपूर्ण मानवजाति एक अखंड, अभिन्न है, ऐसा मानना और वैसाही व्यवहार करना धर्म है। अन्य सब अधर्म हैं।

देवासुरनिर्णय।

देवासुरोंका निर्णय यहां लगता है। जो विश्वरूपमें छोटे छोटे टुकडे पृथक् और विभिन्न हैं ऐसा मानते हैं, वे असुर हैं और जो सब विश्व अविभक्त, अटूट, अखण्ड, अविभाज्य तथा अविभक्त मानते, देखते और वैसा व्यवहार करते हैं, वेही सुर, देव या विबुध हैं। इनका संग्राम सदा चलनाही चाहिये।

इस विश्वमें आजकल जो लडाइयां, झगडे, कलह, युद्ध और जातियोंके संघर्ष चल रहे हैं, वे परस्परको विभिन्न माननेसे ही हो रहे हैं। मैं हि रहूं और दूसरा न रहे यह विभक्त भाव बढ जानेसे ही ये संग्राम चल रहे हैं। यदि सब मानवोंमें '**सब मानव मिलकर एकही अखण्ड और अविभक्त रूप है,**' यह भावना स्थिर हो जाय, तो कौन किससे लडे और किस लिये लडे? वेद भी यही प्रश्न पूछता है-

> यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
> आत्मा एव अभूत् विजानतः।
> तत्र को मोहः कः शोकः?
> एकत्वं अनुपश्यतः॥ [वा० य० ४०।५]

" जिस समय सब भूत विज्ञानी मनुष्यको एक ही आत्मा हो चुके, उस समय मोह भी कहां और शोक भी कहां रहेगा? क्योंकि उस समय वह एकत्व का दर्शन करता है।" **सब भूत एक आत्माके ही रूप बने हैं**, उस समय एक त्वका दर्शन होनेसे शोकमोह दूर होते हैं। मोह भी क्या होता है? यह मेरा है और यह दूसरेका है, ऐसा भाव मनमें रहनेसे मोह होता है, ऐसा मनुष्य अपने पक्षवालेका पक्षपात करता है और दूसरे का द्वेष करता है, इससे लडाई, झगडे होते हैं। शोक भी किसका किया जाता है? अपनी हानि हुई, या अपने संबंधीकी हानि हुई तो शोक होता है। परायेकी हानि होनेसे कभी न कभी आनन्द भी होता है। इससे भी कलह होते हैं। **यदि सब विश्वभर एकही एक जीवन है और वह अखंड एकरस अटूट अभिन्न है** ऐसा पता लग जाय, तो शोक, मोह कैसे हो सकेंगे? यह एकत्वका दर्शन किस तरह हो सकता है, इसका अब विचार करना चाहिये।

आंखमें एकत्व।

सूर्य ईश्वरका आंख है, यह विषय इससे पूर्व बताया है—

> यस्य सूर्यः चक्षुः,
> चन्द्रमाः च पुनः नवः।
> तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ [अ० १०।७।३३]

"ज्येष्ठ ब्रह्मका एक आंख सूर्य है और दूसरा आंख चन्द्र है।" यह वेदका कथन है। मुण्डकोपनिषद्में भी यही कहा है।

> चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ
> एष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ मुण्डक० २।१।४

" सर्वभूतान्तरात्माके आंख सूर्यचन्द्र हैं।" तथा ऐतरेयोपनिषद्में कहा है—

> सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत् ॥ ऐ० उ०

" सूर्य आंख बनकर नेत्रके स्थानमें रहने लगा।" इस तरह परमेश्वरका नेत्र सूर्य है, वह अंशरूपसे मनुष्यके आंखमें रहने लगा। अर्थात् परमेश्वर का ही आंख अंशरूपसे मानवोंमें आकर रहने लगा है। यह कोई एक मनुष्यका ही आंख ईश्वरके आंखका अंश नहीं है, नाही केवल सत्पुरुषोंके आंखमें ही परमेश्वरके आंखका अंश है, प्रत्युत मनुष्यमात्र या प्राणिमात्रके आंखमें ईश्वरके सूर्यरूपी आंखका अंश प्रति देहमें विभक्त हो कर रहा है।

परमेश्वरका आंख सूर्य है, संपूर्ण सूर्य परमेश्वर का संपूर्ण आंख है, उससे एक अंश निकल आया, वह सहस्रधा विभक्त हुआ और वह अंश प्राणिमात्रके आंखोंमें रहने लगा।

पाठको! पूर्वोक्त वेद और उपनिषदों के वचनोंका अच्छा मनन कीजिये, बार बार विचार करिये और आपके प्रत्येक के आंखमें ईश्वरके आंखका अंश आया है, यह अनुभव करिये। किसीके धोखेमें न आईये, पूर्वोक्त वचन यही कहते हैं या नहीं, यह देखिये। अपना निश्चय करिये, दूसरा कहता है इसलिये उसके दबाव में आकर न मानिये। क्योंकि इसका आपके जीवन के साथ बडा घनिष्ठ संबंध

है, आपकी आत्मोन्नतिके साथ इसका घनिष्ट संबंध है। अतः पूर्ण विचार करके ही इसको मानिये।

परमेश्वर की आंख सूर्य है, उस आंखके अंशसे आपकी आंख बनी है। इसलिये आपकी आंख परमेश्वर की आंख का अंश है। अर्थात् आपकी आंख कोई भिन्न वस्तु नहीं है, सिवाय ईश्वरके आंख के अंशसे। आपके शत्रुकी आंखें भी इसी तरह ईश्वरके अंशसेहि बनी है। रामकी आंखें जैसी ईश्वर की आंखे—सूर्य का अंश थी, उसी तरह रावण की आंखेंभी सूर्यरूपी ईश्वरकी आंखोंका ही अंश थीं। सब प्राणियों के आंखोंमें इसी तरह परमेश्वरके आंखोंका अंश कार्य कर रहा है। मानो सबकी आंखें परमेश्वरकी आंख के अनेक—अनंत अंश हैं, अर्थात् सबकी आंखें ईश्वर की ही आंखें हैं, इसी लिये ईश्वरको (**सहस्राक्षः** ऋ० १०।९०।१, **विश्वतश्चक्षुः**। ऋ० १०।८१।२ "हजारों आंखोंसे युक्त, चारों ओर जिसके आंख हैं" ऐसा कहते हैं।

क्या आपकी आंख ईश्वरकी आंखके अंशसे रहित है? और ईश्वरांशसे रहित होनेपर आपकी आंख देखनेका कार्य कर सकती है? इस विषयमें आपका विचार क्या है?

प्राण का ऐक्य।

क्या प्राण आपका भिन्न है? (**वायुः प्राणः**) वायु ही ईश्वरके विराट् विश्वरूपी देह का प्राण है। **वायुः प्राणो भूत्वा हृदयं प्राविशत्**। (ऐ० उ०) ईश्वरका विश्वप्राण वायुही हमारा प्राण बनकर हमारी छातीमें, फेफडोंमें रहता है, इसी तरह सब प्राणियोंका प्राण विश्वप्राण का ही अंश है। परमेश्वरके विश्वप्राणरूप वायुके अंशसे ही सब प्राणियोंके प्राण बने है। इस तरह आपके प्राणका परमेश्वर के प्राणसे अभेद है। सब प्राणियोंमें भी इसी तरह ईश्वरका ही प्राण अंशसे है। यहां किसका प्राण ईश्वरकी प्राणशक्तिको छोडकर जीवित रह सकता है?

क्या आंख और प्राण के विषयमें ईश्वरकी विश्वशक्तियोंके साथ आपकी शक्तियोंसे अभेद है वा नहीं? इसी तरह आपके शरीरमें जो जो शक्तियां हैं, उनका संबंध परमेश्वर की विश्वव्यापक शक्तियोंके साथ नित्य और अखण्ड है। परमेश्वरकी महाशक्तियोंके छोटे छोटे अंश आकर एक स्थानपर बसे हैं,जिससे आपका शरीर बना है। ऐसे ही सब अन्योंके शरीर बने हैं। अर्थात् सबके शरीर ईश्वरके शरीर के अंश हैं। इसी लिये वेदने कहा है कि—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि। (ऋ० १०।९०।३)

"ईश्वरके (पादः) एक अंशसेही (विश्वा) सब (भूतानि) भूत अर्थात् सब प्राणी तथा अन्य सब पृथिव्यादि महाभूत बने हैं।" उन सबमें स्वयं आपभी संमिलित हैं। इस लिये अब इस बातका अधिक विवरण करने की कोई जरूरत नहीं है।

इस तरह संपूर्ण विश्वका एक अखण्ड जीवन है और उसी जीवन के अंश सब प्राणी हैं। मनुष्य भी उसी जीवन के अंश हैं, कोई उस अखण्ड जीवनसे भिन्न नहीं है। प्रत्यक्ष वेदोपनिषदोंके वचनोंका यही आशय है।

यदि सबका मिलकर एक अखंड जीवन है, तब तो वैसा मानना और उसके आधारपर अपने धर्म का निश्चय करना योग्य है। जो इससे पूर्व किया है और हर एक वैदिक धर्मी किस तरह अपने धर्म का निश्चय करे, इसका भी मार्ग बताया है। आशा है कि पाठक इसका विचार करके अपने धर्म का ज्ञान प्राप्त करेंगे और तदनुसार आचरण करके कृतकृत्य बनेंगे। अब एक शंका है उसका विचार करते हैं।

ईश्वरसाक्षात्कारके विषयमें शंका

कुलुसे श्री० पं० सर्वजित गौड ता० ४।७।३९ के पत्रमें लिखते हैं—

"मैंने अपनी आशंकाओं के उत्तर में आपका (जूनके अंकमें) लेख पढा और अच्छा बोध प्राप्त किया, कृतार्थ हूं, परन्तु फिर भी इसी संबन्ध में निम्न लिखित मालूम करने की इच्छा हुई, कृपा करके इस पर प्रकाश डालें और मुझे क्षमा करें —

(१) ईश्वर सर्वशक्तिपुंज है, तो आत्मा और प्रकृति का

ईश्वर से अलग अस्तित्व क्या है?

(२) एक बच्चा छोटा होते सिर्फ रो सकता और हिल सकता है, परन्तु जूं जूं बडा होता है, उस की शक्ति बढ जाती है। महान् शक्तिशाली और बलवान् चैतन्यरूप हो जाता है। यह बच्चा बडा होकर ईश्वर को नहीं जानता, परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करता है और स्वाथ्य के उसूलों पर अमल करता है। बुढापेमें यह सब कुछ क्षीण होता है, यह सब परिवर्तन-शील किसकी स्थिति है? क्योंकि ईश्वर एकरस सर्वव्यापक है। कृपा करके इसके बारे में प्रकाश डाल कर कृतार्थ करें।

वैदिकधर्म ने मेरे विचारों को ऊंचा और पवित्र करने में बडी सहायता की है, धन्यवाद है।

संपादकीय उत्तर।

१

श्री पं० सर्वजित गौड सच्चे ईश्वरभक्त और वेदके प्रेमी हैं। दिलके अन्दर जो आता है, वह निष्कपट भावसे लिखते हैं। इनका पत्र ऊपर दिया है। " ईश्वरसाक्षात्कार " के विषयमें इनकी ये आशंकाएँ हैं—

१. ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो आत्मा और प्रकृति का अलग अस्तित्व क्यों है?

२. छोटा बच्चा केवल हिल सकता है, पर बडा होने पर शक्तिशाली हो जाता है, बुढापे में क्षीण होता है, यह परिवर्तन किसमें होता है?

३ ईश्वर एकरस है, उसमें परिवर्तन कैसा हो सकेगा?

ये शकाएँ उत्तम हैं और इनका निराकरण करना चाहिये। श्वेताश्वेतर उपनिषद्में कहा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृ-भोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ श्वे० उ० १।९

[ज्ञः-अज्ञौ] ज्ञानी और अज्ञानी [द्वौ ईशा-अनीशौ] ये दो ईश्वर और अनीश जीव हैं, तथा [अजा हि एका] न जन्मनेवाली एक प्रकृति है, जो [भोक्तृभोगार्थयुक्ता] भोक्ता जीवके भोगके लिये उपयुक्त होती है। [अनन्तः च विश्वरूपः आत्मा अकर्ता] अनन्त विश्वरूपी अकर्ता आत्मा है। [त्रयं] ईश्वर-जीव-प्रकृति ये तीनों [यदा विन्दते] जब मिलते हैं, जब एक होते हैं, तब [एतत् ब्रह्म] उसको ब्रह्म कहते हैं।

अर्थात् ईश्वरभाव, जीवभाव और प्रकृतिभाव ये तीनों जिस एक भावमें मिल जाते हैं, जिस एक भावमें एकरूप होते हैं, उसका नाम ब्रह्म है। और भी कहा है—

[१] **तत् सर्वं अभवत्॥** बृ० उ० ३।४।९

[२] **तदेतत् त्रयं सत् एकं अयं आत्मा, आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्।** बृ० उ० ३।६।१

[१] वह ब्रह्म सब कुछ हुआ है। [२] ये तीन होते हुए एक ही यह आत्मा है, आत्मा एक होता हुआ भी वह यह तीन है। "

ये उपनिषदोंके उपदेश भी वही बात दर्शाते हैं। इस लिये आत्मा शक्तिशाली है और उसीके ये तीन रूप हैं। जैसा [१] भाप, [२] पानी, [३] बर्फ ये तीन भिन्न वस्तुएँ हैं, पर 'जलतत्त्व' की दृष्टिसे तीनों एकही हैं, जलतत्त्वमें तीनों का समावेश है। तीनोंका भिन्न उपयोग है, अनुभव भी भेद का ही है, तथापि जलतत्त्वदृष्टिसे तीनों एक ही हैं। वेदमें भी—

[१] **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।** ऋ० १०।९०।२

[२] **यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद्विजानतः।** वा० य० ४०।९

[१] "पुरुष—परमात्माही यह सब कुछ है, जो भूत कालमें था और जो भविष्यमें होगा, [२] एक समय [विजानतः] विज्ञानवेत्ता के लिये सब विविध, विभिन्न भूतमात्र एक आत्मा ही होते हैं। "

इन सब वेद और उपनिषदोंका तात्पर्य यही है कि यद्यपि प्रकृति, जीव, ईश्वर ये तीन भिन्न दीखते हैं, तथापि ये सब मिलकर एक ही परब्रह्म होता है।

जलतत्त्व एक होते हुए भाप और बर्फ क्यों हैं, या भाप होते हुए जल और बर्फ क्यों हैं, इस प्रश्न के समान ही ईश्वर सर्वशक्तिपुञ्ज होते हुए प्रकृति और जीव क्यों अलग हैं? यह प्रश्न है। ज्ञानदृष्टि प्राप्त हुई, विज्ञान हुआ, तो एकत्व अनुभव में आता है। इसी कार्यके लिये वेद और उपनिषद् हैं।

२

बालक छोटा है और बडा होनेपर शक्ति बढती है। वृद्ध होनेपर शक्ति घटती है। जिसकी शक्ति घटती बढती है, वह

कौन है? निःसन्देह वह ईश्वर नहीं। इस शंकाका उत्तर यह है—

क्या बालक की शक्ति कम है और तरुण की बडी शक्ति है? शारीरिक शक्तिकी दृष्टिसे यह कहना सत्य है। पर क्या मनुष्यमें केवल शारीरिक ही शक्ति है? नहीं, मनुष्यमें अनेक शक्तियां हैं। उन सबकी तुलना करके बालक, तरुण, वृद्ध की शक्तियों की परीक्षा करना चाहिये।

बालक चिल्लाने लगा, तो माबाप दौडते हैं, थोडासा बीमार हुआ तो वैद्योंको दौडाया जाता है, गर्भस्थ बालक की हत्या करनेसे सरकार बडा दण्ड देती है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि बालकमें भी शक्ति है? जिस तरह एक राजा पुकारने लगते ही अनेक लोग दौडने लगते हैं, इसी तरह बालक चिल्लाने लगता है, तो आस-पासके लोग दौडने लगते हैं। क्या यहां राजाकी शक्तिकी बालककी शक्तिसे तुलना नहीं हो सकती? यदि बालक शक्ति-हीन होगा, तो कौन उसके लिये दौडेगा? इस समय बालक सेव्य, उपास्य है और मातापिता उसके सेवक या उपासक हैं।

बालक स्वामी है और अन्य लोग उसके दास हैं, पर समझते नहीं। अपना व्यवहार देखेंगे तो सबको इसका पता लग सकता है। बालक के मुख में कितनी महती आवश्यक शक्ति है, इसका पता माता के अन्तःकरण में लग सकता है।

बालक क्या है? '**ब्रह्मका एक अंश +३३ देवताओं के ३३ अंश = 'बालक'**। आत्माकी शक्ति और तैंतीस देवताओंकी शक्ति संमिलित होकर बालक जन्मता है। क्या इस शक्तिकी गणना कोई गणितज्ञ कर सकता है? वेदने ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि '**माताके गर्भ में ३३ देवताओंके अंशों समेत परमात्माका अंश जन्म लेता है।**' किसी अन्य ग्रन्थ में यह अपूर्व ज्ञान नहीं है।

यदि मातापिताको यह ज्ञान हो जाय और अपने घरमें '**अनन्त शक्तियोंसे युक्त बालक जन्म ले रहा है**' यह उनका विश्वास हो जाय, तो मानवी समाज सचमुच दैवी समाज बन जायगा। वेद की इच्छा है कि ऐसा हो, पर वेदका यथार्थ ज्ञान जनता में फैले कैसे? और कौन फैलावे?

क्या बीज में न्यून शक्ति है और वृक्ष में बडी शक्ति है? क्या "बीज" में उससे बननेवाला सब वृक्ष और उससे उत्पन्न होनेवाले सब बीज संमिलित नहीं हैं? फिर बीजकी शक्ति कम और वृक्षकी अधिक कैसी मानी जायगी?

क्या बालक में ज्ञान कम और उनके पितामाता में ज्ञान अधिक है? बालकोंको असत्य बोलनेका उपदेश कौन करता है? क्या हम जो ज्ञान लडकोंको देते हैं, वह 'ज्ञान' कहलाने योग्य है? क्या इस व्यवहारके ज्ञान से मनुष्यका मन शुद्ध हो रहा है? यदि यह ज्ञान सच्चा ज्ञान होता, तो युरोप में इतना ज्ञान बढनेपर युद्धकी तैयारियाँ न होतीं। **जो ज्ञान हमें इस व्यवहार में मिल रहा है, वह महा अज्ञान और महा मिथ्या ज्ञान ही है।** उस ज्ञानसे हम बालकों के शुद्ध और पवित्र मनोंको कलंकित और भ्रांत करते हैं। यह जिसको मालूम होगा वह बालक जैसा पवित्र और शुद्ध मन मेरा होवे ऐसी प्रभुकी प्रार्थना करेगा। फिर कहिये कि किसकी शक्ति बडी है?

अतः किसी भी प्रकारसे देखा जाय तो भी बालकमें अशक्ति और तरुणमें शक्ति नहीं है। **सर्वत्र समान ही शक्ति है।** केवल शक्तिके विभिन्न रूप विभिन्न स्थानोंमें दीखते हैं।

३

अगली शंका यह है कि परिवर्तन किसमें होते हैं? देखिये बालक, तरुण, वृद्ध, जीर्ण होना यह स्वभाव है। एक अवस्थामें एक शक्ति है और दूसरी अवस्थामें दूसरी शक्ति है। ईश्वरमें जननशक्ति और मारण शक्ति ये दोनों शक्तियां हैं। मनुष्य अज्ञानसे पुत्र उत्पन्न हुआ, तो आनन्द मानता है और कोई मर गया तो रोता है। देखिये एक कारखानेमें लकडियां काटनेका और जोडनेका ऐसे दोनों कार्य हो रहे हैं। जोडनेका कार्य देखकर आनन्द और काटनेका कार्य देखकर दुःख मनुष्य करने लगे, तो उसकी बुद्धिमत्ता-के विषयमें पाठक क्या कहेंगे? ये सबही कार्य विश्वरूपी परमात्माकी अतुल शक्तिके ही आवश्यक कार्य हैं। इसी-लिये वेदने ईश्वरको (सविता) जन्मदाता, (मृत्यु) मारक भी कहा है। दोनों कार्योंमें परमात्माकी शक्ति देखनी चाहिये।

श्रीमद्
भगवद्गीता का समन्वय।

भगवद्गीता का महत्त्व।

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ आकारसे छोटा है, तथापि तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वका ग्रन्थ है। इस में जिस तरह वैदिक और औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का समन्वय किया है, उस तरह किसी अन्य ग्रन्थ में हुआ नहीं है। इस कारण अखिल भारतवर्ष में संपूर्ण वैदिक धर्मानुयायियों के घरों में इस ग्रन्थको आदर का स्थान प्राप्त हुआ है।

भारतवर्ष में 'श्रीमद्भगवद्गीता'का जितना पाठ होता है, उतना किसी अन्य ग्रंथका नहीं होता। तथापि समय पर भगवद्गीता के श्लोक सबको याद रहते हैं, ऐसी बात नहीं है। संपूर्ण भगवद्गीता आद्योपान्त कण्ठ करनेवाले श्रद्धालु लोग बहुत हैं। कई लोग तो भगवद्गीताका पाठ किये विना भोजन भी नहीं करते। इतना होने पर भी इनको समय पर आवश्यक इलोक याद आता है, ऐसी बात नहीं है।

धर्मग्रन्थका अभ्यास।

धर्मग्रंथका अभ्यास ऐसा होना चाहिये कि जिससे प्रत्येक शब्द का कहां कैसा और किस अर्थमें प्रयोग हुआ है, इसका निश्चित ज्ञान अभ्यासक को हो जावे। परंतु जिनको भगवद्गीता के सब इलोकों की इस तरह की उपस्थिति मुखोद्गत हो, ऐसे विद्वान् देखने में नहीं आते और किसी एकको, वैसी उपस्थिति हो भी जाय, तो भी उस से क्या हुआ, उससे अन्योंको क्या लाभ हो सकता है?

सब लोगोंके बडे प्रयत्न करने पर भी सबको वैसी सब इलोकों की उपस्थिति नहीं हो सकती। अतः सब के उपयोग के लिये कुछ ऐसे ग्रंथ निर्माण होने की आवश्यकता है कि जिसके पास रहने से सब इलोक मुखोद्गत और उपस्थित होने का श्रेय प्राप्त हो सके।

गीता-श्लोकार्धसूची।

इसी कार्य के लिये हमने इससे पूर्व 'भगवद्गीता-श्लोकार्ध-सूची' बनायी और इस में आद्याक्षरीसे तथा अन्त्याक्षरी से सब इलोकार्ध दिये। जिससे प्रथम पादके अथवा अन्त्य पाद के स्मरण होनेसे संपूर्ण इलोक कहां हैं, इसका पता लग सकता है। इतना ही नहीं अपितु समान पदोंवाले श्लोक भगवद्गीता में कहां हैं और वे कितने हैं, इसका भी इससे सहजहीमें ज्ञान होता है। जैसा देखिये-

जिन श्लोकों का प्रथम पद 'अहं' है, वैसे श्लोक भगवद्गीता में १४ हैं, 'आत्मा' शब्द प्रथम है, ऐसे ९ इलोक हैं, 'इंद्रिय' पद प्रथम रखनेवाले १२ श्लोक हैं, 'कर्म' शब्द का प्रथम प्रयोग जिन में है, ऐसे १५ श्लोक हैं, 'काम' शब्द जिनके प्रारंभ में है, ऐसे १० श्लोक हैं, 'ज्ञान' शब्द जिनके आरंभमें हैं, ऐसे १६ श्लोक हैं, 'ब्रह्म' शब्द प्रारंभमें हैं, ऐसे ८ श्लोक हैं, इसी तरह 'बुद्धि' और 'सुख' शब्द प्रारंभ में रहनेवाले प्रत्येक ८-८ हैं और 'संन्यास' शब्द जिनके प्रारंभ में हैं ऐसे ५ श्लोक हैं, ऐसा आद्याक्षरीसूचीसे पता लगा।

इसी तरह अन्त्याक्षरीसूचीसे भी 'उपासते' पद जिनके अन्तमें है, ऐसे १० श्लोक हैं, 'ईश्वर' शब्द जिनके अन्तमें हैं ऐसे ९ श्लोक हैं, 'गति' शब्द अन्त में रखनेवाले ७ श्लोक, 'प्रिय' शब्द अन्तमें रहनेवाले ६ और 'मां' शब्द जिनके अन्त में है, ऐसे ५ श्लोक हैं। इस तरह का पता अन्त्याक्षरीसे लग गया।

समान शब्दप्रयोग।

इसी तरह ऐसी सूचियों में समान शब्दप्रयोग जिनमें हुए हैं, ऐसे श्लोक इकट्ठे आते हैं, जिनको साथ साथ देखने से अभ्यासक को बडा लाभ हो सकता है, देखिये--

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्। ९।११।२
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। ७।२४।२

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। ४।६।२
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः। ९।८।१

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु॥
९।३४।१

" " " " " " १८।६५।१

इत्यादि समान श्लोक आद्याक्षरीसे इकट्ठे मिले हैं। तथा अन्त्याक्षरीसूचीसे--

तन्निष्ठास्तत्परायणाः। ५।१७।१
कामक्रोधपरायणाः। १६।१२।१
मृत्युं श्रुतिपरायणाः। १३।२५।२
प्राणायामपरायणाः। ४।२९।२

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।
९।१।२

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षसेऽशुभात्।
४।१६।२

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। १८।६२।१
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत। १५।१९।२

इस प्रकार कई श्लोकोंके वाक्य एक साथ आ जाते हैं, जो विचारपूर्वक देखनेसे इन वाक्योंके अर्थ करने में भी बडी सहायता होती है। इस तरह इन सूचियों से लाभ का अनुभव होने के पश्चात् एक और बात ध्यानमें आ गयी कि जिस समय श्लोक का आद्य वा अन्त्य शब्द स्मरण में न हो और बीचका ही शब्द याद आ गया, तो श्लोक का पता किस तरह लग जाय?

भगवद्गीता-समन्वय।

इस कठिनता को दूर करने के लिए यह 'श्रीमद्भगवद्गीतासमन्वय' बनाया है। इसमें हर एक शब्द के नीचे उस शब्दवाले जितने श्लोक भगवद्गीतामें हैं, उतने सब यथाक्रम दिये हैं। इससे किसी को गीता का कोई एक शब्द याद आ गया, तो उस शब्दका प्रयोग जितने श्लोकों में हुआ है, उतने सब श्लोक यहां अभ्यासकको प्राप्त होंगे। अभ्यासक के लिए इसकी बडीहि आवश्यकता है। अभ्यास करनेवाले की स्मरणशक्ति कितनी भी हुई, तो भी किसी को भी इतना स्मरण नहीं रह सकता, परन्तु इस 'भगवद्गीता-समन्वय' के निर्माण होने से हर एक को इस ग्रंथ के पास रखनेसे उक्त प्रकार के स्मरण से जो लाभ होना संभव है, वह सब लाभ हो सकता है।

समन्वय से लाभ।

इस 'समन्वय' से पता लग सकता है कि 'अग्नि' शब्द ६ बार, 'अज' ६ बार, 'अज्ञान' ६ बार, 'अधर्म' ५ बार 'अध्यात्म' ४ बार, 'अव्यय' २२ बार, 'आत्मा' ६५ बार, 'इंद्रिय' २० बार, 'देव' शब्द १७ बार, 'ब्रह्म' ३५ बार भगवद्गीतामें आ गये हैं। इसी तरह सब शब्दोंका प्रयोग कितनी वार हुआ है, इसका पता इस समन्वय से लगता है। इतनाही नहीं, अपितु प्रत्येक शब्दवाले सबही श्लोक यथाक्रम यहां दिये हैं, वे सब श्लोक सामने आते हैं और किस शब्द कहां किस अर्थमें किस तरह प्रयोग हुआ है, इसका भी ज्ञान इससे हो सकता है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता के अभ्यासक के लिये यह ग्रन्थ अत्यंत उपयोगी है। इसके विना ठीक प्रकार भगवद्गीता का अभ्यास होना भी असंभव है, ऐसा कहा जाय, तो वह अत्युक्ति नहीं होगी।

संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् कर्नल जी० ए० जेकोबी महोदयने उपनिषद्वाक्यकोश नामक एक समन्वय ग्रंथ सन १८९१ में बनाया, जिसका प्रकाशन मुंबई के गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डेपो द्वारा हुआ था। इसमें भगवद्गीता के वाक्य संग्रहित किये गये हैं। पर इस ग्रन्थ का मूल्य कम रखनेपर भी आकार बडा है और मूल्य यद्यपि केवल ६) रु० है, तथापि मूल्य कम रखने पर भी वह सबके पास नहीं पहुंच सका, यह केवल ७०० ही छपा था। अब वह समाप्त भी हुआ है और उसमें केवल श्लोकोंके चरण मात्र दिये हैं।

इस कारण हमने इस ग्रंथ में प्रत्येक शब्द के श्लोकार्ध दिये हैं, जिससे अभ्यासक को बडी सहायता होगी। और यह ग्रंथ केवल गीताके ही श्लोकोंका होनेसे गीताभ्यासियोंके लिये बडा उपयोगी सिद्ध होगा।

वेदसमन्वय।

जो पाठक इसका उपयोग करेंगे, वे इसके महत्त्व को अवश्य जानेंगे। यदि वेद मन्त्रों का समन्वय इस पद्धतिसे बन जायगा, तो वेदज्ञान के विचारके लिये, ऊहापोह के लिए तथा वेदमंत्रों का निश्चित अर्थ जानने के लिये कितना उपयोगी सिद्ध होगा, इसका भी विचार पाठक इसके अनुभव से ही कर सकते हैं। विद्वान् लोगों को इसी तरह 'वेदसमन्वय' बनाने की प्रेरणा हो, इस उद्देश्यसे यह सूचना यहां की है। अस्तु।

आशा है कि पाठक इस 'श्रीमद्भगवद्गीता-समन्वय' से बहुत लाभ उठावेंगे।

स्वाध्याय-मण्डल,
औंध जि० सातारा
आषाढ शु० १२
शके १८६१
संवत् १९९६

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-संघ।

स्वाध्याय-संघका उद्देश्य।

वेदका स्वाध्याय करना और कराना, तथा वेदके धर्म का आचरण करना और कराना स्वाध्याय-संघका उद्देश्य है।

वेदका स्वाध्याय नियमपूर्वक प्रतिदिन करनेवाले वेदधर्म के प्रेमी सज्जन इस ' **स्वाध्याय-संघ** ' के सदस्य हो सकते हैं। कम से कम ३ सदस्य होनेपर यह संघ स्थापित किया जा सकता है।

१. **स्वाध्याय-संघका सदस्य** होनेके लिये कोई नियत चन्दा नहीं है।

"प्रतिदिन कमसे कम एक मंत्रका मननपूर्वक पाठ करना।"

"आठ दिनोंमें कमसे कम एक नया मंत्र कण्ठ करना,"

"और स्वाध्याय-संघ के साप्ताहिक सत्संग में कमसे कम मासिक एकवार उपस्थित रहकर अपना मनन किया हुआ वेदमन्त्रका आशय समय मिलनेपर अन्य सदस्योंको कहना,"

यही चन्दा ' स्वाध्याय-संघ ' के सदस्य होनेके लिये पर्याप्त है।

२. द्रव्यरूप चन्दा न होने से गरीब से गरीब मनुष्य भी ' **स्वाध्याय-संघ** ' के सदस्य हो सकते हैं। जो बिलकुल निर्धन होंगे उनको आर्थिक व्यय न करने पर भी स्वाध्याय के पर्याप्त साधन उपस्थित किये जा सकते हैं।

३. कमसे कम तीन सदस्य होनेपर इस ' **स्वाध्याय-संघ** की स्थापना की जा सकती है। इनमें एक **अध्यक्ष**, दूसरा **मंत्री** और तीसरे **सदस्य** होंगे। इनका कार्य उक्त प्रकार प्रतिदिन स्वाध्याय करना, साप्ताहिक सत्संगमें अपने विचार बोलना और स्वाध्याय-संघके सदस्यों की संख्या बढाना है।

४. **स्वाध्याय-संघके** सदस्य स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण, वृद्ध अर्थात् सब मनुष्य मात्र हो सकते हैं। आयुकी, चन्देकी या किसी अन्य धर्म मत या पंथके तत्त्व माननेकी मर्यादा इस स्वाध्याय-संघके सदस्य होनेके लिये नहीं है। वेद-धर्मका अभ्यास करनेकी इच्छा रहने पर कोई मनुष्य पूर्वोक्त शर्तोंका स्वीकार करनेपर सदस्य हो सकता है।

५. **स्वाध्याय-संघका** सदस्य किसी अन्य संस्थाका अथवा अनेक अन्य संस्थाओंका सदस्य रह सकता है।

६. यदि अन्य मनुष्य सदस्य न मिले तो घरमें स्वयं गृहस्थ, धर्मपत्नी, माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री ये सब सदस्य हो सकते हैं। पाठशालाके तीन विद्यार्थी भी अपना संघ स्थापन कर सकते हैं।

७. **स्वाध्याय-संघ** स्थापन करके साथवाले पत्रपर सदस्योंके नाम लिखकर भेजने से उनके स्वाध्याय की आयोजनाका विचार यहांके ' **स्वाध्याय-मण्डल** ' से हो सकता है।

८. प्रतिमास अपने **स्वाध्याय-संघके** स्वाध्यायकी प्रगतिका पत्रक स्वाध्याय-मण्डलके पास आना चाहिये। जिनसे एक वर्षतक कोई वृत्त नहीं आवेगा, उनका संघ बंद हुआ है ऐसा समझा जायगा।

श्री॰ मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि॰ सातारा

श्रीमन्नमस्ते ।

हमारे———————नगरमें स्वाध्याय-संघकी स्थापना की है। यहां निम्न लिखित सदस्य हुए हैं। प्रथम मासके स्वाध्याय के लिये एक पुस्तक भेजिये।

भवदीय

मंत्री, स्वाध्याय-संघ

तिथि

डाकखाना———————

नगर या ग्राम———————

जिल्हा———————

प्रांत———————

सदस्योंके नाम

१ ———————

२ ———————

३ ———————

४ ———————

५ ———————

६ ———————

७ ———————

८ ———————

९ ———————

१० ———————

सत्य अहिंसासे

भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा।

[लेखांक ५ ×]

(लेखक- श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर, यू० पी०)

हमारा कहना है कि देशके सामने आर्थिक कारण रख कर उसे उत्तेजित करना ही देश के उत्तेजित न होने का कारण बन जायगा और उत्तेजकों का अज्ञान माना जायगा। इसलिये भारत को भौतिक सुखोंके नामपर युद्धघोषणा नहीं करनी चाहिये। किन्तु इसलिए करनी चाहिए कि हमें भारतीय मनुष्यता को जीवित रखना है। आज हमें भारतीय मनुष्यता के नामपर ऐसा करना अनिवार्य प्रतीत हो रहा है।

मनुष्यों के उदार गुण असत्य अर्थात् अपने अधिकार की लूटके विरुद्ध युद्ध ठाननेके लिये उकसा रहे हैं कि हे मनुष्य! यदि तू मनुष्य है तो तू अपना स्वत्व बिनालिये क्यों जीता है? यदि तू स्वतंत्रता बिना लिए जियेगा तो तू मुर्दों में गिना जायगा। राष्ट्र के जीवन को सुन्दर तथा पराक्रमी रखने के लिए असत्य के विरुद्ध घोषणा करना आवश्यक है

जिन भारतीयों के पास आंखें हो, उनको देश में क्रान्ति उपस्थित करनेवाली लडाई में सम्मिलित होने के लिए सत्याग्रही बनना चाहिये। अर्थात् उन्हें अंग्रेजी सरकार की भारतीय स्वाभिमानघातक प्रत्येक आज्ञा की पूर्ण अवज्ञा करके अर्थात् उन आज्ञाओंको अनसुनी करके, संसारके सारे संभावित कष्टों को ललकार कर अपने बलिदानों से चुप रह कर विदेशी राज्य को सहायता देनेवाले भारत के मन को आत्मबोध कराना चाहिए। भारतीय सत्याग्रहियों का यह जीवित-विश्वास होना चाहिए कि हम अंग्रेजी सरकार की प्रजा नहीं है। हम ईश्वर अर्थात् सत्य की प्रजा है। जिस देश में जो उत्पन्न हुआ है वही उसका स्वाभाविक अधिकारी है। जिस देश में उत्पन्न नहीं हुआ वह उसका अनधिकारी है। भारत पर अंग्रेजी अधिकार सत्य या ईश्वर का विद्रोह है। जो बात सत्य नहीं है उसे अंग्रेजी सरकार का एडी से चोटी तक बल भी हम से नही मनवा सकता। यदि भारतीय सत्याग्रही अपने ताजे उदाहरणों से भारतीय राष्ट्र के मन को इस प्रकार सत्यारूढ बना सकेंगे तो अंग्रेजी सरकार भारतव्यापी उपेक्षा में अपने पातित्य अनधिकार तथा अनवसर की घोषणा सुनकर अपने दूषित हाथ को सकोडने के लिए विवश हो जायगी।

सत्याग्रही वह है जो पद पदपर बात बातमें सत्य-असत्य उचित-अनुचित अधिकार-अनधिकार का विचार करके असत्य अनुचित तथा अनधिकार को छोडकर सत्य, उचित तथा अधिकार को अपनाता है। अनन्त शक्तिका सागर रामही सत्याग्रही का सहायक होता है। सत्याग्रही को शरीर का एक एक कण स्वाभिमान की मिट्टीसे बना होता है। सत्याग्रही के हाथमें अपनी हिंसा न होने देनेरूपी 'अहिंसा का विश्वविजयी हथियार' रहता है। विजय तो सत्याग्रहीकी मुट्ठीमें रहती है।

उसका स्वाभिमानही उसकी विजय है। उसीके लिए वह जीता है, उसी के लिये वह लडता है और उसी के लिए वह मरना पड जाय तो मर जाता है। चमकता हुआ जीवन ही विजयी जीवन है, चाहे

× चतुर्थ लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २३५, पृष्ठ ४७५ पर देखो।

वह क्षणभर का ही क्यों न हो। पराभूत, तिरस्कृत, अपमानित, पददलित जीवन जीवन नहीं है, चाहे वह सौ बरसकाही क्यों न हो। सत्याग्रही सदा निर्भय रहता है। वह सत्य की सेवाके लिये ही जीता है और उसी की सेवा के लिए मर जाता है। जब सत्याग्रही के पास सत्यके लिए मरनेका निमन्त्रण आता है, तब वह अपने को मरने के लिए सहर्ष उद्यत पाता है। वह मौत को जीवन से कम प्यार नहीं करता।

भारत की वर्तमान अवस्थामें अंग्रेजी सरकारके भारतव्यापी अनधिकार (लूट) को छुडाने के लिए सत्याग्रह या असहयोगसे दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है। क्योंकि इस लूटको बन्द करना प्रत्येक सहृदय भारतीयका कर्तव्य है, इसलिये प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीयसे पूर्ण सत्याग्रही बनकर देशके सामने सत्याग्रहका लूटविरोधी आदर्श उपस्थित करने की आशा की जाती है।

प्रत्येक स्वाभिमानी भारतवासी को अंग्रेजी सरकारके नौकरों से कमसे कम सम्बन्ध रखना चाहिए। यदि उनसे कुछ कहना आवश्यक हो तो अत्यन्त शांति गंभीरता तथा स्वाभिमान के साथ कहना चाहिए।

यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि भारत की वर्तमान परिस्थितिमें इस युद्धमें कहीं भी शरीरबल या वाग्बल नहीं दिखाना चाहिए। हमारे शत्रुने भारत के शरीरबल दिखाने का अवसर नष्ट कर डाला है। इसलिए भारतका अंग्रेजों को शरीरबल से दबाकर उनका अनधिकार छुडाना ईश्वर की इच्छा नहीं है। परन्तु शरीरबलका अवसर नष्ट होने मात्रसे भारत नपुंसक नहीं हो गया है। भारतके पास असंख्य मनोबल है। मनोबल शरीरबल से लाखों गुना कीमती और कार्यकारी होता है। अब भारतको केवल मनोबलसे काम लेने का अवसर आ गया है।

देशसेवकों का भारत का मन बदलनेमें लग जाना चाहिए। भारत के मनको बताना चाहिए कि तुम्हारे ईश्वरीय अधिकार क्या हैं? सम्मानित जीवन बिताना भारतका ईश्वरीय अधिकार है। अंग्रेज भारत के ईश्वरीय अधिकार की रुकावट बन गए हैं और बने रहना चाहते हैं। अंग्रेजों में इतनी शक्ति नहीं है कि वह ३५ करोड के राष्ट्र से उस की इच्छा के विरुद्ध कुछ करा सकें। क्योंकि सारा राष्ट्र अपनी ही अज्ञानी इच्छासे इनको सहयोग दे रहा है, इसीसे इनका यहां राज्य करना संभव हो रहा है। यदि भारत इस स्वेच्छा सहयोगको बन्द कर दे तो अंग्रेजों पर कोई शक्ति नहीं है कि इतने बडे राष्ट्रको वशमें रख सके। राष्ट्र अपने मिथ्या संकल्प से बंधा पडा है। राष्ट्र में इस मिथ्यासंकल्प के विरोधी संकल्पों को जगाना चाहिए। जिस दिन भारतके शत्रु को ३५ करोड तेजस्वी विरोधी मनों का सामना करना पडेगा, उस दिन अंग्रेजी सरकार यह कहना भूल जायगी कि हमने भारत को जीता है। उस दिन अंग्रेजी सरकार को यह नया पाठ पढना पडेगा कि भारत अपने अज्ञान से अपने को हमारे वश में समझ रहा था। उस दिन अंग्रेजी सरकारका भारत-निवास असम्भव हो जायगा। इसके लिये देशसेवकों को अंग्रेजी सरकारके अनधिकारके विरोधमें केवल-मनोबलको काममें लानेका पक्का संकल्प करना चाहिये।

प्रत्येक बातमें पूर्ण संयम रहना चाहिये। यह बात एक क्षणके लिये भी न भूलनी चाहिये, कि हमने इस युद्धको आत्मसुधारके लिये अर्थात् भारत-व्यापी मानसिक अवसादको जडसे उखाडनेके लिये अपने जीवनका व्रत समझकर अपनाया है। हमें इस महाव्रत का विरोधी कोई आचरण न करना चाहिये।

यह युद्ध किसी सांसारिक प्रलोभनके लिये नहीं छेडना चाहिये। इस युद्धको छेडना भारतका कर्तव्य है। यदि भारतको भारत रहना हो, तो उसे यह युद्ध छेडना ही चाहिये। यदि भारत इस युद्धको न छेडेगा तो सभ्य संसार में से भारतका अस्तित्व लुप्त हो जायगा। इसीसे यह युद्ध छेडना चाहिये।

इस लिये भारके देशसेवकोंको स्वार्थ भी कायरताके वश होकर अथवा किसी प्रलोभन या डरके वशमें आकर अपना सिर अंग्रेजी सरकारके सामने नीचा न करना चाहिये।

भारतके देशसेवकों को भयों के सामने हिमालयके समान डटकर स्वाभिमानसे सिरको ऊंचा खडा करके सरकारी आज्ञा न मानने के लिये उद्यत हो जाना चाहिये। जब तक भारतीय देशसेवकोंकी डर को भी डरानेवाली हुंकारोंसे सारा देश नहीं गरज उठेगा, तबतक भारतकी कायरता अर्थात् अंग्रेजी शासनमें भारतका स्वेच्छा सहयोग समाप्त नहीं होगा। जबतक भारतीय सेवकोंका आत्मबल देशव्यापी असहयोग को जन्म नहीं देगा तबतक देश कायर (अपने आत्मबलको न पहचाननेवाला) रहेगा और देशकी इस कायरतासे देशके शत्रुके हाथों किया जानेवाला भारतीय अस्तित्व का अपमान रोका नहीं जा सकेगा।

आगमके दिनोंमें वीरता नहीं दीखती। दमन और अत्याचारके दिन ही वीरता दिखानेके अवसर होते हैं। दमन और अत्याचारोंसे ही वीरताका खरा-खोटापन जांचा जाता है। दमन और अत्याचार सत्यके मित्र सत्यके साथी और उसे चमकानेवाली आग है। ये दोनों आते ही सत्यको ललकार कर उसे उत्तेजित करते हैं। यदि भारतवासियोंको स्वतन्त्रतापर श्रद्धा हो चुकी होगी तो दमन और अत्याचार ये दोनों भारतीय स्वतन्त्रताको चमकानेवाले बन जायंगे। स्वतन्त्र मनुष्यों की यह पहचान है, कि वे दमन और अत्याचारसे कभी नहीं घबराते। ये दोनों आकर स्वतन्त्र मनुष्योंमें सत्यनिष्ठा के आग्रहको तीव्रतम कर जाते हैं।

जब भारतके देशसेवक अंग्रेजों का अधिकार अस्वीकार करेंगे उस समय अंग्रेज अपना अधिकार भारतसे स्वीकार करवाने के लिये गोली और लाठी का प्रयोग करेंगे। वह समय भारतकी धैर्य और स्वराज्य की योग्यता की परीक्षा का समय होगा। क्योंकि हमें मानसिक स्वराज्य लेना है और भारत भरसे मानसिक स्वराज्य दिलाना है, इसीलिये हम गोली-लाठीका कोई उत्तर न देकर उसे सत्य नारायण की कठोर क्रीडा मानकर उनके लाठीगोली के खेल के सहर्ष साथी बन जायगे। गोली और लाठी हमपर बरसती होंगी और हम उन्हें भारतीय स्वराज्यकी सेवाके नाते सहते होंगे।

भारतके देशसेवकोंको गाली या अपशब्दों का बदला मौन रहकर दयापूर्वक देना चाहिये। सत्याग्रहियोंको गालियोंसे भी अपनी सत्यनिष्ठा को तीव्र बनाने का काम लेना चाहिये।

जब जब अंग्रेजी सरकारकी ओरसे सेवकोंके सामने स्वधर्म स्वाभिमान तथा मनुष्यताके विरुद्ध कोई घटना उपस्थित की जाय, उस समय उसके विरोधके परिणामका कोई विचार न करके उसका निषेध कर देना चाहिये। यही भारतीय स्वराज्ययुद्ध की प्रधान नीति है।

भारतके निश्चेतन मनमें चेतना का संचार करने वाले प्रत्येक उपायको काममें लाना तथा शत्रु की अपमान करनेवाली प्रत्येक आज्ञाओं का विरोधी वातावरण बनाकर खडा कर देना ही इस युद्धका प्रधान भाग है।

तात्पर्य यही है कि भारतको जाग्रत विवेकी सत्याग्रही मन देकर उससे अंग्रेजी सरकारको दिया हुआ स्वेच्छासहयोग नामक अधिकार लौटाने लेना ही भारतीय सेवकों की युद्धनीति है। यही नीति अहिंसाकी युद्धनीती कहाती है। इसे अहिंसाकी इसलिये कहते हैं कि इसमें भारतीय स्वाभिमान की पूर्णरक्षा हो रही है। भारतका किसी भी संसारी लोभसे अंग्रेजोंसे न दबनाही इस नीतिका अभिप्राय है। अहिंसाका यह भी एक अभिप्राय है कि शस्त्रबलके मार्ग पर जानेसे रोका हुआ भरत आज मनोबलसे अपना राज्य लेकर दिखायेगा और मनोबलसे अंग्रेजों को भारतीय आसन छोड देने के लिये विवश करेगा। अहिंसाका अभिप्राय है कि भारत शस्त्रोंसे अंग्रेजोंसे लडना नहीं चाहता, किन्तु भारतवासियोंको जगाकर देशको 'जागा हुआ भारत' बनाकर देशमेंसे अंग्रेजी सरकार के ठहरने के मानसिक आधारको उखाड

फेंकना चाहता है।

जेलयात्रा।

देशके सच्चे सेवकों को देशके मन को जगाता देखकर भारत का शत्रु अधीर हो जायगा और वह प्रत्येक उपाय से देशसेवकोंकी धीरता को तोडने का प्रयत्न करेगा। देशसेवकोंकी जेलयात्रा भी उन्हीं धीरता तोडनेवाले प्रयत्नों में से एक प्रयत्न है। यदि देशसेवा के नाते जेल जाना पडे तो उसे अपनी विवश अवस्था न मानकर अपनी शान का स्थान या परम सौभाग्य की अवस्था मान कर मन में इसलिए परम हर्षित रहना चाहिए कि हम भारतीय दासता को अस्वीकार करके जेल गये हैं।

जेल में जाकर जेल के भी अपमानकारी नियमों को नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अंग्रेजी सरकार की नीति भारतीय स्वतंत्रता की भावना का गला घोटकर भारत में बलपूर्वक दासताकी भावना उत्पन्न करने की है। जागे हुए भारत का कर्तव्य स्वतंत्रता की भावना को प्रतिष्ठित रखना है। इस के लिए स्वतंत्र भारतीयों को जेलों के भीतर भी सरकार से लडाई छेड रखनी होगी।

(१) जेलों में जानेवाले भारतीय स्वयंसेवकों को रहनसहन तथा भोजनादि के विषय में आदर्श संयम रखना होगा।

(२) स्वधर्म स्वाभिमान तथा मनुष्यता के विरुद्ध खाना खाने का निषेध कर देना चाहिये और परिणाम की भयंकरता की चिन्ता छोड देनी चाहिये।

(३) यदि कोई अपनी मांग पूरी न हो या अपने ऊपर सख्ती की गयी हो या ऐसी ही किसी दूसरी घटना के समय कभी भी भूकहडताल न करनी चाहिये।

(४) अपने स्वास्थ्य रुचि तथा विवेक के विरुद्ध शारीरिक परिश्रम करने से निषेध कर देना सर्वथा उचित है। परन्तु साथ ही श्रम न करना भी उचित नहीं है। मनुष्यता के विरुद्ध कोल्हू जैसे परिश्रमों को तो मनुष्यता के नामपर अस्वीकार करना ही चाहिये।

(५) जेलवालों की नौकरी में सहायक बनने-वाले अपमानकारी परिश्रम भी भारतीय स्वाभिमान के विरोधी होनेसे अस्वीकार कर देने चाहियें। इस काममें दूसरोंके साथ देने या न देने की बात न देखनी चाहिये। स्वाभिमान के विरुद्ध परिश्रमों को अस्वीकार करने पर जेलकी ओर से जो परिणाम भुगाये जांय, उनसे न घबराना चाहिए। सूली कील तथा विष के प्याले पीनेवाले सन्तों को जिस अपनी मानसिक पवित्रता में से अनन्त बल प्राप्त होता चला आया है, उसी आध्यात्मिक पवित्रता में से बल प्राप्त करके उन सब परिणामों को माया का खेल मानकर, भारतीय आध्यात्मिक सभ्यता का सिर ऊंचा करना चाहिये।

(६) जेल की सजा में टाट की वरदी या सूरत बिगाडनेवाली जो कोई भी जेलपरीपाटी की वरदी दी जाय, उसे स्वाभिमान के साथ अस्वीकार कर देना चाहिए। दूसरों के पहने हुए वस्त्रों को भी अस्वीकार करना चाहिये।

(७) दण्ड से बचने के लिये शक्ति से अधिक परिश्रम न करना चाहिए। जो कुछ गज या छटांक भर करना हो, उसे बहुत अच्छी तरह करना चाहिए।

(८) तुमने जिस स्वतंत्रता की भावना को लेकर अपने आपको स्वतंत्रताके आभूषणस्वरूप बेडी पह-नायी है, देखते रहना कि कहीं वह भावना छूटने न पाए। उसे छोड कर देश या ईश्वर को धोका मत देना।

अहिंसात्मक सत्याग्रह।

अंग्रेजी सरकार ने पाशविक शक्तिके आधार से बनाये हुए और उसी के बलपर भारत में चलाए हुए ऐसे कानूनों से सारे भारत भर को जेलखाना बना रखा है, जिन को कि मनुष्य की पवित्रता और स्वाभिमान अनुमोदन नहीं कर सकता। भारत के दुर्भाग्य से भारत की ही सन्तान रोटी के टुकडे के लालचमें फंस कर पेटी पगडी बिल्ले तथा वर्दी पहन कर इस जेलखाने की पहरेदार बनकर सारे देश-

भाइयों को कैदी बनाने में सहायता दे रही है। अंग्रेजी सरकार इन पहरेदारों को वेतन का जो टुकड़ा देती है उसे वह अपने घरसे लाकर नहीं देती, किन्तु उसे भी भारत से लेती है। भारत के हाथों में हथकड़ी लगाने का खर्च भी भारत से ही लिया जाता है। अबतक भारत अपने भोलेपन से राजा की सचाई पर विश्वास करना धर्म मानकर उस के कानून का पालन करने के नाम से ठगा जाता रहा और कानून पालन करना धर्म मानकर अपने को हथकड़ी; बेड़ी पहनाने, कोडे बैंत मारने तथा फांसी के तख्तेपर लटकाने का खर्चा तक देता रहा। समयने आकर इस विदेशी शासन की पोल खोली और भारत ने अपने को कानून के नाम पर दिनदहाड़े लुटते और अपमानित होते हुए पाया।

देशकी सुखसमृद्धि ही किसी कानून की सचाई की कसौटी और सीमा है। जबतक कोई कानून देश की सुखसमृद्धि का कारण हो, तबतक ही वह कानून है, तबतक ही उसे मानना धर्म हो सकता है। परन्तु जब कानून के पेट में पाप छीपा हो, या छल भरा हो, जब उस के पेट में देशको दास और पशु बनाना छिपा हुआ हो, तो उसे तोडना, उसका पेट फोडना, उस का विरोध करना, उसे अपने देशमें न रहने देना, उस देशवासी प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बालक वा और वृद्ध का पवित्र कर्तव्य हो जाता है।

ऊपर से देखने में भारत में सर्वत्र शान्ति दीखती है। परन्तु यह मुरदा शान्ति है। सारा भारत इस शान्तिके नामपर एक विराट् संकट में डुबा हुआ है। कब किस भारतवासी की मनुष्यता पर आक्रमण हो जायगा, कब किसे अपमानित कर डाला जायगा, इस का कोई ठिकाना नहीं है। कब किस स्थानपर रोबदाब के नाम पर मारपीट और अपमानकारी घटनायें नहीं घट पढेंगी, यह कौन कह सकता है? ऐसे संकटों की संभावना के रहते हुए भी भारत अपने को शान्ति में कैसे मान सकता है? ऐसी अपमानभरी संशयापन्ना अवस्था में कोई भी स्वाभिमानी भारतवासी शान्ति से कैसे बैठ सकता है? जिस भारतीय को भारत की यह बेबसी की अवस्था चुभ जायगी, वह चैनकी नींद कैसे सो सकता है? इसलिए स्वतंत्र मनोवृत्ति रखनेवाले प्रत्येक भारतीय को विदेशी राज्य की नींवपर वार करने के लिये घर बाहर का मोह छोडकर मैदान में उतर पडना चाहिये और इस मिथ्या शान्ति को मिटा डालना चाहिये। किसी भी स्वतंत्र मनुष्य को विदेशी शासन का अन्त होने तक चैन से बैठने की अधिकार नहीं है, जबतक भारत में विदेशी शासन बना हुआ है, तबतक किसी भी भारतीयका घर द्वार तथा घर द्वार से लाखों गुना कीमती स्वाभिमान सुरक्षित नहीं है। कहना चाहिये तबतक किसी भारतीयका कोई घर नहीं है। सारे भारत को मृत्यु को अवश्यंभावी जानकर तत्काल युद्धस्थली बन जाना चाहिये और देश को स्वतंत्र बनाना चाहिये।

भारत यह न सोचे कि हम निहत्थे सत्याग्रही लोग अंग्रेजी सरकार के इतने बडे पशुबलको कैसे नाश कर सकेंगे? हमारा कहना है कि हम अंग्रेजोंको नष्ट करना नहीं चाहते। अंग्रेजों का नाश करना हमारा कर्तव्य नहीं है। किसी का भी नाश करना किसी के भी वशमें नहीं है। ईश्वरेच्छा से ही किसी का नाश होता है। इस सम्बन्ध में भारतवासियों का केवल एक कर्तव्य है कि वे अंग्रेजों के अनधिकार का इतना प्रबल विरोध करें कि उन का अनधिकार लोलुप दिल टूट जाय। अंग्रेजों का नाश करना ईश्वरका काम है। सत्य स्वयं ही असत्य के खून का प्यासा है। सत्य सदा ही असत्य के घातमें घूमता रहता है, सत्य स्वयं अपनी ही शक्ति से विजयी होता है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि भारत एक बार किसी तरह सत्य को अपना-ले।

भारतीय सेवकों को यह बात सदा याद रखना चाहिये कि हमारा यह संग्राम अंग्रेजों से बदला लेने के लिये नहीं है। किन्तु अपने मानसिक पतन से मुक्त होने के लिये है। यदि हम अंग्रेजों को कष्ट पहुंचाना चाहेंगे, तो सत्य हमारा पक्ष छोडकर चला जायगा और तब हम निश्चित रूपमें हार जायंगे।

और पुष्टांग बना रहे तब भी वह मुर्दों में गिना जाता है। धन,संपत्ति और शरीर को तो सृष्टिव्यवस्था एक न एक दिन नष्ट कर ही डालती है। सत्यरक्षा के लिये मरणधर्मा शरीर की आहुति ही अमर भाव है। अब भारत के यह निर्णय करने का अवसर आ गया है कि बचा भारतवासियों का दासताका बोझ कमर पर लादे हुए, मालिक की कृपापर निर्भर रहकर कुत्तेकी मौत है जा ताडन आदि में मर जाना अच्छा है या अपनी मनुष्यता को स्थिर रखनेवाले युद्ध में सम्मिलित होना अच्छा है ?

ईश्वरने भारतको भी जीवित रहनेका अधिकार दिया है। भारतका वह जीवनाधिकार अंग्रेजी सरकार के कानूनोंने छीन रखा है। इनके प्रत्येक कानूनको तोडना भारत को जीवनाधिकार देनेवाले ईश्वरके कानूनपर चलता है। भारतवासी २० - वर्षसे अब तक अपनी मानसिक निर्बलता और अज्ञानके कारण अंग्रेजी सरकारके पाशविक कानूनों से डरकर ईश्वर के कानून को तोडते रहे। यदि भारत अंग्रेजों को अपने सिरपर सवार रखनेवाली निर्बलता का कोई उपाय करना चाहे तो उसे सबसे प्रथम राष्ट्रमत को जगाना पडेगा और स्वराज्य की आवश्यकता के विषय में सारे राष्ट्र को एकमत करना पडेगा। इसके लिए देशके सात लाख गांवरूपी सात लाख किलोंपर अधिकार जमाना पडेगा और फिर सारे भारत में व्यक्तिगत रूपमें अंग्रेजी आज्ञाओं का अपमान करना होगा। भारत में ऐसा वातावरण बनाना पडेगा कि समन और वारण्ट किसी भी भारतवासी को कचहरी नामकी अंग्रेजी दूकानोंपर न बुला सके।

हम यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप में भारत के सामने रख देना चाहते हैं कि ऊपर कहे प्रकार से व्यक्तिगत रूप में अंग्रेजी कानूनों का अपमान करने के ऊपर ही भारत का मान-अपमान जय-पराजय तथा भावी कल्याण निर्भर है। इस प्रकार की कानूनी अपमानों की प्रत्येक घटना अंग्रेजी कानून का प्रयोग करनेवालों का उत्साह तोडती चली जायगी और राष्ट्र का तेज बढानेवाली बनती चली जायगी।

सरकार के पास पशुबल है, भारत के पास आत्मबल है। आत्मबल के सामने पशुबल शेर के सामने भुनगे के समान हो जाता है। क्योंकि सरकार के पक्ष में कोई सचाई नहीं है, इसलिए सरकार इस लडाई में कभी आत्मबल नहीं दिखा सकती और कभी विजयी नहीं हो सकती। जिस दिन भारतने सत्यबलके आधार से लडाई छेड दी उसी दिन पराजय सत्यबलहीन अंग्रेजों के पक्ष में चली जायगी। क्योंकि भारत के पक्षमें सत्य है इसीलिए अंग्रेजों से लढाई छेडने के दिन ही विजय भारत के पक्ष में निश्चित हो जायगी। सचाई ईश्वरीय शक्ति है। पशुबल शैतान का आविष्कार है। जिस दिन ईश्वर और शैतान की लढाई छिडेगी उस दिन विजय ईश्वर का पक्ष लेगी। आजतक भारतके पराजित रहने का कारण तो भारत का भी शैतान बन जाना है। अंग्रेज तथा भारत दो शैतानों की लढाई में अधिक शैतानी शक्तिवाली सरकार की विजय हो रही है। परन्तु जिस दिन भारत शैतानी करना छोडकर सत्य का पक्ष ले लेगा उसदिन भारत में शैतान को ईश्वर का सामना करना पडेगा। जिस दिन भारत सत्यपर टुट जायगा उसीदिन भारतविजय सुनिश्चित हो जायगी। सरकारने अपनी धाक जमाने का प्रबन्ध केवल दो हजार शहरों में कर रखा है। वह इन्हींपर लाठी फटकार रही है। परन्तु दो हजार शहर ही तो भारत नहीं है। भारत तो गावों में हैं। इन सात लाख गावों में धाक जमाने का कोई प्रबन्ध सरकार के पास नहीं है और न ऐसा करना सम्भव है। यदि इन सात लाख गावों का सोता बल एक साथ जाग उठे तो इन सात लाख गावों के बल के सामने अंग्रेजी सरकार हाथी के सामने मेंढक के समान छोटीसी हो जाय और अपने को ७ लाखों जाग्रत राष्ट्रों से भगाए जाने की अवस्था में पाए। यदि यह सरकाररूपी मेंढक जागे हुए विशाल भारत

राष्ट्ररूपी हाथी को दबाने के लिए उसके बराबर पेट फुलाना चाहेगी। अर्थात् जिस दिन सरकार भारतीय ग्रामों के आत्म बल से झल्लाकर उनपर प्रभाव जमाने चलेगी, उस दिन उसकी हाथी की बराबरी करना चाहनेवाले पेटफटे मेंढक-की अवस्था हो जायगी। परन्तु ऐसी शक्ति केवल उन्हीं देशसेवकों के बुलाने से आयेगी जो राष्ट्रीय उद्योग तथा समय के सदुपयोग की प्रतीक चरखे और तकली को हाथ में लेकर गांवों को मानसिक भोजन खिलाकर पुष्ट करेंगे। चरखा और तकली हमारे देशसेवकों को आवारापन तथा बेकारपनसे बचाए रहेगी और वे देशसेवक देश की अज्ञाननिद्रा तोड़कर उसे जागा हुआ उत्साही संग्रामशील राष्ट्र बना डालेंगे।

भारत की मनुष्य-संख्या सवा पैंतीस करोड है। इनमें से ढाईतीन करोड दो हजार शहरों में तथा पौने बत्तीस करोड सात लाख गांवोंमें बसते हैं। अंग्रेजोंने शहरों को अपने किले बना रखा है। इनकी सेना और पुलिस शहरों में रखी गयी है। गांव देशवासियों के किले हैं। शहरवाले अंग्रेजोंपर कोई हथियार नहीं चला सकते। वे शत्रु के प्रभाव में रहकर उसके शिकार बने रहते हैं। देशके शत्रु को नष्ट करनेवाला हथियार केवल गांववालों के हाथों में है। भारत की लाज तथा अंग्रेजी सरकार का नाश केवल गांववालों के हाथ में है। यदि भारत के गांव चाहें तो उनके चाहने मात्रसे शत्रु के हाथ से भारत का मोक्ष हो सकता है। उसके लिये भारत के गांवों को इतना जाग जाना चाहिये कि भारत का शत्रु उनपर हथियार चलाने के लिये विवश हो जाय, परन्तु शान्तिपूर्ण असहयोग के कारण हथियार चलाना बेकार बना दिया जाय। यों भारत के गांवोंको शत्रुके हथियारों को बेकार करके शत्रु को अपना शिकार बना लेना चाहिये। जिस दिन अंग्रेजों को ५ गांवोंपर हथियार चलाने की आवश्यकता पडेगी, वह दिन भारतीय स्वतंत्रताका प्रभातकाल होगा। भारतीय स्वयंसेवकों को यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिये कि भारतकी स्वतंत्रताका प्रश्न गांवोंकी मुट्ठीमें छिपा हुआ है। यदि भारत के सात लाख गांवोंमें साहस आ जाय तो स्वराज्यको मुट्ठीमें से बाहर निकलनेका अवसर न मिले।

आज जो भारत का शत्रु शहरों में निश्चिन्त होकर हथियारों की प्रदर्शनी कर रहा है, सब से पहले भारत को उसकी यह निश्चिन्तता छीननी पडेगी। भारतके शत्रु को ऐसा निश्चिन्त अवसर मिलते रहना भारतीय स्वराज्य-संग्रामकी बडी भारी कमी मानी जायगी कि वह शहरों में निश्चिन्त बैठकर शहरवालोंपर हथियार चलाता रहे और वहीं से ग्रामों को दहलाता रहे। आज भारत के ग्रामवासियों के ऊपर यह कर्तव्य आ गया है कि वे अपने आत्मबलसे भारतके शत्रुकी निश्चिन्तता छीन लें। इसके लिये उन्हें अपने शत्रु को दो बातों के लिये विवश करना चाहिये। एक तो उन्हें अपने आत्मबलसे उसे अपने शहररूपी किले छोडने के विवश करना चाहिये और दूसरे अपने ऊपर हथियार चलाने के लिये विवश करना चाहिये। भारतीय स्वयंसेवकों को यह पाठ अच्छी तरहसे पढ लेना चाहिये कि भारतकी मानसिक निर्बलता अर्थात् विरोध छोड बैठनेवाली अवस्था के कारण ही भारत के शत्रुका बल इकट्ठासा और बहुतसा दीखता है और डरावना बना हुआ है। इस इकट्ठे बलको अपने बुद्धिबल तथा साहस-बलसे बखेर डालना और इस बलको बिना भयका बना डालना ही भारतकी युद्धनीति या मोक्षनीति होगी। भारत जितनाही मानसिक बल बढाकर शत्रुके बलको बखेर डालेगा या तितर बितर कर डालेगा, उतनाही स्वराज्य समीप आता चला जायगा।

भारतको अपने शत्रु की यह शासन-नीति भले प्रकार जान लेनी चाहिए कि वह मुट्ठीभर शहरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए ठूंठा करता

रहता है और इस शहरी ठूंठा से देशभर को घबराकर अपने वश में रखता है । भारत की घबराहटही अंग्रेजी सरकार का आधार है । जिस दिन भारत की घबराहट मिट जायगी और भारत सत्य के नामपर मरनेके लिए रण-स्थलमें आ खडा होगा, उस दिन अंग्रेजी सरकार का भारत में ठहरने का आधार लुप्त हो चुका होगा । भारतके शत्रुपर इतना बल नहीं है कि वह भारत के गाव-रूपी सात लाख किलोंपर कोई हथियार चला सके । उसके विपरीत भारत के पास चरखा तथा मानसिक बल ये दो ऐसे अमोघ हथियार है कि जिन से वह शत्रु के दो हजार किलों को बातकी बात में विध्वंस कर सकता है । इन दोनों हथियारों से भारत के शत्रु का बल धुएं के समान भारतीय आकाश में से उड जायगा । जब भारतीय सेवक चरखे और मानसिक बल के प्रचार से शत्रु के बल की जडें खोदकर फेंक देंगे, उस समय भारत का शत्रु बुद्धिशून्य होकर भूके पागल के समान हथियार लेकर गांवों में गश्त लगाना चाहेगा । वही दिन अंग्रेजी शासन का अन्तिम दिन और भारतीय स्वराज्य का प्रथम दिन होगा ।

अस्पृश्यता-निवारण ।

युद्ध का अर्थ अपनी निर्बलताओं से युद्ध है । हमारी निर्बलता ही हमारे शत्रुओं को हमपर अधिकार जमाने का अवसर देती है । अस्पृश्यता भी हमारी उन्ही निर्बलताओं में से एक निर्बलता हैं, अस्पृश्यता भारत की हिंसा तथा भारत का असत्य है । अस्पृश्यता-निवारणका काम स्वराज्य-संग्राम से पृथक् कार्य नहीं है । यह देश का संगठन नष्ट करनेवाली व्याधि है । देश के संगठन को नष्ट करनेवाली प्रत्येक व्याधि से हमारी लडाई है । एकही आदि पुरुष संसारभर के मनुष्य समाज का पूर्व पुरुष है । इस नाते सब सबके भाई और सब एकही वंश के सदस्य हैं । मनुष्य-समाज में अपनी अपनी रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार पृथक् पृथक धन्धे होते हैं, उनसे पृथक् पृथक् जातियां बन जाती हैं । परन्तु किसी धन्धे के कारण किसी जातिको ऊंचा या किसीको नीचा कहना अनुचित है । उच्चता नीचता धन्धे में न रहकर मनमें बसनेवाली वस्तु है । धन्धे से कोई ऊंचा या नीचा नहीं मान जाना चाहिए, किंतु मनके बुरे भले विचारों से ही किसी को बुरा भला मानना चाहिए । यदि धन्धा करनेवाला नीचा है, तो उस धन्धेको करवानेवाला नीचा क्यों नहीं है ?

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में एक एक अंग का एक एक काम है, सिर अपना काम करता है, हाथ पैर अपना काम करते हैं, परन्तु इनमें ऊंच या नीच कोई भी नही हैं । यदि सिर अपने को पैरों से ऊंचा मानकर अलग रहना चाहे तो सिरको धरतीपर गिरनाही होगा । तब सारा शरीर भूमिपर गिरेगा तथा कुत्तों गीदडों और गिद्धों का शिकार बन जायगा ।

भारतने भी अपने कुविश्वासोंसे आज अपनी यही अवस्था करली है । वह अपने ही एक भाग को अच्छा समझकर दूसरेसे पृथक् होकर बैठ गया है । क्योंकि उसने अपनों में से उन भाइयों के जो माता का काम करते हैं, नीच बनाना प्रारंभ कर दिया था । इसीसे उसे दूसरों का दास बनना पडा और अब स्वयं सारा भारत घृणित जीवन बिता रहा है ।

मैला साफ करना माता का काम है । यदि मैला साफ करनेवाला नीचा हो तो माता को सबसे नीचा कहना पडेगा । परन्तु माता नीची नहीं है । वह बच्चे का मैला साफ करके अपने मातापन की महिमा का आनन्द लेती हैं । मैला साफ करने के कारण अपने कुछ भाइयों के सामाजिक अधिकार छीन लेना भारतीय समाज की मस्तिष्कहीनता का परिचय दे रहा हैं ।

भारतवासियों को चाहिए कि अपने अस्पृश्य भाइयों की सेवा करके अर्थात् उनकी अस्पृश्यता

हटाकर (उन्हें अस्पृश्य मानना छोडकर) उन्हें फिर अपने साथ कर लें। अपने साथ करने का अभिप्राय यह है कि उनमें बहुत से कुविश्वास और अज्ञान हैं। उनके सामाजिक अधिकार छिन जानेसे उनका बडा पतन हो गया है। उनका पतन भारत का पतन है। यदि भारतको पतन से बचाना होगा, तो उन्हें सब सामाजिक अधिकार देनेही पडेंगे। उन्हें अपनी सभा-समितियों, पर्वों-उत्सवों तथा कथावार्ताओं में सम्मिलित होने का अधिकार देना पडेगा। उनके बालकोंको अपने बालकों के साथ पढने का अधिकार स्वेच्छा से स्वीकार करना पडेगा। यह सब भारतीय मनुष्यता की सेवा के नाते करना पडेगा। इतना करने से उनकी अस्पृश्यता नष्ट होकर भारत शुद्ध हो जायगा। भारतवासी लोग ऐसा करने परही संसार में अपना सिर ऊंचा कर सकेंगे। नहीं तो नाश होही रहा है।

स्वराज्यजीवन।

कुछ लोग हमारे इस स्वराज्यमार्ग की हंसी उडा सकते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि स्वराज्य ऊंची उडान नहीं है। स्वराज्य मनुष्य के दैनिक जीवन में से ही चमकनेवाली वस्तु है। जिस देश में पवित्र जीवन आ जाते हैं, वहां स्वराज्य आ जाता है। देशकी कर्तव्यबुद्धिको जगा देना ही स्वराज्य का उचित प्रतिकार है।

बिभीषणने भगवान् रामचन्द्र से पूछा था कि हे राम ! रावण की सेनामें हथियार, रथ, विमान आदि सब कुछ साधन हैं। आपके पैरों में तो जूता तक नहीं है। फिर आप रावण जैसे प्रबल-तम शत्रु को कैसे हरायेंगे? भगवान् रामचन्द्रने इसका जो उत्तर दिया था, हम वही उत्तर सत्याग्रह की हंसी उडानेवालों के सामने रखे देते हैं।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य शील दृढ ध्वजा पताका॥

बात यह है कि इस मार्ग की हंसी उडानेवाले जब तक सत्यसे पृथक् खडे होकर सत्यकी बात सोचते रहेंगे तबतक सत्य की महत्ता को न समझकर उसकी हंसी उडायेंगे। परन्तु जब वे सत्यसागर में कूदकर देखेंगे, तब सत्यको अनन्त शक्ति के रूप में पायेंगे। तब उनके हंसी उडानेके विचार उड जायंगे।

कर्तव्यबुद्धि में बडा भारी बल होता है। कर्तव्य-बुद्धिही इस संसार का सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। कर्तव्यबुद्धिही संसार में सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर रही है। देशमें सरकार के दिए हुए या नेताओं के दिलाए हुए स्वराज्य का आनाही नहीं है। हम चाहते हैं कि देशमें देशकी सर्वशक्तिमती कर्तव्यबुद्धि से विवश किया हुआ स्वराज्य आए। देशकी कर्तव्यबुद्धि के लाए हुए स्वराज्यसेही भारत का कल्याण होगा और स्वराज्य की भूक मिटेगी।

देशकी कर्तव्यबुद्धि को जगाने का एकही मार्ग है कि देशमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता को उत्पन्न किया जाय। क्योंकि जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में स्वतंत्रता पा चुकते हैं, वे ही जातीय स्वतन्त्रता के स्वयंसैनिक बन जाते हैं।

पूछा जा सकता है कि क्या कोई देश इस प्रकार के मार्गको समष्टिरूपमें अपना सकता है? हम इसके उत्तर में पूछेंगे कि क्या इस मार्ग को देश में से कोई एक मनुष्य अपना सकता है या नहीं? अवश्य ही आप कहेंगे कि १-२ या १०-५ मनुष्य तो ऐसे आदर्शको अपनानेवाले मिलही सकते हैं। इसपर हम कहेंगे कि जिस प्रकार एक मनुष्य अपना सकता है, उस प्रकार राष्ट्रका बहुमत क्यों नहीं अपना सकता? हम तो कहेंगे कि अवश्य अपना सकता है। जिस प्रकार आजकल देशने समष्टि रूप में भोग तथा स्वाभिमानहीनता को अपना रखा है, क्या इसी प्रकार देश चाहे, तो क्या वह त्याग अर्थात् स्वाभिमानयुक्त जीवनको समष्टिरूप में क्यों नहीं अपना सकता? यदि एक मनुष्य सत्यदर्शन कर सकता है, तो दूसरा क्यों नहीं कर सकता? तीसरा क्यों नहीं कर सकता? और फिर सारा राष्ट्र क्यों नहीं कर

सकता ? यदि एक मनुष्य को ज्ञानी होना चाहिए, तो सबको ज्ञानी क्यों नहीं बनाना चाहिए ? यदि एक किसी का ज्ञानी होना, उसकी और उसके राष्ट्र की प्रतिष्ठा की बात समझी जाती है और ज्ञानी होना मनुष्यजीवनको श्रेष्ठ बनाने के लिए आवश्यक माना जाता है, तो समग्र राष्ट्र को ज्ञानी बनाने के कार्यक्रम बनाने में हिचकिचाहट क्यों होनी चाहिए ? और संपूर्ण राष्ट्र को ज्ञानी बनाकर स्वेच्छा-योद्धा, स्वाभाविक योद्धा, अपनी ही अन्तःप्रेरणावाला योद्धा राष्ट्र बनाने का अवसर क्यों नहीं देना चाहिए ?

संसार में कठिन कुछ भी नहीं है। मनुष्यका अनुत्साहही कठिनता बन जाता है और वह उसी को दूर दूरसे डराता रहता है। जो मनुष्य जिस कामके लिए उद्यत नहीं होता, उसे वह कठिन कहता है। जो जिसके लिए उद्यत है, वह उसके लिए कठिन नहीं है। एकही बात उद्यम और निरुद्यम के कारण एकके लिए सरल और दूसरे के लिए कठिन हो जाती है। क्या संसार में कठिन काम करनेवाले नहीं हैं ? क्या वे अपने कामों को कठिन मान कर करते हैं ? नहीं, कदापि नहीं इससे सिद्ध होता है कि कठिनता और सरलता दोनों कल्पना के अधीन हैं। यदि आप अपने बलिदान से राष्ट्र को राष्ट्रसेवा या सत्याग्रहके सरल होने की कल्पना दे सकोगे, तो राष्ट्रसेवा और सत्याग्रह दोनों देश के लिए सरल हो जायंगे। नहीं तो अबके समान पराधीनता ही राष्ट्र को सरल दीखती रहेगी। जब मनुष्य काठिन्य के प्रति कठोर बन जाता है, तब कठिनताको सरलता बन जाना पडता है। कठिन तथा सरल मन की दशा हैं। मनके जीते जीत है, मनके हारे हार। राष्ट्र मनसे हार माने पडा है। उसे उसके मनमें विजयी बना दो, तो वह बाहर भी विजयोत्साह से भर जायगी। कठिनता कठिनता कहते रहना कुछ करने की अनिच्छाका पता देता है। कर्तव्यपालन के सामने कठिनता नामकी अवस्था कभी नहीं आती। कर्तव्यपालन वह वस्तु है, जो मौतको फूलों की शय्या बना देती है। यदि आप इस काम के लिए उद्यत हो, निश्चय जानो कि राष्ट्र की समष्टि का इस मार्गपर आना कठिन नहीं है।

देशको ५० वर्षों से स्वराज्य स्वराज्य नाम रटाया जा रहा है, परन्तु अभीतक भी देशवासियों को उनकी स्वराज्य की रुकावट सत्यहीनता का सच्चा स्वरूप उन्हें नहीं दिखाया गया। यदि देश ने अपनी सत्यहीनता को देख लिया होता कि मैं क्या भूल कर रहा हूं ? तो देश उसे खोने के लिए कभी का उठ खडा होता। अभीतक देशकी सत्यहीनता देशको चुभनेवाली वस्तु नहीं बनायी जा सकी है। आओ, हम सब मिलकर राष्ट्रको सत्य के दर्शन करायें कि जिससे उसे अपनी सत्यहीनता अखरने लगे। यदि किसी प्रकार देशवासियों को अपना सत्यहीन होना अखरने और खटकने लगे, तो देशमें स्वतन्त्रता को आया हुआ समझ लेना। भोगाभिलाषाही असत्यका मूल रूप है। जब मनुष्य भोगाभिलाषा को त्याग देता है, तब केवल सत्यही उसका श्रद्धेय निवास, शरण और मित्र बन जाता है। ऐसे मनुष्य को सत्यदर्शन हो चुकता है। ऐसा मनुष्य स्वतंत्रता का विमलानन्द भोगने लगता है। जिस देशमें इस स्वतन्त्रता का विमलानन्द भोगनेवाले मनुष्य रहते हैं, वह देश स्वतंत्र देश बन जाता है। क्योंकि ऐसे मनुष्योंमें भोगाकांक्षा नहीं रहती, इसलिए उनका किसी सैन्य-बल की अधीनता स्वीकार करना असंभव बन जाता है। जब अनधिकारी यह जांच लेता है कि ऐसे मनुष्यों पर शासन करना असंभव है, तब वह अपना विस्तार लपेट कर भाग जाता है।

प्रश्न होता है कि स्वतंत्रताके इस मार्गको परतंत्र देशवासियों तक कैसे पहुंचाया जाय ? उत्तर यही है कि देशको यह सत्यमार्ग दिखाने के लिए किसी संगठन के झगडे में पडने की आवश्यकता नहीं

है। संगठन उन लोगों का काम है, जो वीरता दिखाना नहीं चाहते। संगठन वे लोग करते हैं, जो अज्ञानी, निर्बल, एक दूसरे का मुंह ताकनेवाले तथा अपने को अपूर्ण माननेवाले होते हैं। जब कि स्वतंत्रता के लिए प्रत्येक मनुष्य पृथक् पृथक् युद्ध कर सकता है, फिर संगठन के दास बनने की क्या आवश्यकता है ? प्रत्येक मनुष्य स्वयं इतना पूर्ण है कि यदि वह चाहे, तो अपने सत्यकी रक्षा के लिए संसार भर के राक्षसी बल से झूझ सकता है। फिर बलसंग्रह के लिए संगठन का राग क्यों अलापा जाता है ? जो मनुष्य अपनी इस पूर्णताका दर्शन कर चुकेंगे, उन्हें संगठन की आवश्यकता नहीं दीखेगी। इस प्रकार के मनुष्य स्वयं ही एक सच्चे पूर्ण संगठन की प्रतीक होते हैं। यह निश्चय है कि कोई भी संगठन इस मार्ग को जनता तक नहीं पहुंचा सकेगा।

इसका सबसे सरल साधन तो यही है कि, आदर्श सत्याग्रहों के ताजे उदाहरण भारत के सामने आएं। भारतीयों को इन उदाहरणों की सहायता से सत्य दर्शन कराया जाय। इसके लिए एक यह भी करना होगा कि भारत की संपूर्ण प्रांतीय भाषाओं में सत्य तथा अहिंसा का शुद्ध रूप और इन दोनों से भारतीय स्वराज्य का संबंध बतानेवाला संदेहरहित साहित्य प्रत्येक पठित भारतीय तक पहुंचाना पडेगा। दूसरे सेवक लोग स्वतन्त्र बालक बनाने के लिए ग्रामों में जाकर आगे कहे प्रकार से बालकों तथा ग्रामवासियों को भारतीय सत्य का स्वरूप समझायें। सत्य लूला लंगडा नहीं है कि वह किसी के कंधोंपर चढकर फैले। सत्य अपनी ही शक्ति से देशव्यापी हो जायगा। ऐसा करनेसे सत्यनारायण की इच्छासे अनन्त चेतनाशक्ति अपने आपको भारतीय हृदयों में प्रकट कर डालेगी। तब भारत सत्य के प्रकाश में असत्यको देखेगा और उसकी भर्त्सना करेगा।

जबतक भारतीय स्वराज्य भारत का धर्म, उपास्य देव, संध्या, पूजा, पाठ, होम, दान, यज्ञ, रोटी, पानी, खाना, कपडा आदि सब कुछ नहीं बन जायगा, तबतक भारत पराधीनही रहेगा। यह नहीं हो सकता कि भारत अंग्रेजी सरकारके समनों से कचहरियोंमें हाजिरी भी देता रहे, अंग्रेजी सरकार को कायम रखनेवाले लाख नौकर भी देता रहे और स्वराज्य भी पा ले। यदि भारत दासता और स्वतन्त्रता दोनों का स्वाद साथ साथ लेना चाहता रहेगा, तो उसे स्वतंत्रतासे वंचित रहना पडेगा।

कहा जाता है कि सात लाख गांवों को इस प्रकार तयार करने में बहुत देर लगेगी। इसका उत्तर यह है कि नहीं। एक गांवको तयार करने में जितनी देर लगेगी, सात लाख गांवोंको तयार करने में भी उतनी ही देर लगेगी। यदि भारत में स्वराज्य की मांग है और वह सच्ची है, तो प्रत्येक गांववालों को अपने अपने गांवों को इस रीतिसे तयार करने में लग जाना चाहिए। जब सब गांव अपनी अन्तःप्रेरणा से तयार होनेमें लगेंगे, तब सात लाख गांव एक गांवों के तयार होनेके समय में ही तयार हो जायंगे। जबतक गांववालों के दिलों में इस उत्तरदायित्व का विचार नहीं आवगा, तबतक एक गांव तयार करना जितना असंभव रहेगा, उतनाही सात लाख गांव तयार करना रहेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि गांवों की तयारी देर का काम है। इसलिए इसे अभी स्थगित करके पहले सरकार से लडकर अपना राज्य जमा लें और फिर अधिकार हाथमें आनेपर ग्राम संगठन करें। यह एक भुलावा है। क्योंकि ग्रामों का तयार होना ही तो भारत में स्वराज्य आना है। इस भुलावे को समझने के लिए कई बातें समझनी पडेंगी। इस भुलावे को समझनेके लिए ग्राम क्या हैं ? सरकार क्या है ? और लडनेवाला कौन है ? इन तीनों को अच्छी तरह समझना पडेगा। साथही यह भी जानना पडेगा कि, लडने-

वाले से सरकार की क्या लडाई है ? तथा इस युद्ध में भारत के सात लाख गांव क्या भाग ले रहे हैं? इन बातों के उत्तरों से इस भुलावे की पोल खोल जायगी और फिर ग्रामों की तयारी ही स्वराज्य का एकमात्र मार्ग रह जायगा ।

सरकार देशपर शासन कर रही है। वह देश के मनको हथियारों से डराकर हथियारों के बल और प्रभाव से देशको अपने वश में रहने के लिए विवश रखनाही अंग्रेजी सरकार की शासन-नीति है । कांग्रेस को सरकार से लडनेवाली संस्था समझा जाने लगा है। कांग्रेसने अपने आप अपने लिए देशकी ओर से लडने का पट्टा ले रखा है। परन्तु कांग्रेस लडाका संस्था नहीं है। वह तो सरकार के शासन को सुधारने का प्रयत्न करने में लगी हुई है। वह विदेशी शासन के खोट निकाल कर उसे स्वीकार करनेयोग्य बनाने की धुन में लगी हुई है। उधर सरकार बारबार कांग्रेसकी कुछ मांगें पूरी करके कांग्रेसको सदा के लिए मंगता बनाये रखने की चतुराई कर रही है। इन दोनों का यह ऐसा सम्बन्ध जुड गया है, जो कांग्रेसको स्वतन्त्रता के लिये दिल तोड प्रयत्न नहीं करने देता । कांग्रेस सरकार के साथ इस बनावटी विरोध को सदा के लिये चालू रखकर देश का प्रतिनिधित्व या अपना नेतापन बनाये रखना चाहती है । वह केवल ब्रिटिश पार्लिमेन्ट में भारत की ओर से भीख का खप्पर पकडकर खडे होने का अधिकार चाहती है। न तो कांग्रेस की सचमुच सरकार से कोई लडाई है और न सरकारही कांग्रेसको अपना शत्रु समझती है । इसी लिये सरकारने कांग्रेस को कानूनी अर्थात् ब्रिटिश स्वार्थों के अनुकूल संस्था के रूप में स्वीकार कर रखा है । अर्थात् सरकारने भारतीय विरोध को अपने कानून का रूप देकर कांग्रेस को भारत के हृदय की गति टटोलने का साधन बना रखा है। कांग्रेस भारतवासियों की विचारधारा को इंगलैंड के स्वार्थों के अनुकूल बनाने की एक चतुराई है, जिस को भारत के नेता अभीतक भी नहीं पहचान सके। इसीलिये भारतीय नेताओंने विगत युद्ध के अन्त में कांग्रेसको कानूनी बनवाया था। स्पष्ट है कि कांग्रेस तथा सरकार में कोई लडाई नहीं है।

सरकार चाहती है कि सारा देश लालची बन कर सदियों लम्बी आशा बांधकर कांग्रेस के पीछे पीछे चलती रहे । अर्थात् सरकार सारे देशको अपनी गुलामी में मिठास पैदा करनेकी झूठी आशासे कांग्रेस के पीछे चलाने के दावपेंच खेलती रहती है और कांग्रेसको वशमें करके निश्चिंत होकर भारत दोहन कर रही है। कांग्रेस के द्वारा स्वराज्य प्राप्त होना ५० वर्ष से भारतका वृषभदोहन हो रहा है। भारत का बरतन पचास वर्ष से खाली का खाली पडा है। सरकार की हतबुद्ध की हुई कांग्रेस भारत को स्वराज्य कमाकर देगी और फिर भारत ग्रामसंगठन करेगा, यह धोकाही धोका है !

इसलिए प्रत्येक विवेकी देशसेवक का यह पवित्र कर्तव्य है कि भारत को सदा दास रखना चाहनेवाले अंग्रेजी मस्तिष्क की उपजाई हुई कांग्रेससे नाता तोडकर ग्रामों में सच्ची स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न करें। उन्हें चाहिये कि वे कांग्रेसके सडे हुए स्वाभिमानहीन नामसे न चिपटे रहें।

देश में स्वतन्त्रता की भावना को उत्पन्न करने के लिए भारतीय देशसेवकों के सामने आज यह पवित्र कर्तव्य है कि वे भारत को स्वतन्त्रता दिलानेवाले निर्भ्रान्त हथियार सत्य तथा अहिंसा के शुद्ध रूपको अपने संपूर्ण उपायों से देशके सामने रख दें। जिस दिन भारत को अपना हथियार चलाने का अधिकार पता चल जायगा, उस दिन जो शक्ति देश में जागकर उठेगी, वह अमोघ (अव्यर्थ) होगी और वह स्वराज्यको लाकर दिखायेगी। (क्रमशः)

महाबन्धमुद्रा का
शरीर तथा मनके उपर प्रभाव ।

(लेखक- संचालक- श्रीरामतीर्थ योगाश्रम, सेलसरिया बिल्डिंग, मुंबई ४.)

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः ।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥
(श्वेताश्वतर० २।११-१२)

अर्थात्- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्यास शास्त्रोय नियमानुसार यथायोग्य जो स्त्री-पुरुष करता है, उसके समीप न रोग आ सकता है, वृद्धत्व नहीं आ सकता है, एवं वह पुरुष समाधिकाल में मृत्यु को भी जय कर सकता है। उसका शरीर तेजःपुंज, देदिप्यमान, आंतरशक्ति विकसित एवं प्रज्वलित अग्नि के समान उसका शरीरमें ओजस् उत्पन्न होता है। इस अभ्यास-काल में पूर्व शुभ लक्षण उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—

सूर्य का प्रकाश आज्ञाचक्रमें देखना, विद्युत्के समान शरीरमें-नाडियोंमें मालूम पडना, क्षुधा अत्यन्त लगना, कंप, प्रस्वेद, धूम आदिको अचानक देखना।

प्रत्येक स्त्रीपुरुषका मुख्य कर्तव्य यही होना चाहिये कि ८४ लक्ष योनियों में उत्तम मानी गयी मनुष्यजन्म लेकर आहार, निद्रा, भय और मैथुनमेंहि आयुष्य व्यतीत न कर, अपना कल्याण (आत्मज्ञान), समाजके कल्याण तथा देश का भला करें। आहार, भय, निद्रा और मैथुन सूकर, मेंढा आदि अत्यंत नीच कोटीकी योनियोंमें भी बिना परिश्रम हमारे उपलब्ध होता है। किन्तु उन योनियोंमें आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। आत्मज्ञानके लिए मनुष्य जन्म धारण करना हि पडता है। तो फिर शुभ कार्य "शुभस्य शीघ्रं" समझके आरम्भ कर देना उचित है।

यह दृश्यमान असार संसार का तो सुख और दुःख मिश्रित से हि अस्तित्व है और भविष्यमें यानि जब तक आत्मज्ञान प्राप्त न होगा, तबतक संसारका अस्तित्व रहेगा ही। जिसने वासनाक्षय, मनोनाश और आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका मनुष्यजन्म सफल है।

वही जिन्दगी का सार्थक कर चुका है। क्या पता कब इस पंचभौतिक स्थूल शरीर से प्राणरूपी पक्षि उड जायगी? वर्तमानकाल हमारे वशमें है। भविष्यकाल की आशा निरर्थक है। महान् पुरुषों के सर्व महान् कार्य आलस्यरहित होते है। सफलताकी कुंजी कार्यदक्षता में है। अस्तु

महाबन्ध-मुद्रा करनेकी पद्धति।

बायाँ पैर सीवनी (गुदाके ऊपर और अंडकोशके नीचेका स्थान) में और दाहिना पैर बायें पैरकी जङ्घाके मूलमें उपरकी तरफ रखे। बायाँ पैरकी एडीसे सीवनी को दबाके रखना चाहिये। फिर पाँच बार दोनों नथनोंसे घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करें। कुंभकके समय दोनों हाथोंसे दाहिने पैरके घुटनेको पकडे रहें, छाति फुलाये रखे, मूलबन्ध तथा जालन्दरबन्ध रखे तथा मनको स्वाधिष्ठानचक्र में रहती हुई कुण्डलिनिमें स्थिर करके यह भावना करे कि 'मेरा शरीर नीरोग हो रहा है।' 'आजसे मैं आरोग्यके पंथ में चल रहा हूं।' मेरा शरीर तथा मनमें आनन्द का भास हो रहा है।' 'मैं निद्रित अवस्थामें सोती हुई कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत कर मणिपुर आदि चक्रोंमें ले जाता हूं।' 'मेरा कुम्भक अधिकाधिक बढ रहा है'। यथाशक्ति कुंभक करके दाहिनी नासिकासे शनैःशनैः रेचक करें। घर्षण के समय में दोनों हाथोंका पंजा दाहिने पैरके घुटनेका उपर ढीला रखे और कुम्भकके समय तने हुये हाथोंसे घुटनेको पकडे रहे। इस प्रकार वमंग से करे, तब एक मुद्रा सम्पूर्ण हुई। जिनको जितनी मुद्राएँ करनी हो, उनको पूर्व (प्रथम)

दक्षिणांग से करनेके पश्चात् वामांगसे करे। यह मुद्रामें अवश्यमेव ध्यान रखने की बात यह है कि जो पैर जङ्घाके ऊपर है, उस बाजुकी नासिकासे रेचक करे और जो पैर की एड़ी सीवनी स्थान में है, उस बाजुकी नासिकासे पूरक करे।

दस दिन तक चार मुद्राएँ करें। आठसे पंद्रह दिनतक पांच, पंद्रहसे बाईस दिन तक सात और बाईससे एक महिने तक दस बार। एक महिनेके पश्चात् शक्यनुसार पंद्रह तक बढावें।

महाबन्ध-मुद्रासे प्राप्त होनेवाला लाभ।

जीर्णज्वर, पीठकी वेदना, कंठदोष, आमवायु, अजीर्ण, आलस्य, छातिकी वेदना, उदावर्त रोग, वातदोष, आदि।

महाबन्ध-मुद्राका शरीर तथा मनके उपर प्रभाव।

मुद्राओं के परिपक्व अभ्याससे शरीर नीरोग बनता है, अंतःकरण निर्मल होता है। 'प्राण' का और मनका पारस्परिक निकट सम्बन्ध है। 'मन' के निरोधसे 'प्राण' की गति मंद होती है। और 'प्राण-स्पंद' की शिथिलता 'मन' को एकाग्र बना देती है। इसलिये यानि मन-निरोध के लिये मुद्राओं द्वारा प्राणको निरोध करना नितान्त आवश्यक है। अतएव मन निरोध के लिये 'प्राण' को वश करना पडता है और इसके लिये 'अष्टांगयोग'में अनेक प्रक्रियाएँ बताई हैं। किन्तु उन प्रक्रियाओं में मुद्राओं की प्रक्रियाएं प्रथम हैं।

मुद्राओंके अभ्याससे 'कुण्डलिनी' शक्ति उत्थान होती है। यद्यपि कुण्डलिनीशक्ति उत्थान करनेकी ताडन, परिधानयुक्ति, परिचालन, शक्तिचालन आदि अनेक मुद्राएँ हैं, तथापि उन सब अन्य मुद्राओंमेंसे एक महाबन्धमुद्राका भी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत करनेके लिये अभ्यास किया जाता है। मुद्राओंके अभ्यासकालमें 'अष्टसिद्धि' प्राप्त होती हैं।

भारतवर्ष में वर्तमान समयमें भी योगाभ्यास से आत्मकल्याण साधनेवाले अनेक स्त्री-पुरुष विद्यमान हैं। न्यूनाधिक सर्व योगाभ्यासियोंको सिद्धि तो प्राप्त होती है। किंतु इन सिद्धियोंके उपयोग व्यावहारिक सुखके लिये करते हैं। ऐसा न कर पारमार्थिक सुखके लिये उपयोग करना चाहिये। संभवत: अनेक व्यक्ति तो अल्प सिद्धि प्राप्त कर लेते ही जनता को निकृष्ट मार्ग में गमन कराते हैं। ऐसा करने से सत् चित् आनन्द का अनुभव पा नहीं सकते हैं, चौराशी योनीमें भटकने लगते हैं। शुभ और अशुभ कर्मका फल निःसंदेह प्राप्त होता है। उन्नतिके लिये शुभ कर्म, विशुद्ध विचार, सात्विक भोजन, सत्संग, सच्छास्त्र का वाचन, पवित्र वस्त्रधारण, स्वच्छ स्थान और निरंतर योगाभ्यासकी आवश्यकता है।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

उपासना

(लेखक० पं० हलियारामजी कश्यप, M. S c, लाहौर)

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः ।
ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ॥१॥
(तैत्ति० प्रपा० १०। अनु० ७१)

ओ३म्कार है प्राणप्रिय, दुःखनाशक ओ३म्कार ।
गतिदायक जग सभी का, सुपवित्र ओ३म्कार ॥८॥
नित्य तपस्वी ओ३म् ही, जगजननी सुमहान् ।
महज्जनस्तपसत्य है, भूर्भवस्व महान् ॥२॥

ओ३म् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽ-
ध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः
समुद्रो अर्णवः ॥२॥ समुद्रादर्णवादधि
संवत्सरो अजायत । आहोरात्राणि
विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ ३ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीचान्तरिक्षमथो स्वः ॥४॥
(ऋ० १०॥१९०।१-३,)

पोषणकर्ता जग सकल, का धाता प्रभु आप ।
वश करने का भी उसी, का स्वभाव निष्पाप ॥३॥
सर्वज्ञानभण्डार उस, के वेद विज्ञान ।
में जग रचना ज्ञान ज्यों, था सत्य विज्ञान ॥४॥
पिछली सृष्टियों में किया, था ज्यों जगविस्तार ।
इन वोंके अनुकूलही, अब भी रचा जग सार ॥५॥
प्राणियोंके देह रचे सब, पूर्व कर्म-अनुकूल ।
जीव सभीके सर्वथा, पुण्य-पाप-अनुकूल ॥६॥
आगे ज्यों रचा सूर्य था, वैसे रचा अब आप ।
चन्द्र भूमिः अग्निः रची, उत्तम ज्योतिः आप ॥७॥
भूमिः सूर्यके मध्यमें, जो फैला आकाश ।
अन्य जो उसमें लोक हैं, तारागण सुप्रकाश ॥८
अब भी रचे सभी पूर्ववत्, ईश्वर उस ही ने ।
सदा एकरस ज्ञान निज,वेद से ही उसने ॥९॥
नहीं बदलता कभी भी, है अनन्त अरु पूर्ण ।
बढ़ता घटता कभी न, अपरिणामी शुभ पूर्ण ॥१०॥
सहजतया ही रच दिये, निजस्वभावही से ।
उसी वशी भगवान् ने, परमकृपा शुभसे ॥ ११ ॥
पृथक् पृथक् दिनरातभी, पल घड़ी अरु क्षण आद ।
सर्वप्रकाशित् ज्ञानमय, से रचे प्रकृति आद ॥१२॥
निजी अनन्त समर्थ, से जग कारण अव्यक्त ।
सूक्ष्म स्थूल संसार का, कारण पर सुव्यक्त ॥१३॥
अखिल ज्ञानभण्डार जो, सब विद्या का स्रोत् ।
ऋत सुयथार्थ ज्ञान का, वेद सर्वसुखस्रोत् ॥ १४ ॥
त्रिगुणमयी प्रकृति अरु, वेद हुए उत्पन्न ।
अभीद्ध तप से ही प्रकट, हुए महिमासंपन्न ॥१५॥
प्रलयके पीछे रात जो, अन्धकारमय तम ।
सृष्टि बनने पूर्व जो, होता है महातम ॥ १६ ॥
जिससे रहता अदृश्य ही, सब जग सृष्टि पूर्व ।
गुप्त सुगूढ ही सवथा, वह तम रात्रि अपूर्व ॥१७॥
भी होती उत्पन्न है, ईश्वरकी ही से ।
सर्वप्रकाशस्वरूप उस, अनन्त शक्ति से ॥ १८ ॥
उसी अनन्त सामर्थ्य से, महासमुद्र उत्पन्न ।
पृथविस्थानी मेघ स्थित, हो जाते उत्पन्न ॥ १९ ॥
पूर्व सृष्टि न्यायीं ही, काल हुआ तब प्रकट ।
संवत्सर क्षण आदि जो, प्रहर मुहूर्त सुप्रकट ॥२०॥
वेद से लेकर भूमितक, जग समग्र यह जौन ।
नित्य ईश्वर-सामर्थ्यसे, प्रकाशित, जो मौन ॥२१॥
ईश्वर ही उत्पन्न सब, को कर, उस में व्याप ।
अन्तर्यामी रूपसे, देख रहा पुण्य-पाप ॥ २२ ॥
पक्षपात को छोडकर, फल यथावत् रहा दे ।
सत्य न्याय से सभी को, स्वयं उचित ही दे ॥२३॥
ऐसा निश्चित् जान के, ईश्वर से रख भय ।
मन-वच-कर्म से पाप त्यज, पुण्य करो निर्भय ॥२४॥

होकर पापी सभीसे, ब्रह्म का आश्रय ले।
मनुज यदी सुखदायी इस, नियम की शरणही ले २५
अघमर्षण यही धार शुभ, जाय पापसे छूट।
अन्तः करण में ईशको, लख निज श्रय अखूट ॥२६॥
जान उसे द्रष्टा सभी, पाप-पुण्य निजका।
आत्मा करे मलीन न, त्यजे पाप देहका॥ २७ ॥
रहे सदा सुपवित्रही, मन वच-कर्म का त्याग।
पाप सभी, कर पुण्य ही, बने सदा महाभाग ॥२८॥

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥
(अथर्व० कां०३ सू० २७ मं०१)

सभी दिशा में व्याप्त जो, ईश्वर उस प्रभुकी।
सन्ध्या में करे प्रार्थना, जगरक्षक उसकी ॥२९॥
अग्निः आदि नामसे, प्रेम से उसे आराध।
उसकी ही सेवा करो, करे क्षमा अपराध ॥ ३० ॥
अपना मुख जिस ओर हो, प्राची दिशा वही जान
सूर्य-उदय हो जिधर से, उसे भी प्राची मान ॥३१॥
ज्ञानस्वरूप परेशही, अग्निः नाम धरा।
सर्वोपरि स्वामी रहा, पूर्व दिशा सजा ॥ ३२ ॥
बन्धनरहित् सदैव वह, रक्षक होवे सदैव।
हम सब का अग्निः प्रभुः, असितः दैव सदैव ॥३३॥
सूर्यकिरण अरु प्राण जो, आदित्य उसके बाण।
उन द्वारा सभी जगत की, रक्षा करें भगवान् ॥३४॥
रक्षक सारे शरीर के, अरु इन्द्रिय-आधीश।
बाण प्राणमय को नमः, जो तद्गुण-जगदीश ॥३५॥
बार बार करें नमः हम, हों प्रसन्न भगवान्।
शत्रु हमारे वश करे, स्वयं वही भगवान् ॥ ३६ ॥
जो कोई हम से द्वेष करे, जिससे करें हम वैर।
उसको वश में प्राणमय, के दे करें निर्वैर ॥ ३७ ॥
त्याग वैर वह जाय बन, जिससे हमारा मित्र।
त्याग वैर हम जायें बन, भी उसके प्रिय मित्र ३८

ओ३म्। दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजीरक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥
(अथर्व० ३।२७।२)

दायीं ओर का स्वामि पर, है इन्द्र महाराज।
अधिराजा परमेश्वर सब जग का सिरताज ॥३९॥
इन्द्र वही रक्षा करे, बिच्छूपंक्तिसे।
कीटपतंग के दंश से, तिर्यक्-पंक्ति से ॥ ४० ॥
विविध ज्ञानविज्ञान से, युक्त पितर जो लोग।
रक्षक बाणों तुल्य हैं, वैज्ञानिक् सब लोग ॥ ४१ ॥
उसी प्रभु की सृष्टि में, नमस्कार उन्हें हो।
तिर्यक्-पंक्ती से बचें, पितरों को नमः हो ॥४२॥
पितर इन्द्रमय प्रभु जो, अधिपति रक्षा-समर्थ।
सदा उन्हें हो नमः ही, शत्रुदलन में समर्थ ॥४३॥
जग सारा मम मित्र हो, द्वेष करे नहीं को।
मैं भी द्वेष करूं नहीं, प्रेम सभी में हो ॥ ४४ ॥

ओ३म्। प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ७ ॥
(अथर्व०कां०३।२७।३)

पीठ हमारी ओर जिस, पिछली दिशा कही जो।
सर्वोत्तम स्वामी वरुण, रक्षक इसमें हो ॥ ४५ ॥
परमेश्वर प्रभु स्वयं ही, महाराज अधिराज।
अन्नादि द्वारा रचे, रक्षाका शुभ साज ॥ ४६ ॥
पृथिव्यादि सुपदार्थ ही, हो रहे बाण समान।
सर्पादि विषधारियों, के लिये विषके समान ॥४७॥
बडे बडे अजगर कावरे, जो प्राणी महादुष्ट।
ताडना उनकीही लिये, रचे व्याध नर दुष्ट ॥ ४८॥

रक्षा श्रेष्ठोंकी करें, क्षत्रिय उत्तम वंश।
वरुण प्रभूकी दया सब, बढता सज्जनवंश ॥४९॥
नमस्कार प्रभुवरुणको, बार बार नमस्कार।
पृथिव्यन्नमय इषुमय, प्रभुको पुनः नमस्कार ॥५०॥
रक्षक स्वामी की कृपा, से मित्रता साज।
सदा सजाऊं स्वयं मैं, द्वेष का न कबहुं साज ॥५१॥

ओं उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षितोऽशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥५१॥

(अथर्व० ३।२७।४)

अपनी बाईं ओर जो, उत्तर दिशा प्रसिद्ध।
जग-उत्पादक सोम ही, तत्स्वामी सुप्रसिद्ध ॥५२॥
ईश्वर रक्षा वह करे, हम सबकी ही सदैव।
शान्त्यादिक सद्गुणोंसे, आनन्ददाता सदैव ॥५३॥
जगदीश्वर उस प्रभुका, हम सम्यक् करें ध्यान।
जन्मरहित जो सर्वथा, रक्षक अमर महान् ॥५४॥
जिसने विद्युत् रची शुभ, ज्यों कोई रक्षक बाण।
सब की रक्षाके लिये, हो सब का कल्याण ॥५५॥
नमस्कार उस सोम अरु, विद्युत् को नमस्कार।
विद्युत्सोमस्वरूप उस, प्रभुको सदा नमस्कार ॥५६॥
जिससे परस्पर वैर हो, जावे समूल उच्छिन्न।
सभी परस्पर मित्र हो, जावें, हुए अभिन्न ॥५७॥

ओं ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥९॥

(अथर्व० ३।२७।५)

अपनी निचली ओर जो, दिशा ध्रुवा कही जात।
व्यापक प्रभु स्वामी उसी, का विष्णुः विख्यात ॥५८॥
इसी नाम से वहीं करो, परमात्मा का ध्यान।
दिशापति परमेश्वर, रक्षक हों भगवान् ॥५९॥
हरी बनस्पति वृक्ष जिस, की गर्दन के समान।
रक्षक बाणों तुल्य जिस, ने रचे वृक्ष महान् ॥६०॥
ध्रुवा दिशा में सदा ही, विष्णुः होवें सहाय।
नमस्कार सदा उन्हें हो, जग सबके जो सहाय ॥६१॥
मुझे बना दें सभी का, स्वयं वही शुभ मित्र।
वैरी न मेरा हो कोई, सभी हों मेरे मित्र ॥६२॥
वृक्षों में भी व्यापता, जो उसको नमस्कार।
वीरुध इषुमय विष्णुको, बार बार नमस्कार ॥६३॥

ओं ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥१०॥

(अथर्व० कां० ३।२७।६)

अपने ऊपर की दिशा, ऊर्ध्वा जिसका नाम।
उसके अधिपतिः हैं स्वयं, बृहस्पतिः शुभ नाम ॥६४॥
बाणी के स्वामी स्वयं, वेदशास्त्र-आधीश।
आकाशादि के भी पतिः, बडों सभीके भी ईश ॥६५॥
सब जग के अधिपतिः यूं, रक्षक होवें हमार।
सभी दिशासे सभीकी, रक्षा करें शुभसार ॥६६॥
वर्षाबिन्दुः रचे जिस, रक्षक बाणस्वरूप।
उन द्वारा रक्षक बनें, हम सब के जग भूप ॥६७॥
श्वित्र वर्ष अरु इषुमय, प्रभुको हो नमस्कार।
बृहस्पतिः महाराजको, बार बार नमस्कार ॥६८॥
इस विध मानें सभी जन, परमेश्वर को ही।
रक्षक सभी दिशाओं में, सभी स्थान में भी ॥६९॥
परम गुरुः उस दयामय, न्यायशील यमराज।
सब शक्तिसम्पन्न उस, पालक जग अधिराज ॥७०॥
परमात्माको ही सदा, मान पिता निज तुल्य।
पूजें सभी दिशाओं में, निज जननी प्रिय तुल्य ॥७१॥

ओं उद्वयन्तमसस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥११॥

(यजु० अ० ३५। मं० १४)

स्थावर जंगम जग सकल, की आत्मा है सूर्य!
अज्ञान अन्धकार से, सदा पृथक प्रभु सूर्य ! ॥७२॥
दिव्य अनन्त ही गुणोंके, भण्डार स्वयमेव।
देव सभी में ही परम, महादेव अधिदेव ! ॥ ७३ ॥
प्रकाशक गणसभीके, परमात्मा सुप्रकाश!
सर्वोत्तम सुज्योत् शुभ, भगवान् स्वप्रकाश ! ॥७४॥
नित्य अरु ज्ञानस्वरूप हो, प्रलय में भी विद्यमान्।
जगमें भी सुप्रसिद्ध हो, इकरस सदा महान्॥ ७५ ॥
सर्वानन्दस्वरूप हो, आनन्द-दातार।
धर्मात्माओं योगियों, के प्रसन्न कर्तार ॥ ७६ ॥
मुक्तिइच्छुक भक्तजन, को उपजाते मोद।
प्रमुदित् भी करते उसे, करवाते भी विनोद ॥ ७७ ॥
उन परमात्मन् आप को, रहे सदाही निहार।
हम श्रद्धालु प्रेमसे, अतिशय भक्तिप्रसार ॥ ७८ ॥
उत्कट श्रद्धापूर्वक्, प्राप्त हुए तुझी को।
सदा निहारें प्रेम से, ज्योति सूर्य प्रभुको ॥ ७९ ॥
तेरीही करें प्रार्थना, प्रतिदिन हे जगदीश !
हमें शीघ्रही प्राप्त हो, कृपा करो भुवन-ईश ! ॥ ८० ॥
रक्षक हूजिये हम सभी, के आप जो शरण।
सच्चे दिलसे आपकी, आप सकल जग शरण ॥८१॥

ओं उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१२॥
(यजु० अ० ३३। मं० ३१)

जिससे हुए प्रसिद्ध हैं, ऋग्वेदादिक चार।
नित्य सनातन प्रभूप्रद, सर्वज्ञानदातार ॥ ८२ ॥
प्रकृत्यादि भूत सब, गिने नहीं जो जायं।
उत्पन्न सुप्रसिद्ध इन, में भी प्रभू जो समायं ॥ ८३ ॥
उत्पादक जग सकल के, उत्पन्न जाननहार।
जातवेद भगवान् हीं, सब के पालनहार ॥ ८४ ॥
परमेश्वर उन्हीं देववर, देवनदेव शुभेक।
की प्राप्ति चाहैं सभी, उपास्य भी वही एक ॥८५॥
जुदे जुदे भिन्न भिन्न नियम, जगरचना के देख।
नास्तिक भी नहीं त्यज सकें, ईश्वरको, लखलेख ८६
उस कर्ता के पुष्प अरु, पत्र डाल सभी पर।
मोर तित्तिरिः आदिके, भी शुभ पङ्खोंपर ॥ ८७ ॥
ईश्वर गुण ही जना रहे, अरु कर रहे प्रकाश।
रचना नियमित् रख रहे, कर रहे शुभ्र प्रकाश ॥८७
ईशका ही जग के सकल, विविध विभिन्न पदार्थ।
पृथक् पृथक दर्शा रहे, ईश की रचना यथार्थ ॥८८
वेद की श्रुतियें भी रहीं, करवा उसका ज्ञान।-
प्राप्त करा रहीं उसी को, जो प्रभु सूर्यसमान ॥८९॥
आत्मा चराचर जगत का, जग अरु जीव प्रकाश।
अन्तर्यामी विश्वका, परमात्मा स्वप्रकाश ॥ ९० ॥
भुवनज्ञान पा सकें हम, विश्वकी विद्या पा।
उपासना ही प्रभु की, सकती सकल दिखला ॥९१
वेदमन्त्र सूरज-किरण, जग पदार्थ सर्वत्र।
सृष्टिनियम करवा रहे, ईशप्राप्ति सर्वत्र ॥ ९२ ॥
भक्त सभी का जुड रहा, ईश्वर से सम्बन्ध।
इन्हीं केतुओं झण्डियों, द्वारा दृढ सम्बन्ध ॥९३॥
अत पृथक् नहीं हो सकें, भगवान् से भक्त।
जुडे सदा रहें ऐक्य में, भगवान् अरु भक्त ॥ ९४ ॥
अन्य किसीकी उपासना, भक्त करें नहीं कोय।
ईश सूर्य प्रभुको भजें, ही, नहीं अन्यको सोय ॥९५॥

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य
वरुणस्याग्नेः। आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥१३॥
(यजु० अ०७। मं० ४२)

लगातार इकतारही, व्याप रहा प्रभु सूर्य।
प्राणी अरु जड जगत में, आत्मरूप हो सूर्य ॥९६॥
बना, धार, रक्षा रहा, कर प्रभु सब जग की।
सभी ओर आकाश में, भूमिः सूरज की ॥ ९७ ॥
सभी पदार्थों, लोक सब, में प्रभु कर परवेश।
पूर्णतया रहा देव वह, अद्भुत चित्र सुवेश ॥९८॥
विज्ञ गुरुः से चतुर नर, उस विचित्र का ज्ञान।
पा ज्ञाता सुविचित्रही, वक्ता बने महान् ॥ ९९ ॥
सदा प्रकाशित् हो रहा, अद्भुत वही भगवान्।
विद्वानोंके हृदय में, हमें भी दे निज ज्ञान ॥ १०० ॥
हृदय हमारे भी करे, सुप्रकाशसे युक्त।
ब्रह्म हमें दिखता रहे, ब्रह्मतेज से युक्त ॥ १०१ ॥

परमोत्तम बल है वही, सब मनुजदुःखनाश।
क्रोध-काम-वत् शत्रुओं, का भी करावे नाश ॥१०२
छोड उसे नहीं है शरण, सुखकर कोई और।
सभी मनुष्योंके लिये, जानिये सब यही ठौर ॥१०३
दिव्य गुणी जो भक्तजन, ब्रह्म रहा प्रकाश।
उन के हृदय सुपवित्र में, उत्तम रीति विकाश॥१०४
हुआ सुप्राप्त सदा उन्हें, उत्तम कर्म करा।
मित्र बना रहा सभी के, सभी से द्वेष छुडा ॥१०५॥
उत्तम गुण में वर्तते, वैररहित् नर को।
सर्व सत्य उपदेशही, करे प्रभू सबको ॥ १०६ ॥
सूर्य लोक अरु प्राण को, प्रभु दे रहा प्रकाश।
बिजुली चमकती, कर रही जग सारा पर्काश१०७
दिखला रही जला रही, विद्या शिल्प सुमूल।
भौतिक अग्निः बन रही, मनुजों को सुखमूल॥१०८
उन बिजुली अरु आग में, भी प्रभु का ही प्रकाश।
अतः आंख है वही सब, की, अरु सर्व प्रकाश१०९
चक्षुः बाहरी भीतरी, विज्ञानमय ब्रह्म।
विज्ञापक पर्काश कर, सब जग का वही ब्रह्म ११०
उस की कृपासे मनुज सब, बोलें सदा सुबैन।
कोमल, मीठे, शान्तिकर, प्रिय सुखकर शुभ बैन१११
ज्ञानमयी शुभ वाक् जो, ज्ञान बतावे सत्य।
जिह्वा से सदा बोलिये, वचन वही जो सत्य ११२
अपनी ही शुभ वस्तु को, सदा कहो मम द्रव्य।
कभी परायी चीज् को, कहो न अपना द्रव्य॥११३॥
सदा सत्यही वस्तु निज, के विषयमें कहो आप।
परवस्तु निज न कहो, मिथ्या वचन ही पाप॥११४
आहुति डालने पूर्व ही, उसका करो संस्कार।
सुपवित्र कर ही उसे, हविः दीजो शुभसार॥११५
उत्तम रीति से ही सदा, द्रव्य सभी को शोध।
पुन छान कर सर्वथा, हविः दो, होवे बोध ॥११६॥
तभी आप को ईशकी, दिव्य शक्ति सभीका।
जीवनमुक्ति प्राप्त कर, ज्ञान मिले ब्रह्मका ॥ ११७॥
मित्र वरुण अरु अग्निकी, चक्षुः दिव्य जो आंख।
आत्मा चराचर जगतकी, सूर्य सकल जग आंख ॥ ११८॥
पृथिवी द्यौः रहा पूरवहा, अन्तरिक्ष भी पूर।
बल सर्वोत्तम कर रहा, दुःख दरिद्र सुदूर॥११९॥
दिव्य शक्तियों सभी से, अद्भुतही सुविचित्र।
प्राप्त है भक्तों सभीको, सदा प्रभू सुपवित्र ॥१२०॥
सब जग का प्रकाशकर, सब जग का ही प्राण।
सूरज ब्रह्म ही है सभी, प्राणिवर्ग की जान १२१

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः
शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च
शरदः शतात्॥१४॥ (यजु०अ०३६,मं२४)

निज सेवक धर्मात्मा, दिव्य गुणी विद्वान्।
देवोंका हितकर परम, ब्रह्म प्रभू सुमहान्॥ १२२॥
सबका द्रष्टा शुद्ध वह, सब जग सरजनहार।
सृष्टिसे पहिले इस समय, था, है वैसा सुसार १२३
प्रलयसमय भी रहेगा, यूंही सर्वसमर्थ।
विज्ञानमय ब्रह्म वह, उत्तम व्याप्त सदर्थ ॥१२४॥
सभी जगह हम को दिखें, सत्यरूप भगवान्।
सौ साल तक हो सदा, मम सम्मुख विद्यमान्१२५
उसी की हम कृपासे, रहें जीवित सौ साल।
विश्वास रख उसीमें, दीन न हो त्रयकाल॥ १२६॥
उसकी करते उपासना, हम रहें सदा स्व-तन्त्र।
ब्रह्मकृपा से सर्वथा, सके न हो परतन्त्र ॥१२७॥
दारिद्र्य हो न कभी, किसी सम्मुख कभुं दीन।
होवें नहीं सौसाल भी, हम हों कभी न हीन॥१२८॥
श्रद्धा अरु विश्वास रख, ब्रह्म गुणानमें सदैव।
सुनें सुनावें नित्यही, सिखलावें भी सदैव ॥ १२९ ॥
अन्य मनुष्योंको स्वयं, देवें ब्रह्म उपदेश।
उसी के गुण गाते हुए, नित्य ही सत् उपदेश १३०
पालन कर आज्ञा उसी, की, पा कृपा-प्रसाद।
सौ वर्षों पश्चात् भी, रहते रहित् विषाद ॥ १३१ ॥
देखें, जीवें, अरु सुनें, दें उपदेश स्वतन्त्र।
दृढ इन्द्रिय आरोग्य देह, आत्मा सदा स्वतन्त्र१३२
आनन्दित, मन शुद्ध ही, से रह सदा संयुक्त।
इन मन्त्रोंसे प्रार्थना, करे सुभक्तियुक्त ॥ १३३ ॥
स्तुति भी करे उसी ईश की, अन्य सभी को त्याग।
हाथ जोड मस्तक झुका, सह श्रद्धा अनुराग १३४

सिद्धि सदा सभी कार्य में, परमेश्वर से ही मांग।
अन्य किसी से कभुं न, चाहे धारे वह स्वांग १३५
कितना ही कोई रचे, आडम्बर पाखण्ड।
परमात्मा नहीं मानिये, जन वह निरा उद्दण्ड १३६
उपासना करिये नहीं, ईश भिन्न जन की।
जो उस जन से याचना, करे वही सनकी ॥ १३७ ॥
गधा निराही गंवार है, पशु विषयी नर कोय।
सज्जन ऐसा मानते, त्यजते ईश न सोय ॥ १३८ ॥
धर्मात्मा कभुं विज्ञ जन, पिता दयालु परम।
याचना अरु सदुपासना, उसीकी करना धर्म ॥१३९

ओ३म्। (यजु०अ० ४०। मं० १७ देखो)
भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि ॥ धियो यो नः प्रचो-
दयात् ॥ १५ ॥ (यजु० अ० ३६।
मं० ३, ऋ० मं० ३। सू० ६२।
मं०१०)

सकल जगत उत्पन्न कर, ऐश्वर्य रहे दे।
सर्वपिता सर्वेश्वर हे सविता ! सुख दे ॥ १४० ॥
आत्मा सबके प्रकाश कर, रहे देव स्वयमेव।
दे रहे आनन्द सुख सभी, जगको प्रभु स्वयमेव १४१
परमात्मा उनका ग्रहण, करने योग्य अत्यन्त।
स्वीकारके योग्य शुभ, सुश्रेष्ठ अत्यन्त ॥ १४२ ॥
निर्गुण अरु निष्पापही, सर्व उपद्रवहीन।
विज्ञानमय शुद्ध अति, दोष सभी से हीन ॥ १४३ ॥
परमार्थ शुभ पक्व फल, की न्यायीं सुस्वाद।
भर्ग वरेण्यम् रूप उस, प्रभु का रहित् विषाद ॥१४४॥
उन्हींकी नित्य उपासना, परमात्मा प्रभु की।
प्रेमभक्तिसे हम करें, सदा ही इकरस की ॥ १४५ ॥
निश्चय से धारण उन्हें, आत्मा में कर हम।
विज्ञान बल पाय दृढ, पुष्ट सुखी हों हम ॥ १४६ ॥
बुद्धि हमारी प्रेर दें, धारणावती वही देव।
उत्तम कर्मों में सदा, बुरे छुडा स्वयमेव ॥ १४७ ॥
देव वही सविता पिता, परमेश्वर शुद्ध रूप।
विज्ञान आनन्दमय, प्रभु जगके जो भूप ॥ १४८ ॥

अतः सभी को चाहियें, सदा उपासें ईश।
सर्वजनक-धारक प्रभू, परम कृपालु ईश ॥ १४९ ॥
सत् चित् आनन्द रूप जो, अज अनन्त निराकार।
ज्ञानी मुक्त सदैव ही, शुद्ध अरु रहित् विकार ॥१५०॥
शक्ति सकल सम्पन्न ही, करते न्याय सदैव।
सागर करुणामृत भरे, व्यापे सबमें सदैव ॥ १५१ ॥
जिससे सुभक्ति युक्त हो, पा तव कृपाप्रसाद।
सभी मनुज पायें चार फल, काम मोक्ष शुभ सार १५२
धर्म अर्थ भी पायें शुभ, देहवृक्षके फल।
मनुजों की के सुपक्व अरु, मधुर अतीव सुफल ॥१५३॥
इस विधि सायं प्रातही, दोनों संध्या काल।
जाकर स्थान एकान्त में, ध्यान करें कुछ काल ॥१५४॥
प्रतिदिन उन परमेशका, आत्मा चित्त टिकाय।
होकर सम्यक् शान्तही, दिलसे ध्यान जमा ॥ १५५ ॥
पाकर ध्यान अरु प्रार्थना, इष्ट सभीके देव।
प्रेरें हमारी बुद्धियां, सविता ही स्वयमेव ॥१५६॥
देव उसीके तेजमय, रूप वरेण्यस्वरूप।
को हम ध्यावें प्रेमसे, वर्चस्वी पर रूप ॥ १५७॥
अपनी कृपाकटाक्ष अरु, निज शक्तीसे परेश।
ब्रह्मचर्य सद्धर्म अरु, विद्याप्रद भुवनेश ॥ १५८ ॥
इन्द्रियजय विज्ञानशुभ, अरु पर ब्रह्मानन्द।
युक्त हमारी बुद्धियां, कर देवें दयानन्द ॥ १५९ ॥
परमेश्वर स्वयमेवही, निज स्वरूपका ध्यान।
करवावें हम से सदा, सविता देव महान् ॥ १६०

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः
शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय
च शिवतराय च ॥ १६ ॥
(यजु०अ०१६।मं०१)

सब मन्त्रार्थों से सदा, परमेश्वर को उपास।
इस प्रकार सम्यकृतया, मान उसीकी शास ॥१६१॥
करे समर्पण फिर उसे, उपासना-जपकर्म।
उसकी ही दयासे सभी, शीघ्र सिद्ध हों धर्म ॥१६२॥
सत्य न्याय आचरण अरु, धर्म से प्राप्त पदार्थ।
इन दोसे पुनः इष्टही, सेवना भोग यथार्थ ॥१६३॥
सब दुःखोंसे छूट फिर, पाना सदा आनन्द।
मोक्षकाम यूं अर्थ शुभ, भोगना ब्रह्मानन्द ॥१६४॥

दयानिधे! हे ईश्वर! जो जो उत्तम कर्म।
करें कभी हम, आपके, हैं आंपत वही धर्म ॥१६५॥
जिस से सकें हम आपको, सुगमतया कर प्राप्त ॥
ऐसी सुबुद्धि दो हमें, आप सभी में हो व्याप्त ॥१६६॥
नमस्कार तब ईश को, करे प्रेम से भक्त।
मन्त्र नमः शंभवायसे, हुआ परम अनुरक्त ॥१६७॥
सुखस्वरूप परमेश्वर, को करते नमस्कार।
उत्तम सुख संसारके, सभी जो दे दातार ॥१६८॥
उसको भी होवे सदा, बार बार नमस्कार।
धर्मयुक्त ही काम सब, जो करता कर्तार ॥१६९॥

कल्याणकारक प्रभु, नित्य मोक्ष-शुभरूप।
सुखदाता निज भक्तजन, का ईश्वर जगभूप ॥१७०॥

सदा लगाता धार्मिक, कार्यों में जो सदैव।
उस सुखकर कल्याणकर, को हो नमः सदैव ॥१७१॥

मङ्गलरूप अतीव ही, मुक्ती सुखप्रदान।
धार्मिक् मनुजों को करे, कर उनका कल्याण ॥१७२

बार बार उसे हो नमः, पुनः पुनः प्रणाम्।
हम सबके उसे प्राप्त हों, कोटि सहस्र प्रणाम्॥१७३॥

मंत्रार्थ और गायत्री।

(३)*

(ले०- श्री० वैद्यरत्न पं० सभाकान्त झा, आ० शास्त्री, स० सम्पादक "माला")

९ वां अर्थ।

यज्ञोपवीतसंस्कार के समय आचार्य यज्ञोपवीत देनेके समय माणवक (शिष्य) से कहता है, कि हे शिष्य! तव (देवस्य) इंद्रियादि को अर्थात् शरीर के (सवितुः) ऐश्वर्य के लिए (तद्भर्गः) उस ब्रह्मवर्चसादिक वीर्यप्रदान करनेवाले ब्रह्मतेज (ओम्) यज्ञोपवीत को (धीमहि) तुम्हारे शरीर में धारण करते हैं। कैसे यज्ञोपवीत को? (भूर्भुवः स्वः) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के (वरेण्यम्) वरणीय अर्थात् धारण करनेयोग्य को। (यः) जो यज्ञोपवीत अपने समय में प्राप्त होनेसे (नः) हम आचार्यलोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) शिष्योंको यज्ञोपवीत प्रदान करने के लिए प्रेरणा करती है।

भावार्थ— आचार्य अपने शिष्य से कहता है कि, हे शिष्य! जो यज्ञोपवीत हम लोगोंको उपलब्ध होने के पश्चात् हम आचार्यों की बुद्धि को यज्ञोपवीत दान करने का अधिकारी बना, उसके दान करने के लिए प्रेरणा करता है, उस ब्रह्मवर्चसादि वीर्यप्रदायक यज्ञोपवीत को तुम्हारे शारीरिक तेज (ऐश्वर्य) के लिए तुम्हारे शरीर में धारण करते हैं।

१० वां अर्थ।

गंगादि तीर्थ में स्नान करनेके पश्चात् भस्म लगाना द्विजातियों के लिए परमावश्यक है, क्योंकि विना भस्म धारण किए कोई भी वैदिक कर्म करने का अधिकारी नहीं होता, अतएव द्विजातियों को उचित है कि जलस्नान के पश्चात् भस्म अवश्य लगावे, इसी अर्थ को गायत्री मंत्र से निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मणादि लोग (सवितुः) अग्नि के (तद्भर्गः) उस वीर्यरूपी भस्मको (धीमहि) अपने ललाटादिक पवित्र स्थान में धारण करते हैं। कैसे अग्नि के तेज को? (भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिकों द्वारा धारण करनेयोग्य को। फिर कैसे अग्नि के? (देवस्य) प्रकाशमान के। (यः) जो अग्नि का वीर्य धारण करने से (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है।

भावार्थ— द्विजातियों के धारण करनेयोग्य प्रकाशमान अग्निके वीर्यस्वरूप भस्मको हम लोग अपने पवित्र स्थान ललाटादिक में धारण करते हैं, जो भस्म हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

११ वां अर्थ।

मनुष्यों के लिए गुरु की उपासना करना परम कर्तव्य है, क्योंकि विना गुरुभक्ति से उनसे पढी हुई विद्या फलवती नहीं होती है। अतएव इस उपासना को गायत्री मंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मणादिक शिष्यों को उचित है कि, अपने (देवस्य) गुरु के (तद्भर्गः) उस तेजःस्वरूपको

* द्वितीय लेख "वैदिक धर्म" क्रमांक २३४ के ४६२ पृष्ठपर देखो।

(धीमहि) ध्यान करें। कैसे गुरुको ? (सवितुः) प्रेरणा करनेवाले के; फिर कैसे गुरु को ? (वरेण्यं) उपासना करनेयोग्य को, किस लिए ? (भूर्भुवः स्वः) ऋक्, यजुः, सामादि वेदोंको अध्ययन के लिए (यः) जो गुरु अपने उपदेशद्वारा (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) वेदाध्ययनादिक धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादिक शिष्योंको उचित है कि प्रत्यह वेदाध्ययनादि या वैदिक कर्म करने के समय पहले विद्या-मन्त्रदायक उपासना करनेयोग्य धर्म अथवा मोक्षमार्ग में प्रेरणा करनेवाले, ऋग्यजुःसामादि पढ़ानेवाले श्री गुरुजी के उस तेजस्वरूप को अपने हृदय में ध्यान करें, जो हमारी बुद्धिको अपनी शिक्षाद्वारा धर्ममार्ग में लगाता है।

१२ वां अर्थ।

गृहस्थों को उचित है कि वे लोग अपने अपने द्विजाति-धर्मानुसार अपने पंचसूना दोष के नाश करने के लिए सन्ध्योपासनादिक पंच-यज्ञरूपी प्रायश्चित्तों का सदैव अनुष्ठान करें। क्योंकि बिना उनके अनुष्ठान किए पूर्वोक्त पापों से निवृत्ति नहीं होती है। इसी पूर्वोक्त धर्म में से पहले ब्रह्मयज्ञको गायत्री मंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग (देवस्य) ब्रह्मादि देवताओं को (सवितुः) उत्पन्न करनेवाली गायत्री के उपदेशरूपी (तत् ओम्) उस वेदको (धीमहि) चिंतन करते, अर्थात् पढ़ते हैं। कैसे वेद को ? (भूर्भुवः स्वः) ऋक्, यजुः, सामादिसंज्ञक अथवा (भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों-द्वारा उपासना करनेयोग्य को। फिर कैसे वेद को ? (भर्गः) तेजस्वरूप को। (यः) जो गायत्री का उपदेश वेद (नः) हम द्विजातियों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादिक द्विजातियों को उचित है कि, अपनी ब्रह्मयज्ञ के अनुष्ठान के लिए ब्रह्मादिक देवताओं को उत्पन्न करनेवाली गायत्री के ऋग्यजुःसामसंज्ञक तेजस्वरूप वेदरूपी उपदेश को धारण करें, अर्थात् सदैव चिंतन करें कि जो वेद हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

१३ वां अर्थ।

हम द्विजाति लोग प्रत्यह अपने (तदोम्) उस वैदिक गायत्रीमंत्र ओंकार को (धीमहि) ध्यान करते हैं। कैसे ओंकार को ? (भूर्भुवस्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यादिकों द्वारा जपनेयोग्य को। फिर कैसे ओंकार को ? (भर्गः) तेजस्वरूप को। किस लिए ? (देवस्य) वेदकी (सवितुः) यज्ञ के लिए- ब्रह्मयज्ञ के लिए, (यः) जो वैदिक गायत्रीमंत्र (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादिकों को उचित है कि अपनी अपनी ब्रह्मयज्ञ के अनुष्ठान के लिए प्रत्यह प्रातः, सायं और मध्याह्न में उपासना करनेयोग्य तेजस्वरूप ओंकारसंज्ञक वैदिक गायत्रीमंत्र को ध्यान करें। जो गायत्रीमंत्र हम लोगों को प्राप्त होते ही अपने जप के प्रभाव से मोक्षमार्ग में प्रेरणा करता है।

१४ वां अर्थ।

हम द्विजातिपुत्रों के लिये मातापिता की उपासना करना अर्थात् उनकी आज्ञा को पालन करना आवश्यक कर्तव्य है। उस उपासना को गायत्री मंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मणादि मनुष्यलोग अपने (देवस्य) मातापिताके (तद्भर्गः) उस स्वरूपको (धीमहि) ध्यान करते हैं। कैसे स्वरूप को ? (भूर्भुवस्वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंद्वारा सेवा करनेयोग्य को। किस लिये ? (सवितुः) यज्ञ अर्थात् पितृयज्ञ के लिये (यः) जिस मातापिताके स्वरूपने

(नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को बाल्यावस्था से वर्तमान अवस्थातक (प्रचोदयात्) प्रेरणा किया करता है।

भावार्थ— हम मनुष्यों को उचित है कि परमोपास्य मातापिताके स्वरूप को पितृयज्ञके लिये अनुष्ठान के लिये चिंतन करें। अर्थात् सर्वदा उनकी सेवा में तत्पर रहें। जिन्होंने हमारी बुद्धि को अनेक प्रकार की विद्याओं की शिक्षा द्वारा धर्ममार्ग में लगा गया है।

१५ वां अर्थ।

श्री गायत्री की प्रसन्नता के लिये प्रत्यह हवन करना द्विजातियों का परम धर्म है; उसको गायत्रीमन्त्र द्वारा निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मणादि लोग (सवितुः) यज्ञ के (तद्भर्गः) उस तेज अर्थात् गायत्री के तेजस्वरूप अग्नि को (धीमहि) ध्यान करते हैं। कैसे तेज को ? (वरेण्यम्) श्रेष्ठ को। किस लिए ? (देवस्य) यज्ञ अर्थात् देवयज्ञ के लिये ? किस स्थान में ? (भूः) पृथ्वी या वेदी या यज्ञकुण्डमें। किस द्वारा?(ओम्) अ-उ-म् ऋग्यजुसामादि वेदमन्त्रोंद्वारा; किस द्वारा ? (भुवः) व्यानादिक जो प्राणवायु हैं, उनको रोकके अर्थात् प्राणायाम करके। कैसे यज्ञके ? (स्वः) स्वर्गफल देनेवालेके, (यः) जो यज्ञ (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादि लोग स्वर्गादि फलप्राप्त्यर्थ तथा देवयज्ञके लिये प्राणायाम यौगिक क्रियाओंद्वारा ऋग्यजु और सामवेद मन्त्रों के द्वारा यज्ञ के उस तेज अर्थात् गायत्री के तेजस्वरूप अग्नि को पृथिव्यादिक हवन करने योग्य स्थानमें स्थापना करते हैं, जो यज्ञ हमारी बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

१६ वां अर्थ।

हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग (भुवः) प्राणायामादिक यौगिक क्रियाओं को करके (स्वः) स्वर्गफलप्राप्ति के लिये (सवितुः) ऐश्वर्य के लिए (तद्देवस्य) उस इन्द्रियादिकों के (भर्गः) वीर्य (वरेण्यम्) अन्नको (ओ ३ म्) अ-उ-म् वेदमंत्रों अथवा प्रणवद्वारा (भूः) अग्नि में (धीमहि) ध्यान करते हैं अर्थात् गायत्री को समर्पण करते हैं। (यः) जो अन्न (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) भोजन करने के पश्चात् सृष्टिकार्यों में प्रेरणा करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादि द्विजाति लोग प्राणायामादिक यौगिक क्रियाद्वारा वेद के मन्त्रों अथवा प्रणवद्वारा उस इन्द्रियों को वीर्य देनेवाले अन्न को अग्नि में धारण करते अर्थात् गायत्री को समर्पण करते हैं। जो अन्न अपने भोजन करने के पश्चात् हम लोगों की बुद्धि को धर्ममार्ग में प्रेरणा करता है।

१७ वां अर्थ।

अपने घर में आए हुए किसी विद्वान् ब्राह्मणादि अतिथि लोगों का भोजनाच्छादनद्वारा सत्कार करना हम द्विजातियोंका परमधर्म है। अतएव ऐसे श्रेष्ठ धर्मको गायत्रीमन्त्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम द्विजाति गृहस्थों को उचित है, कि प्रत्यह (देवस्य) श्रेष्ठ कुलोत्पन्न विद्वान् ब्राह्मणादिक अतिथि के (तद्वरेण्यम्) उस सेवा करनेयोग्य (भर्गः) विद्या और तपरूपी तेज से युक्त स्वरूप को (धीमहि) सर्वदा ध्यान करें। कैसे अतिथिस्वरूप को? (भूर्भुवः स्वः) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यसंज्ञक को। किस प्रयोजन के लिये ? (सवितुः) यज्ञ अर्थात् अतिथि-यज्ञ के लिए (यः) जो अतिथि अपने ज्ञान को देनेवाले उपदेशों द्वारा (नः) हम लोगों (गृहस्थों) की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है।

भावार्थ— हम ब्राह्मणादिक द्विजातियों को उचित है कि अतिथि-यज्ञ करने के लिए नित्य प्रति उन श्रेष्ठ कुलोत्पन्न विद्वान् धार्मिक ब्राह्मणादिक अतिथि लोगों का अपने घरमें आने के लिये चिन्तन किया करें। जो अतिथि लोग धर्म सम्बन्धी उपदेशों द्वारा हम लोगोंकी बुद्धिको धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

१८ वां अर्थ।

यज्ञान्तमें अन्नदानादिद्वारा ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना द्विजातियोंका परम कर्तव्य है। अतएव उस को गायत्रीमंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम द्विजाति लोग (स्वः) स्वर्गफलप्राप्तिके लिये (तद्देवस्य) उस विद्वान ब्राह्मण के (भुवः) कर-कमलमें (सवितुः) धनके (भर्गः) तेज (वरेण्यम्) अन्नको (धीमहि) ध्यान करते हैं, अर्थात् देते हैं। कैसे ब्राह्मणके? (भूः) अग्निसदृश विद्या और तप के प्रख्यात के (यः) जो ब्राह्मण अपने उपदेशों द्वारा (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धिको (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम द्विजातियोंको उचित है कि, स्वर्ग-प्राप्तिके लिये विद्या और तपमें विख्यात ब्राह्मण के हाथ में धनके तेज अन्नको देवें। जो ब्राह्मण अपने धार्मिक उपदेशद्वारा हम लोगोंकी बुद्धिको धर्म-मार्गमें प्रेरणा करता है।

१९ वां अर्थ।

हम द्विजाति लोग अपने (सवितुः) उत्पन्न करने-वाले (देवस्य) मातापिता के (स्वः) स्वर्गमें प्राप्ति होने के लिये (तद्वरेण्यम्) उस श्रेष्ठ (ओम्) अन्नको (भूः) अग्निके सदृश विद्या और तपसे युक्त ब्राह्मणके (भुवः) हाथमें (धीमहि) धारण करते अर्थात् देते हैं। कैसे अन्न को? (भर्गः) तेजस्वरूप वीर्यप्रदायक को (यः) जो अन्न (नः) हम लोगोंकी (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मणादिकों को उचित है कि अपने जन्मदाता मातापिताको स्वर्गप्राप्ति होनेके लिये अपने न्यायोपार्जित वीर्यप्रदायक उस श्रेष्ठ अन्नको विद्या और तप से युक्त विद्वान् ब्राह्मण को देवे, जो हमारी बुद्धि को धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

२० वां अर्थ।

पितृ-दैवादिक यज्ञोंमें जब ब्राह्मण लोग भोजन करनेके लिये निमन्त्रित कर बुलायें जांय तब उनको चाहिये कि अन्नके भक्ष्याभक्ष्य (अर्थात् अमुक का अन्न भक्ष्य है, अमुकका नहीं) का विचार कर भोजन करे, क्योंकि अभक्ष्य अन्नको भोजन करनेसे श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणकोभी अधोगतिप्राप्ति होती है। इसी को गायत्रीमंत्रद्वारा निरूपण करते हैं।

हम ब्राह्मण लोग (तद्वरेण्यम्) उस श्रेष्ठ (ओम्) अन्नको (धीमहि) धारण करते, अर्थात् भोजन करते हैं। किस अन्नको? (भर्गः) तेजस्वरूपको, किस प्रयोजनके लिये? (देवस्य) अपनी इन्द्रिया-दिकों के (सवितुः) धर्ममार्गमें प्रेरणा करनेके लिये, (यः) जो अन्न (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

भावार्थ- निमन्त्रित ब्राह्मण लोग भोजन करनेके पहिले गायत्रीमंत्रको पढकर भोजन करना प्रारम्भ करें, और उस समय इस अर्थ का चिन्तन करें, कि हम ब्राह्मणलोग अपनी इन्द्रियोंको धर्ममार्गमें प्रेरणा करनेके लिये ब्राह्मणादिक द्वारा न्यायो-पार्जित श्रेष्ठ अन्नको भोजन करते हैं। जो अन्न अपने प्रभावसे हम लोगोंकी बुद्धिको धर्ममार्गमें प्रेरणा करता है।

२१ वां अर्थ।

हम ब्राह्मण अथवा संन्यासी लोग अपने (देवस्य) इन्द्रियादिकों के (तद्वरेण्यम्) उस श्रेष्ठ (भर्गः) वीर्य अथवा पराक्रमरूपी (ओम्) अन्न को (धीमहि) ध्यान करते हैं, अर्थात् भोजन करते हैं। किस लिये? (भूर्भुवः स्वः) प्राणापानादिकों का (सवितुः) यज्ञके लिये अर्थात् प्राणाग्निहोत्र के लिये (यः) जो अन्न (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है।

भावार्थ- हम ब्राह्मण तथा संन्यासी लोग अपने प्राणाग्निहोत्र नामक यज्ञ करनेके लिये अपनी इन्द्रियादिकों के पराक्रमरूपी उस श्रेष्ठ अन्नको अपने उदर में धारण करते हैं, जो अन्न हम लोगों की बुद्धिको प्रेरणा करता है।

इति द्वितीयः समुल्लासः समाप्तः।

सत्याग्रही का स्वाध्याय।

(वेद-वचनामृत)

[लेखक— श्री आचार्य अभयदेवजी]

हमारे ज्ञान और कर्म प्रभुप्रेरित हों।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

(ऋक्०, यजुः०, साम०)

अर्थ— (सवितुः) प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) परमात्मदेव के (तत्) उस (वरेण्यं) वरनेयोग्य (भर्गः) शुद्ध तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं (यः) जो धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियोंको, कर्मों को (प्रचोदयात्) सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

आत्म बलिदान करनेवाले का कल्याण निश्चित है।

ओ३म् यद् अङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः॥ (ऋग्वेद)

अर्थ— (अंग) हे प्यारे ! (अंगिरः) मेरे जीवनसार (अग्ने) प्रकाशक देव ! (यत् त्वं) जो तू (दाशुषे) आत्मबलिदान करनेवाले का (भद्रं) कल्याण (करिष्यसि) करता है (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यं इत्) सचा, न टलनेवाला नियम है।

सर्वत्र अभय।

ओ३म् इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः॥ (ऋक्०, अथर्व०)

अर्थ—(इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर, मुझे (सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि) सब दिशाओं से (अभयं करत्) अभय कर दे। (शत्रून् जेता) जो परमेश्वर शत्रुओं को जीतनेवाला है। (विचर्षणिः) और सब कुछ [हर एक प्राणी के हर एक कर्म को] पूरी तरह देखनेवाला है।

तेरा सखा कभी नष्ट नहीं होता।

ओ३म् त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः। न रिष्येत् त्वावतः सखा॥

अर्थ— (सोम) हे सोम ! (राजन्) हे राजा ! हे असली राजा ! (त्वं नः) तू हमें (अघायतः) पाप चाहनेवालों से (विश्वतः) चारों तरफ से (रक्षा) रक्षा कर। (त्वावतः सखा) तेरे जैसे से मित्रता रखनेवाला (न रिष्येत्) कभी नष्ट नहीं होता।

तू कौन है ?

शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि, स्वरसि ज्योतिरसि।

(अथर्व०)

अर्थ— तू शुद्ध है, तू तेजरूप है, तू आनन्दवाला है, तू प्रकाशस्वरूप है।

शत्रु भी हमारी अच्छाई से प्रभावित हो।

ओ३म् उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेत् इन्द्रस्य शर्मणि॥ (ऋग्वेद)

अर्थ- (दस्म) हे पापनाशक इन्द्र ! (अरिः उत) शत्रु भी (नः सुभगान् वोचेयुः) हमारी अच्छाइयों को, हमारे सौभाग्यों को कहें। (कृष्टयः वोचेयुः) सामान्य मनुष्य तो कहें ही। फिर भी हम (इन्द्रस्य इत्) तुम परमेश्वर के ही। (शर्मणि) सुख में (स्याम) रहें, होवें।

मेरी पुकार सुनो।

ओ३म् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युराचके॥ (यजुर्वेद)

अर्थ- (वरुण) हे वरुण ! (मे) मेरी (इमं) इस (हवं) पुकार को (श्रुधी) सुन लो। (अद्य च) आज तो मुझे (मृडय) सुखी कर दो। (त्वां अवस्युः) मैं तुम्हारी शरण में आया हुआ, तुमसे रक्षा चाहता हुआ (आचके) प्रार्थना कर रहा हूँ।

मुझे दृढ करो।

ओ३म् दृते दृं ह मा, ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्।
ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्॥ (यजु०)

अर्थ- (दृते) हे समर्थ परम दृढ परमेश्वर ! (मा) मुझे (दृह) दृढ बना दे, जिससे कि मैं (ते संदृशि) तेरे संदर्शन में, तेरी ठीक दृष्टि में (ज्योक्) चिरकाल तक (जीव्यासं) जीता रहूं। (ते संदृशि ज्योक् जीव्यासं) तेरे सम्यक् दर्शन में दीर्घ आयु तक जीता रहूं।

सत्य की शक्ति।

ओ३म् ऋतस्य हि शुरुधः संति पूर्वीः
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हंति।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥ (ऋक्०)

अर्थ- (ऋतस्य हि) सत्य की (शुरुधः) शोक-निवारक सम्पत्तियां (पूर्वीः संति) सनातन हैं। (ऋतस्य धीतिः) सत्यका धारण करना (वृजिनानि) पापों का, वर्जनीय वस्तुओं का (हंति) नाश कर देता है। (ऋतस्य) सत्य की (बुधानः) जगानेवाली और (शुचमानः) दीप्यमान (श्लोकः) आवाज (बधिरा) बहरे (आयोः) मनुष्य के (कर्णा) कानों में भी (आततर्द) पहुँच जाती है।

जिसके बिना विजय नहीं मिलती।

ओ३म् यस्मान्न ऋते विजयंते जनासो,
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव,
यो अच्युत च्युत् स जनास इंद्रः॥
(ऋक्०, अथर्व०)

अर्थ— (जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः स) परमेश्वर वह है, (यस्मात् ऋते जनासः न विजयंते) जिसके बिना मनुष्यों को कभी विजय नहीं मिलती और (यं युध्यमाना अवसे हवन्ते) जिसको कि युद्ध करते हुए मनुष्य रक्षा के लिए पुकारते हैं तथा (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) जो विश्व का प्रतिमान अर्थात् उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माता होकर, सब विश्व को अपने में रखकर, तद्रूप हुवा-हुवा है (यः अच्युत च्युत्) और जो न डिगनेवाले बडे दृढ पदार्थों को भी डिगा देता है।

आत्मिक बल कहांसे आता है।

ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व,
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः,
कस्मै देवाय हविषा विधेम।
(ऋक्०, यजु०, अथर्व०)

अर्थ— (यः आत्मदाः) जो आत्मस्वरूप को देनेवाला और (बलदाः) शक्ति को देनेवाला है। (यस्य विश्व उपासते) सब जिसकी उपासना करते हैं और (यस्य देवाः प्रशिषं [उपासते]) देव भी जिसके प्रशासन के आश्रित हैं-'जिस की सर्वोच्च आज्ञा में चलते हैं। (यस्यच्छाया अमृतं) जिसकी शरण या आश्रय पाना अमर होना है और (यस्य मृत्युः) जिसकी [जिससे दूर होना ही] मृत्यु है, (कस्मै देवाय) उस 'क' [सुखस्वरूप] देव का हम (हविषा विधेम) आत्मत्यागद्वारा पूजन करते हैं।

मैं द्वेष के उत्तर में द्वेष करना बन्द करता हूं।

ओ३म् इयमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे
मे द्यावापृथिवी अभूताम्
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो
अभयं नो अस्तु॥ (अथर्व०)

अर्थ— (इदं उत् श्रेयः) अब यह ही कल्याणकर है कि (अवसानं आ अगां) मैं अब समाप्तिपर आ जाऊं, द्वेष-परम्पराका विराम कर दूं। अतः हे शत्रु! (त्वां) तेरे साथ (न वेद्विषमः) मैं तो द्वेष करना छोड ही देता हूं। (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथवी भी (मे) मेरे लिये (शिवे आभूताम्) अब कल्याणकारी हो जायं (प्रदिशः मे असपत्नाः भवंतु) सभी दिशाएं मेरे लिये शत्रुरहित हो जायं (नः अभयं अस्तु) मेरे लिये अब अभय हो जाए।

रक्षक इन्द्र को पुकारता हूं।

ओ३म् त्रातारमिंद्रमवितारमिंद्रं हवे हवे
सुहवं शूरमिंद्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिंद्रं, स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः॥ (ऋक्०, यजु०, साम०, अथर्व०)

अर्थ— (त्रातारं इन्द्रं) पालन करनेवाले इन्द्र को, (अवितारं इन्द्रं) रक्षा करनेवाले इन्द्र को (हवे हवे सुहवं) एक एक संग्राम में सुख से पुकारनेयोग्य (शूरं इन्द्रं) उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र को (पुरुहूतं इन्द्र) जिसे कि असंख्यों सत्पुरुषों ने समय समय पर पुकारा है— उस इन्द्र को मैं भी (ह्वयामि) पुकारता हूं, बुलाता हूं। (मघवा इंद्रः) वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (नः स्वस्तिः धातु) हमारा कल्याण करे।

निष्कपटता।

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्।
(अथर्व०)

अर्थ- जो तेरे अन्दर हो, वही बाहिर हो और जो बाहिर हो, वही अन्दर हो।

वेद का उपयोग।

(लेखक- श्री० बनवारी लालजी, 'सेवक' वैदिक यंत्रालय, अजमेर.)

वेद का महत्त्व वैसे तो प्राचीन कालसे चला आ रहा है, पर आजकल कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो बात-बात में वेद का नाम लेते हैं, और जो भी जी में आता है वेद में से निकालनेका दावा करते हैं। वे यहां तक कहते हैं कि संसार की सारी विद्याएं वेद में विद्यमान् हैं और उनकी बात का विश्वास करनेवाले कतिपय भोले-भाले भाई यहां तक विश्वास कर बैठते हैं कि वेद पढ लेने पर एक व्यक्ति संसार के सारे कला-कौशल का ज्ञाता हो सकता है।

दूसरी ओर से वेद को कुछ भी समझनेवाले यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि वेद की अब क्या आवश्यकता है? सम्भव है आदिसृष्टि में आदिज्ञान देने के लिये वेद की आवश्यकता रही हो; परन्तु अब तो वह ज्ञान नाना रूपों में संसार में फैल रहा है, फिर वेद में उसे ढूंढने की क्या आवश्यकता है? और फिर संसार की बडी भारी जनसंख्या बिना वेद के अपना काम चला रही है!! क्या हमीं उसके बिना काम नहीं चला सकते? सभी विद्याएं हम जहां जहां विद्यालयों में अध्ययन करके सीख सकते हैं, वेद पढने से तो शायद एक भी विद्या का ठीक-ठीक अभ्यास नहीं होता। अस्तु। वर्तमान सृष्टि के लिये वेद निरर्थक हो जाता है! यह एक ऐसी साधारण शंका है, जो प्रत्येक हृदय में उठ सकती है, चाहे कोई नास्तिक कहे जाने के भय से इसे प्रकट भी न करे। इस शंकाका समाधान हम तब तक नहीं कर सकते, जबतक कि हम यह बात ठीक ठीक न समझलें कि वेद हैं किसलिये?

मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति के आठ द्वार हैं, जिन्हें हम शास्त्रीय भाषामें आठ प्रमाण कहते हैं। अग्नि उष्ण है, वह स्पर्श करने पर जलाती है, जलने से कष्ट होता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति हमें साक्षात् अपनी इन्द्रियों और मन के द्वारा हो जाता है। इसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अब हमें यह देखना है कि क्या इस प्रकार के ज्ञान में वेद की भी कोई आवश्यकता है? यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वेदका सुने बिना भी प्रत्येक व्यक्ति यह ज्ञान अपने तथा दूसरों के अनुभव से प्राप्त कर सकता है। अनुमान करने की भी नैसर्गिक प्रवृत्ति मनुष्य में विद्यमान है। हम बार दो घटनाओं को साथ-साथ होते देखकर हमें यह ज्ञान हो जाता है कि इन दोनों घटनाओं में परस्परसम्बन्ध है और फिर जब एक घटना होती है, दूसरी अवश्य होगी, ऐसा हम विचारने लगते हैं। यहां भी वेद की कोई विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अपने तथा दूसरों के अनुमानों से हम बराबर काम चला सकते हैं, पर अनुमान वहीं तक निर्भ्रांत हो सकता है, जहां उस के फल को प्रत्यक्ष द्वारा जांचने की सुविधा है। जहां उसके फलको प्रत्यक्ष द्वारा जांचने की सुविधा नहीं, वहां अनुमान कुछ सच्चा प्रमाण नहीं माना जा सकता। संसार का अधिकतर व्यवहार अनुमान पर चलता है, क्योंकि हमारा कार्य दृष्ट-वस्तुओं से होता है, कभी कभी अनुमान में भूल हो जाती है, जो पीछे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात हो जाती है, पर ईश्वर, पुनर्जन्म, धर्म, अधर्म, मोक्ष आदि ऐसे विषय हैं, जिनके सम्बन्ध में यदि ईश्वर ने स्वयं ज्ञान न दिया होता, तो हम कुछ भी अनुमान न कर सकते। वास्तव में वेद का उपयोग इन्हीं विषयों का अनुमान कराने में है।

बीजरूप से यद्यपि वेदमें सांसारिक वेद की बातें भी लिखी हैं, पर प्रत्येक बात को वेद की पुस्तक खोलकर नहीं सीख सकते। आदिसृष्टि में कुछ संकेतोंद्वारा वेद की भाषा में मनुष्य को उपदेश मिला। फिर मनुष्यने उसे अपनी बुद्धि से बढाया। आज कुछ भोले-भाले समझते हैं कि वेद पढकर वायुयान (हवाई-जहाज) अथवा बम

बनाने की विद्या सीखी जा सकती; पर यह भारी भ्रम है। वेद का मुख्य प्रयोजन ऐसी विद्या देने का नहीं है। हां, हमारा साधारण व्यवहार परलोक के विरुद्ध न होने पावे, इस बात को हम वेद से ही जान सकते हैं। वेद में जीवन व उन सिद्धांतों का वर्णन किया गया है, जिस के अनुसार जीवन परमानन्द के अत्यंत अनुकूल बनाया जा सकता है और जिसके विपरीत आचरण करने से ही यहां और परलोक में सर्वत्र दुःख भोगना पडता है। उन्हीं सिद्धांतों और आदर्शोंको ढूंढनेके लिये हमें वेदके अध्ययन की आवश्यकता है, तोप बनाने का मसाला मालूम करने के लिये नहीं। चूंकि यह प्रत्येक मनुष्य की कामना है कि वह सुख और शान्ति से रहे। अतः प्रत्येक मनुष्य के लिये वेदका ज्ञान आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है। उन बातों को, जो हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकतीं, जानने के लिये केवल एक वेद ही प्रमाण है। इसी को हम शब्दप्रमाण कहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जिन विषयोंका वेद में वर्णन है, अथवा जीवन सम्बन्धी जिन नियमों का वेद बतलाता है, उनकी उपयोगिता और आवश्यकता के विषयमें हम बहुत कुछ ऊहापोह कर सकते हैं और दूसरे लोगों को विश्वास दिलाने के लिये यथासंभव तर्क का भी आश्रय लेते हैं, पर केवल तर्क से उन बातों को हम कभी नहीं जान सकते। तर्क तो केवल उन बातों को विश्वसनीय और समझाने योग्य बनानेका काम करता है, तर्क उनका जनक नहीं है। उदाहरणार्थ- यदि वेद में हम मनुष्यके पुनःपुनः जन्म लेने का वर्णन पाते हैं, तो पीछे हम यह भी कहने लग जाते हैं, कि पुनर्जन्म अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा मानोगे, तो हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि ईश्वर अकारण ही किसी को सुखी और किसी को दुःखी बनाता है, फिर हम पुनर्जन्म को सिद्ध करनेके लिये अन्य प्रमाण भी खोजते हैं। पिछले जन्मके संस्कारके कारण बालक स्वयं मां का दूध पीने लगता है। बहुधा बालक पिछले जन्मकी स्मृति भी रखते हैं। जिन प्रवृत्तियोंको मनोवैज्ञानिक भाषा में इन्सटिंक्ट (Instinct) कहा जाता है, वे अनेक जन्म के संस्कारों के कारण ही पाये जाते हैं। इस प्रकार के तर्कों से वेदमें कही हुई बातको हम विश्वसनीय बात लेते हैं। वैसे यह विषय तर्क से निर्भ्रांत रूपमें कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्या पाप है? क्या पुण्य है? इसका अंतिम निर्णय हम केवल तर्कसे नहीं कर सकते। कुछ लोग तो ऐसे तर्क भी उपस्थित कर सकते हैं, जिनके अनुसार ब्रह्महत्याको धर्म और अश्वमेध को पाप सिद्ध किया जा सके। हमें तर्क केवल ऐसी बातोंको समझाने के लिये ढूंढना पडता है। वेदोंको ईश्वरीय वाक्य माननेवाले आस्तिक के लिये और कोई चारा नहीं है। हां, जो वेदको ईश्वरीय वाक्य नहीं मानते, उनके लिये हम तर्क का प्रयोग करके विश्वास बढाने की कोशिश करते हैं। चारों वर्णों और चारों आश्रमों का जीवन किस ढांचे में ढाला जाय कि वह इहलौकिक और पारलौकिक शांति प्राप्त कर सके? इस प्रश्न का उत्तर हमें वेद दे सकता है। इस प्रकार वेद हमारे साधारण जीवन की बातें भी बताता है, पर वहीं तक जहां तक कि हमारा सम्बन्ध आध्यात्मिक जीवन की उन्नति से है। आधुनिक काल में जिन विद्याओं के द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के जन-संहार में प्रवृत्त होता है, उनका उपदेश वेदमें नहीं किया गया। हां, उस ओर से मनुष्य की प्रवृत्ति हटाने के लिए कभी कभी बुराइयों का वर्णन भी वेद में किया गया है।

संक्षेप में सार यह है कि हमें प्रत्येक छोटी-छोटी बात के लिये वेद के पन्ने उलटने से लाभ नहीं हो सकता और न दूकान अथवा खेती में अधिक लाभ होने के लिए वेद के मन्त्र ज्ञान दे सकते हैं। वेद तो सारे मनुष्यजीवन का एक ढांचा बतलाता है, जिसके अनुसार चलकर हम शांतिमय और सुखी रह सकते हैं। बीजरूप से जो विद्याएं वेद में वर्णित हैं, उनकी आदिसृष्टि में आवश्यकता थी। अब तो उन्नत होकर सर्वत्र फैल गई हैं, उन्हें वहीं से सीख सकते हैं।

सुप्रजा-शास्त्र ।

(१)

अविवाहित रहने के कारण ।

तरुण लोग अविवाहित रहनेके लिये जो कारण बतलाते हैं, वे अनेक हैं। पहला महत्व का कारण यह बतलाया जाता है, कि वैवाहिक जीवन के लिये आवश्यक ऐसा आर्थिक समाधान नहीं है। निर्वाह के लिये पर्याप्त वेतन कमानेवाला नौकर अथवा जिस के व्यवसाय का जमाव जम गया है, ऐसा युवक भी स्त्रीपुत्रों की जिम्मेदारी के भय से यही कारण आगे रखता है। परन्तु इन कारणों की जड में आर्थिक अडचनों के साथ साथ स्वार्थी भाव भी छिपा रहता है। क्योंकि तलाश करनेपर मालूम होता है कि, कुटुंबपोषण के लिये पर्याप्त होकर बच रहे, इतना पैसा ये लोग स्वसुख के हेतु अथवा अपने प्रीतिपात्र के लिये खर्च करते हैं और यह बात विशेषतः उन अविवाहितों में अधिक देखने मिलती है, जो अपने को आधुनिक सुधारक कहलाते हैं !

इसके बदले इन ढंगों को जो पैसा लगता है, वही पैसा किसी कुलीन स्त्री से विवाहबद्ध होकर सदाचार से रहने में ये लोग खर्च करें, तो निश्चित रूप से उन्हें इसी लोक में स्वर्गसुख का लाभ होगा। परन्तु इन स्वैराचारी लोगों को ऐसे दैवी सुख की कल्पना ही आ नहीं सकती। दूसरे कोई लोग यह देखकर कि, कई लोगों के वैवाहिक जीवन में चिंता और क्लेश होते हैं, उस दुःख से डर जाते हैं और अपने अविवाहित जीवन के लिए इन कारणों को सामने रखते हैं ! ऐसे लोगों को अविवाहित रहना ही इष्ट है; क्योंकि जिन लोगों में सदाचरणजनित सामर्थ्य का और मनुष्य को पूर्णत्व प्राप्त करानेवाले धैर्य, शौर्य आदि गुणों का अभाव है, ऐसे लोगों की सन्तति वैसी ही भीरु होगी। अविवाहित रहने की इच्छा रखनेवालों में ऐसे भी कुछ लोग हैं, कि जिन के अन्तःकरण ऐसे कुछ उदाहरणों को देखकर भयभीत हो गए हैं, जहां पतिपत्नी के स्वभावों में विरोध होनेके कारण दोनों का जीवन दुःखमय हो गया है।

> **इहलोक में स्वर्गसुख ।**
>
> धार्मिक, कुलीन तथा शीलसंपन्न वधू से विवाहबद्ध होकर धार्मिक तथा सदाचार-युक्त जीवन व्यतीत करने से इहलोक ही में स्वर्गसुख सहज प्राप्त हो सकता है। इस स्वर्गसुख को स्वैराचार से दूर मत करो।

(युरोप में) ऐसे अनेक विवाहेच्छु हैं, कि जिन को प्रचलित वृत्तपत्रों और मासिकपुस्तकों में छोड-चिठ्ठी, खानाकपडे के दावे, घरगुती टंटे इत्यादि वार्ता पढकर " विवाह " शब्द ही भीतिप्रद मालूम होता है। परन्तु हम आगे बतलावेंगे, कि इस भीति को टालना संभाव्य है।

मानवी पूर्ण विकास की नैसर्गिक स्थिति का ही नाम विवाह है। युवावस्थाप्राप्त स्त्रीपुरुषों का विवाहबद्ध होना ही नैसर्गिक स्थिति है और पूर्ण सौख्य का तथा ऐहिक यश का वही साधन है- यह सिद्ध करने के लिये किसी भी धार्मिक अथवा बौद्धिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह यह बात भी सिद्ध है, कि जो पुरुष अथवा स्त्री योग्य समयपर इस बंधन का स्वीकार न करे, वह व्यक्ति अपने जीवित को अपूर्ण रखने के कारण उस दृष्टि से विधाता के हेतु को अयशस्वी करता है। निष्कारण अविवाहित रहने की इच्छा रखनेवाले इस बात पर विचार करें।

उच्च इच्छाओं की और उच्च आकांक्षाओंकी पूर्णता वैवाहिक स्थिति ही में होती है।

सुख मानवी जीवित का ध्येय है और उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्यप्राणी खटपट करता जाता है।

ऐसे सुख की प्राप्ति का मुख्य साधन वैवाहिक जीवन है। सद्यःकालीन स्वैराचार के कारण कुटुंब-संस्था विस्कलित और विकृत हो गई है; ऐसी हालत में उपर्युक्त तत्त्व अविश्वसनीय मालूम होगा। तथापि हम आगे चलकर जो बतलावेंगे, उस सशास्त्र मार्ग का अवलम्ब करके कुलशीलसपन्न वधूसे विवाह किया जाय, तो इस सिद्धान्त की सचाई का अनुभव हर कोई निःसंशय ले सकेगा।

सुख का दूसरा महत्व का साधन आरोग्य है। अविवाहित जीवन सृष्टिनियम के विरुद्ध अर्थात् अपवादात्मक है; वह सरासह सब लोगोंके आचरण में लाने का प्रयत्न किया जाय, तो उससे आरोग्य की और दीर्घायुष्य की हानि होगी। दीर्घायुषी व्यक्तियों में अविवाहितों की संख्या कम है। इससे भी उपर्युक्त तत्व की सिद्धता होती है।

इसी तरह यह बात भी कोई नाकबूल न करेगा, सब भांति की संपत्ति सुख का एक साधन है और इस सारी सम्पत्ति का एकमेव आधार गृहस्थाश्रम है। अर्थात् सुख के इस महत्व के साधन को प्राप्त करने के लिए भी वैवाहिक जीवन की आवश्यकता है। इस सम्पूर्ण विवेचन में यह बात गृहीत है, कि वैवाहिक जीवन की बाजू जहां रखी गयी है, वहां विवाह के मायने अनुरूप-गुण-युक्त पति-पत्नी का सम्बन्ध है। विवाह के कारण मनुष्य की संग्रहार्जन-बुद्धि को योग्य दिशा मिलती है और वह वृद्धिंगत होती है। पति अथवा पिता होने के पहिले बहुतेरे युवक अपने समय का और द्रव्य का निष्कारण अपव्यय करते हैं। ऐसे युवकों को सुधारने और संपन्न करने के लिए सब से अच्छा इलाज यही है, कि वे संसार के योग्य (इसका मतलब धनवान् नहीं) ऐसी वधू का पाणिग्रहण करें।

अकेला रहने में स्वादिष्ट अन्न का सेवन करने से क्षुधा की शांति होगी; परन्तु इष्टमित्रों तथा आप्त-जनों की पंक्ति में बैठकर भोजन करने से निःसंदेह उत्कृष्ट समाधान मिलता है और बहुधा में अन्न की रुचि भी बढ़ती है। मनुष्य को यह सुख कुटुंब-संस्था के ही द्वारा मिल सकता है। कौटुंबिक जीवन से स्त्रीपुरुषों को घर में और समाज में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, कि जिन से उन की विविध शक्तियों का संगोपन होकर उच्च और पवित्रतर मानवी जीवन का आदर्श उनके दृष्टिपथ में चमकने लगता है।

विवाह के हेतु।

साधारणतः विवाह करने में जो हेतु कारणीभूत होते हैं, वे बहुधा झूठे, स्वार्थी, पतिपत्नी के भावी सौख्य को और तेजस्वी संतति को प्रतिकूल ही रहते हैं- अर्थात् महत्वाकांक्षा, संपत्ति, दर्जा, हक, हितसम्बन्ध, स्वातंत्र्य की इच्छा, सुस्थिति मांबाप के दबाव से छूटने की उत्कंठा, आप्तों के वारिस-हक को उड़ा देने का निश्चय, स्वैर पुरुष अथवा स्वैरिणी स्त्री की विकारवशता, अड़चन, उपकार, मनो-विकार, अन्धानुकरण इत्यादि। विवाह का सच्चा हेतु-पवित्र तथा सुशील प्रेम-क्वचित् ही दीखता है।

वधूवर के चुनाव में भूलें।

वधूवर के चुनाव इस कदर झूठी और विकृत कल्पनाओं से परिपूर्ण रहते हैं, कि दुनियां में ऐसा विकृत व्यवसाय दूसरा न होगा! अपना लौकिक और हितसम्बन्ध जिस में है, ऐसा कोई भी व्यवहार हाथ में लेने के पहिले मनुष्य उस के गुणावगुण की और नफानुकसान की अधिक से अधिक छान-बीन करता है। परन्तु शास्त्रयुक्त किसी भी व्यवस्थित मार्ग के अभाव में, वह अज्ञान से न हो, तो अन्धेपन से अपनी पत्नी का चुनाव करता है, बहुत से विवाहों में वधू के अन्तर्गत एकाध गुण का उत्कर्ष ही कारणीभूत हुआ दीखता है। कोई भी मनुष्य सौन्दर्य की अपनी भोली कल्पना को छोड़कर थोड़ा व्यावहारिक क्षेत्र में उतरेगा, तो निःसन्देह उस को यह कबूल करना पड़ेगा, कि सुहावना हाथ, सुन्दर मुखचर्या, सिंहकटि, गजगति अथवा मीठा आवाज ये बातें उस व्यक्ति के स्वभाव के पूर्णतया निदर्शक चिन्ह नहीं हो सकते। तथापि प्रत्यक्ष सृष्टि में एक अथवा अधिक गुणोंपर लुब्ध होकर बहुत से

विवाह का हेतु।

विवाह का यही एक सत्य हेतु है, कि विवाह से मानवी जीवन पूर्ण होता है, सुप्रजा निर्माण होकर वंश सुरक्षित रहता है, प्रेम और सौख्य की वृद्धि होकर यहां के जीवनसंग्राम में विजयप्राप्ति हो सकती है और मानवी जीवन का सार्थक्य होता है।

विवाह हो जाते हैं। परन्तु शीघ्र ही एकाध प्रसंग ऐसा आ जाता है कि, जिससे एकदम आंखें खुल जाती हैं और वर को यह बात जँच जाती है कि, सुखमय वैवाहिक जीवन के लिए सुहावना हाथ या मनोहर मुखचर्या से बिलकुल भिन्न ऐसे अन्य ही गुणों की आवश्यकता रहती है। तब कहीं उसको कुलशीलसम्पन्नता का महत्व मालूम होने लगता है।

क्या रोगग्रस्तों को विवाह करना उचित है।

विवाह का और एक हेतु बतलाया जाता है-यह कि विशिष्ट प्रकार के रोगी व्यक्ति का विवाह होने से, उस के रोग का निर्मूलन न हुआ, तो उपशम जरूर होता है, ऐसी लोगों की समझ है। इस प्रकार भयानक समझ क्वचित् ही अन्यत्र देखने मिलेगी, क्योंकि ऐसे विवाहों का प्रत्यक्ष परिणाम रोगों की वृद्धि और रोगियों का शीघ्र अन्त है। क्षणभर बाद के लिए यह समझ भी योग्य मानी जाय, तोभी रोगी स्त्री का अथवा पुरुष का निरोगी पुरुष से अथवा स्त्रीसे विवाह करना निरा जंगलीपन है! सिवाय इसके, उन रोगों के भावी संततिपर परिणाम होते हैं, इससे उस जंगलीपन को सैतानी स्वरूप प्राप्त होता है। ऐसी विक्षिप्त कल्पनाओं के वश होकर समझदार स्त्रीपुरुष विवाहबद्ध न हों। पाप के कारण यदि दुःख भोगना पडता है, तो उस भार को अपने खुद ही उठावें और अन्य उपायों से वह भार हलका न होता हो, तो बेहत्तर है, कि अपन खुद उस भार से कुचलकर मर जांय, परन्तु आगामी पीढीके सिरपर अपने रोगों का बोझा निर्दयता से डाल देना अमानुष कृत्य है!

*

विवाह का सत्य हेतु।

विवाह का एकमेव तथा सत्य हेतु योग्य स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से मानवी जीवन को पूर्णत्व लाना और तद्द्वारा सुप्रजोत्पादन करना ही है। ऐसे ही विवाह से प्रेम की पराकाष्टा होती है, सौख्य को उत्कटत्व आता है और जीवनसंग्राम सुसह्य होकर मानवी जीवन सार्थ होता है।

शरीरशास्त्रानुसार शरीरवृद्धि के अनुरूप जो गर्भाधानकाल आता है, उस में और सब देशों में कानून से मान्य जो पतिपत्नीसम्बन्ध का काल है, उसमें बहुत विरोध है। प्रजोत्पादनकी दृष्टिसे यौवनाप्राप्ति का काल ही गर्भाधानकाल माना जाता है। समशीतोष्ण कटिबन्ध के देशों में लडकियों के बारे में यह काल लगभग १३ से १६ वर्ष की अवस्था में आता है और लडकों के बारे में यह काल उनकी परिस्थिति और बर्ताव के अनुसार १५ से १८ वर्षकी अवस्था में आता है। पौष्टिक पक्वान्न, चटपटी नमकीन चीजें, चाय काफी सरीखे पेयपदार्थ, तबाखू, शहर का रहना, सिनेमा, नाटक उपन्यास इत्यादि से दिलपर जो गंदे असर होते हैं, ऐसे कारणों से मानवी जीवन का यह अत्यन्त महत्व का काल बहुश में निसर्गविरुद्ध पद्धति से जो योग्य समय है, उस के पहिले ही प्राप्त हो जाता है। उष्णता के कारण प्राणिमात्र के शरीरों की जीवन-शक्ति को इन से प्रेरणा मिलती है और असमयमें उनकी वृद्धि होती है। इसी नियम के अनुसार उष्ण कटिबन्ध के देशों में लडकियों को नौ दस वर्ष की अवस्था में भी रजोदर्शन होने लगता है। इसलिये पतिपत्नी का सम्बन्ध होने के लिये योग्य काल कौनसा है, इसका निर्णय बहुत विचार करके ठहराना योग्य होगा।

प्रजोत्पादक गात्रों की और शक्ति की यह जो

असमय में पूर्णता हो जाती है, वह किसी तरह लाभदायक नहीं है; क्योंकि ऐसे व्यक्ति अल्पायुषी ही होते हैं। उन के सौन्दर्य का शीघ्र ही नाश होता है और त्वरित ही उनपर वार्धक्य की ध्वजा फहराने लगती है। इस के विपरीत जिनके गात्रों की और शक्ति की वृद्धि देर से होती है, जिन को यौवनदशा देर से प्राप्त होती है, उनमें वृद्धावस्थातक शक्ति, सौन्दर्य और प्रजोत्पादकत्व स्थिर रहता है। इसलिये ऐसा करना चाहिये, कि जिससे कुमार-अवस्था अधिक कालतक टिकेगी और कुमारावस्था का नाश करनेवाले सब साधनों को घातक जानकर उन को दूर करना चाहिये।

यह धारणा सर्वत्र हुईसी दीखती है, कि रजोदर्शन होते ही लडकी गर्भाधान के योग्य हो जाती है। परन्तु यह भ्रम है। सुप्रजाजनन के लिये उन्हीं स्त्री-पुरुषों का संयोग होना उचित है, कि जिनके शरीर की पूर्ण वृद्धि हुई है। शारीरिक पूर्ण वृद्धिका मतलब है, शरीर के प्रत्येक विभाग की पूर्ण वृद्धि। परन्तु प्रथम रजोदर्शन के समय शरीर के अस्थियों का पूर्ण विकास नहीं होता और अस्थि के मायने स्नायु, मज्जा, पचनाशय इ० संस्थाओं का सर्वस्वी आधार है। अर्थात् ऐसे समय गर्भाशयसरीखे प्रजोत्पादन के गात्रों का विकास अपूर्ण होता है। इसलिए प्रथम रजोदर्शन से इतना ही समझना चाहिये, कि शरीर के अन्य गात्रों के साथ इन गात्रों का भी विकास पूर्णत्व के मार्गपर है।

शरीर में कुछ अस्थियां ऐसी हैं कि, जिन का विकास २५ वर्ष की अवस्थातक पूरा नहीं होता। शरीर की सब हड्डियों में पहिले कन्धों की हड्डियां अस्तित्व में आती हैं और १८ वर्षतक उनका पूर्ण दृढीकरण नहीं होता। कन्धे, पैर, पेट इत्यादिका हड्डियां २५ वर्षतक पूरी होती रहती हैं। इस से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि, २५ वर्ष के पहिले रजोदर्शन होना स्त्रियों के पूर्ण शारीरिक विकास का निदर्शक नहीं है? सूक्ष्म निरीक्षण से मालूम होगा, कि शीत कटिबन्ध के शुद्ध वातावरण में पली हुई स्त्री को शारीरिक पूर्णत्व आने के लिये २४ वर्ष लगते हैं। उनकी उंचाई १६ या १८ वर्ष में पूरी होगी और यदि उनके मनपर बुरे संस्कार न होने पावें, तो २४ वर्ष की अवस्थातक वे हृष्टपुष्ट तथा सुदृढ होंगी और उनका विकास योग्य रीतिसे होगा।

समशीतोष्ण तथा उष्ण कटिबन्धों में यह काल कुछ वर्ष पहिले आवेगा; तथापि प्रथम रजोदर्शन के पश्चात् स्त्रियों का पूर्ण विकास होने के लिए कुछ वर्षों का अवधि अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम रजोदर्शन का काल गर्भाधान का काल नहीं है, यह सिद्धान्त किसी भी देश में और काल में सत्य ही ठहरेगा।

शीत प्रदेशों में पुरुषों का पूर्ण विकास २८ से ३० वर्ष की अवस्थातक होता ही नहीं। उष्ण देशों मे इससे पांच छः वर्ष पहिले होगा। अर्थात् इसके पहिले किये हुए अत्याचारों का उनके विकासपर बहुत ही भयानक परिणाम होता है। पौरुष का पूर्ण उदय होने के कार्य में ये अत्याचार बहुत बडे विघ्न हैं। जीवनशक्ति का प्रवाह भलते ही मार्ग से जारी होने के कारण उनके शरीर कमजोर, हीन और रोगी बन जाते हैं। स्वैराचार में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले इस बात से सावधान रहें।

इसी तरह २० से २४ वर्ष के पहिले ही जो स्त्रियां गर्भवती होती हैं, उनके बारे में स्वैराचार के परिणामों को छोड दें, तो भी उन की जीवन-शक्ति का व्यय असमयपर गर्भपोषण के कार्य में होने से, निःसन्देह वे स्वयं निर्बल रहतीं और निर्बल संतति को जन्म देती हैं।

जिन के शरीरों का विकास पूरा नहीं होता, उनको संतति हुई, तो वह अशक्त और रोगी होती है और बहुधा बाल्यावस्थामें ही परलोकमें पहुंचती है। क्वचित् वे बालक कुछ रौनकदार दिखें, तो भी तारुण्य का सौभाग्य उन्हें नहीं मिलता, बुढापे

तक जीनेकी आशा कहांसे हो ? इसलिए १८-२० वर्ष के पहिले स्त्रियों की संतति हुई, तो वे स्वयं अशक्त और रोगी होकर उसी तरह की संतति को जन्म देती हैं। अर्थात् इस से उनका संसार अनेक आपत्तियों का आगर बन जाता है और असमयपर उन्हें वार्धक्य आता है।

इसी तरह जो पुरुष २८ या ३० वर्ष के पहिले गर्भाधान करता है अथवा ब्रह्मचर्यविघातक कृत्यों का अवलंब करता है, उसके शरीर की बाढ मारी जाती है, सब गात्र निःशक्त बनते हैं, स्नायु कमजोर और रोगग्रस्त होते हैं, मज्जातंतु कार्यक्षम नहीं रहते, सदैव के लिए बुद्धिमांद्य आता है और स्मरण-शक्ति का ऱ्हास होता है। दुनियां में अपना नाम गर्जे, ऐसी धमक उस पुरुष में बिलकुल नहीं आ सकती, किन्तु रोग, असमय वार्धक्य और मरण से उस बिचारे का जीवित व्यर्थ हो जाता है।

अकालिक पतिपत्नीसम्बन्ध के विषय में एक ग्रंथ-कार के निम्न विचार मननीय हैं।

" अत्यन्त बाल्यावस्था में जो सम्बन्ध हुए हैं, वे हमारे मत से बहुत आपत्तिजनक हैं। बहकी हुई मनोविकार की लहरों के अधीन होकर अनेक प्रसंगों में युवकयुवती अविचार से अन्धे बन जाते हैं और विवाहित होकर प्रजोत्पादन करते हैं। इस का परिणाम है, पश्चात्ताप और दुःख ! प्रेम की कविकल्पनाएं काव्य ही में रह जाती हैं और प्रत्यक्ष सृष्टि में जीवनकलह का भयानक स्वरूप जब चिंताओं, अडचनों, आपत्तिओंसे व्याप्त नजर आता है, त्योंहि इन अल्पवयस्क रसिकों के अन्तःकरण निराशा से मुरझा जाते हैं, किम्बहुना परस्पर के सम्बन्ध में सहानुभूतिशून्य भी बन जाते हैं। हर कोई चाहेगा कि, ऐसे उदाहरण काल्पनिक ही हों, परन्तु वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है ! जिन के पास अनुभव की, तारतम्य की और तेजस्विता की पूंजी अत्यन्त अपर्याप्त है, ऐसे कम उमरवाले लडके कौटुंबिक जिम्मेदारीका असह्य भार अपने कन्धोंपर लादे हुए हमेशा देखने मिलते हैं। अल्पवयी पालकों के हाथ में संसारनौका की पतवार चली जाय, तो प्रपंच की खराबी, बच्चे रोगी होना और उनके संगोपन में त्रुटियां होना, ये बातें आश्चर्यजनक नहीं, क्रमप्राप्त ही हैं।

प्राचीन जर्मन लोग (आर्यलोग भी) तीव्र ब्रह्म-चर्यव्रत का पालन करके पच्चीस वर्ष के बाद ही विवाह करते थे, इसलिए आकारसौष्ठव तथा सामर्थ्यसम्पन्नतायुक्त संतति के विषय में वे सारे युरोपखण्ड को आश्चर्य से दंग कर देते थे। जिसके मुंहपर मूंछ की रेखा निकल रही है, परन्तु गाल बैठ गए हैं, ऐसा छोकरा वीर्यसम्पन्न हो नहीं सकता, यह बात हर कोई समझ सकता है। इसी तरह यह भी स्पष्ट है, कि गर्भवती अवस्था में जिसको बीमारी होती है, काम करने से और स्तनपान कराने से थकावट आती है, ऐसी युवती रोगी रहेगी और उस के बच्चे अशक्त, ठूंठे और मरतुल्ले ही होंगे।

इसलिए पहिली अत्यन्त महत्व की बात यह है, कि जबतक शरीर का सर्वांगीण विकास पूरी तरह नहीं हुआ, तबतक स्त्रीपुरुष परस्परसम्बन्धके लिए प्रवृत्त न हों। निसर्गतः प्रत्येक प्राणी के विकास की प्रवृत्ति पूर्णत्व की ओर रहती है। इसलिए जिसकी बाढ अपक्व अथवा असमयपक्व हुई है, ऐसे दंपत्य से निरोगी और तेजस्वी संतति की आशा करना व्यर्थ है। इसी तरह यह भी निर्विवाद है, कि जिन गात्रों के व्यापारों से सशक्त और पूर्ण विकसित व्यक्तियों के शरीर पर भी प्रतिकूल परिणाम होता है, ऐसे व्यापार अपूर्ण विकासवाले व्यक्तियों की बाढपर और तेजस्वितापर जाहिर हमला करेंगे।

आर्थिक अथवा किसी भी ऐहिक प्रलोभन की शिकार बनकर बेजोडवाले विवाह होने न देना चाहिये। ऐसे विवाहों का दुःखकारक परिणाम निश्चित है। दंपत्य में से पत्नी जहां प्रजोत्पादन के लिये असमर्थ हुई, वहां पति अनीति में प्रवृत्त होता है और पत्नी मात्सर्य से बेकाम होकर अनर्थ करती है। ऐसे बेजोड दंपति को संतति हुई भी, तो वह

अवश्य तोलामाशा प्रकृतिवाली और शक्तिबुद्धि में कौडीमोल रहती है।"

बुढापे में विवाह के लिए आतुर होनेवाले वृद्ध कपियों को चाहिये, कि वे इस उपदेश को अपने अन्तःकरण में दृढमूल कर लें।

बेजोड विवाह करके बहुत से दंपत्य अपने ऊपर अनर्थपरंपरा लाते हैं। यह बात उमर में अथवा परिस्थिति में अत्यन्त असमानता होने से होती है। विशेषतः ये बातें उस हालत में जरूर ही होती हैं, जहां बूढा परन्तु श्रीमान् वर हो और तरुण परन्तु नादान वधू हो। अर्थात् ऐसे दंपत्यों का निसर्ग दावेदार बनता है, लोगों में निंदा-अपवाद उठते हैं, संतति के जनकत्व के बारे में शंकाएं उत्पन्न होती हैं और पतिपत्नीप्रेम के बारे में ३६ का अंक हमेशा कायम रहता है। उमर, स्वभाव, मन की प्रवृत्ति, रुचि, मनरंजन इत्यादि हरएक बात में इन दोनों में विरोध दृग्गोचर होता है। अठारह वर्ष की एक सुजान तरुणी का किसी वृद्ध आदमी से विवाह ठहरा। तब उस तरुणी ने अपने मांबाप से साफ तौर से सवाल किया, कि "मेरा उसको क्या उपयोग है? और उसका मुझे क्या उपयोग है?" वृद्धतरुणीविवाह का परिणाम निश्चित है। पत्नी आत्मघातकी अनीतिका कोई कृत्य करती है और बूढे को क्षय की बाधा होती, यही ऐसे विवाह का फल है।

वायुमान, स्वभाव और आसपास की परिस्थिति के मनपर होनेवाले परिणाम, इन कारणों से बहुधा व्यक्तिशः शारीरिक पूर्णत्वका काल भिन्नभिन्न देशोंमें भिन्नभिन्न रहता है। तथापि ऐसा भेद होते हुए भी प्रजोत्पादन का काल सामान्यतः ठहराने में कोई अडचन नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से यह पाया जाता है, कि पुरुषों को २५ वर्ष के भीतर ब्रह्मचर्या-श्रम की समाप्ति करना न चाहिये। तीस वर्षतक ठहरें, तो अधिकस्याधिकं फलम्।

इसी तरह स्त्रियों को गर्भधारण के विषय में अपनी जान को धोखे में डालना पडता है, अत्यन्त कष्ट उठाकर अपत्यसंगोपन करना पडता है और जिम्मेदारी के साथ संसारशकट चलाने का कार्य सम्हालना पडता है। ये बातें सुसाध्य और सुखकर होने के लिये शारीरिक पूर्ण विकास की नितांत आवश्यकता रहती है। इसलिये वे किसी तरह के प्रलोभन में न पडें और कमसे कम १६ से २० वर्षतक प्रजोत्पादन के लिये तैयार न हों। २४ वर्षतक वे व्रतस्थ रहें, तो अधिक ही सुख होगा।

दंपत्य के वयों में कितना अन्तर हो? इस विषय में निम्न बातों पर ध्यान देने से सर्वसाधारण नियम ठहराये जा सकते हैं-

प्रसूति, आरोग्यविघातक रहनसहन और पति की ज्यादती, इत्यादि कारणों से पति की अपेक्षा स्त्रियों को बुढापा जल्द आता है। इसलिए पति से पत्नी की उमर तीन से लेकर छः वर्ष तक कम होना इष्ट है।

सारांश यह, कि शारीरिक पूर्ण विकास जिसका हुआ है। ऐसे तीस साल की उमरवाले तरुण के लिये उत्तम बात यह है, कि वह २४ से कम उमरवाली वधू से सम्बन्ध न करे।

एवंगुणविशिष्ट वधूवरों का विवाह श्रेष्ठ वैवाहिक जीवन की सीढी है।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान्गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥४७॥
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥४८॥
(सुश्रुत शारीर० अ० १०)

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ (मनु ३।२)

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥
(म० ३।४)

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती॥
(म० ९।९०)

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
(म० ३.६०)

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।
(मनु० ३।६२)

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५७॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५८॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥
(मनु० ३)

"१६ वर्ष के पहिले स्त्री में यदि २५ से कम उमर-वाले पुरुषद्वारा गर्भस्थापना हो, तो संतति अल्पायु, दुर्बल होगी। इसलिये पूरी बाढ होतेतक गर्भाधान करना न चाहिये।"

"पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद विवाह करना चाहिये। विद्या समाप्त करके (२४, ३६ अथवा ४८ वर्षतक ब्रह्मचर्य से रहकर) सुलक्षणी, सवर्णी वधू से विवाह करना चाहिये। कुमारी ऋतु-मती हो जाय, तो भी योग्य पति मिलने के लिये तीन वर्षतक राह देखना।"

"पति और पत्नी परस्पर के योग से संतुष्ट रहें। जिस कुल में इस प्रकार संतुष्ट पतिपत्नी हों, वहां स्थिर कल्याण रहेगा। स्त्री यदि तेजस्वित और आनंदित हो, तो उस से संपूर्ण कुल तेजस्वी और आनंदित होता है। पिता, भाई, पति, देवर स्त्री का सत्कार करें। जहां स्त्रियों का सत्कार होता, वहां देवता संतुष्ट होती हैं और जहां स्त्रियां असंतुष्ट रहें, वहां सब काम निष्फल होते हैं। जिस कुल में स्त्रियां शोकसंतप्त होती हैं, उस कुल का नाश होता है। जहां स्त्रियां आनंदित रहती हैं, वह कुल बढता जाता है। इसलिये उत्कर्ष की इच्छा रखनेवालों को चाहिये, कि वे स्त्रियों का आदरसत्कार करें।"

जिसने यह निश्चय कर लिया, कि मुझे विवाह करना है, उसके सामने पहिला महत्व का प्रश्न यह आया है, कि 'मेरे सामने जो लडकियां आई हैं, उन में से किस को पसन्द करना चाहिये? अपना जीवित किसको समर्पण करना चाहिये? कौनसे संशोधनसाधन का मैं उपयोग करूं, जिससे चुनाव का यह मेरा काम यशस्वी होगा? किसके स्वभाव और संस्कृति से मेरा स्वभाव और संस्कृति जम जाय और बेजोड विवाह के दुःखदायक परिणामों को मैं टाल सकूंगा? इस संशोधनकार्य में प्रेम के प्रश्न को महत्व कितना दिया जाय? क्या कोई शास्त्रीय मार्ग ऐसा है, कि जो इस काम में उपयोगी होगा? अथवा क्या मैं अज्ञान से और गतानुगतिक अन्धता से दैवाधीन होकर पसंदगी कर लूं?

ये और इसी तरह के प्रश्न कभी न कभी विचारी लोगों को त्रसित करते है। बहुजनसमाज (१) संपत्ति, (२) सामाजिक दर्जा और (३) विषयसुख की इच्छा- इनमें से मुख्यतः तीसरी वासना से ही केवल अन्धा बनकर यह वधू-वर-संशोधन का काम करता है।

शास्त्रीय मार्ग ।

जगच्चक्र को ठीक तरह से घुमानेवाले वस्तुमात्र के जो नियम ईश्वर का श्रेष्ठत्व सिद्ध करते हैं, उन में से एकाध नियम जीवन का सहचर ढूंढने के बारे में भी होना चाहिये। परन्तु दुर्दैव की बात है, कि असाध्य बातों के पीछे लगकर मानवी प्राणी कायिक, वाचिक तथा मानसिक मूर्खता इस कदर कर रहा है, कि उस के कारण उसका अन्तर्यामी शुद्ध सच्चिदा-नन्द स्वरूप अज्ञान से आविष्ट हो गया है। इसी का परिणाम है, कि उस के सुख के लिये, कल्याण के लिए, विधाताने बनाए हुए अन्य सब नियमों को जिस तरह वह तोड रहा है, उसी तरह संशोधन के इस नियम को भी वह विक्षिप्त कल्पनाओं के

चक्कर में आकर, पैरों तले कुचल रहा है !

भिन्न भिन्न विवाहपद्धतियां।

भिन्न भिन्न राष्ट्रों के लोग कौनसी विविध पद्धतियों से विवाहसम्बन्ध जमाते हैं, इस बातपर थोडा दृष्टिक्षेप करने से कई आश्चर्यकारक प्रघात हमें देखने मिलेंगे।

प्राचीन अस्सिरियन लोगों में प्रतिवर्ष एक जत्रा भराई जाती थी। उस जत्रा में एक प्रान्त की समूची सौभाग्यकांक्षिणी लडकियों का जाहिर नीलाम होता था। पहिले अत्यन्त सुन्दर कुमारियों का नीलाम होता था और धनवानों की स्पर्धा के कारण उनका मूल्य परमावधि को पहुंचता था। इस तरह अत्यन्त स्वरूपवती का नीलाम होते ही सृष्टि-देवता की कम प्यारी कन्यका आती थी और अब नीलाम का पलडा उलटता था। 'कीमत कितनी ज्यादा देंगे ?' यह सवाल अब दूर किनार रह जाता और प्राध्यान्य इस प्रश्न को दिया जाता था, कि कितनी कम कीमत लेओगे ? आखिर सब से कम कीमत देनेवाले की वह पत्नी बन जाती थी और अत्यन्त सुस्वरूप कन्या के नीलाम की रकम कुरूप लडकियों को दहेज कहकर बांटी जाती थी। ऐसी हालत में आधुनिक स्त्रियों की अपेक्षा प्राचीन अस्सिरियन बहिनों को एक फायदा होता था- यह कि उनमें से किसी को भी पतिविरहित जीवित बिताने का दुर्भाग्य प्राप्त न होता था।

चीनी मनुष्य अपनी और चीजों को बेचने के बारे में जितनी गफलत कर सकता है, उतनी ही अपनी कन्या की बिक्री में भी करता हुआ वारंवार दीखता है।

मूर लोगों में लडकियों का बाल्य-अवस्था ही में वाग्दान किया जाता है और यदि नियोजित पति सुशील और निर्णीत द्रव्य देने में समर्थ हुआ, तो कन्या की पसंदगी-नापसंदगी की बाते स्त्रैण मूर्खता में शुमार होती थीं और उसकी सब प्रार्थना निष्फल होती थी।

सुमात्रा में लोग अपनी दुलहिन को स्वतः खरीद लेते हैं और अगर सौदा महगा पडे, तो उसको जुवे के दाव में लगा देते हैं अथवा किसी तरह उस से निबटारा कर लेते हैं।

तुर्की पुरुष को चार स्त्रियां ब्याहने का हक है। परन्तु उन लोगों में विवाहकाल तक पतिपत्नी की जानपहचान किसी तरह हो नहीं सकती।

पश्चिम तार्तरी लोगोंमें लडकियोंका भाव बीस से लेकर पांचसौ 'रबल' तक जा सकता है; तथापि गडरिये सरीखी पिछडी जातियों में अच्छी शानदार लडकी दोतीन 'रबल' को भी मिल सकती है।

सूंगा नाम के तार्तरी लोगों में घोडों की शर्यतों से विवाहसम्बन्ध निश्चित किये जाते हैं। लडकी को अत्यन्त चपल घोडेपर दौडती हुई छोड देते हैं और जो कोई उसको गांठ ले, वह उसे अपनी पत्नी समझकर अपने तंबू में ले जावे। बाद में एक दावत दी जाय और वहीं शादी के सब दस्तूर खतम !

सैबीरिया के एक विभाग में ऐसा रिवाज है, कि शादी की दावत हो जाने पर पतिदास्यनिदर्शनार्थ वधू अपने वर के पैर का बूट निकाले। दूसरे विभाग में लडकी का बाप दामाद के हाथमें एक चाबुक देता है और अपनी स्त्री को राहपर लाने के लिये पति उसकी पीठपर जितने की जरूरत हो, उतने वार करता है !

ऊपर लिखे जंगली और आधजंगली लोगों के विवाहसम्बन्धों को और आधुनिक सुधरे हुए-आधुनिक प्रगतिपर सुधरते जानेवाले- राष्ट्रों के विवाहसम्बन्धों को बारीक नजर से देखें, तो दोनों में एक साधारण वैशिष्ट्य देखने मिलता है; यह कि दोनों जगह व्यापक अर्थ से स्त्रियों की किसमत में दास्य अभीतक कायम है।

संपत्ति के अधिकार का उदय होते ही स्त्रियों को खरीदने की प्रथा रूढ हुई नजर आती है। संपत्ति के अधिकार की कल्पना आखिर यहांतक पहुंच गई,

कि स्त्रीपुत्रों को भी लोग अपनी जायदाद समझने लगे और आजतक यह कल्पना छूटी नहीं, प्रत्युत आजकल के कानून में भी इस कल्पना को पूरा स्थान है।

आधुनिक सुधरी हुई विवाहपद्धति।

आधुनिक विवाहपद्धति में क्या सुधार हुआ है ? किस उच्च हेतु से प्रेरित होकर आजकल के विवाह होते हैं ? जंगली विवाहपद्धति में और इस नामधारी सुधारक पद्धति में ऐसा कौनसा महत्व का फरक है ? सूक्ष्म विचारपूर्वक तुलना और पृथक्करण किये जाने पर भिन्न दीखनेवाली इन दो विवाहपद्धतियों में बहुत ही थोडा फरक बचता है। "रसोई बनाने और कपडे धोने के लिए पुरुष को एक औरत की जरूरत रहती है; सुखसुविधा के लिए और अपने विकृत मनोविकारों की क्षुधा शांत करने के लिए उस को एक योग्य स्त्री की अपेक्षा रहती है। उसको स्त्री इसलिए चाहिये, कि विधाताने स्त्रीपुरुषसम्बन्ध ठहरा दिया है। परन्तु "जीव जीवांत घालावा। आत्मा आत्म्यांत मिसळावा।+" इस आध्यात्मिक विवाह का उस को ज्ञान करा देने के बदले कानूनी और तांत्रिक विवाह की शिक्षा उसको दी जाती है। ये विवाह केवल कीर्ति, गृहस्वास्थ्य और सामाजिक दर्जा हासिल करने के लिये किये हुए स्त्रीपुरुषों के शरीरसंयोग हैं !"

"ऐसे विवाहों में वधू-संशोधन कैसे होता है ? अपने सामने जो लडकियां आवें, उनमें से अपनी सर्वांगीण सुविधा की दृष्टिसे जो सबमें इष्ट ठहरे, उस को आधुनिक सुधारक चुन लेता है। झकफक पोशाक करके वह वधूसंशोधन के दौरेपर निकलता है। बनावटी चेहरे लगाकर स्त्रीपुरुष जैसे नाचते हैं, उसी तरह ये लोग नखरों के पीछे पीछे दौडते हैं-

तुम्ही माझिया जिवांतील जीव।
म्हणोनि अत्यन्त लाघव।
दाऊनियां चित्त सर्व।
हिरोनि घेतलें ॥ ×

इस वचन के अनुसार रसीली मीठी मीठी गप्पों से वे पागल बन जाते हैं और चेहेरे के पीछे मस्तिष्क में क्या है, इसका ठीक कयास बांधने की उनमें कुवत ही नहीं रहती। इस तरह भिन्नभिन्न स्त्रियों के साथ नाचने के बाद वह एक स्त्री के साथ विवाह करने का निश्चय करता है और वह स्त्री भी बहुधा कुछ कारणों से विवश होकर उस मांग को मंजूर कर लेती है। बाद में दोनों किसी पुरोहित को या मॅजिस्ट्रेट को गांठते हैं और स्त्री के पालनपोषण के लिए पुरुष वचनबद्ध होता है और पुरुष की आज्ञा-पालन के लिए स्त्री वचनबद्ध होती है।

ऐसे विवाहों का कडुवा फल।

ऐसी शादियों के नतीजे हमेशा देखने में आते ही हैं। वैवाहिक जीवनरूपी वसंत की बहार खतम होने के पहिले, कोई उपेक्षणीय अपमान की बात होते ही जीवनरूपी गुलाब के कांटे दीखने लगते हैं और अतिरिक्त विषयसेवन से तज्जन्य सुख की ग्लानि आते ही जीवन के खुले समरांगणपर ये दोनों दाखल होते हैं। प्रापंचिक कैंची फिरने लगती है और केवल विवाह से बद्ध परन्तु अन्तःकरण से विलग ऐसे इस दंपत्य का जीवित अनेक आपत्तियों, उत्साहभंग, संशयकल्लोल, निराशाओं और दुःखों की एक मालिका ही बन जाती है। इस तरह का जीवित लौकिक सजावट में कभी सुबक दीखेगा और कभी घृणास्पद, दारिद्र्यपंक में नखशिखान्त डूबा हुआ दीखेगा!

ऐसा न हो तो आश्चर्य है ! हमारे इस सुधारणा-युग में वैवाहिक सुख का शुद्ध रसास्वाद लेनेवाले दंपत्य दुर्मिल हैं और यह अपरिहार्य हो गया है। "ऐसा क्यों ? " इस का उत्तर चाहिये हो, तो आप विवाहित स्त्रीपुरुषों को खोदखोदकर पूछें, कि तुम

+ जीव को जीव में डालना चाहिये। आत्माको आत्मा में मिला देना चाहिये।

× तुम मेरे जीव में के जीव हो; इसलिये अत्यन्त लाघव बतलाकर तुमने सारा चित्त हरण कर लिया है।

विवाहित क्यों हुए? आप को मालूम हो जायगा। क्योंकि सत्यमार्ग को छोडकर अन्य तरह के कारण और परिस्थिति इन के विवाह को कारणीभूत हुई रहती है। वास्तविक देखा जाय, तो मानवी जीवन को सुखमय और यशस्वी करने के लिये पति का अथवा पत्नी का योग्य चुनाव करना इतना महत्व का काम है, कि उस के मुकाबले जीवित की कोई भी ऐहिक साध्यइच्छा फीकी पड जाती है और इसीलिये इस कार्य को उत्कृष्ट रीतिसे पार पाडने के लिये सब तरह की विचारसरणी, नाना कल्पना और मत, इनसे जितनी मदद ले सकें, उतनी आवश्यकही है।

वधूका पाणिग्रहण और जीवनक्रय।

किसी को जमीन खरीदना हो, तो वह तज्ज्ञोंद्वारा उस जमीन की सर्वांगीण देखभाल करता है और ऐसी तजवीज करता है कि उस में जो पूंजी खर्च होती है, उसपर किफायत से ब्याज उस जमीन की पैदावारी से जरूर मिले। जमीन खरीदनेपर उसको कुछ जानवरों का संग्रह करना हो, तो भी वह प्राणिशास्त्र के अनुसार अपने जानवरों की शरीररचना की परीक्षा करा लेता है। केवल इतना ही नहीं, किंतु इष्ट हेतु साध्य होने के लिए जो आनुवंशिक गुण चाहिए, वे उन जानवरों में हैं, इस बात की खातरजमा करा लेता है।

फरक कहां होता है ?

परन्तु वही मनुष्य यदि अविवाहित हो और अपने लिये औरत पसन्द करने लगे, तो किसी भी नियम की अथवा विशिष्ट गुणों की पूंछतांछ करने के लिए वह कोई कष्ट न उठावेगा। शक्ति, सौंदर्य अथवा संसारदक्षता इनमेंसे एकाध गुण प्रमुखता से जहां उस को दिख पडा, वहीं वह दूसरी किसी तरह की चिकित्सा करने की झंझट में न पडकर, इस भरोसेपर, कि यह स्त्री अपने जीवित की योग्य अर्धांगी ठहरेगी, उसका पाणिग्रहण कर लेता है और अपने आपको यह आश्वासकी देता है, कि मैंने औरत की पसन्दगी का काम कैसे उमदा तरीके से कर लिया? और मन के लड्डू खाना शुरू कर देता है। परन्तु भविष्यकाल ऐसे मनुष्य को लड्डू के बदले पत्थर ही खिलाता है।

पत्नी की, जमीन की अथवा जानवरोंकी पसन्दगी की तुलना करना कई लोगों को अनुचित मालूम होगा। तथापि इसमें सन्देह नहीं, कि यह दृष्टांत समर्पक है। जिस प्रकार योग्य रीतिसे पूंछतांछ कर के जमीन खरीदने से धोखा नहीं हो सकता, उसी प्रकार से पत्नी की भी अचूक पसन्दगी करना शक्य है। फरक हुआ भी, तो वह इन दो चुनावों के बारे में महत्व देने का है। बहुतेरे लोग जमीन अथवा जानवर खरीदने के पहिले, अथवा सट्टे का रोजगार करने के पहिले कितनी फिकर से चिकित्सा करके सिरपच्ची करते हैं; परन्तु पत्नी को चुनने में यह फिकर नहीं दीखती। इस कथन में थोडी अतिशयोक्ति मालूम होगी; परन्तु इस बात को कोई काट नहीं सकता।

बडी भूल।

सर्वसाधारण सुधारकी विवाहों में पहिली और बडी भूल यह होती है, कि पत्नी को पसन्द करने में पति अपनी भावनाओं का और मनोविकारों का जितना उपयोग करता है, उतना वह नैतिक विचारों का जिस को आधार है, उस चिकित्सक बुद्धि का, निरीक्षण का, तुलनात्मक विचारों का और मनन का उपयोग बिलकुल नहीं करता। विवाह के लिए अन्य किसी भी हेतु की अपेक्षा आधिकतर विषयेच्छाही कारणीभूत होती है। केवल घरद्वार, लडकेबच्चे, मानपान, धनसम्पत्ति अथवा पाशवी वासनाओं की तृप्ति-इतनी ही कल्पनाओं के अधीन होकर विवाहमण्डपमें प्रविष्ठ होनेवाले तरुणतरुणी के अन्तःकरण में उच्च आशा, पवित्र आकांक्षा तथा मानवी ज्ञान के सहाय्य से दो जीवों का संयोग जमाना इत्यादि भावनाएं उठती होंगी, ऐसी कल्पना भी करना व्यर्थ है।

तथापि इसी समय मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग जोरों से बढ रहा है, कि वह यद्यपि असंख्य सामाजिक बन्धनोंसे बेजार हो रहा है, तो भी सादी रहनसहन, उच्च विचारसरणी और अधिक यशस्वी

जीवनक्रम के लिये उनके अंतःकरणमें एक अनिर्वचनीय भावना की खलबल जारी है।

पसंदगी का एकमेव सच्चा मार्ग।

वधू अथवा वर को पसंद करनेके विषयमें ऐसा नियम ही बन जाना चाहिये, कि अपनी भावनाओं तथा मनोविकारों को अलग रखकर केवल विचार ही का उपयोग करके चुनाव किया जाय। निस्सीम प्रेमकी व्याख्या करके सर्वगुणसंपन्न वधूवर कैसे होते हैं, इसका विवेचन आगे जब आवेगा, तब इस नियम का महत्त्व अधिक समझेगा।

'सकृद्दर्शनी प्रेम,' प्रणयी तरुण तरुणी में प्रेम, नूतन विवाहित दंपत्य में प्रेम, इत्यादि स्थानोंमें प्रेम शब्द का उपयोग दिशाभूल करनेवाला है, वह बिलकुल यथार्थ नहीं है। हम ऐसा क्यों कहते हैं, इसका पता शीघ्र ही लग जायगा।

जिस स्त्रीपुरुष-संयोगसे स्वर्गीय सौख्य का लाभ होकर उच्चतर सौंदर्य का तथा संस्कृति का परिपोष होता है, वही सर्वगुणसंपन्न 'लक्ष्मी-नारायण' की जोडी है। ऐसे दंपत्यों के स्वभावमें यत्किंचित् भी विरोध उत्पन्न करनेवाला स्वाभाविक दोष नहीं रह सकता। अत्यंत विषयासक्त पुरुष का साधारण विषयी वधू के साथ विवाह होने से दोनों में हमेशा झगडे हुआ करते हैं। देवधर्म, नीति-अनीति, इत्यादि बातों को पागलपन में शुमार करके जो 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' बन गए हैं, ऐसे ताजे (अपटुडेट) चुनिंदा सुधारक (?) का किसी सदाचार, सच्छील पावित्र्य इत्यादि दैवी गुणों से मंडित सनातनी वधू के साथ विवाह हुआ, तो जरूर समझ लेना, कि उनके संसारसुख का सब गुड मिट्टी हो गया!

इसीलिये दो जीवों का साहचर्य होनेके लिये दोनों के मनोधर्ममें समानता और एकत्व होना अत्यंत आवश्यक है।

वर में यदि सब से मिलजुलकर रहना इत्यादि सामाजिक गुणों का उत्कर्ष हुआ हो, तो वधूमें भी वेही गुण उत्कटतासे रहने चाहिये। वर यदि धर्मनीतिसे प्रेम रखता हो, तो वधूकी प्रवृत्ति भी वैसीही हो। पुरुषमें विचारचिकित्सा और ग्रहणशक्ति का पूर्ण विकास हुआ हो, तो स्त्री भी उसी पद्धति से सुशिक्षित होनी चाहिये। इसी तरह मनोवृत्ति और स्वाभाविक प्रवृत्ति के भी विषयमें पतिपत्नीमें पूर्णत्व से न हो तो मुख्यतः साधर्म्य रहना आवश्यक है।

कुछ अपवादोंके विषयमें विचार।

उपर्युक्त नियम को अर्थार्जनशक्ति के समान एक दो अपवाद हो सकते हैं। पुरुष भरपूर पैसा कमानेवाला है, परंतु बेहद खर्च करनेवाला भी है; तो भी उसकी स्त्री मितव्यय से संसार करनेवाली होनेसे उसकी संपत्ति बढेगी। तथापि यह सुख का गौण साधन है; इसलिये ऐसा स्वाभाविक विरोध आवश्यक है या नहीं, यह ठहराना संशयास्पद है।

इसके बाद ऐसा प्रश्न आता है, कि क्या 'कामोपभोगपरम' पुरुषको अत्यंत विषयासक्त स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये? इसका यही उत्तर है, कि अवश्य करना चाहिये! ऐसा न हो, तो पतिपत्नी में परस्पर के विषयमें तिरस्कार उत्पन्न होगा और गृहकलह होंगे; विभक्त होनेकी स्थिति आवेगी। परंतु दोनों यदि एकही से विषयलंपट हों और संयमका पालन करनेवाले न हों, तो शीघ्र ही दोनोंको क्षयकी बाधा होकर शीघ्रही दोनोंकी अकालिक मृत्यु होगी। इस तरह मानवी जीवन के लिये नालायक व्यक्तियों की अडचन कम होने से उच्चतर आकांक्षा रखनेवाले लोग अधिक सुख से कालक्रमण कर सकेंगे।

एक यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है, कि क्या विध्वंसक, घूने, शीलभ्रष्ट, जंबुकवृत्तिवाले, अथवा यों कहें कि पतितहृदयी, चोर अथवा खूनी मनुष्य का समान वृत्तिवाली स्त्री के साथ विवाह किया जाय? पहिले तो प्रयत्न ऐसा हो, कि ऐसे नीच मनुष्य को विवाहित होने न देना चाहिये और विवाह करनाही पडे, तो स्वाभाविक पूरा मिलान करने के लिये उसी मनोवृत्ति की स्त्री के साथ किया जाय। इसपर कोई यह आक्षेप करेगा, कि सुशील स्त्री से उसका विवाह किया जाय, तो

उसके स्वभाव में योग्य परिवर्तन होगा; तब यही क्यों न किया जाय? परंतु यह कहना स्वभावधर्म के तत्त्वज्ञान के खिलाफ है। स्त्री के कारण पति का सुधार होना नियम नहीं, अपवाद है; इसीलिये ऐसे प्रकार क्वचित् ही देखने मिलते हैं, अथवा प्रत्यक्ष सृष्टि में नहीं, किंतु ललितवाङ्मय में ही देखने मिलते हैं, ऐसा कहना अधिक योग्य होगा। इस तरह प्रतिकूल मनोधर्मवाले वधूवरों का विवाह होनेसे जो सर्वसाधारण परिणाम हम देखते हैं; वह यही है, कि स्त्री का जीवित निष्फल और पुरुष का जीवित दुःखी कष्टी होता है।

ऊपर लिखे अपवादों का विचार कर लेनेपर भी हमारे उपर्युक्त नियम को पुष्टि ही मिलती है। इसलिए वधूवरों के स्वभावों में और छोटी-मोटी मनःप्रवृत्तियों में भी अधिक से अधिक साम्य—यही यशस्वी वैवाहिक जीवन का आत्मा मानना पडता है। धर्म से मर्यादित की हुई कामवासना, आत्यंतिक अपत्यवात्सल्य, गृह तथा गृहसम्बन्धी बातें, इनके विषय में अभिमानपूर्ण प्रेम, व्यभिचार से घृणा, विचार और भावना को योग्य दिशा लग जाने से उनमें आनेवाली प्रत्युत्पन्नता, नैष्ठिक एकपत्नीव्रत अथवा अव्यभिचरिणी भक्ति, एवंगुणधर्मयुक्त वर का समान गुणधर्मयुक्त वधू से विवाह होना ही 'रत्न-कांचन-समागम' है।

बदमाशी और बुद्धूपन से पेश आने का पूर्ण सामर्थ्य, संसार की योग्य इच्छा, सात्त्विक आहार-विहार की जन्मतः अभिरुचि, उत्तम व्यवहार से द्रव्यार्जन करने की आकांक्षा, शुद्ध अंतःकरण, खुला दिल, सत्यप्रियता, दूरदर्शित्व, अनागत विधातृत्व, परिमित महत्त्वाकांक्षा, औदार्य, स्वातंत्र्यप्रियता, आत्मविश्वास, आवश्यकतानुसार स्वाभाविक सुसंबद्धता, निश्चयी स्वभाव, इत्यादि गुण जिसमें हों, वह पुरुष इन्हीं गुणों से संपन्न सहचारिणी की खोज करे।

सौंदर्य तथा पावित्र्य का रसिक; सृष्टि के और ललित कलाओं के उच्च और गंभीर दृश्यों का भोक्ता; हास्यमुख,उल्हासयुक्त, मधुर स्वभाववाला; गुणज्ञ; शांत, विचारी, चौकस और स्वतंत्र बुद्धिवाला, सुशील और पापभीरु, आशावादी, और दीर्घोद्योगी, पवित्र वस्तुपर आदर रखनेवाला धर्मात्मा; अखिल मानवजाति के सम्बन्ध में आत्मीय भावना से जिसकी अंतःकरणवृत्ति उछल रही है, ऐसा पुरुष उस वधू को पसंद करे, कि जिसमें स्वतः का स्वरूप प्रतिबिंबित हुआ हो।

स्वभावधर्मशास्त्र।

उपर्युक्त विचार, भावना और कृतिसादृश्य के खोजने में जिस तरह मानवी (Phrenology) मनोधर्मशास्त्र मनुष्यप्राणी को कल्याणकारक होता है, वैसा आजतक के उपलब्ध शास्त्रों में, किंबहुना आगे जो उपलब्ध होंगे उनमें भी, कोई शास्त्र हो नहीं सकता। इस शास्त्र का अवलंबन सुयोग्य रीति से करके वधूवरसंशोधन किया जाय, तो किसी प्रकार वैवाहिक जीवन को धोखा होने का अथवा पसंदगी में भूल होनेका भय नहीं है। अंतःकरण के दूरातिदूर स्तरों का सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले इस शास्त्र के सामने नकली चेहरे, नखरे, ढोंग अथवा मक्कारी, इन सब बातों की अच्छी फजीहत होगी।

'अहो महाशय ! परन्तु इस शास्त्रपर हमारा विश्वास नहीं जमता।' ऐसे शब्द भी यकायक निकल सकते हैं। जो ऐसा कहते हैं, अर्थात् इस शास्त्रपर जो विश्वास नहीं रखते, उन सबको हम सहानुभूतिपूर्वक यह सूचना करते हैं, कि 'आप अपनी उच्च मनोवृत्तियों का अभ्यास करके उनका संगोपन करें।' इससे थोडेही समय में इस शास्त्रपर उनका विश्वास जमने लगेगा और उन महात्माओं से बन्धुत्व का सम्बन्ध हो जायगा, कि जो उन्नतिपथ का आक्रमण करते हैं और जिनका चिरन्तन ध्येय 'प्रगति और उन्नति' है।'

पतिपत्नीमें स्नेह का पूर्ण विकास होनेके लिये कुछ नियम।

जॉर्ज स्टर्न नीचे लिखे नियम बतलाते हैं—

'समान गुणधर्म देखकर ही वधू अथवा वरको पसंद करो।

१ 'वय- श्वेतवर्णीय और कृष्णवर्णीय में विवाह

जितना निषिद्ध है, उतनाही कुमारी-जरठ-विवाह निषिद्ध है ।

२. स्वभाव- सत्त्वगुणी व्यक्ति का तमोगुणी व्यक्तिसे विवाह होने न देना चाहिए । विष्णुभक्त और चार्वाक में प्रेमसम्बन्ध असंभाव्य है ।

३. बुद्धि- मनीषी-मूर्ख, तथा विद्वान्-विदूषक ये जोडियां एकहीसी त्याज्य हैं ।

४. विचार-मत- सुधारक-सनातनी दंपत्यों को जो संसारसुख मिल सकता है, वही सुख अहंमन्य-गुणग्राही दंपत्यों को नसीब होगा ।

५. धर्म- विधर्मी वरवधू के विवाह बिलकुल न हों ।

६. रुचि- व्यवस्था-प्रिय वधू और लोसड पुरुष, अथवा ऊपर की चटकमटकवाला पुरुष और बावली वधू, इनमें विवाह होने न चाहिए ।

७. आदर- शाकाहारी और मांसाहारी वधू-वरों में सम्बन्ध न हों । यथेच्छ मांसाहारी पति और प्याज की बूतक जिसको बरदाश्त न हो ऐसी पत्नी, इनका प्रेमसम्बन्ध सर्वथा अशक्य है ।

८. जीवन का ध्येय- लौकिक दृष्टि ही पर जिन की तृप्ति होती है, वे लोग पारमार्थिक ध्येयवादियों से वैवाहिक सम्बंध न करें । कर्तव्य की भूमिकापर स्थित रहनेवालों को आजन्म कौमार्य अवस्था में सुखी रहना हजार दर्जे अच्छा है, बनिस्बत इसके कि वे ढोंगी और कर्तव्यशून्य व्यक्तियों के साथ जिंदगीभर रखडते रहें ।

सारांश, विवाह का मतलब है, तो समान गुण, धर्मवाले स्त्रीपुरुषजीवों का संगम; और यशस्वी वैवाहिक जीवन का वही सर्वस्वी आधार है । इसी तरह यह गुणसाधर्म्य देखने के लिए स्वभाव-धर्मशास्त्र उत्कृष्ट दर्पण है । आधुनिक सुधार की नवमत की धूल जिनपर से उड गई हैं, ऐसे वधू-वरों के स्वभावचित्र इस दर्पणमें स्पष्ट प्रतिबिंबित होते हैं । इसलिए इस काम में उस शास्त्रकी सहायता अवश्य ली जाय ।

क्या विवाहके लिये प्रेम चाहिए ?

प्रेम का विलक्षण स्वरूप- पूर्ण विचारी और शुद्ध अंतःकरणवाले सूज्ञों के मत से उपर्युक्त वधू-वर-संशोधन का शास्त्रीय मार्ग शारीरिक तथा मानसिक दृष्ट्या अचूक ठहरता है । इसलिए यह मत आपही से लंगडा पड जाता है, कि विवाह-बद्ध होने के पहिले नियोजित स्त्रीपुरुषों के अंतःकरण में परस्परों का उत्कट प्रेम दृग्गोचर होना चाहिए । युवकयुवती-मीलन के विषय में 'प्रेम' शब्द का जो सर्वत्र उपयोग किया जाता है, वह बिलकुल गलत है । क्योंकि विवाह के पहले वधू-वरों में जिन गुणों के उत्कर्ष की आवश्यकता रहती है, उनमें 'प्रेम' आही नहीं सकता । हम यह जानते हैं, कि फिलहाल हमारे इस विधानपर लोग दिल्लगी उडावेंगे । यह भी स्वाभाविक है, कि हमारा कथन विचार के विरुद्ध और विक्षिप्त मालूम होगा । क्योंकि आधुनिक विवाहमेंसे प्रणय की कल्पना निकाल दी जाय, तो यह संदेह है, कि उसमें कुछ बचेगा या नहीं; इसलिए हमारे सुधारक बंधु हमें जोरों से यह चेतावनी देवेंगे, कि प्रेम के अतिरिक्त विवाह हो नहीं सकता, किंबहुना मनुष्य प्राणी को दुनिया में सुख से जीना भी अशक्य है । कुछ अंश में यह कहना सच भी है । हमारे उपर्युक्त सिद्धांत का स्वरूप पूर्णतया ध्यान में आने के लिए आजकल जिसका 'प्रेम' 'प्रणय', 'जीवितसर्वस्व' इत्यादि काव्यमय नामों से संबोधन किया जाता है, उस प्रेम का विश्लिष्ट स्वरूप जान लेना आवश्यक है ।

कवियों तथा उपन्यासकारोंके प्रेमसंबंधी विचार ।

कविसम्राट् से लेकर देहाती लावनीवाले तक सबहीने अपने भलेबुरे काव्यों में प्रेमवाचक शब्दों का इतस्ततः प्रयोग सब प्रकार से किया है । उपन्यासकारोंने भी प्रेम के स्तुतिस्तोत्र गाए हैं और वाचकोंने रंगभूमिपर और इतरत्र इस प्रेम के सबके प्रत्यक्ष आचरण से सीखें भी हैं । तथापि प्रेमसुधाप्राशकों से यदि 'इस प्रेम का सत्य स्वरूप क्या है ?' ऐसा सवाल पूछने की कोई हिम्मत करे,

तो मालूम होगा, कि कवि-उपन्यासकारों के सदृश इन रसिकों ने भी प्रेम की थाँह नहीं पाई। बहुत ही शांततापूर्वक कोई चिकित्सक संशोधक काव्यों के ढेरों को और उपन्यासों के गट्ठों को छान डाले, तोभी इस 'प्रेम' की सच्ची पहिचान दिलाने में उनका जरासा भी उपयोग न होगा।

सत्य प्रेमके विषयमें अज्ञान— नकली प्रेम और शुद्ध प्रेम।

स्त्रीपुरुष-सम्बन्ध को 'प्रेम' शब्द अधूडे अर्थ से लागू करने में इन लोगों ने पहिली पर्वतप्राय भूल कर दी है। दूसरी बडी भूल इन्होंने यह की है, कि नकली प्रेम को-एक किस्म की नजरबंदी को-ये लोग सत्य प्रेम समझकर चलते हैं। पतिपत्नी का परमस्नेह केवल उन्हीं दंपत्यों में देखने मिलता है, कि जिन में मनबुद्धिशरीर-सादृश्य है। इसीलिए हमारा आग्रहपूर्वक कहना है, कि वधूवरसंशोधन के काम में विचार का-तारतम्य-बुद्धि का-उपयोग करना चाहिए; क्योंकि स्वतःके स्वभावचक्र के दांते प्रायः किसके स्वभावचक्र से मेल खायेंगे? इसका ज्ञान, विचार की और चिकित्सक बुद्धि की सहायता के बिना हो नहीं सकता। समानशीलगुणरूप आदि को देखकर यदि दो व्यक्ति विवाहबद्ध होंगे, तो सृष्टि के अन्य नियमों के सदृश उनमें भी परस्परविषयक शुद्ध प्रेम सहज ही चमकने लगेगा। इस दैविक प्रेम का निर्झर सुनीतिसंपन्न दो सजातीय परस्परानुकूल अंतःकरणों में से निकलता है; इसलिए उसका प्रवाह दोनों की जीवितयात्रा में दिनों, महीनों, वर्षों की प्रवृत्ति के साथ उत्तरोत्तर इतना स्वच्छ पवित्र और जोरदार होता जाता है, कि अंत में जिस प्रेम ही के कारण अंतःस्थ सच्चिदानंद का अस्तित्व तथा सामर्थ्य सर्वत्र प्रकट होता है, उससे वह प्रेमप्रवाह समरस हो जाता है।

मांबाप-भाई बहिनोंके विषय में प्रेम।

जिन मांबापने ज्ञानपूर्वक, आस्था से और वात्सल्य से सुप्रजाजनन किया होगा, केवल उन्हीं के अपत्यों में मातापिता के विषय में आदर और प्रेम देखने मिलता है। केवल ऐसी ही संतति में मातापिता के शरीर मनोधर्म पूर्णत्व से उतरे रहते हैं, इसलिए ये अपत्य जन्मतः 'मातृदेव' 'पितृदेव' बन जाते हैं और अपने जन्मदाताओंके विषय में संतति के शुद्ध, उत्कट तथा पूर्ण प्रेमके आदर्श येही लडके समझे जाते हैं। शांतिसौख्य के साथ ही सात्त्विक बंधुभगिनीप्रेम ऐसे ही कुटुंबों में देखने मिलता है।

ईशप्रेम।

ईशप्रेम का साकल्य से व्यक्तरूप-कम से कम इस आधिभौतिक सुधारणायुग में—देखने मिलना अशक्यप्राय है। तथापि कायिक-वाचिक-मानसिक दोषों का त्याग करके सत्कार्यरत होने के लिए दिनरात झगडने में जिनका जीवनक्रम व्यतीत होता है, उन्हीं महानुभावों में ईशप्रेम की अधिक से अधिक आर्द्रता प्रतीत होती है। इस प्रकार की अविरत उत्कंठा जिसे लग गई, उसकी मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है और 'देव म्हणजे आपुला प्राण। प्राणासि न करावें निर्वाण*।' इस परमोच्च भूमिका से उनके व्यवहार होने लगते हैं; और जहां यह हुआ, वहां समझ लेना कि अखंड ईशप्रेम की ज्योति निश्चलता से चलने लगी। ईशभक्ति का और प्रेम का अनुभव लेने का यही एक मार्ग है। एक दूसरे पर पहिले पहल नजर पडते ही स्त्रीपुरुषों में परस्परविषयक उत्पन्न होनेवाले प्रेम को प्रेम नहीं कह सकते, वह प्रेम की मसखरी है। इसी तरह पैसे के तीन मिलनेवाले गुरु किसी के सिरपर हाथ रख दें और तुरंत उसको साक्षात्कार हो जाय, यह ईशभक्ति की विडम्बना है। क्योंकि वस्तुमात्र के उत्पत्ति-स्थिति-संहार का नियमन जिस विधिघटना से होता है, उससे यह अकस्मात् उत्पन्न होनेवाली प्रेमकल्पना सर्वथा विरोधी है।

* देव के मायने अपना प्राण। प्राणको छोडना न चाहिये।

सुधारकी जोडियों का प्रेम।

ऊपर कहे अनुसार 'प्रेम' शब्द का सुधारकोंके प्रियाराधनमें अथवा विवाह में अपूर्ण अर्थसे उपयोग किया जाता है। कोई युवती किसी युवक की विवाहित स्त्री होती है। क्यों? वह कहती है, अथवा उसकी धारणा रहती है, कि उस युवकपर मेरा प्रेम है। अब यह देखा जाय, कि उसके इस प्रेम के लिए कारण कौनसे होते हैं—एक उसका स्वभिमान है, जिसके कारण उसका यह प्रयत्न है, कि मुझे कोई ऐसा न कहे, कि 'देखो, यह कितनी बडी हो गई अभीतक इसका विवाह नहीं हुआ!' दूसरे घरद्वार, जेवर, इत्यादि बातें उसको नियुक्त पतिराजपर प्रेम कराती हैं; और यही कारण है, कि विवाह के पहिले, घरद्वार, जमीनजुमला, धनसंपत्ति, इत्यादि बातों का भरसक तलाश किया जाता है और ये बातें जिस पुरुष के पास हों, उसके शीलस्वभाव, संस्कृति से अपना कहांतक मेल हो सकेगा? इस मुख्य प्रश्न को ताक में रख कर लडकी के मस्तकपर मंगलाक्षता डाल दी जाती हैं। इसमें संदेह नहीं, कि यह विवाह प्रेमही के कारण हुआ; परन्तु हम यह न भूल जांय, कि यह प्रेम स्वार्थी अथवा पाशवी है और दो जीवों के सर्वांगीण ऐक्य से उत्पन्न होनेवाले सत्य पवित्र प्रेम से यह प्रेम बिलकुल विपरीत है।

इसी तरह कोई पुरुष जब विवाहबद्ध होना चाहता है, तब वह भी कहता अथवा समझता है, कि मेरा इस स्त्रीपर प्रेम है। परन्तु इस प्रेम का सच्चा स्वरूप क्या हुआ करता है? नाटक, उपन्यास, सिनेमा, टॉकी, भ्रष्ट और हलके दुर्जेके उद्गारों नियतकालिक इत्यादि के दर्शनश्रवण से अथवा पठनमनन से मानवी ध्येय के तथा सौख्य के विषय में उसकी अत्यंत संकुचित कल्पना बनी रहती है। इसी तरह उक्त साधनोंद्वारा स्त्रैण सौंदर्य का मोह तथा पाशवी विषयवासना का उत्कट अतिरेक उसमें निर्माण हुआ रहता है। ऐसी हालत में जिसके लिए भरपूर मांग है, ऐसी कोई तरुणी जहां इसके प्रेमपाश में बद्ध हुई, वहां इसकी महत्वाकांक्षा उछलने लगती है और दोनों का विवाह होता है। ये महाशय प्रेम ही के कारण विवाह करते हैं! परन्तु वह बिचारी क्या जाने, कि इनका प्रेम वायु के भी आगे दौडनेवाला है, तनिक देरतक भी सुख का साथी नहीं हो सकता?

सिवाय इसके, सैंकडों तरुणो और हजारों तरुण ऐसे मिलते हैं, जो यह सुखस्वप्न देखा करते हैं, कि अपन केवल प्रेमही के कारण विवाहबद्ध हुए हैं। वस्तुस्थिति यह रहती है, कि जो प्रेम उनके विवाह को कारणीभूत हुआ, वह प्रेम नहीं, प्रेम का अच्छा सजाया हुआ सोंग है, एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तिपर-जानबूझकर या अनजाने-डाला हुआ संमोहनास्त्र है। अर्थात् विवाह के बाद शीघ्र ही इस प्रेमपर से घूंघट अलग होता और उसका सच्चा स्वरूप दीख जाता है। कहीं कहीं यहभी देखा जाता है, कि कोई एक बिलकुल अपरिचित मनुष्य आता है, यहां वहां चार जगह घूमता है और महिनेभर में दसबारा लडकियों को फुसलाकर उनमें से पांच छः के साथ विवाहविधि भी निबटा लेता है! वैवाहिक क्षेत्र में होनेवाली ये अपवित्र चेष्टायें यद्यपि प्रेम के नाम से पुकारी जाती हैं; तथापि इसमें संदेह नहीं, कि अघूडे पाशवी प्रेम के ये आंखों में धूल फेकनेवाले झंझावात हैं। स्त्रियों को भूलभुलैयां में डालकर खींचनेवालों का 'प्रेम' क्या कभी शुद्ध प्रेम हो सकता है? कभी कभी कोई आधुनिक सुधारक शिष्ट, जिसके गाल बैठ गए हैं और चेहरा निस्तेज हो गया है, इतना संतप्त और विरक्त हो जाता है, कि मानो अब यह आत्महत्या कर लेगा। क्यों? कि अमुक स्त्रीने इसके प्रेम का अनादर किया! सुधारक को छोडकर कोई भी इसको प्रेम न कहेगा। जब कोई तरुणी प्रणयभंग के कारण आत्महत्या करती है, तब शुद्ध प्रेम की दृष्टि से उस तरुणी का प्रेम

कौडीमोल समझना चाहिए । सच्चा प्रेम ऐसा नंगा नाच नहीं नचता; सच्चे प्रेम को लगन से किसीके भाग्य की ऐसी दुर्दशा नहीं होती।

इन उदाहरणों से कल्पना हो सकती है, कि अधूडे प्रेम से होनेवाले विवाह कैसे होते हैं। जिस समानगुणरूपसंस्कृति के कारण (मुख्यतः संस्कृति के कारण) स्त्रीपुरुष के अंतःकरण एकरूप होते हैं और शुद्ध, सात्त्विक दांपत्यप्रेम का उद्भव तथा उत्कर्ष होता है, उस सर्वांगीण समानता की ओर पूर्णतया अथवा अधिकांश में सुधारकोंके विवाह में दुर्लक्ष्य होता है । इसीलिए मानवी जीवित सुखमय होनेके लिए जिस शुद्ध और पूर्ण दांपत्यप्रेम की नितांत आवश्यकता है, उसका समूल नाश होता है और अब वह अशक्य होने लगा है ।

पतिपत्नी के स्वभाव में एक दूसरे के पूरक धर्म न हों, तो दांपत्यप्रेम को कभी पूर्णता नहीं आ सकती। इस तत्त्व के अनुसार भी यह सिद्धांत ठहरता है कि दोनों की मनोरचना में साधर्म्य होना चाहिए। पति दानशूर हो, तो पत्नी भी वैसी चाहिए, पत्नी अगर मक्खीचूस हुई, तो दोनों की जरूर अनबन रहेगी ! गृहिणी यदि ध्येयवादी और भावनाप्रधान हो, तो घरधनी की वृत्ति भी वैसीही चाहिए; अन्यथा गृहसौख्य में विघ्न अवश्यमेव होंगे। सारांश यह कि विचार उच्चार और आचार में जहां साम्य हो, वहीं प्रेम का विकास हो सकता है।

वैवाहिक जीवन दुःखमय होनेका सर्वसाधारण कारण है, उपरिनिर्दिष्ट वधूवरनिश्चिति में ईशनिर्मित नियमों का उल्लंघन। अर्थात् वैवाहिक जीवन सुखमय होनेके लिए इन नियमोंका पालन ही एकमेव उपाय है ।

प्रथमदर्शनी प्रेम ।

दोनों के स्वभावों में साम्य हुए विना सत्यप्रीति का उदय ही नहीं हो सकता, यह तत्त्व समझ में आते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि 'प्रथमदर्शनी प्रेम' कोई वस्तुस्थिति नहीं है, केवल कविकल्पना है। शुद्ध प्रेमके लिए समान स्वधर्मवाले दो व्यक्तियों का दीर्घकालीन साहचर्य आवश्यक है; परन्तु प्रथमदर्शनी प्रेम के लिए एकही मनोविकार कारणीभूत हुआ रहता है ।

एक आक्षेप का समाधान ।

इसपर ऐसा भी एक आक्षेप सहज आता है, कि वधूवरों की मनोरचना में पूर्ण साम्य मिले कैसे ? क्योंकि 'पिंडे पिंडे मतिर्भिन्ना' इस तत्त्व के अनुसार कोई भी दो व्यक्तियों के स्वभाव सब तरह एक दूसरे से मिल नहीं सकते । यह बात सच है; तथापि हमारी राय में ऐसी बात नहीं है, कि वधूवरों के स्वभावों में सर्वस्वी साम्य होना ही चाहिए। हमारा मुद्दा इतनाही है, कि दोनों के स्वभावों के विशेष अधिक से अधिक एक दूसरे से मिलते जुलते रहें, अर्थात् साधर्म्य जितना अधिक हो, उतनी ही अधिक अनुरूप जोडी होगी और सत्य प्रेम की उत्पत्ति को और विकास को उतनी ही अधिक अनुकूलता होगी। इस तरह अधिक से अधिक गुणों का मिलान करके विवाह किया जाय, विशेषतः गृहस्थाश्रमधर्म समझकर धर्मबुद्धि से प्रेरित होकर यदि इस तरह से विवाह हो, तो उस उच्च ध्येय की पूर्ति के लिए दोनों की ओर से जो सहकार्ययुक्त प्रयत्न होते हैं, उनसे एक दूसरे के स्वभाव के छोटेमोटे भेद घिस जाते हैं, उनमें मार्दव आता है और वे परस्परोंसे अधिकाधिक मेल रखने लगते हैं। इस तरह वैवाहिक जीवन के कुछ महीने बीतनेपर पतिपत्नी के स्वभावों में बहुतसा साम्य बढ जाता है; कुछ वर्षों के बाद यह साम्य पूर्णत्व को पहुंचता है, पत्नी अंतःकरण से अक्षरशः अर्धांगी बन जाती है और दांपत्यप्रेम की परमावधि होती है ।

दांपत्यप्रेम की आरोग्य और स्वच्छताकी आवश्यकता।

इस प्रकार पतिपत्नी में स्नेह का विकास होनेके

लिए स्वभावधर्म के अतिरिक्त और भी कुछ बातों की आवश्यकता होती है। पति और पत्नी दोनों के आरोग्य उत्कृष्ट होकर शरीर के सब व्यापार सुव्यवस्थित चलने चाहिए; क्योंकि आरोग्यसंपन्न शरीर ही में मनोविकास होता है और प्रेम वृद्धिंगत होता है। बीमारी और तदनुषंगिक व्यथाओं की उत्पत्ति जिस तरह निसर्ग से विरोध करने से होती है, उसी तरह प्रेम के विकास को आवश्यक ऐसी स्त्रीपुरुषों की एकतानता होने में उनसे व्यत्यय होता है। बीडीसिगरेट का भोक्ता, चाय कॉफी जैसे मादक पेयों का रसिक, प्याज लहसुन की बनी हुई मसालेदार चीजोंपर समय-असमय में ताव मारनेवाला मनुष्य सच्चे आरोग्य का अनुभव लेने के लिए जितना अपात्र है, उतनाही वह सच्चे प्रेम की पहचान कर लेने में और उसके आनंद का अनुभव करने में भी नालायक ठहरता है। सच्चा और पूर्ण प्रेम स्वभावतः दैवी है और उसका धागा सदा ईश्वरही से जुडा रहता है, उसके समस्त व्यापार पावित्र्य से पुनीत रहते हैं, उसकी सब सब आकांक्षाएं उच्चही रहती हैं! तंबाखू, शराब इत्यादि साधनों से जो शरीर नरक का थैला बन गया है, उसमें कौनसा मनुष्य उपरिनिर्दिष्ट नितांत निर्मल दैवी प्रेम को आश्रय दे सकता है?

इसलिए पतिपत्नी की जीवितसरिताओं का प्रीतिसंगम होने के लिए दोनों के स्वभावसाधर्म्य के साथ ही दोनों के शरीर नीरोग, मजबूत, अंतर्बाह्य पवित्र तथा आकर्षक होना आवश्यक है। इस बात का हमें पक्का स्मरण रहे।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद।	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	॥।≈)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२	३)	॥।)
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाम (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	≈)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग।	≈)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या।	॥)	≈)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय।	॥)	≈)
९ वेदमें चर्खा।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	≈)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	॥)	=)
१२ वेदमें रोगजंतुशास्त्र।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास।	॥)	≈)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	≈)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भक्तके भगवान्	॥)	≈)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

दैवत-संहिताका मुद्रण शुरू हुआ है।

'दैवत-संहिता' की कल्पना भारतवर्षीय विविध प्रांतों के सैकडों विद्वानोंके पास संमत्यर्थ भेजी थी। उन विद्वानों में सब प्रकार के विद्वान् थे। अर्थात् उनमें कट्टर सनातनी, कट्टर आर्यसमाजी, सर्वमान्य शास्त्री-पंडित थे, वैसे ही कालेजों के प्रोफेसर भी थे। तथा सर्वसाधारण वेद-विचारक भी थे। इन सब के मतसे यह दैवत-संहिता का मुद्रण वेदविचार के लिए अत्यावश्यक है, यही बात उनकी संमतिसे प्रकट हुई। किसी एक भी पंडितने दैवत-संहिता के मुद्रण का विरोध नहीं किया, प्रत्युत उसको निर्दोष और परिपूर्ण किस तरह बनाया जाय, इसी विषय में सबने अपनी संमतियां प्रकट की हैं, इस सब के लिये हम सबको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

वस्तुतः यह दैवत-संहिता की कल्पना उत्पन्न होकर करीब ४० वर्ष हुए। इस विषयपर हमने एक व्याख्यान गुरुकुल-काङ्गडीमें स्व० श्री० स्वा० श्रद्धानन्दजी की उपस्थितिमें दिया था। उस समय उसको सबने पसंद भी किया था। पर वह कार्य इतने वर्षों में बना नहीं। बीच में ऋग्वेद और अथर्ववेद के मंत्र देवतावार छाँटे भी थे, पर उक्त ग्रंथ छापने की तैयारी उस समय नहीं हो सकी। इस तरह जो विचार ३०।४० वर्षों से मनमें था और जो अत्यावश्यक था और जिसके न होने से वेदका सत्य अर्थ निश्चित होनेमें बडी रुकावटें हो रही हैं, वह 'दैवतसंहिता' के मुद्रणका विचार अब सफल हो रहा है, यह देखकर मन को अत्यन्त आनन्द हो रहा है।

इस विषय में जो अनेक पत्र आये, उनमें से कइयों के संक्षिप्त आशय गतांकों में प्रकाशित भी किये। तथापि एक पत्र विशेष महत्त्व का आया है, जो राजापूर के वेद-पाठशाला के आचार्यजी का होनेके कारण, उनका वेदानुसंधान में विशेष प्रेम होनेके कारण तथा इस पत्रमें विशेष ध्यान देनेयोग्य अनेक सूचनाएं होने के कारण इस पत्र का विशेष आवश्यक भाग यहां पाठकों के विचारार्थ देते हैं—

आचार्यजी का पत्र।

श्री० पं० रघुनाथ कृष्णशास्त्री पाटणकर, आचार्य वेदशाला राजापूर लिखते हैं—

"मैंने जब बीस वर्ष पूर्व निरुक्त और भाष्यसमेत ऋग्वेद-यजुर्वेद का अध्ययन किया था, उस समय वेदोंमें 'तुग्र्य, भुज्यु, विश्पला' आदि के वर्णन कई बार तथा विशेष रीतिसे समान आये हैं, यह ध्यान में आया और समान उपदेश के वचन इकट्ठे करने का यत्न उस समय मैंने किया, तथा दैवत-संहिता बनाने का थोडासा प्रयत्न भी किया। उस समय डेढसौ पृष्ठों की टिप्पणियां भी उस सम्बन्ध में लिखी थीं। परन्तु मेरे इस अध्यापन कार्य में लग जाने से वह मेरा अभीष्ट कार्य मुझसे नहीं हो सका। ऐसी अवस्था में जो मेरा कार्य मनमें ही रह गया था, वही 'दैवत-संहिता' के बनाने और मुद्रण करनेका कार्य आप स्वाध्याय-मंडल द्वारा करा रहे हैं, यह जान कर मुझे बडाही आनन्द हुआ। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये कितने परिश्रम करने पडते हैं, यह बात जो यह कार्य नहीं करते, उनको किस तरह भला समझा सकते हैं?

मन्त्रकृत्, मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रपति।

दैवत-संहिता का निर्माण करने के लिये देवताओं के सूक्ष्म भेद निश्चित करने चाहिये। इस कार्यके लिये अनेक वैदिक ग्रंथों का आन्दोलन करना चाहिये। दैवतज्ञान की

वेदज्ञान के लिये बडीहि आवश्यकता है, यह तो सर्वप्रसिद्ध बात है। वेदके ऋषियों में 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रपति' ये दो भेद किये हैं, यह एक बडा महत्त्वपूर्ण विषय है। इस विषय में तैत्तिरीयारण्यक में कहा है--

नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो
मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः
माहं ऋषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन्परादाम्।
(तै० आ० प्र० ४ उपोद्घात)

इस वचन में 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रपति' ये दो ऋषियों के भेद स्पष्ट कहे हैं। बृहद्देवता में भी--

मन्त्रकृद्भ्यो नमस्कृत्य समाम्नायानुपूर्वशः,
(बृहद्देवता १)

यहां भी 'मन्त्रकृत्' शब्द का प्रयोग दीखता है। मन्त्रकृत्, मन्त्रपति और मंत्रद्रष्टा ये ऋषिनिश्चयमें विवेकपूर्वक निश्चित करनेवाले शब्द हैं। हम तो समझते हैं कि 'मन्त्रकृत्' अर्थात् जिनको मन्त्र प्राप्त हैं, वेही मन्त्रद्रष्टा हैं। ऋग्वेद में कहा है--

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
(ऋ० ८।७५।६)

'नित्यवाचा' का अर्थ वेदमन्त्र ही है। तथा--

यज्ञेन वाचः पदवीयं आयन्।
तामन्वविन्दन्न् ऋषिषु प्रविष्टाम्॥
(ऋ० १०।७१।३)

'यज्ञ से ही नित्य वाणी के स्थान को ज्ञानी प्राप्त हुए और वह ऋषियों में प्रविष्ट थी, उसको उन्होंने प्राप्त किया,' अर्थात् नित्य वाणी अर्थात् वेदमन्त्र जो पूर्व ऋषियों के पास थे वे उनसे प्राप्त हुए। इस तरह ऋषियों का द्रष्टृत्व सिद्ध हो सकता है तथा—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वं अनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥
(महाभारत शांतिपर्व)

'पूर्व युगमें गुप्त हुए वेदों को इतिहाससमेत महर्षियों ने तपसे प्राप्त किया,' अर्थात् पूर्वयुगमें गुप्त हुए वेदोंको द्रष्टा ऋषियोंने प्राप्त किया।

इस तरह 'मन्त्रकृत्, मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रपति' का आशय प्राचीन ग्रंथों के अनुसार खोज करके निश्चित करना चाहिए।

देवताक्रम।

'दैवत-संहिता' निर्माण करने के समय निरुक्तके पंचम अध्यायमें जो १५१ देवताओंके नाम दिये हैं, उनको देखना चाहिये (यह अध्याय आगे दिया है) और इनको उक्त वैदिक क्रमसे ही संग्रहित करना चाहिये। यद्यपि निघण्टु में १५१ देवता दिये हैं, तथापि वेद में वर्ण्य देवता एकही है, उसका ही वर्णन ऋषि विभिन्न नामों से करते हैं—

एकं सत् विप्रा बहुधा वदंति। (ऋग्वेद१।१६४।४६)

एक ही सत् है, उसके ये विभिन्न नाम हैं। यद्यपि ऐसा है, तथापि अनेक प्रकारका वर्णन होता है, ही जैसा—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशञ्च
देवा नव चासपर्यन्। (ऋ० ३।९।९)
एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। (ऋ० १०।११४।५)
ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामेकादश स्थ।
अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ (ऋ० १।१३९।११)
त्रयस्त्रिंशद्वै देवताः॥
(वा० यजु० १४।४७; तै० सं० ५।४)

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥ (ऋ० ६।४७।१८)

इत्यादि मंत्रों में मुख्य एक देवता-एक परमात्मा होते हुए, उससे ३; ३३ अथवा ३३३९ देव हुए हैं, ऐसा वर्णन हुआ है। दैवत-संहिता बनाते समय इसका अनुसंधान करना चाहिये। देवताओंका वर्गीकरण सूक्तों की संख्या न्यूनाधिक होने के कारण ऐसा हो सकता है—

इन्द्र	देवताके	सूक्त	२००
अग्नि	,,	,,	१६०
सोम	,,	,,	११०
विश्वे देवाः	,,	,,	६०
अश्विनौ	,,	,,	५०
मरुत्	,,	,,	३०
मित्रावरुणौ	,,	,,	१५
उषाः	,,	,,	१५

अन्य देवताओंका वर्णन इससे कम सूक्तोंमें है। तथापि मैं यह नहीं कहना चाहता कि इस तरह दैवत-संहिता बनायी जावे। मेरा तो यह मत है कि जो व्यवस्था वेदमें देवतानुपूर्वी की है वही दैवत-संहितामें रहने योग्य है, क्योंकि वेद के प्रमाण से और अधिक बलवत्तर प्रमाण कोई नहीं मिल सकता। इसलिये आप जो दैवत-संहिता बनावेंगे, वह वेदके पूर्वापर देवता-क्रमके अनुसार बनावें। जिससे उसकी प्रामाणिकता अधिक होगी।

ऋग्वेद में देवताओं में अग्नि प्रथम होता है। देखिए किसी ऋषिके नामके अन्दर पहिला अग्नि है, पश्चात् इन्द्र आता है, इस तरह का क्रम देखने में आता है। असंयुक्त देवता का क्रम ऐसा ही रखना चाहिए। संयुक्त देवताओं को संयोग के क्रमानुसार रखना चाहिए, जैसा-

अग्नाविष्णू, अग्नीषोमौ
इन्द्राग्नी, इन्द्रा बृहस्पती आदि, तथा
अग्नि = अग्नाविष्णू
,, = अग्नीषोमौ
,, = इन्द्राग्नी
इन्द्र = इन्द्राग्नी
विष्णु = अग्नाविष्णू
सोम = अग्नीषोमौ
बृहस्पति = इन्द्राबृहस्पती
इन्द्र = इन्द्राबृहस्पती

इस तरह वेदकी व्यवस्था शिरोधार्य समझकर हि मन्त्रों को संग्रहित करना उचित है।

मेरे मतसे दैवत-संहिता स्वरसंहित बडे अक्षरोंमें छापनी चाहिए, चाहे मूल्य द्विगुणित क्यों न हो जावे। सामवेद के जो मंत्र ऋग्वेद में नहीं मिलते, उनपर साम के स्वर लगाए जावें। शेष सब ऋग्वेदानुसार हि स्वर लगाये जावें।

गुम हुए मन्त्र=सहस्रसूक्त।

आजकल की संहिताओंमें जो मन्त्र मिलते नहीं और जो निरुक्तादि ग्रन्थों में मन्त्र आए हैं, उनको भी लेना चाहिए। क्योंकि निरुक्तकार जिनको वेदमन्त्र मानते हैं, वे किसी संहितामें अवश्य होंगे हि।

ऋग्वेदके मं० १।९९।१में 'जातवेदसे सुनवाम सोमं' यह एक ही मन्त्रका एक सूक्त है। इसके पश्चात् के एक सहस्र सूक्त शौनक के पूर्व हि गुम हो गए हैं, ऐसा सर्वानुक्रमणीमें लिखा है—

जातवेदस एका जातवेदस्यम्।
एतदादीनि एकभूयांसि सूक्तसहस्रं
एतत्कश्यपस्यार्षम्॥ (सर्वा० १।७)

'जातवेदसे' सूक्त के बाद के एक सहस्र सूक्त कश्यप ऋषिके देखे गुप्त हुए हैं। इनमें एक, दो, तीन, चार, पांच इस तरह बढती हुई मन्त्रसंख्यावाले सूक्त थे'। इस तरह हिसाब करनेसे मन्त्र एक लक्षसे भी अधिक होंगे। इतनी मन्त्रसंख्या गुम हो गयी है। शौनकादि मुनियोंके पूर्व सहस्रों वर्षों की यह बात है। पर वे सूक्त मिलना अब मुश्कील ही है। इनकी खोज तो अब छोड देनी हि चाहिए।

सूचियां।

मन्त्रों में जो जल, स्थल, रथ आदि वस्तुओं के नाम आते हैं, इन सबकी विस्तृत सूची अवश्य देनी चाहिए। तथा यजुर्वेद में जो अनेक देवताएं आती हैं, उनका आप क्या करेंगे? उनकी भी सूची होनी चाहिए।

संहिताओं में अन्य संहिताओंके तथा अनेक वेदोंके नाम आते हैं, वे भी दर्शाने चाहिए। तथा छंदों की भी सूची देनी चाहिए। वेदोंमें तथा ब्राह्मण आरण्यक उपनिषदों में ऐसी सूचियां हैं, उनका संग्रह मैंने किया है। मन्त्रों का परिगणन भी ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है जैसा—

मन्त्रों की गणना।

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंच शतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्चैतत्पारायणमुच्यते।

अर्थात् १०५८० इतने मंत्र ऋग्वेदमें हैं, ऐसा चरणव्यूह में है। यही बात शतपथ ब्राह्मण में है—

ते सर्वे त्रयो वेदाः। दश च सहस्राण्यष्टौ च
शतान्यशीतीनामभवत् स मुहूर्तेन मुहूर्तेन
अशीतिमाप्नोन्मुहूर्तेन मुहूर्तेनाशीतिः समपद्यत॥
(श० ब्रा० १०।४।२।२५)

इस प्रकारकी मंत्रगणना शतपथ ब्राह्मणसे प्राप्त होती है, इस तरह ब्राह्मणवचन से अनुक्रमणीकार का कहना पुष्ट होता है। अब हमें निश्चय करना उचित है कि ये मंत्र कौनसे हैं ? इनका निश्चय करके हमें इनका ही देवतावार संग्रह करना चाहिए।

\+ + ×

(संपादकीय वक्तव्य)

इस तरह श्री० पं० आचार्यजीने इस पत्र में कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं। जिनका विचार हम दैवत-संहिताके बनाने के समय अवश्य करेंगे।

एक हजार सूक्त।

ऋग्वेदके प्रथम मण्डल के सूक्त ९९ के आगेके कश्यप के देखे १००० सूक्त अर्थात् करीब लाख मंत्र गुम होने की बात सत्य हो वा कल्पित हो, उसका विचार हमें करने की आवश्यकता इस समय नहीं है, क्योंकि शतपथके भी पूर्व और शौनकादि मुनियों के भी पूर्व जो सूक्त गुम हुए हैं, वे हमें मिल नहीं सकते। इसलिए उनके विषय में हमें किसी प्रकार का शोक इस समय करने की आवश्यकता नहीं है। जो इस समय वेदभाग है, वही हमारे लिए है, उसीका विचार और मनन हमें करना चाहिये। गुम हुई बातों का हम शोक करने लगेंगे तो कुछ भी बनना नहीं है और उससे कोई लाभ भी नहीं है। अतः इन सूक्तों का विचार हम छोड देते हैं।

शेष बातें जो आचार्यजीने लिखी हैं, उनका विचार दैवत-संहिता का मुद्रण करने के समय हम अवश्य करेंगे। अब देवताओं के वर्गीकरण के विषय में थोडासा विचार यहां लिखना आवश्यक है—

निघण्टुमें जो १५१ देवतावाचक शब्द दिये हैं वे ये हैं—

दैवत-नामानि।

(निघण्टुकोशे पञ्चमोऽध्यायः)

अग्निः। जातवेदाः। वैश्वानरः। इति त्रीणि पदानि ॥१॥

द्रविणोदाः। इध्मः। तनूनपात्। नराशंसः। इळः। बर्हिः। द्वारः। उषासानक्ता। दैव्या होतारा। तिस्रो देवीः। त्वष्टा। वनस्पतिः। स्वाहाकृतयः। इति त्रयोदश पदानि ॥२॥

अश्वः। शकुनिः। मण्डूकाः। अक्षाः। ग्रावाणः। नाराशंसः। रथः। दुन्दुभिः। इषुधिः। हस्तघ्नः। अभीशवः। धनुः। ज्या। इषुः। अश्वाजनी। उलूखलम्। वृषभः। द्रुघणः। पितुः। नद्यः। आपः। ओषधयः। रात्रिः। अरण्यानि। श्रद्धा। पृथिवी। अप्वा। अग्नायी। उलूखलमुसले। हविर्धाने। द्यावापृथिवी। विपाट्छुतुद्री। आर्त्नी। शुनासीरौ। देवी जोष्ट्री। देवी ऊर्जाहुती। इति षट्त्रिंशत्पदानि ॥३॥

वायुः। वरुणः। रुद्रः। इन्द्रः। पर्जन्यः। बृहस्पतिः। ब्रह्मणस्पतिः। क्षेत्रस्य पतिः। वास्तोष्पतिः। वाचस्पतिः। अपांनपात्। यमः। मित्रः। कः। सरस्वान्। विश्वकर्मा। तार्क्ष्यः। मन्युः। दधिक्राः। सविता। त्वष्टा। वातः। अग्निः। वेनः। असुनीतिः। ऋतः। इन्दुः। प्रजापतिः। अहिः। अहिर्बुध्न्यः। सुपर्णः। पुरुरवाः। इति द्वात्रिंशत्पदानि ॥४॥

श्येनः। सोमः। चन्द्रमाः। मृत्युः। विश्वानरः। धाता। विधाता। मरुतः। रुद्राः। ऋभवः। अङ्गिरसः। पितरः। अथर्वाणः। भृगवः। आप्त्याः। अदितिः। सरमा। सरस्वती। वाक्। अनुमतिः। राका। सिनीवाली। कुहूः। यमी। उर्वशी। पृथिवी। इन्द्राणी। गौरी। गौः। धेनुः। अघ्न्या। पथ्या। स्वस्तिः। उषाः। इळा। रोदसी। इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥५॥

अश्विनौ। उषाः। सूर्या। वृषाकपायी। सरण्यूः। त्वष्टा। सविता। भगः। सूर्यः। पूषा। विष्णुः। विश्वानरः। वरुणः। केशी। केशिनः। वृषाकपिः। यमः। अज एकपात्। पृथिवी। समुद्रः। दध्यङ्। अथर्वा। मनुः। आदित्याः। सप्त ऋषयः। देवाः। विश्वे देवाः। साध्याः। वसवः। वाजिनः। देवपत्न्यः। इत्येकत्रिंशत्पदानि ॥६॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनोऽश्विनौ षट् ॥६॥

यद्यपि इस निघण्टु के पञ्चम अध्याय में ३+१३+ ३६+३२+३६+३१ सब मिलकर = १५१ देवताओं के नाम दिये हैं और इतनेही देवता वेद में हैं, यह भी सत्य है, तो भी इससे दैवत-संहिता का कार्य नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि वेदमें संयुक्त देवताएं बहुतसी हैं, संयुक्त देवताओं के सूक्त वेदमें अनेक हैं, केवल एक एक देवता के हि नहीं हैं।

मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ,
इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणौ,
सोमारुद्रौ, अप्तृणसूर्याः।

इस तरह संयुक्त देवताओं में दो, तीन, चार देवतायें मिली रहती हैं। आप्रीसूक्त में इकट्ठी प्रतिमंत्र की एक ऐसी ११ देवताएं होती हैं। ऐसी बात होनेसे पूर्वोक्त निघण्टुके १५१ देवता देखने से हि केवल दैवत-संहिता का कोई कार्य नहीं हो सकता।

यदि हम पूर्वोक्त निघण्टु के १५१ हि देवता लेंगे, तो वेदके संयुक्त देवतावाले सूक्त कहां रखे जायगे? इसलिये एक एक देवता के साथ हमें संयुक्त देवताओं के मन्त्रों और सूक्तोंका भी विशिष्ट प्रकरण में संग्रह करना चाहिये।

निघण्टु के १५१ देवताओं में अग्नि दुबारा आ गया है और आत्मा देवता नहीं है।

इसी तरह निरुक्त में पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यु ऐसे तीन स्थानों में देवतागणों की कल्पना की है, वह कल्पना ठीक है, पर उसके आधारसे हम इन सब १५१ देवताओं को तीन स्थानों में विभक्त करके दैवत-संहिता नहीं बना सकते। इसका कारण ये संयुक्त देवताएं किसी भी एक स्थान में बैठनेवाली नहीं हैं। देखिए—

अप्-तृण-सूर्य

यह देवतात्रय का समुच्चय है। इन तीन देवताओंमें से तृण तो भूमिपर का देवता है, सूर्य देवता द्युस्थान का है और अप् पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष का है। इसी तरह 'इन्द्राग्नी, सोमारुद्रौ' आदि देवताओं के विषय में समझना योग्य है।

सोम देवता यह एक ही देवता है, पर वह वल्ली के रूप में पृथ्वीपर है, चन्द्रमारूप में वह आकाश में रहती है और स्वर्ग में भी वह रहती हि है। अतः 'सोम' देवता को पृथ्वीपर, अन्तरिक्ष में या स्वर्गमें रखना ? क्यों-कि वेदमें हि इनका स्थान तीनों जगह होनेका वर्णन है। अतः निरुक्त का वर्गीकरण हमारे दैवत-संहिताके काम का नहीं है। वह वर्णन केवल सामान्यतया एक एक देवता के स्थान के विषय में सत्य है, परन्तु जो देवताएं संयुक्त होनेपर अनेक स्थानों में रहती हैं, उनके विषय में वह वर्णन कुछ भी काम का नहीं है। इसलिए देवताओं के वर्ग किस पद्धति से करने चाहिये, यह एक विचार की और महत्त्व की बात है।

वेदकी पद्धति।

वेदमें मन्त्रों का संग्रह, विशेषतः ऋग्वेद में मंत्रसंग्रह करने के समय जो पद्धति स्वीकृत की है, वह हमें अमल में लानी चाहिए। वह पद्धति कैसी है, यह देखने के लिए **'ऋग्वेद की देवताओं का क्रमशः उत्तम संग्रह'** प्राचीन विद्वानोंने करके रखा है, वह देखना चाहिए। यह स्वाहाकारपद्धति में है।

यह संग्रह कमसे कम सहस्र वर्षोंका प्राचीन है। इसकी हस्तलिखित पुस्तकें पांच सौ वर्षोंसे भी प्राचीन मिलती हैं। इतना यह प्राचीन है। इस संग्रह में क्रमसे देवता लिखकर उस देवता के वहां क्रमसे कितने मंत्रें हैं, यह भी उसके आगे ही लिखा है। टिप्पणी में पक्षांतर की देवताओं का उल्लेख हमने किया है और अध्याय तथा मण्डल का निर्देश भी हमने किया है। प्राचीन संग्रह में पक्षांतर की बात नहीं थी, वह भी हमने लिखी है। अब यह प्राचीन देवतासंग्रह यहां देते हैं।

इसमें संग्रहकारने न तो मण्डलक्रम रखा है और न अष्टकक्रम। ऋग्वेद के मन्त्र क्रमसे लेकर उसकी देवताएं क्रमसे कैसी हैं और प्रत्येक देवताके मंत्र क्रमसे कितने हैं, यह वहां क्रमानुसार लिखा है। अध्यायों के और मण्डल के अंक हमने लिखे हैं। आठ अध्यायों का एक अष्टक और आठ अष्टकोंका अर्थात् ६४ अध्यायों का संपूर्ण ऋग्वेद है।

ऋग्वेद-देवता।

(ऋ० मं० १, सू० १) अग्निः ९ वायुः ३ इन्द्रवायू ३ मित्रावरुणौ ३ अश्विनौ ३ इन्द्रः ३ विश्वे देवाः ३ सरस्वती ३ इन्द्रः २३ मरुतः १ इन्द्रमरुतः १ मरुतः १ इन्द्रमरुतः १ मरुतः २ इन्द्रः ५१ अग्निः ५ निर्मथ्याहवनीयावग्नी १ अग्निः ६ *समिद्धोग्निः १ तनूनपाव् १ नराशंसः १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृती १ ×विश्वे देवाः १२ इन्द्रः १ मरुतः १ त्वष्टा १ अग्निः १ इंद्रः १ मित्रावरुणौ १ द्रविणोदरा अग्निः ४ अश्विनौ १ अग्निः १ इंद्रः ९ इंद्रावरुणौ ९ ब्रह्मणस्पतिः ३ इंद्रसोमब्रह्मणस्पतयः १ दक्षिणेंद्रसोमब्रह्मणस्पतयः १ ꙮसदसस्पतिः ३ नराशंसः १ अग्नामरुतः ९ [१] (ऋ० १।१९)

ऋभवः ८ इंद्राग्नी ६ अश्विनौ ४ सवितारः ४ अग्निः २ देवीः १ इंद्राग्नीवरुणान्यग्नाय्यः १ द्यावापृथिव्यौ २ पृथिवी १ विष्णुः ६ वायुः १ इंद्रवायू २ मित्रावरुणौ ३ +मरुतः ३ विश्वे देवाः ३ पूषा ३ आपः ७ अग्न्यपः १ अग्निः १ कः १ अग्निः १ ❧सवितारः ३ वरुणः ३१ अग्निः २२ देवाः १ इंद्रः ४ उलूखलः २ उलूखलमुसले २ ❧प्रजापतिर्हरिश्चंद्रः १ इंद्रः २३ अश्विनौ ३ उषसः ३ अग्निः १८ इंद्रः ३० [१५/१५ २] (ऋ० १।३२-३३)

अश्विनौ १२ अग्निमित्रवरुणरात्रिसवितारः १ सवितारः १० अग्निः १२ यूपः २ अग्निः ६ मरुतः ४० ब्रह्मणस्पतिः ८ वरुणमित्रार्यमाणः ३ आदित्याः ३ वरुणमित्रार्यमाणः ३ पूषा १० रुद्रः २ रुद्रमित्रवरुणाः १ रुद्रः ३ सोमः ३ अग्न्यश्व्युषसः २ अग्निः २१ अग्निर्देवाः १ अश्विनौ २५ [१५/१० ३] (ऋ० १।४६-४७)

उषसः २० सूर्यः १३ इंद्रः ७२ अग्निः ९ वैश्वानोग्निः ७ अग्निः ५ इंद्रः ३८ [१६/२२ ४] (ऋ० १।६१-६२)

मरुतः १५ अग्निः १३२ इंद्रः ५७ [१६/४१ ५] (ऋ० १।८०-८१)

मरुतः ३४ ॐविश्वे देवाः १९ सोमः २३ उषसः १५ अश्विनौ ३ अग्नीषोमौ १२ अग्निः ७ देवाग्नी १ अग्निः ७ ×अग्निमित्रवरुणादितिसिंधुपृथिवीद्यावः १ [६] (ऋ० १।९४)

*औषसोमग्निः ११ द्रविणोदा अग्निः ९ शुचिरग्निः ८ वैश्वानरोग्नि ३ जातवेदो अग्निः १ इंद्रः ५८ ●विश्वे देवाः २९ इंद्राग्नी २१ ऋभवः १४ द्यावापृथिव्यग्न्यश्विनः १ अश्विनौ २४ [७] (ऋ० १।११३)

उषोरात्री १ उषसः १९ रुद्रः ११ सूर्यः ६ अश्विनौ ८३ इंद्रः १५ [८] (ऋ० १।१२१)

---

* इध्मं वा।

× भेदपक्षे– अग्निः २, विश्वे देवाः १, अग्निः ९ एवं द्वादश।

ꙮ इतश्चतुर्णामपि वा सदसस्पतिः।

\+ मरुत्वानिन्द्र इति केचित्।

❧ भगभक्तस्येत्यस्य भगो वा।

❧ अधिषवणचर्म देवता वा।

ॐ भे० प० विश्वे देवाः ४ इंद्रापूषणौ १ विश्वे देवाः ४, अदितिः १ विश्वे देवाः ९ (एवं १९)

× यद्दैवत्यं वा सूक्तमिति पक्षेऽग्निरेव देवता।

* द्वे विरूप इत्यारभ्य जातवेदसइत्यंतं शुद्धोऽग्निर्विकल्पेन।

● भे० प० विश्वेदेवाः १ रोदसी १ विश्वेदेवाः १ अग्निरोदसी १ विश्वेदेवाः ३ इन्द्ररोदसी १ सूर्यरश्मिरोदसी १ विश्वे देवाः १ सूर्यरश्मिरोदसी १ विश्वे देवाः १ रोदस्यौ २ वरुणरोदसी १ विश्वे देवाः २ रोदसी १ विश्वे देवाः ११ (एवं २९)

×विश्वे देवाः १५ उषसः २६ स्वनयः ७ भावयव्यः ५ रोमशा १ भावयव्यः १ अग्निः १९ इंद्रः ५ इंदुः १ इंद्रः २७ इंद्रापर्वतेंद्रा: १ इंद्रः ७ वायुः ९ इंद्रवायू ५ वायुः १ मित्रावरुणौ ५ सूर्यरोदसीमित्रवरुणरुद्रेंद्राग्न्य-र्यमभगसोमाः १ देवमरुदग्निमित्रवरुणमघवानः १ [९] (ऋ० १।१३६)

मित्रावरुणौ ३ पूषा ४ विश्वे देवाः १ मित्रावरुणौ १ अश्विनौ ३ इंद्रः १ अग्निः १ मरुत: १ इंद्राग्नी १ बृहस्पतिः १ विश्वे देवाः १ अग्निः २६ समिद्धोऽग्निः १ तनूनपात् १ नराशंसः १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृतयः १ इंद्रः १ अग्निः ४३ मित्रः १ मित्रावरुणौ १९ विष्णुः ६ इंद्राविष्णू ३ विष्णुः ८ अश्विनौ १२ [६/६ १०] (ऋ० १।१५७)

द्यावापृथिव्यौ १० ऋभवः १४ अश्वः ३५ विश्वे देवाः ४१ वाक्समुद्राक्षरापः १ शकधूमसोमौ १ अग्निवायुसूर्याः १ वाचः १ सूर्यः २ कालचक्रम् १ सरस्वती १ साध्याः १ *सूर्यः १ सरस्वान् १ मरुत्वानिंद्रः १५ [११] (ऋ० १।१६६)

मरुतः १५ इंद्रः १ मरुतः २० इंद्रः १३ मरुतः २ मरुत्वामिंद्रः ४ मरुतः ३ इंद्रः ४५ रतिः ६ अश्विनौ ३९ [३३/६ १२] (ऋ० १।१८३)

द्यावापृथिव्यौ ११ +विश्वे देवाः ११ अन्नं ११ समिद्धोऽग्निः १ तनूनपात् १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृतयः १ अग्निः ८ बृहस्पतिः ८ अप्तृणसूर्याः १६ (इति प्रथमं मण्डलं अथ द्वितीयं मंडलं) अग्निः २९ समिद्धोऽग्नि १ नराशंसः १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यो होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृतयः १ अग्निः ४९ [३९/१२ १३] (ऋ० २।८-१०)

इंद्रः १२६ ब्रह्मणस्पतिः १ बृहस्पतिः ३ ब्रह्मणस्पतिः १ बृहस्पतिः ३ ब्रह्मणस्पतिः १ बृहस्पतिः १ ब्रह्मणस्पतिः १ बृहस्पतिः ५ ब्रह्मणस्पतिः १ बृहस्पतिः १ ब्रह्मणस्पतिः [१४] (ऋ० २।२३)

बृहस्पतिः १ ब्रह्मणस्पतिः ८ बृहस्पतिः १ ब्रह्मणस्पतिः १ इंद्राब्रह्मणस्पती १ ब्रह्मणस्पतिः १३ आदित्याः १७ वरुणः ११ ✤विश्वे देवाः ७ इंद्रः ५ इंद्रासोमौ १ इंद्रः १ सरस्वतींद्रौ १ बृहस्पतिः १ इंद्रः १ मरुतः १ ⊛विश्वे देवाः ७ द्यावापृथिव्यौ १ इंद्रः २ राका २ सिनीवाली २ गुंगूसिनीवालीराकासरस्वतींद्राणीवरुणानीः १ रुद्रः १५ मरुतः १५ अपान्नपात् १५ ■इंद्रः १ मरुतः १ त्वष्टा १ अग्निः १ इंद्रः १ मित्रावरुणौ १ [१५] (ऋ० २।३६)

द्रविणोदाः ४ अश्विनौ १ अग्निः १ सवितारः ११ अश्विनौ ८ सोमापूषणौ ५ सोमापूषणादितयः १ वायुः २ इंद्रवायू १ मित्रावरुणौ ३ अश्विनौ ३ इंद्रः ३ विश्वे देवाः ३ सरस्वती ३ ❧द्यावापृथिव्यौ ३ शकुंतः ६ (इति द्वितीयं मण्डलं अथ तृतीयं मण्डलं) वैश्वानरोऽग्निः २६ समिद्धोऽग्निः १ तनूनपात् १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ता १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृतयः १ ✽अग्निः ३३ [-२२/११ १६] (ऋ० ३।६-७)

× भे० प० रुद्रमरुतः १ उषासानक्ते १ विश्वे देवाः १ अश्विनौ १ विश्वे देवा: १ मित्रावरुणसिंधवः १ विश्वे देवाः २ मित्रावरुणौ २ विश्वेदेवाः ५ (एवं १५)

* पर्जन्याग्नी वा।

+ भे० प० विश्वे देवाः ४ अहिर्बुध्न्यः १ त्वष्टा १ इंद्रः १ मरुतः २ विश्वे देवाः २ (एवं ११)

✤ भे० प० विश्वे देवाः ६ वरुणः १ (एवं ७)

⊛ भे० प० मित्रावरुणौ १ विश्वे देवाः १ उषासनक्ता १ विश्वे देवाः २ द्यावापृथिवी १ इंद्रः १ (एवं ७)

■ इंद्रमित्यादीनां षण्णामृतुविशेषणं वा।

❧ हविर्धानं वा।

✽ प्रत्यग्निः प्रकारवेसूक्तयोरन्यासां द्यावापृथिव्यादीनां निपाता दृश्यंते अतस्तयोर्लिंगोक्ता देवताः पाक्षिकाः।

यूपः ५ +यूपाः ५ व्रश्चनः १ अग्निः २७ इंद्राग्नी ९ अग्निः ४२ विश्वेदेवाः १ अग्निः ३ विश्वे देवाः १ अग्निः ८ पुरीष्याग्नि १ अग्निः १४ अग्नींद्रौ १ अग्निः १ वैश्वानरोऽग्निः ३ मरुतः ३ आत्मा २ उपाध्यायः १ ❀ अग्निः ३७ [१७] (ऋ० ३।२९-३०)

इन्द्रः ६१ नदी ३ विश्वामित्रः १ नदी १ इन्द्रः २ विश्वामित्रः १ नदी १ विश्वामित्रः १ नदी ३ इंद्रः १५३ [$\frac{६३}{१०}$१८] (ऋ० ३।३९-४०)

इंद्रापर्वतौ १ इन्द्रः १३ ससर्परीवाचः २ रथांगानि ४ इन्द्रः ४ *विश्वे देवाः ५८ [$\frac{४५}{१४}$१९] (ऋ० ३।५५-५६)

अश्विनौ ९ मित्रः ९ ऋभवः ४ इंद्रर्भू ३ उषसः ७ इंद्रावरुणौ ३ बृहस्पतिः ३ पूषा ३ सविता ३ सोमः ३ मित्रावरुणौ ३ (इति तृतीयं मण्डलं अथ चतुर्थं मण्डलं) अग्निः १ अग्निवरुणौ ४ अग्निः ३५ रुद्रः १ अग्निः १५ रक्षोहणोऽग्निः १५ [२०] (ऋ० ४।४)

वैश्वानरोऽग्निः १५ ×अग्निः ७४ सोमकः २ अश्विनौ २ इंद्रः ४२ वामदेवः १ इंद्रः २ इन्द्रावामदेवौ १ वामदेवः ३ इंद्रः ८० [$\frac{६}{७४}$२१] (ऋ० ४।१८-१९)

⁂इंद्रमात्मानौ ३ ❀ श्येनः ९ ✿ इंद्रः १८ इंद्रोषसौ ३ इंद्रः ५० इंद्राश्वौ २ [२२] (ऋ ४।३२)

ऋभवः ४८ द्यावापृथिवी १ दधिक्रावा १९ सूर्यः १ इंद्रावरुणौ ११ त्रसदस्युः ६ इंद्रावरुणौ ४ अश्विनौ २१ वायुः १ इंद्रवायू ६ वायुः १ इंद्रवायू ३ वायुः ५ इंद्राबृहस्पती ६ बृहस्पतिः ९ इन्द्राबृहस्पती २ [२३] (ऋ० ४।५०)

उषसः १८ सवितारः १३ ●विश्वे देवाः १० द्यावापृथिवी ७ क्षेत्रपतिः ३ शुनः १ शुनासीरौ १ सीता २ शुनासीरौ १ (इति चतुर्थं मण्डलं अथ पचमं मण्डलं) अग्निः ३७ मरुद्रुद्रविष्णवः १ अग्निः २० समिद्धोऽग्निः १ नराशंसः १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ता १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृतयः १ अग्निः १२७ [$\frac{२७}{१००}$२४] (ऋ० ५।८-९)

विश्वे देवाः १ अग्निः ५ इंद्राग्नी १ अग्निः ६ इंद्रः २६ ऋणंचयेंद्रौ ४ इंद्रः ८ ▦इंद्राकुत्सौ १ इंद्रः १८ [$\frac{१६}{५२}$२५] (ऋ० ५।३२-३३)

सूर्यः १ अत्रिः ४ ⁑विश्वे देवाः ३० रुद्रः १ विश्वे देवाः ५६ देवपत्नी २ [२६] (ऋ० ५।४६)

+अत्र सूक्तेऽष्टम्या विश्वे देवा वा । ❀प्र वो वाजा इत्यस्या आद्याया अयं ते योनिरित्यस्याश्च ऋत्विजो वा ।

*भे० प० अग्निः १ विश्वे देवाः २ द्यावापृथिवी १ विश्वे देवाः १ सूर्यद्यावापृथिवी १ द्यावापृथिवी २ द्यौः १ विश्वे देवाः १ सविता १ विश्वे देवाः २ विष्णुः १ इन्द्रः १ अश्विनौ १ विश्वे देवाः ५ अग्निः १ विश्वे देवाः २२ संवत्सरादित्याः ३ सिंधुः १ सविता १ विश्वे देवाः ६ अग्निः २। (एवं ५८)

×भे० प० अग्निः ३ सवितृवरुणमित्राः १ सूर्यः १ अग्न्याश्विनः १ सूर्यः १ उषः १ अश्व्युषसः १ सूर्यः १ प्रत्यग्नीतिसूक्तद्वयेऽत्रायं पाक्षिको देवताविभागः ।

⁂कथामहामिति सूक्तेंत्यतिसृणां ऋतं वा देवता ।

❀श्येनदेवताया अष्टर्चत्वे अधश्वेतमित्यस्यां इन्द्र देवता पाक्षिकी ।

✿अग्रत्वायुजेतिपंचर्चे सूक्ते इन्द्रासोमौ वा देवते ।

●भे० प० विश्वे देवाः ७ अग्निः १ उषाः १ विश्वे देवाः १। (एवं १०)

▦उग्रमथातमित्यादिपादौ कुत्सदैवत्यौ उशनोदैवत्यौ वा । उशनायत्सहस्यैरिति पादस्योशना देवता वा ॥

⁑भे० प० मित्रावरुणौ १ विश्वेदेवाः १ अश्विनौ १ विश्वेदेवाः १ मरुतः १ विश्वेदेवाः १ उषासनक्ते १ विश्वेदेवाः २ अग्निः १ विश्वे देवाः २ मरुतः १ विश्वे देवाः १ भूमिः १ विश्वे देवाः ३ भूमिः १ विश्वे देवाः १ (एवं २०)। विश्वे देवाः २ सविताः १ इंद्रः १ विश्वे देवाः १ इंद्रः १ बृहस्पतिः ३ मरुतः १ रुद्रः १ विश्वे देवाः १ पर्जन्यः २ मरुतः १ विश्वे देवाः २ अश्विनौ १ (एवं १८) नदी १ द्यावापृथिवी १ वायुः १ सोमः १ इन्द्रः १ अग्निः १ घर्मः १ अश्विनौ १ विश्वे देवाः २ सरस्वती १ बृहस्पतिः १ अग्निः ३ विश्वे देवाः १ अश्विनौ १ (एवं १७) । इन्द्रः २ अग्निः १ सूर्यः १ अग्निः १ विश्वे देवाः १ सूर्यः १ अग्निः १ सूर्यः २ विश्वे देवाः २ सुतंभरः १ अग्निः २ (एवं १५) इन्द्रसूर्यौ १ विश्वे देवाः २ इन्द्राग्नी १ विश्वे देवाः ६ आपः १ (एवं ११) विश्वे देवाः ६ देवपत्नी २ (एवं ८)।

+विश्वे देवाः २५ इन्द्रवायू १ वायुः १ इन्द्रवायू २ विश्वे देवाः ८ मरुतः ५१ अग्नामरुतः ८ मरुतः ४ तरंतमांहिषी शशीयसी ४ पुरुमीळहः १ तरंतः १ मरुतः ६ रथवीतिः १ मित्रावरुणौ ५९ [९/५० २७] (ऋ० ५।६२-६३)

अश्विनौ ४८ उषाः १६ सविता १४ पर्जन्यः १० पृथिवी ३ वरुणः ८ इंद्राग्नी ६ मरुतः ९ (इति पंचमं मडलं अथ षष्ठं मण्डलं) अग्निः ५४ [१३/४१ २८] (ऋ० ६।१-२)

वैश्वानरोग्निः २१ अग्निः ९८ [२९] (ऋ० ६।२६)

इंद्रः ६४ विश्वे देवाः १ इन्द्रः १ विश्वे देवाः १ इन्द्रः ५६ चायमानः १ गाः १ गवेंद्रौ १ गाः ५ गवेंद्रौ १ [३०] (ऋ० ६।२८)

इंद्रः १२८ बृबुस्तक्षा: ३ इंद्रः १४ सोमः ५ इंद्रः १४ देवभूमींद्राः १ इंद्रः १ प्रस्तोकः ४ रथः ३ दुंदुभिः २ दुंदुभींद्रौ १ [३१] (ऋ० ६।४७)

अग्निः १० मरुतः ५ पूषा ४ मरुतः ३ ×विश्वे देवाः ६३ पूषा ३२ इंद्रापूषणौ ६ पूषा ४ इंद्राग्नी २५ सरस्वती १४ [३२] (ऋ० ६।६१)

अश्विनौ २२ उषाः १२ मरुतः ११ मित्रावरुणौ ११ इन्द्रावरुणौ ११ इन्द्राविष्णू ८ द्यावापृथिवी ६ सविता ६ इन्द्रासोमौ ५ बृहस्पतिः ३ सोमारुद्रौ ४ वर्म १ धनुः १ ज्या १ धनुःकोटिः १ इषुधिः १ सारथिरश्मिः १ अश्वाः १ रथः १ रथगोपाः १ ब्राह्मणपितृसोमद्यावापृथिवीपूषाणः १ इषुः २ प्रतोदः १ हस्तत्राणः १ इषुः २ २ युद्धभूमिकवचब्रह्मणस्पत्यदितयः १ वर्मसोमवरुणाः १ देवब्रह्माणि १ (इति षष्ठं मण्डलम्) (अथ सप्तमं मण्डलम्) अग्निः २५ [३३] (ऋ० ७।१)

समिद्धोग्निः १ नराशंसः १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृतयः १ अग्निः २० वैश्वानरोग्निः १६ अग्निः ३३ वैश्वानरोग्निः ३ अग्निः ३७ इंद्रः २१ सुदासः ४ इन्द्रः १२२ [११/१११ ३४] (ऋ० ७।१९-२०)

वसिष्ठपुत्राः ९ वसिष्ठः ५ ॐविश्वे देवाः १५ अहिः १ अहिर्बुध्न्यः १ *विश्वे देवाः ४० [२३/१७ ३५] (ऋ० ७।३५-३६)

+भे० प० उषाः १ सूर्यरश्मयः १ सूर्यः १ विश्वे देवाः १ मित्रावरुणाग्नयः १ (एवं ७) वैद्युतोऽग्निः १ उषाः १ इन्द्रसूर्यौ १ अग्निः २ (एवं ५) विश्वे देवाः १ सूर्यः १ विश्वे देवाः ३ (एवं ५) सविताः २ विश्वे देवाः १ सविता २ (एवं ५) अग्निः २ विश्वे देवाः १ इंद्रवायू १ वायुः १ इन्द्रवायू २ विश्वे देवाः ८ (एवं १५)

×भे० प० विश्वे देवाः १ अग्निः १ अहोरात्रे १ वायुः १ अश्विनौ १ विश्वे देवाः १ सरस्वती १ पूषा १ अग्नित्वष्टारौ १ रुद्रः १ मरुतः २ विष्णुः १ विश्वे देवाः २ (एवं १५) विश्वे देवाः १ सूर्यः १ द्यावापृथिवी १ मरुतः २ इन्द्रः १ अपः १ सविता १ अग्निः १ अश्विनौ १ विश्वे देवाः ५ [एवं १५] सूर्यः २ विश्वे देवाः १० अग्निः १ सोमः १ विश्वे देवाः २ [एवं १६] विश्वे देवाः २ सोमः १ विश्वे देवाः ८ अग्निः १ विश्वे देवाः ३ अग्निपर्जन्यौ १ विश्वे देवाः १ (एवं १७)

ॐभे० प० देवाः १ अपः १ इन्द्रः २ यज्ञः ३ देवाः २ वरुणः १ देवाः ३ अग्निः १ अपांनपात् १ अहिः १ अहिर्बुध्न्यः १ देवाः २ देवपत्नीत्वष्टारौ १ त्वष्टा १ विश्वे देवाः ४ (एवं २५)।

*विश्वे देवाः ३ इंद्रार्यमणौ १ रुद्रः १ नदी १ मरुतः १ विश्वे देवाः १ विष्णुमरुतः १ [एवं ९] ऋभवः २ इन्द्रः ६ [एवं ८] विश्वे देवाः १ वायुपूषणौः १ विश्वे देवाः ५ [एवं ७] विश्वे देवाः १ अग्निः १ देवाः १ अग्निः ३ (एवं ६) विश्वे देवाः १ यज्ञः १ विश्वे देवाः २ अग्निः १ दधिक्राऽव्युषोग्निभगेंद्रविष्णुपूषब्रह्मणस्पत्यादित्यद्यावापृथिव्यापः १ (एवं)।

सविता ६ वाजी २ विश्वे देवाः १४ अग्नींद्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः १ भगः ५ उषाः १ विश्वे देवाः ११ दधिक्राश्व्युषोग्निभगेंद्रविष्णुपूषब्रह्मणस्पत्यादित्यद्यावापृथिव्याप: १ दधिक्रा ४ सविता ४ रुद्र: ४ आप: ४ ऋभवः ४ आपः ४ मित्रावरुणौ १ अग्नि: १ विश्वे देवाः १ नदी १ आदित्यः ६ द्यावापृथिवी ३ वास्तोष्पतिः ४ प्रस्वापिनी ७ मरुतः ४९ रुद्रः १ [३६] (ऋ० ७।५९)

सूर्यः १ मित्रावरुणौ १८ सूर्यः ३ मित्रावरुणौ ३ सूर्यः ४ सूर्यमित्रावरुणाः १ मित्रावरुणौ १४ आदित्यः १० सूर्यः ३ मित्रावरुणौ ३ अश्विनौ ५६ उषाः ४० [३४/६ ३७] (ऋ० ७।८०-८१)

इंद्रावरुणौ ३० वरुणः २७ वायुः ४ इंद्रवायू ३ वायुः १ इंद्रवायू १ वायुः १ इंद्रवायू ४ वायुः १ इंद्रवायू १ वायुः १ इंद्रवायू १ वायुः १ इन्द्राग्नी २० सरस्वती २ सरस्वान् १ सरस्वती ६ सरस्वान् ३ इंद्रः १ बृहस्पतिः १ इंद्राब्रह्मणस्पती १ बृहस्पतिः ५ इंद्राब्रह्मणस्पती १ इंद्राबृहस्पती १ इंद्रः ६ इंद्राबृहस्पती १ विष्णुः ३ इंद्राविष्णू ३ विष्णुः ८ [३८] (ऋ० ७।१००)

पर्जन्यः ९ मंडूकाः १० इंद्रासोमौ ७ इंद्रः १ सोमः १ अग्निः १ विश्वे देवाः १ सोमः २ अग्निः १ इंद्रासोमौ १ इंद्रः १ ग्रावा १ मरुतः १ इंद्रः ४ वसिष्ठाशीःपृथिव्यंतरिक्षाणि १ इंद्रासोमौ २ (इति सप्तमं मडलं, अथाष्टमं मण्डलम्) इंद्रः २९ आसंगमात्मा ४ आसंगः १ इंद्रः ४० विभिंदुः २ इंद्रः २० पाकस्थामा ४ इंद्रः १८ कुरुंगः ३ [३९] (ऋ० ८।४)

अश्विनौ ३६ आश्विकश्रुः १ कश्रुः २ इंद्रः ४५ तिरिंदिरः ३ मरुतः ३६ अश्विनौ ५० अग्निः १० [४०] (ऋ० ८।११)

×इंद्रः १२१ आदित्य: ३ अदितिः १ आदित्याः १ अदितिः २ अश्विनौ १ अग्निसूर्यानिलाः १ आदित्याः ११ आग्निः ३३ आदित्याः २ त्रसदस्युः २ मरुतः २६ [४१] (ऋ० ८।२०)

इंद्रः १६ चित्रः २ आश्विनौ १८ आग्निः ३० इंद्रः २७ वरुः ३ मित्रावरुणौ ९ विश्वे देवा: ३ मित्रावरुणौ १२ आश्विनौ १९ वायुः ६ *विश्वे देवाः ४१ +यज्ञः २ यजमानः २ दंपती ५ दंपत्याशिषः ९ [४२] (ऋ० ८।३१)

इंद्रः ६७ आश्विनौ २४ इंद्रः १४ इंद्राग्नी १० अग्निः १० इंद्राग्नी १२ वरुण: १३ आश्विनौ ३ अग्निः ६३ अग्नींद्रौ १ इंद्रः ६१ [४१/२० ४३] (ऋ० ८।४५-४६)

पृथुश्रवाः ४ वायुः ४ पृथुश्रवाः ३ वायुः १ पृथुश्रवाः १ आदित्याः १३ आदित्योषसौः ५ सोमः १५ (अत्र वालखिल्यसूक्तानि न संग्रहितानि×) आग्निः २० इंद्रः ४१ देवाः १ इंद्रः ३९ आदित्याः ९ अदितिः ३ आदित्याः ९ [४४] (ऋ० ८।६७)

इंद्रः १३ ऋक्षाश्वमेधौ ६ इंद्रः १० विश्वदेववरुणाः १ वरुण: १ इंद्रः २१ अग्निः ३३ आश्विनौ १८ अग्निः १२ श्रुतर्वा ३ आग्निः १६ इंद्रः ३३ सोमः ९ इंद्रः ९ देवाः १ इंद्रः १८ [९/९ ४५] (ऋ० ८।८१-८२)

ॐविश्वे देवाः ९ अग्नि: ९ आश्विनौ २० इंद्रः ९२ इंद्रर्भवः १ मरुतः १२ इंद्रः २२ इंद्रामरुतः १ इंद्राबृहस्पती १ इंद्रः ४८ [२१/२७ ४६] (ऋ० ८।९७-९८)

सुपर्णः १ वज्रः १ वाक्ः २ इंद्रः १ मित्रावरुणौ ४ मित्रावरुणादित्याः १ आदित्याः १ अश्विनौ २ वायुः २ सूर्यः २ उषाः १ पवमानः १ गौः २ अग्निः ३५

×शौनकीयमते तु इंद्रः ११९ वास्तोष्पतींद्रौ १ इंद्रः १ इति विशेषः।

*अत्र २७ विश्वोत्तरः बभ्रुसूक्ते भेदपक्षे– सोमः १ अग्निः १ त्वष्टा १ इन्द्रः १ रुद्रः १ पूषा १ विष्णुः १ अश्विनौ १ मित्रावरुणौ १ अश्विनौ १ (एवं १०)

+मे० प० इंद्रः २ यजमानः २ दंपती ५ यजमानपत्न्याशिषः १ पूषा २ मित्रार्यमावरुणाः १ अग्नि: १ यजमानः ४ (एवं १८)।

×अत्रैकादशसूक्तात्मकवालखिल्याध्यायस्य देवतान्वाधानबुभुत्सायां इंद्रः ५० विश्वे देवाः २ इंद्रः १३ अग्निसूर्यौ १ अश्विनौ ४ विश्वे देवाः ३ इंद्रावरुणौ ७ इति क्रमः। परमभियुक्ताः स्वाहाकारे नेममुमपयुञ्जन्ति।

ॐमे० प० विश्वे देवाः ३ अर्यमावरुणौ १ विश्वे देवाः ५ (एवं ९)

अग्नामरुत: १ (इति अष्टमं मंडलम्, अथ नवमं मंडलम्) पवमानसोमः ४० समिद्धोग्निः १ तनूनपात् १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृती १ पवमानसोमः ५१५ [४६७/४० ४७।४८।४९]

अग्निः पवमानः ३ पवमानसोमः ३१ अग्निः पवमानः ५ पवमानसोमः ३ पावमानोध्येता २ पवमानसोमः ४९८ (इति नवमं मंडलम् अथ दशमं मंडलम्) अग्निः ५५ [३५/२० ५०।५१।५२।५३]

इंद्रः ३ आपः ९ यमः १ यमी १ यमः १ यमी १ यमः ३ यमी ३ यमः १ यमी १ यमः १ यमी १ अग्निः १८ हविर्धानः ५ यमः ५ अंगिरःपित्रथर्वभृगुसोमाः १ यमः ३ यमश्वानौ ३ यमः ४ पितरः १४ अग्निः १४ सरण्युः २ पूषा ४ सरस्वती ३ आपः ५ मृत्युः ४ धाता १ त्वष्टा १ पितृमेधः ८ [५४] (ऋ० १०।१८)

अग्नीषोमाः १ आपः ७ अग्निः १८ इन्द्रः २५ अश्विनौ ३ सोमः ११ पूषा ९ इन्द्रः २५ वसुक्रः १ इंद्रः २ वसुक्रः १ इन्द्रः १ वसुक्रः १ इंद्रः १ वसुक्रः १ इन्द्रः १ वसुक्रः १ इन्द्रः ८ आपः १५ *विश्वे देवाः ११ इंद्रः ९ [५५] (ऋ० १०।३२)

विश्वे देवाः १ इन्द्रः २ कुरुश्रवणः २ उपमश्रवाः ४ अक्षाः १ अक्षकितवः ५ अक्षाः १ अक्षकितवः १ अक्षाः १ अक्षकितवः २ अक्षाः १ कृषिः १ अक्षकितवः १ ×विश्वे देवाः २८ सूर्यः १२ इंद्रः ५ अश्विनौ ३१ इन्द्रः ३३ अग्निः २२ [१२/१० ५६] (ऋ० १०।४५-४६)

वैकुंठ इंद्रः ३७ अग्निः १ देवाः १ अग्निः १ देवाः १ अग्निः १ देवाः १ अग्निः १ देवाः १ अग्निः १ देवाः ६ अग्निः ३ देवाः २ अग्निः ६ इन्द्रः १४ ❀विश्वे देवाः १३ मनः १२ निर्ऋतिः ३ निर्ऋतिसोमौ १ असुनीतिः २ पृथिवीद्व्यंतरिक्षसोमपूषपथ्यास्वस्तयः १ द्यावापृथिवी २ इंद्रद्यावापृथिव्यः १ असमाति ४ इंद्रः १ असमातिः १ जीवः ५ हस्तः १ +विश्वे देवाः ३४ [२७/७ ५७] (ऋ० १०।६१-६२)

सावर्णिः ४ ×विश्वे देवाः १४ पथ्यास्वस्तिः २ ☙विश्वे देवाः ४८ बृहस्पतिः २४ अग्निः १२ समिद्धोग्निः १ नराशंसः १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ बृहस्पतिः १ स्वाहाकृती १ ज्ञानं ११ [५८] (ऋ० १०।७१)

देवाः ९ इन्द्रः १७ नदी ९ ग्रावा ८ मरुतः १६ अग्निः १४ विश्वकर्मा १४ मन्युः १४ सोमः ५ सूर्याविवाहः ११ देवाः १ सोमार्कौ १ चंद्रमाः १ सूर्यासावित्री ९ वधूवासः २ दंपतीराजयक्ष्महा १ सूर्यासावित्री १६ [५९] (ऋ० १०।८५)

---

* भे० प० विश्वे देवाः ९ अश्वत्थगर्भा शमी १ उषोग्नी १ (एवं ११)।

× भे० प० विश्वे देवाः ३ उषासोग्निः २ विश्वे देवाः ९ (एवं १४)। विश्वे देवाः १३ सविता १ (एवं १४)।

❀ अत्र ७ विश्वोत्तरः भे० प० इंद्रः १ अग्नितंतुः १ विश्वे देवाः ३ सोमः १ (एवं १३)

+रुद्रः २ अश्विनौ २ रुद्रः २ विश्वे देवाः १ वास्तोष्पतिरुद्रौ १ वास्तोष्पत्यग्नी १ अंगिराः १ इन्द्रः ३ अग्निः १ नासत्येंद्रौ १ सोमः १ अग्निः १ आदित्यनाभानेदिष्ठौ १ नाभानेदिष्ठधेनू १ अग्निः १ इन्द्राग्नी १ इन्द्रः १ मित्रावरुणनाभानेदिष्ठाः १ वरुणः १ मित्रावरुणौ २ देवाः १ (एवं २७) ॥

× भे० प० अंगिराः ६ विश्वे देवाः १ सवर्णिः ४। (एवं ११)

☙ विश्वे देवाः ९ द्यौः १ विश्वे देवाः ४ पथ्यास्वस्तिः २ विश्वे देवाः १ (एवं १७) विश्वे देवाः ४ आदित्यार्यमणः १ विश्वेदेवाः ३ नदी १ विश्वे देवाः ४ द्यावापृथिवी १ विश्वे देवाः ३ (एवं १७) विश्वे देवाः ४ मित्रावरुणौ १ गौः १ विश्वे देवाः १ द्यावापृथिवी १ विश्वे देवाः ३ अश्विनौ १ विश्वे देवाः ३ (एवं १५) विश्वे देवाः ६ अग्नीषोमौ १ विश्वे देवाः ८ (एवं १५)

❀

*इन्द्रः २३ रक्षोहाग्निः २५ सूर्यवैश्वानरौ १९ इंद्रः ४ इंद्रासोमौ १ इन्द्रः १३ पुरुषः १६ अग्निः १५ ×विश्वे देवा. ३० ग्रावा १४ [६०] (ऋ० १०।९४)

उर्वशी १ पुरूरवाः १ उर्वशी १ पुरूरवाः २ उर्वशी १ पुरुरवाः १ उर्वशी ३ पुरूरवाः १ उर्वशी १ पुरूरवाः १ उर्वशी १ पुरूरवा· २ उर्वशी १ पुरूरवाः १ इन्द्रः १३ ओषधीः २३ +देवाः १२ इन्द्रः १२ ❀विश्वे देवाः २४ द्रुघणः १२ इन्द्रः ३ बृहस्पतिः १ इन्द्रः ७ आपोदेवी १ मरुतः १ इंद्रः २२ [६१] (ऋ० १०।१०५)

अश्विनौ ११ दक्षिणा ११ सरमा १ पणयः १ सरमा १ पणयः १ सरमा १ पणयः १ सरमा १ पणयः १ सरमा १ पणयः २ विश्वेदेवाः ७ समिद्धमग्निः १ तनूनपात् १ इळः १ बर्हिः १ देवीर्द्वारः १ उषासानक्ते १ दैव्यो होतारौ प्रचेतसौ १ सरस्वतीळाभारत्यः १ त्वष्टा १ वनस्पतिः १ स्वाहाकृति १ इन्द्रः ३० ⊛विश्वे देवाः १० अग्निः ९ इन्द्रः ९ धनान्नदानं ९ रक्षोहाग्निः ९ ऐंद्रोलबः १३ [६२] (ऋ० १०।११९)

इन्द्रः ९ प्रजापतिः १० अग्निः ८ वेनः ८ अग्निः ४ वरुणः १ सोमः १ वरुणः २ सोमेंद्रौ १ आंभृणी वाक् ८ विश्वे देवाः ८ रात्रिः ८ ✠विश्वे देवाः ९ भाववृत्तम् १४ इन्द्रः ३ अश्विनौ २ इन्द्रः २ द्युभूम्यश्विनः १ मित्रावरुणौ ६ इन्द्र. ११ गोधेंद्रः ३ यमः ७ केश्यग्निसूर्यवायू ७ ×विश्वे देवाः ७ इंद्रः ६ सविता ३ देवगंधर्वः १ विश्वावसुः २ अग्निः ७ विश्वे देवाः ५ अग्निः ८ [६३] (ऋ० १०।१४२)

अश्विनौ ६ इंद्रः ६ सपत्नीनाशनम् ६ अरण्यानी ६ इन्द्रः १० सविता ५ अग्निः ५ श्रद्धा ५ इंद्रः १० भाववृत्तम् ५ अलक्ष्मीनाशनम् १ ब्रह्मणस्पतिः २ अलक्ष्मीनाशनम् १ विश्वे देवाः १ अग्निः ५ विश्वे देवाः ५ सूर्यः ५ शची ६ इंद्रः ५ इंद्राग्नी ५ प्रजापतिः ६ यक्ष्महा ६ दुःस्वप्ननाशनम् ५ ☙विश्वे देवाः ५ सपत्ननाशनम् ५ इंद्रः २ सोमवरुणबृहस्पत्यनुमतिधातृविधातारः १ इन्द्रः १ वायुः ४ गौः ४ सूर्यः ४ इन्द्रः ४ उषाः ४ राजानः ११ ग्रावा ४ ऋभवः १ अग्निः ३ मायाभेदः ३ तार्क्ष्यः ३ इंद्रः ६ विश्वे देवाः ३ बृहस्पतिः ३ यजमानः १ यजमानपत्नी १ होता १ विष्णुत्वष्टृप्रजापतिधातारः १ सिनीवालिसरस्वत्यश्विनः १ अश्विनौ १ आदित्याः ३ वायुः ३ अग्निः ५ जातवेदोग्निः ३ सूर्यः ३ भाववृत्तम् ३ अग्निः १ संज्ञानम् ३ [६४] (ऋ० १०।१९१)

मन्त्रसंख्या	१०४७२
वालखिल्यस्य	८०
सर्वयोगः	१०५५२

इस सूची का अर्थ ऐसा है —

ऋग्वेदमें प्रथम अग्नि देवता है और उसके ९ मन्त्र हैं। पश्चात् वायु के ३, इन्द्रवायू के ३ पश्चात् मित्रावरुणौ के ३, नंतर अश्विनौ के ३, इन्द्र के ३, विश्वेदेवा के ३ पश्चात् सरस्वतीके ३, इसके पश्चात् इन्द्र के २३ मंत्र हैं। इस तरह सूक्तों की पर्वाह न करते हुए देवतामंत्रोंकी

---

*इन्द्रेंद्राणीवृषाकपीनां देवतात्वे न्वित्थं- इंद्राणी १ इन्द्रः ५ इंद्राणी २ इन्द्रः २ इन्द्राणी २ इंद्रः १ वृषाकपिः १ इन्द्रः १ वृषाकपिः ४ इन्द्रः १ एवं विभजंति तद्भाष्यविरुद्धं ।

×विश्वे देवाः १ अग्निः ३ विश्वे देवाः ३ इन्द्रः १ विश्वे देवाः ७ द्यावापृथिवी १ विश्वे देवाः ६ इंद्रः १ विश्वे देवाः १ द्यावापृथिवी १ इन्द्रः १ विश्वे देवाः ४ (एवं ३०)

+भे० प० बृहस्पतिः ३ देवाः ४ अग्निः ५ (एवं १२)

❀भे० प० विश्वे देवाः १० इन्द्रादिती १ इंद्रः १ ऋत्विक् १२ (एवं २४)

⊛भे० प० विश्वे देवाः ३ परमात्मेन्द्रौ २ यज्ञपरमात्मानौ २ मध्यमा वाक् १ गायत्र्यादिछंदांसि १ विश्वे देवाः १ (एवं १०)

✠भे० प० अग्निः १ विश्वे देवाः ४ अग्निः १ विश्वे देवाः १ इन्द्रः १ विश्वे देवाः १ (एवं ९)

×भे० प० देवाः १ वातः ३ विश्वे देवाः १ आपः २ (एवं ७)।

☙भे० प० विश्वे देवाः ३ यमः १ विश्वे देवाः १ (एवं ५)

प्रमाणिक गणना की है। इस में देखिये कि यहां इंद्र के मंत्र २३ लिखे हैं। प्रथम मंडल के सूक्त ४ के १०, सूक्त ५ के १० और सूक्त ६ के प्रारम्भ के ३ मिलकर २३ हुए हैं। यहां इतने ही इंद्रके मन्त्र हैं। इस तरह का यह उत्तम देवतासंग्रहग्रंथ है। देवताविषयक सब शंकाएं इससे दूर हो सकती हैं।

यद्यपि निघण्टु के पंचम अध्याय में १५१ देवताएं दी हैं, तथापि ऋग्वेद में संयुक्त देवताएं अनेक होने के कारण २९७ देवताएं ऋग्वेद में दीखती हैं। अर्थात् यह संख्या संयुक्त देवताओं को अलग गिननेसे इतनी हुई है। जैसा अग्नि, अग्निसूर्यौ, अग्निवरुणौ, अग्नीषोमौ, ऐसी संयुक्त देवताएं अनेक बढ गयीं हैं। किसी तरह भी इनको तोडना असंभव है। किसी विशेष हेतु से ही इन संयुक्त देवताओं को वेदमें रखा होगा, इसलिये इनको ऐसा ही रखना उचित है। और अतः दैवत-संहितामें इनको अलग परन्तु मुख्य देवता के प्रकरण में हि रखना चाहिये जैसा उक्त देवताएं अग्निके साथ संबंधित होनेसे अग्निके पश्चात् आवेगी।

इसी तरह इन्द्र के साथ, इन्द्राबृहस्पती, इन्द्रामरुतौ, इन्द्राश्वौ, इन्द्रापर्वतौ आदि देवताएं रहेंगी। इस तरह अन्य देवताओं की व्यवस्था इस दैवत-संहिता में रहेगी। जिस देवता का विचार जिस देवता के साथ होता है, वहीं वहां रखी जायगी।

सबसे पहिले पृथिवी-अंतरिक्ष-द्युस्थानों में निरुक्त के कथनानुसार देवताएं रखनेका विचार किया था, परन्तु जब हमने देवतावार मंत्रसंग्रह किया, तब मालूम हुआ कि निरुक्त के आदेशानुसार देवताओं की गणना करना असंभव और अयोग्य भी है।

यदि संयुक्त देवताएं न होतीं, तो कदाचित् वैसा करना संभव हो सकता था, परन्तु संयुक्त देवताओं के कारण वैसा होना, तो सर्वथा असंभव हुआ है। एक एक देवता के विषय में भी सोम देवता का उदाहरण ऐसा है कि वह भी किसी एक पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्युस्थान में नहीं रखी जाती, क्योंकि वनस्पतिरूप सोम पृथ्वीपर है, चन्द्रमारूप सोम अंतरिक्ष में है और द्युलोकनिवासी सोम तीसराही है। इस कारण निरुक्त का कथन सामान्य तौरपर सत्य होनेपर भी विशेष विचार करनेपर वैसा देवताविभाग करना असंभव हुआ है।

इसलिये हमने अब जो देवताविभाग किया है, वह ऐसा है—

दैवत-संहितामें देवताओंका क्रम।

इस दैवत-संहिता में देवताओं का क्रम निम्न लिखित रखने का निश्चय किया गया है। सब से प्रथम अग्नि देवता रहेगी, क्योंकि ऋग्वेद में सबसे प्रथम अग्नि देवता है—

(१) अग्निप्रकरण।

अग्नि के २०३० मंत्र ऋग्वेद में हैं। इनमें आप्री सूक्त १० हैं। आप्री सूक्त ११ देवताओं का मिलकर होता है। ऐसे दस आप्रीसूक्त ऋग्वेद में हैं। अतः यहां सब आप्री सूक्त एक ही स्थानपर दिये हैं। इनके साथ यजुर्वेद के ८, अथर्ववेद के २ और मैत्रायणी, काठक तथा तैत्तिरीय संहिता के सब मिलकर ५ ऐसे कुल तेरह आप्रीसूक्त अन्य हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी एक है जो प्रैषाध्याय में लिया जाता है, वह भी लिया है। आप्रीसूक्त अग्निसूक्त ही हैं, और इन सूक्तों में "१ समिद्धोऽग्निः, २ तनूनपात्, ३ नराशंसः, ४ इळः, ५ बर्हिः, ६ देवीर्द्वारः, ७ उषासानक्ता, ८ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ९ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, १० त्वष्टा, ११ वनस्पतिः १२ स्वाहाकृतिः" ये देवताएं होती हैं। कई सूक्तों में एक कम भी होती है।

आप्रीसूक्तों में ये देवताएं इसी क्रम से आती हैं। इस क्रम में विशेष हेतु होगा, अतः अभ्यासकों की सुविधा के लिये हमने ये सब सूक्त यहां इकट्ठेही दिये हैं। इससे जो अभ्यासक इनको इकट्ठा विचार करना चाहेंगे, वे इकट्ठा हि इनका विचार कर सकेंगे, और जो अलग अलग इनके अन्तर्गत देवताओं का स्वतंत्र रीतिसे विचार करना चाहेंगे, वे अलग अलग देवताओंका भी विचार कर सकेंगे।

अग्नि देवता के मन्त्रों में प्रथम अग्नि के मंत्र देकर, पश्चात् रक्षोहा अग्नि, वैश्वानर अग्नि, जातवेदा अग्नि ऐसे उपविभागों में मंत्र दिए हैं, और अन्तमें ये सब 'आप्री सूक्त' दिये हैं। क्योंकि आप्री देवताएं अग्निरूप

हि हैं। इसलिए अग्निमन्त्रों के साथ हि इनका विचार करना चाहिए।

अग्निप्रकरण में इसके पश्चात् १ सौर्यवैश्वानरोऽग्निः, २ अपांनपात्, ३ अग्नीन्द्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः, ४ अग्निर्मरुतश्च, ५ अग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता च, ६ अग्निवरुणौ, ७ अग्निसूर्यौ, ८ अग्निः सूर्यो वायुश्च, ९ अग्निसूर्यानिलाः, १० अग्निसूर्यवायवः, ११ अग्नीषोमौ, ये देवताएं अग्नि के साथ संयुक्त होने के कारण अग्नि के परिशिष्ट में रखी हैं।

मुख्य अग्निप्रकरण में तथा अग्नि के उपप्रकरणों में मिलकर कुल मंत्र २२२८ आए हैं।

(२) इन्द्रप्रकरण।

वैदिक प्रणाली के अनुसार अग्नि के पश्चात् प्रायः 'इंद्र' देवता आता है। अतः हमने अग्नि के पश्चात् इन्द्रप्रकरण रखा है।

'इंद्र' देवता के मंत्र ऋग्वेद में कुल २८४८ हैं। इस इन्द्र के उपप्रकरणों में संयुक्त देवताएं आ गयी हैं, वे ये हैं--

१ इन्द्राग्नी, २इन्द्राश्वौ, ३ इन्द्रोषसौ, ४ ऋणंचयेंद्रौ, ५ इंद्र ऋभवश्च, ६ इन्द्राकुत्सौ, ७ इन्द्रस्त्वष्टा, ८ इंद्रद्यावापृथिवी, ९ इंद्रापर्वतौ, १० इंद्रापूषणौ, ११ इंद्राबृहस्पती, १२ इंद्रामरुतौ, १३ इंद्राब्रह्मणस्पती, १४ देवमूमिबृहस्पतींद्राः, १५ इंद्रामरुतश्च १६ इंद्रावरुणौ, १७ इन्द्रवायू, १८ इन्द्राविष्णू, १९ इन्द्रासोमौ, २० इन्द्रसोमब्रह्मणस्पतिदक्षिणीच, २१ इन्द्र सोम ब्रह्मणस्पतयः, २२ इंद्राणी वरुणाश्च-अग्नाय्यः, २३ देव्यः, २४ देवपत्न्यः इन उपप्रकरणों में ३२७ मंत्र हैं।

सब मिलकर ३१७५ इतने मंत्र इस इन्द्रप्रकरण में ऋग्वेद से आते हैं।

(३) मरुत्-प्रकरण।

'इंद्र' देवता के साथ 'मरुतों' का वेद में अत्यंत घनिष्ठ सम्बंध है। इसलिए इंद्रप्रकरण के साथ मरुत्-प्रकरण यहां रखा है। इस मरुतों के प्रकरण में कुछ मंत्र ४२६ हैं।

यद्यपि यह छोटासा प्रकरण है, तथापि इन मन्त्रों का सम्बन्ध इंद्रके मन्त्रों के साथ है, इसलिए इंद्र के साथहि यहां यह दिया है।

(४) सोम-प्रकरण।

'सोम' देवता के मंत्रोंमें इंद्र का विशेष सम्बन्ध आता है। 'इन्द्राय पातवे सुतः। (ऋ० म० ९।१।१) इन्द्रमिन्दो वृषा विश। (९।२।१) इंद्राय मधुमत्तमः। (९।१२।१) इन्द्रं सोमासो अक्षरन्। (९।१७।२) इन्द्रस्य जठरे विश ९।६६।१५

इस प्रकार के मंत्र सोममन्त्रों में हैं। इनका अर्थ 'इंद्र के पीने के लिए यह है। हे सोम! तू इन्द्र को प्राप्त हो। इंद्र के लिए यह मीठा रस है। इंद्र के लिए सोमरस प्रवाहित होता है। हे सोम! तू इंद्र के पेट में घुस जा।'

ऐसे मंत्र आनेसे सोम और इन्द्र का सम्बंध स्पष्ट है। इसलिये सोम के मंत्र इंद्र के मन्त्रों के बाद और साथ अभ्यसनीय हैं। इसलिये इंद्र के प्रकरण के साथ सोमके मंत्र दिये हैं। इनकी संख्या १२०० है। वस्तुतः नवम मण्डल सोमदेवता का ही है और इसकी मंत्रसंख्या ११०८ है। तथापि उसमें ५ वां सूक्त 'आप्रीसूक्त' है, जो आप्रीसूक्तों में अग्नि के उपप्रकरण में गया है और पवमान, सोमार्कौ, सोमापूषणौ, सोमारुद्रौ, सोमवरुणबृहस्पति आदयः' ये देवता भी उपप्रकरण में लिये हैं, इनके ९२ मंत्र मिलाकर इस सोमप्रकरण के कुल मंत्र १२०० इस विभाग में हैं।

(५) अश्विनौ-प्रकरण।

इसके बाद अश्विनौ-प्रकरण है। अश्विनौ को सोमप्रकरण के पश्चात् इसलिए रखा है कि अश्विनौ देवता सोमके समान ही द्युलोक और भूलोकव्यापिनी है। प्रथम अश्विनौ को सोम प्राप्त नहीं हुआ था और पश्चात् प्राप्त हुआ। इस तरह सोम के साथ अश्विनौ का सम्बंध पश्चात् जुड गया है, इसका रहस्य खोज करके जानना चाहिए।

अश्विनौ को इस स्थानपर इसीलिये रखा है। ऋग्वेद में इस देवता के मंत्र कुल ६३० है।

(६) विश्वे देवाः।

'विश्वे देवाः' करके कोई एक देवता नहीं है, परंतु यह अनेक देवताओंका संगठन है। किसी किसी समय 'विश्वे देवाः'के मन्त्रोंमें 'विश्वे देवाः, सर्वे देवाः, देवाः देव्यः' आदि सामान्य शब्द, अनेक देवताओं के वाचक आते हैं और किसी किसी समय 'अग्नि, इंद्र, वरुण' आदि अनेक देवताओं के साक्षात् नाम भी आते हैं। परंतु इन मंत्रोंमें अग्न्यादि देवताओं के नाम आते हैं, इसलिये इन मंत्रोंके अग्नि आदि के अनुसार टुकडे करके उन अग्न्यादि देवतावाले प्रकरणोंमें इनको रख नहीं सकते, क्योंकि एक चरण में भी कई देवताएं होती हैं और वैसे टुकडे किये भी जायगे, तब भी कोई भाव उन टुकडोंसे निकल नहीं सकेगा। इसी लिये 'विश्वे देवाः' देवतावाले मंत्रोंका एक स्वतंत्र प्रकरण ही यहां बनाना आवश्यक हुआ है। इसी प्रकरण में 'लिंगोक्त' देवता के मंत्र भी समाविष्ट होते हैं। क्योंकि 'विश्वे देवाः' और 'लिंगोक्त-देवताः' का आशय प्रायः एकही है। दोनोंमें अनेक देवताएं एक स्थानपर रहती हैं। इस विभाग में ऋग्वेद के ८६७ मंत्र आये हैं।

(७) अल्पमन्त्रवाले देवतागण।

इस प्रकरण में अल्प मंत्रसंख्यावाले देवताओंके सूक्त दिये जायंगे, जैसा—

१ रुद्रादयः।

१ रुद्रः, २ वायुः, ३ वरुणः, वरुणमित्रार्यमणः ४ वास्तोष्पतिः, ५ वास्तोष्पतिरिन्द्रश्च, ६ वेनः, ७ विश्वकर्मा,८ विष्णुः, विष्णुर्देवो वा, विष्णुस्त्वष्टृप्रजापतिधातारः, ९ मित्रावरुणौ, मित्रावरुणादित्याः १० बृहस्पतिः, ११ ब्रह्मणस्पतिः, १२ सदसस्पतिः, १३ सदसस्पतिर्नराशंसो वा, १४ साध्याः, १५ अहिः, अहिर्बुध्न्यः, इन देवताओंके २६८ मन्त्र इसमें रहेंगे, और प्रति देवता का अलग अलग उपप्रकरण रहेगा। इस में छोटे छोटे २० प्रकरण रहेंगे।

२ यमादयः।

१ यमः, २ मृत्युः, ३ पितरः, ४ पितृमेधः, ये देवता द्वितीयगण में रहेंगे और इनके ३६१ मंत्रोंके कुल ४ उपप्रकरण इसमें रहेंगे।

३ उषादयः।

१ उषाः, २ अदितिः, आदित्योषसः, ३ आदित्याः, ४ मित्रः, ५ सविता, ६ सूर्यः, सूर्यमित्रावरुणाः, ७ भगः त्वष्टा धाता पूषा ८ संवत्सरः, कालः ९ रात्रिः ऋतवः, १० चन्द्रमाः ११ राका, १२ सिनीवाली सिनीवालीसरस्वतीअश्विनः, १३ सूर्यासावित्री, सूर्याविवाहः।

इन देवताओंके ५७२ मंत्रोंका यह विभाग होगा। इस में पाठक देवताओं का परस्पर संबंध भी देख सकते हैं, जैसे—

उषा के पश्चात् आदित्यका उदय होता है। अदितिसे आदित्य होते हैं। आदित्य, सूर्य, सविता, भग, मित्र आदि एक हि देवता के गुणबोधक अनेक नाम है। सूर्य से ही संवत्सर या काल होता है। रात्री भी इसके अभाव से होती है, रात्रीके समय चन्द्रमा प्रकाशता है। ऋतु भी काल के ही विभाग हैं। इस तरह परस्पर संबंध देखने योग्य हैं। इन देवताओं को यहां इस दृष्टिसे एकत्रित किया है।

४ पुरुषादयः।

इस चतुर्थ गणमें १ पुरुषः, २ आत्मा, ३ कः, ४ जीवः ५ वाक्, ६ श्रद्धा, ७ ज्ञानं, संज्ञानं, ८ मनः, ९ असुनीतिः, १० हस्तः, ११ मन्युः, १२ भाववृत्तं, १३ आशीः, १४ होत्राशिषः, १५ पथ्यास्वस्तिः, १६ अभिशापः, १७ दम्पती:, दम्पत्याशिषः,१८ वधूवासः- संस्पर्शनिन्दा, १९ रतिः, २० अलक्ष्मीनाशनं, २१ दुःस्वप्ननाशनं, २२ यक्ष्मनाशनं, २३ सपत्नीनाशनं, २४ निर्ऋतिः, निर्ऋतिः सोमश्च इतने देवताओंके २१७ मंत्र यहां रहेंगे।

इन में भी परस्पर संबंध है। पुरुष जीव आत्मा यह तो आत्मा का ही ज्ञान देनेवाली देवताएं हैं। वाक् श्रद्धा

ज्ञान, मन, हस्त, मन्यु (क्रोध), आशीर्वाद, शाप, स्वस्ति आदि का तो मानवी शक्तियों के साथ संबंध स्पष्ट ही है। विवाह होकर दम्पती बनना, रति की गृहस्थ में आवश्यकता है, अलक्ष्मी आदिका नाश तो होना ही चाहिये, तभी गृहस्थीको सुख लाभ हो सकता है। इस तरह इनका विचार इकट्ठा होने से विशेष अर्थ बोध होना संभव है, इसलिये ये पचीस प्रकरण यहां साथ रखे हैं।

५ पृथिव्यादयः।

इस मंत्रगण में १ पृथिवी, पृथिव्यन्तरिक्षे, २ द्यावापृथिवी, द्यावाभूमी, पृश्निर्वा, पृथ्वीद्यावन्तरिक्षस्सोमपूषाणः, ३ द्युभूम्यश्विनः ४ ऋभवः ५ क्षेत्रपतिः, ६ पणयः, ७ मायाभेदः, इन देवताओंके १७६ मंत्र यहां रहेंगे। पृथ्वी के साथ क्षेत्रपति- भूमि के मालिक का संबंध है, 'पणयः' व्यापार करनेवाले भी पृथ्वीपर रहनेवालों की सहायता करने के लिये चाहिये। मायाभेदसे चातुर्य के कार्य करनेवाले भी देश में होते ही हैं।

६ अप्-ओषधि-आदि।

पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणिमात्र के लिये जल की आवश्यकता है। अतः यहां१ आपः, अप्वादेवी, आप अग्निश्च, अप्तृणसूर्याः, २ पर्जन्यः ३ मण्डूकाः, ४नद्यः ५ सरस्वान्, सरस्वती, आपः सोमो वा, आपो ग्रावो वा, आप अपांनपाद्वा, ६ औषधिः। जल होनेसे औषधियां होती हैं। इन देवताओं के १७६ मन्त्र यहां रहेंगे। इनका संबंध एक दूसरे से स्पष्ट ही है।

७ कृष्यादि।

पृथ्वी और जल होनेपर कृषि होती हि है- इसलिये, १ कृषिः, २ सीता, ३ शुनासीरी, ४ अरण्यानी, ५ ब्रह्मनः ये देवता यहां दिये हैं। जूआ खेलना बुरा है यह दर्शानेके लिये ६ अक्षाः, कितवनिन्दा भी है। युद्ध होनेपर ७ रथांगानि; संग्रामाशिषः आवश्यक ही है। इन सब के मिलकर ५४ मंत्र यहां रहेंगे।

८ पशु।

कृषि हुई, घर बन गया तो गृहोपयोगी पशु तो चाहिए हि। अतः यहां १ गावः, २ अश्वाः, हरिः, दधिक्रावाजिनः, ३ सरमा, सरण्यू, शुनः श्वानौ, ४ तार्क्ष्यः, श्येनः, शकुन्तः इन के ११७ मन्त्र इस प्रकरण में रहेंगे।

९ ऋषयः।

ऋषिप्रकरणमें १ अत्रिः, २ विश्वामित्रः, ३ वामदेवः, ४ वसिष्ठः, ५ रोमशा, ६ अंगिराः, ७ उपाध्यायः इनके २७ मंत्र रहेंगे।

१० राजानः।

राजाओंके प्रकरणमें १ भावयव्यः, २ प्रजापतिः, ३ रोमकः, ४ पुरुमीढः, ५ स्वनयः, ६ तरन्तः, तरन्तमहिषी ७ सुदासः, ८ रथवीतिः, ९ चायमानः, १० बृबुः, ११ प्रस्तोकः, १२ आसंगः, १३ विभिन्दुः, १४ पाकस्थामा १५ चैद्यः कशुः, १६ तिरिन्दिरः, १७ कुरुंगः, १८ असदस्युः, १९ चित्रः, २० वरुः, २१ प्रथुश्रवाः, २२ श्रुतर्वा, २३ वसुरुः, २४ कुरुश्रवणः, २५ उपमश्रवाः, २६ असमातिः, २७ सावर्णिः, २८ ऋक्षाश्वमेधौ, २९ पुरूरवाः, ३० उर्वशी, ३१ दक्षिणादातारः, ३२ राजा इनके १२६ मंत्र इस विभागमें रहेंगे।

११ यज्ञः।

मनुष्य की इतिकर्तव्यता यज्ञ करनेसे होती है, इसलिये इस यज्ञप्रकरण में १ यज्ञः, २ यजमानः, ३ यजमानपत्नी, ४ यूपः, ५ हविर्धाने, ६ उलूखलमुसले ७ ग्रावाणः, ८ अन्नं, ९ धनान्नदानं इनके ७४ मंत्र इस यज्ञ प्रकरण के यहां रहेंगे।

अर्थात् इन प्रकरणोंमें निम्नलिखित प्रकार मंत्र आयेंगे-

अग्नि	२२२८
इन्द्र	३१७५
मरुत्	४२६
सोम	१२००
अश्विनौ	६३०
विश्वे देवाः	८६७
रुद्रादयः	२६८
यमदयः	३६१
उषादयः	५७२

पुरुषादया	२१७
पृथिव्यादयः	१७६
अश्वादयः	१७६
कृष्यादयः	५४
गावादयः	११७
ऋषयः	२७
राजानः	१२६
यज्ञः	७४
	१०६९४

इनमें अन्य वेदों में आये आप्रीसूक्त के १४२ मंत्र हैं। इनको अलग करनेसे १०५५२ ये ऋग्वेद के मंत्र ठीक इकट्ठे हो गये हैं।

अथर्ववेद के मंत्रोंका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार विषयवार है- १ अध्यात्मप्रकरण, २ब्रह्मचर्य, ३ गृहस्थ, ४ वानप्रस्थ, ५ संन्यास, ६ आयुर्वेद, चिकित्सा, औषधिप्रयोग, रोगनिवारण, क्रिमिनाशन, विषनाशन, ७ राज्यशासन, ८ संग्राम, शत्रुनाश, इत्यादि। अथर्ववेद के सब मंत्र निम्नलिखित प्रकार प्रकरणोंमें बांटे गये हैं, जो कुल मंत्र ५९७७ हैं।

यजुर्वेदादिकों में से सब पादबद्ध मंत्र २२२१ होते हैं। अर्थात्—

१०६९४
५९७७
२२२१
१८८९२

इतने मंत्र दैवत-संहितामें आ रहे हैं। इन में पुनरुक्ति के कारण जो कुछ न्यून होंगे, वे प्रत्यक्ष गिनाये जाने के बाद तथा आवश्यक अनावश्यक का निश्चय होने के बाद मालूम होंगे। कई स्थानों में दुबारा मंत्र रखने ही पडते हैं, क्योंकि उस मंत्र के विना सूक्तका आशय ठीक नहीं समझ में आता। ऐसे स्थानोंमें मंत्र पुनः आनेपर भी रखे ही जांयगे। पर इनका पहिले स्थानका पता अवश्य दिया जायगा।

जो ऋग्वेदके मंत्र यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद की विभिन्न संहिताओं में थोडेसे पाठभेद से आ गये हैं, उन के सब पाठभेद टिप्पणी में उन के स्थान के साथ दिये जा रहे हैं, जिससे इस दैवतसंहिता में किसी भी संहिताका एक भी मंत्र छुटेगा नहीं और प्रकरणानुसार सब मंत्र यथास्थान पाठकों के विचारार्थ इसमें मिल जांयगे।

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकरण यहां दर्शाये हैं, तथापि यहाँ प्रतिदिन प्रकरणों का विचार हो रहा है और तदनुसार इधर उधर प्रकरण बदले भी जा रहे हैं। छपने तक इस प्रकार आवश्यक सुधार होता ही रहेगा। ऋग्वेद-अग्नि प्रकरण की छपाई शुरू हो चुकी है।

इसलिये पाठकों से निवेदन है कि वे भी इन प्रकरणों का विशेष विचार करें और इस विषय की अपनी सूचनाएं भेज कर अनुगृहीत करें।

इस समय अग्नि प्रकरण का मुद्रण शुरू हुआ है। इस प्रकरण का पहिला फार्म विद्वानों के पास भेजा गया है और उनकी सूचनाएं मांगी हैं। विद्वानों की जो सूचनाएं आवेंगी उनका विचार अवश्य किया जायगा। इस तरह २१३ फार्म संमत्यर्थ भेजे जायंगे, तत्पश्चात् एकवार मुद्रण की पद्धति निश्चित हुई तो आगे शीघ्र मुद्रण होने में देरी नहीं लगेगी।

	मूल्य	पेशगी	डा०
१ दैवतसंहिताका	मूल्य	मूल्य	व्य०
	१२)	६)	२)
२ दैवतसंहिता			
कागजकी एक ओर छपाई	१६)	८)	३)

यदि देवताओंके अलग अलग प्रकरण पाठक विना जिल्द लेंगे, तो वे उक्त मूल्य में ही दिये जांयगे। परंतु यदि वे सजिल्द लेंगे तो जितनी जिल्दें वे बनवायेंगे उतने हिसाबसे प्रत्येक जिल्दके लिये ॥) अधिक लिये जांयगे। हमारा विचार है कि ४ या ५ विभाग किये जांयगे तो ठीक होगा। देवताप्रकरणों के अलग पुस्तक मंगवानेवालोंको इससे २) या ३) रु० अधिक लगेगा। कितनी जिल्दें बनवाना है, यह पाठक ही निश्चित कर सकते हैं। यदि वे ५०० पृष्ठों की एक जिल्द चाहेंगे तो ४ जिल्दें होंगी, यदि २००सौ पृष्ठोंकी चाहेंगे तो अधिक जिल्दें होंगी। ग्राहकों की जैसी इच्छा होगी वैसी जिल्दें हम उनके लिये बनाकर

भेज देंगे। जिल्दें पृष्ठों के हिसाबसे बनवाने की अपेक्षा देवताओंके अनुसार बनवायीं जायगीं तो अच्छा रहेगा।

ग्राहक हमारे पास डा० व्य० सहित पेशगी मूल्य भेज दें और अपनी इच्छा हमें सूचित करें। हम यहां वैसी जिल्दें उनको भेजेंगे और उनको हिसाब बतावेंगे।

दैवत-संहिताका नाम।

"दैवत-संहिता" यह नाम ऐसा है कि जो ऋग्वेदके प्रथम सात मण्डलों को 'आर्षेय-संहिता' कहनेके समान अन्वर्थक होने पर भी प्रिय नहीं लगता और अर्थगौरव भी नहीं दिखाता।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।

सब वेद अर्थात् सब वेदके मन्त्र ब्रह्म पदका ही वर्णन करते हैं, यह सब मानते हैं और यह सत्य भी है। इस लिये यदि इस देवतावार, मंत्र-संग्रह का नाम 'ब्रह्मवेद' रखा जाय तो अन्वर्थक होगा, कानको प्रिय लगेगा और इस नाम में अर्थगौरव भी है।

'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'मंत्र' भी है, अतः मंत्रोंके संग्रहरूपी इस वेद का नाम 'ब्रह्मवेद' योग्य ही होगा। ब्रह्मका निरूपण सब मंत्र करते हैं, इस दृष्टिसे भी 'ब्रह्मवेद' नाम सार्थ दीखता है। 'ब्रह्म' नाम ज्ञान का है, वह ज्ञान देवता मंत्रों के क्रम से इस में है, इसलिए भी यह नाम योग्य दीखता है। यह पवित्र ज्ञान वेद का है। ब्रह्म नाम परमात्मा का और 'ब्राह्म' नाम परमात्मा की शक्ति जिसमें प्रकट हुई उन अग्न्यादि देवताओंका है। इस दैवतसंहिता का वैदिक नाम 'ब्राह्मसंहिता' भी हो सकता है। ब्राह्म संहिता का ही सुबोध नाम ब्रह्मवेद है। इसलिए हमारे सामने--

ब्राह्मसंहिता, दैवतसंहिता,
ब्रह्मसंहिता, ब्रह्मवेद,

ये नाम आ गये हैं। पाठक और कोई नाम सूचित कर सकते हैं, जो पूर्ण अर्थ दर्शानेवाला भी हो और सुबोध भी हो।

इस दैवत-संहिता का मुद्रण अति शीघ्र करना है, इस लिये पाठकों से आवश्यक सूचनाएं शीघ्र आ जायगीं तो अच्छा होगा।

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्णचिकित्सा ।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥८६
(अथर्व १।२२।१)

(ते हरिमा) तेरा पीलापन- पाण्डुरोग, तथा (हृद् द्योतः) हृदयका जलन- हृदयरोग (सूर्य अनु) सूर्यके अनुकूलतासे (उत् अयतां) उड जाय । (गोः) गौ के तथा प्रकाशके (तेन) उस (रोहितस्य) लाल (वर्णेन) रंगसे (त्वा) तुझको (परि) सब ओर (दध्मसि) धारण करता हूं ।

पाण्डुरोग जिसमें शरीर पीला तथा निस्तेज होता है, और हृदयरोग जिसमें हृदयस्थानमें जलन होती है, उसकी चिकित्सा यह है । (१) सूर्य- उदयके समय सूर्यका लाल वर्णका प्रकाश होता है, उस प्रकाशमें खुले शरीरसे बैठना । इस सूर्यप्रकाशसे उक्त रोग दूर होते हैं । (२) तथा लाल रंगकी गौका दूध आदिका सेवन करना । दोनोंके प्रयोगसे बहुत लाभ होते हैं ।

लाल वर्णसे दीर्घायु ।

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥८७॥
(अथर्व १।२२।२)

(दीर्घ-आयुत्वाय) दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये (त्वा) तुझको (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (परि) चारों ओर (दध्मसि) धारण करता हूं । (यथा) जिससे यह (अ-रपाः) नीरोग (असत्) हो जाये, (अथो) और (अ-हरितः) फीकेपनसे रहित (भुवत्) हो जाय ।

लाल वर्णोंके प्रयोगसे पीला रोग, पांडुरोग, फीकापन चला जाता है, और नीरोगता प्राप्त होकर दीर्घ आयु प्राप्त होती है ।

या रोहिणीर्देवत्या३गावो या उत रोहिणीः । रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥८८॥ (अथर्व १।२२।३)

(या देवत्याः) जो देवतासंबंधी (रोहिणी.) लाल सूर्यकिरणें हैं, (उत) और (याः रोहिणीः गावः) लाल गौवें है, उनको रूप और (वयः) बलके अनुरूप (ताभिः) उनके साथ (त्वा) तुझको (परि) चारों ओर (दध्मसि) धारण करते है, पुष्ट करते हैं ।

लाल रंगवाले किरण, तथा लाल रंगवाली गौवोंके प्रयोगसे- अर्थात् लाल गौके दूध आदि गोरस का प्रयोग- रोगियोंके रूप तथा बलके अनुसार करनेसे रोग-निवृत्ति होकर आरोग्य-प्राप्ति हो जाती है ।

हवनसे नीरोगिता ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-
यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह
यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥८९
(अथर्व ३।११।१)

हे मनुष्य ! (त्वा) तुझे (अज्ञात यक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और (राजयक्ष्मात्) क्षयरोगसे निवृत्त होकर (कं जीवनाय) सुखमय जीवनके लिये (हविषा) हवनसे (मुंचामि) छुडाता हूं, (एनं) इस रोगीको (ग्राहिः जग्राह) न छोडनेवाले रोगने (जग्राह) पकड रखा है, (तस्याः) उस पीडासे इसको, हे (इंद्राग्नी) विद्युत् और अग्नि ! (प्र मुमुक्तं) छुडाओ ।

क्षयरोग तथा कई दूसरे रोग हवनसे दूर होते हैं । शीघ्र न छोडनेवाले रोग भी विद्युत्प्रयोग तथा अग्निप्रयोगसे दूर होते है ।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतोयदि मृत्यो-
रंतिकं नीत एव । तमा हरामि निर्ऋतेरु-
पस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥९०॥
(अथर्व ३।११।२॥)

यदि (क्षितायुः) आयु समाप्त हो चुकी है, यदि (परेतः) करीब मर चुका है, अथवा यदि मृत्युके (अंतिकं नीतः) पास जा चुका है, तथापि (तं) उसको (निर्ऋतेः उपस्थात्) बीमारीके पाससे (आ हरामि) मैं लाता हूं और (शत-

शारदाय) सौ वर्षके जीवनके लिये (अस्पार्ष) बल देता हूं।

रोगी बिलकुल आसन्नमरण भी हुआ तथापि उसको योग्य उपायोंके प्रयोगसे पुनः दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है।

इस मंत्रमें " निः+ऋतिः " शब्द बीमारी, महामारी आदिका वाचक है। " ऋत " नियम अर्थात् ठीक योग्य पथ्य, आचार, व्यवहार न करनेका नाम " निर्ऋति " है। यही सब बीमारियोंका मूल कारण है। इसलिये हरएक को उचित है कि, वह सुनियमोका पालन करे और आरोग्यपूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करे।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्। इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥९१॥ (अथर्व ३।११।३)

(सहस्राक्षेण) सहस्र बीजोंसे युक्त (शतवीर्येण) सैकडों प्रकारके गुण करनेवाले, (शतायुषा) सौ वर्षकी आयु बढानेवाले (हविषा) हवनके द्वारा (एनं आहार्षं) इसको मैंने लाया है। (इंद्रः) आत्मा इसको (यथा) जिस प्रकार (शरदः नयाति) सौ वर्षकी आयुतक ले जायगा और (विश्वस्य दुरितस्य पारं) संपूर्ण दोषोंके परे पहुंचायेगा, वैसा मै करता हूं॥

उत्तम हविर्द्रव्यमें सहस्रों पदार्थ होते है, जिससे सैकडों लाभ प्राप्त होते है, और सौ वर्षकी आयु भी प्राप्त होती है, शरीरके सब दोष दूर होते हैं और पूर्ण आयु मिलती है, इस प्रकारका हवन है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्। शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥९२॥ (अथर्व ३।११।४)

(वर्धमानः) बढता हुआ तू (शरदः शतं) सौ शरदृतुतक, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमंतऋतुतक और सौ वसंत ऋतुतक (जीव) जीता रह, इंद्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति ये (ते) तेरे लिये (शतं) सौ वर्षका आयुष्य देवें, (शतायुषा हविषा) सौ वर्षकी आयु करनेवाले हविसे अर्थात्-हवनसे (एनं आहार्षं) इसको मैंने लाया है, अर्थात् पूर्णायुके लिये जीवित किया है।

सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। इंद्रादि शब्द विशेष चिकित्साओंके वाचक हैं, (१) इंद्र-विद्युत्चिकित्सा, (२) अग्निचिकित्सा, (३) सविता= सूर्यकिरणचिकित्सा, (४) बृहस्पति= मानसचिकित्सा, साथ साथ (५) हवि = हवनचिकित्सा। इन सब चिकित्साओंको योग्य रीतिसे करनेपर अवश्य दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

प्राण-शक्तिसे नीरोगता।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। व्यन्ये यंतु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम्॥९३॥ (अथर्व ३।११।५)

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (प्र विशतं) प्रवेश करते रहो, (अनड्वाहौ व्रजं इव) बैल जैसे गोशालामें प्रवेश करते है। (अन्ये मृत्यवः) दूसरे अपमृत्यु (वि यंतु) दूर चले जांय, (यान् इतरान्) जिन इतर मृत्युओंको (शतं आहुः) सौ हैं, ऐसा कहते है।

प्राण और अपान की सुस्थिति शरीरमें उत्तम प्रकारसे हो गई, तो सब प्रकारके सैंकडों अपमृत्यु हट जाते हैं। प्राण और अपान बलवान् करनेका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये, जिससे दीर्घ आयु होती है।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्। शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥९४॥ (अथर्व० ३।११।६)

हे प्राण और अपान ! (युवं) तुम दोनों (इह एव स्तं) यहां ही रहो। (इतः मा अप गातं) यहांसे दूर मत जाओ। (पुनः) और फिर (अस्य शरीरं अंगानि) इसका शरीरं और इसके अंग (जरसे वहतं) वृद्धावस्थातक चलाओ।

यदि प्राण और अपान बलवान् होकर शरीरमें ठीक कार्य करने लगे, तो शरीर, इंद्रिय और सब अवयव नीरोग, बलवान् और हृष्टपुष्ट रहते है और दीर्घायु प्राप्त होती है, इसलिये हरएक को अपने प्राण-अपानका बल बढाना आवश्यक है।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा। जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ९५ ॥
(अथर्व० ३।११।७)

(त्वा) तुझे (जरायै) वृद्धावस्थाके लिये (परि ददामि) देता हूं, वृद्धावस्थाके लिये (नि ध्रुवामि) तुझे स्थिर और दृढ करता हूं। (भद्रा जरा) सुखमय वृद्ध अवस्था (त्वा नेष्ट) तुझे प्राप्त हो, अन्य अपमृत्यु (वि यंतु) दूर भाग जावें, जो (इतरान् शतं) सैंकडों हैं।

वृद्धावस्थातक सुदृढ, बलवान और नीरोग होकर रहने-योग्य दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहिये, केवल वृद्धावस्था इष्ट नहीं है, परंतु जिस वृद्ध अवस्थामें बल, नीरोगता और सुख स्थिर रहता है, ऐसी वृद्धावस्था प्राप्त करनी चाहिये, और सैंकडों अपमृत्युओंको दूर भगाना चाहिये।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा। यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया। तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुद-मुञ्चद्बृहस्पतिः ॥९६॥
(अथर्व० ३।११।८)

(जरिमा) वयोहानि ने (त्वा अभि आहितः) तुझे बांध लिया है, जिस प्रकार (उक्षणं गावं रज्ज्वा इव) बैल अथवा गायको रस्सीसे बांधा जाता है। (जायमानं त्वा) उत्पन्न होते ही तुझे (सुपाशया) उत्तम पाशसे (मृत्युः अभ्यधत्त) मृत्युने बांध लिया है। (बृहस्पतिः) ज्ञानीने (सत्यस्य हस्ताभ्यां) सत्य शक्तिके परिपूर्ण हाथोंसे (तं ते) तुझे (उदमुंचत्) छुडा दिया है।

हरएक प्राणीको जन्मते ही वयोहानि और मृत्यु पीछे लगते हैं। प्रतिक्षण उनका आक्रमण होता है। इसलिये ज्ञान प्राप्त करके हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह उस मृत्युके पाशको तोड दे और दीर्घ आयु प्राप्त करे।

मूत्रदोषनिकारण।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्। तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषे-चनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥९७॥
(अथर्व० १।३।१)

(शतवृष्ण्यम्) सैंकडों शक्तियोंसे युक्त पर्जन्य (शरस्य पितरं) सरकंडेका पिता है, यह हम (विद्म) जानते हैं। (तेन) उससे (ते तन्वे) तेरे शरीरके लिये (शं करं) नीरोगता करता हूं। (ते निषेचनं) तेरे मूत्रका प्रवाह (पृथिव्यां) पृथ्वीपर होवे। (ते) तेरा मूत्रप्रवाह (बाल् इति) बल् ऐसा आवाज करता हुआ (बहिः अस्तु) बाहिर होवे।

मूत्राशयमें मूत्र रुक जाने पर उसका इलाज करनेकी युक्ति इस सूक्तमें कही है। सरकंडे जैसी सलाई मूत्राशयमें शिश्नके द्वारा डाल कर मूत्रको प्रवाहित करनेसे आराम होता है।

पर्जन्य अर्थात् वृष्टिका जल सैंकडों शक्तियोंसे युक्त है, उससे सरकंडेकी उत्पत्ति है। मानो पर्जन्यका पुत्र सरकंडा है, इसलिये पिताकी सैंकडों शक्तियां— इस सरकंडेमें है। इस सरकंडेसे शरीरकी बीमारी दूर होती है और रोगनिवृत्तिके कारण शांति प्राप्त होती है। मूत्र-प्रवाह मूत्राशयमें रुक जानेपर इस सरकंडेके उपयोगसे वह मूत्र खुल कर बाहिर आता है और "बल्, बाल्" शब्द करता हुआ पृथ्वीपर गिरता है।

यहां का "शर" शब्द एक प्रकारके सरकंडेका वाचक है, जिसकी अच्छी नलिका बनती है, जो उक्त प्रकार कार्यमें आ सकती है।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥९८॥ (अथर्व० १।३।६)

(यत् यत् आन्त्रेषु) जो जो आंतोंमें (गवीन्योः) नाडियोंके कारण, (बस्तौ अधि) मूत्राशयमें (संश्रुतम्) मूत्र इकट्ठा हुआ है, (एवा ते) वह तेरा (सर्वकं मूत्रं) सबका सब मूत्र (बाल् इति) बाल् ऐसा शब्द करता हुआ

(बहिः मुच्यताम्) बाहिर खुली तौर पर आ जावे ।

आंतोमें तथा नाडियों में मलका संचय होता है और उस कारण मूत्राशयमें मूत्र रुक जाता है, वह पूर्वोक्त "शर-विधि" से ठीक प्रकार बाहर आता है और आरोग्य मिलता है।

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥९९॥ (अथर्व० १।३।७)

(ते) तेरे (मेहनं) मूत्रद्वार को मैं (भिनद्मि) खोल देता हूं, (इव) जिस प्रकार (वेशंत्याः) तालाब के (वर्त्रं) बंध को खोल कर पानी छोड देते हैं। इस प्रकार तेरा सब मूत्र बाल् शब्द करता हुआ खुल कर बाहिर आ जावे।

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥१००॥ (अथर्व० १।३।८)

(ते) तेरा (बस्ति-बिलं) मूत्रका बिल अर्थात् मूल-नलिका (वि-सितं) खुली हुई है, (इव) जिस प्रकार (उदधेः समुद्रस्य) जलमय सागर का बंध खुला किया जाता है। अब तेरा सब मूत्र बाल शब्द करता हुआ खुली रीति से बाहिर आ जावे।

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥१०१॥ (अथर्व० १।३।९)

(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष्यसे (अवसृष्टा) छुटा हुआ (इषुका) बाण (परा पतत्) शीघ्र चला जाता है, उस प्रकार तेरा सब मूत्र बाल ऐसा शब्द करके खुले तौर पर बाहिर चला जाय।

वेगसे मूत्र बाहिर आना चाहिये ।

मूत्र के रोगी को आराम देनेके लिये उक्त प्रकार शलाका द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये, और शब्दोंसे भी उसको धैर्य देना उचित है।

कुष्ठचिकित्सा ।

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च । इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥१०२॥ (अथर्व० १।२३।१)

हे (रामे) श्वेत, (कृष्णे) काली तथा (असिक्नि) गहमी रंगवाली (औषधे) औषधी ! तू (नक्तं) रात्री के समय (जाता असि) उत्पन्न हुई है। हे (रजनि) रंगवाली औषधि ! (इदं यत्) यह जो (किलासं पलितं) धब्बे-वाला कुष्ठ है, उसको (रजय) रंग दे।

रामा, कृष्णा, असिक्नी तथा रजनी ये औषधियों के नाम है। इनके उपयोगसे शरीर का कुष्ठ दूर होता है।

(सूचना— यही ऐसा प्रतीत होता है कि "रामा" औषधिसे काला कुष्ठ, "कृष्णा" औषधिसे श्वेत कुष्ठ, "असिक्नी" औषधिसे साधारण कुष्ठ ठीक होता है। वैद्यों को इस औषधि का अधिक विचार करना चाहिये।)

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् । आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ १०३ ॥ (अथर्व० १।२३।२)

(इतः) यहां से (किलासं) चमडीपर के धब्बे और (पलितं) श्वेत कुष्ठ तथा (पृषत्) चर्मविकार को (निः नाशय) नाश कर दे। (स्वः वर्णः) अपना रंग (त्वा) तुझ में (आ विशतां) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) श्वेत कुष्ठ को (परा पातय) दूर कर दे।

पूर्वोक्त औषधिसे श्वेत कुष्ठ दूर होकर रोगीका स्वाभाविक रंग सब चमडीपर आ जाता है।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि । दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥१०४॥ (अथर्व० १।२३।४)

(दूष्या कृतस्य) दोष के कारण उत्पन्न, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुए, (तनूजस्य) शरीर से निकले हुए (किलासस्य) कुष्ठरोग के जो (त्वचि श्वेतं लक्ष्म) त्वचापर श्वेत चिह्न है, उस को (ब्रह्मणा) ज्ञान से

(अनीनशम्) मैं नाश करता हूं।

श्वेत तथा अन्य प्रकारके कुष्ठ दोषयुक्त आचरणसे उत्पन्न होते हैं, उसके दोष हड्डी, त्वचा तथा मांस में होते हैं। ज्ञानपूर्वक उपायोंसे ये रोग दूर होते हैं।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्। अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ १०५ ॥
(अथर्व० १।२४।२)

(प्रथमा आसुरी) पहिली असु अर्थात् प्राणों की रक्षक बुद्धिने (इदं किलास भेषजं) यह कुष्ठ की दवा (इदं किलासनाशनं) यह कुष्ठनाशक औषध (चक्रे) बनाया है। इससे (किलासं) कुष्ठ दूर हुआ और (त्वचं) त्वचा को (सरूपां) सुन्दर रूपवाली (अकरत्) बना दिया।

उक्त वनस्पतियों के उपयोग से त्वचा पूर्ववत् रंगरूप से युक्त होती है।

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता। सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥
॥१०६॥ (अथर्व० १।२४।३)

हे ओषधे। तेरी माता सरूपा और तेरा पिता सरूप है। इसलिये (त्वं) तू भी (सरूपकृत्) सुरूप बनानेवाली है। अतः (इदं) इसको सुरूप (कृधि) कर।

मातापिता के गुणधर्म आनुवंशिक संस्कारों के कारण पुत्र या पुत्री में आते हैं। औषधियों में भी यही होता है। जिस औषधिका उपयोग इस रोग में किया जाता है, उसके पूर्व भी जो इस जाति की वनस्पति भी उससे भी सरूपता करने का कार्य होता रहा, इस लिये अब इस समय भी इस औषधिसे निःसंदेह यह कार्य होगा।

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥१०७॥ (अथर्व० १।२४।४)

श्यामा वनस्पति (स रूपं करणी) सरूप करनेवाली है, जो पृथिवीसे (अधि उद्भृता) ऊपर निकाली है, इस से (इदं सु प्रसाधय) इस रोगनिवृत्ति की सिद्धता कर और (पुनः) फिर रूपरंगको (कल्पय) ठीक कर।

श्यामा नामक एक औषधि है, जो त्वचा के कुष्ठादि रोग को दूर करके त्वचा को ठीक बनाती है।

हस्तस्पर्शद्वारा नीरोगिता।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
॥१०८॥ (अथर्व० ४।१३।६)

(मे अयं हस्तः) मेरा यह हाथ (भगवान्) प्रभावशाली है। मेरा यह हाथ अधिक गुणकारी है। मेरा यह हाथ (विश्वभेषजः) सब रोगोंकी दवा ही है और (अयं) यह मेरा हाथ (शिवाऽभिमर्शनः) स्पर्शसे शुभ अर्थात् आरोग्य करनेवाला है।

प्रेमपूर्ण और प्रबल शुभ इच्छाशक्तिद्वारा रोगी को हस्त का स्पर्श करने से रोग दूर होते है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी। अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥१०९॥
(अथर्व० ४।१३।७)

(वाचः पुरोगवी जिह्वा) वाणीको प्रेरणा करनेवाली जिह्वाद्वारा शब्दप्रयोग और (दशशाखाभ्यां) दश शाखावाले और (अनामयित्नुभ्यां) नीरोगता करनेवाले (हस्ताभ्यां) हाथोंसे (त्वा अभिमृशामसि) तुझ को स्पर्श करता हूं।

वाणीसे ऐसे शब्द बोलने चाहियें कि, जिनसे रोगीके मनको उत्साह और आरोग्यप्राप्तिका विश्वास हो जाय तथा अपने मनकी प्रबल इच्छाशक्तिसे अपने हाथोंको परिपूर्ण करके रोगीके पूर्ण आरोग्यका चिंतन करके रोगीके रुग्ण अवयवको स्पर्श करने से बीमारी दूर हो जाती है।

इस प्रकार आयुर्वेद का विषय वेदमें है। इसका अधिक विचार पाठक करें।

यमयमी-सूक्त।

भाईबहिनके विवाहका निषेध।

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यान ॥११०॥

(ऋ० १०।१०।१; अथर्व० १८।१।१)

(ओ) हे पुरुष! (सखायं) तुझ मित्रके प्रति (सख्या) मित्रभावसे (चित् ववृत्यां) वर्तन करूं और (पुरू चित्) बहुत बडे (अर्णवं) भवसमुद्रके (तिरः जगन्वान्) पार जायें। (वेधाः) बुद्धिमान तू (प्रतरं दीध्यानः) अधिक प्रकाशमान होकर (अधि क्षमि) भूमिपर (पितुः न पातं) पिताके नातिको-पिताके पौत्रको (आदधीत्) धारण कर। अर्थात् पुत्र उत्पन्न कर।

यमी यमसे कहती है कि, मै तेरे साथ मित्र बनकर अर्थात् पत्नी बनकर रहना चाहती हूं। तू मेरे अंदर पुत्र उत्पन्न करके अपने पिताको पौत्र उत्पन्न कर। यम और यमी जुड भाईबहन हैं। इनके संवादसे भाईबहिनका विवाह निषिद्ध ठहराया है। यह बात इस सूक्तमें पाठक अवश्य देखें।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति। महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥१११॥

(ऋ० १०।१०।२; अथर्व० १८।१।२)

(ते सखा) तेरा मित्र (एतत् सख्यं) इस प्रकारकी मित्रता (न वष्टि) नहीं चाहता। (यत्) जहां (सलक्ष्मा) समान लक्षणोंवाली स्त्री भी (विषुरूपा) विरुद्ध लक्षणोंवाली सी (भवाति) होती है। (महः असुरस्य वीराः) महान् परमेश्वरके वीर (पुत्रासः) पुत्र जो (दिवः धर्तारः) द्युलोकके धारण करनेवाले हैं, वे (उर्विया परिख्यन्) खुली दृष्टिसे देख रहे हैं।

यम कहता है कि- हे यमी! मैं इस प्रकारकी- अर्थात् विवाहसे उत्पन्न होनेवाली - मित्रता नहीं चाहता, कि जिस मित्रतामें हम दोनोंके समान लक्षण होनेपर भी विरुद्ध लक्षणों से युक्त होनेके समान बर्ताव करने पडे। क्यों कि परमात्माके रक्षक वीर खुले आंखसे हमारा व्यवहार देख रहे हैं।

(१) विवाह एक कुलवाले स्त्रीपुरुषोंमें नहीं होना चाहिये। सात पुस्तोंमें एक गोत्र नहीं होना चाहिये। सगोत्र विवाह का निषेध इस मंत्रमें स्पष्ट है। भाईबहिन लक्षणोंसे समान होते हैं। और विवाह भिन्न गोत्रोंके स्त्रीपुरुषोंमें प्रशस्त होता है। इसलिये यम कहता है, हे यमी! तेरे साथ इस प्रकारकी मित्रता मैं नहीं चाहता कि,जो विरुद्ध लक्षणवाले स्त्रीपुरुषोंमें शक्य है। (२) हमारे सब व्यवहार परमेश्वरके दूत देखते हैं, उनसे छिपकर हम कुछ भी कर नहीं सकते। इसलिये मनुष्यको ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि, जो परमेश्वरके सम्मुख किया जा सके।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य। नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥११२॥

(ऋ० १०।१०।३; अथर्व० १८।१।३)

(ते अमृतासः) वे अमर देव (एकस्य मर्त्यस्य) एक मनुष्यके (एतत् त्यजसं) इस प्रकारके त्यागको (घ उशन्ति चित्) निश्चयसे पसंद करते हैं। इसलिये (ते मनः) तेरा मन (अस्मे मनसि) हमारे मनमें (निधायी) मिलाया जावे। और तू पति बनकर (जन्युः तन्वं) मुझ स्त्रीके शरीरके प्रति (आ वि विश्याः) प्रवेश कर।

संतान-उत्पत्तिके निमित्त जो पुरुष वीर्यका दान करता है, उसको देव भी पसंद करते हैं। इसलिये तू अपना मन मेरे मनमें जमाकर, मेरे अंदर गर्भकी स्थापना कर। यह यमी यमसे कह रही है और उसे अपने अनुकूल बना रही है।

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम। गंधर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥११३॥

(ऋ० १०।१०।४; अथर्व० १८।१।४)

(पुरा) प्राचीन कालमें (यत् न चकृम) जो हमने क्रिया नहीं, (कत् ह नूनं) कैसा भला अब (ऋतं वदंतः)

सत्य भाषण करते हुए (अनृतं रपेम) असत्य व्यवहार करेंगे ? (अप्सु गंधर्वः) सत्कर्मरत पुरुष और (अप्या-योषा) सदाचारिणी स्त्री यही (सा नौ नाभिः) हमारा केंद्र है। और (तत्) यही (नौ परमं जामि) हमारा परम संबंध है।

यम कहता है, इस प्रकारका व्यवहार हमने पहिले किया नहीं, इसलिये इम समय कैसा कैसा किया जा सकता है ? क्या सत्य बोलते हुए असत्य व्यवहार करें ? हमारी उत्पत्ति एकही सदाचारी मातापितासे है और इसलिये हमारा यही परम संबंध है। अर्थात् हम भाईबहिनही रहेंगे, पतिपत्नी नहीं।

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥११४॥

(ऋ० १०।१०।५; अथर्व० १८।१।५)

(जनिता) उत्पादक (विश्वरूपा) सबको रूप देनेवाले (सविता त्वष्टा देवः) सबका जनक और सबको आकार देनेवाले ईश्वरने (गर्भे नु) गर्भमें ही (नौ) हम दोनोंको (दंपती कः) पतिपत्नी बनाया है। (अस्य व्रतानि) इस देवके नियमोंको (न किः मिनंति) कोई भी नहीं तोड सकता (अस्य) इस बातको पृथ्वी और द्युलोक (वेद) जानते है।

यमी कहती है- परमेश्वरने हम दोनोंको गर्भमें ही पति-पत्नी बनाया था, नहीं तो हमें वह एकही गर्भमें क्यों उत्पन्न करता ? और तुम जानते हो कि उसके नियमोंको कोई भी तोड नहीं सकता, इसलिये तू मेरा पति हो जाओ।

इस मंत्रसे स्पष्ट होता है कि यम-यमी एक गर्भसे उत्पन्न हुए भाई-बहन है।

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्। बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वाच्यी नॄन् ॥११५॥

(ऋ० १०।१०।६; अथर्व० १८।१।७)

(अस्य प्रथमस्य अह्नः) इस प्रथम दिनके संबंधमें कौन जानता है ? (कः ईं ददर्श) किसने इसको देखा है, और (इह कः प्रवोचत्) यहां किसने कहा है ? (मित्रस्य वरुणस्य धाम) मित्रभूत श्रेष्ठ परमेश्वरका धाम (बृहत्) बडा है। हे (आहनः) कामी स्त्री ! (कत् उ) कैसे (वीच्या) कपटसे (नॄन् ब्रवः) तू मनुष्योंसे बोलती है।

यम कहता है- जिस दिन गर्भधारण हुआ, उस दिनकी बात किसने देखी और किसने आकर यहां कही है ? परमा-त्माकी शक्ति अगाध है, ऐसा होते हुए भी तुम पुरुषोंके साथ ऐसी बातें करती है, यह ठीक नहीं।

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥११६॥

(ऋ० १०।१०।७; अथर्व० १८।१।८)

(यमस्य कामः) यम की कामना (समाने योनौ) एक घरमें (सहशेय्याय) साथ सोनेको लिये (यम्यं मा) मुझ यमीको (आ अगन्) आ गई है। (पत्ये जाया इव) पतिके लिये जैसी स्त्री उस प्रकार मैं अपना (तन्वं) शरीर (रिरिच्यां) फैलाऊं, और रथके चक्रोंके समान हम दोनों (वि वृहेव चित्) विहार करेंगे।

यमी कहती है- मेरे मनमें मेरे भाई यमके विषयमें काम-वासना उत्पन्न हुई है, उसकी स्त्री बनकर एकत्र विहार करने की इच्छा है। इस लिये आओ, हम दोनों मिलकर रहें और रथके दो चक्रोंके समान इस कुटुंबके रथको चलावें।

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥११७

(ऋ० १०।१०।८; अथर्व० १८।१।९)

(एते देवानां स्पशः) ये देवोंके दूत जो (इह ये चरंति) यहां संचार करते हैं, वे (न तिष्ठंति) न ठहरते हैं, और (न निमिषन्ति) न आंख बंद करते हैं। इसलिये तू (मत् अन्येन) मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ (याहि) जा और हे (आहनः) कामी स्त्री! रथके चक्रोंके समान उसके साथ (तूयं विवृह) शीघ्र विहार कर।

यम कहता है- हे कामी स्त्री ! देखो कि परमेश्वरके आंख प्रतिक्षण हमारे आचरण देख रहे हैं, इसलिये मुझे छोडकर किसी दूसरेके साथ विवाहित होकर उसके साथ विवाह कर।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्। दिवा पृथिव्या मिथुना सबंधू यमीर्यमस्य विवृहादजामि ॥११८॥
(ऋ० १०।१०।९; अथर्व० १८।१।१०)

रात्री और दिन (अस्मै) इसको सुबुद्धि (दशस्येत्) देवें। सूर्यका चक्षु (मुहुः उन्मिमीयात्) वारंवार इसकी आंखें खोलें। (सबंधू) भाईबहिनरूप द्युलोक और पृथ्वीलोक ये दोनों (मिथुना) मिथुन-मिलकर रहते हैं, यह देखकर यमी यमका (अजामि विवृहात्) बंधुत्वरहित संबंध करके विहार करे।

यमी कहती है कि-देखो दिन और रात्री, द्यु और पृथ्वी ये परस्पर भाईबहिन होते हुए भी परस्पर-संगत हुए हैं। यह देखकर तेरी आंखों में प्रकाश पडे और उनके समान हम दोनो भाईबहिन होते हुए भी भाईबहिन का संबंध छोडकर परस्पर पतिपत्नी बनकर आनंदसे विहार करें।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥११९॥
(ऋ० १०।१०।१०; अथर्व० १८।१।११)

(ता उत्तरा युगानि) वह भविष्यमें समय (घ आ गच्छान्) निश्चयसे आवेगा, कि (यत्र) जिस समय (जामयः) भाईबहिनें (अजामि कृण्वन्) बंधुत्वरहित कर्म करेंगे, इसलिये किसी (वृषभाय) बलवान् पुरुषके लिये अपने बाहुको (उप बर्बृहि) फैलाओ, और हे (सुभगे) भाग्यशालिनी ! तू (मत् अन्यं पतिं) मेरेसे भिन्न पतिकी (इच्छस्व) इच्छा कर।

यम कहता है कि- हे यमी ! इस प्रकारका समय आगे आवेगा कि, जिस समय भाईबहिनें भी पतिपत्नी के अनुसार वर्ताव करेंगी। परंतु यह समय वैसा नहीं है। इसलिये मेरेसे भिन्न किसी दूसरे योग्य पुरुषका पाणिग्रहण कर।

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्। काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥१२०॥
(ऋ० १०।१०।११; अथर्व० १८।१।१२)

(किं) क्या (भ्राता सद्) भाई होते हुए बहिन (अनाथं भवति) अनाथ जैसी होगी ? (किं) क्या (स्वसा) बहिन होती हुई भाई (निर्ऋतिः निगछात्) विनाशको चला जाय? (कामं ऊता) कामसे युक्त होकर मैं (एतत् बहु रपामि) यह बहुत कहती हूं। इसलिये अब (मे तन्वं) मेरे शरीरको अपने (तन्वा) शरीरसे (सं पिपृग्धि) मिल जाओ।

यमी कहती है- हे यम ! देख जो भाई बहिनको सनाथ नहीं बनाता, वह भाई कैसा ? तथा जो बहिन अपने भाई काही नाश करे, वह बहिन भी कैसी ? कामेच्छा के कारण मैं यह बोल रही हूं, इसलिये आओ और मेरे साथ मिलो।

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा सं पपृच्याम्। अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टयेतत् ॥१२१॥
(अथर्व०१८।१।१३)

हे यमी ! (अहं) मैं (अत्र) यहां तेरा नाथ (न अस्मि) नहीं हूं। (ते तनुं) तेरे शरीरको अपने (तन्वा) शरीरसे (न सं पपृच्याम्) नहीं मिलूंगा। इसलिये (मत् अन्येन) मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ (प्रमुदः कल्पयस्व) आनंद मना। हे (सुभगे) भाग्यवती स्त्री ! (ते भ्राता) तेरा भाई (एतत् न वष्टि) यह नहीं चाहता।

यम कहता है- हे बहिन यमी ! मैं तेरा नाथ नहीं हूं। इसलिये अपने शरीरसे तेरे शरीरको कदापि स्पर्श नहीं करूंगा। अतः तू दूसरे किसी योग्य पतिके साथ आनंदका उपभोग लो। तेरा भाई मैं यम ऐसी बातें— जो तू बोल रही है— नहीं चाहता।

वैदिक धर्म।

भाद्रपद १९९६
सितम्बर १९३९



स्व० लोकमान्य तिलक महाराज

[वर्ष २०, अंक ९] [क्रमांक २३७

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक — पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक — पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २०] विषयानुक्रमणिका [अङ्क ९

१ शत्रुओंको दूर करो।		५९७
२ सामवेद शीघ्र तैयार होगा।		५९८
३ ईश्वरका साक्षात्कार। [८]	संपादकीय	५९९
४ ग्रामोद्धारके सूत्र।	डा. पुरोहित	६०८
५ दैवत-संहिता और याज्ञिक संहिता।		६११
६ वेदान्तसार-सूत्राष्टक।	श्री० रामपालसिंह तेवतिया	६१२
७ नित्य देवताका विचार।	श्री० लक्ष्मणसिंहजी	६१३
८ वैदिक ऋषि और देवता।	श्री अनुभवानन्दजी महाराज	६२४
९ सत्याग्रहीका स्वाध्याय [२]	श्री अभयदेवजी	६२७
१० कवितामें तत्त्वज्ञान।	श्री. सुबोधचन्द पेपला	६३१
११ वैदिक जीवन। [१]	पं. मदनमोहन विद्याधर	६३५
१२ भारतीय स्वातंत्र्यकी रूपरेखा। [६]	पं. रामावतारजी विद्याभास्कर	६४५
१३ स्वाध्यायसंघ का उद्देश्य और कार्यकी दिशा।		१-८

वर्ष २०
अंक ९
क्रमांक २३७

वैदिक धर्म

भाद्रपद
संवत् १९९६
सितंबर
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा).

शत्रुओंको दूर करो।

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥
(अथर्व० ४।२२।१)

"हे (इन्द्र) प्रभो! इस क्षत्रियका बल बढाओ। तू इस क्षत्रियका सब प्रजाजनोंमें (एकवृषं) अद्वितीय बलवान् कर। इसके (अमित्रान्) शत्रुओंको दूर कर, उन सब शत्रुओंका (अहमुत्तरेषु) युद्धोंमें नाश कर और हमें विजयी कर।"

'अहं-उत्तरेषु' यह युद्धका नाम है। दो स्पर्ध्यमान पक्षोंमें मेरा पक्ष उच्चतर सिद्ध हो जाय, ऐसी स्पर्धा जिस युद्धमें रहती है, उसका नाम है 'अहमुत्तर'। इस तरहकी स्पर्धामें ईश्वरकी सहायता मिली, तो सब शत्रु दूर होंगे, उनको परास्त किया जायगा, और अपना विजय होगा।

सामवेद शीघ्र तैयार होगा

वेदके ग्राहक शीघ्रता करें !!

सामवेद छपनेपर चारों वेदोंका मूल्य बढ जायगा !

सामवेद की छपाई करीब समाप्त होनेवाली है। केवल ५।६ फार्म ही छपने हैं। वे आगामी दो महिनोंमें छापे जांयगे। इस सामवेदमे हमने प्रत्येक मंत्र अलग अलग छपा है, प्रत्येक मंत्रके साथही उसका ऋग्वेदका पता दिया है और यदि वह सामवेदमें दुबारा तिबारा आ गया है, तो उस मंत्रका सामवेदका पता भी दिया है, जिससे पाठक उसको ऋग्वेदमें देख सकते है और सामवेदमें वह मंत्र जितनी वार आया होगा, उतनी वार वह कहां कहा है, यह भी देख सकते हैं।

सामवेदकी दो प्रकारकी गिनती है। एक गिनतीमें **'प्रपाठक-अर्धप्रपाठक-दशति-मंत्र'** ये चार विभाग रहते है और दूसरी गिनतीमें **'अध्याय-खण्ड-मंत्र'** रहते है। ये दोनों गिनतियां यहां दी हैं। ये दो गिनतियां दो शाखावालोंकी है। एक गिनति कौथुमी शाखाकी है और दूसरी राणायणी शाखाकी है। कौथुमी शाखा गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, म्हैसूर, कानडा, काशी, बंगाल आदि प्रांतोंमें प्रचलित है और राणायणी शाखा मद्रास तामिल प्रांतोंमें प्रचलित है। तीसरी शाखा, जैमिनीय है। उसकी गिनतीका प्रकार इनसे थोडासा भिन्न है और मंत्रोंके क्रममें भी थोडा भेद है। इस शाखाके पाठी ब्राह्मण इस समय मिलते नहीं है। परंतु हमने इस शाखाकी संहिता प्राप्त की है और उसका भी मुद्रण हम करेंगे।

हमने पूर्वार्चिकके **आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान** ये तीनो काण्ड पृथक् पृथक् छापे है। **आग्नेय काण्डकी** मंत्रसंख्या ११४ है, **ऐन्द्र काण्डकी** ३५२ है और **पावमान काण्डकी** ११९ है। तीनों काण्डोंकी मंत्रसंख्या मिलकर ५८५ होती है।

इसके पश्चात् **आरण्यकाण्ड** है। इसकी मंत्रसंख्या ५५ है और **महानाम्न्यार्चिक** की १० है, मिलकर इन दोनोंकी मंत्रसंख्या ६५ होती है और यह पूर्व संख्यामें मिलाने से ६५० कुल मंत्रसंख्या सामवेदपूर्वार्धके अन्तमें हुई है।

सामवेदके पूर्वार्चिकमें प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र है और उस एक एक मंत्रके अनेक गान गानग्रंथोंमें प्रसिद्ध है। उत्तरार्चिकमें इसके विरुद्ध पद्धति है। इस उत्तरार्धमें ३; ४।५, या अधिक मंत्रोंके गण हैं। और इन अनेक मंत्रोंका मिलकर एकही बडा गान बना हुआ है। जहां पूर्वार्चिकके एक एक मंत्रके अनेक गायन हुए हैं, वहीं उत्तरार्चिकके तीनतीन, चारचार मंत्रोंका मिलकर एकही गान बना है। पूर्वउत्तर आर्चिकमें यह भेद है। यह हमने यहां उत्तरार्चिकके मुद्रणमें बताया है। अंकोंके द्वारा और ३।३; ४।४ मंत्रोके गण बीचमें अन्तर छोडकर स्पष्टतासे दर्शाये हैं। जिससे साधारण से साधारण मनुष्य भी जान सकता है कि यह मंत्रगण यहां प्रारंभ हुआ और यहां समाप्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त हमने स्वरोंकी गणना भी दी है। यह गणना प्रत्येक मंत्रगणके साथ दी है, इसलिये कोई मनुष्य गणना करके मंत्रोंके स्वर ठीक हैं या नहीं, इस बातको जान सकता है।

इस तरह सामवेद अबतक किसी भी जगह छपा नहीं है। सामवेदके लिये हमने ऋग्वेदसे बडे अक्षर बर्ते हैं और प्रत्येक मंत्र दो पंक्तियोंमें मुद्रित किया है। आशा है सब पाठक इसको पसंद करेंगे।

—संपादक

क्या मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है ?

इस विषय में वेदकी संमति क्या है ?

(अष्टम लेख *)

गत लेखों में बताया गया है, कि **'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र'**रूपी चातुर्वर्ण्ययुक्त अर्थात् **ज्ञानी-शूर-व्योपारी-कारीगर** नामोंसे बताये जानेवाले सब लोग, **सब जनता ही ईश्वर का मानवी रूप है।** ईश्वर का रूप तो संपूर्ण विश्व ही है। पर उसमें अपने धर्मव्यवहारके समझनेके लिये मानवी संघमें उसके स्वरूपका हम विचार और निश्चय यहां करते हैं। जिसका यहां निश्चय होते ही वही बात संपूर्ण विश्वमें अनुभव करनेसे विश्वभर में उस ईश्वरका पता लग सकता है। उक्त प्रकार ईश्वर का स्वरूप वेदमंत्रों से ही प्रकट हो रहा है,जिस विषयके बहुतसे मंत्र हमने गतांकों में दिये हैं, अतः यहां उनको दुहराने की आवश्यकता नहीं है। यह वेदोक्त ईश्वर का स्वरूप स्वीकार करनेसे कई बातें जो पहिले समझमें नहीं आती थीं, वह समझमें आने लगती हैं, जैसा उदाहरणके लिये **'वेद कैसे प्रकट हुए?** और **'अवतार क्या है?'** इत्यादि का विचार देखिये।

वेद कैसे प्रकट हुए ?

आज कई वर्षोंसे यह विषय विवादास्पद माना जाता है। बुद्धिमान् लोग अनेक प्रकारकी युक्तियां दे रहे हैं और प्रतिपक्षका मुंह बंद करनेका यत्न करते हैं। पर **'ब्राह्मणोऽस्य मुखं'** (ऋ० १० । ९० । १२) यह वेदमन्त्र का उपदेश ध्यानमें लेनेपर इससे वेद प्रकट होनेके विषयमें कठिनता क्या है? **'ब्राह्मण ईश्वर का मुख है,'** हर एक वक्ता अपने मुखसे ही बोलता है, इसी तरह ईश्वरका मुख ब्राह्मण है,अतः उस ब्राह्मणरूपी मुखसे ही ईश्वर अपना ज्ञान कहता है।

मुखमें भी कान, नाक, नेत्र, गाल, जिह्वा, मुख आदि अवयव रहते हैं। इनमें से केवल जिह्वायुक्त मुखसे ही वक्तृत्व हो सकता है। इसी तरह संपूर्ण शीर्षस्थानमें हजारों ब्राह्मण होंगे, परंतु उनमें जिह्वा और मुखके स्थानमें रहनेका जिनको मान प्राप्त हुआ है, वेही **मधुच्छन्दा, गृत्समद, अत्रि, विश्वामित्र, भरद्वाज, वसिष्ठ** आदि मन्त्रकृत्, मंत्रद्रष्टा और मंत्रपति जो ऋषि हुए वेही ईश्वर के जिह्वा और मुख स्थानमें रहे, अतः उनसेही वेद प्रकट हुए।

'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' यह उपनिषदोंका कथन है। इसमें **'ज्ञान'** ब्रह्मका रूप है, ऐसा स्पष्ट कहा है। जो ज्ञान मनुष्य प्राप्त करते हैं और उससे वे जितने ज्ञानी होते हैं, उतना उनको ईश्वर या ब्रह्म प्राप्त हुआ होता है।

जो पूर्ण ज्ञानी हुए, उनको ईश्वर पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ, अतः शास्त्र कहते हैं कि **'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'** ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्मही होता है, क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप ज्ञान है, इसलिये जितना ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होगा, उतना ब्रह्मस्वरूप उसमें उतरेगा और जिस समय किसी ऋषिमुनि तत्त्वज्ञानी को परिपूर्ण ज्ञान हो जायगा, उस समय उसमें परिपूर्ण ब्रह्म उतरेगा,अर्थात् जिसमें पूर्ण ब्रह्म अपने ज्ञानस्वरूप से उतरेगा, वह उसी समय ब्रह्मस्वरूप होगा, इसमें क्या संदेह है ?

स्वभावतः लोहा ठंडा होता है, पर अग्निमें रख देनेसे उसमें अग्नि उतरने लगता है, जितना वह तपता है, उतना उसमें अग्नि उतरता है और अन्तमें जब वह पूर्ण तपता है, उस समय वह अग्नि ही होता है और अग्नि के काम वह करने लगता है। यहां एक बात पाठकों को ध्यानमें धारण करनी चाहिये। वह यह है कि इस उदाहरणमें अग्नि+लोहा में जितना भेद है, उतना भेद परमात्मा+आत्मा में नहीं है। परंतु उक्त उदाहरणसे वक्तव्य बात ध्यानमें आ सकती है।

* सप्तम लेख वै० धर्म क्रमांक २३६ श्रावण (अगस्त १९३९) के अंकमें छपा है।

ब्रह्मका स्वरूप ज्ञान है, वह जिसे प्राप्त होगा, उसको ब्रह्म ही प्राप्त होगा और ब्रह्म प्राप्त होनेका ही अर्थ ब्रह्म बनना है। ज्ञान प्राप्त होनेसे ज्ञानी, बल प्राप्त होनेसे बली, धन प्राप्त होनेसे धनी होते हैं। ज्ञानी ब्रह्मरूप हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मके सब कार्य वह करता है। जैसा कोई गुरु है, उसके दस शिष्य उससे ज्ञान लेते हैं, जब वे उनसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुकते हैं, तब वे उस गुरु जैसा अध्यापनादिका कार्य कर सकते है। इसी तरह यहां समझना चाहिये। **ब्रह्म जाननेसे स्वयं ब्रह्म होता है,** ऐसे कई ऋषि वेदमें ब्रह्मरूप होने की भाषा बोलते हैं, जिनके मंत्रोंको '**आध्यात्मिक मंत्र**' कहा जाता है। देखिये—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि
अहं आदित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि
अहं इन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्मि
अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्। (ऋ० १०।१२५)

वागाम्भृणी ऋषिका ब्रह्मरूप होनेकी अवस्थामें कहती है कि — "मैं रुद्र और वसुओंके साथ चलती हूं, मैं आदित्यों और विश्वेदेवोंमें रहती हूं, मैं मित्रावरुणों को धारण करती हूं और इन्द्र, अग्नि तथा अश्विनौ को मैं आधार देती हूं। सोम त्वष्टा पूषा और भग का मैं पोषण करती हूं।" तथा वामदेव ऋषि ब्रह्मरूप अवस्थामें कहते है —

अहं मनुरभवं सूर्यश्च
अहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे
अहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥
अहं भूमिमददामार्याय
अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना
मम देवासो अनुकेतमायन् ॥ २ ॥
(ऋ० ४।२६)

"मै मनु हुआ था, मैं सूर्य हूं और कक्षीवान् ऋषिभी मैं ही हूं। मैं अर्जुनपुत्र कुत्सको अपने आधीन किया था, मैं ही उशना कवि हूं, मुझे देखो। मैने हि आर्योंको यह भूमि दी थी, दाता मनुष्योंके हित के लिये मैं वृष्टि करता हूं, मैंने यह जल बहा दिया है और मेरी इच्छा के अनुसार सब देव कार्य करते हैं।"

ये ऋषि ब्रह्मरूप, ईश्वरस्वरूपी बनकर ब्रह्मभाव और ईश्वरभाव को अपनाकर, ब्रह्मभावसे ही बोलते हैं। अर्थात् इस प्रकारका काव्य यह ईश्वर का ही काव्य है। जैसा तप्त लोहेके कारण किसीका शरीर जल गया, तो वह लोहेसे जला नहीं; परंतु वह अग्निसे ही जला है, इसी तरह पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होकर जो ब्रह्मरूप हुए, उस ब्रह्मरूप अवस्थामें जो ब्रह्मभाव-का अनुभव उन्होंने किया, वही उनके मुखसे अभौतिक स्फुरण की दैवी वाणीसे बाहर आया अर्थात् ब्रह्महि उनके मुखसे इन अपूर्व काव्योंको बोला, अथवा ईश्वरहि अपनेहि मुखसे यह अपूर्व काव्य बोला, इन दोनों कथनों का आशय एक ही है।

पूर्ण ज्ञानी होनेका ही अर्थ ईश्वरका मुख बनना है। जब साधक पूर्ण ज्ञानी हुआ, तब वह ईश्वरका मुख बना, फिर वह जो बोलेगा वह उसके मुखसे ब्रह्मका स्फुरण ही बोलेगा, क्योंकि उस समय उसकी अवस्था ब्रह्मरूप हो चुकी है। जब वहां दूसरा कोई रहा ही नहीं तब दूसरी बात वहां कौन बोलेगा?

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद्विजानतः
(वा० यजु० ४०।५)

"जिस अवस्थामें सब भूत आत्माहि हुए, वह विज्ञान की अवस्था है।" जिस समय वह स्वयं अपने आपको पूर्ण ज्ञान होनेके कारण ब्रह्मरूप होनेका अनुभव करता है, तब वहां दूसरा हीन और दीन रहा ही कहां है, जो अन्यथा बोल सकेगा?

यहां पाठकोंके समझमें यह बात आयी होगी कि—

१ ब्रह्मके **ज्ञानस्वरूपमें** जो तन्मय होते हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं, ये ही ईश्वर के मुख हैं,

२ ईश्वर के **बलस्वरूप** में जो तन्मय होते हैं, वे क्षत्रिय कहलाते हैं और वे ईश्वर के बाहु होते हैं,

३ ईश्वर के **धनस्वरूप** की प्राप्ति से जो धन्य होते हैं, वे ईश्वर के पेट हैं और—

४ जो ईश्वर के मायास्वरूप — **कलास्वरूप** में तन्मय होते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं, वे ईश्वर के पांव हैं।

इस प्रकार विचार करने से पता लग सकता है कि ईश्वरका ज्ञान किस तरह प्रकट हुआ और किस तरह प्रकट होता रहता है। ईश्वरका चातुर्वर्ण्यमय स्वरूप यदि ठीक तरह समझमें आ जाय, तब तो यह सब समझमें आ सकता है।

कई लोग ऋषियोंके नाम वेदमंत्रोंमें आनेसे घबरा जाते हैं।

और कहते हैं कि इनका कुछ दूसराही अर्थ करना चाहिये !! जैसा कि सर्वज्ञ होनेका ठेका इन्होंने ही लिया है और वेदके शब्दोंका जैसा चाहे वैसा अर्थ या अनर्थ करनेका अधिकार इनकोहि मिला है ! उदाहरण के लिये देखिये —

'शुनःशेपो' ह्यह्वद् गृभीतः
सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु ॥ १२ ॥
'शुनःशेपो' ह्यह्वद् गृभीतः
त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः ॥ १३ ॥
(ऋ० १ । २४)

" बद्ध हुआ शुनःशेप जिस की प्रार्थना करता है, वह राजा वरुण पाशोंसे हमें मुक्त करे । " और देखिये—

**यं देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।
यं 'कण्वो मेध्यातिथि' र्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ।
यमग्निं 'मेध्यातिथिः कण्व' ईध ऋतादधि ।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचः तमग्नि
वर्धयामसि ॥** (ऋ० १ । ३६ । १०, ११)

"**वृष** और **उपस्तुत** ने मानवोंके कल्याणार्थ जिस हव्या-वाहन अग्निकी स्थापना की थी, उसी अग्निको **मेध्यातिथि-का पुत्र कण्व** स्थापन करता है। जिस अग्निको **मेध्यातिथि कण्व** प्रदीप्त करता रहा, उसी के लिये ये ऋचाएं है। हम उसी अग्निकी महत्ताका गायन करते है। "

इस तरह '**शुनःशेप,**' '**मेध्यातिथि**' '**कण्व**' ये नाम मंत्रोंमें आये हैं और येही वेदोक्त ऋषि इन मंत्रोंके हैं और सब ब्राह्मणकार भी इनको ही इन सूक्तोंके ऋषि मानते हैं। जो ब्राह्मणकार मानते हैं, वही हमें मानना चाहिये। तिसपर भी जिनको वेदमंत्रोंको तोडमरोड कर कुचलनेका अधिकार प्राप्त हुआ होगा, वे वैसा करें ! परंतु ऐसा करनेमें एक बडी हानि होनेवाली है।

देखिये, **वैदिक आदेशानुसार हरएक मनुष्य ईश्वर-स्वरूप, ब्रह्मरूप हो सकता है,** ईश्वरको अथवा **ब्रह्मको जान सकता है** और अपने अन्दर **ईश्वरभाव** प्राप्त कर सकता है, ब्रह्मभावका अनुभव अपने अन्दर बढा सकता **है, सर्वत्र ब्रह्म**का साक्षात्कार कर सकता है । जो **ब्रह्मका** साक्षात्कार करता है, वही ब्रह्म बन सकता है, जो स्वयं **ईश्वर**का साक्षात्कार करता है, वही ईश्वरभाव अपने अन्दर होनेका अनुभव करता है । **हरएक वैदिक धर्मीका यह अधिकार है। यह सिद्धि आज मिले या कल मिले, यह बात दूसरी है, पर वैदिक धर्मके अनुसार चलनेवालोंको यह सिद्धि मिलने-वाली निःसंदेह है।**

जो इस तरह ब्रह्मरूप बनेंगे, उनके मुख से स्वयं ब्रह्म संदेश देगा। यह अधिकार प्राचीन ज्ञानी जनोंने अपनेमें प्राप्त किया था, वही अधिकार आज के लोग क्यों न प्राप्त करेंगे ? आजभी ज्ञानी जन ईश्वर के मुख हो सकते हैं।

वैदिक धर्मीके लिये यह बडी भारी आशा है, यह बडा भारी विश्वास है, वैदिक धर्मीका यह बडा भारी अधिकार है, जो अपने परम पिताके समान होकर पिताके समान कार्य करने लगना है। यह अधिकार क्यों छीना जाय ? वेदका जो संदेश है, वह वैसाही क्यों न लिया जाय ? मनुष्योंको उसमें हस्ताक्षेप करनेका अधिकार क्या है ?

अतः पाठकोंसे निवेदन है कि, वे वेदके संदेशेको तोडमरोड करके न बिगाडें। जैसा **ऋषियोंके** द्वारा प्रकट हुआ है, वैसाही ज्ञान अपनाएं और उसके अनुसार आचरण करके अपनी उन्नति प्राप्त करें।

वेदके प्रकट होनेके विषयमें इतना विवेचन आज पर्याप्त है। आवश्यक होनेपर अधिक भी लिखा जा सकता है। अब थोडासा अवतारवादके संबंध में यहां लिखना आव-श्यक है।

अवतारवाद ।

पहिले बताया गया है कि जो **ईश्वर**के ज्ञानस्वरूप की उपासना करके ज्ञानी होते **हैं**, वे **ईश्वर**के मुख होते है और जो ईश्वर के बलस्वरूपकी उपासना करते हैं, वे क्षत्रिय होते हैं और वे ईश्वरके बाहु कहलाते हैं।

बलमसि बलं मयि धेहि। (वा० य०)

' हे ईश्वर ! तू बलस्वरूप है, मुझमें बलकी स्थापना कर। ' इस तरह अपने अन्दर ईश्वर के बलस्वरूपकी स्थापना करनेके इच्छुक जन शनैःशनैः अपने अन्दर ईश्वरके बलस्वरूपको बढाते और प्रकट करते जाते हैं। **ईश्वर भी उन उपासकों में बलस्वरूपको प्रकट करता हुआ दिन बदिन विशेष प्रकट होता जाता है।** वैसा

देखा जाय, तो इस विश्वमें जो बल दिखाई देता है, वह उसी प्रभुका ही बल है, (**बलं असि**) वह बलरूपी है, दूसरे किसीका बल यहां नहीं है। सब जो बल दीखता है, वह उसी प्रभुका है। **जो जो बलवान् हुए हैं वे सब उसीके बलको अपने अन्दर हाजम करके बलवान् बने हैं**। कहां तक कहा जाय, एक चिंवटीके अन्दर जो थोडासा बल है, हाथीके अन्दर जो प्रचंड बल है, भीमसेन के अन्दर जो महा बल था और पृथिव्यादि वस्तुओं में जो अद्वितीय बल है, वह सब उसी ईश्वरका ही बल है। उसीके बल से ये सब बलवान् हुए हैं।

केन उपनिषद् में कथा है कि एक बार वायुको अपने बलकी घमण्ड हुई, वायुदेव कहने लगा कि मैंहि बलवान् हूं, मेरे जैसा कौन दूसरा बलवान् है! यह वायुकी घमण्ड देखकर प्रत्यक्ष ब्रह्म उसके सामने प्रकट हुआ और एक तिनका उसके सामने रखकर कहने लगा कि ' इसको अपने बलसे उडा दो। ' पर वह वायु उसको उडा नहीं सका, क्योंकि सब बल ब्रह्मने उससे खींच लिया था। **इससे स्पष्ट हो गया कि संपूर्ण विश्वमें जो बल है, वह ब्रह्मकाही बल है।** अपने बलके रूपमें ब्रह्मही सब वस्तुओंमें व्याप रहा है और अपना बल हरएक वस्तुमें रख रहा है।

क्या यह हरएक वस्तुमें ईश्वरके बलका अवतार नहीं है? इस तरह प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरका अवतार है। पर अवतार तो उसको कहते हैं कि जिसमें असाधारण शक्ति और प्रभाव हो—

> **यद्यत् विभूतिमत् सत्त्वं**
> **श्रीमदूर्जितमेव वा।**
> **तत्तदेवावगच्छ त्वं**
> **मम तेजोऽशसंभवम्॥** (गीता १०।४१)

" जो जो विभूतियुक्त, श्रीमत् और ऊर्जित सत्त्व है, वह ईश्वर के तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा तूं मान।" यहां ईश्वरके अंशका अवतार कहां हुआ है, इसको जाननेका मार्ग दर्शाया है। प्रत्येक वस्तुमें तेजस्विता है, पत्थरमेंभी तेज है, परंतु ' **सूर्यमें तेज है** ' ऐसा कहते हैं। क्यों? इसीलिये कि उसमें तेजस्विता विशेष और असाधारण है। परंतु तत्त्व-दृष्टिसे देखा जाय, तो तेज संपूर्ण वस्तुओंमें है। थोडा थोडा तेज सबमें है, परंतु जहां विशेष प्रखर तेज होगा, उसी का उल्लेख सब करते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुमें न्यूनाधिक बल है, परंतु भीमसेन के बलका ही सब वर्णन करते है, क्योंकि उसमें असाधारण शक्ति थी। इसी प्रकार अवतार तो प्रत्येक प्राणी है, परंतु जहां विशेष सामर्थ्य प्रकट हुआ, उसीको ' **ईश्वरका अवतार** ' कहते है।

वेद और उपनिषदोंमें ईश्वरके अवतार कैसे होते हैं, इस का विशेष ही वर्णन है। प्रत्येक प्राणी के आंखमें सूर्यका अंश, प्राणमें वायुका अंश, रक्तमें जलका अंश, हड्डीमें पृथ्वीका अंश, शारीरिक गर्मी में अग्निका अंश, शरीरके शिरोभाग में द्युलोक का अंश, पेट में अन्तरिक्षका अंश, नीचले भाग में भूलोक का अंश, बालों में ओषधिवनस्पतियों का अंश अवतरित हुए है। इस तरह पाठक देखेंगे, तो वेदोपदेशसे उनके ध्यानमें आ जायगा कि **उनके देहमें तैंतीस देवोंके अंश आकर रहे हैं**। जिस अवयवमें एकाध देव न आया हो, वहां बडा दोष रहा है, जैसा किसीके आंखमें सूर्यदेव का अंश न आया होगा, तो वह अंधाही रहेगा। इसी तरह अन्यान्य देवताओंके न होनेसे शरीरमें उस अंगकी विकलता उत्पन्न होती है। अपना शरीर इस तरह ३३ देवताओंका पवित्र मन्दिर है, यहां ३३ देवोंका इस तरह अंशावतार हुआ है और ये सब देव इस ' **कुरुक्षेत्र** ' में शतसांवत्सरिक यज्ञ करना चाहते है।

इन ३३ देवताओंका अधिष्ठाता ब्रह्मका अथवा ईश्वर का अंशही जीवभाव को प्राप्त हुआ है। इसी को कहते हैं कि यह —

> **प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः**
> **अजायमानो बहुधा विजायते।** (वा० य० ३१।१९)
> **एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः**
> **पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।**
> **स एव जातः स जनिष्यमाणः**
> **प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥** (वा० य० ३२।४)

" यह (प्रजापतिः) प्रजापालक प्रभु (गर्भे चरति) गर्भ में घूमता है। वस्तुतः वह (अ-जायमानः) न जन्मनेवाला हि है, विश्वात्माकी स्थितिमें वह जन्मताही नहीं, परंतु वही अंशभावसे (बहुधा वि-जायते) बहुत रूपोंमें विशेष और विविध प्रकारसे जन्मता है। यही देव (सर्वाः प्रदिशः अनु) सब दिशाओंमें है, (पूर्वः जातः) वह पहिले भी जन्मा था,

(सः गर्भे अन्तः) वही अब गर्भमें आया है, वह भूतकालमें जन्मा था, भविष्यकालमें जन्मेगा और वही वर्तमानकालमें प्रत्येक प्राणीमें जन्मा है। इसीलिये उसको (सर्वतः मुखः) सब ओर मुख करके रहनेवाला कहते हैं।" **प्रजापतिहि इस तरह सब प्राणियोंमें जन्मता रहा, जन्मता है और जन्मेगा।** वेद हि यह कह रहा है। पाठक इस के पदपदका अर्थ स्वयं मननपूर्वक देखें और खूब विचार करके अर्थ को अपना लें। किसीके धोखेमें न आजांय।

३३ देवताओंके अंशोंके साथ जन्म लेनेवाला यह प्रत्यक्ष प्रजापति प्रभुका ही अंश है। यह अवतार नहीं तो क्या है? प्रजापति प्रभुहि इस तरह प्रत्येक प्राणीमें अवतार लेता है और जहां प्रत्यक्ष प्रभुका अंश जाने लगता है, वहां ३३ देवताओंके अंश आते ही हैं। जिस प्रकार राजकुमारके साथ सौपचास अन्य ओहदेदारोंके बालक जाते है और जिस प्रकार राजाके साथ ओहदेदार जाते हैं, इसी तरह प्रभुके अंशके साथ अन्य देवोंके अंश अवतार लेते हैं।

प्रत्येक प्राणी इस रीतिसे प्रभुका अंशावतार है, परंतु जिसके द्वारा विशेष प्रभाव प्रकट हुआ है, उसीको अवतार करके पुकारा जाता है। श्रीरामचन्द्र, भगवान् श्रीकृष्ण, ऐसे कई अन्य जिनके नाम पूज्य समझे गये है, वे सब अवतार हि है। इन महाविभूतियोंमें ईश्वरभाव विशेष प्रकट हुआ था। **ये जैसे प्राचीन कालके अवतार थे, इसी तरह इस समयमें भी जो प्रभावशाली महापुरुष हैं, वे भी अवतार हि है।** यौंहि प्रभाव नहीं हो सकता, वहां विशेष तेजस्विता न होगी, तो उसका कभी प्रभाव नहीं हो सकता। जैसे भारतवर्षमें इस समय ऐसे अवतारी पुरुष हैं वैसे ही अन्य देशोंमें भी है। जिनमें ईश्वरभाव विशेष प्रकट होनेके कारण वे प्रभावशाली कार्य करके दिखा देते हैं, जो अन्योंके द्वारा होना असंभव है।

पाठक यह अशुद्ध विचार अपने अन्दर न रखें और ऐसा ख्याल ही मनमें न रखें कि, केवल मानवोंमेंही प्रभुका अंशावतार होता है। **वस्तु वस्तुमें ईश्वरांश रहता है।** वृक्षोंमें पोषक रसके रूपसे, फूलोंमें उत्तम सुगंधके रूपसे और चित्ताकर्षक रंगरूपके रूपसे, वनस्पतियोंमें रोगनाशक औषधिगुणके रूपसे, अन्नमें सत्त्वरूपसे, जलमें रसरूपसे, अग्निमें तेजके रूपसे इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओंमें ईश्वरका अंश रहता है। सब वस्तुओंमें होते हुए जहां गुणका आधिक्य होता है, वहीं वह प्रकट हुआ, ऐसा समझते हैं, यह अज्ञ जनोंको सुबोध करने के लिये ही है।

वृक्षोंमें अश्वत्थ, पशुओंमें गौ, पक्षियोंमें गरुड, वीरोंमें रामचन्द्र, गृहस्थियोंमें श्रीकृष्ण, ब्रह्मचारियोंमें भीष्म, ज्ञानियोंमें शुकाचार्य, राजाओंमें जनक ऐसे कुछ नाम विशेषतासे लिये जाते हैं। परंतु सब वस्तुओंमें ईश्वरकी सत्ता है और वही वहां देखनी चाहिये।

पूर्व स्थानमें कहा कि ३३ देवतांशों के साथ प्रभुका अंशावतार प्रत्येक प्राणीमें होता है, इस विषयमें मनुष्य की संतान का हम उदाहरण देखते हैं। मनुष्यको संतानोत्पत्ति कैसी होती है? पुरुषका वीर्य और स्त्रीका रज मिलकर संतति होती है। किसी किसी समय आश्चर्य की बात यह होती है कि पितामाताके कुछ अवयवोंके सदृश अवयव बालकके होते है।

पितामाताके सदृश बालक के अवयव क्यों होते है? वीर्यके एक बिन्दुमें पिताके सब शरीरके अवयवोंका निचोड आता है और रजमें माताके शरीरके अवयवोंका निचोड आता है। कितना छोटासा वीर्यकण जो राईके हजारहवां भाग जितना छोटा, पर उसमें इतने बडे पिताके देहका सब सत्त्व भरा रहता है! कितनी शक्ति इतनी छोटीसी बूंदमें समायी है? यही देहमें परिणत होकर बढ जाती है और पिताके शरीरावयवों के सदृश होती है। पाठक यहां थोडासा विचार करें कि कितनी और कैसा यह अद्भुत शक्तिका खेल है।

पिता ही माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है और स्वयं जन्म लेता है, इसीलिये वेदमें माताका नाम '**जाया**' रखा है, क्योंकि **(अस्यां जायते पुनः)** इस स्त्री में पति पुनः जन्म लेता है। पिताके बाल काले रहे, तो पुत्रके काले बाल, भूरे रहे तो भूरे, पिताकी आंखे बिल्ली जैसी रही, तो पुत्रकी भी वैसी होती है। कई कई समय देखा गया है कि पिताके पांवकी छः अंगुलियां पुत्रमें भी वैसी ही उत्पन्न हुई हैं। इस से वीर्य की अद्भुत शक्तिकी कल्पना हो सकती है। एक छोटेसे वीर्यके बिंदुमें पांवसे सिरतक सब पिताके अवयवोंका सत्त्व रहता है। **मानवी शरीरमें इसी तरह परमपिता परमात्माके संपूर्ण विश्वव्यापी शरीरका**

सूक्ष्म सत्त्व आया है और बढ भी सकता है।

सूर्य, वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल, औषधि, दिशा आदि ईश्वरके शरीरावयवोंके सत्त्वांश नेत्र, प्राण, वाक्, अस्थि, रक्त, वीर्य, केश, कान आदि स्थानोंमें बसे हैं। वेदमें और उपनिषदोंमें जैसा सूर्यसे अंश आकर आंखके बननेका वर्णन है, उसी तरह आंखके सूक्ष्म सत्त्वांश का बढकर विस्तार होकर फिर सूर्य बननेका भी वर्णन है। इस विषय में ऐतरेयोपनिषद् में विस्तारसे कहा है। वहां पाठक इस विषयको देख सकते हैं।

जिस तरह संपूर्ण वृक्षका सत्त्व बीजमें आता है और बीजके सूक्ष्म सत्त्वका फिर विकास होकर पुनः उसके विस्तारसे वृक्ष बनता है, इसी तरह 'बीज-वृक्ष' न्याय यहां लागू होता है। **विश्वव्यापक ईश्वररूपी महावृक्षके बीजरूप नाना जीव हुए हैं और वैदिक धर्मके तत्त्वज्ञान को जो अपनायेंगे, वे पुनः उसी प्रकार विकसित होकर महावृक्षमें विकसित भी होंगे। पुत्र पिता के समान बढ सकता ही है।** "**अमृतस्य पुत्राः**" (ऋ० १०।१३।१) हम तो अमृत के पुत्र हैं, और हम अमृतकी प्राप्तिके मार्ग में हैं। क्या हम अपने पिताके समान नहीं बनेंगे? हरएक प्राणी अपने पिताके सदृश बढता है। परंतु क्या हम ही '**अमृतके पुत्र**' होते हुए अभागी ऐसेही रहेंगे और कभी अपने पिताके समान नहीं बनेंगे? क्यों नहीं बनेंगे, पाठको, वैदिक धर्म आपको सहारा देकर कहता है कि तुम सब अपने पिताके समान अवश्य बनोगे।

इसीके सूचक शब्द इसीलिये वेदोपनिषदोंमें इस तरह प्रयुक्त हुए हैं, देखिये —

(जीववाचक)	**(ईशवाचक)**
आत्मा	आत्मा-परमात्मा
ब्रह्म	ब्रह्म - परब्रह्म
,,	,, - ज्येष्ठ ब्रह्म
,,	,, - श्रेष्ठ ब्रह्म
देव	देव - महादेव
ईश	ईश - परमेश्वर, ईश्वर
अग्नि	अग्नि - महानग्नि
इन्द्र	इन्द्र - महेन्द्र
ईश्वर	ईश्वर - महेश्वर
राजा	राजा - सम्राट्, महाराजा
पुत्र	पिता - परम पिता
देहरूपी	विश्वरूपी
खण्ड	अखण्ड
अंश	पूर्ण, संपूर्ण
देहधारी	विश्वधारी

इस तरह अनेक शब्द तुलनाके लिये दिये जा सकते हैं। जीव अग्निकी एक छोटीसी चिनगारी है और ईश्वर महान् अग्नि है, ऐसा इससे सिद्ध होगा। जिस तरह अग्निकण-चिनगारीमें सूखा घास मिला, तो बडा दावानल होनेकी शक्ति रहती है, उसी तरह जीव एक विश्वात्माकी चिनगारी है, उसका विकास होकर वही परिपूर्ण विश्वात्मारूपी महानग्नि बनेगा।

कहनेका तात्पर्य यह है कि इतनी शक्ति इस छोटीसी जीवात्माकी चिनगारीमें है। अतः सब पाठक यह समझें कि यद्यपि उनमें बिलकुल छोटीसी चिनगारी है, अधिक हवा लगनेसे विनष्ट भी हो सकेगी, तो भी उसमें ऐसी प्रचण्ड शक्ति है कि अनुकूल परिस्थिति मिलते ही वह दावानलकी महान् अग्नि बन सकती है। प्रत्येक मनुष्यमें, प्रत्येक प्राणीमें यही शक्ति है। **अतः प्रत्येक प्राणीको देखकर हमें इस महान् शक्तिका अनुभव करना चाहिये।** आपके सामने एक छोटासा बालक आया तो आप उसे हीनदीन समझते है, पर वहाँ यदि राजाका बालक आया, तो आपही उसका संमान करनेके लिये उठते है और हाथ जोडकर खडे होते हैं। क्यों? आप जानते हैं और निःसंदिग्ध जानते हैं कि, यही बालक जब बढ जायगा तब राष्ट्रका शासक राजा होगा। भिकारीके बच्चेके विषयमें आपको मालूम है कि वह बडा होनेपर भी भीक मांगता फिरेगा, इस लिये आप उसका आदर नहीं करते। है ना यही आपकी परिपाठी!

दिव्य दृष्टिसे देखो।

अब आप जरा दूसरी दृष्टिसे देखिये। राजाका लडका, आपका पुत्र और भिखारीका बेटा ये तीन अपके सामने खडे हैं। देखिये सूक्ष्म दृष्टिसे इनकी ओर और भूल जाईये, उनका राजापन और भिखारीपन।

भूमिपर का नाता भूल जाइये और इन तीनों बालकों की ओर दूसरी दृष्टिसे देखिये। तीनोंके आंखोंमें परमेश्वर के सूर्यरूपी आंखके अंश समान हैं, तीनोंमें परमात्माके विश्वव्यापक वायुका अंश समानतया प्राण बन कर निवास

कर रहा है, इसी तरह अन्यान्य देवताएं तीनोंमें समान भावसे रहीं हैं; इतना ही नहीं, परंतु तीनोंमें परमात्माका अंश जीवभावसे समानतया रहा है। **अब कहिये कि आप राजपुत्रको, अपने पुत्रको और एक दरिद्रीके पुत्रको देखनेमें जो भिन्न दृष्टि रखते हैं, वह योग्य है वा अयोग्य ? तीनों बालकोंके रूपोंमें आपके सामने साक्षात् प्रभु हि (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । ऋ०६।४७।१८) उपस्थित हुए हैं।** केवल रूप विभिन्न हैं। अन्दर का प्रभु एक ही है, इसलिये आपकी दृष्टि तीनोंपर समान होनी चाहिये, क्योंकि '**तीनों अमृतपुत्र हैं**।' तो भी एक को आप नमस्कार करते हैं और दूसरे को 'हट जाओ' करके धिक्कारते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता)

"विद्वान् ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी कुत्ता आदिके विषयमे पण्डित लोक समदृष्टि रखते हैं।" क्योंकि पण्डित जानते हैं, इन स्वांगोंको लेनेवाला अद्वितीय प्रभु एकहि है।

अब जरा आपका अपना आचरण देखिये, कैसा हो रहा है। क्या कुछ उसमें समदृष्टिका अंशभी है वा बिलकुल ही समदृष्टिसे शून्य है। आप स्वयं अपना अन्तःकरण देखिये। दिखावे के लिये नहीं, परंतु अपने अन्तःकरणको प्रभुके सम्मुख खोलकर खडा होना है इसलिये।

मान लीजिये कि राजाके तीनचार लडके हैं। गरीबीके भिन्न वेषोंमें वे आपके पास आकर खडे हुए, आपके अन्दर यदि सज्जनका भाव न होगा, तो आप उनके साथ कैसे पेश आयेंगे। वे तो इस समय आपको कुछभी नहीं कहेंगे, क्योंकि उन्होंके वेष दूसरा लिया है, परंतु आपका जो बर्ताव होगा, वह तो वे जानेंगेहि ना? इसीसे आपकी परीक्षा होगी। प्रत्यक्ष वेषान्तरसे आये राजपुत्रके साथ आपका उचित बर्ताव न हुआ, तो फिर वही राजपुत्र अपने राजपुत्रके वेषमें आपके सामने आ जायगा तब आप उसे क्या कहेंगे। उस समय शिवाय उसकी माफी मांगनेके और कोई आपकेपास उपायही नहीं रहेगा।

वैदिक धर्म जिस दृष्टिको आपके अन्तःकरणमें उत्पन्न करना चाहता है, वह यही दृष्टि है और इसी को '**दिव्य दृष्टि**' कहते हैं। वैदिकधर्म की यही दृष्टि है। गीतामें कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। (गीता)

"मैं ईश्वर मानुषी शरीर धारण करके विचरता हूं, **पर मूढ मनुष्य इस मानवी शरीरके आश्रयसे रहे ईश्वरका अपमान करते हैं।**" अर्थात् प्रत्येक मानव-शरीरका धारण करके प्रभु विचर रहा है और मनुष्य उसका अपमानही कर रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य प्रभुका रूप है, ऐसा मानकर हि जब सबका व्यवहार होगा, तभी ठीक व्यवहार होगा। तबतक का व्यवहार अशुद्ध होनेमें संदेह ही नहीं है। वैदिक धर्म चाहता है कि मनुष्यों का व्यवहार इस दिव्य दृष्टिसे होता रहे। परंतु मजहब, फिर्के और मतमतान्तर खडे होते हैं, जो मनुष्योंको सत्य वैदिक धर्मसे दूर ले जाते हैं। जिससे **मनुष्य प्रभुका क्षणक्षणमें अपमानही करता जाता है**, और उसका परिणाम वह भोगताही जाता है।

अर्जुनने जब जाना कि सच्चा परमेश्वर विश्वरूपी है, तब वह कहता है—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थं असत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥
(गी० ११)

"हे कृष्ण! मैं तुमको मित्र, सखा, कृष्ण और यादव करके कहता था, मुझे तुम्हारी यह अपूर्व विश्वरूपी शक्तिका पता नहीं था, **इसलिये खेलकूदमें, शयन-आसन के समय, तथा भोजनाच्छादन के समय कितनी वार तेरा अपमान मैंने किया होगा**, कृपा करके उसकी मुझे क्षमा कर।"

अर्जुन को बतानेवाला श्रीकृष्ण था, आपको बतानेवाले

वेद हैं, पर वेदका सत्य अर्थ आप अपनायेंगे तब ना वे वेद आपके काम आवेंगे ? केवल वेदपर विश्वास रखकर कार्य नहीं चलेगा। जो प्रभुका अपमान हम क्षणक्षणमें कर रहे हैं, वह सबका अज्ञान दूर होना चाहिये।

क्या कभी आपको ख्याल आया है कि मैंने मार्गपर चलनेके समय, रेलमें बैठते के समय, घरमें कार्य करनेके समय, पुलीस-जज-या कलकटरी कमिश्नरी का कार्य करनेके समय, अथवा विद्यालयोंमें पढाई करनेके समय मेरे सामने जो विविध रूपोंमें प्रत्यक्ष प्रभु अनेक रूपोंमें आया था, उसका अपमान तो मैंने नहीं किया ना? क्या कभी ऐसा विचार आपके मनमें आया था? अर्जुन के मनमें यह विचार आया था, इसीलिये वह महाभाग बन गया और हम जहां के वहां ही है।

संक्षेपसे इसका अर्थ यही है कि सभी रूपोंमें इन्द्र प्रभु विचर रहा है। (**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** ऋ० ६।४७।१८), अतः हरएक प्राणी या वस्तुके साथ हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि, जैसा विश्व सम्राट् के साथ होना उचित है। वैसा न हुआ तो वह अधार्मिक व्यवहार होगा और उसका परिणाम जो भी होगा, वह भोगना ही पडेगा।

यदि सभी रूप प्रत्यक्ष इन्द्र प्रभु के हि हैं तो **प्रत्येक जीव अवतार होनेमें आपको संदेह क्यों हो रहा है?** इसीलिये हो रहा है कि वेदका धर्म बतानेवाला इस समय कोई नहीं रहा, और जो वैदिक धर्मके प्रचारक हैं, वे वैदिक धर्मके तत्त्वको बिलकुल जानते तक नहीं, अतः वे क्या बतलावेंगे? इस कारण आपको बडी रुकावट हो रही है।

अतः सभी अवतार हैं। सब वस्तुओंमें विद्युत् है, पर तारके द्वारा विशेष प्रकारकी कलमें वह लायी जाय, तब दीपमें प्रकाश देती है। सब तार प्रकाशित नहीं होती, इस लिये उस तारमें बिजली नहीं है, ऐसा आप मानेंगे और यदि आप उस तारको हाथ लगावेंगे अर्थात् उस तारका अपमान करेंगे, तो आपका हाथ उसी समय जल जायगा। अतः केवळ दीपमें हि विद्युत् है और अन्यत्र नहीं, ऐसा मानना अज्ञान है।

इसी तरह प्रकाशित और अप्रकाशित, प्रकट या गुप्त, व्यक्त या गूढ सब रूपोंमें प्रत्यक्ष इन्द्र है, प्रत्यक्ष प्रभु है, प्रत्यक्ष ईश्वरका अवतार है, परंतु बोलनेके समय सबको यह बात नहीं समझती, इसलिये श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण आदि नाम लेकर कहते हैं कि देखो **" ये अवतार हैं।"** इस का अर्थ यही है कि ये बिजलीके बडे दीप प्रकाशित हो रहे है, परंतु अन्य सभी केन्द्रोंमें वैसीहि बिजली है, परंतु प्रकाशित नहीं हुई गूढ स्थितिमें है। भेद इतना ही है।

परंतु हमें ग्रंथ पढना हो, तो दीपके पासही जाना चाहिये। इसी तरह मार्ग जानना हो, तो अवतारोंके ही चरित्र देखने और विचार करने चाहिये। इसीलिये इनके चरित्र लिखकर रखे है; निःसंदेह ये मार्गदर्शक होंगे।

अवतारवादका आजकल विद्वान् लोग खण्डन करनेमें अपनी प्रौढता समझते हैं। पर वैदिक धर्म क्या कह रहा है, इसको न जानते हुए वैदिक धर्मके प्रचारार्थ हि अवतारवादका खण्डन करते हैं !!! इस अनर्थको क्या कहा जाय, समझमें नहीं आता।

हां, इसमें एक बात अवश्य है, वह यह कि, जिस तरह **"अर्जुनने श्रीकृष्ण की सेवा जीते जी की," तथा हनुमानने श्रीरामचन्द्रकी सेवा जीते जी की, उसी प्रकार हमें इस समयके राष्ट्रोद्धारक, राष्ट्रके शत्रुको दूर करके सज्जनोंका सुख बढानेवाले विभूतियोंको ढूंढना चाहिये और उनके निर्दिष्ट कार्यमें अपने आपको लगाना चाहिये।** जिस तरह अर्जुनने श्रीकृष्णके बताये कार्यमें, तथा हनुमानने श्रीरामचन्द्रके प्रारंभ किये कार्यमें अपने आपको समर्पित किया था।

परंतु हम क्या करते हैं ? दस हजार वर्षोंके पूर्व हुए श्रीरामचन्द्रजी, तथा पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व हुए श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्ति की सेवा अपने ढंगसे करते हैं, उस पर गंध, फूल, धूप, दीप, नैवेद्य चढाने से उसकी उपासना करनेका यत्न हम किया करते है।

वैदिक धर्मकी दृष्टिसे हमें करना क्या चाहिये? **इस समय के सज्जनोंका परित्राण, दुर्जनोंका नाश करके धर्मसंस्थापना करनेवाले महापुरुषोंके कार्योंमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये।** अवतार तो प्रतिसमय होतेही रहते हैं, किसीका छोटा कार्य-

लिये परमेश्वरपर अचल विश्वास-श्रद्धा रखकर ईमानदारीसे उद्योग करना चाहिए।

ग्रामोद्धार के सूत्र।

(१)मुफ्त कुछ भी न लेना-कई लोगों की धर्म की कल्पना विकृत रहती है, इसलिये वे मुफ्त मिलने की इच्छा करते हैं। बावाजी लोग और अन्य भिखारी भीख को अपना रोजगार बताते हैं। अपना सनातन धर्म कहता है कि मुफ्त में पानीपांडेके हाथका पानी या मुफ्त भोजनालय का अन्न मत लो। इसका यही हेतु है। किसीसे सामान्य उपकार भी मत करा लो। उसके बदले उसे कुछ तो भी देना चाहिये, नहीं तो अपने पुण्य का कुछ हिस्सा वह लेता है। इसलिये मुफ्त कुछ भी मत लो।

(२) खेडों की आवश्यकताएं खेडे पूरी करें। मनुष्य की मुख्य आवश्यकताएं तीन हैं- अन्न, वस्त्र और आच्छादन। प्रत्येक गांव अपने तईं ये आवश्यकताएं भरसक पूरी करे। पैदा होता हो या पैदा हो सके, ऐसी कोई भी वस्तु अन्य स्थान से न लाई जावे। उदाहरण- नमक हरएक गांव में तैयार नहीं हो सकता, इसलिये वह बाहर से मंगाना आवश्यक है। लेकिन यदि शक्कर प्रत्येक गांव में पैदा न हो सके, तो वहां गुड बनाया जावे और जहांतक बने शक्कर का काम गुडसे निकाला जावे। चाय, काफी, कोको, इत्यादि पेय अपने गांव में पैदा करने में कोई हरकत नहीं।

(३) बिना जरूरी के खरीदी न हो। निर्वाह के लिये, याने प्राणरक्षा के लिये जो चीजें आवश्यक हैं, उन्हें छोड अन्य कोई भी स्वदेशी या परदेशी चीज, चाहे जितनी ही सस्ती क्यों न मिले, आगे शायद काम देगी, ऐसा समझकर मोल लेना पाप है। खासकर विदेशी वस्तु मोल लेना महत्पाप!!

(४) गांव की मांग पूरी होते तक माल बाहर भेजना बंद। गांव के लोगों की आवश्यकताएं पूरी हुए बिना गांव में पैदा हुआ कोई भी पदार्थ दूसरों को बेचना एक दृष्टि से गुनाह ही है। गांव में यदि गुड तैयार होवे, तो पहले वह गांवके सब लोगों को मिले और शक्कर की आवश्यकता भी गुडद्वारा पूरी हो जानेपर बचा हुआ गुड भले ही दूसरे गांव भेजा जावे। गांव के सब लोगों को पैरों की रक्षा के लिये जूते काफी हो जानेपर बचा हुआ चमडा बाहर भेजा जावे।

(५) 'ईमानदारी से कोई भी उद्योगधंधा कर सकते हैं।' खास व्यक्ति कोई खास उद्योग ही करे, और दूसरा कोई धंधा करना उसके लिए हलका समझना गलती है। अपना ज्ञान, शक्ति, स्थिति-आर्थिक और शारीरिक- देखकर ईमानदारी से कोई भी धंधा करने में दोष नहीं है।

(६) "रोज आठ घंटे काम किये बिना अन्न-ग्रहण करना पाप है।" आलस महान् शत्रु है। इसलिये चौबीस में से आठ घंटे उपयोगी कार्य में लगाना चाहिये। आठ घंटे शारीरिक या मानसिक परिश्रम किये बिगर अन्न-ग्रहण करने में शरम मालूम होनी चाहिये। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि, बीमार, कमजोर तथा बुड्ढों को यह नियम लागू नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों को यह नियम लागू है। आलस को त्यागकर उद्योगप्रियता उत्पन्न करना चाहिये।

(७) गांव के शिक्षित लोग भरसक हरएक प्रकारकी शिक्षा का प्रबंध करें। शिक्षा दो प्रकार की है। एक तो अर्थोत्पादक (सुखोत्पादक) और दूसरी है मैं कौन हूं, क्या हुआ और क्या होना चाहिये-इत्यादि ज्ञान! इसलिये पहले गांव के सब स्त्रीपुरुषों को साक्षर बनाना चाहिये। पहले तो लिखने की अपेक्षा पढना सिखाया जावे। इस लिये गांव का प्रत्येक लिखापढा व्यक्ति फुरसत के अनुसार रोज कुछ घंटे रोज अपने ग्रामबन्धुओं को पढना सिखावे। स्त्रियां भी अपनी बहनों को सिखाना आरम्भ करें। खास नियुक्त समय के अंदर गांव में हर कोई पढना सीख जावे। पाठशालाओं का कार्यक्रम त्यागकर, अक्षरों की पहिचान कराना और वाचन की रुचि पैदा करनाही शिक्षा की पहिली कक्षा है। सामान्य व्यवहार में जितना उपयोगी हो, उतना गणित जान लेना काफी है। इतिहास और भूगोल का ज्ञान गांव के पढेलिखे लोग मॅजिक लॅंटर्न कि सहायता से करा दें। इससे उनकी यह भावना नष्ट हो जावेगी कि अपना गांव ही सारी दुनयां है और दुनयां की महानता भी वे थोडीबहुत समझने लगेंगे। कूपमंडूकवृत्ति को नष्ट करना ही उस शिक्षा का हेतु होवे।

पुराण तथा कीर्तन द्वारा धार्मिक ज्ञान योग्य रीति से मिलने के लिये पुराणिक तथा कीर्तनकारोंको इस विषयमें योग्य सूचना देकर गाव के विद्वान् पहले से तजबीज करें, या जत्रा जैसे मौकों में बाहर के लोगों को व्याख्यान देने को कहें। पेट भरने के लिये खेती के शिवाय और दूसरे व्यवसाय ढूंढकर ग्रामसंस्थाओ को वे बताये जावें। खेती सुधारने के लिये खेती के मुहकमे के लोगों से मदद लेना, गांव में कोई खास धंधा चलता होवे, तो वह कैसे बढ सकेगा, इसके विषय में वहा के शिक्षित लोग जान लेवे और धंधेवालो को वह बता देवें। अत में सुख की कुञ्जी अपने पास रखकर नीति, शील, सदाचरण कायम रखकर लोगों की निंदा-स्तुति की परवाह न कर अपना कर्तव्य वे करें।

(८) 'अपन सब के लिये और सब अपने लिये।' आप, अपनी स्त्री, लडकेबच्चे इतनी बातों में ही समय नष्ट न कर के अपने गाव, समाज, अपने देश के प्रति सहानुभूति, प्रेम, आदर रखकर परस्पर सहायता से अपने गाव तथा देश की उन्नति की जावें।

"प्रत्येक मनुष्य परस्पर प्रेम रखे और सब लोग हमेशा सुख में रहे।" इतनी ईश्वर से प्रार्थना कर के पाठकों से छुट्टी लेते हैं।

क्षेत्र होगा तो किसीका बडा होगा। आपकी जितनी शक्ति होगी, उस प्रकार अपना अपना क्षेत्रप्रवर्तक ढूंढिये और उसकी साथ करिये।

अर्जुन ने उससे पूर्वके स्कंद आदिकोंकी मूर्तियोंकी पूजा करके अपने जीवन को पवित्र करनेका यत्न नहीं किया था, हनुमानजीने भी उससे पूर्वकाल के किसीकी उपासना करनेका यत्न नहीं किया था, परंतु अपने समयके नेताओंके साथ रहकर जनपदका हित करनेके हि कार्य किये थे। यही सच्चा और हरएक के लिये चलनेयोग्य भक्तिका मार्ग है। इसीसे सच्ची सद्गति हो सकती है।

पर वैसा माननेको लोक तो कभी तैयार नहीं होंगे। क्योंकि उनके अन्दर पूर्वमतका पक्का ऐसा आग्रह है कि, इस समयके तो सब मनुष्यही है और पूर्वसमयमेंहि एक दो अवतार हुए थे। बिचारे भोले भाई वैदिक धर्मके तत्त्वको जानते नहीं। हरएक वस्तु ईश्वरकीहि मूर्ति है। पर यह देखता कौन है और सुननेको तैयार भी कौन है?

'**इन्द्र पुरुरूप होता है**' ऐसा तो वेदमें पढते हैं, परंतु प्रत्येक रूपमें इन्द्रको देखनेके लिये झिझकते है। वेद तो मूर्तिपूजा इस प्रकारकी कहता ही है। माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि अनेक जीवित मूर्तियोंकी पूजा और उपासना वेदने कही है। इसी तरह '**पांचजन्य**' अर्थात् पंचजनोंके हितके कार्य करनेवाले विभूतिपुरुषोंकी भी उपासना वेदने कही है। इन पुरुषोंमें **राम कृष्ण** आदिकों की गणना होती है, क्योंकि इन्होंने सब जनताका उद्धार करनेके ही कार्य आपने समयमें किये थे। उसी तरहकी विभूतियां आज आपके चारों ओर कौन है, उनकी तलाश करिये और उनकी साथ करिये।

क्या रामचन्द्रजी तथा कृष्णजी की मूर्तियां नहीं रखनी चाहिये? कौन कहता है न रखो जाय? अवश्य और महा आदरके साथ रखिये। वे लाभकारी हैं।

इन मूर्तियो का आदर हो, सत्कार हो, इनके उत्सव हो सब कुछ हो, इनके आदरणीय चरित्रोंके मनन से अन्य लोगोंको निःसंदेह उत्तम मार्ग दीखेगा। आपने अपने माता, पिता, गुरु, आचार्य का चित्र अपने घरमें रखा और उनको फूलोंकी माला पहनाई तो आपका मन निःसंदेह उच्च हो सकता है। इसी तरह सहस्रो वर्षोंके पूर्व जो बडे महापुरुष हुए उनके चित्र भी घरघरमें और ग्रामग्राम में आदर के स्थानमें रखे जानेहि चाहिये। वे अवश्य मार्ग दर्शायेंगे।

परंतु उतने मात्रसे आपका तारण आज नहीं होगा। उनके समान आचरण होना चाहिये। **प्रत्यक्ष अपना शरीर आजकी जनता की सेवामें जैसा उन्होंने लगाया था वैसा लगाना चाहिये। इस सेवासे ही उद्धार होगा,** केवल ख्याली बातोंसे कुछ नहीं होगा। इस आचरण के सिवाय सच्ची ईश्वरभक्ति होना असंभव है।

इस लेख से पाठको को पता लगेगा कि **ईश्वर के अवतार होते हैं, और वे हर समय होते रहते हैं,** और **उनके साथ कार्य करनेसे ही सद्गति हो सकती है।** वस्तुतः प्रत्येक प्राणीमें ईश्वर का अवतार हुआ है, उस की सेवा करने से ही और उसका आदर करनेयोग्य व्यवहार करने से ही मनुष्यका उद्धार होना है। यह अवतारवाद, वैदिक है और प्रत्येक प्राणीमें यह भाव अनुभवने के लिये साधक को यत्नवान् होना चाहिये।

ग्रामोद्धार के सूत्र।

(लेखक- डॉ० ल० नी० पुरोहित, बंबई)

'खलों की कुटिलता नष्ट होवे और उनको सत्कर्म की चाह होवे और प्राणियों की एक दूसरे के प्रति दिलो जान की मित्रता होवे। (ज्ञानेश्वरी)

देश खेडों से बना हुआ है। उसकी उन्नति करना हो तो ग्रामोद्धार करना चाहिए, यह बात पढेलिखे पहिचानने लगे, इसका किसे हर्ष न होगा? विषय कोई भी लो, उस का शास्त्र और व्यवहार (यही अंग्रेजी में Theory and practice) होता है। ग्रामोद्धार का विषय भी इसका कोई अपवाद नहीं है। सृष्टि में जैसे कोई चीज उत्पन्न करते नहीं बनती, वैसेही कोई चीज नष्ट भी नहीं करते बनती, ऐसा रसायनशास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धांत है, जो उस शास्त्र के आविष्कारों का थोडाबहुत कारण हुआ है। किसी भी बात का तत्त्व समझ लेने पर ही, वह व्यवहार फायदे का होता है। ग्रामोद्धार में लगने के पहले उसके तत्त्वों को खूब अपना लेनेपर ही उससे लाभ होगा। इसलिये सब जगह और सब बातोंमें लागू होनेवाले सर्वसामान्य तत्त्वों को सूत्ररूपमें कहकर फिर ग्रामोद्धार के सूत्र देनेका इरादा है। उन्हे खूब समझकर और दूसरों को भी समझाकर व्यवहार करने से अधिक लाभ होगा। अधिक विस्तार न करके पहले सूत्र लिखकर उसे थोडे में समझाया है। पाठक सूत्र और स्पष्टीकरण पढकर थोडा मनन करे और तब कार्य में लगें, ऐसी लेखक की नम्र सूचना है।

सर्वसामान्य सूत्र।

(१) "प्राणिमात्र को जीवित रहने का जन्मसिद्ध हक है।"

हर एक मनुष्य का स्वतंत्र धंधा करके या नोकरी करके तथा दूसरों को उपद्रव किये बिना पेटभर अन्न खाने और शरीरभर कपडा पहनने का अधिकार है। कुछ लोग ऐसे हैं, कि नीची श्रेणीवाले लोगों ने अपनी रहनसहन में फर्क कर दिया, तो उन्हें बुरा लगता है। आधे भूखमरे और खराब खाना खानेवाले ऐसे ही रहे आवें, ऐसी समझवाले अपढ तो हैं ही, पर ऐसे लोग सुशिक्षितोंमें भी मिलते हैं, यह देश का दुर्भाग्य है!! नीची श्रेणीवालों को अपनी बराबरी करना लोगों को असह्य होता है, यह बात बहुतों ने देख ली होगी।

(२) "आदर गुण का है, वर्ण का नहीं।"

किसी भी उच्चवर्णीय के लिये यह मूर्खता होगी कि, उस वर्ण के गुण न होनेपर तथा उस वर्ण के योग्य आदर प्राप्त करनेवाला शील और आचरण न होनेपर भी केवल उच्चवर्ण में जन्म लिया, इसी कारण वह आदर की अपेक्षा करे।

(३) "जीयो और जीने दो।"

जैसे तुम्हें वैसे औरोंको भी जीनेका अधिकार है। ईश्वर की दृष्टि में सब समान हैं। उद्योग और ज्ञान के योग से हर कोई अपनी उन्नति कर लेवे (Live and let live)।

(४) "जो बोया हो वही ऊगेगा।"

ज्वारी बोनेपर गेहूं नहीं ऊग सकता। उसी प्रकार बोया हुवा सफल होने के लिये दिन से लगाकर साल तक का समय लगता है। अनाज या फल की बात कर्म को भी लागू होती है। हलदी पीकर एकदम कोई गौरवर्ण नहीं हो जाता। 'रोम शहर एक दिन में नहीं बना' यह अंग्रेजी कहावत मशहूर है।

(५) "सर्वेश सर्वशक्ति सर्वसाक्षी परमेश्वर है।"

मनुष्य की दृष्टि या ज्ञान से बचाकर कोई भी बात की जावे, वह ईश्वर से छिपी नहीं रह सकती। उस परमेश्वररूपी शक्ति का स्मरण रखकर प्रत्येक कार्य में उसका अधिष्ठान रहे। उस शक्ति से अपने को जुदा मत करो। इसी

दैवत-संहिता और याज्ञिक-संहिता।

आप दैवत-संहिता में गद्य याजुष मंत्र तथा वेद के परिशिष्ट भाग के मन्त्र नहीं छाप रहे हैं, सो मुझे कुछ खटकता सा है। यदि अथर्ववेद के कुन्तापसूक्त तथा ऋग्वेद के वालखिल्य सूक्त ही परिशिष्ट भाग कहलाते हैं तो वे तो आपने भी आर्षेय संहिता-अन्तर्गत छापकर माने हैं। सो दैवतसंहिता में क्यों नहीं छाप रहे हैं? तथा गद्य याजुष मन्त्र दैवतसंहिता में न छापने से यह त्रुटि होगी कि दैवतसंहिता अपूर्ण वैदिक संहिता रह जायगी और दैवतसंहिता पूर्ण वैदिक संहिता होनी चाहिये; गद्य, याजुष मन्त्र चाहे यजुर्लक्षणवाले मन्त्र ही क्यों न हो, पर हैं तो वेदसंज्ञाके अन्तर्गत ही, अतः दैवतसंहिताके अन्दर ही आने चाहिए ताकि दैवतसंहिता पूर्ण वैदिक दैवतसंहिता एक ही बन जावे। चाहे फिर आप गद्य याजुषभाग का अलग भी यज्ञप्रकरणानुकूल संग्रह छाप दें, वह दूसरी बात होगी। मगर दैवतसंहिता सम्पूर्ण चारों वेदों की बने उसमें से न गद्य याजुष मन्त्र छूटें और न वैदिक परिशिष्टमन्त्र केवल पुनरुक्त मन्त्र न छापें मगर यहां पुनरुक्त मन्त्रों का भी निर्देश कर दें, जैसा कि आपका भी विचार है ही।

आपके यजुर्वेद-संहिता में यह बडी कमी है कि ऋषि-देवता-छन्द नहीं छापे गये हैं। न मालूम क्यों। मुझे दैवत-संहिताके लिए भी ग्राहक समझिएगा। ६+२=८) रु० शीघ्र भेजने का प्रबन्ध करूंगा शेष, आप की वैदिकधर्म के पुनरुद्धार की सेवाओंके लिए महान् धन्यवाद है।

भवदीय विनीत
रामपालसिंह तेवतिया, मास्टर,
जाटकालेज, लखावटी, जि० बुलन्द शहर.

संपादकीय उत्तर।

याजुष गद्यभाग स्वतंत्र यज्ञप्रकरणानुसार छापा जायगा। इतनाही नहीं परन्तु, इसमें सब यजुर्वेद संहिताओंके सब प्रकरण सामिलित किये जांयगे। किसी यजुर्वेद संहिताका कोई भाग छोडा नहीं जायगा। और याजुष भागके सब संहिताओं के पूर्ण पते भी स्थानस्थानपर दिये जायगे।

इस संहिता का नाम 'याज्ञिक-संहिता' होगा और 'दैवत-संहिता' के मुद्रणके पश्चात् यह मुद्रित की जायगी। इस याज्ञिक-संहिता की तैयारी चल रही है। इस विषय में विस्तारपूर्वक लेख शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा।

संपादक- वैदिक-धर्म

द्वैताद्वैत-त्रैतवादपरक

वेदांतसार-सूत्राष्टक ।

(लेखक- चौ० रामपालसिंह तेवतिया, 'रामाचार्य' बी० ए०, एल० टी०, विशारद)

अथातो भाव जिज्ञासा ॥१॥

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

नासत्सज्जायते ॥३॥

सच्चिदानन्दम् ॥४॥

ब्रह्मात्मप्रकृतेरनादित्वात् ॥५॥

ओङ्काररूपत्वात् ॥६॥

तद्विदितत्वात् ॥७॥

तदुपदेशादिति ॥८॥

अब यह जानने की इच्छा है कि मूल भावात्मक सत्ता क्या है और जो कुछ है वह भावात्मक है भी या सब कुछ शून्यवत् अभावात्मक ही है ॥१॥

जिससे संपूर्ण संसार के जन्म, स्थिति और प्रलयादि होते हैं, वही मूल भावात्मक सत्ता है ॥२॥

और वह सत्ता अवश्य भावात्मक ही है, शून्यवत् अभावात्मक नहीं है, क्योंकि असत् अर्थात् अभाव से सत् अर्थात् भाव कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता और न ही भाव से अत्यन्त अभाव हो सकता है। जो कुछ है, वह असत् नहीं, सत् है। शून्यात्मक नहीं भावात्मक सत्ता है ॥३॥

उसका स्वरूप क्या है? वह सत् चित् तथा आनंद-स्वरूप सत्ता है ॥४॥

क्या वह सत्ता सादि सांत है? नहीं, वह ब्रह्मात्मप्रकृति रूप सत्ता अनादि होने से सादि सांत नहीं हैं। ॥५॥

और वह सत्ता ओंकार (अ + उ + म्) रूप है ॥६॥

उस सत्ताके संश्लेषण-विश्लेषण से ऐसा ही जाना जाता है कि वह सच्चिदानन्दादि गुणयुक्त है ॥७॥

और ऐसा सदुपदेश वेदादि विविध वैज्ञानिक सच्छास्त्रों में दिया हुआ है कि वह मूल भावात्मक सत्ता शून्यवत् नहीं है, किन्तु सच्चिदानन्दमय ब्रह्मात्मप्रकृतिरूप अकार उकार मकारात्मक अशून्यादि है। इसीको देवात्मशक्तिरूपेण कथन किया गया है ॥८॥

॥इत्योमलम्॥

दैवत-संहिताका मुद्रण

शुरू हुआ है ।

दैवत-संहिता के फार्म विद्वानोंके पास भेजे गए थे। उनकी सब सूचनाओं का स्वीकार करके दैवत-संहिता का मुद्रण शुरू किया गया है। इस समय 'अग्निप्रकरण' की छपाई चल रही है। अग्नि प्रकरण के ढाई हजार मन्त्र हैं। इनमें से इस समय तक ७०० मन्त्र छप चुके हैं और आगे छपाई चल रही है। आगामी दो मास में अग्नि प्रकरण संपूर्ण छप जायगा और इन्द्र प्रकरण की छपाई का प्रारंभ हो जायगा। -प्रबन्धकर्ता।

नित्य देवता का विचार।

(लेखक- श्री० लक्ष्मणसिंहजी वेदालंकार (प्रतिष्ठित) गुरुकुल कांगडी, M. R. A. S., अजमेर।)

देवता-वंश

देव = देवता (यो देवः सा देवता)

- नित्य देवता
  - मन्त्रपददेवता
    - १ मन्त्रोंके स्तुत्यपददेवता (या स्तुत्यनाम) ('अग्निमीळे' इत्यादि मंत्रमें स्तुत्य पद अग्नि है। अतः स्तुत्य दप-देवता अग्नि है।)
    - २ मन्त्रोंके नाम देवता ('अग्निमीळे' इत्यादि मंत्रका नाम देवता अग्नि है। यह आग्नेय मंत्र है।)
    - ३ याज्ञिक देवता ('अग्निमीळे' इत्यादि मंत्रसे यज्ञ में अग्नि देवता का आह्वान किया जाता है।)
    - ४ मन्त्रोक्त देवता ('अग्निर्देवता वातो देवता' इत्यादि मंत्रोंमें जिनको देवता कहा है। जैसे यहां अग्नि आदि को कहा है।)
    - ५ मन्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय-देवता ('अग्निमीळे इत्यादि का पूर्ण प्रतिपाद्य विषय अग्नि है। अतः इस देवता का प्रतिपाद्य विषयदेवता अग्नि है।)
    - ६ मन्त्रों के साथ पढे हुए देवता (वेदों में अग्निमीळे आदि मंत्र का देवता, ऋषि आदियों के साथ अग्नि ही पढा गया है।)
  - मन्त्रदेवता
    - ७ मन्त्र
    - ८ मन्त्र के अर्थ देवता

    (इनमें कोई अन्तर नहीं है, केवल व्यावहारिक अन्तर है।)
    (अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥' यह सम्पूर्ण मन्त्र देवता है।)
- निर्वचन देवता
  (इनका नित्यानित्य प्रकृतिप्रत्यय के नित्यानित्यत्वपर आश्रित है)
  (अतः धातु और प्रत्यय नित्य हैं, तो शब्दादि पदार्थों का प्रकाश करने-)
  (वाला होनेसे इंद्रियवाची देव शब्द नित्य है, नहीं तो नहीं।)
- अनित्य देवता
  - उक्त देवता
    - ब्राह्मणोक्त देवता (जैसे शतपथमें यज्ञ को देव कहा है)
    - पुराणोक्त देवता (इनमें ३३ करोड देवता माने गये हैं)
    - भाषामें प्रयुक्त देवता (मातापिता या अन्य पूज्य मंदिरों में स्थित देवी, देवता)
  - मनुष्यकृत देवता
    - संज्ञा (किसी मनुष्य या पदार्थ का नाम देव या देवता रख दिया।)

प्रस्तुत लेख में हमने इस 'देवता-वंश' के प्रथम भाग (नित्य देवता) का-, उसकी शाखाप्रशाखाओं के साथ संक्षेप में विचार किया है।

देवता के स्वरूप के सम्बन्ध में अभीतक आर्य जगत् में एक मत स्थापित नहीं हो सका। कई मास के वाद-विवाद के पश्चात् आर्य का 'देवताबोधांक' निकला, परन्तु वह भी इसको शांत करने में समर्थ हो सका या नहीं- यह भी एक विवादास्पद विषय है, जिस पर हम फिर कभी विचार करेंगे। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अभी तक यह विवाद समाप्त नहीं हुआ।

वैदिक धर्म के गत वर्षके अक्तूबरके अंकमें हमने एक लेख 'क्या देवता अनिश्चित है?' शीर्षक से लिखा था। जिस प्रकार हमने उस वक्त बिना किसी की आलोचना किये स्वतंत्र रूपसे लेख लिखा था, आज भी बिना किसी की आलोचना के हम आगे बढेंगे।

देवता का विषय अत्यंत गंभीर है। इस पर एक बार ही में सम्पूर्ण विचार नहीं हो सकता। हमने अपने प्रथम लेख में एक शैली से 'देवता' पर विचार किया था। आज हम दूसरी शैली से इसी विषय पर विचार करेंगे। इससे पूर्व कि हम आगे बढें, एक निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि विषय के गांभीर्य को दृष्टि में रख कर हमें अपनी बुद्धिको तटस्थ तथा मन को शान्त करने की आवश्यकता है।

जिस शैली से हम आज 'देवता' पर विचार करने लगे हैं, उसके लिये दो-एक बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। वे ये हैं- हिन्दी भाषा का प्रयोग बहुत अर्वाचीन है। यहां के मनुष्यों की भाषा कुछ सदियों के पूर्व संस्कृत थी और उससे भी पूर्व शायद ऋषियों की भाषा वैदिक भाषा ही थी। इन्हीं कारणों से प्राचीन साहित्य को समझने में कई बार हमें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पडता है और तीसरी बात संस्कृत भाषा बहुत लचकीली है।

देवता शब्द की रचना और उसका अर्थ।

सबसे पूर्व हम यह देखेंगे कि 'देवता' शब्द बनता कैसे है और उससे हम इसका अर्थ निश्चित करेंगे और तद्-नन्तर इनके प्रयोगों पर विचार करेंगे।

संस्कृत साहित्य को पढनेसे मालूम होता है कि 'देव' और देवता शब्द पर्यायवाची हैं। स्वयं निरुक्तकार भी कहते हैं-

यो देवः सा देवता। (नि० ७। १५)
अर्थात् जो देव है वही देवता है।

देवता- पाणिनि व्याकरण के अनुसार भी 'देव' शब्द से स्वार्थ में 'देवात्तल्। (५. ४. २७) सूत्र से तल् प्रत्यय होने पर 'देवता' शब्द सिद्ध होता है। अतः 'देव' और 'देवता' शब्द में सिवाय रूप के अर्थ का कोई भेद नहीं।

देव- 'देव' शब्द 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार-द्युतिस्तुतिमदमोहस्वप्नकांतिगतिषु' धातुसे सामान्य 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' सूक्त से (पा० ३. १. १२४) से अच् (दिव्+अच्) प्रत्यय करने पर बनता है। केवल एक इसी आश्रयपर हम 'देव' अथवा 'देवता' शब्द के अनेक अर्थ कर सकते हैं और अनेकों प्रकार के प्रयोग भी।

इसके अतिरिक्त हम देवता शब्द के अनेक प्रकार के प्रयोग देखते हैं। उन प्रयोगों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम अनित्य और दूसरे नित्य। नित्य प्रयोगसे हमारा केवल उन्हीं से तात्पर्य है, जिनका प्रयोग 'वेद' में किया गया है और अनित्य प्रयोग से हमारा अभिप्राय उन से है, जो ऋषिमुनियों वा मनुष्यों ने किया है। धात्विक अर्थ की दृष्टि से किये गये प्रयोग प्रकृतिप्रत्यय के नित्यानित्यत्व पर आश्रित है। सबसे प्रथम हम अनित्य प्रयोगों का परिगणन करेंगे।

ब्राह्मणादि ग्रंथोंके देवता।

ब्राह्मणों में अनेकों पदार्थों को देव (देवता) कहा गया है। उदाहरण के लिये "ऋतवो वै देवाः" (श. ७. २. ४. २६) 'यज्ञो देवाः' (श. २. १. ४. ९) 'वागेव

देवा:' (श. १४. ४. ३. १३)' 'सत्यसंहिता वै देवाः' (ऐ. १६) आदि। इन सबों का देवतामें परिगणन किया गया है।

पुराणोक्त देवता।

पुराणोंमें ३३ करोड देवता माने गये हैं। एक ये भी देवता हैं। यहाँ हम इस पर विचार नहीं करेंगे कि वे कौनसे हैं।

आर्यभाषामें देवताका प्रयोग।

जब हम किसी सच्चे, सीधे तथा शान्त प्रकृति के मनुष्य का विचार करते हैं, तो उसके लिये भी देवता का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकारसे माता-पिता या अन्य पूज्य व्यक्तियों के लिये भी 'देवता' का प्रयोग किया जाता है। सनातनियों के मंदिरोंमें स्थित मूर्तियें भी देवी देवता हैं।

संज्ञा।

यदि हम किसी मनुष्य या पदार्थ का नाम देवता रख दें तो वह भी देवता कहलायेगा।

उपरोक्त चारों प्रकार के प्रयोग अनित्य हैं। क्योंकि ब्राह्मणादि ग्रंथ अनित्य हैं- क्योंकि ये मनुष्यकृत हैं। अत: ये प्रयोग भी सर्वदा सब सृष्टियोंमें इसी प्रकार से न होने कारण अनित्य हैं। परन्तु यदि प्रकृति प्रलय नित्य हैं, तो उनका भी नित्यत्व हो सकता है।

अन्य प्रयोग।

इन चार प्रकार के प्रयोगों के अतिरिक्त हमें कुछ अन्य रूपमें भी 'देवता' का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। वे प्रयोग नित्य हैं और निम्न हैं—

१. मंत्र
२. मंत्रों के नाम
३. मंत्रोक्त देवता
४. मंत्रों के स्तुत्य पद
५. प्रत्येक मंत्र के साथ उच्चरित देवता
६. याज्ञिक देवता
७. मंत्रों का प्रतिपाद्य विषय
८. मंत्रोंके अर्थ

उपरोक्त आठ प्रकार के प्रयोग भी 'देवता' रूपमें हमारे साहित्यमें प्रयुक्त हुए हुए प्रतीत होते हैं। जैसे हमने उपरोक्त चार प्रकार के प्रयोगों को अनित्य कहा है, इनको नित्य कह सकते हैं। परन्तु इनकी नित्यता 'वेदों' के नित्यत्व पर आश्रित है। यदि वेद नित्य हैं, तो ही ये नित्य हैं। यदि वेद अनित्य हैं, तो इनका नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु वेदों की नित्यता सिद्ध है, अतः ये भी नित्य हैं।

आज हमारे इस लेख का विषय ये ही आठ प्रकार के देवता हैं। और हम इन्हीं का अति संक्षेप से आज विचार करेंगे।

यदि हम थोडीसी भी सूक्ष्म दृष्टि से इन आठों प्रकार के देवताओं को देखें, तो ये वास्तवमें एक हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं। अन्तर केवल इतना है कि इनका आठ प्रकार से प्रयोग किया गया है। व्यावहारिक दृष्टिसे ये ८ हैं और तात्विक दृष्टि से ये एक हैं। यदि हम इनको इतनी सूक्ष्म दृष्टि से नहीं देख सकते, तो इनके हम दो विभाग कर सकते हैं-प्रथम विभागमें प्रथम तथा अन्तिम और दूसरे विभाग में बाकी के छः हैं। परन्तु वास्तव में ये सब एक ही हैं। ये एक कैसे हैं, इसी का प्रतिपादन करना हमारा आजका उद्देश्य है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ये एक ही हैं, तो आठ प्रकारके दीखते क्यों हैं? इसका उत्तर केवल इतना ही है कि इनमें आठ प्रकार से प्रयुक्त होने की योग्यता हैं, या ये प्रयोग में लाये जाते हैं। उदाहरण से यह और स्पष्ट किया जा सकता है। एक मनुष्य में अनेक प्रकार की शक्तियें निहित हैं- यों भी माना जाता है कि आत्मामें सब प्रकार की शक्तियें निहित है। मनुष्य जिसे चाहे, उसे प्रबुद्ध कर सकता है। परन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि अनेक प्रकार की शक्तियें तो हैं ही। एक व्यक्ति लोहार, राज, डाक्टर तथा मोटरवाहक (मोटरड्राइवर) सब हो सकता है। ठीक इसी प्रकार से एक देवता इन आठ प्रकार से व्यवहार में लाया जा सकता है। या इनमें आठ प्रकार से प्रयुक्त होने कि शक्तियें हैं।

यहां एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये कि हम यहां पर केवल एक एक ही और ज्यादा उचित समझा, तो

कहीं कहीं दो उद्धरण भी उद्धृत करेंगे ताकि लेख का कलेवर न बढ जाये। यदि आप निष्पक्ष दृष्टि से देखेंगे और ध्यानपूर्वक पढेंगे, तो मालूम होगा कि महर्षि का मत क्या है और 'मन् १९३८ के आर्य विद्वानों' का मत उससे कहा तक मेल खाता है।

१. मंत्रोंके स्तुत्य [नाम] पद [४]

प्रत्येक मंत्रमें किसी न किसी पदार्थकी अथवा परमात्मा की स्तुति की गई है। यह तो सर्वसम्मत है। वह स्तुति शब्दोंमें की गई है। और यह भी हम मानते हैं कि वे शब्द, उन शब्दो का क्रम उसी मन्त्र में उसी प्रकारसे हर सृष्टिमें परमात्मा के द्वारा ऋषियों पर प्रकट होता है। अत. मन्त्र पूर्ण रूप व प्रकार से नित्य है। जैसे—

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह बिभ्युषी
नि यत्सी शिश्नथद् वृषा।

(ऋ० ४।३०।१०)

इस मन्त्रमें उषा की स्तुति की गई है। जैसा कि मन्त्रसे स्पष्ट है। अब क्योंकि मंत्र नित्य हैं, अत: इसके शब्द भी निश्चित हैं। उस अवस्था में इसका स्तुत्य पद भी निश्चित है। अर्थात् यह सत्य है कि इस मन्त्रमें उषा की स्तुति की गई है। अत. इस मंत्र का स्तुत्य पद उषा है और 'उषा' पद नित्य स्तुत्य पद है। इसी प्रकारसे प्रत्येक मन्त्र के स्तुत्य पदोंपर विचार किया जा सकता है।

मन्त्रों के स्तुत्य पद देवता हैं, इसके लिये हम यास्क का निम्न वचन उद्धृत कर सकते है। दैवत काण्ड की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। (नि० ७।१०)

अर्थात् मन्त्रों में जिन देवताओं की प्रधानता से स्तुति की गई है, उन नामों-पदों की जिसमें व्याख्या की गई है, वह दैवतकाण्ड है। यही हेतु है कि इस काण्ड में सब उन्हीं देवता-पदों का उल्लेख है, जो मन्त्र में स्तुत्य हैं।

इसको संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि मन्त्रों के स्तुत्य पदवाची जो देवता शब्द हैं-वे नित्य तथा निश्चित हैं। जैसे 'अपोषा अनस.' आदि मन्त्र का नित्य स्तुत्य पद- उषा-देवता है।

२. मंत्रोंके नाम [२]

मंत्रों के नामों को देवता कहते हैं। स्वामिजी लिखते हैं—

देवताभिधा ऋच। (ऋग्वे भा. भू शा. संस्करण पृ० ३३३)

उपरोक्त भाग की व्याख्या करते हुए स्वामिजीने जो सस्कृत वाक्य दिया है, उसके उन्हीं के शब्दों में निम्न लिखित अर्थसूचक हिंदी वाक्य है।

'त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करनेवाले मन्त्र ही हैं- इसी कारण से इनका नाम देवता हैं।' इससे यह सिद्ध होता है कि मन्त्रों में विद्या है और उस विद्या को वे मन्त्र प्रकाशित करते हैं- अतः उसका नाम देवता है। यदि उस मन्त्र में उस उस विद्या को प्रकाशित करने की शक्ति नहीं होगी, तो वह मन्त्र उस विद्या की अपेक्षा से देवता नामवाला नहीं हो सकता- अर्थापत्ति से यह सिद्धान्त निकलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि 'अग्निमीळे' मन्त्र में अग्नि विद्या को प्रकाशित करने की शक्ति है- तो वह मन्त्र उस विद्याको प्रकाशित करने के कारण देवतानामवाला होगा और जो विद्या उसमें नहीं है, उसकी उपेक्षा से वह मन्त्र देवतानामवाला नहीं हो सकता। अर्थात् 'अग्निमीळे' मन्त्र 'मरुत्' विद्या के कारण देवतानामवाला नहीं हो सकता। इसको हम उदाहरण से यों स्पष्ट कर सकते हैं-

गेहूँ आदि मनुष्य का भक्ष्य होने से खाद्य पदार्थ है। यदि मनुष्य का भक्ष्य गेहूँ न हो तो मनुष्य की अपेक्षा से गेहूँ खाद्य पदार्थ नहीं हो सकता। शायद आप कहेंगे नहीं, चाहे मनुष्य गेहूँ खाये या नहीं, वह तो खाद्य पदार्थ कहलायेगा ही। थोडी देर के लिये हम इसको छोड देते हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये। क्या 'विष्ठा' खाद्य पदार्थ है? आप बिना अपेक्षा के उत्तर नहीं दे सकते। सुअरकी दृष्टिसे, या इसी प्रकारसे अन्य अनेक प्रकार के कीडों की अपेक्षा से वह जहां खाद्य है, वहां वह मनुष्य की दृष्टि से खाद्य नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसकी सत्ता अनिवार्य हो, उसकी सत्ता आवश्यक है। ऐसी अवस्था में जिस विद्या की अपेक्षा से जो मन्त्र देवतावाला है।'

उसी नामवाला देवता मन्त्र का होना चाहिये। यही कारण है कि स्वामिजीने 'अग्निं दूतं पुरोदधे०' इत्यादि मन्त्र का नाम अग्नि देवता ही रक्खा है। क्योंकि यह वर्णन 'अग्नि' विद्यावाला है, अतः इसी की अपेक्षासे यह 'अग्नि' देवता नामवाला है। यदि कोई ही नाम रखना होता तो स्वामिजी इसका नाम 'इंद्र' रख देते। परन्तु स्वामिजी यह भली प्रकार जानते थे कि 'इंद्र' विद्या के कारण यह मन्त्र देवतानामवाला नहीं है।

और देखिये- नाम रखना भी एक बडी बुद्धिमत्ता का कार्य है। क्या कभी किसीने सूर्य का नाम भी शीतल रक्खा है? क्या कभी किसीने महात्मा गांधी की जीवनी का नाम पं० नेहरू या कवि टैगोर रक्खा है? और क्या कभी किसीने एक सुन्दर बालक का नाम कुरूप भी रक्खा है? नहीं। फिर हम वेद में अग्नि की जीवनी को मरुत् या इन्द्र की जीवनी को उषा कैसे कह सकते हैं? हमारा तो विचार है, हम कहते भी नहीं हैं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि वेद-मन्त्र के अनेक अर्थ हैं। या एक-एक वेद-मन्त्र अनेकों की जीवनियें हैं। ऐसी अवस्था में उनके नाम भी बहुत हैं। हर एक मन्त्र अनेकों विद्याओं की अपेक्षा देवता नामवाला होने के कारण हर एक मन्त्र के अनेक देवता होंगे? नहीं।

प्रथम तो अर्थ हमारे किये हुए हैं। यह किसको मालूम कि भगवान् को भी वे ही सब अर्थ अभिप्रेत हैं? परन्तु थोडी देर के लिये मान भी लिया जाये, तब भी हमारा यह पूछना है- विद्वानों! जिस एक शब्दके आपने इतने अर्थ किये हैं, उन सब को पुन: प्रकट करने के लिये उससे अधिक उपयुक्त शब्द और कौनसा हो सकता है? क्या आप कालीदासके रघुवंश का नाम चौरकथा कर सकते हैं? विवाद और जिद्द में उसका नाम आप भले ही चौर-कथा कह दें, पर बुद्धि कभी यह स्वीकार नहीं कर सकती। यदि कालीदास के मन में ग्रन्थरचना के समय भी दोनों भाव मौजूद होते, तब भी हम उसका नाम नहीं बदल सकते। फिर यह तो वेद है। अर्थात् वेदमन्त्ररूपी जीवनी में जिस शब्द को लेकर एक विद्या का वर्णन किया गया है, वही शब्द उस मन्त्र का सर्वोपयुक्त नाम हो सकता है। अर्थात् 'अपोषा अनसः' आदि मन्त्र में यदि उषा की कथा है, तो उसका नाम भी उषा ही होना चाहिये। या जिस उषा विद्या का प्रकाश करनेके कारण मन्त्र देवतानामवाला है, वही इसका नाम होना चाहिये। क्योंकि वेदमन्त्र, उनमें उच्चरित विद्या व शब्दादि सब नित्य हैं, अतः उसका देवतानाम भी नित्य है। जो कि वेदमन्त्र पर आश्रित है।

३. याज्ञिक देवता [६]

ये देवता बहुत ही स्पष्ट हैं। याज्ञिक देवता से हमारा उन देवताओं से अभिप्राय है, जिनका यज्ञ में मन्त्रों के द्वारा आह्वान किया जाता है।

यज्ञ या अनुष्ठान किस लिये करवाये जाते हैं, यद्यपि यह जगत्प्रसिद्ध है, फिर भी संक्षेपसे लिखना आवश्यक है। हमारे साहित्य में अनेक प्रकारके यज्ञ अनुष्ठानादि का उल्लेख है, जैसे दर्शपौर्णमास, गोमेध, पुरुषमेध आदि। ऐसा कहते हैं कि जब राजा दशरथ के पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, तो उन्होंने पुत्रेष्टि याग किया। इसी प्रकारसे वर्षा न होने पर बिमारी फैलनेपर, अकाल पडने पर और इसी प्रकार से अन्य संकट-समयों पर करने के लिये अनुष्ठानों का आदेश है, जिनको करने से वे संकट दूर होते हैं।

इन यज्ञों का सम्पादन करते हुए यज्ञकर्ता ब्रह्म, सूर्य, इन्द्रादि देवोंकी स्तुति करते हैं, उनका आह्वान करते हैं। स्वामिजी ने तो इन यज्ञों के लिये एकही देवता माना है- परमेश्वर अथवा दो- वेदमंत्र व परमेश्वर दोनों को। ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकामें लिखते हैं-

(१) परन्तु मंत्रेश्वरावेवं यज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

(२) कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति ॥

(प्रकरण वेदविषयविचार-)

इतना होते हुए भी यज्ञोंमें विशेष विशेष मंत्र के द्वारा विशेष विशेष देवताओं का आह्वान किया जाता है, जैसे कभी इन्द्र का, कभी अग्नि, कभी वरुण आदि और जिस मंत्रसे जिस देवता का आह्वान किया जाता है, वही मंत्र, उसी देवतावाला यज्ञविभाग में है- ऐसा याज्ञिक पक्ष में माना जाता है।

अब कल्पना कीजिये कि हमारे घर में एक बच्चा उत्पन्न होता है। उस समय हम जगदुत्पादक परमात्मा की स्तुति करते हैं, यज्ञयागादि करते हैं। उस में यदि परमेश्वर की स्तुति 'सविता' से की जायेगी-वह ज्यादा तर्कानुकूल मालूम होगी या विश्नुसूक्त, जलसूक्त या मृत्युसूक्त से उसकी स्तुति करने लगें। जिस प्रकार यह सब तर्कविरुद्ध व भद्दा लगता है, उसी प्रकारसे जब हम भगवान् के इन्द्ररूप की स्तुति करने के लिये 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' का, मरुत् की उपासना करने के लिये 'सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्' इत्यादि का पाठ करनेसे भद्दा तथा अरुचिकर मालूम होगा। इससे सिद्ध होता है कि जब सविता की स्तुति करें- 'सविता यंत्रैः' मंत्र का उच्चारण करें। जब वेनकी स्तुति करने लगें- 'अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा' आदि मंत्र से ही उसका आह्वान करें।

परन्तु क्योंकि वेदमंत्र नित्य हैं, इनका स्वरूप भी नित्य है, इनसे प्रकाशित होनेवाली विद्या भी नित्य हुई। अतः उससे आहूत देवता भी नित्य हुआ।

४. मंत्रों का प्रतिपाद्य विषय [७]

देव शब्द की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं- देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा'। इसमें 'द्योतनाद्वा' इस व्युत्पत्ति को लेकर-

मन्त्रेण द्योत्यते इति देवता।
(प्रो० चन्द्रमणिकृत नि. भा. पृ० ५००)

इस निर्वचन से मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को भी देवता कहा गया है। यहां तक किसी को मतभेद नहीं- अब जरा इस विचार की व्याख्या कीजिये।

यह तो सब मानते हैं कि वेदमन्त्र निरर्थक नहीं। स्वयं मुनि यास्क ने भी कौत्समत खण्डण करते हुए यही बतलाया है कि वेदमन्त्र 'अर्थवन्तः' अर्थवाले हैं। दूसरे शब्दों में उन में किसी न किसी विषय अथवा पदार्थ का वर्णन है और वह विषय शब्दोंके द्वारा मन्त्रों में प्रतिपादित है। निर्देश केवल इतना ही करना है, वह कौनसा है। उदाहरण के लिये फिर उसी "अपांपा अनसः" या "सविता यन्त्रैः" को ही लीजिये अथवा ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे' को ही लीजिये।

अब विचार यह करना है कि इन मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? यों तो सम्पूर्ण मन्त्र ही उस प्रतिपाद्य विषय का वर्णन कर सकता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण पुस्तक और पुस्तक का विषय दो पदार्थ नहीं हैं, परन्तु व्यवहारमें माने जाते हैं, इसी प्रकार से मन्त्र और तत्प्रतिपाद्य विषय है। फिर भी हम आज इसको दूसरी प्रकार से आप के सामने रक्खेंगे। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' मन्त्र के आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तीन अर्थ किये गये हैं- जिनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। आध्यात्मिक अर्थ में 'अग्निमीळे' मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'परमात्मा' है, आधिदैविक अर्थ में यह पार्थिव अग्नि ही इसका विषय है तथा आधिभौतिक से वह सूर्यादि गोलों से सम्बन्ध रखता है। परन्तु इसका प्रतिपाद्य विषय अग्नि भी तो है। तब मैं आप से पूछता हूं कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय परमेश्वर है, वह्नि है, सूर्य है अथवा 'अग्नि' है ? आप कहेंगे सब है। ठीक।

यहां इस पर विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसका क्या लक्षण है और यह रूढि शब्द चला क्यों हुआ है ? मैं एक लेख लिखता हूँ- 'मैंने आज से दो मास पूर्व गंगोत्री के लिये प्रस्थान किया था। रास्ते के मनोहर दृश्यों को देखते हुए करीब दो मास के पश्चात् आज मैं पुनः आप बन्धुओं के बीच में खड़ा हूँ...' आदि। इसका प्रतिपाद्य विषय बिलकुल ठीक रूपसे, इन्हीं शब्दों में, इसी क्रमसे प्रतिपादित किया जा सकता है- अन्यों में नहीं। परन्तु इस लम्बे व्याख्यान का नाम विस्तृत वृत्तान्त है। और जब हमसे कोई इसका विषय पूछता है, तो कहते हैं- *गंगोत्रीयात्रा*। इससे हम विषय का निम्न लक्षण बना सकते हैं- "विस्तृत व्याख्यान को संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहना कि उससे, उसके अन्दर क्या है, का ज्ञान हो जाये।" इसी कारण से जहां तक होता है, विषय को एक दो शब्दों में ही प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है। इसी कारण से परमात्मा ने सम्पूर्ण वेदमन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय एक शब्द 'वेद' से प्रकट किया है।

आप एक पुस्तक लिखते हैं, उसका एक नाम रखते हैं। फिर उस पुस्तकके अलग अलग अध्यायों के एक-एक शीर्षक बनाते हैं। उन अध्यायोंमें भी फिर एक-एक वाक्यसमूहके गौण-शीर्षक लिखते हैं, आदि! पुस्तक का संक्षेप गौण-शीर्षकों में, गौण-शीर्षकोंका संक्षेप शीर्षकोंमें, और फिर उनका भी संक्षेप किताब के नाम-रूपमें मुख-पृष्ठपर लिख देते हैं, जो कि उस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। जिसको देखनेमात्र से इसका ज्ञान हो जाता है कि इसमें अमुक पदार्थ का ज्ञान है। अब आप मन्त्र की ओर आइये।

'अग्निमीळे' मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय परमात्मा, अग्नि, नेता, सूर्यादि अनेक हैं। यदि आप इनका और संक्षेप न कर सके, तब तो येही प्रतिपाद्य विषय हैं- परन्तु यदि कर सकें तो ये प्रतिपाद्य विषय नहीं कहला सकते। जिस प्रकार अध्यायों के शीर्षक अपने आप में अलग-अलग अथवा मिल कर पुस्तक का नाम नहीं बना सकते, उसी प्रकार से परमात्मा, वह्नि, सूर्यादि, अलग-अलग अथवा मिलकर मन्त्र का नाम नहीं बना सकते और नाहीं उनका प्रतिपाद्य विषय बता सकते! वह तो एक खिचडी सी मालूम होगी। आपसे कोई पूछे कि- बताइये साहब 'अग्निमीळे' मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है? आप कहेंगे- परमात्मा, नेता, सूर्य, वह्न्यादि। तो आप पर व आपकी अज्ञानता पर, वह भला मानुष सिवाय हंसने के और कुछ नहीं कर सकता! अतः 'अग्निमीळे' मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय अग्नि। इसमें उन सबका ग्रहण हो गया है। 'सविता यन्त्रैः' मन्त्र का सविता, तथा 'अपोषा अनसः' का उषा प्रतिपाद्य विषय है। इस के लिये उन्हीं शब्दोंके जिनसे परमात्माने उन उन अर्थोंका वेद में प्रतिपादन किया है, अतिरिक्त और कोई शब्द उपयुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि उस प्रकारसे वह्निको देवता मानने पर नेता का ग्रहण नहीं होगा और क्योंकि ये शब्द वेद से हैं, अतः नित्य हैं।

५. मन्त्रोक्त देवता। [२]

इस श्रेणी में उनको देवता कहेंगे कि जिनको स्पष्ट वेद में देवता कहा है। जैसे—

अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता, चन्द्रमा देवता, वसवो देवता, रुद्रा देवता, आदित्यो देवता, मरुतो देवता, विश्वे देवा देवता, बृहस्पतिः देवता, इन्द्रो देवता, वरुणो देवता। (यजु० १४-२०)

इस मन्त्र में वेद स्पष्ट कहते हैं कि 'अग्नि' देवता है, 'वात' देवता है, 'सूर्य' देवता है, आदि। इसी प्रकार से जिनको वेद में देवी, देव कहा है, वे भी देवता हैं। उदाहरण के लिये अथर्ववेद का मन्त्र है—

कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि। सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम॥ (७-४७-१.)

इस वेदमन्त्र में कुहू (देवपत्नी, गम्भीरपत्नी) को भी देवी कहा है। अतः कुहू भी देवता है। इसी प्रकार से अनेकों मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, जिसमें देवता का नाम उद्धृत है। परन्तु वेदमन्त्र परमात्मा का नित्य ज्ञान है, अतः वेदों में कहे हुए देवों के नाम नित्य हैं और वे भी वैदिक शब्द ही हैं।

इस प्रकार हमने उपरोक्त ८ व्यवहृत प्रयोगोंमें से पांच पर विचार कर लिया है। हमने देखा कि 'स्तुत्य-पद-देवता' 'मन्त्र-नाम-देवता' 'याज्ञिक देवता' 'मन्त्र-प्रतिपाद्य-विषय देवता' और 'मंत्रोक्त-देवता' वेदमंत्रों पर आश्रित होने से नित्य हैं।

६ प्रत्येक मन्त्र के साथ उच्चरित देवता। [५]

(अभिप्रायार्थ विज्ञापक)

वास्तव में ये कोई नवीन प्रकार के देवता नहीं हैं। ये उपरोक्त पांच प्रकार के देवताओं में ही अन्तर्गत हो जाते हैं। इन देवताओं को कोई तो वेदमन्त्र का प्रतिपाद्य विषय मानता है, कोई इनको वेदमन्त्ररूपी पुस्तक के नाम समझता है और कोई इनको वेदमंत्र के अभिप्राय का प्रदर्शक ख्याल करता है और कोई इनको वेदमंत्र का अर्थ बतलाता है।

इनमें से प्रथम दो पर हम विचार कर चुके हैं। अन्तिम विचार का उल्लेख हम आगे करेंगे और तीसरे विचार पर हम संक्षेप में यहां लिखेंगे।

'देवता' वेदमंत्र के अभिप्राय का प्रदर्शक है, यह

विचार इन शब्दों में हमारे आचार्य पूज्य महर्षि दयानन्द का है। वे लिखते हैं—

यस्य यस्य मंत्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति सः सोऽर्थस्तस्य (मंत्रस्य) देवताशब्देन अभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। (ऋग्वेदादि भा. भू. प्रश्नोत्तरविषयः)

स्वामीजी के शब्दोंमें ही इसका अर्थ यों है–

'जिससे मंत्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाये' इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मंत्र के साथमें लिखा जाता है। इतने अंश पर हम आज ज्यादा टिप्पणी नहीं करना चाहते। विद्वान् लोग स्वयं स्वामिजी के इस स्थल का अध्ययन करें और विचारें। अब हम स्वामिजी के उपरोक्त वाक्य की व्याख्या करेंगे कि उनका इससे क्या तात्पर्य है।

स्वामिजी के लेखन से मालूम होता है कि वेदमंत्रोंको समझने के लिये, जैसे डाक्टर को शरीरकी अवस्था का ज्ञान करने के लिये, नाडी व हृदय इत्यादि को देखने की आवश्यकता पडती है, हमें भी वेदमंत्र का अभिप्रायार्थ (वास्तविक अर्थ नहीं) जाननेके लिये, उसकी नाडी, हृदय जानना आवश्यक है। अब विचार यह करना है कि वेदमंत्र का नाडी व हृदय, कौन हो सकता है ?

स्वामिजी के वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि देवता शब्द है, न कि शब्दसमूह (वाक्य) या वाक्यसमूह। निश्चय यह करना है कि वह शब्द (नाडी व हृदय) कौनसा हो सकता है।

जिस प्रकार शरीरमें अनेक नाडियें हैं, परन्तु उन सबसे शरीरकी अवस्था ज्ञात नहीं होती, उसी प्रकार हर एक मंत्र में अनेकों शब्द हैं, पर वे सब मंत्र की अवस्था को प्रकाशन नहीं कर सकते। परन्तु इतना भी ख्याल रखना चाहिये कि वह नाडी आखिर है शरीर के अन्दर ही निहित। इसी प्रकार से वह शब्द भी वेदमंत्र में ही होना चाहिये। बाहर के शब्द से उसके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

उदाहरण के लिए फिर उसी अग्निमीळे मंत्रको ही लिजिये। अब इसका देवता ऐसा होना चाहिये, जो कि मंत्र के अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान करा सके। आपने अपना भाष्य किया और देवता लिख दिया बलि। एक दूसरे विद्वान् ने इस मंत्रका देवता रक्खा 'नेता।' और तीसरेने उसका देवता माना ईश्वर। अब प्रथम मनुष्यके पास तीसरे मनुष्य का भाष्य जाता है। उसने अग्निमीळे मंत्र का अभिप्राय जानने के लिये उसका देवता देखा–वह था ईश्वर। अब उसने ईश्वर को सन्मुख रखकर अपने भाष्य को फिर देखा, वह संदेह में पड गया। ईश्वर देवता से उसे 'अग्निमीळे' मंत्र का वह अभिप्राय नहीं ज्ञात हुआ, जो उसके अपने भाष्यमें था। उसने सोचा इसमें कुछ अशुद्धि मालूम देती है। वह उन दोनों भाष्यों को लेकर चौथे विद्वान् के पास पहुंचा और अपने प्रश्न को उसके सन्मुख रख दिया।

उसने उसको देखकर उसे समझाया कि भाई, तुमने तो देवता के सब अंग काटकर केवल एक-एक अंग के साथ देवता को गद्दी पर बिठला दिया है। उसने उसे समझाया और कहा- देखो, 'बलि' के स्थानपर यही अग्नि शब्द जो वेदमंत्रमें है, देवता स्थानपर रक्खो। फिर इन अर्थों पर विचार करो। वह सच्चा जिज्ञासु विद्वान् था, उसने तुरन्त अपने भाष्यमें से बलिको हटाकर अग्नि कर दिया। अब अग्नि देवता को सन्मुख रख कर, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, जितने भी उसको इस वेदमन्त्र के भाष्य मिले, सब देखे और वास्तव में अनुभव किया कि वे सब देवता इस 'अग्नि' शब्द से ज्ञात होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'अग्निमीळे' मन्त्र का देवता सूर्यादि न होकर 'अग्नि' है।

इतना लिखने से हमारा जो तात्पर्य है, वह स्पष्ट हो गया है। इसको और स्पष्ट कर कलेवर को बढाना उचित प्रतीत नहीं होता। स्वामिजी की इस परिभाषा से भी 'अपोषा अनसः' 'सविता यंत्रैः' 'अग्निमीळे' आदि मन्त्रों के भी वे ही देवता प्राप्त होते हैं, जिनकी प्राप्ति उपरोक्त पांच प्रकरण से हुई थीं और ये शब्द भी वेद पर आश्रित होने से नित्य हैं। अब केवल दो प्रयोग प्रथम और अन्तिम ही शेष रह जाते हैं, जिनपर हम अब विचार करेंगे।

७. मन्त्र देवता । [१]
८. मन्त्रार्थ देवता । [८]

अब हम इस लेख की समाप्ति की ओर प्रस्थान करते हैं । मन्त्र को देवता क्यों कहा इत्यादि सिद्धान्तोंपर ऊहापोह न करते हुए सीधा यही कहेंगे कि हमारे साहित्य में मन्त्रों को भी देवता कहा है ।

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।
(नि० १।२)

अर्थात् पुरुष की विद्या के अनित्य होने से कर्मसिद्धि कराने द्वारा वेद में पठित मन्त्र 'देवता' है । इस सम्बन्धमें महर्षि दयानन्द का भी एक वाक्य उद्धृत करना किसी प्रकार से अनुपयुक्त न होगा । जैसे—

"अत्र परिगणनं गायत्र्यादि छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः, यज्ञांगं, प्रजापतिः, परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः माता, पिता, आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः ।

(ऋग्वेदादि भा० भू० वेदविषयविचार)

यहां देवता का परिगणन करते हुए स्वामिजी ने मन्त्रको भी गिना है । इससे मन्त्र भी देवता कहाता है । यहां हम केवल आप्त प्रमाण के कारण मन्त्र का नाम देवता स्वीकार करते हैं और किसी प्रकार की भी विचारधारा में प्रविष्ठ नहीं होंगे । क्योंकि मन्त्र वेदों के नित्य होनेसे नित्य हैं, अतः ये देवता भी नित्य हुए । अब हम यह बतलायेंगे कि मन्त्रों के अर्थ देवता हैं और वे नित्य कैसे हैं ।

मन्त्रोंके अर्थ देवता हैं, यह समझनेके लिये हमें सबसे प्रथम अर्थ (Meaning) का दर्शन (Philosophy) समझ लेना चाहिये । इसको समझकर हम बहुत आसानी से यह समझ सकते हैं कि मन्त्र के अर्थ देवता कैसे हैं । आगे बढने से पूर्व हम आपको वे ही तीन बातें, जो प्रारम्भ में बतलाई थी, ध्यान में लाना आवश्यक समझते हैं, जो कि भाषा से सम्बन्ध रखता है ।

सबसे पहला हमारा प्रश्न है कि अर्थ (Meaning) क्या चीज है और उसकी क्या आवश्यकता है ? क्या किसी शब्द का वास्तविक अर्थ किया भी जा सकता है ?

अर्थ किसको कहते हैं ? एक मनुष्य की भाषा को दूसरे मनुष्य की भाषा इस अभिप्राय से बदलना कि वह उसका अभिप्रायार्थ जान ले- अर्थ करना कहलाता है । इसका तीन स्थानों पर प्रयोग होता है ।

सबसे प्रथम दो भिन्न भाषाओंके बीचमें जैसे तैलगू और हिन्दी या हिन्दी और जर्मन भाषामें । दूसरा एक ही भाषाके दो रूपों में एक कठिन और दूसरी आप व्यवहार की और तीसरी गद्य तथा पद्य में । परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया कि रातदिन की भाषा में हमें एक दूसरे को समझाने के लिये अर्थ की आवश्यकता पडती हो ? नहीं । इस प्रकार से एक शब्द का दूसरी भाषा में जो अर्थ बतलाया जाता है, वह पूर्ण रूप से पर्यायवाची नहीं हो सकता है । यह सब व्यवहार के लिये है । उदाहरण के लिये ' जल ' को आंग्लभाषा में Water कहते हैं । उदकको भी Water कहते हैं । जल और उदक पर्यायवाची शब्द हो सकते हैं कुछ अंशोंमें, परन्तु अर्थ नहीं हो सकते ।

पूर्ण रूप से जो अर्थ होंगे वे तो सम्पूर्ण रूप से मिलने चाहिये । जैसे हम पानी को ' जल ' क्यों कहते हैं कि वह जन्म से लय तक हमारे लिये आवश्यक है । यदि Water हमें यह बात नहीं बतलाता तो जल का अर्थ Water नहीं हो सकते आदि । यही कारण है कि एक भाषाके शब्दों के वास्ते बिलकुल उन्हीं अर्थों के प्रतिपादक शब्द दूसरी भाषा में मिलते भी नहीं । वास्तव में हम जो अर्थ करते हैं, वे सब व्यावहारिक दृष्टि से ही केवल ठीक हैं । स्वामिजी ने इस सब बात को भली प्रकार समझा था, यही कारण है कि वे लिखते हैं कि ' अभिप्रायार्थ जानने के लिये ' क्योंकि वास्तविक अर्थ तो हम जान नहीं सकते, अनुभव कर सकते हैं, इसलिये उन्होंने लिखा कि मन्त्रों के अभिप्रायार्थ (वास्तविक अर्थ नहीं) जानने के लिये, असली अर्थ उस भाषा को समझकर उनको केवल अनुभव ही किया जा सकता है ।

स्वामिजीसे पूर्व जब कि देश की भाषा संस्कृत थी और उससे भी पूर्व प्राकृत और उससे भी सदियों पूर्व जब देश की भाषा वैदिक भाषा ही थी, कोई अर्थ वगैरह की जरूरत नहीं थी । परन्तु ज्यों ज्यों वैदिक भाषा नष्ट होती गई और संस्कृत तथा प्राकृत भाषायें हुई- कुछ कुछ भाष्यों

की आवश्यकता प्रतीत हुई। और अब जब हिन्दी भाषा हमारी दैनिक भाषा हो गई, हमें रोज नये-नये भाष्यों की जरूरत हो गई। उस वक्त वेद तो दूर, संस्कृत का सामान्य रूप भी हमारी समझमें नहीं आने लगा और वेद हमारे लिये एक अलीबाबा का दीपक बन गया।

इतने विवेचन से मैंने आपको बतलाया कि अर्थ कुछ नहीं। सच्चे अर्थ तो हो ही नहीं सकते। हां, व्यवहार के लिये अर्थ किये जाते हैं। अर्थात् 'जल' और 'वाटर' एक ही हैं- व्यवहार की दृष्टि में, और हम एक का दूसरेके लिये प्रयोग भी करते हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं। जैसे एक मनुष्य के अभाव में उसकी स्वर्ण, पत्थर या लोहे (रामने सीता की स्वर्णप्रतिमा बनवाई और कृष्ण ने भीम की लोह-प्रतिमा बनवाई) की मूर्ति बनवाकर उसमें व्यवहार के लिये तद्वत् आचरण करते हैं। ठीक इसी प्रकार से व्यवहारके लिये, क्योंकि हम वेदमंत्रों को उनी के असली रूपमें समझते नहीं, उनके अर्थरूप प्रतिमा में मंत्रवत् आचरण करते हैं और गौण रूपमें अर्थों को मंत्र कह कर, क्योंकि मंत्र को देवता कहा है उसकी प्रतिमा मंत्रार्थ को भी देवता कह देते हैं। स्वामिजीने भी गौण दृष्टि से ही मंत्रार्थ को देवता कहा है, यही कारण है कि वे 'अर्थात्' करके लिखते हैं। जैसा उनके निम्न वाक्य से ज्ञात होता है।

जिन जिन मंत्रों में जिन जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मंत्रमय देवता जानने चाहिये, अर्थात् जिस जिस मंत्र का जो जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है।

(ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तरविषय)

क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता, तो इस वाक्यमें स्वामिजी पिछला भाग 'अर्थात्' करके नहीं लिखते। इतने अंश में ही केवल स्वामिजी मंत्र और मंत्र का अर्थ एक कोटिमें मानते हैं। और क्योंकि मंत्र नित्य हैं, अतः मंत्रार्थ भी, क्योंकि उनमें मंत्रवत् आचरण होता है, नित्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये आठों प्रकार के नित्य देवताओं के प्रयोग हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि जहां प्रथम और अन्तिम प्रयोग में सम्पूर्ण मंत्र को देवता मान लिया है, वहां दूसरे छः प्रयोगोंमें मंत्रस्थ पद को देवता माना है। वास्तव में तो इन दोनों में भी कोई अन्तर नहीं है। यह हम निम्न उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं।

मेरे सामने स्वामी भूमानन्द सरस्वती की 'वैदिकी लोक-व्यवस्था' (Ecclesia Divina) पुस्तक रखी है। वह चारसौ पृष्ठ मिलकर (पूर्ण रूपसे) अर्थात् लक्ष दो लक्ष शब्द यह किताब है, परन्तु व्यवहार में हम इनका उपयोग नहीं करते। हमसे कोई पूछता है, क्यों साहब यह किताब क्या है? तो हम उत्तर देते हैं, 'वैदिकी लोकव्यवस्था'। परन्तु इससे यह परिणाम कोई नहीं निकालता कि इस चारसौ पृष्ठ की मोटी किताबमें केवल यही दो शब्द 'वैदिकी' और 'लोक-व्यवस्था' ही लिखे हुए हैं। परन्तु क्या आप मुझे बतलायेंगे कि 'वैदिक लोकव्यवस्था' इन दो शब्दोंसे उन दो लक्ष शब्दोंका ग्रहण होता है या नहीं? अवश्य होता है। इससे मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है। व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार से 'अग्निमीळे' मंत्र देवता है और इस मंत्र का देवता 'अग्नि' है, इसमें उतना ही अन्तर है, जितना यह कहने में कि यह चारसौ पृष्ठ की किताब 'वैदिकी लौकिक व्यवस्था' है अथवा उन दो लक्ष शब्दों को पढकर बतलाना कि यह वैदिकी लोकव्यवस्था है।

इस प्रकार तटस्थ बुद्धिसे विचार करने पर मालूम होता है कि मंत्र देवता है, मंत्रोंके नाम देवता है, मंत्रों के स्तुत्य पद देवता है......आदि में कोई भेद नहीं है।

उपरोक्त सारे विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि 'अग्निमीळे' मंत्रका या तो अग्नि ही देवता या सम्पूर्ण मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।' देवता है। परन्तु किसी भी हालतमें 'प्रत्येक शुभ कर्ममें आगे रखे हुए सर्व प्रकाशक, संध्यासमयमें उपासनीय, सब सुखों का प्रदाता और सूर्यचन्द्रादि रमणीय, पदार्थों के उत्तम धारणकर्ता अग्रणी परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूं।' यह वाक्य देवता का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता और नाही 'अग्न्यादि' शब्द देवताका स्थान ग्रहण कर सकते हैं।

अब हम उपरोक्त सब प्रयोगों के अनुसार 'अग्निमीळे'

मंत्र के देवताओं का उल्लेख करेंगे।

मंत्र- अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (ऋ० १। १। १)

१. मंत्र का स्तुत्य पद देवता	अग्नि
२. मंत्र नाम देवता	अग्नि
३. मंत्र का याज्ञिक देवता	अग्नि
४. मंत्र-प्रतिपाद्य विषय देवता	अग्नि
५. मंत्रोक्त देवता	अग्नि
६. मंत्र के साथ उच्चारित देवता	अग्नि

(अभिप्रयार्थ विज्ञापक)

७. मंत्र देवता
८. मंत्रार्थ देवता
[अग्निमिळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

वेद में मंत्रों के ऊपर 'ऋषि,' 'देवता,' 'छन्द,' 'स्वर' छपे हुए हैं, वहां यदि मंत्रकोही देवता माना जाये, तो तो फिर वहां पूरा का पूरा ही मन्त्र उद्धृत करना पडे, जो कि सर्वथा निरर्थक है- अतः वह तो छापना अशुद्ध है। जब सम्पूर्ण मंत्र वह स्थान ग्रहण नहीं कर सकता तब फिर एक ही शब्द वह स्थान लेगा और वह शब्द वही होना चाहिये जो कि मन्त्र में लिंग रूप से स्पष्ट प्रतिपादित हो। उदाहरण के लिये 'अग्निमीळे' मन्त्र का 'अग्नि' 'इषेत्वोर्जे' का सविता 'अपोषा अनसः' का उषा 'चत्वारिश्रृंगाः' का वृषभ आदि आदि।

देवताविषय पर हमारा यह दूसरा लेख है, इन दोनों लेखों में हमने तटस्थ बुद्धि से शांतिपूर्वक देवता पर लिखा है। और यथासाध्य यह प्रयास किया है कि हम ठीक निर्णय पर पहुँचे। हमें न तो जिद है और नाही किसी प्रकार का धोका, घमण्ड कि जिससे हम आंख बन्द कर तथा जड़ी के साथने बनकर किसी का नाम ही रटते रहेंगे। सिद्धान्त के सम्बन्ध में हम यथार्थ दृढ हैं। परन्तु यदि कोई युक्तियों से हमारे पक्ष का खण्डन करेगा और हमें समझा देगा कि नहीं 'अग्निमिळे' मंत्र का देवता 'वह्नि' भी हो सकता है, तो हम तुरन्त वह स्वीकार कर लेंगे। परन्तु केवल कहने मात्र से तो हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

इन दोनों लेखोंमें हमने स्वपक्ष स्थापन किया है। अब हम अपने अगले लेख आलोचनात्मक दृष्टि से लिखेंगे और यह बतलायेंगे कि किस प्रकार भोली आर्यजनता को इस विषय में पथभ्रष्ट किया गया है और परपक्षीय-लेखों में कितना नैतिक पतन हुआ है। शायद हम उस विषय में एक ही लेख लिखेंगे और वह भी दो एक मास के अन्तर से। वैदिक धर्म पत्र को, या अन्य जो पत्र प्रकाशित करना चाहेंगे उनको भेजेंगे। इस बीचमें 'सन् १९३८ के आर्यविद्वानों' को भी विचार करने का मौका मिल जाये, तो अच्छा है। हम किसी को जबरदस्ती छेडना नहीं चाहते। और नहीं हमारा किसी से द्वेष है। द्वेष है तो असत्य से और प्रेम है तो सत्य से। यह भी हमारा कहना है कि केवल इतना लिखने से ही कि अब हम उत्तर नहीं देंगे, पिंड नहीं छूट सकता। उस लेख में हम यह भी बतलायेंगे कि मंत्रार्थ को देवता मानना 'मूर्तिपूजा' के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

पाठको! लेख लिखने से कोई इन्कार नहीं करता। इन्कार करते हैं असभ्य व पथभ्रष्ट लेखों के लिखने से। सिद्धान्त विमर्श के लिये लिखने को न तो आज तक किसी ने इन्कार किया है और नहीं कोई आगे करेगा। अन्त में एक कहावत को उद्धृत कर इस लेख की समाप्ति करते हैं—

"सबेर का भूला हुआ यदि शाम को भी घर लौट आये तो भटका हुआ नहीं कहलाता॥"

वैदिक ऋषि और देवता।

[लेखक-- श्रीमान् शान्तस्वामी अनुभवानन्दजी महाराज]

'ऋक् प्रातिशाख्य' 'बृहद्देवता' और 'अनुक्रमणी'-कार शौनक एवं उनके शिष्य श्री कात्यायन आदि महानुभावोंने अपने अपने संग्रहोंमें प्रायः समस्त सामग्री अपने से पूर्वकालीन आचार्यों और ब्राह्मण ग्रन्थोंसे ही ली है। इस कारण वेदार्थ जाननेवालों की दृष्टि में पूर्वकालीन साहित्य को कुछ अधिक विश्वसनीय मानना अस्वाभाविक नहीं समझा जा सकता।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि शौनक, कात्यायन और शाकल आदि वेद के प्राचीन अथवा मध्यकालीन अनुयायिओं-आचार्यों-ने वेदविषयक सामग्री को एकत्रित करने और सुरक्षित करने के लिये आर्यजाति पर किसी से कम उपकार नहीं किया।

समस्त ऋग्वेद में खिल सूक्तों को मिला कर १०२८ सूक्त हैं और उनके ३९३ ऋषि हैं। इनमें से ३७५ पुरुष ऋषि और १८ ऋषिकायें हैं। पुरुष ऋषियों में से ६ को छोड कर बाकी सबके साथ गोत्रनाम लिखे गये हैं, स्त्री ऋषिकाओं में से ७ के बिना बाकी ११ के भी गोत्रनाम ही लिखे हैं। पुरुष ऋषियों में जिनके पिताओं की कल्पना शौनक आदि नहीं कर सके, उनके नाम ये हैं-

१-इन्द्रः, २-मरुतः, ३-अग्नि, ४-वरुण, ५-सोम, ६-नारायण। स्त्री-ऋषिकाओंमें से जिनके गोत्र-नामोंका उल्लेख नहीं किया गया, वे ये हैं-

१-नद्यः [नदियें]
२-सर्पराज्ञी [सांपोंकी रानी]
३-देवजामयः [इन्द्र की मातायें]
४-इन्द्रस्नुषा [वसुक्र की पत्नी]
५-इन्द्राणी [इन्द्रकी पत्नी]
६-उर्वशी [स्वर्ग की वेश्या]
७-सरमा [देवताओं की कुत्तिया]

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शौनक आदि महानुभावों ने जिन ऋषियों अथवा ऋषिकाओं के गोत्र नाम नहीं दिये, उन्हें यूं ही छोड दिया है- नहीं। उन सबके विषय में यह परिभाषा कर दी है कि-

क्वचित् कथञ्चिदविशेषितब्रह्मर्षिमन्त्रियम-
नुक्तगोत्रं--आङ्गिरसं विद्यात् ॥ (सर्वानु०)

अर्थात्-कहीं कदाचित् पुरुष ऋषियोंके साथ कोई विशेषण न होकर गोत्र न लिखा गया हो, तो उसे आंगिरसगोत्री समझना चाहिये।

इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि, बृहद्देवताकार शौनक एवं कात्यायन आदि अनुक्रमणीकारों को मंत्रद्रष्टा ऋषियों के साथ गोत्र नाम लिखने का संकेत सुतरां वेद से ही मिला है। वेदमें इस प्रकार के जितने भी संकेत पाये जाते हैं, उन पर विचार करना अपौरुषेयवादी विद्वानों और समाजों का मुख्य कर्तव्य क्या- धर्म है; किन्तु ऐसे नामोंका उल्लेख शौनक आदि आचार्यों ने जिस भावसे किया है, उस पर विचार करते हुए वे स्पष्ट ही वेद में इतिहास मानते प्रतीत होते हैं। जिन मंत्रों में इस प्रकार के संकेत मिलते हैं, उनमें से कुछेक मंत्र ये हैं-

१-याभिः कण्वस्य सूनवो [प्रस्कण्वाः]
हवन्तेऽवसे त्वा। ऋ० १।४५।५

२-अमन्थिष्टां भारता रेवदग्निं देवश्रवा
देववातः सुदक्षम्। ऋ० ३।२३।२

३-इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वम्
मेध्यातिथिम्। ऋ० ८।२।४०

४-पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव... ऋ० ८।८।४
५-वैयश्वस्य श्रुतं नरा... ऋ० ८।२६।११
६-श्यावाश्वस्य सुन्वतोऽत्रीणां शृणुतं हवम्। ऋ० ८।३५।८
७-पृथुश्रवसि कानीते... ऋ० ८।४६।२१
८-पृथुश्रवसः कानीतस्य... ऋ० ८।४६।२४
९-उशना काव्येन...... ऋ० ९।८७।३
१०-एवा प्लतेः सूनुरवीवृधत्.. ऋ० १०।६३।१७
११-शूर इव धृषणुश्च्यवनः सुमित्रः प्र नु वोचं वाध्र्यश्वस्य नाम. ऋ० १०।६९।५
१२-अग्निः सप्तिं वाजम्भरं ददाति. ऋ०१०।८०।१
१३-सद्यो दिदिष्ट तान्व सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः... ऋ० १०।९३।१५
१४-आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्। ऋ० १०।९८।५
१५-इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्। ऋ० १०।११५।९
१६ यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्। ऋ० १०।१४४।४

इसी प्रकार ऋग्वेद १०।१०५ का ऋषि-सुमित्र-दुर्मित्र-कौत्स है और इसी सूक्त के ११ वें मंत्र में तीनों पद पढ़े भी गये हैं।

ऐसे संकेत पाकर एक साधारण मनुष्य चाहे, जैसा भाव ग्रहण करे-यह उसकी विवेचना-शक्तिपर निर्भर है, किन्तु जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान की देन पर विश्वास रखते हों, उन्हें तो इस पर विचार करना ही होगा कि इन गम्भीर संकेतों का वास्तविक भाव क्या है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों के पढ़नेसे यह मालूम होता है कि याज्ञिक युग में याज्ञिक प्रथाओं के चलानेवालों के कुछ स्वतंत्र मन्तव्य थे, जिन पर वे लोग पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धाके साथ अमल करते थे। इधर इसी प्रकार निरुक्तिवादियों के भी कुछ ऐसे ही स्वतंत्र मन्तव्य हैं, जिनका ये लोग भी विश्वास के साथ ही मनन और आचरण करते हैं। दोनों दलों में एक स्पष्ट भेद-रेखा भी है, जो दोनों को एक दूसरे से अलग करती है। वैदिक वाङ्मय के अध्ययन करनेवालोंको यह भी ज्ञात है कि याज्ञिक पद्धतियों [कर्मकाण्डीय याज्ञिक प्रथाओं] का प्रचार करनेवाला साहित्य हमारे अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुसार भी ४-५ हजार वर्षसे पहले का नहीं है। निरुक्तकार यास्कने भी अपने से न जाने कितने पूर्वकालीन बारह तेरह निरुक्ताचार्यों का नामस्मरण किया है। वेदों के प्राचीन भाष्यों में से ब्राह्मणग्रन्थों को अलग रख कर जितनों का भी अब तक पता लग सका है, उनमें से ऋग्वेद पर सबसे प्राचीन भाष्य स्कन्दस्वामी का है,जो निरुक्त का भी भाष्यकर्ता है। यजुर्वेद के भाष्यकारों में से बृहद्देवताकार शौनक का भाष्य पुराना समझा जाता है। सामवेदके भाष्यकारों में पहला नाम माधव का है और अथर्व पर तो सायण को ही कुछ कहा जाता है। इतनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेदों के भाष्यों में से इस समय तक विक्रम संवत् की पांचवीं शताब्दी से पहले कोई भी ऐसा भाष्य नहीं हुआ कि जिस का आश्रय लेकर वैदिक वाङ्मय पर स्वतंत्र विचार किया जा सके।

याज्ञिक और नैरुक्तिक विचारमाला पर यदि ध्यान दिया जाये, तो दोनों में जो भेद-रेखा दोनों को अलग अलग करती है, वह स्पष्ट समझमें आ जाती है। याज्ञिक पद्धतियों का इतना विशाल भवन वैदिक संकेतों, आख्यानों और प्रार्थनावृत्तियों की भूमि पर खड़ा किया गया है। दूसरी ओर निरुक्तिवादियों ने अपनी विचारधारा, शब्दप्रयोग, धातुविज्ञान और वैदिक-भाषा-विज्ञान के क्षेत्रमें प्रवाहित की है। शौनक आदि याज्ञिक प्रक्रिया के पुजारियों ने जहां संकेत मात्र पाकर कल्पना के कल्पवृक्ष लगाये हैं, वहां नैरुक्तों ने तर्क और गवेषणा के आधार पर वैदिक विचारसागर के भीतर गोते लगा कर मोती पाने का यत्न किया है। इस प्रकार याज्ञिक और नैरुक्त पक्षोंमें इतना विस्तृत मतभेद है कि उसे किसी एक लेखमें

समाप्त नहीं किया जा सकता। वैदिक आख्यानका अभिप्राय एक नित्य सचाई का कथानक के रूप में वर्णन करना है, इसे याज्ञिक कल्पना कथानक से हटा कर घटना बना देती है; किन्तु नैरुक्त पक्ष उसे उसी रूप में वर्णन करके देखना चाहता है।

निरुक्तकार यास्क ने अपने विषय का विस्तृत वर्णन करने से पहले 'ऐतिहासिकसमय' और 'आख्यानसमय' का भी उल्लेख किया है। इन दोनों विषयोंको साधारण लोग एकही समझते हैं; किन्तु ऐसा नहीं है। वेद के जिन मंत्रों में से शौनक आदि आचार्योंने आख्यानसंकेत पाकर वास्तविक घटनाओं की कल्पना की है, यास्क के मत में वे नित्य सत्य हैं- ऐतिहासिक नहीं। निरुक्त कहता है-

> अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मानः एते स्युः, यथा यज्ञो यजमानस्य। एष च 'आख्यानसमयः'। (निरुक्त ७।७)

अर्थात्-पुरुषजातीय से भिन्न देवता भी पुरुषजातीय सत्य-स्वरूपों [परमेश्वर एवं सात्विक वृत्ति रखनेवाले पुरुषों] के ही प्रयोजनसे सम्बन्ध रखते हैं। ये देवता चेतनतत्त्वों के उपकारार्थ ही रचे गये हैं और उन्हींके अनुकूल इनकी स्थिति है-जैसे यजमान का यज्ञ। मंत्रों में वर्णन की गई यज्ञ-देवता वस्तुतः यज्ञ करनेवाले को उपकार के लिये ही रची गई है;-यही वास्तविक आख्यान है।

यास्क ने निरुक्त १०।१० में ऋग्वेद २।१२।१ मंत्र देकर जो सुन्दर आख्यान का उदाहरण दिया है, उसकी व्याख्या करते हुए वह कहता है कि ऋषि मंत्रका दर्शन करते समय उसे आख्यान रूप में देख कर प्रसन्न हो जाता है। इसका भाष्य करते हुए स्कन्द स्वामी एक निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहता है कि-

> एवमाख्यानस्वरूपाणां मंत्राणां यजमानेन नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एषः शास्त्रे सिद्धान्तः.........औपचारिको मंत्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्॥ नि० भा० १०।१०

अर्थात्—इस प्रकार आख्यान का सा स्वरूप रखनेवाले जितने भी मंत्र हैं, उनकी यजमानद्वारा भी नित्य पदार्थोंमें ही योजना होनी चाहिये। शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि मंत्रों में आख्यान-भाव औपचारिक [समझाने के लिये दृष्टान्त रूप] है, किन्तु वास्तविक वर्णन में वह नित्य ही समझा जाता है।

सत्याग्रही का स्वाध्याय

(२ वेदवचनामृत)

[ले०—श्री आचार्य अभयदेव जी]

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ (अथर्व०)

अर्थ—[अग्ने] हे परमेश्वर! [देवानां देवः असि] तू देवों का देव है, [अद्भुतः मित्रः] तू अद्भुत मित्र है। [वसूनां वसुः असि] तू सब वसुओं का वसु, धनों का धन है। [अध्वरे चारुः] यज्ञ में तू शोभायमान है। अतः हम चाहते हैं कि [वयं] हम [तव] तेरी [सप्रथस्तमे शर्मन्] विस्तीर्ण तम शरण में [स्याम] होवें, और [तव सख्ये] तेरे सख्य में [मा रिषामा] हम नष्ट न होवें।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वं अवसे हूमहे वयम्। पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ (ऋक्०, यजुः०)

अर्थ—[तं] उस [जगतः तस्थुषः पतिं] जंगम और स्थावर संसारके पति [धियंजिन्वं] बुद्धि व कर्म के प्रेरण करनेवाले [ईशानं] ईश्वर को [वयं] हम [अवसे हूमहे] रक्षा के लिये पुकारते हैं। [पूषा] वह पोषक [यथा] जहां [नः] हमारे [वेदसां] धनों की [वृधे] वृद्धि के लिये [असत्] हुआ है वहां वही [स्वस्तये] हमारे कल्याण के लिये [अदब्धः रक्षिता पायुः] (हमारे धनों का) अहिंसित रक्षक और पालक भी होवे।

स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः। अधा चन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम् ॥ (ऋक्०।)

अर्थः—[स इत्] वह इन्द्र ही [युध्मः] योद्धा होकर [मज्मना ओजसा] अपने पवित्रकारक ओज से [महानि समिथानि] बड़े बड़े संग्रामों को [जनेभ्यः] मनुष्यों के लिये [कृणोति] करता है। परंतु लोग [अधा चन] अनन्तर ही, पीछे से ही [त्विषीमते इन्द्राय] उस महा तेजस्वी इन्द्र में [श्रद्दधति] श्रद्धा करते हैं, जो कि [वधं] संसार के सब वध को, सब हिंसा को [वज्रं निघनिघ्नते] वज्र मारता है, अपने वज्र से हनन किया करता है।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्। मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ (अथर्व०)

अर्थः—[कामः] मेरे संकल्प-बलने [मम ये सपत्नाः] मेरे जो प्रति द्वंद्वी बाधक हैं, उन्हें [अवधीत्] नष्ट कर दिया है, [मह्यं] मेरे लिये [उरुलोकं] विस्तृत खुला हुआ लोक [अकरत्] कर दिया है। [एधतुं] [अकरत्] मेरे लिये वृद्धि व विस्तार कर दिया है। अब [मह्यं] मेरे लिये [चतस्रः प्रदिशः] चारों उपदिशायें [नमन्तां] झुक जावें और [षट् उर्वीः] छओं विस्तृत दिशायें [मह्यं] मेरे लिये [घृतं] क्षरित हुए फल को [आवहन्तु] ले आवें।

विजेषकृदिन्द्र इवानव्रवो अस्माकं मन्यो
अधिपा भवेह । प्रियं ते नाम सहुरे गृणी-
मसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥
(ऋक्०, अथर्व०)

अर्थ— [मन्यो] हे मन्यो ! [तं उत्सं विद्मः] हम वह स्रोत को जानते हैं, [यतः आबभूथ] जहां से तुम उत्पन्न होते हो । तुम [विजेषकृत्] विजय करनेवाले हो और [इन्द्रः इव अनवब्रवः] इन्द्र ' आत्मा ' की तरह तुम भी कभी न दबायी जा सकने वाली आवाज वाले हो । [इह अस्माकं अधिपा भव] तुम इस संसार में अधिष्ठाता पालक होओ । [सहुरे] हे सहुरे ! हे सहनशील ! [ते प्रियं नाम गृणीमसि] हम इस तेरे प्यारे नाम से तेरी स्तुति करते हैं ।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥
(अथर्व०)

अर्थ— [मे] मेरा [निक्रमणं] निकट जाना, प्रवृत्ति [मधुमत्] माधुर्यमय होवे तथा [मे] मेरा [परायणं] दूर हटना, निवृत्ति भी [मधुमत्] माधुर्यपूर्ण होवे । मैं [वाचा] वाणी से [मधुमत्] माधुर्ययुक्त ही [वदामि] बोलता हूँ, इसलिये [हे मधुस्वरूप] मैं [मधुसन्दृशः] मधुरूप या सर्वत्र मधु को ही देखनेवाला [भूयासम्] हो जाऊं ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥
(अथर्व०)

अर्थ— [देवाः] देव, ज्ञानी पुरुष [ब्रह्मचर्येण तपसा] ब्रह्मचर्य के तपोबल से [मृत्युं] मौत को [अपाघ्नत] मार डालते हैं । [इन्द्रः] परमेश्वर व आत्मा [ह] भी निश्चय से [ब्रह्मचर्येण] अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही [देवेभ्यः] देवों के लिये [स्वः] सुख व तेज को [आभरत्] कराता है ।

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् ॥
(ऋक्०)

अर्थ — देखो [अयम्] यह [आदित्यः] आदित्य, परमसूर्य [मह्यं] मेरे लिये [द्विषन्तं] शत्रु को, दुष्ट अत्याचारी शत्रु को [रंधयन्] नाश करता हुआ, वशवर्ती करता हुआ [विश्वेन सहसा सह] अपने संपूर्ण तेज व बल के साथ [उद् अगात्] उदित हुआ हुआ है, इसलिये [अहं] मैं [द्विषते] शत्रु की [मो] मत [रधं] हिंसा करूं, शत्रु के वशवर्ती न होऊं ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥
अथर्व० ॥

अर्थः— [मे] मेरी [जिह्वायाः अग्रे] जिह्वा के अग्रभाग में [मधु] मिठास होवे, और [जिह्वामूले] जिह्वा के मूल में [मधूलकम्] और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना होवे । हे मधु ! तू [इत् अह] अवश्य ही [मम] मेरे [क्रतौ] प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक बुद्धि में [असः] विद्यमान रह और तू [मम] मेरे [चित्तं] अन्तःकरण के चित्तप्रदेश तक [उपायसि] पहुँच जा, व्याप्त हो जा ।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥
(ऋक्०)

अर्थ— [श्रद्धया] श्रद्धा से [अग्निः] अग्नि [समिध्यते] प्रदीप्त होती है और [श्रद्धया] श्रद्धा से ही [हविः हूयते] हवि दी जाती है, आत्म-बलिदान किया जाता है । [भगस्य] सब भजनीय वस्तु के, भागधेय धर्म के, ऐश्वर्य के [मूर्धनि] मूर्धास्थान में [श्रद्धां] श्रद्धा को हम लोग [वचसा] वाणीद्वारा, वेदवाणीद्वारा [वेदयामसि] घोषित करते हैं, प्रकट करते हैं ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
(यजुः०)

अर्थ— [प्रजापतिः] प्रजापति ने [दृष्ट्वा] देखकर [रूपे] सब रूपों को दो विभागों में [सत्यानृते] सत्य और अनृत, सच्चा और झूठा इन दो विभागोंमें [व्याकरोत्] स्पष्ट जुदा जुदा कर दिया है। [प्रजापतिः] उस प्रजापति ने [अनृते] अनृत में झूठ में [अश्रद्धां] अश्रद्धा को [दधात्] रखा है और [सत्ये] सत्य में,सचाई में [श्रद्धां] श्रद्धा को रक्खा है।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥
(ऋक्०)

अर्थ—हे बल के स्वामी ! [इन्द्र] परमेश्वर ! [ते] तेरी [सख्ये] मित्रता में आकर [वाजिनः] बल, ज्ञान से युक्त हुए हम [मा भेम] अब भयभीत न होवें, निर्भय हो जावें। [जेतारं] सदा जीतनेवाले [अपराजितं] कभी भी पराजित न हो सकनेवाले [त्वां] तेरे [अभिप्रणोनुमः] हम बार-बार सर्वप्रकार स्तुतिगान करते हैं।

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा
अध्वराणामभिश्रियः। अग्निहोतार ऋत-
सापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये (ऋक्०)

अर्थः—[धृतव्रताः] व्रत धारण किये हुए [क्षत्रियाः] सच्चे अर्थोंमें क्षत्रिय [यज्ञनिष्कृतः] यज्ञकर्मों को निःशेषेण करनेवाले [बृहद्दिवा] महा तेजस्वी [अध्वराणां अभिश्रियः] अहिंसामय कृतियों के सेवन करनेवाले, उनसे शोभने वाले [अग्निहोतारः] अग्नि का हवन वा आह्वान करनेवाले [ऋतसापा] सत्य से समवेत हुए हुए [अद्रुहः] कभी द्रोह न करनेवाले पुरुष ही [वृत्रतूर्ये] पापनाशक संग्राम में [अनु] तदनुकूल [अपः] कर्मों को [असृजन्] करते हैं।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाड् आशामाशां
विषासहिः॥ (अथर्व०)

अर्थ—[अहं] मैं [सहमानः] सहन करनेवाला [अस्मि] हूं, [भूम्यां] इस भूमि पर [उत्तरः नाम] उत्कृष्टतर प्रसिद्ध हूं। मैं [अभीषाड्] मुकाबले में आये हुए को सहनेवाला [अस्मि] हूं, [विश्वाषाड्] सब कुछ सहने वाला हूँ, [आशां आशां] प्रत्येक दिशा में प्रत्येक इच्छापूर्ति के लिये सब कुछ [विषासहिः] विशेष तया बार बार सह सकनेवाला हूं।

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनं अच्युतानाम्। मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् (ऋक्)

अर्थ- (इन्द्र) हे इन्द्र ! मैं (त्वा) तुझे (यज्ञियानां-यज्ञियं) यज्ञार्हों का यज्ञार्ह (मन्ये) मानता हूं, (त्वा) तुझे (अच्युतानां च्यवनं) च्युत न होनेवालों का भी च्यावयिता (मन्ये) मानता हूँ। (त्वा) तुझे (सत्वनां) बलशाली प्राणियोंमें (केतुं) बहुत ऊंचा उठा हुआ, झंडा (मन्ये) देखता हूं और (त्वा) तुझे (चर्षणीनां) मनुष्यों का (वृषभं) सब कामनाओंको देनेवाला; बरसानेवाला (मन्ये) अनुभव करता हूं।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋक्)
बिना स्वयं परिश्रम किये, बिना थके, देवों की मैत्री नहीं मिलती है।

क्व स्य ते रुद्र मृडयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। अपभर्त्ता रपसो दैव्यस्य, अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥ (ऋक्)

अर्थ-(रुद्र) हे रुद्र ! दुःख रोगनाशक ! (ते) तेरा (स्यः) वह (मृडयाकुः) सुखदायक (हस्तः) हाथ (क्व) कहां है, (यः) जो कि (भेषजः) औषधमय और (जलाषः) आनंदजनक (अस्ति) है, जो (दैव्यस्य) देवसंबंधी (रपसः) पाप का, रोग का (अपभर्ता) दूर करनेवाला है? (वृषभ) हे सुखवर्षक ! तू (नु) अब तो (मा) मुझे (अभिचक्षमीथाः) क्षमा कर, सहन कर।

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिस्मसि।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता
(ऋक्०)

अर्थ- (इन्द्र) हे परमेश्वर! (वयं) हम (घ) निश्चय से (ते) तेरे हैं, और (त्वे) तुझमें; तेरे आश्रय से (इत् उ) ही हम (विप्राः) ज्ञानी, विप्र (अपि) भी (स्मसि) होवें। (पुरुहूत) ह बहुतों से पुकारे गये! (मघवन्) हे ऐश्वर्य-वाले! (त्वत्) तुझसे (अन्यः) अन्य (कश्चन) कोई (मर्डिता) सुख देनेवाला (हि) निश्चय से (न) नहीं (अस्ति) है।

स नः शक्रश्चिदाशकद् दानवां अंतराभरः।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः॥ (ऋक्)

अर्थ- (सः) वह (शक्रः) शक्तिमान् (नः) हमें (चित्) भी (आशकत्) शक्तियुक्त करे, समर्थ करे। क्योंकि वह (दानवान्) दान देनेवाला (अन्तराभरः) अन्दर के अन्त-स्तल को भरनेवाला है। अन्दर के अन्तर (छिद्र, कमी) को भरनेवाला है। (इन्द्रः) वह परमेश्वर अपनी (विश्वाभिः) सब (ऊतिभि.) रक्षाओं आदि से [हमें शक्तियुक्त करें, समर्थ करे।]

अयुद्ध इत् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः।
येषामिंद्रो युवा सखा॥ (ऋक्०)

अर्थ- (येषां) जिनका (युवा) सदायुवा, नित्यशक्ति (इन्द्रः) परमेश्वर (सखा) सखा है, (शूरः) शूर होकर वह (अयुद्ध इत्) युद्धविद्या न जाननेवाला, युद्ध का अनुभव न रखनेवाला भी (युधावृतं) योद्धाओं से घिरे हुए शत्रु-बल को (सत्वभिः) अपने आत्मिक सत्वों से, सात्विक बलों से, (आ अजति) परास्त कर देता है।

मा चिदन्यत् विशंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत॥ (ऋ० सा० अथर्व०)

अर्थ- (अन्यत्) अन्य किसीके स्तोत्रोंको (माचित्) कभी मत (विशंसत) उच्चारण करो, और इस तरह (सखायः) हे सखाओ, मनुष्य भाइयो! (मा) मत (रिषण्यत) अपने को विनष्ट करो। (सुते) इस संसार यज्ञ में, प्रत्येक यज्ञ कर्म में (सचा) मिलकर, तन्मग्न होकर (वृषणं) अभीष्टों को बरसानेवाले, सर्वशक्तिमान् (इन्द्रं) परमेश्वर की (इत्) ही (स्तोत) स्तुति करो च) और (मुहुः) बारम्बार (उक्थ्या) [उसके ही] भजनों का (शंसत) उच्चारण करो।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
(यजु०)

अर्थ- (यतः यतः) जहां जहां से तुम (सं ईहसे) संम्यक् चेष्टा करते हो (ततः) वहां से (नः) हमें (अभयं) अभय (कुरु) कर दो।

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यत्, निःश्रोणोभूत्॥ (ऋक्०)

अर्थ- (यत्) जो (नग्नं) नग्न है, उसे (सोम प्रभु) (अभ्यूर्णोति) ढक देता है, आच्छादित कर देता है, और (यत्) जो (तुरं) आतुर, रुग्ण है (विश्वं) उस सबकी, सब संसार की वह (भिषक्ति) चिकित्सा कर देता है। उसकी कृपा से (अन्धः ई) अन्धा भी (प्रख्यत्) देखते लगता है और (श्रोणः) लूला भी (निर्भूत्) चल निकलता है।

कविता में तत्त्वज्ञान

(लेखक- उपस्नातक सुबोधचन्द्र पेपला, गुरुकुल महाविद्यालय सोनगढ, काठियावाड)

संसार के अन्दर हम जो कुछ भी देखते हैं, वह परमात्मा की कविता ही कविता है। "कवेर्भावः कविता।" वह कविरूप परमात्मा ही अपने भावरूप में संसार के प्रत्येक पदार्थों में अवतरित हुवा करता है और कविता के लिए आवश्यक है कि उस में रस का आविर्भाव होवे। उस रसरूप परमात्माके विभिन्न रूप से आविर्भाव होने के कारण ही संसार में कुछ नियम (laws) काम कर रहे हैं। "कविः क्रान्तदर्शी" जो नहीं उस में भी कुछ देखता है वह कवि है। दूरतक देखनेवाला होने से उसे कवि कहा गया है। कवि भी दार्शनिक होता है।

" जहां न पहुंचे रवि, वहां पहुंचे कवि "

सामान्य कवि को भी इतनी बडी महत्ता दी गई है तो वह परम कवि तो सब कुछ जानता है। हमारे ज्ञान से आगे ही आगे रहता है। उस रसरूप में परमात्मा के विद्यमान होने के कारण ही संसार में सुन्दरता प्रकट होती है। जो कि रस के अनुकूल हुए बिना प्रकट नहीं हो सकती। वह सुन्दरता ही विज्ञान या तत्त्वज्ञान रूप है। रसरूप आत्मा की तरंग का प्रकाश स्थूल रूप से होवे तब " अभिधा " से हम उसे प्रकाशित करते हैं। परंतु जब कविता रूप में केवल समझ से ही जाना जावे, तब ही वह व्यंजना से कहा जाता है। उस भाव के स्वरूप में जितनी तन्मयता होगी, उतना ही उस का प्रकाश विज्ञान को प्रकाशित करेगा।

इसीलिए कहा गया है कि योगी को जैसे समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वैसे ही कवि भी अपनी तन्मयता के द्वारा योगावस्था को प्राप्त कर सकता है। हमारे सामने बहुत से उदाहरण मौजूद हैं। कबिर के दोहों में, गिरधर की कुण्डिलियों में मीराके भक्तिपदों में, तुलसी की चौपाइयों में क्या तत्त्वज्ञान छिपा नहीं मिलता? स्थूल वृत्तिका बोध कराती हुई कवितायें जब हमें रसरूप में विद्यमान परमात्मा का बोध कराती हैं तभी ही व्यंजना से कहे गये गूढार्थ पद तत्त्वज्ञान की धारा को बहाते हैं। ओखा भगत और दयाराम के काव्यों में हमें क्या मिलता है? वही प्रेमभक्तिरस हर जगह भरा पडा है।

कर्म के द्वारा भक्ति से जब वह रस ज्ञान में उतरा, तब सर्वत्र कर्म में आत्मा का अनुभव होने लगता है। कविता के छोटे छोटे पदों में तत्त्वज्ञान के वह भाव भरे होते हैं, जिन्हें हम बडी बडी पुस्तकें पढकर भी ग्रहण नहीं कर सकते। वह बात हमें ईशारेमात्र से दिल में बैठ जाती है। यही लक्षणा व्यंजना की विशेषता है।

कोई हमें तत्त्वज्ञान के लिए बडे बडे ग्रन्थ पढाने लगे, तो हमें अरुचि पैदा होती है। परन्तु वही यदि एक भक्त सुन्दर सुरीली तान में, एक छन्द में, उपस्थित करता है, तो वह हमारे मन को आकर्षित करती है और उस का भाव हमारे मन में बैठता चला जाता है। क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही रस को पसन्द करता है, क्योंकि वह रसरूप ही है, अपने स्वरूप को कैसे स्वयं निराकरण करे? "रसो वै सः" जब रसरूपमें विद्यमान उस प्रभु के सत्य शिव सुन्दर भाव उस में उतरते हैं, तब उस का हृदय आनन्द की मात्रा से भर जाता है, तब तत्वज्ञान की धारा का संगम उस आनन्द की मात्रा को कवितारूप में परिणत करता है। वह कविता ही संसार में विज्ञान को लाती है। जिस के द्वारा ही भक्तों की तानों में तत्त्वज्ञान के सूत्र हमें गूंजते दीखते हैं। यही कविता और तत्त्वज्ञान का स्वरूप है।

कविता और तत्वज्ञान ऐसी वस्तु नहीं, जिसे हम पृथक कर सकें। वस्तुतः उन दोनों का सम्बन्ध ही ऐसा है जो कि एक दूसरे के अभाव में एक दूसरे की अपूर्णता को सूचित करता है। वह कविता ही कविता नहीं, जिसमें रसरूप से विज्ञान या तत्व-ज्ञान की आत्मा न छिपी हो। तत्वज्ञान जब सुन्दरता के साथ प्रकाशित होता है तब वही कविता हो जाती है। उस में रस या तत्व विशेष रूप से भासित होता है। वास्तव में कविता का धर्म ही यह होता है कि संसार के विकट मार्ग में चलते हुए मानव-जीवन की कठिन से कठिन समस्याओं को मनुष्य के सामने सरल से सरल रूप में उपस्थित करे। वह समस्यायें अन्त में कवियों, भक्तों के अन्दर ओतप्रोत हो जाती हैं। वे लोग उसे जीवनमय बना चुके होते हैं। उन के लिए वे स्वाभाविक रूपसे होती हुई भी अन्य मनुष्यों को वह परिश्रम से प्राप्त होती है। तब वह तत्त्वज्ञान या विज्ञानरूप से देखी जाती है।

कोई उस कविता की मस्ती का स्वाद एक बार ही ले ले, या विज्ञान की धारा में एक बार भी डुबकी लगा ले, तो बस उनका बेडा पार हो जाता है। मीराके हृदय की तडप को हम क्या जानें? चैतन्य प्रभु के पागलपन में, रसखान की मस्ती में तथा तुकाराम के तंबूर गान में क्या रहस्य छिपे हैं? उसे हम साधारण आदमी नहीं समझ सकते। वस्तुतः वे गांव की स्त्रियों की यों ही जोडी हुई तुकबन्दियां नहीं होती अपितु आध्यात्मिक तत्वज्ञान का वह प्रसाद होता है। वह जो कुछ भी बोलें, वह काव्यमयी वाणी कहलाती है। क्योंकि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' रसयुक्त जो भी वाक्य वह काव्य ही कहलाता है।

इसी प्रकार वेद की कविता के विषय में भी पाश्चात्य लोगों के विचार बहुत ही संशयात्मक हैं। वे लोग कहते हैं कि वेद में तो यज्ञादि कर्मकांडों का ही वर्णन है। निरे इहलोक और भोगवाद के ही वर्णन हैं। बर्ने के विचार से हम कुछ सहमत हो सकते हैं, क्योंकि वह वेदों के सूक्तों को कवितात्मक और भावात्मक रूपसे मानता है। परन्तु ऋषियों को परमात्माके अस्तित्व के विषय में शंका थी, इस बात से हम किसी प्रकार भी सहमत नहीं हो सकते। मैक्समूलर, रोथ, कीथ आदि विद्वान् उसके आधाररूप वेद के ही मंत्रांशों को उपस्थित करते हैं।

जैसे 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जहाँ हमारी इन्द्रियां पहुँच ही नहीं सकती, जो अवर्णनीय है, उसे हम कैसे जानें? 'क' संशयात्मक नहीं अपितु ऋग्वेद के ब्राह्मण में 'क' को प्रजापति कहा है- 'कः वै प्रजापतिः'। उस परमात्मा की अखण्ड महिमा को ज्यादासे ज्यादा इसी प्रकार प्रकट कर सकते हैं। यही कविताके विज्ञानमय ईशारे होते हैं। जो उस प्रभु की अज्ञेयता को उपस्थित करते हैं। सचमुच है भी ऐसी ही बात-

'यस्मामतं मतं तस्य, मतं यस्य न वेद सः'

जो ज्ञान की पराकाष्ठा में पहुँचकर यह कहता है 'मैं नहीं जानता' वही उस शक्ति को सच्चे अर्थों में जानता होता है। अर्थात् वह इतना तो जानता है कि वह अज्ञेय है। वह सृष्टि स्थिति प्रलय के अतिरिक्त भी अपनी सत्ता रखता है, उसे हम कैसे जानें? यह तो अनिर्वचनीय वाद की पुष्टि हुई। निर्गुण ब्रह्म की उपासना में ऐसा तत्त्व आना साहजिक है। इसमें संशय नहीं अपितु वेद के कवि की विशेषता है। क्योंकि अन्य शब्दों से कहने से उस महिमावान् की महिमा सीमित होकर खंडित होती है।

पहिले अनेक मन्त्रों और सूक्तोंमें खूब खूब महिमा बतलाके फिर बाद में उसकी महिमा के विषय में अपारता दर्शाई गई है। जैसे 'य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते' जो आत्मा और बल का देनेवाला है, तथा सम्पूर्ण संसार जिसकी उपासना करता है। यदि शंका होती, तो इन गुणों का वर्णन न होता, परन्तु वास्तव में 'क' का प्रयोग ही इस लिए किया गया है कि जहाँ हमारी वाणी नहीं

पहुँचती- 'न तत्र वाक् गच्छति '- 'क' का प्रयोग कविता में किया गया है। कविता की धारा में विद्वान् और तत्त्वज्ञान ओतप्रोत है। 'क' शब्द में ही सौन्दर्य है। इसको लेकर पाश्चात्य लोग संशय की कल्पना करते हैं, पर यही काव्य की प्रतिभा है। वही काव्य अमर रहता है, जो सनातन सत्य को अपने में रखता है। वेदनिष्ठ काव्य का यही सौन्दर्य है। इसी से वे अमर हैं। सैंकडों मन्त्र वेद में परमात्मा की भिन्न भिन्न शक्ति को प्रकाशित करते हैं।

इसी प्रकार उपनिषद् में भी ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'यं क्रन्दसि अवसा तस्थमाने' द्यु और पृथिवी जैसे बालक पिता की तरफ देखके रोये वैसे रो रहे हैं। रजत और सुवर्ण दो रंग के पदार्थ हैं। रजत पृथिवी है। सुवर्ण द्यु है।

'तद् यद् अण्डं सेयं रजतं पृथिवी, तद् यद् सुवर्णं सेयं द्यौ।'

सचमुच पृथ्वी अण्डे जैसी ही है। अंडे में पीला तत्व होता है, वैसे पृथ्वी में भी लावा आदि गरम पदार्थ हैं। उपनिषद् की इन छोटी सी कण्डिकाओं में कितना सौन्दर्यतत्व छिपा हुआ है। उपनिषद् की कविता भी किसी ऐसे ही तत्त्व को अपने में धारण करके रह रही है। जो तत्व सनातन सत्य है। उपनिषदों में कवितामयी भाषा में मानवजीवन की धारा का वर्णन है। उनका उद्देश्य दर्शन का विकास करना नहीं, परन्तु जीवन का गान उसमें है। तत्वज्ञान निकल जरूर सकता है।

एक जगह उपनिषद् में ब्रह्म को उद्गीथ कहा गया है। "उच्चैर्गीयते उद्गीथः" जिस के लिए सब ऊँचा गाना करें अथवा जो बडा गायक है। संसार परमात्मा का गान है। गायक का गान उसके साथ ओतप्रोत होता है, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो अपने गान से अलग होकर रह रही हो। डॉ० प्रभुदत्त कहते हैं कि घडियाली घडी बनाकर अलग हो जावे, इस प्रकार सृष्टि को बनाकर अलग हो जाने का उस का सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार प्रभु को केवल निर्माता मानकर ही नहीं रह गये, परन्तु ब्रह्म-सृष्टि के तादात्म्य सम्बन्ध को भी माना। जिस प्रकार गायक का गान उसी प्रकार संसार कवि की कविता है। परमात्मा को बडा भारी कवि माना गया है।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।

संसार की कविता में वह विषय वा पदार्थद्वारा सूक्ष्म भाव या स्थूल भाव से आनन्द रूप में प्रकट होता है। परन्तु मनुष्य जब उसे विषय में समझने लगता है तब वह मिथ्यारूप होने से झूठ है। हमेशा कवि का प्रकाश या कवि की प्रतिभा काव्य में उतरा करती है। "फूल में गन्ध चमक चन्द्र में डारी" यही उस का प्रकाश है। साधारण व्यवहारमें भी विविध रूप से उस कवि के गुणों का हरण हुआ है। व्यवहार का अर्थ ही है कि विविध रूप से हरण "व्यवहरणं व्यवहारः।"

इसी प्रकार कवि का कविता में ओतप्रोत होना ही उस की नित्यता है। उस काव्य का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि सर्वथा वह कवि से भिन्न नहीं। कवि का ही नाश नहीं तो कविता कैसे नाश होगी? कहा भी है कि "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" सत्य को भिन्न भिन्न रूप से कहा जाता है। केवल अभिधा से ही नहीं कहते, परन्तु व्यंजना और लक्षणा से भी कहा जाता है। काव्य का प्रयोजन "शिवेतरक्षति और कान्तासंमिततया उपदेशयुजे" कहा गया है। अर्थात् शिव से भिन्न जो अशिव-भाव उस के नाश के लिए ही काव्य का आविर्भाव होता है। स्त्री की तरह वह मनोहारी होता है "जीवन जीना बहुत ही कठिन है" ऐसा कहने की अपेक्षा यदि उसी को "बंदे जीवन है संग्राम" कह के उपस्थित करते हैं, तब और ही रौनक आ जाती है और मन झट आकृष्ट होता है।

संस्कृत साहित्य में प्रश्न-उत्तर एक साथ संनिविष्ट होते हैं। "काशीतलवाहिनी गंगा" और "का शीतल वाहिनी गंगा।" इस में ज्यादह सौन्दर्य और काव्य की प्रतिभा प्रकट होती है। एक जगह

आत्मा को वेद में पक्षी कहा गया है। गुर्जर भाषा में भी "प्राण-पंखेरू" "हंस ले" आदि शब्द से संकेत है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म ही उन्नत-गामी है। वह ऊँचे ही ऊँचे उडता है। ज्ञान और कर्मरूपी दो पंखोंपर अनन्त काल से आत्मपंखी उडा जा रहा है। और प्रकृति को "अश्वत्थ" पीपल के वृक्ष से उपमा दी है। "अश्वत्थे वो निषदनं" हे मनुष्यो! तुम्हारा निवास अश्वत्थ में जानो, क्योंकि पीपल का पत्ता जल्दी झड जाता है। इस पर रहो, भोग भोगो, परन्तु एक दिन झड भी जावोगे।

इस प्रकार आत्मा, परमात्मा और प्रकृति सब की सत्ता वेद की कविता में अनुस्यूत है। उसने संसार को (real) माना है, सत्य माना है। यदि संसार को परमात्मा का बसेरा मानें, कविता में कवि की एकता मानें और उसे सत्य, शिव, सुन्दरता से युक्त मानें, तो इस की छाया हमें शीतलता देगी। परन्तु यदि एक विनाशक चक्र मानें, तो हमें वैसा ही दीखने लगेगा।

"जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।" जिसकी जैसी भावना होगी, उसको उसी प्रकार की प्राप्ति हुवा करती है। गीतामें भी भगवानने इस भावना की सार्थकता को क्या ही सुन्दर रूप में उपस्थित किया है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् संसारमें, प्रत्येक वस्तुमें परमात्माका अस्तित्व है। उस वस्तु को हम उसका ही रूप समझकर उसमें भावनाके बीज बोयें। तो अवश्य हमारी भावना तद्रूप ही में हमें प्राप्त होगी। बुरी भावनासे हमें बुरी भावना प्राप्त होना जब अनिवार्य हो, तो हम क्यों न अच्छी भावना करके सुखप्राप्ति के अधिकारी हों। परमात्मा की कविता को अपने में निहित करके सर्जक भाव से ही दुनिया में दिव्य कवि रस को उंडेलकर भाग्यशाली हों। दुःखको दुःख रूपमें अनुभव करने की अपेक्षा दुःख को भी सुख समझना ज्यादा हितकारी है। बुरे को बुरा तो सब कहते ही हैं, परन्तु बुरे में भी अच्छापन देखना यह आत्मा की उच्चता है। देशभक्त फांसी के तख्ते पर झूलते हुए भी, हंसते हुए पाये गए हैं। उल्टा फांसी के समय उनका वजन बढ गया पाया जाता है। यह है गीताधर्म की प्राणपूंजी। इसी पर गीता खडी है। अर्जुन की भावना को कृष्ण भगवान्ने बदल दिया। निराश गांडीव छोडकर बैठा हुआ अर्जुन फिर 'करिष्ये वचनं तव' करके खडा हो गया।

शबरी की भावना बदली वह राम को झूठे बेर भी खिला सकी। सुदामा के चावल भी कृष्ण को स्वीकारने पडे। नम्दा की टेर चेता भगत की खिचडी भी उन्हें स्वादिष्ट लगी। क्योंकि भगत की भावना के भूखे भगवान् हैं न कि यह शूद्र और तुच्छ, नीच वर्ण का है, यह दृष्टि ही हमें उस परमात्मा से साक्षात् कराती है। इसके यहाँ तो सब एक ही हैं, चाहे अमीर हो, गरीब हो, चाहे खानदान कुकर्मी बेटा हो, चाहे सत्कर्मी हो। भगवान् ने तो एक ही बोध दिया है कि- 'अपिचेत्सुदुराचारो०' चाहे भले ही दुराचारी हो, परन्तु अनन्य भक्तिभावना से मेरा भजन करे तो वह साधु ही है। इस प्रकार संसार को भली आंखोंसे देखने की रसें व्यवहार में भी आदत बनानी चाहिए, जिससे कि हम कल्याणमार्गके पथिक बनें।

वैदिक जीवन ।

(लेखक- श्री० पं० मदनमोहन विद्याधर, स्नातक गुरुकुल कांगडी, बेझवाडा)

विषय-प्रवेश ।

(१)

गीता में लिखा है कि " आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इंद्रियाणि हयानाहुः...।" इन्द्रियां रूपी दश घोडों से जुते शरीर रूपी रथ पर आत्मा रथी बैठा हुआ, इस विश्व में अपने जीवन की यात्रार्थ निकला है। पूर्व-जन्मकृत कुछ मूलधन पास है, जो कि पर्याप्त नहीं। उसने इस धन को लगाकर अपने जीवन-व्यापार को चलाकर पुन: कुछ नवीन कर्म रूप द्रव्य का संचय करना है, जिससे कि उसका आगामी भविष्य जीवन शान्ति से आनन्द में गुजर सके।

इसके लिये दो बातें जरूर हैं। पहली तो यह कि उस का 'रथ' इस योग्य होना चाहिये, उसके 'घोडे' इस कद्र मजबूत होने चाहिये (साथ ही वे वश में होने चाहिये-) कि जीवनसंघर्ष की इस दौडमें वह अग्रेसर हो सके, अपने व्यापार को स्वस्थचित्त हो चला सके। दूसरी बात यह कि उसका संचित द्रव्य, धर्मानुसार कमाया हुआ हो।

इन दोनों बातोंकी पूर्ति के लिये आवश्यक है कि उसे इस व्यापार के संपूर्ण सिद्धांतों का परिचय हो। 'टूटे छकडे' पर गिरते पडते भी चला जा सकता है, कुत्सित अधर्माचरणसे द्रव्य कमाया जा सकता है, पर वह भविष्य को सदा के लिये गहरे अन्धकार में डालनेवाला होगा। ऋषि दयानन्द ने इसीलिये 'शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति' का उपदेश दिया है।

भक्ती-मार्ग के यात्री, आर्यसभ्यता-प्रेमी भी वैदिक धर्मावलम्बी स्त्रीपुरुषों, बालक-बलिकाओं, "आर्य मुसलमान ईसाई पारसी"-मनुष्य मात्र के 'धर्म अर्थ काम मोक्ष' की प्राप्ति के लिये कुछ आवश्यक बातों का ज्ञान, उनका स्मरण तथा तदनुसार आचरण अनिवार्य है। योग के शब्दोंमें 'यमनियमादि' के पालन का निर्देश इसी ओर है।

(२)

ऋषि दयानन्दने " आर्य नाम विद्वान्, धार्मिक और आप्त पुरुष का है " ऐसा कहा है। निरुक्ताचार्यने "आर्यः ईश्वरपुत्रः" ऐसी व्याख्या आर्य शब्द की की है। इसी का यथार्थ अनुवाद 'खुदा का बेटा' या 'सन ऑफ गॉड' इस्लाम तथा ईसायत में है।

सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने मनुष्यों के कल्याणार्थ जो ज्ञान दिया उसका नाम "वेदवाणी" है। उसका व्यावहारिक नाम "वैदिक धर्म" है और जिस ढंग से वह क्रिया में आता है उसको 'आर्य-सभ्यता' कहते हैं; क्योंकि वैदिक धर्म को मानने वालों की 'आर्यसंज्ञा' है।

उन आर्यों की दिनचर्या नित्यकर्म ऐसे ही होने चाहिये जो धार्मिक आप्त पुरुषों के योग्य हों।

(३)

प्रातःकाल जागने के समय से ही नित्यकर्मों का प्रारम्भ हो जाता है। मनु ने (४।९२) में कहा है कि—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान्, वेदतत्वार्थमेव च ॥

ब्राह्म मुहूर्त अर्थात् चार घडी रात रहे (लगभग ३ बजे) उठ कर मनुष्य धर्म और अर्थ का चिन्तन करे तथा उन शारीरिक कष्टों का भी चिन्तन करे, जो धर्मार्थ की प्राप्ति में विघ्न करनेवाले हैं। वेद के तत्वार्थ का भी विचार करे, क्योंकि ब्राह्मकाल में बुद्धि निर्मल, मस्तिष्क तीक्ष्ण, तथा चित्त प्रसन्न शान्त होता है। परन्तु यह सब उसी दशा में हो सकता है; जब कि सब व्यक्ति अपने जीवनों को 'नियमित' कर लेवें।

(४)

आर्यों की सभ्यता का नाम "आर्यसभ्यता" उनके

धर्म की संज्ञा "वैदिक धर्म;" उनके उच्च विचारप्रणाली से "आर्य-वैदिक संस्कृति" का बोध होता है। उनके समाज का नाम "आर्यसमाज" है।

प्रत्येक आर्य का यह परम कर्तव्य है कि वह 'सत्य-सनातन वैदिक' तथा "आर्यसभ्यता व संस्कृति" के मूलतत्वों तथा उनके स्वरूप को समझे। तदनुकूल जो जीवन में करने योग्य कार्य हैं, उनका स्मरण होना चाहिये। उसका कार्यक्रम इस प्रकार से ढला होना चाहिये कि उन नित्यकर्मों में यथासम्भव कभी ढील, छूट या 'रोजा' न हो। रोगावस्था की दशा में 'प्रभु-प्रार्थना सन्ध्यावन्दन' को छोड अन्य कृत्यों में ढील हो सकती है; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि जिनका जीवन नियमित किया हो चुका है, जिनका खानपानादि व्यवहार संयत हो गया है, 'व्याधि तथा आधि' उनके समीप आती ही नहीं। यह निश्चित तथ्य है।

'वैदिक धर्म' के विचारात्मक सिद्धान्तों [जिनका पुनरुद्धार ऋषि दयानन्दने तथा जिसके प्रचार का कार्य आर्यसमाज ने किया है और कर रही है] तथा क्रियात्मक विधिविधानों का बोध भी प्रत्येक आर्य को होना चाहिये। इनका वर्णन वेद-उपनिषद्-स्मृति ग्रन्थादि सच्छास्त्रों में सुन्दर रूप से विस्तरशः किया गया है। इस युग में ऋषि दयानन्द ने संसार के कल्याणार्थ इनका वर्णन सरल सुबोध ढंग से ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि आदि नानाग्रन्थों में किया है।

वेदों तथा उपनिषदादि ग्रंथों का अध्ययन सब नहीं कर सकते। परन्तु इनको यह तो कम से कम ज्ञात होनाही चाहिये कि वेद कितने हैं, दर्शनें कितने हैं, उपनिषदें कितनी हैं? अभिप्राय यह है कि उन्हें संक्षिप्त रीति से वैदिक धर्मसम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का दिग्दर्शन अवश्य-मेव होना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य को अपने और अपनी सन्तान के जीवन का समय-विभाग प्रत्येक समय यहि होना चाहिये अर्थात् उन्हें किस समय, किस उमर में कौनसा काम करना है? अर्थात् जीवन-यात्रा में रथ में से पुरानी सामग्री को छोड नवीन को लेने के लिये जो नियत स्टेशनरूप संस्कार हैं, उनका बोध करना कराना भी प्रत्येक आर्य का आव-श्यक ज्ञातव्य विषय है। आर्यों के इस जीवन का कार्यक्रम या इन संस्कारों का वर्णन ऋषि दयानन्द ने 'संस्कार-विधि' नामक ग्रन्थ में दिया है।

'पंचमहायज्ञविधि' में मनुष्यके दैनिक कृत्यों अर्थात् पंचमहायज्ञों की व्याख्या की है। 'व्यवहारभानु' में पारस्परिक बर्ताव का बोध कराया गया है। इन सब ग्रन्थों के अध्ययन से आर्यजाति में प्राचीन काल से चले आ रहे संस्कारों के नाम, उनके स्वरूप, उनकी विधि या प्रक्रिया नया करने के समय का बोध हो जाता है।

साथ ही हमें उनके त्यौहारों, यज्ञों और पर्वों का ज्ञान भी होना चाहिये; आर्यों के सामाजिक धर्म और यम-नियमादि का परिज्ञान भी जरुरी है।

प्रत्येक मनुष्य को परमेश्वर की भक्ति अर्थात् संध्या तथा होम नित्यप्रति करना चाहिये। उनके मन्त्रों का अर्थसहित स्मरण तथा प्रक्रियाका ज्ञान अत्यन्तावश्यक है; ताकि उच्चारण काल में इनका अर्थध्यान भी रहे। कुछ प्रार्थनायें ईश्वर-भक्ति के भजन तथा प्रार्थना और उपासना के मन्त्र भी कण्ठस्थ होने चाहिये जिनको सन्ध्या तथा अग्निहोत्र के पश्चात् पढकर परमात्मा से पापों की निवृत्ति के, दुःखों से छूटने के उपाय तथा पुण्य की ओर प्रवृत्ति, सुखों की प्राप्ति के लिये समुचित प्रार्थना की जा सके।

(५)

इन सब का इस पुस्तक में वर्णन किया गया है। यदि कोई व्यक्ति इस पुस्तक में प्रतिपादित "वैदिक धर्म"का परिज्ञान कर, श्रद्धा और विश्वास से तदनुकूल आचरण करेगा, तो निश्चय ही उत्तरोत्तर उसका जीवन उन्नत सादा सरल व समृद्ध और उसका हृदय विशाल होता जावेगा। एक विशुद्ध 'मानवधर्म' में उसकी श्रद्धा और भक्ति निरन्तर बढती जावेगी।

"हे सर्वनियन्ता! सत्यस्वरूप! चिदानन्द! मुझे यथाशक्ति इनके पालन की प्रेरणा तथा शक्ति दे, मैं निर्बल, तू मेरा बल, मुझे इन नियमों के 'बन्धन' में 'भक्ति' का आनन्द प्राप्त करा।"

प्रथम अध्याय।

[१] दिनचर्या।

आज इस वैज्ञानिक भौतिकवाद के युग में मनुष्य के जीवन की स्थिरता शान्ति तथा नियमितता सर्वथा चली गई है। प्रकृति का उपभोग तो मनुष्य कर रहा है, परन्तु उस के सरल और स्वाभाविक नियमों का विरोध करते हुए। इस लिये अब मनुष्य के जीवन को किसी दिनचर्या द्वारा नियमित तथा संयत करने का प्रयत्न साधारण मनुष्यों की उथली दृष्टि में हास्यास्पद ही है। फिर भी इस जीवनसागर में उठी भयानक अशान्ति तथा हलचल की भंवर के बीच निरन्तर डुबकियां खाती हुई मानवजाति का अपने परित्राण शान्तिमय व्यवहार और स्थिरता के लिये करुण क्रन्दन अवश्य कानोंमें आ रहा है। इस आर्तनाद को शान्त करने के अर्थ अव्यवस्था को मिटा कर मानवजाति को सच्चा सुख तथा शान्ति प्रदान करने के लिये एक साधारण दिनचर्या पाठकों के सामने रखी जाती है।

[क] शीत ऋतु।

प्रातःकाल–५ बजे जागरण। ५ से ५॥ बजे तक प्रार्थना-मंत्रों का पाठ × तथा व्रतग्रहण +। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का चिन्तन।

५॥ से ७ तक शौच, दन्तधावन, स्नान, व्यायाम तथा वायुसेवन।

७ से ७॥ तक सन्ध्या, अग्निहोत्र और भजन, गान, कीर्तन आदि ❧।

७॥ से ८॥ तक स्वाध्याय। ❀ स्वाध्याय से पूर्व हलका जलपान ॐ।

८॥ से ९॥ तक घर के अन्य आवश्यक कार्य।

९॥ से १०॥ तक भोजन और मनोरंजन। ✽

मध्याह्न–५ बजे तक व्यवसायसम्बन्धी कार्य।

सायंकाल–५ से ६॥ तक शौच, वायुसेवन, क्रीडा, आमोद–प्रमोदादि।

× देखो इसी अध्याय के (२) का 'ख' भाग।

+ देखो इसी अध्याय के (२) का 'क' भाग।

❧ यह कार्य समस्त परिवार के स्त्रीपुरुष, बालवृद्ध मिल कर करें। यदि कोई विद्वान् अतिथि गृह में हों, तो इस समय उनसे कुछ ज्ञानचर्चा भी करें। श्रद्धा तथा भक्तिभाव से उनसे उपदेश श्रवण करें।

❀ यदि समय अधिक मिल सके, तो स्वाध्याय अधिक करना चाहिए। परन्तु स्वाध्याय के निमित्त आधघण्टा से न्यून समय तो किसी दशा में भी नहीं लगाना चाहिए। जहां तक हो सके, एकाग्र मन से एक ही आसन पर बैठ कर सद्ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए। जल्दी जल्दी बेमन से एक दिन का स्वाध्याय ध्यानपूर्वक प्रसन्नचित्त से किये गये नियमित एक दिन के स्वाध्याय की अपेक्षा कम होता है।

जीवन के अन्तिम क्षण तक मनुष्यों को धर्म का प्रतिदिन अभ्यास करते जाना चाहिये। धर्म के मर्म को जानने के लिये स्वाध्याय से बढकर कोई अन्य साधन नहीं है। इसलिये स्वाध्याय में अनध्याय कभी न मनाना चाहिये। प्रतिदिन भोजन की तरह इसको भी जीवन का एक आवश्यक अनिवार्य अंग समझना चाहिए।

ॐ आजकल 'हलका जलपान' होटलों में करने का अत्यन्त बुरा शौक या फैशन जनता में चल पड़ा है। ऐसा करना अपने स्वास्थ्य का नाश करना है। इसमें दुग्धाहार, फलाहार या अन्य घरमें ही तैय्यार की हुई कोई अत्युत्तम खाने योग्य वस्तु खानी उचित है। इससे स्वास्थ्य की प्राप्ति, धन की बचत रहती है।

✽ तत्पश्चात् अपने अपने कार्य पर दफ्तर चले जावें। नियमित व्यवसायसम्बन्धी कार्य करें। पत्रव्यवहार, हिसाबकिताब सम्बन्धी दैनिक व्यापारिक कार्य प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी मातृभाषा में ही करना चाहिए। भारतवर्ष में बसनेवालों को यह कार्य एक विदेशी आंग्ल भाषा में न करके अपने आर्यवर्त में बोली जानेवाली आर्यभाषा (हिन्दी हिन्दुस्तानी) में ही करना चाहिये। परन्तु प्रांतों में प्रांत की भाषा में यह सब कार्य अनिवार्यरूप से किया जाना चाहिए। सारा दिन धर्मपूर्वक काम करें।

६॥ से ७ तक संध्या, अग्निहोत्र, भजनादि।

रात्रि- ७ से ९। तक स्नान पान, परिवार सम्बन्धी आवश्यक कार्य, बच्चोंको धार्मिक शिक्षा +।

९। से ९॥ तक प्रार्थनामन्त्रों × का पाठ तथा व्रत-ग्रहण ❁।

९॥ से ५ तक शयन ॐ।

[ख] ग्रीष्मऋतु।

प्रातः- ४ बजे जागरण।

४ से ४॥ प्रार्थनामन्त्रों का पाठ तथा व्रतग्रहण। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का चिंतन।

४॥ से ६ तक शौच, दन्तधावन, स्नान, वायुपरिभ्रमण तथा व्यायाम।

६ से ६॥ तक संध्या, अग्निहोत्र, भजन-संकीर्तनादि।

६॥ से ८ तक स्वाध्याय तथा हलका जलपान।

८ से ११ तक गृह तथा व्यवसायसम्बन्धी कार्य।

मध्याह्न- ११ से १ तक भोजन, मनोरंजन तथा आराम।

१ से ५॥ तक पुनः अपना अपना कार्यसंचालन।

सायं- ५॥ से ७ तक शौच, वायुसेवन, क्रीडा, आमोद-प्रमोद तथा स्नान।

७ से ७॥ तक सन्ध्या, अग्निहोत्र, भजनादि।

रात्रि- ७॥ से ८ तक भोजन।

८ से ९। तक गृहसम्बन्धी कार्य। ज्ञानचर्चा। ☺

९। से ९॥ प्रार्थनामन्त्रों का पाठ तथा व्रतग्रहण।

९॥ से ४ तक शयन ॐ।

[२] प्रातःकाल [ब्राह्ममुहूर्तमें] कर्तव्य वैदिक कृत्य।

[क] प्रातःकाल जागरणकाल में चिन्तनयोग्य व्रत।

मनुष्य जब प्रातःकाल जगे तब शान्ति के साथ अपने बिस्तर ही पर बैठ कर प्रसन्नचित्त हो; अगले पृष्ठमें लिखे हुए मन्त्रों का उच्चारण उच्च स्वर से करे और उसके बाद प्रत्येक कार्य में ईश्वर को साक्षी समझता हुआ मन ही मन दृढ संकल्प के साथ निम्न प्रतिज्ञा करे—

"व्रतपते प्रभो! हम व्रत लेते हैं कि आज समस्त दिन में कोई कुत्सित व्यवहार, जिससे अपनी या अन्यों की हानि हो, नहीं करेंगे। प्रत्येक काम धर्माधर्म का विचार, सत्यासत्य का निर्णय तथा परोपकार का निश्चय कर इस प्रकार करेंगे कि वह हमारे और अन्यों के लिये भी कल्याण-कारक हो, यथासंभव ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करेंगे और धर्मपूर्वक धन का संचय करेंगे, अपने परिवार के

+ यदि इस समय भी कुछ स्वाध्याय किया जा सके, तो श्रेयस्कर है।

× देखो इसी अध्याय के [५] का 'ख' भाग।

❁ देखो ,, ,, ,, ,, 'क' भाग।

ॐ गायत्री- उच्चारण या प्रणव-जाप करते हुए नींद में चले जाना चाहिए।

☺ सोते समय जिस प्रकार के मनोभाव हम बना लेते हैं, वे स्थिर होकर मनुष्य के आचार को पवित्र व दृढ बनाने में बडे सहायक होते हैं। इसलिये मातापिता को अपने बच्चों को इस समय अच्छे अच्छे सदुपदेश करने चाहिये, ताकि वे उन्हीं भावों में भरे सोवें।

इस से बुरे बुरे स्वप्न भी आने से रुक जाते हैं। मन स्थिर होकर जीवनमें स्थिरता, गम्भीरता व आनन्द का संचार होता है। सोने से पूर्व गृहपति को चाहिये कि वह अपनी सन्तान को हाथमुख धुलाकर उनसे ईश्वरप्रार्थना के मंत्रों का उच्चारण करावे। उन्हें शिक्षा दे कि वे सोने से पूर्व तथा प्रातः जागते समय घरके सब बडों को श्रद्धापूर्वक नमस्ते कहें। मातापिता का आशीर्वाद लेवें।

ॐ देश, काल और अपने स्वास्थ्य की अवस्थानुसार इस दिनचर्या में उचित फेरफार किया जा सकता है। जैसे प्रकृति परिवर्तनशील है, दिनचर्या भी ऋतु-अनुसार बदलनी ही जीवन के उपयोगी है। जिस प्रकार हर क्षण परिवर्तित होते हुए भी प्रकृति ऋत (नियमों) से बन्धी है, इसी प्रकार जीवन भी नियमों में बन्ध कर ही सुन्दर, मधुर, उपयोगी बनता है।

छोटे बड़े एक एक व्यक्ति तथा अन्य प्रिय मित्रसम्बन्धी आदि से भी ऐसा व्यवहार करेंगे, जिससे संसार में प्रेम, प्रीति, सहानुभूति तथा सुख की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक बढ़े।"

[ख] प्रातःकाल पाठ के योग्य मंत्र।

ओं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे
प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं
प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम ॥१॥

अर्थ-[प्रातः] प्रभातसमय में [अग्निम्] स्वप्रकाशस्वरूप [इन्द्रम्] परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त [मित्रावरुणा] प्राण-उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान् [अश्विनौ] सूर्य, चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की [हवामहे] स्तुति करते हैं और [भगम्] ऐश्वर्ययुक्त [पूषणम्] पुष्टिकर्त्ता [ब्रह्मणस्पतिम्] अपने उपासक वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे [सोमम्] अन्तर्यामी प्रेरक [उत] और [रुद्रम्] पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर का [हुवेम] हृदयमें आह्वान करते हैं।

ओं प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

[ऋ० मं० ७। सू० ४१। मं० २]

अर्थः पाँच घड़ी रात्रि रहे [जितम्] जयशील [भगम्] ऐश्वर्य के दाता [उग्रम्] तेजस्वी [अदितेः] अन्तरिक्ष के [पुत्रम्] सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और [यः] जो (सूर्यादि लोकों का) [विधर्त्ता] विशेष करके धारण करनेहारा [आध्रः] सब ओर से धारणकर्त्ता [यं, चित्] जिस किसी का भी [मन्यमानः] जाननेहारा [तुरश्चित्] दुष्टों को दण्डदाता और [राजा] सब का प्रकाशक है [यं] जिस [भगम्] भजनीय स्वरूप [चित्] ब्रह्म को [भक्षि] सेवन करता हूँ [इति] इस प्रकार (भगवान्) [आह] उपदेश करता है, इसीलिये [वयम्] हम उसकी [हुवेम] स्तुति करते हैं ॥२॥

ओं भग प्रणेतर्भग सत्यराधो, भगेमां धियमुदवा ददन्नः। भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

[ऋ० मं० ७। सू० ४१। मं० ३]

हे [भग] भजनीय स्वरूप! [प्रणेतः] प्रेरक [भग] ऐश्वर्य [सत्यराधः] सत्य 'धन' के देने हारे [भग] ऐश्वर्यदाता [नः] हमको [इदम्] इस [धियम्] बुद्धि को [ददत्] दीजिये और [उदव] रक्षा कीजिये। हे [भग] आप [गोभिः] गाय आदि [अश्वैः] घोड़े आदि को [नः] हमारे लिये [प्र जनय] प्रकट कीजिये। [भग] हे ईश्वर! [हम लोग] [नृभिः] उत्तम मनुष्यों से [नृवन्तः] बहुत वीर मनुष्योंवाले [प्र स्याम] अच्छे प्रकार होवें ॥३॥

ओम् उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्। उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य, वयं देवानां सुमतौ स्याम। ॥४॥

[ऋ० मं० ७। सू० ४१। मं० ४]

हे भगवान्! आपकी कृपा [उत] और अपने पुरुषार्थ से हम लोग [इदानीम्] इसी समय [प्रपित्वे] प्रकर्षता व उत्तमता की प्राप्ति में [उत] और [अह्नाम्] इन दिनों के मध्य में [भगवन्तः] ऐश्वर्ययुक्त [स्याम] होवें [उत] और हे [भगवन्] धन देनेहारे [सूर्यस्य] सूर्यलोक के [उदिता] उदय में [देवानां] पूर्ण विद्वानों की [सुमतौ] उत्तम प्रज्ञा [उत] और सुमति में [वयम्] हम लोग [स्याम] प्रवृत्त रहें ॥४॥

ओं भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एतामवेह ॥५॥

[ऋ० मं० ७। सू० ४१। मं० ५॥]

हे [भग] सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर जिससे [तम्] उस [त्वा] आप की [सर्वः] सज्जन [इत् जोहवीति] निश्चय करके प्रशंसा करते हैं [सः] सो आप हे [भग] ऐश्वर्यप्रद! [इह] संसार और [नः] हमारे गृहाश्रम में [पुरः एता] अग्रगामी [भव] हूजिए और जिससे [भगः एव] सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त आप ही हमारे [भगवान्] पूजनीय देव [अस्तु] हूजिए, [तेन] इसी हेतु से [देवाः वयम्] हम विद्वान् लोग [भगवन्तः] सकलैश्वर्यसम्पन्न [स्याम] होवें ॥५॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ ६ ॥

(यजु० अ० ३० । मं० ३)

हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता (देव) दिव्य गुणयुक्त = समग्र ऐश्वर्ययुक्त शुद्ध स्वरूप प्रकाशमान् परमात्मन् ! (विश्वानि) आप हमारे सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परासुव) हमसे दूर कीजिये। (यद्भद्रं) जो कल्याणकारक गुणकर्मस्वभाव-वाले पदार्थ हैं (तत्, तानि) वे सब (नः) हमको (आसुव) प्राप्त कराइये । अथवा (तत् न आसुव) उन पदार्थों को हमसे दूर न कीजिये। (दोनों का भाव एक ही है।)

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥ (यजु० अ० १३। मं० ४)

(हिरण्यगर्भः) जो स्वप्रकाशरूप तथा जिसके गर्भ में प्रकाश करनेवाले सूर्यचन्द्रमादि स्थित हैं, अर्थात् जिसने इन्हें उत्पन्न करके धारण किया है; (समवर्तताग्रे) जो इस उत्पन्न जगत् से पूर्व भी विद्यमान था; [भूतस्य जात: पतिरेक] जो इस दृश्यमान समस्त भूत-प्रपंच का प्रसिद्ध चेतन रूप एक ही पति [आसीत्-अस्तीत्यर्थः] था और है; [स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां] उसीने इस विस्तृत भूमि को और द्युतिमान् सूर्यादि लोकों को धारण किया हुआ है, हम सब उसी [कस्मै] सुखस्वरूप [देवाय] दिव्य प्रभुकी [हविषा] आत्मसमर्पणस्वरूप [विधेम] पूजा करें। अर्थात् परोपकाररूपी यज्ञ में आत्म हवि हो उसका पूजा करें। अथवा योगाभ्यास और अतिप्रेम से उसकी विशेष भक्ति किया करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥ (यजु० अ० २५ मं० १३)

[यः] जो [आत्मदा] आत्मिक शक्ति का विकास करानेवाला या आत्मबोध का प्रकाशक [बलदा] शारीरिक बल व स्फूर्ति को उत्तेजना देनेवाला [यस्य विश्व उपासते] जिसकी सब विद्वान् पुरुष उपासना करते हैं [यस्य प्रशिषं] जिसके न्याय अर्थात् शिक्षा को [देवाः स्वीकुर्वन्तीत्याहर्तव्यम्] मानते हैं [अथवा जिसके नियम में सब दिव्य गुणयुक्त लोकलोकान्तर चलते हैं, अर्थात् संसार जिसकी व्यवस्था में बंधा है]; [यस्य च्छाया- छायायामित्यर्थः] जिस के आश्रय में अर्थात् व्यवस्थामें [अमृतं मृत्युः] न मरना अर्थात् जीवन और मृत्यु चल रहे हैं [अथवा जिसका आश्रय ही मोक्षसुखदायक है- अमृतपदप्राप्ति का कारण है और जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है]; हम लोग उस......परमेश्वर की प्राप्ति के लिये आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी के आज्ञापालन करने में तत्पर रहें ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ९ ॥

[यजु० २३। मं० ३]

[यः] जो [महित्वा] अपनी अनन्त महिमा से [प्राणतः निमिषतः जगतः] इस प्राणीवाले और अप्राणीरूप अर्थात् चेतन और जड जगत् का [एक इद्राजा बभूव] एक ही विराजमान राजा है [यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे] जो मनुष्य और गौ आदि अर्थात् समस्त सृष्टि का ईशणः=शासन करनेवाला स्वामी है; हम उसी का स्वरूप देव की अपनी सकल उत्तम सामग्री द्वारा भक्ति करें।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१०॥ (यजु० ३२। मं० ६)

[येन] जिस परमात्मा ने [अपने सामर्थ्य से] [द्यौः उग्रा कृत] सूर्यादि को तेजोमय बनाया है [पृथिवी च दृढा] और इस भूमि को दृढ=कठोर किया है; [स्वः नाकः] प्रकाशस्वरूप स्वर्ग को- मोक्ष को- [स्तभितं] थामा अर्थात् अपने नियंत्रण में किया हुआ है [अथवा जिसने इस उग्र द्यौः, दृढ पृथिवी, स्व तथा नाक=दुःख-रहित मोक्ष का स्तम्भन=धारण किया हुआ है। जिसके आधार पर ही इन सबकी व्यवस्था है।] [यः अन्तरिक्षे]

जो अन्तरिक्ष आकाश में स्थित [रजसः] लोकलोकान्तरों का [विमानः] निर्माण करनेवाला है; हम उस [कस्मै] कमनीय स्वरूप, कामना- करनेयोग्य देव=परब्रह्म की प्राप्ति के लिये सब सामर्थ्य से विशेष भजन करें ॥१०॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥११॥

(ऋ० मं० १० । सूक्त १२, मं० १०)

हे [प्रजापते !] सब प्रजा के उत्पादक स्वामिन् ! [त्वद् अन्यः] आपसे भिन्न दूसरा कोई [एतानि विश्वा- विश्वानि जातानि] इन सब उत्पन्न अर्थात् जड़चेतनादि पदार्थों को [परिता न बभूव] व्याप नहीं रहा है, क्योंकि एकमात्र आप ही सर्वोपरि हैं, सर्वव्यापक हैं। (यत्कामाः) जिस जिस पदार्थ की कामना से प्रेरित हम (जुहुमः) आपका हवन=स्तुति करें, आश्रय चाहें (तत् नः) वह हमारी कामना (अस्तु) पूर्ण होवे- सिद्ध होवे । जिससे कि (वयं) हम सब (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः स्याम) स्वामी होवें ॥११॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानाः स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥१२॥ (यजु० ३२।१०)

(स) वह परमात्मा (नः बन्धुः) हमारा पोषक है अथवा हम लोगों को भ्राता के समान सुखदायक हैं अथवा मानवजाति को (प्रेमसूत्र में) बान्धनेवाला हैं; (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक है, (स विधाता) सब (कर्म- फलों का) विधान करनेवाला है अथवा सब कामों को पूर्ण करनेहारा है; वह (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण लोक- लोकान्तरों के (धामानि) नामरूपस्थान = आश्रय तथा उत्पत्ति को (वेद) जानता है। (यत्र तृतीये धामन्- धामनि) जिस तीसरे धाम (ब्रह्म) में अथवा जिस सांसारिक सुखदुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त मोक्षस्वरूप धारण करनेहारे परमात्मा में (अमृतमानशानाः देवाः) मोक्षानन्द को प्राप्त होते हुए (अध्यैरयन्त) आनन्दपूर्वक स्वेच्छा से निर्बाध विचरते हैं (वह परमेश्वर समस्त लोकों और धामों को जानता है, उसी में हम भी अपनी भक्ति से विचरें) ॥१२॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१३॥

(य० अ० ४०। मं० १६)

हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! अग्रेणी = मानवजाति के नेता ! ज्ञानस्वरूप ! सब जगत् के प्रकाशक ! सकल- सुखदाता परमेश्वर ! (अस्मान्) आप कृपा करके हम लोगों को (राये) विज्ञान राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्तलोगों के मार्ग से (नय) ले चलिये, अर्थात् हमें सम्पूर्ण प्रज्ञान और उत्तम कर्म प्राप्त कराइयं।

हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये अर्थात् हमें पाप में गिरने से बचाइये। इस आपकी कृपा की प्राप्ति के लिये हम सब मिलकर (ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) आपको बारबार नाना प्रकार से कथनीय नमस्कार करते हैं ॥१३॥

[३] स्नान करते समय पढ़नेयोग्य मंत्र।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महेरणाय चक्षसे ॥ १ ॥ (ऋ० १०।९।१)

(आपः) जल ! (हि) निश्चय से तुम (मयोभुवः) आरोग्यरूपी सुख को उत्पन्न करनेवाला (स्थ) है। (ताः) वे जल (महे) महान् (रणाय) शब्द के लिये [मुखप्रक्षालनकाल में] (चक्षसे) दिव्य दृष्टि के लिये (आंख धोते समय) तथा (ऊर्जे) अन्न या शरीर में बल व स्फूर्ति देने के लिये (नः दधातन) हमें धारण करें। जल से उत्तम अन्न तथा उससे उत्तम आरोग्य स्वास्थ्यबल की प्राप्ति होती है। उसी के लिये यह वैदिक प्रार्थना है।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

हे जलो ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) अत्यन्त कल्याणकारी (रसः) रस या तत्व है, तुम्हारी आरोग्यकारिणी शक्ति है (तस्य) उस का (नः इह) हमारे इस शरीरमें (भाजयत) सेवन कराओ। जिस प्रकार की (उशतीः) पुत्रके लिये मङ्गल कामना करनेवाली

(मातरः) मातायें, पुत्रों को अपने दुग्धरूपी अमृतरस का सेवन करवाती हैं।

तस्मा अरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

हे जलो! तुम (यस्य क्षयाय) जिस रोग के विनाश के लिये अथवा आरोग्यसुख के निवास के लिये (जिन्वथ) हमें तृप्त कराते हो, (वः नः) हमें (जनयथा च) नवजीवन प्राप्त कराते हो (तस्मै) इन सब-रोगविनाश के लिये- सुखप्राप्ति के लिये तथा नवजीवन-लाभ के लिये हम (वः) तुम्हें (अरं गमाय) अच्छी प्रकार से या शीघ्र प्राप्त होवें।

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ ४ ॥

(देवीः) दिव्य गुणयुक्त (आपः) जल (नः) हमारे (अभिष्टये) स्नानादिक बाह्य उपचार के लिये (पीतये च) और पानादि द्वारा आन्तरिक उपचार के लिये (शं भवन्तु) कल्याणकारी हों। और वे जल (शंयोः) [शं च योश्चेति, शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् अनुत्पन्नानामनागतानां रोगाणाम्] हमारे में उत्पन्न जो रोग हैं, उनके शमन तथा जो नहीं हैं, उनके प्रतिरोध के लिये (नः) हमारे (अभिस्रवन्तु) चारों ओर बहें।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ५ ॥

(वार्याणां, वरणयोग्यानां, वारिसम्बद्धानां वा) वरणीय या द्रवपदार्थों के (ईशानाः) स्वामी अर्थात् प्रतिनिधि (चर्षणीनां) मनुष्यों को (क्षयन्तीः) निवास अर्थात् जीवन देनेवाले (अपः) जलों से (भेषजं याचामि) औषधि की याचना करता हूँ। जलों का सदुपयोग अपने आप में उत्तम औषध है।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम।
ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ ६ ॥

(आपः) हे जलो! (ज्योक् च) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्यदर्शन के लिये- दीर्घायुष्य के लिये (मम तन्वे) मेरी देह के लिये (वरूथम्) वरणीय उत्तम लाभकारी (भेषजं पृणीत) औषध प्रदान करो।

इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ ७ ॥

हे जलो! (यत्किंच मयि दुरितम्) यह जो कुछ भी मेरे अन्दर दुष्ट वस्तु- हानिप्रद पदार्थ = विजातीय द्रव्य है (यद्वा अहमभिदुद्रोह) और अथवा जो कुछ मैंने शरीर से द्रोह किया है, अर्थात् खानपान में असावधानी की है; (यद्वा शेपे) और जितना इसे स्नानादि निंदित या घृणित बनाया है; (उत अनृतम्) और प्राकृतिक नियमों को तोड़ इसके प्रति असत्य व्यवहार किया है; (तत् इदं प्रवहत) उसे तुम बहा दो, अर्थात् इन सब दोषों से उत्पन्न व्याधियों का शमन करो।

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।
पयस्वानग्न आगहि तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ९ ॥
(ऋ० १०।९०)

मैंने (अद्य) अब (आपः) जलों का (अन्वचारिषम्) अनुकूलरूप से अर्थात् पूर्वविधि से प्रयोग किया है, (इस के परिणामस्वरूप) (रसेन समगस्महि) इसके उत्तम रस से संयुक्त हो गया हूँ। हे (पयस्वान् अग्ने) जल में बसनेवाली अग्नि शक्ति या इसमें बल, आरोग्य दे। जीवन में आगे ले जानेवाली शक्ति! (आ गहि) मेरे पास आ (तं मा) उस मुझको (वर्चसा संसृज) अपने तेज से संयुक्त कर।

[४] भोजन के समय पढ़नेयोग्य मंत्र।

ओ३म्। अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे शं चतुष्पदे।
(यजु. ११।८३)

हे (अन्नपते!) सब अन्न तथा भोग्यपदार्थों के स्वामी परमात्मन्! (नः) हम को (अनमीवस्य) रोगों के कीटाणुओं से रहित (शुष्मिणः) शुद्ध बलवर्धक (अन्नस्य) अन्न (देहि) दीजिए। हे प्रभु! संसार के हम सब प्राणी आपका दिये हुए अन्न का सेवन करें। (प्र प्र दातारम्) प्रकृष्ट रूप से उत्तम अन्नदान करनेवाले को (तारिष) दुःखों से पार कर। (नः) हमारी इस मानवजाति के दो मुख्य अंग (द्विपदे चतुष्पदे) दो पायों और चौपायों के लिये (ऊर्जम्) अन्नदान द्वारा बल

को (धेहि) धारण कराओ ।

ओ३म्। ओं सहनाववतु सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै ॥ [तैत्तिरीय आरण्यक ॥ अष्टम् प्रपाठक, प्रथम अनुवाक]

हे परमेश्वर ! हम दोनों मिलकर दूसरे की रक्षा करें, हमारी रक्षा की सामग्री समान हो । हमारा भोजन एक साथ हो । हम दोनों मिलकर अपनी शक्ति का देशहितादि परोपकार के कर्तव्यों में प्रयोग करें। हमारे अन्दर तेज निहित हो । हममें कभी परस्पर विद्वेषभाव न हो। या हमारा अध्ययन ठीक हो।

[५] शयन से पूर्व करने योग्य कृत्य ।

[क] रात्रि में सोते समयका व्रत और पाठ करने के मंत्र ।

व्रत- ईश्वर को सम्बोधन करके निश्चय करे कि मैं ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करूंगा और हृदय को ईर्ष्या और द्वेष के भावों से पृथक् रक्खूंगा, मेरे मन में स्वप्न में भी कोई कुत्सित भाव न आवेंगे और मैं शान्ति और सुखदायिनी गहरी नींद का आनन्द भोगूँगा ।

इस व्रत को बार बार मनमें दुहराकर नीचे लिखे मंत्रों का पाठ करते और उनके अर्थों का विचार करते हुए मनुष्य को सो जाना चाहिये ।

[ख] सोते समय पढने के मंत्र।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥ (य० अ० ३४। १)

हे परमात्मन् ! जो जागते हुए पुरुष का दिव्य गुणयुक्त मन दूर देश (नाना विचारों में फंसा) चला जाता है, और वही मन सुप्त मनुष्य का उसी प्रकार (विचार-रूप में) इधर उधर गति करता रहता है; जो दूरसे दूर (विचार कराता हुआ) मनुष्य को ले जाता है;जो विषयप्रकाशक इंद्रियोंमें ज्योतिःस्वरूप है, वह मेरा मन शिवसंकल्प (शुभ धार्मिक विचार) वाला होवे ।

भावार्थ- मन जागृत और स्वप्न में दूर दूर चला जाता है, इसीलिये उसको दूर जानेवाला कहते हैं-वह प्रकाशों का प्रकाश है-ऐसा मन अच्छे संकल्पवाला हो ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥ (यजु० ३४।२)

(येन) जिस (मन) से (अपसः) कर्मनिष्ठ, (मनीषिणः) मननशील (धीराः) धीर पुरुष (यज्ञे) शुभ यज्ञों और (विदथेषु) वैज्ञानिक, धार्मिक व्यवहारों में (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्मों को करते हैं (यदपूर्वं) और जो अपूर्व है और (प्रजानां अन्तः) प्राणियों के हृदय में (यक्षं) पूजनीय है, वह मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

(य० अ० ३४।३)

जो मन (प्रज्ञानं) बुद्धिज्ञानशक्ति का उत्पादक (चेतः) चिन्तन अर्थात् स्मृतिशक्ति का साधक (उत धृतिश्च) और धारणावती शक्ति का आधार है; जो समस्त प्राणियों के भीतर एक जीवित जागृत अमर ज्योति है, जिसके विना जीवन का कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन शुभ विचारवाला हो ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥

(येन अमृतेन) जिस अमर मनसे (भूतं भुवनं भविष्यत्) भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल में, जो कुछ होता है, उसका (परिगृहीतम्) ग्रहण किया जाता है अर्थात् सब वृत्तान्त सर्वथा जाना जाता है; और (येन) जिससे (सप्त होता) सात (अनेक) होनेवाले (अथवा ५ प्राण, इन्द्रिय और जीवात्मा द्वारा प्रतिपादित जीवन) (यज्ञस्तायते) यज्ञों का अर्थात् पूजनीय कर्मों का विस्तार होता है, वह मन अच्छे संकल्पवाला हो ।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥

(यस्मिन्) जिस (मन) में, (रथनाभौ आरा इव) रथनाभि में अरों के सदृश (ऋचः साम यजूंषि) ऋचा, साम और यजुः (तीन प्रकार के मन्त्रोंवाले चारों वेद) (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् जिसमें चारों वेदों का ज्ञान इस प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार रथ के पहिये में अरे अटके रहते हैं; (यस्मिन्) प्राणिनां, जिस में प्राणियों का (सर्वं चित्तं ओतम्) समग्र ज्ञान ओतप्रोत है, अर्थात् जिस में प्राणियों का सब विचार बना हुआ है, वह मेरा मन भलाई का ही विचार करनेवाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभि-
र्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे
मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥६॥ (यजु० अ० ३४)

(इव) जैसे (सुसारथिः) उत्तम सारथी (अभीशुभिः) लगाम के द्वारा (वाजिनः अश्वान्) वेगवान् घोडों का इच्छानुसार वहन करता है, अर्थात् उन्हें नियम में रखता है; उसी प्रकार (यत्) जो मन (मनुष्यान् नेनीयते) मानवमात्र को निरन्तर चलाता रहता है, (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में जिसका स्थान है, (यदजिरम्) जो कभी भी जीर्ण नहीं होता, [जविष्ठं] जो अत्यन्त बलवाला वेगवान् है- वह मेरा मन सदा मंगलयुक्त विचारवाला होवे। (क्रमशः)

सत्य अहिंसा से

भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा।

[लेखांक ६ +]

(लेखक- श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर, यू० पी०)

कांग्रेस की भारतविरोधी नीति की आलोचना।

भारतीय स्वतंत्रताकी रूपरेखा का चित्रण करते समय उसकी स्वतन्त्रता के विषय में प्रचलित सब भ्रांतियों को भी जनताके समक्ष रख देना उचित प्रतीत होता है। इससे भारतीय स्वतंत्रताका निर्मल रूप और अधिक स्पष्ट होकर जनताके समक्ष आ जायगा और भारतीय स्वतंत्रताका विचार पूर्णाङ्ग हो जायगा। कांग्रेस भारतीय स्वतन्त्रता के नामपर काम कर रही है। उसे स्वराज्य लेनेवाली संस्था समझा जा रहा है। कांग्रेस के सम्बन्ध में भारत में जो वृथा विश्वास फैला हुआ है, उसे हटानेकी आवश्यकता आ चुकी है। उसे उपेक्षाकोटिमें डालना हमारी स्वतन्त्रता की सेवाका बाधक हो जायगा। भारतने कांग्रेसके नामपर स्वराज्य के सम्बन्ध में जो जो भूलें की हैं, उन सबको भारत की आंखोंके सामने खोलकर रख देना आवश्यक हो गया है। इसलिए आवश्यक हो गया है कि, भारत अपने त्याज्य असत्य को पहचान जाय, तो वह उसे क्षणभर में त्यागकर उससे पृथक् हो जाय। भारत अपने मानसिक अपराध को न पहचानने के कारण ही अपनी स्वतन्त्रताके सम्बन्ध में अबतक अपराध का रहा है। इस समय भारत को आत्मबोध करा कर उसकी भूल सुझाने की आवश्यकता आ गयी है। जब भारत अपने मानसिक अपराध को पहचान जायगा, उस दिन उसे अवश्य त्यागेगा और तब भारत में स्वराज्य आ चुका होगा।

भारतीय स्वराज्यवादी नेतालोग वृथाही दूसरे दूसरे निष्फल उपायों से भारतीय स्वराज्य की शताब्दियां खो रहे हैं। उन्हें तो केवल भारतका मानसिक अपराध छुडवाने को ही स्वराज्यका सम्पूर्ण कार्यक्रम बनाना चाहिए था और १५-२० वर्षमें स्वराज्य ले लेना चाहिए था। भारत के मनसे दासता को अस्वीकार करवाने में ही सम्पूर्ण भारत का बुद्धि-बल लग जाना चाहिए था और फिर धीरज से देखना चाहिए था कि भारत की मानसिक दासता हटते ही विदेशी शासन हट रहा है। इसलिए भारत को पराधीन रखनेवाले सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक अपराधों का भाषा-चित्र बनाकर भारतके सामने रखा जाना चाहिए। इस सेवाके समय चित्रकार को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाना चाहिए।

इस का चित्रकार होने के नाते हमें बहुतसे कटु सत्यों को प्रकाश में लाना पडेगा। परन्तु यह सब हम केवल भारत की सेवा के नाम पर करेंगे। इस में कहीं कहीं व्यक्तिगत चर्चा का आभास सा भी प्रतीत होगा, परन्तु वह हमारा लक्ष्य नहीं है। चित्र को सम्पूर्ण करने के लिये जितना भाग अनिवार्य है, उतने का ही चित्र लिया गया है। किसी का व्यक्तिगत अपमान किये बिना उस के मन्तव्य का विरोध करना सार्वजनिक अधिकार होने से हमें ऐसा करना पड़ा है। देश को गत पचास वर्ष से जो धोका लग रहा है, उसको देश के सामने रखने के कर्तव्यने ही यह सब स्पष्ट रूप से लिखने के लिए प्रेरित किया है। इसलिये अब हम कांग्रेस के स्वराज्य-सम्बन्धी मन्तव्य की आलोचना करेंगे।

+ पञ्चम लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २३६ पृ० ५३१ पर देखो।

वर्तमान कांग्रेस की स्वराज्ययोजना भारत को स्वराज्य से वंचित रखनेवाला बनावटी हरा बाग है। वही भारत में स्वराज्य को नहीं आने दे रही है। कांग्रेसके ५० वर्षों प्रयत्नों के होते हुए भी देश का स्वराज्य से वंचित रहना ही कांग्रेस के स्वराज्य न चाहने या इसे पाने के अयोग्य होने का अचूक द्योतक है। यदि कांग्रेसने सचमुच स्वराज्य चाहा होता या वह इस योग्य स्तुति तो भारत में आज स्वराज्य जगमगाता होता। कांग्रेस स्वराज्य से खिलवाड कर रही है। भारत में स्वराज्य का न होना कांग्रेस में स्वराज्य की मांग के अभाव की उच्च स्वर से घोषणा कर रहा है।

लगभग ५० सालसे स्वराज्य स्वराज्य शब्द बहुधा भारतवासियों को कण्ठस्थ कराया गया है। परन्तु भारतमें स्वराज्य की रूपरेखा सामूहिक रूपमें अभी तक अज्ञात बनी हुई है। भारत आजतक नहीं जानता कि स्वराज्य किस बात का नाम है? भारत में भारत की ओरसे अंग्रेजी सरकार की स्वराज्य-विरोधी भावनाओं, आज्ञाओं तथा घटनाओं का निरन्तर सामूहिक अपमान ही भारतीय स्वराज्य का अभिप्राय है। जबतक भारत भारतहितविरोधी अवस्थाओं भावनाओं, आज्ञाओं तथा घटनाओं से सामूहिक मोर्चा लेना अदम्य कर्तव्य नहीं बना लेगा, जबतक भारत अंग्रेजों के शासनचक्र में घुसकर पालतू कुत्ते के समान अंग्रेजों की भीख के टुकडे की ओर तकता रहेगा, जबतक भारत सामूहिक रूप में स्वाभिमानी नहीं बनेगा, तब तक स्वराज्य स्वप्नराज्य रहेगा।

स्वराज्य भोगने के लिये भारत को संसार के सारे सम्भावित कष्टों को ललकारना होगा, भौतिक सुख-सुविधाओं को ताकपर उठाकर रख देना होगा, प्रत्येक विपत्ति से लोहा लेने को कटिबद्ध रहना होगा, मौत पीठपाट सम्पत्तिहरण तथा जेलों के रूप में स्वराज्य की कडी से कडी परीक्षा देनी पडेगी और इसे भारतीय स्वाभिमानके नाते भारतके देवताओं की बरसाई हुई फूलों की वृष्टि मान कर सहना होगा।

तब माना जायगा कि भारत में स्वराज्य की मांग आ गयी है। स्वराज्य के विना न रहने का अदम्य अनभिभवनीय निश्चयही स्वराज्य की मांग है। देश में स्वराज्य की मांग न होने के कारण ही भारत को विगत सत्याग्रह युद्ध को बडे अपमान के घूंटों के साथ बन्द करना पडा है। देश ने अपमानित होकर स्वराज्य की भीख का फिर वही ५० साल पुराना सदा खाली रहनेवाला खप्पर हाथ में उठा लिया है और भारतीय स्वराज्य भारत की शासनपद्धति में सुधार के बाने में भारतविरोधियों की लीला की वस्तु बन गया है।

आज भारत में भारतीय स्वराज्य से भारत के नेता और अंग्रेजी सरकार दोनों खिलवाड कर रहे हैं। अंग्रेज तो भारतकी स्वराज्य की मांग के नाम पर कुछ टुकडे सो भी बिना मांगे नहीं, किन्तु भारतीय नेताओं से मंगवाकर, इस टुकडे से भी अपने लिए दातापन का यश कमाकर फेंक देती है और नेता लोग अपने लिए इस टुकडे को दिलवाने का यश कमा लेते हैं, तथा सारा भारतसरकार तथा नेता दोनोंके स्वार्थों में फंसकर भीख मंगा बना दिया गया है। भारतीय स्वराज्य का यह अपमान विचारशील भारतीयोंको बडा खटक रहा है।

भारतीय स्वाभिमान यह जानना चाहता है कि भारतके स्वराज्य लेनेमें नेताओं की कौनसी आवश्य-कता है? अंग्रेज भारत को लूट रहे हैं और भारत लुट रहा है। भारतके नेता लोग इस भारतीय लूटमें दुभाषिये मध्यस्थ का काम कर रहे हैं। नेताओं की स्पष्ट स्थिति लूटनेवाले तथा लुटनेवाले के बिचौ-लिए की है। वस्तुतः लुटनेवालें से लुटने की अनुकूल शर्तें नियत करना और लूटनेवाले से लूटने की अनुकूल शर्तें निर्धारित कराना यही नेताओं का काम है। नेता नहीं चाहते कि भारत उनका नेतृत्व छोडकर खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों को अस्वीकार करके यह कह दे कि हमें अंग्रेजोंका दिया हुआ स्वराज्य तो स्वराज्य त्रिलोकी का राज्य भी नहीं लेना है।

यह तो सच है कि देशकी मानसिक सेवा करनेमें कुछ

आशा जाता नहीं देखेगा, उसमें केवल कर्तव्यपालन का आनन्द ही जीवन का साथी होगा। उसमें चहल-पहल और आव भगतका कोलाहल नहीं होगा। यदि नेता लोगों का नेतापन उनकी मानसिक बीमारी नहीं है, तो उन्हें देशकी मानसिक सेवा करने में अर्थात् देशमें से मानसिक जडताको निकालने में लग जाना चाहिए। हमारे नेता जितना अंग्रेजों को ललकारने बन्दर घुडकी देने और समझाने में समय व्यर्थ खोते हैं, यदि उस सब को भारत की आत्माको व्याकुल कर देने में व्यय कर दें, तो उनका जीवन सफल हो जाय, भारतीय आत्मा को सेवा मिल जाय, तथा देशसे नेतापन का रोग जाता रहे। जब तक हमारे नेता गूंगी सेवा नहीं सीखेंगे तबतक नेता बनने के योग्य नहीं होंगे। हमारे नेताओं को जानना चाहिए कि देशको नानक रामदास तथा दयानन्द जैसे नेताओं की आवश्यकता है, जिन्हें सेवा में ही रस आता हो।

भारतीय नेताओं को प्लेटफार्मोंपर अंग्रेजी सरकारको ललकारने का शौक हो गया है। इन्हों ने स्वतन्त्र न होते हुए भी सभ्य देशों में गिने जानेके लिए बहुत से वाक्य घड लिए हैं। वे उन वाक्यों को देशके भिन्नभिन्न स्थानों में लम्बे चौडे सुरम्य शामयानों के नीचे वक्ताओं के औपनिवेशिक स्वराज्यमें बैठकर, बिजली की जगमगाती हुई रोशनी में इकट्ठे होकर नाना प्रकार की बोलियों की प्रदर्शनी करके लाउड-स्पीकरों के द्वारा सालमें एक दो बार रट लेते हैं और संसार को सुना देते हैं, कि कहीं संसार पराधीनताके नाते उन्हें सभ्य गिनना न भूल जाय।

हमारे नेता लोग पिछले ५० वर्षोंसे औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमिनियन स्टेटस्) संभव हो, तो साम्राज्य के भीतर रहकर और आवश्यकता हो, तो उस से बाहर जाकर स्वराज्य को पालेना जैसे निर्वीर्य वाक्य बोलते चले रहे हैं। क्या इन बडे बडे किन्तु थोथे शब्दों से कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? वे इन बडे बडे शब्दों से पहले अपने आप को तथा फिर देशको धोके में रखते हैं। उन्हें सबसे प्रथम स्वराज्य का अर्थ समझना चाहिए।

साम्राज्यवादकी जडको उखाड कर फेंक देनाही स्वराज्य का अर्थ है। जब कहा जाता है कि संभव हो तो साम्राज्य के भीतर रहकर और आवश्यकता हो तो बाहर जाकर स्वराज्य पाना चाहिए तब स्वराज्य को साम्राज्यका अनुचर बना लिया जाता है, जो कि स्वराज्यसे ठीक विपरीत हो जाता है। यदि कोई यह कहे कि संभव हो, तो किसी मालिक के अधीन रहकर ही स्वतन्त्र हो जाना चाहिए, नहीं तो मालिक से अलग होकर स्वतन्त्र हो जाना चाहिए, तब क्या यह हंसी की बात नहीं है ? यह अपने आप ही अपने वाग्जालमें फंसना तथा औरोंकोभी इसमें फंसाने का पाप करना है। अपने को देशप्रेमी, राजनीतिज्ञ, सेनापति, सैनिक, नेता तथा अनुयायी नामोंवाले कृत्रिम योद्धाओं के दलके रूपमें बनाकर झूठा संतोष कमाना बडी घातक नीति है। यह केवल बातोंसे ही सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं। ऐसी बातों का कामोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वन्तत्रता की प्रदर्शनी करके अंग्रेजों से भारत का लालच नहीं छुडाया जा सकता। जिस क्षण भारतीय स्वतन्त्रता सचाई का रूप धारण कर लेगी, उस दिन अंग्रेजों को भारत के बिना कहे अपना लालच छोड देने में ही अपना कल्याण दीखने लगेगा।

भारत के नेता ५० सालसे कोल्हूके बैल की सी इसी निर्दिष्ट सीमामें चक्कर काट रहे हैं और फिर भी कहते हैं कि हमने बहुत काम कर लिया, हम बहुत आगे बढ गये, हमने देश को बहुत आगे बढाकर एक बडी भारी समरयात्रा पूरी कर ली। परन्तु अभागा भारत देश जहां का तहां है। यदि देशका स्वराज्य इन्हीं पैरों चलता रहा तो अनन्त कालतक अंग्रेजी सरकार देती रहेगी, अनन्त कालतक भारतके नेता लेते रहेंगे और अनन्त कालतक भारत स्वराज्य वंचित रहेगा। इसलिए आज भारतीय स्वतन्त्रता किसी भी नेताको स्वातंत्र्यसंग्रामके स्तम्भरूप मानने को उद्यत नहीं है। भारतीय स्वतन्त्रता अंग्रेजों से अंग्रेजों का दिया हुआ कुछ लेना

नहीं चाहती। उसने यह महा सत्य देख लिया है कि एक राष्ट्रका कल्याण दूसरे राष्ट्र के हाथोंसे होना ही असम्भव है।

कांग्रेस से देश को कोई लाभ नहीं है। वह संस्था जिस काम के लिये बनी है, उस संस्था से उससे अधिक कोई लाभ उठाया भी नहीं जा सकता। कांग्रेस भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी बनाने के उद्देश से बनायी गयी है। वह भारत की नस टटोलने के लिये बनायी गई है। वह भारतीय स्वातन्त्र्य के सेवकों को भूलभुलय्या में डाले रखकर, स्वराज्य का नाम रटाकर दूध के स्थानपर आटा घोलकर पिलाने के लिये बनाई गई है। कांग्रेस का स्वराज्य अश्वत्थामा का दूध है। वह भारतीय मस्तिष्क की उपज नहीं है। वह अंग्रेज मस्तिष्क का आविष्कार है। क्या ऐसी सूरत रखनेवाली संस्था से कुछ दूसरा लाभ उठाया जा सकता है?

जब भारतीय नेता कांग्रेस से लाभ उठाने की बात कहते हैं तब उन का यही मतलब होता है कि कांग्रेस के नाम से राजनैतिक सम्मेलन या सभा-समितियां की जा सकें और पास किये हुए प्रस्तावों के रूपमें भारत का प्रार्थनापत्र ऊची ध्वनि से इंग्लैण्ड में पहुंचा दिया जाय। जब भारतीय विचारक भारतको लाभ पहुंचने देने के लिये बनाई गई विपरीत उद्देश्य रखनेवाली इस कांग्रेससंस्था से भी लाभ उठाने की उत्सुकता दिखाते हैं और अपने को इस से पृथक् रखना नहीं चाहते अर्थात् कांग्रेस का नाम लिये बिना कुछ भी राष्ट्रीय काम करने के लिये अपने को असमर्थ पाते हैं, तब इस से उनके मनकी दयनीय निर्बलतावाली स्थिति दिखाई दे जाती है।

भारत की प्रतिनिधिसभा के रूप में जो प्रतिष्ठा कांग्रेस की कमाई हुई मानी जाती है, हमारे नेता उस प्रतिष्ठा की चमक के धोके में फंस गये हैं। वे समझते हैं कि कांग्रेस ने इंग्लैंड के राजदरबार में भारत का प्रतिनिधित्व करने की योग्यता कमा ली है। इस-लिये कांग्रेस बडी प्रतिष्ठित संस्था है। इन लोगोंने इंग्लैंड के राजदर्बार में भारत के लिये भीख मांगने की योग्यता को बडा महत्व दे दिया है। अपने नेताओं की इस भीख का खप्पर पकडनेवाली मनोवृत्ति को देखकर स्वाभिमानी देशप्रेमी मनोवृत्ति लज्जा अनुभव कर रही है। सचमुच इन लोगों के मन में न तो स्वातंत्र्य के लिये प्रेम है और न भारतीय स्वाभि-मान नाम की कोई वस्तु दिखाई दे रही है। इन लोगों के मन में चार आने वार्षिक का हल्का सा मूल्य देकर खरीदी जानेवाली स्वतंत्रता का लालच घुसा बैठा है।

चार आने की स्वतंत्रता के खरीदारों की लम्बी चौडी सूची देखकर उनके साथ सम्मिलित रहने के लिये इन का जी ललचाता है। सूचनाओं तथा आज्ञा-ओं पर अपनी मोहर लगाकर उन्हें देश में इधर उधर भेजती रहनेवाली कांग्रेस को देखकर हमारे नेता उसे इंग्लैंड से अपनी मांग पूरी करवा सकनेकी योग्यता रखनेवाली एक सुप्रतिष्ठित संस्था मान बैठे हैं। वे ऐसी संस्था के साथ अपना सम्बन्ध जुडा देखकरही अपने स्वतंत्रता की महत्वाकांक्षाके कर्तव्य को पूरा किया समझ रहे हैं। कांग्रेस का भी यही हाल है। वह भी अपने लिये सदा इतनी ही प्रतिष्ठा कमाते रहना चाहती है कि भारत में इंग्लैंड की दी हुई राजनैतिक शिक्षा से उत्पन्न हुई तथा अंग्रेजी कानूनके अनुसार रजिष्ट्री की हुई एक संस्था के रूप में अपने को सदा इंग्लैंड के राजदर्बार में प्रतिनिधिरूप में उपस्थित करती रहे। कांग्रेस की स्वतंत्रता की महत्वाकांक्षा में इस सीमासे आगे बढने की इच्छा और बल दोनों नहीं है। हमारे नेता कांग्रेस की हद को लांघते ही इसलिये घबराते हैं कि कांग्रेस से सम्बन्ध तोडने से सरकारी कानून में रजिस्टर्ड की हुई अर्थात् सरकार की विश्वासपात्र बनी हुई संस्था से उन का सम्बन्ध टूट जाता है।

नये रूप से राष्ट्रगठन करने का विराट् उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेनेवालों को राष्ट्र के सामने सर्वथा भिन्न प्रकार का एक नया लक्ष्य रखना पडता है। उन्हें पूंजी रखनेवाली तथा संगठित

समझी जानेवाली सब कानूनी संस्थाओं से कानूनी होनेरूपी दोष के कारण संबंध तोड देना पडता है। उन्हें तो एकमात्र ईश्वरकी अर्थात् सत्य की शक्ति से शक्तिमान होकर स्वतंत्र रीतिसे स्वातन्त्र्य-संग्रामको चलाना पडता है और सारी प्रतिकूल समझी जानेवाली परिस्थितियोंकी उपेक्षा करनी पडती है। परन्तु भारतीय नेताओंके मनमें इस कामके लिये साहस नहीं है तथा उनका ध्यान भी यहांतक नहीं पहुंच रहा है। यही कारण है कि हमारे नेता कांग्रेस के पुराने सडे हुए नाम से चिपटे रहना चाहते हैं।

आइये इसी प्रसंग मे काँग्रेस के स्वरूप पर भी थोडासा प्रकाश डालें कि उस का जन्म किस स्थिति में हुआ है?

यह बात किसीसे छिपी हुई नहीं है कि शासक और शासितों में परस्पर जन्मवैर या स्वाभाविक शत्रुता होती है और होनी चाहिये। इन में मित्रता होना अस्वाभाविक स्थिति है। इन में मित्रता का अर्थ शासक की ओर से अपनी क्रूरता को छिपाना तथा शासित की ओर से अपने रोष को दुबकाना होता है। इन में मित्रता कभी नहीं हो सकती। परन्तु शासक और शासित दोनों ही दोनों को ठगने के लिये अपनी ओर से इस सम्बन्ध को कडवा न बनने देने का प्रयत्न किया करते हैं। दोनों ओर से इस सम्बन्ध में बनावटी मिठास डालने का प्रयत्न चलता रहता है। क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध बनावटी मिठासतक ही रहता है। शासक तो शासन में मिठास डालकर शासितों की निर्बलताओं से तथा शासित अपने जन्मवैर को दबाकर अपने बर्ताव में मिठास अर्थात् बनावटी नम्रता लाकर शत्रु की कृपाओं से लाभ उठाना चाहते हैं। दोनों अपनी अपनी मिठाससे स्वाभाविक शत्रुता को भुला कर एक दूसरे को ठगने का प्रयत्न करते हैं। शासक लोग शासितोंके मन में अपने शक्तिमान होने का गौरव बैठाये रखना चाहते हैं, इसलिए अपने आपको शक्तिमान दाता तथा उनको असहाय मंगता बनाये रखने की नीति रखते हैं।

जब शासित मांगता मांगता निराशा हो जाता है, तब वह मंगता न रहकर छीननेवाला बननेके उपाय सोचने लगता है। उस समय विद्रोह या मारकाट होने लगती है। इसलिए शासितों को संतुष्ट रखने के लिए उनकी मांग पूरी करते रहने पर ही शासन स्थिर होता है। मांग पूरी करना शासन की अत्यावश्यक नीति है। क्योंकि मांग अधूरी रहतेही शासनपर चोट करने लगती है। मांग मंगता के स्वार्थ से पूरी नहीं की जाती किंतु दाता के स्वार्थ से ही पूरी की जाती है। मंगता अपने स्वार्थ से मांगता है और दाता अपने स्वार्थ से उसे देता है। दाता दयालु नहीं है। वह बडी कंजूसी से देता है। शासक शासितों की निराशा से बडा डरता है। क्योंकि निराशाने सैंकडों साम्राज्यों को एकएक रात में उखाडकर फेंका है। इसलिए शासितों को सदा मंगता रखना और सदा उनकी मांग को छोटा करके रखना, सदा उनसे वादा करते रहना, दातव्य को यथासंभव टालते रहना तथा संबंध टूटने का अवसर आनेसे प्रथम मांग पूरी करके दयालु दातापन का यश कमाकर शासन का जीवन बढाते रहना, यही शासननीति रखनी पडती है।

शासकों को यह बात सदा पता लगानी पडती है कि शासितों के मनमें किस समय किस कारण से निराशा उत्पन्न हुई है? यदि शासकों को शासितों की निराशा का पता न हो सके, तो देश में विद्रोह मच जाता है। विद्रोह के अवसरों को बचाने के लिए शासकों को यह नीति बनानी पडती है कि शासित लोगों को स्वतंत्रता से अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया जाय। इस नीति के कारण ही देश में शासितों के लाभ के लिए नहीं, किंतु अपनेही स्वार्थों के लिए राजनैतिक संस्थाएं बनवानी पडती हैं। ऐसी संस्थाओं से शासित लोगों को कोई लाभ नहीं होता।

कांग्रेस को भी इसी भावनाने जन्माया है। इसीलिए उसका बीजारोपण अंग्रेज हाथों से

हुआ है। देश की वर्तमान शिक्षाप्रणाली का संचालन इस ढंग से किया हुआ है कि इसमें शिक्षा हुए पाए लोग केवल देशके शासनविभाग में से ही अपनी जीविका कमाना चाहते हैं और इसीके लिए शिक्षित होना चाहते हैं। क्योंकि ऐसे लोगों की सहायता के बिना शासकों के शासन का छकडा खडा हो जाता है, इसलिए शासकों को ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त करना पडता है। शासनविभाग इनमें से बहुत से लोगों को स्थान देभी देता है। इन्हीं में से कुछ लोग जो शासन-विभाग में नौकरी करना अच्छा नहीं समझते, किंतु शासक बनना चाहते हैं, वे अपनी शासक-भावना को किसी न किसी प्रकार तृप्त करना चाहकर काँग्रेस जैसी संस्थाओं का नेतृत्व करने लगते हैं। वे जनता को भोला समझकर अपने साथ रखने का प्रयत्न करते हुए उसका नेतृत्व करते हैं। परन्तु जनता स्वार्थ के विषय में भोली नहीं है। वह कभीकभी नेताओं के साथ जाती हुई दीखती तो है, परन्तु वहीं तक जहांतक कि उसका स्वार्थ सिद्ध होने की संभावना होती है। जनता का स्वार्थ पूरी करने की शक्ति जिसकी मुट्ठी में रहती है, वह उसीका अन्तिम साथ देती है। क्योंकि यह शक्ति शासकों के हाथों में रहती है, नेताओं के पास नहीं, इसलिए जनता नेताओं का साथ तो दिखावे मात्रतक देती है। दमन के पधारते ही जनता नेताओंसे पृथक् हो बैठती है।

यह किसी भी स्वराज्यार्थी देशके लिए बडा अपूर्ण संगठन है। देशके नेता लोग इसी प्रकार के अपूर्ण संगठनों के बलपर शासकों के दरबार में अपनी मांग उपस्थित करने के लिए काँग्रेस जैसी संस्थायें बनाया करते हैं। शासक लोग अपने स्वार्थ के लिए कभी कभी इन लोगों की थोडीबहुत मांग पूरी भी कर देते हैं। अपने शासन को स्थिर बनाए रखने के लिये जनता को जितना देना आवश्यक होता है उतना उसे खाद्य पशु के भोजन के समान जनता के नेताओं से मंगवाकर देते हैं। इस व्यवहार से जनता मांग पूरी करनेवाले शासक तथा मांग पूरी करवानेवाले नेताओं की श्रद्धालु होकर दोनों की दास बनती चली जाती है। यही वह लेनदेन है, जो जनता में स्वतन्त्र विचार नहीं आने देता। लेनदेनके साथ आशाका जाल आ जाता है और एक क्षण में मिलनेवाले स्वराज्य में सदियां लगवाता है। इस लेनदेनसे शासितों को कुछ नहीं मिलता। इस से शासन की जड पुष्ट होती चली जाती है।

इस बात को कौन नहीं मानेगा, कि कोई भी विदेशी शासक देश में किसी भी ऐसी संस्था को काम नहीं करने दे सकता, जो उसके स्वार्थपर चोट पहुंचा सकती हो? जिस समय उसे उससे यह डर होगा, वह उसी समय उसको गैरकानूनी घोषित करने में एक क्षण भी नहीं लगाएगा। आश्चर्य है कि यह छोटीसी प्रत्यक्ष बात हमारे नेताओं की समझ में क्यों नहीं आई? इसमें कोई संदेह नहीं है कि काँग्रेस विदेशी शासन को चिर-स्थायी बनाए रखने के अतिरिक्त स्वराज्य प्रसव नहीं कर सकती। इस काम के लिए काँग्रेसने अपनेको ५० साल से वंध्या सिद्ध कर रखा है। परीक्षण की भी कोई सीमा होती है। कांग्रेस उस सीमा को पार कर चुकी है। अब भारत को स्वतंत्र स्वाभिमानी अनरजिस्टर्ड संस्थाओं की आवश्यकता है। अर्थात् व्यक्तिगत पवित्रता रखनेवाले जीवनों की आवश्यकता है, संस्थाओं की नहीं।

काँग्रेसके स्वरूपपर और भी अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

जनसेवक या जनशोषक दोनों प्रकार की सरकारों का यही उद्देश्य रहता है कि वे अपने अधीन जनता को अपने अपने ढंगों से संतुष्ट रखें। जनता की सेवक सरकारें तो जनता की सेवा करके उस जनता का अज्ञान इसलिए हटाती हैं कि कहीं अज्ञान के कारण देशमें असंतोष न फैल जाय।

किंतु अपहारक सरकार से अपनी जनता का अज्ञान हटना नहीं सहा जाता। वह उसे जहां तक अपना वश चले अज्ञान में रखना चाहती है। क्योंकि उसका शासन असंतोष के कारणों से लबालब भरा रहता है। वह चाहती है कि देश असंतोष के कारणों को न जान सके। यदि जनता समझदार हो जाय, तो उसका सरकार पर असंतोष प्रकट करना अवश्यंभावी हो जाता है।

इसलिए उसकी शासनपद्धति में ऐसा षड्यन्त्र रहता है कि, वह देश के अज्ञान (बेसमझी) को स्थाई रखने के लिए देश में कुछ नेतापन का पेशा करनेवाले लोग उत्पन्न कर लेती है। वे सब नेता जनता की मांग को सरकार के पास पहुंच कर जनता की ओर से उन मांगों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। सरकार कभी कभी इन लोगों की एक दो मांग पूरी करके अपने लिए जनता की मांग पूरी करनेवाली होने का यश कमा लेती है। यों इस काम से नेतालोग जनता के प्यारे हो जाते हैं और सरकार उन नेताओं के ऊपर जनता में असंतोष फैलाने का बहाना बनाकर बनावटी कोप दिखाकर जनता में उनका प्यारापन बढाती रहती है। यों मुट्ठीभर नेता समझे जानेवाले मनुष्य सरकारी स्वीकृति से सारी जनता का प्रतिनिधिपना पाकर जनता के विश्वासपात्र बने रहते हैं और जनता उनके पीछे विवेकहीन होकर चलती रहती है।

सरकार केवल इन सब नेताओं को अपने दबाव में रखकर ही सारी जनता को अनायास दबा लेती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेता सरकारके पाले हुए जीव हैं। कांग्रेस भी सरकारी संस्था है। वह जनता की वस्तु नहीं है। कांग्रेस को भारतीय जनताने नहीं बनाया। किंतु कांग्रेसही जनता में से अपने अनुयायी भरती करती फिरती है और अपने को भारत में फैलाना चाहती है। कांग्रेस का स्वरूप देशने नहीं बनाया, किंतु यह देशके सिर पर एक बोझा लादा गया है।

सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह शासितों में से कुछ विरोधियों को अपने विरोध में इसलिए खडा कर ले कि जिससे वह देश की मनोदशा को जानकर देशके मनको अपने अधिकार में रख सके। अर्थात् सरकार जिस ढंग से चाहे, उस ढंग से देशसे सुचवाती रहे। सरकार डरती रहती है कि कहीं देशमें हमसे पूर्ण स्वतन्त्र रहने की स्वतन्त्र विचारधारा न फूट निकले। इसके लिए वह देशको मनही मन नहीं सोचने देती।

वह उसे सभासमितियों में बुलवाकर और अखबार पढवाकर सुचवाना चाहती है। सरकार देश को अपने लाभ के अनुसार सोचने के लिए विवश करने का गुप्त भाव मनमें रखकर जनमतको इसी अनुसार बनाते रहने के लिये संवादपत्रों तथा जनता की संस्थाओं के उगने के क्षेत्र तयार करती रहती है। क्योंकि ये सब संवादपत्र तथा ये सब संस्थायें सरकारी कानूनों से बंधी होती है, इसलिए इनका कहना सरकार का ही कहना होता है। जो सरकार नहीं चाहती, वह ये नहीं कह सकते। इस प्रकार समाचारपत्रों तथा संस्थाओं के पीछे चलनेवाली जनता सरकारकेही संकेतोंपर सोचने लगती है। यों चाहे देखने में ये संवादपत्र तथा संस्थायें सरकार के विरोधी ही दीखती हों, परंतु ये सब देशकी जनता के मनको सरकार की मुट्ठी में रखने में सहायक होते हैं। ये सब जनता के मुंह से मांग और शिकायत कराकर जनता को यही समझाते हैं कि मांगना और शिकायत करना ही जागृति है। ये सब सरकारी कार्यवाही का विरोध करके तथा जनता की ओर से शिकायत तथा मांग उपस्थित करके सरकार को ऐसा सुअवसर देते रहते हैं कि सरकार जनता की मांग पूरी करके जनता का कृपालु मालिक बन जाती है। वस्तुतः इनसे जनता की कोई सेवा नहीं बन पडती। ये केवल सरकार का प्रभाव विस्तार करके उसी की सेवा करती हैं। यह भी कह सकते हैं कि सरकार इनसे केवल अपनी

सेवा कराती है। इसीलिए सरकार इनको घड़ती है।

यदि समाचारपत्र तथा जनता की संस्थायें न रहें, तो जनता का असन्तोष शांत करने में सरकार अज्ञान में रहकर विपत्ति में फंस सकती है। उसे इनके बिना एक क्षण भी शासन करना असंभव हो जाय। जनता की मांग जनता के विश्वासपात्रों के द्वारा आए इसीमें सरकार का स्वार्थ रहता है। सरकार इनसे अपने विरुद्ध दो-चार बात सुनकर भी अपने साथ देशकी जनता के मांगने तथा मांग पूरी करनेवालेके सम्बन्धको स्थिर रखने के लिए इन्हें हृदय से चाहती रहती है। कभी कभी सरकार इन्हें जेल आदि का दण्ड भी देती है। वह दण्ड इन्हें हानि पहुंचानेवाला मानकर सम्मानित करने के लिए नहीं देती।

किंतु इन्हें जनता का प्यारा बनाए रखने के लिए देती है, जिससे कि अपने शासनचातुर्य में लाभ उठाया जा सके। सरकार अपनी चतुरता से सार्वजनिक असन्तोष को मुट्ठीभर नेताओं में इकट्ठा कर लेती है। फिर वह जब चाहती है तब इन्हीं को दबाकर देशव्यापी असन्तोष को दबा लेती है। सरकार इनके द्वारा आनेवाली मांगों को स्वीकार करके अपने दो काम बना लेती है— एक तो इनको देश का विश्वासपात्र नेता बनाए रखती है, दूसरे अपने आपको प्रजा का प्रेमी धर्मावतार तथा मांग पूरी करनेवाली सरकार सिद्ध कर लेती है। इस प्रकार सरकार तथा समाचार-पत्र और सार्वजनिक संस्था नामके उसके दो अनुजीवी जनता की मनोदशा को अपने लाभ का साधन बनाने का काम करते रहते हैं।

इसका एक और भी उदाहरण लीजिए कि कांग्रेसने सरकार के विरुद्ध कानूनभंग की लड़ाई छेड़ दी। सरकारने कांग्रेस को अपने हितों की सीमा से बाहर पैर रखता देखतेही उसे, गैर-कानूनी बनाकर कांग्रेसवालों को जेल में ठूंस दिया। बहुत से कांग्रेसवाले यह कहकहकर जेलों में चले गए कि जेलों को भर देनेसे ही स्वराज्य मिल जायगा। बाहरवालों में से कुछ तो कांग्रेस से पृथक् हो गए तथा कुछ कांग्रेस का काम चलाते रहे। उन्होंने कांग्रेस का काम रुकने नहीं दिया। बाहर से देखने में ऐसा प्रतीत होने लगा कि कांग्रेस का आन्दोलन असफल हो गया।

इस कारण से कांग्रेसने भी लड़ाई बन्द कर दी। यदि सरकारने भी कांग्रेस को हारे हुए शत्रु के रूप में समझ लिया होता, तो सरकार को अपने शत्रुको नष्ट कर डालने की अपनी सफलतापर संतोष मानना चाहिए था। यदि सरकार सचमुच कांग्रेस को शत्रु समझती होती, तो उस शत्रु को एक बार नष्ट करके फिर दुबारा उसपरसे प्रतिबंध (पाबन्दियां) उठाकर उसे फिर जीवित करके मरे हुए शेर की हड्डियों में जान फूंकने की कौन-सी आवश्यकता थी? क्या ये सब बातें यह नहीं बता रही हैं कि सरकार कांग्रेस जैसी कानूनी संस्था का रहना नहीं चाहती। किंतु वह कांग्रेस को जीवित रखना अपने लिए लाभदायक समझती है।

सरकारने देखा था कि 'कांग्रेस' नामके गैरकानूनी कर दिए जानेपर भी कांग्रेस का काम नहीं रुक सका। सरकारने देखा कि इस काम को रोकना देशके सोते हुए नाग को छेड़नेके बराबर है। यह काम विदेशी सरकारों के वश में नहीं है। जब सरकार को देशकी अन्तरात्मा को इस प्रकार ललकारने में अपना अनिष्ट दीखने लगा तब सरकारने देश का ध्यान दूसरी ओर खींचने में ही अपना कल्याण देखा। क्योंकि ऐसे कानून की उपेक्षा करनेवाले कामों का अपने अधिकारक्षेत्र में होते रहना उसके लिए शुभ लक्षण नहीं था, प्रत्युत अपशकुन था। इसका सरकार को एकही इलाज सूझा कि जिस तरह हो कांग्रेसपर से पाबंदियां उठाकर भारत के इस स्वतन्त्रता के भूत को फिर अपने पींजरे में बंद कर ले। उसे सूझा कि कांग्रेस को कानूनी बनाकर शत्रु को मित्र

या विरोधी को शरणागत बना लिया जाय और स्वतंत्र भारत के बीज को भारत में न जमने देकर इसके थामले में दासभावना का विषैला पौदा बोया जाय।

कांग्रेसवालों के पास इस बातको देखनेवाली आंखें होनी चाहिए थीं कि कांग्रेसके गैर-कानूनी होनेपर भी देश में देशसेवा के कार्य को पहले से अधिक अच्छी तरह और अधिक उत्साहपूर्वक चलाने के लिए देशसेवक बराबर आगे आ रहे थे। कांग्रेस का गैरकानूनी होना कोई विघ्न या अयोग्यता नहीं हो गयी थी। यदि कांग्रेसपर से सरकारी प्रतिबंध और भी दस साल तक न हटाए गए होते, तो क्या भारत से देशप्रेम सदा के लिए भाग जाता? यदि आन्दोलन चलता रहता, तो देशकी पृथक् बैठने की मनोवृत्ति हटने की संभावना थी। कांग्रेसवालों के मन में इस बात के लिए थोडीसी भी व्याकुलता होने का कोई उचित कारण नहीं था।

थोडी देर को मान लें कि इस पाबंदीसे देश से देशप्रेम भाग जाता, तो सरकार की इससे क्या हानि हो जाती? यदि भारत में देशप्रेम न रहता, तो इससे तो सरकार का लाभ ही होता। इससे उसकी भारतनिवास की आयु और लम्बी हो जाती। फिर इस डूबी हुई कांग्रेस को कानूनी बनाकर अपने मुरदे शत्रु में दुबारा जान फूंकने के लिए सरकार को इतनी चिंता क्यों हो गयी थी? इस परिस्थितिमें यह निश्चय करना पडता है कि इस पाबंदी को हटाने में सरकार का ही लाभ छिपा हुआ था। क्योंकि कांग्रेस का वर्तमान ढांचा सरकारकेही स्वार्थों के अनुरूप बनाया गया है।

एक गैरकानूनी संस्था की कार्यवाही का बेरोकटोक चलना भारत में सरकार के न रहने का बीज बन गया था। परन्तु साथही इसपर से पाबन्दियों को हटा लेने का उचित अवसर भी सरकार के हाथ नहीं आता था। क्योंकि उसने स्वयंही उसपर राजाज्ञा (आर्डिनेंस) लगाकर उसे गैरकानूनी बनाया था। जिस अपराध के कारण गैरकानूनी बनाकर दण्ड दिया गया था, वह जबतक अपनी ओर से अपराध छोडकर सरकार की शरण में न आए तबतक उसे कानूनी बनाने का भी कोई रास्ता सरकार के हाथ नहीं आ रहा था। परन्तु अपने स्वार्थ के लिए या यों कहिए कि अपने को जिंदा रखने के लिए कांग्रेस को तो सरकार को कानूनी बनाना ही था। सरकार तब एक विराट् संकट में फंस चुकी थी।

इस संकट में पडी हुई सरकार के पास एकही रास्ता था, कि किसी युक्ति से कांग्रेस और जनता की ओर से प्रतिबंध उठाने की मांग मंचवाली जाय, तो प्रतिबंधों को भी शान के साथ उठाया जा सकता है और अपने अस्तित्व भी बच सकता है। देश में इस मांग को मांगनेवाले भिख मंगे तयार थे। देश के समाचारपत्रों ने कांग्रेस की ओर से मांगना प्रारम्भ कर दिया। सरकारने कांग्रेस तथा संवादपत्रों को इसी दिन के लिए सिखापढाकर बढाचढा रखा था। दोनों इस काम के लिए तयार थे। अवसर आतेही दोनों मैदान में आ गए। कांग्रेसनेताओंने बैठक पर बैठक बुला बुलाकर, अपने ढंग से कुछ सिर झुकाकर, पहले चौथाई, फिर आधी, और अन्त में पूरी हार मानकर, कानूनभंग करना छोड कर, शासन-संस्थाओं में सहयोग करने का वादा करके, प्रतिबन्ध उठाने का आग्रह प्रकट कर दिया। कुछ कांग्रेसनेताओंने तो वायसराय के पास प्रार्थना-पत्र तक भेज डाला। कांग्रेसपर से पाबन्दियां उठा ली जांय, इस बात को लेकर समाचारपत्रों-वाले अधीर होकर सरकार के पीछे पड गए। सरकार की जानमें जान लौट आई। वह तो इस शुभ मुहूर्त को चाह रही थी और ताक रही थी। इस प्रकार उसने प्रतिष्ठा (शान) के साथ कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध उठा लिए और कांग्रेस तथा देश की जनतापर कृपालु होनेवाले अपने आसन को फिर बिछा लिया।

क्योंकि कांग्रेस के कानूनी होने का अभिप्राय अंग्रेजों के स्वार्थों का अविरोधी बन जाना है; इस लिए कांग्रेस का कानूनीसंस्था होना भारतीय स्वराज्य का घोर अपमान करनेवाली स्थिति है। जबतक देश का नेतृत्व करनेवाली संस्थाओं के कानूनी चोले उतारकर नहीं फेंके जायंगे, तबतक कांग्रेस जैसी संस्थाएं भारत के स्थानपर अंग्रेजी सरकार की सेवा करनेवाली संस्था रहेंगी।

इस घटनाने हमें यह बताया कि भारत में अभीतक स्वतन्त्रता की सामूहिक आग नहीं सुलगी है। अभीतक भारत स्वतंत्रता से खिलवाडकर रहा है। वह अभीतक स्पष्ट रूप से अंग्रेजों के हाथों में नाच रहा है और उनके हाथों से गिरनेवाले टुकडे को ओर ताक रहा है। अभी तक भारतीय स्वाभिमान या स्वतन्त्रता की विभूतिने अपने आपको सामूहिक रूप में प्रकट नहीं किया है। भारत अंग्रेजों की कृपा की दी हुई स्वतन्त्रता चाहता है। वह स्वतन्त्रता को अपने बाहुबल से अपने पास आने के लिए विवश करना नहीं चाहता। इस लिए हम भारतकी वर्तमान राजनैतिक अभिलाषा को स्वतन्त्रता की अभिलाषा न कहकर लुटेरा बनने की इच्छा कहना चाहते हैं। यह इच्छा दासता के दो रूपों से पहला लुटनेवाला रूप त्यागकर दूसरा लूटनेवाला रूप धारण करने की इच्छा है। जो इस इच्छाको स्वतन्त्रता कहना चाहते हैं और इसीकी पूर्ति के लिए दौडधूप मचाना चाहते हैं, वे सदा दासोंके दास बने रहेंगे, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

आइए अब देखें कि कांग्रेस की ओरसे प्रतिबन्ध उठवाने की मांग के पीछे क्या क्या भाव काम कर रहे थे? कांग्रेस की ओरसे प्रतिबन्ध उठानेकी चिल्लाहटके पीछे यह भाव था कि वह कांग्रेस केवल सरकार के स्वीकार किए हुए जनहितों को ध्यान में रखनेवाली और सरकार की ओर से विरोध करने का परवाना लेकर उसकी कार्यवाही का विरोध करनेवाली संस्था बनी रहना चाहती थी।

आइए अब यह देखें कि यह चिल्लाहट कौनसे कांग्रेसवाले मचा रहे थे? जो वीर लोग सरकार की गैरकानूनी बनानेवाली राजाज्ञाओं(आर्डिनेंसों) की उपेक्षा करके कांग्रेस का काम चलाते लेजा रहे थे, निश्चयही इस चिल्लाहटको मचानेवाले नहीं थे। यह चिल्लाहट उन कांग्रेसवालोंने मचायी थी, जो गैरकानूनी कांग्रेस को अपनाने का साहस नहीं कर सकते थे। क्योंकि गैरकानूनी कांग्रेस की परिस्थिति उन्हें डरावनी दीखती थी। उसमें प्रार्थना, प्रस्ताव, व्याख्यान आदि उनकी रुचिका कोई काम नहीं हो सकता था। इसके विरुद्ध कानूनी कांग्रेस में उन्हें ये सब सुविधा थीं। वह बिचारी इनसे अधिक कुछ कर भी नहीं सकती थी। कांग्रेस को कानूनी बनाने में उत्साह दिखानेवाले नेताओं की मनोवृत्ति को स्पष्ट रूपमें समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार एक तो सरकार के स्वार्थ से तथा दूसरे सदा मंगता रहना चाहनेवालों के स्वार्थ से कांग्रेस को कानूनी चोले में आना पडा। जब कांग्रेस के ऊपर से प्रतिबंध उठाने के रूप में सरकारने कांग्रेस को सरकारी स्वीकृतिरूपी छिनी हुई वरदी फिर पहनने को देने की कृपा की, तब उसे भारत के प्रार्थनाप्रिय नेताओं ने बडे गौरव के साथ फिर एक क्षणका विलम्ब न करके भारतीय स्वाभिमान की ओर पीठ फेरकर पहन लिया और फिरसे अपने को उसी ५० साल पुरानी वर्दीवाली कांग्रेस के रूपमें संगठित कर लिया। उसने बिजली की गति से छपी हुई सूचनायें इधर-उधर भेजकर देश को इन ध्वनियों से गुंजार डाला कि मेम्बर बनाओ! कमेटियां बनाओ! संगठित हो जाओ! और सभा करने लगो!

इससे यही सिद्ध होता है कि केवल सरकारही कांग्रेस को गैरकानूनी रहना नहीं चाहती, किंतु कांग्रेस भी कांग्रेस को गैरकानूनी देखना नहीं

सहती। वह सरकारी स्वीकृति के विना कोई भी काम करना नहीं चाहती।

इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जब कांग्रेस गैरकानूनी बनती है तब सरकारही उसे गैरकानूनी बनाती है और जब कांग्रेस कानूनी बनती है तब सरकारही उसे कानूनी रूप देती है। दोनों अवस्थाओं में सरकार ऐसा करके जनमत को अपने दबाव में रखने के लिए अपनाही स्वार्थ सिद्ध करती रहती है। इस प्रकार कांग्रेस जैसी संस्था जनता को सरकार की मुट्ठी में रखवाने के लिए जन्मती है और जीवित रखी जाती हैं। खरी बात यह है कि कांग्रेस सरकारी शासनकाही एक अंग है।

उपर्युक्त उद्देश्य रखनेवाली कांग्रेस भारत की बुद्धि तथा भारतीय भावना की उपज नहीं है। जिस अंग्रेज महाशय ने सन १८८५ ईसवी में कांग्रेसकी कल्पना की थी, उस महाशयकी अप्रतिष्ठा न करते हुए भी हम इतनी बात कह देना अपना कर्तव्य समझते हैं कि मिस्टर एक्टेह्वियन ह्यूम इण्डियन सिविल सर्विसके एक अवसरप्राप्त सदस्यने कांग्रेस की योजना बनाते हुए अपने गुणमुग्ध भारतीय मित्रों के प्रति सहानुभूतिपरायण अंग्रेज मनोवृत्ति का ही परिचय दिया था। उन्होंने देखा था कि जो राष्ट्र अंग्रेजों के तुल्यही सरकारी पदोंपर योग्यता से काम कर सकनेवाले राजाओं सिविलियनों और वैसेही बडे से बडे योग्य मनुष्यों को उत्पन्न कर सकता है, उस राष्ट्र का यह न्यायोचित अधिकार और दावा है कि वह अपने देशके शासन में उचित भाग ले।

उन्होंने देखा था कि भारत के शासन में भारत का इंग्लैंड का हिस्सेदारी का संबंध नहीं था, किंतु भारत का इंग्लैंड की दयापर निर्भर होने का संबन्ध था। इसी कारण भारत इंग्लैण्ड के ऐसे बर्ताव का पात्र हो गया था जो कि अनुचित प्रतीत हो रहा था। उन अनुचित बर्तावों के सुधार के लिए उनकी बुद्धि में जो एक एकमात्र संभव प्रतिकार सूझा वह यह था कि भारत के पढे लिखे मनुष्यों को इस उद्देश्य से संगठित किया जाय। उनकी दृष्टि में ऐसे संगठन के मार्ग में ये रुकावट थी (१) भारत की जनता एक दूसरे से न मिल सकनेवाले भिन्नभिन्न संप्रदायोंमें बंटी हुई है। (२) भारतवासी मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक गुणों में घटे हुए हैं।

इसलिए भारतीय चरित्र से इन दोनों कमियों को हटाना कांग्रेस जैसी संस्थाके स्थापित करनेका उद्देश्य हो गया था। इस दृष्टिसे कांग्रेस का मूलाधार यह भावना थी (१) कि भारत की परस्पर न मिल सकनेवाली भिन्नभिन्न जातियों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर लिया जाय। (२) ऐसे संगठित किये हुए राष्ट्र को मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से उन्नत किया जाय। (३) इंग्लैंड तथा भारत के सम्बन्ध में भारत के लिये हानिकारक तथा अन्यायपूर्ण अवस्थाओं का सुधार करके दोनों देश में 'स्थायी संबंध' कर लिया जाय।

उन अंग्रेज महाशय के लिए अंग्रेज मनोवृत्ति को लेकरही सोचना स्वाभाविक था। यदि वे अंग्रेज सज्जन अपने को भारतीय स्थिति में रख सके होते और भारतीय मनोवृत्ति, भारतीय स्वाभिमान तथा भारतीय अनुभव को लेकर सोचते, तो उनका विचार इससे सर्वथा विपरीत प्रकार का होता। परन्तु उन्होंने तो भारतीयों को विचार-पङ्गु समझकर उन्हें अपना बहुमूल्य विचार उधार दे देने की कृपा की थी। उन्होंने भारतीयों के आपस में झगडने के स्वभाव को अपनी कल्पना में एक स्वतःसिद्ध पूर्ण सचाई मान लिया था। अर्थात् उन्होंने भारतवासी न होकर भी अपनी ओर से भारतीय मनोवृत्ति का एक काल्पनिक चित्र बना लिया था।

भारतवासियों की मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दुर्बलता को उनका जातिस्वभाव मानकर, उनके लिए यही कल्याणकारी मार्ग समझा था कि वे सबसे पहले तो आपस में झगडने का स्वभाव छोडें और फिर धीरेधीरे एक जाति

के रूप में संगठित होकर मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा अन्त में राजनैतिक उन्नति की चरम अवस्था को प्राप्त करके इंग्लैंड के साथ मैत्री स्थापित करने की योग्यता प्राप्त कर लें, इसी में उनका कल्याण है।

यों उन महाशय की दृष्टि से भारतीय मनुष्य के मनुष्यजीवन का चरम लक्ष्य इंग्लैंड के साथ मैत्री स्थापित करनाही था। वे महाशय भारतीय की दृष्टि में इससे बढकर भी कोई मनुष्यता की स्थिति हो सकती है? यह बात नहीं समझ सके। उन महाशय के मुखारविंद से कांग्रेसने भारतीय मनुष्यता का जो चरम लक्ष्य उनकी बोली में ग्रहण कर लिया था, उस लक्ष्यने आजतक इंग्लैंड के साथ भारत के स्थायी सम्बन्ध जोडने से अधिक कोई काम नहीं किया।

इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए भारतवासियों को आपस की कलह मिटाने तथा मानसिक, नैतिक और राजनैतिक उन्नति करनेका उपदेश किया गया था। इस बातको हम अवश्य मानेंगे कि आपस में कलह तथा मानसिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक अवनति मनुष्यता के मार्ग की रुकावट हैं। परन्तु हम पूछते हैं कि इन रुकावटों के हट जानेपर जब भारत में पूर्ण मनुष्यता का विकास होगा, तब क्या भारत सारे संसार को छोडकर इंग्लैंड से मिलने का आग्रह रख सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

कांग्रेस को उत्पन्न करनेवाली प्रतिभा के मनमें मनुष्यता की सेवा की भावना नहीं थी। वह भारतीयों को भ्रममें डालकर इंग्लैंड का स्थाई लाभ करना चाहती थी। यदि उसके मनमें मनुष्यता की सच्ची सेवा करने का विचार होता, तो वह इस सत्यको देखनेवाली आंखों को कहां खो देती? कि जहां अन्याय किया जा रहा और उसे सहा जा रहा है, वहां अन्यायी तथा अन्यायपीडित दोनों मनुष्यता से हीन और पतित हैं। यदि उन महाशय की दृष्टि में अन्यायपीडित दया तथा सहानुभूति का पात्र था, तो यह बात समझ में नहीं आती कि उन्होंने अन्यायी को अपनी सहानुभूति का पात्र क्यों नहीं बनाया? उन्होंने अन्याय के अवसरपर सहानुभूति दिखाने के लिए उसे क्यों नहीं समझाया? यदि उन्होंने भारत का उद्धार इंग्लैंड के साथ सम्बंध को स्थाई कर लेने से समझा था, तो उन्होंने अन्याय करनेवाले इंग्लैंड का उद्धार न्याय की दृष्टि से भारत के साथ स्थाई सम्बन्ध जोड लेने में क्यों नहीं समझा?

जिस सज्जनने केवल सहानुभूति तथा दयासे प्रेरित होकर भारतीय कांग्रेसस्थापना के लिए अपना अमूल्य उपदेश भारतीयों को दिया था, उन्हीं सज्जनने वैसीही दया और वैसीही सहानुभूति से प्रभावित होकर अपने देशवासियों को भी भारतीयों से मिलकर रहने के अभिप्राय से वैसीही एक इंगलिस्तानी कांग्रेस स्थापित करने को कहकर उस देश में अपनी हंसी क्यों नहीं उडवाई?

यदि वे सज्जन अपनी अंग्रेज मनोवृत्ति को सच्ची मनुष्यता की सेवा के कल्याणकारी मार्गपर चलाना चाहते होते, तो उनका यह उपदेश भारतीयों को न दिया गया होता। किंतु अपनेही देशवासियों को दयनीय पतित अवस्था में देखने के कारण उन्हीं के प्रति दिया गया होता। तब इस उपदेश का रूप किसी औरही तरह का होता और तब वह उपदेश सत्यनिष्ठा की भाषा में होता, तथा चित्ताकर्षकभी होता। जब कि उन सज्जनने यह सब नहीं किया तब उनके मनका अभिप्राय हमें स्पष्ट दीख गया कि वे अपने देश को दूसरे देश के शासक के गौरवपूर्ण आसनपर बैठा हुआ देख रहे थे। अर्थात् वे सज्जन अपने देश को विजेताके ऊंचे आसनपर बैठा देखकर अपने देशवासियों को सौभाग्यशाली समझ बैठे थे। उनके मनमें केवल अभागे भारत को ही इंग्लैंड की कृपा के प्रार्थी रूप में देखने की तथा भारत के मन में इस कृपा को प्राप्त करने की योग्यता

पाने की उच्चाकांक्षा उत्पन्न करने रूपी महत्त्वपूर्ण कर्तव्य को पालन करने की चिन्ता उत्पन्न हो गई थी।

इसी लिए तो उन्होंने भारत के बिना मांगे भारत को यह मनोवृत्ति दी कि भारत बडा अभागा है, वह आपस में झगडता रहता है। सैकडों भागों में विभक्त है। इसलिए उसे संगठित होकर मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक शिखर पर चढकर इंगलैंड से स्थाई सम्बन्ध कर लेना चाहिए। भारत के उस समय के अंग्रेजी पढे लिखे सज्जनोंने उस सज्जन की दी हुई इस मनोवृत्ति को गौरव के साथ अपना लिया था। परन्तु उसके भीतर जिस सत्य को छिपा लिया गया, उसे आज हम भारतीयों को अपनी आंखों के सामने निम्न प्रकार ले आना चाहिए।

यदि कोई मनुष्य मनुष्यता की सेवा करना चाहता हो और उसमें वस्तुस्थिति का सामना करने का सत्साहस हो तो वह तत्काल यह बात समझ सकता है कि किसी भी मनुष्य को अपनी सहानुभूति अपने देश से बाहर ले जाकर दिखाने का कोई भी उचित कारण नहीं होता। किसी भी मनुष्य को दूसरे राष्ट्र को मार्ग दिखाने या उसे उन्नत करने का अधिकार नहीं है। जिस मनुष्यको इस प्रकार का अधिकारीहीन प्रयत्न करता हुआ देखो समझजाओ कि वह पददलित राष्ट्र को सदा के लिए पददलित तथा सहानुभूति या कृपा का पात्र बनाए रखने की चतुराई लडा रहा है। अनधिकार चर्चा करनेवाला मनुष्य चाहे,तो सहानुभूति करता हो या आक्रमण करता हो, ये दोनों बातें निर्बल के मनपर एक जैसा प्रभाव डालती हैं। ये दोनों उसे निर्बल बनाती हैं। ऐसी अनधिकार चर्चा करनेवाले परदेशी को किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र को यह उत्तर देना चाहिए— कि 'महाशय! आप कृपा करके अपने घरको लौट जाइये। और वहीं जाकर समझाइए'। परन्तु हमारे देश के शिक्षित समझे जानेवाले देशवासियोंने उन महाशय को ऐसा खरा यथार्थ उत्तर न देकर कर्तव्यमूढ होकर उनकी बातको वेदवाक्यों के समान माना और उसीके संकेतपर नाचना प्रारंभ कर दिया। वे उन महाशय की दी हुई मूर्छित करनेवाली मात्रा को पीकर आंख बन्द करके गहरी नींद में पडकर अपने लिए सोचने तक का कष्ट उठाना बन्द कर बैठे। वे भावना भेजनेवाले के लिहाज में आ गए और बाहर से आई हुई भावना को अपने तन्द्राशील मस्तिष्क में भर बैठे। उन्होंने अपनी समझ में इसी बात में स्वराज्य की सीधी पगडी पकड ली। उनकी दृष्टि में स्वराज्य का अभिप्राय यही था, कि उन जैसे अंग्रेजी पढे लिखे लोगों का राज्य हो जाय। उन्होंने उस समय अपने मन में जो बातें बैठाई थीं, वे ये थीं—

'अंग्रेज लोग बाहर से आकर हमारे देशवासियों पर शासन क्यों करें? क्या हम लोगों में उन जैसी शक्ति तथा योग्यता नहीं आ गई है? अब हमें उनके साथ हिस्सेदारी का हाथ बढाना चाहिए। हो सकता है कि वे हमें संपूर्ण अधिकार न दें, परन्तु किसी भी वे अधिकार का बहुतसा भाग तो अवश्य देंगे।'

शासक बनने की उच्चाकांक्षाने तबके विचारे भारतीयों को सचाई का दर्शन करने से वंचित कर दिया था। वे यह नहीं देख सके कि किसी दूसरे राष्ट्र से शासित होना, जिस प्रकार दासता है, इसी प्रकार दूसरे राष्ट्र से नियुक्त होकर शासक बनना भी तो दासताही है। शासितपर चाहे अंग्रेज शासक शासन करें या अंग्रेजों से नियुक्त अंग्रेजी पढे भारतीय शासन करें वह भी दोनों अवस्थाओं में दास है। देख लीजिए कि शासन करना किसे कहते हैं? मूर्ख जनता की निर्बलता से लाभ उठाते रहना ही शासन करने की खरी परिभाषा है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए जो उपाय बताया गया था, वही उपाय भारतीय स्वराज्यवादियों के मस्तिष्क में घुस बैठा। यह

स्वराज्य ऐसा स्वराज्य था, जो पूर्ण रूप से भारत तथा इंग्लैंड के स्थायी गठ जोडे के ऊपर अवलम्बित था। इंगलैंड के साथ भारत के स्थाई संबंध स्थापित करने का यह सुपना आगे चलकर विकसित होता गया और इसने कभी तो औपनिवेशिक शासन (डोमिनियन स्टेट्स) कभी स्वराज्य और कभी पूर्ण स्वराज्य का नाम ओढ ओढकर अन्त में कांग्रेस को गोलमेज में अपने प्रतिनिधि भेजने का रास्ता तक दिखाकर छोडा।

अब भारतीय स्वतन्त्रता यह पूछना चाहती है कि यह एकपक्षीय (इकतर्फा) डिगरी भारतवासी के ऊपरही क्यों कर दी गई कि वह इंग्लैंड से स्थाई सम्बन्ध करने के लिए इंग्लैंडकी निरादरपूर्ण उपेक्षा के रहते हुए भी अपने सम्बन्ध जोडनेवाले हाथ को आगे और आगे बढाता जाय ? स्थाई सम्मेलन होना दोनों ओर की इच्छा से होता है। उभयपक्षीय इच्छा के विना यह बात असंभव हो जाती है। फिर भी उन महाशयने इसी असंभव बात को संभव बनाने के लिए भारतीयों को अपना सर्वस्व लगाकर, आपस में संगठित होकर इंग्लैंड की मैत्री मांगते रहने का उपदेश दिया। संसार में और भी तो राष्ट्र हैं। उन राष्ट्रों में भी तो मनुष्य रहते हैं। उन सबसे पृथक् करके मैत्री के लिए इंग्लैंडकोही छांट लेने का कौनसा कारण उन महाशय को दीखा ? इस कारणमेंही उनका भारत को भूलभुलय्या में डालकर इंग्लैंड का क्रीत दास बनाने की योजना छिपी हुई है। जिसे तत्कालीन भारतीय स्वराज्यवादी नहीं पहचान सके।

यदि भारत इस मित्रता का लालचकर बैठे, तो क्या फिर वह दूसरे राष्ट्रों से मित्रता रख सकेगा ? उस समय तो निश्चयही इंग्लैंड का शत्रु-मित्र भारत का शत्रुमित्र बन जायगा। तब भारत को इंग्लैंड की आज्ञा के विना किसी भी राष्ट्र के साथ सम्बन्ध स्थापन करनेके अधिकार से वंचित रह जाना पडेगा। कांग्रेस गत ५० वर्षों से जिस स्वराज्य के लिए हाथपैर फैंकर ही है, वह भारत को कुछ कृपाओं के बदल में इंग्लैंड के चरणों में बेच देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब यदि भारत अपने भूल को सुधारना चाहे, तो भारत का केवल एक अधिकार है कि वह अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार को चालू न रहने दे। भारत को अपने दुर्भाग्य के लिए अपनेकोही उत्तरदायी मानना चाहिए। यह भारत की ओरसे बडी अनुचित बात होगी, यदि भारत अपने दुर्भाग्य के लिए अंग्रेजों को उत्तरदायी बनाएगा और उसके बदले में उनसे कुछ मांगेगा। इंग्लैंड को अपने दुर्भाग्य का उत्तरदाई बनाना अपने दुभाग्यके सच्चे कारण को न समझना, उसे न हटाना तथा जहां कारण नहीं है वहां टकराना है। यदि भारत इंग्लैंड के साहूकारसे पिंड छुडाना चाहे, तो न तो उससे अस्वाभाविक मित्रता जोडने के लिए हाथ बढाना चाहिए तथा न उससे शत्रुता करनी चाहिए। क्योंकि इंग्लैंडने भारत को अपने अधिकार में लेकर केवल भारत का वह नियन्त्रण स्वीकार किया है, जो कि उसने तब अपनी मूर्खतासे विदेशियों को अपने ऊपर सवार हो जाने के लिए दे रखा था। इंगलैंड इस देश के अधिकार को अपने हाथ में रखकर आज भी उससे अधिक कुछ नहीं कर रहा है, जिसके लिए भारतने उसे अनुमति दे रखी है।

इंग्लैंड सुषुप्त भारत के साथ चाहे, जैसा बर्ताव करता रहे, परन्तु उसमें जागृत भारत से अर्थात अपना अधिकार समझनेवाले भारत से शत्रुता करने की शक्ति नहीं है। यदि विदेशी शासन से भारतपर अत्याचार होता हुआ समझा जा रहा है, तो इस अपराध का अपराधी स्वयं भारत है। यदि भारत अब इस अत्याचार से बचाना चाहे तो उसे अपनी पिछली भूल स्वयंही सुधारनी पडेगी। इंग्लैंड से इस भूल को सुधारनेके लिए कहना अपनी भूल न छोडने की इच्छा मानी जायगी। इंग्लैंडने भारत के ऊपर न तो कोई अत्याचार

किया था और न वह बिचारा कर ही सकता था। आज भी इंग्लैंड न तो भारत की कुछ सहायता ही कर सकता है और न वह भारत के मार्गमें कोई विघ्न डाल सकता है। यदि इंग्लैंडने किसी की कोई हानि की है, तो उसने अपनी ही हानि की है। इंग्लैंडने भारत से जो मनुष्यहीन बर्ताव किया है, इससे उसने मनुष्यता के इतिहास में से अपना नाम कटवा लिया है।

अब पूर्ण निरपेक्ष दृष्टि से विचार करनेपर यही निर्णय देना पडता है कि इंग्लैंड के साथ भारत का पूर्ण उदासीनताका सम्बन्ध होना चाहिए। भारत इंग्लैंड के प्रति पूर्ण उदासीनता बरतने लगे, अर्थात् भारत यह समझने लगे कि अंग्रेजी सरकार भारत में नहीं है, यही भारत के लिए सच्चा स्वराज्य होगा। यदि भारत में अंग्रेजों की देशव्यापी उपेक्षा होने लगे, तो यह लाखों युद्धों से बडा युद्ध हो जायगा। यही सत्य और अहिंसा का युद्ध होगा। यदि भारत सच्ची उपेक्षा का अस्त्र पकड ले, तो अंग्रेजों को इस भारतीय उपेक्षा में ही अपनी कूच का डंका सुनाई देने लगे। किसी को अपने चित्त से उतार देना संसार की सबसे बडी मार है, जो कि एक सभ्य राष्ट्र किसी दूसरे अन्यायी राष्ट्रपर डाल सकता है। देशव्यापी शांतिपूर्ण उपेक्षा से अंग्रेजों को अपने अनधिकार का नंगा स्वरूप दीखने लगेगा।

यही भारत का स्वराज्य होगा। यह स्वराज्य भारत को किसी भी बाह्य सहायता के बिना केवल अपनी ही स्वाभाविक शक्ति के अमोघ परिणाम के रूप में मिलेगा।

भारत अंग्रेजों को भारत से हटाने में, अतीत में, जिस कारण से असफल होता चला आ रहा है, वह यह है कि सन् १८५७ से भारत या तो इंग्लैंड से शत्रु जैसा बर्ताव कर रहा है या उसके साथ अस्वाभाविक अनुचित नाता जोडना चाह रहा है। यदि भारतने इंग्लैंड से शत्रुता या मित्रता दोनों तरह का सम्बन्ध तोड दिया होता, तो अबतक कभी का मुक्त हो गया होता। यही भारतीय स्वराज्य का आदर्श है। यही भारत की अहिंसा है। देश को इसी अहिंसात्मक स्वराज्य की ओर जाना चाहिये।

हमारे नेताओं के इस विचार में कोई सचाई नहीं है कि कांग्रेस के प्रयत्न में भारत बहुत आगे बढ गया है या भारतने स्वराज्य का बहुतसा मार्ग तय कर लिया है। आजका दास भारत ५० साल पहले दास भारत से दासता में ही बढा हुआ हो सकता है। जिस प्रकार आज पींजरे में बन्द किया हुआ शेर ५० साल पींजरे में रहकर शेर-स्वभाव की ओर नहीं बढ सकता। वह शेर स्वभाव को खोने की ओर ही बढ सकता है। यदि ५० साल पहले भारत स्वराज्य से दूर था तो आज वह स्वराज्य से उससे भी दूर है, और यह दूरी कांग्रेस के प्रयत्नों से ही बढती चली जा रही है। ५० साल पहली कांग्रेस एक छोटीसी सीमामें कुछ पढे लिखे समझे जाने वाले लोगों की बडे दिनों की वार्षिक छुट्टी के अवसरपर बडबडाने तक सीमित थी। परंतु आज वह गांवों तक इस ढंग से फैल चुकी है कि आनेवाली सन्तान उसके प्रभाव को न लांघकर बडबडाती भी रहेगी, मुकदमेबाजी भी करती रहेगी, वोटों की घुड दौड में भी दौडती रहेगी और थानेदारों को लम्बे सलाम भी करती रहेगी। क्योंकि हम स्वतन्त्रता की गाथा कर रहे हैं इसलिए स्वतंत्रताके साथ इस कटु सत्य को खोलकर रखना हमारा कर्तव्य हो गया है कि कांग्रेसने देश को थोडासा भी आगे नहीं बढाया। आज देश में जहां कहीं स्वतन्त्रता या संग्राम की भावना दीखता है तो उसका यश देश में जन्म लेने वाले कांग्रेस की दास मनोवृत्ति से बाहर रहनेवाले स्वतंत्रता-प्रेमियों को न देकर देशको परतन्त्र रखनेवाली कांग्रेस को देना बडे भारी अन्याय की बात है। यह कांग्रेस को अनुचित महत्व देना है। यह महत्वाधिकारी से महत्व छीनकर अधिकारी को

देना है। कांग्रेसने पिछले ५० वर्षों से भारत की कोई सेवा नहीं की और न इसमें सेवा करने की योग्यता है। आइए इस वस्तुस्थिति की भी जांच करें।

कांग्रेस सन् १८८५ में स्थापित हुई थी। वह १९०४ ई० तक छुट्टी मानने वालों के जलसों के रूप में होती रही। १९०५ में बंगभंग हुआ। इसने कांग्रेस को आन्दोलन के रूपमें क्रियाशील बनाया। बंगभंग रद् कर दिया गया। कांग्रेस के दृष्टिकोण से यह एक सफलता हो गई थी। अर्थात् आंदोलन करके ब्रिटिश पार्लियामेंट के द्वारा अपनी मांग पूरी करवाई गई समझी गई। इसके पश्चात् एक एक करके मिंटोमार्ले शासन-सुधार, रोलेट एक्ट तथा मांटेगू चेम्सफोर्ड शासन ने शीघ्रता से आ आकर कांग्रेस को आंदोलन में लगाए रखकर अपने अस्तित्व की आवश्यकता को सिद्ध करने का अवसर दिया।

इन आन्दोलन का स्पष्ट भाव सरकार के दिए हुए टुकडेपर असन्तोष प्रकट करना तथा न दिए टुकडे के लिए उसके सामने अपनी मांग उपस्थित करना था। भारतीय स्वतन्त्रता की दृष्टि में सीधे सच्चे शब्दों में सरकार से भीख देने तथा भीख लेनेवाले का संबंध जोडे रखने के लिए ही कांग्रेस का सारा आंदोलन था। इन आन्दोलनों में पूर्ण स्वतन्त्रता की रूपरेखा नाम लेने को भी नहीं थी। संयोगवश ऐसे आन्दोलनों को बंद न होने देने के लिए १९१९ ई० में पंजाब की घटना आगई जिससे कांग्रेस सरकार का विरोध करने वाली संस्था समझी जाने लगी। इसके पश्चात् असहयोग-आंदोलनने आकर कांग्रेस को देशमें एक नया यश कमवा दिया। इससे वह सरकार का नाश करनेवाली समझी हुई संस्था के रूप में देशके सामने आगई। फिर जब मांटेगू शासन-सुधार की दस सालवाली अवधि बाद साइमन कमिशनके परिणाम के रूप में शासन सुधार की दूसरी किस्त पार्लियमेंट से मिलने का अवसर आया तब कांग्रेसने औपनिवेशिक स्वराज्य को पालने को पूर्ण स्वतन्त्रता का नकली नाम देकर नमक सत्याग्रह नाम का अन्तिम प्रयत्न कर-देखा।

जिसके ऐतिहासिक अध्याय की समाप्ति १९३१ ई० के गोलेमज़ कान्फैरन्सके प्रतिनिधित्व की असफलता के साथ हो गई। ३२-३३ में कांग्रेस की ओरसे कोई आंदोलन नहीं किया गया। गांधी इरविन समझौते के परिणाम के रूप में जो सत्याग्रह बंद किया गया था, वह जब १९३३ में फिर चालू होता दीख पडा था, वह सचमुच सरकार की ही कांग्रेसको घेरकर उसे गैरकानूनी मार्ग से हटाकर अपने अभीष्ट कानूनी मार्गपर लाने की कार्यवाही थी। कांग्रेस की कार्यवाही नहीं थी। वस्तुतः कांग्रेस इस ढंग से बनी हुई है कि वह केवल सरकार की आज्ञाकारिणी संस्था है।

कांग्रेसने सरकार से कभी युद्ध नहीं किया। किंतु कांग्रेस युद्ध कहलानेवाली-कार्यवाही में अंध के समान अपने संचालक के पीछे पीछे चली थी। जिसे वापिस लेना पडा उसे युद्ध कहना भारतीय स्वातन्त्र्याभिमाषा का अपमान है। सबको विगत आंदोलन के स्वरूप को भले प्रकार समझ लेना चाहिए कि उसका संचालन किसने क्यों किया था? यह आंदोलन किसने चलाया तथा किस भावको लेकर चलाया था? भारतीय देशसेवकों को इन बातों का स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए, कि यह युद्ध नहीं था। यह केवल एक परीक्षा थी। अनुचित आशा के वश में होकर कोई काम कर बैठना परीक्षण कहता है। यह आंदोलन सारे देशके साथ हो जाने की आशासे छेडा गया था और इस आशामें असफल होतेही इसे वापिस ले लेना पडा।

(क्रमशः)

स्वाध्यायसंघ का उद्देश्य

और

वेदाध्ययन के कार्य की दिशा।

"वेदका स्वाध्याय करना और कराना वैदिक धर्मी आर्यों का परम कर्तव्य है।"

मनुमहाराज कहते हैं कि 'वेद का स्वाध्याय करना चाहिये।' हरएक शास्त्रकार भी यही आज्ञा करता है। और अपने धर्मपुस्तक का सांगोपाङ्ग अध्ययन करना चाहिये, यह भला किसी दूसरेने कहनेकी आवश्यकता ही क्या है? यदि यह ग्रंथ हमारा धर्मग्रन्थ है, तब तो हमें उसका अध्ययन करना ही चाहिये। इस में किसी की भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

एक आपत्ति।

आजकल हम देखते हैं कि योग्य रीतिसे वेदाध्ययन न होनेके कारण हि अनेक कुकल्पनाएं अपने अन्दर घुस गयी हैं, और दृढमूल भी हो रहीं हैं। वे कुकल्पनाएं वेदधर्मका अंग भी बन चुकी हैं और उनको दूर करना कठिन हो गया है। क्या यह आपत्ति कम हानिकारक है?

आजकल जो बिलकुल संस्कृत जानते नहीं, जो स्वयं वेदपाठ कर नहीं सकते, वेदोच्चारण भी ठीक नहीं कर सकते, जो वेदका अर्थ स्वयं नहीं जान सकते, वे भी धूमधडाकेसे वेदके सिद्धांतों पर व्याख्यान करते हैं, वैदिक सिद्धान्तोंपर अपना मत प्रकाशित करते हैं और 'यह वैदिक है और यह अवैदिक है,' ऐसा कहनेसे हिचकते नहीं !! यह कितना आश्चर्य है! और इस तरह अज्ञानी लोगहि किसी धर्मकी मिट्टी पलीत करने लग जांयगे, तो उस धर्मका भविष्यकाल में क्या हाल होगा, इस विषयमें विद्वान् विचारकों में बड़ा ही संदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

ज्ञान-विज्ञान।

वैदिक धर्म ऐसा धर्म नहीं है कि, जिसमें अज्ञानी भी किसी तरह का हस्तक्षेप कर सकते हों। वैदिक धर्म एक बड़ा शास्त्रीय वैज्ञानिक धर्म है। ज्ञानविज्ञानके विना और ठीक अध्ययन के विना किसी मनुष्यकी उस में प्रगति नहीं हो सकती। इसीलिये वेदका अध्ययन, मनन और निदिध्यासन होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके विना वेदका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और वेदका ज्ञान न हुआ, तो वैदिक धर्म का बोध भी नहीं हो सकता।

अध्ययन का साधन।

जो सज्जन वैदिक धर्म का ज्ञान वेदका स्वयं अध्ययन करके अपने अन्दर बढानेके इच्छुक हैं, उनके लिये आजकल वेदाध्ययन करने का कोई साधन नहीं है। कुमारपन में आचार्यकुल, गुरुकुल, महाविद्यालय, वेदविद्यालय ऐसे अनेक विद्यालय हैं, जहां जाकर वे वेदाध्ययन कर सकते हैं, परन्तु जिनकी आयु २०।२५ वर्षों से अधिक हो चुकी है, जो व्यवहार के कामधंदों में लग चुके हैं, जिनको आचार्यकुल में जाकर अध्ययन करने के लिये समय नहीं है, परन्तु जो सचमुच वेदज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक हैं, जिनकी वेदपर असीम श्रद्धा है, ऐसे लोग कहां जांय? ऐसे लोगों को वेदज्ञान किस ढंग से दिया जाय? इसका विचार करते करते और सब भारत देशकी परिस्थिति का

विचार करने के पश्चात् स्वाध्यायसंघद्वारा यह कार्य किया जा सकता है, ऐसा हमने निश्चय किया और इस स्वाध्यायसंघ की स्थापना की।

इस संघमें जो प्रविष्ट हो सकते हैं, वे ५।६ वर्षोंमें वेदवेत्ता हो सकते हैं। यदि कोई मनुष्य नियमपूर्वक प्रतिदिन वेदाध्ययन न कर सकता हो, तो वह १० वर्षों में वेदज्ञ हो सकेगा। परन्तु प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घण्टा हमारे दर्शाये मार्ग से वेदाध्ययन करता रहेगा, तो वह ५।६ वर्षों में अवश्यही वेदवेत्ता हो जायगा। यहां प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घंटा इस कार्य के लिये देनेकी शर्त है, यह कोई न भूले। जो प्रतिदिन आधा घण्टा अध्ययन करेंगे, वे ५ वर्षों में वेदज्ञ होंगे। जो अनियम करेंगे, उनको उतनी देरी अधिक लगेगी, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

इस स्वाध्यायसंघ के नियम क्या हैं और इससे क्या बननेवाला है? इसका विवरण पाठक आगे देखेंगे—

स्वाध्याय–संघ।

स्वाध्याय–संघका उद्देश्य और नियम।

वेदका स्वाध्याय करना और कराना, तथा वेदके धर्म का आचरण करना और कराना स्वाध्याय-संघका उद्देश्य है।

वेदका स्वाध्याय नियमपूर्वक प्रतिदिन करनेवाले वेदधर्म के प्रेमी सज्जन इस 'स्वाध्याय-संघ' के सदस्य हो सकते हैं। कम से कम ३ सदस्य होनेपर यह संघ स्थापित किया जा सकता है।

१. स्वाध्याय-संघका सदस्य होने के लिए कोई नियत चन्दा नहीं है।

'प्रतिदिन कमसे कम एक मंत्र का मननपूर्वक पाठ करना।'

'आठ दिनोंमें कम से कम एक नया मंत्र कण्ठ करना,'

'और स्वाध्याय-संघके साप्ताहिक सत्संगमें कम से कम मासिक एक वार उपस्थित रहकर अपना मनन किया हुआ वेदमंत्र का आशय समय मिलनेपर अन्य सदस्योंको कहना,'

यही चन्दा 'स्वाध्याय-संघ' के सदस्य होनेके लिए पर्याप्त है।

२. द्रव्यरूप चन्दा न होनेसे गरीब से गरीब मनुष्य भी 'स्वाध्याय-संघ' के सदस्य हो सकते हैं। जो बिलकुल निर्धन होंगे, उनको आर्थिक व्यय न करने पर भी स्वाध्याय के पर्याप्त साधन उपस्थित किए जा सकते हैं।

३. कमसे कम तीन सदस्य होनेपर इस 'स्वाध्याय-संघ' की स्थापना की जा सकती है। इनमें एक अध्यक्ष, दूसरा मंत्री और तीसरे सदस्य होंगे। इनका कार्य उक्त प्रकार प्रतिदिन स्वाध्याय करना, साप्ताहिक सत्संगमें अपने विचार बोलना और स्वाध्याय-संघके सदस्यों की संख्या बढाना है।

४. स्वाध्याय-संघके सदस्य स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण, वृद्ध अर्थात् सब मनुष्यमात्र हो सकते हैं। आयुकी, चन्देकी या किसी अन्य धर्ममत या पथ के तत्व मानने की मर्यादा इस स्वाध्याय-संघके सदस्य होनेके लिए नहीं है। वेद-धर्म का अभ्यास करने की इच्छा रहने पर कोई मनुष्य पूर्वोक्त शर्तों का स्वीकार करने पर सदस्य हो सकता है।

५. स्वाध्याय-संघका सदस्य किसी अन्य संस्थाका अथवा अनेक अन्य संस्थाओं का सदस्य रह सकता है।

६. यदि अन्य मनुष्य सदस्य न मिले, तो घरमें स्वयं गृहस्थ, धर्मपत्नी, माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री ये सब सदस्य हो सकते हैं। पाठशाला के तीन विद्यार्थी भी अपना संघ स्थापन कर सकते हैं।

७. स्वाध्याय-संघ स्थापन करके साथवाले पत्रपर सदस्यों के नाम लिखकर भेजने से उनके स्वाध्याय की आयोजनाका विचार यहां के 'स्वाध्याय-मण्डल' से हो सकता है।

८. प्रतिमास अपने स्वाध्याय-संघके स्वाध्याय की प्रगतिका पत्रक स्वाध्याय-मण्डलके पास आना चाहिए। जिनसे एक वर्षतक कोई वृत्त नहीं आवेगा, उनका संघ बंद हुआ है ऐसा समझा जायगा।

सकते हैं। यहां सब वेदाध्ययन ठीक रीतिसे करना है। किस का अध्ययन कितना हुआ है, यह जानने के लिये पांच परीक्षायें और उनका नियत पाठविधि (कोर्स) रखा है। जो अध्ययन करेंगे वे इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होंगे और उनको परीक्षामें उत्तीर्ण होने के प्रमाणपत्र भी दिये जांयगे।

प्रमाणपत्र।

इन प्रमाणपत्रों को श्रीमान् औंधाधीश महाराजासाहेब की प्रामाणिकता और अधिकारिता रहेगी। जो प्रमाणपत्र लेनेके लिये नियत समय पर यहां आवेंगे, उनको श्री महाराजासाहेब स्वयं प्रमाणपत्र अपने हाथसे देंगे, अन्यों को डाकद्वारा भेजे जांयगे।

परीक्षा लेनेवाले और उत्तीर्णानुत्तीर्ण का निर्णय करनेवाले स्थान स्थानके विद्वान् नियत किये जांयगे और इनके हस्ताक्षर भी प्रमाणपत्र पर रहेंगे। इनके नाम आदि यथासमय प्रकाशित किये जांयगे।

पाठविधि।

इस तरह स्वाध्याय-संघके सदस्यों की परीक्षायें और उनकी पाठविधि तथा अध्ययन की योग्यता आदिका विवरण यह है—

परीक्षा-नाम	पाठ्य मन्त्रसंख्या			
१. वेदपरिचय	३००	वेदमंत्र	प्रथम	वर्षकी पाठविधि
२. वेदप्रवेश	५०	,,	द्वितीय ,,	,,
३. वेदप्राज्ञ	१०००	,,	तृतीय ,,	,,
४. वेदविशारद	२०००	,,	चतुर्थ ,,	,,
५. वेदपारंगत	५०००	,,	पंचम ,,	,,

६. वेदाचार्य (वेद की स्वतंत्र बुद्धिसे विशेष अपूर्व खोज करनेवालेको ही यह उपाधि मिल सकती है। इसका नियत अभ्यासक्रम नहीं है।)

प्रथम वेदपरिचय परीक्षा के लिये १०० मन्त्रों का एक पुस्तक ऐसे तीन पुस्तक ३०० मन्त्रों के तैयार हो रहे हैं। आगे के प्रत्येक परीक्षा के मन्त्रों के ५।५ पुस्तक बनेंगे। अर्थात् वेदपरिचयपरीक्षा के ५ पुस्तकों में ५०० मन्त्रों की पाठविधि रहेगी। वेदप्राज्ञ की परीक्षा के ५ पुस्तकोंमें १००० मन्त्रों की पाठविधि रहेगी। इसी तरह वेदविशारद और वेदपारंगत की प्रत्येक परीक्षा की ५।५ पुस्तकें रहेगी और उनमें क्रमशः २००० और ५००० मन्त्रों की पढाई रहेगी।

इन पुस्तकों में वेदाध्ययन के आवश्यक सब साधन मंत्रोंके अर्थोंके साथ, टीकाटिप्पणियोंके साथ, निरुक्त-ब्राह्मणवचनों और उपनिषद्वचनोंके साथ रहेंगे। यह एक एक पुस्तक स्वयंपूर्ण रहेगी, और परीक्षा के लिये दूसरे किसी ग्रंथ की आवश्यकता नहीं रहेगी। अर्थात् इन पुस्तकों को लेनेवाले निरुक्त ब्राह्मण उपनिषदों के पुस्तकों को न लेते हुए भी इन सब पुस्तकों का कार्य इसी पाठ्य पुस्तक से कर सकेंगे। अर्थात् इतनी पर्याप्त सामग्री इन पुस्तकोंमें रहेगी।

थम परीक्षा "वेदपरिचय"।

प्रथम परीक्षा के ३०० मंत्रोंकी पढाई के ३ पुस्तकों का मूल्य केवल ६) रहेगा, परन्तु स्वाध्यायसंघके सदस्यों को ये तीनों पुस्तकें ३) में मिलेंगी। संघके प्रत्येक सदस्यको ये तीनों पुस्तकें लेनी चाहिए, ऐसी बात नहीं। सब संघके सदस्य मिलकर एक एक रु. भेज कर एक एक पुस्तक मंगवा सकते हैं और सब मिलकर अध्ययन कर सकते हैं। एक एक पुस्तकमें ४ मासकी पढाई होगी और तीनों पुस्तकोंमें मिल कर सालभर की पढाई होगी। प्रतिवर्ष परीक्षाएँ होंगी और उत्तीर्ण होनेवाले लोगोंको प्रमाणपत्र मिल जांयगे।

मान लीजिये कि किसी स्वाध्यायसंघ के ८ सदस्य हैं। तो सब मिलकर ३) भेजनेसे वे इन तीनों पुस्तकों को प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् प्रति सदस्य को केवल ।=) ही देने पडेंगे। और इतने स्वल्प मूल्य के देनेसे प्रत्येक सदस्य इस सब पाठविधि का अध्ययन कर सकता है। और एक वर्षमें ३०० वेदमंत्रोंका उत्तम अध्ययन कर सकता है। ।=) में इतना अध्ययन होना, यह कोई मामूली बात नहीं है। यह अध्ययन सब मिलकर भी कर सकते हैं और अलग अलग भी कर सकते हैं। अलग अध्ययन करनेवाले इसके हिस्से अपने अपने घरोंमें ले जाना चाहेंगे तो वैसी भी सुविधा इसमें रहेगी,

अर्थात् एक एक पुस्तक में छोटे छोटे १६ या ३२ पृष्ठोंके कई लघु पुस्तक रहेंगे। यह एक एक स्वतंत्र लघु पुस्तक रहेगा और अलग अलग भी रहेगा। अर्थात् एक पुस्तक के आठ या दस छोटे छोटे टुकडे रहेंगे, जो प्रत्येक जेब में रह सकेगा। अध्ययन करनेवाला इस एक एक पुस्तक को अपने जेबमें रखकर जहां चाहे वहां जावे और समय मिलनेपर अध्ययन करता रहे। उसका अध्ययन समाप्त होने पर वह संघ के पुस्तकालयमेंसे दूसरा भाग ले जावे।

इस तरह एक पुस्तकसे मिलकर भी अध्ययन होगा और अलग अलग भी अध्ययन हो जायगा। यह युक्ति हमने इसलिये की है कि, इससे विना बहुत व्यय किये गरीबसे गरीब भी वेदाध्ययन कर सकता है। जो धनी होगा वह गरीबों को इन पुस्तकों के दान से सहायता भी कर सकता है। इस तरह ज्ञानप्रसारसे बडा परोपकार भी हो सकता है।

पाठक इससे जान सकते हैं कि इसमें वेदज्ञान फैलाने का ही उद्देश्य मुख्यतः है। धन कमाने का नहीं। इसीलिये यह स्वाध्याय-संघ कायम किया है, जहां निर्धन भी संघमें आकर अपना अध्ययन अति अल्प व्ययसे कर सकते हैं।

प्रथमपरीक्षा 'वेदपरिचय' है। उसकी ३०० मन्त्रों की पाठविधि है। इसके ३ पुस्तक होंगे और प्रत्येक में १०० मन्त्र रहेंगे। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य २) होगा, अर्थात् वेदपरिचय-परीक्षाके तीनों पुस्तकों का मूल्य ६) होगा। परन्तु स्वाध्यायसंघ के सदस्यों को ये तीनों पुस्तक ३) में हि मिलेंगे।

प्रत्येक पुस्तक में ८ या १० छोटे छोटे पुस्तक अलग अलग रहेंगे। उसका उपयोग पूर्व स्थान में लिखा ही है।

अन्य परीक्षा

आगे प्रत्येक परीक्षाके ५ पुस्तक होंगे और उन सब में मिलकर सालभर की पढाई रहेगी। इन में से प्रत्येक पुस्तक में भी अनेक छोटे छोटे पुस्तक रहेंगे। इन प्रति परीक्षाके पांचों पुस्तकों का मूल्य १०) होगा, परन्तु स्वाध्यायसंघके सदस्यों को ये प्रति परीक्षाओंके पांचों पुस्तक केवल ५) में हि मिलेंगे।

इस तरह पांच वर्षों में प्रतिदिन आधा घण्टा अध्ययन नियमपूर्वक करने से करीब ८५०० मन्त्रों का अध्ययन होगा और संघके सदस्य मिलकर अध्ययन करेंगे तो प्रत्येक को साल में १) से अधिक व्यय करना नहीं पडेगा। यह सस्तेसे सस्ता तरीका वेदके अध्ययन करने का है। आशा है कि पाठक इससे अच्छा लाभ उठावेंगे।

इन पुस्तकों की पाठविधि इतनी सरल रहेगी कि क्रमपूर्वक अध्ययन करनेवाले को अध्ययन की कोई कठिनता रहेगीहि नहीं। प्रति वर्ष सरलतया इतना अध्ययन अवश्य हो जायगा।

पांच वर्षों में मिलकर चारों वेदोंकी मन्त्रसंख्याका आधा भाग पाठविधिमें आनेवाला है और विशेष सुबोध तरीके से लिखने के कारण प्रत्येक पाठक इतने समय में इतना अध्ययन कर सकेगा। अर्थात् मंत्रों का अक्षरार्थ जान सकेगा, इसके बाद मनन और अधिक विचार करना हरएक का स्वतंत्र कार्य रहेगा। किसी का अध्ययन इतने समयमें न हुआ और किसी को कुछ देरी लगी, तो भी कोई बिगडेगा नहीं। एक दो वर्ष अधिक लगे, तो भी क्या होगा? नियमपूर्वक अध्ययन करने से अवश्य सिद्धि मिल जायगी।

वेदाचार्य की परीक्षा।

इस परीक्षा की कोई पाठविधि नहीं है। चारों वेदों की सब संहिताओंकी खोज करके विशेष आविष्कार करनेसे अर्थात् इस विषय का कमसे कम १०० पृष्ठों का निबंध लिखनेसे और उस निबंध को विद्वानों ने पसंद करनेसे यह 'वेदाचार्य' की उपाधि उसको मिल सकेगी। केवल परीक्षासे यह उपाधि प्राप्त नहीं होगी।

वेदाध्ययन की परिपाटी यह रखी है, जो सबके उपयोग की दृष्टिसे की गयी है।

स्वाध्यायसंघ का यह उद्देश है। परमेश्वर कृपा करे और इस उद्देश्य की पूर्णता शीघ्र होनेमें सहायता देवे।

सदस्य की स्वतन्त्रता।

स्वाध्याय-संघ के ये उद्देश्य और ये नियम हैं। स्वाध्यायसंघ के सभासदको यह बंधन नहीं है कि, वह स्वाध्याय-मण्डल के द्वारा प्रकाशित पुस्तकों को ही खरीदकर उनका ही अध्ययन करे और यह भी बंधन नहीं है कि वह स्वाध्यायमण्डल के पुस्तकों में प्रतिपादित सिद्धांतों को ही माने।

यह कोई बंधन नहीं है। स्वाध्याय-संघ के सदस्य पूर्ण रीतिसे और सब प्रकारसे स्वतन्त्र हैं। वे जिस चाहे रीतिसे वेदाध्ययन करें, चाहे जिस पुस्तकसे वे वेदका अध्ययन करें। अध्ययन के पश्चात् अपने सिद्धांत स्वयं खोज कर ग्रहण करें। इस में किसी प्रकार का कोई बंधन रखनेका यहां हमारा उद्देश नहीं है।

वेद स्वतन्त्र हैं।

हमारा यह निश्चय है कि, वेद स्वयं अपने अर्थ और अपने सिद्धांत प्रकट करता है। जब यथायोग्य अध्ययन हो जायगा, उस समय अनेक ज्ञानियों के द्वारा एक ही सिद्धांत, एक ही धर्मतत्व और एक ही सत्य प्रकट होगा। इसीलिये हम स्वाध्यायसंघके सदस्योंको पूर्ण स्वतंत्र रखना चाहते हैं।

स्वाध्यायमण्डल द्वारा स्वाध्याययोग्य अनेक पुस्तक प्रकाशित किये जांयगे। और स्वाध्याय के अनेक साधन स्वाध्याय करनेवालों के पास रखे जांयगे उनका स्वीकार करना या न करना स्वाध्यायसंघ के सदस्यों की इच्छापर निर्भर रहेगा।

पहिली तैयारी।

(१) संस्कृत सीखना।

वेदका अध्ययन करने के लिये सबसे प्रथम संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करनेकी बडी आवश्यकता है। जो संस्कृत नहीं जानते, उन की सहायतार्थ **'संस्कृत-पाठमाला'** के २४ भाग तैयार किये हैं। ये २४ भाग मिलकर एक वर्ष की पढाई है और इससे केवल भाषा जाननेवाला मनुष्य प्रतिदिन नियमपूर्वक आधा घण्टा अध्ययन करेगा, तो वह एक वर्ष के अन्दर मूल संस्कृत रामायण, महाभारत पढकर समझ सकता है। पाठक चाहे संस्कृत भाषा का ज्ञान किसी अन्य पुस्तक से भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसी कार्य के लिये **स्वाध्याय-मण्डल** के ये २४ पुस्तक अति सुगम पद्धतिसे तैयार किये हैं।

(२) वेदमें प्रवेश।

संस्कृत भाषा आनेपर और रामायण-महाभारत समझने की योग्यता हो जानेपर भी वेद में प्रवेश करने के लिये कुछ विशेष साधना करने की आवश्यकता है। वह साधना 'वेदका स्वयंशिक्षक' (के दो भागों में) है। ये दोनों भाग संस्कृत पाठमाला के २४ भागों के अध्ययन के पश्चात् अभ्यास करने के लिये बनाये हैं। ये वेद-स्वयंशिक्षक के दोनों भाग करीब तीन या चार महिनोंमें हो सकते हैं। जब इतना संस्कृतका ज्ञान हो जायगा, तब वह पाठक वेदका अध्ययन स्वयं कर सकता है।

स्वाध्यायसंघ के सदस्य यदि पहिले से संस्कृत भाषा को जानते हों, या किसी अन्य प्राचीन या अर्वाचीन पद्धति से संस्कृत भाषा उन्होंने सीखी हो, तो उनको न तो 'संस्कृत-पाठमाला' के अध्ययन की जरूरत है और ना ही 'वेद-स्वयं-शिक्षक' को पढने की आवश्यकता है। वे स्वयं वेदाध्ययन करने का प्रारम्भ कर सकते हैं। अर्थात् स्वाध्यायसंघ के सदस्यों को संस्कृतका थोडासा ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

(३) वेदपाठ।

यथायोग्य वेदमंत्रों का पाठ करना, मंत्रों का उत्तम उच्चारण करना, मंत्रोंके स्वरोंका ठीक तरीके से उच्चार करना, यह वेदपाठ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये 'वेदोच्चारणविधि' नामक एक पुस्तक स्वाध्यायमंडल द्वारा तैयार की जा रही है। जो करीब छः महिनों में तैयार हो कर छप जायगी। जब छप जायगी, तब उसका विज्ञापन वैदिक धर्म में दिया जायगा।

यह पुस्तक वैसी तो एक वर्षसे बनाई जा रही है, परन्तु उन में कुछ कठिनता होने के कारण अबतक छपी नहीं। इसमें—

१. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मंत्रों के उच्चारण करने की विधि,

२. उक्त वेदमंत्रों के उदात्तादि स्वरों के उच्चारण की रीति,

३. सामगान करने की रीति और

४. अन्य वेदमंत्रोच्चारण की विशेषताएँ,

विस्पष्ट रूपसे दर्शायी हैं। प्रत्येक वर्ण का उच्चार ठीक तरह करनेकी विधि दर्शायी है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, तथा सब प्रकार के सामस्वर कहने और सामगान करने की रीति भी विस्तारपूर्वक इसमें दर्शायी है। प्रत्येक स्वर की ऊँचाई, नीचाई, गहराई हार्मोनियमके स्वरके साथ मिलाई है, जिससे पाठक हार्मोनियम के स्वरोंके साथ अपने स्वरोंको मिलाने से उदात्तादि स्वरों का उच्चारण कर सकेंगे।

अक्षरोंके काल, अक्षरों की मात्राएँ, उनके उदात्तादि स्वर, तथा कम्पोंका उच्चारण हार्मोनियम के स्वरों से इस पुस्तकमें दर्शाया जायगा। जो पाठक हार्मोनियम के स्वरों के साथ अपने कण्ठ से सप्तस्वर बोल सकेंगे, वे ठीक तरह इस पुस्तकसे वेदमंत्रोंका ठीक ठीक उच्चारण कर सकेंगे। इसलिए स्वाध्यायसंघ के सदस्य यदि हो सके, तो प्रथम हार्मोनियम के स्वरों से अपने स्वर मिलाने का अभ्यास करें। यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि प्रत्येक सदस्य इस तरह का स्वर-साधन का अभ्यास अवश्य ही करे। संघमें या अनेक संघोंमें मिलकर एक मनुष्य भी स्वरज्ञ रहेगा, तो भी वह स्वयं इस पुस्तक से अपना वेदपाठ ठीक करा सकेगा, और दूसरों को भी उसकी शिक्षा दे सकेगा।

स्वरसाधन।

जो लोग स्वयं 'सामगान' सीखने के इच्छुक हैं, उनको तो हार्मोनियम के स्वरोंके साथ अपने सप्तस्वर मिलाने का अच्छा अभ्यास करनाहि चाहिये। हार्मोनियम के तीनों स्वर-सप्तकों के साथ अपना स्वर मिलानेवाला ही सामगायन कर सकेगा। उसको थोडासा गायन करनेका अभ्यास रहेगा, तो बहुत अच्छा होगा। परन्तु कमसे कम स्वरज्ञान तो होना ही चाहिये। हार्मोनियम के साथ स्वरमें स्वर मिलाने का अभ्यास प्रातः ५ बजेसे ६ बजे तक करना योग्य है और इस समय निम्न-मध्य-तीव्र इन तीन सप्तकोंमें से केवल निम्न सप्तक के स्वरोंसे अपने स्वर मिलाने का अभ्यास करनेसे लाभ अधिक होता है।

स्वयं सामगायन करनेके जो इच्छुक होंगे, वे किसी गानज्ञसे स्वरसाधन की थोडीसी शिक्षा लेकर इसका आवश्यक अभ्यास करें।

सामगायन एक अपूर्व गायन है और इसका विस्तार बहुतही है। वह सब विधि हजारों पृष्ठों में भी दर्शायी नहीं जा सकती। परन्तु हम पुस्तक में अवश्य सब बातें इस ढंगसे दर्शायेंगे कि, जिससे पाठक अभ्यास करके सामगायन का अपना अभ्यास आगे जितना चाहे बढाने में समर्थ हो सकते हैं।

हम यहां चारों वेदोंके मन्त्रपाठों और मन्त्रगायनों की फोनोग्राफ की प्लेटें भी लेनेकी तैयारी कर रहे हैं। जिससे यह प्लेटे फोनोग्राफपर चढाकर यंत्र घुमाने से वेदपाठका उत्तम श्रवण हो सकता है और इसके श्रवण से वेद-पाठ कैसा होता है, इसका ज्ञान सब सुननेवालों को हो सकता है। इसकी तैयारी चल रही है और जब ये प्लेटें बनेंगी, तब उनकी घोषणा भी की जायगी।

इस तरह वेदपाठके साधन इकट्ठे करने का हमारा विचार है, जो स्वाध्यायसंघके सदस्यों को निःसंदेह लाभकारी सिद्ध होंगे।

(१) संस्कृत का ज्ञान, (२) वेद-स्वयंशिक्षक का ज्ञान और (३) वेद-पाठ करने का ज्ञान होने के पश्चात् स्वाध्यायसंघके सदस्य वेदका अध्ययन कर सकते हैं। जो स्वयं संस्कृतज्ञ हैं, वे थोडासा स्वरसाधन सीखकर वेदका पाठ और अध्ययन कर सकते हैं।

यहां वेदाध्ययन की पूर्व तैयारी की रूपरेषा दर्शायी गयी है। जो बिलकुल संस्कृतज्ञ नहीं हैं, वे उक्त साधनों से एक वर्षमें अपनी तैयारी कर सकते हैं।

वेदकी परीक्षाएँ।

स्वाध्यायसंघके सदस्योंकी उक्त प्रकार प्राथमिक तैयारी होने के पश्चात् वे वेदाध्ययन का प्रारंभ कर

कुछ सूचनाएं।

वेदोंका पाठ।

जो 'स्वाध्यायसंघ' के सदस्य हैं, उनको कमसे कम **वेदोंका पाठ** अवश्य करना चाहिये। आप कृपया यह देखिये कि आपके वहां के सदस्य वेदपाठ करते हैं वा नहीं। केवल **वेदपाठ** हि अच्छी तरह स्वरयुक्त होने लग जायगा, तब तो उससे भी चित्तकी स्थिरता की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। वेदपाठमें यह बडी भारी शक्ति है। इसका अनुभव पाठकर्ता को अवश्य एक वर्षके अभ्यास से हो जायगा।

वेदपाठका अर्थ क्रमसे चारों वेदोंका पाठ करना है। इस तरह वेद पाठ की २५ आवृत्तियां होंगी, तो उससे बहुत ही लाभ होगा। **संस्कृत जाननेवालों को तो इससेबहुत ही लाभ होगा।**

स्वाध्याय संघके सदस्योंको प्रतिदिन एक नया मंत्र अर्थके साथ कण्ठ करना चाहिये। कमसे कम ८ दिनोंमे तो एक मन्त्र कण्ठ होनाही चाहिये।

साप्ताहिक सत्संग।

साप्ताहिक सत्संग का समय आप अपनी सुविधा के अनुसार निश्चित करिये। उस समय सब सदस्य उपस्थित हों। वहां बडे व्याख्यान करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक के आठ दिनोंमें किये स्वाध्याय का विचार वहां अवश्य करना चाहिये। और जिसको जो बात वेदवचनोंमे अच्छी लगी होगी, वह वहां कहे, उपसर विचार हो, मनन हो, और सबके मननसे सप्ताहमें कमसे कम आठ मंत्रोंका अर्थ निश्चित किया जावे। सब मिलकर उस निश्चित अर्थको लिखकर रखें।

प्रतिदिन केवल एक मंत्रहि पढा जायगा, तो दस वर्षोंमें ३।४ हजार मंत्र कण्ठ होंगे और अर्थज्ञान के साथ भी कण्ठ हो सकेंगे। आप सब स्वाध्यायसंघ के सदस्य केवल अध्ययन का यह नियम पालन करेंगे और जिस तरह संध्या प्रतिदिन करते हैं, उसी तरह प्रतिदिन इस नियम का पालन करेंगे, तो प्रति वर्ष आप वेदज्ञान को अपनाते ही जायगे। **स्वाध्याय-संघका यह उद्देश्य आपके ही द्वारा पूर्ण होना है।**

विद्वान् सदस्य।

आपके स्वाध्यायसंघमें कई सदस्य बडे पण्डित हैं, संस्कृतज्ञ, शास्त्रज्ञ और वेदज्ञभी हैं। **उनको हमसे सहायता होनेकी अपेक्षा उनसे ही हमें सहायता हो सकती है।** ऐसे सुयोग्य विद्वन् स्वाध्याय-संघके सदस्य हुए हैं, यह एक बडे भाग्यका चिह्न है।

ये विद्वान् अपने संघमें जो कम विद्वान् होंगे, उन को अपनी विद्यासे सहायता देंगे, तो कितना बडा कार्य हो सकता है!

प्रत्येक स्वाध्यायसंघ अपने ग्राममें कमसे कम १०० सदस्य बनानेका प्रयत्न करे और **घरघरमें वेदके पाठका पवित्र ध्वनि प्रतिदिन होता रहे, ऐसी परिस्थिति निर्माण करे।** आपके लिये यह कोई कठिन कार्य नहीं है।

आसान कार्य।

प्रतिदिन १०० मंत्र पढनेके लिये, अर्थात् शान्तिसे पढनेके लिये, केवल २० मिनिट लगते हैं। **इस तरह केवल वेदपाठहि किया जायगा, तो ६ महिनों में चारों वेदोंका पाठ सुखसे हो जायगा।** सालमें दो बार चारों वेद पढे जायंगे और १०।१२ वर्षोंमें २५ बार चारों वेदोंका पाठ हो जायगा।

संदेह न करिये।

केवल मंत्रपाठसे क्या होगा, ऐसा संदेह न कीजिये। आपके दस पाठ होते ही मंत्रों की पूर्वापर संगति आपही आप होने लगेगी, और वेदके अर्थ स्वयं खुलते जायेंगे, और **२५ वार पाठ होते ही आपकी अनुसंधानबुद्धि बहुत ही बढेगी।**

परीक्षा।

आपके संघमें जो पण्डित होंगे, उनको परीक्षाओंका अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं है। परंतु जो लोग वेद स्वयं नहीं जान सकते उनके उपयोग के लिये यह परीक्षाओंका पाठविधि रखा है। विद्वान् सदस्य अन्योंकी इस विषयमें सहायता करेंगे, तो सबको ही बड़ा लाभ हो सकेगा।

प्रतिमास वृत्त भेजिये।

आपके स्वाध्यायसंघके मंत्रीजी महोदय प्रतिमास हमें लिखें कि सदस्योंका स्वाध्याय कैसा हो रहा है। तथा यह भी लिखें कि इस मासके स्वाध्याय में कुछ विशेष बात प्रकट हुई या नहीं। यदि किसीके स्वाध्याय में वेदका गौरव होनेयोग्य ज्ञानका आविष्कार हुआ, तो उसे लिखकर हमारे पास भेजा जावे। उसका मुद्रण वैदिक धर्ममें अवश्य किया जायगा।

आप यत्न करिये और स्वाध्याय करनेवालोंकी संख्या बढ़ाईये।

निवेदक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय-मंडल,
औंध, (जि० सातारा)

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद ।	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत ।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२-३)		॥।)
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सूर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत ।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग ।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला ।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	।॥)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय ।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास ।	॥)	८)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद् ।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भवतके भगवान्	॥)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री०दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

भाद्रपद १८६१
अक्तूबर १९३९



श्री स्वामी विवेकानन्दजी।

वर्ष २०, अंक १०] [क्रमांक २३८

वैदिक धर्म।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २०] [अङ्क १०

विषयानुक्रमणिका

१ हमारा कल्याण हो।	संपादकीय	६६९
२ दैवत-संहिता।	,,	६७०
३ मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है। [९]	,,	६७१
४ शिशु-संगोपन।	श्री. डॉ. रा. शं किबे	६८५
५ देखो द्यावा पृथिवी देखो।	श्री. धर्मदेवशास्त्री	६८६
६ ऊर्ध्व-सर्वांगासन और उसके लाभ।	सं. श्रीरामतीर्थ योगाश्रम	६९७
७ भारतीय स्वतंत्रताकी रूपरेखा। [७]	प. रामावतार विद्याभास्कर	७०१
८ स्वाध्याय-संघ।	संपादकीय	७१५
९ व्रात्य।	,,	७१७
१० अखिल हिंदकी बहनोंके लिए शुभ संदेश।	श्रीमती इंदिराबाई पारेख	७२३

॥ ॐ ॥

वेदमुद्रणका कार्य।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हि हैं। परंतु किसी को अपने घर में वेद के सब ग्रंथ रखने हों, तो शुद्ध छपे, सुंदर और सस्ते वेदग्रंथ किसी भी स्थानपर इस समय नहीं मिलते।

युरोप में मुद्रित कई वेदग्रंथ मिलते हैं, परंतु उनका मूल्य सैंकडों रु० होनेसे वे भारतवासियों को दुष्प्राप्य ही हैं और वहां सब वेद छपे भी नहीं हैं।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हैं और वे संपूर्ण विश्वमें अति प्राचीन धर्मग्रंथ हैं। इतने प्राचीन धर्मग्रंथ इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं हैं। अतः इनका महत्व अधिक है।

सब अन्य धर्मियों के धर्मग्रंथ उत्तम छपे मिलते हैं, परंतु हमारे वेद हि अबतक शुद्ध, सुंदर और सस्ते छपे मिलते नहीं। भारतीय आर्यों-हिंदुओं-सनातनधर्मियों को यह बात लज्जास्पद है। इस कारण हमने वेदमुद्रण का कार्य प्रारंभ किया है। शुद्ध, सुंदर और सस्ते सब वैदिक ग्रंथ छापने का कार्य स्वाध्याय-मण्डल में प्रारंभ हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छप चुके हैं और सामवेद छप रहा है। अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद् पर्यंत के सब वैदिक वाङ्मय ग्रंथ तथा वेदके अंगोपांगादि सब ग्रंथ भी छापने हैं। इन ग्रंथोंकी संक्षिप्त सूची यह है।

१. ऋग्वेद।

ऋग्वेद-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रतिशाख्य, ऋग्विधान, चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय।

२. यजुर्वेद।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, (कृष्ण) तैत्तिरीय-संहिता, कपिष्ठल-संहिता, काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, इत्यादि संहिता ग्रंथ;

शतपथ ब्राह्मण (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य, उपनिषद् आदि यजुर्वेदीय वाङ्मय।

३. सामवेद।

सामवेदसंहिता, सामगान के सब ग्रंथ, आरण्यक संहिता, जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय।

४. अथर्ववेद।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलाद-संहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व-प्रातिशाख्यादि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय।

यह संक्षिप्त सूची है। इन सब ग्रंथोंको शुद्ध, सुन्दर और सस्ता छापना है, इनके भाषामें भाषांतर करने हैं और सर्व प्रकारकी सूचियां पदसूची, वाक्यसूची, विषयसूची, ऋषिसूची, देवतासूची, स्थानसूची, इत्यादि अनेक प्रकारकी सूचीयां बनानी हैं, जिनसे वैदिक विषयों की खोज करनेवालों की सहायता होगी।

इन सब ग्रंथोंका मुद्रण पांच वर्षों में समाप्त करना है और इस कार्य के लिए व्यय का अंदाजा एक लाख रु० का किया है।

इसमें मूल चार वेद की संहिताओंके ब्लाक बनाने का व्यय भी संमिलित है। वेद के ग्रंथों में कंपोजिंग के कारण अनेक अशुद्धियां रह जाती हैं। कितना भी प्रूफ संशोधन किया, तो भी किसी स्थान में कुछ अशुद्धि रही जाती है। अतः इनके ब्लाक एक वार बनाए जायंगे, तो आगे उनसे लाखों पुस्तकें छापने पर भी अशुद्धि होने की संभावना नहीं होगी। हमेशा के लिए इस तरह शुद्ध छापने का प्रबंध होगा और अत्यंत सस्ता देने का भी प्रबंध होगा। इसलिए यह कार्य वैदिक धर्मकी जाग्रति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

हमने इस समय केवल वैदिक वाङ्मय के मुद्रण को पांच वर्षों में समाप्त करनेका संकल्प किया है, इस का अर्थ यह नहीं है कि स्मृतिग्रंथ सूत्र (श्रौत और गृह्य)

ग्रंथ, इतिहास, पुराण ये छापने नहीं हैं और इनका वैदिक वाङ्मय से कोई संबंध नहीं है। सम्बन्ध तो अवश्य है, परन्तु जबतक वैदिक वाङ्मय छपकर तैयार नहीं होगा, तबतक इन ग्रंथों के मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया जायगा, इतना ही उक्त कथन का आशय है। वैसा तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा संपूर्ण महाभारत छापकर प्रकाशित हुआ ही है। परन्तु कोई एक ही कार्यपर विशेष लक्ष्य देनेसे वह कार्य ठीक रीतिसे और शीघ्र होता है, इसलिए हमने आगामी ५ वर्षों में इस एक ही वैदिक मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य देकर इसको मुद्रित करना है।

वैदिक वाङ्मय हमारे धर्म के आद्य आधारग्रंथ हैं। इनकी खोज याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियों से करनी अत्यंत आवश्यक है। इस खोजके विना किसी तरह भी वैदिक धर्म के सिद्धांतों का निर्णय नहीं हो सकता। जब लोगोंके पास वेद के शुद्ध ग्रंथ ही नहीं हैं, तो खोज करनेवाले खोज कैसी करें? इसलिए सर्वप्रथम वेदमुद्रण का कार्य होना अत्यंत आवश्यक होनेसे 'वही कार्य करने का हमने संकल्प किया है।

इस कार्य का व्यय करीब एक लाख रु० होनेवाला है। इस के लिए धनिक लोग दान देंगे, तभी यह कार्य हो सकता है। सब जगत् के धार्मिक ग्रंथ धनियों के दानोंसे हि मुद्रित होते हैं और वैदिक धर्मियों में धर्म-भावना किसी तरह भी कम नहीं है, इसलिए हमें पूर्ण आशा है कि धनिक वैदिक धर्मियोंसे इस पवित्र कार्य के लिए आवश्यक धन अवश्य ही प्राप्त होगा।

इस धार्मिक कार्य को धन देनेवालों के निम्न लिखित प्रकार वर्ग किए गए हैं—

(१) प्रतिपालक वर्ग।

(अ) **प्रथम प्रतिपालक वर्ग**- जो दश हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(आ) **द्वितीय प्रतिपालक वर्ग**- जो पांच हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(इ) **तृतीय प्रतिपालक वर्ग**- जो तीन हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(२) पालक वर्ग।

(ई) **प्रथम पालक वर्ग**- जो दो हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(उ) **द्वितीय पालक वर्ग**- जो एक हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऊ) **तृतीय पालक वर्ग**- जो पांच सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(३) पोषक वर्ग।

(ऋ) **प्रथम पोषक वर्ग**- जो तीन सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ॠ) **द्वितीय पोषक वर्ग**- जो दो सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऌ) **तृतीय पोषक वर्ग**- जो एक सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

सूचना— यह सब तीनों वर्गों के लोगों की धनराशी एक समय हि स्वा० मण्डल में पहुंचनी चाहिए। क्योंकि स्वाध्याय-मण्डल का वेद मुद्रणकार्य वेग से चल रहा है, इसलिए उसके व्यय के लिए धनकी आवश्यकता रहती है।

उक्त सब धनदाताओं को स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ जो उनका धन आने के बाद छपेंगे, वे सब मिल ही जायंगे, परन्तु प्रतिपालक और पालक वर्ग के धनदाताओं को पूर्वमुद्रित ग्रंथ भी उनसे मांग आनेपर दिये जायंगे। 'पोषक' वर्ग के सदस्यों को पूर्वमुद्रित ग्रन्थ आधे मूल्य से मिलेंगे।

प्रतिपालक, पालक और पोषक वर्ग के सब सदस्य स्थायी सदस्य होंगे, अर्थात् वंशपरंपरातक इनका सदस्यपन रहेगा और उनके वंशजों को भी सब पुस्तक प्राप्त होते रहेंगे। तृतीय वर्गके पोषक सदस्यों को किसी एक भाषा के हि ग्रंथ मिलेंगे, शेष प्रतिपालक-पालक-पोषक सदस्यों को सब भाषाओं के अर्थात् जितनी भाषाओं में स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ मुद्रित होंगे, मिलते जायंगे।

इस समय मराठी और हिंदी भाषा में ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और गुजराती भाषामें ग्रंथ प्रकाशित करनेका कार्य अति शीघ्र शुरू होनेवाला है।

दान ।

(४) दानी– जो यथाशक्ति धन का दान करते हैं, नियमपूर्वक मासिक दान देते हैं, अथवा यथासमय सामयिक दान करते हैं। उनको उनके दान की रकम जितनी यहां प्राप्त होगी, उस रकम के अनुसार पुस्तके, (उनकी इच्छा लेने की होगी तो) भेजीं जायंगी।

निधि-स्थापना ।

(५) निधि-स्थापना– स्वाध्याय-मण्डल में नियत धनराशी नियत समय के लिये रखी जाती है और उसके सूद में प्रतिवर्ष प्रतिशतक ६) रु० के हिसाबसे दी जाती हैं। निधि रखनेवाले की इच्छा के अनुसार ये पुस्तके प्रतिवर्ष उनको भेजी जाती हैं।

इस प्रकार की धनराशीका उपयोग वैदिक ग्रंथोंके मुद्रण में होना है, इसलिये यह धनराशी कमसे कम तीन वर्षतक यहां रखनी चाहिये। यह रकम एक मास की सूचना से वापस हो सकती है।

इस प्रकार की धनराशी में १००) से कम अथवा १०००) से अधिक धनराशी नहीं ली जाती। एक हजार से अधिक धनराशी उस शर्तपर ली जायगी, जब प्रतिवर्ष एक हजार से अधिक वापस न ली जावे।

जो धनी महाशय इस रीतिसे वेदमुद्रण की सहायता कर सकते हैं, करें।

विभागशः दान ।

जो सज्जन एकदम रकम नहीं देना चाहते, वे नियमपूर्वक प्रतिमास अपनी किश्त भेजकर एक वर्षके अन्दर अपने भागका रु० पहुचा देवें। एक वर्ष के अंदर रु० पहुंचना चाहिये, क्योंकि यह वेदमुद्रण का कार्य पांच वर्षोंमें समाप्त करना है। जो विभागशः धन देना चाहते हैं, वे एक वर्षमें अपनी सुविधा के अनुसार धन यहां भेजें।

अनामत रकम ।

जो कुछ रकम अनामत अपने खातेमें रखना चाहते हैं, वे वैसा करें। उनकी रकम की समाप्तितक उनको उतने मूल्य की वैदिक या अन्य पुस्तकेंडाकव्यय माफ करके भेजीं जायंगी। इनको डा० व्य० का लाभ होगा। उनकी रकम समाप्त होने पर उनको सूचना दी जायगी।

वी० पी० से मांग ।

जो सज्जन १०) दस रु० स्वा०मण्डल में जमा करके अपना नाम वेदके ग्राहकवर्गमें लिखेंगे और वी० पी० से पुस्तकें मगावेंगे, उनको वैसी भजी जायगी। आधा डा० व्य० उनको माफ होगा। यदि वी० पी० वापस आ गयी, तो पूरा डा० व्य० उक्त रकमसे काटा जायगा।

कमीशन ।

जो सज्जन दस ग्राहक जिस प्रकार के बनावेंगे और उनकी रकम यहां भेज देंगे, उनकी रकम यहां प्राप्त होनेपर उनको एक ग्राहक उस प्रकारका बनाया जायगा। कई लोग इस तरह वेदकी बहुत सेवा कर सकते हैं।

इस समयतक बने सदस्य–

१ श्रीमत महाराजा औंधनरेशजी ५०००)
२ श्री० डा० लालचन्द्रजी पेन्शनर २०००)
३ श्री० प० नाथूलालजी पेन्शनर २०००)
४ मे० विठ्ठलदास हरिदास ऐंड क० १०००)
५ श्री० सेठ रामभाई नारायण भाई ५००)
६ श्री० श्री भूषण गुप्त ५००)
७ श्री० धनीरामजी भल्ला २००)

इनके अतिरिक्त पोषक वर्गके बहुत से सदस्य है, जिनके नाम रिपोर्ट में छपे जायंगे।

वेदके शुद्ध पुस्तकोंकी मांग ।

ऋग्वेद हमारा प्रथम वारका मुद्रित सब का सब चार महिनों में समाप्त हुआ और अब द्वितीय वार अधिक सुधार करके मुद्रित करने का कार्य प्रारभ करना पडा है। इतनी माग अच्छे ग्रंथों की है। इसलिये इस वेद-मुद्रण की आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता जितनी हो सकती है, करना हरएक वैदिक धर्माभिमानी के लिये अत्यंत योग्य है।

निवेदक
श्री० दा० सातवळेकर,
(स्वाध्याय-मडल, औंध, जि० सातारा)

श्रीमान् प्रबंधकर्ता स्वाध्याय-मण्डल,
औंध, जि. सातारा

मैं आप के वेदमुद्रण के लिये ———— वर्गमें रु०)

(रुपये ————) सहायता देता हूं ————

————————————

कृपया स्वीकार करिये और मुझे ग्राहक बनाइये।
भवदीय

पूर्ण नाम ————————

पूर्ण पता ————————

तिथि ———— ———— जिला ————

शुद्ध चार वेद।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। (ऋग्वेद का नया द्वितीय संस्करण छप रहा है।) अगले तीन महिनों के पश्चात् सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओंके मूल्य इस प्रकार हैं—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
सामवेद	२)	॥)	।)	।॥)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६) रु० है तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ६॥) रु० अनुसार मूल्य भेजें। (इसमें ॥) पॅकिंग और रजिष्ट्रीके हैं।) उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगीं। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री—स्वाध्याय—मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

अपूर्व पुस्तक! आर्य सभ्यताका दर्शन! आर्य आदर्श!

वैदिक सम्पत्ति।

(द्वितीय संस्करण)

[लेखक- श्री० स्व० पं० साहित्यभूषण रघुनन्दन शर्माजी।]

इस अपूर्व पुस्तक के विषयमें विद्वान् लोगोंकी संमति देखिये—

१. श्री. स्वा. स्वतन्त्रानन्दजी महाराज, आचार्य उपदेशक-महाविद्यालय लाहौर की संमति—

'यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। वेदकी अपौरुषेयता, वेदका स्वतःप्रमाण होना, वेदमें इतिहास नहीं है, वेदके शब्द यौगिक हैं, इत्यादि विषयोंपर बडी उत्तमतासे विचार किया है। मैं सामान्य रूपसे प्रत्येक भारतीयसे और विशेष रूपसे वैदिक धर्मियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वह इस पुस्तकको अवश्य क्रय करें और पढें। इस पुस्तकका प्रत्येक पुस्तकालयमें होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सके, तो भी प्रत्येक समाज में तो एक प्रति होनीहि चाहिये।

२. श्री. आचार्य रामदेवजी, गवर्नर कन्या-गुरुकुल, देहरादून की संमति।

('प्रकाश' में प्रकाशित २० मई १९३४)

'मैं प्रकाशकके इन विचारों के साथ पूर्णतया सहमत हूँ कि, इसके लेखकके वैज्ञानिक, भौतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, पुराने शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, नाना-लिपिज्ञान तथा भाषा आदि अनेक विषयोंका दिग्दर्शन इस पुस्तकने हमें कराया है और भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये अनेक पाश्चात्य तथा पूर्वीय विद्वानों के विविध ग्रंथोंकी विवेचना करके आर्यसिद्धांतों को युक्ति और प्रमाणोंसे पुष्ट किया है।

वेदोंकी प्राचीनता स्थापित करते हुए, अर्वाचीन उदाहरण देकर जो वेदोंमें अनित्य इतिहास सिद्ध करनेका अशक्य प्रयत्न किया करते हैं, इसका खण्डन आपने बहुतसे युक्तियों द्वारा उत्तम प्रकार किया है। ...इस प्रकार अनेकानेक प्रमाणोंसे वेदमें अनित्य इतिहासकी स्थापना खंडित की गई है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आर्योंके कलाकौशल के ज्ञानके संबंधमें नयी खोज करके विद्वान् लेखकने अपनी खोजसंबंधी योग्यताका बडा उत्तम परिचय दिया है। इसमें कोई सदेह नहीं कि...यह पुस्तक बडीहि उपयोगी और नयी खोज और उपयुक्त प्रमाणोंसे युक्त है। इसलिए हरएक आर्य पुरुष, आर्य उपदेशक, अध्यापक और व्याख्यानदाताके मनन करने और पास रखने योग्य यह पुस्तक है। सभासमाजोंमें इसकी कथा करनी चाहिए, ताकि जनता विद्वान् लेखकके परिश्रमसे पर्याप्त लाभ उठा सके।'

३. श्री. पंडित नरदेवशास्त्रीजी वेदतीर्थकी संमति।

(मसूरी पर्वत ३।९।३४)

'हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यह ग्रंथ 'यथा नाम तथा गुणः' कोटी का है। कई प्रकरण तो इतने

मनोरंजक हैं कि उनको चार बार पढनेपरभी तृप्ति नहीं होती। वस्तुतः ऐसेहि ग्रंथ वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति की महत्ताको प्रसृत कर सकते हैं। ... प्रत्येक हिंदी पुस्तकालय व धर्ममंदिरमें रखनेकी वस्तु है।"

४. श्री. स्वामी व्रतानन्दजी महाराजकी संमति

(श्री गुरुकुल, चितौडगढ, राजपुताना, २८।८।३४)

'वैदिक संपत्ति' नामकी पुस्तक अपने विषयकी अद्वितीय पुस्तक है। आर्यसमाज के साहित्यमें इसकी समानता की अन्य पुस्तक आजतक नहीं लिखी गई। इस पुस्तक का क्रम ऐसा रोचक है कि पढने में रुचि उत्तरोत्तर बढतीहि जाती है। इस पुस्तकमें यह सफलतापूर्वक सिद्ध किया है कि सुखकी प्राप्ति के लिए वर्तमान सभ्य संसारने जिन उपायों का अवलंबन किया है, वे घातक हैं। उनके स्थानपर संसार जब वैदिक सभ्यता का आश्रय लेगा, तभी उसे सुख प्राप्त होगा। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तकको पढने के पश्चात् कोई भी सत्यान्वेषक वेद और वैदिक सभ्यता का प्रेमी बने विना नहीं रह सकता। यह पुस्तक संसार के लिये इतनी उपयोगी है कि इसका अनुवाद संसारकी सब भाषाओंमें यथाशक्ति शीघ्रहि हो जाना चाहिए।

५. श्री. पं. देवराजजी विद्यावाचस्पतिजी की संमति।

'बहुत दिन हुए आपकी भेजी हुई "वैदिक संपत्ति" नामकी पुस्तक मुझे संमत्यर्थ प्राप्त हुई थी। मैंने प्रायः सारी पुस्तक को पढ डाला। जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी है। ...इस पुस्तक में वैदिक सिद्धांतोंके पुष्टिके प्रकार को देखकर हम परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि इस पुस्तक का हिंदुओंके के घर घर में प्रचार हो।'

६. श्री० पं० भगवद्दत्तजी, M.A. की संमति।

(वैदिक रिसर्च इन्स्टीटयूट, मोडेल टाऊन, लाहौर ५।९।३४)

'वैदिक संपत्ति' पुस्तक प्राप्त हुआ। अब प्रायः साराहि ग्रंथ देख गया हूं। ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय और भूरि परिश्रम का फल है। अनेक विषयों पर ग्रंथकारका लेखन मार्मिक है।...भाषाविज्ञानपर उनका लेख बहुत विचारपूर्ण है।...पुस्तक मार्मिक है। मैं इसकी जितनी प्रशंसा करूं थोडी है। मैंने स्वयं इससे कई बातों का लाभ उठाया है।......'

७. 'वैदिक विज्ञान' मासिक की संमति।

(अप्रैल स० १९३५)

'आपने इस पुस्तक में प्रायः वेद के संबंध में उठनेवाली सभी समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेदके काल-निर्णय, वेदकी रचना का काल, वेदमें इतिहास की सत्ता, वैदिक संस्कृति तथा वेद पर योरोपीयनों के आक्षेप और वेद में उच्च सभ्यता के दिग्दर्शन आदि नाना विषयों पर आपने बडीहि सुंदर, ललित और रुचिकर भाषा में विवेचन किया है। आपकी लेखनशैली विस्तृत और स्वतंत्र है। इसके बीच में से गुजरनेवाला पाठक लेखक के मंतव्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वेदकी बहुतही समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। ... .. स्वाध्यायप्रेमी के लिये तो यह एक उत्तम और विशद मानसिक भोजन है।'

८. 'आर्यप्रकाश' की संमति।

(ता० ९।९।१९३४)

'साहित्यभूषण पं० रघुनंदन शर्माना अनमोला परिश्रमना परिणामस्वरूप 'वैदिक संपत्ति' ये विद्वानोने माटे अमूल्य गवरो ग्रंथ छे. विद्वान् पाठक वर्गना हृदयागारमां एमनुं स्थान अने श्रम हमेशाने माटे स्थायी जा रहेशे. आर्यप्रजाये आ ग्रंथनी एक एक नकल पोताना घरमां अवश्य राखवी ज जोइये. कपडां अथवा पान सोपारीनो खर्च कमी करी, पण वैदिक संस्कृति प्रत्ये प्रेम दर्शावनारी व्यक्तिये आ पुस्तक ने पोताना घरमां वसावीने पोताने प्रेममूर्त बनवावो जोइये.

९. 'वैदिक धर्म' मासिक की संमति।

'इस अमूल्य ग्रंथ में प्रथम के दो विभागों में वेदों की प्राचीनता, अपौरुषेयता और श्रेष्ठताकी सिद्धि अनेक प्रमाणों से की है। वेद का प्रत्येक वर्ण अपना अपना

स्वाभाविक अर्थ रखता है, यह ग्रंथकारका सिद्धांत है और 'अक्षरविज्ञान' नामक पुस्तक में इसकी सिद्धता की गई है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है और उसका संक्षेप से विवरण करना भी यहां असंभव है, परंतु यह बात इस ग्रंथके प्रथम दो भाग पढने से समझ में आ जायगी और अपनी आर्यसभ्यता की विशेषता भी ध्यान में आ जायगी।

'यद्यपि द्वितीय खण्डमें 'वेदोंकी अपौरुषेयता' बताने का मुख्य उद्देश्य है, तथापि ईश्वर, चैतन्य, तुलनात्मक शरीररचनाशास्त्र, जन्तुशास्त्र, मानवजाति के मूल पुरुष, आदिसृष्टि का स्थान, आदिभाषा, वैदिक भाषा आदि भाषा का संस्कृत, जन्द, फारसी, अंग्रेजी, मिश्र, अरबी, जापानी, द्राविड आदि भाषाओंसे सम्बन्ध, वैदिक भाषाकी अपरिवर्तनशीलता, अक्षरार्थ और लिपि इत्यादि प्रकरण बडे हि उद्बोधक हैं। **यज्ञोंमें आयुर्वेद, ज्योतिष, भूगोल, वास्तु, पदार्थविज्ञान, पशुपालन, सर्वभौमराज्य-शासन आदि संपूर्ण शास्त्रों का सम्बन्ध कैसा है, यह सयोग्य प्रमाणोंसहित इस द्वितीय खंडमें पाठक देख सकते हैं।**... 'ऐसे अपूर्व ग्रन्थ का हम स्वागत करते हैं और प्रत्येक वैदिक धर्मीसे हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वह इस ग्रंथ को अपने घर में रखे और इस ग्रंथका पाठ प्रत्येक भारतवासी के घर में होता रहे।'

१०. 'सार्वदेशिक' दहली की संमति।

'ऐसे उत्तम ग्रन्थको प्रकाशित करके श्री सेठ शूरजी वल्लभदासजीने आर्य जनता -विशेषतः स्वाध्यायशील विद्वन्मडली का बडा भारी उपकार किया है। प्रत्येक विषय का बडी योग्यता से इस ग्रंथ में सप्रमाण विचार किया गया है। प्रमाणों और युक्तियोंसे विषयों को खूब पुष्ट किया गया है। कागज, छपाई, प्रकाशादिक सब उत्तम हैं। इस पुस्तक की एकेक प्रति उत्तम पुस्तकालयमें अवश्य रहनी चाहिये। जिससे स्वाध्यायशील निर्धन सज्जन भी उससे लाभ उठा सकें।' -**धर्मदेव विद्यावाचस्पति**, बंगलौर।

११. अर्जुन (४ अक्तूबर १९३४)की संमति।

वैदिक संस्कृतिका विस्तृत परिचय देनेसे पूर्व लेखकने प्रथम दो खण्डों में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद अत्यंत प्राचीन और आदिसृष्टि में बने हुए हैं। लेखक की प्रतिपादनशैली उत्तम और विद्वत्तापूर्ण है। आजकल के प्रचलित मतोंका योग्यता-पूर्वक निराकरण किया गया है। तीसरा खण्ड ऐतिहासिक है, जिसमें बाहरसे आनेवाले विदेशियों के संसर्गसे आर्य संस्कृति में जो हेरफेर हुए, उनका जिक्र है। प्राचीन शास्त्रोंमें कहाँ-कहाँ परिवर्तन किए गए, इस संबन्ध में विद्वान् लेखकने कम प्रकाश नहीं डाला। चतुर्थ खण्ड में वेद और उसकी शाखाओंपर विचार करने के अनन्तर वैदिक संस्कृति का आदर्श बतानेकी चेष्टा की गई है। वर्णाश्रमव्यवस्था, त्यागवादका आदर्श और मोक्षका परम उद्देश्य आदिपर जो विचार किया गया है, वह केवल धर्मशास्त्रीय चर्चा करनेवालेके लिए ही नहीं, परंतु इतिहास के विद्यार्थी के लिए भी उपयोगी है।

'संपूर्ण ग्रंथ में लेखक की शैली इतनी विद्वत्तापूर्ण है कि लेखक के बहुश्रुत, बहुज्ञ और मननशील होने में कोई संदेह नहीं रहता। लेखक आर्यसामाजिक विद्वान् हैं, परंतु उस में उनकासा हठ नहीं है। वे कहते हैं कि वेदोंसे तार, रेलगाडी निकालना व्यर्थ है, शब्दोंकी खेंचतानी है। वैदिक सभ्यता त्यागकी सभ्यता थी, उनमें वर्तमान भौतिक उन्नतिको बहुत महत्त्व कभी नहीं दिया गया।

'हम अंत में प्रत्येक आर्यसामाजिक विद्वान्, शास्त्रीय चर्चा के प्रेमी और प्राचीन भारतीय इतिहासके विद्यार्थीसे इस अमूल्य ग्रन्थको पढने का आवश्य अनुरोध करेंगे।'

इत्यादि अनेकानेक महानुभावोंने इस पुस्तकको मुक्त कण्ठसे प्रशंसित किया है. इसलिए आप इसे लेकर एकवार पढिये—

पृष्ठसंख्या ८३२ है और मूल्य केवल ६) छः रु० है और डाकव्यय १।) है। शीघ्र लीजिये।

म० आ० से ७।) विदेशके लिये ८)

वर्ष २०
अंक १०
क्रमांक २३८

धर्म

आश्विन संवत् १९९६
अक्तूबर सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध जि० सातारा.

हमारा कल्याण हो।

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥
[ऋ० ५।५१।११]

(अश्विनौ) देवों के वैद्य (नः) हमें (स्वस्ति मिमीतां) कल्याण प्रदान करें, (भगः) ऐश्वर्य प्रदाता ईश्वर हमें ऐश्वर्य देवे. (देवी अदितिः) देवमाता हमें सुख प्रदान करे, (असुरः पूषा) जीवन देने हारा पोषणकर्ता देव (नः स्वस्ति दधातु) हमें कल्याण प्रदान करे, (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथ्वीलोक अर्थात् इनके अन्दर के पदार्थ हमें सुख देवें।

आत्मा की अगाध शक्ति है वही नीरोग करनेवाली तथा आरोग्य को देनेवाली है, वही धन ऐश्वर्य देनेवाली है, वही सब का पोषणकर्ती है, वही (असु-र) जीवन की प्राण-शक्ति देनेवाली है। उसीकी शक्ति, जो सूर्यादिकों की निर्माणकर्ती है और जो इस त्रिलोकी में जो भी कुछ पदार्थ मात्र हैं, वह सब उस प्रभुकी कृपासे हमे सुख देनेवाले और कल्याण करनेवाले हों।

दैवत-संहिता।

दैवत-संहिताका मुद्रण चल रहा है। करीब दो सहस्र मंत्र अग्निदेवता के छपकर तैयार हुए हैं। अगले महिनेमें अग्निदेवता के मंत्रों की पुस्तक छपकर तैयार होगी। जो लोग अग्निमंत्रोंका अध्ययन सत्वर करनेके इच्छुक हैं, वे इस पुस्तक को अतिशीघ्र प्राप्त करें।

इस पुस्तकमें अग्नि देवता के सब मंत्र इकट्ठे हुए हैं। अग्निः, पावकोऽग्नि, रक्षोहा अग्निः, वैश्वानरो अग्निः, इस प्रकार के अग्नि के अनेक प्रकरण इस पुस्तक में होंगे। और प्रत्येक प्रकरण में उस देवताके सब मंत्र यथाक्रम रहेंगे।

इस पुस्तकके अन्तमें अग्निदेवता के मंत्रों की सूची दी है, जिससे मंत्र कहां कौनसा है, इसका पता लग सकता है। द्वितीय परिशिष्ट में अग्निदेवता के पुनरुक्त-अभ्यस्त-मंत्रभागों का पता दिया है। इस प्रकरणसे कौनसा मंत्र-भाग कहां पुनरुक्त हुआ है, इसका पता लग जायगा। जो संपूर्ण मंत्र पुनः आ गया है, उसका पता यथास्थान दिया ही है।

जो पाठक अग्निमंत्रों का पुस्तक इस समय मंगवाना चाहते हैं, वे बिना जिल्दहि मंगावें। उनको विना अधिक मूल्य लिये, यह पुस्तक ग्रंथके मूल्यमेंहि दिया जायगा।

अग्नि-मंत्रोंके अन्तमें अग्निके साथ जो देवताएं संयुक्त हैं, उनका संग्रह किया है, जैसे अग्नीन्द्रौ, अग्ना-मरुतौ, आदि अनेक देवताएं इन प्रकरणोंमें रहेंगी। ये प्रकरण पृथक् पृथक् हैं। और इनके पढनेसे इस देवता का विज्ञान अच्छी प्रकार हो सकता है।

अन्तमें आप्रीसूक्त हैं। ये प्रायः ११ मंत्रोंके सूक्त हैं। इनमें प्रायः ११ देवताएं होती हैं और उनका एक खास विशेष क्रम होता है। ये सब ११ ही देवताएं अग्निरूप हैं, तथापि ये केवल अग्निहि नहीं हैं। इन ११ देवताओंके संगठनमें कुछ विशेष शक्ति है, ऐसा हमारा अनुमान है, क्योंकि चारों वेदोंकी संहिताओंके आप्रीसूक्त यहां हमने संग्रहित किये हैं और आश्चर्य यह है कि इन सबमें देवता-संगठनका क्रम एकही है।

इस आप्रीसूक्तप्रकरण में हमने सब उपलब्ध शाखा-संहिताओंके अन्तर्गत जितने आप्रीसूक्त हैं, वे लिये हैं। एक भी छोडा नहीं है। जिनमें थोडा पाठभेद है, वे पाठभेदसे दर्शाये हैं। और अन्य मंत्र समग्र दिये हैं। इन सबमें ११ देवताओंका संगठन एकही क्रमसे है। यह आश्चर्यकारक बात इस संग्रहमें पाठक देख सकते हैं।

इनके देवताओंका क्रम समान होनेसे इनका संगठन-क्रम भी समानही है। एक दो जगह मंत्रोंकी संख्या न्यूनाधिक है, परन्तु देवताक्रम समानही है।

इनकी देवताओंके विषयमें विशेष खोज होनी आवश्यक है और इनके संगठनके क्रममें कौनसा तत्व कार्य कर रहा है, इसका भी निश्चय होना है। केवल मंत्रार्थ करनेमात्र से इसका निश्चय नहीं हो सकता, परन्तु चारों वेदोंमें अन्यान्य स्थानोंमें इन देवताओंके विषयमें जो लिखा है, वह सब सम्मुख आ जानेसे इस विषयका निश्चय संभवतः होगा।

पाठक इस दैवत-संहिताका अच्छा अध्ययन करके देवताविषयक स्वरूप निश्चय करने का यत्न करें।

मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है।

(नवम लेख ×)

नया शीर्षक।

इस लेखमें हमने इस लेखमाला का शीर्षक बदला है। इस समय तक ' क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है ? ' ऐसा प्रश्नार्थक शीर्षक था। प्रश्न पूछने में ' सन्देह ' हो सकता है। अर्थात् क्या मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है ? ऐसा प्रश्न पूछनेपर कई कहेंगे कि, ' हां, मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है ' अथवा कई दूसरे कहेंगे कि, ' ईश्वर निराकार होनेसे ईश्वर का दर्शन आंखसे नहीं हो सकता। ' प्रश्नार्थक शीर्षक के इस तरह दो प्रकार के उत्तर होना स्वाभाविक है। पाठक इसी चक्कर में पडे हैं, कई पाठक समझने लगे हैं कि, ईश्वर नेत्रोंसे दीख सकता है और कई पाठक अब भी समझते हैं कि, ईश्वर नेत्रों का विषय नहीं हो सकता।

इस शंका की निवृत्ति करनी हि चाहिये। पाठकों को सन्देह में रखना कदापि योग्य नहीं। अतः इस लेखसे इस लेखमाला का शीर्षक हमने बदल दिया है और शीर्षक निश्चयात्मक किया है। ' मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। ' इस शीर्षक से ही जो बात हमें कहनी है, वह विस्पष्ट हो जायगी। वेद-मन्त्रों में जिस ईश्वर का वर्णन है, उस ईश्वर का साक्षात्कार हम अपनी आंखोंद्वारा कर सकते हैं, यही इस शीर्षक का तात्पर्य है।

इस लेखमाला के प्रथम लेखमेंहि वेद-उपनिषद्-गीताके ४० से अधिक वचन उद्धृत किये थे, और उन में ईश्वर-दर्शन के विषय में ' दृश् (पश्य) ' धातुका ही प्रयोग हुआ था, और इस धातु के प्रयोग के पास हमने अपने पाठकों की दृष्टि भी उस समय खींचने का यत्न किया था।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। (बृ० उ०)

' आत्मा देखनेयोग्य है। ' इस में आत्मा देखा जाता है, ऐसा स्पष्ट कहा है, इसी तरह उस प्रथम लेख में तथा अन्यान्य लेखों में जो लिखा, उसका आशय यही था कि, ईश्वर आंखों से देखा जा सकता है।

मनुष्य ईश्वर को देख रहा है।

यहां हमारा यह कहना नहीं है कि, ईश्वर का दर्शन केवल आंखसे ही होता है; हमारा कथन तो यह है कि, आंख से मनुष्य ईश्वर का दर्शन करता है, नाक से मनुष्य ईश्वर का सुगंधादिद्वारा अनुभव करता है, कान के द्वारा मनुष्य ईश्वर का शब्द सुनता है, हस्तादिके द्वारा मनुष्य ईश्वरको स्पर्श करता है, तथा जिह्वा के द्वारा मनुष्य ईश्वर का रस भी चखता है। यह सब मनुष्य कर रहा है, परन्तु मनुष्य को यह पता नहीं है, कि मैं क्या कर रहा हूं।

विचारहीन और अवैदिक ज्ञानवाले उपदेशकों के ज्ञानहीन, भ्रांतज्ञानयुक्त उपदेशों से पाठकों का यह ख्याल हो गया है कि, जो अपने को आंख, नाक, कान आदिसे अनुभव आ रहा है, वह ईश्वर से भिन्न किसी दूसरी वस्तु के गुणों का अनुभव है। अतः ये मानने लगे हैं कि, ईश्वर ऐसी वस्तु है, कि जिसका अनुभव आंख नाक आदि से नहीं हो सकता और ईश्वर से भिन्न कोई अन्य वस्तु है, जिसके गुणोंका ग्रहण मनुष्य के इन्द्रिय करते हैं।

उपदेशकोंने इसतरह से जनता के विचार वेदमार्ग से बहुत दूर पहुंचाये हैं। वेद कहता है कि—

एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः ॥
(ऋ० १-१६४-४६)

× अष्टम लेख वैदिक धर्म क्रमांक २३७, पृष्ठ ५९९ पर देखिये।

'एक ही सत् वस्तु है, जिसका वर्णन ज्ञानी जन बहुत प्रकार से करते हैं, उसी एक सत् वस्तुको ज्ञानी जन अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं।'

वेद कहे कि, एकही '**सत्**' है और हम मानें '**दो या तीन या अधिक सत् हैं**' यह कितना वेदानुकूल मानना है? उसी एक सत् को ज्ञानी जन 'अग्नि, (मातरिश्वा) वायु' आदि कहते हैं; अग्नि तो आंखसे दीखता है, वायुका ज्ञान स्पर्शसे होता है। अर्थात् उस एक ही सत् का अनुभव आप आंखसे भी करते हैं और चर्म इन्द्रिय (त्वचा) से भी कर सकते हैं।

वेदने यहां एक सत् भिन्न है और अग्नि-वायु उससे भिन्न हैं, ऐसा नहीं कहा। इस सम्पूर्ण विश्व में एक ही सत् हैं, दो सत् नहीं हैं और तीन तो कदापि नहीं है। उसी एक सत् का वर्णन अग्नि, वायु आदि के रूप में ज्ञानी जनों के द्वारा किया जाता है। वेद में अग्निपद से भी उसी सत् वस्तु का वर्णन है; पृथ्वी, जल, वायु आदि नामों से भी उसी एक ही सत् वस्तु का वर्णन वेद में हुआ है। यदि पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु ये रूप किसी दूसरे पदार्थ के होते, तो वेद वैसा स्पष्ट कह देता। परन्तु वेदमन्त्रोंने किसी भी स्थानपर ऐसा नहीं कहा है।

उपदेशकों के विपरीत उपदेशों से जनता वैदिक सत्य-धर्म से कोसों दूर भटकने लगी है और उसका परिणाम यहां तक हुआ है कि सब मानते हैं कि जो विश्व दीखता है, वह ईश्वर से भिन्न किसी दूसरी वस्तु का रूप है। पर वेद तो स्पष्ट कहता है कि—

तदेव अग्निः, तदादित्यः, तद्वायुः, तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं, तद्‌ब्रह्म, ता आपः, स प्रजापतिः।
(यजु० ३२।१)

जो एक सत् वस्तु है, वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही चन्द्रमा है, वही जल है। ऐसा इस मन्त्र में जो कहा है, वह किसी को संदेह न हो इसीलिये कहा है। इतना कहनेपर भी यदि कोई वैदिक धर्मी उस सत्यको न माने, और इस सत्य का स्वीकार न करे, तो फिर दोष किसका है? वेद कहे कि—

एकं सत्।
तत् एव अग्निः, वायुः, आपः।

एक ही सत् है और वही अग्नि, आप् और वायु है। फिर आप को दोतीन सत् मानने की क्या आवश्यकता है? वेदद्वारा यहां घोषणा हो चुकी है कि, एकही सत् है, दो या तीन सत् नहीं है। और जो एक सत् है, वही अग्नि, वायु, आप् आदि रूपों में मनुष्यों के सामने है।

जो आप अग्नि देखते हैं, वह उस रूप में 'वही एकमेव अद्वितीय सत्' है। जो आपको वायुका स्पर्श हो रहा है, वह वायुरूप में उसी एकमेवाद्वितीय सत् का ही स्पर्श है। जो आप जल पीते हैं और अपनी तृषा शान्त करते हैं, वह उसी सत् का शान्त रूप है। अर्थात् जल का जो रस आप जिह्वाद्वारा लेते हैं, वह उसी सत् का रस है। उसी एक सत् का ही जैसा शान्त रूप जल है, उसी तरह उस सत् का उग्ररूप अग्नि है। दोनों रूप उसी एक 'सत्' के ही हैं। इसीलिये हमने लेख के प्रारम्भ में ही कहा कि, आपकी आंखे उसी एक सत् को देख रही हैं, आपकी जिह्वा उसी सत् के रस को चख रही है और आपकी त्वचा उसी सत् को स्पर्श कर रही है।

इसी तरह आपका नाक उसी के विविध सुगन्धों को ले रही है और आपके कान उसीका शब्द सुन रही है। केवल आपको यह भ्रम हुआ है कि, आप अपने आंख-कान-नाक से किसी दूसरे का ग्रहण कर रहे हैं। वेद का ठीक ठीक ज्ञान होनेसे ही इस भ्रान्त विचार से आपकी मुक्ति होना सम्भव है। आप वेद के वचनों को कण्ठ करिये, स्वयं मनन करिये और स्वयं विचारिये। दूसरे किसी का आप न मानिये। आज आपमें वेद के विचार रहेंगे, आप उनका मनन करते रहेंगे, तो आप एक दिन वेद के सत्य को अवश्य ही अपनायेंगे।

आज आपको यह वेद का सत्य ग्रहण करने में बडी कठिनता हो रही है, यह हम जानते हैं। इतना ही नहीं, परन्तु आप इस वैदिक सत्यका तिरस्कार करेंगे, यह भी हमें पता है। इसलिये हम यही कहते हैं,

आप जो चाहे मानते रहिये, आप केवल वेदमन्त्रों का मनन करते रहिये। वेही मंत्र आपको सत्य मार्ग दर्शायेंगे। वेदने कहा—

ईश्वरका स्वरूप।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः। पद्भ्यां शूद्रो अजायत।
(ऋ० १०।९०।१२)

इस सत् का मुख ब्राह्मण है, इसी सत् के बाहू क्षत्रिय हैं, इसी सत् की जंघाएं वैश्य हैं और पांव शूद्र हैं। यहां सर्वत्र 'सत्' शब्द ईश्वरका ही वाचक है। जो है वह एक ईश्वरहि है। उसीके मुख, बाहु, ऊरू, पांव, ये क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। क्या इस मंत्र के अर्थ में किसी तरह का संदेह है? क्या यह मंत्र स्पष्ट नहीं है? क्या कभी इसका दूसरा अर्थ हो सकता है? और आप दूसरा अर्थ करनेवाले कौन हैं?

पाठको आप के एकमेव उपास्य देवका यही वेदोक्त स्वरूप आपके सामने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंके रूप में हैं। वेदने आपके सामने उपास्य प्रभुका यह सुंदर रूप रख दिया है, क्या यह आप नहीं देख रहे हैं? देखकर भी न देखनेके समान आप इसकी उपासनासे विमुख रहना चाहेंगे, तो फिर जब तक आप इस वैदिक सत्य को नहीं मानेंगे, तबतक आपके पुनर्जन्म को कौन रोक सकता है? वैदिक ईश्वर यही है, जो आपके सामने है, आपके चारों ओर है, आप उसमें हैं और वह आपके बाहर है। वेद और भी कहता है। देखिये—

चन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायुरजायत॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्, शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्, तथा लोकां अकल्पयन्।
(ऋ० १०।९०।१३-१४)

ईश्वर का मन चन्द्रमा है, आंख सूर्य है, अग्नि-इन्द्र उसका मुख है, प्राण वायु है, नाभि अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, कान दिशाएं हैं, पांव पृथ्वी है। तथा अन्य लोक अन्यान्य अवयव हैं।

यहां संस्कृत भाषा जाननेवाले पाठक संदेह करेंगे कि, यह अर्थ ठीक नहीं है। 'चन्द्रमा मनसो जातः' इसका अर्थ 'उस प्रभुके मनसे चन्द्रमा हुआ' ऐसा है। 'चन्द्रमा मन है' यह इसका अर्थ ठीक नहीं है। इसलिये यहां उपनिषद् के ऋषियोंने इसका क्या अर्थ किया है, वह सबसे प्रथम पाठकोंके सम्मुख रखेंगे और पश्चात् अपना आशय बतलावेंगे। अतः सबसे प्रथम उपनिषदोंके ऋषि इसका क्या अर्थ करते हैं, सो देखिये—

मुण्डकोपनिषद् में ईश्वरका स्वरूप।

१ तदेतत्सत्यं, यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः
सोम्य भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापि यन्ति॥१॥

२ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥२॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥३॥

३ अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे,
वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदयं
विश्वं, अस्य पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्व-
भूतान्तरात्मा॥ ४॥

४ तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य
ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिंचति
योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः॥५॥

५ तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे
क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च
लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६॥

६ तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या
मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहि-
यवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥७॥

७ सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः
समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु
चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥८॥

८ अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते
सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो
रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ ९॥

९ पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं
विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

(मुण्डक-उपनिषद् २।१।१-१०)

ये दस मन्त्र मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में हैं। इनका क्रमशः अर्थ यह है।

१. हे (सोम्य) प्रिय शिष्य ! (यथा) जिस तरह (सुदीप्तात् पावकात्) प्रदीप्त अग्नि से अग्नि के समान (सरूपाः) रूपवाली (सहस्रशः स्फुलिंगाः) हजारों चिनगारियां (प्रभवन्ते) होती हैं, (तथा) उसी तरह (अक्षरात्) अक्षर-परमात्मा-परमेश्वर से ही (विविधाः भावाः प्रजायन्ते) विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और वे (तत्र एव अपि यन्ति) सब वहीं लीन भी होते हैं, (तत् एतत् सत्यम्) यह सब निःसन्देह सत्य है ॥ १ ॥

२. [दिव्यः] तेजोमय, [अमूर्तः] आकाररहित, [स बाह्याभ्यन्तरः] अन्दर और बाहर व्यापक, [अजः] अजन्मा अथवा चालक, [अप्राणः अमनाः] प्राणरहित और मनरहित, [शुभ्रः] मलरहित, [अक्षरात् परतः परः] अक्षर से भी परे ऐसा जो परमात्मा है वही [पुरुषः] पुरुष अर्थात् परमेश्वर है ॥ २ ॥ [एतस्मात्] इसीसे प्राण, मन, सब इन्द्रियां [कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां] तथा आकाश, वायु, तेज जल और पृथिवी उत्पन्न होती है। यही पृथ्वी सबका धारण करती है ॥ ३ ॥

जिस तरह अग्नि से चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, उसी तरह ईश्वर से प्राण, मन, इंद्रियां और पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं, यह यहां कहा है, यह पाठक देखें।

परमात्माका वर्णन।

३. [मूर्धा अग्निः] उस परमेश्वरका सिर अग्नि है, [चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ] उस ईश्वरकी आंखें चन्द्रसूर्य हैं, [श्रोत्रे दिशः] उसके कान दिशाएं हैं, [वाक् विवृताः वेदाः] उसकी वाणी विस्तृत वेद है, [प्राणः वायुः] उस ईश्वर का प्राण यह वायु है, [हृदयं विश्वं] इसका हृदय यह सब विश्व है, [पद्भ्यां पृथिवी] उस ईश्वरके पांवोंके स्थान पर यह पृथ्वी है। [एषः सर्वभूतान्तरात्मा] यही सब भूतों का अन्तरात्मा परमेश्वर है ॥ ४ ॥

परमेश्वरका	परमेश्वरके शरीरके अवयव-
सिर	द्युलोक, अग्नि,
आंख	चन्द्र-सूर्य
कान	दिशाएं
मुख	अग्नि, इन्द्र
वाणी	वेद
प्राण	वायु, मातरिश्वा
हृदय	अन्तरिक्ष, विश्व
मन	चन्द्रमा
पेट, नाभी	अन्तरिक्ष
पांव	पृथ्वी
नाडियां, धमनियां	नदियां, छोटे झरने
केश, बाल	वृक्ष-वनस्पतियां
हड्डियां	पत्थर
रीढकी हड्डियां	पर्वत

यह सब उसी सर्वान्तर्यामी आत्मासेहि बने हैं। ये उसी सर्वान्तर्यामी के शरीरके अवयव हैं। अर्थात् यही उसका विश्वव्यापक शरीर है। क्या यह शरीर हरएक को नहीं दीख रहा है ? पाठक इसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करें और यही उनका उपास्य देव है, इसको न भूलें।

४. [तस्मात् पुरुषात्) उसी परमात्मासे [अग्निः] अग्नि उत्पन्न हुआ, अर्थात् उस परमेश्वरसे प्रथम तेज उत्पन्न हुआ, [यस्य समिधः सूर्यः] जिस तेज की समिधाएं सूर्य ही हैं। ऐसा वह प्रचण्ड तेज है, उसी सूर्य से सोम उत्पन्न होता है, उस [सोमात् पर्जन्यः] सोमसे पर्जन्य होता है, उस पर्जन्यसे [पृथिव्यां ओषधयः] पृथ्वीपर औषधियां उत्पन्न होती हैं, इन औषधियोंसे वीर्य बनता है जिसके [योषितायां सिंचति] सिंचनसे स्त्रीके अन्दर प्रजाकी उत्पत्ति होती है, इसीतरह [पुरुषात्] उस परमेश्वरसे [बह्वीः प्रजाः संप्रसूताः] बहुत प्रजाएं-यह सब विश्व-उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

इस मंत्र में परमेश्वरसे यह विश्व उत्पन्न होनेका यह क्रम दर्शाया है-

पुरुष-ईश्वर
।
अग्नि, तेज
।
सूर्य, [यह उस तेजकी समिधा है]
।
सोम
।
औषधियां [जो पृथ्वीपर उगती हैं]
।
रेतः
।
स्त्रीमें संतति, प्रजा

वनस्पतियों को फल भी स्त्री-केसर से ही होता है, सब विश्व इसी तरह परमात्मासे, ईश्वरसे बनता है।

५. [तस्मात्] उसी ईश्वरसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, सब प्रकार के क्रतु, दक्षिणा, संवत्सरकाल, यजमान, तथा जिनको चन्द्र और सूर्य अपने किरणोंसे पावन करते हैं, वे सब लोक हुए हैं ॥ ६ ॥

सूर्य के किरण जहांतक पहुंचते हैं, वहांतक के सब लोकलोकान्तर, तथा उस में रहनेवाले सब पदार्थ इसी ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, जैसी अग्नि से चिनगारियां उत्पन्न होती हैं। यह दृष्टांत पाठक यहां स्मरण रखें और कदापि न भूले।

६. [तस्मात् च] उसी ईश्वर से [देवाः साध्याः मनुष्याः पशवः वयांसि] देव,साध्य,मनुष्य, पशु और पक्षी [प्राणापानौ व्रीहियवौ तपः श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिः च] प्राण, अपना चावल, जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और सब विधिशास्त्र [सं प्रसूताः] उत्पन्न हुए हैं।

७. [तस्मात्] उसी ईश्वर से [सप्त प्राणाः] सात प्रकार के प्राण अर्थात् दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात अवयव, तथा [सप्त अर्चिषः] सात ज्योतियां अर्थात् सात इंद्रियों की सात शक्तियां, [सप्त समिधः] उन सात इंद्रियोंमें दग्ध होनेवाली विषयरूपी सात समिधायें, [सप्त होमाः] इन इंद्रियाग्नियों में होनेवाले विषयोंके सात होम, [गुहाशयाः निहिताः सप्त प्राणाः येषु चरन्ति] हृदयगुफामें रहनेवाले और संचार करनेवाले मुख्य सात प्राण तथा [इमे सप्त लोकाः] ये सात लोक, ये सब उसी ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं।

८. [अतः] इसी ईश्वर से [सर्वे समुद्राः गिरयः च] सब समुद्र और सब पर्वत उत्पन्न होते हैं, [अस्मात्] इसी ईश्वर से [सर्वरूपाः सिन्धवः स्यन्दन्ते] सब प्रकार की नदियां बहती हैं। [अतः] इसी ईश्वर से [सर्वा ओषधयः रसः च] सब ओषधियां और सब प्रकार के रस [येन एषः अन्तरात्मा भूतैः तिष्ठते] जिस रसके हेतुसे यह अन्तरात्मा उन बने हुए पदार्थोंके साथ यहां रहता है।

९. हे [सोम्य] प्रिय शिष्य ! [विश्वं कर्म तपः इदं सर्वं पुरुष एव] यह सब विश्व, कर्म, तप आदि सब वह पुरुष अर्थात् वह ईश्वरहि है। [एतत् गुहायां निहितं परामृतं ब्रह्म यः वेद] यह बुद्धिमें रहा हुआ श्रेष्ठ अविनाशी तत्त्व जो जानता है [सः इह] वह यहां इसी जीवनमें [अविद्याग्रंथि विकिरति] अज्ञान ग्रंथीको खोल देता है, अर्थात् वह अज्ञानसे दूर होता है।

पाठक इन दस उपनिषद्वचनों को देखे। इनमें स्पष्ट कह दिया है कि-' पुरुष एव इदं विश्वं ' अर्थात् वह ईश्वर ही यह सब विश्व है। इस विश्वमें पर्वत, नदियां, पत्थर, वृक्ष, वनस्पतियां, धान्य फल, फूल, पत्ते, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, मनुष्य आदि जो कुछ है, वह सब [विश्वं पुरुष एव] विश्व परमेश्वर हि है। इसी प्रकार का वेदवचन भी देखिये—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
(ऋग्वेद १०।९०।२)

' जो भूतकालमें हुआ था, जो इस वर्तमान कालमें हुआ है और भविष्यकालमें बनेगा, वह सब विश्वमें दीखनेवाला वस्तुमात्र पुरुष अर्थात् प्रभु परमेश्वरका ही रूप है। देखिये वेद और उपनिषद् की किस तरह उत्तम एकवाक्यता होती है। यही बात आगेके वचनमें अधिक स्पष्ट हुई है।

ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात्
ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं
ब्रह्मैवेदं विश्वं, इदं वरिष्ठम् ।
(मुण्डक उप० २।२।१२)

यह अविनाशी ब्रह्म हमारे सम्मुख है, हमारे पीछे है, हमारे दक्षिण और उत्तर में भी है, हमारे नीचे और ऊपर भी है, वह सर्वत्र फैला है। (इदं विश्वं ब्रह्म एव) यह विश्व ब्रह्म ही है और (इदं वरिष्ठं) यह श्रेष्ठ तत्त्व है।

यह सब मुण्डक उपनिषद् का कथन पाठक पुरुष-सूक्त के कथन से तुलना करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, जो पुरुष-सूक्तने कहा था, वही इस उपनिषद्ने अधिक स्पष्ट कर दिया है। इस मुण्डक उपनिषद् के वचनों में निम्न स्थान में लिखित वचन विशेष मनन करने योग्य है—

१. यथा पावकात् स्फुलिंगाः प्रभवन्ते तथा अक्षरात् भावाः प्रभवन्ते = जैसी अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं, उसी तरह अविनाशी आत्मासे यह सब विश्व होता है।

२. पुरुषात् प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी जायते = परमात्मा से प्राण, मन, इंद्रियां और पंचभूत होते है (जिस तरह अग्नि से चिनगारियां होती हैं)।

३. पुरुष एव इदं विश्वं = पुरुष-परमात्मा ही यह सब विश्व है। (जिस तरह अग्नि और चिनगारियां एकही होती हैं।)

४. ब्रह्म एव इदं विश्वं= ब्रह्म हि यह विश्व है।

५. ब्रह्म एव इदं पुरस्तात्, पश्चात्, दक्षिणतः, उत्तरतः, अधः च ऊर्ध्वं च प्रसृतम्= आगे-पीछे, दांयी-बाईं और नीचे और ऊपर जो [इदं] यह [प्रसृतं] फैला है, वह सब ब्रह्म हि है।

मुण्डक उपनिषद् के ये वचन स्पष्ट हैं। आगे-पीछे, नीचे-ऊपर जो यह विश्व फैला हुआ है, यह सब ब्रह्मही है और यह ब्रह्म से वैसाही प्रकट हुआ है, जैसी अग्नि से चिनगारियां होती हैं। यह भाव उक्त वचनों का है। प्रत्येक पाठक इसका मनन करें और यह विचार अपने मनमें स्थिर करनेका यत्न करें।

उक्त उपनिषद् के मन्त्र ६-९ तक के पांच मन्त्रों में फिर यही विस्तारपूर्वक कहा है कि- " उस परमात्मा से चार वेद, यज्ञ, संवत्सरकाल, यजमान, सब लोक, देव, मनुष्य, पशुपक्षी, प्राणापान, जौ आदि धान्य, श्रद्धा, तप आदि साधन, सप्तप्राण, सप्तलोक, सप्तयज्ञ, समुद्र, पर्वत, नदियां, औषधियां, सब रस आदि सब उत्पन्न हुआ है, जैसी अग्नि से चिनगारियां होती हैं। "

उक्त वचनों में जो बात संक्षेप से कही थी, वही इन ५ मन्त्रों में विस्तार से कही गयी है। इसी मुण्डक के चतुर्थ मन्त्र में " उस परमात्मा के सिर, आंख, कान, वाक्, प्राण, हृदय, पांव क्रम से अग्नि, सूर्यचन्द्र, दिशा, वेद, वायु, विश्व और पृथ्वी है, " ऐसा कहा है। यही पुरुषसूक्त के " चन्द्रमा मनसो जातः " आदि दो मन्त्रों में कहा है। इन दोनों की तुलना करने से दोनों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। और वेदमन्त्र में ' आंख से सूर्य हुआ ' ऐसा लिखा है और उपनिषद्वचनके अनुसार ' आंख ही सूर्य है ' ऐसा भाव स्पष्ट होता है। यद्यपि इन दोनों वचनों में व्याकरण की दृष्टि से अर्थ में भिन्नता है, तथापि अध्यात्मदृष्टि से दोनों का आशय एक ही है। मानो वेद-मन्त्र का भाष्यही इस उपनिषद् ने अपने ढंग से किया है। हम जो वेदभाष्य कर सकते हैं, उससे सहस्रों दर्जे ऊंचा उपनिषदों का भाष्य है। इसलिये जो वेदार्थ उपनिषदों द्वारा प्रकट हुआ है, वही विशेष ग्राह्य है, इस में सन्देह नहीं है।

वस्तुतः ' अग्नि से चिनगारी निकली ' तथा ' चिनगारी अग्नि का फलाना अंग है ' इन दोनों वाक्यों का भाव एक ही है। ' ईश्वर की आंख से सूर्य हुआ ' और ' सूर्य ही ईश्वर की आंख है ' इन दोनों वाक्योंका भाव एक ही है। यदि सूर्य एक परमात्मारूपी अग्नि से निकली एक चिनगारी-स्फुलिंग-है, तब तो वही चिनगारी उस अग्नि के विस्तृत शरीर का एक भाग भी है। इस लिये आशय की दृष्टि से दोनों प्रकार के वाक्यों का एक ही आशय है। अतः व्याकरण के विभिन्न प्रयोग के कारण किसी को अर्थ के विषयका झगडा करना अयोग्य है। व्याकरण वेद का अर्थ करने का साधनमात्र है, पर वह

अपूर्ण साधन है। इस कारण उस आधार पर विवाद करना कदापि योग्य नहीं है।

मिट्टी से घडा बना, सोनेसे आभूषण बना, इत्यादि वाक्यों में मिट्टी और घडे में पृथक्त्व प्रतीत होता है, पर वे दोनों एकही वस्तु में रहते हैं, यह सब को पता है। इसी तरह '**ब्रह्म से विश्व बना**' यह मिट्टी से घडा बनने के समान ही उसी में एकरूप होनेवाला है। विभिन्न नहीं है। यही बात समझाने के लिये उक्त उपनिषद्वचनमें '**अग्नि से चिनगारियां बनीं**' यह उत्तम उपमा दी है। जिस तरह अग्नि से चिनगारियां बनी, उसी तरह **विराट् पुरुष से प्राण, मन, इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, औषधियां, अन्न, रस, वीर्य, मनुष्य आदि सब की उत्पत्ति हुई है।**

इस से पुरुषसूक्त की बात भी पाठकों के समझ में आ सकती है। इस अनुसंधान से पुरुषसूक्त के पूर्वोक्त मन्त्रों का अर्थ ऐसा होता है— "**उस परमात्मा का मन चन्द्रमा है, आंख सूर्य है, मुख अग्नि-इन्द्र हैं, प्राण वायु है, नाभी अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, पांव पृथ्वी है, कान दिशाएं हैं, तथा अन्य लोक उसके अन्य अंग और अवयव हैं।**' यह परमात्मा का स्वरूप है।

पाठक अनुभव करें।

जिस समय पाठक सूर्य को देखते हैं, उस समय वे परमेश्वर के आंख को देखते हैं, जिस समय पाठक वायु का स्पर्श अनुभवते हैं, उस समय वे परमेश्वर के प्राण को ही स्पर्श करते, जिस समय वे पृथ्वीपर विचरते हैं, तब वे परमेश्वर के चरणोंपर विचरते हैं, जिस समय पाठक अन्तरिक्षमें घूमते हैं, उस समय वे परमेश्वर के पेटमें ही भ्रमण करते हैं। जिस समय पाठक औषधिवनस्पतियों का उपयोग करते हैं, उस समय वे ईश्वरके बालों का ही उपयोग करते हैं, जिस समय पाठक नादियों का दर्शन करते हैं, उस समय वे ईश्वरकी धमनियोंकोहि देखते हैं। जिस समय पाठक जलका उपयोग करते हैं, उस समय वे ईश्वर के शरीरके रसका ही उपयोग करते हैं। इस तरह सब विश्वही परमात्मा का शरीर है और हरएक वस्तुका देखना परमेश्वरके शरीरको देखनाही है।

अब आप पाठक विचार करके कह सकते हैं कि, वेद और उपनिषदमें जो परमेश्वर कहा है, वह आपके चारों ओर है और वह आपको प्रत्यक्ष दीख रहा है और आप भी अनुभव कर सकते हैं कि, आपके नीचे-ऊपर, आगे-पीछे, दायीं और बाईं और प्रत्यक्ष परमेश्वरहि है। क्या वेदके वर्णन के अनुसार इस तरह सर्वत्र ईश्वरका साक्षात्कार पाठक नहीं कर रहे हैं ? ऐसा कौनसा स्थान है कि जहां परमेश्वरका यह रूप प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है ? ऐसा कौनसा अभागा पाठक है कि जिसने परमेश्वरका आंख न देखा हों और जो परमेश्वरके पांव के आधार पर न रहता हो ? जिसने परमेश्वरके प्राणसे अपना प्राण बलिष्ठ न किया हो, ऐसा कौन यहां जीवित रह सकता है ? पाठक इसका उत्तर दें।

सच्चे ब्रह्मज्ञानी विद्वान ब्राह्मणोंसे बातचीत करना परमेश्वर से बातचीत करना ही है, क्योंकि (**ब्राह्मणः अस्य मुखं**) परमेश्वर का मुख ब्राह्मणही है। (**बाहू राजन्यः**) परमेश्वरके बाहु क्षत्रिय हैं, जिन नगररक्षकोंसे पाठकों की और उनकी धनदौलत की रक्षा हो रही है, वे क्षत्रिय परमेश्वरके बाहु हैं। क्या कभी पाठकोंने परमेश्वरके ये बाहु देखे नहीं हैं और परमेश्वर के इन हाथोंसे अपनी रक्षा होनेका अनुभव नहीं किया है ? हां जिनको क्षत्रियरूपी ईश्वरके हाथ हमारे अन्दर विचरते हैं, इस बातका पता नहीं है, वे समझते होंगे कि ईश्वर कोई दूसरी वस्तु है और ये क्षत्रिय उस ईश्वरसे भिन्न हैं। पर उक्त पुरुषसूक्तके उपदेशानुसार जब पाठक क्षत्रियोंको हि परमेश्वर के बाहु मानेंगे और उनके द्वारा अपना रक्षण होने का अनुभव करेंगे, तब तो वे इससे इनकार नहीं कर सकते हैं, कि प्रत्यक्ष ईश्वर के हाथही हमारी रक्षा कर रहे हैं।

वेदने कहा कि ब्राह्मण ईश्वरका मुख है [**ब्राह्मणः अस्य मुखं**] और क्षत्रिय ईश्वरके बाहु हैं [**बाहू राजन्यः कृतः**]। पर पाठकोंने ब्राह्मणक्षत्रियों को ईश्वरसे विभिन्न मान लिया, तथा ईश्वर इनसे भिन्न है और ये ब्राह्मण-क्षत्रिय ईश्वरसे भिन्न हैं, ऐसा मान लिया !! तब तो पाठक हमें समझा देवें कि वे वेदका उपदेश मागते हैं या वेदका मखौल करना चाहते हैं ? यदि पाठकोंमें से

कोई वेदके धर्मको दिलसे माननेवाले हैं, तब तो उनको मानना ही चाहिये कि, ब्राह्मणक्षत्रिय ये ही परमेश्वर के मुख और बाहु प्रत्यक्ष हैं। जब वेद कहेगा कि, ईश्वर के हाथोंसे मनुष्योंकी रक्षा होती है तब उसका यही अर्थ होगा कि, उत्तम क्षत्रियोंसे ही जनता की रक्षा हो रही है।

जब पाठक किसी वैश्य से मिलते हैं, तब वे साक्षात् परमेश्वर के मध्य भागसे अथवा जंघाओं सेहि मिलते हैं [अस्य ऊरू वैश्यः ' अस्य ऊरू मध्यं], इसी तरह जब पाठक शूद्र और अतिशूद्रोंको देखते हैं, तब उनको समझना योग्य है कि, वे प्रभुके चरणकमलों का दर्शन कर रहे हैं [पद्भ्यां शूद्रः]। क्या यह वेद का आदेश नहीं है? क्या किसी को ऐसा धैर्य है कि वह वेदका धर्म मानता हुआ इन आदेशों का विभिन्न अर्थ करें और वेदसे विपरीत हि आशय प्रकट करें।

इस समय तक जो प्रतिपादन हुआ, उसका निर्णय क्या है?

वेदका सिद्धांत।

इस समय तक के प्रतिपादन से वैदिक धर्मके एक महा सिद्धांत की यह घोषणा हुई कि "यह सब विश्व हमारे प्रभुका दिव्य शरीर है, द्युलोक अर्थात् आकाश उसका सिर है, सूर्यचन्द्र उसकी आंखे हैं, अग्नि उसका मुख है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष उसका पेट है और पृथ्वी उसके पांव हैं।"

सबसे प्रथम वेदका यह उपदेश पाठक अपनावें। इस विश्व को हीनदीन और तुच्छ न मानकर इस विश्व को परमेश्वर का शरीर मानें। इस विश्वकी प्रत्येक वस्तु किसी न किसी ईश्वरके-शरीर के अवयव में है, यह वेदका सत्य वेदोपदेश पाठक मानें, और इसका स्वीकार करें।

इसी तरह सब मानवसमाज को प्रभु का रूप मानकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों को प्रभु के शरीर के मुख-बाहु-जंघा-पाव मानकर यही अपना उपास्य पुरुष है, ऐसा भी समझें।

मानना और करना।

इतना माननेसे आपने वेद की आज्ञा मान ली, इतना ही होगा। परन्तु वैदिक धर्म तो आप को कहता है कि आप को इस से अधिक करना चाहिये। केवल मानने से यहां इस वैदिक धर्म में कुछ भी बनना नहीं है। वेदाज्ञा को मानना, अपनाना, उसके अनुसार आचरण करना, तद्रूप होना, अर्थात् वैसा अपना स्वभाव बनाना यहां वैदिक धर्म में अत्यंत आवश्यक है। यह आप कदापि न भूलिये।

ईसाई आदि लोग केवल धर्माज्ञा पर विश्वास रखने को कहते हैं, वे कहते हैं कि मनुष्य का तारण केवल इस विश्वाससे हि होता है। परन्तु वैदिक धर्म का सिद्धान्त ऐसा नहीं है। वैदिकधर्म कहता है कि धर्माज्ञाका श्रवण करो, उसका मनन करो, मननके बाद उस पर विश्वास रखो, उसको अपने जीवनमें ढालो, उस आज्ञाको अपनाओ, उसका आचरण करो, और वैसा अपना स्वभाव बनाओ। जब आपका वह स्वभाव बन जायगा, तब वही अन्तिम सिद्धि हो जायगी। इस विश्वमें विश्वास-प्रधान और कर्मप्रधान ऐसे दो धर्म हैं। वैदिक धर्ममें विश्वास, कर्म, और तद्रूपता अर्थात् वह अपना स्वभाव बनना, इन तीनोंका उत्तम समावेश है।

ईश्वरके पांव।

पाठको! आप जरा देखिये, वेदने कहा कि ईश्वर के पाव शूद्र हैं। आपने यह सुना, केवल सुननेसे कुछ भी नहीं बना, यदि आपने उसपर श्रद्धा रखी तब तो ठीक है, परन्तु यदि आपने 'शूद्रको देखनेमें प्रभुके पाद-कमलोंका दर्शन किया' तब तो आपने वेदका उपदेश विश्वाससे अपनाया, परन्तु यदि आपने ऐसा माना कि शूद्र तो एक निकृष्ट मानव है और प्रभुका पांव तो उससे भिन्न है, तब तो आपने वेदके उपदेश का निरादर किया और आप वैदिकधर्मी रहेही नहीं, अथवा वेदके धर्मसे पतित हुए।

पाठक स्वयं अपने विषयमें निश्चित कर सकते हैं कि वे सचमुच वैदिकधर्मी हैं वा नहीं। यदि शूद्रको परमेश्वर का चरणकमल वे मानते हैं, तब तो वे वैदिक-धर्मी हैं, यदि नहीं मानते तब तो वे वैदिक धर्मसे भ्रष्ट हो चुके हैं। हरएक पाठक वैदिकधर्मी होने न होने

के विषयमें स्वयं ही निश्चय करें। यह निर्णय दूसरोंसे होनेवाला नहीं है।

मान लें कि आपने इस वेदाज्ञा का स्वीकार किया है और आप सचमुच मानते हैं कि, शूद्रवर्णके लोग प्रभुके चरण हैं जो (सहस्रपाद) हजारों पांववाला प्रभु है, उस प्रभुके पांव निःसंदेह शूद्र ही हैं। आपने इतना मान लिया तब भी क्या हुआ ? वैदिक धर्मकी दृष्टिसे केवल इतना माननेसे आपकी कुछ भी विशेष प्रगति या उन्नति नहीं हुई।

यहां पाठक पूछेंगे कि, हमें अब करना क्या चाहिये ?

उत्तरमें हम कह सकते हैं कि, आपको प्रभुके चरणों की सेवा करनी चाहिये। जिस तरह मातापिता की आप सेवा करते हैं और उनको सुख देते हैं, उसी तरह इन प्रभुके चरणोंकी सेवा करके प्रभु की प्रसन्नता संपादन करना आपका कर्तव्य है। केवल शूद्र ये प्रभुके पांव हैं, इतना माननेसे वह केवल शाब्दिक ज्ञान हुआ। उससे कुछ भी बननेवाला नहीं है। वह ज्ञान आचरणमें आना चाहिये।

प्रभु के चरणों की अवस्था इस समय कितनी बिगडी है देखिये, विचारिये। शूद्रोंके एक विभाग को तो अस्पृश्य, अव्यवहार्य माना जाता है!!! यह कितना अनर्थ है, जिस वेदने 'प्रभु के चरण शूद्ररूप से मानवों में विराजते हैं' ऐसा घोषित किया, और वेदद्रष्टा नारायण ऋषिने यह घोषणा की, क्या उस घोषणा का अर्थ केवल यही है कि उन प्रभु के चरणों को अस्पृश्य, अव्यवहार्य और अमंगल माना जाय ? हाय, हाय, वेदाज्ञाकी घोर निन्दा इससे अधिक और क्या हो सकती है? इतना वेदाज्ञाका तिरस्कार करनेपर भी जो लोग वैदिकधर्मी बने रहे हैं, उनका वह वैदिकधर्मी होना, उनका तारण किस तरह कर सकता है? अब आइये और जानने का यत्न करिये कि मानवों में शूद्ररूपसे जो सहस्रों प्रभु के चरण विचर रहे हैं, और आपसे सेवा लेनेके लिये और उस द्वारा आपका जीवन कृतार्थ करने के लिये, अर्थात् आपपर कृपा, दया और अनुग्रह करने के लिये जो प्रभु के चरण इस पृथ्वीपर विचर रहे हैं, उनकी सेवा करना हरएक वैदिकधर्मी का कर्तव्य है।

सेवा कैसी करें ?

ब्राह्मण अपने ज्ञान से, क्षत्रिय अपनी रक्षाशक्तिसे, वैश्य अपने धनधान्य और गोरससे और शूद्र अपनी शारीरिक सेवासे इन दलित जनों की- इन प्रभुचरणरूपी शूद्रों की सेवा करें। क्या इन प्रभुचरणों के कष्ट आप नहीं देख रहे हैं? क्या इनकी इस समय की अवस्था आपको अज्ञात है, क्या वेदाज्ञाको प्रमाण मानते हुए आप इनकी सेवा द्वारा, इनको सुखी, प्रसन्न और संतुष्ट करना आप अपना कर्तव्य नहीं समझते ? विचार करिये कि वेदने आपको कौनसी आज्ञा की और आपने कौनसी मान ली ?

ईश्वरकी आज्ञा।

आप वेदको 'परमेश्वर की आज्ञा' तो मानते हैं, परमेश्वर वेदमें स्वयं कहता है कि यह विश्वमें व्याप्त अपना शरीर है और शूद्र अपने पांव हैं। इन ईश्वरके पांवोंमें इस समय बडे कष्ट हो रहे हैं, परमेश्वर इनके रूपमें बहुत दुःखी हो रहा है, वेदके वाक्योंद्वारा पुकार पुकार कर उसने कहा कि मेरी सेवा करो, अपनी शक्तिसे अपनी उपासना करो (स्वकर्मणा तं अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। गी० १८), अपने कर्मसे सेवा करो, इतना तो पुकार पुकार कर प्रभु कहता है, आप अपने आपको परमात्मा के अमृतपुत्र मानते हैं, परन्तु परमात्मा की सेवा करनेसे विमुख हैं, इससे क्या बनेगा ? इसका परिणाम क्या होनेवाला है, सोचिये तो सही।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये प्रभु के मुख-बाहु-ऊरू-पाव हैं। यही प्रभुका शरीर है, यही प्रभुका देह है। इसकी सेवा आपको करनी चाहिये, इसकी उपासना आपको करनी आवश्यक है, इस प्रभुके लिये आपको अपना जीवन तक समर्पित करना चाहिये। क्या आप कर रहे हैं। वेद आपने पढे, और फिर आपने क्या माना और क्या किया ?

वेद का उपदेश अपनाया होता, तो आप चुप न बैठते। उससे आपको पता लगता, कि अपने प्रभुकी सेवा करनेके लिये आपको क्या करना चाहिये और किस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। और यदि वेदाज्ञानुसार आपका स्वभाव बनता, तो स्वभावसे

❀

हि आपसे हर समय प्रभुकी सेवा होती रहती। परन्तु वह भाग्य इस समय किसमें है? इस समय तो इस वेदाज्ञाको समझने न समझनेका ही सवाल है, इस समय तो अज्ञानी उपदेशकों से वेदको बचाने का ही सवाल है।

पाठको! आपको पता लगा होगा कि, जनता वेदोपदेश से कितनी दूर है। वेदाज्ञा के अनुसार तो आपको अपना स्वभाव बनाना चाहिये और स्वभावही से यह सब प्रभु-सेवा होनी चाहिये। वह दिन कब आवेगा? कितना रुपया खर्च हुआ, कितना आडंबर मचा दिया, और मूल वेदाज्ञाको समझने की भी बुद्धि प्राप्त नहीं हुई!! और ऐसी अज्ञान की अवस्था में कितनी घमंड की जाती है, किसी को चढाना और किसी को उतारना! हाय हाय! प्रभो! तुम्हारे धर्म की क्या अवस्था इन अनाडी उपदेशकों ने कर रखी है?

प्रभु की उपासना।

अब क्षणभर मान लीजिये कि, प्रभुके इस चातुर्वर्ण्यात्मक विराट् शरीर कीहि आपको उपासना करनी है। पुरुषसूक्त में यही उपदेश वेदने दिया है। सब जनता चारों वर्णों में गुण-कर्म-स्वभाव के विभाग से विभक्त हुई है। और यही आपके उपास्य प्रभुका अखण्ड, अविभाज्य शरीर है। क्या आप इसी शरीर में इसी प्रभु के शरीर के एक अंग नहीं है? आप ब्राह्मण होंगे, तो प्रभुके सहस्त्रों सिरोंमें किसी स्थान में आपका निवास होगा, यदि आप वीर होंगे, तो प्रभु के सहस्त्रों बाहुओं में तथा छातियों में आपका स्थान होगा, यदि आप वैश्य होंगे तो आप अपने प्रभु के मध्य में, पेट में, जंघाओं में किसी जगह रहते होंगे और यदि आप स्वयं शूद्र होंगे, तब तो प्रभु के हजारों पावोंमें किसी भाग में आप रहते होंगे। आप यदि मनुष्य हैं, तो आप इन से भिन्न किस स्थान पर किस तरह रह सकते हैं।

अर्थात् आप-पाठकोंमेंसे प्रत्येक पाठक-प्रभुके विराट् शरीरका कुछ न कुछ अंश, भाग या अवयव अवश्य हैं। आप प्रभुसे (अनन्य = अन् + अन्य) भिन्न नहीं हैं, और इसीलिये आपको अनन्य भावसे ही प्रभु की उपासना, सेवा या शुश्रूषा करनी चाहिये।

अनन्य भावसे सेवा।

सेवाके दो भेद हैं, (१) एक अन्य भावसे सेवा, और (२) दूसरी अनन्य भावसे सेवा। इन दोनों सेवाओंका संक्षेपसे स्वरूप यह है कि--

(१) अन्य भावसे सेवा-अथवा भिन्न भावसे सेवा वह होती है, जिसमें सेव्य और सेवक अपने आपको विभिन्न समझते हैं। जैसा द्वैतसिद्धांतमें माना जाता है। सेव्य परमेश्वर उपासकसे भिन्न है और सेवक साधक सेव्य प्रभुसे भिन्न है। द्वैतियोंका यह सिद्धांत है। परन्तु वेदमें (एकं सत्। ऋ० १।१६४।४६) एकही सत् वस्तु है, यह 'सद्वस्तु के एकत्व का सिद्धांत' है, इसलिये यहां वैदिक धर्ममें अनन्य भाव कीहि मुख्यता है। अन्य भावसे सेवा करनेसे मैं ईश्वरसे भिन्न, और तुच्छ, हीनदीन हूं और सदा के लिये वैसाही रहूंगा। वह भाव रहता है, इसलिये उपासक का मन इस मतमें सदा दबा रहता है, तथा इसका परिणाम व्यवहारमें, आचरण में भी बहुत ही बुरा होता है। जैसा अनियंत्रित राजसत्तामें-सुलतान-शाहीराज्यमें जैसे मनुष्य दबे रहते हैं और लोकशाही राज्यसत्तामें-प्रजासत्ताक राज्यमें जैसे मनुष्य स्वतंत्र विचार के रहते हैं, वैसाही भेद द्वैतवादी और एकत्ववादी तत्त्वज्ञान में होता है। द्वैतवाद में जीव सदाके लिये दबा हुआ, कभी सुलतान-सम्राट् होनेका साहस न करनेवाला होता है, परन्तु एकत्ववाद में साधक अपने आपको 'प्रभुके साथ अनन्य' अपृथक् अर्थात् समानधर्मा मानता है और इस कारण जीव शिव की बराबरी करनेका यत्न करता है और कभी न कभी शिव बनता भी है। यह धैर्य द्वैतवाद में नहीं हो सकता।

व्यवहार में देखिये मालक और मजदूरोंकी समस्या, स्वामी और भृत्यों की समस्या, चारों ओर चल रही है। मान लीजिये कि यदि कोई पद्धति ऐसी निकाली जाय, कि प्रत्येक मजदूर या भृत्यको मैं इस कारखाने का अंशतः स्वामी या मालिक हूं, ऐसा विश्वास हो जाय, और अपने भागके योग्य मुझे लाभ अवश्य मिलनेवाला है, ऐसा निश्चय हो जाय, तो मालिक-मजदूरों, वा पूंजीपति-कर्मचारियों के झगडे क्यों कर खडे होंगे? द्वैतभावपरहि

साम्प्रतकी सब समाजरचना रची है, इसीलिये एक दूसरे को खा जानेका यत्न सर्वत्र हो रहा है और इससे विश्वमें अशान्ति बढ रही है। राजा-प्रजा, मालिक-मजदूर, पूंजीपति-पूजीहीन, ओहदेदार-प्रजा, धनी-ऋणी आदिकों के सब झगडे 'अन्य भाव-पृथग्भाव के आचरण के कारणहि हो रहे हैं।

राजा कहता है कि मैं स्वयंसिद्ध राजा हूं और प्रजाको चूस कर सुख भोगना मेरा जन्मसिद्ध अधिकारहि है। धनी मानता है कि मैं ऋणीसे भिन्न हूं और ऋणी को चूसकर मैं विशेष सुखी हो जाऊंगा। इसी तरह सब जागतिक अशांति के झगडों के बुनियाद में 'मैं अन्यों से पृथक् हूं' यह अन्यभाव ही कार्य कर रहा है। यदि धनी और ऋणी एक ही शरीर के दो अवयव हैं, यह वैदिक भाव धारण करेंगे, यदि राजा और प्रजा अपने आपको परमेश्वर के विराट् देहके अंशभाक् मानकर एकत्व का अनुभव करेंगे, तो उस स्थिति में चूसने के लिये कोई दूसरा वहां रहेगा ही नहीं।

धनी परमेश्वर के शरीर के बाये भाग के अवयव हैं और ऋणी उसी के दाहिने भाग के अवयव हैं। यह वैदिक सिद्धान्त यदि व्यवहार में आ जायगा, तब तो धनी और ऋणी समझेंगे कि दूसरे को चूसने डुबाने का यत्न करना अपने लिये भी हानिकारक है, क्योंकि जिसको चूसना है वह अपने ही शरीर का भाग है। इसी तरह यदि राजा-प्रजा समझेंगे कि हम सब भगवान् के विराट् स्वरूप के हम अंश हैं, और हमें प्रभु का विश्वव्यापक महाकार्य करना है, तब तो उनका आचरण ऐसा होगा कि जिस से दोनों को समाधान मिलेगा, दोनों आनन्द को प्राप्त होंगे और कदापि दोनों में विरोध पैदा होगा ही नहीं। पर आजकल चारों ओर देखिये एक दूसरे को अपने से भिन्न मान कर दूसरे को खाने का यत्न किया जा रहा है और उस कारण जहां विरोध खडा होनेका कारण नहीं, वहां भी विरोध खडा हो रहा है। जनता वैदिक धर्मके सिद्धान्त से बहुत दूर जाने के कारण हि यह अशान्ति है।

अस्तु। इस तरह वेदके सिद्धांत के अनुसार सब जनता-ज्ञानी, शूर, व्योपारी और कर्मचारी-अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये सब प्रभुके विराट् शरीर के अवयव हैं, अर्थात् सब मिलकर जनताजनार्दन बनता है, कोई उस से पृथक् नहीं है, अतः सबको अनन्य भावसे प्रभुकी उपासना करनी आवश्यक है।

(२) अनन्य भावसे सेवा- एकत्वभावसे सेवा का अर्थ यह है कि सबका मिलकर एकही अखण्ड जीवन है, ऐसा समझकर व्यवहार करना, सबकी सेवा के लिये अपने आपको समर्पण करना। वेद कहता है-

तत्र को मोहः कः शोकः।
एकत्वमनुपश्यतः॥ (यजु० ४०)

'एकत्वका दर्शन करनेवाले के लिये शोक और मोह नहीं होते।' सब प्रकारके शोकमोह पृथग्भाव से व्यवहार करनेवालों कोही सताते हैं।

यहां पाठक पूछेंगे की क्या वेदकी दृष्टिसे केवल मानवसमाज में ही इस तरह एकत्वबुद्धि रहनी चाहिये? अन्य प्राणी और वस्तु पृथक् हैं, वा उनमें भी इसी तरह की एकता है?

विश्वरूपी प्रभु है।

उत्तरमें निवेदन है कि वेदके सिद्धांत के अनुसार संपूर्ण विश्व ही परमेश्वर का अखण्ड रूप है, इसमें पशु, पक्षी, स्थावर, जंगम कोई अलग नहीं किये जा सकते।

पुरुष एव इदं सर्वं। (ऋ० १०।९०।२)
ब्रह्म एव इदं विश्वं।
पुरुष एव इदं विश्वं। (मुण्डक उ० २।१।१०)

'पुरुष, ब्रह्म या ईश्वर ही यह सब विश्व है।' सब विश्वमें सब कुछ आ गया है, एक भी वस्तु पृथक् नहीं है। इसी कारण पुरुषसूक्त में और ऊपर दिये मुण्डक-वचनों में स्पष्ट कहा है कि "उसी ईश्वर से पशु, पक्षी, पर्वत, नदियां, वृक्षवनस्पतियां आदि सब हुआ है।" अर्थात् जिस तरह उससे ब्राह्मणक्षत्रिय हुए, उसी तरह पशुपक्षी, वृक्षवनस्पतियां, पत्थरपहाड आदि सब हुआ है, और यह सब विश्व उससे ऐसा बना जैसी चिनगारियां अग्निसे बनती हैं। यह सब वर्णन ऊपर आ गया है, वह पाठक पुनः एक बार देखें और मननपूर्वक उसका आशय समझनेका यत्न करें।

क्या इसके मननसे यह स्पष्ट नहीं हुआ, कि वेद-मंत्रों में जो पुरुष, ब्रह्म, सत् आदि नामोंसे ईश्वर कहा है, वह मनुष्योंको प्रत्यक्ष दीख रहा है और इसी की सेवा साधकोंको करनी चाहिये। और इसी की सेवासे अर्थात् अनन्य भावसे की हुई सेवासे हि सब मानवों का उद्धार होना है। उन्नति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

वेदके धर्म पर प्रेम रखनेवाले पाठको! आप स्वयं इस विषयकी सत्यासत्यता के विषयमें जितना अधिक सोच सकते हैं, उतना सोचिये। यह आपके अपने हि बंध-मोक्ष का प्रश्न है। इस महत्वपूर्ण प्रश्नके विषयमें आप अज्ञानी उपदेशकों और प्रवचनकारों के ऊपर विश्वास रखकर चुप रहते हैं। इससे कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करिये। जो वेदवचन इस लेख-माला में दिये जाते हैं, उनका आप स्वयं मनन करिये और अपने परम उन्नति का उपाय आप सोचिये और वेद का सत्य सिद्धांत जानकर आचरणमें लानेका यत्न करिये।

आप यदि यत्न करेंगे तो स्वयं यह जान सकते हैं।

ईश्वरविषयक शंका।

श्री० रामनारायणसिंहजी, ग्राम बांसी, पो० कटावां, जि० सुलतानपुर अवध अपने ता० १०।८।३९ के पत्र में लिखते हैं—

निवेदन है कि वै० ध० अगस्त १९३९ ई० के सफे ५२६ में श्री० पं० सर्वजितजी गौड के तीन प्रश्नों के उत्तर जो श्रीमान्‌जी दिये हैं, उनके विषय में मुझे भी शंकायें हैं। आज्ञा तथा प्रार्थना के साथ नम्र निवेदन है कि, उनके समाधान करने की कृपा की जावे।

प्रश्न (१) ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो आत्मा और प्रकृति आ अलग अस्तित्व क्यों है?

उत्तर- वह ब्रह्म सब कुछ हुआ है। ये तीन होते हुये एक ही यह आत्मा है, आत्मा एक होता हुआ भी वह यह तीन है। जैसे भांप, पानी, बर्फ ये तीन भिन्न वस्तुयें हैं, पर जलत्व की दृष्टि से तीनों एक ही हैं, तीनों का भिन्न उपयोग है, अनुभव भी भेद का ही है, तथापि जल-तत्व दृष्टि से तीनों एक ही हैं। जलतत्व एक होते हुए भांप और बर्फ क्यो हैं, या भांप होते हुए जल और बर्फ क्यों हैं, इस प्रश्न के समान ही ईश्वर सर्वशक्तियुक्त होते हुए प्रकृति और जीव क्यों अलग हैं? यह प्रश्न है। ज्ञान-दृष्टि प्राप्त हुई, विज्ञान हुआ तो एकत्व अनुभव में आता है।

उपरोक्त उत्तर पर मेरी शंका।

आप कहते हैं कि, जिस प्रकार जलतत्व एक होते हुये भांप और बर्फ विलग प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृतिस्वरूप से विलग प्रतीत होते हैं, वास्तव में एक ही हैं। यह समाधान हमारे समझ में नहीं आता कि आखिर इस रचना का प्रयोजन क्या है? ईश्वर ने आप ही जीव व प्रकृति का रूप क्यों धारण कर लिया, यदि कहा जाय कि जैसे जल ने भांप और बर्फ का रूप धारण किया, तो यह समझ में नहीं आता कि, जलने तो अपनी इच्छासे अनेक रूप धारण नहीं किया, किन्तु किसी चैतन्यसत्ता के नियम, कर्म या प्रेरणासे किसी निश्चित् प्रयोजन के लिये जल अनेक रूपों में परिवर्तित् किया गया, पर ईश्वर तो स्वयं चैतन्य और ज्ञानस्वरूप है। वह विना किसी कारण और प्रयोजन के अनेक झमेलों में क्यों पडने लगा?

इस विषय में जो मेरी समझ में आता है, वह यह है, कि ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ हैं, इन जीवों की विशेषज्ञ करने के लिये साधनरूप में [अपनी महती कृपा से] प्रकृति से विश्व की रचना करता है कि जिस से जीव मुक्त होकर आनन्द का भोग कर सकें। इसी कारण से इन तीनों का अनादि होना अनिवार्य है।

इस प्रकार के मन्तव्य में मेरी समझ में कोई वैज्ञानिक बाधा प्रतीत नहीं होती और जीवआत्मा भी इसमें संतुष्ट और शान्त हो जाता है, और सेवक-स्वामी, उपास्य-उपासक भावमें भी कोई बाधा नहीं पडती। मेरी समझमें किसी शंका का उत्तर यह नहीं होना चाहिये कि अनेक प्रकार से वैज्ञानिक रीत्यनुसार समाधान करते हुये भी अन्त में यह कहने पर विवश होना पडे कि, आगे अनिर्वचनीय है।

उपरोक्त अपनी शंका के विषय में वेद तथा उपनिषद् का प्रमाण या उन प्रमाणोंके अर्थ और भाव में अपनी बुद्धि से निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि जैसे अनेक मन्त्रों से ईश्वर, जीव और प्रकृति की आदि एकता भासित होती है, वैसे ही अन्य अनेक मन्त्रों से इन तीनों की अनादि अनेकता भी सिद्ध होती हो, ऐसी दशा में कौनसा सिद्धान्त है. इसका निर्णय ऋषिमुनि ही कर सकते हैं, मेरी शक्तिसे तो यह सर्वथा बाहर ही है। हां यदि श्रद्धा और तर्क से सम्बन्ध रखनेवाली वैज्ञानिक बुद्धि और विचार से आप समाधान करने की कृपा करेंगे, तो सम्भव है कि इस गूढ विषय में कुछ मेरे पल्ले भी पड जावे।

शेष दो प्रश्नों के समाधान के विषय में फिर निवेदन करूंगा। शमित्योम्।

संपादकीय उत्तर।

श्री० म० रामनारायणसिंहजी उत्तम वेदप्रेमी और युक्तियुक्त तर्क करनेवाले भी हैं। उक्त पत्रमें वे निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं—

१. ईश्वरने जीव और प्रकृति का रूप क्यों धारण किया?

२. इस विषयमें भाप, जल और बर्फ का दृष्टांत योग्य नहीं, क्योंकि इनका निर्माता इनसे पृथक् चेतन है।

३. ईश्वर स्वयं चैतन्य होनेके कारण वह जीवप्रकृति के अनेक झमेलों में क्यों पडेगा?

४. ईश्वर सर्वज्ञ, जीव अल्पज्ञ, इन जीवोंको विशेषज्ञ करनेके लिये ईश्वरने सृष्टिकी रचना प्रकृति से की है, जिससे जीव मुक्त होकर आनन्दका भोग कर सके।

५. इस मन्तव्यमें कोई वैज्ञानिक बाधा नहीं है। इससे जीव संतुष्ट होता है, और उपास्यउपासक भाव में बाधा नहीं आती है।

६. किसी शंका का उत्तर यह नहीं होना चाहिये कि उत्तर देते देते आगे अनिर्वचनीय कहने की आवश्यकता पडे।

७. इस विषयमें मैं वेद और उपनिषदोंके प्रमाण-वचनोंका निश्चय मैं नहीं कर सकता, वह मेरी बुद्धिसे बाहर है। क्योंकि श्रुतिवचन दोनों प्रकारके मिलते हैं।

८. वेद और उपनिषदों में एकत्वदर्शक तथा अनेकत्व-दर्शक मंत्र है।

९. यदि आप श्रद्धा, तर्क और वैज्ञानिक बुद्धिसे समाधान करेंगे, तो मेरे पल्ले भी कुछ पड जायगा।

१०. इनका समाधान करनेके पश्चात् इस समाधान के विषयमें मैं फिर निवेदन करूंगा।

इन दस शंकास्थानोंका पूर्ण समाधान करना हमारे लिये स्थानाभावके कारण कठिन है। हम यहां वेद और उपनिषदोंके वचन क्या कहते हैं, यही केवल दर्शाते हैं। लेखक स्वयं लिखते हैं कि वे वेदोपनिषदों में दोनों प्रकारके अर्थात् द्वैतपरक और अद्वैतपरक वचन देखते हैं और उनका निर्णय नहीं कर सकते। यदि यह सत्य है, तो उनको इन दोनों प्रकारके वचनोंका ही प्रथम अधिक विचार करना उचित है। परन्तु यदि यह उनकी नम्रता है, तब तो उनको स्वयं निर्णय करनेका यत्न करना चाहिये।

दो प्रकारके वचन एक विषयमें भी होते हैं और दोनों अनुभव के भी हो सकते हैं। समझ लीजिये कि एक मनुष्य हिमालयकी चोटीसे नीचे उतर रहा है, उसको प्रतिक्षण अधिकाधिक गर्मीमें आने का अनुभव हो रहा है। दूसरा मनुष्य उसी पहाडपर नीचेसे ऊपर जा रहा है, उसको प्रतिक्षण सर्दीका अनुभव आ रहा है। ये दोनों अनुभव दोनों आदमियों के लिये सत्य ही हैं।

ये दोनों मनुष्य पर्वतके मध्यमें एक दूसरेसे मिलते हैं और अपने अनुभव बोलते हैं, ऊपरका मनुष्य कहता है कि, 'यहां बडी गर्मी है' और नीचेवाला मनुष्य कहता है कि 'यहां बडी सर्दी है'। दोनों अपना अनुभव सत्य होनेका दावा करते हैं और अपनी सचाई की दृढता करनेके लिये लडने लगते हैं! निःसन्देह यह लडाई मूर्खता के कारण हो रही है, क्योंकि दोनोंके अनुभव परस्परविरुद्ध होनेपर भी सत्य हैं। ज्ञानी मनुष्य यह जानकर लडाई नहीं करेगा, पर अज्ञानी लडता ही रहेगा।

द्वैत-अद्वैत का भी ऐसाही झगडा है। समाधिका अनुभव

और विषमाधी का अनुभव ये दो अनुभव मनुष्य को प्राप्त होते हैं। समाधि-मुक्ति-सुषुप्ति में केवलता, एकता या अद्वैतका अनुभव है। समाधि योग से साध्य है, मुक्ति वैदिक तत्त्वज्ञान के अपनाने से होती है और सुषुप्ति निद्रामें लभती है। ये तीनों रजोगुण-सत्वगुण-तमोगुण की स्थितियां हैं और तीनोंमें ब्रह्मानुभव मिलता है।

समाधि-सुषुप्ति-मुक्तिषु ब्रह्मरूपता।

इस ब्रह्मरूपतामें एकता का ही अनुभव है। यह विषय छांदोग्य और बृहदारण्यक में विस्तारसे वर्णन किया है और अन्त में कहा है कि—

यत्र हि द्वैतमिव भवति......तदितर इतरं
पश्यति......यत्र वा अस्य सर्वं आत्मैवाऽभूत्
तत् केन कं पश्येत् ॥ (बृ० उ० २।४।१४)

'जिस अवस्थामें द्वैत होता है, उस अवस्थामें एक दूसरे को देखता है......पर जिस अवस्थामें (सर्वं आत्मा एव अभूत्) सब वस्तुमात्र आत्माही हुआ, उस अवस्थामें कौन किसे देखे।' यहां स्पष्टताके साथ दो अवस्थाओंका वर्णन है, एक अवस्थामें एक दूसरेको देखता है, वह द्वैत अवस्था है। दूसरी अवस्था अद्वैतकी अथवा एकताकी है, जिसमें सब विश्व आत्मारूप ही होता है, उस एकत्वकी अवस्थामें कौन किसे देख सकता है? यह उपनिषद् का वर्णन ईशोपनिषद् के जिन मंत्रोंका भाष्य है, वे मंत्र ये हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद्वि-
जानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥
(ईश उ० वा. य. अ. ४०)

द्वैत अवस्था- सब भूतोंको आत्मामें देखना और आत्माको सब भूतोंमें देखना ॥६॥

अद्वैत अवस्था- सब भूतोंको आत्मा ही जानना, यह अवस्था [विजानतः] विज्ञान की उच्च अवस्था है और इस विज्ञानसे सब शोकमोह दूर होते हैं ॥७॥

ये वेदमंत्र साथ साथ हैं और प्रथम मंत्रमें स्पष्ट द्वैत है और दूसरेमें विस्पष्ट अद्वैत है। ये दोनों भिन्न अवस्थाओं के भिन्न अनुभव हैं। इसी का स्पष्टीकरण ऊपर बृहदारण्यक वचनमें किया है। दोनों सत्य हैं।

एक व्यवहारदृष्टि है और दूसरी तत्त्वदृष्टि है। एकत्व का अनुभव सुषुप्ति-समाधि-मुक्ति में होता है। द्वैतका अनुभव अन्य अवस्थाओं में होता है। मनुष्य के पास दो मन हैं। एक (Subconscious mind) गूढ मन और दूसरा (Conscious mind) व्यक्त मन। व्यक्त मन जाग्रति में कार्य करता है और गूढ मन सुषुप्ति-समाधि-मुक्ति में कार्य करता है। व्यक्त मन द्वैतका ही अनुभव कर सकता है और गूढ मन द्वैतको जानता तक नहीं। ये दोनों मन हरएक मनुष्य में रहते हैं। जाग्रति के व्यवहार में व्यक्त मन ही कार्य करता है और सुषुप्ति-समाधि-मुक्ति में केवल गूढ मन ही कार्य करता है। ये दोनों विभिन्न अनुभव हरएक मनुष्य को प्रतिदिन प्राप्त होते हैं। मनुष्य जागता है और सोता भी है, इन दो अवस्थाओं में दोनों मनों को ये दोनों अनुभव मिलते हैं, इन अनुभवों का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में इस तरह आया है—

अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता...
स्तेनो अस्तेनो...चाण्डालोऽचाण्डालो भवति।
(बृ० उ० ४।३।२२)

"इस सुषुप्ति या समाधि अवस्था में पिताको पिता होने का भान नहीं रहता, माता को माता होनेका भान नहीं होता, चोर को चोर होने का ज्ञान नहीं रहता, चाण्डाल को मैं चाण्डाल हूं, यह ज्ञान नहीं रहता।" यह सब सत्य है। गाढ निद्रामें मैं माता, पिता, चोर, चाण्डाल, राजा, प्रजा, होनेका ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप एकत्वका अनुभव करता है। जाग्रति के द्वैत में माता, पिता, चाण्डाल, चोर, राजा, प्रजा ये अनुभव हैं। समाधि योगादि साधनोंसे प्राप्त होती है, उसमें भी यही एकत्व का-कैवल्यस्थितिका अनुभव होता है। जो तमोगुणी सुषुप्तिमें हरएक मनुष्य अज्ञानतः प्राप्त करता है, योगादि साधनोंसे प्रयत्नतः साध्य समाधि है। समाधि में आनन्द है और सुषुप्ति में विश्राम है। यह दोनों अवस्थाओं में भेद है। अस्तु इतना विवेचन द्वैताद्वैत के विषय में पर्याप्त है।

जो अज्ञानवश द्वैत और अद्वैत के विषय में झगडते रहते हैं, उनको उचित है कि द्वैतप्रतिपादक मन्त्र व्यक्त मनके अनुभव के हैं और अद्वैतप्रतिपादक मन्त्र गूढ मनके अनुभवके हैं, यह बात ठीक प्रकार समझनेका यत्न करें। दोनों मनोंके अनुभव सत्य हैं, अतः दोनों वर्णन उस उस अवस्थामें सत्य हैं। अनेक मंत्रोंमें विभिन्न वर्णन आया, इसलिये डरनेका कोई कारण नहीं है। सातवी और आठवी शंकाके विषय में इतना विवेचन पर्याप्त है।

छटी शंकामें यह कहा है कि अन्तमें अनिर्वचनीय नहीं कहना चाहिये। परन्तु जो जो बडे शास्त्रकार हैं, अर्थात् हमारे देशके तथा यूरोपके बडे वैज्ञानिक हैं, वे सब एक मत से कहते हैं कि आगे मति कुंठित होती है और अनिर्वचनीय ही कहना पडता है। जहां सबको अनिर्वचनीय कहना पडता है, वहां हमारी बुद्धिने भी वैसाही कहा तो कोई हानि नहीं है।

प्रथम शंकामें पूछा गया है कि ईश्वरने जीव और प्रकृतिका रूप क्यों धारण किया? वस्तुतः किसीने किसी का रूप धारण नहीं किया, यह एक समझने न समझने की बात है। वस्तुतः तीन वस्तुएं विभिन्न नहीं हैं, एकही वस्तुके ये तीन पहलू हैं। चेतनत्व, जडत्व ये दो भाव हैं और ये दो भाव जिसमें समाये हैं, वह 'एक सत्' है। इसी को वेदने 'एकं सत्' कहा है। मनुष्य के शरीरमें दायां और बायां ऐसे दो भाग रहते हैं, ये दोनों भाग मानवशरीर में समाये हैं, इसलिए मानवशरीर यह एक ही सत् है, दायां और बायां ये कल्पनासे माने हैं। अर्थात् ये तीनों हैं परन्तु तीनोंका मिलकर एक ही सत् है।

रुपये में एक भाग राजाकी सूरत से चित्रित है, दूसरा वेलपत्तीसे चित्रित है। ये दो भाग अखण्ड रुपये की शकल में समाये हैं। यद्यपि व्यवहारदशामें ये तीन भाग हैं पर ये सब मिलकर वस्तु (रुपया) एक ही सत्य है। ठीक इस प्रकार ईश्वररूपी एक ही सत् वस्तुके जड-चेतन, क्षर-अक्षर, प्रकृति-पुरुष ये दो भाव समझानेके लिए माने हैं। वस्तुतः सब मिलकर एक ही वस्तु सत् (एकं सत्) है।

प्रकृति ईश्वर का शरीर ही है, वह उससे भिन्न नहीं है, वह ईश्वर की हि प्रकृति है जैसी प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति उसका शरीर है। इसी लिये वेद और उपनिषदोंमें परमेश्वर को 'विश्वरूप' कहा है। 'भांप-जल-बर्फ' का दृष्टांत सार्थ है, यहां निर्माता भिन्न है और वहां ईश्वर का स्वयंसिद्ध स्वभाव ही वैसा है। द्वितीय और तृतीय शंका का उत्तर 'उसका वैसा स्वभाव है' यही है। इस स्वभावका निर्देश श्वेताश्वतरोपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें हि है।

चतुर्थ शंका के विषय में यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ऐसे देह होने हैं। महाकारण शरीर परमेश्वर का है और वह सब विश्वमात्र का एक ही है अर्थात् सब जीव भी उसी में समाये हैं। वही चैतन्य जब स्थूल शरीरपर व्यक्त मनके साथ कार्य करने लगता है, उस समय जीवभाव होता है। यही जीव योगादि साधनोंसे अपने गूढ मनपर कार्य करने लगता है, उसी समय जीवभाव शिवभाव में विलीन होता है, महाकारण शरीरपर तो जीवभाव की कल्पना भी नहीं है। ये सब शरीर और ये सब व्यक्त गूढ आदि सब भाव विश्वरूपी ईश्वरके ही हैं। जब मृत्यु और जीवन जैसे विरूद्ध धर्म ईश्वररूपमें रहते हैं तब तो उनके मध्यके अन्य सब भाव उसमें रहते हैं, इसमें क्या संदेह है? शंका चतुर्थ और पंचम का विचार ऐसा है।

विश्वका निरीक्षण विशेष सूक्ष्मताके साथ और करनेपर वेदोपनिषदोंके मंत्रोंका विचार गूढ और व्यक्त मनके अनुभवों के साथ मिलानेसे किसी को कोई शंका रहेगी नहीं।

शंकाकर्ताने श्रद्धा, तर्क और वैज्ञानिक बुद्धिसे समाधान करनेको कहा है। इस विषय में निवेदन यह है कि श्रद्धा और तर्क दोनों एक स्थानपर रहना अशक्य है और आजकलकी वैज्ञानिक बुद्धि अस्थिर है। पचास वर्ष पूर्व जो वैज्ञानिक ६०;७०; या १०० मूलतत्व मानते थे, वे ही आज एकही मूलतत्व मानने लगे हैं। तथा सबसे बडे वैज्ञानिक यह मूलतत्व चेतन ही है, ऐसा एक स्वरसे मानने लगे हैं। The great design यह पुस्तक कृपा करके शंकाकर्ता पढे, क्योंकि इसमें अनेक बडे वैज्ञानिकोंके लेख हैं और वे एक चेतन मूलतत्व मानते हैं।

वेद का भी यही मन्तव्य है और वही ऊपर बताया है। सबसे प्रथम एक, दो और तीन तत्व एक ही में किस तरह समाये हैं, वह ऊपर लिखी बात विचारमें ली जायगी, तब कोई विवाद खडा नहीं होगा।

देखो द्यावापृथिवी देखो।

(लेखक- श्रीयुत धर्मदेव शास्त्री, देहरादून)

१

रसमय शशि है, जल के भीतर।
वह नभमें मैं भूतलपर ॥१॥
प्यासदुःख वह क्यों कर जाने,
रस का नाम सुना बस मैंने।
लगा तृषा से हूं अकुलाने,
वह रस में रस उसका अन्तर ॥२॥
रसमय शशि है-
इन्दो! हँस कर क्यों दुःख देते,
आह्लादक है नाम तुम्हारा-
तुम दुखिया का दुःख हर लेते।
हास्य नहीं तुम को शोभा कर ॥३॥
रसमय शशि है-
क्या मैं भी शशि सम होऊंगा
जलमें मैं मुझमें जल होगा।
अपने उर के दुःख धोऊंगा,
वह क्षण होगा कैसा सुखकर ॥४॥
रसमय शशि है-
दुःख ही मेरे भाग्य बदा है,
कहां भला वह और कहां मैं।
मेरे सिर पर बोझ लादा है,
वह शशि इन सब से है ऊपर ॥५॥
रसमय शशि-

२

पक्षी भी मुझ से है वर तर।
मेरा परिचय कैदी इतना
उसने नभ में डाला पलना।
बोझ निरन्तर मेरा जीवन
उसके पंख जगत् के वीजन।
मन चाहा वह उसका जाना,
ऊपर नीचे भूसागर पर-
उस अनंत में दौड लगाना।
पर मेरा सब पर के हाथ-
है स्वहस्त बस अश्रु बहाना
फिर भी क्यों कर मैं चेतनतर ॥१॥ पक्षी-
मानव को सब श्रेष्ठ बताते
अमृतपुत्र ओम् का मैं हूं-
वेद सदा यह सत्य बताते।
किंतु मुझे तो स्पष्ट दीखता
मानवजीवन दुःख का घर ॥२॥
पक्षी भी मुझसे-
सोने के से पंख किसी के
उडते सुख से मौज खुशी से।
सोते उठते अपने मन से
गाते बीते दिन सब इनके।
मेरी उम्र सदा यों बीती
सुबह शाम की घडियां गिनते।
चारों ओर बडी दीवारें-
सर फोडूं ? इन से टकरा कर ×॥३॥
पक्षी भी-
मुझ दुखिया का नहीं ठिकाना
जाऊं कहां सभी बेगाना।
विहगाली से है क्या आशा
उस का काम सभी मनमाना।
मेरा साथ दिया है किसने-
मैंने आजतलक नहीं जाना।
देखो द्यावा पृथिवी देखो
देखो तो अब आंख खोलकर ॥४॥ पक्षी भी-

× ऋग्वेद के एक करुण रसपूर्ण प्रकरण के एक मन्त्र का छायानुवाद—

शिशु-संगोपन ।

(व्याख्याता- डॉ० श्री० रा० शं० किबे, कोल्हापूर)

कवि बालकों को फूल की उपमा देते हैं। कौन कहेगा, कि वह उपमा सार्थ नहीं है? बालकों को देखकर मन को वैसा ही आल्हाद होता है न, जैसा कि फूलों को देखकर होता है? हम कभी बाहर से थके हुये आये हों, अथवा कोई दुःखदायक कारण आने से हमारे मन का विरस हुआ हो और हमें घर पहुंचते ही हमारा हास्यमुखवाला बालक दौडता हुआ आवे और हमारे अंग से चिपक जाय, तो हमारे हृदय को जो आनन्द होता है, उसका अनुभव यहां उपस्थित कई बन्धुभगिनो को आया होगा। साफ कपडे पहने हुए हम घर आए और धूली से भरे हुए मलिन अंग से हमारा बालक हमें चिपक जाय और गोद में बैठ जाय, तो भी उसपर हमें क्रोध आता ही नहीं; प्रत्युत प्रेम की बाढ से हम अपने को भूल जाते हैं! यहांतक हम आनन्द में मग्न रहते हैं। मेरी समझमें इसी प्रकारका अनुभव लेते लेते हमारे कवीश्वर को अपने काव्य में यह त्रिकाल-सत्य हमेशा के लिये गुह देने की आवश्यकता मालूम हुई—

" धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ! " अस्तु। मेरे कहने की गरज यही है, कि जब हम घर पहुंचते हैं, तब हमारी मनःस्थिति चाहे कैसी भी हो, अपने बालक को- प्रेममय, क्रीडनशील, मोहक बालक को देखकर हमें जो आनन्द मिलता है, उस को दूसरी कोई उपमा है ही नही! हमारा मन इतना प्रसन्न क्यों होता है? परन्तु ऐसा प्रश्न ही अयोग्य है। बहुतेरे लोग कहते हैं और अनुभव भी इससे भिन्न नहीं हो सकता, कि पौर्णिमा के चन्द्र को देखकर जैसा आनन्द होता है, उसी तरह अर्भक की ओर, जिस में अभी, लौटने तक की ताकत नहीं आई, ऐसे भी छोटे बालक की ओर देखने से, उस के मुंहपर झलकने-वाला तेज, सदा हंसनेवाली उसकी मुद्रा, आनन्द के आवेग से उडनेवाले उसके हाथपैर, उसके अनियारे नेत्र, हमारे कर्णों को पुनीत करनेवाले उसके हुंकार इत्यादि बातें गोचर होने से हमारे हृदय में आनन्द की, प्रेमकी ऊर्मियां उछलने लगती हैं।

इस तरह का आनन्द प्रत्येक मनुष्य भाषा में व्यक्त न कर सके, तथापि उसके हृदय में वह ओत प्रोत भराही रहता है; फरक इतना ही है, कि उस के आनन्द का स्वरूप मूक रहता है। परन्तु यह सामान्य सिद्धान्त है, कि विना कार्यकारणभाव के कोई घटना होती नहीं, अर्थात् इस आनन्द के मूल में कोई कारण अवश्य रहना चाहिए और यह कारण एकही हो सकता है- बालक की निकोप प्रकृति। ठुमक ठुमकके चलनेवाला, यहां वहां दौडता हुवा फिरनेवाला बालक क्या निकोप-प्रकृति न होगा? आवश्य होगा। उसकी ओर देखने से आनन्द क्यों न होगा? अवश्य होगा!

अभी यहां मेरी कई बहिनें अपने दुलारे को अपने पास लेकर बैठी हैं और उसके सान्निध्य का आनन्द लूटती हुईं नजर आ रही हैं। यह क्यों? इसका एक कारण अन्दर का प्रेम जरूर है, परन्तु इसकी अपेक्षा बालकों की सुदृढ प्रकृति इस आनन्द का प्रमुख कारण है। बच्चे का स्वास्थ्य ठीक न हो, वह हमेशा रोता कांखता हो, माता को जरा भी न छोडता हो और उसकी मनःस्थिति ऐसी हुई हो, कि सिवाय माता का दूध पीने के दिल बहलाने का उसको दूसरा कोई साधन रहा नहीं, तो उसकी माता को कैसे चैन पड सकती है? आपही सोचिए। बच्चे के रोनेकांखने से बिचारी माता को रातभर जागना पडता है; उससे उसकी प्रकृति खराब रहती ही है, वरन् प्रकृति की अपेक्षा उसका स्वभाव

चिडखोर बन जाता है, उसको हमेशा घबराहट रहती है, घरगिरस्ती में उसका चित्त नहीं रहता, परन्तु विवश होकर चित्त लगाना पडता है। इसमें क्या आश्चर्य है, कि उसके दिलपर हमेशा दुःखही के तरंग उठते रहें? परन्तु दुःख की परम्परा यहीं खतम नहीं होती।

अभी बच्चे को औंधा होते नहीं बनता, तब इतनी झंझट है! परन्तु इसी परिस्थिति में दिन बिताकर बच्चा रांगने लगे, बैठने लगे, तो कभी कभी उसको देखकर आनन्द होता हो, तथापि उसकी योग्य परिचर्या न होनेसे बच्चे का स्वास्थ्य दिनोदिन बिगडता ही जाता है। बच्चे के लिए जो बातें अनिष्ट हैं, अन्धप्रेम के कारण वे ही उसपर लादी जाती है और अनजान से उसके खानेपीने में मनमाने अत्याचार किए जाते हैं। ऐसी हालत में उस बच्चे के तरफ देखा नहीं जाता। उसका रोना एकसा जारी रहता है, आंखें चिपकी रहती हैं, नाक बहती रहती है, मुंह से लार टपकती है, बदन के कपडे भीगकर गंदले हो जाते हैं, दस्त की शिकायत बीच बीच में चलती ही रहती है। ऐसे बच्चे के तरफ देखने को तबियत नहीं चाहती, फिर कंधेपर घुमाने की बात तो दूर ही रही। घरमें कोई व्यक्ति उसको घुमाना चाहे, बहलाना समझाना चाहे, तो वह जिद्दी बच्चा सिवाय अपनी माता के किसी के पास जाता ही नहीं! बालक कैसा भी गंदला रहे, वह माता को प्यारा ही लगता है।

परन्तु जिसके हाथपैर सूखे और पेट फूला है, मुंह निस्तेज हो गया है, अतिसार के कारण सारे अगभर गुडी पड गई है, किसी बात में जिसका दिल नहीं रमता और माता को छोडना जिस को अतीव कष्टदायक मालूम होता है और एकसा रें रें जारी रहती है, ऐसा बालक घरमें रहने से किस को चैन पड सकती है? चिंता के कारण सब ही के मुंह सूख जाते हैं। इस तरह का अनुभव प्रायः सब ही को होगा; मेरे कहने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु घर-घर में दिखनेवाला दृश्य ऐसे शब्दचित्र में रंगाने का उद्देश्य यही है, कि उसका कारण आपके नजर में आ जाय। क्षमा कीजिये, यह शब्दचित्र यथार्थ है। बच्चे की तबियत प्रसन्न और निरोगी हो, वह चैनसे खेलता हो, तो हमें आनंद होता है और अपना कार्य करनेमें उत्साह आता है। परन्तु उसकी तबियत जहां बिगडी, वहीं हमें चिंता लग जाती है। यह बात रोजके अनुभव की है। दुःख या संकट कोई नहीं चाहता; परन्तु उसके निवारणार्थ हम क्या करते हैं? क्या हम कभी इस बातपर शांतता से विचार करते हैं, कि बच्चे की तबियत किस सबब से बिगडती है?

हम उसके मातापिता दिनभर अपने पास उसको लिये बैठते हैं; परन्तु उस वक्त इस बातका भी पता लगाने की कोशिश क्या हम करते हैं, कि इसकी तबियत बिगडती क्यों है? क्या यह विचार कभी हमें सूझता है, कि बच्चे छोटेंसे बडे किस तरह होते हैं, उनका संगोपन किस प्रकार होना चाहिये और उनका जतन करने के लिये कौनसी बातोंपर ध्यान देना चाहिये? ऐसे कई माबाप रहते हैं, जिनकी यही भोली समझ रहती है, कि ईश्वर हमें बालक देता है और वही ले जाता है। परन्तु बहिनो! क्या अभीतक वह समय नहीं आया, कि जब हमें इसपर विचार करना अनिवार्य है? क्या यह जान लेना आपको आवश्यक नहीं मालूम होता, कि अन्य देशों में क्या चल रहा है? कमसे कम यह जान लेना, कि बच्चों की प्रकृति सुदृढ रखने के लिये कौनकौन से प्रयत्न किये जा रहे हैं? जबतक सब बातें ठीक चल रहीं हैं, तबतक इन बातोंका खोज-विनोद न किया जाय, तो चल सकता है। परन्तु जब कठिन प्रसंग आ जाय, तब क्या आपको इसपर योग्य विचार करना आवश्यक नहीं मालूम होता?

आप देखिये, कि अमेरिकाने थोडी अवधि में कितना सुधार कर लिया- वहां के बच्चों की प्रकृति पहिले उसी तरह नादुरुस्त रहती थी, जैसे आजकल यहां हम देखते हैं। परन्तु उन्होंने इस बात का पता लगा लिया, कि ऐसा क्यों होता है, और इसका मूल कारण नष्ट करके केवल पौनसौ वर्ष में बच्चों की

मृत्युसंख्या का प्रमाण उन्होंने घटा दिया। युरोप के जर्मनी, इंग्लंड, आयर्लेंड इत्यादि देशों में इसी तरह प्रयत्न किए गए और वहां की बालमृत्युसंख्या कम हो गई।

हमारे यहां इसके विपरीन परिस्थिति है। पांच बच्चों में से एक कालवश होता है, दो यमसदन की राहपर चलते हैं, एक किसी प्रकार प्राण धारण किये रहता है और जेक साधारणतः अच्छा रहता है' क्या यह खेदयुक्त आश्चर्य की बात नहीं है, कि प्रतिशत बीस बालक भी उमदा प्रकृतिवाले न मिलें? समाज में सौ बच्चों में से चालीस बच्चों के हाथपैरों में केवल हड्डियां और पेटका मटका देखने से हमें कैसा मालूम होता है? हमारा तो ठीक है, परन्तु ये बच्चे राष्ट्रकी सम्पत्ति हैं न? उनकी यह अवस्था रहना, क्या हमें भूषण है? बहिनो! क्या आप इसपर शांतता से विचार करेंगी? अपन इन बच्चों की फिकर न रखें, तो उनकी क्या हालत होगी? आप अपनी तरफ से फिकर ले रही हैं, परन्तु कार्यकारणभावपर ध्यान न देकर फिकर रखती हैं। आपके मनकी वृत्ति केवल रूढि की ओर है, रूढि और कार्यकारणभाव का मेल जमाने की अपेक्षा यदि आप आजदिन उपलब्ध ज्ञान का फायदा लेती हुई, उसके अनुरोध से अपने बालकों का संवर्धन करने का मनःपूर्वक प्रयत्न करती रहें, तो कर्तव्यपालन का सुख आपको मिलेगाही, प्रत्युत उससे मनसोक्त आनन्द भी आपको अवश्यमेव मिलेगा।

जो कुछ होता है, वह निष्कारण नहीं, उसका कुछ न कुछ कारण जरूर होता है। कारण के बिना कुछ नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक अच्छी या बुरी बात के लिए किसी न किसी कारण की आवश्यकता है और स्वभावतः जो बातें हो जाती हैं, वे अच्छी ही होती हैं। बिगाड तभी होता है, कि जब अपन वह बात करते हैं जो करनी न चाहिए। गाय का बच्चा साधारणतः कैसा चंगा, खेलता कूदता, पूंछ उठाकर यहां वहां उडता फिरता नजर आता है? इसका यही कारण है न, कि उसकी स्वाभाविक अवस्था में अपन कोई ज्यादा रद्दोबदल नहीं करते? बच्चों के बारे में यही तरीका रहे, तो वे भी तेजस्वी और चपल रहेंगे और उनके स्वास्थ्य में कोई बाधा न आवेगी। हम अनुभव कर सकते हैं, कि जो जो बालक अच्छे निरोगी होते हैं, जिनका शरीर मजबूत और डौलदार रहता है और जिनकी तबियत हमेशा खुश रहती है, वे सबही स्वाभाविक अवस्था में पले रहते हैं।

बाह्यतः देखने से उनकी निर्दोष प्रकृति का गुह्य हमारे ध्यान में न आय, परन्तु बारीक नजरसे उनके जीवनक्रम का अवलोकन करें, तो हमें यही प्रतीत होगा कि, उनके जीवनक्रम को स्वाभाविक बातों ही से गति मिलती रही है। इस प्रकार स्वाभाविक अवस्था में जबतक उनका पालनपोषण होता है, तबतक उनकी तबियत दुरुस्त रहती है; परन्तु कुछ समय के बाद मातापिता के सामाजिक भावना की छाया जैसेही उनपर पडने लगती है, अर्थात् उनकी बाढपर यह भावना जैसे असर करने लगती है, वैसे उनका स्वास्थ्य बिगडने लगता है और क्रमशः उनकी प्रकृति अधिकाधिक दुर्बल होती जाती है। जैसा मैं कह चुका हूं, सूक्ष्म निरीक्षण से ये बातें आपके ध्यान में शीघ्र आ जायंगी।

गरज कहने की यही है, कि बच्चों को यदि स्वाभाविक अवस्था में हम बढने दें, तो कई आपत्तियां टल जायंगी। उनका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा और घरमें सबही को सुख का लाभ होगा। मुझे इसी क्षण में प्रतीत होने लगा है, कि आपने यह देख लिया और आपको जँच गया है, कि कार्यकारणभाव के महत्व का ध्यान रखने से बच्चों के बारे में स्वाभाविक अवस्था ही श्रेयस्कर पाई जाती है। परन्तु आप पूछेंगे, कि स्वाभाविक अवस्था क्या है? इसलिए अब बच्चों के अस्वास्थ्य, रोग इत्यादि का विवेचन करने के पहिले यह विचार किया जाय, कि स्वाभाविक अवस्था कैसी होती है? और क्या यह कहना ठीक है, कि हमारे बच्चे कृत्रिम अवस्था में पालेपोसे जाते हैं?

गाय को बच्छा होनेपर सिर्फ पहिले दिन कुछ थोडेसे उपचार हम कर लेते हैं । बाद में उस बच्छे को क्या करते हैं ? केवल उसको बांध रखते हैं। क्यों ? इसलिए कि हमें दूध की जरूरत है । दिनरात में सिर्फ दो वक्त पीने के लिए हम उसको छोड देते हैं; बाकी समय के लिए थोडासा मुलायम घास उसके सामने डाल देते हैं । उसको हम कोठे में बन्द नहीं करते, उजयाला नहीं रोकते, अथवा जबरदस्ती से उसको दूध नहीं पिलाते और न कुछ खिलाते हैं । अर्थात् जहांतक हो सकता है, उसको हम पूर्ण स्वाभाविक अवस्था में रखते हैं और उसी अवस्था में वह आनन्द से बढता है । परन्तु उसपर अधिक लाड-दुलार करके हम उसको ओढने बिछाने के कपडों में रखें, बारबार दूध पिलावें, अपने गलेसे या छाती से लगावें, तो वही बच्छा थोडेही दिनों में दुबला हो जाता है और छबी पलट कर वह सूखने लगता है । इसका कारण हम जल्दी पहचान सकते हैं; उसके लिए आवश्यक ऐसा गाय का दूध हम हम ले लेते हैं और उसको कृत्रिम अन्न खिलाकर अपने मन का समझौता कर लेते हैं । जिन्हें घरमें गाय पालने का अनुभव है, वे लोग मेरे इस कथन का समर्थन अवश्य करेंगे ।

सारांश: आपको भी मालूम होगा, कि स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा कृत्रिम अवस्था की रहनसहन कम दर्जे की अतएव त्याज्य है। इसलिए बाल्यावस्था ही से बच्चों को स्वाभाविक अवस्था में बढने दें, तो उन्हें सुख मिलेगा ही; किंतु दूसरों को भी वह सुखप्रद होगा।

स्वाभाविक रहनसहन के लिये खर्च नहीं पडता, केवल बच्चे की निगाह हमेशा रखना काफी है। यह बात बिलकुल सादीसीधी बिनखर्चे की है, परन्तु ऐसे आयुष्यक्रम के हम विन्मुख हो गए हैं और अपने प्यारे अर्भक को भी दुःख में छोडना चाहते हैं । यह जरूर है, कि यह हम जानबूझकर नहीं करते । हमारी यह धारणा बन जाती है, कि रूढिमार्ग से जाना ही योग्य मार्ग का अवलम्बन करना है; इसमें विचार करने कोई गरज ही नहीं है । इसीके अनुसार आजतक हमने बर्ताव किया और बहुधा इसी कारण हम कार्यकारणभाव जानकर बर्ताव करना भूल गए । पेटभर पीने के लिए माता का दूध, वह न हो, तो उसी के सदृश बनाया हुआ गाय का या बकरी का दूध, स्वच्छ हवा में रहना, प्रकाशमें रहना, साफ और सुली जगह में आनन्द की नींद लेना, वनश्री के सन्निध मजे से खेलना- इस तरह बालक बढना चाहिए और इसी को स्वाभाविक आयुष्यक्रम कहते हैं !

परन्तु हमारे अज्ञान के कारण अपने सुहावने बालकों को हम कृत्रिम परिस्थिति में रखकर न केवल उनकी प्रकृति बिगाडते हैं, किंतु उसीके साथ साथ उनकी मानसिक अवस्था भी दूषित कर देते हैं । क्या हम कभी इसपर ध्यान देते हैं ? बहिनो ! अब भी इन बातोंपर विचार करना आपको आवश्यक नहीं मालूम होता ? छोटे बच्चों की तबियत बिगडने के लिए हम ही कारण होते हैं । मैं बतलाता हूं, कि यह कैसे- इतना जरूर है, कि बच्चा पैदा होने से एक या दो दिनतक उसकी शुश्रूषा विशिष्ट रीति से करनी पडती है । परन्तु यह अवधि एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय है; इसलिए इसके आगे के जीवनक्रम पर आजके विषय के अनुरोध से विचार करें ।

प्राचीन काल से जो यह प्रथा पड गई है, कि बच्चे के जन्मकाल से जच्चा और बच्चा एकत्र रहें, उसमें जरा भी फरक हुवा नहीं दिखता । जच्चा की अन्धेरी कोठरी में नवजात बालक अपना समय व्यतीत करता रहता है ! दिन को भी उसको जो प्रकाश मिलता है, वह एक अति मन्द दीपक से !! हवा उसके शरीर को भूलकर स्पर्श नहीं कर सकती और कहीं एकाध धीमी वायु की झलक आ भी जाय, तो वह आगी के सहारे निरुपद्रवी

होकर बच्चे का अंगस्पर्श कर जाती है- वस्तुतः यही अग्नितप्त वायु उस बच्चे को नुकसान पहुंचाती है।

अर्थात् स्वच्छ हवा के लिये मनाई, प्रकाश की बन्दी और डबानेवाली कोठरी !!! इससे बिचारा बालक जोर जोर से रोकर अपना गला सुखाता है, परन्तु माता इस विषय में अज्ञ होने के कारण यही समझती है, कि बच्चा भूखा है। उस को यह मालूम ही नहीं रहता, कि दर असल वह चाहता क्या है और उसको पिलाना चाहती है; परन्तु रोते रोते बालक थक जाता है और कदाचित् धुंद में निचेष्ट पड जाता है। मा समझती है, कि बालक सो गया। बच्चे को नहलाने के लिये गरम पानी का उपयोग करते हैं, वह इस काल्पनिक भय से कि उसे कहीं सर्दी न हो जाय और नहलाने पर तुरंत कपडे में लपेटकर, जिस में वायु का उसे स्पर्श न हो, पलने में सुलाते हैं. और नींद न आती हो, तो झुलाते हैं। ऐसी अस्वाभाविक स्थिति में बाल्य व्यतीत करने की उसे आदत हो जाती है और इसी हालत में रहने का उसे महावरा पड जाता है। किसी घम्मड कपडे के बहुरंगी बिस्तर में उसे पडा रहना पडता है; खटमल, मच्छर, पिसू इत्यादि से बाधा हो, तो सभी का निराकरण केवल दूध पिलाने से किया जाता है ! आप खफा न हों, यह बहुतेरी माताओं के अनुभव की बात है।

ऐसी अनेक चिल्लर बातें संगोपन की दृष्टि से महत्व की सिद्ध हुई हैं। इन बातों को मामूली समझकर हम दुर्लक्ष्य करते हैं, इसीलिए बच्चों का स्वास्थ्य बिगडता है। ऐसी सब बातों का ऊहापोह यहां न करके, बच्चों की तबियत बिगडने में जो विशिष्ट कारण अपने नित्य व्यवहार में हमें देखने मिल सकते हैं, उनमें से एक कारण- अर्थात् दूध पिलाने के बारे में जो अतिरेक हुआ करता है, उस के सम्बन्ध में पहिले दोचार शब्द कहने की मेरी इच्छा है।

जब भूख लगती है, तब अपन भोजन करते हैं और बच्चों को जब भूख लगती है तब उन्हें भोजन कराते हैं। अपने भोजन और बच्चों के भोजन में यद्यपि व्यवहारतः अन्तर है, तथापि तत्वतः कोई फरक नहीं रहता। यह मेरा कथन सुनकर आपको आश्चर्य होगा! परन्तु आश्चर्य की कोई बात नहीं है। दुर्दैव से बच्चे के पैर को हंसिया से जखम हुई और वही हंसिया दूर हटाने में माता के हाथ को जखम हुई, तो बच्चे की जखम में से क्या निकलेगा ! लाल लाल खून और माता की जखम से ? सिवाय खून के और क्या निकलेगा ? जिस प्रकार के अन्न से माता का पोषण होता है, उसी प्रकार के अन्न से उसके उस बच्चे का भी पोषण होता है। यह बात सभी को एकहा सी मालूम है. उस में जो मर्म जाननेलायक है, वह उन पोषक द्रव्यों के घटकों का है।

इस बात में अब कोई शंका नहीं रही, कि दूध पूर्ण अन्न है और इसलिये पूर्णान्न के सारे घटक द्रव्य अकेले दूध में भी मिलते हैं। इस के अतिरिक्त यह भी अब स्पष्ट हो गया है, कि जिस तरह दूध से बच्चों की पुष्टि होती है, उसी तरह साधारण मनुष्य की पुष्टि अन्न से होती है। तब सवाल इतना ही रह जाता है कि पूर्ण अन्न में- जिस अन्न के सेवन से शरीर का संवर्धन होता है, उस अन्न में कौन कौन से घटक द्रव्य हैं ? और दूध यदि पूर्ण अन्न है, तो क्या उसमें वे ही घटक द्रव्य हैं ? इस का उत्तर यही है, कि हां, दूध में भी वे ही घटक द्रव्य हैं और इसीलिये दूध शरीरसंवर्धन को पोषक अत-एव योग्य अन्न है। जिस तरह अन्न में प्रोत, शर्करा, स्निग्ध और क्षार, तथा आंखों को अगोचर जीवन-द्रव्य (Vitamins) रहते हैं, उसी तरह दूध में भी ये सब द्रव्य रहते हैं; परन्तु दूध पतला रहता है, अन्न पतला और गाढा भी रहता है। पदार्थ पतला होने का कारण उसमें पानी का अंश रहता है और पचनक्रिया ठीक चलने के लिये पानी की बहुत ही जरूरत है। पानी न हो, तो पचनक्रिया होगी ही नहीं।

मनुष्य को खाना हजम न हुआ हो, तो उसे पानी पीने को कहते हैं। बच्चे को जब अपचन होता है, तब समझ लेना कि पानी का अंश कम हुआ है। इसलिए बच्चा एक दिन का हो या चार महिने का हो, या ज्यादा दिन का हो, उस को दूध पिलाने के बाद बिना भूले उस की माता उसे दोचार चम्मच पानी जरूर पिलावे; ऐसा पानी पिलाने से कोई नुकसान नहीं होता, न ठंड लगती और न सर्दी होती। लोग कहते रहें कि पानी पिलाने से ठंड होती है, सर्दी होती है, परन्तु उन के इस कहने में बिलकुल तथ्य नहीं है। हम जो करते हैं, वह विचारपूर्वक करें तो सर्दी खांसी की शिकायत भी न होगी। बच्चा जो दूध पीता है, वह स्तन से निकलते समय कुछ गरम रहता है और आप सोच सकते हैं, कि ऊपर से पिलाने का पानी उसी माफिक गरम न हो, तो विषमता उत्पन्न होगी।

चाय पीने के बाद कई लोग ठंडे पानी से कुल्ला करते और थोडे दिनों में दांत के दर्द की शिकायत लेकर डॉक्टर के पास आते हैं। डॉक्टर उन्हें हिदायत देते हैं, कि कुनकुने पानी से कुल्ला करना चाहिए। इसका क्या कारण है? उष्णता में एकही वक्त विषमता उत्पन्न होती और उससे तकलीफ होती है। बच्चों का भी यही हाल है, परन्तु माता कहती है, कि यह सब नतीजा पानी पीने का है। वास्तविक बात यह है कि पानी पिलाने से- कमसे कम प्रत्येक बार दूध पिलाने के बाद- चाहे वह माता का दूध हो या ऊपर का हो, बच्चे को दोचार चम्मच पानी पिलाने से फायदा ही होगा। उसके मुंह का भीतरी हिस्सा पानी से धुलकर साफ होता है और मुंह के विकार होने नहीं पाते। बच्चों को मुंह के विकार होने के जो कारण हैं, उनमें यह प्रमुख है। भोजन के बाद अपन मुंह धोते हैं और न धोवें, तो कुछ बेचैनी सी मालूम होती है। दूध पीना ही बच्चों का भोजन है। तो क्या उनका मुंह धोना आवश्यक नहीं है? परन्तु हमें विवश होकर कहना पडता है, कि हमारी बहिनों को ये साधारण बातें भी नहीं समझतीं! अस्तु, मैं दूध के घटक द्रव्य पर बोलने गया और इन बातों के प्रवाह में बह आया।

अन्न में पानी रहना चाहिए, न हो तो अपन उसमें मिलाते हैं। अन्न में पानी मिलाकर पतला करने ही से खाना हजम होता है अथवा रक्त में मिल जाने के लिए तैयार होता है। सुदैव से दूध में स्वभावतः पानी रहता है। परन्तु बच्चे को मां दूध जैसा माफकत करता है, वैसा और दूध नहीं करता; क्योंकि जिन जिन दूधों का हम उपयोग करते हैं, उनमें द्रव्यों का प्रमाण एकसा नहीं, कम ज्यादा रहता है। ठीक माता के दूधसरीखा एक भी दूध नहीं रहता। भैंस का दूध भैंस के बच्चे को उपयुक्त रहता है, बकरीका दूध उसके बच्चे को और गाय का दूध गाय के बच्छे को। प्रश्न यह आता है, कि जब मां का दूध न हो, या कम हो, तब कौनसा दूध लेना चाहिए?

इस विषय में बहुतसा संशोधन हुआ है और एतद्विषयक पुस्तकों में यह यथासांग वर्णन मिलता है, कि किस प्रकार के दूध में कौन से घटकद्रव्य किस प्रमाण में रहते हैं। परंतु ये बातें कई पुस्तकों में ऐसी सुगम रीति से दी रहती हैं, कि साधारण लिखनापढना जाननेवाली माताएं ये बातें अच्छी तरह समझ लें। परन्तु संशोधन एक शास्त्र है और शास्त्रीय पुस्तकें दिल लगाकर पढने की किसी की इच्छा नहीं होती। इसलिए अफसोस होता है, कि यह सब ज्ञान पुस्तकों में रहते हुए माताओं को उसका उपयोग करते नहीं बनता। अब मैं वह लिखकर आपके सामने रखता हूं, कि सब प्रकार के दूध समभाग लिए जांय और उनका परीक्षण किया जाय, तो उनमें कौनकौन से भिन्न घटक कैसे मिलते हैं। इससे आप जान सकते हैं, कि कौनसा दूध बच्चों के लिए योग्य है, तथा यह भी मालूम होगा, कि उसमें पानी कितना मिलाना, शर्करा कौनसी और कितनी चाहिए उसमें साढी रहे या न रहे इ०

	प्रोत =	ओज पंडुर +	दधिवर	शर्करा	स्निग्ध	पानी	क्षार	जीवनद्रव्य
मा	१.०५ =	१ +	.७५	६.०	३.५	८७.८	.२	+ + +
गाय	४.० =	३.० +	१.०	४.०	४.०	८७.५	.५	+
बकरी	३.५			४.०	४.०	८८.०	.५	+ +
गधी	२.०			५.०	१.०	९१.५	.५	+ + +
भैंस	६.०			३.०	८.०	८२.५	.५	
कृत्रिम	१५			७	३.५	(जैसा चाहो)	.२	बिलकुल नहीं

दूध कोई भी हो, हमको यह समझ लेना चाहिये, कि यदि वह हम उसे गाय के दूध सरीखा बना सकें, तो वह योग्य होगा और बच्चा उसे हजम कर सकता है। बच्चे के लिये माता का वह दूध देना चाहिये कि जिससे बालक का समाधान हो; इसमें अब कोई संदेह न रहा। ऊपर के नकशे देखकर क्या मालूम होता है ?

शर्करा, क्षार और स्निग्ध पदार्थों के प्रमाणों से यह जान पडता है, कि गाय के दूध में उतना ही पानी मिलाने से वह करीब करीब गायके दूध के बराबर हो जाता है; अन्य प्रकारों के दूध की वह बात नहीं है। गधी का दूध उत्तम और जैसा का वैसा दे सकते हैं, इतना वह मां के दूध से सरस है; परंतु दुर्लभ होने के कारण उसके बारे में विचार करना ही व्यर्थ है। भैंस का दूध गाढा और उसमें प्रोत रहता है; उसका हजम होना मुश्किल है, इसलिये उसका भी विचार करना न चाहिये। बकरीका दूध योग्य है; परन्तु जिस (स्त्री-) वर्ग के सामने मैं बोल रहा हूं, उसको यह भाता नहीं। उनकी मनोभावना कुछ निराली होती है। इसलिये केवल गाय के दूध के विषय में अब विचार हो सकता है। क्योंकि गायके संबंध में अपनी भावना धार्मिक है और व्यवहार की दृष्टि से वह लाभदायक है। सब बातों का विचार करके यही निर्णय होता है, कि गाय का ही दूध सुलभ है।

परन्तु और जगहों में गाय का दूध मिलना बहुत मुश्किल है और अनुभव यह है कि गोदुग्ध के नाम से जो दूध मिलता है, वह मिश्रित रहता है। सुदैव से यहां गाय की पैदायश बढ रही है, इसलिये आशा है, कि यहां बच्चों के लिये गाय दूधका काफी तादाद में मिल सकेगा। माताओं को इतना जरूर करना चाहिये, कि वे गाय के दूध को अपने दूध के सदृश बनाकर बच्चों को पिलाती जांय। दूध को पीने योग्य बनाना एक कला है और बार बार कोई भी कला करते रहने से हाथ जम जाता है। दूध बनाने की कला इसी तरह बन गई है। सभी औरतें रसोई बनाना जानती हैं, परंतु किसी किसी के पक्वान्नों में विशेष रुचि रहती है; क्योंकि उनका हाथ जमा रहता है। कोल्हापुर का बाळकोबा रसोइया वृद्ध लोगों को परिचित होगा। बहुत अरसे की बात है, उसकी बनाई हुई खटामठ्ठी भाजी * लोग बडी चाव से खाते थे और घर में उसकी तारीफ किया करते थे। घर के लोगों को एक प्रकार ईर्ष्या उत्पन्न होती थी! उनका विनोदयुक्त जवाब यह होता था, कि 'इसमें कौनसी अचरज की बात है ? खोबा भर भर के सब चीजें डाली जाँय और अच्छा उबाल दिया जाय, तो उसमें रुचि क्यों न आयगी ?' परन्तु यह विनोद हुआ।

उसका मर्म यह है, कि पदार्थों की विपुलता से मतलब नहीं है; योग्य प्रमाणमें उन्हें डालनेका कौशल्य चाहिये और बिना सतत अभ्यासके यह बात साध्य नहीं होती। बच्चों के लिए दूध तयार करना एक

* 'सांबारें '- ककडी, मूली इत्यादि काटकर कढी में या उसी के समान पतली चीज में डालकर एक पदार्थ दरुखन में बनाया जाता है।

कला है और कुशल माता को वह अच्छी तरह साध्य होती है और वही दूध बच्चे के हाजमे के लिए योग्य है। परन्तु केवल दूध तयार करते बनना काफी नहीं है, और बातों की भी जरूरत है। अब मैं उन्हें क्रमवार बतलाता हूं। इसमें आपको कुछ बेचैनी होने का सम्भव है; यह विषय ही वैसा है और यथाशक्ति मैं उसे नियत समय में स्पष्ट कर देने का प्रयत्न कर रहा हूं।

अब मैं दूध तयार करने की कृति बतलाता हूं। यहां उपस्थित पुरुषों को इस निवेदन से अधिक उपयोग न होगा, तथापि मुझे आशा है, कि उपयुक्त ज्ञान की दृष्टि से वे भी इस ओर ध्यान देंगे। दूध चाहे गाय का हो या बकरी का हो, वह लाने के बाद सुबह की धूप हो, तो धूप में एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें वह डालते रहना चाहिए और ऐसी हिकमत से कि उसकी धारापर धूप गिरती रहे। ऐसा दसबीस दफे करना और गंजसरीखे लंबे बर्तन में वह छानकर रखना। अच्छे जलते हुए कोयलों की आगीपर एक बड़ा बर्तन रखना, जिसमें यह दूधवाला गंज खिलता हुआ रह सके। बर्तन में इतना पानी छोडना, कि उसमें गंज आधा डूब सके। पानी उबलने लगे, तब दूधवाला गंज उसमें रखना; करीब आधे घण्टे में गंज में का दूध उबलने लगेगा, उसको तुरन्त उतार कर गंज ठंडे पानी में रखना, परन्तु यह ख्याल रहे, कि दूध के गंज में पानी जाने न पावे। दूध जितने जल्द ठंडा हो, उतना अच्छा है।

जितना दूध तपाया हो, उसके दुगना पानी उबालकर कलई के बर्तन में अच्छी तरह ढांक रखना। दूध के शक्कर की एक शीशी रखना। वह न मिले, तो मिश्री को गीले कपडे से अच्छी पोंछकर बोतल में भरकर पक्का डांट लगाकर रखना। कलई की दो कटोरी और छोटे चम्मच साफ कर रखना। दूध पिलाने के लिए वक्त मुकर्रर हों। आजकल समाज में स्त्रियों की स्थिति को देखते हुए इतना भी कहना अधिक होगा, कि माताओं को पहिले दोतीन महिनेतक दूध रहता है; क्योंकि अपने महिलावर्ग का स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उन्हें दूध ही नहीं रहता और रहा भी, तो उसमें सत्त्व बहुतही कम रहता है; उससे बच्चे का पेट नहीं भरता। इसलिए ऊपर के दूध से उनका पोषण करना पडता है और यह कहना मुझे आवश्यक हुआ, कि वह ऊपरका दूध स्वच्छ और पोषक होना चाहिए।

हमारी बहिनों को इन बातों की आदत है, परन्तु कृति मालूम न होने से उनकी दिशाभूल होने की सम्भावना है। तथापि अपनी महिलाएं इतनी कुशल हैं, कि एक बार जहां दूध तयार करने की कृति उनकी आदत में शुमार हुई, वहां इस सब काम के लिए उन्हें अत्यन्त समय पर्याप्त होगा, बल्कि यह विवेचन करने को जितना समय मुझे लगा, वह उससे कईगुना अधिक है। कुछ भी हो, थोडे दिनों के अनुभव से माताओं को यह अन्दाज हो जाता है, कि बच्चे को रोज कितना दूध काफी होता है और वे ठीक तरह से यह निश्चित कर लेती हैं, कि उन्हें ऊपर का दूध कितना पिलाना चाहिए। इतनी होशियारी होते हुए भी बच्चों को पिलाने का उन्हें मानो एक व्यसन ही लगा रहता है। जहां बच्चा रोया, वहीं उसके मुंह में स्तन दिया, जैसे रोना केवल भूख ही का लक्षण हो! और रोने का कारण सिवाय भूख के और कुछ नहीं हो सकता! परन्तु ऐसा करना बुरा है। बारबार दूध पिलाने से बच्चे की तबियत बिगडती है और माता का चिढने का स्वभाव बनने लगता है।

इसलिए हमारे भोजन के लिए जैसे वक्त मुकर्रर हैं, उसी तरह बच्चे के प्रकृतिमानके अनुसार उसको पिलाने के वक्त भी मुकर्रर कर देना चाहिए और नियत समय के पहिले या बाद उसको न माता का और न ऊपर का दूध पिलाया जाय। एक बार ऐसा परिपाठ डालने पर बच्चे भी चुप रहते हैं; वरना उन्हें बारबार पिलाने से एक प्रकार व्यसन लग जाता है और स्तन के बिना वे चुप नहीं रहते। ऐसा करने से बच्चे की और उसकी मां की तबियत थोडी

ही अवधि में बिगडने लगती है और योग्य काल में पीनेपर निर्बंध न डाला जाय, तो आगे अनर्थ होता है। पिलाने के नियम के बारे में इस से अधिक स्पष्टीकरण करने जरूरत नहीं। समय आगया है, अब जल्दी करना चाहिये।

बच्चे के जन्म के चार महीने बाद, सुबह उठने से सोनेतक ऐसा नियम रहे, कि तीन तीन घंटों के अन्तर से उस को पिलाया जाय। इन तीन घंटों के बीच में उसको न तो माता का दूध और न ऊपरका दूध पिलाया जाय। जरूरत हो, तो इस अवधि में चारपांच चम्मच कुनकुना पानी पिला दें। इस-तरह दिनरात में छः बार से अधिक नहीं होता। बच्चे को जितना दूध आवश्यक है, उससे चारपांच चम्मच कम देकर यह कमी पानी से पूरी करनी चाहिए। बहुत सी जगहों के अनुभव से मुझे यह कहना पडता है कि, हमारी बहिनें यह बात बिलकुल भूल गई हैं, कि दूधके बाद पानी पिलानेसे कोई हानि नहीं होती। मैंने जो चम्मच से पानी पिलानेको कहा है, उसके बदले अदलबदलकर कच्ची शाकभाजीका रस एक दो चम्मच पिलाया जा सकता। मोसंबी का रस बच्चोंके लिए बहुत अच्छा है। रोज दूध पिलाने के बाद मोसंबीका रस दोचार चम्मच पिलानेसे बहुत फायदा होता है। कागजी निम्बूके रसमें मिश्री मिलाकर देना भी बच्चे के स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा है।

मैंने ऊपर जो बातें कहीं हैं, उनमें नयी बात कुछ नहीं है। आप उनसे परिचित ही हैं; मैंने केवल उनका स्मरण दिलाया है। दूध तैयार करने की रीति यह है कि जिस बरतन में दूध तपाकर ठंडा किया होता है, वह बरतन बदलना न चाहिये। यह ध्यानमें रखा जाय, कि दूध के तीन हिस्से कर के केवल ऊपर के दो हिस्से बच्चे के उपयोग में लाया जाय। पांच छः मर्तबा दिन में बच्चे को दूध देनेपर जो बचे, उस का उपयोग अन्य काम में करें। खूब ध्यान रहे, कि एक बार तपाया हुआ दूध फिर कभी न तपाना चाहिये। दूध पिलानेके वक्त बरतन में से एक खुराक का जितना दूध लिया जाय, उतना ही पानी (जो कि उबाल कर रखा है) लें। यह पानी फिरसे उबाल लें और अब दो कटोरियां और चम्मच आगे रखकर एक कटोरी में पानी नापकर लें- दूध को आधा लें। उस पानी में एक चम्मच दुग्धशर्करा मिला लें; वह न हो तो छोटी हर्र के बराबर मिश्री की डली इस उबाले हुए पानी में छोड दें। यह डली पूरी न घुले। इतने में उतना ही दूध [मलाई निकालकर और बर्तन को हिलाये बिना] उस पानी में अच्छी तरह मिला दें। बच्चे को पीठ के बल गोद में या अपने पैर पसार के उनपर सुलायें और रुई की फोये से या चम्मच से [उस के मुंह में एक उंगली रख कर] आहिस्ते आहिस्ते पिलायें। बादमें दोचार चम्मच कुनकुना पानी पिलायें अथवा ऊपर कहे अनुसार मोसंबी का रस पिलायें।

दूध पर या मिश्रीपर मख्खी न बैठने पावे। अभी मैंने कहा है, कि दूध को दुबारा तपाना न चाहिये; परन्तु इसका कारण नहीं बतलाया, वह बतला देना अच्छा होगा। दूध को बार बार तपाने से उसमें प्रोत द्रव्य गाढा हो जाता है; और आप शायद यह न जानते होंगे, कि उसे हजम करना बहुत मुश्किल है। बासी दूध बच्चे को कभी न दें और रात को दूध न पिलायें, परन्तु पानी अथवा मोसंबी का रस देने में कोई नुकसान नहीं। ये बातें माताओं को अवश्य मालूम होनी चाहिये। रात के १० बजे से सुबह ८ बजेतक दस घंटे होते हैं और इतनी देरतक बच्चों को भूखे नहीं रख सकते; इसलिए रात का दुहा हुवा दूध उपर्युक्त कृति से तैयार करके सुबह ४ और ५ के दरम्यान पिलाया जाय अथवा माता अपना दूध पिलावे। परन्तु यह एक ही बार दिया जाय। इस के अलावा किसी वक्त पानी अथवा मोसंबी का रस देने में हिचकिचाना नहीं चाहिए। हजारसे भी अधिक बच्चोंके विषयमें मुझे यह अनुभव हुआ है, कि दूधके बारेमें गफलत, दूधका मिश्रण बनानेमें अज्ञान और बारबार दूध पिलाने की आदत-यही बातें बच्चों की तबियत

बिगडनेके लिए कारण मुझे होती हैं । ४०-५० बीमार बच्चे देखने मिलते हैं, उनमें प्रायः सबही के रोगोंका प्रारम्भ अपचन ही से हुआ हुआ मैंने पाया।

अपने यहां दस महीने के बच्चों को चार दांत आ जाते हैं, परन्तु किन्हीं किन्हीं बच्चों को १६ महीने हो जाने पर भी दांत नहीं आते । दांत आनेपर उनको चूसने के लिए छोटी सी रोटी घी लगाकर कभी कभी दें । एकाध वक्त तौखीर की लापसी भी देने में नुकसान नहीं है। परन्तु यह कब ? जब हम यह जान लें, कि ये चीजें वे हजम कर लेते हैं । हमारे लोग विनोद में कहा करते हैं कि, यह जीभ बडी बदचलन है । परन्तु वस्तुतः वह बदचलन नहीं, किंतु वह Sentry सिपाही है, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य का रक्षण करनेवाली है । प्रकृति जरा नादुरुस्त हो, तो जीभ को देखना चाहिये । वह तुरंत बतला देती है, कि सच बात क्या है । अधिक दस्त होना, पेट दुःखना पेशाब में विकार इत्यादि प्रकार अपचन से होते हैं; परन्तु जीभ से बहुतसी बातों का पता लग जाता है । माताओं को इन बातों का भी थोडा ज्ञान रहना चाहिये । बच्चों का स्वास्थ्य बिगडने के कारणों में से मुख्य कारण का अभीतक ऊहापोह हुआ और इससे आप थक गये होंगे। परन्तु क्या करें ? इस के बिना गत्यंतर न था।

बच्चों की प्रकृति बिगडने में और एक कारण है और वह है उन्हें बडोंका अन्न बेवक्त खिलाना। इसका कारण यह बतलाया जाता है, कि वे मानते नहीं, पत्तल में से पदार्थ खींच लेते हैं और न दें तो रोते और मचलते हैं! बिलकुल ठीक है। बच्चे बडोंका अनुकरण करते है, बल्कि यह उनका स्वभाव-धर्म है । इसीलिये उनके सामने चाय नहीं पीना, भोजन नहीं करना, उस वक्त उन्हें दूर रखना चाहिये । ऐसा करने में मन की कठोरता या निष्ठुरता नहीं है । बहुत से बच्चे उस लायक होने के पहिले ही से अन्न खाने लगते हैं, इसका कारण दूसरा कोई नहीं, केवल अनुकरण ! आज का अपना विवेचन केवल दूध पीनेवाले बच्चों के- अर्थात् डेढ साल तक की अवस्थावाले बच्चों के सम्बन्ध में है, इसलिये इससे अधिक उम्रवाले बच्चों के सम्बन्ध में यहां मुझे कुछ नहीं कहना । एक वर्ष से बडे बालक को सुनहरी केला खिलाकर देखें; वह हजम कर ले, तो और भी दे सकते हैं । बादाम को दो दिन पानी में डुबा कर छिलका निकालकर अच्छी तरह पीसकर उसमें मिश्री और गरम पानी मिलाकर मां के दूधके बराबर पतला करके और छानकर दूध जैसा बनाकर पिलावें । दूधके बदले में यह मिश्रण देने में कोई हर्ज नहीं।

प्रकृति बिगडनेका और एक कारण है और वह कपडे पहनानेके बारेमें अनास्था ! बच्चे की कमर तक शरीर का हिस्सा ढांकने की प्रवृत्ति तो दिखती है; परन्तु कपडे पहनाने का जो मुख्य उद्देश, शरीर से बाहर जानेवाली उष्णता को रोकना है, उसकी ओर योग्य ध्यान नहीं दिया जाता । शरीर से जैसे उष्णता बाहर निकलती है, वैसे ही पसीना भी निकलता है और उस पसीने के द्वारा शरीर का गन्द निकल जाता है । परन्तु पसीने को चूसनेवाला कपडा बदनपर रहना ही चाहिये । परन्तु ऐसे कपडे के बदलेमें आजकल केवल शौकके सबब से कई बच्चों को रेशम के कपडे पहनाने का रिवाज पड गया है । इसी तरह चौके के सुभीते के लिए ऊनी गरम कपडा पहनकर लोग अपने मन से समझौता कर लेते हैं ।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि शरीर से सटा हुआ रेशमी कपडा पहनना अच्छा तो है ही नहीं, उलटा हानिकारक है; क्योंकि रेशमी कपडे में शोषणशक्ति नहीं होती और कंबल का कपडा पहननेसे मनुष्यों को जैसी तकलीफ होती है, वैसी ही तकलीफ रेशमी कपडा पहननेसे बच्चों को होती है । माताओं को यह बात मालूम रहते हुए भी वे इसपर दुर्लक्ष्य करती हैं । इसी तरह एक मोटा कपडा पहनने की अपेक्षा दो पतले कपडे पहनने से ऊब ज्यादा

रहती है और आरोग्य की दृष्टि से वह अच्छा भी है; क्योंकि दो कपड़ों के बीच में हवा को आने-जाने के लिए अवकाश रहता है। सुभीते के लिए अपन लडकों के शरीर का कमर के नीचे का हिस्सा बहुधा खुला रखते हैं; क्योंकि इससे अपना श्रम बचता है और भीगे और मैले कपडे धोनेकी तकलीफ कम होती है। परन्तु बच्चों के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह हिस्सा खुला रखना उचित नहीं।

शरीर के इस खुले हिस्से का क्षेत्रफल बाकी के हिस्से से अधिक रहने के कारण इस खुले हिस्से का रुधिराभिसरण मन्द होता जाता है और हवा में ठंडक हो, तो उस हिस्से में रुधिर जाता नहीं, वह बहुशः पेट के तरफ जाता है, जहां कि अधिक रुधिर की आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् रुधिर की इस अधिकता से उपद्रव ही होता है। बहुतसे लडकों को यकृत के विकार होने का यही कारण कई बार देखा गया है। इसलिए बहतर है, कि बरसात में, जाडे में और सुबह की ठण्डी में, बच्चे के कमर के नीचे का हिस्सा ढका रहे। सिर खुला ही रखना अच्छा है। जब करारी ठण्ड पडी हो, अथवा बच्चे को सर्दी हुई हो, तो उसके सिर को कनटोपी पहनाने से काम हो जाता है, परन्तु वह टोपी गरम कपडे की न हो, सूती कपडे की ही अच्छी होती है, वह सिरका पसीना सुखा लेगी।

बच्चेको बहुतसे कपडोंसे अथवा मूल्यवान् कपडोंसे सजाने की अपेक्षा हलके सूती कपडों से उसका शरीर ढांकनेसे खर्च भी कम लगता है, और हमारा अनुभव है, कि इससे स्वच्छता अधिक रहती है।

अब प्रसंगवशात् जेवर पहनाने के विषय में दो शब्द कहना यहां अप्रासंगिक न होगा। श्रीमान् संस्थानाधिपति का उदाहरण प्रत्यक्ष आपके सामने है। हम रोज देखते हैं, कि वे अपने बालकों को जेवर नहीं पहनाते। क्या इससे बोध लेने की जरूरत आपको नहीं मालूम देती? अखबारों में बच्चों को जेवर पहनाने से होनेवाले अपघातों का वर्णन कई बार हमें पढना मिलता है और हमें उसपर दुःख भी होता है। इसलिये हमें विश्वास होना भी चाहिए, कि बिना जेवर पहनाए भी बच्चे गुणोंसे सुशोभित होंगे, और उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रश्न हमेशा किया जाता है, कि बच्चोंके कपडों का रंग कैसा हो? हम उठते ही सूर्य के दर्शन करके नमस्कार करते हैं, इससे जाहिर होता है, कि हवा अच्छी हो, तो सुबह सूर्यकिरणोंसे बच्चों का स्नान होना आरोग्य की दृष्टिसे हितावह है।

सूर्य से जो धूप मिलती है, उसमें दो प्रकार के किरण होते हैं- (१) रासायनिक किरण और (२) अन्य किरण। कपडे का रंग सफेद होने से हानिकारक रासायनिक किरणों का प्रवेश भीतर नहीं होता, परन्तु दूसरे जो अल्ट्रा वायोलेट किरण (Ultra Violet rays) रहते है, उनका कपडों में से शरीर में प्रवेश होकर जीवनद्रव्य (Vitamins) तयार होते हैं और शरीर का सौष्ठव उन से बढता है। कडी धूपमें कहीं बाहर जाना हो, तो सफेद कपडे के भीतर लाल कपडा रहने से, हमारा अनुभव ऐसा है, कि रासायनिक किरणों से होनेवाले कुपरिणाम से बचाव होता है। परन्तु सफेद कपडे जल्दी मैले होते हैं अथवा मैले दिखने लगते हैं; इससे हमारी राय में खाकी रंग के कपडे पहनना अच्छा है। लेख लंबा हो गया है। इसलिए अब कपडों के विषय में अधिक न कहकर केवल बच्चों के औषधोपचार के सम्बन्ध में एक बात कहकर मैं अपना व्याख्यान समाप्त करता हूं।

बच्चोंको औषधि की वस्तुतः जरूरत होती ही कब है? उन्हें स्वाभाविक अवस्थामें औषधि की जरूरत नहीं होती। हम अपनी गलती से उन में रोग लाते हैं और फिर दवा देते फिरते हैं। उन्हें यदि नियत समयपर दूध अथवा योग्य अन्न मिलता जाय, हवामान के अनुसार शरीर का आच्छादन किया जाय, रोज स्वच्छ हवा, प्रकाश और वनश्री का उन्हें लाभ मिलता जाय, और यथेच्छ विश्रांति मिलकर ताजे होनेपर उन्हें खेलना मिलता जाय, तो बच्चे बीमार ही क्यों पडेंगे? और उन्हें जबरदस्ती

से दवा पिलाने की जरूरत ही क्या रहेगी? परन्तु मुझे भरोसा है, और आप भी यह मंजूर करेंगे, कि बच्चा जरा रोने लगे तो तुरन्त अफीम देकर उसको कैफ लाना, अफीम के दुष्परिणामों से बचाने के लिए उसे पीपरी वगैरः घोलकर पिलाना, रोग न होने पावें इसलिए पहिले ही से दवाइयों की भरमार करना और उनकी निरोगी प्रकृति को रोगी बनाना, बीमार पडनेपर योग्य उपचार करने के पहिले जादूटोना, पडोसन के अनुभव का प्रयोग अथवा फुजूल मन्त्रतन्त्र इत्यादि सब प्रकार कर चुकने के बाद जब कठिन प्रसंग आ जाय, तब डॉक्टरवैद्य की शरण में जाना, यह कोई अक्ल का काम नहीं है। अस्तु। नियुक्त समय से भी अधिक समय मैंने ले लिया और आपने लेने दिया, तब भी मुझे जो कुछ मुझे कहना था वह सब मैं कह नहीं सका हूं।

बालसंगोपन यह एक शास्त्र है; उसका अभ्यास यह कुंवारी लडकियां पहिलेहीसे लक्ष्यपूर्वक करें, तो वैवाहिकी आयुष्य में आनेवाली जवाबदारी पूरी करने में उन्हें कोई बोझा मालूम न होगा, और उत्साह तथा निरलसता से संगोपनकार्य करनेमें वे प्रवृत्त हो सकेंगी। ऐसी मेरी धारणा है, क्योंकि स्त्रियों को बच्चोंपर बहुत प्रेम होता है।

ऊर्ध्वसर्वांगासन और उससे लाभ।

(लेखकः- संचालक- श्रीरामतीर्थ योगाश्रम, सेखसरीया बिल्डिंग, बम्बई ४)

तन और मन ये एक दूसरेके साथ अति निकट का सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम मनके विचारों में सूक्ष्म कार्य होता है। तत्पश्चात् स्थूल शरीर मनके विचारोंके अनुसार स्थूल कार्य आरम्भ करता है। और उस स्थूल कार्यके फलानुसार सुख या दुःख दोनों शरीरोंको भोगना पडता है।

एक शंका।

अनेक स्त्री या पुरुषोंका कहना हुआ करता है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर के जो सुखदुःख हैं, वे तो प्रारब्ध-वशात् हैं। वे किसी के हाथ में नहीं। जो प्रारब्ध हम निश्चित कर जन्मके साथ ले आए हैं, उसका कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता। वह तो भोगना ही पडता है। हम लोगोंके प्रारब्ध में जैसा लिखा होगा वैसा होगा। किन्तु हम प्रयत्न से उस प्रारब्ध को बदल नहीं सकते। अर्थात् प्रारब्ध के वश हम हैं, प्रारब्ध हमारे वश नहीं।

शंकासमाधान।

सूक्ष्म विचार करनेपर पता लगेगा कि ये शंकाशील बातें कितनी हद तक सत्य हैं। पातंजल-योगदर्शन क्या कहता है देखिए।

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥
(पा० यो० द० सा० श्लो० १३)

अर्थ- धर्म, अधर्म पूर्ण कर्मों की जड (बीज) के रहनेसे उस (कर्माशय) का फल, जाति, आयुष्य और भोग प्राप्त होता है। अर्थात्- गत असंख्य जन्मोंमें करते आये शुभाशुभ कर्मोंका फल वर्तमान जन्मके जाति, आयुष्य और भोग हैं। जाति, आयुष्य और भोग इन तीनों में से जाति तो ले चुके हैं, अर्थात् पूर्व जन्मकी वासनानुसार मनुष्ययोनि से भिन्न अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज एवं खेचर, भूचर, चराचर योनि में जन्म लेते हैं, और प्रारब्धवशात् जाति, आयुष्य और भोग नष्ट होवे ही दूसरी योनिमें जन्म लेते हैं। इसी प्रकार घट-माला में घूमते फिरते हैं। परन्तु अन्य योनियोंसे उत्तमोत्तम मानी गई मनुष्ययोनि में प्रारब्ध को हटाकर आगे बढ सकते हैं। हाँ प्रारब्ध के अनुसार जाति तो मिल गई, उसका परिवर्तन नहीं कर सकते। उसका परिवर्तन करने की आवश्य-कता भी क्या है? किन्तु आयुष्य और भोगका अवश्यमेव परिवर्तन कर सकते हैं, यह बात निर्विवाद है। एक नहीं अनेक बार संसार में प्रमाणसहित दाखले अनेक स्त्री-पुरुषोंने देखें होंगे। अर्थात् निन्द्य और शुभ कर्म के फल किसी को अल्प समय में मिलते हैं, तो किसीको देरीसे।

शुभ कर्मसे आयुष्य और भोगको बढा सकते हैं, तथा निन्द्य कर्म से आयुष्य और भोगको घटा सकते हैं। आयुष्य और भोगका घटाना बढाना प्रत्येक व्यक्तिके गुणकर्म और स्वभावके ऊपर अवलम्बित है। यह मनुष्य की सत्ताकी बात है। केवल प्रारब्ध के ऊपर अवलम्बित होकर 'किं-कर्तव्यविमूढाः' रहनेवाले मनुष्य का जीवन पशुके समान आहार, निद्रा, भय और मैथुन में ही व्यर्थ व्यतीत होता है। अतः ऐसा न करते हुए श्रेष्ठ आचार, विचार, वासनाक्षय, सात्विक गुण और शुभ प्रयत्नसे दुःखके देनेवाले प्रारब्धको हटाते हुए जीवनको सुख-रूपमें परिणत करना चाहिए। पुरुष-प्रयत्नके सामने कोई भी कार्य असाध्य नहीं है, सुसाध्य ही है। अस्तु, अभी हम प्रस्तुत ऊर्ध्व सर्वाङ्गासनके बारे में कुछ लिखना चाहते हैं।

अष्टांगयोग में आसन का चौथा स्थान है। जिनको यथाविधि अष्टांङ्गयोगका पूर्ण रीतिसे अभ्यास करना हो, उनके लिए यम-नियमें बताये गये नेति, धोति, बस्ति, नौलि, त्राटक और कपालभाति आदि षट् कर्म की आवश्यकता है। परंतु ये सर्व स्त्री-

पुरुषों के लिए जरूरी नहीं । हाँ जिनके शरीर में अति स्थूल रूपसे वात, पित्त और कफके प्रकोप हों उनके लिए थोडे दिनोंतक इन षट्कर्मों में से आवश्यकतानुसार दो या तीन आवश्यक हैं।

ऊर्ध्व सर्वांगासन [सर्वांगासन] करनेकी विधि।

एक मोटा कम्बल अथवा सूतके कपडे जमीन पर बिछानेके पश्चात् यह आसन करना चाहिए। हाथ और दोनों पैर लंबे रखकर पीठके सहारे चित्त लेट जाइये। दोनों नथनोंसे फेफडों में श्वास भर कर धीरे-धीरे टाँगों को जमीनसे ऊपर उठाइये। पैर मोडें नहीं। फेफडों में ज्यादा समयतक श्वास नहीं रोक सकें, तो धीरे-धीरे पैर जमीन पर रखके दो मिनिट तक आराम लेनेके बाद फिरसे श्वास भरकर पैरोंको शनैःशनैः उठाइए। ऐसा करते करते जब सीधे खडे हो जावें तब दोनों हाथों से कमर को पीछे से सहारा देकर रोक दीजिए, जिसे हाथोंकी कुहनियाँ जमीन पर टिकी रहें। पैर सीधे खडे होनेके पश्चात् यथाशक्ति उन्हें रोकें और जब श्वास रोकने की शक्ति न हो तब यह आसन नीचे बताए गए कोष्टक के अनुसार श्वास और प्रश्वास चालू करें। ठोढी छाती (हनुवटी के उपर रखनी चाहिए। आंखोंकी दृष्टि को पैर के अंगुष्ठ के ऊपर रखनी चाहिए। कन्धे के भाग, गर्दन और शीरके पिछले भाग जमीन पर छूते रहें। पश्चात् धीरे धीरे पैरको जमीन पर रखें।

कितना समय यह आसन करना चाहिये।

दिन में दो बार यानी प्रातःकाल और शामको, आठ दिनतक दो मिनिट, आठ से सोलह दिनतक तीन मिनिटतक, सोलह से बाईस दिनतक चार मिनिट तक, बाईस से तीस दिनतक पांच मिनिट तक, तीससे चालीस दिनतक छः मिनिट तक ऐसा बढाते बढाते दो महिने में दस मिनिटतक पहोंचें। तत्पश्चात् यथाशक्ति आधे घण्टे तक कर सकते हैं। इस आसन का लाभ पांच मिनिट लगातार अभ्यास करनेपर मिलने लगता है।

इस आसन से मुख्य लाभ।

हमारे शरीर के आज्ञाचक्रमें से सदा एक प्रकारका रस स्रवित होता रहता है। उस रसका नाम अमृत है। उस अमृतके सारे शरीर में पहुंच जाने से सारा शरीर तेजःपुंज, ओजस्, दिव्य शक्तिवान, अटूट बलवर्धक एवं सर्व रोगोंसे मुक्त होकर अनहद आरोग्यप्रद बन सकता है। किन्तु स्वाधिष्ठान-कमलमें स्थित हुई हुई कुंडलिनी-शक्ति के उस अमृत को स्वाहा कर जानेसे जो अमृत शरीरके अंग-उपांग में पहुंचना चाहिए, वह नहीं पहुंचता। शरीर हृष्ट-पुष्ट, बलवान् और सर्व रोगोंसे रहित करने के लिए यद्यपि दवा, इंजक्षन आदि अकुदरती उपाय करने पर भी शरीर अल्प समय के लिए ठीक हो जाता है, परन्तु सदा के लिए नहीं। जो आपको शरीर ठीक बनाना हो, तो अवश्यमेव इस आसनको अपनाइए अर्थात् मानपूर्वक और प्रेमपुरःसर सदा अभ्यास कीजिये। इसके और भी लाभ सुनिए।

दांत के रोग नष्ट होकर दांत शुभ्र हो जायंगे। वीर्य घट बनेगा। स्वप्नदोष, पेशाबमें वीर्यका जाना, मलमें वीर्य का जाना, प्रस्वेदमें वीर्यका जाना एवं सर्व प्रकार के वीर्यदोष मिट जायंगे। वीर्यका रोगवाला सर्वाङ्गासन करने के समय में अण्डकोष, शिश्नेंद्र और पेडुके भागका संकोच तथा विकास करे। जिससे उन स्थानों की नाडियां और अवयव बलवान् बनें। लगातर छः महिने तक इस आसनके करने से वृद्धत्व के चिन्ह नहीं दिखेंगे। अपचन, मलबद्धता, कमरकी वेदना, गर्दन की अशक्ति, आंखोंकी निर्बलता और नाडीशिथिलता नष्ट होकर, शरीर सर्वाङ्गसुन्दर, मुखमें लालाश, हाथ पैर आदि अवयवों में ताकात एवं काया बलवान् तथा मन एकाग्र होता है। निद्रा अच्छी आती है।

इस आसन को गर्भवती और मासिक धर्मवाली स्त्रीयाँ न करें। आठ से १०० बरस आयुवाले सर्व स्त्री-पुरुष कर सकते हैं। आसन करने के आध घण्टे के बाद भोजन कर सकते हैं, परन्तु भोजनके ४ घण्टेके पश्चात् ही आसन करें।

महावीर क्या है ?

(लेखक- श्री० पं० धुंडिराज गणेश दीक्षित, सोमयाजी, वाई)

' अग्निष्टोम ' आदि सोमयागोंमें ' प्रवर्ग्य ' नामका एक अनुष्ठान है । इस अनुष्ठान में ' महावीर' की आवश्यकता होती है । यह एक पात्र होता है, जिसका आकार निम्न है । जैसे लडके-लडकियां खेलते हुए तीन बर्तन एक दूसरेपर रखा करते हैं, उस प्रकारका यह पात्र होता है। यह अन्दर से खोखला और बाहर से उक्त प्रकार के आकार का होता है। यह करीब नवदस इंच ऊंचाई में होता है। इसी पात्र को महावीर, प्रवर्ग, घर्म, तथा सम्राट्, ये भी नाम वेदमें प्रयुक्त होते हैं।



महावीर

एक मिट्टी के चबूतरेपर महावीर पात्रकी स्थापना की जाती है, और इसके चारों ओर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। साथ ही साथ महावीर पात्र में घृत रखा जाता है, वह बाहर की अग्नि से तपता है, तदनन्तर गौका या अजाका दूध घृत बहुत ही तपनेपर इस महावीर में डाला जाता है।

दुग्धमिश्रित महावीर पात्र के उस मिश्रण का नाम ' घर्म ' है। इस घर्मसंज्ञक हविर्द्रव्यके हविरनुष्ठान का नाम ' प्रवर्ग्य ' है। यज्ञ में महावीर नामके तीन पात्र बनाने होते हैं। प्रयोग में एकही लाया जाता है, पर प्रयोग करते हुए एक फूटा या टूट गया, तो यज्ञमें विघ्न न हो, इस लिए दूसरे तैयार पात्र रखने होते हैं।

' प्रवर्ग्य 'अनुष्ठान मूलतः सोमयाग का नहीं है। वह पीछेसे सोमयाग में मिलाया गया है। इसीलिए यह वैकल्पिक अनुष्ठान है। कोई चाहे तो करे या न करे। इसके साथ एक ऐतिहासिक कथा का सम्बन्ध है, जो महत्त्वपूर्ण है। (देखो ज्ञानकोश, ' वेदविद्या,' प्रस्तावना पृ० २३४)

आजकल महावीरपात्र कुंभारके यहां से मिट्टीके बनवाये जाते हैं और यज्ञ करने के समय पात्र बनवाने की विधि संस्कारमात्र करते हैं। तथापि वेद में तथा श्रौत सूत्र में महावीर-निर्माण की विधि बताई है, जो संक्षेप से इस तरह है।

हरिण के चर्मपर बारीक छानी हुई मिट्टी रखें। यह मिट्टी बहुत बारीक हो, वल्मीक की मिट्टी अच्छी समझी जाती है। इस मिट्टीमें सोमवल्लीका अथवा उसके प्रतिनिधिभूत 'पूतिक' वनस्पतिका चूरा, हरिण के चर्मके थोडे बाल, अजाके बाल मिलाकर इस में अजा का थोडा दूध मिलावें। पश्चात् उसमें आवश्यक हो उतना गर्म जल मिलाकर दोनों हाथोंसे उस मिट्टी को तैयार करें। इसमे थोडासा चुनेके पत्थरका चूरण मिलावें तथा थोडा पुराने पात्र का

चूर्ण मिलावें। फिर अच्छी तरह कूट कूट कर यह सब तैयार करें। तब इससे उक्त आकार का महावीर-पात्र तैयार करें।

महावीरपात्र यज्ञपुरुष के मस्तक का प्रतीक है, इसीलिए इसकी ऊंचाई मस्तक जितनी दस इंच या द्वादश अंगुल होती है। 'त्र्युद्धि' अर्थात् तीन जगह यह ऊंचा होता है। इसके गले में एक रस्सी बांधी जाती है, जिसको 'रास्ना' कहते हैं। मुख के साथ एक चोंच जैसा पानी गिराने के लिए मुख बनाया जाता है। अन्दर का भाग खोखला करना चाहिए, जो बांससे किया जाता है।

इस रीतिसे तीन महावीर बनाते हैं। साथ रेती रखी जाती है, उसपर यह सुखाने के लिए रख देते हैं। सूख जानेपर घोडे की लीद को जलाकर उसका धूंवा करके उसपर सब ओरसे सेकते हैं। पश्चात् इन महावीर पात्रों को पक्का करने के लिए जमीन में आवश्यक गढा करते हैं, उसमें पकानेकेलिए लकडियां आदि डाली जाती हैं, उसमें ये तीनों महावीर पात्र खडे रखे जाते हैं। ऊपर नीचे लकडी, सूखा घास आदि सब भरा जाता है। उस पर मिट्टीका लेप करते हैं, ऊपर वायु जाने के लिए मुख खुला रखते हैं, नीचे चारों ओर कुछ छिद्र भी अग्नि जलने के लिए रखते हैं। इन सुराखों में से घास जलाकर अग्नि प्रदीप्त करते हैं। यह सब अच्छा पक जानेतक तपता रहता है। पक्का होनेपर लकडी से ऊपर की राख और अग्नि एक तरफ हटाते हैं और दूसरी लकडी के चिमटे से एक एक महावीर पात्र बाहर निकाल कर उसको रेतपर रख देते हैं। इस समय चारों ओर थोडी थोडी रेत रखते हैं। ये महावीर थोडा ठंडा होनेपर प्रत्येक पर चारों ओरसे बकरीका दूध थोडा थोडा छिडका जाता है। इससे वह महावीर शनैः शनैः ठंडा होता जाता है। इस समय एकदम अधिक दूध डाला जाय, तो महावीर फूटनेका संभव रहता है। इसलिए यह युक्तिसे करना चाहिए और चारों ओर से शनैःशनैः शीत हो जाय, इस तरह दूधका छिडकाव संभालकर करना चाहिए। इस तरह करने से ये पात्र बडे मजबूत हो जाते हैं।

इस तरह महावीर बनाया जाता था, पर आजकल इतना कष्ट कोई नहीं करते, सीधा कुंभार से बनवाते हैं और बर्तते हैं।

सत्य अहिंसासे भारतीय स्वतन्त्रताकी रूपरेखा ।

[लेखांक ७ ×]

(लेखक— श्री० पं० रामावतारजी विद्याभास्कर, रतनगढ, बिजनौर, यू० पी०)

भारतीय सत्याग्रह आन्दोलन के लिए कांग्रेस की ओर से नियुक्त हुए अधिनायक का अनुभव दक्षिण अफ्रीका में ऐसे ही एक आंदोलन का नेतृत्व करके सरकार से अपनी कुछ मांग पूरी करवाने में समर्थ होने का था। दक्षिण अफ्रीका का आंदोलन और भारत का आंदोलन सर्वथाभिन्नभिन्न प्रकारका था। दक्षिण अफ्रीका का आन्दोलन सरकार के अधीन बने रहने के लिए छेडा गया था।

इस आन्दोलनमें यह भूल की गई कि मांग पूरी करने के हथियार को स्वराज्य पाने के लिए चला दिया गया। मांग पूरी करवानेवाले हथियार से पूर्ण स्वराज्यका शिकार नहीं खेला जा सका। जो आन्दोलन मालिक से अपनी मांग पूरी करवाने के होते हैं उन्हें स्वतन्त्रताका आन्दोलन नहीं कहा जा सकता। वे तो केवल मालिक से प्रार्थना पूरी कराने के समयोचित ढंग होते हैं। यहां उस बिचारी प्रार्थना को ही स्वतन्त्रता का नाम देकर दोहराया गया था। इस आंदोलन को चलाते समय अधिनायक के मनमें यह भाव घूम रहा था, कि जब कि दक्षिण अफ्रीका में थोडेसे भारतवासी लोगों को इससे कुछ मिल गया था, तब यहां तो उससे बहुत बडी संख्या है। बहुत बडी संख्या से चलाए हुए आन्दोलन का परिणाम उससे कुछ अधिक तो होनाही चाहिए। यह त्रैराशिक बैठाई गई थी। उस समय उनके मन में दैवगति से जो परिणाम हो, उसीको स्वराज्य नाम देकर भोगने की इच्छा काम कर रही थी। यों भारत की स्वतंत्रता की विगत आन्दोलन एक अंधी परीक्षा थी। वह भारतका सजग होकर चलाया हुआ आंदोलन नहीं था। परीक्षण सदा अंधा होता है। जब कि स्वयं अधिनायकही अंधेरे में काम कर रहे थे, तब उनके पीछे चलनेवाले उनसे अच्छी स्थिति में कैसे हो सकते थे? इसीलिए हमारा कहना है कि कांग्रेसने युद्ध नहीं किया, किंतु वह युद्ध समझी जानेवाली कार्यवाही में अंधे के समान चली थी।

इसलिए भारतीय देशसेवकों को सावधान होकर देशसेवाका सच्चा मार्ग पकड लेना चाहिए। और ऐसे उपायों को काममें लाना चाहिए, जिनसे भारत की खोयी हुई मनुष्यता भारत में फिर लौट आए।

जब कि लूटे जानेवालों को लूट रोकने का सच्चा मार्ग दिखाना पडेगा तब उनके सामने लूट को कार्यरूप में न आने देने का सच्चा आदर्श रख देना पडेगा। उनसे कहना पडेगा कि स्वतंत्रता के लिए अपना सब कुछ निछावर कर दो। अपना सब कुछ त्याग दो। उन्हें त्याग का मार्ग दिखाना पडेगा। ऐसा न करके नेता लोग उन्हें उलटा आर्थिक लाभका लोभ दिखा रहे हैं। उनसे कहा जा रहा है कि किसानसंघ या मजदूर संघ नाम धारण कर लेने से ही तुमको संगठित तथा शक्तिमान समझकर, लूटनेवाले अपना हाथ खेंचकर, लूटना बन्द कर देंगे और तुम्हारी ही

× पंचम लेख 'वैदिक धर्म' क्रमांक २३७, पृ० ६४५ पर देखो।

शर्तें मान लेंगे। ऐसी परिस्थिति में तो संग्राम तथा उसकी तयारी की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे संगठन के मन में छिपा हुआ भाव संग्राम न करके संग्राम के सब लाभ पा लेने की तयारी है। यह लूटे जानेवालोंको विना संग्राम किए सफलता की लालच में फांसना है। यह लूटे जानेवालों को अपने पीछे चलाने के लिए एक प्रकार की झूठी रिशवत दी जा रही है। लूटनेवाला भी तो यही करता है कि वह रिशवत देकर उन्हें लूटता है। लूटे जानेवाला भी अपना कोई अनुचित स्वार्थ देखकर अपने को लुटने देता है। ऐसी मनोदशा रखनेवाले लुटनेवालेको लूटसे रोकनेवाला त्याग का सच्चा मार्ग दिखाना चाहिए। त्याग ही लूट को रोक सकता है। लुटनेवालोंको त्यागका सच्चा मार्ग न दिखाकर त्याग के विना भी लूटसे बच जानेवाला जो कोई मार्ग दिखाया जायगा, वह प्रत्येक मार्ग लूट को स्थायी बनानेवाला होगा।

हम नहीं चाहते कि अंग्रेजी सरकार हमारे किसी धोके में आकर हमें स्वराज्य दे दे। हम भारत में स्वराज्य का आना तब चाहते हैं जब अंग्रेजी सरकार को भारत में ठहरना असंभव अनुपयुक्त और अनवसर दीखने लगे।

अंग्रेजी सरकार गत दो सौ वर्षों से भारत की नस टटोल रही है। वह भारतकी अशक्तिके धोके में आकर अर्थात् संगठन की लम्बी चौडी कवायत से डरकर भारत का लोभ नहीं छोड सकती। परंतु जिस दिन भारतीयों के हृदयों में भारतीय स्वतन्त्रताका सूर्य चमक उठेगा, उस दिन अंग्रेजी सरकाररूपी असत्य को उस सत्य के सामने अपना मुंह छिपाना पडेगा।

यह बात संपूर्ण भारतीय राष्ट्र को कान खोलकर सुन लेनी चाहिए। जो अपने आपको किसी से लुटने देता है, वह स्वयं भी लुटेरा है। धोकेबाज ही धोका खाते हैं। लुटेरे ही लूटे जाते हैं। जो देशवासी आपस में लूटते रहते हैं, वेही दूसरोंकी लूटके शिकार बन जाते हैं। न लूटने का जो आदर्श है, वह लूटने को भी मना करता है और लूटको भी रोककर छोडता है। किसान किसी जिमींदार से कोई अनुचित लाभ उठाने के प्रयत्न में ही लूटा जाता है। इसी प्रकार मजदूर पूंजीपति से, नौकर मालिक से, करजदार साहूकारों से, बंधवे अपने अन्नदाताओं से, शासित साम्राज्यों से तबही लूटे जाते हैं, जब वे दूसरों को लूटने की मनोवृत्ति के शिकार बन चुके होते हैं। भारतने जब विदेशी लुटेरों के लूटके साधनों से अनुचित लाभ उठाना ठान लिया था, तबही उनकी लूट का शिकार बना था। विदेशी लुटेरोंने भारत में अपनी लूटके जो साधन फैलाए भारत उन साधनों से लाभ उठाने के लोभ में फंसकर लूटा जाने लगा। यदि भारत स्वयं लुटेरा न बन गया होता, तो संसार की कोई भी शक्ति भारत को हानि पहुंचाने का साहस न कर सकती।

अब भी यदि भारत लूटसे बचना चाहता हो, तो उसका एक ही मार्ग है कि वह सबसे प्रथम दूसरों (अंग्रेजों) को लूटने के विचार छोड दे। अर्थात् दूसरों से अनुचित अधिकारहीन लाभ उठाने के लोभ को त्याग दे। अर्थात् वह व्यक्तिगत स्वार्थों में फंसने के दुष्ट अभ्यास को छोड दे। व्यक्तिगत स्वार्थ एक ऐसी लूट है, जो अपने को दूसरों से लुटवाए बिना नहीं मानती। राष्ट्र के सच्चे सेवकों को देशकी यही सेवा करनी है कि वह देशवासियों के हृदयों तक यह ज्ञान पहुंचा दें कि व्यक्तिगत स्वार्थों में चिपटना छोडकर आत्मसम्मान या सामाजिक स्वार्थ की रक्षा करो।

सत्य को अपनी आंखों से देख लेना ही ज्ञान का अर्थ है। ज्ञानपूर्वक चलनेवालों का नेतापन किसीसे नहीं निभ सकता। सत्यही उनका नेतृत्व करता है। सत्य जिसका नेतृत्व करने लगता है, वह अपने आपही अपना नेता होता है। सत्यके पीछे चलनेवाले मनुष्योंके समूह असत्यके विरोधके लिए स्वभाव से संगठित होते हैं। सत्यकी शाश्वत

पुकार उनको संगठित कर देती है। ऐसे सत्यानुयायियों को संगठित करने के लिए किसी बाह्य नेताकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

सत्यानुरागी पुरुष पहले संगठित होकर फिर असत्य से नहीं लड़ते। किन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में असत्य को कुचलकर अपने आपको ऐसे असत्यविजयी वीरों के समूह के साथ अच्छेद्य, अविभाज्य रूप में संगठित पाते हैं जो कि इन्हीं के समान असत्यका मानमर्दन करके सत्यपर अटल भाव से आरूढ रहते हैं। संगठन शब्द केवल ऐसे वीरों के सम्मेलन को कहनेवाला है।

निर्बलों का एक साथ हो जाना शक्ति नहीं होती। निर्बलों का एक साथ होना निर्बलताओं का एक साथ होना हो जाता है। ऐसे मनुष्य एक साथ होकर शक्ति दिखाने का कठिन अवसर आनेपर एक साथ मिलकर निर्बलता दिखाने लगते हैं। भेडों को देख लीजिए। एक साथ रहती हैं, एक साथ घास खाती हैं, एक साथ पानी पीती हैं। परन्तु भेडिया आनेपर सबकी सब एक साथ भागकर अपनी अपनी निर्बलता दिखाकर निर्बलों के संगठन की हँसी उडवा देती हैं।

हमारे नेता शक्तिशाली मनुष्यों का राष्ट्र बनाने को अपना लक्ष्य रख कर कोई काम नहीं कर रहे हैं। वे ऐसा कोई काम न करके और जो कुछ करते हैं, उससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि वे जो कुछ आज तक कहते चले आए हैं, वह काम उनके वश का नहीं है। वे केवल यही चाहते हैं कि राष्ट्र के मन को मनुष्यता के गर्वीले आदर्श से बचाए रखकर उसे गंभीर अज्ञान में रोके रखें। यों राष्ट्र की कोई भी मानसिक सेवा न करते हुए भी नेता समझे जानेवाले लोग यदि देश के लिए कुछ करने का आत्मसन्तोष तथा गौरव केवल अपने लिए कमा लेना चाहते हैं तब तो वे जिस ढंग से आज तक करते रहे हैं, वही ठीक है। यदि वे अब आगे को अपने को धोके में रखना न चाहते हों तो उसके लिए सर्वोत्तम मार्ग यह है कि नेता समझे जानेवाले लोग सरकार का सुधार करना न चाहकर केवल अपना सुधार करें। देश के नेता न बनकर सेवक बनें। अपने पीछे चलनेवाले अनुयायियों को संगठित करने की उच्च अभिलाषा छोड़कर स्वयं स्वतन्त्र राष्ट्र के सदस्य बन जांय।

नेता निर्बलताकी जीवित मूर्ति होता है। क्योंकि उसे कुछ अनुयायियों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। अनुयायियों के बिना नेता का अस्तित्व संकट में पड जाता है। अनुयायी भरती करने से दूसरा उसके जीवन का कोई काम नहीं होता। वह अपनी भिक्षायात्रा में अपने पीछे भिक्षुकों का एक दल चाहता है। इसीलिए वह अनुयायियों की ओर से नेता बनकर भिक्षापात्र पकडे रहता है।

देख लीजिए कि नेता किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। अंग्रेजी सरकार की भारतीय शिक्षापद्धति राष्ट्र के सामने आदर्श रखने में सफल हो गई है कि सरकार की ओर से प्रमाणपत्र मिले बिना इस अभागे देश में किसी के भी जीवन का कोई मूल्य नहीं है। सरकार की यह नीति देश में काम कर गई है। होना तो यह चाहिए था कि सत्य के बिना किसी मनुष्य के जीवन का कोई मूल्य न होता। परन्तु हो यह रहा है कि सरकारी प्रमाणपत्र पाए बिना किसी भी भारतीय के जीवन का कोई मूल्य नहीं रह गया है। अविचारशील जनसाधारण में से ही कुछ लोग नेता का पद संभालनेवाले निकल आते हैं। इसलिए वे भी अपने को इस मनोवृत्ति का शिकार बनने से नहीं बचा सके हैं। वे भी नेता बननेके लिए सरकारी प्रमाणपत्र चाहते हैं। प्रथम तो वे अपने आपही अपने को जनता का प्रतिनिधि बना लेते हैं। ज्यों ज्यों इस मार्ग में उनका यश बढ़ता है, त्यों त्यों सरकार उनसे दो काम लेने लगती है। या तो उन्हें राज्यशासन नामकी देश की लूट में उत्तरदायित्व के कुछ अधिकार दे देती है। या उन्हें कैद आदि

उपायों से यशस्वी बना लेती है। यों ये नेता लोग सरकारी प्रमाणपत्र से देशवासियों की ओर से मांगने की योग्यता पा जाते हैं। इस दृष्टि से नेता नाम के प्राणी लूटे जानेवाले तथा लूटनेवाले के बीच के दलालके अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। यदि लूटे जानेवालों में लूटका विरोध करनेवाली शक्ति और साहस होता है, तो वे लुटेरेसे बातचीत या समझौता करने के लिए किसी बिचौलिए की आवश्यकता नहीं रखते। वे स्वयंही सामने आकर लुटेरे का लूटनेवाला मन तोड देते हैं, मध्यस्थता करनेवाले किसी नेता की आवश्यकता उसी समय पडती है, जब वे किन्हीं अनुकूल शर्तों पर लुटने को उद्यत होते हैं। नेता लोग अपने प्रतिनिधित्व को स्थाई रखने के लिए अपने पीछे अनुकूल शर्तोंपर लुटने को उद्यत रहनेवाला एक संगठन लगाए रहते हैं। नेता लोग अपने स्वार्थ के लिए संगठन का बिगुल बजाते फिरते हैं।

संगठन को भवन के दृष्टांत से समझना चाहिए। पहले भवन के भाग बनते हैं। पहले भवन नहीं बनता। वह तो भाग बननेपर अपने आपही बना हुआ हो जाता है। भागों का बनना ही भवन का बनना है। इसी प्रकार संगठन से प्रथम इसके मनुष्य तयार होने चाहिए। यदि संगठन स्वतंत्रता के लिए किया जाता हो, तो देश में स्वतन्त्र मन रखनेवाले मनुष्यों का निर्माण करना चाहिए। यदि देश इस काम को संभाल ले, तो सारा का सारा राष्ट्र स्वतन्त्र भारत का रूप धारण करनेमें विलम्ब न करे।

यदि दास भारत में से मसाला लेकर दासों का संगठन किया जायगा, तो वह देश की जागृति का मिथ्या दिखावा करके देश को ठगता रहेगा। और देश जहां का तहां खडा रहकर आगे नहीं बढ सकेगा।

क्या ऐसा संगठन करनेवाले नेता देश के नाम पर मांगने के अतिरिक्त और कुछ कर सकते हैं। वे इस सचाई को पहचानते हैं कि सारा देश उनपर विश्वास नहीं करता। फिर भी वे अपने ऊपर कुछ सार्वजनिक कर्तव्य ले लेते हैं। वे सारे देश के उत्तरदायी बनकर उसकी ओर से बात करने लगते हैं। उनकी बातों का आधार कुछ नगण्य संख्यावाले मनुष्यों के संघ से सम्बन्ध रखना होता है। नेता लोग अपने में ही देशप्रेम का अधिकार मानते हैं और देश की विराट् सम्मति को भूल जाते हैं। वे देश के नामपर शासनशक्ति के ऊपर अपनी इच्छा लादने का घमंड भी करते हैं। जैसे हम अन्यायी राज्य को जनतापर अन्याय तथा बलप्रयोग करने का अपराधी मानते हैं, वैसेही उस अत्याचारी के सामने देश के नामपर भिक्षापात्र फैलानेवाले नेताओं को भी देशपर अत्याचार करनेवाला कहेंगे। इसलिए कहेंगे कि वे अपने देशकी मनुष्यता का अपमान करते हैं। वे अत्याचारी से कृपा करने की प्रार्थना करके देश को अत्याचार का स्वाभाविक प्रतिकार नहीं करने देते। वे देश में अत्याचार का विरोध करने की प्रवृत्ति को न जगने देकर सारे देश को भिखारी बनाकर अपने देश की मनुष्यता का अपमान करते हैं।

अवश्यही नेता लोग शासकों से कुछ कानूनों की कठोरताओं को हटवाकर अपने लिए गरीबों की कृतज्ञता कमा लेते हैं, सरकार के लिए जनता की लोकप्रियता और विश्वास कमवाने के क्षुद्र अवसरों को ढूंढकर उन्हें सरकार से पूरा कराकर सरकार को जनता की विश्वासपात्र तथा लोकप्रिय बना देते हैं। परन्तु वे शेष संपूर्ण देशवासियों के स्वाभिमान को ताकपर उठाकर रख देते हैं। वे उन सब को असहाय भिखारी की स्थिति में पहुंचा देते हैं। सचमुच तो वे गरीबों की निर्धनता का भी अपमान करते हैं।

जो नेता देशवासियों के स्वाभिमान की परवा न करके उन्हें दान मांगनेवाले की स्थितिमें पहुंचा देते हैं, वे अपने को परोपकारी तथा अत्याचारी सरकार को विधाता के ऊंचे आसनपर बैठा देते

हैं। वे सारे देश की मनुष्यता को नष्ट करके उसे सदा के लिए अवनति के गढे में धकेल देते हैं।

हम सरकार के सामने अपनी कोई मांग रखने को ही भीख मांगना कहते हैं। जो मांग दो शताब्दियोंसे अधूरी हैं, जिनको पूरी होने का अवसर अब तक नहीं लाया जा सका, उन्हें फिर भी करते जाने में कौनसी बुद्धिमत्ता है? यह भारतीय मस्तिष्क की अनुभवहीनता है।

हम कह चुके हैं कि सबसे प्रथम देश को सरकारी नीति समझ लेनी चाहिए कि, जब देश सरकारी नीति को पहचानेगा तब अचम्भे में पड जायगा कि नेताओं को सरकार पैदा किया करती है। कांग्रेस ऐसे ही नेताओं की संस्था है। इस कारण हम उसे सरकारी संस्था कहते हैं। सरकार समय समयपर अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए इस संस्था का जिस तरह उपयोग करना चाहती है, कांग्रेस उसी प्रकार काम करने लगती है। सरकार उसके लिए जो मार्ग बना देती है, कांग्रेस उससे तिलमात्र भी इधरउधर नहीं होती। सरकार से शिकायत करने और सरकार के सामने मांग रखनेको ही सरकार तथा कांग्रेस दोनों 'जनता की जागृति' मानते हैं। जैसे सिगरेट और चाय के व्यापारी तथा दलाल उसी देश को जाग्रत समझते हैं, जहां उनका माल अधिक खपता है। जैसे वकील तथा उनके दलाल मुकदमेबाजी को ही समाज की जागृति या जीवन का चिन्ह मानते हैं। इस मनोवृत्तिने दो काम किए हैं कि एक तो सरकार का शिकायत सुनने तथा मांग पूरी करने का अधिकार है, यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। दूसरे नेताओं की मध्यस्थताकी आवश्यकता स्वीकार कर ली है।

जो संगठन शिकायत करने तथा मांग पूरी कराने के लिए किए जाते हैं, वे संगठित दासताके अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। दासता को जड से उखाड फेंकनेवाले संगठन इस झुण्डों की भरती से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। निर्बल मनुष्य इकट्ठे होकर कोई बडा काम नहीं कर सकते।

जबतक कोई राष्ट्र असंगठन के कारण को नहीं हटाता तबतक संगठित नहीं हो सकता। देश में असंगठन का कारण रहेगा, तो संगठन करना निरर्थक होगा। यदि देश में से असंगठन का कारण नहीं हटाया जायगा, तो शत्रु के सामने से जान बचाकर भागना पडेगा। यदि शिकार बननेवाले लोग शत्रु का प्रथम दर्शन होतेही अपने को संगठित न कर सके हों, तो मान लो कि इसके पश्चात् वे असंगठन के कारण को न हटाकर संगठन का जो कोई प्रयत्न करेंगे, वह प्रयत्न शत्रु के स्वार्थ को स्थिर रखकर ही करना पडेगा। व्यक्तिगत रूपसे शक्तिमान मनुष्यही संघबद्ध होकर शक्ति दिखा सकता है। जो व्यक्तिगत रूप में दुर्बल है, वह किसी बल का काम करने के लिए संघबद्ध नहीं हो सकता। वह निर्बलता के कारण ही संघबद्ध होना चाहता है। वह निर्बलता के अतिरिक्त और कुछ प्रकट नहीं करेगा। वह अपने से अधिक शक्तिशाली से हार मान लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करेगा।

यदि कोई नेता स्वराज्य के लिए अपने देशवासियों के ऊपर निर्भर हो और जो देशवासी नेताओंपर निर्भर हों तो निश्चय जानो कि उन्हें स्वराज्य की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी को स्वतन्त्रता की आवश्यकता हो, तो वह उसे अपनेही लिए पा सकता है। दूसरों के लिए नहीं। दूसरों के लिए स्वराज्य प्राप्त करना स्वराज्य को न समझने की स्थिति है। स्वतन्त्र व्यक्तियों के संगठनों से बने हुए राष्ट्रकोही 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' कहा जाता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता या स्वराज्य पाना तबही समझना चाहिए जब कि उस राष्ट्र को बनानेवाले प्रत्येक मनुष्य अपने अपने को व्यक्तिगत रूप में स्वतन्त्र बना चुके हों। अर्थात् स्वतन्त्र मनुष्यों की संख्या बढ रही हो। ऐसा होना असंभव नहीं है। स्वराज्य का अर्थ किसी

राष्ट्र की स्वतन्त्रता हो और वह राष्ट्र उस स्वतन्त्रता को पाने के लिए उत्सुक भी हो तब तो स्वराज्य को पाने का केवल यही मार्ग रह जाता है कि उस राष्ट्र का बच्चा बच्चा तक स्वतन्त्रता के रहस्य को समझ जाय। तबही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को पार्थिव रूप प्राप्त हो सकता है। नहीं तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्लेटफार्मों की अभिनेत्री बनी रहेगी और राष्ट्र दास बना रहेगा।

भारत की नदी, पर्वत, सागर तथा हरे भरे मैदान स्वराज्य नहीं मांग रहे हैं। केवल इस देशवासियों के मनों में स्वराज्य की मांग हो सकती है। आश्चर्य है कि स्वराज्य को कोई भी नहीं जानता और फिर भी स्वराज्य की बनावटी मांग बढाई जा रही है। सारे देश का काम बिना स्वराज्य के चल रहा है। सारे देशने स्वराज्य के विना जीवित रहने का निश्चय कर रखा है। केवल एक बात सबको रटाई जा रही है, कि स्वराज्य चाहना जीवन के लिए आवश्यक है। स्वराज्य की चाह उत्पन्न कर दी गई है और उसका स्वरूप आजतक नहीं बताया जा रहा है। कुछ समझदार समझे हुओं के विश्वास से ही भारत स्वराज्य चाहता है। स्वराज्य भारत की जनता की मांग नहीं है। भारतीय स्वराज्य अभीतक कुछ व्याख्याताओं का उधार बना हुआ है। भारत की जनता का स्वराज्य अपने नेताओं के पीछे अंधे के समान चलते रहना है और नेताओं का स्वराज्य जनता को अपने पीछे चलाते रहकर उस मालिक की इच्छा पूरी करते रहना है, जिसने उन्हें अपने स्कूल-कालेजों में बुलाकर विद्या नाम देकर अविद्याकी अंधेरी पट्टी बांधी है। शत्रु को हरा देना तथा शत्रु को सामनाहीन करना ये दो विपरीत मनोवृत्ति हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने अपने काम में निर्विरोध रहना चाहता है। वह किसीसे रोका जाना नहीं चाहता।

भारतीय नेता स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता चिल्लाते हैं, किंतु मनों में सबने दासता को बैठा रखा है। वे स्वतन्त्रता को सर्वथा नहीं समझते। उन्होंने स्वतन्त्रता तथा रोटी को एक बनाकर देश को भ्रम में डाल दिया है। वे पार्लियामेंट से मिलनेवाले स्वराज्य में स्वतन्त्रता का सार आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे अंग्रेजी शासन के दोष निकालने अर्थात् उसे सुधारने में लगे हुए हैं। परन्तु इस मन्तव्य में भारत का कल्याण नहीं है। सरकार को सुधारना उसे स्थाई बनाने के लिए स्वीकार करने योग्य बनाना है। थोडी देर को मान लें कि वह सुधर जायगी तो क्या वह भारत के स्वीकार करने योग्य हो जायगी? और क्या वह विदेशी शासन न रहेगी? रहेगी तो क्या इस सरकार के रहते हुए भारत स्वाभिमान का आनन्द ले सकता है? इस साधारणसी बात को न समझकर हमारे नेता लोग शासन सुधार के असंभव झगडे में फंस गए हैं। विदेशी सरकार हटाई जा सकती है, सुधारी नहीं जा सकती। वह राष्ट्र का कल्याण करने योग्य कभी नहीं सुधरती। कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र का हित नहीं कर सकता। कोई भी विदेशी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का हित करने के नाम से किसी भोले राष्ट्रको ठग सकता है।

जिस प्रकार बच्चे माता के हाथ के दिए दूध से ही हृष्टपुष्ट होते हैं, विमाता या डायन के हाथ से नहीं। माता भी दूध पिलाती है और डायन भी दूध पिलाती है, परन्तु दोनों के दूध पिलाने के भाव उद्देश्य तथा परिणाम में महान् अन्तर रहता है। विदेशी राष्ट्र कभी किसी राष्ट्र का कल्याण नहीं कर सकता। अंग्रेजी राज से भारत में प्रकाश और शांति फैलाई बताई जाती है। इसके हस्पताल रेल मोटर हवाई जहाज तार नल बिजली डाक घाट सडक नहर खेती सब विमाता का दूध या बलि के बकरेको दी हुई सुविधायें हैं। अंग्रेजी सरकार के खोले हुए सब विद्यामन्दिर भारतीय बालकों को दास बनानेवाले गुलामखाने हैं। ये देशवासियों के मन को दास बननेवाले अड्डे हैं।

इनमें भारत के बालकों को अंधा और वन्ध्या बनाया जाता है।

कुछ लोग तो ऐसे होते हैं कि वे शत्रु का नाश करके विना विरोध की अवस्था पैदा कर लेते हैं और कुछ लोग अपने में रहनेवाली विरोध करने की मनोवृत्ति का दम घोटकर विनाविरोध की अवस्था में चले जाते हैं।

विना विरोध की अवस्था को बुलाने के दो मार्ग हैं या तो शत्रु को बरबाद करो या अपने को बरबाद हो जाने दो। पहली अवस्था स्वतन्त्रता की मनोवृत्ति है। दूसरी दासों की है। पहली में इस बात की दृढता है कि या तो डाकू का अन्त कर दिया जाय या विरोध करनेवाला मैं इस संसार में न रहूं। अर्थात् किसी भी अवस्था में दोनों का एक साथ रहना असंभव बन जाय। दास-मनोदशा डाकू से समझौता करने के लिए उद्यत बैठी रहती है। वह किसी भी अवस्था में शत्रु के समान उसका विरोध करना नहीं चाहती। स्वतन्त्र मनोवृत्तिवाला वीर अपनी जीवित आंखों से शत्रु को विजयी देखना नहीं सहता। दासमनोवृत्तिवालों का स्थान सदा शत्रु की छत्रछाया में रहता है। स्वतन्त्र मनोवृत्तिवाले वीरों की संघशक्ति उनके अन्तिम श्वासतक उनके साथ रहती है। किंतु दास मनोवृत्तिवालों के संघ उतने दिन जीवित रहते हैं जितने दिन अधिक शक्तीशाली शत्रु उस संघ की परवा नहीं करता।

असत्य का विरोध करनेवाले शक्तिमानों का इकट्ठा हो जाना ही संघशक्ति का अर्थ है। सत्य में ही असत्य का विरोध करने की शक्ति होती है। लोभ या स्वार्थ असत्य है। इनके वश होकर इकट्ठे होने से संघशक्ति नहीं होती। यह तो इकट्ठा किया हुआ लोभ होता है। यह असत्य या निर्बलताकाही एकत्रित होना होता है।

यदि राष्ट्र लोभी रहेगा, तो वह राष्ट्रलोलुप लोभी का विरोध नहीं कर सकेगा। यदि राष्ट्र लोभी हो जायगा, तो उसे अपने लोभी शत्रु का सहायक बन जाना पडेगा। तब वह कुचलनेवाली शक्ति से दब जायगा और उसी को शक्तिमान सरकार मानने लगेगा। यदि राष्ट्र को असत्य का विरोध करना होगा तो या सत्यकोही उसके सामने लाकर खडा करना पडेगा। तब अपने राष्ट्र को सब स्पष्ट बताना पडेगा। तब राष्ट्र को भ्रामक उत्साह दिलाना छोडना होगा। स्वार्थ-विचार तो स्वयंही असत्य है। वह असत्य को कैसे हटा सकेगा ? क्योंकि असत्यका धर्म असत्य की सहायता करना है।

जब कोई परराष्ट्रलोलुप राष्ट्र किसी दुर्बल राष्ट्र को ढूंढकर उसपर अधिकार जमाता है तब क्या आप उसे असत्य की असत्यपर विजय कहेंगे ? इस उदाहरण में असत्य की सहायता मिल जाने से ही असत्य का काम बना है। यहां 'विजय' नामक घटना नहीं हुई। विजय वहां होती है, जहां विरोधियों का विरोध करना पडता है और उनसे लोहा लेना पडता है। परन्तु जहां विरोध के स्थानपर सहायता मिली हो वहां संग्राम-न होनेसे 'विजय' भी नहीं होती। यदि उसके इस प्रयत्न का विरोध किया गया होता, तो हम उस विरोध को सत्य की ओर से किया हुआ विरोध कहते। यदि भारत के सत्य की ओर से विरोध किया गया होता तो उनकी निश्चित पराजय होती। शिकार पकडने में असमर्थ हो जानाही उनकी पराजय का स्वरूप होता। जब ऐसे लोग सफल या विजयी होते दीखते हैं, तब वे किसी अपनी शक्तिसे विजयी नहीं बनते। किंतु वे आक्रांत से भयभीत होकर अपना शिकार करवानेमें उनका सहायक बन जानेपर विजयी के खाली आसनपर चढकर बैठ जाते हैं। कोई भी लोभी राष्ट्र लोभ में फंसकर किसी भी सच्चे स्वतन्त्र राष्ट्रपर अधिकार नहीं जमा सकता। चाहे वह राष्ट्र आकार में कितना ही छोटा क्यों न हो। राष्ट्र किसी भूमि से बन्धे नहीं होते। किंतु उसमें बसनेवाले मनुष्यों की. स्वतन्त्र मनोवृत्तिही 'सच्चा राष्ट्'

कहाती है। स्वतन्त्र मनुष्यों के मनोंकोही 'राष्ट्र' कहा जाता है। जहां यह मनोवृत्ति नहीं है, वहां राष्ट्र नहीं है। राष्ट्र का रक्त तथा मांसही भूमिपर रहता है। परन्तु राष्ट्र की स्वतन्त्र मनोवृत्ति उस भूमिसे ऊपर रहती ह। वह भूमितक सीमित नहीं होती।

कोई स्वतन्त्र राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र मनोवृत्ति की रक्षा करे, इसका यह अर्थ नहीं कि वह लोभी और स्वार्थी होकर दूसरों के पीछे पड जाय। लोभी लोग राष्ट्र न कहाकर लुटेरों के झुंड कहाते हैं। यदि कभी ऐसा कोई लुटेरोंका झुंड अपनेको किसी राष्ट्र का प्रतिनिधि कहकर किसी दूसरे निर्बल राष्ट्रपर अधिकार जमा लेने में समर्थ भी हो जाय तब भी उसे एक राष्ट्रपर दूसरे राष्ट्र का विजय नहीं कह सकते। यह बात बडी सरलता से समझ में आ सकती है। ऐसी घटनाओं में वह लोभी झुंड अपने साथ अपने देशकी संगठित शक्ति नहीं लाता। किंतु वह उस निर्बल राष्ट्र की निर्बलता से ही लाभ उठाकर निर्बलता में से ही मसाला लेकर विजय की टोपी पहन लेता है।

कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नहीं जीत सकता। किंतु (१) लुटे जाते हुए राष्ट्र के अनुमोदन से (२) उसके निर्विरोध रहने से और (३) सहायक बन जाने से ही एक एक राष्ट्र दूसरे को लूट सकता है। वह इसीलिए लूटने लगता है कि बिना रुकावट के लूटा जा सुकता है। लूट कभी लुटेरों की शक्ति से नहीं होती, किंतु शिकारकी निर्बलता से होती है, जब उसका शिकार उसे हटाना छोड बैठता है तब लूट चालू रहती है। विजित देशों की सहायता ही उन्हें लुटवाती है। यदि शिकार बननेवाला देश उनकी सहायता करे, अर्थात् सहायता करना छोड बैठे और संगठित होकर उनका विरोध करने को खडा हो जाय, तो लूटनेवाले अंधाधुन्ध आक्रमण नहीं कर सकते। तब उन्हें आक्रमण छोड देना पडता है।

हम फिर प्रकृत बातपर आते हैं कि स्वार्थ या लोभसे राष्ट्रविजय या राष्ट्ररक्षा नहीं हो सकती। स्वार्थ और लोभ से स्वतन्त्रता की सेवा नहीं हो सकती।

निर्बल मनुष्य निर्बल रहते हुए शक्ति का कोई काम करने के लिए संगठित नहीं हो सकते। वे असंगठन के कारण (मानसिक निर्बलता) को हटा चुकनेपरही अर्थात् व्यक्तिगत रूपमें शक्तिमान बन चुकनेपर ही संगठित हो सकते हैं और रह सकते हैं।

व्यक्तिगत शक्तिही शक्ति कहाती है। समूह की सहायता की परवा न करके अकेले भी शत्रु का विरोध करने से न रुकने का दृढ संकल्प बलही 'शक्ति' है। शक्ति सदा व्यक्तियों में बसती है। व्यक्तियों में से समूह में जाती है। समूह से व्यक्तियों में शक्ति नहीं पहुंचती। उदाहरण के रूप में लीजिए किन्हीं डाकुओंने एक मनुष्यपर आक्रमण किया। वे उससे कहने लगे कि तुम्हारे पास जो कुछ है, हमें दे दो। नहीं तो मार डाले जाओगे।

बताइए कि अब उस मनुष्य का क्या कर्तव्य है? वह निरस्त्र असहाय है। डाकू हथियारबन्द और संगठित है। डाकूके शिकार को डाकू से कैसा व्यवहार करना चाहिए? इससे पहले यह बात और भी विचारनी पडेगी कि वह अपने जीवन तथा धन का क्या मूल्य आंकता है? यदि वह जीवन को धन से अधिक मूल्य का समझेगा तब तो वह धन को देकर जीवन को बचाही लेगा। क्योंकि धन जीवन से अधिक प्यारा नहीं होता। यदि वह केवल धन देने को मना करे तो उसे धनभी देना पडेगा और जान भी खोनी पडेगी। ऐसी अवस्था में भौतिक लाभ हानि की दृष्टि से तो धन देने से मना करना बुद्धिहीनता मानी जा सकती है। परन्तु जब उसी घटना को कर्तव्य दृष्टि से जांचा जायगा तब किसी गुंडेकी धमकी में आकर सिर झुका बैठना उचित नहीं होगा।

यदि जीवन को भय में डालना बुद्धिहीनता

कही जाय और उसे धन देकर जान बचाने की सलाह दी जाय, तो फिर प्रश्न होता है कि क्या इस प्रकार आत्मसम्मान बेच बेचकर बचा बचाकर रखा हुआ जीवन जीने योग्य रहेगा? ऐसे डरपोक जीवन का क्या मूल्य होगा, जिसे कि अपना धन लुटने देकरही डाकू से बचाकर रखा जाता हो ? जो हथियार बन्द डाकू के सामने आकर खड़ा होतेही मान बैठता है कि उसका जीवन और धन डाकू के अधिकार में आचुका है, वह अपने को तबही जीवित पाता है जब वह डाकू उसे जीवित रहने दे। वह अपने जीवन को अपनी गाढ़ी कमाई से डाकू से खरीदे हुए सौदे के समान अपने पास पाता है। ऐसा जीवन इस खरीदने-बेचने के बाजार में कितनी बार रखा जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है।

जब उसका डाकू उसके धनपर ललचाया करेगा तबही ऐसा अवसर आ जाया करेगा। यों डाकू के शिकार का जीवन डाकूका ऐसा साधन बन जाता है, जिसे दबा दबाकर रुपया दुहा जा सकता है। अब शिकार का जीवन केवल इसी काम का रह जाता है कि पसीना बहाकर धन कमाना और डाकू की मांग आतेही उसे उसके डेरेपर पहुचा आना। लालची के लालच को पूरा करते रहने के अतिरिक्त उसके जीवन का और कोई उपयोग नहीं रहता। उसकी शांति तसल्ली में रह जाती है कि किसी तरह डाकू का छुरा उसके गलेपर न फिरे। वह अपने जीवन को इसी मुरदा शांति के लिए डाकू के पास गिरवी रख देता है। यही दासता है। यही गुलामी है।

अपने शरीर को डरके मारे डाकू या लुटेरे के उपयोग में आने देना ही दास मनोवृत्ति है। जो शरीर सत्यरक्षा का किला है, उस अपने शरीर से निर्बलता के वश में आकर सत्य की रक्षा करना छोड़कर इसका दूसरा उपयोग करने लगना इसका दुरुपयोग करना या दासता है। यहां लुटेरा तो अपने शिकार की निर्बलता से अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए अनुचित लाभ उठाता है और वह शिकार उस डाकू को अपने धन की रिश्वत इस लिये देता है कि कहीं उसके प्राण न ले लिये जांय। दोनों एक दूसरे से अनुचित लाभ उठाते हैं।

अंग्रेजी सरकारने भारत को लूटने के लिए भारत में मुरदा शांति फैला रखी है। वह भारत को शक्तिमान बनने में कोई सहायता नहीं दे रही उसने विदेशी आक्रमणकारियों को भगाने के लिए भारत के पास कोई शक्ति नहीं रहने दी है। यह कहना असत्य नहीं है कि यह सरकार भारत की केवल इतनी सहायता कर रही है कि भारत असंगठित शक्तिहीन तथा डाकुओं का शिकारही बना रहे। संगठित रहने का अर्थही आदर्श मनुष्यसमाज है। आदर्श शक्ति रखनेवाला मनुष्यसमाजही मनुष्य को शक्तिमान रखनेवाली सरकार बन सकता है। वह क्या सरकार है, जो अपने शासितों को निर्बल अशक्त और शिकार बना रहने दे? जबतक सरकार और मनुष्यसमाज दोनों एक चीज नहीं होते, तबतक सरकार सरकार कहने योग्य नही बनती। जब सरकार तथा मनुष्यसमाज दोनों एक दूसरे से पृथक् पृथक् पदार्थ बनकर बैठ जाते हैं, अर्थात् जब सरकार और होती है और मनुष्यसमाज दूसरा होता है अर्थात् जब सरकार अपने को मनुष्यसमाज का सेवक (प्रतिनिधि) नहीं रखती और जिस समाज का प्रत्येक मनुष्य सरकार की शक्तिसे शक्तिमान नहीं रहता, समझ लो वहां मनुष्य नहीं बस रहे हैं।

वहां न तो सरकार मनुष्य है और न वहांकी जनता मनुष्य है। दोनों मनुष्यत्व से हीन हैं। दोनों पशु हैं। जान लो कि उस समाज को अस्तित्वहीन, असंगठित तथा शक्तिहीन नपुंसक बनाकर रखनाही उस सरकार का काम है। वह सरकार उन शक्तिहीन, असंगठित तथा समाजबंधन न माननेवाले मनुष्यों की निर्बलता से लाभ उठानेवाली अधिकारहीन सरकार है। ऐसी सरकार

में और डाकू लुटेरे में कोई अन्तर नहीं होता।

निर्बल मनुष्यसमाज वह है, जिसमें सरकार की कोई शक्ति नहीं है। यदि किसी राज्य की प्रजा में से प्रत्येकपर राज्य की प्रतिनिधिशक्ति नहीं है, या नहीं रहने दी गई है, तो इसी बातमें उस राज्य के मनकी दुष्टता अयोग्यता तथा पाप का दर्शन करना चाहिए।

आज भारतवासी के हाथ में सरकार की कोई शक्ति नहीं नहीं है। आज यदि कोई नया विदेशी लुटेरा राष्ट्र भारतपर आक्रमण कर दे, तो भारत क्या कर सकता है? भारत को असहाय दीनहीन शक्तिहीन, असंगठित रखनेवाली ऐसी सरकार को सरकार कहना इस शब्द का अत्यन्त निकृष्ट उपयोग है। भारत के साथ दो सौ वर्षों से लूट का सम्बन्ध बेरोकटोक चल रहा है। लूटनेवालोंने ही सरकार की वर्दी पहन ली है। इसका काम यह देखना रह गया है और इसीलिए राष्ट्र का कमर तोड व्यय करके विशाल सेना रखरखी है कि कोई बाहर का डाकू भारतपर दृष्टि न डाल सके और भारत भी उसे भगा देने के लिए संगठित तथा शक्तिमान न हो सके। यह अपने लाभ के लिएही भारत की रक्षा का ढोंग कर रही है और शक्तिस्थापन का बहाना बनाकर भारतीय समाज की नामर्दी को अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर पालपोस रही है। भारतवासियोंने जिस मनोवृत्ति के वश में होकर अपने जीवन को धनसे अधिक मानकर अंग्रेजोंके प्रथम दर्शनमेंही उनके सामने सिर झुकाया था, उसी मनोवृत्तिने अबतक भारत को उनकी लूटका अर्थात् उनके अधिकारहीन राज्यका दास बना रखा है। भारतने गुलामी के बिच्छू के डंक को सदा के लिए अपने साथ जोड लिया है। उस समय जो कि भारतने अपने सिरपर तलवार गिरने को धन देकर हटाया हुआ समझ लिया था, वह भारतने भूल की थी। क्योंकि भारत का धन देनेका संबंध तबही समाप्त नहीं हुआ था। अब धन दुहते रहने का सम्बन्ध सदाही चलता रहेगा। अब भारतको इसी शर्तपर धन कमाना पडेगा कि आप उसमेंसे अंग्रेजों को हिस्सा देते रहें।

अनधिकारी का विरोध करने के लिए मनुष्य के पास अपना देह ही अजेय किला है। भारतवासी ३५ करोड किलों को अनधिकारियों की मांग पूरी करने में लगा रहे हैं। भारतवासी असहाय होकर अपने को उसकी अचूक झपटसे छुडाने में असमर्थ होकर उसकी बुरी से बुरी बात का अपने लिए अच्छे से अच्छा उपयोग करने के लिए विवश हो गए हैं, जहांतक हो सके अंग्रेजों का हिस्सा कम करके अपने लिए अधिक से अधिक हिस्सा रखसकनाही भारत का लक्ष्य हो गया है। अब भारत अनधिकारी अंग्रेजों को जितना हो सके, उतना कम देकर अपने लिए जितना अधिक बचा सकेगा दास भारत के लिए वही सुख और शांति हो जायगा।

यदि भारतने दासता का विद्रोह न किया तो अपने कल्याण और शांति को इसी कसौटीपर कसाकर अपनी मांग अंग्रेजों के सामने रखता रहेगा। भारत ऐसी मांग रखने के लिए संगठित भी हो जायगा और अंग्रेजी सरकार ऐसी मांग रखने के लिए भारत को संगठित भी हो जाने देगी। भारतकी मांग, प्रार्थना तथा वाचिक विरोध केवल इन दो रूपों में प्रकट हुआ करेगी। प्रार्थना और वाचिक विरोधही भारत के इस ढंग के संगठन का अन्तिम लक्ष्य रहेगा। इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी सरकार के पास प्रार्थनापत्र पहुंचाने के लिये तथा प्रस्ताव पास करने के लिए यहांतक कि उसके अत्याचार के विरोध के रूप में उसके जेलखानों में जाकर भीड कर देने के लिए भी वे भारत का स्वागत करते रहेंगे।

वाचिक विरोध में सच्चा विरोध या संग्राम नहीं होता। दास केवल वाचिक विरोध करके चुप रह जाते हैं। विरोधी तक सूचना पहुंचा देना

और आशा लगाये रहनाही वाचिक विरोध का अभिप्राय होता है। वाचिक विरोध में शत्रु का अन्त करदेने की दृढता और संकल्प दोनों नहीं होते। वाचिक विरोध करना कुछ रियायत तथा कुछ अधिकार पाने की दासेच्छा को प्रभु के दरबार में पहुंचाकर प्रभु की ओर ताकना है। इसी को दास मनोवृत्ति कहा जाता है। दासलोग इसी की हदमें रहकर संगठन का नाम रखकर जो कुछ करते रह सकते हैं, प्रभुको उसमें कोई आपत्ति नहीं होती।

यह जानना चाहिए कि विरोध के नामपर हल्ला मचाना शत्रु का अन्त करनेवाली शक्ति नहीं होती। शक्तिका काम करनाही शक्ति है। चिल्लाना शक्ति का काम नहीं है। भारत अंग्रेज़ों के समर्थन, उनके अनुमोदन, उनकी आज्ञा तथा उन्हीं की जानकारी से उन्हीं का अन्त करनेवाली शक्ति को देश में जगाने की आशा कर रहा हो, तो वह अपने को धोका दे रहा है। यदि भारत शक्तिमान बनने में अंग्रेजों की किसी प्रकार की सहायता पाने की आशा करता हो, तो वह भूलपर भूल कर रहा है। इस आशा का भाव यह है कि वह जिस शक्ति से भारत को दबाकर बैठे हैं, आपके केवल कहनेमात्र से उसे छोड बैठें। दासों की दासता को बिना छोडे संगठित होकर प्रभुसे अधिक शक्तिमान बन जाने की आशा, मूर्खता और आत्मवंचना है।

भारत को चाहिए कि वह संगठन से शक्तिमान होने की आशा छोड दे। उसे चाहिए कि व्यक्तिगत रूप में शक्तिमान बननेका, जो शक्तिमान बनने का जो सच्चा मार्ग है, उसे ग्रहण करे। जबतक भारत में व्यक्तिगत रूप में शक्ति नहीं आयगी तबतक भारत के सिर से भूत नहीं उतरेगा। व्यक्तिगत रूप में शक्तिमान हो जानेसे ही दासता नामका शैतान मनुष्य को छोडकर भागता है और मनुष्यमें स्वभाव से रहनेवाली स्वयं-संगठित दैवी शक्ति प्रकट होकर प्रभु समझी जानेवाली अत्याचारी शक्ति का अन्त कर देती है।

दासमनोवृत्तिवाले मूर्ख अपने आत्मा को तो बेच देते हैं और फिर भीख मांग मांगकर सारी दुनिया को कमाना चाहते हैं। दासमनोवृत्ति चार प्रकार से प्रकट होती है। (१) एक तो सोई हुई विशाल जनसंख्या जो कि दासता को भाग्य का भेजा हुआ मानकर उसे हटाने का उद्योग छोड बैठती है। (२) दूसरी दासमनोवृत्ति यह है कि भिन्नभिन्न स्वार्थ रखनेवालों के संघ बन जाते हैं। ये सब अत्याचार करनेवाली शक्ति में साझीदार बनकर उसकी दासता के बोझे को अपने कंधेपर लिये ही लिये, उदास अर्थात् भाग्य भरोसेवाली जनता के कंधोंपर चढकर उसका मालिक बनना चाहते हैं। ये सब भारत के अंग्रेजी शासन में नौकरी पानेवाले लोग हैं। (३) तीसरी दासमनोवृत्ति यह है कि कुछ लोग दासता का कष्ट न सहकर देश से भागकर बनी बनाई स्वतन्त्रताका लड्डू खाने के लिए स्वतन्त्र समझे हुए विदेश चले जाते हैं। ये भी पहले तथा दूसरों के समान अपने कंधोंपर बैठे मालिक को अपने बलसे कंधोंपर से झाडना असंभव समझते हैं। (४) चौथी मनोवृत्तिवाले कुछ अधीर मनुष्य अपने कंधोंपर बैठे मस्तिष्कके बढते हुए ऐश्वर्य को देखकर अधीर हो जाते हैं और समझते हैं कि इसीने हम लोगों का भोगाधिकार छीना है। परन्तु अपने को उसकी अत्याचारी शक्ति को अस्वीकार करने में असमर्थ पाकर अपना नपुंसक क्रोध दिखा बैठते हैं। ये अत्याचारी शक्ति को न हटाकर क्रोध में भरकर उसके कुछ नौकरों के शरीरों पर आक्रमण करते हैं।

इन चारों श्रेणियों को अपनेपर आत्मविश्वास नहीं है। ये सब यह समझने की भूल करते हैं कि किसी अधिक शक्तिवालेने उनकी शक्ति छीन ली है। ये सब अत्याचारी के आजानेकोही अपनी दासता का कारण समझते हैं। ये सब अज्ञानी हैं। ये इस सचाई को नहीं पहचानते कि क्योंकि

इन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को खोकर दास बनना स्वीकार कर लिया होता है, इसीसे ये दास बनते हैं। ये इस बात को नहीं समझते कि हम लोग लुटेरों के लूटने से दास नहीं बने, किंतु दास बनना पसन्द करने के बाद लुटेरों से लूटे गए हैं। यदि इन्होंने इस सचाई के प्रकाश में अपनी अवस्था की परीक्षा की होती तो इनका मन सत्य की ओर घूम जाता और उपर्युक्त चारों प्रकार के निराशा भरे मार्गपर चलना छोडकर मनुष्यता तथा स्वतन्त्रता की सच्ची सेवा का मार्ग पकड लेते। तब ये कर्तव्य मूढता को भी छोड देते और पागल की बौखलाहट को भी छोड देते। तब वह कर्तव्यपरायणता में मस्त होकर मनुष्यता की सेवा करने में ही स्वतन्त्रता का आनन्द लेते।

जब भारतवासियों की अंग्रेजों से पहली भेट हुई थी, उस समय अंग्रेजी तलवार से अपनी गर्दन बचाने से लेकर अन्त में बदला लेने के लिए उसके नौकरोंपर शस्त्र चलाने की अवस्था तक भारतीयों के मन में जो भोग प्रेम घुसा दीख रहा है, वही भारत को झूठे मार्गपर ले जा रहा है। उसने भारत को स्वतन्त्रता का रहस्य समझने के अयोग्य बना दिया है।

स्वतन्त्रता का संदेश इन शब्दों में रखा जा सकता है कि यदि स्वतन्त्र बनना चाहो, तो सत्य को खोकर जीना छोड दो। सत्य के ही लिए जीते रहो और सत्य के ही लिए मर जाओ। जीवन तथा धन दोनों में अनासक्त रहो। सत्य की रक्षा का प्रश्न आनेपर भौतिक परिणाम की ओर न देखकर असत्य की मांग पूरी न करने के लिए कटिबद्ध हो जाओ।

धन तथा भोग का त्याग कर दो, यही स्वतंत्रता का सच्चा मूल है। परन्तु भारतवासी अपने को इस मूल्य चुकाने में असमर्थ समझते हैं। इस समझनेही भारत को शक्तिहीन कर रक्खा है। देश को शक्तिहीन कर देनेवाली इस समझ के माया-जाल में फंसकर देश की विशाल जनसंख्या चुपचाप पडी है और दुर्भाग्य के साथ समझौता कर के साहस खो बैठी है। शेष जनसंख्या का बडा भाग इसलिए मांग, प्रार्थनापत्र, प्रतिवाद (मौखिक विरोध) तथा प्रचार में लगा हुआ है कि उन्हें भी चुपडी रोटी में हिस्सा मिलने लगे। इस के पश्चात् बहुत थोडे से मनुष्य स्वतन्त्र समझे जानेवाले देशों की तैयार की हुई स्वतन्त्रता भोगने चले गए हैं। शेष कुछ हताश होकर पागल बनकर अपने खोये हुए, समझे हुए अधिकार को किसी शत्रु समझे जानेवाले सरकारी नौकरकी जेबमेंसे निकाल लेने और उससे बदला लेनेवाले कुछ उपाय कर लेना चाहते हैं।

ये सब एकही प्रकार की असहायता और एक ही प्रकार की शक्तिहीनता को प्रकट करते हैं। जब हम भारतवासी अंग्रेजी सरकार को अपने से अधिक शक्तिमान होने का ऊंचा पद दे देते हैं, तब हम अपने को अधम मान लेते हैं। इससे हम अपनी मनुष्यता का अपमान करते हैं और सत्य को धक्का दे देते हैं। इस प्रकार हम दासता को अपना लेते हैं। इस मनोवृत्ति के दोही बाह्य रूप देखने में आते हैं— या तो निराश होकर कुछ न करना, या हताश होकर ऊटपटांग कर बैठना। ये दोनों एकसी निर्बलता को प्रकट करते हैं।

जो मनुष्य अपने को असत्यका विरोध करने में समस्त संसार के विरोध में भी अनन्त शक्तिमान मानता है। उसका मन स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र मनुष्य अपने भाग्य को किसी पराधीन समाज के साथ बंधा हुआ नहीं समझता। वह कभी समाज के पराधीन होने का बहाना लेकर पराधीनता से समझौता नहीं करता। वह अपने पीछे समाज की शक्ति होने के कारण अपने को दासता का विरोध करने में अशक्त नहीं मानता। वह अपने भाग्य का बोझ अपनेही सर्वशक्तिमान कंधोंपर रखता है। वह स्वयंही अपने भाग्य का विधाता

तथा सम्राट होता है । वह अपनी स्वतन्त्रता को प्रकट रखते हुए परिणाम के रूप में आनेवाली विपत्तियों का उत्तरदाता अपने समाज को नहीं बनाता। वह अपने आपही अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने को उद्यत रहता है । वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते समय अपने को दाससमाज से पृथक् कर लेने में क्षणभर के लिए भी हिचकिचाहट में नहीं पडता ।

स्वतन्त्र मनुष्य अपनी शक्तिपर विश्वास करता है। वह अपने मन की स्वतंत्र स्थिति को सब प्रकार के बाह्य आक्रमणों में भी दृढ प्रतिष्ठित रखता है। वह बाह्य शत्रु को कभी कुछ नहीं गिनता । जिस प्रकार हताश मनुष्य बाह्य शत्रु मानते हैं, बाह्य सहायता चाहते हैं, और संगठित होकर शत्रु से अधिक शक्तिमान होने की भ्रमपूर्ण धारणा से छिपे हुए संगठन करते हैं, स्वतन्त्र मनुष्य ऐसा नहीं करता। वह संगठित होकर शक्तिमान होने के लिए संगठन को कोई महत्त्व नहीं देता। वह अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा अपनी ही शक्ति से करता है । वह इस काम के लिए किसी भी संघ की शक्तिपर निर्भर नहीं होता। उसकी समझ में समाज में स्वतंत्र मनुष्योंके पैदा हो जानेपर ही संगठन कहलानेयोग्य अवस्था स्वभाव से आती है ।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य स्वतन्त्रता के नाम पर, हाथपर हाथ धरकर बैठ जाय और उसकी बाट देखता रहे । स्वतन्त्र होने के नाते मनुष्य के पास इतने कर्तव्य आते हैं कि मनुष्य खाली नहीं बैठ सकता। स्वतन्त्र मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा रहता है। उसकी समझ में कर्तव्य तथा स्वतन्त्रता की रक्षा दोनों एक बात होती हैं । उसे प्रत्येक क्षण स्वतन्त्रता का विरोध करनेवाले दासवातावरण से झगडते रहना पडता है । उसे प्रत्येक पद में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने सिर को ऊंचा रखना पडता है। उसे स्वतन्त्रा की रक्षा करने के लिए अपने सिर को धड से अलग देखने तक को भी उद्यत रहना पडता है। स्वतन्त्र तथा दास मनुष्य के जीवनरक्षा के दृष्टिकोणों में आकाशपाताल का अन्तर होता है । दास के मन में उसके हाथ मांस के लिए जो मोह रहता है, वह उसे जीवन का सदुपयोग करने के अवसर से हटा लेता है। वह अपने शरीर, आत्मा तथा संसार से किसी तरह श्वास लेते रहने का काम लेता है। ऐसे उद्देश्यवाला मनुष्यही इस काम के लिए दूसरों की जान तक लेने को उद्यत हो जाता है । यदि वह ऐसा करके किसी तरह संसार भर का मालिक बन जाय और अपने आपको (अपने मनुष्यत्व को) खो दे तो बताओ कि क्या सचमुच उसने कुछ पाया है ?

स्वतन्त्र मनुष्य अपने शरीर तथा सारे संसार को केवल एक काम में लाता है कि इन सबसे अपने आत्मा की स्वतन्त्रताकी अर्थात् अपनी मनुष्यता की रक्षा करता रहता है। वह जो कुछ करता है, सब अपनी भौतिक लाभहानि से ऊंची उठी हुई मनोदशा की रक्षा के लिए करता है । यही उसका स्वतन्त्रता होती है । यही उसका स्वराज्य होता है । अपनेपर उसका अपनाही अधिकार होना, उसकी स्वराज्य होता है। उसे इसी की आवश्यकता होती है। वह इसीकी रक्षा करने में सारे संसार के विरोध में उठ खडा हो जानेके लिए अनन्त शक्तिमान रहता है।

जिस मनोदशा की रक्षा करने से राजा राजर्षि बनता है, रंक सन्त बनता है, श्रमिक कबीर या रैदास बनता है, योद्धा रावणराज्य को फूंकनेवाला वीरों का मुकुटमणि महावीर बन जाता है, वही स्वराज्य है। इसी को मनुष्यता कहते हैं । यही मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। यही मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है । इसके विना सच्चे मनुष्यों का काम नहीं चलता । जो इसके विना काम चल रहा है, तो वह मनुष्य मनुष्य नहीं है। इसकी रक्षा करनेवाला मनुष्य अजेय होता है ।

इससे विरुद्ध मानसिक अवस्था राजा को तो राक्षस बना देती है, निर्धन को मंगता बना देती है, श्रमिक (शिल्पी) को मजदूर बनाती है, योद्धा को हत्यारा बनाती है और सारे समाज को रावण की त्रस्त प्रजा बनकर छोडती है। यही दासता या गुलामी है। स्वराज्य या स्वतन्त्रता के भौतिक लाभहानि से कोई संबंध नहीं है।

आजकलकी सभ्य समझी जानेवाली सारी दुनिया रावणराज्य के पंजेमें दबोची हुई कराह रही है। यदि रावणराज्य के पंजेसे बचना हो, तो उसी रोती हुई दुःखी दुनिया के पीछे मत चलो। यदि उसी सतायी हुई दुनिया के पीछे दौडोगे, तो रावणराज्य को निमन्त्रण दोगे।

स्वराज्य का अर्थ सत्य की रक्षा है। स्वतन्त्र मानसिक स्थिति की रक्षा ही स्वराज्य का अर्थ है। आत्मशक्तिपर विश्वास रखनेवाले आत्मा की रक्षाही स्वराज्य का अर्थ है। इस शरीर को सत्य की रक्षा के लिए जिस काम में लगाया जाता है, वही उसका मनुष्योचित सदुपयोग होता है।

स्वाध्याय-संघ।

स्वाध्याय-संघका उद्देश्य।

वेदका स्वाध्याय करना और कराना, तथा वेदके धर्म का आचरण करना और कराना स्वाध्याय-संघका उद्देश्य है।

वेदका स्वाध्याय नियमपूर्वक प्रतिदिन करनेवाले वेदधर्म के प्रेमी सज्जन इस '**स्वाध्याय-संघ**' के सदस्य हो सकते हैं। कम से कम ३ सदस्य होनेपर यह संघ स्थापित किया जा सकता है।

१. **स्वाध्याय-संघका सदस्य** होनेके लिये कोई नियत चन्दा नहीं है।

"प्रतिदिन कमसे कम एक मंत्रका मननपूर्वक पाठ करना।"

"आठ दिनोंमें कमसे कम एक नया मंत्र कण्ठ करना,"

"और स्वाध्याय-संघ के साप्ताहिक सत्संग में कमसे कम मासिक एकवार उपस्थित रहकर अपना मनन किया हुआ वेदमन्त्रका आशय समय मिलनेपर अन्य सदस्योंको कहना,"

यही चन्दा 'स्वाध्याय-संघ' के सदस्य होनेके लिये पर्याप्त है।

२. द्रव्यरूप चन्दा न होने से गरीब से गरीब मनुष्य भी '**स्वाध्याय-संघ**' के सदस्य हो सकते हैं। जो बिलकुल निर्धन होंगे उनको आर्थिक व्यय न करने पर भी स्वाध्याय के पर्याप्त साधन उपस्थित किये जा सकते हैं।

३. कमसे कम तीन सदस्य होनेपर इस '**स्वाध्याय-संघ** की स्थापना की जा सकती है। इनमें एक **अध्यक्ष**, दूसरा **मंत्री** और तीसरे **सदस्य** होंगे। इनका कार्य उक्त प्रकार प्रतिदिन स्वाध्याय करना, साप्ताहिक सत्संगमें अपने विचार बोलना और स्वाध्याय-संघके सदस्यों की संख्या बढाना है।

४. **स्वाध्याय-संघके** सदस्य स्त्री, पुरुष, बाल, तरुण, वृद्ध अर्थात् सब मनुष्य मात्र हो सकते हैं। आयुकी, चन्देकी या किसी अन्य धर्म मत या पंथके तत्त्व माननेकी मर्यादा इस स्वाध्याय-संघके सदस्य होनेके लिये नहीं है। वेद-धर्मका अभ्यास करनेकी इच्छा रहने पर कोई मनुष्य पूर्वोक्त शर्तोंका स्वीकार करनेपर सदस्य हो सकता है।

५. **स्वाध्याय-संघका** सदस्य किसी अन्य संस्थाका अथवा अनेक अन्य संस्थाओंका सदस्य रह सकता है।

६. यदि अन्य मनुष्य सदस्य न मिले तो घरमें स्वयं गृहस्थ, धर्मपत्नी, माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री ये सब सदस्य हो सकते हैं। पाठशालाके तीन विद्यार्थी भी अपना संघ स्थापन कर सकते हैं।

७. **स्वाध्याय-संघ** स्थापन करके साथवाले पत्रपर सदस्योंके नाम लिखकर भेजने से उनके स्वाध्याय की आयोजनाका विचार यहांके '**स्वाध्याय-मण्डल**' से हो सकता है।

८. प्रतिमास अपने **स्वाध्याय-संघके** स्वाध्यायकी प्रगतिका पत्रक स्वाध्याय-मण्डलके पास आना चाहिये। जिनसे एक वर्षतक कोई वृत्त नहीं आवेगा, उनका संघ बंद हुआ है ऐसा समझा जायगा।

श्री० मंत्री, स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि० सातारा

श्रीमन्नमस्ते ।

हमारे ———————— नगरमें स्वाध्याय-संघकी स्थापना की है। यहां निम्न लिखित सदस्य हुए हैं। प्रथम मासके स्वाध्याय के लिये एक पुस्तक भेजिये।

भवदीय

मंत्री, स्वाध्याय-संघ

तिथि

डाकखाना ————————

नगर या ग्राम ————————

जिल्हा ————————

प्रांत ————————

सदस्योंके नाम

१ ————————

२ ————————

३ ————————

४ ————————

५ ————————

६ ————————

७ ————————

८ ————————

९ ————————

१० ————————

व्रात्य।

इस लेखमें " व्रात्य " का विचार करना है। अतः प्रथमतः व्रात्यका अर्थ क्या है, इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस व्रात्य शब्दके कई अर्थ हैं—

[१] ' व्रात ' का अर्थ है ' समूह, समाज, संघ, मनुष्य, जनता ' उसके लिये जो हितकारी [तेभ्यः हितः] है उसको ' व्रात्य ' कहते हैं;

[२] [व्राते भवः व्रात्यः] समूहमें उत्पन्न, समाज में जिसका जन्म हुआ है, संघमें रहनेवाला;

[३] समूहका पालक, पति किंवा स्वामी;

[४] व्रतोंके लिये समर्पित, व्रताचरणमें तत्पर, तपस्वी, नियमानुष्ठानमें तत्पर, व्रती, ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाला,

(५) [व्रजति इति व्रात्यः जस्य तः] भ्रमण करनेवाला, परिव्राजक, संन्यासी, उपदेशक, देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला।

इस तरह इस व्रात्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें है। स्मृतियोंमें इस व्रात्य शब्दका अर्थ इसके विरुद्ध है। वेद-मर्यादा और आश्रममर्यादाका उल्लंघन करनेवाला व्रात्य है, ऐसा स्मृतिग्रंथोंका कथन है। स्मृतिके अनुसार व्रात्य वह होता है कि जो त्रैवर्णिकोंके कर्तव्य न करनेसे पतित हुआ है। व्रात्यस्तोमसे इसकी शुद्धि करनेसे फिर यह पुनीत होता है और द्विजत्व प्राप्त करता है।

वेदका व्रात्य शब्द और स्मृतिका व्रात्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत् अन्तर है। वेदमें व्रात्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उसीका अर्थ अधम है। वेदका व्रात्य जनताका कल्याणकर्ता है, परंतु स्मृतिका व्रात्य बहिष्कार करने योग्य है। इतनी शब्दार्थकी भिन्नता, श्रुति और स्मृतिमें कालका महत् अन्तर व्यतीत हुआ है, इस बातकी साक्षी देती है।

जिस तरह ब्राह्मणब्रुव, क्षत्रियब्रुव ये शब्द अधम ब्राह्मण और अधम क्षत्रियोंके वाचक हैं, उसी प्रकार [अथर्व० १५ । १३ । ११ में आये] "अव्रात्य, व्रात्यब्रुव, नाम-बिभ्रती" ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। व्रात्य शब्द लगानेवाले, परंतु जो व्रात्य नहीं है। जैसे आजकल संन्यास-नाम धारण करनेवाले अधमाचारी होते हैं, उसी प्रकार व्रात्यनामधारण करनेवाले परंतु व्रात्योंके श्रेष्ठ गुणोंसे हीन मनुष्य निन्दनीय होते हैं। यह वेदका मंत्र [अथर्व० का० १५ । १३ । ११] स्पष्ट बता रहा है कि यहां व्रात्यका अर्थ बहुतही पूज्य है।

व्रात्य ईश्वर।

व्रात्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके स्थानमें दिये हैं, वे पूर्णतासे परमेश्वर में सार्थ होते हैं। परमेश्वर व्रातों अर्थात् समूहों और गणोंका पति होनेसे व्रात्य है, संपूर्ण नियमों और व्रतोंका यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह व्रात्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह व्रात्य है। इस तरह व्रात्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया सार्थ होते हैं। इसलिये अथर्ववेद पंद्रहवे काण्डके प्रथम पर्यायसूक्तमें इसी परमेश्वरका वर्णन व्रात्य शब्दसे किया है।

ईयमानः व्रात्यः प्रजापतिं समैरयत्। (अथर्व० १५।१)

" प्रेरक व्रात्यने प्रजापालक देवको प्रेरित किया," अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

सः प्रजापतिः सुवर्णं आत्मानं अपश्यत् तत् प्राजनयत्॥ (अथर्व० १।२)

" इस प्रजापति देवने उत्तम चमकदार रंगवाले मूल दैवी प्रकृतिरूप प्रकृत्यात्माको देखा और उसने सब जगत् निर्माण किया। " यहां ' सुवर्ण आत्मा ' शब्दसे उत्तम रंगरूपसे चमकनेवाली मूल प्रकृति अथवा दैवी प्रकृतिका वर्णन है। इसमें तेज है, चमक है, और यह त्रिगुणमयी प्रकृति हि सब जगत्का निर्माण करनेवाली है। इस प्रजनन क्रियासे " एक, ललाम, महत्, ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप और सत्य " ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके

सदृश " भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं " ये सात नाम भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानोंमें " महत्, तप, सत्य " ये तीन शब्द समान हैं। संभव है कि ये दोनों सप्तक एक दूसरेके पर्याय हों, प्रकृति से सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे सात लोक, सात भुवन, सप्तधाम आदि जो उत्पन्न हुए हैं, उन के सूचक ये शब्द हैं, ऐसा यहां प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् उस प्रेरक देवका महत्त्व सबको व्यक्त हुआ और इसी कारण [सः महादेवः अभवत्।] उसको महादेव कहने लगे। अर्थात् यह "महादेव" शब्द अन्य छोटे देवोंका भी अधिदेव है, यह बात यहां व्यक्त होती है। यही बात निम्नलिखित मंत्रमें कही है-

स देवानां ईशां पर्यैत्, सः ईशानः अभवत्।

[अथर्व० १५।५]

" वह छोटे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ, अतः उसको ईशान कहने लगे। " यहां देव—महादेव; ईश-ईशान, ईश-ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ। देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वतोपरि अधिकार चलानेवाले सार्वभौम परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इनमेंभी ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा ये शब्द भी पूर्वोक्त रीतिसे छोटे बडेके वाचक निःसन्देह हैं, परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समयसमयपर दोनों अर्थोंसे प्रयुक्त होते है।

हमारे शरीरमें यह बात देखिये, यहां कान, आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें हजारों कीटाणु हैं, प्रत्येक कीटाणु अपनेमें ईश है, अपनी प्रकृतिका स्वामी है, परंतु उन अनेक कीटाणुओंपर आंख, नाक, कान आदिमें रहनेवाला एक इंद्रियका अधिष्ठाता देव है, यह उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी अपेक्षा बडा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंश है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवतांशोंपर जीवात्माका प्रभुत्व है; इसलिये यहां इन्द्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है। इसी तरह छोटा और बडा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है, परंतु जो छोटोंकी अपेक्षा महादेव होता है, वही उसके ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है। इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे जानना योग्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं-

देव	महादेव
ईश	ईशान
आत्मा	परमात्मा
ब्रह्म	परब्रह्म
इन्द्र	महेन्द्र
ईश	ईश्वर
......	......

कीटाणु	[देव]	इन्द्रियाधिपति	[महादेव]
इंद्रियाधिपति	,,	जीवात्मा	,,
जीवात्मा	,,	राजा	,,
राजा	,,	सम्राट्	,,
ग्रामपति	,,	प्रान्तपति	,,
राष्ट्रपति	,,	जगत्पति	,,
चन्द्रादि ग्रह	,,	सूर्य	,,
तारागण	,,	विराट्	,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षाके संबंधसे एक देव और दूसरा महादेव बनता है। अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव निश्चयसे है और यही इस प्रथम पर्याय सूक्तमें सबका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है। वह एक है अतः इसको " एक-व्रात्य " अर्थात् एकमात्र परमेश्वर किंवा सबका एक नियन्ता कहा है। वह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है, वही [इन्द्र-धनुः=] प्रभुका धनुष्य ऐसा है कि [द्विषन्तं विध्यति] इस धनुष्यसे विद्वेषी लोगोंका पूर्ण नाश होता है। परमेश्वरका सर्वतोपरि शासन है और इस शासनसे हिंसकोंका नाश होता है और सज्जनोंकी रक्षा होती है, इसीलिये इस एक देवकी उपासना सबको करनी चाहिये।

इसके आगे ब्रह्मचारी का वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं—

व्रात्य ब्रह्मचारी।

"ब्रह्मचारी" वह है कि जो "ब्रह्मके समान आचरण करता है, अथवा ब्रह्म बनने के लिये व्रतका आचरण करता है।" ब्रह्मका आचरण कैसा होता है, इस विषयमें प्रारंभके पर्याय सूक्तमें अच्छा वर्णन आ गया है। ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहता है और जो ब्रह्मचारी वैसा सद्गुणैश्वर्यसंपन्न होता है, उसकी योग्यता विशेषही उच्च होती है।

जब ऐसा सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, और उत्तर दिशाओंके देशदेशान्तरों में भ्रमण करता है, जनताको धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है, लोगोंका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत् के संपूर्ण देव सूर्य, चन्द्र, विश्वेदेव, वरुण, सप्तर्षि आदि सब उसकी सहायता करते हैं, वेदके रथन्तरादि सब प्रभावशाली मंत्र उसके अन्दर ज्ञानविज्ञानके साथ उपस्थित होते हैं। श्रद्धा उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें उपस्थित होती है, उषाके समय उस धर्मपत्नी श्रद्धाके साथ उपासनाके कार्य वह करता है, इरा अर्थात् वाणी उसकी श्रद्धा की अनुसारिणी होती है, जैसी बिजुली मेघमें शोभा देती है, इसी प्रकार इसकी सुसंस्कृत वाणी उषाके समय इसकी श्रद्धा से युक्त होकर उसकी शोभा बढाती है।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी [मागध] स्तुतिपाठक है, अर्थात् यह यदि किसी की स्तुति करता है, तो केवल सबके मित्र रूप परमेश्वर की स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है। किसी भी लालचमें पडकर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं करता। वेदमंत्रके उपदेशों की सत्यता देख कर हि इसको आश्चर्यदर्शक (हसः) हास्य आता है, उसी दिव्य हास्यमें वह मस्त रहता है और जब वह उपदेश देता है, वेदमंत्रोंकी व्याख्या करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना [स्तनयित्नुः] होकर अमृत जैसे वेदोपदेश की वर्षाही हो रही है !!

वस्त्र [वासः] शरीरकी लज्जा निवारण के लिये होता है, उसके शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धि की लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वस्त्र [विज्ञान] ज्ञान और विज्ञान, बोध और प्रतिबोध, ही होता है। इसी विज्ञानका वस्त्र पहिना हुआ वह ब्रह्मचारी वस्त्रभूषण की अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है। क्योंकि ज्ञानविज्ञान ही मनुष्य का उत्तम भूषण है।

दिन उसका शिरोवस्त्र, पगडी अथवा साफा है, रात्रीका कृष्ण वर्ण उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके कुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं। अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढानेवाले उसके जेवर हैं। इस तरह यह ब्रह्मचारी निसर्गकोही अपना भूषण बनाता है, सोने-चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण नहीं बन सकते, जो विज्ञानात्मा पुरुष है, उसके ये ही भूषण हैं। निसर्गनियमोंसे युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः निसर्गके पदार्थ ही उसका भूषण बढाते हैं।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना [भूतं भविष्यत् च] ये दो उसके रक्षक हैं। इनके द्वारा यह सुरक्षित होता हुआ अपना प्रचार का कार्य करता है। इसी तरह अमावास्या और पौर्णमासी अर्थात् महिनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष, दिन और रात्री ये अहोरात्रके दो विभाग, तथा (श्रुतं विश्रुतं) ज्ञान और विज्ञान, सुना हुआ उपदेश उसके मननसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं। यह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है, उसका आधार 'भूत' कालके इतिहासमें होता है और इसका यह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यकालकी बडी भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं, और इनसे श्रोताओंकी क्रमसे उन्नति होती है और दिनरात्र का कार्यक्रम, पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम, उसके उपदेशसे निश्चित होते हैं। इस तरह (श्रुत) ज्ञान और (विश्रुत) विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी सबकी उन्नति करता है।

मनुष्य 'मनोरथ' करता रहता है, ये केवल उसके "मन" के ही "रथ" होते हैं। कई लोग हवामें कीले बनाते हैं। वे भी मनोरथ ही होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मनः- विपथं) मननके रथ उडाता है, मनसे ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसेही सेर करता है। इसके मनोरथके (मात-

रिश्वा पवमानः च) श्वास और उच्छ्‌वास ये दो घोडे हैं। जो पाठक प्राणायाम करते हैं, वे जानते हैं कि, प्राण की स्थिरतापर मन की स्थिरता अवलंबित है। क्योंकि मनके घोडे प्राण हैं, अर्थात् मनोरथ के घोडे प्राण हैं। ये घोडे स्थिर रहे तो हि रथ स्थिर रहता है और घोडे चलने लगे तो रथ चलता है। प्राण और मनका संबंध नित्य है, यह गुप्त बात यहां इस अलंकारसे बतायी है। प्राण को चंचल रखते हुए कोई भी मनुष्य अपने मनको शान्त नहीं कर सकता।

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीको कीर्ति और यश प्राप्त होता है। कीर्ति और यश की कुंजी इस सदाचार में है, इस की योग्यतामें इसका यश है। जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है, वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है।

ब्रह्मचारीका आसन।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है, वह खडा रहकर तपस्या करता है। उसकी यह तपस्या देखकर अन्योंको कष्ट होते हैं। वे उसको बैठनेके लिये चौकी देते हैं। परंतु जिस चौकीपर यह ब्रह्मचारी बैठता है, वह ज्ञानकी चौकी होती है। लकडीकी चौकी उसके लिये पसंद नहीं है।

इस ब्रह्मचारीके चौकी के पांव वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ये चार ऋतु हैं; अर्थात् इन ऋतुओं पर यह रहता है। बृहत् रथन्तर आदि साम इस चौकी के फलक होते हैं। इस चौकीपर गद्दी बिछायी होती है, उसके कपडेके लंबाई चौडाई के तन्तु ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्र होते हैं। अर्थात् वेदके ज्ञान की गद्दीपर यह आरूढ होता है। इस ज्ञानमय सिंहासनपर यह विराजमान होता है, इस समय सब देव उसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे इसके चारों ओर आकर खडे होते हैं।

जो ज्ञानके अटल आधारपर खडा होता है, उसकी ऐसीही विशेष योग्यता होती है।

रक्षक ऋतु और देव।

आगे कहा है कि, छहों ऋतु और उनके बारह महिने उसके (गोप्तारौ) रक्षक होते हैं। अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है।

नंतर सब दिशा और अन्तर्दिशाओंमें भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, रुद्र, महादेव और ईशान ये सात देव अपने धनुष्यबाण हाथमें धारण करके इसके साथी होते हैं और इसकी रक्षा करते हैं। पाठक यहां यह न समझें कि ये सात देव भिन्न हैं। ये 'ईशान' के हि नाम हैं। ईशान ही एक देव है, जिसके गुणधर्म बोधक ये सात नाम हैं। वह एक देव सबका ईश अथवा स्वामी है, इसलिये उसको 'ईशान' कहते हैं; इसके अधीन अनंत देव हैं। उन सब देवोंपर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको 'महादेव' कहते हैं। यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको योग्य दण्ड देकर रुलाता है, इसलिये इसको 'रुद्र' कहते हैं। पापियोंको यही भयंकर 'उग्र' वीरभद्र प्रतीत होता है। इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रहती है, अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको 'पशुपति' कहते हैं। यह अत्यंत गतिमान् प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको "शर्व" (शर्वति गच्छति) कहते हैं। और सब जगत् को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है, इसलिये उसको 'भव' कहते हैं। इस तरह ये सातों शब्द एक ही देव के वाचक हैं। यह एक देव ये सात कर्म करता है, इसलिये ये सात नाम इसको प्राप्त होते हैं। यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका साथी, मित्र, रक्षक और अनुगामी होता है।

देवोंकी सहायता।

इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता होती है, ऐसा वर्णन है। भूमिके अन्दर उसको भूमि, अग्नि, औषधियां, वनस्पतियां, वृक्ष आदि सहायक होते हैं। ऊर्ध्वभागसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघोदक और वायुकी सहायता होती है। उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा, यजु, साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं। इतिहासकी बडी दिशा में इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसके अनुकूल होते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि यज्ञ उसकी सहायता करते हैं। कालक्षेत्रमें ऋतु, महिने, पक्ष, अहोरात्र ये उसके सहायक

होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आगे बढता है, वहां (अदिति) मूल प्रकृति, (दिति) प्रकृति की विकृति, (इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् आत्मा की शक्ति, [इडा] वाणी आदिकी सहायता होती है। और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ वह [न अवरस्येन् इति अमन्यत] यहांसे वापस न होऊंगा, ऐसा मानता है। इतनी तल्लीनता उसमें इसको प्राप्त होती है। आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और वह उन सबका प्रिय धाम बनता है।

ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होनेपर उसको उत्तम श्रद्धा स्वानुभवसे प्राप्त होती है। इसके पश्चात् वह इस अनुभव को कभी भूलता नहीं। यहां पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है। यही सच्चा ब्राह्मण है।

क्षत्रियविभाग।

वैदिक स्वराज्य।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय होता है। इसको 'राजन्य' इसलिये कहते हैं कि (सः अरज्यत) वह लोगोंका रंजन करता है। जनों को प्रसन्न रखता है, वह जनताको सुरक्षित रखता है। सब प्रजा जनों की रक्षा करनेसे उसको सब प्रकार खानपान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं। इतना विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरण का ही उपदेश करते हैं—

(सः विशः अनुव्यचलत्) वह क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलाने लगा। राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाको (सभा) ग्रामसभा, (समिति) राष्ट्रीय महापरिषद्, (सेना) चतुरंग सैन्य और (सुरा) ऐश्वर्य, धनकोश उसके अनुकूल होते हैं। अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होता, उसको इनकी अनुकूलता नहीं होती। इसका सीधा भाव यह है कि प्रजाकी सभा और महासभा, सेना और धनकोश इनपर राजाका अधिकार नहीं है। इन पर प्रजाका अधिकार है। इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही इन की अनुकूलता राजाको होती है, अन्यथा नहीं।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है। पूर्ण स्वराज्य इसी का नाम है। जिस राज्यव्यवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ही राजगद्दीपर रह सकता है और प्रजाका भंजन करनेवाला राष्ट्रसे उतारा जाता है और जिस शासनसंस्थामें धनकोश, सेना और राष्ट्रसभा प्रजामत के अधीन होते हैं, उसको "वैदिक स्वराज्यशासन" कह सकते हैं। इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी शासन समझना उचित है।

इस स्थानपर 'सुरा' शब्द धनकोशवाचक है। 'सुर ऐश्वर्य' धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदिका वाचक बनता है। 'सुरा' शब्दका आजकल प्रसिद्ध अर्थ 'मद्य' है, यह अर्थ यहां नहीं है।

इस तरह क्षात्र नीतिका वर्णन इस सूक्तमें है। और यह आजकलके स्वराज्यवादियों के लिये भी एक उत्साहजनक वैदिक संदेश है

अतिथिसत्कार।

आगे दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय सूक्तोंमें अतिथिसत्कारका महत्त्वपूर्ण विषय चला है। यहां कहा है कि जिसके घर अतिथि आवे, वह गृहस्थी समझे कि (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) यह अपनेसे बहुत श्रेष्ठ है और इस का सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा। अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे। ब्राह्मण प्रत्यक्ष बृहस्पति है और क्षत्रिय (आदित्यः) सूर्य अथवा इन्द्रकी मूर्ति है। यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथिरूपसे आवे, तो उस गृहस्थीका बडा भाग्य है, ऐसा समझना चाहिये। अतिथि घर पर आने पर उसका आदरसत्कार इस प्रकार किया जावे—

१ (व्रात्य क्व अवात्सीः) ब्रह्मचारिजी, आप कहांके रहनेवाले हैं?

२ (व्रात्य उदकं) ब्रह्मचारिजी, आपके लिये यह जल लाता हूं।

३ (तर्पयन्तु) हे अतिथिजी, मेरे लोग आपको तृप्त करें।

४ (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे विद्वन्, जो आपके लिये प्रिय हो वही बने, वही किया जायगा।

५ (यथा ते वशः तथा अस्तु) जो आपकी इच्छा हो वही होगी।

६ (यथा ते निकामः, तथा अस्तु) जो आपकी कामना हो वही हो। उसीके अनुसार हम करेंगे।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके घरके मनुष्य अतिथिसेवा करें। और उसकी सेवामें कोई न्यूनता न रखे।

यदि गृहस्थीके अग्निहोत्र करनेके समय अथिति आजाय, अथवा अतिथि आनेपर अग्निहोत्र करनेका समय हो जावे, तो गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अग्निहोत्र करे। यदि अतिथि आज्ञा देवे तो अग्निहोत्र करे, उसकी आज्ञा न हुई तो न करे। यदि किसी गृहस्थी ने अतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका वह हवन व्यर्थ होता है। [देखो पर्याय सूक्त १२]

अतिथि अनेक दिन घरमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी तरहसे की गयी, तो बहुत पुण्यफल प्राप्त होता है।

यदि अतिथिके रूपमें कोई अज्ञानी मनुष्य आ जावे, तो भी उसमें अपने उपास्य देवताकी कल्पना करके सब भाग उस देवताको समर्पण करनेकी मनीषासे उप अतिथि को दिये जावें। इससे उपास्य देवकी पूजा होती है।

यहां काण्ड १५ का १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है।

अतिथिका रूप।

(शर्धः) बलस्वरूप, (इन्द्रः) शत्रुनिर्दलन करनेवाला, (वरुणः) वरिष्ठ देव, (सोमः) शान्त रूप, (विष्णुः) सर्वत्र भ्रमण करनेवाला, (रुद्रः) शत्रुओंको रुलानेवाला, [यमः] नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, [अग्निः] तेजस्वी, [बृहस्पतिः] ज्ञानवान्, (ईशानः] स्वामी, [प्रजापतिः] प्रजाका पालक, परमे-ष्ठी] परम उच्च पदपर विराजमान होनेयोग्य अतिथि होता है। सुयोग्य अतिथिमें ये सब गुण होनेके कारण उसी अतिथिको ये नाम प्राप्त होते हैं। मानो इन सब देवोंके अंश उस अतिथिमें एकत्रित होते हैं।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके नंतर पंद्रहवें पर्यायसूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है। इस अतिथिमें सात प्राण हैं, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु, जल, पशु और प्रजा ये सात देवता इसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं। सात प्राण ये सात इंद्रियों में रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अपानोंका वर्णन है। पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणा ये सातों उसके अपानोंमें रहते हैं। मनुष्यों सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम [सर्वं-दुःखं अपानयति इति अपानः) अपान है। ये सातों श्रद्धा दीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं, इसलिये इनका नाम यहां अपान रखा है।

आगे सतरहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका व्यान भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, ऋतूद्भवपदार्थ, संवत्सररूप हैं, ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके आंख सूर्य और चन्द्र, कान अग्नि और वायु, नाक अहोरात्र, शीर्षकपाल दिति और अदिति, और संवत्सर उसका सिर है।

इस प्रकारका पूज्य व्रात्य सबको नमस्कार करनेयोग्य है। इस प्रकरणमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है, इसमें इतनाही भाव प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परमपूज्य है।

इस पंद्रहवें काण्डमें अतिथिका विषय है। और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थिको करना अत्यंत आवश्यक है।

अखिल हिन्दकी बहनों के लिये

शुभ संदेश।

[लेखिका-श्रीमती इन्दिराबाई छगनलाल पारेख, शेखसरिया बिल्डिंग, सँडहर्स्टरोड, बम्बई]

इस निखिल विश्वमें यद्यपि पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मों द्वारा प्राणीमात्रको सुख और दुःखका भोगना अनिवार्य है, किन्तु सतत अच्छे प्रयत्नोंसे दुःखको भी सुखरूपमें परिवर्तित किया जा सकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

हम अनेक साधनों द्वारा सुखोंका अनुभव कर सकते हैं। सुख दो प्रकारके होते हैं- लौकिक और पारलौकिक। प्रथम तो अनित्य और दूसरा नित्य है। इन दोनोंमेंसे आज हम अत्यंत निकट संबन्ध रखने-वाले साधनरूप शरीरके विषयमें अपनी बहनोंके लाभार्थ दो शब्द निवेदन करना चाहती हूं, क्योंकि इसके जाने बिना दूसरे सुखकी उपलब्धी सर्वथा असंभव है।

जबतक शरीर गत सप्त धातुएं सम प्रमाणमें नहीं रहतीं, तबतक शरीर नीरोग है,ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब इस धातुओंमेंसे कोई भी धातु विकृत हो जाती है, बढ जाती है, या घट जाती है, तो शरीरमें अनेकों प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मेरे शरीरमें भी चरबी (मेदा) बढ जानेके कारण रोगके प्रविष्ट होनेकी नितान्त संभावना हो गयी थी; किन्तु योग्य समयमें ही चरबीके घटानेरूप प्रयत्न द्वारा मेरे शरीरमें रोग प्रवेश नहीं कर सका। अस्तु।

चरबी घटानेके लिये मैंने देशी, विदेशी आदि अनेकों दवाइयाँ कीं; किन्तु किसीभी दवासे यथेष्ट लाभ नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा नाशिकसे हमारे कुल-गुरुजीका शुभागमन हुआ और उन्होंने मेरी दशा देखकर मुझे समुचित सलाह दी कि यौगिक उपचारसे अवश्य लाभ होकर तेरा शरीर नीरोग हो जावेगा, इसमें सन्देह नहीं है। मैंने गुरुजीकी आज्ञा शीरोधार्यकर यौगिक उपचार करनेवाले की खोजमें कुछ दिनतक समय व्यतीत किया, प्रारब्धवश "श्री रामतीर्थ योगाश्रम"के संचालकजीका पता एक सज्जनने बताया और कहा कि उनके आश्रमसे सैंकडों असाध्य रोगी अच्छे होकर जीवनका सुखोपभोग कर रहे हैं। वह आश्रम आर्यपथिकाश्रमके सामने बम्बई नं. ४ सेखसरिया बिल्डिंगमें खुला हुआ है। मेरे आनंदका आविर्भाव हुआ। मैं हर्षपूर्वक संचालकजीके पास गई और अपने स्वास्थ्यलाभके लिये उनसे प्रार्थना की।

उपरोक्त योगिराजश्रीकी धर्मपत्नीभी यौगिक कर्मोंकी पारंगत पण्डिता हैं, उन्हींके द्वारा महिलावर्गोंको यौगिक उपचारसंपन्न होता है। अस्तु। मैंने ता० २८।२।३९। में उक्त आश्रममें नाम लिखाकर यौगिक उपचार शुरू की।

कार्यक्रम।

सर्वप्रथम मुझे ठंडे जलसे भरे हुए एक टबमें बैठाया गया, नाभिपर्यंत शरीर डूबाया था और दोनों पैर टबसे बाहर थे। इस तरह बैठकर नाभिके चारों तरफ (दाहिनी बाजूसे तरफ) को दोनों हाथोंके पंजोंको फिराया करती थी। आठ दिनतक तो केवल ५ से १० मिनट तक टबमें बैठती। फिर क्रमशः १-१ मिनट बढाते बढाते २० मिनट तक जलोपचार लेती थी। इस उपचारको संस्कृत और देशी भाषामें "कटिस्नान" कहते हैं, तथा अंग्रेजी भाषामें HipBath कहते हैं।
इसके अतिरिक्त अन्य योगोपचारका

आठ दिनतक कार्यक्रम

(१) उड्डियान	५ से १०	मिनिट तक
(२) पश्चिमोत्तनासन	२ से ४	,,
(३) भुजंगासन	३ से ५	,,
(४) जानुशिरासन	४ से ६	,,

आठसे पंद्रह दिनका कार्यक्रम।

(१) उड्डियान	१० से १५ मिनिट तक	
(२) उत्तानपादासन	६ से १२	,,
(३) सूर्यनमस्कार	१० से २५	,,
(४) जानुशिरासन	३ से ५	,,
(५) ऊर्ध्वसर्वांगासन	५ से १०	,,
(६) शीर्षासन	५ से १०	,,

पंद्रहसे दो महीने तकका कार्यक्रम।

(१) उड्डियान	१५ से २०	मिनिट तक
(२) लोलासन	३ से ४	,,
(३) सुप्तवज्रासन	३ से ८	,,
(४) मत्स्यासन	५ से ८	,,
(५) सूर्य नमस्कार	५०	बार
(६) पवनमुक्तासन	३ से ६	मिनिटतक
(७) शलभासन	३ से ५	,,
(८) ऊर्ध्व सर्वांगासन	५ से ७	,,
(९) अनुलोमविलोम प्राणायाम	५	बार
(१०) शीर्षासन	१५ मिनिटतक।	

आहारका सेवन

भूसावाली गेहूँ की रोटी, मूँगकी दाल, शाक भाजी, नारंगीका रस और अनानस, पपैया आदि फलोंसेवन करती हूं। रात्रीमें भोजन नहीं करती हूं, किन्तु थोडा फल इच्छा होनेपर खा लेती हूं।

इस समय मेरी अवस्था १८ वर्षकी है, योगोपचारसे पहिले मेरे शरीरका वजन १५३ रत्तल था, किन्तु अब यानी दो महीने बाद १८ रतल कम हो गया है। अभ्यास अब भी चालू है। इस समय मेरा शरीर हलका सा मालूम होता है। स्फूर्ति और चित्तप्रसन्नता पूर्ण रूपसे रहती है। अब मैं सर्वथा रोगरहित हूँ। फलतः भारतवर्षीय समस्त महिलाओंसे सानुरोध प्रार्थना करती हूँ कि यदि आप सदैव नीरोग रहना चाहती हों तो योगोपचारका अभ्यास करें।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म का वेदांक।

द्वितीय भाग।



श्री बद्रिकेदार-मंदिर।

वर्ष २०, अंक ११] नवम्बर १९३९ [क्रमांक २३१

॥ ओ३म् ॥

वेदमुद्रणका कार्य।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हि हैं। परंतु किसी को अपने घर में वेद के सब ग्रंथ रखने हों, तो शुद्ध छपे, सुंदर और सस्ते वेदग्रंथ किसी भी स्थानपर इस समय नहीं मिलते।

युरोप में मुद्रित कई वेदग्रंथ मिलते हैं, परतु उनका मूल्य सैंकडों रु० होनेसे वे भारतवासियों को दुष्प्राप्य ही हैं और वहां सब वेद छपे भी नहीं हैं।

हमारे धर्मग्रंथ 'वेद' हैं और वे संपूर्ण विश्वमें अति प्राचीन धर्मग्रंथ हैं। इतने प्राचीन धर्मग्रंथ इस भूमण्डल पर दूसरे नहीं हैं। अतः इनका महत्त्व अधिक है।

सब अन्य धर्मियों के धर्मग्रंथ उत्तम छपे मिलते हैं, परंतु हमारे वेद हि अबतक शुद्ध, सुंदर और सस्ते छपे मिलते नहीं। भारतीय आर्यों-हिंदुओं-सनातनधर्मियों को यह बात लज्जास्पद है। इस कारण हमने वेदमुद्रण का कार्य प्रारंभ किया है। शुद्ध, सुंदर और सस्ते सब वैदिक ग्रंथ छापने का कार्य स्वाध्याय-मण्डल में प्रारंभ हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छप चुके हैं और सामवेद छप रहा है। अन्यान्य शाखासंहिताएं तथा ब्राह्मण आरण्यकादि उपनिषद् पर्यंत के सब वैदिक वाङ्मय ग्रंथ तथा वेदके अंगोपांगादि सब ग्रंथ भी छापने हैं। इन ग्रंथोंकी संक्षिप्त सूची यह है।

१. ऋग्वेद।

ऋग्वेद-संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, ऐतरेयोपनिषद्, सांख्यायन ब्राह्मण, सांख्यायनारण्यक, ऋग्वेदप्रातिशाख्य, ऋग्विधान, चरणव्यूह आदि ऋग्वेद का वाङ्मय।

२. यजुर्वेद।

(शुक्ल) यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता, काण्व-संहिता, (कृष्ण) तैत्तिरीय-संहिता, कपिष्ठल-संहिता, काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, इत्यादि संहिता ग्रंथ;

शतपथ ब्राह्मण (काण्व तथा वाजसनेय), तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, शुक्ल कृष्ण यजु-प्रातिशाख्य, उपनिषद् आदि यजुर्वेदीय वाङ्मय।

३. सामवेद।

सामवेदसंहिता, सामगान के सब ग्रंथ, आरण्यक संहिता, जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, दैवत तथा षड्विंश ब्राह्मण, पुष्पसूत्र इत्यादि सब सामवेदीय वाङ्मय।

४. अथर्ववेद।

अथर्ववेद-संहिता, पिप्पलाद-संहिता, गोपथ ब्राह्मण, अथर्व-प्रातिशाख्यादि सब अथर्ववेदीय वाङ्मय।

यह संक्षिप्त सूची है। इन सब ग्रंथोंको शुद्ध, सुन्दर और सस्ता छापना है, इनके भाषामें भाषांतर करने हैं और सर्व प्रकारकी सूचियां पदसूची, वाक्यसूची, विषयसूची, ऋषिसूची, देवतासूची, स्थानसूची, इत्यादि अनेक प्रकारकी सूचीयां बनानी हैं, जिनसे वैदिक विषयों की खोज करनेवालों की सहायता होगी।

इन सब ग्रंथोंका मुद्रण पांच वर्षों में समाप्त करना है और इस कार्य के लिए व्यय का अंदाजा एक लाख रु० का किया है।

इसमें मूल चार वेद की संहिताओंके ब्लाक बनाने का व्यय भी संमिलित है। वेद के ग्रंथों में कंपोजिंग के कारण अनेक अशुद्धियां रह जाती हैं। कितना भी प्रूफ संशोधन किया, तो भी किसी स्थान में कुछ अशुद्धि रही जाती है। अतः इनके ब्लाक एक वार बनाए जायंगे, तो आगे उनसे लाखों पुस्तकें छापने पर भी अशुद्धि होने की संभावना नहीं होगी। हमेशा के लिए इस तरह शुद्ध छापने का प्रबंध होगा और अत्यंत सस्ता देने का भी प्रबंध होगा। इसलिए यह कार्य वैदिक धर्मकी जाग्रति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

हमने इस समय केवल वैदिक वाङ्मय के मुद्रण को पांच वर्षों में समाप्त करनेका संकल्प किया है, इस का अर्थ यह नहीं है कि स्मृतिग्रंथ सूत्र (श्रौत और गृह्य)

ग्रंथ, इतिहास, पुराण ये छापने नहीं हैं और इनका वैदिक वाङ्मय से कोई संबंध नहीं है। सम्बन्ध तो अवश्य है, परन्तु जबतक वैदिक वाङ्मय छपकर तैयार नहीं होगा, तबतक इन ग्रंथों के मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया जायगा, इतना ही उक्त कथन का आशय है। वैसा तो स्वाध्याय-मण्डल द्वारा संपूर्ण महाभारत छापकर प्रकाशित हुआ ही है। परन्तु कोई एक ही कार्यपर विशेष लक्ष्य देनेसे वह कार्य ठीक रीतिसे और शीघ्र होता है, इसलिए हमने आगामी ५ वर्षों में इस एक ही वैदिक मुद्रण की ओर विशेष लक्ष्य देकर इसको मुद्रित करना है।

वैदिक वाङ्मय हमारे धर्म के आद्य आधारग्रंथ हैं। इनकी खोज याज्ञिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजकीय आदि अनेकविध दृष्टियों से करनी अत्यंत आवश्यक है। इस खोजके विना किसी तरह भी वैदिक धर्म के सिद्धांतों का निर्णय नहीं हो सकता। जब लोगोंके पास वेद के शुद्ध ग्रंथ ही नहीं हैं, तो खोज करनेवाले खोज कैसी करें? इसलिए सर्वप्रथम वेदमुद्रण का कार्य होना अत्यंत आवश्यक होनेसे वही कार्य करने का हमने संकल्प किया है।

इस कार्य का व्यय करीब एक लाख रु० होनेवाला है। इस के लिए धनिक लोग दान देंगे, तभी यह कार्य हो सकता है। सब जगत् के धार्मिक ग्रंथ धनियों के दानोंसे हि मुद्रित होते हैं और वैदिक धर्मियों में धर्म-भावना किसी तरह भी कम नहीं है, इसलिए हमें पूर्ण आशा है कि धनिक वैदिक धर्मियोंसे इस पवित्र कार्य के लिए आवश्यक धन अवश्य ही प्राप्त होगा।

इस धार्मिक कार्य को धन देनेवालों के निम्न लिखित प्रकार वर्ग किए गए हैं—

(१) प्रतिपालक वर्ग।

(अ) **प्रथम प्रतिपालक वर्ग**- जो दस हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(आ) **द्वितीय प्रतिपालक वर्ग**- जो पांच हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(इ) **तृतीय प्रतिपालक वर्ग**- जो तीन हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(२) पालक वर्ग।

(ई) **प्रथम पालक वर्ग**- जो दो हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(उ) **द्वितीय पालक वर्ग**- जो एक हजार रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऊ) **तृतीय पालक वर्ग**- जो पांच सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(३) पोषक वर्ग।

(ऋ) **प्रथम पोषक वर्ग**- जो तीन सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ॠ) **द्वितीय पोषक वर्ग**- जो दो सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

(ऌ) **तृतीय पोषक वर्ग**- जो एक सौ रु० की धनराशी दान देते हैं।

सूचना— यह सब तीनों वर्गों के लोगों की धनराशी एक समय हि स्वा० मण्डल में पहुंचनी चाहिए। क्योंकि स्वाध्याय-मण्डल का वेद मुद्रणकार्य वेग से चल रहा है, इसलिए उसके व्यय के लिए धनकी आवश्यकता रहती है।

उक्त सब धनदाताओं को स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ जो उनका धन आने के बाद छपेंगे, वे सब मिल ही जायंगे, परन्तु प्रतिपालक और पालक वर्ग के धनदाताओं को पूर्वमुद्रित ग्रंथ भी उनसे मांग आनेपर दिये जायंगे। 'पोषक' वर्ग के सदस्यों को पूर्वमुद्रित ग्रन्थ आधे मूल्य से मिलेंगे।

प्रतिपालक, पालक और पोषक वर्ग के सब सदस्य स्थायी सदस्य होंगे, अर्थात् वंशपरंपरातक उनका सदस्यत्व रहेगा और उनके वंशजों को भी सब पुस्तक प्राप्त होते रहेंगे। तृतीय वर्गके पोषक सदस्यों को किसी एक भाषा के हि ग्रंथ मिलेंगे, शेष प्रतिपालक-पालक-पोषक सदस्यों को सब भाषाओं के अर्थात् जितनी भाषाओं में स्वाध्याय-मण्डल के ग्रंथ मुद्रित होंगे, मिलते जायंगे।

इस समय मराठी और हिंदी भाषा में ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और गुजराती भाषामें ग्रंथ प्रकाशित करनेका कार्य अति शीघ्र शुरू होनेवाला है।

दान ।

(४) दानी– जो यथाशक्ति धन का दान करते हैं, नियमपूर्वक मासिक दान देते हैं, अथवा यथासमय सामयिक दान करते हैं । उनको उनके दान की रकम जितनी यहां प्राप्त होगी, उस रकम के अनुसार पुस्तकें, (उनकी इच्छा लेने की होगी तो) भेजीं जायंगी ।

निधि-स्थापना ।

(५) निधि-स्थापना– स्वाध्याय-मण्डल में नियत धनराशी नियत समय के लिये रखी जाती है और उसके सूद में प्रतिवर्ष प्रतिशतक ६) रु० के हिसाबसे दी जाती हैं । निधि रखनेवाले की इच्छा के अनुसार ये पुस्तकें प्रतिवर्ष उनको भेजी जाती हैं ।

इस प्रकार की धनराशीका उपयोग वैदिक ग्रंथोंके मुद्रण में होता है, इसलिये यह धनराशी कमसे कम तीन वर्षतक यहां रखनी चाहिये । यह रकम एक मास की सूचना से वापस हो सकती है ।

इस प्रकार की धनराशी में १००) से कम अथवा १०००) से अधिक धनराशी नहीं ली जाती । एक हजार से अधिक धनराशी उस शर्तपर ली जायगी, जब प्रतिवर्ष एक हजार से अधिक वापस न ली जावे ।

जो धनी महाशय इस रीतिसे वेदमुद्रण की सहायता कर सकते हैं, करें ।

विभागशः दान ।

जो सज्जन एकदम रकम नहीं देना चाहते, वे नियमपूर्वक प्रतिमास अपनी किश्त भेजकर एक वर्षके अन्दर अपने भागका रु० पहुंचा देवें । एक वर्ष के अंदर रु० पहुंचना चाहिये, क्योंकि यह वेदमुद्रण का कार्य पांच वर्षोंमें समाप्त करना है । जो विभागशः धन देना चाहते हैं, वे एक वर्षमें अपनी सुविधा के अनुसार धन यहां भेजें ।

अनामत रकम ।

जो कुछ रकम अनामत अपने खातेमें रखना चाहते हैं, वे वैसा करें । उनकी रकम की समाप्तितक उनको उतने मूल्य की वैदिक वा अन्य पुस्तकेंडाकव्यय माफ करके भेजीं जायंगी । इनको डा० व्य० का लाभ होगा । उनकी रकम समाप्त होने पर उनको सूचना दी जायगी ।

वी० पी० से मांग ।

जो सज्जन १०) दस रु० स्वा०मण्डल में जमा करके अपना नाम वेदके ग्राहकवर्गमें लिखेंगे और वी० पी० से पुस्तकें मंगावेंगे, उनको वैसी भेजीं जायंगी। आधा डा० व्य० उनको माफ होगा । यदि वी० पी० वापस आ गयी, तो पूरा डा० व्य० उक्त रकमसे काटा जायगा ।

कमीशन ।

जो सज्जन दस ग्राहक जिस प्रकार के बनावेंगे और उनकी रकम यहां भेज देंगे, उनकी रकम यहां प्राप्त होनेपर उनको एक ग्राहक उस प्रकारका बनाया जायगा । कई लोग इस तरह वेदकी बहुत सेवा कर सकते हैं ।

इस समयतक बने सदस्य–

१	श्रीमंत महाराजा औंधनरेशजी	५०००)
२	श्री० डा० लालचंद्रजी पेंशनर	२०००)
३	श्री० पं० नाथूलालजी पेन्शनर	२०००)
४	मे० विठ्ठलदास हरिदास ऍड कं०	१०००)
५	श्री० सेठ रामभाई नारायण भाई	५००)
६	श्री० श्री भूषण गुप्त	५००)
७	श्री० धनीरामजी भल्ला	२००)

इनके अतिरिक्त पोषक वर्गके बहुत से सदस्य हैं, जिनके नाम रिपोर्ट में छपे जायंगे ।

वेदके शुद्ध पुस्तकोंकी मांग ।

ऋग्वेद हमारा प्रथम वारका मुद्रित सब का सब चार महिनों में समाप्त हुआ और अब द्वितीय वार अधिक सुधार करके मुद्रित करने का कार्य प्रारंभ करना पडा है । इतनी मांग अच्छे ग्रंथों की है । इसलिये इस वेद-मुद्रण की आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता जितनी हो सकती है, करना हरएक वैदिक धर्माभिमानी के लिये अत्यंत योग्य है ।

निवेदक

श्री० दा० सातवळेकर,

(स्वाध्याय-मंडळ, औंध, जि० सातारा)

श्रीमान् प्रबंधकर्ता स्वाध्याय-मण्डल,

औंध, जि. सातारा

मैं आप के वेदमुद्रण के लिये ———— वर्ग में रु०)

(रुपये ————) सहायता देता हूं ————

————————————————

कृपया स्वीकार करिये और मुझे ग्राहक बनाइये।

भवदीय

पूर्ण नाम ————————

पूर्ण पता ————————

तिथि ———— ———— जिला ————

शुद्ध चार वेद।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें शुरू है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। (ऋग्वेद का नया द्वितीय संस्करण छप रहा है।) अगले तीन महिनों के पश्चात् सामवेद भी तैयार होगा। चारों वेदसंहिताओंके मूल्य इस प्रकार हैं—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद	३)	१)	॥)	१॥)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
सामवेद	२)	॥)	।)	।॥)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१०)	३)	१॥)	४॥)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ६) रु० है तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ६॥) रु० अनुसार मूल्य भेजें। (इसमें ॥) पैकिंग और रजिष्ट्रीके हैं।) उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगीं। तत्पश्चात् मूल्य बढेगा, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

मंत्री–स्वाध्याय–मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

संपूर्ण

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	पृष्ठसंख्या	सजिल्द	मूल्य	डा.व्य.
१ आदिपर्व	११२५	,,	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	३५६	,,	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	१५३८	,,	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	३०६	,,	२) दो	॥)
५ उद्योगपर्व	९५३	,,	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	८००	,,	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	१३६४	,,	७॥) साढेसात	१॥)
८ कर्णपर्व	६३७	,,	३॥) साढेतीन	॥।)
९ शल्यपर्व	४३५	,,	२॥) अढाई	॥=)
१० सौप्तिकपर्व	१०४	,,	॥।) बारह आने	।=)
११ स्त्रीपर्व	१०८	,,	॥।) " "	।=)
१२ शान्तिपर्व				
१ राजधर्मपर्व	६९४	,,	४) चार	॥।)
२ आपद्धर्मपर्व	२३२	,,	१॥) डेढ	॥)
३ मोक्षधर्मपर्व	११००	,,	६) छः	१।)
१३ अनुशासनपर्व	१०७६	,,	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिकपर्व	४००	,,	२॥) अढाई	॥=)
१५ आश्रमवासिकपर्व	१४८		१) एक	।=)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व।	१०८	,,	१) एक	।=)

सजिल्दका मू० ६५) रु०

मिलनेका पता— मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध [जि० सातारा]

वैदिक धर्म

का

वेदांक।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. इस अंकका मूल्य १) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २०] विषयानुक्रमणिका [अङ्क ११

१ हमारा संरक्षक ।	संपादकीय	७१७
२ 'वैदिक धर्म' का वेदांक ।	,,	७१८
३ ईश्वरका साक्षात्कार (१०)	,,	७१९
४ वेदके विषयमें कुछ थोडासा ज्ञान।	,,	७३६
५ वैदिक जीवन। (२)	पं. मदन मोहन विद्याधर	७४९
६ वेदोंका अपौषेयत्व ।	श्री० अप्रबुद्धजी	७५४
७ माधवभट्टकी ऋग्वेदानुक्रमणी।	पं० जयदेवशर्मा	१-२४
८ वेदोपदेश।		२५-५६

वर्ष २०
अंक ११
क्रमांक २३९

धर्म

आश्विन
संवत् १९९६
नवंबर
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध जि० सातारा.

हमारा संरक्षक।

त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधोऽभिशस्तेरव स्पृधि।
त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित्॥

[ऋ० ८-६६-१४]

हे प्रभो! (त्वं अस्याः अमतेः नः) तू इस निर्बुद्धतासे हम सबकी रक्षा कर, (उत क्षुधः) और भूखसे अर्थात् धान्य की कमीसे हमारा बचाव कर, तथा (अभिशस्तेः अवस्पृधि) निन्दनीय वृत्तिसे हमें छुडा। (नः त्वं ऊती) हमारी रक्षा तू हि है, (तव चित्रया धिया) तेरी आश्चर्यकारक रक्षाबुद्धि से हम युक्त हों, हे (शचिष्ठ) बलवन्! हे (गातुवित्) मार्गको यथावत् जाननेवाले! हमें (शिक्ष) उत्तम ज्ञान दे।

प्रभुकी भक्तिसे मनुष्य ज्ञानी होते है, बेकारी और अकालसे बच सकते हैं, विनाश और निन्दनीय भावसे सुरक्षित रह सकते हैं। प्रभुहि सबकी यथायोग्य रक्षा करनेवाला है। वही सबसे अधिक बलवान् है और सबका मार्ग-दर्शक भी है, अतः उनकी भक्ति करके साधक मनुष्य उससेहि योग्य सुमति प्राप्त करे।

वैदिक धर्मका वेदांक।

यह अङ्क 'वैदिक धर्म' का वेदांक है। इस समय हमारा विचार था कि यह अङ्क विशेष बडे रूपमें ग्राहकों के पास भेजना, परन्तु युरोपमें महायुद्ध खडा होनेके कारण कागज अत्यधिक महंगा हो गया है और जो कागज है वह भी व्योपारी लोग अधिक महंगा होगा, इस आशासे देते नहीं और प्रतिदिन महंगा करते जाते हैं। ऐसी अवस्थामें यह अङ्क जितना बडा हम कर सकते हैं, उतना करके ग्राहकों के पास भेज रहे हैं। आजकलकी विपरीत परिस्थिति का अवलोकन करके इस अङ्क का ग्राहक अच्छा स्वागत करेंगे, ऐसी आशा है।

यही अङ्क इसे दुगुणा छापनेकी इच्छा हमारी थी, परन्तु उक्त कारण बहुतसे लेख इस अंकमें मुद्रित करना असंभव हुआ। यदि परिस्थिति सुधर गयी, और कागज आदि सामान फिरसे सस्ता हुआ तो फिर एक और 'वेदांक' छापकर ग्राहकों को हम देनेकी इच्छा करते हैं। जिस तरह की परिस्थिति होगी उसपर यह सब अवलंबित है। ईश्वर करे और एक दूसरेकी हिंसा करनेके भाव मानवी समाजसे दूर हों और परस्पर सहाय्य करने के शुभ भाव बढे और मानवजातिका कल्याण हो।

दैवत–संहिता।

दैवत-संहिता की मांग बढ रही है। ग्राहक इसको शीघ्र मांग रहे हैं। यह इसका शीघ्र मुद्रण ही हम कर रहे हैं। इस समय करीब १६०० मंत्र छप चुके हैं और १२०० मंत्र छपनेके शेष हैं। ये छपने पर अग्नि–देवताका ग्रंथ तैयार होगा। हमारा विचार है कि यह अगले मास में तैयार किया जाय। इस लिये हम वेगसे कार्य कर रहे हैं।

इस अग्नि-देवताके मंत्रसंग्रहमें अग्निपरिचय की विस्तृत भूमिका, अग्निदेवता के मंत्र प्रकरणानुसार रहेंगे, अग्नि, शुचिरग्नि, जातवेदा अग्निः, रक्षोहा अग्नि आदि अनेक उपप्रकरण अग्निदेवता में होंगे, पदसूची और मंत्रसूची होगी, उपमान-उपमेयों की सूची होगी, अग्निकार्य दर्शाने-वाले मंत्रभागोंकी सूची होगी, तथा पुनरुक्त मंत्रोंकी सूची भी होगी। अभ्यास करनेवालों को इन सब सूचियोंसे बडा ही लाभ होगा, और मंत्रोंका सत्य अर्थ करनेमें बडीहि सहायता होगी।

मंत्रोंका टाईप बडा रखा है, इसलिये नित्य पाठके लिये यह मंत्रसंग्रह बडा ही उपयोगी सिद्ध होगा। जो इसका नित्य पाठ करते जायगे उनको केवल वारंवार किये पाठसे हि अर्थ का ज्ञान होगा।

सामवेद।

'सामवेद' का मुद्रण करीब समाप्त हो रहा है। केवल ३।४ फार्म छपने शेष हैं, जो अगले महिनेमें छप जायगे। तत्पश्चात् एक मास में ग्राहकों के पास सामवेद भेजा जायगा।

आजकल सामवेद के लिए ग्राहक बडी चेतावनी दे रहे हैं। परन्तु वैसा करनेसे कोई लाभ नहीं है। हम स्वयं बडी शीघ्रता कर रहे हैं, परन्तु शुद्ध मुद्रण का यत्न करनेके कारण इसको बडी देरी लगती है। इससे अधिक शीघ्रता नहीं हो सकती। अतः प्रार्थना है कि पाठक और एक मास ठहर जांय। तैयार होते ही हम यह ग्रंथ ग्राहकोंके पास भेज देंगे।

"संपादक"

मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है।

(दशम लेख)

आप का ईश्वर में प्रवेश।

मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है, इतनाही नहीं, अपितु मनुष्य ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा है, यह बात इस समय तक वेदमन्त्रों के आधार से हमने दर्शायी है। मनुष्य ईश्वर में है, ईश्वर में विचर रहा है, उसके चारों ओर ईश्वर है, ईश्वर के साथ वह अपने व्यवहार कर रहा है, परन्तु मनुष्य को पता नहीं है कि मैं ईश्वर के साथ व्यवहार कर रहा हूं !!! केवल यही एक अज्ञान मनुष्य की बुद्धि में है, इसलिये वह ईश्वर को अदृश्य मानता है, अप्राप्य समझता है, और हजारों जन्मों में भी उसको देखना असंभव है, ऐसा मान रहा है!!

इस समय तक इसी बातका प्रतिपादन किया गया है। देखिये फिर से संक्षेप से वही बात दर्शाते हैं, पाठक इन मन्त्रों को पुनः देखें—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीत्,
> बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः,
> पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋ० १०।९०।१२)

"(१) ईश्वर का मुख ब्राह्मण है, (२) ईश्वर के बाहू क्षत्रिय हैं, (३) ईश्वर की जंघाएं वैश्य हैं और (४) ईश्वर के पाव शूद्र हैं।"

पाठको! आप सबेरेसे शामतक ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंमेंहि विचर रहे हैं। अर्थात् आप ईश्वर के मुख-बाहु-ऊरु पावोंमें विचर रहे हैं। कब आप ईश्वर से भिन्न ईश्वरविरहित स्थानमें रहते हैं। आपने जिस समय ज्ञान-विज्ञानसंपन्न ब्राह्मण को देखा, धर्मोपदेशक के साथ वार्तालाप किया, अध्यापक के साथ मेलमिलाप किया, ज्ञानीविज्ञानी के साथ बातचीत की, तो वह आपका व्यवहार प्रत्यक्ष परमेश्वरके साथहि हुआ है।

यदि आप अपने आपको ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रोंमें से किसी वर्णमें मानते हैं, तब तो निःसंदेह आप ईश्वरके विराट् देह के स्वयं अवयवहि हैं। आप प्रत्यक्ष ईश्वरमें हि हैं, इतनाही नहीं, प्रत्युत आप ईश्वरके विराट् देहके अंश हैं। ईश्वर से आप अनन्य और अभिन्न हैं। क्या कभी आपने इस वेदमंत्रका ऐसा विचार किया है? और देखा है कि इस मंत्रके उपदेश की व्याप्ति कहां तक पहुंचती है?

नारायण का रूप।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये अखिल मानवजातिके चार भाग हैं, अतः अखिल मानवजाति मिलकर जो नरसमूह होता है, वह सब मिलकर ईश्वरका मानवी रूप है। उसमें आप एक अंश हैं और आपके चारों ओर शेष ईश्वरका स्वरूप है, इसी को 'नारायण' कहते हैं (नार-अयन) नरसमूहोंमें जो पूर्णतया प्राप्त है, वही नारायण है। अतः आप इस ईश्वरको मानवोंमें प्राप्त करिये।

ईश्वर का निरादर।

मानवोंके रूपसे ईश्वर आपके सामने उपस्थित है, आप उससे व्यवहार कर रहे हैं, फिर भी छल, कपट आप छोडना नहीं चाहते! आप किससे छलकपट कर रहे हैं? और आप ऐसा व्यवहार कब तक छिपा छिपाकर सकते हैं। देखिये अर्जुन विश्वरूपदर्शन करने के बाद क्या कहता है—

> यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
> विहारशय्यासनभोजनेषु।
> एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
> तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ (भ. गी. ११।४२)

" खेलनेके समय, सोनेके समय, बैठने-उठनेके समय, तथा भोजनादि करनेके समय, अर्थात् तुम्हारे साथ व्यवहार करनेके समय जो मैने तुम्हारा निरादर किया होगा, उसकी क्षमा करो, यही तुम्हारे पास प्रार्थना है। "

जब अर्जुनने विश्वरूपी ईश्वरको पहचाना, तब उसके मनमे प्रकाश हुआ कि, हम रहने, बैठने, सोने, खाने, पीने, उठने, खेलने चलने, व्यवहार करनेके समय प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ व्यवहार करते हैं। और इन व्यवहारोंके समय हम कितना धोखा, छल और कपट करते है और कितना असद्व्यवहार करते हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है। प्रत्यक्ष प्रभुके साथ कैसा व्यवहार किया जा रहा है, हाय हाय, इनके घोर परिणामसे कौन हमे बचावेगा, यह विचार आकर अर्जुन ईश्वरसे विनय-पूर्वक प्रार्थना कर रहा है, कि हे प्रभो! मुझे क्षमा कर। इसके सिवाय वह कर भी क्या सकता है?

अर्जुन को विश्वरूपी ईश्वर का ज्ञान हुआ, और उसे अपने दैनिक व्यवहार के विषय में अनुताप हुआ, तथा उसने माफी मांगी, यह सब ठीकही हुआ, पर जो हम हैं, जो वेद का अभिमान धारण करते हैं, और उसमें कहे विश्वरूपी ईश्वर की ओर तिरस्कार की दृष्टि रखते हैं, और फिर भी अपने आप को वैदिकधर्मी कहते हैं, दैनिक आचरण मे विश्वरूप मे ईश्वरभाव देखते तक नहीं, उनकी दशा क्या होगी?

ईश्वर के साथ बर्ताव।

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये ईश्वरके सिर, बाहु, ऊरू और पांव हैं, यह वेदने बताया है और यह सत्यही है। इसको मानने से अपना दैनिक आचरण कैसा होना चाहिये, यह सोचना किसी दूसरे का कार्य नहीं है। वह तो हमें हि सोचना चाहिये। ब्राह्मण लोग पढाते हैं, याज्ञिक कर्म करते है, धर्मोपदेश करते है, विद्यार्थियों को विद्याज्ञान देते हैं, ग्रन्थ लिखते हैं, ये सब कर्म ब्राह्मणोके हैं। ये कर्म करनेके समय उनके मनमे यह भाव रहना चाहिये कि जो अपना व्यवहार हो रहा है, वह ईश्वर के साथहि हो रहा है। क्या वह जैसा होना चाहिये, वैसाही हो रहा है वा नहीं, इसका विचार उनको करना चाहिये।

जो क्षत्रिय हैं, उनके मनमें भी यही भाव रहना चाहिये, कि हम जो प्रजारक्षा का कार्य करते हैं, राज्यव्यवहार का कार्य करते हैं, युद्ध आदि करते हैं, इन सब व्यवहारों में हम प्रत्यक्ष ईश्वर के साथ ही व्यवहार कर रहे हैं। क्या यह व्यवहार जैसा होना चाहिये, वैसा हो रहा है वा उसमें कुछ दोष हो रहे हैं, यदि दोष हो रहे होंगे, तो उस विषय में प्रभुकी क्षमा मांगनी चाहिये और पुनः दोष न करने का यत्न करना चाहिये।

वैश्य लोग अपना व्यापार-व्यवहार, लेन-देन तिजारत, सूदका व्यवहार, खेत और गोपालन आदि जो करते हैं, वह कैसा व्यवहार हो रहा है? क्या वह प्रभु के साथ व्यवहार करनेयोग्य व्यवहार हो रहा है? मान लीजिये कि कोई एक दुकानदार है, उस के दुकानपर एक गरीब मनुष्य आता है, तो उसके साथ दुकानदार का व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि जैसा प्रत्यक्ष प्रभु अपने दुकान पर आनेपर होना संभव है। तब वह वैश्य सच्चा धर्मव्यवहार करनेवाला कहलायेगा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों का परस्पर व्यवहार इस तरह परिशुद्ध होना चाहिये। व्यवहार की यही कसौटी है। इस कसौटी में जो उत्तीर्ण होंगे, वेही अपना बेडा पार कर सकेंगे। ब्राह्मणादि चार वर्णों को परमेश्वर के विराट् देह के चार अवयव मानने का तात्पर्य यही है। कौन वैदिक धर्मी इसका पालन कर रहा है? पाठको! आप अपना आचरण इस कसौटी से परीक्षा करके देखिये।

क्या केवल मानवजातिके साथहि 'वे ईश्वर के अंश हैं,' ऐसा मानकर व्यवहार करना चाहिये? यदि ऐसा कोई प्रश्न यहां पूछे, तो वेदके उपदेश के अनुसार उत्तर यही है कि, संपूर्ण विश्व के साथ व्यवहार करने के समय उसी समदृष्टि से व्यवहार करना चाहिये, केवल मानवोंके साथही वैसा व्यवहार करना चाहिये ऐसा नहीं, प्रत्युत सब के साथ वैसाही व्यवहार करना चाहिये। फिर यहां प्रश्न हो सकता है कि, इसके लिये प्रमाण क्या है? इस के विषय में वेदका प्रमाण यह है-

सब ईश्वर का रूप है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। (ऋ० १०।९०।२)

"(पुरुषः) ईश्वरहि (इदं सर्वं) यह सब कुछ है, जो (भूतं यत् च भव्यम्) हुआ था, जो हुआ है और जो होनेवाला है।" वह सब तीनों कालोंमें इस विश्वमें रहनेवाला वस्तुमात्र ईश्वरहि है। बस, इस उपदेशको ध्यानमें धारण करके, यदि हम सब व्यवहार करेंगे, तब तो हमसे कोई अशुद्धि होनेकी संभावना ही नहीं है, और इस उपदेश से केवल मनुष्यही ईश्वरके विराट् स्वरूप के अंश हैं, ऐसा भी नहीं है, प्रत्युत इस विश्वमें भूत-वर्तमान-भविष्य कालमें जो वस्तुमात्र हैं, वह सब (पुरुषः एव) ईश्वरहि प्रत्यक्ष है। इससे यह सिद्ध हुआ कि घास, तृण, वृक्ष, वनस्पति, काष्ठ, पाषाण, मृत्तिका, कृमि, कीट, पतंग, पशु, पक्षी, श्वापद, सर्प, मत्स्य आदि सब वस्तुमात्र परमेश्वरके विराट् स्वरूपके अंशही हैं, सब कोई वस्तु (पुरुषः एव) ईश्वरहि है। कोई उससे विभिन्न नहीं है।

अतः मनुष्य का हरएक वस्तुके साथ व्यवहार ऐसा परिशुद्ध होना चाहिए कि, जैसा प्रभुके साथ होनेयोग्य है, क्योंकि हरएक वस्तु उसी प्रभुका रूप है। इसी का स्पष्टीकरण करनेके लिये यहां कुछ मंत्र पुनः देखिये—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(वा० य० अ० ३२)

"वह ब्रह्म ही अग्नि, आप्, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति और शुक्र है।"

यह मन्त्र पूर्वोक्त मन्त्र का स्पष्टीकरण करनेके लियेही है। पूर्व मन्त्र में कहा कि 'भूत-भविष्य-वर्तमानकाल में होनेवाले सब पदार्थ (पुरुषः एव) ईश्वरहि हैं।' इसी से प्रश्न होता है कि, क्या हमारे दृश्य में आनेवाले पृथ्वी, आप्, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ये सब पदार्थ परमेश्वर के ही रूप हैं? उत्तर में यह मन्त्र कहता है कि-'हां सचमुच वैसाही है, यह अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा ये तेज देनेवाले पदार्थ, वायु यह विश्वको प्राण देनेवाला प्राणरूप दिव्य पदार्थ, नदीनदों के रूप में हमारी पृथ्वी-पर विचरनेवाला तथा मेघोंसे गिरनेवाला जल, शुक्र अर्थात् प्राणियोंके शरीर का वीर्य जिससे प्रजा की उत्पत्ति होती है, प्रजापति अर्थात् राजा राजपुरुष और प्रजा पालन करने-वाले सब अधिकारी यह सब ईश्वरही का रूप है। अतः ईश्वर के साथ जैसा व्यवहार हमें करना चाहिये, वैसाही निश्चयपूर्वक इनके साथ हमारा व्यवहार होना चाहिये।

सूर्य तो ब्रह्म का मूर्त रूप है हि, हिरण्यगर्भ ही इसका नाम है। ब्रह्मका पहिला प्रकटीकरण यही है, इससे पृथ्वी हो गयी और पृथ्वी से स्थिरचर सृष्टि हुई है, अर्थात सब वृक्षवनस्पति, प्राणी, पशुपक्षी, मानव ये सब पृथ्वी से, पृथ्वी सूर्यसे और सूर्य ब्रह्म से हुए हैं। सूर्य का पृथ्वीपर का रूप अग्नि है, और उसीका शान्त तेज चन्द्रमा है। अतः ये सब तेज जो दिखाई देते हैं, ये प्रत्यक्ष परमेश्वरके ही रूप हैं, अतः इनको परमेश्वर के दृश्यरूप मानकर ही हमारा व्यवहार होना योग्य है।

आगे जलके रूप देखिये। नदियां, नद, सरोवर, तालाब, नाले, संगम, कुए, वापी, वृष्टि, मेघ, हिम, तुषार आदि सब जलके रूप भी (तत् ब्रह्म एव) प्रत्यक्ष ब्रह्म के ही रूप हैं। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा है कि—

स्रोतसामस्मि जान्हवी। (भ० गी० १०।३१)
सरसामस्मि सागरः। (भ० गी० १०।२५)

'नदियोंमें गंगा और सरोवरोंमें महासागर ईश्वरका स्वरूप है।' क्योंकि नदियोंमें गंगा विशेष प्रभावशाली है और वैसाही समुद्र भी प्रभावशाली है। इसी लिये वह नदियों में पूज्य और पवित्र माना जाता है। इसका यह आशय नहीं है कि, अन्य वस्तुएं पूज्य और पवित्र नहीं है। सभी वस्तु ईश्वरके स्वरूप होने से पूज्य और पवित्र ही हैं, अतः सब वस्तुओंको ईश्वरके स्वरूप मानकर उनके साथ ईश्वरके साथ जैसा व्यवहार करना चाहिये, वैसाहि व्यवहार करना चाहिये। तथापि उनमें भी जो विशेष प्रभावी हैं, उनमें ईश्वरांश अधिक प्रकट है, ऐसा प्रथम अवस्थामें समझना योग्य है, तत्पश्चात् प्रत्येक वस्तु में ईश्वर को देखने का अभ्यास हो सकेगा, जो वेद का मुख्य सिद्धांत है।

इतना स्पष्टीकरण देखनेसे पाठकों को यह विस्पष्ट हो जायगा कि केवल मानवसमाज ही ईश्वरका स्वरूप नहीं है, प्रत्युत अखिल विश्वमें जो भी वस्तुमात्र है, वह सब ईश्वरका रूप है, यह जिस मंत्रमें अधिक स्पष्ट कहा है, वह मंत्र अब यहां देखिये—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । (ऋग्वेद ६।४७।१८)

' प्रत्येक रूपके लिए वह ईश्वर प्रतिरूप हुआ है ' अर्थात् प्रत्येक रूपके लिये वही मूल आधार है। उसके रूपकाही यह प्रत्येक वस्तुका रूप है। विश्वमें जो भी रूप है, वह उसी का रूप है, इसी लिये प्रभुका नाम ' विश्वरूप ' है। इस विश्वरूपी प्रभुका वर्णन वेद किस प्रकार करता, है देखिये--

विश्वरूप ईश्वर।

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये ।

(ऋ० १।१३।१०)

" यहां हम (विश्वरूपं त्वष्टारं उपह्वये) विश्वरूपी त्वष्टा-विश्व की रचना करनेवाले अद्भुत कारीगर को हम बुलातेहैं। " यहां ' विश्वरूप त्वष्टा ' देवका वर्णन है। विश्व का रूप धारण करनेवाला कारीगर ईश्वर ही है। दूसरा कौन ऐसा कारीगर हो सकता है ? तथा—

अर्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् । (ऋ० २।३३।१०)

' हे समर्थ प्रभो ! तेरा यह पूजनीय तेजस्वी विश्वरूप है। ' यह रुद्र देवताके वर्णनमें आया है। जैसा त्वष्टा नाम है, वैसाही रुद्र नाम उसी अद्वितीय प्रभु का है। तथा और देखिये--

महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा ।
विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ (ऋ० ३।३८।४)

' (वृष्णः असुरस्य तत् महत् नाम) जीवन देनेवाले, बलशाली ईश्वर का वह बडा यश है, जो (विश्वरूपः) विश्वरूप होकर अर्थात् विश्व का रूप धारण करके (अमृतानि तस्थौ) अनेक अमर तत्त्वोंको धारण करके रहता है। ' ईश्वर के आधार से अनंत अमर तत्त्व रहते हैं, यह ईश्वरकी अद्भुत महिमा है, यही उसका बडा यश है और यह प्रभु इस विश्वका रूप धारण करता है, अर्थात् विश्वरूप बनकर रहता है। और देखिये--

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः
पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य
महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ (ऋ० ३।५५।१९)

' (त्वष्टा सविता देवः) कारीगर सबका उत्पन्न करनेवाला देव (विश्व-रूपः) विश्वरूपी है। अर्थात् विश्व ही उसका रूप है। वह (पुरुधा प्रजा जजान) उसने अनेक प्रकार से प्रजाओंकी उत्पत्ति की है और वह (पुपोष) उन सबका पोषण भी करता है। (इमा विश्वा भुवनानि अस्य) ये सब भुवन उसी के हैं, अर्थात् वह विश्वरूपी होनेसे ये सब भुवन उसीके विराट् शरीर में हैं, ये उसी के अंश हैं और उसीके रूप हैं। वही (देवानां) सब सूर्यादि देवताओं का (एकं महत् असुरत्वं) एकही बडा जीवन का सत्व है, अर्थात् इसीसे जीवन प्राप्त करके अन्य सब देवता रहते हैं। '

इस मन्त्र में सबका उत्पन्न करनेवाला ईश्वर विश्वरूपी है, ऐसा कहा है। अर्थात् इस विश्व का जो रूप है, वही रूप उस प्रभु का है। और देखिये—

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूपः ।
उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान् । (ऋ० ३।५६।३)

(त्रिपाजस्यः, त्र्युधा, त्र्यनीकः) तीन पोषक शक्तियोंसे युक्त, तीन अन्नोंसे युक्त और तीन बलोंसे युक्त वह (विश्वरूपः वृषभः) विश्वरूपी बलवान् ईश्वर है और (प्रजावान्) सब प्रजाओं का सच्चा पालक है। ' इस मन्त्र में विश्वरूप प्रभु का वर्णन देखनेयोग्य है। और देखिये—

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम् ।
बृहस्पतिं वरेण्यम् । (ऋ० ३।६२।६)

' (चर्षणीनां अदाभ्यं वृषभं) प्रजाओं में विशेषतया न दबनेवाले बलवान् (वरेण्यं विश्वरूपं बृहस्पतिं) श्रेष्ठ विश्वरूपी ज्ञानपति प्रभुकी हम उपासना करते हैं। ' यह ईश्वर बृहस्पति अर्थात् ज्ञानका स्वामी है और वह विश्वरूपी है, यह उपदेश स्पष्ट शब्दों में किया है। आगे के मन्त्र में अधिक स्पष्टताके साथ यही बात कही है—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः।
देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। (ऋ० १०।१०।५)

" गर्भमें हि हम दोनोंको हमारे पिताने दम्पति बनाया है, क्योंकि वही देव (त्वष्टा) बडा कारीगर है, (सविता) सबका बनानेवाला है (सविता वै सर्वस्य

प्रसविता। श० ब्रा०) और वही (विश्वरूपः) विश्वरूपी है, अर्थात् सब विश्व में जो रूप है, वही उसीका रूप है।' सब का निर्माण करनेवाला ईश्वर विश्वरूपी है, ऐसा यहां स्पष्ट कहा है, यहां किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता, इतने स्पष्ट शब्दों में यहां का वर्णन है।

सब देव विभिन्न नहीं हैं, परन्तु एकही ईश्वर के वे विभिन्न रूप हैं। इस विषयमें अनेक मंत्र देखनेयोग्य हैं, वे अब देखिये—

अग्नि का विश्वरूप।

त्वमग्ने...इन्द्रः,...त्वं विष्णुः...त्वं ब्रह्मा,...
त्वं विधर्ता,...॥ ३ ॥ त्वं राजा वरुणः,...त्वं
मित्रः,...त्वमर्यमा,...त्वमंशः,...॥ ४ ॥
त्वं त्वष्टा...॥ ५ ॥ त्वं रुद्रोऽसुरः,...त्वं
पूषा...॥ ६ ॥ त्वं द्रविणोदाः,...त्वं देवः
सविता,...त्वं भगः,...त्वं वायुः ॥ ७ ॥
...विश्पतिः...राजा ॥ ८ ॥...पिता...
पुत्रः,...त्वं सखा ॥ ९ ॥ ...त्वं ऋभुः
...॥ १० ॥ त्वं अदितिः,...त्वं भारती
...॥ ११ ॥ त्वं वयः,...त्वं वाजः,...
त्वं रयिः ॥ १२ ॥ (ऋ० २।१)

'हे अग्ने! तू इंद्र, विष्णु, ब्रह्मा, विधर्ता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, असुर, पूषा, द्रविणोदा, सविता, भग, वायु, विश्पतिराजा, पिता, पुत्र, सखा, ऋभु, अदिति, (भारती) वाणी, (वयः) पक्षी, बल, अन्न और (रयि) धन है।'

अग्नि इतने रूपोंमें प्रकट होता है, ऐसा यहां कहा है। अग्निका यह विश्वरूपहि है। यहां जो अग्नि राजा पिता, पुत्र और मित्र है, क्या यह अग्नि आगही है? क्या कदापि यह चूल्हेमें जलनेवाली आग पिता, पुत्र, मित्र, वाणी, अन्न और धनके रूपोंमें प्रकट होती हुई किसीने देखी है? हमारे मतसे यहां का 'अग्नि' शब्द आगके अर्थमें नहीं है, प्रत्युत 'आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म' के अर्थमें है। इससे यह आशय प्रकट होगा कि वह एकही परमात्मा इंद्र, विष्णु, ब्रह्मा, विधाता, वरुण, मित्र, अर्यमा अंश, त्वष्टा, रुद्र, पूषा, सविता, भग, राजा, पिता, पुत्र, सखा, ऋभु, अदिति, वाणी, बल, अन्न, धन आदि रूपोंमें प्रकट होता है। यही प्रभुका विश्वरूप है। यहां दिये हुए इंद्र, विष्णु आदि नाम केवल सूचनामात्र के लिये हि हैं, इनसे अन्य देवताओं का भी बोध लिया जा सकता है।

इससे निर्विवाद एक बात सिद्ध होती है कि, मूल कोई एक तत्त्व, वस्तु या चीज ऐसी है कि जो स्वयं एकरूप होती हुई इंद्रादि अनेक रूप धारण करके प्रकट हो जाती है। यही विश्वरूपदर्शन है। परमात्मा, परब्रह्म, ब्रह्म, आत्मा, प्रभु विभु, ईश्वर, सत्, तत् आदि नामवाली एक वस्तु है, जो विश्वके सब वस्तुमात्र के रूप धारण की हुई है। इसीलिये उसको 'विश्वरूप, सर्वरूप, बहुरूप' कहा जाता है।

पितापुत्र के रूपमें ईश्वर।

इंद्र-सूर्य आदि देवताओंके रूपमें वह आत्मतत्त्व प्रकट होता है, इतना तो माना जायगा, परन्तु पिता, पुत्र, मित्र, राजा के रूपमें वही आत्मतत्त्व प्रकट होता है,' ऐसा किस तरह माना जा सकता है, ऐसा प्रश्न यहां उपस्थित हो सकता है और इस समय इसी प्रश्न का विचार यहां करना चाहिये। क्या हमारे घरके कुटुंब के मनुष्य भी ईश्वरके ही अंश हैं? वेद इस विषयमें क्या कहता है?

ऊपरके जिस मंत्रमें इसके पिता, पुत्र, भ्राता, सखा होने के विषयमें कहा है, यह मंत्र इस प्रकार है--

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरः
त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।
त्वं पुत्रो भवसि यस्ते विधत्
त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः ॥
(ऋ० २-१-९)

हे अग्ने! (पितरं त्वां) पितारूप तुझको (नरः इष्टिभिः) मनुष्य इष्टियोंद्वारा सन्तुष्ट करते हैं, (भ्रात्राय) भाईपनके लिये भाईस्वरूप (तनूरुचं) शरीरमें प्रकाश करनेवाले तुझे (शम्या) शान्त कर्मके द्वारा पूजते हैं, (यः ते अविधत्) जो तेरी उपासना करता है, उसका (त्वं पुत्रः भवसि) तू पुत्र होता है और (त्वं सखा) तू मित्र भी (सुसेवः) सुख

देनेवाला होता है, तात्पर्य (आधृषः पासि) कष्ट न देता हुआ तूं पिता, पुत्र, भाई, मित्र होकर सबकी रक्षा करता है।

इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दोंद्वारा कहा है कि, 'वही प्रकाश देव, परमात्मा, पिता, भाई, पुत्र, मित्र आदि रूपसे हमारे पास आता है और हमें सहायता करता है, इसी तरहका एक मन्त्र अथर्ववेद में भी है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥
उतैषां पिता उत वा पुत्र एषाम्
उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्ठः
प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥ (अ० १०।८)

'तूं स्त्री, तूं हि पुरुष, तू कुमार और तूहि कुमारी, तूं वृद्ध होकर (दण्डेन वञ्चसि) हाथ में दण्डा लेकर चलता है, और (त्वं जातः) तू जब जन्मता है तब तू (विश्वतोमुखः भवसि) सब ओर मुखवाला होता है। (एषां पिता) इनका पिता तू है, (उत एषां पुत्रः) और इनका पुत्र भी तूहि है। इनका ज्येष्ठ भाई तूं है और इनका कनिष्ठ भाई भी तूहि है। एकही देव (मनसि प्रविष्टः) मनमें प्रविष्ट हुआ है,वह (प्रथमः जातः) एक वार जन्मा था और (सः उ गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भ में आ गया है।'

इन मन्त्रों में पूर्वोक्त बातही विस्पष्ट हो गयी है कि, वही एक आत्मा, पिता, पुत्र, भाई, पुत्री, माता, तरुण वृद्ध इस तरह सब प्रकार के संबंधी बनता है। अपने घरमें, अपने कुटुंबियों में इस तरह परमेश्वर पुत्रपुत्रीरूपसे आता है, भाईबहिन रूपसे आता है, मातापितारूपसे आता है, अन्यान्य संबंधियों के रूपसे आकर सहायक होता है।

अपना पुत्र अपना है, अपने घरमें जन्मा है इसलिये उसका अवमान करना नहीं चाहिये। उस में ब्रह्मका अंश जीवरूपसे जैसा अवतरित हुआ है वैसेही ३३ देवताओं के अंश उससे अवतरित हुए हैं। जैसे ये सब देवताओं के अंशावतार आपके पुत्रमें हुए हैं, इसी तरह आपके पडौसीके घरमें उत्पन्न हुए पुत्र में भी हुए हैं, जैसे ये राजाके पुत्रमें हुए हैं, वैसे हि एक कंगाल, गरीब, निर्धन, हीनदीन के घरके जन्मे पुत्र में भी ३३ देवतांशों के साथ परमात्मा का अंश जन्मा है। किसी प्रकार का हेरफेर नहीं है।

अपने घरमें ईश्वरावतार।

इस तरह अपने घरमें सब देवताओंका अंशावतार हुआ है, वह ध्यानमें धारण करके उनके साथ हमारा वैसाहि योग्य बर्ताव होना चाहिये। राष्ट्रके राजाको उचित है कि, राष्ट्रमें जितने भी बालक जन्मे हैं, उन सब में ३३ देवतांशोंके समेत ब्रह्मका अंश जन्मा है, वह जैसा राजमहल में है, वैसा हि गरीब की झोंपडीमें जन्मा है, यह जान कर सब बालकोंको समानतया सुयोग्य रीतिसे पालन, पोषण, संवर्धन, अध्ययन आदिके साधन मिलनेयोग्य प्रबन्ध राष्ट्रमें होता रहे। वैदिक राज्यमें ऐसा ही प्रबन्ध होता था। जिस राज्य में सब बालकों का ऐसा समादर होगा, वह राज्य मानो भूमिपर स्वर्गधामहि होगा।

आज विषम भावसे सबकी बुद्धि मारी जा रही है। यही अधर्म हो रहा है, यही सामुदायिक पाप हो रहा है, इसका परिणाम जो कुछ हो रहा है, वह प्रत्यक्षहि है। जब स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री प्रत्यक्ष परमात्मस्वरूप दीखेगी, जब पुत्र और पुत्रियों के रूपमें अपने घरमें प्रत्यक्ष परमात्मा आया है, ऐसा माता-पिता को प्रत्यक्ष दीखेगा, जब भाई-बहिन, माता-पिता, चचा और पितामहके रूपमें, परमात्मा का अंशही कार्य कर रहा है, यह बात प्रत्यक्ष होगी, घरके अन्दर के लोग और घरके बाहर के लोग ये सब ईश्वरके विश्वरूप के अंश प्रत्यक्ष दिखाई देंगे। जब अध्यापकों को शिष्यों के रूप में ईश्वरांश प्रत्यक्ष होगा, और जब शिष्यों को अध्यापक में ईश्वरांशका अनुभव होगा, जब राजा और राजपुरुषों को प्रजारूप में परमेश्वर के अंश अपनी सेवा लेनेके लिये आये हैं, ऐसा दीखेगा, तब इस भूमि पर वैदिक धर्म का राज्य होगा, और यहां इस भूमिपर देवसभा का अधिवेशन होगा।

जब वैद्य और डॉक्टर अपने पास आये रोगीके रूपमें अपनी सेवा लेनेके लिये अपना उपास्यदेव परमेश्वरहि आया है, ऐसा प्रत्यक्ष दीखने लगेगा, जब पोलिसोंको ऐसा प्रतीत होगा कि, हम प्रजारूपी देवतांशोंकी सेवा करनेके लिये यहां नियुक्त हुए हैं, और जब अदालतों के

गवाहोंको प्रतीत होगा कि हमें सचमुच प्रत्यक्ष परमेश्वरके ही सम्मुख बयान करना है, तब इस भूमि पर स्वर्ग-धाम होगा और तबही संपूर्ण दुःखोंका लय होगा और पूर्ण सुखयुक्त जीवन का अनुभव आ जायगा।

आज तो प्रत्यक्ष ईश्वरकी सर्वत्र अवहेलना हो रही है। मानवोंके रूपमें प्रत्यक्ष ईश्वर आ गया है, परन्तु उसको वैसा माननेके विषय में अज्ञानी धर्मप्रचारकोंने बीच-बीचमें अज्ञानकी दिवारें खडी कर रखीं हैं, जिस कारण वेद का अतिस्पष्ट उपदेश भी न समझनेके समान दुर्बोध हो रहा है, इस कारण जिधर देखा जाय वहां दुःख सामने उपस्थित होता है।

इतना विचार और पूर्वोक्त मन्त्रों का मनन होनेके पश्चात् अब कुछ मन्त्र विशेष मनन करनेके लिये यहां उपस्थित किये जाते हैं, देखिये—

प्रजापति का जन्म।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः
अजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः
तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
(वा० य० ३१।१९)

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥
य आ बभूव भुवनानि विश्वा॥५॥
(वा० य० अ० ३२)

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥
(वा० य० अ० ३२।१०)

"(प्रजापतिः) प्रजापालक ईश्वरहि (गर्भे अन्तः चरति) गर्भके अन्दर विचरता है, वह स्वयं (अजायमानः) न जन्मनेवाला होता हुआ भी (बहुधा विजायते) अनेक प्रकार से विशेष रीतिसे उत्पन्न होता है। बुद्धिमान् लोग उसके मूल स्थान को जानते हैं, क्योंकि (तस्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थुः) उसमें हि सब भुवन रहते हैं।"

"यही देव (सर्वाः प्रदिशः अनु) सब दिशा-उपदिशाओंमें भरा है, (सः पूर्वः जातः) वह पहिले जन्मा था और फिर (सः उ गर्भे अन्तः) वही गर्भ में आया है। (सः एव जातः) वही भूतकाल में जन्मा था और (सः जनिष्यमाणः) वही भविष्यकाल में जन्मेगा, क्योंकि वह (विश्वतो मुखः) सब ओर मुखवाला है, सब प्राणियों के मुख उसी के होनेसे वही सर्वतोमुख है, अतः वह (प्रत्यङ् जनाः तिष्ठति) प्रत्येक जन्मे हुए प्राणीमें रहता है," इसीलिये उसको 'विश्वतोमुख, सर्वतोमुख, विश्वतश्चक्षु, विश्वतस्पात्' कहते हैं, क्योंकि सब प्राणियों के मुख, बाहु, पेट और पाय उसीके हैं। सचमुच वह विश्वरूप ही है।

"(यः) जो प्रभु (विश्वा भुवनानि आबभूव) सब भुवन बना है। सब भुवनोंके रूप उसीके रूप है।"

"(सः) वह प्रभु हि (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है वह प्रभुहि (नः जनिता) हमारा पिता है, वह प्रभुहि (नः विधाता) हमारा बनानेवाला है, वही सब धामों और भुवनों को जानता है।" इस मंत्रके साथ और भी आप कह सकते हैं, कि वह प्रभुहि हमारी माता है। वह प्रभुहि हमारा चचा है, वह प्रभुहि हमारा मित्र है, वह प्रभुहि हमारा गुरु है इ०।

अब इसीसे आप कह सकते हैं कि (नः पिता सः) हमारा पिता वह प्रभुहि है, (नः माता सः एव) हमारी माता वही प्रभु है, (नः भ्राता बन्धुः स एव) हमारा भाई वही है, (नः जनिता सः) हमारा जन्मदाता भी वही प्रभु है, (नः विधाता स एव) हमारा बनानेवाला अर्थात् हमें हर प्रकार की सहायता देकर हमारा पालन-पोषण-संवर्धन आदि करनेवाला भी प्रभु का ही रूप है। इसी तरह हमारा मित्र, सखा आदि सब वही प्रभु है।

जिस तरह पूर्व बताया गया है कि—
तत् एव अग्निः, अग्निः तत् एव

ये दोनों वाक्य एक ही मन्त्र से बनते हैं और अर्थकी गंभीरता प्रकट करते हैं, इसी तरह—

सः नो बन्धुः, नः बन्धुः सः,
स नो जनिता; नः जनिता स एव॥

ये दोनों प्रकार के अर्थ इन मन्त्रों में हैं। और ये दोनों अर्थ मनुष्य के आचरण में तथा अनुभव में आनेवाले हैं। यहां तक जो मन्त्र यहां दिये हैं, उनसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि, सभी मनुष्य तथा सब अन्य प्राणी ये सब ईश्वरकीहि मूर्तियां हैं, मनुष्य के सब सम्बन्धीयों के रूपमें वही ईश्वर आ गया है और सब सहायकों के द्वारा सहाय करता है, जगानेवालों के द्वारा जगाता है। सब विश्व का रूप उसी का है। वेद का यह सिद्धांत अब पाठकों के अन्तःकरण में सुस्थिर हुआ ही होगा। यही उपदेश विशेष विस्तार से यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में दिया है अत. इस अध्यायका विचार यहां करना आवश्यक है। इस अध्यायमें रुद्रके रूप दिये हैं। रुद्र नाम परमेश्वर का है, यह सब जानते है. उसीके जो रूप यजुर्वेद में वर्णित हुए हैं, वे ये हैं—

रुद्रका विश्वरूप।

हिरण्यबाहवे सेनान्ये, दिशां पतये,
वृक्षेभ्यः, हरिकेशेभ्यः, पशूनां पतये,
शष्पिंजराय त्विषीमते, पथीनां पतये,
हरिकेशाय उपवीतिने, पुष्टानां पतये नमः ॥ १७ ॥

बभ्लुशाय व्याधिने, अन्नानां पतये,
भवस्य हेत्यै, जगतां पतये,
रुद्राय आततायिने, क्षेत्राणां पतये,
सूताय अहन्त्यै, वनानां पतये नमः ॥ १८ ॥

रोहिताय स्थपतये, वृक्षाणां पतये,
भुवन्तये वारिवस्कृताय, औषधीनां पतये,
मन्त्रिणे, वाणिजाय, कक्षाणां पतये,
उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते, पत्तीनां पतये नमः ॥१९॥

कृत्स्नायतया धावते, सत्त्वनां पतये,
सहमानाय, निव्याधिने, आव्याधिनीनां पतये,
निषङ्गिणे, ककुभाय, स्तेनानां पतये,
निचेरवे परिचराय, अरण्यानां पतये नमः ॥ २० ॥

वञ्चते, परिवञ्चते, स्तायूनां पतये,
निषंगिण इषुधिमते, तस्कराणां पतये,
सृकायिभ्यः जिघांसद्भ्यः, मुष्णतां पतये,
असिमद्भ्यः नक्तंचरद्भ्यः, विकृंतानां पतये नमः ॥२१॥

उष्णीषिणे गिरिचराय, कुलुंचानां पतये,
इषुमद्भ्यः, धन्वायिभ्यः, आतन्वानेभ्यः,
प्रतिदधानेभ्यः, आयच्छद्भ्यः, अस्यद्भ्यो नमः ॥२२॥

विसृजद्भ्यः, विध्यद्भ्यः, स्वपद्भ्यः, जाग्रद्भ्यः,
शयानेभ्यः, आसीनेभ्यः, तिष्ठद्भ्यः, धावद्भ्यो
नमः ॥ २३ ॥

सभाभ्यः सभापतिभ्यः, अश्वेभ्यः, अश्वपतिभ्यः,
आव्याधिनीभ्यः, विविध्यन्तीभ्यः,
उगणाभ्यः, तृंहतीभ्यो नमः ॥ २४ ॥

गणेभ्यः, गणपतिभ्यः, व्रातेभ्यः, व्रातपतिभ्यः,
गृत्सेभ्यः, गृत्सपतिभ्यः, विरूपेभ्यः, विश्वरूपेभ्यो
नमः ॥२५॥

सेनाभ्यः, सेनानिभ्यः, रथिभ्यः, अरथेभ्यः,
क्षत्तृभ्यः, संग्रहीतृभ्यः, महद्भ्यः, अर्भकेभ्यो नमः ॥२६॥

तक्षभ्यः, रथकारेभ्यः, कुलालेभ्यः, कर्मारेभ्यः,
निषादेभ्यः, पुञ्जिष्ठेभ्यः, श्वनिभ्यः, मृगयुभ्यो
नमः ॥२७॥

श्वभ्यः, श्वपतिभ्यः, भवाय, रुद्राय, शर्वाय,
पशुपतये, नीलग्रीवाय, शितिकण्ठाय नमः ॥२८॥

कपर्दिने व्युप्तकेशाय, सहस्राक्षाय,
शतधन्वने, गिरिशयाय, शिपिविष्टाय,
मीढुष्टमाय, इषुमते नमः ॥२९॥

ह्रस्वाय, वामनाय, बृहते, वर्षीयसे,
वृद्धाय, सवृधे, अग्र्याय, प्रथमाय नमः ॥३०॥

आशवे, अजिराय, शीघ्रयाय, शीभ्याय,
ऊर्म्याय, अवस्वन्याय, नादेयाय द्वीप्याय नमः ॥३१॥

ज्येष्ठाय, कनिष्ठाय, पूर्वजाय, अपरजाय,
मध्यमाय, अपगल्भाय, जघन्याय, बुध्न्याय नमः ॥३२॥

सोभ्याय, प्रतिसर्याय, याम्याय, क्षेम्याय,
श्लोक्याय, अवसान्याय, उर्वर्याय, खल्याय नमः ॥३३॥

वन्याय, कक्ष्याय, श्रवाय, प्रतिश्रवाय,
आशुषेणाय, आशुरथाय, शूराय अवभेदिने नमः ॥३४॥

बिल्मिने, कवचिने, वर्मिणे, वरूथिने,
श्रुताय, श्रुतसेनाय, दुन्दुभ्याय, आहनन्याय नमः ॥३५॥

धृष्णवे, प्रमृशाय, निषंगिणे, इषुधिमते,
तीक्ष्णेषवे, आयुधिने, स्वायुधाय, सुधन्वने नमः॥३६॥
स्रुत्याय, पथ्याय, काटयाय, नीप्याय,
कुल्याय, सरस्याय, नादेयाय, वैशन्ताय नमः ॥ ३७॥
कूप्याय, अवटयाय, वीध्र्याय, आतप्याय,
मेघ्याय, विद्युत्याय, वर्ष्याय अवर्ष्याय नमः ॥ ३८॥
वात्याय, रेष्म्याय, वास्तव्याय, वास्तुपाय,
सोमाय, रुद्राय, ताम्राय, अरुणाय नमः ॥ ३९॥
शङ्गवे, पशुपतये, उग्राय, भीमाय,
अग्रेवधाय, दूरेवधाय, हन्त्रे, हनीयसे,
वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यः ताराय नमः ॥ ४० ॥
शंभवाय, मयोभवाय, शंकराय, मयस्कराय,
शिवाय, शिवतराय नमः ॥ ४१ ॥
पार्याय, अवार्याय, प्रतरणाय, उत्तरणाय,
तीर्थ्याय, कूल्याय, शष्प्याय, फेन्याय नमः ॥ ४२ ॥
सिकत्याय, प्रवाह्याय, किंशिलाय, क्षयणाय,
कपर्दिने, पुलस्तये, इरिण्याय, प्रपथ्याय नमः ॥४३
व्रज्याय, गोष्ठ्याय, तल्प्याय, गेह्याय, हृदय्याय,
निवेष्प्याय, काटयाय, गह्वरेष्ठाय नमः ॥४४॥
शुष्क्याय, हरित्याय, पांसव्याय, रजस्याय
लोप्याय, उलप्याय, ऊर्व्याय सूर्व्याय नमः ॥४५॥
पर्णाय, पर्णशदाय, उद्गुरमाणाय, अभिघ्नते,
आखिदते, प्रखिदते, इषुकृद्भ्यः धनुष्कृद्भ्यः,
केरिकेभ्यः, देवानां हृदयेभ्यः, विचिन्वत्केभ्यः,
विक्षिणत्केभ्यः, आनिर्हतेभ्यो नमः ॥४६॥
(वा० यजु० अ० १६)

इस रुद्राध्याय में ये सब नाम रुद्रके रूपों के हैं। इन रूपोंमें रुद्र हमें अर्थात् सब मनुष्यों को दीखता है, अतः इन रूपों को उपासक नमन करता है, जो नमन उपास्य देव रुद्र को पहुंचता है।

रुद्र के रूप—ब्राह्मण।

पुरुषसूक्त में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखं' = 'ब्राह्मणवर्णके लोग इस प्रभुके सहस्रों मुख हैं' ऐसा कहा है, उसीका स्पष्टीकरण इस रुद्राध्याय में पाठक देख सकते हैं। रुद्र देवका मुख भी ब्राह्मणहि है, इन ब्राह्मणवर्ण के लोगों की जो गणना इस रुद्राध्याय में की है, उन में ये लोग हैं—

१. श्रुत= श्रुतिमें विद्वान्,
२. श्रव, प्रतिश्रव= श्रवण और प्रतिश्रवण करनेवाले, वादविवाद करनेवाले, ऊहापोह करके धर्म-सिद्धान्त निश्चित करनेवाले ज्ञानी,
३. मन्त्रिन्– राजाके मन्त्री, राजव्यवहार की सलाह देनेवाले विद्वान्,
४. प्रमृश- विशेष विचार करनेवाले, विचारशील पण्डित,
५. श्लोक्य- सुप्रसिद्ध विद्वान्, सर्वत्र प्रसिद्ध,
६. गृत्स- बुद्धिमान्,
गृत्सपति- बुद्धिवानों के मुखिया,
७. पुलस्ति- ऋषि,
८. सवृध- विद्याविनयादि संपन्न पंडित युवक,
९. वृद्ध- वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध,
१०. सभापति- सभाका अध्यक्ष,
सभा- परिषद, लोकसभा,
११. याम्य- यमनियम पालन करनेवाला,
१२. क्षेम्य- क्षेम प्राप्त करने के लिए यत्नवान्,
१३. अ-हंति- अहिंसक मनोवृत्तिवाला,
अहन्त्य- " "
१४. प्रतरण- पर तीरपर पहुंचानेवाला, भवसागर से परे ले जानेवाला गुरु,
आतार्य- " "
तीर्थ्य- पवित्र स्थानमें रहनेवाला विद्वान्, गुरु,
उत्तरण- दुःखसे पार ले जानेवाला विद्वान्,
१५. शं-गु- कल्याण करनेवाला,
१६. आसीन- आसनपर स्थित, योगासन करनेवाला, योगी,
तिष्ठत्- योगासनपर स्थित, ठहरा हुआ,
१७. गह्वरेष्ठ- गुहामें रहनेवाला, गुफामें बैठकर तपस्या करनेवाला,
१८. उपवीतिन्, कृत्स्नवीत- यज्ञोपवीतधारी,
१९. कपर्दिन्- जटाधारी, तपस्वी,
२०. व्युप्तकेश- मुण्डितकेश, संन्यासी,

*

इनमें 'आसीन' आदि बहुतसे नाम केवल ब्राह्मण के ही नहीं हैं, वे सामान्यतया तपस्वियों के ही हो सकते हैं। तथापि ये शब्द ज्ञान, शम, दम, तप आदि ब्राह्मणगुणोंसे युक्त विद्वानों के वाचक हैं, अतः ब्राह्मणवर्ण में रखे हैं। इनमें कई शब्द सामान्य विद्वानों या सामान्य तपस्वियों के वाचक हुए तो भी कुछ हर्ज नहीं है। यहां जो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में परिगणित नहीं हो सकते, वे सब इस ब्राह्मणवर्ण में हैं, ऐसा मानकर यह वर्णन किया है।

यहां पाठक देख सकते हैं कि, जो पुरुषसूक्तमें '**ब्राह्मण इस ईश्वरका मुख है**' इतनाही कहा था, उसीका अधिक स्पष्टीकरण इस रुद्राध्यायने किया और बताया कि, रुद्र-देवता के ये रूप हैं, **संन्यासी, योगी, जटाधारी ऋषि, मुनि, गुहानिवासी, तपस्वी, अध्ययन, अध्यापन करनेवाले विद्वान्, मंत्री, सभासद्, सभापति ये सब रुद्र के रूप हैं,** पाठक इनमें रुद्रदेवका साक्षात्कार कर सकते हैं। रुद्रदेव प्रभु परमेश्वर हि है। जिस प्रभुका मुख ब्राह्मणवर्ण के सब लोग हैं, उसी प्रभु के ये रूप हैं।

पाठक जरासा अपना पूर्वग्रह छोडकर इस वेदद्वारा प्रकट हुए ईश्वरस्वरूप की धारणा अपने मनमें करें। जब आप राजा के मंत्रीको देखेंगे, जब आप सभापति को देखेंगे, जब आप सभा का अवलोकन करेंगे, जब आप तपस्वी, मुनि और योगीका दर्शन करेंगे, जब आप अध्यापक को देखेंगे, तब समझना कि ये रुद्रदेव के स्वरूप हैं। इन के मिष से आप के सामने स्वयं रुद्र देव ही उपस्थित हो रहा है। यही प्रभुका साक्षात्कार है।

रुद्र के क्षात्ररूप।

अब रुद्रदेवताके रूपोंमें जो रूप क्षात्र-गुणकर्म-स्वभाव से मिलते जुलते हैं, वे देखिये। इस रुद्राध्याय में क्षात्र गुण के लोगोंका वर्णन अधिक विस्तार से किया है। इस वर्गमें युद्ध करनेवाले, शस्त्रास्त्रों का उपयोग करनेवाले, शस्त्रास्त्र तैयार करनेवाले, सेनानायक, वीर, शूर, धीर पुरुषों की गणना हुई है। पाठक यहां रुद्रदेवका क्षत्रिय-वर्ण में विश्वरूप देखें—

१. **शूर**- शूर वीर,
२. **धृष्णु**- शत्रुपर हमला करनेवाला, शत्रुका धर्षण करनेवाला,
३. **सहमान**- शत्रुका हमला होनेपर उसे सहकर अपने स्थान पर स्थिर रहनेवाला, शत्रु को परास्त करनेवाला,
४. **भीम**- शत्रु के मन में भय उत्पन्न करनेवाला,
५. **रुद्र**- शत्रु को रुलानेवाला,
६. **अवार्य**- शत्रु जिसका निवारण नहीं कर सकता, ऐसा प्रतापी वीर,
७. **अवट्य**- सुरंग में, विवर में रहकर लडनेवाला,
८. **अग्रेवध**- सामने खडा रहकर शत्रुकावध करनेवाला,
९. **दूरेवध**- शत्रुका दूरसे वध करनेवाला,
१०. **तृंहती**- युद्ध में शत्रुपर प्रहार करनेवाला,
जिघांसत्- युद्धमें शत्रुपर प्रहार करनेवाला,
११. **अस्यत्**- शत्रुपर बाण आदि फेंकनेवाला,
विसृजत्- ,, ,, ,,
१२. **आखिदत्, प्रखिदत्**- शत्रुको खेद दुःख देनेवाला,
१३. **आततायिन्, आतताविन्**-धनुष्य खींचनेवाला, आयुध सज्ज रखनेवाला,
१४. **आहनन्य**- चारों ओर प्रहार करनेवाला,
१५. **शर्व**- शत्रु का नाश करनेवाला,
१६. **व्याधिन्**- शत्रु का वेध करनेवाला,
१७. **हन्ता**- शत्रु का हनन करनेवाला,
१८. **हनीयस्**- अतिशय शत्रुनाश करनेके स्वभाववाला,
१९. **विव्याधी, विविध्यंती**- शत्रुका वेध करनेवाला, **विध्यत्, निव्याधिन्, आव्याधिन्**- वेध करनेवाला,
२०. **विकृन्तानां पति**- शत्रु का छेदन करनेवालों में मुख्य वीर,
२१. **आव्याधिनीनां पति**- शत्रुपर प्रहार करनेवालों में मुख्य,
२२. **आतन्वान**- धनुष्य खींचनेवाला,
२३. **आक्रन्दयत्**- शत्रु को रुलानेवाला,

२४. **आयच्छत्**- दुष्टों के शमनार्थ धनुष्य सिद्ध करनेवाला,
२५. **अभिघ्नत्**- शत्रुसंहार करनेवाला,
२६. **अवभेदिन्**- शत्रु का भेद करने में तत्पर,
२७. **सुधन्वा**- उत्तम धनुष्य धारण करनेवाला,
२८. **शतधन्वा**- सौ धनुष्यों को साथ रखनेवाला,
२९. **धन्वावी, धन्वायी**- धनुष्य साथ रखनेवाला,
३०. **तीक्ष्णेषु**- जिसके बाण तीक्ष्ण हैं,
३१. **निषङ्गी**- तलवार से युक्त,
३२. **वरूथी**- रथपर रहकर युद्ध करनेवाला,
३३. **सृकावी, सृकायी** - वज्रसे लडनेवाला,
३४. **स्वायुध**- उत्तम शस्त्रास्त्रोंसे युक्त,
३५. **वर्मी**- कवच धारण करनेवाला,
कवची- ,, ,, ,,
३६. **रथी**- रथपरसे युद्ध करनेवाला वीर,
३७ **बिल्मी**- शिरस्त्राणसे युक्त वीर,
३८ **प्रतिदधान्**- धनुष्यपर बाण चढाने में प्रवीण,
३९ **आयुधी**- आयुधोंसे युक्त,
इषुधिमान्- बाणधारी,
इषुमान्- ,,
असिमान्- खड्ग से युक्त,
४०. **आशुरथ**- शीघ्रगामी रथयुक्त,
४१. **अरथ**- जिसके पास रथ नहीं वह वीर,
४२. **अश्व**- घोडेपर बैठनेवाला,
अश्वपति- ,, ,, अश्वपालक,
पशुपति, पशूनां पति- पशुपालक,
४३. **सेनानी**- सेनाका संचालक, सेनापति,
सेना- सैन्य, सैनिक,
श्रुतसेन- जिसकी सेनाका पराक्रम विख्यात है,
आशु-षेण- शीघ्रगामी सेनासे युक्त वीर,
४४. **निषाद**- पहाडों में रहनेवाले भील आदि,
पुञ्जिष्ठ- ,, ,, ,,
गणपति- समूह में रहनेवाले, वीरसमूह
गण- ,, ,, ,,
४५. **उग्र**- शूर वीर, भयानक प्रतापी वीर,
उगण- उत्कृष्ट समूहवाले वीर-गण,
दूत- वार्ताहर का कर्म करनेवाले,
४६. **पुष्टानां पति**- बलवान् पुष्ट वीरों का स्वामी,
४७. **अरण्यानां पति**- वनपालक,
वनानां पति, वन्य,- ,,
४८. **अन्नानां पति**- अन्नपालनकर्ता,
४९. **जगतां पति**- चलनेवालों के पालनकर्ता,
क्षेत्रानां पति, स्थपति- देशरक्षक, स्थानपति,
दिशां पति- दिशामें रहनेवालों के पालनकर्ता,
पथीनां पति— मार्गोंके रक्षक,
पत्तीनां पति- एक रथ, एक हाथी, तीन घोडे, पांच पैदल मिलकर एक पत्ति होता है। ऐसी सेना का पति,
सत्वानां पति- प्रजियों के पालक,
कक्षाणां पति- दोनों ओर के भागों के रक्षक,
व्रातपति- समूह के पति,
व्रात- समूह, वीर सैन्य,
५०. **वास्तव्य, वास्तुप**- वास्तुपालक, गृहपालक,
५१. **नीप्य**- पर्वत के निम्न भागमें रहनेवाले वीर,
५२. **वृक्षाणां पति**- वृक्षरक्षक,
ओषधीनां पति- औषधि-रक्षक,
५३. **रथकार**- रथ बनानेवाले,
धन्वकृत्, धनुष्कृत्- धनुष्य बनानेवाले,
इषुकृत्- बाण बनानेवाले,
क्षत्ता- तर्खाण, रथ निर्माण करनेवाला,
तक्षा- कारीगर, रथनिर्माता,
कर्मार- लुहार,
कुलाल- कुम्हार,
५४. **दुंदुभ्य**- रणवाद्यों को बजानेवाला,
सूत- सारथी,
५५. **हिरण्यबाहु**- बाहुओंपर सुवर्ण के भूषण धारण करनेवाले वीर,
उष्णीषी- सिरपर साफा या पगडी धारण करनेवाले वीर,
संग्रहीता- हथियारों का संग्रह करनेवाले,
संवृधन्- सणसाहित्य बढानेवाले,

५६. उच्चैर्घोष- उग्र शब्द करनेवाले,
उद्गुरमाण- बडा शब्द करनेवाले, वा उद्यमी,
शीघ्रीय, शीभ्य- वेगवान्,
परिचर- सेवक, वा घूमनेवाले,
अजिर- गतिशील,
धावत्- दौडनेवाले,
जाग्रत्- जागनेवाले, पहारा करनेवाले,
कक्ष्य- ,, ,,
कृत्स्नायतया धावते- रक्षा करनेके लिये आकर्ण धनुष्य धारण करके दौडनेवाले,
आग्रिय, अग्र्य- आगे बढनेवाले,
अवसान्य- अन्तिम स्थानपर रहनेवाले वीर,

५७. मृगयु- मृगया करनेवाले,

५८. तस्कराणां पति- चोरोंके मुखिया,
मुष्णतां पति- लुटेरों के मुखिया,
स्तायूनां पति- डाकुओंके मुख्य,
स्तेनानां पति- चोरोंके मुख्य,
वञ्चत्- ठगानेवाला,
परिवञ्चत्- ,,
कुलुंचानां पति- लुटेरों के मुखिया,

५९. विक्षीणक- क्षीणता करनेवाले,
विक्षीणत्क- ,, ,,
निचेरु- अपहार करने की बुद्धिसे घूमनेवाले,
नक्तं चर- रात्रीके समय भ्रमण करनेवाले दुष्ट,
प्रकृन्तानां पति- वध करनेवालों में मुखिया,
गिरीश- पहाडपर रहनेवाले,
गिरिशय- ,, ,,
गिरिचल- ,, घूमनेवाले,
विरूप- विकृत रूपवाला अथवा विविध रूप धारण करनेवाला बहुरूपिया,

ये सब क्षात्रवर्णके रूप रुद्रदेवके हैं। ये क्षत्रिय-वर्ण के हैं। अर्थ देखतेहि इनके क्षत्रिय-वर्णका पता लग सकता है। इनमें तक्षाण, लुहार आदि हैं, इनका उपयोग रथ निर्माण करने के लिए होता है, तस्कर, चोर, डाकू ये भी रुद्रही हैं। राज्य का रक्षण करनेवाले वीर भी रुद्र के ही रूप हैं।

ये सब रुद्रदेवता के रूप हैं। पुरुषसूक्त में 'बाहू राजन्यः कृतः' (ईश्वरके बाहु क्षत्रिय हैं) ऐसा कहा है। उसीका स्पष्टीकरण इस रुद्राध्याय में इतना किया है। परमेश्वर के बाहुओं का पता यहां विस्तार से लग सकता है। यहां चोर लुटेरे आदि का ग्रहण किया है, वे रुलाते हैं, (रोदयति इति रुद्रः) रुलानेवाला रुद्र होता है। शूर वीर शत्रुओं को रुलाता है, चोर डाकू घर-वालों को रुलाते हैं। इस तरह इनका साम्य देखने योग्य है।

रक्षकोंके राक्षस।

जो शूर वीर हैं, वे जबतक प्रजा की रक्षा करते हैं, तब तक के क्षत्रिय कहलाते हैं, पर जब उनका स्वार्थ बढता है, और जब वे **प्रजारक्षकों के प्रजाभक्षक** बनते हैं, तब वे क्षत्रियों से चोर, डाकूहि बनते हैं। चोरों, डाकुओंमें वैसाही शौर्य, वीर्य, धैर्य होता, जैसा क्षत्रियों में होता है, कदाचित् अधिक भी होता होगा। पर उनमें स्वार्थ बढ जाता है और जनसेवाका भाव कम होता है, इसलिए उनके अंदर भयानक क्रूर भाव बढता है। अस्तु।

इस तरह इन क्षत्रियों को देखने से रुद्र का दर्शन होता है। इनके दर्शन में रुद्रदेवका दर्शन होता है। पाठक इनमें रुद्रदेव के विश्वरूप का दर्शन करें। ये रुद्र के ही रूप हैं। पुरुषसूक्त के कथन का विस्तार इस वर्णन में वेदने किया है। इससे ईश्वर के विश्वरूप का पता पाठकों को लग सकता है।

रुद्र के वैश्यरूप।

वैश्यवर्ग के लोग भी रुद्र के ही रूप हैं। 'वणिक्' यह रुद्र की विभूति हैं। गौ आदि पशुओं के पालन करनेवाले गोपाल ये भी रुद्र के रूप हैं। देखिए इनके नाम पूर्वोक्त मन्त्रों में कैसे आए हैं—

१. वाणिज- व्यापारव्यवहारकर्ता, वणिक्, बनिया,
२. व्रज्य,- गोष्ठ्य- गौकी शालाओं में रहनेवाले,
गोष्ठ्य- ,, ,, ,,
३. इषीमत्- धान्य से युक्त,
४. गेह्य- घरमें रहनेवाले,

उर्वर्य- उपजाऊ भूमिसे युक्त,
ऊर्व्य- ,, ,,

इरण्य, इरिण्य- तृणहीन भूमिसे युक्त,
५. खह्य- धान कूटनेवाले,
६ सूद्य- अन्न का पाक करनेवाले।

इस तरह 'गोपति, पशुपति' आदि पूर्वोक्त क्षत्रिय-प्रकरण में रखे पशुपालन का भाव दर्शानेवाले शब्द पुनः इस प्रकरणमें लेनेयोग्य हैं।

इसी तरह जो कारीगरवाचक पूर्वोक्त मन्त्रों में शब्द हैं, जिनमें कई पूर्वोक्त क्षत्रियवर्ग में भी आ चुके हैं, उनमें स्वतन्त्र वृत्तिसे न रह सकनेवाले, सेवा करके गुजारा करनेवाले जो होंगे वे शूद्र कहलायेंगे। इस प्रकार शूद्र-वर्ग के रुद्रों का पता लग सकता है।

कृमिकीटों में रुद्र।

रुद्रों के रूपों में सूक्ष्म और बडे कृमि आदि भी अनेक रूप गिनाये हैं, जो यहां देखनेयोग्य है—

तल्प्य- बिस्तरे में होनेवाले कृमि, खटमल आदि,
हरित्य- हरे पत्तोंपर होनेवाले,
शष्प्य- छोटे तिनकेपर होनेवाले,
पर्ण्य- पत्तोंपर होनेवाले,
पर्णशद्य, पर्णशद्- पत्तोंपर रहनेवाले,
वात्य- वायुमें रहनेवाले,
शुष्क्य- सूखे काष्ठ आदिमें होनेवाले,
प्रपथ्य- मार्गपर होनेवाले,
द्वीप्य- द्वीपमें होनेवाले,
अवर्ष्य- वर्षा न होनेसे बननेवाले,
मेघ्य- मेघमें होनेवाले,
वर्ष्य, वर्षीयस्- वर्षासे होनेवाले,
सरस्य- तालावमें होनेवाले,
कुल्य, कूल्य- जलकी नहरमें होनेवाले,
वैशंत्य, वैशन्त- जलाशय में होनेवाले,
नाद्य, नादेय- नदीमें होनेवाले,
कूप्य,- कूवेमें होनेवाले,
प्रवाह्य- प्रवाहमें होनेवाले,
फेन्य- फेनमें बननेवाले,
अवस्वन्य- स्थिर जलमें बननेवाले,
सिकत्य-रेतमें होनेवाले,
पांसव्य- धूलीमें होनेवाले,
रजस्य- ,, ,,
उपगुरमाण- गुरगुर शब्द करनेवाले।

ये सब छोटे बडे कृमियों, प्राणियों और जन्तुओं के वाचक शब्द हैं। ये सब रुद्रों के रूप हैं, रुद्र देवता का यही विश्वरूप है।

छोटे बडे रुद्र।

प्रथम, मध्यम, जघन्य ये नाम 'पहिला, दूसरा, तीसरा' अथवा 'उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ' के वाचक हैं।

महत्, ह्रस्व, बृहत्, क्षुल्लक, वामन ये नाम छोटे और बडे के वाचक हैं।

ज्येष्ठ, कनिष्ठ ये नाम श्रेष्ठ और हीन के वाचक,
अर्भक, अप्रगल्भ ये नाम अनपढों के वाचक हैं।
स्वपत्, शयान ये नाम सोनेवालों के हैं,
बभ्रु, रोहित, ताम्र, अरुण ये नाम विभिन्न रंगोंवाले कृमि, जन्तु या पशु आदिके हैं।

ये विशेषण हैं और ये हरएक जातिके वस्तुको लगाये जा सकते हैं।

ईश्वरवाचक रुद्र के नाम।

इन रुद्र के नामों में जो ईश्वरवाचक होनेमें हि सार्थ होते हैं, ऐसे भी नाम हैं। ये नाम अब देखिए—

१. विश्वरूप- सब रूपोंको धारण करनेवाला, विश्वका रूपहि जिसका रूप है।
२. शिव, शिवतर- कल्याण करनेवाला,
शंभु- ,, ,,
मयस्कर- ,, ,,
मयोभु- ,, ,,
मयोभव- ,, ,,
३. शिपिविष्ट- तेजस्वी,
४. सहस्राक्ष- सहस्र नेत्रोंसे युक्त,
५. भव- सृष्टि उत्पन्न करनेवाला,
६. भवस्य हेति- संसारसे पार ले जानेवाला,
७. हृद्य, हृदय्य- हृदय में रहनेवाला।

ऐसे अनेक शब्द परमेश्वर के वाचक यहां इस रुद्राध्याय में हैं। पाठक इस तरह इस रुद्राध्याय का मनन करें, क्षुद्र कृमि, कीट, पतंग से लेकर महान्, जीवजन्तु तक, तथा अग्निसे लेकर विशाल सूर्य तक, क्षुद्र अनपढ मनुष्य से लेकर राष्ट्र के दिवान, राजा, सेनापति, विद्वान्, तपस्वी तक सब प्रकार के प्राणी इन में आ गये हैं। ये सब रूप रुद्रदेवता के ही हैं। इससे रुद्र के 'विश्वरूप' का पता लग सकता है। जैसा यह रुद्र का विश्वरूप है, वैसा ही अग्नि का विश्वरूप है, और जैसा इन देवों का विश्वरूप है, वैसा ही परब्रह्म, परमात्मा का विश्वरूप है। इतनी विविध रीतियों से वेद ने ईश्वर का ही यह सब रूप है, यह दर्शाया है। इतना कहनेपर यदि कोई उसको न स्वीकार करे, और माने कि ये ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जीव भिन्न हैं और ईश्वर इस विश्वसे भिन्न है, तब उसके सामने वेद क्या करेगा? वेद इतना ही कहेगा कि—

यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति।
य इत् तद्विदुः त इमे समासते॥
(ऋ० १।१६४।३९)

"(यः) जो मनुष्य (तत् न वेद) इस ज्ञान को नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य (ऋचा किं करिष्यति) वेदमन्त्र लेकर क्या करेगा? परंतु (यः इत्) जो ज्ञानी मनुष्य (तत् विदुः) इस ज्ञान को जानते हैं (ते इमे समासते) वे ज्ञानी लोग ही यहां मिलकर बैठकर उत्तम कार्य कर के कृतार्थ होते हैं।"

इससे अधिक वेदने और क्या कहना चाहिये? इतना कहकर भी किसीने न मानना हो, तो वह वैसा न माने। उसको किया क्या जाय? सच देखा जाय तो वेद का 'विश्वरूप' इतना एक ही ईश्वरवाचक शब्द मनुष्य का तारण करने के लिये पर्याप्त है, वेद का यह एक शब्द भी सब प्रकार का तारण कर सकता है, परन्तु इस शब्द को समझना और वैसी दृष्टिसे विश्व की ओर देखना और वैसा आचरण करना आवश्यक है। जो ऐसा करेगा, वही सिद्ध होगा। अन्य जहां के वहां रहेंगे।

यहां तक परमेश्वर के स्वरूप का वेदमंत्रों के आधार से विचार किया, और बताया कि इस विश्व में जो वस्तुमात्र है, वह सब ईश्वरका ही रूप है। अतः ईश्वरका '**विश्वरूप, सर्वरूप, बहुरूप, पुरुरूप, सर्व,**' इत्यादि नामोंसे वेदमें वर्णन किया है।

विश्व और जगत्।

यहां परमेश्वर के स्वरूप का विचार करते हुए हमें '**विश्व और जगत्**' का विचार करना चाहिए। क्योंकि इसका संबंध परमेश्वरके स्वरूपके साथ अत्यन्त घनिष्ठ है। विश्व और जगत् ये पर्याय शब्द नहीं हैं, यह यहां सबसे प्रथम ध्यान में धारण करना चाहिये। ईश्वर को '**विश्वरूप**' कहते हैं, इसका अर्थ परमेश्वर '**जगद्रूप**' है, ऐसा नहीं हो सकता। जगत् चंचल है, बदलनेवाला है, अस्थिर है। इस से विरुद्ध विश्व स्थिर है, शाश्वत है, सनातन है। इसीलिए ईश्वर का रूप '**विश्वरूप**' कहलाता है, परन्तु उसको '**जगद्रूप**' नहीं कह सकते। विश्व और जगत् का स्वरूप ठीक ठीक समझने के लिये यहां कुछ स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है।

'**विश्व**' सनातन परमेश्वरका सनातन स्वरूप है, ईश्वरकी सनातन कृति है, अतः यह परमेश्वरकीही प्रकृति कही जाती है। इस के विरुद्ध '**जगत्**' मनुष्यसे बनी विकृति है, अतः यह क्षणभंगुर है। '**जगन्मिथ्या**' कहते हैं वैसा '**विश्वं-मिथ्या**' कभी किसी ने नहीं कहा।

'**विश्व और जगत्**' का भेद विशद और स्पष्ट करने के लिये यहां कुछ उदाहरण देते हैं। (१) विश्वमें मृत्तिका—मिट्टी ईश्वर की अपनी प्रकृति है, यह ईश्वर का शरीरहि है—

यस्य पृथ्वी शरीरं। (बृ० उ० ३।७।३)

इस प्रभुका पृथ्वी शरीर है। यही विश्वका एक भाग है, यही विश्व है, और यही ईश्वर की '**प्रकृति**' है।

इस मिट्टी को मनुष्य लेता है, और ईश्वर के शरीररूपी इस पृथ्वीरूपी प्रकृति के गुणधर्मोंके आश्रयसे मिट्टीसे बडे छोटे बडे बर्तन, मकान, ईंटें आदि अनेक वस्तुएं बनायीं जाती हैं, यह मानवी कृति '**जगत्**' कही जाती है। यह अस्थिर है, चञ्चल है, नश्वर है। मिट्टी परमेश्वर का शरीर ही (बृ० उ० ३।७।३) होनेसे वह सनातन है, वह ईश्वर के साथ सदा रहनेवाली है, इस रूपमें यह उस रूप में

पृथ्वी रहेगी, पर उसके बनाये मानवी कृतिके घडा, ईंट, मकान आदि पदार्थ नश्वर हैं। ये कुछ देर रहते हैं, पीछे नष्ट हो जाते हैं। इस कारण जगत् मिथ्या है, परन्तु विश्व सत्य है, यह वैदिक अमर सिद्धांत है। यह बात ईश्वरको **'विश्व-रूप'** कहकर वेदने अनेक बार प्रकट की है, और परमेश्वर को **'जगद्रूप'** एक बार भी नहीं कहा। पाठक इसका मनन बहुत करें, और इस वैदिक सिद्धांत को अपने मनमें सुस्थिर करने का यत्न करें। विश्व और जगत् का यह भेद जब तक ठीक समझ में नहीं आवेगा, तब तक ईश्वर का विश्वरूप कभी समझ में नहीं आ सकता, इतना यह विषय महत्त्वपूर्ण है।

ईश्वर के बाल।

विश्व में ईश्वरनिर्मिती से वृक्ष हुए हैं। जैसे प्राणियोंके शरीरपर बाल होते हैं, वैसे ईश्वर के पृथ्वीरूपी शरीरपर वृक्षवनस्पतियाँ बाल ही हैं।

ओषधिवनस्पतयो लोमानि। (ऐ० उ० १।४; २।४)

इन ईश्वर के बालों के आधार से, इस ईश्वर की प्रकृति रूप सनातन शरीर से इस विश्व से मनुष्य खुर्सी, मेज, अलमारी, संदूक, पलंग, पालकी, गाडी आदि बनाते हैं। इस मानवी कृतिका नाम **'जगत्'** है। यह जगत् नश्वर है, परन्तु वृक्षवनस्पतियां शाश्वत हैं, प्रति वर्ष बनती हैं और उनके धर्म भी सनातन ही होते हैं। ईश्वरी प्रकृति में विश्वरूप प्रकृति में जीवन रहता है और मानवी कृति में निर्जीवता होती है। यह विश्व और जगत् का भेद दर्शानेवाला दूसरा उदाहरण है।

विश्वमें तांबा, पीतल, शीशा, लोहा, सोना, चांदी आदि अनेक धातु बने हैं। यह विश्वरूप है, यह सनातन है, इस के आश्रय से इन धातुओं के मनुष्य थाली, लोटे, गडुवे, हण्डे, हंडियां, गिलास, पात्र, रेल, तार, इंजीन, मोटारे आदि बनाता है, सोनेचांदी के आभूषण भी बनाये जाते हैं। यह सब मानवी विकृति से बननेवाले वस्तुमात्र कदापि **'विश्व'** नहीं कहलाते, परन्तु इन सब का यथार्थ नाम **'जगत्'** ही है। सोना सनातन है, शाश्वत है, त्रिकालाबाधित है, हमेशा रहनेवाला है, वह ईश्वर की प्रकृति है, और वह ईश्वर का ही रूप है। परन्तु सोने से बने जेवर, गहने, आभूषण आज हैं और कल नहीं रहेंगे। इस लिये वे जगत् हैं, मिथ्या हैं, ऐसा कहते हैं और विश्व सत्य है, ऐसा वेद कहता है। इसी कारण ईश्वर का नाम वेद ने **'विश्व-रूप'** रखा है, **'जगद्रूप'** नहीं रखा। लोहा सत्य है, पर एंजिन नश्वर है, इंन्जिन बनने बिगडनेकी दोनों स्थितियों में लोहा जैसा का वैसा ही रहता है। सोने के आभूषण बनाये, बिगाडे, नये किये तोभी सोने में कोई न्यूनाधिकता नहीं होती, इसीलिये सोना विश्वरूपी ईश्वर के शरीर का भाग है, परन्तु नश्वर आभूषणों की अपेक्षा सोने का विश्वरूप सर्वथा विभिन्न है। मिट्टी के रूप में हि मिट्टी ईश्वर के विश्वरूप का भाग है, पर घडे के शकल में वह घडा विश्वरूप का न होने से वह जगद्रूप कहलाता है। तथापि यहां घडे के रूप में जो मिट्टी रहती है, वह घडे का भाव छोड कर मिट्टी की शकल में अवश्य विश्वरूप ही है। इस लिये **संपूर्ण मानवी कृतिको-संपूर्ण जगत् को-विश्वका पूर्णतया आधार रहता है, परंतु विश्व के अस्तित्वके लिये जगत् के आधारकी बिलकुल आवश्यकता नहीं होती।**

जैसा घडे के अस्तित्व के लिये मिट्टी की आवश्यकता है, परंतु मिट्टीके अस्तित्व के लिये घडे की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह सर्वत्र समझना योग्य है।

विश्वमें मनुष्य, स्त्री और पुरुष, उत्पन्न हुए हैं। यह विश्वरूप है, यह मानवी सृष्टि सनातन है, सदा रहनेवाली है, क्योंकि वह परमेश्वर का शरीर हि है, वह क्यों नष्ट होगा? परन्तु इस विश्वसृष्टि के अंदर पति और पत्नीका नाता मानवनिर्मित है, इसलिए यह जगत् के अंदर का है, अतः नश्वर है। इसी तरह मनुष्यनिर्मित बनावटी नाते, जो राजा-प्रजा, मालक-मजदूर, पुंजीपति-कारीगर, पद-दलित और दलनकर्ता, धनीगरीब, स्वतन्त्रपरतन्त्र, आदि सब नाते मनुष्यनिर्मित होनेसे बनावटी हैं, और सब के सब जगत् के व्यवहार के हैं, सत्य और शाश्वत नहीं हैं। इसीलिए मानवी व्यवहार में राजा-प्रजा, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि मानवनिर्मित कितने भी भेद रहे, तो भी दलितसे दलित मनुष्य ईश्वर के सामने बडे धैर्य के साथ खडा रह सकता है। क्योंकि विश्वसृष्टि के ये भेद नहीं हैं, ये तो मानवों के बनाये भेद हैं, इसलिए ये असत्य और

मिथ्या हैं। विश्वनिर्मित स्त्रीपुरुष भेद सत्य, सनातन है और वे सदा के लिए ठहरनेवाले हैं। परन्तु मानव-निर्मित भेद क्षणभंगुर है और दुःखोत्पादक भी है।

पाठक इतने उदाहरणों से जान सकते हैं कि ईश्वर के **'विश्वरूप'** में किन शाश्वत तत्त्वों का समावेश होता है और मानव के **'जगद्रूप'** में किन क्षणभंगुर वस्तुओं का समावेश होता है। तथा विश्वरूप कैसा शाश्वत है और जगद्रूप नश्वर क्यों है।

भूमि, वृष्टिजल, सूर्यप्रकाश, वायु और आकाश विश्वरूप में हैं, अतः ये सबके लिए समान हैं, वस्तुतः ऐसा ही है और यह सत्य भी है, परन्तु मानवोंने अपनी कृतिसे ऐसे कृत्रिम बनावटी भेद निर्माण किये हैं, जिससे भूमि, जल, प्रकाश, वायु और आकाश सब मानवों को समानतया नहीं मिलते हैं।

यही एकमात्र कारण मानवी दुःखका है, जो कारण केवल मनुष्यनिर्मित ही है, क्योंकि एक को सूर्यप्रकाश कम और दूसरे को अधिक यह भेद विश्वनिर्मित नहीं है, यह मनुष्य-निर्मित है। इसीलिए विश्वसृष्टि के नियमानुसार रहने से अखंड सुख और मानवनिर्मित जगद्व्यवहार के अंदर फंस जानेसे अनंत दुःख होता है। स्वयं मनुष्य ही इस का निर्माता है और वही मनुष्य इसका परिहार करनेवाला भी है।

वेदने अनेकवार ईश्वर **'विश्वरूप'** है, ऐसा कहा, उसका ठीक ठीक अर्थ पाठकों के सामने यहां रख दिया है। विश्वरूप की जगद्रूपके साथ जो भिन्नता है, वह भी यहां दर्शायी है। और विश्वरूप का ईश्वर के साथ सम्बन्ध कैसा है और जगद्रूप के साथ मानव का सम्बन्ध कैसा है, यह सब यहां दर्शाया गया है। पाठक इसका विचार करेंगे, तो विश्वरूप सत्य, सनातन है और जगद्रूप नश्वर क्षणभंगुर असत्य और मिथ्या है, इसका पता उनको लग सकता है। इसीलिए वेदने ईश्वर का नाम **'विश्वरूप'** रखा है। यह बात विशेष ही बुद्धिमत्ता की है।

'विश्व और जगत्' का यह भेद पाठकोंके मनमें जब आ जायगा, तब वे इन शब्दों का ठीक ठीक प्रयोग कर सकेंगे और वेदके विश्वरूपवर्णन का रहस्य भी जान सकेंगे। इससे जगद्विषय से बंधन और विश्वरहस्य से मोक्ष की संभावना किस तरह हो सकती है, यह बात विस्पष्ट हो जायगी।

देखिये सब मनुष्योंके लिये संपूर्ण भूमि है। यह विश्व-रूपव्यवस्था है। इसके बाद मानवों की व्यवस्था शुरू हो जाती है। मानवों ने जगत् की रचना अपने स्वार्थ से की है। यह भूमि इन लोगों की है, वह भूमि उनकी है, इस घरकी मलकियत इसकी है, वह उसकी है। इस तरह भू-विभाग होने से कई लोगोंने अपने अधिकार में बहुत भूमि कर ली और दूसरों को रहनेके लिये भी स्थान रखा नहीं। इसी तरह उपभोगों में विषमता पैदा की गई है। इससे व्यक्तिव्यक्तिके, घरघरके, देशदेशके और राष्ट्रराष्ट्रके संघर्ष चल रहे हैं और प्रतिदिन बढ रहे हैं। इन सबके कारण पाठक ढूंढने लग जायंगे, तो उन को उक्त कारण मनुष्य-निर्मित जगद्व्यवहार में हि दिखाई देंगे। उन का एक भी कारण ईश्वर के विश्वरूप में नहीं दिखाई देगा। ईश्वरका विश्वरूप शुद्ध चेतन निर्दोष दुःखहीन है, और मानवोंका जगद्रूप अशुद्ध अज्ञानी दोषमय और दुःखमय है।

इसलिये पाठक यह कदापि न समझे कि जो हमारे आंखसे दीखता है, वह सब जैसा हम देख रहे हैं, वैसा का वैसा ईश्वर का विश्वरूप है। जो दीखता है वह टुकडों के रूपमें दीखता है। मैं अलग हूं, दूसरा अलग है, तीसरा इनसे भिन्न है, यह अलग अलग सत्ता दीखती है, अतः यह विश्वरूपदर्शन नहीं है। जिस दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु अलग अलग दीखती है, वह दृष्टी जगदृष्टि है, वह सदोष दृष्टि है। जिससे सब वस्तु एक रूपमें दिखाई देते हैं, वह विश्वरूप दृष्टि है और वही शुद्ध दृष्टि है।

इस दृष्टिसे विश्वरूप की एकता प्रतीत होती है और जगद्रूप की विभिन्नता दूर हो जाती है। दृष्टि शुद्ध होनेसे यह अनुभव आ सकता है। मनुष्य की दृष्टि जन्मसे जगद्व्यवहार में फंसने से वह विश्वरूप के एकत्वका ज्ञान शीघ्र लेनेमें असमर्थ हुई है। इसीलिये वेद के विश्वरूपके मंत्र सामने आनेपर भी उनका ठीक ठीक अर्थ वह जान

नहीं सकता। इतना मिथ्या ज्ञान का लेप इसकी बुद्धिपर लगा है।

इसलिये विश्वरूप-दृष्टिका उदय होनेका उपाय सोचना चाहिये। विश्वरूप-दृष्टिहि दिव्य दृष्टि कहलाती है। उसकी प्राप्तिका उपाय सोचना चाहिये।

यदि मनुष्यनिर्मित सब विकृति को त्यागकर विश्वसृष्टि का शुद्ध स्वरूप ही देखनेका यत्न मनुष्य करने लगेगा, तो उस को विश्वरूप-दृष्टि प्राप्त हो सकती है। जैसा जेवरोंका भेद त्यागनेसे केवल सुवर्णका शुद्ध रूप सम्मुख उपस्थित हो सकता है। इसमें आभूषण मानवनिर्मित हैं और शुद्ध सुवर्ण ईश्वरनिर्मित विश्वरूप वस्तु है। इसी तरह विभिन्नताके सब कारण दूर होंगे और शुद्ध विश्वरूपमें सत्य, सनातन ईश्वर-स्वरूप हमारे सामने आ सकता है। पाठक थोडासा विचार करेंगे, तो उनको इसका मार्ग दीख सकेगा. निःसंदेह यह कठिन है, परंतु यह दृष्टि इस तरह विचार करने से अवश्य प्राप्त हो सकती है। इसका विशेष विचार अगले लेख में करेंगे।

वेदके विषयमें कुछ थोडासा ज्ञान।

वेद एक है या चार हैं ?

वेद के विषय में कुछ सत्य ज्ञान प्राप्त करने के समय सबसे प्रथम 'वेद एक है' अथवा 'वेद चार हैं,' किंवा 'वेद अनंत है' इस विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। इस समय सर्वसाधारण जनता में वेदके विषयमें बडा ही अज्ञान फैला है, इतना ही नहीं, प्रत्युत जो लोग सनातन वैदिक धर्म के पूर्ण अभिमानी समझे जाते हैं, उनमें भी वेद के विषय में अशुद्ध विचार सुदृढ हुए हैं। कई मानते हैं कि, 'वेद चार हैं' और वे परस्पर विभिन्न हैं, उनका कोई परस्परसंबंध नहीं है जिस वेद का जो अनुयायी होगा, वह उसका अध्ययन करे उसको दूसरे वेद का दर्शन करने की भी आवश्यकता नहीं है। कई धार्मिक लोगोंका ऐसा ख्याल है।

कई दूसरे लोग मानते हैं, कि चार वेद तो मुख्य हैं, पर उनकी शाखाएँ परस्पर विभिन्न हैं। शाखासंहिताओं का अध्ययन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह विलक्षण मत प्रचलित हुए हैं। इस कारण अखिल वेदका अध्ययन करनेकी परिपाटी टूट गयी, इससे वैदिक धर्म की बडी भारी हानि हुई है। ऋग्वेदका अध्ययन महाराष्ट्र मे इस समय में है, परन्तु पचास वर्ष पूर्व जितना था, उसका सौवां भाग भी इस समय नहीं है। अथर्ववेद का अध्ययन तो प्राय लुप्त ही हो गया है। कुछ दोचार पंडित काशी में तथा अयोध्या में हैं। सामवेद का अध्ययन भी प्राय: लुप्त ही हुआ है, गुजरात, म्हैसूर तथा उसके आस-पास के प्रदेश में, तथा काशी में थोडासा अध्ययन है। शाखासंहिताओं में से दक्षिण देश में केवल तैत्तिरीय संहिता का अध्ययन है, माध्यंदिन, काण्व आदि शाखाओं के विद्वान् क्वचित् नासीक के पास हैं। शेष शाखाओंका अध्ययन प्राय. लुप्त ही हुआ है।

इतना अध्ययनलोप हुआ है, तो भी वेदधर्मियों को इस विषयमें कोई खेद नहीं होता है और इसके अध्ययन के लिये कोई किसी जगह प्रयत्न भी नहीं हो रहा है, इतना ही नहीं, परन्तु इन उपलब्ध शाखाओं के ग्रन्थ शुद्ध मुद्रित अवस्था में मिलने चाहिये, इतनी भी इच्छा किसी जगह नहीं दीखती है!! किसी भी अन्यधर्म के धर्मग्रन्थ के विषय में इतनी उदासीनता नहीं है, जितनी वेदधर्म के ग्रन्थों के विषयमें इस समय दीख रही है।

वस्तुत देखा जाय, तो इस समय वेदधर्म के यशके लिये कट मरनेके लिये लाखों लोग तैयार होंगे, वेदको बुरा शब्द कहा जाय, तो सहन करनेके लिये कोई तैयार नहीं होगा, वेदके यश की रक्षा करनेके लिये लाखों रु० का व्यय करनेके लिये लोग तत्पर रहेंगे, परन्तु वेदोंको परिशुद्ध अवस्थामें मुद्रित करनेके लिये, उनके सत्य अर्थ की खोज करने के लिये, उस कार्य के लिये अत्यंत आवश्यक साधन निर्माण करनेके लिये किसी प्रकार कोई व्यय नहीं करेंगे!! और न कोई इसका प्रयत्न करेंगे! ऐसी विचित्र अवस्था इस समय हुई है।

प्राचीन परिपाटी के अनुसार देखा जाय, तो यह कार्य घरानेंके सुपुर्द किया गया था, ऐसा प्रतीत होता है। 'वेदी' इस नामके कई ब्राह्मणों के घराने हैं। ये घराने अति प्राचीन होंगे, इसमें संदेह नहीं है। जिस समय एकही 'वेद' था, एक वेदके चार वेद बने नहीं थे, उस समय उस एक वेदका आमूलाग्र अध्ययन करने का भार अपने सिर पर लेनेवाले ये 'वेदी' घरानेके लोग हैं। 'वेदी' का अर्थ 'वेद जिनके पास है, वेद का अध्ययन जो करते हैं।'

एक वेदके चार वेद जिस समय वेदव्यासने अध्ययन के सुखार्थ किये, उस समय 'चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी' ये घराने निर्माण हुए। अपनी शाखा का अध्ययन, तो प्रत्येक द्विजके लिये अत्यंत आवश्यक ही था, वह तो हर एक द्विज गुरुकुल में या घरमें करता ही था, द्विजत्वसिद्धि के लिये यह तो अत्यंत ही आवश्यक था। और इतना स्वशाखासंहिता का अध्ययन सब द्विजों के

लिये अत्यंत आवश्यक होनेके कारण वह तो प्रत्येक द्विज करता ही था। इसीसे वह 'द्विज' कहलाता था। 'ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, अथर्ववेदी' ये इसके नाम थे, जो किस संहिताका अध्ययन उसने किया है, इसके दर्शक नाम थे। इसके पश्चात् और इससे अधिक जिन्होंने दो, तीन अथवा चार वेदों का अध्ययन किया हो, उनको 'द्विवेदी, त्रिवेदी, और चतुर्वेदी' कहा जाता था। यह तो विशेष विद्वत्ताकी पदवियाँ होती थीं। पर आज इन कुलोंके नाम 'दुबे' या 'दु-बे' 'तिवे, ति-बे, तिवाडी (त्रिवेदी का बिगडा नाम), तथा 'चौबे, चौबे' हो चुके हैं। एक, दो, तीन या चार वेदोंके अध्ययन का तो कहीं पता भी नहीं है, पर शुद्ध नामों का भी पता नहीं! वेदाध्ययन की अवस्था कहांतक बिगडी है, इसका पता इससे लग सकता है।

एक वेद का तो अस्तित्व भी नहीं रहा। जो संभवतः व्यासजी के पूर्व ब्रह्माजीके समय होगा, तो होगा। चार वेदों का भी यथायोग्य अध्ययन नहीं रहा! अब जो रहा है, वह नाममात्र वैदिक धर्म का अभिमान! यदि इतनी उदासीनता और विमुखता रही, तो वह भी स्थिर रहेगा या नहीं, इस विषयमें बडा ही सन्देह है। क्योंकि इस समय जो वेद का अभिमान धारण करते हैं, वे भी अध्ययन करने की इच्छा तक नहीं करते! वे समझते हैं कि वेद का अध्ययन तो कोई ऋषि आवेगा और वह करेगा।

वेदके धर्म के लिये कितना घोर भयानक समय आ गया है देखिये। जैन, बौद्ध, ख्रिस्ती और मुसलमानी इन धर्मों की ओर आप देखेंगे, तो उन में समग्र मूल धर्मग्रन्थ का अध्ययन किये विद्वान् आपको कई मिलेंगे। केवल 'वेद' का ही एक ऐसा धर्म इस समय इस भूमण्डलपर है कि, जिसके मूल धर्मग्रन्थ 'पवित्र वेद' का आमूलाग्र अध्ययन किया हुआ विद्वान् एक भी नहीं है। और आमूलाग्र अध्ययन करनेकी इच्छा भी नहीं है! अन्य धर्मके मूल ग्रन्थ के अनुवाद-प्रामाणिक अनुवाद-अनेक हो चुके हैं, पर वेद का प्रामाणिक अनुवाद अब तक नहीं हुआ, इतनाही नहीं, प्रस्तुत चारों वेद अतिशुद्ध छापे भी कहीं नहीं हैं!! और यदि इस विषय में किसीने यत्न किया, तो वही बुरा समझा जाता है! कई सनातन धर्म के वैदिक तो वेदका मुद्रण करना भी पाप समझते हैं, यहां तक अज्ञान फैला हुआ है! ये लोग वेद का कण्ठ करनाही पुण्यकारक मानते हैं, मुद्रण करना और अनुवाद करके प्रकाशित करना अनवश्यक मानते हैं। इतनी अपने पूज्य धर्मग्रंथ के विषय में किसी दूसरे लोगोंकी उदासीनता नहीं है।

वेदका अर्थज्ञान।

वेदका अर्थज्ञान प्राप्त करना चाहिये, यह अतिप्राचीन कालसे विद्वान् लोग मानते आये हैं। स्वयं निरुक्तकारने ही कहा है कि—

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते।
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ (निरुक्त० १।१७)

"जो वेदका अर्थ जानता है, उसे सकल कल्याण प्राप्त होता है, वह ज्ञानसे पवित्र होता हुआ, स्वर्गधाम को प्राप्त करता है।" निरुक्तकार यास्काचार्य के पूर्व भी शाकपूणी, गर्ग, और्णनाभ आदि कई निरुक्तकार वेद का अर्थ करने का कार्य करते रहे। श्री सायणाचार्यके पूर्व भी कई भाष्यकार हुए थे। संवत् की १४ वी शताब्दीमें सायणाचार्य हुए, उवटाचार्य का समय ११ वी शताब्दी माना जाता है, महीधराचार्य का समय सायणमाधव के पश्चात् का है। ये प्राचीन लोग वेद का अर्थ करना आवश्यक मानते थे।

प्रजापति कश्यपने सर्वप्रथम वेदका अर्थ जाननेके लिये शब्दकोश निर्माण किया, जिसका नाम 'निघण्टु' है, इसी पर श्रीयास्काचार्यने जो भाष्य किया, वही निरुक्त है, जो आजकल मिलता है, अन्य निरुक्त करीब लुप्त हो चुके हैं। प्रजापति-कश्यपका काल बहुत ही प्राचीन माना जाता है। कश्यपका आश्रम भारतवर्षके बाहर था। कई मानते हैं कि जिस कश्यप ऋषिके नामसे पृथ्वीका बोध होता है और 'काश्यपी पृथ्वी' कहा जाता है, वह ऋषि कास्पीयन समुद्र के पास रहता था। क्योंकि उनसे सम्बन्ध रखनेवाले दानव आदि देश वहीं हैं। प्रथम निरुक्तकार कश्यप यही था, यह हमारा आग्रह नहीं है। परन्तु वह बडा प्राचीन है, इसमें संदेह नहीं है।

इस कश्यप ऋषिसे सायन-महीधर-उवट आदि आचार्य तक जो विद्वान् हुए, वे वेदका अर्थ बतलाने का यत्न करते आये हैं, फिर पचास वर्ष पूर्व हुए श्री स्वा० दयानन्द सरस्वतीजीने वेद का ज्ञान फैलाने के लिये जो प्रयत्न किया, वह निःसंदेह माननीय है, परन्तु वह आधुनिक है। इनके सिवाय इस समय श्री बाबु अरविंद घोष राजयोगीजीने अंग्रेजी में विशेष रहस्योद्घाटन करने का बडा प्रशंसनीय कार्य किया है । आजकल भी इनके अतिरिक्त अनेक अनुवाद अनेक भाषाओंमें वेद पर हुए हैं। अर्थात् वेद का अर्थ जनता तक पहुंचानेके लिये हर समय प्रयत्न होता आया है।

श्रीमद्वेदव्यासजीने जो महाभारत की रचना की, वह भी वेदका अर्थ कथा के रूपसे दर्शाने के लिये की थी, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें निम्न लिखित प्रमाण मिलता है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥२५॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ॥
(श्री० भागवत १-४)

कहा जाता है कि, श्रीमद्व्यासदेवजीने पुराण और उप-पुराण रचे और वेद का तात्पर्य दर्शाने के मुख्य उद्देश से महाभारत की रचना उन्होने की । महाभारत पढ कर समझ लिया, तो पाठकों को वेद का तात्पर्य ठीक प्रकार समझ में आ सकता है, ऐसी व्यवस्था महाभारत में है।

अस्तु । यह कहांतक सत्य है, यह एक खोज करने-वाली बात है। परन्तु इससे निःसन्देह यह कहा जा सकता है, कि गत पांच सहस्र वर्षोंसे अनेक विद्वान् वेद का अर्थ करते और दर्शाते आये हैं। इस समय में भी यहां के आर्यावर्त के लोग ही नहीं, प्रत्युत यूरोप, अमरिका के विद्वान् वेदों का अर्थ करने के यत्न में हैं और जितना परिश्रम इन युरोपीय विद्वानोंने किया है, उससे सौवा भाग भी भारतीय विद्वान् अबतक कर नहीं सके हैं। सचमुच भारतीय विद्वानों के लिये यह लज्जा का विषय है, परन्तु इस समय कई संस्थाएं वेद की खोज करने के लिये भारतवर्ष में स्थापित की गई हैं और वहां स्थायी रूप से वेद की खोज का कार्य चल रहा है, यह एक आनन्द की बात है।

मन्त्रशक्ति ।

वेद के मन्त्रों में मन्त्रशक्ति है, ऐसा कई लोग कहते हैं। अर्थात् मन्त्रका जाप विशिष्ट संख्या में होनेसे जपकर्ता को वह शक्ति प्राप्त होती है, ऐसा इन लोगों का ख्याल है। इसी आशय को लेकर वेदानुयायी ग्रन्थों में कई मन्त्रों का जाप करने की बडी लम्बीचौडी विधि भी लिखी है। तथा वेदके छन्दऋषिदेवता लिखनेवालोंने कई स्थानपर यह सूक्त या मन्त्र सर्पविष दूर करनेवाला है, यह वृश्चिक-विषका शमन करता है, यह कामिलारोग को दूर करता है, यह ज्वरघ्न है, यह वातरोगका नाशक है, ऐसा अनेकों सूक्तोंपर लिखा है। आजकल के कई लोग इस को एकदम असत्य कहते हैं, प्राचीन धर्माभिमानी लोग कहते है कि, मन्त्र में शक्ति है, परन्तु हमें वह प्राप्त नहीं होती, क्योंकि हम कमजोर हैं।

ये दोनों मत अविचारकी बुनियाद पर आरूढ हुए हैं। वस्तुतः इस विषय का अनुष्ठानपूर्वक अनुभव लेना चाहिये और जो बात अनुभव में आ जायगी, उतनीहि बोलनी चाहिये। इस विषयका अनुष्ठान करनेवाले लोग स्वाध्याय-मण्डल के अन्दर है और इनके अनुभव को हम यथा शास्त्र लिखकर रखने का कार्य कर रहे हैं। इसका पर्याप्त-अनुभव आनेतक हम इस विषयपर बहुत लिखना नहीं चाहते। परन्तु गत दो वर्षोंके कईयोंपर लिये अनुभव से हम इतना कह सकते हैं कि, मन्त्रों में जप से उत्पन्न होने-वाली कुछ शक्ति अवश्य है। हमारे पास इस समय इसका अनुभव लेनेवाले केवल ५।६ साधक हैं। यदि इसकी खोज करनेवाले अनुभव लेनेके इच्छुक और अधिक बाहर रहकर अनुष्ठान करनेवाले मिल जायगे, तो बडा कार्य हो सकता है। यहां हम इतना ही इस समय कह सकते हैं कि, इस विषय की जो खोज यहां हम कर रहे हैं, जब कुछ विशेष अनुभव आ जायगा, तब हम अवश्य उसका प्रकाश कर देंगे।

तथापि हम जपसिद्धि के विषय में इस समय बहुत बल देना नहीं चाहते। यदि एक ही सिद्धि प्राप्त हुई

तो अन्य सिद्धियां भी प्राप्त हो सकती हैं। इस समय हम जो बल देना चाहते हैं, वह वेद के अर्थविषयक खोजपर है। यदि यह सहज होनेवाली बात भी हम सिद्ध कर सकेंगे, तब तो आगेके अन्य कार्य शनैःशनैः होते रहेंगे। वेदोंका सत्य अर्थ वेदान्तर्गत प्रमाणों से बतानेके साधन-ग्रन्थ निर्माण करना, यह सबसे प्रथम करने का हमारा-कार्य है। क्योंकि हमारे धर्म का मूल वेद है, अतः धर्म जानने के लिये वेदका अर्थ जानना अत्यंतहि आवश्यक है-

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । (मनु० २।६)

'अखिल वेद धर्म का मूल है।' अतः यह धर्मका मूल धार्मिकों को जानना अत्यंत आवश्यक है। इसके विना कार्य नहीं चल सकता। सत्य धर्म को जानने के लिये इसी कारण प्रयत्न होने चाहिये। आजकल तो नये ढंगसे वेदका अध्ययन नहीं हो रहा है, और प्राचीन ढंग तो कई वर्ष पूर्वहि छूट गया है! इससे आजकल ऐसी अवस्था आ चुकी है, कि मूल वेदका ज्ञान किसी को नहीं है और वेदका स्मृतियों से कैसा संबंध है इसका भी ज्ञान किसी को नहीं है। परन्तु न जानते हुए हर एक मनुष्य वेदके विषय में कुछ न कुछ बोलताही रहता है।

वेद एक है या चार ?

इस समय विचारणीय प्रश्न यह है कि वेद एक है वा चार हैं ? वेदत्रयी भी कहते है, तो क्या वेद तीनही हैं ? ये प्रश्न यौंही टालनेवाले नहीं है। महाभारतमें कहा है--

विव्यास वेदान् यस्मात् स
तस्माद्व्यास इति स्मृतः॥ (महाभारत आ० ६४।१३०)

"जिस कारण एक वेदको व्यस्त किया, उस कारण कृष्णद्वैपायन को व्यास कहने लगे" यहां व्यासने एक वेदको व्यस्त किया, यह बात मानी गयी है। पहिले वेद एक था, व्यस्त करने के पश्चात् वेद अनेक हुए, यह इस कथन का तात्पर्य है। श्रीमद्भागवत् में भी विशेष स्पष्टताके साथ यही बात कही है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥
(श्री. भागवत् ९।१५)

'प्राचीन समयमें वेद एक ही था, देव भी एक ही माना जाता था, और अग्नि भी एक ही था, तथा वर्ण भी एकहि था।' प्राचीन समयमें वेद एक था, उसको कृष्ण-द्वैपायन व्यासने व्यस्त किया, और एकके चार वेद बनाये। ऐसा करनेका कारण भी लिखा है, पहिले मनुष्य बुद्धि-मान थे, बहुत ब्रह्मचर्य पालन करके विद्याभ्यास करते थे, इसलिये साग्र वेदका अध्ययन वे कर सकते थे। परन्तु कलियुगमें लोगोंकी आयु, शक्ति, मेधा, और बुद्धि घट गयी, इसलिये अध्ययन साग्र होनेकी संभावना नहीं रही, इसलिये दयालु व्यासदेवने अध्ययन करनेकी सुगमताके लिये वेदोंके विभाग किये।

यज्ञ में हौत्र, आध्वर्यव, औद्गात्र और ब्राह्म नामक चार कर्म होते थे और उन कर्मों में कुछ विशिष्ट मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। हौत्र के मन्त्र इकट्ठे किये, उनका नाम '**ऋग्वेद**' रखा, आध्वर्यव के मन्त्रों के संग्रहका नाम '**यजुर्वेद**' हुआ, औद्गात्र के मन्त्रसंग्रहको '**सामवेद**' कहने लगे और ब्राह्ममंत्रसंग्रह '**अथर्ववेद**' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

आजकल इन संहिताओंमें भी हम देखते हैं कि, सामवेद मंत्र ७५ मंत्रोंके सिवाय शेष सबके सब मंत्र ऋग्वेद के ही हैं। यजुर्वेदमें ८०० मंत्र ऋग्वेदके हैं और अथर्ववेदमें २००० मंत्र ऋग्वेदके हैं। इससे भी पता लगता है कि, मूल एक ही वेद होगा, जिसके चार वेद अध्ययन के सौकर्यके लिये किये गये होंगे। प्रारम्भसे ही ऐसे चार वेद होते, तो इतने मंत्र पुनःपुनः आनेकी आवश्यकता न होती। आजकलकी वेदमंत्रोंकी व्यवस्था यज्ञपद्धतिके ही अनुसार की गई है। परन्तु वेदका एकमात्र उद्देश्य यज्ञ ही है, यह मंत्रके अर्थसे सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये हम कह सकते हैं कि, वेद तो विशेष ज्ञान देनेके लिये प्रवृत्त हुए थे, उन सबका एकदम अध्ययन होना, उन लोगों के लिये कठिन हुआ, इसलिये वेदव्यास के समय जिस यज्ञपद्धति के अनुसार वेद-पाठ होता था, उस पद्धति के अनुसार वेदों के चार पुस्तक वेद-व्यासने संपादित किये। अर्थात् इस संग्रह पर याज्ञिक पद्धति की अधिक छाया है। इसलिये यह '**यज्ञपद्धति-मन्त्रसंग्रह**' है, ऐसा हम कह सकते हैं।

आज यदि कोई वेदका अध्ययन निष्पक्ष होकर करने लगे, तो उसको उसी समय पता लगता है कि, जिस यज्ञकर्म में इन मन्त्रोंका उपयोग होता है, उस यज्ञकर्म का मन्त्रों के अर्थ के साथ कोई संबंध ही नहीं है। अर्थात् मन्त्र यज्ञकर्म में अर्थ की अनुकूलता से नहीं लगाये गये, प्रत्युत उस समय की परिपाटीसे लगाये गये हैं। इतनाही नहीं, प्रत्युत कई स्थानों में अर्थका बिलकुल ध्यान न करते हुए ही यज्ञकर्म में मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। इसलिये सबसे प्रथम बडी खोज करके अन्तर्गत प्रमाणों से वेदका सरल अर्थ निश्चित करना चाहिये और याज्ञिक पद्धति का विचार करना हो, तो वेदमन्त्रों को अलग रीतिसे पुनः संग्रहित करना चाहिये। अर्थात् जो यज्ञ वेदमंत्रों के अर्थसे सिद्ध होंगे, उतने यज्ञ तो मानने ही चाहिये, परंतु जो वेदमन्त्र अर्थ से यज्ञ का प्रतिपादन नहीं करते, उनको स्वतंत्र अस्तित्व उनका विचार अलग करना चाहिये।

आजकल जो मन्त्रसंग्रह की व्यवस्था है, वह अर्थ की दृष्टिसे नहीं है। अर्थात् सूक्तोंका पूर्वापर सम्बन्ध कोई नहीं है। इसका उदाहरण देखिये—

ऋग्वेद प्रथम मण्डल।

सूक्त	ऋषि	देवता	मन्त्रसंख्या
१	मधुच्छन्दाः	अग्निः	९
२	,,	वायुः	३
		इंद्रवायू	३
		मित्रावरुणौ	३
३	,,	अश्विनौ	३
		इन्द्रः	३
		विश्वेदेवाः	३
		सरस्वती	३
४	,,	इंद्रः	१०
५	,,	,,	१०
६	,,	,,	
		मरुतः	१०
७	,,	इन्द्रः	१०
८	,,	,,	१०
९	मधुच्छन्दा	इन्द्रः	१०
१०	,,	,,	१२
११	,,	,,	८
१२	मेधातिथिः	अग्निः	१२
१३	,,	,,	१२
१४	,,	विश्वेदेवाः	१२
१५	,,	ऋतवः	१२
१६	,,	इन्द्रः	९
१७	,,	मित्रावरुणौ	९
१८	,,	ब्रह्मणस्पत्यादयः	९
१९	,,	अग्नामरुतौ	९
२०	,,	ऋभवः	८
२१	,,	इन्द्राग्नी	६
२२	,,	अश्विनौ आदयः	२१
२३	,,	वाय्वादयः	२४
२४	शुनःशेपः	अग्न्यादयः	१५
२५	,,	वरुणः	२१
२६	,,	अग्निः	१०
२७	,,	,,	१३
२८	,,	इन्द्रादयः	९
२९	,,	इन्द्रः	७
३०	,,	इन्द्रादयः	२२
३१	हिरण्यस्तुपः	अग्निः	१८
३२	,,	इन्द्रः	१५
३३	,,	,,	१५
३४	,,	,,	१२
३५	,,	अग्न्यादयः	११
३६	कण्वः	अग्निः	२०
३७	,,	मरुतः	१५
३८	,,	,,	१५
३९	,,	,,	१०
४०	,,	ब्रह्मणस्पतिः	८
४१	,,	वरुणादयः	९
४२	,,	पूषा	१०
४३	,,	रुद्रादयः	९

सूक्त	ऋषि	देवता	मन्त्रसंख्या
४४	प्रस्कण्वः	अग्निः	१४
४५	,,	,,	१०
४६	,,	अश्विनौ	१५
४७	,,	,,	१०
४८	,,	उषा	१६
४९	,,	,,	४
५०	,,	सूर्यः	१३
५१	सव्यः	इन्द्रः	१५
५२	,,	,,	१५
५३	,,	,,	११
५४	,,	,,	११
५५	,,	,,	८
५६	,,	,,	६
५७	,,	,,	६
५८	नोधा	अग्निः	९
५९	,,	,,	७
६०	,,	,,	५
६१	,,	इन्द्रः	१६
६२	,,	,,	१३
६३	,,	,,	९
६४	,,	मरुतः	१५
६५–७३	पराशरः	अग्निः	१० (प्रत्येक सूक्त)
७४	गोतमः	अग्निः	९
७५–७८	,,	,,	५ (प्रत्येक सूक्त)
७९	,,	,,	१२
८०	,,	इन्द्रः	१६
८१	,,	,,	९
८२	,,	,,	६
८३	,,	,,	६
८४	,,	,,	२०
८५	,,	मरुतः	१२
८६	,,	,,	१०

सूक्त	ऋषि	देवता	मन्त्रसंख्या
८७	गोतमः	मरुतः	६
८८	,,	,,	६
८९	,,	विश्वेदेवाः	१०
९०	,,	,,	९
९१	,,	सोमः	२३
९२	,,	उषादयः	१८
९३	,,	अग्नीषोमौ	१२
९४	कुत्सः	अग्निः	१६
९५	,,	,,	११
९६	,,	,,	९
९७	,,	,,	८
९८	,,	,,	३
९९	कश्यप.	अग्निः	१
१००	ऋज्राश्वादयः	इन्द्रः	१९
१०१	कुत्सः	,,	११
१०२	,,	,,	११
१०३	,,	,,	८
१०४	,,	,,	९
१०५	त्रितः	विश्वेदेवाः	१९
१०६	कुत्सः	,,	७
१०७	,,	,,	३
१०८	,,	इन्द्राग्नी	१३
१०९	,,	,,	८
११०	,,	ऋभवः	९
१११	,,	,,	५
११२	,,	अग्न्यादयः	२५
११३	,,	उषादयः	२०
११४	,,	रुद्रः	११
११५	,,	सूर्यः	६
११६	कक्षीवान्	अश्विनौ	२५
११७	,,	,,	२५
११८	,,	,,	११
११९	,,	,,	१०

सूक्त	ऋषि	देवता	मन्त्रसंख्या
१२०	कक्षीवान्	अश्विनौ	१२
१२१	,,	विश्वेदेवाः	१५
१२२	,,	,,	१५
१२३	,,	उषा	१३
१२४	,,	,,	१३
१२५	,,	दानं	७
१२६	,,	,,	७
१२७	परुच्छेप	अग्निः	११
१२८	,,	,,	८
१२९	,,	इन्द्रः	११
१३०	,,	,,	१०
१३१	,,	,,	७
१३२	,,	,,	६
१३३	,,	,,	७
१३४	,,	वायुः	६
१३५	,,	,, आदय·	९
१३६	,,	मित्रावरुणादयः	७
१३७	,,	,,	३
१३८	,,	पूषाः	४
१३९	,,	देवाः	११
१४०	दीर्घतमाः	अग्निः	१३
१४१	,,	,,	१३
१४२	,,	,,	१३
१४३	,,	,,	८
१४४	,,	,,	७
१४५	,,	,,	५
१४६	,,	,,	५
१४७	,,	,,	५
१४८	,,	,,	५
१४९	,,	,,	५
१५०	,,	,,	३
१५१	,,	मित्रादयः	९
१५२	,,	,,	७

सूक्त	ऋषि	देवता	मन्त्रसंख्या
१५३	दीर्घतमाः	मित्रादयः	४
१५४	,,	विष्णुः	६
१५५	,,	,,	६
१५६	,,	,,	५
१५७	,,	अश्विनौ	६
१५८	,,	,,	६
१५९	,,	द्यावापृथिवी	५
१६०	,,	,,	५
१६१	,,	ऋभवः	१४
१६२	,,	अश्वः	२२
१६३	,,	,,	१३
१६४	,,	देवाः	५२
१६५	इन्द्रादयः	मरुत्वानिन्द्र	१५
१६६	अगस्त्यः	मरुतः	१५
१६७	,,	,,	११
१६८	,,	मरुतः	१०
१६९	,,	इन्द्रः	८
१७०	,,	,,	५
१७१	,,	मरुतः	६
१७२	,,	,,	३
१७३	,,	इन्द्रः	१३
१७४	,,	,,	१०
१७५	,,	,,	६
१७६	,,	,,	६
१७७	,,	,,	५
१७८	,,	,,	५
१७९	,,	रतिः	६
१८०	,,	अश्विनौ	१०
१८१	,,	,,	९
१८२	,,	,,	८
१८३	,,	,,	६
१८४	,,	,,	६

सूक्त	ऋषि	देवता	मन्त्रसंख्या
१८५	अगस्त्यः	द्यावापृथिवी	११
१८६	,,	विश्वेदेवाः	११
१८७	,,	,,	११
१८८	,,	(आप्री)	११
१८९	,,	अग्निः	८
१९०	,,	बृहस्पति	८
१९१	,,	अप्तृणसूर्यः	१३

ये ऋग्वेद प्रथम मण्डलके सूक्त हैं। इनमें पाठक देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, किसी एक प्रकरणमें प्रथम बहुत मंत्रसंख्यावाले सूक्त रखे है और आगे क्रमशः कम मंत्रसंख्यावाले सूक्त रखे गये हैं। उदाहरण के लिये सूक्त १२ से २१; २४ से २९; ३१ से ३५; ५१ से ५७; ५८ से ६०; ६१ से ६३; ८० से ८३; ९४ से ९८; ११६ से ११९; १२९ से १३४; १४० से १५०; १७३ से १७८; १८० से १८४ ये सूक्त देखिये। क्रमशः मन्त्रसंख्या कम हुई नजर आवेगी। एकही देवता में यह बात विशेष स्पष्ट होगी। एकही ऋषिके मन्त्रों में प्रथम अग्नि के मन्त्र रहते हैं, पश्चात् इन्द्र के तथा अन्यान्य देवताओं के रहते हैं। इन में स्पष्टतया प्रथम बहु मन्त्र-संख्यावाले सूक्त आते हैं। पश्चात् अल्प संख्यावाले आते हैं। सर्वत्र ऋग्वेद में यही मन्त्रसंख्या से सूक्तक्रम रखा है। जहां इस क्रम के विरुद्ध कुछ सूक्त दिखाई देंगे, उन सूक्तों में अनेक देवता होंगे, विविध देवता होंगे, ऋषि बदले होंगे, या इसी प्रकार का कुछ अन्य कारण अवश्य होगा। इससे पता चलता है कि, यह अर्थानुसंधान से सूक्तप्रकरण नहीं रखे हैं, परन्तु केवल मन्त्रसंख्या के अनुसंधान से ही रखे हैं।

अथर्ववेदमें भी पहिले सात काण्डोंमें इसी तरह सूक्तों की मंत्रसंख्या से संग्रह किया गया है।

काण्ड	१	४ मंत्रवाले	अधिक सूक्त	हैं।
,,	२	५ ,,	,,	
,,	३	६ ,,	,,	
,,	४	७ ,,	,,	
,,	६	३ ,,	,,	
काण्ड	७	१ या २ मंत्रवाले	अधिक सूक्त	हैं।
,,	८; ९	२० से अधिक	,,	,,
,,	१०	३० से ,,	,,	,,

इस प्रकार काण्ड के काण्ड सूक्तमें मंत्रसंख्या कितनी है, इस कारणसे हि इकट्ठे संग्रहित हुए हैं। इस कारण प्रत्येक काण्ड में औषधिसूक्त, जलसूक्त, अग्निसूक्त, चिकित्सासूक्त आदि इतस्ततः बिखरे दिखाई देते हैं।

ऋग्वेद के पहिले सात काण्ड ऋषिक्रमसे संग्रहित किये गये हैं—

मंडल		ऋषि	सूक्तसंख्या	मंत्रसंख्या
द्वितीय	,,	गृत्समद	४३	४२९
तृतीय	,,	विश्वामित्र	६२	६१७
चतुर्थ	,,	वामदेव	५८	५८९
पंचम	,,	अत्रि	८७	७२७
षष्ठ	,,	भरद्वाज	७५	७६५
सप्तम	,,	वसिष्ठ	१०४	८४१

ये मण्डल प्रायः बढती सूक्त और मन्त्रसंख्या के दीखते हैं, एक स्थानपर थोडासा व्युत्क्रम भी है।

प्रथम मण्डल सूक्तसंख्या १९१ और मंत्रसंख्या २००६ है।
दशम ,, ,, ,, १९१ ,, ,, ,, १७५४

अष्टम मण्डल कण्व का दीखता है और प्रथम मण्डल मधुच्छन्दा का है, तथापि इन में अनेक अन्यान्य ऋषियों के देखे मन्त्र आये हैं। ये मन्त्रसंग्रह 'आर्षेय-संहिता' के दर्शक हैं। नवम मण्डल सोमदेवता का है, और इस को 'दैवत-संहिता' का सूचक मान सकते हैं।

इस तरह ऋग्वेद में दोनों प्रकार के मन्त्रसंग्रह दीखते हैं, पहिले ७ मण्डल 'आर्षेय' हैं और नवम मण्डल 'दैवत' है। अर्थात् ऋग्वेद की यह व्यवस्था बतलाती है कि वेदमन्त्रों का अध्ययन 'आर्षेय-संग्रह' की दृष्टि से भी करना चाहिये और 'दैवत-संग्रह' की दृष्टि से भी करना चाहिये।

चारों वेदोंके संपूर्ण मंत्रसंग्रह इन दो संग्रहों में बांटना चाहिये। अर्थात् एक ग्रन्थ ऐसा बनाना चाहिये, कि जिस में ऋषियों के क्रम से मंत्रसंग्रह होवे और दूसरा ऐसा हो

कि जिस में दैवतक्रम से मंत्रसग्रह हो। ऋग्वेद का इस समय का मंत्रसंग्रह दोनों प्रकार के मत्रसग्रहों की सूचना पर्याप्त प्रबलता के साथ देता है।

स्वाध्यायमण्डलद्वारा इस समय 'दैवत-संहिता' बनायी गयी है और उसका मुद्रण भी शुरू हो चुका है। इससे आगे एकदो मासोंमें हम अग्निदेवता के सब मंत्रोके सग्रह का ग्रन्थ पाठकों के सामने उपस्थित करेंगे। तत्पश्चात् इन्द्रदेवता के मत्र छापे जायगे। इस रीतिसे चारों वेदों की दैवत-संहिता हम सालभर के अन्दर ग्राहकों के पास पहुचायगे।

दैवत-सहिता बननेके पश्चात् जो वेदाध्ययन का सौकर्य होगा, आर सहजही से वेदका तत्वज्ञान के साथ पाठकोंको परिचय हो जायगा, उसका वर्णन इस समय करना योग्य नहीं है। यह तो अग्निमन्त्रो का ग्रन्थ जब पाठकों के हाथ में पहुचेगा, तब स्वय प्रकट होनेवाली बात है।

जैसी 'दैवत-सहिता' बननी चाहिये, इसी तरह चारो वेदोंकी मिलकर 'आर्षेय-संहिता' भी बननी चाहिये। उससे भी एक प्रकार की अध्ययन की सुबोधता होनेवाली है। परन्तु इस विषय में हम दैवत-संहिता का मुद्रण सपूर्ण रीतिसे तैयार होनेपर लिखेगे।

कई लोग 'दैवत-संहिता' और 'आर्षेय-सहिता' के बनाने की कल्पना से घबराते हैं। परन्तु ये दोनों मंत्रसंग्रह वेदके अन्दर स्वय वेदकर्ताने अशत. बनाये ही। जैसा कि नवम मण्डल केवल सोमदेवता के मन्त्रों के सग्रहसे बनाया है, यह सोमकी दैवत-सहिता ही है। जिस कारण वेदनेही सोमदेवता का सग्रह किया है, उसी मार्गसे चलते चलते हमने, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के मन्त्रों का सग्रह किया, तो उस में बिगडनेवाला क्या है? सोमदेवता के मन्त्र नवम मण्डल मे इकट्ठे मिलते हैं। इस संग्रह से अध्ययन करनेवाले को सुविधा होती है वा नहीं? यदि इस वैदिक सोमसंग्रह से अध्ययन की सुविधा हुई है, तो अन्य देवताओं के सग्रह से किस तरह हानि होनेकी सभावना है?

नवम मण्डल के सोममन्त्रसंग्रह के अध्ययन से जिस तरह सोमदेवता के स्वरूपज्ञान के लिये अध्ययन की सहायता होती है, इसी तरह अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के मत्रसग्रहों से देवताविज्ञान होने में निःसन्देह सहायता हो सकती है। और किसी तरह हानि की कोई संभावना नहीं है।

आर्षेय-सहिता तो वेदने प्रथम के सातआठ मण्डलोंमें बनाकर बतायीहि है। वैसी किसीने चारों वेदोंकी आर्षेय-संहिता बनायी, तो कोई हानि नहीं होगी, परन्तु बडा लाभ होनेकी संभावना है।

पाठक यह देखें कि ऋग्वेद में इन दोनों प्रकार की सहिताओं के बीज हैं, अर्थात् दैवत-सहिता भी नवम मडलमें है और आर्षेय-सहिता भी प्रारम्भके ७।८ मण्डलों में है। दैवत-सहिता बनानेकी कल्पना सबसे प्रथम इस नवम मण्डल के सोमदेवता के मंत्रसंग्रह को देखनेसे ही सूझी। यह वेदमूलक होनेसे यह वैदिक पद्धति ही है, और इसमें कोई दोष नहीं है।

कई लोग इस बातसे डरते हैं कि आगे यही सहिता प्रचलित होगी, क्योंकि इसमें सुविधा अधिक होगी। परन्तु हमारा ऐसा ख्याल नहीं होता है। जो प्राचीन आर्षपद्धति है, वही सदाके लिये रहेगी। हमने कितना भी यत्न किया, तो हमारी कृति ऋषियों की योग्यता को कभी पहुंच नहीं सकती।

दूसरी बात यह है कि, हम जो कर रहे हैं, वह वेदके अध्ययन की सुविधा के लिये कर रहे हैं, वेदके बदले या वेदके स्थान में इसका प्रचार हो इसलिये नहीं। इस लिये यहा केवल इस दैवत-संहिता का विचार इसी एकही दृष्टिसे करना चाहिये कि, यह दैवत-संहिता वेदाध्ययन में सुविधा कर सकती है वा नहीं? देवताओंके मन्त्र इतस्ततः बिखरे रहने से ठीक अध्ययन हो सकेगा, अथवा एक एक देवताके मन्त्र इकट्ठे रहने से अध्ययन करना सुगम हो जायगा। पाठक इस एकही दृष्टिसे इस दैवत-संहिता का विचार करें।

हमारा ख्याल यही है कि, दैवतसंहितासे ही वेदाध्ययन अधिक सुलभ हो जायगा। दस साल का कार्य ४ सालों में हो जायगा। आज जो वेदाध्ययन का डर लगता है और कुछ समझ में नहीं आता, वह डर हट जायगा, वह

सब अडचण हल हो जायगी। यह हमने अग्नि और इन्द्रके मन्त्रसंग्रहों का अध्ययन करके देखा है, और जिनको इस विषय में कुछ सन्देह होगा, वे अभी प्रकाशित होनेवाले अग्नि आदि देवताओं के मन्त्रसंग्रह देखनेसे सब सन्देहों की पूर्ण निवृत्ति हो जायगी। जो अपने आपको वैदिकधर्मी मानते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे वेदाध्ययन की सुविधा करने का यत्न करे, वही कार्य हम दैवतसंहिता के द्वारा कर रहे हैं।

जो लोग 'दैवत-संहिता' की कल्पना से डरते हैं, उनको इस बातका विचार करना चाहिये कि अध्ययनकी सहायता के लिये केवल एकही दैवत-संहिता का बनाना पर्याप्त नहीं है, परन्तु ऐसे अनेक ग्रंथ बनाने चाहिये। जो लोग एकही दैवत-संहितासे इतने डरते हैं, वे इन सब ग्रंथोंको देखनेसे कितने डरेंगे, यह समझमें नहीं आता।

क्या कभी वैदिक पदसूची, वैदिक शब्दकोश, वैदिक पदोंका निघण्टु ये ग्रंथ बननेसे कुछ बिगड गया है? हमारे समझमें तो इनसे कुछ न कुछ वेदाध्ययन की सहायता ही हो गयी है। इसी तरह निम्नलिखित ग्रंथ बननेसे और भी अधिक सहायता हो सकती है—

दैवत-संहिता
आर्षेय-संहिता,
छान्दससंहिता
श्रुतिमंत्रसंग्रह
आगम मंत्र संग्रह

इत्यादि ग्रंथोंके विषयमें हमने इसी वैदिक धर्मके पूर्व अंकमें 'वेदमंत्रोंका वर्गीकरण' शीर्षकलेखमें विस्तार पूर्वक लिखा है। पाठक इस लेख को वैदिक धर्म क्रमांक २२८ में पाठक देखें।

जो विद्वान् अध्ययन के साधन निर्माण करने में घबराते हैं, वे किस तरह वेदके प्रश्नोंका हल कर सकेंगे? तथापि सौभाग्य से हमारे पास सैंकडों विद्वानोंके पत्र आये हैं, जिनमें वे दैवत-संहिता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं।

हमारे पास एक भी ऐसा पत्र नहीं आया, कि जिसमें दैवत-संहिताका किसीने विरोध किया हो। जो पत्र हमारे पास आये हैं, वे कालेजों के प्रोफेसर, धर्मप्रचारक विद्वान्, शास्त्री, पंडित आदि बडे बडे विद्वानों के हैं। और ये सब के सब दैवत-संहिताके पक्षपाती हैं। इसलिये इनके शुभ आशीर्वादसे यह दैवतसंहिता मुद्रित हो रही है। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे कमसे कम अग्निदेवता का मंत्र-संग्रह तैयार हो जाने तक ठहर जांय। जब अग्निदेवता के मंत्र छप जायगे, तब उस ग्रन्थ का अध्ययन करें और पश्चात् अपना मत बनावें।

शाखाभेद।

वेदोंकी चारों संहिताओंके शाखाभेद बहुत हो गये हैं। ऋग्वेदकी ५ से २१ तक शाखाएँ विभिन्न विद्वानों द्वारा बतायीं जाती हैं, शुक्ल यजुर्वेदकी १६ और कृष्ण यजुर्वेदकी ८५ शाखाएँ अर्थात् यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ हैं, सामवेद की १००० शाखाएँ हैं और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं।

ये सब शाखाग्रंथ इस समय कहीं भी संपूर्णतया प्राप्त नहीं होते। इनमें कुछ शाखाएं उपलब्ध हैं। जितनी शाखाएं उपलब्ध हैं, उनसे अधिक और कुछ शाखाएँ भारतवर्षमें उपलब्ध होना संभव है। इस समय तक कपिष्ठल शाखा नहीं मिलती, ऐसा समझा जाता था, परंतु थोडे समय पूर्व लाहौरके खोज करनेमें प्रवीण पण्डित डॉ० रघुवीरजीने वह मुद्रित करके प्रकाशित की। इससे वह अनुमान और भी सुदृढ होता है कि शाखाग्रन्थ और भी इस भारतवर्षमें मिलना संभव है। यद्यपि युरोपीय विद्वानों ने इन ग्रन्थों के लिये पानी जैसा पैसा खर्च किया, तथापि भारतीय विद्वान् यदि प्रयत्न करेंगे, तो और भी ग्रंथ मिल सकते हैं।

यजुर्वेदवृक्ष।

'यजुर्वेदवृक्ष' नासीक में मिला, जो० वे० मू० यज्ञेश्वर दादाजी मैत्रायणीय, पंचवटी नासीकके पास था। जो डॉ० रघुवीरजी द्वारा 'वैदिक स्टडीज' नामक मासिक के १९३५ अप्रैलके अंकमें प्रकाशित हुआ। जो उस मासिक का अवलोकन कर सकते हैं, वे उस समग्र लेखको वहीं अवश्य देखें। हम उक्त विद्वानों का हार्दिक धन्यवाद करते हुए उस यजुर्वेदवृक्ष का संक्षेपसे यहां अनुवाद मूल-सूत्रों के साथ देते हैं, इसके पठनसे पता चलेगा कि, यजुर्वेदकी शाखाएँ कहां कहां तक फैली थी, देखिये यजुर्वेदवृक्ष कैसा है—

शुक्ल यजुर्वेदकी शाखाएँ।

[१] काण्वोंकी १५ शाखाएँ।

१. **काण्वाः कृष्णावेनाप्रदेशे-** कृष्णानदी और वेणा नदीके तटपर काण्वशाखा थी,

२. **कठाः गोदा दक्षिणे-** गोदावरी नदी के दक्षिण भागमें कठशाखा थी,

३. **पिञ्जुलकठाः, पिञ्जुलककठाः, क्रौञ्चदेशे-** क्रौंच पर्वत मानससरोवर के पास है। यह कैलास का एक भाग है। कुमायून प्रान्त में है। सांप्रतमें नितिपास (Niti Pass) करके जो प्रसिद्ध है, वहां यह पर्वत है, वहां इस शाखा के लोग रहते थे।

४. **जृम्भककठाः श्वेतद्वीपे-** तिब्बतकी पूर्वदिशामें श्वेतगिरी नामक पर्वत है, उसके पास यह शाखावाले रहते थे,

५. **औदलकठाः शाकद्वीपे-** मध्य आशिया खण्डके तुर्कस्तान और तार्तार देशमें इस शाखावाले यजुर्वेदी रहते थे,

६. **सपिछलकठा शाकद्वीपे-** (,, ,,)

७. **मद्गलकठाः काश्मीरदेशे-** काश्मीर में इस शाखाके विद्वान् रहते थे,

८. **शृंगलकठाः सृजयदेशे-** (इस देशका पता ठीक नहीं लगता, यह संजय है वा सृजय है, यह भी शंका है। इस नाम के लोग पांडवों के साथ लडते थे)

९. **सौभरकठाः सिंहलदेशे-** सीलोन, लंकाद्वीप में इस शाखा के लोग रहते थे,

१०. **मौरसकठाः कुशद्वीपे-** सांप्रत में अवध प्रांत में सुलतानपुर है, वही पूर्व समय का कुशपूर था। वही कुश राजाकी राजधानी थी। कुशस्थल, कनौज, कुशस्थली, कुशावती, द्वारका यह तो गुजरात की ओर है। इन स्थानों में यह शाखा थी। महाराष्ट्र सुप्रसिद्ध कोशकार **विद्यानिधि सिद्धेश्वर-शास्त्री चित्राव** अपने प्राचीन चरित्रकोश में पृ० ६६६ पर लिखते हैं कि यह कुशद्वीप **सहारा की मरुभूमि, सौदान, गिनी, कामेरुन, कांगो स्टेट्स, पश्चिम और दक्षिण अफ्रिका है।** स्व० इतिहासाचार्य **विश्वनाथ काशिनाथ राजवाडेजी** अपनी खोजपूर्ण लेख में कहते हैं, हिंदूकुश के उत्तर की ओर **कास्पियन समुद्र आरल पर्वत के मध्यका प्रदेश कुशद्वीप नामसे** प्रसिद्ध था। तीसरे महाराष्ट्रीय संशोधक श्रीयुत **वडेर** कहते हैं कि, काकेशस पर्वत के आसपासका प्रदेश कुश द्वीप कहा जाता था। इन में या इनमें से किसी एक देश में इस शाखावाले यजुर्वेदियोंका निवास था।

११. **चंचुकठाः चंचुलकठाः यवनदेशे-** यवनदेशमें यह शाखावाले रहते थे। वराहमिहिर अपनी बृहत्संहितामें (१४।१८ में) **कंचुक कठोंका स्थान** मध्य देशके नैऋत दिशामें था, ऐसा कहते हैं।

१२. **योगकठाः यवनदेशे-** (,, ,,)

१३. **हसलककठाः (दापिछलकठाः) यवनदेशे-** (,, ,,)

१४. **घैसलकठाः (सिंगलकठाः) सिंगलदेशे-** सिंहलद्वीप सीलोन- लंकाद्वीप में,

१५. **घोषकठाः क्रौंचद्वीपे-** (ऊपर क्रौंचद्वीपपर की टिप्पणी सं० ३ में देखो, इसके अतिरिक्त) **श्री० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव** अपने **प्राचीन चरित्रकोश** पृ० ६६६ पर लिखते हैं, कि यह क्रौंचद्वीप अलजीरिया, मोरोक्को, बार्बरी, भूमध्यसमुद्र का पूर्वीय भाग, उत्तर समुद्र, आयरिश समुद्र और रूसइन को छोडकर शेष युरोप क्रौंचद्वीप है। स्व० वि० का० राजवाडेजी अपनी खोज में सिद्ध करते हैं कि समरकन्द बुखारा के आसपास का प्रदेश क्रौंचद्वीप है।

इसका कारण इन्होंने यह दिया है कि यही बकपाक्षियों-क्रौंच पाक्षियोंका मुख्य प्रदेश है। इसीलिए इस देश का नाम क्रौंचदेश है। श्री० वडेर महाशय कहते हैं कि पूर्व तुर्कस्तान और उससे संम्बधित चीन का कुछ भाग क्रौंच द्वीप है।

म० विल्फोर्ड के मत से स्कंडिनेविया ही क्रौंच द्वीप है। इन में से कोई एक देश क्रौंचद्वीप होगा, जिस में इस शाखा के लोग रहते होंगे। (सं० ३ वाली टिप्पणी के साथ यह टिप्पणी देखी जावे)

इन काण्वशाखावाले १५ शाखाओंके स्थाननिर्देश इस वेदवृक्ष में कहे हैं।

[२] वाजसनेयी माध्यंदिनोंकी १७ शाखाएं।

१६. जाबालाः, नार्मदाः नर्मदाविन्ध्ययोर्मध्यदेशे- नर्मदा नदी और विंध्यपर्वत के बीच के प्रदेश में जाबालशाखावाले रहते थे,

१७. बौधेयाः, रणवटनामकाः, गोदामूलप्रदेशे- गोदावरीनदी के उगमस्थान के प्रदेश में बौधेय शाखावाले रहते थे,

१८. कण्वाः, कर्णवटा, गोमतीपश्चिमदेशे- कण्व, कर्णवट इस शाखा के अनुयायी गोमतीनदी के पश्चिम प्रदेश मे रहते थे। (गोमती नदी अवध, गोदावरी के उद्गमस्थान के समीप, गुजरात में द्वारका के पास, मालवा में चम्बल के पास, कांग्रा जीले में तथा अफगाणिस्तान में गोमल (Gomal) ऐसी बहुत स्थानों मे है। इन में से कौनसा स्थान यहां अपेक्षित है, इसका पता नहीं लगता। इस विषयकी खोज होनी चाहिये)

१९. माध्यंजनाः, शरयूतीरनिवासिनः- माध्यंजन शाखावाले शरयूतीपर रहते हैं।

२०. शापीयाः (शाबीयाः) नागरा अमरकण्टक-नर्मदा-मूल-वासिनः- गोंडवन में नागपूर जिले में मेकलपर्वत के पास अमरकण्टक स्थान है। यहां इस शाखा के लोग रहते थे।

२१. स्थापायनीया नारदेवाः (नारमदेवाः) नर्मदोत्तर देशे- नर्मदा नदी की उत्तर दिशा में इस शाखा के लोग रहते थे।

२२. कापारा भृगौडाः (गौडाः) मालवदेशे- मालवामें रहनेवाली यह शाखा है,

२३. पौंड्रवत्साः श्रिवाडानामका मालवदेशे- (,,)

२४. आवटिकाः श्रीमखा मालवदेशे- (,,)

२५. परमावटिका आद्यगौडाः गौडदेशे- गौडदेश में इस शाखावाले रहते थे,

२६. पाराशर्याः (पाराशराः) गौडगुर्जराः मरुदेशे- मारवाडमें इस शाखाके अनुयायी रहते थे,

२७. वैधेयाः श्रीगौडाः गौडदेशे- गौडदेशमें०,

२८. वैनेयाः कंकराः बौधपर्वते- इन्द्रप्रस्थके समीप बोधप्रदेश है, वहां यह शाखा थी,

२९. गालवाः गालवी सौराष्ट्रे- काठियावाडमें,

३०. औधेया औधेयाः गुरथी गुर्जरदेशे- गुजरातमें,

३१. वैजवाः बैजवाड नारायसरोवरे- कच्छके रणमें यह नारायणसरोवर है, उस सरोवरके समीप के प्रदेशमें यह शाखा रहती थी,

३२. कात्यायनाः नर्मदासंगमदेशे- नर्मदानदीके संगमप्रदेशमें कात्यायन शाखावाले रहते थे।

[३] जाबाल शाखाके २६ भेद।

३३. उत्कलाः उत्किलाः गौडदेशे,

३४. मैथिलाः विदेहदेशे- मैथिलमें,

३५. शबर्याः शार्वरीयाः मिश्रब्रह्मावर्तदेशे- ब्रह्मावर्त के पास,

३६. कौशीकाः बाल्हीक देशे- रावी नदी पंजाबमे है, इस नदीकी पश्चिम दिशामे सतलज और बियास ये नदियां हैं। इनके बीचके प्रदेशमें (Balkh) बाल्हीक प्रदेश है, वहां यह शाखा थी.

३७. तन्तिलाः सौराष्ट्र देशे- यह शाखा काठियावाड-में थी।

३८. बर्हिशीलाः बर्हिक काश्मीर देशे- काश्मीरमें,

३९. खेटकाः खैवट द्वीपावासदेशे- (क्या यह खैबर है?)

४०. औभिला हिमवद्दक्षिणदेशे- हिमालयके दक्षिण भागमें यह शाखा रहती थी।

(डाग्तिलाः डोतील हिमालय दक्षिण देशे)-

४१. गोभिलाः उभीलाः गण्डकीतीरदेशे- गण्डकी नदीके तीरमें इस शाखावाले रहते थे।

४२. **गौरवाः मद्रदेशे**- मद्रदेश रावी और चिनाब नदियोंके बीचमें है। (क्या मद्रास का कोई संबंध इस से हो सकता है?)

४३. **सौभीराः कौशिक देशे**- गंगानदीको मिलनेवाली कुशी नदीके पास का यह देश है । इसमें इस शाखावाले रहते थे ।

४४. **जृंभकाः आर्यावर्त देशे**- आर्यावर्तदेशमें,

४५. **पौंड्काः मिश्रकवसल देशे**- (खोज करनेयोग्य देश है)

४६. **हरिताः सरस्वतीतीरगाः**- सरस्वती नदी गढवालमें अलकनन्दा नदीको मिलनेवाली नदी है । गुजरातमें रैनाक्षी नदी है और सिवालिक पर्वत के पास सिरमौर पहाडसे उगम होनेवाली नदी भी इसी नाम की है । इनमेंसे कौनसा स्थान इस शाखावालोंका है, यह खोज करनेयोग्य विषय है।

४७. **शौंडकाः हिमवद्देशे**- हिमालयमें,

४८. **रोहिणमिश्राः गुर्जरदेशे**- गुजरातमें,

४९. **मामराः काश्मीर देशे**- कश्मीरमें,

५०. **लैगवाः कलिंग देशे**- कलिंग देशमें,

५१. **माण्डवाः गौडदेश**- गौडदेशमें,

५२. **मारवाः मरुदेशे**- मारवाडमें,

५३. **चौभगाः मथुरा देशे**- मथुराके पास,

५४. **टौनकाः नेपालदेशे**- नेपालमें,

५५. **हिरण्यशृंगाः मागधदेशे**- मगधमें,

५६. **कारुणिकाः मागधदेशे**- ,,

५७. **घुम्राक्षाः हिमवद्देशे**- हिमालयमें,

५८. **कापिलाः आर्यावर्तदेशे**- आर्यावर्तमें (विंध्य और हिमालयके बीचमें,)

इन शाखाओंके अनुयायी इन प्रदेशोंमें रहते थे ।

[४] गालवशाखाभेद २४ हैं।

५९. **काणाः कनवजाः गौडदेशे**- गौडोंके देशमें,

६०. **कुब्जाः कुलकाः मागधदेशे**- मगध देशमें,

६१. **सारस्वताः सरस्वतीतीरे**- सरस्वती नदी तीरपर,

६२. **अङ्गजाः अङ्गदेशे**- अंग देशमें,

६३. **वङ्गजाः वङ्गदेशे**- बंगालमें,

६४. **भृङ्गजाः भृंगाः भृङ्गदेशे**—

६५. **यावनाः यौवनाः सङ्गरदेशे**-

६६. **शैव्रजाः मरुदेशे**- मारवाडमें,

६७. **पालीभद्राः पारीभद्राः सिंगलदेशे**-

६८. **नैवलाः कूर्मदेशे**- कुमायून करके जो प्रदेश इस समय है, वही कर्मवान्, आ कूर्मांचल है । तथा जंगम जिलेमें चिककोलके पूर्वमें ८० मील दूरीपर कूर्मक्षेत्र है । संभवतः यह भी कूर्मदेश होगा । अन्वेष्टव्य है।

६९. **वैतानलाः नेपालदेशे**- नेपालमें,

७०. **जनिश्रवाः मत्स्यदेशे**- मत्स्यदेश जयपुर, अलवार और भरतपूर का प्रान्त है, वहां यह शाखा रहती थी ।

७१. **भद्रकाः बौध्यपर्वतदेशे**-

७२. **सौभराः** ,, ,,

७३. **कथिश्रवाः कुथिवश्रवाः हिमवद्देशे**- हिमालयपर,

७४. **बौध्यकाः बौध्यपर्वते**-

७५. **पाञ्चलजाः पाञ्चालदेशे**- पांचालमें,

७६. **ऊर्ध्वागजाः काश्मीरदेशे**- काश्मीरमें,

७७. **कुशेन्द्रजवाः कूर्मदेशे**-(६८ की टिप्पणी देखो)

७८. **पुष्करणीयाः मारवाडदेशे**- मारवाडमें,

७९. **जयत्रवाराः मरुद्देशे**-

८०. **ऊर्ध्वरेतरः** ,,

८१. **कथसाः काथसाः गोदादक्षिणभागे**- गोदावरी नदीके दक्षिण भागमें,

८२. **पालाशनीया**- (पळशी) गोदादक्षिणे देशे (,,)

सप्तषष्टि माध्यन्दिन संहिताः (६७), **याज्ञवल्कीय काण्वादयः पञ्चादशसंहिताः** (१५), = **मिलित्वा द्वयशीतिसंख्याकाः शुक्लयाजुषाः** (८२) ।

[५] कृष्ण यजुर्वेदः = तैत्तिरीया ८ अष्टभेदाः

१. **तैत्तिरीयाः तिरंगुलगोदादक्षिणदेशे**- गोदावरी नदीके दक्षिण प्रदेशमें,

२. **औख्याः आर्द्रजाः आन्ध्रदेशे**- आन्ध्र प्रान्तमें,

३. **काण्डिकेयाः तिरंगुलदक्षिण देशे**- तिरंगुलके दक्षिणदिशामें,

४. आपस्तम्बीयाः आन्ध्रदेशे-
५. बौधायनीयाः शेषदेशे (दक्षिण देशे)-दक्खनमें,
६. सत्याषाढीयाः देवरुखकृष्णातीरे- देवरुखमें, कृष्णा नदीके तटपर,
७. हिरण्यकेशीयाः परशुरामक्षेत्रे (कोंकणे)- कोंकणमे,
८. औधेयाः माल्यपर्वतदेशे- आनागोंदी विजया-नगर राज्यमें तुंगभद्रानदीके तीरपर,

आन्ध्रादिदक्षिणाग्नेयी गोदासागरआवधि।
यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्यं आपस्तम्बी प्रतिष्ठिता ॥
सह्यादिपर्वतारम्भात् दिशां नैऋत्यसागरात्।
हिरण्यकेशी शाखा च परशुराम-सन्निधौ॥

[६] चरकाणां द्वादश भेदाः (१२)

१. चरकाः पश्चिम देशे- पश्चिम देशमें,
२. आव्हरकाः नारायणसरोवरे (टिप्पणी ३१ देखो)
३. कठाः करध्न (कठ इति प्रसिद्धे) यवनदेशे- यवन देशमें,
४. प्राच्यकठाः प्राची-कठघ्न-यवनदेशे-
५. कपिञ्छ (कपिष्ठल) कठाः कपिच्छलकठघ्न (कपिष्ठलकठ) यवनदेशे-
६. चारायणीयाः यवनदेशे—
७. वार्तलवेयाः वार्तलवश्वेतद्वीपदेशे—
८. श्वेताः (श्वेतरी) श्वेतद्वीपे—
९. श्वेततराः श्वेततराणि श्वेतद्वीपे—
१०. औपमन्यवाः क्रौञ्चद्वीपे—
११. पाताण्डिनीयाः पाताण्डीन्यंचीमस्तेका इव पुराणदेशे- कश्मीर की राजधानी पुराणाधिष्ठान-पुराण देश यही है।
१२. मैत्रायणीयाः गोदादक्षिणे देशे—

[७] मैत्रायणीय भेदाः सप्त (७)

१. मानवाः सौराष्ट्रदेशे-- काठियावाड में,
२. दुन्दुभाः काश्मीरदेशे- काश्मीर में,
३. ऐकेयाः सौराष्ट्रे- काठियावाडमें,
४. वाराहाः मरुद्देशे- मरुभदेशमें,

५. हारिद्रवेयाः गुर्जरदेशे- गुजरातमें,
६. श्यामाः गौडदेशे—
७. श्यामायनीया गोदावरीतीरे- गोदावरी के तीरपर,

मयूरपर्वताच्चैव यावद्गुर्जरदेशतः।
व्याप्ता वायव्यदेशात्तु मैत्रायणी प्रतिष्ठिता॥
(महार्णव)

कृष्णयजुः

तैत्तिरायाः	८
चरकाः	१२
मैत्रायणीयाः	७
	२७

शुक्लयजुः

काण्वाः	१५
वाजसनेयाः	१७
जाबालाः	२६
गालवाः	२४
	८२

८२+२७=१०९ यजुर्वेद-शाखा.

इस तरह यजुर्वेद की १०९ शाखाओंकी नामावली इस यजुर्वेदवृक्ष से मिलती है। यह यजुर्वेद का वृक्ष है। इसी तरह ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के वृक्ष होंगे। यद्यपि उनका अबतक किसी को पता नहीं लगा; तथापि वे अवश्य किसी स्थान पर होंगे, हमारे पास सामवेद के वृक्ष का एक पृष्ठ वसई के किसी इसाई सज्जन से मिला था, परंतु उस पुस्तक में ऊपर के पृष्ठपर हि वेदवृक्ष करके लिखा था और अन्दर कुछ अन्य पृष्ठ मराठी ग्रंथके थे। इस विषय में आगे खोज करने से पता लगा कि, इस मुंबई के पास वसई आदि स्थानों में हजारहां सामवेदी रहते थे। वे जबरदस्ती से ईसाई किये गये, और उनके घर के सब वैदिक ग्रंथ जला दिये गये। पता नहीं, इस ईसाईयोंकी आसुरी लीला के भक्ष्य में कितने वैदिक ग्रन्थ नष्ट हुए होंगे।

पाठकों को उचित है कि, वे इस तरह के वेदवृक्ष किसी स्थानपर मिले, तो उनको प्रकाशित करें।

इस से पूर्व कुशद्वीप और क्रौंचद्वीप के विषय में कुछ लिखा गया है। शाकद्वीप और श्वेतद्वीप के विषय में महाराष्ट्रीय विद्वानों की खोज अब यहां लिखते हैं—

शाकद्वीप।

श्री० विद्यानिधि सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव लिखते हैं कि शाकद्वीप वह है कि, जो अतलान्तिक महासागर में समुद्र के अन्दर चला गया था। स्व० राजवाडे व श्री० वडेरजी की खोज से यह सिद्ध हुआ है कि, आजकल जिसको सिथिया कहते हैं, वही शाकद्वीप था।

श्वेतद्वीप।

आजकलका 'मादागास्कर' जो है, उसके पासका टापू श्वेतद्वीप है, ऐसा श्री० चित्रावशास्त्रीजी अपने प्राचीन चरित्रकोश के पृष्ठ ६६७ पर लिखते है।

उक्त खोज तीन बडे महाराष्ट्रीय विद्वानों की है। इस विषय में एकदम कुछ कहना कठीन है, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि यजुर्वेदियों का भूप्रदेश इस समय के अखिल भारतवर्ष से इस समयके हिन्दुस्तान से-बहुत ही दूरतक बाहर था। उक्त द्वीपोंकी मर्यादायें तो युरोप, अमरिका, अफ्रिका तक पहुंचती हैं। यवनदेश भी भारतवर्ष से बाहर ही है। उक्त प्रदेश कास्पियन समुद्र, दक्षिण रूस, पश्चिम और चीन का तुर्कस्तान आदि सब भूभाग यजुर्वेदियोंने घेरा था, ऐसा इससे प्रतीत होता है। यदि अन्य वेदों के वृक्ष मिल जांयगे, तो इस अनुमान की पुष्टि हो सकती है।

भारतवर्ष के चारों दिशाओं में करीब ५०० मीलतक यजुर्वेद की व्याप्ति हो चुकी थी, और इस प्रदेश में यजुर्वेद के मंत्र गाये जाते थे और यजुर्वेदमन्त्रों के साथ होनेवाले हवनसे इन देशों की हवा सुगन्धित होती थी, यह बात इससे स्पष्ट हो गयी है। तथापि अधिक प्रमाणों की खोज करनी आवश्यक है।

गणेशकी उपासना।

सूंडवाले गणेशकी उपासना भारतवर्षमें इस समय तक चल रही है। गत चारपांच वर्षोंसे हमने गणेशमूर्तियोंकी उपासना कहां कहां थी, इसकी खोज चलाई है। इस विषय की सामग्री जो मिली, उसका संग्रह करके हमारे मराठी मासिक 'पुरुषार्थ' में करीब ६०० पृष्ठोंके तीन अङ्क प्रकाशित किये। और हमारे पास इतनी सामग्री है कि जिससे और वैसे ५ अङ्क प्रकाशित हो सकते हैं।

इस खोजसे यह सिद्ध हुआ कि तुर्कस्थान, ईराण, अफगानिस्थान, बलुचिस्तान, तिब्बत, तार्तार, भूतान, चीन, जापान, ब्रह्मदेश, सयाम, जावा सुमात्रा, भारतवर्षके संपूर्ण प्रांत तथा मेक्सीको आदि देशों में प्राचीन समय सूंडवाली भारतवर्ष में जैसी गणेशमूर्ति है, वैसीही मूर्ति की उपासना थी। इन देशों में सूंडवाले गणेश की मूर्तियां, और गणेशके चित्र मिले हैं, और सब खोजकर्ताओंने स्वीकार किया है कि, ये सब चित्र गणेशजीके ही है।

इस गणेशोपासनाकी खोजसे यह सिद्ध हुआ कि, इन देशोंमें भारतवर्षीय इस गाणपत्यधर्मसंप्रदायका बडा घनिष्ट संबंध था। यदि इन देशों मे गणेशकी मूर्तियां मिलती हैं, तब तो वहां उनके साथ वेदोंके मंत्र अथवा यजुर्वेदी लोग पहुंचे होंगे, इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। आज इस यजुर्वेदवृक्ष से उस बातकी पर्याप्त पुष्टि हो रही है। सब देशोंमें कई ग्राम, पर्वत, नदियां आदिकों के नाम संस्कृत मिलते हैं, यह भी एक प्रमाण इस विषयमें आदरणीय हो सकता है जैसा—

Colambia कोलम्बिया (Col-amba-ia) = काल अम्बा-द्वीप। काल=महादेव, अम्बा=पर्वती, द्वीप दीय-इय =देश, प्रदेश। इस तरह सैंकडों नाम हैं, जो निःसन्देह वैदिक आर्योंके हैं। ऐसे नगर जिन्होंने बसाये होंगे, उन के साथ महादेव की उपासना, अम्बाकी उपासना, और इनके सुपुत्र गणेश की उपासना, और उन उपासकों के साथ वहां वेद पहुंचनेकी संभावना अवश्य दीखती है।

यद्यपि इतना तर्क करने तक हमें सामग्री मिली है, तथापि और विशेष खोजकी आवश्यकता है, इसमें संदेह नहीं है। यदि इतना मान लिया जाय कि, जितने देशोंमें यजुर्वेद की शाखायें हैं, ऐसा इस यजुर्वेदवृक्षसे पता चला है, और गणेशोपासना की खोजसे पुष्टि मिली है, उतना पृथ्वी का भाग यजुर्वेद की शाखाओंसे व्याप्त था, ऐसा माननेपर शाखाग्रन्थोंमें परस्पर पाठभेद क्यों हुए हैं, इसका पता सहजही से लग सकता है।

गोदावरी तीरपर एक शाखा है, हिमालय के किसी शिखर पर दूसरी है, तुर्कस्थान में तीसरी है और कास्पियन समुद्र के पास चौथी है, यह ऐसे समयमें है, कि जिस समय दैनिक डाक पहुंचानेके साधन उपलब्ध नहीं थे, मुद्रणयंत्र नहीं थे, मद्रास का वृत्त तुर्कस्थान में पहुंचने के लिये कितने वर्ष लगते होंगे, इस का निश्चित पता नहीं लगता। ऐसी अवस्थामें विभिन्न शाखाओं में अनेक पाठभेद उत्पन्न हुए, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इतने देशदेशांतर में रहते हुए, इन विभिन्न शाखाओं की विभिन्न संहिताओं में इतनी एकता रखी गयी है, यही बडे आश्चर्य की बात है।

मूल संस्कृत भाषा बिगडकरहि विभिन्न भाषाओं में कितने विभिन्न रूप बन गये हैं। ऐसी अवस्था में वैदिक संहिता में इतनी एकता रही, यही आश्चर्य है। इसलिये हमें अब संहिताओं का एकीकरण कर के मन्त्रोंकी एक **'दैवत-संहिता'**, और याजुष गद्यभाग की एक **'याज्ञ-संहिता'** बनानी चाहिये, और सब पाठभेद टिप्पणी में संग्रहित करने चाहिये। इससे वेद के अर्थ करने में बडी सुविधा होगी, और वैदिकधर्म का भी सत्य ज्ञान निश्चित रीतिसे हो सकेगा।

खोज करनेवालों को इस कार्य मे लगने की प्रेरणा हो, ऐसी प्रभु से प्रार्थना करके यहीं विराम करते हैं।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
ऋग्वेद-संहिता	३)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद (छप रहा है)	२)	॥)
४ अथर्ववेद ।	३)	॥)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥।)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	॥।=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ प्रथम काण्ड सजिल्द	२)	॥)
२ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
४ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
५ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
६ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
७ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
८ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
९ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
१० एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
११ द्वादश काण्ड ,,	२)	॥)
१२ त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
१३ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१४ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत ।	१॥।)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी) अ० १ से १८ सजिल्द	९)	१॥।)
महाभारतसमालोचना। (-२)	(१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक भा. (१-२-३)		॥।)
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
३ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
४ सुर्यभेदन-व्यायाय (,,)	॥)	॥)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	॥।)	।)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत ।	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला ।		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	।-)
बालकधर्मशिक्षा ।		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग ।	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला।		
१ वैदिक राज्यपद्धति ।	।)	-)
२ मानवी आयुष्य ।	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता ।	॥।)	≡)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र ।	।=)	-)
५ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
६ वैदिक सर्पविद्या ।	॥)	=)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	॥)	=)
८ शिवसंकल्पका विजय ।	॥)	=)
९ वेदमें चर्खा ।	॥)	=)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
११ तर्कसे वेदका अर्थ ।	॥)	=)
११ वेदमें रोगजंतुशास्त्र ।	≡)	-)
१३ वेदमें लोहेके कारखाने ।	।-)	-)
१४ वेदमें कृषिविद्या ।	≡)	-)
१५ ब्रह्मचर्यका विघ्न ।	=)	-)
१६ इंद्रशक्तिका विकास ।	॥)	=)
उपनिषद् माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केव उपनिषद् ।	१।)	।-)
१ वैदिक अध्यात्मविद्या	॥)	=)
२ गीता-लेखमाला १से७भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ यज्ञोपवीत संस्काररहस्य	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	॥)
६ भवतके भगवान्	।)	=)
७ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	॥।)	-)

वैदिक जीवन।

(लेखक- श्री० पं० मदनमोहन विद्याधर, स्नातक गुरुकुल कांगडी, बेज़वाडा)

द्वितीय अध्याय+।

१. शारीरिक स्वास्थ्य के नियम।

जीवन को सुन्दरता तथा सरलता से बिताने के लिये शरीरका स्वस्थ होना अत्यावश्यक है। शास्त्रों में कहा गया है कि " शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् " ' आरोग्यं सुखमुत्तमम्। ' स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहा करता है। जो व्यक्ति कृश है, रोगी है, वह सदा उदासा, मन मारा हुआ सा रहता है। न वह अपने ही लिये किसी काम आ सकता है, न परिवार, न समाज, न जाति, न देश और न मानव-जाति के कल्याणार्थ कुछ करने के योग्य होता है। बल्कि वह समाज में भारभूत होता है। वह स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रकारके सुखोंसे वंचित रहता है।

उस स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये कुछ बातें यहां पर लिखी जाती हैं।

[क] स्नान या जल के उपयोग के तरीके।

१. सदा शीतल जल से स्नान करना चाहिए। केवल रोग की दशा में कोसे जल से स्नान किया जा सकता है।

२. रोग की दशा को छोडकर प्रतिदिन स्नान अवश्य करने की आदत होनी चाहिए। शीत ऋतु में एक वार तथा ग्रीष्म ऋतु में दो या तीन वार स्नान करना योग्य है।

३. स्नान करते समय पहले सिर भिगोना चाहिए। प्रत्येक अंग को भली प्रकारसे साफ करना चाहिए। शरीर को भीगे तौलिए से रगडना चाहिए।

४. यदि नदी पास हो, तो उस में स्नान करना शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अत्युत्तम है।

५. व्यायाम, क्रीडा या वायुसेवन के बाद एक दम स्नान करना ठीक नहीं।

६. भोजन से तत्काल पूर्व व पश्चात् जल नहीं पीना चाहिए। भोजन करते समय बीच बीच में यदि प्यास प्रतीत हो, तो थोडा थोडा जल पीते रहना चाहिए।

७. भोजन के एक घण्टा पीछे जल पीने से अधिक लाभ होता है।

८. जल भी धीरे धीरे घूंट घूंट पीना चाहिए दबादब पीने की आदत अस्वास्थ्यकर है।

९. खेलकूद के बाद गर्मी के कारण प्यास लगने पर एकदम पानी पीना शरीर के लिए अच्छा नहीं।

१०. ग्रीष्म काल में बर्फ तथा सोडा पीने की आदत नहीं डालनी चाहिए, इससे प्यास तथा शुष्कता घटने के स्थानपर बढती है। पाचनशक्ति घट जाती है।

११. यदि नगर में कोई बिमारी हो, तो पानी को उबाल करके पीना चाहिए।

१२. प्रातः शौच से पूर्व जी भर पानी पीना पेट को साफ रखता है।

१३. जुकाम, खांसी में तथा भयानक शीतऋतु में यथासम्भव उष्ण जल का सेवन अत्युत्तम है।

१४. स्वभाव से चाय कॉफी या ओवल्टीनादि का पीना अत्यन्त अहितकर है। आदत पड जानेपर

+ प्रथम लेख ' वैदिक धर्म ' क्रमांक २३७, पृष्ठ ६३५ पर देखो।

भूख, प्यास और नींद कम हो जाती है, अण्डकोष निर्बल हो जाते हैं और मूत्र अधिक होता है।

१५. यथासम्भव दूध, लस्सी, शिकंजवी पीना ही सबसे अच्छा है।

१६. जल का उपयोग करते समय उसे साफ कर लेना चाहिए।

[ख] दन्तधावन।

१. प्रतिदिन प्रातः सायं दांतों का साफ करना जरूरी है।

२. कीकर या नीम की दातुन उपयोग में लानी अच्छी है। ब्रुश तथा टूथपेस्ट, टूथ पाऊडरादि का यथासम्भव कम प्रयोग करना चाहिए।

३. दांतों को इतना रगडना उचित नहीं कि मसूडें से छिल जाने से खून ही निकलने लग जावे।

४. दांत साफ करने के बाद जिह्वा साफ करनी चाहिए। बहुत नहीं रगडना चाहिए।

५. भोजन के बाद दांतों को पानी से भली प्रकार साफ करना चाहिए।

६. दूध पीने के कुछ देर बाद दांतों को अवश्यमेव पानी से साफ करना चाहिए।

७. यदि दांत हिलते हों तो रात को सोने से पूर्व नमकप्रयोग करना चाहिए। इस से दांत दृढ होने के साथ साथ प्रातःकाल शौच भी खुल कर होता है।

[ग] व्यायाम, क्रीडा, वायुसेवन।

१. खुली हवा में प्रतिदिन नियमित व्यायाम करना अनिवार्य तथा आवश्यक है। यथासम्भव व्यायाम में कभी भी नागा नहीं होना चाहिए।

२. रोग से एकदम उठने पर व्यायाम कभी भी नहीं करना चाहिए।

३. जितना जीवन में स्वाध्याय आवश्यक है, उससे अधिक व्यायाम की जरूरत है। क्योंकि यह उस का आधार है।

४. अपने शरीर की दशा तथा ऋतुनुकूल व्यायाम करनी चाहिए। दिन में किसी न किसी ढंग से शारीरिक श्रम होना आवश्यक है।

५. जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होने से भिन्न भिन्न प्रकार की कसरतें करनी चाहिए। स्त्रियों के लिए पृथक् सहल व्यायाम में हैं।

६. १० वर्षके बालक और बालिकाओं को अच्छी हवा में, जहां धूलि और धुआं फैले हुए न हों, पांव उठा उठाकर दौडाना चाहिये और अभ्यास कराना चाहिए।

७. १० वर्ष से अधिक आयुवालों के लिए इस समय नाना प्रकार के व्यायाम प्रचलित हैं। देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के व्यायामों मे से जो जिस के अनुकूल पडे उसे वे ही करने उत्तम हैं। परन्तु योगासनोंद्वारा व्यायाम की प्राचीन पद्धति सर्वोत्तम है। इन में भी शीर्षासन सर्वोत्तम आसन है। परन्तु इन आसनों को करते समय खानपान, रहनसहन आदि में बडी सावधानी की आवश्यकता है। शीर्षासन एक मिनिट से शुरू करके (आयु की दृष्टि से) १० मिनिट तक करना काफी है।

जिनकी आयु या अवस्था (रोगादि के कारण) ऐसी हो कि व्यायाम न कर सकें, उन्हें नगरसे बाहर जाकर वायुसेवन करना चाहिए और यथासम्भव ५ मील तक तेज की सैर करनी चाहिये और चलते हुए श्वास रोक रोककर लेना चाहिये।

८. व्यायाम करते करते शरीर में खूब गरमी और श्वास में खूब वेग आ जाना चाहिए। व्यायाम करते समय श्वास रोक रोक कर खूब गहरे श्वास भरने चाहियें। परन्तु व्यायाम करते समय हांफने की आवश्यकता नहीं। 'अन्धाधुन्ध' व्यायाम भी नहीं करते जाना चाहिये। जो भी व्यायाम की जावे, वह विधिपूर्वक की जानी चाहिए।

९. व्यायाम सदा खाली पेट करना चाहिए। उस के तत्काल बाद ४, ५ मिनट इधरउधर भ्रमणद्वारा विश्राम लेकर, कढा हुआ गर्म गौ (या भैंस) का दूध या देर का कढा हो तो गर्म कर के पीना

स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है ।

१०. जिस प्रकारका भी व्यायाम करें, उसके साथ यह दृढ मनोवृत्ति होनी चाहिए कि उनका स्वास्थ्य उत्तरोत्तर बढ रहा है। मन में संकल्प यह होना चाहिए कि उस क्रिया से लाभ हो रहा है।

११. दिमागी काम करनेवाले के लिए कुश्ती उपयोगी नहीं है।

१२. खुले मैदानों, पहाडों तथा उपवनों में जाकर गहरे श्वास लेने चाहिए।

१३. भ्रमण करते समय खूब तेज चाल से लम्बे लम्बे पग उठाते हुए चलना चाहिए।

१४ तंग गलीकूचों में रहना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकर है ।

१५ सोते समय झरोखे, रोशनदान तथा खिडकियां खुले होने चाहिए। सोते समय मुख ढांप कर सोना बहुत बुरा है।

प्रत्येक ऋतुमें सोते समय सदा मुंह खुला रख कर सोना चाहिए; मुंह ढांप कर सोने के बुरे अभ्यास से श्वास के द्वारा वही दुर्गन्धयुक्त वायु जो श्वास से विषैली होकर बाहर निकल गई थी फिर भीतर जाती है और इसी प्रकार बार बार जाती रहती है। उसका परिणाम यह होता है कि अशुद्ध वायुके द्वारा रक्त शुद्ध होने के स्थानपर और भी अधिक विषैला होता जाता है और फेफडे के कोष विकृत हो जाते हैं। इसलिए स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है कि पुरुष, स्त्री और बच्चे सभी को मुँह खोल-कर सोने का अभ्यास रखना चाहिए।

[ग] श्वास लेने के नियम।

सदा नाक से श्वास लेने का अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि श्वास लेने की इन्द्रिय नाक है, मुँह नहीं। जो इन्द्रिय जिस काम के लिए होती है, वह काम ठीक रीति से समाप्त होने का प्रबन्ध उसी में हुआ करता है, यह प्रसिद्ध ईश्वरीय नियम है।

१. पहली और मोटी बात यही है कि नाक के बाल अनुपयोगी अस्वास्थ्यकर वस्तुओं को भीतर नहीं जाने देते।

२. दूसरी बात यह है कि यदि कोई ऐसा कण बालों की सीमा उल्लंघन करके भीतर चला भी गया तो वह छींक के द्वारा बाहर निकल कर फेंक दिया जाता है।

३. तीसरी बात यह है कि फेफडोंके कोष अत्यंत कोमल होते हैं। वहां पहुंचनेवाली वायु को ऐसा शीतोष्ण (Temperature) होना चाहिए जिसे वे सह सकें। नाक में ऐसा प्रबन्ध है कि वायु श्वास के द्वारा जब अन्दर पहुंचता है तो नाकके भीतरके परदे (Mucus membrane) के संपर्क से वह अनुकूल शीतोष्णवाला हो जाता है और इस प्रकार फेफडों के कोमल कोषों को कुछ हानि नहीं पहुंचती। परन्तु मुंह में इन सब में से एक भी प्रबंध नहीं है, इसलिए नाक ही से श्वास लेना उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायु चाहनेवालों के लिए अत्यन्ता-वश्यक है।

[घ] भोजन के बाद सम्बन्ध में ध्यान देनेयोग्य बातें।

भोजनमात्रा में इतना और इस ढंग से करना चाहिए जिस से अजीर्ण न हो। भोजन के सम्बन्धमें इस देश में बडी असावधानी होती है, जिसके फलस्वरूपमें भारतदेश रोगोंका घर बना हुआ है और देशवासियों का स्वास्थ्य दिन व दिन खराब हो रहा है। भोजन का सुधार होना आवश्यक है। उसके सम्बन्ध में कुछ नियम हैं जिनके पालन से रोगों का निराकरण और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

१. भोजन नियत समय पर जितनी भूख हो उस से कुछ कम करना चाहिए। स्वादु भोजन अधिक नहीं करना चाहिए।

२. एक बार भोजन करने के बाद तीन घण्टे से पहिले कुछ भी, थोडी मात्रा में भी, नहीं खाना चाहिए।

३. भोजन प्रसन्नता के साथ करना चाहिए। जो लोग भोजन के समय उस को खराब बतलाते और उसमें अनेक त्रुटियां निकालते हुए वे मनसे भोजन करते हैं, उन्हें वह भोजन पचता नहीं।

४. भोजन खूब चबा चबा कर आराम से धीरे धीरे करना चाहिए। ईश्वर ने दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न किए हैं, एक वे जिनके दांत हैं, दूसरे वे जिन के दांत नहीं, जैसे-चिडिया आदि। जिनके दांत नहीं हैं उनके पेटों में एक प्रकार की पथरी (Gizzard) दी गई है, जिससे वे आंतों से दांतों का काम लेकर भोजन को पीस लेते हैं। मनुष्य दांत रखते हैं। इनके आमाशय में उपर्युक्त पथरी नहीं दी गई है, इसलिए उनको दांतों से भोजन खूब चबा चबाकर करना चाहिये। जिससे वह इतना बारीक हो जावे कि मुँह के भीतर निकलनेवाले लार [Saliva] से अच्छी तरह मिल जावे।

मुंह के भीतर छः ग्रन्थियां (Salivary Glands) हैं, जिनमें चार तो जिह्वा और जबडे के नीचे हैं और दो गलों में हैं। जिस समय मनुष्य भोजन करता है, तो इन ग्रन्थियों से लार निकलने लगती है और भोजन से मिलती है। भोजन के जितने छोटे छोटे सूक्ष्म कण हो जावेंगे उतनी ही अधिक मात्रा में लार उनसे मिल सकेगी और लार के मिलने ही से सुगमतासे पाचनक्रियाका प्रारम्भ होता है। जो पुरुष इस प्रकार भोजन करते हैं कि ग्रास न दांतोंसे पिसते हैं, न पर्याप्त मात्रा में लार उनसे मिलने पाती है, उन को भोजन पचता ही नहीं। भोजन के सम्बन्ध में पहली बात यह है कि वह शक्कर में परिवर्तित हो जावे। यह काम ग्रन्थियों से निकले हुए लार द्वारा हुआ करता है और उस समय तक बराबर होता रहता है जबतक कि भोजन आमाशय में नहीं पहुंच जाता है। जब भोजन आमाशय में शक्कर में परिवर्तित होकर पहुंच जाता है तब से आमाशय की सूक्ष्म नलियों से पाचक रस (Gastric juice) निकलकर मिलता है और इसी पाचक रस में एक और सूक्ष्म पाचक द्रव्य (Pepsin) होता है।

इस रस और इस पाचक द्रव्य के मिलने ही से भोजन पचता है। परन्तु ये पाचक रस और पाचक द्रव्य भोजनसे तभी मिलते हैं जब भोजन शक्कर में परिवर्तित हो चुका हो। यदि शक्कर में अपरिवर्तित भोजन आमाशय में पहुंचे, तो वह पचने के स्थानपर सडना शुरू हो जाता है और यही सडा हुआ भोजन आगे अन्तडियों में जाता है और उनमें ऐसी गन्दगी उत्पन्न करता है, जिस से (सडी गली वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाले कीडों के सदृश) अन्तडियों में भी केचुआ उत्पन्न हो जाता है; जिससे मनुष्य रोगी बना जाता है।

उधर आमाशय में सडे हुए भोजन का सडा भाग बाकी रहता है, जो नये आनेवाले भोजन से मिलकर उसे भी विषैला बना देता है और इस प्रकार स्थिर अजीर्णता हो जाती है और सारा शरीर इसी विषयुक्त भोजन से बने रक्तद्वारा विषयुक्त होता रहता है और अनेक रोग और व्याधियां शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं।

५. अजीर्ण में कुछ भी नहीं खाना चाहिये।

६. सप्ताह में, १५ दिन में या मास में एक बार उपवास स्वास्थ्यवर्धक है।

७. मोटे आटे की रोटी, हाथ का कुटा चावल, हरे ताजे शाक व सब्जियां और फलों का सेवन खूब करना चाहिए। दालों का प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिये।

८. हर एक ऋतु में उस ऋतु में उत्पन्न फल व सब्जी खाना लाभदायक है। बेमौसमी खाद्यपदार्थ खाना, बीमारी को बुलाना है।

९. बासा अन्न या किसी का उच्छिष्ट अन्न कभी नहीं खाना चाहिए। किसी को देना भी नहीं चाहिए।

१० खट्टे पदार्थ, तीखे पदार्थ अधिक खाना अच्छा नहीं है। इनके साथ दूध एकदम मत पीओ।

११. मूली, दही, पनीर इकट्टे नहीं खाने चाहिए।

१२. मांस तथा शराब का उपभोग स्वास्थ्य का नाश तथा बुद्धि को भ्रष्ट करता है। नशीली वस्तुयें, बीडी, सिगरेट, भांगा, अफीम, ताडी आदि का सेवन मनुष्य को कमजोर बनाता है।

१३. दिन में दो बार भोजन सर्वोत्तम है। बारबार खाना आमाशय को खराब करना है।

यदि इसके अतिरिक्त खाने की इच्छा हो, तो हलका जलपान, दुग्धाहार कर लेना उचित है।

१४. भोजन के तत्काल पीछे व्यायाम, दौडधूप, स्त्रीभोग, स्नान, चिन्ता, क्रोध करना अत्यन्त हानिकारक है।

प्रातःकाल भोजनानन्तर थोडासा बाईं करवट लेटकर आराम करना चाहिए।

सायंकाल के भोजन के पश्चात् थोडा शान्त परिभ्रमण करना चाहिए।

१५. उष्ण पदार्थ खाकर तत्काल ठण्डी वस्तु मत खाओ।

१६. भोजन से पूर्व तथा पीछे हाथ, जिह्वा, दांत, गला जल से खूब अच्छी तरह से स्वच्छ करो।

[ङ] कुछ अन्य बातें।

१. सोने से तीन घण्टे पूर्व भोजन करना चाहिए। खाने के एकदम बाद सोना अच्छा नहीं है। कम से कम दो घण्टे का समय भोजन तथा शयन के मध्य अवश्यमेव होना चाहिए।

२. रात को सोने से ठीक पूर्व दूध, जल, मिठाई न खाओ।

३. सोने से पूर्व मल-मूत्रत्याग आवश्यक है।

४. मलमूत्र के वेग को कभी मत रोको।

५. पीठ के बल या उलटा छाती के बल कभी नहीं सोना चाहिए। सदा करवट या पहलू के बल सोना चाहिए। विशेष कर जब कि स्वप्नदोष का रोग है।

६. सोने से पन्द्रह मिनट पहले दिमागी काम- सर्वथा छोड देना चाहिए। पढते पढते सो जाना भी अच्छा नहीं है। चिन्ता, क्रोध, निराशा तथा रोग की वार्ता शयनपूर्व नहीं होनी चाहिए।

७. सोने से पूर्व थोडे से गहरे श्वास, खुले स्थान तथा वायु में लेकर प्राणायाम करना चाहिए। मनपर जोर देकर कहो " मैं आज से बहुत गहरी नींद सोऊंगा। सोना मेरा स्वाभाविक अधिकार है। जो मेरी शक्ति क्षीण हो गई है, वह पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होने से मुझे पुनः प्राप्त हो जावेगी और मैं प्रातः दूने उत्साह, ताकत व स्फुर्ति से जगूगां। "

८. साधारण प्राणायाम तथा तेल की अभ्यंग मालिश अच्छी नींद लाती है।

९. रात्रि को सोते समय के तथा दिन में पहिरने के वस्त्र पृथक् पृथक् होने चाहिये।

१०. लेटे लेटे पढना आंखों की ज्योति को कम करता है।

११. बिस्तरे को सोने से पूर्व अच्छी तरह से झाडना चाहिए। सदा सफेद चादर बिछानी चाहिये। मैले वस्त्र कभी नहीं धारण करने चाहिये।

१२. सर्दियोंमें नंगे बदनपर सूर्यकिरणों का सेवन स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त लाभदायक है।

वेदोंका अपौरुषेयत्व

(लेखक- श्री० अप्रबुद्धजी, नागपुर; अनुवादक- श्री० रघुनाथ मुकुंद हुद्दार, बी. ए., बुलडाणा, बेरार.)

आज जिसे हिंदुधर्म कहा जाता है, उसका वास्तव में नाम 'वैदिकधर्म' है। जिन मूलतत्वोंपर इस धर्मकी रचना हुई हुई है, वे नैसर्गिक, स्वयंभू तथा अविनाशी होनेसे उन आधारभूत तत्वोंपर निर्माण हुआ हुआ यह वैदिक धर्मभी स्वयंसिद्ध नित्य अतएव सनातन है और इसी कारण इसे सनातन धर्मभी कहते हैं। परन्तु यह इसका स्वरूपलक्षण नहीं हो सकता, यह तो उसका एक परिणाम है। यह उसकी एक पदवी है। जिस प्रकार किसी को सिर्फ उसकी उपाधिसे पहचाना नहीं जाता, ठीक उसी प्रकार 'सनातन' धर्म 'कहनेसे भी इसके सच्चे स्वरूपका बोध नहीं होता, यह तो इसकी मूल-संज्ञा वैदिकधर्मसेही होती है; यद्यपि यह परिभाषा भी केवल सूत्ररूपही है, तथापि सूत्ररूप में परिपूर्ण है।

वेदको प्रमाण माननेवाला, वेदोंके आधारपर रचा हुआ, और वेदप्रतिपादित ध्येयको माननेवाला धर्म ही वैदिक धर्म है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' यही उसकी प्रतिज्ञा है। अतः वैदिकधर्मसम्बन्धी कोई भी चर्चा वेद पर पहले विचार किए बिना होही नहीं सकती। आजकल वैदिकधर्मके सम्बन्धमें अनेकानेक समस्यायें खडी होकर नये नये वाद उत्पन्न हो रहे हैं। अतः प्रथम इस-वास्ते यदि हमें उन समस्याओंको ठीक ठीक हल करना है, तो सबसे पहले हमें वेदोंपर विचार करना चाहिए। वेद क्या है यह ठीक तरहसे समझ लेना चाहिए।

अतः इस लेखमें वेदसम्बन्धी थोडीसी चर्चा करनेका विचार है। यद्यपि मेरा वेदविषयक इतनाभी परिचय नहीं है कि मैं वेदाभ्यासी कहा जा सकूं, तथापि पं० श्री. सातवळेकरजीकी आज्ञा की अवज्ञा मेरेसे न हो इसलिए इस वेदसम्बन्धी छोटेसे लेखमें वेदोंपर कुछ विचार करनेका सोचा है।

वेदसे किसका बोध होता है ?

'वेद शब्दसे' मूलसंहिता, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद् और वेदपरिशिष्ट इन सबका बोध होता है। इस में आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषदोंका भी समावेश होता है। इस वाङ्मयका उद्देश संहिताभागान्तर्गत मन्त्रों का धर्माचरण में उपयोग किस भांति करना चाहिये, यह बताना है। परिशिष्टों में दिये हुए मन्त्र मूल मण्डल में समाविष्ट न होनेपर भी वे वेदमन्त्र ही हैं ऐसा विश्वास है। इस कारण वेदवाङ्मय के वस्तुतः दोही भाग होते हैं और वे हैं-

(१) मन्त्र और (२) ब्राह्मण। इसलिए 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसी व्याख्याही उचित प्रतीत होती है।

मीमांसकोंने वेदमन्त्रों का विचार केवल यज्ञकी दृष्टिसे किया है, अतः उन्होंने औपनिषदिक तत्वज्ञानका कहीं भी विचार नहीं किया। इसका अर्थ यह नहीं होता कि मीमांसक इस तत्वज्ञान से सहमत न थे अथवा इस ज्ञानको वेद से बाहर का समझते थे। ब्राह्मणों में इस तत्वज्ञान का अन्तर्भाव नजर आता ही है।

चार वेद, तथा उनके ब्राह्मणभाग मिलकर इतना बडा वाङ्मयसंग्रह है और उस में इतने अधिक विषयोंकी चर्चा है कि उसके साथ यदि धर्म का संबंध न भी जोडा जाय, तो भी वह अनमोल है। आज तो ऐसी परिस्थिति हो चुकी है कि वैदिक वाङ्मय के अभ्यास के बिना किसी भी मनुष्य का ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। असंख्य मुखोंसे ज्ञानभंडार बढते रहने पर भी उसकी परिसमाप्ति तत्वज्ञान में होती ही है। तत्वज्ञानका गौरीशंकरशिखर भी वेदवाङ्मय में ही है।

इस तत्वज्ञानकी बात को छोड दिया जाय, तो भी इतिहास, मानवी संस्कृति, मानवस्वभाव, काव्य, भाषा इत्यादि अनेक शास्त्रोंको अभ्यासकों के उस वाङ्मयके पढे बिना चल नहीं सकता। इस में भक्ति के अन्दर रही हुई प्रेमभावना है, सुन्दर नीतितत्व हैं, व्यवहारज्ञान है,

मनोरंजक कथायें हैं; किंबहुना ऐसा कोई ज्ञान नहीं और न हो सकता है, जिसके विषयमें इन में थोडीबहुत चर्चा न हो।

परन्तु यह बात ध्यानमें रहे, वेदों को वैदिक धर्ममें जो महत्त्व प्राप्त है, वह इन कथाओं के कारण नहीं है । वे सब उत्तम एवं उपयुक्त हैं, इस में संदेह नहीं । परन्तु इन को विस्तार करनेवाले भारतादि दूसरे ग्रन्थ हैं ही और वे ग्रन्थ भी पवित्र मानेही जाते हैं ।

वेदों को महत्त्व प्राप्त है, वह इन सर्व ग्रन्थों से विशेष है। क्योंकि भारतादि ग्रन्थ कितने भी उच्च कोटीके हों और चाहे वे देवतुल्य व्यक्तिओं द्वारा निर्माण किये गये हों- किंबहुना प्रत्यक्ष देवोंसे ही चाहे इनकी रचना की हो, ऐसा भी मान लिया जाय- तथापि इन का कोई रचयिता है अवश्य, परन्तु वेदों के विषय में तो वैदिक लोगों की दृढ श्रद्धा है कि वेदों को किसने भी नहीं बनाया। वेद अनंत है और समयसमयपर उनका अंशतः प्रकटीकरण होता रहता है। इस दृष्टि से 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' ऐसा जो कहा जाता है, वह ठीक ही है। वैदिक लोग ईश्वर और वेद को एक ही रूप मानते हैं। ईश्वरने अपने अपने को बनाया यह कहना अगर युक्तियुक्त हो सकता है, तोही ईश्वरने वेद बनाये ऐसा मानना युक्तियुक्त होगा। अन्यथा ईश्वर जितना नित्य, अनादि, अनंत, स्वयंभू और प्रभावशाली है, उतनाही वेद भी नित्य, अनादि, अनंत, स्वयंभू और प्रभावशाली है। फिर चाहे वे प्रकट हों या छिपे हुए हों ।

भिन्न भिन्न मत।

वैदिक लोगों की वेदविषयक इस धारणाके कारण, और इस धारणाके पायेपर खडे किये गये वैदिकधर्ममें भी सहजही स्वयंभूता, नित्यता, शाश्वीयता और अतएव अपरिवर्तनीयता आई ।

वर्तमानकाल अनेक मतमतांतरों का है। वैदिक लोगोंकी वैदिक धर्मविषयक श्रद्धा एवं वे मूलभूत स्तंभ जिनपर वह श्रद्धा स्थित है, वह मतमतांतरप्रचारको चुभनेवाली है और वैदिक धर्मपर विश्वास रखनेवालों के लिये यह काल असदायक है, इस सम्बन्धमें कोई खास कहनेकी आवश्यकता नहीं ।

परन्तु इस प्राप्त परिस्थितिसे एक लाभ भी हुआ है। दोनों पक्षोंको अपने अपने सिद्धान्तों के समर्थनार्थ वेदोंका आधार लेना पडता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वेदाभ्यासविषयक जिज्ञासा लोगोंमें बढ रही है और गलत अथवा ठीक, किसी भी रीतिसे वेदवाक्यों का सम्बन्ध बार बार पढनेमें आते रहनेसे साधारण ज्ञान रखनेवाले पाठकों को भी वेदोंका विशेष परिचय होने लगा है। इस प्रकार यह वेदों का जो विशेष अभ्यास होने लगा है, उसमें मुख्यतया आजकल दो ही संप्रदाय दृष्टि पडते हैं ।

(१) आधुनिक संप्रदाय- इसे ऐतिहासिक संप्रदाय कहना उचित होगा। इस संप्रदायके लोगोंकी वेदाभ्यास-रुचि और अभ्यासपद्धति ठीक पाश्चिमात्य विचारप्रणाली और अभ्यासपद्धति से मिलती जुलती है और इस कारण यह संप्रदाय वेदोंका अपौरुषेयत्व मान्य नहीं कर सकता। यही नहीं, समाजकी पूर्ण परिपक्व अवस्थाके पुरुषोत्तम पुरुषोंके ये उद्गार हैं, ऐसा भी वह माननेको तैयार नहीं।

कुछ भी हो, ऐतिहासिक दृष्टिसे भी वेद-वाङ्मयका महत्त्व कितना अधिक है, इस विषयमें अब किसीको शंका नहीं रहीं। वेदोंको घडीभर मनुष्यकृति मानकर भी यदि उनका अभ्यास किया गया, तो भी उनसे अनेक लाभ होंगे।

(२) दूसरे संप्रदायमें उन लोगोंकी गणना होती है, जो वेदोंके तरफ उच्च दृष्टिसे देखते हैं। ये वेदोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं देखते और विचार करने में उनका अपौरुषेयत्व मान लेते हैं । लेकिन इस पक्षमें भी दो उपपक्ष हैं- एक वे जो वेदोंको संपूर्ण अपौरुषेय समझते हैं, और दूसरे वे जो ऐसा मानते हैं कि, यदि वेद अपौरुषेय न हुए तो भी उनकी रचना किसी दिव्य स्फूर्तिकी प्रेरणासे हुई है। यह दूसरा सम्प्रदाय और ऐतिहासिक संप्रदाय वस्तुतः एकही दृष्टिकोन से वेदोंको देखते हैं और इस कारण इस स्थानपर उनके सम्बन्ध में यहां विचार करना भी जरूरत नहीं । अब रहे, वेदोंको अपौरुषेय माननेवाले। इनमें भी दो पक्ष हैं, परन्तु हैं

दोनों ही महत्वके। उनमें से एक है—

(अ) वेदोंका अपौरुषेयत्व इस शब्दसमुच्चयसे क्या अर्थबोध होता है?

(ब) वेद अपौरुषेय मान भी लिये जांय, तो भी वेदों का कोई अर्थ है या नहीं, तथा ऐसे अर्थ होनेकी कोई आवश्यकता भी है या नहीं और यदि ऐसा अर्थ हुआ भी, तो उनका इस प्रकार अर्थ करना वेदोंके अपौरुषेयत्वसे विसंगत तो नहीं होता?

ये दोनों वैदिक धर्मकी दृष्टिसे कितने महत्वके हैं, यह पाठकों के ध्यान में आ गया होगा। इन प्रश्नोंके मिलनेवाले उत्तर परही धार्मिक दृष्टिसे ऐतिहासिक पद्धति की कीमत अवलंबित है। यदि वेद केवल मनुष्यकृति हैं, ऐसा तय हो पाया, तो निःसंदेह अर्वाचीन ऐतिहासिक पद्धतिको ही बुद्धिपूर्ण मानना पडेगा। और अगर किसी भी दृष्टिसे वेद अपौरुषेय सिद्ध हुए, तो फिर ऐतिहासिक पद्धति की भी उपयुक्तता सांख्ययोगसम्बन्ध में कही हुई श्रीमत्स्वामी शंकराचार्य की उक्ति '**येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनैव सावकाशत्वम्**' रह जायगी। इसलिये इस लेखमें ऐतिहासिक पद्धतिपर विचार न करके वेदोंकी अपौरुषेयता पर विचार करते हुए इतनाही देखना होगा कि उसका इससे कहीं विरोध पडता है या नहीं?

अपौरुषेयतावाद का स्वरूप।

वेदोंके अपौरुषेयत्वसम्बन्ध में वैदिक वाङ्मय में दो मुख्य वाद हैं। इनका स्वरूप बीजरूप से ऋग्वेदमें भी मिलता है। परन्तु इन के संपूर्ण स्वरूप का दर्शन प्रथमतः यास्काचार्य के निरुक्त में होता है। इस वाद के दोनोंही पक्षोंको वेदों की अपौरुषेयता मान्य थी। केवल अन्तर इतनाही था कि वेदके अर्थ हैं या नहीं और यदि हैं, तो वे अपौरुषेयता से टकराते तो नहीं? इस वाद से ही आगे चलकर वेदों की अपौरुषेयता क्या है, यह वाद निकला और उसको मीमांसकोंने अपने पद्धति से पूर्णता को पहुंचाया। तथापि उनकी पद्धति एकदेशीय होनेके कारण यह वाद अभीतक मिट नहीं सका है। और नहीं कोई विश्वासपूर्वक कहही सकता है कि यह कभी भविष्य में मिट सकेगा। प्राचीन ग्रंथोंमें इन वादग्रस्त प्रश्नोंपर स्वतंत्र पृथक् चर्चा की हुई नहीं मिलती। हम इन वादोंका अलग अलग स्वतंत्र अस्तित्व मान कर उनपर स्वतंत्र विचार करेंगे।

यास्कमुनिके लिखनेपर से ऐसा जान पडता है कि वेदोंके कुछ अर्थ नहीं हैं। सिर्फ मंत्रोंका भिन्नभिन्न कार्योंमें विनियोग करना ही उनका वास्तविक स्वरूप है, ऐसा एक संप्रदाय था और उसका बडा आचार्य उस समय कौत्स माना जाता था। रघुवंश काव्यमें, (जो पुराणोंके आधारपर रचा गया है) एक ऐसी कथा उपलब्ध होती है कि कौत्स नामका कोई एक वरतंतुका शिष्य था और इस शिष्यने दिग्विजयी रघुराजासे गुरुदक्षिणा मांगी थी। यह वही कौत्स है या नहीं, इस बातका फैसला करना ऐतिहासिकों का काम है।

परन्तु फिर भी उनकी पद्धति के अनुसार हम कह सकते हैं कि बहुत संभव है, रघुवंश की कथा के कौत्स मुनि यही हों। और यदि यही बात हो, तो कौत्स मुनि यास्काचार्य के बहुत पहिले हो गये, यह महत्वपूर्ण बात का पता चलता है। यास्काचार्य का समय शतपथादि ब्राह्मणों का था, यह बात उसी ग्रंथ में उल्लेखित ब्राह्मणवाद से सिद्ध होती है। शतपथ-कालनिर्णय ईसासे तीन हजार वर्ष पूर्व का किया जाता है (प्रमाण के लिये ऋग्वेद के सन्देश में परिशिष्ट देखिये।) कौत्स मुनि इक्ष्वाकुवंशज रामचंद्र से भी प्राचीन व्यक्ति थे और इस कथन से यह ज्ञात होगा कि हमारी शास्त्रपरंपरा कितने प्राचीन काल से अव्याहत चली आ रही है और मध्ययुगमें हमारी ग्रंथसंपत्ति का कैसा हृदयविदारक नाश हुआ है, इस बात का ख्याल अच्छी तरह से आता है।

कौत्स और यास्क।

यद्यपि कौत्स मुनि के ग्रन्थ आज हमारे सामने नहीं हैं, तथापि इस संप्रदाय के मुख्य सूत्र उपलब्ध हैं। यास्काचार्य के ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के तौरपर उसका जो उल्लेख मिलाता है, उस परसे स्पष्ट है कि वह उस के मत का सूत्ररूप से सारांश होना चाहिए। इस विचारप्रणाली का सार यह है कि '**अनर्थकाः हि मन्त्रा-नियतवाचो युक्तयो नियतानुपुर्व्या भवन्ति**'। ठीक

इसके विपरीत यास्काचार्य आदि का कहना है। यास्काचार्य स्वयं वेदोंके पौरुषेय अथवा अपौरुषेय वादमें पडे नहीं थे। इसका कारण यह है कि उनके मतानुसार वेदमन्त्रों का अर्थ करने में कोई हानि अथवा पाप नहीं और अर्थ किये जाने पर भी वेदों के अपौरुषेयत्व को कोई बाधा नहीं पहुंचती। केवल इतनाही नहीं, किन्तु इसी परंपरा के आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों में भी वेदों का अर्थ किया गया, इतना मात्र दिखला देनेसे उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता था। उसके निरुक्त परसे एक बातका ख्याल आता है कि वेदोंके अर्थ करनेके लिए उपयुक्त सामग्री उसने उसमें जमा की है।

यास्काचार्यके पूर्व भी कुछ वेदोंके अर्थ करनेवाले लोग हो गये थे। इससे ये दोनों संप्रदाय अति प्राचीन हैं और आज तक ये एकमत नहीं हुए हैं। इसमें दो कारण संभव हैं। एक तो यह कि—

(१) उपलब्ध वाङ्मय की विशेष प्रकारकी लेखन-पद्धति, और

(२) जिस मूल प्रश्नपर यह मंत्रार्थवाद अवलंबित है। अर्थात् शब्दोच्चार (मंत्र) महत्व का है या उसका अर्थ, यह बात जिस मूल प्रश्न पर अवलंबित है।

वह वेदोंकी अपौरुषेयतावाला प्रश्न तो अभी वैसाही अनिर्णित खडा है। पहले हमने कहा ही है, वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय, यह एक स्वतंत्र वाद है। उसमें- हम यहां स्वतंत्र रूपसे घुस नहीं सकते। क्योंकि उस वादका मूल मनुष्यकी इन स्थूल, इन्द्रियोंसे गोचर, इस विश्वसे परे कुछ है या नहीं, इसमें है। और इस विषयमें जो शंकाशील है, उनका समाधान केवल शास्त्र या युक्तिद्वारा होना सर्वथा असंभव है। उनके समाधानार्थ केवल एकही मार्ग है- और वह है-जैसे पाश्चात्य शास्त्रसंशोधना करनेवाले प्रयोगशालाओं में प्रयोग करके ग्रंथोंमें प्रतिपादित तत्वोंको साक्षात् इन्द्रियगोचर कर लेते हैं, वैसेही यह संशयात्मा भी बताये हुए तरीकों से प्रयोग करके अपनी संशय-निवृत्ति कर ले। यदि वह सच्चा जिज्ञासु होगा, तो इससे जरा भी न डरेगा, नहीं तो वह सच्चा जिज्ञासु ही नहीं। और ऐसी हालतमें उसके पीछे पडना भी फजूल है।

वाङ्मय का प्रसार।

उक्त दो वर्गों को छोड देनेपर शेष सब जिज्ञासुओंका समाधान युक्ति व वचनों की सहायतासे हो सकेगा। आजतक इस प्रकारसे समाधान किया भी जाता रहा है और इसी कारण जैसा पीछे बताया है, सुसंकृत शास्त्र-ग्रंथोंमें वचन तथा वचन को ठीक ठीक घटानेके लिए तद् योग्य युक्ति, इन दो को विशेष रूपसे महत्व देते हुए, एक विशेष प्रकार की महत्वपूर्ण लेखनपद्धति का स्वीकार किया गया। मनुष्यके ज्ञान का विस्तार बढनेसे ऐसा होना अपरिहार्य है। आज भी किसी शास्त्रको लिया जाय, तो उसके अङ्गभूत इतने ज्यादा शास्त्र मिलेंगे कि सिर्फ उस अंगभूत देवता की आराधना में ही सारा जन्म खतम हो जायगा और फिरभी प्रमुख देवताके दर्शन तक नहीं हो पायंगे।

जो लोग अर्वाचीन पद्धतिसे ऋग्वेदका अभ्यास करते हैं, उन्हें यह बात अच्छी तरहसे महसूस होती है। इस स्थितिपर पहोंचनेपर वाङ्मय के प्रसार का प्रारम्भ होता है और मुख्य शास्त्रके पोषक इन अनेक शास्त्रों के तत्व सूत्र-रूपसे जैसे के तैसे लेकर उनपर से आगे सिद्धांत बनाया जाता है। इसी का नाम है वचनप्रामाण्य।

हमारे प्राचीन शास्त्रों के वचनप्रामाण्यपर जो लोग हंसते हैं, उनकी भी तमाम करामात वचनप्रामाण्य परही स्थित है। वस्तुतः बात इतनीही है कि पाश्चात्य संस्कृतिका अभी प्रारम्भ होनेसे उनका वचनप्रामाण्य हमारे जितना पूर्णता को नहीं पहोंचा है।

यह बात एक छोटेसे उदाहरण से दिखाई पडेगी। कोई लेखक जब किसी विषय पर तत्वपूर्ण चर्चा करने लगता है, तो आपने मतों के पुष्ट्यर्थ किसी भी दूसरे शास्त्र के सिद्धांत जैसे सापेक्षता का सिद्धांत अथवा राजपूतानाके मरुस्थल में समुद्र किसी काल में होनेकी संभावना इत्यादि, इसी प्रकार अन्य सिद्धांत को मानकर चलता है। ऐन्स्टिन साहब का सिद्धांत सत्य है या नहीं इस विषयक चर्चा करनेका उसे अवसरही नहीं होता। उसे वे सिद्धांत जैसे के तैसे ही लेने पडते हैं। और जबतक आईन्स्टन का सिद्धांत सत्य है, ऐसा सर्वसाधारण को स्वीकृत है, तब

तक उस प्रकार के उस लेखन में यदि तर्कदोष न हुआ तो किसीको कोई आपत्ति नहीं होगी।

परन्तु इसके विपरीत यदि कुछ समय बाद ऐन्स्टिन साहब के सिद्धांत परसे जनता का विश्वास उड गया, तो फिर उसके सिद्धांत का हवाला देनेसे लेखक का अर्थ नहीं सरेगा। अथवा उसके किसी वाक्य का अर्थ करने में सन्देह उत्पन्न हुआ, तो भी सिर्फ कोई वाक्य उद्धृत करने से बात नहीं बनेगी। पदार्थविज्ञानशास्त्र की पद्धति के अनुसार उक्त पदार्थों में कौन से तत्व हैं, यह सिद्ध करना होगा।

वेदसंबन्धी उपस्थित वाद जो अभीतक निर्णयात्मक रूपसे हल नहीं हुवा, उसका मुख्य कारण भी यही है। कुछ वाङ्मय सर्वथा प्रमाणभूत है, ऐसा लोकोंका विश्वास होनेसे उस वाङ्मय के वचनों के मूल आधारभूत शास्त्रों का विचार करनेकी उन्हें जरूरत ही पडी नहीं। उस वाङ्मयमें अनेक भिन्न भिन्न वचन दिखाई देनेपर भी वे सभी एक मूलभूत तत्वपर स्थित होनेसे उनमें एकरूपता होनी ही चाहिए, ऐसा सर्वानुमतसे ठहराया गया। इससे यदि कहीं भिन्नता दृष्टि पडी, तो वह सत्य न होकर केवल आभासमात्र है व इसमें बुद्धिदोष है, ऐसा लोगोंको लगने लगा। और इससे यह भी हुआ कि जहां जहां कहीं विरोध प्रतीयमान होने लगा, वहां वहां बुद्धिचातुर्य का प्रयोग करके उस विरोध को मिटाते हुए उसकी मूलके साथ संगति दिखाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी।

वैशेषिक, न्याय, व्याकरण और मीमांसादर्शन, ये इसी प्रवृत्तिके फलस्वरूप हैं। इन सब दर्शनोंने अपने अपने कालमें अपना कार्य उत्तम रूपसे किया। परन्तु उपरिनिर्दिष्ट वेदसम्बन्धी वाद ये दर्शन भी मिटा न सके। इसका कारण यह कि प्रमाणभूत शास्त्रों के वचन ज्योंके त्यों लेकर लेकर इन्होंने शुष्क तरीकेसे विरोध परिहार करने का प्रयत्न किया। उन वचनों के मूल आधारभूत शास्त्रों का उन्होंने विचार किया नहीं। जबतक प्रमाणभूत शास्त्रोंपर लोगोंको विश्वास था, तब तक तो यह सब ठीक था; परन्तु उस विश्वास के डगमगाते ही केवल वचनोंके आधारसे लोगों का विश्वास बैठना असंभव हो गया। परन्तु इतना होने परभी समाधान की बात यह है कि, उन्हें प्रमाणभूत शास्त्रोंपरसे लोगों का दृढ विश्वास सर्वथा उड नहीं पाया है। यद्यपि वह डगमगा गया है, पर उसका कारण यह है कि, इन प्रमाणभूत शास्त्रों का यथार्थ दर्शन जनसमुदाय को होता नहीं है।

मंत्रवाद।

ऊपर दिखलाया गया है कि, मंत्रार्थवाद तथा अपौरुषेयवाद ये दोन्हों स्वतंत्र होने पर भी बिलकुल भिन्न नहीं हैं। इनमें अपौरुषेयवाद ही मूल वाद है। क्योंकि मंत्रोंके अर्थ क्यों नहीं हैं, इसका जवाब भी तो यही है कि, वेद अपौरुषेय है इस वास्ते। अतः हम प्रथमतः उसी क्रमसे इन दोनों वादोंके शास्त्रीय स्वरूप समझ लें। ताकि ये वाद क्यों नहीं मिटते, यह समझमें आ जायगा। वेद अपौरुषेय हैं किंवा पौरुषेय हैं, उसी प्रकार उनके अर्थ हैं या नहीं, इसका बीज ऋग्वेदमें मिलता है। यास्काचार्यने संहिता के सम्बन्ध में 'पद' विषय की चर्चा की है- चर्चाका विषय है 'पद' संहिता की प्रकृति है अथवा विकृति। इस परसे यह पता चलता है कि विकृतिपदपाठ यास्काचार्य से भी प्राचीन कालसे चला आता है।

पदपाठ की आवश्यकता संहिता के अर्थरक्षणार्थ है। इसका मतलब यह है कि, संहितापाठ पदपाठ के पूर्वसे ही चला आता था। और संहिता केवल पाठका विषय बनी रहे, यही तभी हो सकता है जब कि उसके उच्चारणमें कुछ सामर्थ्य है, ऐसी लोगोंमें श्रद्धा हो। परन्तु यह सामर्थ्य उनमें आया कहांसे ? निःसंदेह प्रत्यक्ष सृष्टिकर्ता ईश्वरसे। और क्योंकि मंत्रोंमें परमेश्वरने स्वयं विशेष आनुपूर्वी से शब्दयोजना की है, अतः वह शब्द जैसी की तैसी उच्चारण की जानी चाहिए, यह स्पष्ट है। यदि यह न माना जाय, तो संहिता के स्वयंभू होनेमें संशय उत्पन्न होता है; परन्तु धारणा है संहिता स्वयंभू है। परंपरा को देखा जाय, तो जहां जहां केवल अर्थप्राधान्य को महत्व प्राप्त है, वहां वहां एक विशेष क्रमपद्धति से शब्दयोजना हो, ऐसा खास आग्रह नहीं दीखता। उदाहरणार्थ 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इस मंत्रमें यदि केवल अर्थ को महत्व प्राप्त होता, तो उसके स्थानमें 'ईळे अग्निं पुरोहितं' ऐसा भी बोला जा सकता था। इतनाही नहीं 'स्तौमि वह्निं

पुरोहितम् ' ऐसा भी चल सकता । परन्तु संहिता ऐसे नहीं बोली जा सकती । उसे तो विशेष शब्दोंमें और विशेष क्रमसे ही बोलना होगा । अतः अर्थके लिए मंत्र न होकर भिन्न भिन्न कर्मोंमें विनियोग करने के लिए हैं, ऐसा अपौरुषेयवादियों का पक्ष है । इसके विरुद्ध इस जड जगत् में जडके क्रमसे ही वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। इसलिए ये मंत्र भी उत्तम पुरुष (परमात्मा) की रचना होनेसे बुद्धिमान् लोगोंने उनका यज्ञादि कर्मोंमें उपयोग कर लिया है, ऐसा पक्ष है । और इसी ऋग्वेदमें कुछ ऋषियोंको जो मंत्रकृत कहा गया है, अर्थात् अमुक मंत्र अमुक एक ऋषिने रचे, ऐसा उल्लेख मिलता है, उसका ये आधार देते हैं । परन्तु यह पक्ष केवल जडवादी होने के कारण कुछ थोडेसे जडवादी छोडकर अन्य इसे माननेको तैयार नहीं। क्योंकि सर्वसामान्य जनता जडवादी नहीं हो सकती । अतः इस पक्षपर विशेष विचार करने की जरूरत नहीं ।

परमेश्वर है अथवा नहीं, यह और इस पक्ष का वाद, ये दोनों एकही हैं । और यहां पर हमें उनमें उतरना नहीं है।

मीमांसक तथा अध्यासवाद ।

ठीक इसके विपरीत मीमांसक आस्तिक होने पर भी (मीमांसक परमेश्वरको नहीं मानते, ऐसा कहा जाता है। यहां आस्तिक शब्दसे मेरा अभिप्राय स्थूल दर्शेंद्रियोंके परे विश्वका अस्तित्व माननेवालेसे है ।) वेदोंका अपौरुषेयत्व सिद्ध करते करते वे भी थक चुके दीखते हैं । कारण स्पष्ट है– मनुष्य वृक्ष उत्पन्न नहीं कर सकता, केवल ईश्वर ही कर सकता है, फिरभी ईश्वर संदूक बनाते हुए नहीं देखा गया। संदूक बनाते हुए तो केवल मनुष्यही देखा जाता है। इसी प्रकार स्थूल दर्शेंद्रियों के परे कुछ है, ऐसा कहने पर भी और वह अस्तित्व समस्त वस्तुको अप्रत्यक्ष उत्पादक मान लिया जाय, तो भी विशेष वस्तुओं को भी वही निर्माण करता है । इस बातका सिद्ध कर देना योगके सिवाय अन्य किसी भी शास्त्र के लिए संभव नहीं।

योगशास्त्र की मदद के विना कितनी भी हुशियारी क्यों न दिखाई जाय, तो भी इस सिद्धान्त को कहीं न कहीं बुद्धि अटकही जायगी । ठीक ऐसा ही मीमांसकोंके साथ हुआ है। अपने समकालीन तार्किकों में मीमांसक श्रेष्ठ तार्किक थे, ऐसा मानने पर भी उन के तर्क में किसी भी प्रकार की कमी नहीं है, ऐसा नहीं है । एक श्रेणी के विद्यार्थिओं में कोई एक पहला होता ही हुआ, परन्तु पूरे के पूरे १०० अंक उसे मिलते हैं, ऐसा नहीं ।

मीमांसक वेदों का अपौरुषेयत्व जिन युक्तियों से सिद्ध करते हैं उनमें सबसे बडी युक्ति यह है कि वेदों का कर्ता कौन है, यह कोई भी नहीं जानता। गुरुशिष्य-परंपराके अनुसार, जैसे वेद आज हैं, वैसे ही वे अनादि काल से चले आये हैं । और क्योंकि वे अनादि हैं, अतः अपौरुषेय हैं । इस युक्ति में मीमांसक लोगों में अनादि शब्द का एक विशेष अर्थ में उपयोग किया है, जो शीघ्रही ख्यालमें नहीं आता। ब्रह्माने सृष्टि निर्माण की और वह किसी एक विशेष क्रम से हुई । इस सम्बन्ध में ग्रन्थों के परिशीलन से कुछ व्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है । सांख्यों का क्रमपूर्वक विकास जगप्रसिद्ध ही है ।

सांख्यों की विचारप्रणाली से देखने पर सृष्टि का कहीं आदि होना चाहिये, ऐसा कोई कहेगा और इस प्रकार ब्रह्मदेव ने वेद प्रकट किये, इस कारण ब्रह्मा ही वेदों का आदि है, ऐसा आक्षेप लिया जा सकेगा। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मा सृष्टि का कर्ता नहीं । कल्पांत में अव्यक्त में विलीन भूत ग्राम सहस्रयुगोंका दिन शुरू होनेपर ब्रह्मा के द्वारा फिर वैसे के वैसे ही प्रकट होता है और इसी कारण वेदों में ' धाता यथापूर्वमकल्पयत् ' ऐसा वचन आया हुआ है । ब्रह्मदेव कैसे उत्पन्न हुवे, तथा उन के उत्पन्न होने में मूल कारण क्या थे और इन कारणों का मूल स्वरूप इत्यादि प्रश्नों का वेदों के अपौरुषेयता से कोई सम्बन्ध नहीं । मैंने 'वैदिक संस्कृति की पुनर्घटना' नामक मेरी पुस्तक में ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि चाहे बिलकुल अध्यासवाद की कसौटीपर वेदों का अपौरुषेय वाद कसा जाय, तो भी इस वादका विरोध नहीं आता। वेद सबका मूल कारण हैं, ऐसा कहनेसे 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र से उस का विरोध होता हुआ दीखता है। परन्तु यथार्थ में यह केवल आभास ही है ।

'जन्माद्यस्य यतः' इस में बताया गया, ब्रह्म अध्यास

का भी मूल है। और वेद अध्यास के शुरू होने पर जो व्यावहारिक सत्ता शुरू होती है, उस की कारणपरंपरा का मूल है।

वेदों के शब्द-प्रभाव का विचार करते समय 'श्रीमत् शंकराचार्य ने 'न चेदं शब्दप्रभवत्वं उपादान-कारणाभिप्रायेण उच्यते' ऐसा कहा है। यह खास ध्यान देनेयोग्य है। एक बार अध्यासवाद के अनुसार व्यावहारिक सत्ता मान्य कर लेनेपर उस सत्ता के अस्तित्व के लिये 'शब्दप्रभव' त्व उत्पादनकारण मान लेनेसे भी क्या हानि है? ऐसा श्रीमत् आचार्य स्वामीने यह क्यों नहीं कहा? इसका कारण उपादान यह है कि उपादान भी कोई प्रत्यक्ष वस्तु होनी चाहिये और शब्द भी प्रत्यक्ष वस्तु है, इसका ज्ञान सांख्य तथा योग इनके सहायता विना नहीं होता। शंकराचार्य के समय की पीढीको इस विषय में इतनी ऊहापोह करने की आवश्यकता न थी और यदि कदाचित् शंकराचार्यने इस विषय कुछ लिखने का प्रयत्न भी किया होता, तो भी उस समय की जनता उसे समझ सकी भी न होती। श्रीमत् शंकराचार्य का अपने भाष्य के लिखने का हेतु 'अध्यास का सत्य स्वरूप न समझने के कारण जीव की कितनी हानि होती है, यह उसे दिखाकर अध्यासका अंत करना सिखाया जाय, यही संपूर्ण वेदान्तका भावगर्भ है,' यह सिद्ध करने का था। "अस्य अनर्थस्य हेतोः प्रहाणाय सर्वे वेदांता आरभ्यंते ... अस्यां शारीरकमीमांसायां दर्शयिष्यामः।" परन्तु उस समय की आजकी परिस्थिति में महदंतर है। और सांप्रत समाज को शब्द जगत् का उपादान कारण किस तरह है, यह बताए बिना वेद के मायने क्या है और उनका महत्त्व क्या है, यह कदापि अवगत नहीं हो सकता। इस कारण अध्यास में केवल 'सत्ता' के लिये भी शब्द उपादान-कारण किस तरह से हो सकता है, इसका थोडासा विचार यहां करेंगे।

कल्प के अन्त में अव्यक्त में लीन हुए हुए 'भूतग्राम' को कल्पके प्रारंभ में ब्रह्मा यथापूर्व प्रकट करता है, ऐसा कहनेपर उसका अपना कर्तृत्व नष्ट हो जाता है और पहले बीज या वृक्ष इस समस्या के अनुसार जिस कर्म से यह भूतग्राम होता है, वह पहले या जिस भूतग्राम से यह कर्म होता है वह पहले, ऐसा यह वाद बनाही रहता है, और इसी कारण वेदांतियों को 'अकृताभ्यागम' का दोष स्वीकार कर यह प्रश्न छोड देना पडता है। इसी इसलिये भूतग्राम को अनादि समझना ठीक है। वेद सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होते हैं और कल्पके अन्त में सृष्टि के साथही ब्रह्मा में विलीन हो जाते हैं। (भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।)

इसी प्रकार 'वेदग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' ऐसी मीमांसकों की धारणा है। हिरण्यगर्भ सर्व भूतों का मूल पुरुष है, अतः यदि उसी का कर्तृत्व मिटा दिया गया, तो वेद सहज ही अपौरुषेय बन जायंगे। परन्तु यह युक्तिवाद आजकल मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि इस युक्तिवाद में कुछ तो वचनप्रामाण्य है और कुछ युक्ति है और आजकल का समाज केवल इस पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकता। श्री तुकाराम महाराज सदेह वैकुंठ चले गये, यह सिद्ध करनेके लिए जिस प्रकार भारतादि ग्रन्थों से तत्सदृश उदाहरण देकर उस बातकी सत्यता सिद्ध की जा सकती है, उसी प्रकार की यह बात है। आजकल की जनता थोडेसे समय में योग की सहायता से मनुष्य अपना शरीर पंचतत्व में कैसे मिला दे सकता है, यह चाहती है और दूसरी बात यह कि इस युक्तिवाद से तो सिर्फ वेद ही क्या, तमाम भूतग्राम अनादि व अपौरुषेय ठहरता है। आजकल के ऐतिहासिक लोग कदाचित् ५।१० हजार वर्ष का ही यह सब सिद्ध करते हों, तथापि इतिहास सर्वमान्य शास्त्र नहीं, इस में कुछ भी शंका नहीं है।

उपर्युक्त रीतिसे प्रत्येक समाज अपनी अपनी परंपराको अनादि कह सकता है। कारण कि उन परंपराओं का उत्पादक पुरुष और समय ये अज्ञात है और गुरुशिष्य-परंपरासे ये परंपरा चली आती हैं। मराठी में सुप्रसिद्ध नट बालगंधर्व एक गाना गाया करते हैं कि 'नका टाकून जाऊं डावा डोळा पाण्याने माझा भरला' यह लावणी किसने और कब रची, इस बातका पता नहीं; यदि कोई इस बात पर से मीमांसकों का अनुसरण करके यह सिद्धान्त निकाले कि, इस लावणी की परंपरा अथवा लावणी अपौरुषेय है, तो इस विचारसरणीपर मीमांसक लोग निरुत्तर हो जायेंगे।

परन्तु इस के लिए उन्हें प्रतिपक्षी से पूछना पडेगा कि इस के लिए, क्या आप शास्त्रवचन बता सकते हैं ? अथवा प्रतिपक्षोंके विचारप्रणाली व्यवहारविरुद्ध है, ऐसा बताकर उन्हें निरुत्तर करना होगा।

मंत्र, अर्थ तथा उनकी आपत्तियां।

इस प्रकार की ये मूलमें ही आपत्तियां खडी होने के कारण वेदों के अपौरुषेयत्वपर अवलंबित मंत्रार्थवाद लंगडे हो जाने से साथ न चल सकें, यह होना ही था। इन दोनों ही वादों को अपना अपना पक्ष सिद्ध करने में अपरिहार्य अडचने उपस्थित होती थीं। मन्त्रवादी कहते थे कि क्योंकि वेद ' नियत युक्ति ' और ' नियतानुपूर्वी ' हैं, अतः उनकी उस व्यवस्था के अन्दर कोई महान् तत्व होना ही चाहिये और वेदोंका जो सामर्थ्य बताया गया है, वह उनके ठीक ठीक उच्चारण में ही होना चाहिये। यदि वह सामर्थ्य अर्थ में अथवा चिंतन में होता, तो वैदिक विधि करते हुए विशेष प्रकार का अर्थ और उसके चिंतन करने की परंपरा पडी होती और तत्समानार्थी कोई भी शब्द उपयोग में लेने से भी काम चल सकता था। किंतु ऐसा नहीं है।

अतएव मंत्रके उच्चारणका ही महत्व है। उसके अर्थका नहीं। उनका यह कथन सीधा होने पर भी उन के पक्ष में दो अडचनें उपस्थित होती हैं। उन का और अर्थ-वादियों का अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। मंत्र के यदि उच्चारण में ही महत्व हो और यदि मंत्र अपौरुषेय हो, तब तो उच्चारण-पद्धति अवश्यमेव नित्य और एक ही रहनी चाहिये- इस पद्धति में शाखा और उपशाखा उत्पन्न होना संभव नहीं। किंतु वेदों की तो भिन्न भिन्न शाखायें हैं ही। फिर यह कैसे हो सकता था ? उन की दूसरी अडचन यह है कि मंत्रों को इतना बडा सामर्थ्य कैसे और कब प्राप्त हुवा।

इस प्रकार ये दोनों अडचनें दोनों ही मन्त्र तथा अर्थ-वादियों को एकही सी हैं। मन्त्रवादी शाखाभिन्नत्व का पूर्ण परिहार नहीं कर सकता और मन्त्रों का यह सामर्थ्य ईश्वरी कृति होनेसे है, इसके सिवाय कोई और कारण मंत्र-वादी नहीं बता सकता। अर्थात् वहां शास्त्र खतम होकर विश्वास का आरंभ हुवा- अर्थवादी ऐसा कहते हैं कि मंत्र अपौरुषेय होनेपर भी और उनके उच्चारका महत्व मान लेने पर भी वह महत्व अर्थयुक्त उच्चार को प्राप्त है- अर्थात् ये लोक उच्चार का महत्व अमान्य नहीं करते, किन्तु अर्थ को भी महत्व देते हैं; और इसका एक कारण वे ' मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसी वेदकी जो व्याख्या है, उसे बताते हैं और धर्म तो तमाम ब्राह्मणग्रंथों के चोदना-लक्षणार्थी वाक्यपरसे उत्पन्न हुआ है। अतः यदि उस वाक्य का अर्थ ही करना नहीं है, तो फिर धर्मशास्त्र ही असंभव हो जायगा। और यदि इनका कुछ अर्थ है, तब तो 'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राया वृतः' इ०। इसका भी अर्थ होनेमें क्या हर्ज है ? और यदि ऐसीही बात है, तो अर्थ समझे बिना पठन करनेवालेको ' स्थाणु-रयम्भारहारः किलाभूत् ' ऐसा क्यों न कहा जाय ?

मंत्रोंको सामर्थ्य कैसे प्राप्त हुवा, इस शंकाका परिहार भी ईश्वरी कृतिसेही किया करते हैं। तथा शाखा-भिन्नत्व के सम्बन्धमें उनका मत है कि ये शाखायें अध्ययन के दोषोंसे उत्पन्न हुई हैं। परन्तु ऐसा माननेसे वेदोंके नित्यत्वमें थोडीसी बाधा पहोंचती है और इसी कारण उन्हींके संप्रदायके पतंजलीने ऐसा सिद्धांत माना कि शब्दानुपूर्वी अनित्य है और अर्थानुपूर्वी ही केवल नित्य है। (यद्यपि अर्थो नित्यः यात्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं कालापकं मौदकं इ०) उनकी इस युक्तिसे वेदोंकी कोई भी एक ही शाखा सत्य होकर तदीतर शाखाओं का उच्चारण भ्रष्ट है अतएव वह वेदरूप नहीं ऐसी आपत्ति मिट जाती है; परन्तु इसमें दूसरी अडचन उत्पन्न होती है और ' लेने गई थी पूत और खो आई खसम ' कीसी हालत हो जाती है।

शब्द अनित्य होने पर भी अर्थ नित्य मान लिया जाय तो अनुपूर्वी नष्ट हो जाती है और इस तरह संस्कृत भाषा भी नहीं बचती। उस अर्थको व्यक्त करनेवाला किसी भी भाषा का कोई भी शब्दसमुच्चय हो, जैसे कि गायत्री मंत्र 'भर्गो देवस्य ' इत्यादि शब्दों की जगह यदि ' Let us meditate upon the glory of the repulgent one ' अथवा तत्समान शब्दोंसे किया जाय, तो क्या बिगडेगा, ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। इसी कारण

अर्थवादी इतना तो कबूलही करते हैं कि चाहे शब्द अनित्य हो तो, भी उसका संस्कृत भाषामेंही उच्चारण किया जाय। इसका कारण यह कि कल्पारंभमें सृष्टिकर्ता ईश्वरने वैसी अवस्था निश्चित कर डाली है, अतः उस कल्पमें वह वैसी ही चलती रहेगी। ब्रह्माने भूः कहा और पृथ्वी उत्पन्न हो गई, (स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत्) अतएव इस कल्पमें पृथ्वी का अर्थ बतानेवाला वेदोच्चार भूशब्दसे ही करना चाहिए। उसे earth अथवा तत्समान शब्दोंसे नहीं।

इसका मतलब यह हुआ कि, इस विचारप्रणाली के लोग भी तर्कसे हार कर मंत्रवादियोंके समान विश्वासकी शरण ली और यदि कुछ कर सके, तो वह इतनाही है कि आजके मरणको कुछ आगे ढकेल दिया। यह है आज वेदोंके अपौरुषेयवाद का स्वरूप। अब इससे भिन्न किसी और रीतिसे भी इस सम्बन्धमें कुछ विचार किया जा सकता है या नहीं, यह हम आगे देखेंगे।

अन्य धर्म व मंत्रशास्त्र।

वैदिकधर्मवालेंही मंत्रशास्त्रपर विश्वास करते हैं, ऐसी बात नहीं है। संस्कृतिहीन समाज वृक्षपाषाणादिकोंकी पूजा करनेवाले जंगली लोगोंसे लेकर आजतक- उत्पन्न हुए हुए सब धर्मोंमें किसी न किसी प्रकार इस सम्बन्धी विश्वास दीख पडता है।

सामान्यतः का वर्गीकरण प्रार्थनापरक और साधनापरक इस प्रकार के दो विभाग धर्मके हो सकते हैं। साधनापरक धर्ममें भी प्रार्थना विशेष स्तोत्रोंसे की जाने पर वह उत्तम और शीघ्र फलद्रूप समझी जाती है, चाहे इस धारणाके कारण कुछ भी हों, ऐसा एकभी साधनापरक धर्म न मिलेगा, जिसमें नामजपका महत्त्व न बताया गया हो। पूर्वकालीन व आधुनिक सब प्रचलित धर्मोंमें नामजप से ईश्वर-प्रसाद शीघ्रही मिलता है, इस प्रकारकी श्रद्धा सामान्यरूपसे दिखाई देती है और इस नाममाहात्म्य में भी विशेष नामको विशेष माहात्म्य प्राप्त हुआ हुआ होता है। इसकी जडमें विशेष शब्दसमुच्चयमें विशेष सामर्थ्य है, ऐसी भावना काम कर रही होती है। क्रिस्ती और मुसलमानी धर्म जो खुले प्रार्थनापरक धर्म है, उनमें इस प्रकारके जपको बडा महत्त्व हैं। इस्लाममें तो जप-सहायसे सिद्धि दिलानेवाले उपसंप्रदाय अनेकानेक हैं। जप के लिए परमेश्वरके कुछ प्रियनाम कुराणमें खास तौरपर लिखे गये हैं। और कर्मठ मुसलमानको साधारण प्रार्थना के अतिरिक्त भी जप करना पडता है, यह प्रसिद्ध है। मुसलमान बादशाह बडे बडे साम्राज्योंको चलाते हुए भी जप करना चुकते न थे। उनकी रत्नजडित जपमालाओंका वर्णन उपलब्ध होता है।

क्रिस्ती धर्म में कॅथोलिक लोग प्रार्थनापरक व सावधान-परक, मिश्र स्वरूप के हैं। क्रिस्ती धर्म के बडे बडे संत कॅथोलिक पंथ में ही हुए और उनकी भी जपमालायें सुप्रसिद्ध हैं। जैन लोग तो जपपर विशेष जोर दिया करते हैं। बुद्ध धर्म के सब पंथोंमें जपही को प्रमुख स्थान प्राप्त है ' मणिपद्मे हूं' यह बुद्धगायत्री सुप्रसिद्ध है। यहुदी और झरथुष्ट्री में भी जप को स्थान है ही। किंतु जो धर्म आज नहीं है और जिस का इतिहास में ही उल्लेख मिलता है, उन में केवल भक्तिप्रधान और जादूटोने पर विश्वास करनेवाला, ऐसे दो वर्ग मिलते हैं। इन में से मिसरी, खाल्डी इत्यादि जादूटोनेपर विश्वास करनेवाले लोगों में तो पद्धतिपूर्ण मंत्रविद्या भी विद्यमान थी। परन्तु ग्रीक, रोमन, इत्यादि शक्तिप्रधान धर्मोंमें विशेष शब्दोंमें विशेष सामर्थ्य रहता है, ऐसी कल्पना विद्यमान थी। ग्रीक भाषा का Logos शब्द ऋक् शब्द का अपभ्रंश दीखता है और श्री रानडे ने अपने कोश में इस का अर्थ सृष्टि उत्पन्न करनेपूर्व ईश्वरके मन में जो शब्द था,' ऐसा किया है। सारांश यह कि विशेष शब्दों में विशेष सामर्थ्य होने की कल्पना किसी न किसी स्वरूप में प्रत्येक धर्म में नजर आती है।

किंतु इस शब्दसामर्थ्यविषयक वैदिक लोगों की और अन्य लोगोंकी धारणा में महत्वपूर्ण अन्तर है। मुसलमान जो मन्त्र जपते हैं, उस में कोई स्वयंभू सामर्थ्य है ऐसा वे नहीं मानते। वे तो मानते हैं कि (मन्त्रार्थवादियों की युक्ति के अनुसार) वह सामर्थ्य उस मन्त्र में ईश्वरकी इच्छा से प्राप्त हुआ है, अर्थात् जप करनेवाले को जो सिद्धि प्राप्त हुई है, उसका कारण प्रत्यक्ष मन्त्र में न होकर उस कर्म से संतुष्ट होकर ईश्वर से वह प्राप्त हुई है। अथवा

ऐसा कहा है कि असकृत आवृत्ति से एकाग्रता पाये हुए चित्त के सामर्थ्य से वह प्राप्त होती है। परन्तु वैदिक लोगों की धारणा ऐसी है कि इस प्रकार से सिद्धि तो मिलती है, किंतु चित्त एकाग्र हो अथवा न हो, ईश्वर चाहे प्रसन्न हो या न हो, केवल शब्दों के स्वयंभू सामर्थ्य से भी सिद्धि मिल सकती है। जैसे अग्नि में दाहकशक्ति है, आप चाहें या न चाहें, यदि उस का स्पर्श करेंगे, तो अवश्यही हाथ जलेगा। "**उलटा नाम जपत संसारा वाल्मीकि भये ब्रह्मसमाना ॥**" ऐसी वैदिकों की धारणा है और इस धारणाकी यह विशेषता ध्यानमें रखनी चाहिए।

औत्पत्तिक संबंध और माण्डूक्य।

शब्दसामर्थ्यसंबंधी वैदिक लोगोंकी जो धारणा है, वह आजकी नहीं है। उनके धर्म के मूल वेद जितनी प्राचीन है। ऋग्वेद में वाणी-सामर्थ्यसंबंधी दो स्वतंत्र सूक्त हैं। और अन्य सूक्तोंमें भी स्वतंत्र ऋचायें उपलब्ध हैं। अन्य ऋषियों में भी इस विषय विपुल उल्लेख मिलते हैं।

> ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा
> अधिविश्वे निषेदुः ।
> प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदति उक्थ्यम् ।
> यस्मिन् इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा
> ओकांसि चक्रिरे ।

इत्यादि ऋचाओंमें से यह विशेष मंतव्य प्रकट हुआ है और वह परंपरा आजतक अव्याहत टिकी हुई है। यह पंचभौतिक विश्व आकाशसे निर्माण हुआ, ऐसा सांख्यों का सिद्धांत है। आकाश का शब्दगुण होनेके कारण शब्दसे विश्व-उत्पत्ति हुई, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि गुण और गुणी इनमें प्रकारभेद हुआ, तो भी वस्तुभिन्नत्व नहीं होता। जहां आकाश है वहां शब्द है ही। फिर चाहे उसकी प्रतीति हमें हो या न हो। इस कारण सांख्य-सिद्धांत के अनुसार भी शब्दशक्ति की स्वयंभूता सिद्ध होती है। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' ऐसा पूर्व-मीमांसाका कथन है। केवल अन्तर इतनाही है कि ये अपनी विशेष विचारपद्धति से इस सिद्धान्तका संपूर्ण रहस्य स्पष्ट कर नहीं सकते। उत्तरमीमांसाने 'इति चेन्नातः प्रभवात्' इस सूत्रसे शब्दका सामर्थ्य स्वीकारा है। इस सूत्रपर आचार्यके भाष्यके विषयमें ऊपर चर्चा की जा चुकी है।

ब्राह्मणग्रंथोंमें भी यह कल्पना उपलब्ध है। उदाहरणार्थ शतपथमें कहा गया है कि हृदय शब्द छोटासा दिखता है, परन्तु इस शब्दके प्रत्येक अक्षरका रहस्य अलग अलग है और उस प्रत्येक अक्षरके रहस्यको जाननेवाले को भिन्नभिन्न सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

> हृ इत्येकमक्षरमभि हरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरं ददन्त्यस्मै स्वाश्चन्ये च य एवं वेद। य मित्येक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद॥ (शतपथ ब्रा. १४-८-४-१)

उपनिषद्में भी अलग अलग विद्यांके वर्णनोंमें इस सामर्थ्य का जिक्र है। शब्दके इस सामर्थ्य को दर्शानेवाली उपनिषद् मांडूक्य है। कुछ बात भी ऐसी हुई है कि, मांडूक्य उपनिषदको अभी तक अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। 'मांडूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' इस प्रकार उसकी स्तुति की गई है। गौडपादाचार्योंकी कारिका और उस पर शंकरभाष्य प्रसिद्ध ही है। श्रीविधुशेखरभट्टाचार्यके समान कुछ संशोधक उसे आचार्यकृति नहीं मानते। किन्तु वह एक स्वतंत्र प्रश्न है। तथापि मांडूक्यके मुख्य हेतु की ओर तक आश्चर्यकारक दुर्लक्ष्य होता आया है। 'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' यह सिद्ध करके "ॐ आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद" ऐसी उन की प्रतिज्ञा है। और इस प्रतिज्ञा के अन्तर्गत रखे गये सिद्धान्त में वैदिक लोगों के वेदविषयक धारणा के संपूर्ण रहस्य का समावेश हुआ हुआ है। मांडूक्य का विचार करते हुए आजतक केवल पादोंका ही कस के विचार किया गया है। और मात्राओं को तो सिर्फ पादोंके वाचक मानकर ही छोड दिया गया है। **मात्रा तथा पाद ये दोनों एक ही वस्तु के पर्याय होने से पादों का यत्किंचित् भी विचार न करने पर भी जैसे केवल मन्त्रों की सहायता से एक पर्याय का दूसरे पर्याय में रूपान्तर करना चाहिए, ठीक उसी तरह पादों की भी सिद्धि मनुष्य को प्राप्त करनी चाहिए। 'संविशत्यात्मनात्मानम्'।**

ऐसा इस सूक्ति का अर्थ है। किंतु मन्त्रों को केवल

वाचक मानने से यह तत्व पूर्णतया भूलाया गयासा हो जाता है । मात्राओं का उच्चारवाचक समझकर किया जावे पर भी विचार पादों का ही होता है, मात्राओं का नहीं । इस कारण वह केवल मात्राओंकी क्रिया नहीं होती । वाच्य और वाचक ये दोनों सामान्यतः एकरूप समझे जाते हैं । किन्तु इसमें थोडीसी बारिकी वाचक जितना वाच्यसे संपूर्णतया एकरूप होता है, उतना वाच्यवाचकसे नहीं होता । क्योंकि वाच्य अनेक वाचकोंसे एकरूप हुआ हुआ होता है । 'जलम्-पाणी-Water-तणी' ये सब शब्द पानीके साथ एकरूप हैं। और इनमेंसे किसीके भी उच्चारणसे पानीही आंखोंके सामने आता है । परन्तु यदि इनमें से प्रत्येक शब्द जल से संपूर्णतया एकरूप होता, तो जल दिखतेही अनेकानेके लोगोंके मनमें वही एक शब्द आना चाहिए था । परन्तु ऐसा न होना ही बताता है कि, वह शब्द जलसे कुछ अंशोंमें ही एकरूप है, संपूर्णतया नहीं । चार अलग अलग देशवासियोंको जलकी आवश्यकता पडनेपर 'दक्षिणतो नाति दूरे' ऐसा कहनेसे अथवा कोई भी हावभाव न करते केवल There कहनेसे उसका अर्थबोध सबको एकसा नहीं होता । और इस वाक्यका फल याने जलप्राप्ति एकसी सबके हिस्सेमें नहीं आती ।

औत्पत्तिक अथवा नित्य 'नोत्पन्नयोः पश्चात्' ऐसा शबरस्वामी एक जगा कहते हैं। वैसा वह यदि निश्चित संज्ञा को दर्शानेवाला है, तो फिर वह नित्यत्वके कारण सबको एकसा फल क्यों नही देता ? वेद जैसे स्वयंभू शास्त्र नित्य अबाधित सिद्धांत दर्शानेवाले होते हैं। मांडूक्योपनिषद् यह श्रुति है। उसमें बताये गये कार्योंके फल यदि किसी व्यवस्थाके अनुसार हुए, तब तो वे उसी व्यवस्था के अनुसार प्राप्त होने ठीक हैं। और यदि ऐसा नहीं है, तो तो किसी भी समय के किसी भी मनुष्य को उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति उपलब्ध होनी चाहिए। जिसे संस्कृत भाषा तनिक भी नहीं आती, ऐसा मनुष्य अकार, उकार, मकार ये तीन मन्त्रों का बिना अर्थ समझेही यदि उच्चार करता रहे, तो उसे मन्त्रोंके असकृत् उच्चार करते रहनेसे कोई भी फल प्राप्त न होगा यह स्पष्ट ही है। अर्थात् 'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' इस समीकरण को छोडकर 'पादा मात्रार्था मात्रार्थाश्च पादाः' ऐसा समीकरण बनाना होगा। और ऐसा समीकरण बनानेपर शबरस्वामी के औत्पत्तिक अर्थात् 'नित्य' व 'उत्पन्नयोः पश्चात्' इसके ठीक विपरीत 'उत्पन्नयोः पश्चात् नित्यः' ऐसी व्याख्या करने की नौबत आती है। जब की मांडूक्य की प्रतिज्ञा तो 'पादा मात्रा मात्राश्च पादा' ऐसीही है।

भाषाके दो प्रकार और ऋग्वेद ।

उक्त प्रसंग आनेका कारण यह है कि इस विषयसे संबंधित भाषाशास्त्र का योग्य विचार किये बिनाही अर्थ प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया जाता है । भाषा के विषय में वेदका सिद्धांत ऐसा है कि, भाषा दो प्रकार की होती है । (१) नैसर्गिक और (२) सांकेतिक । आजकल की प्रचलित सर्व भाषाओं में केवल संस्कृत को छोडकर शेष सब प्रायः सांकेतिक भाषायें हैं। घुणाक्षर-न्यायसे उनमें कहीं कहीं नैसर्गिकता हो तो हो। संस्कृत भाषा मिश्र स्वरूप की है ।

उसके वर्तमान स्वरूप में सांकेतिकता विशेष हुई तो भी इसकी मूल प्रकृति नैसर्गिक ही है । यही अन्तर उसमें तथा अन्य भाषाओंमें है। यह भाषाभेद 'परा-पश्यन्ति' इत्यादि भेद से भी अलग है । " वह है वाणी का भेद और यह है भाषा का । इस प्रकार ये भिन्नभिन्न भेद रहते हुए भी वाणी और भाषा का ज्ञान एकरूपसे होते रहनेके कारण बहुधा दोनों को एकही शब्द से कहा जाता है । ऋग्वेद (मं. १० सू. ७१) में 'वाचा' इस सामान्य शब्दद्वारा ही भाषाके दो भेद बताए गये हैं। सर्वानुक्रमणीके अनुसार आंगिरस बृहस्पति इस सूक्त का ऋषि है। वह अपने को समझाकर कहता है कि-

> बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

इस में आए हुए अग्र शब्द का अर्थ सायणने 'आरम्भ' किया है। परन्तु मूल शास्त्र लक्ष्यमें न रहने के कारण सायणाचार्य इस प्रकार खेंचातानी करके अर्थ बैठाया है । अग्रका प्रारंभ अथवा एक किनारा ऐसा अर्थ है । इस कारण उस का अर्थ हुआ प्राथमिक अथवा कम दर्जे का । इस के विपरीत दूसरे किनारे पर पहोंची हुई वाणि

श्रेष्ठ अथवा अत्यन्त सूक्ष्म तथा गूढ वाचा अर्थात् भाषा ऐसा दूसरे ही चरण में कहा है। यह दूसरी भाषा पूर्ण-तया शुद्ध तथा प्रेमसे प्राप्त है, ऐसा कहा हुआ है। प्रेम से प्राप्त का मतलब है, ईश्वरभक्ति अथवा ईश्वरकृपा से प्राप्त।

इस प्रकार सांकेतिक भाषा 'अधेनु' 'अफल' तथा अपुष्प है, ऐसा आगे कहा गया है, (ऋ० ५)। उक्त ऋचा का अर्थ इस प्रकार है कि-'प्रथमं' अर्थात् 'पहलेसे' किनारे पर आई हुई यह भाषा नामरूपका सम्बन्ध जोडकर सिखाई जाती है। इससे परे जो श्रेष्ठ भाषा है, वह अर्थात् 'नाम-रूपं दधानः' ऐसी नहीं है। अर्थात् उसमें नामरूपका संबंध बनाये रखना नहीं पडता। वह उसमें स्वयंभू होता है। इसीलिए वह ज्यादा शुद्ध है। परन्तु है गूढ। उसकी प्राप्ति कृपासे ही होती है।

दुनियामें बनाई हुई जिन जिन भाषाओं को हम देखते हैं, उन में शब्दार्थसम्बन्ध अनेकानेक कारणों से बना हुआ होता है। उन में नित्य शास्त्रीयता नहीं है। विशेष भाषा बोलनेवाले जनसमुदाय में उत्पन्न हुआ मनुष्य शब्दार्थों के यह बहुविध संकेत सीखता है और ध्यान में रखता है। पानी को देखकर उसे अनेक नामसे जैसे water, पानीयम् अथवा तणी आदि से कहा जाता हुआ सुनकर वह उन संकेतों को ध्यान में रखता जाता है। पानी प्रत्यक्ष देखे बिना सिर्फ जल शब्द सुनकर उसे पदार्थ का बोध नहीं होता। ठीक इस के विपरीत गूंगा मनुष्य शब्द न सुनते हुये भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और वह सर्व प्रकार के व्यवहार भी सुलभतासे करता है। इस दृष्टिसे देखनेपर यह सिद्ध होगा कि पूर्व अर्थ और पश्चात् पद। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। क्योंकि जो संकेतोंसे परिचित होगा, वही उस भाषा के सांकेतिक शब्दोंसे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। दूसरोंको ऐसा ज्ञान उन्हीं शब्दोंसे नहीं हो सकता। वैदिक शास्त्रोंका ऐसा सिद्धांत है कि शब्द और पदार्थोंका स्वयंभू सम्बन्ध है।

जो मनुष्यनिर्मित संकेतों के कारण नहीं। और उसेही सच्चा औत्पत्तिक सम्बन्ध समझना चाहिये। यह संबंध उत्पत्तिसे सिद्ध होता है। दूसरे शब्दोंमें इस सम्बन्धके कारण शब्दसे वस्तु प्रत्यक्ष उत्पन्न होती है और इसी कारण इसे सच्चा औत्पत्तिक सम्बन्ध कहा गया है। पद अर्थात् शब्द। पदका सत्य पदार्थ यानी वह प्रत्यक्ष वस्तु—

सांख्यशास्त्र और पदार्थविज्ञानका सिद्धांत।

शब्द और वस्तु का सम्बन्ध देखनेके लिए अर्वाचीन शास्त्रोंकी सहायतासे सांख्यसिद्धांतका विचार किया जाय, तो यह विषय शीघ्रही समझमें आ जाता है। इसमें कारण व्यक्त सृष्टि का आदि द्रव्य आकाश है, यह सांख्यका सिद्धांत है। और आधुनिक विद्वान् शास्त्र कहता है कि इस अज्ञात स्वरूपके किसी भागके घनीभूत द्रव्यसे तमाम विश्व उत्पन्न हुआ है। आकाशमें जो संपूर्ण हलचल हुआ करती है, वह सर्व मूल द्रव्यके गतिस्वरूपके ही कारण है। इस प्रकार इस विषयमें सांख्य और आधुनिक वैज्ञानिकोंमें मतभेद नहीं। गतिके अभावमें आकाश का ज्ञान नहीं हो सकता। आकाशतत्वकी अत्यंत सूक्ष्मावस्था से लेकर इट, पत्थर तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, महान् शक्तियों से लेकर क्रिमि, कीट, पतंग आदि छोटे छोटे जीवजंतु-पर्यंत जो समस्त व्यवस्थित व्यवहारदृष्टि पडता है, वह गतिरूपही है। गतिके भिन्नभिन्न प्रकारों के कारण यह सब अनेकविध मालूम होता है। अर्वाचीन शास्त्रज्ञ भी कहते हैं कि—

[The tendency of modern physics is to resolve the whole material universe into waves & nothing but waves. Material universe p. 77]

मनुष्यमात्रको जो नाना पदार्थों का ज्ञान प्राप्त है, वह सब मूल द्रव्य की गतिमान लहरोंसे होनेवाले ज्ञान पर निर्भर है। मनुष्यके पास श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और त्वक् ये पांच प्रकारकी छोटी बडी यंत्रसामुग्री उपस्थित है। मूल द्रव्य की गतिका परिणाम इन सर्व यन्त्रोंपर एकसा होता रहता है, किन्तु यंत्र के छोटे बडे माप व शक्ति के अनुसार अंतस्थ जीवको अनेक प्रकार का ज्ञान होता है।

उदा० किसी कमरेमें ऐसी व्यवस्थाकी जाई कि, विद्युत्-

प्रवाह लेकर उसका संबंध लँप, ग्रामोफोन, पंखा इत्यादि वस्तुओंसे जोड दिया जाय, तो विद्युत्प्रवाह एकही होनेपर भी यंत्रोंमें भेद होनेके कारण हम को उसी एक प्रवाह के अनेक परिणाम नजर आयंगे। यह दृष्टान्त तो छोटासा है, किन्तु इसमें प्रतिपादन किये गये तत्व महत्वपूर्ण तथा ध्यानमें रखनेयोग्य हैं। मनुष्यकी इंद्रियोंकी शक्ति सीमित होनेके कारण मूल द्रव्यकी तमाम हलचलका अनुभव मनुष्य को सहसा नहीं आ सकता। बहुतसे बहिरे इस प्रकार के देखने में आते हैं कि उनके कान के पास उच्चारा हुआ धीमा धीरा शब्द भी वे सुने बिना नहीं रहेंगे। किन्तु इसके प्रतिकूल बडी आवाज जो कि उनके कानसे दूर किया गया हो, उनके कर्णेन्द्रिय पर कुछ भी परिणाम उत्पन्न नहीं करता। ठीक वैसीही मनुष्यके इन पांच यंत्रोंकी अवस्था है। अमुक निश्चित हदकी लहरें ही ज्ञान उत्पन्न कर सकती हैं। उससे बाहरकी कुछ परिणाम पैदा नहीं करतीं। आजकल प्रकाशसे भी ज्यादा वेगवती 'क्ष' किरणे हमें दीखती भी नहीं।

मानवीय इन्द्रियरूपी यन्त्र की कमज्यादा शक्तिकी कल्पना एक परिचित कथा से ख्याल में आ सकेगी। मनुष्य ध्वनि सुन सकता है, इसका कारण वायुमण्डल है। अर्थात् मनुष्य के कान तक पहुंचनेवाली ध्वनिरूपी लहरें विशेष प्रमाण में स्थूल हैं। ध्वनिकी लहरों से जब वातावरण कंपित होता है, तब उसका आधारभूत द्रव्य भी अवश्यमेव कंपायमान होनाही चाहिये। अर्थात् इन ध्वनिलहरों से उस द्रव्य में उत्पन्न हुई हुई अत्यंत सूक्ष्म लहरों का अनुभव मनुष्य की इन्द्रियां पकड नहीं सकतीं। परन्तु उसी द्रव्यान्तरगत विशेष प्रकार की लहरें प्रकाशरूप से उसके आखोंपर असर करती हैं।

यदि ऐसी कोई युक्ति मिले कि, जिससे आंख और कान की अनुभव शक्तिसमान हो सके, तो ऐसा चमत्कार दृष्टिगत होगा कि एकही प्रकार की लहरकी आघात से दिखाई देती वस्तु का शब्द और रंग, इन दोनोंकी प्रतीति उसको एकही समय हो सकेगी। और यदि इसी तरह मनुष्य की समस्त पंचेंद्रिय तुल्यबल बनाई जा सकें, तो वस्तुमात्र अपनी प्रतीति उस मनुष्य को पांच प्रकार से एकही समय दे सकेंगी। हमारे यहां के मन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र में यह विषय अनेक तरह से प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ गायत्री के प्रत्येक अक्षर का विचार किया जाय, तो उसका वर्णन सप्तस्वरों में से कोईसा भी एक स्वर, दिव्य वर्ण इत्यादीं से किया हुआ होता है। किसी भी मन्त्र की उपासना में भिन्नभिन्न उच्चारों में अमुक ही विशेष रस होना चाहिये, अमुक विशेष गन्धही होना चाहिए, इत्यादि नियम हैं, वह इसी तत्व को मान कर ही है।

पदार्थविज्ञान और योग।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि, प्रकाशात्मक मूल द्रव्य से लेकर बाह्य जड सृष्टि तक एकही प्रकार का व्यवहार चल रहा है। वह नाना रूप से दीखता है। इसका कारण मूल द्रव्य की घन और विरल अवस्था, तथा उनको इस अवस्थामें ले आनेवाली मूल द्रव्य की लहरोंके अनेक प्रकार हैं। इसी कारण से मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति से ही मन चाहे वैसा परिणाम विश्वमें उत्पन्न कर सकता है। केवल क्रम बदल देने की विद्या उसे अवगत होनी चाहिये। विभूतिपाद के प्रारम्भ में पतंजलीने विभूति के सम्बन्ध में शास्त्रीय तत्व बतलाने के वास्ते १५ सूत्र लिखे हैं। उसमें १५ वां सारभूतसूत्र 'क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वेहेतुः' है। इस सूत्र पर किये गये व्यास भाष्यपर 'बडा घर पोळावासा' यह कहावत चरितार्थ होती है। इस सम्बन्धी चर्चा मैंने 'वैदिक संस्कृति की पुनर्घटना' नामक पुस्तकमें विशेष रूपसे की है, इस कारण यहांपर उस सम्बन्ध में कुछ विशेष न कहते हुए प्रस्तुत विषय की ओर आता हूं। हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त ऐसा है कि यह जो पंचविषयात्मक और सप्तलोकात्मक विश्व है, उसमें शब्द छोडकर शेष समस्त विषय ज्यादा स्थूल हैं। केवल शब्दही अति सूक्ष्म है। पंचकिरण में आकाश को एक गुणात्मक मानते हुए अन्य 'भूतों' में क्रमशः गुणोंकी बढती होती गई है। आकाश सर्वव्यापक होनेसे उसकी लहरें अर्थात् शब्दगुण भी समस्त विश्वमें व्यापक है। अर्थात् उत्पन्न समस्त स्थूल अथवा सूक्ष्म पदार्थों के दो अंग हैं। एक अंग, उन क्रमशः आए हुए भिन्न भिन्न घटकों का, जिनसे कि वह पहचाननेयोग्य बना है और दूसरा, उन भिन्न क्रमोंके उत्पन्न होनेमें आधारभूत आकाशरूपी द्रव्यमें लहरों का

जो क्रम होता होगा।

यह क्रम अत्यंत सूक्ष्म होनेके कारण मनुष्य अपनी शक्ति यदि बढानी आ जाय, तो वह उन आकाशीय लहरों का अपने कानोंसे अनुभव कर सकता है। यह बात ऐसी होनेसे और उस विशेष कर्मोंकी आकाशीय लहरें ही मूल होनेसे शब्द समस्त विश्व का मूल है, ऐसा शास्त्रकारोंने कहा है। इस विषयमें योगशास्त्र का अनुभव ऐसा है कि इस शब्दकी योग्य झंकार यदि हमें लेनी आ जाय, तो वह, हम वैखरी वाणीसे जो ओ३म् का उच्चारण करते हैं, ठीक वैसी है। यही बात मांडूक्योपनिषद्ने 'ओंम अविनाशी मूल है, और बाकी सब उसी का स्पष्टीकरण है, तथा इन दोनोंका आधारभूत एकही द्रव्य होने के कारण 'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः।' इस प्रकारकी वस्तुस्थिति होती हुई, उससे 'संविशत्यात्मनात्मानम्' ऐसी बात संभव होती है, ऐसा कहा है। 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' इसी कारण 'सर्वं ओकारः' 'ऋचो अक्षरे, परमे व्योमन्' इनमेंसे जिस स्थानपर समस्त देवता एक प्रकारसे एकही स्थानमें व्यवस्थित निगडित है, 'जैसे कपडेका धागा' जैसा कि इसका अर्थ यास्क करते हैं- वह अक्षर 'ओंकार ही है, ऐसा शाकपूणि का मत है, ऐसा यास्कने कहा है। अर्थात् मांडूक्य की परंपरा ऋग्वेदकी ही है, वह अपना मनमाना नहीं कहती है।

स्फोटशक्ति।

स्थूल दृष्टिसे देखनेपर विश्व यह मूल आकाशलहरों का विशेष स्वरूप है, इस कथन में प्राचीन व अर्वाचीन शास्त्र एकमत हैं। परन्तु योगशास्त्र तो इससे भी आगे बढकर कहता है- कि मनुष्य यह समस्त विश्वका ठीक जैसी की तैसी प्रतिमा है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सिर्फ प्रमाण का ही फरक है। जिस प्रकार रेडिओयन्त्र के अनेक बिंदुओं का हजारों मील अन्तर पर स्थित स्थलों से ऐक्य होता है, और जैसे उन स्थानों की सारी लहरें वे अपने में ग्रहण कर सकते हैं और अपनी लहरें अनेकानेक स्थानोंपर एक ही जगह से पहुंचा सकता है, उसी प्रकार पिण्डका प्रत्येक कण ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणुके साथ समधरातलपर स्थित है। परन्तु इस बातका आत्मा के अनुभव न आनेका कारण यन्त्रों की अक्षमता है। यदि यह अक्षमता दूर कर दी जाय, तो पिण्डान्तर्गत आत्मा का अंश ब्रह्माण्डान्तरर्गत आत्मा से निश्चयही ऐक्य पूर्ण रूप से अनुभव कर सकता है। दासबोध की एक उक्ति इस विषय में बडी मार्मिक है। ब्राह्माण्डा वरोनि पिण्ड। अथवा पिण्डावरोनि ब्रह्माड। अधोर्ध्व पाहतां निवाडा कळों येतों॥ यह कथन केवल बुद्धि के ही व्यापार तक सिमित न होता हुआ सर्वत्र सत्य है। पिण्ड का जो व्यवहार चल रहा है, उसमें कुछ शक्ति जीव के आधीन है और कुछ नहीं। पंचेंद्रियों का तथा कर्मेन्द्रियों का व्यवहार बहुधा उसी के स्वाधीन है, परन्तु प्राण तथा वाणि उसके वश में नहीं हैं।

प्राण उस के स्वाधीन नहीं हैं, यह तो सर्वसाधारण को ज्ञातही है। परन्तु वाणी के व्यवहारमें उसके अधिकार-क्षेत्रके परे कोई शक्ति है, यह एकदम ध्यान में नहीं आता, तथापि ऐसी शक्ति शरीर में है, इस में सन्देह नहीं। इस शक्ति की कल्पना वैय्याकर्णियों को थी और उसेही उन्होंने स्फोटसंज्ञा दी। सांख्यशास्त्र के प्रक्रिया में यह स्फोटवाद ठीक न बैठ सकने के कारण उन्होंने इस वाद का खण्डन कर डाला है। और स्फोट का कार्य प्रत्यभिज्ञा करती है, ऐसा कहा है। परन्तु यदि वह प्रत्यभिज्ञाही है, तो फिर अकेली अन्तःकरणशक्ति की जिस प्रकार पांच पृथक् पृथक् कला होती हैं, उसी तरह प्रत्यभिज्ञा को भी द्विकलात्मक कहना चाहिये। क्योंकि सिर्फ स्मृतिरूप व्यवहार से परे यह स्फोटरूप प्रत्यभिज्ञा अधिक व्यवहार किया करती है।

एक उदाहरण से ये बात ज्यादा ध्यान में आ सकेगी। वक्ता बोलते हुए भाषण का विषय अमुक होगा, ऐसा एक संकल्प करता है। परन्तु जिस प्रकार मशीनगनसे गोलियां छूटती हैं, उसी प्रकार भाषण देते हुए शब्द मुखसे निकलने लगते हैं। अमुक विषय पर बोलना है, ऐसा संकल्प होनेसे आगे आगे विषय का विस्तार होता चलता है, यह ठीक है, परन्तु अमुक शब्दों में ही बोलना है, ऐसा उसका संकल्प नहीं होता। अर्थानुरूप शब्दयोजना किस प्रकार करना चाहिये, इस का तो वह कभी विचार भी नहीं करता। इतना होने पर भी शब्द केवल अर्थ दर्शाते हुए स्वाभाविक रीतिसे मुखसे बाहर आते रहते हैं। यह सब काकतालीय न्यायसे होता है, यह कहना निःसंशय पागलपन है। प्रत्यभिज्ञा का कार्य पूर्वसंस्कारों को जैसेके तैसे

जागृत करना है। उन शब्दार्थों का इस प्रकार का संस्कार इसके पूर्व कभी हुआ हुआ नहीं होता। तिसपर भी संगति ठीकही दृष्टिगोचर होती है। अतः यह एक स्वतंत्र किया है। चाहे वह प्रत्यभिज्ञा की कला हो अथवा एकाद सयंभू स्वतंत्र शक्ति। और इसी का नाम है, सच्ची वाक्शक्ति।

वेदसे मतलब क्या है?

यह वाक्शक्ति स्वयंभू होनेपर भी उसका सर्व व्यवहार बाह्य शरीर के द्वारा चलता है। अतः उसके जैसे शब्दार्थों के संकेत होंगे, उस तरह का वह व्यवहार करेगी, यह स्पष्ट है। मनुष्यको अपनी स्थूल इंद्रियों से वस्तुमात्रका स्थूल ज्ञान प्राप्त होनेके कारण उसकी वाणी का व्यवहार भी सारा का सारा स्थूलरूप ही होता है। योग का आगे चलकर ऐसा सिद्धांत है कि अभ्यास से मनुष्यमें आकाशतत्त्वसे भी अधिक सूक्ष्म बननेकी शक्ति आ जाती है, अर्थात् ऐसी अवस्थामें उसे आकाशतत्त्वकी लहरों का प्रतीति हो सकती है।

ऐसा शक्तिसंपन्न मनुष्य अपने आंखसे वस्तु का बाह्य रूप देख सकेगा और यदि मनमें आया तो अपनी सूक्ष्म अवस्थासे दूसरे अंगकी शब्दात्मक प्रतीति भी कर सकेगा। उस वस्तुसम्बन्धी यह शब्दात्मक प्रतीति केवल स्वयंभू है; नैसर्गिक है। यही नहीं, जिन हिरण्यगर्भादि देवोंने अपनी इच्छामात्रसे मूल द्रव्यमें अनेक परिणाम उत्पन्न करनेवाले सृष्ट्युत्पादक हिरण्यगर्भादि देवोंकी भी उत्पन्न की हुई नहीं है। किसी भी व्यक्त व्यवस्थामें विद्यमान पदार्थमात्र के मूलमें यह शब्दात्मक प्रतीति है ही। इन्हीं मूल शब्दबीजोंमेंसे वह व्यक्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न होता है, यह विधान तर्कशुद्ध है। प्रत्येक वस्तुके मूलभूत जो शब्द अथवा शब्दसमूह हैं, उनही का नाम हैं वेद। वे नित्य हैं, स्वयंभू हैं और अपौरुषेय हैं, यह बात सांख्ययोगादि शास्त्रों पर विश्वास रखनेवालोंको माननाही चाहिए। विद् धातु ज्ञानार्थ है, उसी प्रकार विद् का अर्थ प्राप्त करना भी होता है।

अर्थात् 'वेद'से वह शब्दबोध होता है, जिससे वस्तु-प्राप्ति हो। ऋग्वेदमें ऋचाओं को ब्रह्म कहा गया है, उसका भी यही कारण है। 'बृह' धातु का अर्थ बढ़ना, विकास पाना तथा फैलाना ऐसा है। जिस शब्दसमूह का विकास अनेक दृष्ट वस्तुओंके रूपोंसे होनेवाला है, उसका नाम है ब्रह्म। सर्व विश्वके रूपसे आत्मा काही विकास हुआ करता है, इस कारण माण्डूक्य-उपनिषद्ने कहा है कि 'अयमात्मा ब्रह्म'। आकाशतत्त्वात्मक ओंकाररूपी शब्द ब्रह्म उस आत्मारूप ब्रह्म का दूसरा पर्याय है। इस कारण आत्माकी इच्छासे शब्द ब्रह्मद्वारा नाना प्रकार की आकृतियां निर्माण हो सकी हैं। यह सारा विषय श्रीज्ञानेश्वर महाराजने एकही 'कडीमें सारसरूपसे कह डाला है।

घोषाचिया कण्डी। नाना चित्रांची रूपण्डी।
प्रणवाचिया मोडी। रेखली ऐसी।'

यहां 'मोड' यह शब्द क्रियापद नहीं हुआ नाम है। मोडका अर्थ है प्रकार। English में जिसे mode (प्रकार, तरह) कहा जाता है।

जिन योगसंपन्न विभूतियोंको इन वेदोंका तुर्यारूपी ईश्वरी अवस्थामें ज्ञान हुआ, वे ऋषि कहलाये। श्री सरस्वत्युपनिषद् में इस अवस्थाके दो प्रकार बताये गये हैं।

एक दृश्यानुविद्ध व दूसरा शब्दानुविद्ध। जिन ऋषियोंने दृश्यानुविद्ध समाधी साधकर इन वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया। उन ऋषियों को वेदद्रष्टा ऐसी संज्ञा प्राप्त हुई। इन वेदोंका ज्ञान कुछ ऋषियों की शब्दानुविद्ध समाधीमें प्राप्त हुवा। इस कारण वेदोंको श्रुतिनाम प्राप्त हुआ। इन ऊपर बताये गये प्रकारोंमेंसे किसीसे जानकर उनका प्रकटीकरण करनेवाले ऋषियोंको मंत्रकृत ऋषि कहा गया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, प्रगटीकरण किस प्रकार से हुवा? यह प्रगटीकरण जैसा का तैसाही हुआ या उसमें ऋषियों को भी कुछ मिलावट थी? और यदि ऋषियों की तथा देवों की उसमें कुछ मिलावट हो, तो उसे पौरुषेय क्यों न कहा जाय? प्रकटीकरण के तीन प्रकार संभव हैं।

(१) हिरण्यगर्भ को, अथवा उसकी अवस्था से जिसने तादात्म्य प्राप्त किया हो, ऐसे दूसरे किसी को, वेदों का अक्षरशः श्रवण अथवा दर्शन हुवा और उसने वैसेके वैसे अक्षरशः लोगोंको बताये।

(२) सृष्टि उत्पन्न करनेसे पूर्व हिरण्यगर्भरूप आत्मा ने अपने ध्यानसे ये स्वयंभू शब्दार्थसंबंधों का ज्ञान प्राप्त किया और उनके तत्वों के आधार पर शब्दयोजना की और वह शब्दयोजना जैसी की तैसी संभाल ली गई।

(३) ईश्वरी अवस्था प्राप्त योगसंपन्न ऋषियोंने शब्दार्थ-संबंध का ज्ञान प्राप्त किया और उस के अनुरूप शब्दरचना की गई।

ये दूसरे दो प्रकार सत्य हों, तो ऋषिही क्या, ब्रह्मा भी एक विशेष पुरुष ही होनेके कारण वेदों को पौरुषेयही कहना पडेगा। किन्तु तनिकसा विचार करनेपर यह ज्ञात होगा कि यह वाद वृथा है। स्वयंभू शब्दार्थसंबंध नित्य रखकर यदि शब्दयोजना लौकिकार्थ की गई हो, तो लौकिकार्थ तो केवल आपाततः होनेसे उसे वेदत्व प्राप्त हो ही नहीं सकता। और जिसे सत्यही वेदत्व प्राप्त है, वह शब्दार्थसंबंध पुरुषकृत न होनेके कारण शब्दरचना स्वयंभू हो अथवा उन तत्वोंके आधार पर किसीने उसे रचा हो, उसका मन्त्रत्व नित्य, स्वयंभू और अपौरुषेयही है। चाहे आप नदी में उतर कर पानी पीयें अथवा किनारे बैठकर बर्तन से पानी पीयें, वह पानी हर सूरत में नदीका पानीही रहेगा। ठीक वैसा ही यह वाद होनेसे उसका कोई तात्त्विक दृष्टिसे महत्व नहीं।

और उपर्युक्त सर्वशास्त्र मान्य करनेपर यदि किसी पुरुष ने भी यह शब्दयोजना की है, ऐसा मान भी लिया जाय तो भी उससे वेदोंका कुछ बिगडता नहीं। इस विषयकी चर्चा आगे आनेवाली ही है और उस स्थानपर शब्दार्थों का स्वयंभू सम्बन्ध बिना छोडे भी लौकिकार्थ रचना कैसे हो सकती है और मंत्रार्थ लौकिकार्थ के अंतर्गत न होकर शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध में किस तरह है और इस कारण एक ही मंत्र का मंत्रार्थ तथा लौकिकार्थ परस्पर किस तरह यह भिन्न होते हैं, यह दिखाया जायगा। अतः इसे यहीं छोडकर अपने विषय की ओर आते हैं।

एक शंका।

वेदोंकी उत्पत्तिसम्बन्धी इन सब शास्त्रों के देखने से सहज ही ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि हिरण्यगर्भरूपी आत्मा जो कुछ कर सका अथवा जो कुछ उसने किया, उसीका अंशरूप जीवात्मा क्यों कर न कर सके? हिरण्यगर्भरूपी आत्मा ने अपने संकल्परूप तपसे आकाश में शब्दरूप लहरें उत्पन्न कीं। तो फिर जीवात्मा भी ऐसा क्यों नहीं कर सकता? इसमें शास्त्रसिद्धान्त ऐसा है कि जीवात्मा यह सब कर सकता है। केवल अंतर इतनाही है कि वह हिरण्यगर्भ के समान संकल्पमात्रसे नहीं कर सकता। इसके तीन कारण हैं– एक तो यह कि जीवात्मा यह हिरण्यगर्भ का अत्यंत सूक्ष्म कण होनेके कारण उसकी संकल्पशक्ति भी अत्यंत सूक्ष्म तथा बलहीन है। दूसरा यह कि हिरण्यगर्भ केवल आकाशतत्व में स्थित होनेसे उसके नीचे पंच तत्वों का कीचड नहीं है। जीवात्मा को कर्दमरूपी भूताकाश में रहना पडता है, इस कारण इस कीचडमेंसे इष्ट स्वरूप प्राप्त करनेमें उसके शब्दको देरी लगती है। और तीसरा यह कि इष्ट परिणाम प्राप्त करने के लिए जिस योग्यता का शब्द उत्पन्न होना चाहिए (energy velocity for mass) उस प्रकारका शब्द उसका शरीर सहज उत्पन्न नहीं कर सकता। इन तीन अडचनोंके दूर हो जानेपर जीवात्माभी हिरण्यगर्भकासा काम कर सकेगा।

हमारे शास्त्रोंमें इसका विचार सूक्ष्म रीतिसे किया गया है। संकल्पकी क्षीणताकी आपत्तिको शास्त्रोंने अपनी मंत्र-परंपराको 'प्रवातेंतोदी इव प्रदीपात।' इस न्यायानुसार जीवित रखते हुए दूर कर रखी है। नीचे स्थित पंच तत्वोंकी अडचन उच्चारोंकी पुनः पुनः आवृत्ति से नाश हो जाती है, और मापा हुआ मन चाहे वैसा शब्द उत्पन्न हो सके, तदर्थ शरीरकी सदृढ और योग्य बनाने का एक स्वतंत्र शास्त्र उन्होंने ढूंढ निकला है। इन्हीं शास्त्रोंसे प्रथमतः कुलार्णवतंत्रमें वर्णित ज्योतिर्वर्णाश्रमका पता लगा, और उसीका स्थूल स्वरूप है। इस सम्बन्ध में विशेष 'संस्कृति की पुनर्घटना' पुस्तकमें लिखा गया है और चातुर्वर्ण्यसंस्था है।

वेद नित्य, स्वयंभु तथा एक होते हुवे भी शाखा-भेद किस प्रकार होता है, इस का भी दिग्दर्शन वहां कराया गया है।

माण्डुक्य का सिद्धांत।

केवल अध्यस्तकी ही दृष्टिसे देखा जाय, तो जगत् का 'शब्दप्रभवत्व' उपादान कारणके अभिप्राय से भी कैसे सिद्ध होता है, यह अब तकके विवेचन से ध्यानमें आ

सकेगा। अब मांडुक्य का विषय पूरा करें। जगत् का आदिमूल द्रव्य ब्रह्म है। अध्याससे कहो किंवा किसी दूसरे कारणसे कहो आत्मा तथा ॐकार ये दो उसके पर्याय हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि एकही सुरमें मिला रखे दो, तब लोंमेंसे एक पर थाप दिये जानेपर दूसरा खुदबखुद गूंज देने लगता है। ठीक उसी प्रकार इन दोनों पर्यायोंका परिणाम एक दुसरे पर होना चाहिए। और ऐसा वह होता भी है, ऐसा योगशास्त्र का अनुभव है।

इसका अर्थ यह है कि यदि किसी प्रकार ध्यानमननादि साधनों से जीवात्मा यदि अपने वैश्वानरत्व की प्रतीति प्राप्त कर ले, तो आपही आप उसे विराट् का स्वामित्व प्राप्त हो जावेगा। चतुष्पाद आत्मा की प्रतीति प्राप्त होने पर मात्राचतुष्टयात्मक ॐ काररूप विश्वकी भी प्रतीति हो जायगी। यह विषय श्रीसमर्थने आपने दासबोध में इस प्रकार कहा है- (निश्चय बैसे वस्तु कडे। तरी ज्ञानमार्गेही सामर्थ्य चढें ॥) इस समस्त व्यक्तका सामान्य शब्द ॐ चार अंशका ही बना हुवा है और उसका सबसे इश्वर का व्यक्त अंश 'अ' है। योगशास्त्रमें 'तस्य वाचकः प्रणवः।' ऐसा कहा है। ॐ की यदि आवश्यक व योग्य प्रमाणमें असकृत आवृत्ति जीव करे, तो वह पूर्ण ईश्वर हो जावेगा। तथा ईश्वरी अवस्था के अनुसार श्रीसमर्थने जैसा वर्णन किया है कि "जाणें ब्रह्म जाणें माया," इस उक्ती केअनुसार उसकी स्थिति हो जायगी। अपने आत्मत्व को न भुलते हुवे भी उसे मनमाने जगद्रूप विलास करनेकी शक्ति प्राप्त हो जावेगी।

इसी न्यायसे ॐकारकी पहिली मात्रा (अ) का यदि योग्य प्रमाण में जीवात्मा उच्चार करता रहे, तो समस्त विराट का स्वामित्व उसे प्राप्त हो जायगा। तथा वैश्वानरत्व की भी प्रतीति होगी। यदि ऐसा हो सके तो ही 'पादा मात्रा मात्राश्च पादा' यह माण्डुक्यकी प्रतिज्ञा और 'संविशत्यात्मनात्मानम्' यह कथन यथार्थ होगा। यह ठीक ऐसा ही है, यह वैदिक शास्त्रग्रन्थों के आधार से तथा महात्मा पुरुषों के अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु यह स्वतंत्र विषय है, तथा हम माण्डुक्य का विवरण करने भी नहीं बैठे। वेदोंके अपौरुषेयत्व का बीज मन्त्रशास्त्र में मिलता है और मन्त्रशास्त्र की परंपरा ऋग्वेदसे उत्पन्न होकर आज तक अव्याहत चली आयी है, इतना ही बतानेके लिये ऊपर विचार किया है। इन सर्व विचारों से वेद अपौरुषेय कैसे हैं, निदान कैसे हो सकते हैं, इसकी पाठकोंको कुछ कल्पना आ सकी, तो इस लेखका उद्देश पूर्ण हो गया।

अभ्यास की दो स्वतंत्र दिशायें।

इस सर्व प्रतिपादन का ऐसा आशय न समझे कि पाठकगण यास्क, सायणादि की वेदार्थ के यत्न में सहायक सर्व पुस्तकें बांध कर सुरक्षित अलग रख दें। उन में वेदों का महत्व यदि केवल मन्त्रार्थ ही के लिये ही हो, तब तो सत्य यह होगा कि उन्हें लौकिकार्थत्व प्राप्त ही नहीं। फिर उसका विचारही क्यों किया जाय? यह प्रश्न सहजही उत्पन्न होता है। और ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि याज्ञवल्क्य से लेकर डॉ० केतकरतक महा विद्वानोंने बडे परिश्रमसे वेदार्थ करने के प्रयत्नका जो ढेर लगाया है, वह क्या दिया सलाई लगाने के लिए किया है? क्या ये सारे प्रयत्न गुलीव्हर के उडनेवाले द्वीपांतरगत पंडितों के उपद्व्याप के समान व्यर्थ हैं? परन्तु ऐसा नहीं है। वेद यदि केवल अपौरुषेय तथा विशेष अर्थ में पौरुषेय हुवे, तो भी उनके लौकिकार्थ तथा मन्त्रार्थ ये दोनों अंग होनेमें कोयी भी अडचन नहीं आती। यह पाठकोंको विदित हुआ ही होगा।

ये दोनों अंग पूर्ण स्वतंत्र होने के कारण दोनोंका स्वतंत्र रूपसे एकही मनुष्य के अथवा भिन्नभिन्न व्यक्तिओं के अभ्यास करनेमें कुछ भी हानि नहीं है। यह तो 'चिंतामणि' है। उसकी यथाशास्त्र पूजा-प्रार्थना करने पर चाहिए, सो मनोरथ पूर्ण करेगा। परन्तु ऐसा न करते हुए उसके स्थान पर मणिके टुकडे टुकडे करके उन्हें सुवर्णालंकारोंमें जड दिया जाय, तो भी अलंकार बनकर शोभा तो जरूरही देगा। इस कारण आजकल जिस किसी पद्धती से भी वेदोंका अभ्यास किया जाय, उसमेंसे संशोधनशास्त्र द्वारा उत्पन्न की हुई निराधार अडचनोंको दूर कर, उसे तर्कशुद्ध बनाते हुए वेदोंके लौकिकार्थ का अभ्यास करना चाहिए। उससे भी अवश्य अपरिमित कल्याण होगा। अब पीछे जो विषय आधाही छोड

दिया था, उसपर विचार करके इसको पूर्ण करेंगे।

संगीत का उदाहरण।

समाधिअवस्था में योगसंपन्न ऋषियों को जिस प्रकार श्रुतिका ज्ञान हुआ, उन्होंने ठीक उसी प्रकार उसे प्रगट किया, ऐसा कहने का अभिप्राय यह हुआ कि वेदमंत्रों में मंत्रार्थ और लौकिकार्थ सहजही एकही समयमें आ जाना अथवा मंत्रार्थ के अनुरूप शब्दयोजना का सहजही से हो जाना; यह तूर्यावस्था का एक विशेष स्वभाव, अथवा उस अवस्था में प्रत्यय शक्ती को परिमाणुओं के स्फटिकीभवन समान इसे एक चमत्कार कहना पडता है। किंतु ईश्वरी अवस्थामें शब्दार्थशास्त्र का ज्ञान होकर ऋषियोंने लौकिकार्थको ध्यान में रखते हुए शब्दयोजना ऐसा मान लेनेसे उसकी विलक्षणता नष्ट होकर एकही शंका बचती है और वह यह कि मंत्रार्थत्व को बिगडने न देते हुए, लौकिकार्थ की रचना कैसे संभव हो सकती है? और इस प्रकार के पुरुष प्रयत्नसे अपौरुषेयता कैसे नष्ट नहीं होगी? नित्य परिचय के एक सादे उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जायगा।

गाने का मुख्य उद्देश मनुष्य के अन्तःकरण में रस उत्पन्न करना, भावजागृति करना तथा भावसमाधि प्राप्त करवाके अनेक सिद्धि प्राप्त करा देना, इतनाही है। भिन्नभिन्न रागोंका सामर्थ्य उनके सप्तस्वरानुपूर्वी में स्थित है। विशेष प्रकार के सप्तस्वरों के तालबद्ध प्रस्तार होते ही राग और रागिणी उत्पन्न होते हैं और उनकी रचनाही ऐसी होती है कि, सदय मनुष्य के अन्तःकरण को कंपायमान कर सजातीय भाव उत्पन्न करती है, यह समस्त प्रस्तार यद्यपि मनुष्यने ढूंढ निकाला है, तो भी वह अतीव नैसर्गिक स्वयंभु अतएव नित्य हैं। इन स्वरोंके उच्चारके तीन प्रकार हो सकते हैं। एक केवल आ आ आ ऐसी तान। परन्तु उसमें 'म ग रे सा' ऐसे उतरते स्वर रहने से मनुष्य अन्तःकरण में करुण रस उत्पन्न होता है। किंवा अर्थहीन प्रत्यक्ष म ग रे सा ऐसे सांकेतिक शब्दों से भी यही कार्य हो सकेगा। अथवा उस स्थान पर 'प्रियतमा' इत्यादि लौकिकार्थपूर्ण शब्द भी उपयोग में लाये जा सकेंगे।

असली पक्के गाने में जब गानेवाला गाता चला जाता है, तब सुननेवालों को शब्दार्थ न समझने पर भी गायनानंद पूर्णत्व से प्राप्त होता है। जिस रागकी चीज गायी जाती हो, वह राग तथा उससे उत्पन्न होनेवाला रस यही सच्चा गायनार्थ है। म ग रे सा यह केवल लौकिकार्थ तथा 'प्रियतमा' यह काव्यपूर्ण लौकिकार्थ है। ये दोनों केवल परस्परविरुद्धधर्मी न होनेके कारण, दूध में शर्करा मिलाने के समान गायनार्थ पर एक प्रकार का उपकार ही होता है। किन्तु वस्तुतः वे दोनों स्वतंत्र हैं और शुद्ध गायनार्थ का उनके बिना कुछ भी नहीं अडता। यही न्याय वेदमन्त्रों को भी लागू पडता है।

मंत्रशास्त्र में 'रं' अग्नि बीज बताया गया है, और उसका अर्थ एक विशिष्टआकाश मर्यादा में अग्नि उत्पन्न करना है। परन्तु संकेतके परिचयसे यदि किसी को उसके उच्चारसे मद्यकी (Rum) याद आवे तो क्या हानि है? इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दिया जा सकता है। किसी जगा चोरी हो रही है, चोरों का एक साथीदार बाहर रखवाली कर रहा है, उन्होंने पूर्वसे कुछ संकेत ठहरा रखे हैं। अब रास्ते परसे कोई आदमी जाने लगे, तो वह सावरी सुरत इस प्रकार गाने लगता है। जानेवाले इसको एक सुंदर गाना समझते हैं। कुछ खडे होकर सुनने लगते हैं, तो दूसरे उसकी समालोचना करते हुए चले जाते रहते हैं। किन्तु अंदरके चोर इसका दूसरा ही अर्थ करते हुए अपना खोदने का काम छोड देते हैं, और अंधकार में छुपकर बैठ जाते हैं।

उनके दृष्टिसे उस गाने को केवल इतनाही अर्थ है। कौत्सके मंत्रवादयोंने वेदमंत्रों के उत्पत्तिसामर्थ्य की ओरही विशेष लक्ष्य दिया और उन्हें उसीकी जरूरत थी। इस वास्ते 'अनर्थका हि मंत्राः' ऐसा उन्होंने कहा। इसके ठीक उलट 'यात्वसौ शब्दानुपूर्वी साऽनित्या यद्यपि अर्थो नित्यः' इस प्रकारका विधान पतंजलीने किया पतंजली मुनीकी कल्पना बराबर थी, किंतु यह अर्थ अर्थात् मंत्रार्थ नित्य है, इतना स्पष्ट न करनेके कारण उनका पक्ष पुनःपुनः भंवरमें पडता हुआ सा प्रतीत होता है।

इस प्रकार का वैदिक लोग वेदों का अपौरुषेयत्व मानते हैं, ऐसा शास्त्रोंसे प्रतीत होता है। इसका पूर्ण रूपसे विचार करने पर गैर समझसे उत्पन्न हुए हुए मन्त्रार्थवाद अथवा तत्समानवाद जो उत्पन्न हुए हैं, वे आपही आप नष्ट हो

जाते हैं। अतः वेदों के अपौरुषेयत्व को और मन्त्रार्थता को हानि न पहोंचाते हुए, उन्हें अभ्यासका एक स्वतंत्र अंग समझ कर उनके लौकिकार्थ का विचार करना चाहिए। विचार करने की एक पद्धति ऐतिहासिक पद्धति भी हो, तो उसमें कोई हानि नहीं। क्योंकि ऐतिहासिक पद्धतिसे विचार करनेसे भी वेदों के अपौरुषेयत्व में कुछ भी बाधा नहीं आती। इस लेख से ऐतिहासिक पद्धति का इतना संबंध है। अतः इस विषय में जो कुछ कहा गया, वही बस है। ऐतिहासिक पद्धति-विषय की अन्य दृष्टिसे जाँच यहांपर अप्रस्तुत होगी।

एक समस्त वर्णन से एक बात पता चलति है कि वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृति प्रगति की हालत में होने के कारण उस में विद्यमान छोटीसे छोटी वस्तु तथा विचारप्रणालीमें भी अनेक मूलभूत शास्त्र गुंफित हुए हुए हैं। अतः इनमें से केवल एकाध सूत्र लेकर उसका ठीक ठीक समझ लेनेपर यह कहना कि हमें सब कुछ पता चल गया अन्धों का हाथी देखने के बराबर होगा। वैदिक संस्कृति के आधार भूत सांख्ययोगादि शास्त्र ठीक हैं या गलत, यह एक स्वतंत्र विषय है। उनका इस लेख से कुछ भी संबंध नहीं है। तथा यह संबंध निश्चित करना शास्त्रज्ञोंका कर्तव्य है। किन्तु योगशास्त्र सरीखे प्रयोग सिद्ध शास्त्रों का प्रयोग कर अनुभव से शास्त्रज्ञों को चाहिए कि वे इसका निश्चय करें।

वाङ्मयअभ्यासक का काम केवल इतनाही है कि तत्संबंधी वाङ्मयका निःपक्षपात अभ्यास करके उपलब्ध सिद्धांतोंको ज्योंके त्यों जनताके सामने रख दे। लेखककी भूमिका वैदिक वाङ्मयके एक छोटेसे अभ्यासककी है। और उसे वैदिक वाङ्मयने जो कुछ दृष्टि पडा, वह लेखकने अपनी कल्पनाके अनुसार यथाशक्ति निःसंकोच होकर पाठकों के सामने रखनेका प्रयत्न किया है, अस्तु। अन्तमें जिस वेद-भगवानकी प्रेरणासे यह विषय प्रस्तुत करके कुछ थोडीसी वाङ्मयसेवा करनेकी प्रेरणा हुई थी। उस मंगलमय प्रभुको यह सेवा अर्पण करता हुआ पाठकोंसे केवल इतनीहि नम्र विनंती है कि यह मेरा यथामति छोटासाही प्रयत्न है।

' तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः '

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

माधवभट्ट की ऋग्वेदानुक्रमणी ।

परिचय-चर्चा ।

माधवभट्ट वैंकटार्य के पुत्र थे। इन्होंने ऋग्वेद का पूर्ण भाष्य किया है। ऋग्वेदके आठ अष्टक हैं, अर्थात् आठ आठ अध्यायों का एक एक अष्टक है। इस प्रकार समस्त अध्याय संख्या में ६४ हैं। प्रत्येक अध्याय की व्याख्या करने के पूर्व विद्यार्थियों की योग्यता और वैदिक साहित्य के साथ विशेष परिचय बढाने के निमित्त माधवाचार्यने भिन्न भिन्न विषयोंपर छोटे छोटे वक्तव्य कारिकारूप में लिखे हैं, उनकोही संकलित करके मद्रास यूनिवर्सिटी के विद्वान् महानुभाव सी० कुन्हान् राज, एम्०ए०, डी० Phil (Oxen) ने 'ऋग्वेदानुक्रमणी' नाम से पुस्तक प्रकाशित किया है।

माईसोर लायब्रेरी में एक हस्तलेख माधवकृत ऋग्वेद-भाष्य का ऐसा भी है, जिसमें अध्यायों के प्रारम्भ में ये अनुक्रमणी की कारिकाएं नहीं हैं, इससे उक्त महानुभाव का विचार है कि माधवने यह स्वतन्त्र पुस्तक बनाई है, और फिर उसके एक एक प्रकरण को भाष्य के प्रत्येक अध्याय के पूर्व भी रख दिया गया, क्योंकि अध्यायोंके पूर्व में कहे इन वक्तव्यों का उन उन विशेष अध्यायों से कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।

माधवभट्ट कौन हैं? वैंकटार्य के पुत्र यह माधवभट्ट ऋग्वेद के भाष्यकार हैं, जो सायण के पूर्व हुए+। इसके उद्धरण सायणने अपने भाष्य में लिए हैं। यास्क के टीकाकार देवराज यज्वाने इनका नाम लिया है। और इनके अनेक उद्धरण दिये हैं और उनकी अनुक्रमणी की सूचना भी दी है।

माधवभट्टने अपने सम्बन्ध में ऋग्वेदभाष्य के कतिपय अध्यायों के अन्त में अपना परिचय दिया है। वह विद्वान् कावेरी नदी के दक्षिण तटपर चोल देश में गोमत्-ग्राम में निवास करते थे। डॉ० कुनहान राजजीकी संमति में वह ग्राम सम्भवतः त्रिचनापली प्रान्त में ग्राम तिरुवदुथुराई है। क्योंकि वहां के शिव का नाम गोमतीश्वर है। सम्भवतः परान्तक को ही शिलालेखोंमें वीर चोल नाम से लिखा गया है। यह काल ९०७—९५२ ईस्वी के समीप होता है।

वैदिक साहित्यपर परिश्रम करनेवाले कई माधव हुए हैं, एक माधव वेदभाष्यकार हैं, एक अनुक्रमणीकार और भाष्यकार दोनों हैं, एक सामवेद के विवरणकार हैं। एक सायणभाष्यके कर्ता माधव हैं, इनमें यह अनुक्रमणी किसने बनाई यह निर्णय करना बडा कठिन है। इस स्थानपर इस गंभीर और जटिल समस्या को सरल नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में वेद के गवेषक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजीने 'वेदों के भाष्यकार' वाले अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में वैंकट माधव के संबंध में लिखा है, वह पढ लेना चाहिए। तो भी इसमें सन्देह नहीं सायणीय माधवसे यह भिन्न है, यह अनुक्रमणीकार माधव वैंकट के पुत्र हैं, जो सामविवरणकार से भी भिन्न हैं। इन्होंने ऋग्वेद के भी दो भाष्य बनाये हैं।

+ ऋ० १०।६।१ पर सायण—
माधवभट्टास्तु विहिसोतोरित्येषाग्निन्द्राण्या वाक्यम् इति मन्यन्ते।

अनुक्रमणीकार माधव ने उपोद्घातप्रकरण में अनेक अनुक्रमणियों के नाम और उनके विवरण दिए हैं, जैसे-

(१) आख्यातानुक्रमणी।
(२) नामानुक्रमणी।
(३) निपातानुक्रमणी।
(४) गूढार्थपदानुक्रमणी।
(५) विभक्त्यर्थानुक्रमणी।
(६) स्वरानुक्रमणी।
(७) समयानुक्रमणी।
(८) आर्षानुक्रमणी।
(९) छन्दोऽनुक्रमणी।
(१०) देवतानुक्रमणी।
(११) इतिहासानुक्रमणी, और
(१२) मंत्रार्थानुक्रमणी।

इनमें से आख्यातानुक्रमणी और नामानुक्रमणी को तो मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'माधवभट्टकी ऋग्वेदानुक्रमणी' के चतुर्थ परिशिष्ट में प्रकाशित कर दिया है, स्कन्द स्वामी आदि अनेक भाष्यकारोंने इन्हीं अनुक्रमणियों का प्रयोग इस प्रकार किया है, जैसे काव्योंके टीकाकार अमरकोष, वैजयन्ती, हलायुध आदि का किया करते हैं। परन्तु अध्यायों के प्रारंभ में जिन अनुक्रमणियों को दर्शाया है, वे क्रमसे हैं—

(१) स्वरानुक्रमणी।
(२) आख्यातानुक्रमणी।
(३) निपातानुक्रमणी।
(४) शब्दावृत्त्यनुक्रमणी।
(५) आर्षानुक्रमणी।
(६) छन्दोऽनुक्रमणी।
(७) देवतानुक्रमणी।
(८) मन्त्रार्थानुक्रमणी।

इस प्रकार ये आठही अनुक्रमणी हैं। शेषों का संकलन नहीं है।

हमारे विचार में ये अनुक्रमणी नहीं हैं, प्रत्युत इन अनुक्रमणियों के ये रहस्यनिदर्शक वक्तव्य मात्र हैं, जो उन अनुक्रमणी के गम्भीर रहस्य-स्थलोंपर प्रकाश डालते हैं। वास्तविक अनुक्रमणी के रूप तो दोही संकलित हुए हैं, एक आख्यातानुक्रमणी, दूसरी नामानुक्रमणी, जिनका परिशिष्ट ४ में संकलन किया गया है। आर्षानुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, इतिहासार्थानुक्रमणी, समयानुक्रमणी, विभक्त्यर्थानुक्रमणी, गूढार्थपदानुक्रमणी, आदि अनुक्रमणियें अभी खोज करनेयोग्य हैं, जिनमें वेदोंके समस्त उन उन विषयों का बडाही कोषानुसारी इसी प्रकार पूर्ण रीतिसे संकलन किया गया होगा, जैसा कि उपलब्ध आख्यात, और नामों का अनुक्रमणियों में किया गया है।

तो भी वेंकट माधवने अपने इन वक्तव्यों या व्याख्यानों में अनेक ऐसे वैदिक रहस्य खोले हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि प्राचीन कालमें वेदपर बहुत सूक्ष्म रीतिसे स्वर, क्रिया आदिपर खूब विचार किया जाता था। वेदके प्रेमियों को अपना अनुशीलन बढाने के लिए माधवोक्त इन चौसठों वक्तव्यों का अनुशीलन करना चाहिए। इसी प्रयोजन से हम माधव के इन प्रारम्भिक व्याख्यानों का सरल हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करते हैं। आशा करते हैं कि गुणग्राही पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

जयदेव शर्माजी, विद्यालंकार, अजमेर

ऋग्वेदानुक्रमणी।

स्वरानुक्रमणी।

श्रीवेङ्कटार्यतनयो व्याचिकीर्षति माधवः।
ऋक्संहितामद्य देवः प्रसिदतु विनायकः॥

श्रीवैङ्कट के पुत्र माधव ऋक्संहिता की व्याख्या करना चाहते हैं। आज विनायक देव परमेश्वर प्रसन्न हों।

१. लोकसिद्धं विभक्तयर्थमनुक्ते तत्र न त्यजेत्।
निरुक्तमग्रतः कुर्याद् यावदर्थं तथा स्वरम्।

लोकप्रसिद्ध विभक्तिका अर्थ विना बतलाये मन्त्रको न छोडे। सबसे प्रथम निर्वचन करे और उसमें जितना अर्थ और जैसा स्वर हो, अवश्य बतलावे।

[तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां,तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत, केन चिद् वृत्तिसामान्येनाऽविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्न त्वेव न निर्ब्रूयान्न संस्कार-माद्रियेत विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति
(नि० २।१)

प्रधानमर्थः शब्दो हि तद् गुणायत्त इष्यते।
तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दान् अर्थवशं नयेत्॥
(बृह० २।९९)

देखो माधवानुक्रमणी १।३।२२; १।५।७, ८।६।२]

२. पदानि पूर्वं जानीयात् पदस्वरमनन्तरम्।
उपसर्गान् क्रियाशब्दैः संयोज्यार्थं प्रदर्शयेत्॥

पहले पदोंका ज्ञान करे, इसके पश्चात् पदों का स्वर जान ले। फिर उपसर्गोंको क्रियाशब्दोंसे जोडकर अर्थ बतलावे।

३. निघाततिङ्पदस्यार्थे वाक्यार्थः पर्यवस्यति।
अनिघातोऽपि पादादौ विशेषस्तत्र वक्ष्यते॥

निघात अर्थात् सर्वानुदात्त तिङन्त पद के अर्थ पर वाक्यार्थ अवलम्बित होता है। पाद के आदि में तिङन्तपद सर्वानुदात्त (निघात) नहीं भी होता है। उसके सम्बन्ध में विशेष कहेंगे।

(पदात्। अनुदात्तं सर्वं मपदादौ। तिङ्ङतिङः।
(पा० ८। पा० १। सू० १७।१८।२८)

४. निघाततिङ्पदस्यार्थं वाक्यान्ते दर्शयेच्छनैः।
उदात्ततिङ्पदस्यार्थमुच्चैरादौ प्रदर्शयेत्॥

सर्वानुदात्त तिङन्तपदका अर्थ वाक्य के अन्त में धीरेसे बतलावे। और उदात्त तिङन्तपद का अर्थ वाक्यके आदिमें ही ऊंचे से बतला देवे।

(जो तिङन्तपद सर्वानुदात्त नहीं है, उसका एक अक्षर अवश्य उदात्त रहता है। वह तिङन्त पद ही यहां 'उदात्त तिङ्' पद कहा है। आगे भी उसे उदात्त या 'उदात्तवान्' ऐसा कहेंगे। जैसे —

'सूर्य॑ एका॒की च॑रति' (यजु० २३।४६)

'चरति' सर्वानुदात्त है।

पृ॒च्छामि॑ त्वा॒ पर॑मन्तं॑ पृथि॒व्याः (यजु० २३।६१)

यहां पृच्छामि में 'छा' उदात्त है। उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः। (पा० १।२।२९, ३०)

५. यद् यदीत्यादिभिर्युक्तं तिङन्तं च स्फुटं वदेत्।
अवान्तराणां वाक्यानामन्तेऽर्थं तच्च दर्शयेत्॥

यत् यदि आदि पादोंसे युक्त तिङन्त पदको स्फुट अर्थात् स्पष्ट उच्च स्वरसे कहे। और अवान्तर (सहयोगी) गौण वाक्योंके अन्त में भी उसी अर्थको बतलावे।

(नलुट्+पा० ८।१।२९ लुट लकार में सर्वानुदात्त तिङ्पद नहीं होता।

निपातैर्यद्यदि हंत कुविन्नेच्चेच्चणकच्चिद्यत्रयुक्तम् ॥३०॥

यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र इन निपातों के योगमें भी तिङन्तपद निघात नहीं होता।

इसी प्रकार नह, सत्य, अंग, हि, यावत्, यथा, तु, पश्य, पश्यत, अह, अहो, इनके योगमें भी तिङन्तपद निघात नहीं होता। और ननु, किं, एहि मन्ये, प्रहासमें लृट्, जातु, किंचित्, कतर, कतम, आहो, उताहो, लोट्, क्रियापदभी अनुदात्त नहीं होता, ऐसा पाणिनिका मत है। ऐसा होनेमें पाणिनि इन स्वरोंसेहि अनेक अर्थभेद मानता है जो आगे दर्शावेंगे।)

प्रश्न—

६. अथात्र कारणं ब्रूहि वाक्यादौ तिङुदात्तवत्।
सर्वानुदात्तमन्यत्र नार्थभेदात्तु कश्चन॥

वाक्य के आदिमें तिङ् उदात्त अक्षरवाला क्यों होता है? दूसरे स्थल में वह सर्वानुदात्त क्यों होता है? क्या इन दोनों दशाओं में अर्थोंमें कुछ भेद नहीं होता?

उत्तर—

७. अर्थभेदादिति ब्रूमः श्रोतारमिह तिङ्पदम्।
उदात्तवत्समाहन्ति स यथाभिमुखो भवेत्॥

इस सम्बन्धमें हम यह उत्तर देते हैं कि, वेदमें उदात्तवत् तिङन्तपद श्रोता को एक ऐसा आघात करता है, जिससे वह वक्ता की ओर अभिमुख हो और उसकी बात ध्यान से सुने।

८. उदात्तकारकपदैस्तत्र पूर्वं समाहते।
पदं सर्वानुदात्तं स्यान्मध्येऽन्ते वाथ यद् भवेत्॥

जब उदात्त स्वरवाले पदोंसे पूर्वही श्रोता को आघात लग चुकता है, तब वाक्य के मध्य में वा अन्तमें जो क्रियापद होता है, वह सर्वानुदात्त ही होता है।

(उदात्त का अर्थ ही ऊंचा स्वर है। अनुदात्त का अर्थ जो ऊंचा न हो, अर्थात् नीचा हो। दूसरे का ध्यान विशेष रूप से आकर्षण करने के लिये क्रियापदको ही उदात्तवान् करके वाक्य या पाद के आदिमें प्रयोग किया जाना आवश्यक है। यदि अन्य कारक पद पहले अपने उदात्त गुणसे वक्ताका ध्यान खेंच चुके हैं, तो वेही मुख्य होकर क्रियापदको स्वभावतः गौण कर देते हैं, अतः उसका उच्चारण स्वभावतः नीचे स्वरसे होना उचित है। इसीसे पाणिनिने भाषाशास्त्रके इस व्यापक नियम को उदात्त, सर्वानुदात्त के नियमों से दर्शाया है। यत् यदि आदि के योग में भी तिङन्तपदका बल बढ जाता है, इस से वह सर्वानुदात्त नहीं रहता।)

९. अनुपादं विरम्यार्थमृषयः कथयन्त्यतः।
पुनश्चोद्बोधनं कर्तुं पादादौ तिङुदात्तवत्॥

प्रत्येक पाद पर विराम करके ऋषिलोग विशेष अर्थ कहते हैं, इसलिये श्रोता को पुनः उद्बोधन करनेके लिये पादके आदिमें उदात्तवाले तिङन्तपदका प्रयोग करते हैं।

१०. अनुदात्तं पदं यत्र तत्र संस्थापयेद् द्विधा।
वायविन्द्रश्च चेतथस्तावायातमुप द्रवत्॥

अनुदात्त पद हो तो, उसे दो प्रकार से कहीं भी रखा जा सकता है। जैसे—

वायविन्द्रश्च चेतथः०। तावा यातमुप द्रवत्।
(ऋ० १।२।५)

(अनुदात्त क्रियापद दो प्रकारसे रह सकता है, चाहे पाद के अन्त में जैसे- प्रथम चरणमें 'चेतथः' अन्तमें है। या मध्यमें जैसे दूसरे चरण में 'यातम्' है।)

११. भगवान् पाणिनिर्वेत्ति वाक्यवृत्तीः समंजसम्।
प्रतिषेधो निघातस्य बोद्धव्यो विहितैस्ततः॥

भगवान् पाणिनि ही वाक्य के अर्थप्रकाशक व्यापारों को भली प्रकार जानते हैं। इसीलिये अतः उनके किये विधानों (सूत्रों) सेही निघात का प्रतिषेध भली प्रकार जान लेना चाहिये।

(अर्थात् वाक्यमें अर्थ बतलाने में किस प्रकार पदोंका प्रयोग होता है, वे किस क्रमसे उच्चारण करने पर क्या क्या विशेष अभिप्राय बतलाने में समर्थ होते हैं, इसका ज्ञान तो भगवान् पाणिनिको बहुत ही उत्तम था। इसीसे भगवान् पाणिनिने बडी सूक्ष्म दृष्टिसे क्रियापदों को कहीं सर्वानुदात्त किया, कहीं उनके सर्वानुदात्त होनेका निषेध किया है। इसमें वाक्य की 'वृत्ति' अर्थात् अर्थबोधक व्यापार ही कारण है। किसी वैयाकरण की स्वेच्छाचारिता मात्र कारण नहीं है। अनेक भाव बोधनकी विशेषता को ध्यान में रखकर

समस्त स्वर-प्रपञ्च है, जिसका विधान पाणिनिने बड़ी सूक्ष्मतासे किया है ।)

१२. तत्र सम्बोधनपदैर्नरः संबोधितोऽपि सन् ।
वाक्यार्थोद्बोधनं कर्तुं पुनराहन्यते तिङा ॥

ऐसे स्थलोंपर सम्बोधनपदोंसे पुरुष को संबोधन हो कर भी वाक्यार्थ को उद्बोधन अर्थात् उच्च स्वर से संबोधन करने के लिए और विशेष ध्यान श्रोता का खेंचते हुए बतलाने के लिये 'तिङन्त' पद से पुनः आघात किया जाता है। अर्थात् तिङ् को फिर भी उदात्तवान् किया जाता है।

(व्याकरण में 'निघात' का अर्थ है सर्वानुदात्त और उदात्तवाले पदको 'आघात' कहा जाता है। संबोधन तो उच्चारण होते ही श्रोताको अपनी ओर उसी प्रकार आकर्षण करता है, जैसे कोई मानों आघात करता है, इसी प्रकार उदात्तवान् तिङ्क्रिया भी श्रोता को अपनी ओर आकर्षण करती है । मानो आघातसा करता है ।)

१३. ननूदात्तं पदं दृष्टं वाक्यमध्येऽपि तद्यथा ।
मा नः शंसो अररुष' इन्द्र सोमं पिबेति च ॥

(प्रश्न) उदात्त (क्रिया) पद वाक्यके मध्यमें भी देखा गया है ।

जैसे- मा नः शंसो अररुषो० (ऋ० १।१८।३)
इन्द्र सोमं पिब ऋतुना (ऋ० १।१५।१)

(इन स्थलोंमें प्रथम में 'शंसः' और दूसरे में 'पिब' दोनों क्रियापद सोदात्त हैं। वे पद के आदिमें भी नहीं हैं। तो वहां सर्वानुदात्त (निघात) क्यों नहीं हुआ ?)

१४. अत्र ब्रूमोऽर्थसंस्थानमिह यस्मिन् भवेत्तिङि ।
तत्तु सर्वानुदात्तं स्यादसंस्थित उदात्तवत् ॥

(समाधान) इस शंका के उत्तर में हम यह समाधान करते हैं कि- जिस तिङन्तपद में वाक्य का अर्थ समाप्त होता है, वह सर्वानुदात्त होता है । जिसमें नहीं होता, वह तिङन्त क्रियापद उदात्तवत् होता है ।

१५. मा प्राप्नोतु कदर्यस्य शंसोऽस्मान् ब्रह्मणस्पते ।
रक्षैवम् इति मन्त्रार्थः पाने चावेशनम् फलम्॥

इस प्रकार मन्त्रका अर्थ यह होता है कि-हे ब्रह्मणस्पते! हमें दुष्ट हीन स्वामी का यह दुर्वचन प्राप्त न हो, और तू हमारी उस से रक्षा कर। और दूसरे मन्त्र में सोमपान में सोमों का इन्द्रमें प्रवेशमात्र अभिप्राय है।

(ऋ० १।१८।३ पर व्यंकट माधव का भाष्य इस प्रकार है-

'माऽस्मान् अदातुर्मर्त्यस्य कदर्यस्य शंसो
न दातुं युष्मभ्यमिच्छामीति वादो (?)हिंसकः
प्राप्नोतु धनाभावात् तथाऽस्मांस्त्वं रक्ष॥'

अर्थात् कदर्य जो कंजूसी के कारण हमें धन देना नहीं चाहता, उस का यह कुवचन, कि मैं देना नहीं चाहता, हमतक न पहुचे । क्योंकि यह उसका वचन भी हमपर वज्रतुल्य मार करता है। हम धनरहित हैं तू हमारी धनाभावसे रक्षा कर। अर्थात् धनाभावसे हम पीडित न हों ।)

१६. लुडर्थे ननु वाक्यार्थः स्पष्टं सन्तिष्ठते तव ।
सत्यमाह भवानेतत् काकुस्तत्र नु विद्यते ॥

(शंका)- लुट् के अर्थ में यह आपका वाक्यार्थ स्थिर होता है। आपका यह कहना ठीक है, परन्तु वहां कोई विशेष ध्वनि भी तो है।

१७. यथा तिङ्क्षु हियुक्तेषु ह्यर्थे वाक्यस्य संस्थितिः।
एवं लुट्यपि संस्थानं तस्मिन् काकाविति स्थितिः ॥

(उत्तर) जिस प्रकार 'हि' पदसे युक्त तिङ्-पदोंमें वाक्य का हि अर्थ में पर्यवसान होता है, उसी प्रकार लुट् अर्थ में भी है, और उस में भी काकु (विशेष अभिप्राय) में वाक्य का अर्थ समाप्त हुआ है।

१८-१९. परा हि मे विमन्यव आ हि ष्मा सूनवे पिता।
नहि वामस्ति दूरके आयजी वाजसातमा ॥
आश्चर्य एषु मन्त्रेषु तिङर्थः पर्यवस्यति ।
हेतौ सं यन्मदायेति तेष्वतस्तिङुदात्तवत् ॥

पराहि मे विमन्यव० । (ऋ० १।२५।४)
आहिष्मा सूनवे पिता० । (ऋ० १।२६।३)

नहि वामस्ति दूरके० (ऋ० १।२२।४)
आयजी वाजसातमा० (ऋ० १।२८।७)

इन मन्त्रों में तिङन्तपद का अर्थ आश्चर्य में समाप्त हुआ। और—

सं यन् मदाय०। (ऋ० १।३०।३)

इसमें तिङ् पद का अर्थ हेतु में समाप्त होता है, इस लिए इन समस्त मन्त्रों में तिङ्पद उदात्तवान् है।

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये।
वयो न वसतीरुप॥
आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये।
सखा सख्ये वरेण्यः॥
न हि वामस्ति दूरके यथा रथेन गच्छथः।
अश्विना सेमिनो गृहम्॥
आयजी वाजसातमा ता ह्यु१च्चा विजर्भृतः।
हरी इवान्धांसि बप्सता॥
सं यन्मदाय शुष्मिण एना ह्यस्योदरे।
समुद्रो न व्यचो दधे॥

२०. एवं येनेह युक्तं यत् तिङन्तं न निहन्यते।
तदर्थे तत्र संस्थानं न तिङर्थ इति स्थितिः॥

इसी प्रकार वेद में जिससे युक्त जो तिङन्त पद निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होता, उस स्थान में उस तिङन्त के अर्थ का उसी पदमें पर्यवसान है, वहां तिङ्प्रत्यय का अर्थ मुख्य नहीं है। ऐसा निश्चित रूपसे जानना चाहिए।

२१. एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः॥

इसी प्रकार पदमें और समासमें, जहां उदात्त स्वर की व्यवस्था है। चाहे वह किसी वर्ण वा पदमें भी हों, वहां निश्चयही काकु, अर्थात् विशेष अभिप्राय होता है।

२२. तत्रैकस्मिन् पदे काकुर्देवैरेवावगम्यते।
सूक्ष्मविद्भिः समासस्थः प्राकृतैरपि तिङ्स्वरः॥

एक पदमें उदात्त स्वर हो, वहां क्या विशेष अभिप्राय (काकु) ध्वनित होता है, यह तो देव (विशेष विद्वान्) ही जान सकते हैं, इसी प्रकार समासवाले पदमें सूक्ष्मवेत्ता पुरुषही स्वर का अभिप्राय जानते हैं, परन्तु तिङन्तपद के स्वर को तो साधारण आदमी भी जान सकते हैं।

२३ … … … … … … … … …।
वाक्यवृत्तिप्रकारोऽयं सदृशो लौकिकेष्वपि॥

…… यही वाक्यार्थ का प्रकार लौकिक ग्रन्थों में भी विद्यमान है।

(प्रथमार्ध में किसी हस्तलेख में 'म्लेच्छेन' और 'हर्म्येषु' ये दो पद और पृथक् पृथक् पद हैं। परन्तु अभी पूर्वार्ध कारिका की संगति कर लेना कठिन है।)

२४. मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरम्।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते॥
२५. माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः।
… … … … … … … … …॥

कुछ पंडित लोग मानते हैं कि जैसा व्याकरण में उपदेश कर दिया गया है, उसी प्रकार समस्त स्वर व्यवस्थित हैं। इस व्यवस्था का और कोई अवांतर कारण नहीं है।

परन्तु माधव का पक्ष यह है कि स्वरसेही सब अर्थ की व्यवस्था होती है।

(२४- (च०) 'हेतुः कश्चित्' इति पाठांतरम्।
२५- (च०) 'अर्थे' पद उपलब्ध हैं। परन्तु उत्तरार्ध पूरा नहीं हो सकता।)

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अयं देवाय जन्मने व्याचिख्यासति माधवः।
तत्रामन्त्रितशब्दानामादौ वृत्तिः प्रदर्श्यते॥

आमन्त्रित शब्दों की वृत्ति।

१. आमन्त्रितायुदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणं भवेत्।
नीचैरामन्त्रणे कार्ये पदं सर्वं निहन्यते॥

नाम लेकर या सम्बोधन करके बुलाने को 'आमन्त्रण' कहते हैं। सम्बोधनपद को 'आमन्त्रित' कहते हैं। ऊंचे स्वरसे यदि सम्बोधन किया जाय, तो आमन्त्रित पद का आदि उदात्त होता है। यदि नीचे स्वर से सम्बोधन किया जाय, तो समस्त पद निघात को प्राप्त होता है, अर्थात् समस्त पद अनुदात्त होता है।

[आमन्त्रितस्य च। पा० अ० ८। पा०१। सू० १९]

२. अर्थस्वभावाद् वाक्यस्य मध्यस्थं तन्निहन्यते।
ऋतेन मित्रावरुणौ कवी नो मित्रावरुणा॥

यदि अर्थ (प्रयोजन) वश आमन्त्रित पद वाक्य के मध्यमें पडा हो, तो वह सर्वानुदात्त होता है। जैसे—

१. ऋतेन मित्रावरुणौ० (ऋ १।२।८)

२. कवी नो मित्रावरुणा० (ऋ० १।२।९)

(प्रथम मन्त्रमें 'मित्रावरुणौ' सर्वानुदात्त है। द्वितीय ऋचामें सर्वानुदात्त नहीं है। 'मित्रावरुणा' क्योंकि वहां सम्बोधनपद ही नहीं है।)

३. अर्थस्वभावादुच्चैस्त्वं क्वचिन्मध्येऽपि दृश्यते।
तथैव नीचैस्त्वमपि तत्रोदाहरणं शृणु॥

अर्थवश कहीं कहीं वाक्य के मध्य में भी उच्च स्वर (उदात्त) और कहीं नीच स्वर (अनुदात्त) भी दिखाई देता है। उदाहरण जैसे—

४. अह्वयच्छुनमन्धाय सा वृकीरिति वक्ष्यति।
नरेति तत्राप्युदात्तमेवं हि परिदेवनम्॥

'शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।' (ऋ० १।११७।१८)

इस ऋचामें 'नरा' ऐसा सम्बोधन आद्युदात्त है। यहां परिदेवन है।

(नरेति परिदेवनाल्लुकम्। आमन्त्रितमुच्चैर्लौकिका वदन्ति तत्कृतोऽनिघात इत्युक्तम् इति वेंकटमाधवः॥)

५. इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी यजुष्यस्मिन्निहन्यते।
बहुष्वामन्त्रितेष्वन्तरोषधीरिति यत् पदम्॥

'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी०।' (तै० सं० १।२।१।२)

इस यजुर्वाक्य में बहुतसे आमन्त्रितों के बीचमें 'ओषधीः' यह पद निघात है।

६-७ अग्ने पावक रोचिषा घृताहवन दीदिवः।
ग्रावो नेष्टः पिबर्तुना सखायः स्तोमवाहसः॥
विश्वे देवासो मनुषो विश्वे यजत्रास्त आदित्याः।
सर्वत्रार्थस्वभावो यमूहुः प्राज्ञैरिति स्थितिः॥

अग्ने पावक रोचिषा०। ऋ. ५।२६।१
घृताहवन दीदिवः०। ऋ. १।१२।५
ग्रावो नेष्टः पिब ऋतुना०। ऋ. १।१५।३
सखायः स्तोमवाहसः०। ऋ. १।५।१
विश्वे देवासो मनुषो०। ऋ. १०।६३।६
विश्वे यजत्रा अधि वोचत। ऋ.१०।६३।११
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत। ऋ. १०।६३।७

इन सब स्थानों में बुद्धिमान् पंडितों को अर्थ की विशेषता ही जाननी चाहिए।

८. नामन्त्रितङ्कारकवद् वाक्यार्थेनान्वितं भवेत्।
युवन्नरा स्तुवते पेशो मर्या अपेशसे॥

आमन्त्रित पद कारक के समान वाक्यार्थ में अन्वित (सम्बद्ध) नहीं होता जैसे—

युवं नरा स्तुवते०। ऋ० १।११६[११७]७
पेशो मर्या अपेशसे०। ऋ. १।६।३

(सम्बोधनपद के सम्बन्ध में वाक्यपदीय में लिखा है—

सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम्॥
(वाक्यपदीय २।५)

'मर्ताः'– तमिदमाश्चर्यं मनुष्याणां निवेदयितुं त्वां सम्बोधयन्ति मर्त्या इति। इति व्यंकटमाधवः।

हे मर्या मनुष्या इदमाश्चर्यं पश्यतेत्यध्याहारः इति सायणः। व्यत्ययेनात्रैकवचनस्य स्थाने बहुवचनम् मर्या मर्त्याकार इन्द्र इति स्कन्दस्वामी।

९. य इमे तत्रोदाहरणे स्पष्टे सर्वं च तादृशम्।
अविद्यमानवत्त्वे च एष हेतुरिति स्थितिः॥

उस स्पष्ट उदाहरण में जो ये आमन्त्रित हैं, सब उसी प्रकार के हैं। और आमन्त्रितों के अविद्यमान के समान होने में भी यही हेतु समझना चाहिए।

(आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्। पा० ८।१।७२

कानि पुनरविद्यमानवत्त्वे प्रयोजनानि आमन्त्रित तिङ् निघात युष्मदस्मदादेशाभावाः॥ ? आमन्त्रितस्य पदात्परस्य निघातो न भवति। षाष्ठि कामन्त्रिताद्युदात्तत्वं भवति। इमं मे गंगे यमुने सरस्वति इत्यत्र यमुने शब्दस्यानुदात्तत्वे कर्तव्ये स्वयमविद्यमानवत्त्वान्निमित्तं न भवति। मे शब्दस्य निमित्तभावं न प्रतिबध्नाति।

नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्।
पा० ८।१।७३

आमन्त्रितान्ते समानाधिकरणे परतः पूर्वमामन्त्रितान्तं सामान्यवचनं (अर्थात्) अविद्यमानवन्न भवति। किंतर्हि विद्यमानवदेव तथा अग्ने गृहपते०। पूर्वस्य विद्यमानवत्त्वाद् परम् अनुदात्तमेव भवति॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

तृतीयोऽध्यायः।

एता यामोपगव्यन्त व्याचिख्यासति माधवः।
समासानां स्वराद् वृत्तिरादौ तत्र पदद्वये॥

स्वरानुसार समासों की वृत्ति।

१. मुख्यस्तत्पुरुषः प्रोक्तो द्वन्द्वश्च तदनन्तरः।
तृतीयस्तु बहुव्रीहिरव्ययीभाव उत्तरः॥

मुख्य समास तत्पुरुष कहा गया है। उसके बाद द्वन्द्व, तीसरा बहुव्रीहि उसके पश्चात् अव्ययीभाव समास कहा है।

(समासोंका यह क्रम प्रयोगवश मुख्य, अमुख्य बतलाता है, पाणिनिने प्रथम अव्ययीभाव फिर द्विगु, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, द्वन्द्व इस क्रमसे दिये हैं। बृहद्देवतामें भी—

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः।
(बृहद्देवता २।१०५)

व्याख्या देखो दुर्गाचार्य टीका निरुक्त (२।२)

२. तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते।
उदात्तस्तत्र भवति सुरूपकृत्नुमूतये॥

समासोंमें से जिस समासमें उत्तर पद का अर्थ प्रधान होता है, उसमें उदात्त स्वर होता है। जैसे—

"सुरूपकृत्नुमूतये" (ऋ० १।४।१)
(यहां–"सुरूपकृत्नुम्। ऊतये॥"

सुरूपस्य कृत्नुम्–सुरूप का बनानेवाला यह षष्ठीतत्पुरुष है। तत्पुरुषमें उत्तरपद का अर्थ मुख्य होता है। इसलिये 'कृत्नु' उत्तर पदमें त्नु उदात्त है।

उत्तरपदार्थप्रधानास्तत्पुरुषः।)

३. द्रविणोदा द्रविणसो हव्यवाहं पुरुप्रियम्।
त्रिंशाद्विश्वं द्रुपदेषु नो हिरण्यरथं दंस।
द्रविणो दा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे०
(१।१५।७)

द्रविणोदा द्रविणसस्तुरस्य०। (१।९६।८)
हव्यवाहं पुरुप्रियम् । (ऋ० १।१२।२)
त्रिर्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः । (ऋ १।२४।१३)
स नो हिरण्यरथं दंसनावान् ।
(ऋ० १।३०।१६)

इन ऋचाओंमें क्रमसे—

द्रविणोदाः, हव्यवाहम्, द्रुपदेषु, हिरण्यरथम्

इन चारों पदोंमें उत्तर पदोंमें उदात्त स्वर है ।

४. यदि स्वरः पूर्वपदे तदर्थः प्रस्फुटो भवेत् ।
भगभक्तस्य ते वयं विप्रजूतः सुतावतः ॥

५. तवेद्धि सख्यमस्तृतमनाधृष्टास ओजसा ।
अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम् अप्रजाः सन्त्ववीरिणः ॥

यदि पूर्व पद में स्वर होता है, तो पूर्व पदका अर्थहि विशेष रूपसे प्रकट होता है। अर्थात् वहां पूर्व पदकी प्रधानता होती है । जैसे—

[१] भगभक्तस्य ते वयम्०। ऋ० १।२४।५
[२] विप्रजूतः सुतावतः ऋ०। १।३।५
[३] तवेद्धि सख्यमस्तृतम् । ऋ० १।१५।५
[४] अनाधृष्टास ओजसा । ऋ० १।१९।४
[५] अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम् ।
ऋ० १।२२।११
[६] अप्रजाः सन्त्ववीरिणः । ऋ० १।२१।५

इन ऋचाओंमें—

भगऽभक्तस्य । विप्रऽजूतः । अऽस्तृतम् ।
अनाधृष्टासः । अच्छिन्नपत्राः

इन समासोंमें पूर्वपदमें उदात्त स्वर विद्यमान है । 'अस्तृतम्' आदिमें नञ् पूर्वपद उदात्त है। यह उदात्त पूर्वपदकी ही मुख्यता बतलाता है। पूर्वपद बहुव्रीहिसमास में प्रधान रहता है । उसी में पाणिनिका सामान्य सूत्र—

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ (पा० ६।२।१)

६. अनुदात्तश्च दृष्टो नञ् अयोद्धेव दुर्मदः ।
तादृशेषूत्तरपदे प्राधान्यमिति निर्णयः ॥

'नञ्' अनुदात्त भी देखा जाता है, जैसे—

अयोद्धेव दुर्मदः । ऋ० १।३२।६

ऐसे स्थलोंमें उत्तर पद की प्रधानता जाननी चाहिये । ("अयोद्धा इव दुर्मदः" ऐसा भी D. हस्तलेख में पाठ है. कदाचित् छन्दःपूर्ति के लिये सन्धिच्छेद किया है ।)

७. कार्ययोगो यदि द्वन्द्व उभयोरपि दृश्यते ।
स्थिते पूर्वपदस्यार्थे द्वितीयस्यापि संग्रहः ॥

जब दोनों में कार्य (मुख्य अर्थ) का योग होता है, तब दोनों पदों में उदात्त देखा जाता है। अर्थात् यदि पूर्वपद का अर्थ मुख्य हो, तो उदात्त पूर्वपदमें होता है. यदि उत्तर पदका अर्थ मुख्य है, तो उदात्त उत्तर पदमें रहता है। तब-

८. अन्तोदात्तस्ततो द्वन्द्व इन्द्रवायू बृहस्पतिम् ।
ऋक्सामाभ्याममिहितौविहेन्द्राग्नी उपह्वये ॥

तब द्वन्द्व भी अन्तोदात्त होता है, जैसे—

[१] इन्द्रवायू बृहस्पतिम्०। ऋ. १।१४।३
[२] ऋक्सामाभ्याममिहितौ० ।
ऋ० १०।८५।११
[३] इहेन्द्राग्नी उपह्वये । ऋ० १।२१।१

इन ऋचाओं में—

इन्द्रऽवायू, ऋक्ऽसामाभ्याम् और इन्द्राग्नी

ये द्वन्द्व समास हैं। इनमें सर्वत्र अन्तोदात्त है । द्वन्द्व समास चाहे उभयप्रधान होता है तो भी यहां उदात्त उत्तरपदमें विद्यमान है । इसलिये यहां मुख्य अर्थ उत्तर-पदका हि है ।

९. समप्रधानयोर्द्वन्द्व उदात्त उभयोरपि ।
द्यावापृथिवी मरुतो ह्वयामि मित्रावरुणौ ॥

समान रूपसे प्रधान दो पदों का जब द्वंद्व समास होता है, तब दोनों में उदात्त स्वर दीखता है । जैसे—

(१) द्यावापृथिवी मरुतः०। ऋ० १०।६३।९
(२) ह्वयामि मित्रावरुणौ०। ऋ०१।३५।१

इन स्थलों में द्यावाऽपृथिवी और मित्रावरुणौ इन समासोंमें दोनों पदोंमें उदात्त स्वर हुआ है। अतः यहां दोनों पद समान रूप से प्रधान हैं ।

१०. प्रधान इन्द्रः पूर्वोऽत्र प्रधानः कश्चिदुत्तरः।
स सोमरुद्रयोर्द्वन्द्वे मा सह्नूतीति दर्शनात्॥

समासमें पूर्वपठित 'इंद्र' पद प्रधान होता है, कहीं उत्तरमें पठित 'इन्द्र' पद प्रधान होता है। यही बात, सोम और रुद्र पदों के द्वंद्व में भी जाननी। वेद में लिखा है—

'मा सह्नूती'। [ऋ० २।३३।४]

अर्थात् हे रुद्र ! हम तुझे कभी अन्य देवता के संग बुलाकर क्रुद्ध न करें।

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा
दुर्ष्टुती वृषभ मा सह्नूती। ऋ० २।३३।४।

अर्थात् जब इन देवताओं का किसी अन्य देवतापद से द्वंद्व भी हो, तो वहां भी इनकी प्रधानता होती है, इन पदों में ही उदात्त स्वर रहता है।

११. बहुव्रीहिषु तात्पर्यं विशेषण विशेष्ययोः।
अग्निर्होता कविक्रतुरग्ने सूपायनो भव॥

१२. मित्रं हुवे पूतदक्षं शन्नो विष्णुरुरुक्रमः।
पञ्चपादं सप्तचक्रं त्रिचक्रेण त्रिणाभि च॥

बहुव्रीहि समासों में विशेषण और विशेष्य दोनों की प्रधानता होती है। जैसे—

[१] अग्निर्होता कविक्रतुः। ऋ० १।१।५
[२] अग्ने सूपायनो भव०। ऋ. १।१।९
[३] मित्रं हुवे पूतदक्षं०। ऋ. १।२।७
[४] शं नो विष्णुरुरुक्रमः०। ऋ. १।९०।९
[५] पञ्चपादं०। ऋ. १।१६४।१२
[६] सप्तचक्रं०। ऋ० १।१६४।३
[७] त्रिचक्रेण०। ऋ. १।११८।२
[८] त्रिणाभिं०। ऋ.१।१६४।२

इन स्थलोंमें—

१३. उदात्तश्चोभयोर्दृष्टः पूर्वस्मिन्नपि चोत्तरे।
उदात्तानुगुणश्चार्थो दर्शनीय इति स्थितिः।

बहुव्रीहि के इन स्थलोंमें दोनों पदों में उदात्त स्वर दीख पडता है, पूर्व पद में भी और उत्तरपद में भी। उदात्त स्वर के अनुसार ही अर्थ देखना चाहिये, यह सिद्धांत है।

१४-१६ अन्तोदात्तोऽव्ययीभावः सोऽनुकामन्तर्पयेथां।
प्रतिदोषं गृणानश्च तादृशाः संति चापरे॥
अनुकामं विभक्त्यर्थे नानेरर्थोऽस्ति कश्चन।
पश्चात् कामस्य यद् वास्तु तथाप्यन्ते स्वरो भवेत्॥
प्रतिदोषं गृणानोऽत्र वीप्सां द्योतयति प्रतिः।
दोषा शब्दो वाचकश्च ततस्तस्मिन् स्वरः स्थितः॥

अव्ययीभाव समास अन्तोदात्त होता है, जैसे—

[१] अनुकामं तर्पयेथाम्। ऋ. १।१७।३
[२] प्रतिदोषं गृणानः। ऋ. १।३५।१०

ऐसे अन्य भी उदाहरण हैं।

'अनुकाम' इसमें विभक्तिका अर्थ ज्ञात होता है, 'अनु' उपसर्ग का पृथक् कोई अर्थ नहीं है। अथवा कामके पीछे, तदनुसार, ऐसा अर्थ सम्भव है, तो भी स्वर अन्त में ही है।

'प्रतिदोषं गृणानः' यहां 'प्रति' उपसर्ग 'वीप्सा' को बतलाता है, अर्थात्—

'दोषां दोषां प्रति प्रतिदोषं'

तो भी मुख्य वाचक शब्द 'दोषा' शब्द ही है, इसलिये उदात्त स्वर उसी पद में है।

१७-२१ अथ विग्रहवाक्यानि विस्पष्टप्रतिपत्तये।
सुरूपकर्मणां कर्ता पुरूणां च तथा प्रियः॥
भगेनार्यं तु सम्भक्तो विप्रैराकृष्यते तथा।
तव सख्यं न हिंसितमयोद्धेत्यस्य विग्रहः॥
न यः समर्थो युद्ध इति युद्धासामर्थ्यदर्शनम्।
प्रधान इन्द्रो वायुश्च मित्रश्च वरुणोपि च॥
अग्नेः क्रतुः कविः क्रांतो बहुव्रीहेस्तु विग्रहः।
विस्तीर्णो विक्रमो यस्य त्रीणि चक्राणि सन्ति च
कामेषु तर्पयेथाश्च पश्चात् कामस्य वा पुनः।
रात्रौ रात्रौ प्रतिदोषमिति विग्रहदर्शनम्॥

अब समासों का स्पष्ट अर्थ जानने के लिए उनके विग्रह वाक्य बतलाते हैं—

(१) 'सुरूपकृत्नुम्'- सुरूपाणां 'कर्ता' सुरूपकृत्नुः- उत्तम रूपों का बनानेवाला।

(२) 'पुरुप्रियः'- पुरूणां 'प्रियः' पुरुप्रियः-
बहुतों को प्रिय।

(३) 'भगभक्तस्य'- भगेन 'अयं' सम्भक्तः।
ऐश्वर्य से सेवित।

(४) विप्रजूतः- विप्रैः आकृष्यते।
विद्वानों द्वारा आकर्षित।

(५) तवेद्धि सख्यम्-अस्तृतं-'तव सख्यं न हिंसितम्'
तेरी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती।

(६) 'अयोद्धा'- इसका विग्रह है-न य समर्थो युद्धे-
जो युद्धमें लडने में समर्थ नहीं है, इससे उसका
युद्ध में सामर्थ्य का अभाव दिखलाया है।

(७) इंद्र, वायु, मित्र और वरुण सब प्रधान होते हैं।

(८) अग्निर्होता कविक्रतुः-अग्नेः क्रतुः कविः शांतः-
अर्थात् अग्निका क्रतु-क्रिया सामर्थ्य और ज्ञान कवि
अर्थात् सबसे अधिक, सब को पार करनेवाला
असीम है।

आगे बहुव्रीहि के विग्रह कहते हैं।

(९) 'उरुक्रमः'- उरुः विस्तीर्णो विक्रमो यस्य।
विस्तृत विक्रमवाला।

(१०) 'त्रिचक्रेण'- त्रीणि चक्राणि सन्ति यस्मिन्।
जिसमें तीन चक्र होते हैं।

(११) अनुकामं तर्पयेथाम्- कामेषु इति अनुकामं।
अथवा 'पश्चात् कामस्य' हमारी समस्त कामना-
ओं में हमें संतुष्ट करो। अथवा हमारी कामना
होनेके पश्चात् हमें उस कामनाकी पूर्ति कर प्रसन्न
करो।

(१२) प्रतिदोषम्- रात्रौ रात्रौ प्रतिदोषम्-
अर्थ प्रत्येक रात्रि।

समस्त समासोंके ये विग्रह दर्शा दिए गए हैं।

२२. सर्वेष्वेषु समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत्।
काशाङ्कुशं वाऽवलम्ब्य स्वरन्तं स्थापयेदिति॥

इन समस्त समासों में जहां जहां भी उदात्त स्वर हो, घासफूस कुछ भी स्वल्प आश्रय लेकर प्रथम उस उदात्त स्वर का निश्चय करना चाहिए, तब उसका अर्थ देखना चाहिए।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अयं वां मधुमत्तमो माधवो व्याचिकीर्षति।
प्रदर्शयन् समस्तानां स्वरव्यत्यासकारणम्॥

समास में स्वरव्यत्यास के कारण।

१. आद्युदात्ताः समासस्था अन्तोदात्ता भवन्ति च।
अन्तोदात्ताश्चाद्युदात्तास्त्यजन्तः प्राकृतं स्वरम्॥

समास में आद्युदात्त पद अन्तोदात्त और अन्तोदात्त पद आद्युदात्त हो जाते हैं। वे अपने प्रकृतिसिद्ध स्वर को त्याग देते हैं। जैसे—

२. विश्व-शब्द आद्युदात्तो विश्वे देवासो अस्रिधः।
विश्वं समत्रिणं दह पतिर्विश्वस्य भूमनः॥

'विश्वे' शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—

[१] विश्वे देवासो अस्रिधः०। ऋ. १।३।९

[२] विश्वं समत्रिणं दह०। ऋ. १।३६।२०

[३] पतिर्विश्वस्य भूमनः०। ऋ. ९।१०।७

३. अन्तोदात्तः समासस्थो विश्वामित्रस्य रक्षति।
अग्निश्च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः॥

वही 'विश्व' शब्द समास में अन्तोदात्त है। जैसे—

[१] विश्वामित्रस्य रक्षति०। ऋ. ३।५३।१२

[२] आपश्च विश्वभेषजीः। ऋ. १।२३।२०

[३] अग्निश्च विश्वशम्भुवम्। ऋ. १।२३।२०

४. तत्राहुः कारणमिदं विग्रहार्थः केवले स्फुटः।
समस्ते तु प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थोपसर्जनः॥

इस प्रकार आद्युदात्त के अन्तोदात्त हो जाने में विद्वान्

लोग यह कारण बतलाते हैं कि केवल 'विश्व' शब्द में विश् धातु का अर्थ ही अधिक प्रकट है। समास हो जाने से धातु का अर्थ प्रत्यय के अर्थ से मिलकर उसकी अपेक्षा गौण हो गया है।

५. दर्शयेदसमस्तार्थमयं व्याप्त इतीदृशम्।
मित्रं व्याप्तस्य सर्वस्य समस्तेऽर्थं प्रदर्शयेत्॥

समास न रहनेपर यह अर्थ प्रकट करे कि, यह व्याप्त है। और समास हो जाने पर 'समस्त'का जो व्याप्त है, उसका मित्र ऐसा अर्थ दिखलावे।

६. अन्तोदात्तो 'वीर'शब्दः स घा वीरो न रिष्यति।
आद्युदात्तो बहुव्रीहौ रयिं वहतं सुवीरम्॥

'वीर' शब्द अन्तोदात्त है। जैसे —

स घा वीरो न रिष्यति। ऋ० १।१८।४

परन्तु बहुव्रीहि समास होनेपर वह आद्युदात्त हो जाता है। जैसे—

रयिं वहतं सुवीरम्। ऋ० १।३४।१२

७. अमित्रान् वीरयत्येष इत्यर्थः केवले भवेत्।
कल्याणवीर्यमित्यर्थं समस्तस्य प्रदर्शयेत्॥

केवल समासरहित 'वीर' शब्द का अर्थ है- 'वह पुरुष शत्रुओंके प्रति वीरता करता है। समासमें सुवीर का अर्थ 'सर्वकल्याणकारक वीर्य (बल) वाला' ऐसा अर्थ दिखलाना चाहिये।

८. तात्पर्यं यदि पूर्वस्मिंस्तदा तत्र स्वरो भवेत्।
ऋष्ववीरस्य बृहतः इति तत्र निदर्शनम्॥

यदि समासमें भी तात्पर्य पूर्वपदमें विद्यमान है, तो उदात्त स्वर भी पूर्व पद में ही होगा। उदाहरण जैसे—

ऋष्ववीरस्य बृहतः पर्तिर्भूः। ऋ. १।५२।१३

९. सर्वेष्वेषु समासेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः।
पदेषु चासमस्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः॥

जो विद्वान् शुद्ध मन्त्रार्थ प्राप्त करना चाहते हैं, उनको समस्त समासों में और सब समासरहित पदों में ऐसी सूक्ष्म दृष्टि करनी चाहिये।

१०. प्रकृतौ प्रत्यये वापि स्वरो यत्र व्यवस्थितः।
तात्पर्यं तत्र शब्दस्य स्थापयेदिति निर्णयः॥

प्रकृति (धातु) में अथवा प्रत्ययमें जहां भी उदात्त स्वर विद्यमान है, उसी शब्द का मुख्य तात्पर्य स्थिर करे।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथ प्रमन्महेऽध्यायं माधवो व्याचिकीर्षति।
अवग्रहविहीनानामादावर्थं प्रदर्शयन्॥

अवग्रहरहित पदों के अर्थ।

१. पदकारः पदानीह नावगृह्णाति कानिचित्।
तेषामपि स्वरेणैव कुर्यादर्थविनिर्णयम्॥

पदकार (शाकल्य) कई पदों का अवग्रह (पदच्छेद) नहीं करता। उनके अर्थ का निर्णय भी स्वर से ही करे।

२. निर्विवक्षेद् बहुव्रीहेरर्थमादौ स्वरो यदि।
अथ तत्पुरुषस्यार्थमन्ते तिष्ठति चेत्स्वरः॥

यदि उदात्त स्वर आदि में हो तो बहुव्रीहि समास का अर्थ करे, यदि उदात्त स्वर अन्त में रहे, तो तत्पुरुष समास का अर्थ करे। उदाहरण, जैसे—

३-४. भराभ्याङ्गूषमास्येन स्वरात्तत्पुरुषो भवेत्।
पर्याप्तोघोष आङ्गूषो घस्थाने गश्च दृश्यते॥

भराभ्याङ्गूषमास्येन०। ऋ. १।६१।३

इस में 'आंगूष' शब्द का अर्थ स्वर के अनुसार तत्पुरुष का होना चाहिये। 'पर्याप्तो घोषः' 'बहुत अधिक स्तुति'। यहां 'घ' को 'ग' वर्ण दीखता है।

३. जुष्टो दमूना अतिथिर्दमे मन इतीष्यते।
शवीरयाशु यास्या स्यादीरणं प्रेरणं तथा॥

जुष्टो दमूना अतिथिः०। ऋ. ५।४।५

इस स्थलपर 'यमे दमूना' पद की 'मनो यस्य' ऐसी बहुव्रीहि समास की निरुक्ति करनी चाहिये।

'नरा शवीरया धिया०'। ऋ. १।३।२

इस ऋचा में 'शवीर-या' पद का अवग्रह नहीं है। इसका 'आशु इरणं यस्याः' जिसकी प्रेरणा तीव्र है— ऐसा बहुव्रीहि का अर्थ करना चाहिये।

५. यज्ञस्य घोषदसीति यजुः केचिदधीयते।
कठा गोषदसीत्येवं गकारादिमधीयते॥

कुछ वैदिक विद्वान् 'यज्ञस्य घोषदसि' ऐसा यजुः पढते हैं। परन्तु कठ शाखा के विद्वान् 'गोषद् असि' ऐसा आदि में गकार उच्चारण करते हैं।

यज्ञस्य घोषदसि। (तै० सं० १।१।२।१)
यज्ञस्य गोषदसि। (कठ० १।२)

६. विशेषेण पनायन्तस्तद्विप्रासो विपन्यवः।
करूळती कृत्तदन्ते वामन्देवः करूळती॥

'तद् विप्रासो विपन्यवः'। ऋ. १।२२।२१

यहां 'विपन्यवः'

पद का अर्थ है, विशेष रूपसे स्तुति करते हुए।

'वामं देवः करूळती'। ऋ. ४।३०।२४

इस ऋचामें 'करूळती'का अर्थ है 'कृत्त-दन्ता' कटे दांतवाली'।

७. बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नर्थं तत्पुरुषस्य च।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् वरुणं वो रिशादसम्॥

यदि बहुव्रीहि का स्वर और तत्पुरुष का अर्थ दीखे और अर्थ स्पष्ट हो, तो स्वर की उपेक्षा कर दे। जैसे-

वरुणं वो रिशादसम्। ऋ. ५।६४।१

यहां 'रिशादसम्' पद में उदात्त स्वर पूर्वपद में है। तत्पुरुष का ही अर्थ प्रतीत होता है– दुष्टों का नाशक। तो भी बहुव्रीहि का अर्थ बतलानेवाले स्वर की उपेक्षा करके तत्पुरुष का ही अर्थ किया गया है।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः।

इन्द्रो मदाय वावृधे माधवो व्याचिकीर्षति।
सर्वानुदात्तशब्दानामादावर्थं प्रदर्शयन्॥

सर्वानुदात्त शब्दोंके अर्थ।

१. भवन्ति सर्वानुदात्ता आदेशा युष्मदस्मदोः।
भवन्ति चेद् वाक्यमध्ये वान्नौ वो नश्च ते मयौ॥

यदि वाक्य के बीच में वां, नौ, वः, नः, ते और मे, हों तो युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान में हुए ये आदेश सर्वानुदात्त होते हैं।

[पदस्य॥ पदात्॥ अनुदात्तं सर्वमपादादौ॥
युष्मदस्मदोः षष्ठी चतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ॥
बहुवचनस्य वस्नसौ॥ ते मया वेकवचने॥
(पा० अ० ८। पा० १। सू० १७,१८।२०-२२)

२. ऋचास्त्वः पोषमित्यादौ त्वशब्दश्च निहन्यते।
चादीनां वाक्यमध्यस्था चवाहस्मादयस्तथा॥

ऋचां त्वः पोषम्०। ऋ. १०।७१।११

इत्यादि मन्त्रमें 'त्व' शब्द भी सर्वानुदात्त है। 'च'आदि निपातों में से च, वा, अह, स्म आदि निपात भी वाक्यके मध्य में अनुदात्त होते हैं।

३. उदाहरणमेतेषां बाहुल्यान्न प्रदर्श्यते।
हिरण्यकर्णमित्यस्मान्मणिग्रीवं निहन्यते॥

इनके उदाहरण बहुत अधिक होनेसे यहां नहीं दिखाते। 'हिरण्यकर्ण' पद से परे 'मणिग्रीव' पद सर्वानुदात्त होता है। जैसे--

हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः॥ ऋ. १।१२२।१४

(एकही अभिप्राय को बतलानेवाले दो विशेषण आनेपर विशेषण अर्थविशेष उच्च स्वरसे कहा जाता है।

दूसरा गौण होने से नीचे स्वर से कहे जानेयोग्य होनेसे वह सर्वानुदात्त है।)

४. लौकिका कथयन्त्यर्थान् म्लेच्छैः शब्दैश्च साधुभिः उच्चैः प्रयुञ्जते काँश्चित् पदार्थानन्यथापरान् ॥

लोक में भी लोग म्लेच्छ (विकृत) और उत्तम शब्दों से भी अपने अभिप्राय प्रकट करते हैं। किन्हीं को वे उच्च स्वर से प्रयोग करते हैं और अन्यों को वे नीचे स्वर से प्रयोग करते हैं। जैसे-

५ यथा घटश्च रज्जुश्च चार्थो नीचैः प्रयुज्यते। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति वार्थश्चैव तथाविध ॥

'घटश्च' 'रज्जुश्च' इस वाक्य में 'च' का अर्थ नीचे स्वर से प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस वाक्य में 'वा' का अर्थ भी नीचे स्वरमे प्रयोग होता है।

६. अर्थस्वभावात् सर्वेषां शब्दानामुच्चनीचता। स्वभावं तं विजानन्ति लौकिका नत्वलौकिकाः॥

अर्थ के स्वभावसे, अर्थ के अनुसार ही सब शब्दों की उच्चता और नीचता अर्थात् उदात्त और अनुदात्त स्वर होता है। उस स्वभाव को लौकिक ही जानते हैं, अलौकिक अर्थात् लोक से अनभिज्ञ लोग नहीं।

७ य उदात्ता निपातेषु नूनं ह्येवं किलादयः। उच्चैः प्रदर्शनीयोऽर्थस्तेषामिति विनिश्चयः॥

निपातों में नूनं, हि, एवं, किल आदि जो निपात उदात्त हैं, उनका अर्थ उच्च स्वर (उदात्त) से दर्शाना चाहिये, ऐसा सिद्धांत है।

८. उदात्तेषूपसर्गेषु तदर्थः प्रस्फुटो भवेत्। समस्तेष्वनुदात्तानान्नीचैरर्थं प्रदर्शयेत् ॥

उपसर्ग उदात्त होते है, तो उनका अर्थ मुख्य रूपसे स्पष्ट होता है। समास में वे अनुदात्त होते हैं, उस समय उनका अभिप्राय नीचे स्वर (अनुदात्त) से दिखलाना चाहिये।

९. विस्पष्टमुक्तमेतच्च प्रागाख्यातार्थनिर्णये। हिरण्यकर्णमित्यत्र कारणं तत्र वक्ष्यते ॥

इस सम्बन्धमें पहले आख्यात-अर्थ निर्णय-प्रकरण में स्पष्ट कह दिया है। 'हिरण्यकर्णम्' इस स्थल पर सर्वानुदात्त होने का कारण भाष्य में ही कहेंगे।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः।

अन्वादेशविषयः।

१. अस्येति प्रथमादेश उदात्तं स्मर्यते पदम्। अन्वादेशे त्वानुदात्तमस्य वामस्य दृश्यते ॥

प्रथमवार कहनेपर 'अस्य' पद उदात्त स्मरण किया जाता है और अन्वादेशमें अनुदात्त होता है। जैसे-

'अस्य वामस्य०। ऋ. १।१६४।१

ऋचामें दिखाई देता है।

शंका-

२ अस्येदु मातुः सवने नन्वदात्तोऽत्र दृश्यते। अस्मा अस्येति सूक्तेऽस्मिन्निन्द्र एवाभिधीयते ॥

अस्येदु मातुः सवनेषु०। १।६१।७

इस ऋचा में 'अस्य' अन्वादेश में उदात्त दिखाई देता है और इस सूक्त में अस्मा, अस्य इन पदोंसे 'इन्द्र' को ही कहा गया है।

समाधान-

३. ऋच्येतस्यामन्वादेश इति वक्तुं न शक्यते। युञ्जन्त्यस्य काम्या भिन्नायामपि दर्शनात् ॥

अस्येदु मातुः इस ऋचा में अन्वादेश है, ऐसा कहा नहीं जा सकता। 'युञ्जन्त्यस्य काम्या' इसमें और इस से भिन्न अन्य ऋचाओं में अन्वादेश में अनुदात्त ही देखा गया है।

[जैसे- नास्य ते महिमानं परि ष्टः। ऋ० १।६।१८
इयमोऽन्वादेशोऽनुदात्तस्तृतीयादौ ॥
(पा० २।४।३२)

४. नास्मै विद्युन्न तन्यतुर्नकिरस्य सहन्त्य च।
एवा ह्यस्य सूनृता ऋचश्चात्र निदर्शनम् ॥

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः०। ऋ. १।३२।१३
नकिरस्य सहन्त्य०। ऋ. १।२७।८
एवा ह्यस्य सूनृता। ऋ० १।४४।८

ये सभी ऋचाएं इसका उदाहरण हैं।

५. दिवश्चिदस्य महिमा सूक्तादौ च प्रदृश्यते।
अन्वादेशः पूर्वसूक्ते स्तुतस्यैव पुनः स्तुतौ ॥

'दिवश्चिदस्य महिमा। ऋ० १।५५।१

इस ऋचामें सूक्त के आदिमें ही अन्वादेश दिखाई देता है। क्योंकि पूर्व सूक्तमें जिस देवता की स्तुति की है, उसी की पुनः इस सूक्तमें भी स्तुति है।

(सूक्तके आदिमें पाठ है—
'दिवश्चिदस्य वरिमा विपप्रथ'०।
ऋ. १।५५।१।
'महिमा' पाठ शाकल संहिता का नहीं है।)

६. अन्वादेशः पादमध्ये सर्वत्रेति न युज्यते।
यस्मादुदात्ता दृश्यन्ते पादमध्येपि तद् यथा ॥

७. माकिर्नो अस्य परिषूतिरग्ने चिकिद्ध्यस्य नः।
पादा ज्यायांसमस्येति सर्वे तत्र निदर्शनम् ॥

पाद के बीचमें सर्वत्र ही अन्वादेश हो, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि पादके बीचमें भी उदात्त दीखते हैं। जैसे-

माकिर्नो अस्य परिषूतिः०। ऋ. ९।८५।८
अग्ने चिकिद्ध्यस्य नः। ऋ. ५।२२।४
ज्यायांसमस्य यतुन०। ऋ. ५।४४।८

८. पादादिष्वनुदात्तोऽस्य न कदाचन दृश्यते।
उदात्ताः पादमध्येऽपि दृश्यन्ते बहवस्तथा ॥

पादके आदिमें 'अस्य' पद कभी अनुदात्त नहीं दीखता। पादके मध्यमें भी उदात्त बहुत दीखते हैं।

९. वाक्यादावपदिष्टोऽपि लौकिकैरपदिश्यते।
उच्चैर्धर्मी ततस्तत्र नान्वादेशस्य सम्भवः ॥

वाक्य के आदिमें सर्वसाधारण लौकिक लोग भी उपदेश किए धर्मोंको भी उच्च स्वरसे अपदेश कहते हैं। इसलिए वाक्य के आदिमें अन्वादेश नहीं होता।

१०. पूर्वस्मिन् प्रकृतो वाक्ये वाक्यमध्येऽपदिश्यते।
नीचैरर्थस्वभावेन सोऽन्वादेशः स्मृतो बुधैः ॥

पूर्व वाक्यमें जिसका वर्णन हो चुका हो, वह वाक्य के बीच में पुनः निर्देश किया जाता है। वह अर्थवश नीचे स्वर का (अनुदात्त) ही होता है। उसीको विद्वान् 'अन्वादेश' कहते हैं।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः।

इदं श्रेष्ठमथाध्यायं माधवो व्याचिकीर्षति।
रूपे भिन्ने स्वरे भिन्ने शब्दवृत्तिं प्रदर्शयन् ॥

रूप और स्वरके भेद होनेपर शब्द की वृत्ति।

१. अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
यदा न तं स्वरं पश्येदन्यथार्थं तदा नयेत् ॥

यदि अर्थ भिन्न न हो, तो शब्द का सर्वत्र एक समान स्वर होता है। जब उसी स्वर को न देखे तब अर्थ भी उससे भिन्न करना चाहिये।

२. पुरुतमं पुरूणां ऋग् भवेदत्राभिदर्शनम्।

"पुरुतमं पुरूणां"०। ऋ. १।५।२

यह ऋचा इस बात का उदाहरण है।

तमप् वेदनुदात्तः स्यात्तथा ह्यन्यत्रदर्शनम्।
३. शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः।
नात्रोदात्तौ तमौ दृष्टौ दृश्यते तु पुरूतमे ॥
४. बहून् ग्लपयतीत्यर्थस्तेन तत्र प्रदर्शितः।
सर्वत्रैवं समानेषु स्वरेणार्थो व्यवस्थितः ॥

'तमप्' अनुदात्त भी होता है, अन्य स्थलोंपर वैसाहि देखा गया है, जैसे—

शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः०
ऋ० १।१२७।९

इन स्थलोंपर 'तम' उदात्त नहीं है। 'पुरूतम' में 'तम' उदात्त है। वहां अर्थ भी उदात्त यही बतलाता है कि 'पुरून् बहून् ग्लपयति' जो बहुतों को पराजित करे। इसी प्रकार सर्वत्र जहां समान शब्द आते हैं, वहां स्वरसेहि अर्थ की व्यवस्था है।

५. होम गन्तारमूतये जेतारमपराजितम्।
पाता सुतमिंद्रो अस्तु स चेत्ता देवता पदम् ॥
६. इंद्रो विश्वस्य दमिता भेत्ता पुरां शश्वतीनाम्।
विभक्तारं हवामहे तृन्तृचोः स्युर्तिदर्शनम् ॥

होम गन्तारमूतये०। (ऋ० १।१।१)
जेतारमपराजितम्। (ऋ० १।११।२)
पाता सुतमिन्द्रो अस्तु। (ऋ० ६।२३।३)
स चेत्ता देवतापदम्०। ऋ० (१।२२।५)
इन्द्रो विश्वस्य दमिता। (ऋ० ५।३४।६)
भेत्ता पुरां शश्वतीनाम्। (ऋ० ८।१७।१४)
विभक्तारं हवामहे। (ऋ० १।२२।७)

ये तृन् और तृच् प्रत्ययों के उदाहरण हैं।

७. तृन्तृचोश्चार्थभेदोऽयं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृनि।
तृचि स्फुटः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः ॥

तृन् और तृच् प्रत्ययों के अर्थों में इतना ही भेद है कि, 'तृन्' में प्रकृति (धातु) का अर्थ अधिक प्रबल होता है और 'तृच्' हो तो प्रत्यय का अर्थ मुख्य होता है और प्रकृति का अर्थ गौण होता है।

(पाणिनिके मतसे नित् प्रत्यय आद्युदात्त होता है। और चित् प्रत्यय अन्तोदात्त होता है। इन नियमों के अनुसार–

गन्तारम्। जेतारम्। पाता। चेत्ता।

ये पद आद्युदात्त हैं। इनमें तृन् प्रत्यय है–

दमिता। भेत्ता। विभक्ता।

ये अन्तोदात्त हैं। इनमें तृच् प्रत्यय है।

ञ्नित्यादिर्नित्यम्। (अ० ६। पा० १।१९७)
चितः। (अ० ६। पा० १।१६३।१)

८. लुङ्लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तो यः स भूतार्थस्य सूचकः।
वाचकान् प्रत्ययानाहुस्तत्राकारं स्फुटं वदेत् ॥

लुङ्, लङ् और लृङ् में अट् आगम उदात्त होता है, वह भूत कालके अर्थ को बतलाता है। प्रत्ययों को अर्थों का वाचक कहते हैं। अतः वहां 'अकार' को प्रबल रूपमें उदात्त उच्चारण करना चाहिए।

९. नञमाहुरथैके तं प्रतिषेधस्य सूचकम्।
छांदसेषु लकारेषु सम्प्रत्यर्थस्य सूचकः ॥

कुछ आचार्य उस 'अ' को प्रतिषेधका सूचक 'नञ्' बतलाते हैं। परन्तु छान्दस् लकारों में वह नञ् सम्प्रति (अब अर्थात् वर्तमान) अर्थ का सूचक है।

१०. अष्टके प्रथमेऽस्माभिः स्वर इत्थम् प्रपञ्चितः।
स्थापनीयः प्रयत्नेन वाक्यार्थे पंडितैरयम् ॥
११. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्था स्फुटा इति ॥

प्रथम अष्टक (आठ अध्याय)में हमने इस प्रकार स्वर-विषय विस्तार से कहा है। वाक्यों के अर्थ के निमित्त पंडितों को बडे यत्नसे स्वर का निर्णय कर लेना चाहिये। मनुष्य अन्धकारों में दीपक लेकर चले तो कभी नीचे ऊंचे में नहीं डिगता, इसी प्रकार स्वर ठीक ठीक प्रकारसे लगनेपर पदों के अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं।

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

॥ इति प्रथमोऽष्टकः ॥१॥

द्वितीयोऽष्टकः।

द्वितीया।

आख्यातानुक्रमणी।

प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयोऽथाष्टकस्तस्मिन्नध्यायादिषु वक्ष्यते।
यत्किञ्चिदिह वक्तव्यमाख्यातेष्वस्ति वैदिकैः॥

अब द्वितीय अष्टक प्रारम्भ है। उसमें अध्यायोंके आदि में आख्यातों के सम्बन्धमे जो कहना आवश्यक है, सो कहेंगे।

१. चत्वारि पदजातानि तत्र नामानि कानिचित्।
आख्यातान्युपसर्गाश्च निपाताश्च तथापरे॥

पद चार प्रकार के हैं– १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग और ४ निपात।

[तद् यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते। चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवंति॥ (नि० १।१)]

'नाम'का लक्षण–

२. शब्दैरुच्चरितैर्द्रव्यं यैरिह प्रतिपद्यते।
तन्नाम कवयः प्राहुरग्निर्वायुस्तथाश्विनौ॥

जिन शब्दों के उच्चारणसे द्रव्य जाना जाय, विद्वान् उन्हें 'नाम' कहते हैं। जैसे अग्नि, वायु और अश्वि आदि।

३. अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर्लिंगसंख्यासमन्वितम्॥

नाना अर्थों में जिस में आठ विभक्तियों का प्रयोग होता है और जिसके साथ लिंग और संख्या भी जुडते हैं, विद्वान् उसको 'नाम' कहते हैं।

४. निर्देशः कर्म करणं प्रदानम् अपकर्षणम्।
स्वाम्यर्थोऽथाधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः॥

निर्देश, कर्म, करण, प्रदान, अपकर्षण (दूर हटना), स्वाम्यर्थ (उसका अमुक पदार्थ) और अधिकरण, ये सात अर्थ सात विभक्तियों के कहे हैं। (आठवीं विभक्ति संबोधन है।

[(२-४) दुर्गाचार्य नि० १।१, बृहद्देवता १।४२, ४३]

५. नामानि नमयंत्यर्थं प्रधानमिति नामता।
कारकाणि च तान्याहुः क्रियां कुर्वंति तानि हि॥

नाम प्रधान अर्थ को बतलाते हैं, इसी से उन को 'नाम' कहते हैं। उनको 'कारक' भी कहते हैं, क्योंकि वे क्रिया करते हैं। (निरुक्त १।१ पर दुर्गाचार्य)

६. कारकाणां परिस्पन्दः फलस्यैकस्य साधकः।

अनेक कारकोंका संचलन एक फलका साधक होता है।

६. लोके पूर्वापरीभूतः क्रियेति व्यपदिश्यते॥
७. वदन्ति वैय्याकरणा धातुवाच्यां क्रियां च ताम्।

लोकमें पहले पीछे होना 'क्रिया' कहता है। वैयाकरण उसी को 'धातु' और क्रिया भी कहते हैं। (निरुक्त १।१ दुर्गा०। बृ० दे०)

७. कालः संख्या कारकं च प्रत्ययार्थाः प्रकीर्तिताः।

काल, संख्या, और कारक ये प्रत्ययोंसे प्रतीत होनेवाले अर्थ हैं। (निरु० १।१ पर दुर्गा०)

८. आख्यातस्य च नाम्नश्च सम्बंधात्स्वार्थदर्शिनः।
उपसर्गा निपाताश्च न स्वतन्त्रा इति स्थितिः॥

उपसर्ग और निपात आख्यात और नाम के साथ लगकर ही अपना अर्थ बतलाते हैं, वे स्वतन्त्र अपना अर्थ प्रकट नहीं करते।

९. आख्यातशब्देषु भवन्ति भेदा
धातुः क्रियामेकफलां ब्रवीति॥
अर्थे प्रवृत्तेऽविरते च धातो-
र्लट् स्मर्यते शब्दविद्भिः पुराणैः॥

आख्यात शब्दोंमें बहुतसे भेद होते हैं, धातु एक फल-वाली क्रिया को बतलाता है, अर्थ जब हो रहा हो, अभी

समाप्त न हुआ हो, तो भी पुराने शब्दशास्त्री (वैयाकरण) धातु से 'लट्' प्रत्यय का विधान करते हैं। (उत्तरार्ध देखो महाभाष्य III, ३।१२३)

१०. सुतपात्रे सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये।
इत्याह गच्छतः सोमानृषिर्हस्तेन दर्शयन्॥

'सुत पात्रे सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये'।
ऋ. १।५।५

इस मन्त्र से ऋषि (मधुच्छन्दा वैश्वामित्र वा वेद) जाते हुए सोमों को हाथ से इशारे द्वारा दिखलाता हुआ कह रहा है।

११. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे।
परा हि मे विमन्यवः× पतंति वस्य इष्टये॥

१२. तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वंदमान-
स्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहु-
स्तदयं केतो हृद आ विचष्टे॥

१३. धात्वर्थस्य प्रवृत्तस्य मंत्रेष्वेषु प्रतीयते।
विस्पष्टं वर्तमानत्वमीदृशाः संति चापरे॥

(१) प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे।
(ऋ० १।१९।१)

(२) परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये।
(ऋ० १।२५।४)

(३) तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
(ऋ० १।२४।११)

(४) तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ विचष्टे। (ऋ० १।२४।१२)

इन मन्त्रों में धात्वर्थ जो शुरू हुआ, उसका वर्तमान रहना स्पष्ट प्रतीत होता है, इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण हैं।

१४. भवन्ती वर्तमानस्य सामीप्येऽपि प्रयुज्यते।
अग्निमीळे पुरोहितं सुम्नाय वर्तयामसि॥

वर्तमान का प्रयोग वर्तमान की समीपता में भी किया जाता है। जैसे—

(१) अग्निमीळे पुरोहितम्।
(ऋ० १।१।१)

[२] सुम्नाय वर्तयामसि।
(ऋ० ८।६८।१)

[पाणिनि- वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा।
(३।३।१३१)

['भवन्ती' यह प्राचीन आचार्योंने 'वर्तमान' का नाम रखा हुआ है।]

१५. इहेन्द्राग्नी उपह्वये सुते सोमे हवामहे।
एते भवन्ति सूक्तादौ सूक्तान्तस्था इमे पुनः॥

१६. अर्कैश्च नि ह्वयामहे तन्त्वा वयं पतिमग्ने।
वामवस्से जोहवीमि बहवः सन्ति तादृशाः॥

इहेन्द्राग्नी उपह्वये ०।
(ऋ० १।२१।१)

सुते सोमे हवामहे ०।
(ऋ० ३।४०।१)

ये वर्तमान के प्रयोग सूक्त के आदि में ही हैं। ऐसे प्रयोग सूक्त के अन्त में भी होते हैं, जैसे—

अर्कैश्च नि ह्वयामहे।
(ऋ० १।४७।१०)

तन्त्वा वयं पतिमग्ने रयीणां प्रशंसामो मतिभिर्गोतमासः।
(ऋ० १।६०।५)

वामवस्से जोहवीमि ०।
(ऋ० १।३४।१२)

ऐसे बहुत उदाहरण हैं।

१७. अथापि वर्तमानत्वं क्वचिन्नैव विवक्षितम्।
वायविन्द्रश्च चेतथो वक्षं दधाते अपसम्॥

१८. प्र चेतयति केतुना धियो विश्वा वि राजति।
सद्यो दाशुषे क्षरसि पादास्तत्र निदर्शनम्॥

कहीं कहीं वर्तमानकाल कहना अभीष्ट नहीं होता, तो भी वर्तमानकाल के समान लट् का प्रयोग दीखता है। जैसे—

× ['विपन्यवः' ऐसा हस्तलेख-पाठ है]

वायविन्द्रश्च चेतथः ०।

(ऋ० १।२।५)

दक्षं दधाते अपसम्० ।

(ऋ० १।२।९)

प्र चेतयति केतुना धियो विश्वा वि राजति।

(ऋ० १।३।१२)

सद्यो वाशुषे क्षरसि

(ऋ० १।२७।६)

ये मंत्रों के पाद इसमें उदाहरण हैं ।

१९. एवं यदादियोगे च यं रक्षन्ति प्रचेतसः ।
यत्र ग्रावा पृथुबुध्नो यं यज्ञं नयथा नरः ॥

इसी प्रकार यद् आदिके योग में भी लट् का प्रयोग है। जैसे—

यं रक्षन्ति प्रचेतसो० । (ऋ० १।४१।१)

यत्र ग्रावा पृथुबुध्नः ०।

(ऋ० १।२८।१)

यं यज्ञं नयथा नरः । (ऋ० १।४१।५)

२०. वेद मासो धृतव्रतो विवक्षापि च दृश्यते ।
यद्देवानां मित्रमहरग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः ॥

कई स्थलोंपर लट् के प्रयोगमें वर्तमानकाल की विवक्षा भी देखी जाती है। जैसे—

वेद मासो धृतव्रतो ०।

(ऋ० १।२५।८)

यद् देवानां मित्रमहः ० ।

(ऋ० १।४४।१२)

और इसी मन्त्र में चतुर्थपाद है ।

अग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः ।

२१. तथा तच्छब्दयोगे च स इद्देवेषु गच्छति ।
येषामिन्द्रस्ते जयंति पादौ तत्र निदर्शनम् ॥

इसी प्रकार 'तत्' शब्द के योगमें भी लट् लकार का प्रयोग होता है । इसके निम्नलिखित ऋक्-पाद उदाहरण हैं—

[१] येषामिन्द्रस्ते जयन्ति० । (ऋ० ८।१६।५)

[२] स इद्देवेषु गच्छति० । (ऋ० १।१।४)

२२. अथापि दृश्यते भूते कारमंशाय जिन्वथः ।
शत्रुं न किला विवित्से आण्डा शुष्णस्य भेदति ॥

भूतकालमें भी लट् लकार का प्रयोग दीखता है। जैसे—

कारमंशाय जिन्वथः । (ऋ० १।११२।१)

शत्रुं न किला विवित्से । (ऋ० १।३२।४)

आण्डा शुष्णस्य भेदति । (ऋ० ८।४०।११)

२३. कदा क्षत्रश्रियन्नरमा वरुणं करामहे ।
प्रयुज्यते भवन्त्यत्र कदायोगे भविष्यति ॥

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे ।

(ऋ० १।२५।५)

इस मन्त्रमें कदा के योगमें भविष्यत् कालमें लट् का प्रयोग किया गया है ।

२४. न ता मिनन्ति मायिनो य ईङ्खयंति पर्वतान्।
प्र वेपयंति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्॥

२५. विधाऽपरा पदेष्वेषु बहवः संति तादृशाः ।
इच्छन्तोऽपि न हिंसंति जातास्तेऽभीङ्खयंति च

[१] न ता मिनन्ति मायिनो०। (ऋ० ३।५६।१)

[२] य ईङ्खयंति पर्वतान्० । (ऋ० १।१९।७)

[३] प्र वेपयंति पर्वतान्० । (ऋ० १।३९।५)

(ऋ० ३।२६।४)

[४] वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्०। (ऋ० १।३९।५)

इत्यादि स्थलों में भी लट् लकार का प्रयोग किया गया है। इन स्थलों में लट् के प्रयोग का और ही प्रकार है। ऐसे ही अन्य भी अनेक उदाहरण हैं। 'न ता मिनंति मायिनः' का अर्थ है- वे उन मायावियोंके मारना चाहते हुए भी नहीं मारते । 'य ईङ्खयंति पर्वतान्' का अभिप्राय है- वे मरुद्गण उत्पन्न होकर सबको कपाते हैं ।

२६. दृश्यन्ते चास्य वामीये वृत्तिभेदास्तथाविधाः ।
शब्दब्रह्मदयस्थास्ते शक्याः शब्दैर्न भाषितुम् ॥

इस लट् लकारके ये जो अनेक वृत्तिभेद दिखाई देते हैं, वे शब्दशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) को जाननेवालों के हृदय में हैं, उनको शब्दों से बतलाया नहीं जा सकता ।

२७. छन्दसोऽनुविधानाय यत्र भूतभविष्यतोः।
लट् प्रयुक्तो न कालस्य विवक्षा तत्र विद्यते॥

छन्द के अनुकूल शब्दरचना करने के निमित्त जहां भूत और भविष्यत् कालों में भी लट् का प्रयोग किया गया है, वहां भी विशेष काल को बतलाने की इच्छा नहीं है।

२८. कदादियोगे कालस्य भवत्यभिभवो यथा।
अर्थस्वभावश्च तथा कालं वाक्येषु बाधते॥

'कदा' आदि शब्दों के योगमें जिस प्रकार 'काल' का अभिप्राय लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार अर्थ का अपना स्वभाव वाक्यों में काल को बाध लेता है।

(वेदमें लकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में पाणिनिने सामान्यतः एक सूत्र दिया है—

छन्दसि लुङ् लङ् लिटः॥ (पा० ३।४।६)

इसपर काशिका है—

छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ् लङ् लिटः प्रत्यया भवन्ति 'अन्यतरस्याम्' इति वर्तते। तेन अन्येऽपि लकाराः यथायथं भवंति॥

अर्थात् छन्दमें-वेदमें लुङ् लङ् लिट् इन लकारों का प्रयोग धातुओं के साथ सभी कालों में विकल्प से होता है, इससे अन्य भी लकार होते हैं। इसके अतिरिक्त लोकदृष्टिसे पाणिनिने वर्तमान में लट्का विधान किया है—

वर्तमाने लट्। (पा० ३।२।१२३)

'स्म' उपपद होनेपर लट् होता है—

लट् स्मे। (पा० ३।२।११८)

अपरोक्षभूत में 'स्म' उपपद होनेपर लट् होता है। पूछे हुए के उत्तर देते समय 'ननु' के योग में लट् होता है—

ननौ पृष्टप्रतिवचने। (पा० ३।२।१२०)

'न', 'नु' के योगमें विकल्पसे लट् होता है—

नन्वोर्विभाषा। (पा० ३।३।१२१)

'स्म' उपपद न भी हो, तो भी अनद्यतन भूतमें 'पुरा' शब्द के योग में लुङ् प्रत्यय विकल्पसे विधान किया है, जिससे पक्षमें लट् होता है—

पुरि लुङ् चास्मे। (२।२।१२२)

निंदा अर्थ में 'अपि' 'जातु' पदों के योग में लट् का विधान है—

गर्हायां लडपि जात्वोः। (पा० ३।३।१४२)

'कथम्' पद के योग में लिङ् का भी पक्षमें विधान है, और पक्षमें लट् है—

विभाषा कथमि लिङ् च। (पा० ३।३।१४३)

इच्छार्थक धातुओं से वर्तमान में विकल्प से लिङ् विधान है, पक्ष में लट् है—

इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने। (पा० ३।३।१६९)

॥ इति प्रथमोऽध्यायः॥

द्वितीयोऽध्यायः।

सुषुमायातमद्रिभिर्व्याचिख्यासति माधवः।
प्रदर्शयँल्लिटो वृत्तिम् परोक्षे तत्र लिट् स्मृतः॥

माधव आचार्य 'लिट्' लकार की वृत्ति (व्यापार) दिखलाते हुए सुषुमायातमद्रिभिः० (ऋ० १। सू० १३७।१ अष्टक १ अध्याय २) अध्याय की व्याख्या करना चाहते हैं। परोक्ष भूतकाल में लिट् का विधान किया गया है। (भूते॥ परोक्षे लिट्। पा०अ०३;पा० २, सू० ११५)

१. भूतेऽनद्यतने चैव ये अग्नेः परि जज्ञिरे।
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्॥

२. उवासोषा उच्छाच्च नु ततक्षुर्मनसा हरी।

अनद्यतनभूतकाल में भी लिट् लकार का प्रयोग होता है। जैसे—

[१] ये अग्नेः परि जज्ञिरे०। (ऋ० १०।६२।६)

[२] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्०। (ऋ० १।२२।१७)

[३] उवासोषा उच्छाच्च नु०। (ऋ० १।४८।३)

[४] तत॒क्षुर्मन॑सा॒ हरी॑० । (ऋ०१।२०।२)

[अनद्यतन भूत में पाणिनिने (अ० ३।२।१११) में लङ् का विधान किया है। वेद में अनद्यतन भूत में लिट् भी देखने में आता है। इसी के उक्त उदाहरण हैं- (१) ये अग्नि से पैदा हुए। (२) विष्णुने यह क्रमण किया, तीन प्रकार से पद रखा। (३) उषा प्रकट हुई थी, अभी भी प्रकट होती है, (४) उन्होंने मन (ज्ञान) से दो अश्व बनाये थे।]

दृश्यतेऽद्यतने चापि भूते तत्र निदर्शनम्।
३. रश्मिरस्याततानेति दिवा दृष्टमपश्यतः।
रश्मिञ्च रात्रावपि तमेष चाद्यतनो मत ॥

अद्यतन भूतमें भी लिट् लकारका प्रयोग देखा गया है, उदाहरण जैसे—

'र॒श्मिर॑स्या तता॑न'०। ऋ. १।३५।७

दिन में सूर्य की जिस रश्मिको देखा, रातमें उस रश्मि को न देखते हुए ऋषि की दृष्टि में यह अद्यतन ही है।

क्वे॒३॒दानीं॒ सूर्यः॒ कश्चि॑केत कत॒मां द्यां र॒श्मिर॑स्या त॑तान ॥७॥

इस समय सूर्य कहां है, यह कौन जाने, इसकी रश्मि किस आकाश या भूभाग को व्यापी।

४. अपरोक्षे च लिड् दृष्टो जुहुरे वि चितयन्तः।
आदृळ्हां पुरं विविशुः सहसानं ववन्दिम ॥
५. कर्माणि यौवने चक्रे यानि वव्रिर्ऋषिः पुरा।
तानि जीर्णः कथयति स्फुटा चात्रापरोक्षता ॥

अपरोक्षभूत में भी लिट् लकार का प्रयोग देखा गया है। जैसे--

[१] जु॒हु॒रे वि चि॒तय॒न्तोऽनि॑मिषं नृ॒म्णं पा॑न्ति । आ दृ॒ळ्हां पुरं॑ विविशुः ।

(ऋ० ५।१९।२)

[२] ए॒वाँ अ॒ग्निं व॑सूयवः॑ सह॒सानं॑ ववन्दिम।

(ऋ० ५।२५।९)

वव्रिऋषि ने यौवनकाल में जो कर्म किये थे, उन का वर्णन वह वृद्ध दशामें कर रहा है। इस से 'जुहुरे' इस मन्त्र में अपरोक्षभाव स्पष्ट है।

[(१) निरन्तर धन की रक्षा करते जानतेबूझते भी अनेक कुटिलता करते और दृढ नगरी में घुसकर रहते थे। (२) इस प्रकार धन की कामनावाले हमने बलशाली अग्नि की स्तुति की।]

६. यद्वा परोक्षमात्मानं प्रथमेनात्र निर्दिशन्।
पुरुषेण परोक्षांश्च क्रियामप्यपदिष्टवान् ॥

अथवा, जुहुरे इस ऋचा में परोक्ष अपने आप को प्रथम पुरुष से बतलाते हुए परोक्ष ही क्रिया का प्रयोग भी किया है।

७. यत्रा नश्चक्रा जरसन्दृश्यतेऽत्र भविष्यति।
यद्वा लिण् न्याय्य एवायं देवैरात्मन्यनूद्यते ॥
८. सृजन्तो हि जगद्देवाः मनुष्यस्य शतायुषः।
जरामकल्पयन् तस्मादर्थो भूतोऽत्र विद्यते ॥

'यत्रा॑ नश्च॒क्रा ज॒रसं॑'० ।

(ऋ० १।८९।९)

इस ऋचा में भविष्यत्काल में लिट् लकार का प्रयोग दीखता है। अथवा यहां लिट् का प्रयोग उचित ही है, यह देवों के किये का अनुवाद किया गया है। अर्थात् देवोंने जगत् की रचना करते हुए सौ वर्ष की आयुवाले मनुष्य की वृद्धावस्था भी बनाई। इस प्रकार से यहां भूतकाल ही विद्यमान है।

[श॒तमिन्नु श॒रदो॒ अन्ति॑ देवा॒ यत्रा॑ नश्च॒क्रा ज॒रसं॑ त॒नूना॑म् ॥

हे देवगण !आयु के सौ वर्ष हैं, जिनमें आप देहों के जरावस्थाभी बनाओगे, अथवा जिसमें आप लोगोंने देहों की जरावस्थाभी बनाई है।]

९. यदा न शक्नुयान्न्याय्याल्लिटं स्थापियतुं तदा।
वाक्यार्थानुगुणांस्तांस्तान्पण्डितोऽर्थान् प्रदर्शयेत् ॥

जब उचित रीतिसे व्याकरण के अनुसार लिट् की व्यवस्था न की जा सके, तो वाक्योंके अर्थोंके अनुसार उन उन अनेक अर्थों को दर्शाना चाहिये।

[माधवाचार्यने लिट् के प्रयोग दर्शाते हुए ऐतिहासिक पक्ष को ही मुख्य मान लिया है। नहीं तो कारिका ३ में परोक्ष-अपरोक्ष का कोई विवाद नहीं उठ सकता। पर-

मेश्वरीय वाक्य वेदमें परोक्ष-अपरोक्ष कैसा? उसकी दृष्टिमें त्रिकालसमान हैं।

४।५ कारिकाओंमें भी ऐतिहासिक पक्षको ही प्रमुखता दी है। पाणिनिने 'लिट्' तथा भूतकालिक अन्य लकारों के लौकिक प्रयोग की व्यवस्था करते हुए भी वेदके लिये सामान्य व्यवस्था की है—

(१) छन्दसि लिट्। (पा० ३।२।१०५)
छन्द में सामान्यभूत में लिट् हो।

(२) छन्दसि लुङ् लङ् लिटः।

वेदमें धातुसम्बन्ध में लुङ् लङ् लिट् लकारों का प्रयोग होता है। इस से लकारभेदसे भी धात्वर्थमात्र की प्रतीति होती है, कालों की विशेष विवक्षा वेद में नहीं है।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः।

वसू रुद्रा पुरुमंतू व्याचिख्यासति माधवः।
प्रदर्शयँल्लङो वृत्तिं लुङश्च तदनन्तरम् ॥

आचार्य माधव—

'वसू रुद्रा पुरुमन्तू'०। (ऋ० १।१५८।१ अष्टक २ अ० ३ व० १)

अध्याय की व्याख्या करना चाहते हैं। इसके पूर्व लङ् और लुङ् के प्रयोगों को दिखलाते हैं।

१. भूतेऽनद्यतने लङ् स्याल्लुङ् स्मृतोऽद्यतनेऽपि च।
लिटः परोक्षे स्मरणाल्लङ् प्रत्यक्षेऽवशिष्यते ॥

अनद्यतन भूत कालमें लङ् होता है और अद्यतन भूतमें लुङ् का विधान किया गया है। परोक्ष भूतमें लिट् का विधान होनेसे लङ् लकार प्रत्यक्ष--भूतमें शेष रहता है।

२. लङिंद्रो अस्मानरदद्वपाहन् वृत्रं परिधिम्।
स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन्मामेकं समधत्त॥

३. किं यविष्ठो न आजगन् तद् वो देवा अब्रुवंश्च।
प्रत्यायं सिंधुमा वदन् नुपातिष्ठन्त गिर्वणः ॥

४. प्रत्यक्षाण्येव सर्वाणि।

लङ् जैसे-

[१] इंद्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुः०। (ऋ० ३।३३।६)

[२] अपाहन् वृत्रं परिधिम्०। (ऋ० ३।३३।६)

[३] क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद्०। (ऋ० १।१६५।६)

[४] यन् मामेकं समधत्त०। (ऋ० १।१६५।६)

[५] किं यविष्ठो न आजगन्०। (ऋ०१।१६१।१)

[६] तद् वो देवा अब्रुवन्०। (ऋ० १।१६१।२)

[७] प्रत्यायं सिन्धुमावदन्०। (ऋ० १।१३।६)

[८] उपातिष्ठन्त गिर्वणो०। (ऋ० १।१३।६)

(ये सब प्रयोग प्रत्यक्ष भूतके हैं। समस्त हस्तलिपियोंमें चतुर्थ चरण का पाठ है— 'यन्मामेकं समधत्त' तृतीयके चतुर्थ चरणमें पाठ है- 'उपतिष्ठन्त'-

इन समस्त उदाहरणों में लङ् के प्रयोग हैं, जैसे—

(१) अरदद् (२) अपाहन् (३) आसीद् (४) सम्-अधत्त (५) आजगन् (६) अब्रुवन् (७) प्रति-आयम्; आ--अवदन्। (८) उप--अतिष्ठन्त।)

४. .... परोक्षे चापि दृश्यते।
इन्द्रस्य नु वीर्याणीति सूक्तं तत्र निदर्शनम् ॥

५. कर्मणामत्र पारोक्ष्यं चाकारेति प्रदर्शितम्।
एवं च सर्वे सूक्तस्थाः परोक्षाः स्युरमी लङः॥

लङ् का प्रयोग वेदमें परोक्षभूतमें भी देखा जाता है।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि०। (ऋ० १।३२।१)

यह समस्त सूक्त इसका उदाहरण है।

चकार इस क्रियापद से यही सूचित किया है कि समस्त कर्म परोक्ष हैं। इसी प्रकार इस सूक्त में लङ् के समस्त प्रयोग परोक्ष भूतकाल में हुए हैं।

[इन्द्रस्य नु वीर्याणि० सूक्त में 'चकार, ततक्ष' आदि क्रियापद लिट् लकार के हैं। लिट् लकार परोक्षभूत में है। उन के सहयोग में लङ् लकार के प्रयोग भी निम्नलिखित हैं—

'अहन्, अहिम्, प्रवक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्। (ऋ० १)

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य । आ सायकं मघवादत्त वज्रम् ।
अहन्नेनं प्रथमजाम् अहीनाम् ॥ (ऋ० ६)
अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रम्०। पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः । (ऋ० ८)
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् । (ऋ० ९)
नीचावया अभवद् वृत्रपुत्र । उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् । (ऋ० १०)
दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः । (ऋ० ११)
दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् । (ऋ० १२)
अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र। अजयो गाः अजयः शूर सोमम् । अवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून्। (ऋ० १४)
नयां मिहम् अकीरद् ध्रादुनिं च ।(ऋ० १४)
अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र। हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्। श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ।

ऐतिहासिक पक्ष मानने से माधव का कथन यहां ठीक बैठता है । यदि नित्य इन्द्र-वृत्र युद्धका पक्ष मानें, तो ऐसी घटनाएं संसार में सदा विद्यमान हैं । तो साक्षात्कर्ता ऋषिकी दृष्टिमें ये समस्त कर्म इन्द्र के परोक्ष न होकर प्रत्यक्ष ही हैं । इस प्रकार शेष लिट् लकारके प्रयोग भी परोक्ष के न होकर प्रत्यक्ष के ही मानने पड़ेंगे । और भूत-काल के न मानकर वर्तमानके मानने होंगे । इसी प्रकार इस सूक्त में वर्तमानकालिक लट् का भी प्रयोग है। जैसे—

(ऋ० १५) सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम् ।
लुङ् का भी प्रयोग है—

नातारीदस्य समृतिं वधानां । (ऋ० ६)
लट्—नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अतियन्त्यापः । (ऋ० ८)
(ऋ० ९) दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ।
(ऋ० १०) वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो ।

क्यों न इन लट् के प्रयोगोंके सहयोग से अन्य लकारों को भी प्रत्यक्ष में माना जावे ? परन्तु सत्यता यही है कि पाणिनिने ठीक लिखा है—

छंदसि लुङ् लङ् लिटः । (पा० ३।३)
वेद में ये समस्त लकार केवल धातुसम्बन्धमें हो जाते हैं । कालविवक्षा विशेष नहीं है । इति दिक्]

६. परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दृष्टिगोचरे।
लङं कात्यायनो ब्रूते जिहीत पर्वतो गिरिः॥

लोकविदित परोक्षभूत में जो कि वाक्य-प्रयोक्ता के दृष्टिगोचर हो, कात्यायन आचार्य लङ् का विधान करते हैं । जैसे-

'जिहीत पर्वतो गिरिः' ।

(ऋ० १।३७।७)

[नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे ।
जिहीत पर्वतो गिरिः ।

(ऋ० १।३७।७)

इस मन्त्र में- सायण के अनुसार अर्थ है- हे मरुतो । (वः उग्राय मन्यवे यामाय) आप लोगों के उग्र मन्यु के संयमन करने के लिये (मानुषः नि दध्रे) मनुष्य अपने घर की दृढ़ता के लिये, स्तम्भ लगाता है । आपका वेग इतना प्रबल है कि मेघ और पर्वत भी (जिहीत) विच-लित हो जाय । इस रीतिसे यहां लङ् का प्रयोग भूत-काल में नहीं, प्रत्युत सायण लिखते हैं—

लिङि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः।
भृञामित् इत्यभ्यासस्य इत्वम् ।
श्नाभ्यस्तयो रातः इत्याकारलोपः ।
परन्तु स्कन्द स्वामी—
जिहीत। ओहाङ् गतौ। अन्यत्र गच्छति युष्मद् भयान्नश्यतीत्यर्थः। अथवा उग्रात्क्रोधाद् गच्छति। उग्रेभ्यः क्रुद्धेभ्यो युष्मभ्यं बिभ्यन्नश्यतीत्यर्थः ॥
इसी स्थलपर दयानन्द—

जिहीत स्वस्थानाच्चलति। अत्र लडर्थे लिङ्।
इस स्थलपर लट् के अर्थ में लिङ् मानते हैं।

फलतः– सायण के मत से यह लिङ् लकार है, लङ् नहीं है। स्कन्द ने इसका अर्थ लट् लकार के समान किया है। बडे पर्वतका मरुतों के वेग या क्रोधसे भय कर के भागना यह प्रयोक्ता को प्रत्यक्ष है और लोकविदित है। परन्तु परोक्षभूत नहीं, आगे भी सम्भव है। अतः माधव का यह उदाहरण विचारणीय है। पाणिनि– अनद्यतने लङ् (३।२।१११) पर वार्तिक लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये लङ् वक्तव्यः।]

७. परोक्षे लोकविज्ञाते बहवो वैदिका लङः।
प्रयोक्तुर्दर्शनायोग्ये विषयेऽपि स्थिता इति॥
८. अधारयंत वह्नयोऽभजंत सुकृत्यया।
घनो वृत्राणामभवः सद्यो वृद्धोऽजायथाः॥

लोकविज्ञात परोक्ष में लङ् के बहुतसे वैदिक प्रयोग हैं, जो प्रयोक्ता के दर्शन के अयोग्य विषय में भी प्रयुक्त हैं। जैसे—

[१] अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया। (ऋ० १।२०।८)

[२] घनो वृत्राणामभवः। (ऋ० १।४।८)

[३] सद्यो वृद्धो अजायथाः। (ऋ० १।५।६)

(इन समस्त स्थलोंपर माधव को ऐतिहासिक पक्ष अभिमत है। निश्च पक्षमें परोक्षभूत यहां नहीं हैं। जैसा स्वामी दयानंदने लिखा है—

अधारयन्त धारयन्ति। अभजन्त सेवन्ते। अत्र लडर्थे लङ्। अभवः— भूयाः भवति वा। अजायथाः भव। इति दिक्॥

९. शक्नुवन्त्यृषयो द्रष्टुमतोऽदर्शनगोचराः।
लङोऽपि च समीचीना इति केचिद्वयवस्थिताः॥

ऋषि लोग साधारण जनोंके न देखनेयोग्य विषयों कामी दर्शन कर सकते हैं, इस न देखनेयोग्य पदार्थ के सम्बन्ध में प्रयुक्त लिङों के प्रयोग भी ठीक हैं। ऐसा कई विद्वानों का मत है।

१०. दृश्यतेऽद्यतने चापि लङ् आर्यमद्य सुकृतम्।
अवाचचक्षमपदमस्योप्रनिधातुरन्वायम्॥

अद्यतन (भूत) में भी लङ् का प्रयोग दीखता है, जैसे–

[१] आर्यमद्य सुकृतम्। (ऋ० १।१२५।३)

[२] अवाचचक्षं पदमस्य सस्वरुग्रं निधातुरन्वायमिच्छन्। (ऋ० ५।३०।२)

(इन दोनोंमें भी भूतकालका अर्थ संगत नहीं है।)

लुङ् का प्रयोग।

११. प्रत्यक्षे वा परोक्षे वा लुङ् भूतेऽद्यतने भवेत्।
अभि स्तोमा अनूषत सनिं मेधा मयासिषम्॥
१२. आपोऽद्यान्वचारिषम् रसेन समगस्महि।
उदगादयमादित्य एषायुक्त परावतः॥
१३. वि सुपर्णो अंतरिक्षाण्ययुक्त सप्तशुंध्युवः।
अच्छा सिंधुं मातृतमामद्यतन्व इमा इति॥

प्रत्यक्ष वा परोक्ष अद्यतन भूतमें लुङ् होता है। जैसे–

[१] अभिस्तोमा अनूषत०। (ऋ० १।११।८)

[२] सनिं मेधामयासिषम्०। (ऋ० १।१८।६)

[३] आपो अद्यान्वचारिषम् रसेन समगस्महि। (ऋ० १।२३।२३)

[४] उदगादयमादित्यो०। (ऋ० १।५०।१३)

[५] एषायुक्त परावतः०। (ऋ० १।४८।७)

[६] वि सुपर्णो अन्तरिक्षा व्यख्यद् (ऋ० १।३५।७)

[७] अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः०। (ऋ० १।५०।८)

[८] अच्छा सिन्धुं मातृतमा मया सं०। (ऋ० ३।३३।३)

ये समस्त लुङ् के प्रयोग अद्यतन भूत काल के हैं।

[माधव की दृष्टि सर्वत्र ऐतिहासिक है। लुङ् के संबंध में पाणिनी का विधान है—

लुङ् [भूते] ३।२।११०
वेदमें धातुसम्बन्धे—
छन्दसि लुङ् लङ् लिटः। (पा० ३।४।६)

न वा उ ते तनूं तन्वा सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् । असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥१२२॥

(अथर्व १८।१।१४)

(ऋ० १०।१०।१२)

(ते तनूं) तेरे शरीरको अपने (तन्वा) शरीरसे (वा उ) कभीभी (न सं पपृच्यां) स्पर्श नहीं करूंगा । (पापं आहुः) उसको पापी कहते है कि (यः स्वसारं निगच्छात्) जो बहिनके पास जावे । (मे हृदः मनसः) मेरे हृदय और मनके (एतत् असंयत्) यह बात विरुद्ध है कि मैं (भ्राता) भाई (स्वसुः शयने) बहिनके बिछोनेपर (शयीय) सोऊं।

यम कहता है- हे यमी ! मैं तेरे शरीरको स्पर्श कभी नहीं करूंगा, क्योंकि भाई बहिनके पास गया, तो उसको पापी कहते हैं । मेरे मनके भी यह बात विरुद्ध है, इसलिये मैं कभी बहिनके साथ सोऊंगा नहीं ।

इस मंत्रमें यम भाई है और उसकी बहिन यमी है, यह बात स्पष्ट है ।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम । अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥१२३॥

(अथर्व १८।१।१५ ऋ० १०।१०।१३,)

हे यम ! तू (बतः असि बत) सचमुच निर्बल है । तेरा मन और हृदय (नैव अविदाम) हमने नहीं समझा । (किल) निश्चयसे दूसरी स्त्री (त्वां परिष्वजातै) तुझे आलिंगन देगी, जिस प्रकार (कक्ष्या युक्तं इव) रसी जोते हुए घोडेको और (लिबुजा वृक्षं इव) वल्लि वृक्षको वेष्टित होती है ।

यमी कहती है— हे यम ! तू बडाही निर्बल है, सचमुच तेरे मनकी गहराई मुझे पताही नहीं थी । तात्पर्य यह है कि दूसरी स्त्रीही तुझे आलिंगन देगी । अस्तु ।

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१२४॥

(अथर्व १८।१।१६ ऋ० १०।१०।१४)

हे यमी ! तू (अन्यं उ सु) दूसरे पुरुषको ही मिल, दूसरा पुरुषही तुझे (परिष्वजातै) आलिंगन देगा, जिस प्रकार वल्ली वृक्षके ऊपर लपेट जाती है । उसका मन (त्वं इच्छ) तू जाननेकी इच्छा कर, (स वा तव) तथा वह तेरे मनको जानेगा । (अध) और उसके साथ तेरी (संविदं) संगति (सुभद्रां कृणुष्व) मंगलयुक्त कर ।

यम कहता है कि हे यमी ! तू दूसरे पुरुषके साथ मिल और वही तुझे आलिंगन देगा । उसका मन तू पहचान और तेरा मन वह जानेगा । पश्चात् तुम दोनोंका मिलाप दोनोंको लाभकारी होवे, ऐसा व्यवहार कर ।

इस संवाद से भाईबहिनका सगोत्र विवाह नहीं होना चाहिये, यह बात स्पष्टतासे कही है ।

अब विवाहविषयक उपदेश देखिये—

विवाहयोग्य विद्वान् स्त्रीपुरुष ।

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् । ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत् ॥१२५॥

(ऋ० ६।४९।७)

(पावीरवी) पवित्रता करनेवाली (कन्या) शोभायमान (चित्रायुः) विचित्र भोगोंको प्राप्त करनेवाली (वीरपत्नी) वीरोंका पालन करनेवाली (सरस्वती) विद्यादेवी (धियं धात्) बुद्धिका धारण करती है, (ग्नाभिः) सहचारिणियोंके साथ (सजोषाः) प्रेमके साथ (अच्छिद्रं शरणं) निर्दोष आश्रय देती है और (गृणते) उपासकको (दुराधर्षं शर्म) अटल सुख (यंसत्) देती है ।

सरस्वती अर्थात् विद्यादेवी सबकी पवित्रता करती है, शोभा बढाती है, विलक्षण भोग देती है, वीरता का पोषण करती है और उत्तम बुद्धिका प्रदान करती है । वह विद्यादेवी अपने साथ सहचारीणियोंको-अर्थात् धी श्री आदिकोंको लाकर सबको निर्दोष आश्रय देती हुई सुखभी देती है ।

इस मंत्रमें "सरस्वती कन्या" शब्द है। इसलिये यह मंत्र जिस प्रकार सरस्वती-विद्या विषयक है, उसी प्रकार " कन्या " विषयक भी है। विद्यासे सुसंस्कृत कन्या वीरोंको पतिरूप में वर कर उनको संतोष देती हैं, इत्यादि भाव पाठक विचार करके जान सकते है।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि । यत्काम इदमभिषिंचामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ १२६ ॥

(अथर्व० ६।१२२।५)

शुद्ध (पूताः), पवित्र, (यज्ञियाः) पूजनीय, (इमाः योषितः) इन स्त्रियोंको (ब्रह्मणां हस्तेषु) ज्ञानियोंके हाथोंमें (प्र पृथक्) पृथक् पृथक् (सादयामि) देता हूं। (यत् कामः अहं) जिस ईश्वरको धारण करनेवाला मैं (इदं वः अभिषिंचामि) इसका आपके लिये अभिषेक करता हूं (तत्) उस कामनाको (मरुत्वान् इंद्रः) प्रभु (मे ददातु) मुझे देवे।

शुद्ध, पवित्र, पूज्य योग्य तरुण स्त्रियोका पाणिग्रहण ज्ञानी पुरुष ही करें और पृथक् पृथक् एक तरुणीका पाणिग्रहण एकही पुरुष करे। अर्थात् एक पुरुष अधिक स्त्रियां न करे और अयोग्य स्त्रीपुरुषोंका विवाह कभी न हो। स्त्रीपुरुषोंके विवाह का हेतु परमात्मा की कृपासे सफल होवे।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ॥ महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥१२७॥ (अथर्व० १।१४।१)

(अस्याः) इस कन्याके (वर्चः भगं) तेज और ऐश्वर्यको (आ अदिषि) मैं स्वीकारता हूं, (इव) जिस प्रकार (वृक्षात् अधि स्रजं) वृक्षसे फूलोंकी माला लेते है। (महाबुध्नः पर्वतः इव) बडे जडवाले पर्वत के समान मेरे (पितृषु) पिता आदि संबंधिनों में यह कन्या (ज्योक् आस्तां) निरंतर रहे।

वर कहता है कि- इस वधूका मैं स्वीकार करता हूं, इसका तेज और अन्य गुणोका ऐश्वर्य हमारे अनुकूल है। जिस प्रकार वृक्षसे फूलों की माला लेते है, उस प्रकार तुम्हारे वंशवृक्ष से यह वधूरूपी पुष्पमाला मैं स्वीकार करता हूं। अब यह हमारे संबंधियोंके अंदर स्थिर रहे, जिस प्रकार वृक्षोंके अंदर पर्वत स्थिर रहता है।

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम । सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥१२८॥ (अथर्व० १।१४।२)

हे नियम से चलनेवाले राजश्रेष्ठ ! (एषा कन्या) यह कन्या (ते वधूः) तेरी वधू है, यह (नि धूयतां) नियमपूर्वक रहे। (सा) यह वधू (मातुः) माताके (भ्रातुः अथो पितुः) भाई और पिताके (गृहे) घरमे (बध्यतां) नियमसे बंधी रहे।

वधूपक्षके लोग कहते है कि- हे वर ! यह कन्या अब तेरी धर्मपत्नी हो गई है, यह तेरे परिवारमें स्थिर रूपसे रहे।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि । ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥१२९॥ (अथर्व० १।१४।३)

हे (राजन्) राजा ! हे वर ! (एषा) यह वधू (ते कुल-पा) तेरे कुलका संरक्षण करनेवाली है, (तां उ) उसको (ते परि दद्मसि) तेरे लिये दान करता हूं। यह (ज्योक्) सदा (पितृषु) मातापितादिकोंमें (आ सोते) बैठे, अथवा रहे। और (शीर्ष्णः) अपने मस्तिष्कसे अर्थात् बुद्धिसे (सं ओप्यात्) उत्तम विचारोंके बीज बोवे।

पिता अपनी कन्याका दान करनेके समय वरसे कहता है कि, यह विदुषी कन्या निःसंदेह तेरे कुलका पालन करनेयोग्य हो गई है। इसका दान मैं तेरे लिये करता हूं। यह तेरे परिवार में, तेरे घरके लोगोंमें इसके बाद निवास करे और अपनी सुबुद्धिसे उत्तम विचारोंका बीज बोवे। अपनी संतानमें सुविचार स्थापन करे।

असितस्य ते ब्रह्मणा कपस्य गयस्य च । अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥ १३० ॥ (अथर्व० १।१४।४)

(ब्रह्मणा) ज्ञानसे (अ- सितस्य) बंधनरहित और

(कश्यपस्य-पश्यकस्य) दर्शक तथा (मयस्य) ऐश्वर्यवान् (ते) तेरे लिये (जामयः) कुलस्त्रियां (अंतःकोशमिव) भगं) गुप्त खजाने के धनके समान (अपि नह्यामि) मैं तुझे बांधता हूं।

मनुष्य ज्ञानसे बंधनरहित अर्थात् स्वतंत्र हो कर रहे। अर्थात् गुलामीमें न रहे। अपनी परिस्थितिका निरीक्षण करनेवाला बने। इस प्रकार ज्ञानी और निरीक्षक बननेके पश्चात् धन कमावे अथवा धन कमानेवाला बने। तत्पश्चात् उत्तम कन्यासे विवाह करे और अपनी धर्मपत्नीको खजानेके समान सुरक्षित रखे।

इसी धर्मपत्नी से पुत्ररत्न और कन्यारत्न प्राप्त होते हैं। इसलिये पत्नी रत्नोंकी खान है। इसलिये उसका उत्तम संरक्षण करना चाहिये। कुलका पालन करनेवाली यही धर्मपत्नी है। इतना अधिकार स्त्रीका है, इसलिये ही स्त्रियोंका उत्तम संरक्षण होना आवश्यक है।

स्त्रीके मनके भाव।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
मामेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्।
॥१३१॥ (ऋ० १०।१५९।२)

(अहं केतुः) मैं ज्ञानवती हूं, (अहं मूर्धा) मैं घरमें मुख्य हूं, (अहं उग्रा विवाचनी) मैं धैर्यशालिनी वक्तृत्व करनेवाली हूं। इसलिये (सेहानायाः) शत्रुका नाश करनेवाली हूं, अतः (मम) मेरे (अनु) अनुकूल पति रहकर (उपाचरेत) व्यवहार करे।

स्त्री विदुषी हो, घरमें मुख्य होकर व्यवहार करे, उसमें वक्तृत्वशक्ति हो, घरके शत्रुओंको दूर करनेवाली हो। इस प्रकार की स्त्री हो, तो पति उसके अनुकूल होकर अथवा उसकी संमतिसे सब व्यवहार करे।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।
॥१३२॥ (ऋ० १०।१५९।३)

मेरे पुत्र (शत्रुहणः) शत्रुका नाश करनेवाले हैं, मेरी (दुहिता) पुत्री (विराट्) तेजस्विनी है और मैं (संजया अस्मि) विजयी हूं। तथा (मे श्लोकः उत्तमः) मेरी उत्तम प्रशंसा (पत्यौ) पतिके अंदर है।

स्त्री को चाहिये कि वह पुत्र ऐसे उत्पन्न करे कि जो शत्रुको भगानेवाले हों, पुत्री तेजस्विनी हो और वह स्त्री स्वयं विजयी हो। इतना होनेपर भी स्त्री की भक्ति पुरुषमें सुदृढ रहे।

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ
॥१३३॥ (ऋ० ८।३३।१९)

हे स्त्री! (अधः पश्यस्व) नीचे देख, (मा उपरि) ऊपर न देख। (संतरां पादकौ हर) गंभीरतासे पांव रख कर चल। (ते कशप्लकौ) तेरे अवयव (मा दृशन्) किसीको दिखाई न दें। क्योंकि (ब्रह्मा) आत्माही स्त्रीरूपसे तेरे अंदर (बभूविथ) प्रकट हुआ है।

स्त्रीके धर्म ये हैं कि— (१) वह पुरुषकी तरह ऊपर न देखे, प्रत्युत नीचेकी ओर देखे। (२) चलनेके समय गंभीर गतिसे चले, पावोंका जोरसे अवाज न करती हुई चले, (३) वस्त्रसे अपने अवयव आच्छादित रखे, ताकि कोई अवयव दूसरेको दिखाई न दे। (४) यह समझे कि अपने अंदर आत्माही स्त्रीका रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ है।

एक समय दो पत्नीएं करनेका निषेध।

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव
चरति द्विजानिः। वनस्पतिं वन आस्था-
पयध्वं निषूदधिध्वमखनन्त उत्सम्॥
॥१३४॥ (ऋ० १०।१०१।११)

(आपिब्दमानः) हिनहिनानेवाला (वह्निः) रथका घोडा (उभे धुरौ) दोनों धुराओंके (योनौ अन्तः चरति) मध्यमें दबा हुआ चलता है, जैसा (द्वि-जानिः इव) एक समय दो स्त्रियां करनेवाला पति दबा हुआ होता है। (वने) वनमें (वनस्पतिं) घास आदि वनस्पतियोंको (आस्थापयध्वं) ठीक प्रकार रखिये, (उत्सं) तालाव (अखनन्त) खोदिये और (नि-षूदधिध्वं) जलका संग्रह किजिये।

जिस प्रकार टमटमका घोडा दोनों धुराओंके बीचमें जकडा जानेके कारण इधर उधर हिल नहीं सकता, उस प्रकार दो पत्नियोंका पति पूर्ण परतंत्र हो जाता है। इसलिये एक समय दो पत्नियें करना उचित नहीं है।

इस मंत्रमें लक्षणासे यह उपदेश मिलता है, मंत्रके अन्य उपदेश स्पष्ट है।

विधवा स्त्रीका पुनर्विवाह ।

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥१३५॥१३५॥ (अथर्व० १८।३।१)

हे (मर्त्य) मनुष्य! (इयं नारी) यह स्त्री (पतिलोकं वृणाना) पतिलोक की प्राप्तिकी इच्छा करनेवाली, (पुराणं धर्मं अनुपालयंती) प्राचीन सनातन धर्मका पालन करती हुई (प्र- इतं त्वा उप निपद्यत) तुझ प्रेत के पास पडी रही है, (अस्यै) इसके लिये (प्रजां द्रविणं च) संतान और धन (धेहि) दे।

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥१३६॥ (अथर्व० १८।३।२)

हे (नारि) स्त्री! तू (एतं गतासुं) इस गतप्राण पतिके पास (उप शेषे) पडी है,वहासे (जीवलोकं अभि उदीर्ष्व) जीवित मनुष्योंके स्थानमें उठकर आ, (एहि) यहां आ। (तव) तेरे (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) पाणिग्रहण करनेवाले इस (पत्युः) पतिके साथ (इदं जनित्वं) इतनाही पत्नीत्व (अभि संबभूथ) उत्पन्न हुआ था।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्। अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥ ॥१३७॥ (अथर्व० १८।३।३)

(मृतेभ्यः) मरे हुये पतिओंसे (नीयमानां) दूर ली गई (जीवां युवतिं) जीवित तरुणी स्त्रीका (परिणीयमानां) विवाह किया हुआ (अपश्यं) देखा है। (यत् , जो (अंधेन तमसा) गाढ अंधेरेसे, शोकसे (प्रावृता आसीत्) आच्छादित थी, (एनां) उस (अपाचीं) अलग पडी हुई स्त्री को (प्राक्तः) प्रगतिशील मैंने (अनयम्) लाया है।

विधवा तरुण स्त्रीका पुनर्विवाह होता है। विधवा-अवस्था में जो स्त्री शोकाकुल थी, उसीको उठाकर विवाहित कर देनेसे उसका शोक दूर हो सकता है।

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती। अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥ १३८॥ ॥१३८॥ (अथर्व० १८।३।४)

हे (अघ्ने) घातपात न करनेवाली स्त्री! (जीवलोकं प्रजानती) जीवित मनुष्योंकी अवस्थाको जाननेवाली और देवोंके मार्गका (अनु संचरन्ती) अनुसरण करनेवाली तू हो। (अयं) यह (ते गोपति) तेरे इंद्रियोंका पति है, (तं जुषस्व) उसकी सेवा कर, और (एनं) इसको स्वर्गलोक पर (अधि रोहय) चढाओ।

पत्नीकर्म ।

एमा अगुर्योषितः शुंभमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व। सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥१३९॥ (अथर्व० ११।१।१४)

(इमाः) ये सब (शुंभमानाः) शुभगुणों से युक्त (योषितः) स्त्रियां (आ अगु.) आ गई हैं। हे (नारि) स्त्री! तू (उत्तिष्ठ) उठकर खडी हो। (तवसं रभस्व) बल (रभस्व-लभस्व) प्राप्त कर। (पत्या) पतिके साथ, (सु-पत्नी) उत्तम पत्नी बनकर रहकर (प्रजया) शुभ संतान से (प्रजावती) उत्तम सन्तानवाली होकर रहो। यह (यज्ञः) गृहयज्ञ- गृहस्थ-व्यवहार का शुभ कर्म (त्वा) तेरे पास (आ अगन्) आ गया है,इसलिये (कुंभं) घडा (प्रति गृहाय) ले और गृह का कार्य कर।

(१) स्त्री सबसे प्रथम आलस्य छोड कर शारीरिक,

मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल प्राप्तके, (२) पश्चात् पतिव्रताधर्म का उत्तम पालन करके सत्तम सन्तान उत्पन्न कर उनके शरीर, मन,बुद्धि और आत्मा का बल बढनेयोग्य उत्तम शिक्षा द्वारा उनको उत्तम शिक्षित करके उत्तम सतानवाली बने। (३) अपने घर का कार्य स्वयं अच्छो प्रकार करके अपने घरको आदर्श गृह बनावे और (४) अन्य स्त्रियोको अपने घरमें बुलाकर स्त्रियो का मेल करके स्त्रियों की उन्नति करे।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः। अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥१०४॥(अथर्व०११।१।१७)

(शुद्धाः) शुद्ध, (पूताः) पवित्र, (शुभ्राः) गौर वर्णवाली (यज्ञिया) पूजनीय (इमाः योषितः) ये स्त्रियें (आप' चरुं) जल और अन्न के कार्य के प्रति (अव सर्पन्तु) प्राप्त हों। ये स्त्रियें (नः) हमें (प्रजां) सन्तान (अदुः) देती रहती है। तथा (बहुलान् पशून्) बहुत पशुओं को हम प्राप्त होते है। (ओदनस्य पक्ता) चावल आदि पाक का पकानेवाला (सु-कृतां) उत्तम कर्म करनेवालो के (लोक) स्थान को (एतु) प्राप्त हो।

(१) स्त्रियें शुद्ध, पवित्र, निर्मल और पूजनीय बनकर अपने गृहकृत्य में दत्तचित्त हों, घरमे पानी तथा अन्न का इतजाम अति उत्तम रखें। (२) उत्तम सतान उत्पन्न करें। (३) गौ आदि गृहोपयोगी पशुओ का निरीक्षण करें। (४) कोई यह न समझे कि अन्न पकानेका कार्य हीन कार्य है। नहीं। यह अन्न पकानेका कार्य इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है, कि जो यह कार्य उत्तम करता है, वह स्त्री हो अथवा पुरुष हो, श्रेष्ठ समझा जाता है। इस का हेतु स्पष्ट ही है, कि भोजन आदि पकानेका संबंध हरएक मनुष्यके स्वास्थ्य के साथ सम्बन्ध रखता है। इसलिये सब का ध्यान इस विषयमें आकर्षित होना आवश्यक है। उत्तम पाक बनानेकी विद्या जानना जैसा स्त्रीको उसी प्रकार पुरुष के लिये भी अति उपयोगी है।

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि। मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज॥१४१॥ (अथर्व० ११।१।२२)

(पशुभिः सह) पशुओंके साथ (एनां) इस की (अभ्यावर्तस्व) चारो ओर घूम। (देवताभिः सह) देवताओ के साथ (एना) इस के प्रति (प्रत्यङ्) आगे प्रगति करता हुआ (एधि) प्राप्त हो। (शपथः) गाली,शाप तथा (अभिचारः) व्यभिचार (त्वा) तुझे(मा प्रापत्) न प्राप्त होवे। (स्वे क्षेत्रे) अपने क्षेत्र में (अनमीवा)नीरोग होकर (वि राज) प्रकाशित हो जाओ।

वेदिके अर्थात् यज्ञशाला के पास गौ आदि पशुओं के साथ जाना चाहिये, क्योंकि उनका दूध और घी हवन करना होता है। वेदिके पास देवताओं का आह्वान करना चाहिये, क्योंकि उनके उद्देश्यसे ही यज्ञ होता है। यज्ञ के समय गाली, बुरा शब्द तथा कोई अन्य दुष्ट कर्म के साथ अपना सम्बन्ध नहीं आना चाहिए। और अपने क्षेत्रमें, अपनी भूमिमे तथा अपने अधिकारके कार्यमें आरोग्य के साथ अपनी प्रगति करनी चाहिये।

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे। अंसद्रीं शुद्धामुपधेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥१४२॥ (अथर्व०११।१।२३)

(अग्रे) प्रथमतः (एषा) यह (ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्मके ओदन की (वेदिः) वेदि (ऋतेन) नियमसे (तष्टा) बनाई और (मनसा हिता) मनसे रखी गई है। हे (नारि) स्त्री! (शुद्धां अंसद्रीं) पवित्र कढाई या बर्तन को इस पर (उपधेहि) चढा दे, और (तत्र) उसमें (दैवानां ओदनं) देवताओंको देनेके लिये (ओदनं) अन्न (सादय) बनाओ।

जिस पर अन्न पकाया जाता है, वह चूल्हेका स्थान सबसे प्रथम योग्य नियमोंके अनुकूल बनाना और मनके विचार से उसको उत्तम बनाना चाहिये। उसमें किसी प्रकार का दोष होना नहीं चाहिये। तत्पश्चात् पकानेवाली स्त्री शुद्ध बर्तन को उस पर रखे और अग्नि आदि सब

साधनोंको सिद्ध करके उत्तम अन्न सिद्ध करे ।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा । इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ १४३ ॥ (अथर्व० ११।१।२८)

(इदं मे) यह मेरा (अमृतं ज्योतिः हिरण्यं) अमर तेजस्वी सुवर्ण है, (क्षेत्रात्) खेतसे (पक्वं) पका हुआ अन्न यह है, (मे एषा) मेरी यह (कामदुघा) गौ है। (इदं धनं) यह सब धन (ब्राह्मणेषु) ज्ञानियो में (निदधे) अर्पण करता हूं, और (पंथां) मार्ग (कृण्वे) बनाता हूं. (यः) (जो पितृषु) पालकों में (स्वर्गः) स्वर्गरूप है ।

(१) सोना, धान्य, गौ आदि धन ज्ञानियों को अर्पण करना चाहिये, (२) और सबके सुखका मार्ग खुला करना चाहिये ।

स्त्रीको उपदेश ।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा । शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥१४४॥ (अथर्व० ३।२८।३)

पुरुषो, गौवों और (अश्वेभ्यः) घोडों के लिये (शिवा भव) कल्याणकारिणी हो । (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब स्थानके लिये कल्याणकारिणी हो । (नः) हमारे लिये (शिवा इह एधि) कल्याणकारिणी होकर यहां आ जाओ ।

सबके ऊपर कल्याणपूर्ण दृष्टि स्त्रियोंको रखनी चाहिये ।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि । एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ॥ १४५ ॥ (अथर्व० १४।१।२१)

(इह) यहां (ते प्रजायै) तेरे लिये तथा संततिके लिये (प्रियं) हित (सं ऋध्यतां) बढे, (अस्मिन्) इस (गृहे) घरमें गार्हपत्य-घरकी व्यवस्थाके लिये (जागृहि) जागती रह । (एना पत्या) इस पतिके साथ (तन्वं सं स्पृशस्व) शरीरसुख प्राप्त कर । (अथ जिर्विः) और ज्ञानवृद्ध बनकर (विदथं आवदासि) सभामें वक्तृत्व कर ।

स्त्री अपनी प्रजाके लिये तथा अपने पति आदिके हित के लिये प्रयत्न करे । घर की व्यवस्था उत्तम रखे तथा ज्ञान प्राप्त करके यशस्विनी बने ।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ ॥ १४६ ॥ (अथर्व० १४।१।२२)

(इह इव स्तं) यहां ही तुम दोनों रहो । (मा वि यौष्टं) अलग विभक्त मत होओ । पुत्र और (नप्तृभिः) नातियोंके साथ (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (स्वस्तकौ मोदमानौ) अपने उत्तम घरसे आनंदित होते हुए (विश्वं आयुः) सब आयु (वि अश्नुतं) प्राप्त करो ।

स्त्रीपुरुष एकत्रित रहें। कभी विभक्त न हों, अर्थात् विवाह-संबंध तोडकर एक दूसरेको त्याग न दें । अपने घरमें सुख अनुभव करनेयोग्य परिस्थिति बनाकर अपने बालबच्चोंके साथ आनंदसे रहते हुए ही संपूर्ण आयु प्राप्त करके दीर्घ आयु तक जीवित रहें ।

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया । पतिर्यद्वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ ॥ १४७ ॥ (अथर्व० १४।१।२७)

(रुशती तनू) तेजस्वी शरीर (अमुया पापया) इस पापी आचरणसे (अश्लीला) घृणीत होता है। जो (बध्वः वासः) स्त्रीके वस्त्रमें पति अपने अंगको (अभ्यूर्णुते) ढक लेता है ।

स्त्रीका वस्त्र पुरुषको नहीं पहनना चाहिये ।

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म । शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व । ॥१४८॥ (अथर्व० १४।१।४०)

(हिरण्यं) सुवर्ण (आपः) जल (मेथिः) पशुबंधनके दंडादि (युगस्य तर्द्म) जूएके छिद्र (शतपवित्रा आपः) सैंकडों प्रकार से पवित्र बने हुए जल (ते शं भवन्तु) तेरे लिये कल्याणकारक हों। इस सुखसे युक्त होकर तू पतिके साथ (तन्वं) शरीरसुख को (सं स्पृशस्व) प्राप्त कर।

उत्तम रीतिसे गृहकार्योंमें दक्ष रहते हुए स्त्रीको पतिके साथ रहना चाहिये। इसीसे सब सुख स्त्री प्राप्त कर सकती है।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥
॥१४९॥ (अथर्व० १४।१।४२)

(सौमनसं) मनकी प्रसन्नता (प्रजा) सन्तान (सौभाग्यं) उत्तम भाग्य, ऐश्वर्य (रयिं) धनको (आशासाना) चाहती हुई (पत्युः अनुव्रता) पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली (भूत्वा) होकर (कं) अपना सुख (अमृताय सं नह्यस्व) अमरपनके साथ संबंधित कर।

स्त्री अपके मनको सदा प्रसन्न रख कर संतान, ऐश्वर्य और धन की कामना करे, पतिके अनुकूल सदा ही अपना आचरण रखे, तथा अपने सुखसाधन ऐसे करे, कि जो अमरत्व अर्थात् मोक्षरूप स्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेवाले हों, और बंधन बढानेवाली न हों।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
॥१५०॥ (अथर्व० १४।१।४३)

जिस प्रकार (वृषा सिंधुः) बलवान् समुद्रने नदियों का साम्राज्य (सुषुवे) उत्पन्न किया है, (एव) इसी प्रकार तू (पत्युः अस्तं परा इत्य) पतिके घर जाकर (त्वं सम्राज्ञी एधि) तू घरकी रानी बन।

पुरुष घरका सम्राट् है, और स्त्री घरकी सम्राज्ञी अर्थात् महाराणी है।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वः॥
॥१५१॥ (अथर्व० १४।१।४४)

(श्वशुरेषु) अपने ससुर आदिके बीच (देवृषु) देवरोंके मध्यमें (ननान्दुः) ननद के साथ (श्वश्र्वाः) सासुके साथ भी (सम्राज्ञी) महाराणी होकर रह।

घरके सब पारिवारिक मनुष्योंमें उत्तम महाराणीके समान बनकर हरएक स्त्रीको रहना चाहिये।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥१५२॥
(अथर्व० १४।१।५०)

(सौभगत्वाय) उत्तम भाग्यके लिये तेरा हाथ (गृह्णामि) मैं पकडता हूं। मुझ पतिके साथ (जरदष्टिः) वृद्ध अवस्थातक (असः) तू रह (भगः) भाग्यवान् (अर्यमा) श्रेष्ठ (सविता) उत्पादक (पुरं—धिः) नगरका नेता आदि (देवाः) देवोंने (त्वा मह्यं) तुझे मुझको (गार्हपत्याय) गृहपतिके कर्तव्योंके लिये (अदुः) दिया है।

हे स्त्री! मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूं। अब तू मेरे साथ ऐसा व्यवहार कर कि जिससे वृद्ध आयु तक तेरा और मेरा संबंध उत्तम प्रकारका बना रहे।

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः। अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥१५३॥ (अ०१४।१।६४)

(ब्रह्म) ज्ञान ही (अपरं) पश्चात् (पूर्वं) पहिले, (अन्ततः) अंतमें, मध्यमें, तात्पर्य (सर्वतः) सर्वत्र उपयोगी है। उस ज्ञानको प्राप्त करके और (अनाव्याधां) बाधा-रहित दिव्य नगरीको (प्रपद्य) प्राप्त होकर (पतिलोके) पतिके घर (शिवा स्योना) कल्याण करनेवाली बन कर (विराज) विराजमान हो।

सब अवस्थामें ज्ञान ही लाभकारी होता है, इसलिये ज्ञान प्राप्त करके विदुषी बनकर पतिके घर जाकर ऐसा व्यवहार करती रहे, कि सब उसकी प्रशंसा करें।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥
॥१५४॥ (अथर्व० १४।२।२)

(अग्नि) तेजस्वी ईश्वरने (आयुषा वर्चसासह) दीर्घ आयु और तेजके साथ (पत्नीं अददात्) पत्नी को दिया है। (अस्याः पतिः) इस का पति दीर्घ आयु हो कर (शरदः शतं जीवाति) सौ वर्ष जीता रहे।

पत्नी ईश्वरभक्तिपूर्वक ऐसा आचरण करे, और गृह-व्यवस्था ऐसी चलावे, कि जिससे पति दीर्घ आयु बनकर सौ वर्षकी पूर्ण आयु आनंदसे व्यतीत कर सके ॥

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् । सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥
॥१५५॥ (अथर्व० १४।२।६)

हे स्त्री ! (सा) वह तू (मंदसाना) आनंदसे युक्त होकर (शिवेन मनसा) शुभ मनसे (सर्ववीरं) सर्व वीरके गुणोंसे युक्त (वचस्यं रयिं) प्रशंसनीय धनको (धेहि) धारण कर। तथा हे (शुभस्पती) शुभकर्म करनेवाले स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (सुगं) उत्तम प्राप्त होने योग्य (तीर्थं) तैरने योग्य (सुप्रपाणं) जलस्थान (स्थाणुं प्रतिष्ठां) स्थिर प्रतिष्ठा प्राप्त करो और सदा (दुर्मतिं हतं) दुष्ट बुद्धिका नाश करो।

स्त्रीपुरुषों को उचित है, कि वे वीर्य, शौर्य, धैर्यादि गुणोंके साथ धन प्राप्त करें, कीर्ति और यश कमावें, अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखें, घरके पासके जलस्थान उत्तम अवस्थामें रखे और दुष्ट बुद्धि का नाश करें।

एमं पन्थामारुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् । यस्मिन्वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥
॥१५६॥ (अथर्व० १४।२।८)

(इमं सुगं) इस सुगम और (स्वस्तिवाहनं पंथां) कल्याण करनेवाले मार्गसे हम (आरुक्षाम) चलें। (यस्मिन्) जिस मार्गपरसे चलनेपर (वीरः न रिष्यति) वीर को हानि नहीं पहुंचती, और (अन्येषां) दूसरोंको (वसु विंदते) धन प्राप्त होता है।

इस धर्ममार्गसे चलें, क्योंकि इसीसे चलना सुगम है, और कल्याणकारक भी है। इस मार्ग परसे चलनेसे शौर्य-वीर्यादि गुण कम नहीं होते, और धनादि भोग्य पदार्थ भी प्राप्त होते है।

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती । सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥
॥१५७॥ (अथर्व० १४।२।११)

(ये परिपंथिनः) जो बटमार लोग (दंपती आसीदन्ति) पति-पत्नीके घात करने वाले हैं, वे इनको (माविदन्) न मिलें। आप दोनो पति और पत्नी (सुगेन) सुगम उपायसे (दुर्गं अतीतां) कष्ट की अवस्थाका अतिक्रमण करें और आपके संपूर्ण (अरातयः) शत्रु (अपद्रान्तु) भाग जावें।

पति और पत्नी अपनी गृह-व्यवस्था ऐसी रखें, कि जिससे स्वल्प और सुगम प्रयत्नसे बहुत कष्ट दूर हो, और सब प्रकार का सुख प्राप्त हो। सब शत्रु दूर होकर सर्वत्र मित्रता का राज्य हो।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् । सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रति दुग्धमृषभस्य रेतः ॥
॥१५८॥ (अथर्व० १४।२।१४)

(आत्मन्वती) आत्मिक बलसे युक्त (उर्वरा) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली यह (नारी) स्त्री (आगन्) आ गई है। हे (नरः) पुरुषो ! स्त्री में बीज (वपत) बो। (सा) वह स्त्री (वृषभस्य) बलवान् (रेतः) वीर्यवान् पुरुषसे निकला हुआ वीर्य, (बिभ्रती) धारण करती हुई (वः प्रजां) आपके लिये प्रजाको (वक्षणाभ्यः) गर्भस्थानसे (जनयत्) उत्पन्न करे।

आत्मिक बलसे युक्त और उत्तम सुदृढ शरीर से युक्त होने के कारण सुसंतति निर्माण करनेवाली वधू ही विवाह के लिये पसंद करनी चाहिये। पुरुषभी उत्तम वीर्यसंपन्न होकर उस स्त्रीमें गर्भाधान करे। स्त्री उस वीर्य को धारण करके गर्भका पालन उत्तम रीतिसे करके उत्तम संतान उत्पन्न करे।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः। वीरसूर्देवकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥
॥१५९॥ (अथर्व० १४।२।१७)

हे स्त्री! (अघोरचक्षु) क्रूर दृष्टि न रखनेवाली, (अपतिघ्नी) पतिका घात न करनेवाली, (स्योना) सुखदायिनी, (शग्मा) कार्यकुशल, (सु सेवा) सेवायोग्य (गृहेभ्यः) घरके लिये (सुयमा) नियम पालन करे। (वीरसूः) वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, (देवकामा) देवकी उपासना करनेवाली, (सुमनस्यमाना) उत्तम मनवाली, तू हो। (त्वया) तेरे साथ हम (संएधिषीमहि) मिलकर बढें।

स्त्रीको उचित है कि, वह अपनी उत्तम दृष्टि सबके ऊपर प्रेमसे पूर्ण रखे। ईश्वरकी उपासना करनेमें तत्पर रहे। सब कार्य उत्तम कुशलतापूर्वक करे, घरकी व्यवस्था उत्तम प्रकारकी रखे, जिससे सब घर का परिवार सुखी होवे।

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देव-कामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥
॥१६०॥(अथर्व० १४।२।१८)

(अदेवृघ्नी) देवरका घात न करनेवाली, (अपतिघ्नी) पति का घात न करनेवाली, (पशुभ्यः शिवा) पशुओंका हित करनेवाली, (सुयमा) उत्तम नियमोंका पालन करने वाली, (सुवर्चाः) तेजस्विनी, (प्रजावती) उत्तम संतानसे युक्त, (वीरसूः) वीर पुत्रोंको प्रसवनेवाली (देवकामा) ईश्वरकी उपासना करनेवाली (स्योना) सुखकारक होकर (इह एधि) यहां आ और (गार्हपत्यं अग्निं सपर्य) गृहसंबंधी यज्ञके अग्निकी सेवा कर।

स्त्री उक्त गुणोंसे युक्त होकर गृहकार्य में दक्ष होवे।

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा। इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥
॥१६१॥ (अथर्व० १४।२।२४)

(चर्म आरोह) चर्म के आसन पर बैठ, (अग्निं उपसीद) अग्नि की उपासना यज्ञद्वारा कर। यह देव (सर्वा रक्षांसि) सब दुष्ट भावोंको (हन्ति) नष्ट करता है। (इह प्रजां जनय) यहां प्रजा उत्पन्न कर, (अस्मै पत्ये) इस पतिके लिये (ते एष पुत्रः) तेरा यह पुत्र (सुज्येष्ठ भवत्) बडा होवे।

स्त्री आसन पर बैठ कर अग्निहोत्रादि करे। अग्नि रोग-बीजों का नाशक अर्थात् आरोग्यवर्धक है। इससे आरोग्य प्राप्त करके उत्तम संतान उत्पन्न करे और पतिके लिये पहिला ही पुत्र होवे ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥॥१६२(अथर्व० १४।२।२६)

हे वधू! (सुमंगली) उत्तम मंगल करनेवाली, (गृहाणां प्रतरणी) घरोंको बढानेवाली, (पत्ये सुशेवा) पतिके लिये उत्तम सेवा करनेवाली, (श्वशुराय शंभूः) ससुरके लिये शांति देनेवाली, (श्वश्र्वै स्योना) सासुके लिये आनंद देने-वाली (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो।

स्त्री उक्त गुणोंसे युक्त होकर पतिगृहमें गृहकार्य दक्षता पूर्वक करे।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥१६३॥(अथर्व १४।२।२७)

ससुरोंके लिये, पतिके लिये, घरके मनुष्योंके लिये, इन सब प्रजाओंके लिये, सुखदायिनी हो, तथा इनकी पुष्टि करनेवाली हो!

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन॥
॥१६४॥ (अथर्व १४।२।२८)

इह वधू (सुमंगलीः) मंगल करनेवाली है। (समेत) मिलकर (इमां पश्यत) इसे देखो! (अस्यै) इसको सौभाग्य (दत्त्वा) देकर (दौःभाग्यैः) दुर्भाग्यगणोंसे(विपरेतन) इसको पृथक् रखो।

उक्त प्रकार सुमंगल स्त्रीका सब लोग आदर करें और हर एक कष्टसे उसको बचावें। तथा हर एक प्रकार की सहायता करें।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥ ॥१६५॥ (अथर्व १४।२।३१)

(सुमनस्य माना) प्रसन्न मनके साथ (तल्पं आरोह) शय्यापर चढ और (इह) यहां (अस्मै पत्ये) इस पतिके लिये (प्रजां जनय) संतान उत्पन्न कर। इन्द्रकी पत्नी जैसी इन्द्राणी है, उस प्रकार (सुबुधा बुध्यमाना) ज्ञानसे युक्त होकर (ज्योतिरग्राः उषसः) ज्योतिको देनेवाली उषः काल में (प्रति जागरामि) जागती रह।

स्त्री आनंदयुक्त मनसे पतिके साथ युक्त होकर उत्तम संतान उत्पन्न करे। स्वयं ज्ञानकी प्राप्ति करती हुई सावधानतासे सब व्यवहार करे, तथा प्रतिदिन उषःकालमें उठकर अपने कार्य करने लगे।

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः। मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ ॥१६६॥ (अथर्व० १४।२।३७)

हे (पितरौ) मातापिता! तुम दोनों (ऋत्विये) ऋतुकालमें (सं सृजेथां) एकत्र मिलो। (रेतसः) अपने वीर्यसे मातापिता (भवाथः) बनो! (मर्यः इव) पुरुषके समान (योषां अधिरोह) स्त्रीके साथ युक्त हो, (प्रजां कृण्वाथां) संतान उत्पन्न करो और (रयिं पुष्यतं) धन बढाओ।

ऋतुकालमें स्त्रीपुरुष इकट्ठे हों, अपना रजवीर्यप्रभावशाली बनाकर उत्तम मातापिता बनो। उत्तम संतति उत्पन्न करो और धनधान्य बहुत कमाकर आनंदसे रहो।

तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति। या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥ ॥१६७॥ (अथर्व० १४।२।३८)

हे (पूषन्) पोषक! (शिवतमां तां) उस उत्तम कल्याणमयी स्त्री को (एरयस्व) प्रेरणा कर, जिसमें मनुष्य बीज (वपन्ति) बोते हैं, जो (नः उशती) हमारी इच्छा करती हुई (ऊरू विश्रयाति) अपनी जंघाओंको फैलावे और (यस्यां) जिसमें (उशन्तः) कामना करते हुए हम (शेपः प्रहरेम) संयोग करें।

स्त्री और पुरुष ऋतुकालमें ही परस्परोंकी कामना करते हुए ही संयुक्त हो। इच्छा न होते हुए जो संयोग होता है, वह वैसा लाभकारी नहीं होता।

आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः। प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥१६८॥(अथर्व० १४।२।३९)

(ऊरुं आरोह) जंघाके ऊपर चढ, (हस्तं धत्स्व) हाथका सहारा दे, (सुमनस्यमानः) उत्तम मनके साथ (जायां परिष्वजस्व) स्त्रीको आलिंगन दे, (इह) यहां (मोद मानौ) तुम दोनों आनंदसे रहकर प्रजा उत्पन्न करो। (सविता) सबका उत्पादक ईश्वर (वां) आपको दीर्घ आयु करे।

स्त्रीपुरुष आनंदसे रहकर संतान उत्पन्न करें।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥१६९॥ (अथर्व० १४।२।४३)

(स्योनात् योनेः) सुखकारण घरमें (अधि बुध्यमानौ) ज्ञान प्राप्त करते हुए (हसामुदौ) हास्य और आनंद करते हुए (महसा मोदमानौ) प्रेमसे परस्पर आनंदित होकर (सु-गू) उत्तम चाल चलन करनेवाले (सुपुत्रौ) उत्तम

पुत्रोंसे युक्त होकर (सुगृहौ) उत्तम घर बनाकर (जीवौ) जीवनका सार्थक करनेवाले होकर (विभातीः उषसः) तेजस्वी उषःकालोंको (तराथः) पार करो।

प्रेम और आनंदसे स्त्री-पुरुषोंको रहना चाहिये।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥
॥१७०॥ (अथर्व० १४।२।६३)

(इयं नारी) यह स्त्री (पूल्यानि आवपन्तिका) शुभ कर्मोंको करनेके समय (उप ब्रूते) बोलती है,कि (मे पति) मेरा पति दीर्घायु होवे और सौ वर्ष जीवित रहे।

पतिव्रता स्त्रीका यही लक्षण है, कि वह अपने पतिकी दीर्घ आयु होनेका ही चिंतन करे।

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं
द्यौरहं पृथिवी त्वम् । ताविह सं भवाव
प्रजामा जनयावहै ।। ॥१७१॥
(अथर्व० १४।२।७१)

(अहं अमः) मैं ज्ञानी हूं, और (त्वं सा) तू भी वैसी ही ज्ञानी है। (साम अहं) मैं साममंत्र और तू ऋग्वेदमंत्र है। मैं द्युलोक और तू पृथ्वी है। (तौ इह) हम दोनों यहां (संभवाव) मिलें और प्रजा उत्पन्न करें।

स्त्री और पुरुष का नित्य संबंध उक्त उपमाओंमें बताया है। जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीका विभक्त भाव नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रीपुरुष कभी विभक्त न हों।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् ।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु
॥१७२॥ (अथ० १४।२।७३)

जो (वधू दर्शाः) वधूको देखनेवाले (पितरः) बुजुर्ग लोग (इमं वहतुं) इस विवाहमें आ गये हैं। वे (अस्यै वध्वै) इस वधूरूप (संपत्न्यै) उत्तम पत्नीके लिये (प्रजावत् शर्म) सन्तानयुक्त सुख (यच्छंतु) देवें।

बडे लोग नूतन दंपतीको ऐसा आशीर्वाद देवें, कि जिससे वधूवरका अत्यंत हित होवे।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥१७३॥
(अथर्व० १४।२।७५)

सौ वर्षके दीर्घायुके लिये (सुबुधा बुध्यमाना) उत्तम ज्ञान प्राप्त करके (प्र बुध्यस्व) ज्ञानी बन (गृहान् गच्छ) अपने घर जा (तथा गृहपत्नी) जिस प्रकार घरकी स्वामिनी होती है, उस प्रकार (असः) रह। (सविता) सबका उत्पादक देव तेरी आयु दीर्घ करे।

स्त्री ज्ञानसंपन्न होकर घरकी व्यवस्था उत्तम करे और दीर्घायु बननेका यत्न करे। सूर्य दीर्घ आयु देता है।

गर्भाधानसंस्कारः ।

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि । प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम्
॥१७४॥
(अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ८१, मं०१)

हे पुरुष ! तू (यन्तासि) नियममें चलनेवाला या गर्भ-नाशक विघ्नोंका नियमन अर्थात् नाश करनेवाला है। तू (हस्तौ) अपने दोनों हाथोंको (यच्छसे) सहायताके लिये देता है और (रक्षांसि) राक्षसों अर्थात् विघ्नोंको (अप सेधसि) हटाता है, (प्रजां) प्रजा (च) और (धनं) धनको (गृह्णानः) प्राप्त करता हुआ (अयं) यह तू (परिहस्तः) हाथका सहारा देनेवाला (अभूत्) हो।

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे
॥१७५॥ (अथर्व० ६।८१।२)

(परिहस्त) हे हाथका सहारा देनेवाले पुरुष ! (गर्भाय धातवे) गर्भ की पुष्टि के लिये (योनिं) स्त्री की योनिकी (विधारय) विशेष करके रक्षा करो। (मर्यादे) हे मर्यादायुक्त पत्नी ! (पुत्रं) गर्भस्थ संतान को (आ धेहि)

भली प्रकारसे पुष्ट कर, (त्वं) तू (तं) उस सन्तानको (आ गमे) योग्य समय पर (आगमय) उत्पन्न कर ।

यं परिहस्तमबिभरदितिःपुत्रकाम्या । त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥१७६॥ (अथर्व० ६।८१।३)

(पुत्रकामा) उत्तम सन्तान की कामनावाली (अदितिः) अखण्ड व्रता स्त्रीने (यं) जिस (परिहस्तं) हाथका सहारा देनेवाले पतिको (अबिभः) धारण या स्वीकार किया है । (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमात्मा (तं) उस पति को (अब-ध्नात्) नियमबद्ध करे, जिससे वह पत्नी (पुत्रं) संतान को (जनात् इति) उत्पन्न करे ।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥१७७॥ (अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त १७)

(यथा) जैसे (इयं) यह (मही) बडी (पृथिवी) भूमि (भूतानां) प्राणियोंके (गर्भं) गर्भको (आदधे) भली प्रकार धारण करती है, (एवा) इसी प्रकार (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुं) सन्तान को (अनुसवितवे) अनुकूलतासे उत्पन्न करनेके लिये (ध्रियतां) स्थिर हो ।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १७८ ॥ (अथर्व० ६।१७।२)

(यथा) जिस प्रकार (इयं) यह (मही) बडी (पृथिवी) भूमि (इमान्) इन (वनस्पतीन्) वृक्षादिको धारण करती है (एवा) इत्यादि .... ।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् । एवा ते० ... ॥१७९॥ (अथर्व० ६।१७।३)

जिस प्रकार यह बडी भूमि (पर्वतान्) पहाडों और (गिरीन्) पहाडियों को (दाधार) धारण करती है, इत्यादि ।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् । एवा ते०...॥१८०॥ (अथर्व० ६।१७।४)

जिस प्रकार यह बडी भूमि (विष्ठितं) विविध प्रकार से स्थित (जगत्) जगत् को धारण करती है, (एवा ते इत्यादि पूर्ववत्)

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम् । शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १८१ ॥ (अथर्व०५।२५।१)

(शेपः) जननेन्द्रिय (गर्भस्य) गर्भमें (रेतो धा) वीर्य का धारण करानेवाला है । जननेन्द्रिय (योनेः) वीर्यके कारण (पर्वतात्) मेरुदण्ड (दिव.) मस्तिष्क और (अंगादंगात्) प्रत्येक अंगसे (समाभृतम्) इकठ्ठे हुए हुए वीर्य को (सरौ) बाण में (पर्णं इव) पंख की तरह (अदधत्) योनि में धारण कराता है ।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥१८२॥ (अथर्व० ५।२५।२)

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी भूतों के गर्भ को धारण करती है, उसी प्रकार (ते) तेरा (गर्भं) गर्भको (आदधामि) यथावत् स्थापित करता हूं । (तस्मै) उस गर्भके लिये (अवसे) रक्षा करनेके लिये (त्वां हुवे) तुझे बुलाता हूं ।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा॥१८३ (अथर्व० ५।२५।३)

(सिनीवालि) हे बडी बडी पिंडली वा जंघावाली,(सरस्वति) हे उत्तम ज्ञानवाली ! (गर्भं धेहि गर्भं धेहि) गर्भ को ठीक प्रकार धारण कर । (पुष्करस्रजा) पुष्टि देनेवाले (उभा) दोनों (अश्विना) अश्विदेव वीर्य (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (आधत्तां) भली प्रकार पुष्ट करें ।

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इंद्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥
॥१८४॥ (अथर्व० ५।२५।४)

(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान (ते गर्भं) तेरे गर्भ को पुष्ट करे, (देवः बृहस्पतिः) प्रकाशमान् बडे बडे लोगों की रक्षकबुद्धि (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करे, (इन्द्रः) इंद्र तेरे गर्भ को पुष्ट करे (च) और (धाता) धारण करनेवाला (अग्निः) और जाठराग्नि भी तेरे गर्भ को पुष्ट करे।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥१८५॥ (अथर्व० ५।२५।५)

(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (योनिं) गर्भाशय को (कल्पयतु) समर्थ करे। और वही (त्वष्टा) विश्वकर्मा ईश्वर (रूपाणि) गर्भ के आकारों को (पिंशतु) बनावे। (धाता) सबका पालन करनेवाला (प्रजापतिः) प्रजाओंका रक्षक परमात्मा (ते) तेरे (गर्भं) गर्भको (आसिंचतु) सब प्रकारसे सींचे और (दधातु) पुष्ट करें।

यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब॥
॥१८६॥ (अथर्व० ५।२५।६)

(राजा वरुणः) दीप्तिमान् वरुण (यद्वेद) जिस औषध को जानता है (यद्वा) अथवा जिस औषधिको (देवी) दिव्यगुणवती (सरस्वती) ज्ञानवती देवी (वेद) जानती है, (यत्) जिस औषध को (वृत्रहा) शत्रु व रोग का नाश करनेवाला (इन्द्रः) बडे से ऐश्वर्यवाला इन्द्र (वेद) जानता है, तत् उस (गर्भकरणं) गर्भजनक औषधि का (पिब) पान कर।

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः॥ १८७॥ (अथर्व ५।२५।७)

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! तू (ओषधीनां) ओषधियों का (गर्भः) स्तुतियोग गर्भ है, तू (वनस्पतीनां) वनस्पतियों का (गर्भः) ग्रहण करनेयोग्य आश्रय है और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणिमात्र का (गर्भः) आधार (असि) है, (सः) सो तू (इह) इसमें (गर्भं) गर्भशक्तिको (आ धा.) अच्छी प्रकार धारण कर।

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम्। वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि॥१८८॥ (अथर्व ५।२५।८)

(वृष्ण्यावन्) हे वीर्यवान् पुरुष! (वृषासि) तू ओजस्वी है। (अधि स्कन्द) उठ कर खडा हो (वीरयस्व) उद्यम कर और (योन्यां) योनि में (गर्भं) गर्भ को (आ धेहि) स्थापित कर, (प्रजायै) उत्तम सन्तान के लिये (त्वा) तुझे (आनयामसि) हम समीप लगते है।

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्। अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम्॥१८९॥ (अथर्व ५।२५।९)

(बार्हत्सामे) हे अत्यन्त प्रिय कर्म करनेवाली पत्नी! तू (विजिहीष्व) विशेष करके उद्योग कर। (गर्भः) गर्भ (ते) तेरे (योनिं) योनि में (आशयाम्) स्थापित हो। (सोमपा) अमृतपान करनेवाले (देवाः) उत्तम देवों ने (उभयाविनम्) दोनों मातापिता की रक्षा करने वाला (पुत्रं) पुत्र (अदुः) दिया है।

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥१९०॥ (अथर्व ५।२५।१०)

(धाता) हे पोषक परमात्मा (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) रूपके साथ (अस्याः) इस (नार्याः) नारी की (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाडियों में (पुमांसं पुत्रं) मनुष्य सन्तान को (दशमे मासि) दसवें महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (आ धेहि) अच्छे प्रकार स्थापित कर।

त्वष्टः श्रेष्ठेन०॥१९१॥ (अथर्व५।२५।११)

हे विश्वकर्मा परमात्मन्! [श्रेष्ठेन] इत्यादि पूर्ववत्।

सविता श्रेष्ठेन०॥१९२॥(अथर्व ५।२५।१२)

हे सर्वोत्पादक परमात्मन्! [श्रेष्ठेन इत्यादि पूर्ववत्]।

प्रजापते श्रेष्ठेन०॥१९३॥(अथर्व५।२५।१३)

हे सृष्टिपालक जगदीश्वर (श्रेष्ठेन) इत्यादि पूर्ववत्।

पुंसवन-संस्कार।

येन वेहद्बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत्। इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे निदध्मसि॥१९४॥ (अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त २३ मं० १)

हे सुभगे स्त्री! (येन) जिस कारण से तू (वेहत्) वन्ध्या (बभूविथ) हो गई है (तत्) उस कारण को हम (त्वत्) तुझमें से (नाशयामसि) नष्ट करते है और (तदिदं) उस वन्ध्यापन को (त्वत्) तुझ से (अप) हटा कर (दूरे) दूर (निदध्मसि) कर देते हैं।

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥१९५॥ (अथर्व ३।२३।२)

हे स्त्री! (ते) तेरी (योनिं) योनि मे (पुमान्) रक्षा करनेवाला (गर्भः) गर्भ (एतु)इसी प्रकार आवे,जैसे कि (बाणः) तीर (इषुधिं) तरकश में। और (ते) तेरा (वीरः) पराक्रमी (दशमास्यः) दस मास तक गर्भ में रहा हुआ (पुत्रः) सन्तान (जायताम्) उत्पन्न हो-पैदा हो।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्। भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्॥१९६॥ (अथर्व ३।२३।३)

हे स्त्री! तू (पुमांसम्) रक्षा करनेवाली (पुत्रं) सन्तान को (जनय) उत्पन्न कर और फिर (तमनु) उसके बाद भी (पुमान्) पुत्र (जायताम्) पैदा हो और तू (जातानां) उत्पन्न हुई हुई वर्तमान और उन सन्तानों को (यान्) जिन्हें कि तू (जनयाः) भविष्य में पैदा करेगी (माता) माता (भव) हो।

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च। तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥१९७॥ (अथर्व ३।२३।४)

हे स्त्री! (यानि) जिन (भद्राणि) उत्तम (बीजानि) संतानों को (ऋषभाः) वृषभ के सदृश-बलवान् पुरुष (जनयन्ति) पैदा करते हैं (तैः) उन मनुष्य के द्वारा तू भी (पुत्रं) उत्तम सन्तान की (विन्दस्व) प्राप्ति कर और तू (प्रसूः) उत्तम सन्तान को उत्पन्न करनेवाली (धेनुका) गायकी तरह (भव) हो।

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते। विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥१९८॥ (अथर्व ३।२३।५)

हे स्त्री! मै (ते) तेरा (प्राजापत्यं) सन्तानोत्पत्तिसंबंधी-कर्म- पुंसवनसंस्कार (कृणोमि) करता हूं, जिससे (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (योनिं) योनि में (आ एतु) आ जावे। हे नारी! (त्वं) तू ऐसी (पुत्रं) सन्तान को विन्दस्व प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यं) तुझे (शम्) शान्ति (असत्) दे और (त्वं) तू भी (तस्मै) उसे (शमसत्) शान्ति देनेवाली (भव) हो।

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव। तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः॥१९९॥(अथर्व३।२३।६)

हे स्त्री! (यासां) जिन (वीरुधां) औषधियों का (द्यौः पिता) द्युलोक पिता है, (पृथिवी माता) पृथिवीलोक माता और (समुद्रो मूलं) समुद्र मूल आधार (बभूव)है, (ताः) उन औषधियों को मै तुझे (पुत्रविद्याय) पुत्रलाभ के लिये देता हूं। वे (दैवीः)दिव्य गुणवाली (ओषधयः) औषधियां तेरी (प्र अवन्तु) रक्षा करें।

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि॥२००॥ (अथर्व.कां.६, सू० ११, मं०१)

(अश्वत्थः) घोड़े के सदृश बलवान् मनुष्य (शमीं) शान्त स्वभाववाली स्त्रीपर (आरूढः) आरोहण कर चुका है, इसलिये (तत्र) यह (पुंसवनम्) पुंसवनसंस्कार (कृतम्) किया गया है। (तत् वै) यह संस्कार ही (पुत्रस्य वेदनं) सन्तानप्राप्ति करानेवाला है। (तत्) वही संस्कार हम (स्त्रीषु) स्त्रियों का (आभरामसि) करते हैं।

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापति-रब्रवीत् ॥२०१॥ (अथर्व ६।११।२)

पहले (रेतः) वीर्य (पुंसि) मनुष्य मे (वै) ही (भवति) होता है,(तत्) वह (अनु) पीछे से (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनुषिच्यते) सींच दिया जाता है। (तत् वै) वह ही (पुत्रस्य) सन्तान को (वेदनं) प्राप्ति करानेवाला होता है, (तत्) ऐसा (प्रजापतिः) प्रजापति परमात्माने (अब्रवीत्) कहा है।

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ॥२०२॥ (अथर्व ६।११।३)

(प्रजापतिः) प्रजाओं के स्वामी परमात्मा (स्त्रैषूयं) स्त्रीप्रसवसम्बन्धी निमित्त को (अन्यत्र) और स्थान पर (उ) और (पुमांसं) पुत्र उत्पादक शक्ति को (इह) मनुष्यो में (दधत्) धारण कराता है। और फिर गर्भ को (अनुमतिः) पति की आज्ञा के अनुसार चलनेवाली और (सिनीवाली) स्नेह करनेवाली स्त्री (अचीक्लृपत्) अपने अन्दर बनाती है।

इति पुंसवनसंस्कारप्रकरणम्।

सीमन्तोन्नयनसंस्कारः।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना। सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदाय-मुक्थ्यम् ॥ २०३ ॥

(ऋग्वेद मण्डल २। सू० ३२। मंत्र ४)

(अहं) मैं (रा-का) दान देनेवाली (सुहवां) अच्छी प्रकार से बुलाए जाने योग्य स्त्री को (सुष्टुती) अच्छी स्तुतिद्वारा (हुवे) बुलाता हूं और वह (सुभगा) उत्तम ऐश्वर्यवाली (नः शृणोतु) मेरे आह्वान को सुने और (त्मना) अपने आत्मासे (बोधतु) मुझे अच्छी प्रकार समझे। और वह हमारे (अप.) प्रजननकर्म को (अच्छिद्यमानया सूच्या) बारीक सुईसे जैसे वस्त्रके छिद्रों को सी कर पूरकर लेते हैं ऐसे ही वह भी इसे (सीव्यतु) अच्छी प्रकारसे सीदे और (वीरं) बलवान् (शतदायं) सैकड़ों प्रकारसे दानादि देनेवाले (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय पुत्र मुझे (ददातु) दे।

इति सीमन्तोन्नयनप्रकरणम्।

जातकर्म-संस्कार।

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः ॥ ॥२०४॥ (ऋ० ५।७८।७)

हे वधू ! (यथा) जैसे (वातः) वायु (सर्वतः) सब तरफ से (पुष्करिणीं) नदी आदि को (समिङ्गयति) अच्छी तरह चलाता है (एवा) ऐसे ही (ते गर्भः) तेरा गर्भ (एजतु) हिले, चले तथा फिरे और ईश्वर करे कि (दशमास्यः) दश मास का होकर (निरैतु) बाहर निकले।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एज-ति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥२०५॥ (ऋ० ५।७८।८)

हे (दशमास्य) दश मास तक रहनेवाले गर्भस्थ जीव ! (यथा वातः) जैसे स्वतंत्रता से वायु (एजति) चलता है, (यथा वनं) जैसे वन सेवनीय होता है, (यथा समुद्रः) जैसे समुद्र गाम्भीर्य और धैर्य के साथ चलता है, (एवा) ऐसे ही (त्वम्) तू (जरायुणा) जरायु (गर्भ के ढकने-वाले चमड़े) के साथ (अवेहि) प्राप्त हो।

**दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवा अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि
॥२०६॥ (ऋ० ५।७८।९)**

हे परमात्मन्! (दशमासान्) दस महिने तक (अधि मातरि) माता के उदर में (शशयानः) सोनेवाला (कुमार. जीवः) सुकुमार से झाकला जीव (जीवः) प्राण धारण करता हुआ, (जीवन्त्या अधि) जीती हुई अपनी माता में (अक्षतः) विना किसी दुःख के अर्थात् सुखपूर्वक (निरैतु) बाहर निकले।

**एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथाय वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥
॥२०७॥ (वा० यजु० ८।२८)**

(दशमास्यः) दश मास रहनेवाला (गर्भः) गर्भ (जरायुणा सह) जरायु के साथ (एजतु) बढे। (यथा) जैसे (अयं वायुः) यह वायु (एजति) चलता है और (यथा समुद्रः एजति) जैसे समुद्र चलता है, (एव) ऐसे ही (अयम्) यह (दशमास्यः) दस मास रहनेवाला गर्भ (जरायुणा सह) जरायु के साथ (अस्रत्) उत्पन्न हो।

**वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता
कृणोतु वेधाः। सिस्रतां नार्यृतप्रजाता
वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥२०८॥
(अथर्ववेद कां० १, सू० ११० मं० १)**

हे (पूषन्) सबके पालन करनेवाले परमेश्वर! (अस्मिन्) इस (सूतौ) पुत्रोत्पत्तिके अवसर पर (अर्यमा) न्यायकारी, श्रेष्ठ पुरुषों का मान करनेवाला और (वेधाः) अत्यन्त बुद्धिसम्पन्न (होता) ऋत्विक् (ते) तेरे लिये (वषट्) सुन्दर आहुति (कृणोतु) देवे। हे परमेश्वर! (ऋतप्रजाता) सत्य गर्भवाली अथवा पूर्ण गर्भवाली (नारी) स्त्री सुखपूर्वक (वि सिस्रताम्) गर्भका मोचन करे (उ) और (सूतवै) सन्तान के उत्पन्न करने के लिये, इसके सब (पर्वाणि) सब अंगों के जोड (विजिहताम्) कोमल और ढीले हो जावें।

**चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे
॥२०९॥ (अथर्व० १।११।२)**

(दिवः) आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) पृथिवी की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुणवाले [अग्नि, वायु आदि] देवोंने इस (गर्भं) गर्भ को (समैरयन्) बनाया और पुष्ट किया है, वे सब दिशाएं और देव (तं) उस पुष्ट गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) जरायु से मुक्त करें।

**सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥
॥२१०॥ (अथर्व० १।११।३)**

(सूषा) सन्तान उत्पन्न करनेवाली नारी, अपने अंगों को (व्यूर्णोतु) भली भांति कोमल करे और हम उसके लिये (योनिं) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) प्रस्तुत करते हैं। हे (सूषणे) हे बालक को उत्पन्न करनेवाली नारी! तू (श्रथय) प्रसन्न हो; हे (बिष्कले वीर स्त्री! तू (अवसृज) [सन्तान को] पैदा कर।

**नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव
जरायु पद्यताम्॥२११॥
(अथर्व० १।११।४)**

[वह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) नाही (पीवसि) शरीर की मोटाई बढानेवाली वस्तुसे, और (नेव) नाही (मज्जसु) मज्जामें (आहतम्) बंधी हुई है। वह (शेवलं) सेवार अर्थात् काई घासके समान (पृश्नि जरायु) सफेद जरायु (शुने) कुत्तेके (अत्तवे) खानेके लिये (अव) नीचे (एतु) आवे। (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे?

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके। वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ २१२ ॥
(अथर्व० १।११।५)

प्रसूता के प्रति धायी कहती है कि, हे बच्चा देनेवाली स्त्री ! मैं (ते) तेरे (मेहनम्) गर्भमार्ग को (वि) विशेष कर और तेरी (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके तथा तेरे (गवीनिके) योनिके पार्श्ववर्तिनी दोनों नाडियोंको (वि) विशेष कर (भिनद्मि) विदारण करती हूं, जोकि गर्भ सरलतासे बाहर निकल जावे। (च) और (जरायुणा) जरायुसे (मातरम्) माताको (च) और (कुमारम्) अत्यन्त सुकोमल (पुत्रम्) पुत्रको (वि वि भिनद्मि) विशेष कर अलग करती हूं; (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे अर्थात् संपूर्ण जरायु गर्भाशयसे बाहर निकल जावे।

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः। एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥ २१३ ॥
(अथर्व० १।११।६)

गर्भ को शीघ्राति शीघ्र निकलना चाहिये, इस बातको दृष्टान्तों द्वारा वेद भगवान् समझाते है–

(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु [शीघ्र चलता है] और (यथा) जैसे (मनः) मन [शीघ्र चलता है] और (यथा) जिस प्रकार (पक्षिणः) पक्षी अतिशीघ्र आकाश में (पतन्ति) उडते है, (एव) वैसे ही हे (दशमास्य) दसमास गर्भ वाले बालक ! (त्वं) तू (जरायुणा) जरायुके (साकं) साथ (पत) शीघ्र नीचे आ, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे।

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये। उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥२१४॥
(वा० यजु० १७।८७)

हे (अग्ने) अग्नितुल्य तेजस्वी बालक ! तू (सरिरस्य मध्ये) लोकों अर्थात् सम्बन्धियों के बीच में वर्तमान हो कर (अपां प्रपीनम्) जलीय रसों से स्थूल हुवे (ऊर्जस्वन्तं) बल देने वाले (इमं स्तनम्) इस स्तन को (धय) पी। (मधुमन्तं, उत्सं) सुस्वादु करनेके तुल्य इस स्तनको सम्यक्‌कर (जुषस्व) सेवन कर, इसके सेवनसे (अर्वन्) हे शक्तिशील होनेवाले बालक ! (समुद्रियम्) समुद्र- अन्तरिक्ष लोक सम्बन्धी (सदनम्) सब ज्ञानको तू (विशस्व) ईश्वर की कृपासे प्राप्त करे।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ वा० य० ३८।५॥

हे (सरस्वति) बहुत ज्ञानसम्पन्न स्त्री ! (ते यः स्तनः) तेरा जो स्तन (शशयः) शरीर में वर्तमान है, (यः मयोभूः) जो सुख देनेवाला है, (येन) जिस स्तन से (विश्वा वार्याणि) बालक के समस्त स्वीकरणीय अंगों को तू (पुष्यसि) पुष्ट करती है, (यः रत्नधा) जो दुग्ध रूप रत्न का धारण करने वाला है (वसुविद्) दुग्धरूप धन को बालक के लिये प्राप्त कराता है, (यः सुदत्रः) जो बालक को दुग्ध का उत्तम दान देनेवाला है (तम्) उस बालोपकारी स्तन को (धातवे) बालक के पीने के लिये (अकः) कर।

इति जातकर्म-प्रकरणम्।

नामकरणसंस्कार।

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥२१६॥
(वा० यजु० ७।२९)

हे बालक ! (कोऽसि) तू प्रकाशरूप हो, (कतमोऽसि) अतिशय प्रकाशरूप हो, (कस्यासि) तू परमात्मा का है,

(को नामामि) तू आत्मनामवाला है (यस्य ते) जिस तेरे (नाम) नाम को हम (अमन्महि) जानते हैं,(यं त्वा सोमेन) जिस तुझ को शान्तिदायक पदार्थों से (अतीतृपाम) हम तृप्त करते है,(परमात्मा करे कि तू भी हमें तृप्त करे, यह शेष है) (भूः, भुवः, स्वः) अनेक गुण-युक्त परमात्माकी कृपासे (प्रजाभिः) सन्तानों से, मै (सुप्रजाः) सुन्दर सन्तान वाला (स्याम्) होऊं, (वीरैः) वीर संतानोंसे (सुवीरः) अच्छे वीरों से युक्त होऊं, (पोषैः) अन्य पोषणीय भूखादि से (सुपोषः) सुन्दर पोषण, रक्षा करनेवाला होऊं।

निष्क्रमण-संस्कार।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ। शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे। शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ २१७॥

(अथर्व० ८।२।१४)

हे बालक! (ते) तेरे निष्क्रमण काल में (द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक (शिवे) कल्याणकारी (असन्तापे) दुःख न देने वाले तथा (अभिश्रियौ) शोभा और ऐश्वर्य देनेवाले होवें। सूर्य (ते) तेरे लिये (शं आतपतु) कल्याण का प्रकाश करे। (वातः) वायु (ते हृदे) तेरे हृदय के लिये, मन की अनुकूलता के लिये (शं वातु) कल्याणकारी हो कर वहे। (दिव्याः पयस्वतीः आपः) दिव्य गुणयुक्त और स्वादु जल (त्वा) तेरे प्रति (शिवाः) कल्याणकारी हो कर (अभि क्षरन्तु) बहे।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि। तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥ २१८॥

(अथर्व० ८।२।१५)

हे बालक (ते) तेरे लिये (ओषधयः) औषधियें (शिवाः) कल्याणकारी हों। (उत्) और (त्वाः) तुझको (अधरस्या भूम्याः) अन्दर से (उत्तरस्यां पृथिवीमभि) बाहर (आहार्षम्) लाया हूं। (आदित्यौ) प्रकाशमान (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (उभौ) दोनों (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें।

अन्नप्राशनसंस्कार।

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः। ॥२१९॥ (अथर्व० ८।२।१८)

हे बालक! (ते) तेरे लिए (व्रीहियवौ) जौ और चावल (शिवौ) कल्याणकारी (अबलासौ) बलकारी और (अदोमधौ) मधुर स्वादवाले (स्तां) हों। (एतौ) ये जौ और चावल (यक्ष्मं) रोग को (विबाधेते) नहीं होने देते, तथा (अंहसः) रोगसे प्राप्त दुःखसे (मुञ्चतः) छुडा देते है, उसे दूर कर देते हैं।

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः। यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि। ॥२२०॥ (अथर्व ८।२।१९)

हे बालक! (यत् कृष्याः धान्यं) जो कृषिद्वारा उत्पन्न अन्न तू (अश्नासि) खाता है तथा (यत्पयः पिबसि) जो पेय पदार्थ पीता है, (यदाद्यं) जो भक्ष्य है तथा पुराना होनेसे जो (अनाद्यं) अभक्ष्य भी है (सर्वं ते अविषं कृणोमि) वह सब तेरे लिये रोगरहित होकर अमृत हो।

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥२२१॥ (वा० यजु० ११।८३)

हे अन्नपते! अन्न के स्वामी परमात्मा (अनमीवस्य) रोगरहित (शुष्मिणः) बलकारक (अन्नस्य) अन्न को (नः) हमारे लिए (देहि) दीजिए (प्र तारिष) बढाइये। (नः) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) भृत्यों और गो आदि पशुओंके लिये भी (ऊर्जं) बलकारक अन्न को (धेहि) दीजिए।

मुंडनसंस्कार।

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि। आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥२२२॥

(अथर्व० कां० ६, सू० ६८, मं० १)

(अयम्) यह (सविता) सर्व प्रकारके साधनों से युक्त नापित (क्षुरेण) उत्तम क्षुरे को लेकर (आ+अगमन्) आ पहुंचा है। हे (वायो) शीघ्र गतिवाले पुरुष ! शीघ्रता से (उष्णेन उदकेन) गर्म जल लेकर (एहि) आ। (आदित्याः) ज्ञानके प्रकाशक (रुद्राः) पुष्टों को रुलानेवाले तथा (वसवः) ऐश्वर्य से युक्त (प्रचेतसः) विद्वान् लोग (सचेतसः) अपने अनुकूल चित्तवाले (सोमस्य) शान्त आत्मावाले तथा (राज्ञः) दीप्तियुक्त बालक की (वपत) मुंडन करावे।

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ २२३ ॥ (अथर्व० ६।६८।२)

(अदितिः) अखण्डित अर्थात् तेज छुरा (श्मश्रु) केशों को (वपतु) काटे। (आपः) जल (वर्चसा) वेगयुक्त स्वभावसे (उन्दन्तु) केशों को गीला करे। (प्रजापतिः) सन्तान का पालक पिता (दीर्घायुत्वाय) इस बालक के दीर्घ जीवन के लिये (चिकित्सतु) रोगोंकी निवृत्ति करे।

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥२२४॥ (अथर्व० ६।६८।३)

(येन) जिस प्रकार (क्षुरेण) छुरेसे (सोमस्य राज्ञः) शान्तस्वभाव राजा का तथा (वरुणस्य) श्रेष्ठ गुणयुक्त पुरुषों का (सविता, विद्वान्) सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न और वपन क्रिया को अच्छी प्रकार जाननेवाला नाई–मुण्डन करता है (तेन) उसी तरह छुरेसे हे (ब्रह्माणः) ब्राह्मणो ! (अस्य) इस बालक के (इदं) इन केशों को (वपत) कटवाओ। (अयं) यह बालक (गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान्,) गाय, घोड़ा इत्यादि पशु एवं समृद्धियुक्त तथा उत्तम सन्तानवाला (अस्तु) होवे।

कर्णवेधसंस्कार।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२२५॥(य०२५।२१)

(यजत्राः) हे संग करनेवाले (देवाः) विद्वानो ! हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रम्) अच्छे वचन को (शृणुयाम) सुने (अक्षभिः) आंखो से (भद्रम्) कल्याणको (पश्येम) देखें (स्थिरैः) दृढ (अंगैः) अंगोसे (तुष्टुवांसः) स्तुति करते हुए (तनूभिः) शरीरों से (यत्) जो (देवहितम्) विद्वानों के लिये सुखकारी (आयुः) अवस्था है, उसको (व्यशेमहि) प्राप्त हो।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वन् ज्या इयं समने पारयन्ती ॥२२६॥ (वा० य० २९।४०)

हे वीर पुरुषो! (अधि धन्वन् वितता) पार लगानेवाली (इयं ज्या) यह प्रत्यंचा (वक्ष्यन्ति इव इत्) जैसे कुछ कहती हुई भी है, वैसे (कर्णं) कर्णको (आ गनीगन्ति) प्राप्त होती है और (प्रियं सखायं) प्यारे पति को (परिषस्वजाना) आलिंगन करनेवाली (योषा इव) योषा की भांति (शिङ्क्ते) कुछ अव्यक्त शब्द करती है।

उपनयनसंस्कार।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयंति देवाः ॥२२७॥ (अथर्व० ११।५।३)

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥२२८॥(वा०य०२।३३)

हे (पितरः) विद्यादान से रक्षा करनेवाले पुरुषो! तुम (यथा) जिस प्रकार यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार या हमारे कुलमें शारीरिक और आत्मिक बल प्राप्त कर विद्या और पुरुषार्थयुक्त मनुष्य होवे, उस प्रकार (गर्भ) गर्भ के समान कोमल, (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहण के लिये पुष्पों की माला धारण किये हुए इस (कुमारं) ब्रह्मचारी को (आधत्त) स्वीकार करो।

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज । यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात्स उ नो वि मुञ्चात् ॥२२९॥ (अथर्व० ६।१३३।१)

(यः देवः) जिस विद्वान् आचार्य ने (नः) हमारे (इमां) यह (मेखलां) मेखला (आबबन्ध) अच्छी प्रकार बांधी है, (यः संननाह) जिसने सजाई है (उ) और (यः युयोज) जिसने संयुक्त की है । (यस्य देवस्य) जिस विद्वान् के (प्रशिषा) उत्तम शासन से (चरामः) हम विचरते हैं (सः) वह (नः) हमें (पारम्) पार (इच्छात्) लगावे, (सः उ) वह ही [कष्ट से] (विमुञ्चात्) मुक्त करे ।

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् । पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥२३०॥ (अथर्व० ६।१३३।२)

(मेखले) हे मेखला ! तू (आहुता) यथाविधि दान की गई (असि) है । (ऋषीणाम्) धर्ममार्ग बतानेवाले ऋषियोंका (आयुधम्) शस्त्ररूप (असि) है । (व्रतस्य) उत्तम व्रत वा नियम के (पूर्वा) पहिले (प्राश्नती) व्याप्त होनेवाली और (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होनेवाली तू (भव) हो ।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥२३१॥ (अथर्व० ६।१३३।३)

(भूतात्) प्राप्त (मृत्योः) मृत्युसे (पुरुष) इस पुरुष आत्मा को (निर्याचन्) बाहर निकालता हुआ (अहं) मैं (यमाय) नियम पालन के लिये (यत्) जो (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं, (तं) वैसे (एनं) इस आत्मा को (ब्रह्मणा) वेदज्ञान (तपसा) तप, योगाभ्यास और (श्रमेण) परिश्रम के साथ (अनया मेखलया) इस मेखलासे (अहं) मैं (सिनामि) बांधता हूं ।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव । सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥२३२॥ (अथर्व० ६।१३३।४)

यह मेखला (श्रद्धायाः) श्रद्धा [आस्तिक बुद्धि विश्वास] की (दुहिता) पूर्ण करनेहारी [यद्वा- पुत्री समान प्रिय] (तपसः) तप [योगाभ्यास से] (अधि) अच्छे प्रकार (जाता) उत्पन्न हुई, (भूतकृताम्) सत्यकर्मा (ऋषीणां) ऋषियों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करनेहारी [अथवा बहिन के समान हितकारिणी] (बभूव) हुई है । (सा) सो तू (मेखला) हे मेखला ! (नः) हमें (मतिं) मननशक्ति और (मेधां) निश्चयात्मिका बुद्धि (आ) सब ओरसे (धेहि) दान कर (अथो) और भी (नः) हमें (तपः) योगाभ्यास (च) और (इन्द्रियम्) इन्द्र का चिन्ह [पराक्रम वा ऐश्वर्य] (धेहि) दान कर ।

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे। सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ २३३ ॥ (अथर्व० ६।१३३।५)

(यां त्वा) जिस तुझ को (पूर्वे) पहिले (भूतकृतः) सत्यकर्मा (ऋषयः) ऋषियों ने (परि बेधिरे) चारों ओर बांधा था, (सा त्वं) सो तू (मेखले) हे मेखले ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु के लिये (मां) मुझमें (परि) सब ओर से (स्वजस्व) चिपट जा ।

इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥२३४॥ (अथर्व ११।७।४)

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतेष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥२३५॥

हे शिष्य ! तेरे हृदयको मैं आपने आधीन करता हूं-तेरा

चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मत हो। प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर-और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥ २३६ ॥
(यजु० ३२।१३)

(सदस्पतिं) समूह वा ज्ञान के पति को (अद्भुतं) आश्चर्यरूप (प्रियं) आनन्दरूप (इन्द्रस्य काम्यम) जीवमात्रके अभिलाषणीय ईश्वर को तथा (सनिं) विवेचना-शक्ति देनेवाली (मेधां) शुद्ध बुद्धि को मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊं।

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्। शृणातु ग्रीवाः प्रशृणा-तुष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ २३७ ॥
(अथर्व० ६।१३४।१)

(अयं) यह धारण किया गया (वज्र.) दण्ड काम-क्रोधादियुक्त शत्रु को मारनेवाला (ऋतस्य) ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ के सामर्थ्यसे (तर्पयताम्) तृप्त होवो, अर्थात् इसकी शक्ति का पराभव कोई न कर सके; (स वज्रः) वह मेखला दण्ड (अस्य) कामक्रोधादियुक्त पुरुष के (राष्ट्रं) राज्यको (अपहन्तु) नष्ट करे और (ग्रीवाः शृणातु) गले की हड्डियों को छिन्नभिन्न करे (उष्णिहाः) उत्स्नातस्थान में रहनेवाली धमनि को (प्रशृणातु) छिन्नभिन्न करे, (वृत्रस्येव शचीपतिः) जिस प्रकार की (शचीपतिः) बुद्धिमान् मनुष्य (वृत्रस्य) क्रोधादियुक्त पुरुष को ब्रह्मचर्य के सामर्थ्य द्वारा नाश करता है।

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मो-त्सृपत्। वज्रेणावहतः शयाम् ॥२३८॥
(अथर्व० ६।१३४।२)

(उत्तरेभ्यो) उत्कृष्टतर मनुष्यों से (अधरोत्तरः) अत्यन्त निकृष्ट आदमी (गूढः) छिपा हुआ पृथिवीके अन्दर निमग्न हुआ हुआ उस (पृथिव्याः) पृथिवी के पास से (मा उत्सृपत्) पुनः ऊपर न उठे। (वज्रेण) इस दण्ड से (अवहतः) चूर चूर किया गया (शयाम्) सो जावे अर्थात् मर जावे। इस मेखलादण्ड के सामर्थ्यसे कामक्रोधादि शत्रुओंका बिल्कुल नाश कर दे।

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति त-मिज्जहि। जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्व-ञ्चमनु पातय ॥२३९॥ (अ० ६।१३४।३)

(यः) जो शत्रु कामक्रोधादि (जिनाति) हानि पहुंचाता है (हे वज्र) हे दण्ड ! तू (तं) उस शत्रु को (अन्विच्छ) उस की इच्छा करो। तथा (यो जिनाति) जो हानि पहुंचाता है, (तं इत्) उस को ही (जहि) मारो, (जिनतः) हानि पहुंचानेवाले शत्रुके (सीमन्तम्) शिरके मध्य देश को (अन्वञ्चम्) नीचे कर के (अनुपातय) गिरा दो।

समावर्तनसंस्कार।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ २४० ॥
(अथर्व० ११।५।३)

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मा-दुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्। ॥ २४१ ॥ (अथर्व० ११।५।६)

(समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्ण चर्म धारण करता हुआ (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला, और (दीर्घश्मश्रुः) बडी बडी मूछें वाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोकोंके इकठ्ठा करता हुआ, और (मुहुः) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है और पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्रही पहुंचाता है।

तानि कल्पद्ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२४२॥
(अथर्व० ११।५।२६)

ब्रह्मचारी (तानि) उनके विषयमें अर्थात् चक्षु श्रोत्र आदिकी न्यूनताके विषयमें किये गये प्रश्नोंके विषयमें (कल्पत्) योजना करता है- उन प्रश्नोंका ठीक कर उत्तर देता है। अथवा इन सब अङ्गोंकी कमियोंको पूर्ण करता हुआ ब्रह्मचारी (सलिलस्य पृष्ठे) नदीके किनारे तप करता है। इस ज्ञानसमुद्र अत्यन्त तेजस्वी होनेके कारण (पृथिव्यां रोचते) इस पृथिवीपर शोभित होता है।

[बभ्रुः= धारण करनेकी शक्तिवाला।
पिङ्गलः= दीप्त, बलवान्।]

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥२४३
(ऋक्० ३।८।४)

जो पुरुष (परिवीतः) सब ओरसे यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्यसेवनसे उत्तम विद्या और शिक्षासे युक्त (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ (युवा) पूर्ण जवान होकर विद्या ग्रहण कर गृहाश्रममें (आगात्) आता है, (स उ) वही दूसरे विद्याजन्ममें (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त, मङ्गलकारी (भवति) होता है। (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (मनसा) विज्ञानसे (देवयन्तः) विद्यावृद्धिकी कामना करनेवाले (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तं) उसी पुरुषको (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करते हैं।

विवाहसंस्कार।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥२४४
(अथर्व० ११।५।१८)

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्। इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ ॥२४५॥ (ऋक् १०। १८३)

हे वर! (चेकितानं) ज्ञानयुक्त (तपसो जातम्) ब्रह्मचर्यरूपी तपसे उत्पन्न अर्थात् ब्रह्मचारी (तपसो विभूतम्) ब्रह्मचर्यव्रतद्वारा शरीरसौन्दर्यादि विभूतिमान् (त्वाम्) तुझको मैंने अपने (मनसा) मनसे (अपश्यम्) देख लिया है, तुझे प्राप्त करनेकी मेरी इच्छा है। (पुत्रकाम) सन्तान चाहनेवाले वर! (इह प्रजाम्) इस लोकमें सन्तान और (रयिं) धनको (रराणः) आनन्द लेता हुआ (प्रजया प्रजायस्व) सन्तानरूपमें पैदा हो, अर्थात् सन्तानोत्पत्ति कर।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्। उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥२४६॥
(ऋक्० १०।१८३।२)

हे वधू! (दीध्यानां) सौन्दर्ययुक्त (स्वायां तनू) अपने शरीरका (ऋत्व्ये नाधमानाम्) ऋतुकालीन संयोग चाहती हुई (त्वाम्) तुझको (मनसा अपश्यम्) मैं मनसे चाहता हूं। हे (पुत्रकामे) सन्तान चाहनेवाली वधू! (उच्चा युवतिः) अत्यंत तरुणावस्थापन्न तू (मामुप बभूयाः) मुझे विवाहद्वारा प्राप्त कर और (प्रजया प्रजायस्व) सन्तानोत्पत्ति कर।

अहं गर्भमदधाम्योषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः। अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥२४७॥
(ऋक्० १०।१८३।३)

ईश्वर कहता है कि, (अहं ओषधीषु गर्भं अदधाम्) मैंने वनस्पतियों में फल आदिके लिये गर्भ स्थापन किया है। (अहं विश्वेषु भुवनेषु अन्तः) सब लोकोंमें मैंने ही गर्भ स्थापित किया है। (अहम् पृथिव्यां प्रजाः अजनयम्) पृथिवीपर प्रजायें मैंने ही उत्पन्न की हैं। तथा (जनिभ्यः) प्रजननकियाद्वारा (अपरीषु पुत्रान् अजनयम्) स्वकीय

स्त्रियोंमें पुत्र उत्पन्न करता हूं। अर्थात् हे मनुष्यो! तुम अपनी शक्तियोंमें ही सन्तानोत्पत्ति किया करो।

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्। ॥२४८॥ (ऋक्० १०।२७।१२)

(वधूयोः) विवाह करने की इच्छावाले (मर्यतः) मनुष्यके (वार्येण) श्रेष्ठ (पन्यसा) स्तुति या यशसे (कियती योषा) कितनी स्त्रियां (परिप्रीता) आकृष्ट हो जाती हैं, (यत्–या) जो (वधूः) स्त्री (भद्रा) कल्याण चाहनेवाली तथा (सुपेशाः) सुन्दर रूपवाली होती है, (सा) वह (जने चित्) जनसमुदाय या सभाके बीचमें (मित्रं) अपने स्नेही पतिको (वनुते) चुनती है।

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः। नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२४९॥ (ऋक्० ३।५५।१६)

(अप्रदुग्धाः) जो दुही नहीं हैं, (धेनवः) ऐसी गौओं की तरह अविवाहित, (अशिश्वीः) बालकावस्थासे रहित, (सबर्दुघाः) सब उत्तम व्यवहारोंको पूर्ण करनेवाली, (शशया) कुमारावस्थाको उल्लंघन कर (युवतयः) यौवनावस्थाको प्राप्त (भवन्ती) हुई हुई (नव्याः, नव्याः) नवीन शिक्षासे युक्त (देवानां एकं महत् असुरत्वम्) विद्वानो द्वारा दिए गये विज्ञानको प्राप्त- पूर्ण शिक्षित युवतियां (आ धुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें। युवावस्थामें ही स्त्रियोंका विवाह होना चाहिए।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥२५०॥ (अथर्व० १४।१।१७)

(सुबन्धुम्) उत्तम बन्धु (पतिवेदनम्) रक्षक पतिके समान ज्ञान करानेवाले या देनेवाले अथवा रक्षा करनेवाले दवाई को देनेवाले (अर्यमणं) न्यायकारी परमात्माको (यजामहे) हम पूजते हैं। (उर्वारुकमिव) खरबूजा जैसे (बन्धनम्) लता बन्धनसे पककर विना प्रयत्नसे अलग होता है। जैसे वधूको (इतः) पितृकुलसे (प्रमुञ्चामि) छुडाता हूं (अमुतः) पतिगृहसे (न) नहीं छुडाता।

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥२५१॥ (अथर्व० १४।१।१८)

(इतः) इस पितृगृहसे इस वधूको (प्रमुञ्चामि) छुडाता हूं; (अमुतः) उस पतिगृहसे (न) नहीं। (अमुतः सुबद्धां करम्) पतिगृहसे अच्छी तरह बद्ध करता हूं। (यथा) जिससे (मीढ्व.) हे सुख की वर्षा करनेहारे (इन्द्र) परमेश्वर (इयं) यह वधू (सुपुत्रा) अच्छी सन्तानवाली और (सुभगा) बडे ऐश्वर्यवाली (असति) होवे।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बंधनादितो मुक्षीय मामुतः ॥२५२॥ (यजुः० ३।६०)

उत्तम बन्धु और रक्षक स्वामी को देनेवाले (त्र्यम्बकं) सबके अध्यक्ष परमात्माकी निरन्तर पूजा करते हैं। वह इस स्त्रीको लताबन्धसे पके खर्बूजे की तरह पितृगृहसे छुडाता है और पतिगृहसे नहीं छुडाता।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥२५३॥ (अथर्व० १४।१।५०)

हे वरानने! मै (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये तेरे (हस्तं) हाथ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं, तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (जरदष्टिः) वृद्धावस्था-तक सुखपूर्वक (आसः) निवास कर। (भगः) ईश्वर (पुरन्धिः) सब का धारण करनेहारा (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सबके उत्पादयिता परमात्मा तथा (देवाः) ये सभामण्डप में स्थित विद्वान् आज (त्वा) तुझे (मह्यं) मेरे लिये (अदुः) समर्पित करते हैं।

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाहं ग्रहपतिस्तव ॥२५४॥ (अथर्व० १४।१।५१)

हे वरानने ! (भग.) ऐश्वर्ययुक्त मैं तेरे हाथ को ग्रहण कर चुका हूं। (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को ग्रहण कर चुका हूं। (त्वं) तू (धर्मणा) धर्म से (पत्नी असि) मेरी पत्नी है। और मैं तेरा (गृहपतिः) स्वामी हूं।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥२५५॥(अथर्व० १४।१।५२)

(इयं) इस पत्नी का (मम पोष्या अस्तु) मैं पालन करता हूं। (बृहस्पतिः) पुरोहित ने (त्वा) तुझे (मह्यं) मुझे दिया है। हे (प्रजावति) सुसन्तानवाली ! (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शरदः शतम्) सौ वर्षतक (सं जीव) कल्याणपूर्वक जीती रह।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्। तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥२५६॥ (अथर्व० १४।१।५३)

(बृहस्पतेः) पुरोहित की (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) आज्ञा से (त्वष्टा) शिल्पी ने (वासः) वस्त्र और (शुभे) सुन्दर आभूषण (कं) सुख के लिये बनाये हैं। (तेन) उस वस्त्राभूषणादिसे युक्त (इमां नारीं) इस नारी को (सविता) धर्मकार्यों में प्रेरित करनेवाला और (भगः) ऐश्वर्यशाली पति (सूर्यामिव) सूर्य- सूर्यकिरण की तरह (प्रजया) सुसन्तानसहित (परिधत्ताम्) धारण करे।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ २५७ ॥ (अथर्व १४।१।५४)

हे सम्बधियो ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और अग्नी (द्यावापृथिवी) आदित्य और भूमि (मातरिश्वा) वायु (मित्रावरुणौ) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विनौ) सद् वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों (बृहस्पतिः) न्यायकारी राजा (मरुतः) सब मनुष्य (ब्रह्मा) परमात्मा (सोमः) चन्द्रमा सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां) इस (नारीं) स्त्री को (प्रजया) सुसन्तान से (वर्धयन्तु) बढने का अशिर्वाद दो।

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् - पयन्मनसः कुलायम्। न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥२५८॥ (अथर्व० १४।१।५७)

जैसे (मनसा) मन से (कुलायं) कुलवृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहं) मैं (अस्या रूपम्) इस रूपवती स्त्री को (विष्यामि) प्राप्त होता हूं। वैसे हे कल्याणकोडे ! तू (मयि) मुझ को प्राप्त हो। जैसे मैं (मनसा) मन से भी तुम्हारे साथ (स्तेयं) चोरी को (उद्मुच्ये) छोडता हूं और तेरे विना किसी पदार्थ का भोग नहीं करता (स्वयं) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार से (वरुणस्य) दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशात्) बन्धनों को दूर करता हूं, वैसे तू भी कर।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥२५९॥ (अथर्व० १४।२।५२)

(इमाः) ये (उशतीः) कामना करती हुई (कन्यलाः) शोभावती कन्यायें (पितृलोकात्) पितृकुलसे (पतिं) पतिकुल को (यतीः) जाती हुई (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (दीक्षाम्) नियम व्रत को (अव असृक्षत) दान करें, अर्थात् पतिव्रतादि व्रतों में रहनेवाली हों।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् । ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ।।।२६०।।(अथर्व० १४।२।७३)

(ये) जो (वधूदर्शाः) वधू को देखने वाले (पितरः) पिता आदि सम्बन्धी लोग (इमं) इस (वहतुम्) विवाह में (आगमन्) आये हैं (ते) वे (अस्यै वध्वै) इस वधू को (संपत्न्यै) पति सहित (प्रजावत्) सन्तान युक्त (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें अर्थात् वैसा आशीर्वाद दें।

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति। एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ २६१॥ (अथर्व० कां०२, सू०३०, मं० १)

(यथा) जिस प्रकार (भूम्या अधि) भूमि पर(इदम्) इस (तृणं) तृणों को (वातः) वायु (मथायति) मन्थन कर लेता है (एवा) इस प्रकार हे पत्नी ! (ते मनः मथ्नामि) तेरे मनका आलोडन करके उस के अन्दर के भावों को अच्छी तरह जान लेता हूं (यथा) जिस प्रकार (माम्) मेरे प्रति (कामिनी असः) उत्तम संकल्प और प्रेम वाली हो (यथा) और जिस प्रकार (मत्) मुझ से (अपगा न असः) प्रतिकूल मत हो ।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः। सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता॥२६२॥(अथर्व०२।३०।२)

(हे अश्विनौ) हे कार्यों में व्याप्त माता और पिता तुम दोनों (कामिना= कामिनौ) परस्पर एक दूसरे की इच्छा करते हुवे कन्या और वर को (सं+इत्+नयाथः) भली प्रकार एक दूसरे को प्राप्त कराओ अर्थात् उन के सम्बन्धों को दृढ़ करो। (सं च वक्षथः) इन को इकठ्ठा करो। हे कन्या और वर ! तुम दोनों (भगासः = भगानि) कल्याणों को (ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग उच्यते) (अग्मत) प्राप्त हो। तुम दोनों में (चित्तानि सं अग्मत) चित्त समान हो। (उ) और (व्रता सं अग्मत) व्रत भी समान हों।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन। जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥२६३॥ (अथर्व० कां०२,सू०३६,मं०१)

(अग्ने) हे परमात्मन् ! (नः) हमारी (इयं) इस (सुमतिं) अच्छी बुद्धिवाली (कुमारीं) कन्या को (सम्भलः) अच्छे भाषण वाला वर (नः भगेन सह) हमारे कल्याण के साथ (आ गमेत्) प्राप्त हो। यह कन्या कैसी है? (वरेषु जुष्टा) श्रेष्ठ लोगों में पूजित है। (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर हो। (असौ) इस कन्याके लिये (ओषम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम् अस्तु) कल्याण हो।

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम्। धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२६४॥ (अथर्व० २।३६।२)

(धातुः) सबके धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्यनियमसे (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषोंके प्रिय (ब्रह्मजुष्टं) ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंसे सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजासे (संभृतं) संभरण किये हुवे (भगम्) सेवनीय (पतिवेदनम्) पति और पत्नि को प्राप्तिरूप विवाह को मैं करता हूं।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु॥ २६५ ॥ (अथर्व० २।३६।३)

(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मा! (इयम्) यह नारी (पतिं) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे। (सोमः) ऐश्वर्यवान् वर इसके (सुभगां) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है। यह नारी (पुत्रान् सुवाना) उत्तम पुत्रोंको पैदा करती हुई (महिषी भवाति) पूजनीय होवे और (पतिं गत्वा) पति को प्राप्त होकर (सुभगा विराजतु) सौभाग्यवती होकर सुखसे रहे।

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव। एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥२६६॥ (अथर्व०२।३६।४)

(मघवन्) हे परमात्मन्! (यथा) जिस प्रकार (चारुः) सुन्दर (आखरः) खोद या मोद (मृगाणां) जङ्गली पशुओंका (प्रियः) प्रिय (सुषदाः) रमणीय घर (बभूव) होता है (एव) इसी प्रकार (इयं नारी) यह नारी (भगस्य जुष्टा अस्तु) ऐश्वर्यका निवास्थान हो, और (संप्रिया) पतिको प्रिय हो और (पत्या) पतिसे (अविराधयन्ती) विरोध न करती हुई हो।

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्। तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥२६७॥ (अथर्व० २।३६।५)

ये कन्या! तू (भगस्य) ऐश्वर्य आदि छः प्रकारके भग की (पूर्णां नावं आरोह) पुरी भरी हुई नौका पर चढ़ (अनुपदस्वतीम्) और जो नौका अटूट है, (तया) उस नाव से (यः प्रतिकाम्यो वरः) जो कामना करने योग्य वर है उसे (उप प्रतारय) पार लेजाओ।

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु। सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥२६८॥ (अथर्व० २।३६।६)

(धनपते) हे सब धनों के स्वामी परमात्मा (वरं क्रन्दय) वर को हमारे यहां आदरपूर्वक बुलाओ और (आमनसम् कृणु) और उसे शान्त मन वाला करो। (सर्वं) सब प्रकारसे (प्रदक्षिणं कृणु) प्रतिष्ठायुक्त करो (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर की कामने करने योग्य है।

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः। एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥२६९॥ (अथर्व०२।३६।७)

हे कन्या! (इदं हिरण्यं) यह सुवर्ण (गुल्गुलु) धूप, (औक्षः) लेप करने का सुगन्धित पदार्थ (अथो भगः) और अन्यप्रकारका ऐश्वर्य (एते) यह सब (त्वाम्) तुझे (पतिभ्यः अदुः) पति के लिये तुझे दिया जा रहा है, इन सब वस्तुओंसे पति की सेवा कर, (प्रतिकामाय वेत्तवे) पति की कामना पूर्ण करने और उसे लाभ पहुंचाने के लिये।

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। त्वमस्यै धेह्योषधे॥२७०॥ (अथर्व० २।३६।८)

हे कन्या! (सविता) सब का प्रेरक परमात्मा (ते) तेरे समीप उस पति को (आ नयतु) प्राप्त करावे और (नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे (यः पतिः) जो पति (प्रतिकाम्यः) कामना करने योग्य है। (ओषधे) हे ओषधे! (त्वं) तू (अस्यै) इस कन्या के लिये पति का (धेहि) पुष्ट कर और बढा।

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्। अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥२७१॥ (अथर्व कां०२,सू०३०, मं०५)

(इयं) यह स्त्री (पतिकामा) पति की इच्छा करती हुई (अगन्) आई है और (अहं) मैं (जनिकामः) सन्तान की इच्छा वाला होकर इसे (आगमम्) प्राप्त हुवा हूं। (अहं) मैं इस पत्नी के पास (भगेन सह) ऐश्वर्य और कल्याण के साथ इस प्रकार (आगमम्) प्राप्त हुवा हूं (यथा) जिस प्रकार (कनिक्रदद्) खूब गर्जता हुवा (अश्वः) गतिशील मेघ प्राप्त होता है।

वानप्रस्थ-संस्कार।

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि। व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्॥२७२॥ (यजुः० २०। २४)

हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता (अहं) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होकर (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धां) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं। इस लिये जैसे अग्नि में (समिधं) समिधाको (अभ्यादधामि) डाल कर प्रज्वलित करता हूं उसी प्रकार अपने में विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं। और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मामें धारण करता और सदा प्रकाशित करता हूं।

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्। तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतियम्॥ ॥२७३॥ (अथर्व० ९।५।१॥)

हे गृहस्थ! (प्रजानन्) प्रकर्षतासे जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थ आश्रम का (आ रभस्व) आरम्भ कर (आनय) और अपने मन को गृहस्थाश्रम से इधर की तरफ ला। (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो। (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बडे बडे (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् उनसे पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान। (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीति पूर्वक आरूढ हो।

भद्रमिच्छंत ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥२७४॥ (अथर्व० १९।४१।१)

हे विद्वान् मनुष्यो! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंकी दीक्षा उपदेश लेकर (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणोंको (उपनिषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं वैसे इस (भद्रम्) कल्याण कारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त हो के (जातम्) प्रसिद्ध, प्राप्त हुवे (राष्ट्रं) राष्ट्रकी इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजाको (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं (तत) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुवे आपको (उपसन्नमन्तु) समीप होके नम्र होवें।

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छासि न त्वा भीरिव विन्दतीम्॥२७५॥ (ऋ०१०।१४६।१)

(असौ) यह (अरण्यानि अरण्यानि) जंगलों जंगलों घूमने वाला वानिप्रस्थी (प्रेव नश्यसि) गावोंसे दूर प्राप्त होता है। अर्थात् गावोंमें नहीं रहता परन्तु उनसे दूर रहता है। वह तू (ग्रामं) नगरों तथा गावोंमें जाने की (कथा) बात– या दशा को (न पृच्छासि) क्यों नहीं पूछता? (त्वा) तुझको इस निर्जन वनमें घूमते हुवे क्या (भीः) भय (न) नहीं (विन्दती) लगता है?

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः। आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥२७६॥ (ऋ० १०.१४६।२)

(आघाटिभिरिव धावयन्) जिस प्रकार गायक वीणा पर खूंटियों को कस कर या ढीला करके निषादादि सात-स्वरोको निकालता हुवा (महीयते) शोभित होता है उसी प्रकार (वृषा रवाय वदते) झिल्ली के बोलने पर (चिच्चिकः) चीं चीं शब्द करने वाला पक्षिविशेष (उपावति) उसके प्रत्युत्तर में शब्द करता है, तब (अरण्यानि) जंगल (महीयते) शोभित होता है। और उससे रागके श्रोता की भांती वानप्रस्थी प्रसन्न होता है।

उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥२७७॥ (ऋ०१०।१४६।३)

(उत) और (गाव इव अदन्ति) जिस प्रकार गौवे और मृगादि जंगलमें घांस इत्यादि खाते हैं इसी प्रकार वानप्रस्थी कन्द मूलादि फलों को खाते हैं। (उत) और (वेश्मेव दृश्यते) जिस प्रकार वृक्ष लतादियोंका घर जङ्गल है इसी प्रकार वानप्रस्थीका घर भी जङ्गल है। (उत) और (सायं) सायंकाल समिधादि लेनेके लिये आये हुवे ब्रह्मचारियों के लिये (अरण्यानिः) जङ्गल (शकटीः) समिधायें (विसर्जति) देता है।

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते॥ २७८॥ (ऋ० १०।१४६।५)

(न वा अरण्यानिः हन्ति) जङ्गलमें रहने वाले जन्तु इस वानप्रस्थी को नहीं मारते। (अन्यश्च इत् न अभिगच्छति) अन्य चौर व्याघ्रादि इसके पास आकर इसे नहीं मारते है। यह (स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय) स्वादु फलों को खाकर (यथाकामं) बडे सुखसे यथेष्ट (नि पद्यते) जीवन व्यतीत करता है।

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ ॥२७९॥ (ऋ० १०।१४६।६)

(आञ्जनगन्धिं) कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की जिसमें गन्ध आती है, (सुरभिं) सुगन्धित पुष्पों की जिस में हवा चलती है, (बह्वन्नाम्) जिसमें नाना प्रकारके अन्न कन्द मूल फलादि है, (कृषीवलाम्) जो कृषी के योग्य है, (मृगाणां मातरं) जो मृगादि जन्तुओं की माता है, ऐसे (अरण्यानिं) जंगल की (अहं) मैं (अशंसिषम्) स्तुति करता हू।

संन्यास-प्रकरण।

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा। बलं दधान आत्मनि करिष्यन्वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥२८०॥(ऋ० ९।११३।१)

हे संन्यास लेने वाले मनुष्य! जैसे (वृत्रहा) मेघों का नाश करने वाला (इन्द्रः) सूर्य (शर्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है वैसे ही हे (इन्दो) चन्द्रमा के सदृश शीतलता देने वाले संन्यासिन्! तू उत्तम कन्द मूलादि के रस को (पिबतु) पान कर और (आत्मनि) अपनी आत्मा में (महत्) बडे (वीर्यं) सामर्थ्य (करिष्यन्) प्राप्ति की इच्छापूर्वक (बलं) बल (दधानः) धारण करते हुए (इन्द्राय) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये (परिस्रव) सब को सत्योपदेश कर।

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः। ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेंदो परि स्रव॥२८१॥(ऋ०९।११३।२)

हे (सोम) सौम्यगुणसम्पन्न, (मीढ्वः) सत्यसे सबके अंतःकरण को सींचने हारे, (दिशां पते) सब दिशाओंमें स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करने हारे, (इन्दो) रागादि गुणयुक्त संन्यासिन्! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने (सत्येन) सत्यभाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ अपने शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धिको (आ पवस्व) पवित्र कर और (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरकी प्राप्ति के लिये (परिस्रव) सब ओर गमन कर।

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन्। श्रद्धां वदन्त्सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥२८२(ऋ०९।११३।४)

हे (ऋतद्युम्न) सत्यधन और सत्य कीर्ति वाले! (सत्यकर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्म करनेवाले! (राजन्) सब ओर प्रकाशयुक्त आत्मा वाले! (इन्द्रो) (इन्दो) सब को आनन्द देनेवाले सौम्य संन्यासिन्! तू (ऋतं वदन्) पक्षपात को छोडकर यथार्थ बोलता हुआ, (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुवा, (श्रद्धाम्) सत्यधारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ, (धात्रा) सकल विश्व के धारण करने हारे परमात्मासे योगाभ्यास करके (परिष्कृत) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योगसे उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिये (परिस्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर।

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव॥२८३॥(ऋ०९।११३।६)

हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रता युक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) करते हुए (सोमेन) विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिये आनन्द

को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्दो) आनन्दप्रद (पवमान) पवित्रात्मन् पवित्र करने हारे संन्यासिन् (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्य युक्त परमात्मामें (ब्रह्मा) चारों वेदों का जानने हारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त हो कर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त करो।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित
इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥२८४(ऋ०९।११३।७)

हे (पवमान) सब को पवित्र करने वाले (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन्! (यत्र) जहां तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है (तस्मिन्) (लोके) उस (अमृते) जन्म मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिये और मुझपर माता के समान कृपाभावसे (परिस्रव) आनन्द की वर्षा कीजिये।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधी-
न्द्रायेन्दो परि स्रव॥२८५(ऋ०९।११३।८)

हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन्! (यत्र) जिस तुझमें (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है (यत्र) जिस आपमें (दिवः) बिजली अथवा बुरी कामना भी (अवरोधम्) रुकावट है (यत्र) जिस आपमें (अमूः) वे कारण रूप (यह्वतीः) बडे व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु है (तत्र) उस अपने स्वरूपमें (माम्) मुझको (अमृतम्) मोक्षप्राप्ति (कृधि) कीजिये (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (परिस्रव) आर्द्रभावसे आप मुझे प्राप्त हूजिये।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधी-
न्द्रायेन्दो परिस्रव॥२८६॥(ऋ०९।११३।९)

हे (इन्दो) परमात्मन्! (यत्र) जिस आपमें (अनुकामम्) इच्छाके अनुकूल स्वतंत्र (चरणम्) विहरना है (यत्र) जिस (त्रिनाके) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखसे रहित (त्रिदिवे) तीन सूर्य विद्युत् और भौम अग्नि से प्रकाशित सुख स्वरूप में (दिवः) कामना करने योग्य शुद्ध कामना वाले (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त (ज्योतिष्मन्तः) शुद्धविज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं (तत्र) उस अपने स्वरूपमें (माम्) मुझको (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिये और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परि स्रव) कृपासे प्राप्त हूजिये।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधी-
न्द्रायेन्दो परि स्रव॥२८७(ऋ०९।११३।१०)

हे (इन्दो) आनन्दस्वरूप परमात्मन्! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती है (च) और (यत्र) जिस आपमें (ब्रध्नस्य) सबसे बडे प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख (च) और (यत्र) जिस आपमें (स्वधा) अपना ही धारण (च) और जिस आपमें (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है (तत्र) उस अपने स्वरूपमें (माम्) मुझको (अमृतम्) प्राप्त मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख विदारण के लिये आप मुझपर (परिस्रव) करुणावृत्ति कीजिये।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी-
न्द्रायेंदो परि स्रव॥२८८(ऋ०९।११३।११)

हे (इन्दो) आनन्दस्वरूप परमात्मन्! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता (च) और

(प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं, (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझ को (अमृतम्) मुक्ति की प्राप्ति वाला (कृधि) कीजिये और सब जीवों को (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ।

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत् । तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन्तं सोमे रसमाद- धुरिन्द्रायेन्दो परि स्रव २८९(ऋ०९।११३।३)

सूर्य की दुहिता अर्थात श्रद्धा जिस रस को (आभरत्) आहरण करती है और जो (पर्जन्यवृद्धं) पर्जन्य-स्थानीय मस्तिष्क से बढाया जाकर (महिषं) अत एव महान् और उसे [गन्धर्वाः] इन्द्रियों को धारण-कार्य का ही दिव्य इन्द्रियां [प्रत्यगृभ्णन्] प्रतिग्रहण कर रही हैं उस रस को [सोमे] सोम अर्थात् शान्तियुक्त ज्ञान में धारण किया जाता है । इस लिये हे [इन्दो] आनन्ददायक [इन्द्राय] आत्मा के लिये जिस से कि यह रस प्राप्त हो (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिये ।

सत्यमुग्रस्य बृहतः सं स्रवन्ति संस्रवाः । सं यन्ति रसिनो रसाः । पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दो परि स्रव २९० ऋ०९।११३।५

हे (इन्दो) आनन्दस्वरूप, (हरे) दुःखोंको हरने वाले (ब्रह्मणा) चतुर्वेदवेत्ता से (पुनानः) संक्रियमाण विवेक द्वारा विविच्यामान तुम्हारे (सत्यमुग्रस्य) सत्य के कारण बलशाली और (बृहतः) महान् तुम्हारे(संस्रवाः) प्राप्तियां अर्थात् आविर्भाव (संस्रवन्ति) आविर्भूत होते हैं और (रसिनः) आस्वादयुक्त तुम्हारे (रसाः) आस्वाद (सं यन्ति) प्राप्त होते हैं । (इन्द्राय) इस आत्मा के लिये (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त हूजिये ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधा दधातु मे॥२९१ (अथर्व० १९।४३।१)

(यत्र) जिस लोक को (ब्रह्मविदः) वेदों के जानने वाले संन्यासी लोग अपने (दीक्षया) व्रतादि तथा (तपसा सह) तप द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते हैं, उसी में [अग्निः] यह अग्निस्वरूप परमात्मा [मा] मुझे [नयतु] ले जाए, और [मे] मुझमें [मेधा] सदसद्विवेकिनी उत्तम बुद्धिको [दधातु] धारण कराए ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे ॥२९२॥ (अथर्व० १९।४३।२)

[यत्र] जिस लोक को [ब्रह्मविदः] वेदोंके जाननेवाले संन्यासी लोग अपने [दीक्षया] व्रतादि तथा [तपसा सह] तप द्वारा [यान्ति] प्राप्त करते हैं, उसी में [वायुः] यह वायुस्वरूप परमात्मा [मा] मुझे [नयतु] ले जाए, और [मे] मुझ में [प्राणान्] प्राणों को [दधातु] धारण कराए ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । ॥२९३॥ (अथर्व० १९।४३।३)

[यत्र] जिस लोक को [ब्रह्मविदः] वेदों के जानने वाले संन्यासी लोक अपने [दीक्षया]व्रतादि तथा [तपसा सह] तप द्वारा [यान्ति] प्राप्त करते हैं, उसीमें [सूर्यः] सूर्य स्वरूप प्रकाशक परमात्मा [मा] मुझे [नयतु] ले जाए, और [मे] मुझ में [चक्षुः] दर्शनशक्ति को [दधातु] धारण कराए ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । ॥२९४॥ (अथर्व० १९।४३।४)

[यत्र] जिस लोकको [ब्रह्मविदः] वेदोंको जानने वाले संन्यासी लोग अपने [दीक्षया] व्रतादि तथा [तपसा सह] तप द्वारा [यान्ति] प्राप्त करते हैं, उसी में [चन्द्रः] चन्द्र स्वरूप परमात्मा [मा] मुझमें [नयतु] ले जाए, और [मे] मुझमें [मनः] मननशक्ति को [दधातु] धारण कराए ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे ॥ ॥२९५॥ (अथर्व० १९।४३।५)

(यत्र) जिस लोक को (ब्रह्मविदः) वेदों को जानने-वाले संन्यासी लोग अपने (दीक्षया) व्रतादि से तथ, (तपसा सह) तप द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते है, उसी में (सोमः) सोमस्वरूप परमात्मा (मा) मुझे (नयतु) ले जाए, और (मे) मुझ में (पयः) दुग्धादि उत्तम पदार्थों को (दधातु) धारण कराए।

यत्र ब्रह्मविदो यांति दीक्षया तपसा सह।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे ॥
॥२९६॥ (अथर्व० १९।४३।६)

(यत्र) जिस लोक को (ब्रह्मविदः) वेदों को ज्ञाता संन्यासी लोग अपने (दीक्षया) व्रतादि तथा (तपसा सह) तप द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते हैं, उसी में (इन्द्रः) इन्द्र-स्वरूप परमेश्वर (मा) मुझे (नयतु) ले जाए, और (मे) मुझ में (बलम्) सामर्थ्य को (दधातु) धारण कराये।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु ॥
॥२९७॥ (अथर्व० १९।४३।७)

(यत्र) जिस लोकको (ब्रह्मविदः) वेदों के ज्ञाता संन्यासी लोग अपने (दीक्षया) व्रतादि तथा (तपसा सह) तप द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते हैं, उसी में (आपः) आप-स्वरूप परमात्मा (मा) मुझे (नयतु) ले जाए, और (मा) मुझ में (अमृतत्वम्) अमृत (उपतिष्ठतु) धारण कराए।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे।
॥२९८॥ (अथर्व० १९।४३।८)

(यत्र) जिस लोकको (ब्रह्मविदः) वेदों के ज्ञाता संन्यासी लोग अपने (दीक्षया) व्रतादि तथा (तपसा सह) तप द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते हैं, उसी में (ब्रह्मा) ब्रह्म-स्वरूप परमात्मा (मा) मुझे (नयतु) ले जाए, और (मे) मुझ में (ब्रह्म) वेदज्ञान (दधातु) धारण कराए।

अन्त्येष्टिसंस्कार।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर।
॥२९९॥ (वा० य० ४०।१५)

हे (क्रतो) कर्म करनेवाले जीव ! तू शरीर छूटते समय (ओ३म्) परमात्मा का स्मरण कर (क्लिबे) सामर्थ्य के लिये (स्मर) स्मरण कर,(कृतं) किये हुए को (स्मर) स्मरण कर। (वायुः) प्रथम आध्यात्मिक प्राण (अनिलं) तदनन्तर अधिदैवत प्राण (अमृतं) फिर उस प्राणस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो। अथ (इदं शरीरम्) यह भौतिक शरीर (भस्मान्तम्) नष्ट होनेवाला है।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव
गच्छतात्। ॥३००॥(अथर्व० १८।२।५६)

हे जीव! (ते असुनीताय) तेरे प्राणविहीन मृत देह को (वोढवे) वहन करने के लिये—सद्गति प्राप्त करने के लिये (इमौ वह्नी) इस गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि को मैं (युनज्मि) युक्त करता हूं-तेरे देह में लगाता हूं, (ताभ्यां) उन दोनों वह्नियों के द्वारा तू (यमस्य सदनम्) सर्वनियंता) परमात्मा के समीप परलोक को ('च) और (समितीः श्रेष्ठ गतियों को (अवगच्छतात्) प्राप्त हो।

आरभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके।
॥३०१॥ (अथर्व० १८।३।७१)

हे (जातवेदः) अग्नि (आरभस्व) इस मृत देह को प्राप्त हो और (ते) तेरा (हरः) हरण सामर्थ्य (तेजस्वत्) तेजस्वी (अस्तु) हो [अस्य] इस प्राणी के [शरीरं] मृत शरीर को [सं दह] जला दे [अथैनं] और इस को [सुकृताम् लोके] पुण्यात्माओंके लोक स्वर्गलोक में [धेहि] धारण कर।

स्त्रियोंका घरेलू व्यवसाय।

सूत कातकर कपडा बुनना।

तंत्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखं॥ प्रान्या तंतूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृंजाते न गमातो अंतम्॥ ३०२॥ तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात्॥ पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्विजभाराधि नाके॥ ३०३॥

(अथर्व० १०।७।४२-४३)

"[एके वि-रूपे युवती] अकेली अकेली भिन्न रंगरूपवाली दो स्त्रियां क्रमशः [षट्-मयूखं तंत्रं] छः खूंटियोंवाले तानेके पास [अभ्या क्रामं] आती हैं और [अन्या] उनमेंसे एक स्त्री [तंतून् प्रतिरते] सूत्रोंको खींचती है और [अन्या धत्ते] दूसरी सूत्रोंको रखती है, उनमेंसे कोईभी [न अप वृंजाते] काम खराब नहीं करती और [न अंतं गमातः] न समाप्ति करती है, परंतु हमेशाही अपना काम करती रहती है।

[तयोः परि नृत्यन्तो इव] नाचनेवाली स्त्रियोंके समान काम करनेवाली उन दो स्त्रियोंमें [यतरा परस्तात्] कौन स्त्री पहिली और कौन स्त्री दूसरी है, यह [अहं न विजानामि] मैं नहीं जानता। इनके अतिरक्त [पुमान् एनत् वयति] एक पुरुष इस बानेको बुनता है, तथा दूसरा [पुमान् एनत् उद्गृणत्ति] पुरुष इसको अलग कर रहा है और तीसरे [पुमान् एनत् नाके अधि विजभार] मनुष्यने इसको उत्तम स्थानमें फैलाया है।"

इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है कि स्त्रीपुरुष घरमें अपने लिये आवश्यक कपडा बुनें, स्वयं सूत निकालें, उसको खड्डीपर चढानेयोग्य तैयार करके, पश्चात् जैसा चाहे वैसा कपडा बुनें। प्रत्येक मनुष्य इस कार्य में ऐसी प्रवीणता संपादन करे कि जिससे वह अपना कर्म बडी सफाई के साथ कर सके।

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः। वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुपस्पृशात्॥३०४॥

(अथर्व० १४।२।५१०)

"[ये अन्ताः] जो कपडेके अंतिम भाग है, [यावतीः सिचः] जो किनारियां हैं, [ये ओतवः] जो धाने हैं तथा [ये च तन्तवः] जो ताने हैं, इन सबके साथ [यत् पत्नीभिः उतं वासः] जो पत्नियोंके द्वारा बुना हुआ कपडा होता है [तत्] वह कपडा [न स्योनं उपस्पृशात्] हमारे लिये सुखदायक हो।"

स्त्रियोंके बनाये कपडेका यह वर्णन है। जो कपडा स्त्रिया प्रेमसे बनाती हैं, वह पहननेवालोंको अतीव सुखकारक होता है।

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिंद्रम्। तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे। ॥३०५॥

(यजु०२०।४१)

"[बृहती] बडी [पयस्वती सुदुघे] उत्तम दूध देनेवाली [सुरुक्मे] तेजस्वी [उषासानक्ता] उषा और रात्री ये दो स्त्रियें [पेशसा ततं तंतुं] उत्तम रंगोंके साथ फैले हुए तानेपर [संवयन्ती] उत्तम ढंगसे कपडा बुनाती हुई [देवानां देवं] देवोंका देव जो शूर बडा [इंद्रं] प्रभु है, उसकी [यजतः] पूजा करती हैं।"

उषा के बर्णन से स्त्रियोंके कपडा बुननेके कर्म का उपदेश यहां स्पष्ट है।

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति॥ ॥३०६॥

(ऋ०५।४७।६)

[१] मातरः पुत्राय वस्त्रा वयन्ति। = मातायें अपने पुत्रके लिये कपडे बुनाती हैं। और—

[२] अस्मै धियः अपांसि वितन्वते। = इस बच्चे के लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं।

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आतेही सब पुस्तकें आपको रेल पार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचेंगे। यदि रेल्वे स्टेशन आपके पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपया म० आर्डरसे भेज दें, जिसे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगावायेंगे तो सब डाकव्यय आपको देना होगा। महाभारतका नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'पुरुषार्थबोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका का मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता— के १८ अध्याय ३ सजिल्द पुस्तकोंमें विभाजित किये हैं—

अध्याय १ से ५ मू. ३) डा. व्य. ॥=)

" ६ " १० " ३) " " ॥=)

" ११ " १८ " ३) " " ॥=)

फुटकर प्रत्येक अध्याय का मू० ॥) आठ आने और डा. व्य. =) है।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ्यके लिए आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

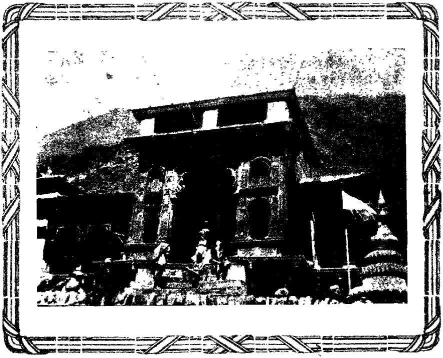
इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।=) सात आने है। म० आ० से २।=) रु. भेज दें।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।

वैदिक धर्म।

दिसम्बर १९३९
कार्तिक १८६१



श्री बद्रिनारायण-मन्दिर महाद्वार।

वर्ष २०, अंक १२]   [क्रमांक २४०

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

सहसंपादक
पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष २०] [अङ्क १२

विषयानुक्रमणिका

१ एक देवके अनेक रूप । ७७१
२ वेद-मुद्रणका कार्य । ७८२
३ मनुष्य-ईश्वरका साक्षात्कार कर रहा है । ७८३
४ शंका-समाधान । ७८९
५ स्वाध्याय-संघका कार्य । ७९४
६ सारस्वत अनुवाक । ७९७
७ ऋग्वेदानुक्रमणी । २५-३२
८ वेदोपदेश । ५७-७२

वर्ष २०
अंक १२
क्रमांक २४०

वैदिक धर्म

कार्तिक
संवत् १९९६
डिसेंबर
सन १९३९

संपादक- पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर। सहसंपादक- पं० तडित्कान्तजी वेदालंकार।
स्वाध्याय-मण्डल, औंध जि० सातारा.

एक देवके अनेक रूप।

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या॥

(ऋ० २-१-३)

हे अग्ने! (त्वं सतां वृषभः) तूं सज्जनों की कामना तृप्त करनेवाला (इन्द्रः) प्रभु है, (त्वं उरुगायः नमस्यः विष्णुः) तू बहुत प्रशंसा करनेयोग्य तथा नमस्कार करनेयोग्य विष्णु है, (त्वं रयिविद् ब्रह्मा) तूं हि धनोंसे युक्त ब्रह्मा है, हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके अधिपति! (त्वं विधर्तः) तूं हि धारण करनेवाला है, और तूं हि (पुरंध्या सचसे) उत्तम बुद्धिसे उपासक को संयुक्त करता है।

यहां एकहि अग्नि देव, वृषभ, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, विधाता आदि होता है, ऐसा कहा है। एक ही मूल देव है और वही अनेक रूपों में उपासक के सन्मुख रहता है। इसलिये अनेक रूप होनेके कारण अनेक देवता नहीं मानने चाहिये, प्रत्युत एक ही देवता के अनेक रूप हैं, ऐसा समझना चाहिये।

वेदमुद्रण का कार्य ।

१ सामवेदमुद्रण ।

अन्तिम फार्म तैयार हो रहा है । वह छपते ही सामवेद तैयार हो जायगा। ग्राहकों के पास जिल्द बन जाने पर भेजा जायगा। जिल्द आदि बनने के लिये एक मास अवश्य लगेगा।

पाठक शीघ्रता करने के लिये लगातार पत्र लिख रहे हैं, वे एक मास कृपा करके ठहर जांय ।

२ दैवतसंहिता ।

'दैवतसंहिता' का मुद्रण वेगसे चल रहा है । अग्निदेवता के मन्त्र छप रहे हैं । मुख्य अग्निदेवता का प्रकरण छप चुका है। वैश्वानर, द्रविणोदा, आदि अग्निदेवताके उपप्रकरण छप रहे हैं। इन्हीं प्रकरणों में आप्रीसूक्त भी संमिलित हैं।

कई पाठक पूछ रहे हैं कि सब आप्रीसूक्त लिये गये हैं वा नहीं, उनसे निवेदन है कि वेदके शाखोपशाखाओंमें अर्थात् ऋग्वेद, वाजसनेयी संहिता, अथर्ववेद, तैत्तिरीय-संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि में जितने आप्रीसंज्ञक अग्निसूक्त हैं, वे सब यहां लिये हैं। एक भी छोडा नहीं है।

अग्निके वैश्वानर, द्रविणोदा आदि प्रकरण तथा आप्री-प्रकरण छपते ही अग्नामरुत् आदि संयुक्त देवताओं के अर्थात् अग्नि के साथ जो देवता संयुक्त हुए हैं, उनके प्रकरण छापे जांयगे। और अग्निदेवता का ग्रन्थ तैयार होगा।

इस ग्रन्थ में हम निम्नलिखित सूचियां दे रहे हैं, पुनरुक्त मन्त्रसूची, उपमानसूची, अग्निविशेषणसूची, अग्निमन्त्र-सूची इन सब सूचियों से अग्निमन्त्रों का अध्ययन करना सुगम हो जायगा।

इस समय तक २००० मन्त्र छप चुके हैं, आगे करीब १२०० मन्त्रही छपने हैं। अग्नि के पश्चात् इन्द्रदेवता के मन्त्र छापे जांयगे।

३ ऋग्वेद ।

ऋग्वेद का द्वितीय वार मुद्रण शुरू है, प्रथम मण्डल समाप्त होनेवाला है। ऋग्वेद द्वितीय वार छपकर तैयार होनेके लिये करीब छः महिने लगेंगे। कितना भी यत्न किया जाय, तो भी इससे पूर्व ऋग्वेद तैयार होनेवाला नहीं है। ग्रन्थ का बडापन और महत्त्व ध्यान में लाकर ग्राहक जलदी करने के लिये पत्र न लिखेंगे, तो अच्छा है, क्योंकि हम जितनी शीघ्रता कर सकते हैं, उतनी करही रहे हैं।

४ सामगानों का मुद्रण ।

सामवेद मूल छपते ही सामगानों का मुद्रण प्रारंभ हो जायगा। सामवेद मूल छपने के पूर्व सामगान छापना संभवही नहीं था। अब इस महिने में सामवेद छपकर तैयार होगा, और वह तैयार होतेही सामगान की छपाई का प्रारंभ किया जायगा।

इस में मूल ऋग्वेद का मन्त्र, उसका रूपान्तर जो सामवेद में हुआ है, वह बतानेके लिये उसके नीचे साम-वेद का मन्त्र सामस्वरचिह्नों के साथ दिया जायगा। इससे पाठक ऋग्वेद के मन्त्र की साममन्त्र के साथ तुलना कर सकेंगे और यह जान सकेंगे कि इन दोनों वेदों में पाठ-भेद कहां है। दोनों के स्वरचिह्नों की समानता कहां है और भिन्नता कहां है।

इस के पश्चात् इस के नीचे इस मन्त्र से सिद्ध होनेवाले गान दिये हैं। मन्त्र के गान कैसे बनते हैं और उस गान में आलाप कैसे होते हैं, यह सब बताया जायगा। इससे लोग स्वयं थोडेही प्रयत्न से सामगान कर सकेंगे।

मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर रहा है।

(एकादश लेख)

ईश्वरका रूप।

मनुष्य ईश्वरका साक्षात्कार कर रहा है, इस विषयमें अब किसी को कोई संदेह नहीं हो सकता, कमसे कम किसी वैदिक धर्मी मनुष्यको तो कभी संदेह इस विषय में होना संभवहि नहीं है, क्योंकि वेद का उपदेश ईश्वरके विषयमें ऐसा स्पष्ट ही है-

१. ब्राह्मण ईश्वरका मुख हैं,
२. क्षत्रिय ईश्वरके बाहु हैं,
३. वैश्य ईश्वरके जंघायें हैं,
४. शूद्र ईश्वरके पांव हैं। (ऋग्वेद १०।९०।१२)

क्या यह वेद का उपदेश किसी के समझनेमें नहीं आ सकने योग्य कठिन है? बिलकुल नहीं, यह तो बिलकुल स्पष्ट उपदेश है। इसी तरह ईश्वर का वर्णन और देखिये—

१. ईश्वरका सिर अग्नि है,
२. ईश्वरके आंख चन्द्र और सूर्य हैं,
३. ईश्वरके कान दिशाएं हैं,
४. ईश्वरकी वाणी वेद है,
५. ईश्वरका प्राण वायु है,
६. ईश्वरका हृदय यह अन्तरिक्ष है,
७. ईश्वरके पांव यह पृथ्वी है,
८. यही निःसंदेह सर्व भूतान्तरात्मा है।
(मुण्डक उप० २।१।४)

ऐसाही वर्णन पुरुषसूक्त में भी किया है, तथापि उपनिषदोंका नमूना बतानेके लिये यह यहां उद्धृत किया है। क्या यह किसी के समझमें न आने योग्य कठिन है? बिलकुल नहीं, यह तो आसानसे आसान है; इस का आशय तो बालक भी समझ सकता है।

अनन्य भाव।

संपूर्ण विश्व, विश्वके अन्तर्गत संपूर्ण पदार्थ, मनुष्य, पशु, पक्षी, चार वर्ण ये सब अर्थात् सब विश्व ईश्वरका ही रूप है। यह ईश्वरका विश्वरूप, अर्थात् यह ईश्वर का सर्वरूप मनुष्य प्रत्यक्ष देख रहा है, अपने प्रत्येक इन्द्रियसे इसी ईश्वरके इस विश्वरूपको अनुभव कर रहा है; मनुष्य इस ईश्वर के रूपमें रहता है, इसी में विचरता है, मनुष्य इसी ईश्वर के विश्वरूप का एक छोटासा अंश है, इस कारण वह मनुष्य कह सकता है कि मैं इस इस ईश्वरके विश्वरूपसे अनन्य हूं, अर्थात् मैं (अन्+अन्य=) दूसरा वा पृथक् नहीं हूं, अतः मैं भी वही हूं। इसी तरह सब अन्य मानव भी परमेश्वरके विश्वरूपसे अनन्य (अन्+अन्य=अ-पृथक्) हैं, अतः हम सब परस्पर भी अनन्य हैं, अतः हम सब परस्पर अपृथक् हैं, क्योंकि सब मिलकर ही परमेश्वर का अखण्ड, एकरस और संपूर्ण रूप है।

इस समय तक इतनी बातें इतने लेखोंमें बतायी गयी हैं। ऊपर अनेक मन्त्र वेदसे उद्धृत किये हैं और उनके अर्थ भी बताये हैं, परंतु वेदमंत्रोंके उपदेशानुसार आचरण कैसा होना चाहिये, यह थोडे विस्तार से बतानेकी अब आवश्यकता रहती है।

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये परमेश्वरके मुख, बाहु, जंघा और पांव हैं' यह बात ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ९०, मन्त्र १२ ने स्पष्ट शब्दोंने बताई है। यह मंत्र पूर्वलेखोंमें कई वार लिखा गया है। इस का अब विचार करना है कि, इसका उपयोग व्यवहारमें करना चाहिये वा नहीं करना चाहिये? यदि कोई महानुभाव कहेगा कि यह वेदका मन्त्र आचरण में लानेके लिये नहीं

है, तब उनसे पूछा जा सकता है, कि फिर वह उपास्य देव का वर्णन करनेका प्रयोजन क्या है?

हमारा तो आग्रहसे कहना है कि, यह उपदेश हरएकके आचरणमें शीघ्र से शीघ्र आना चाहिये और जितना शीघ्र आचरणमें आ जाय उतना लाभ अधिक होगा। इस मन्त्र से बोध आचरणमें आनेके लिये इस तरह लिया जा सकता है-

१. जिस प्रकार मुख, बाहू, जंघा और पांव ये एक शरीर के अवयव हैं, इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये एक राष्ट्रशरीरके अवयव हैं, ये परस्पर पृथक् नहीं हो सकते। क्योंकि सब अवयव मिलकर हि अवयवी हो सकता है।

२. जिस प्रकार मुख, बाहू, जंघा, पांव मिलकर अपनी पराकाष्ठा करके शरीरका हित-साधन करनेमेंहि अपना हित मानते हैं, इसी तरह ब्राह्मणादि चारों वर्णोंको मानव-समाजोन्नतिमें अपना हित मानना चाहिये और कभी एक दूसरे का अहित करके अपनी उन्नति करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यहां दूसरा ऐसा कोई नहीं है, जो दूसरे को किया जाय, वही अपने को और अन्ततः सब को होनेवाला है।

३. मुख, बाहू, जंघा और पांव के कार्य जिस तरह सब शरीर के योगक्षेम के लिये अत्यंत आवश्यक हैं, और शरीरस्वास्थ्य की दृष्टिसे सब उक्त अवयवों के स्वास्थ्य की आवश्यकता है, इसी तरह ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके कार्य मानवों के हित के लिये आवश्यक होने के कारण सब की समानतया आवश्यकता राष्ट्रके लिये है, इसलिये सबकी सुस्थिति रहनी चाहिये।

४. यदि हाथों द्वारा पत्थर सिरपर मारा गया, यदि पावों द्वारा शरीर को गढे में फेंका गया, यदि बाहुओं द्वारा शरीर की उत्तम रक्षा न की गई, तो केवल उसी अवयव की हानि नहीं, परन्तु सब शरीर की हानि है, इसी तरह चारों वर्णों में से किसी की हानि किसीने की, तो उसमें सब राष्ट्र की क्षति होती है, क्योंकि सब मिलकर एकही पुरुष है और उसी की विच्छिन्नता आपसी झगडेसे होती है।

इस प्रकार सैकडों व्यावहारिक बोध प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यहां पाठक कहेंगे कि हम तो व्यावहारिक बोध प्राप्त करने के लिए यह लेख नहीं पढ रहे, परन्तु ईश्वर-स्वरूपका बोध प्राप्त करने के लिए पढ रहे हैं। उनसे निवेदन है कि, ठीक है, ईश्वरस्वरूप जानने के पश्चात् सम्पूर्ण विश्वरूपी एकही अखण्ड जीवन है, ऐसा ज्ञात होगा और यह ज्ञान होनेके पश्चात् जो शुद्ध व्यवहार होगा, उसकी कल्पना पाठकों को देने के लियेहि हमने शुद्ध वैदिक व्यवहार की थोडीसी कल्पना ऊपर दर्शाई थी।

क्रियारूप बनना।

पाठक यह न समझें कि ईश्वरस्वरूप का ज्ञान होनेके पश्चात् मनुष्य पत्थर जैसा निष्क्रिय बनता है, बिलकुल नहीं, वह शुद्ध क्रियावान् बनता है। यही अपूर्व वैदिक क्रियायोगी जीवन है।

आजकल समझा जाता है कि ईश्वर का ज्ञान होनेके पश्चात् फिर कोई ज्ञातव्य नहीं है और न कुछ कर्तव्य है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हुआ तो यह ज्ञानी जडमूढ उन्मत्तवत् जहां जैसा पडा वहीं वैसा रहेगा। इस विषय की बहुतसी कथाएं भी प्रचलित हैं, परन्तु यह सब अवैदिक भ्रम है। वेद का ज्ञान ठीक ठीक न होनेके कारणहि ये भ्रम फैले हैं। वस्तुतः मनुष्य का सच्चा कर्तव्य ईश्वरज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् हि शुरु होता है। ईश्वरज्ञान होतेहि वह कर्तव्यहीन नहीं बनता, परन्तु निर्दोष कर्म करने का अधिकारी होता है।

ईश्वर का स्वरूपहि जिसको पता नहीं, तथा अपना और ईश्वर का सम्बन्ध क्या है, इस का भी जिसको ज्ञान नहीं, वह एक द्विपाद पशुहि है; वह मानवोचित कर्तव्य शुद्ध और निर्दोष रीतिसे किस तरह कर सकता है? इस अज्ञान स्थिति में हि सब मानवजाति इस समय है। यूरोपअमेरिका के विद्वान् से विद्वान्, ज्ञानी और प्रोफेसर जगद्विद्या तो बतेरी जानते हैं, परन्तु इनको सच्चे ईश्वर का पता नहीं है। जापानचीन के तथा अन्यान्य देशदेशांतरों के लोग कितने ही विद्वान् हुए, तो भी वे जगद्विद्या के विज्ञ हैं, उनको ईश्वर का ज्ञान नहीं है। इसलिए इनको मानवी कर्तव्य का सच्चा मार्ग दीख नहीं सकता, क्योंकि वे इस ईशज्ञानकी भूमिकामें अज्ञानीहि हैं।

वेद का धर्म कौन जानते हैं ?

वेद का धर्म इस समय भारतवर्षमें हि केवल है। परन्तु भारतवर्ष की जनसंख्या से वेद न माननेवाले यहुदी, ईसाई, मुसलमीन, ये विधर्मी छोडे जांय, तथा जैन, बौध आदि हिंदू धर्मके उपपन्थी छोडे जांय, तो शेष हिंदू रह जाते हैं। उनमें सनातनी और आर्यसमाजी येही वेद को अपना धर्म पुस्तक माननेवाले हैं।

इन सनातन धर्मियोंमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रातिशूद्रादिकों को वेद का दर्शन तक नहीं होता है, केवल एक ब्राह्मण-जाति है, जो वेद का अधिकार इस समय अपने पास है, ऐसा माननेवाली है। इन ब्राह्मणों की संख्या अधिक से अधिक दो करोड है, अर्थात् ४० करोड भारतियोंमें दो करोड जनसंख्या वेद पढने का अधिकार रखनेवाली है, पर उनमें वेदज्ञानी ब्राह्मण कितने हैं, यह पूछा जाय, तो दो चार, दसबीस किसी जगह मिलेंगे तो मिलेंगे। कट्टर सनातनधर्मियोंमें वेद के धर्म का न्हास इतना अधिक हुआ है।

आर्यसमाजी मानते हैं कि, मानवों को वेद का अधिकार है, परन्तु ऐसा मानने से भी क्या बना? सब आर्यसमाजी वेदज्ञानी हुए, ऐसा तो इस समय तक नहीं हुआ है, इतनाही नहीं परन्तु यदि कोई वेद पढनेवाला किसी समय आ जाय, तो उसको शुद्ध मूलवेद और किसी भाषामें निर्दोष तर्जुमा भी आर्यसमाजके पास नहीं है। अर्थात् सनातनियोंने वेद का अधिकार किसी को नहीं दिया था और आर्यसमाजने वह अधिकार सब को दे दिया है, इसका तात्पर्य इस समय परिणाम की दृष्टिसे एक जैसाहि है।

यदि सनातनियों में से किसी एक पण्डितको भी वेद समझे होते और किसी एक आर्यसमाजीने भी वेद जाने होते, तो वे दोनों धैर्यसे कहते कि, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये हमारे उपास्य प्रभुके मुख, बाहु, जंघा और पांव हैं, और इस चातुर्वर्ण्य के रूप में हमारा उपास्य प्रभु हमारे सम्मुख खडा है।' इसकी उपासना करना हमारा कर्तव्य है। (ऋ० १०।९०।१२)

परन्तु दुःख की बात यह है कि, सनातनी पंडित और आर्यसमाजी विद्वान् ये दोनों एक मत से आज भी, अर्थात् इतने वेदमन्त्र इस लेखमाला में प्रकाशित होने के बाद भी, वेदीपर खडे होकर कहने का धैर्य धारण कर रहे हैं कि, 'ईश्वर सर्वथा अदृश्य है, और सदा के लिये अदृश्य ही है।'

फिर पाठक ही कहें कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्।' (ब्राह्मण इस ईश्वर का मुख है) इस वेदमन्त्रने वैदिक धर्मियों को क्या ज्ञान दिया, और सनातनियोंने या आर्यसमाजियों ने उक्त मन्त्र से क्या ज्ञान प्राप्त किया? अर्थात् इस भूमिपर के मानवों को ऋषियों द्वारा वेद का धर्म प्रकट हुआ, वह अन्य देशों में नाममात्र तक भी नहीं रहा, भारतवर्ष में केवल नाममात्र ही रहा है। कोई पाठक इससे अधिक वैदिक धर्म यहां है, ऐसा इस समय न समझे। भविष्य में क्या होगा, इसका हमें पता नहीं है।

वेदका ज्ञान प्राप्त होना है, उसका स्वीकार पाठकोंने करना है, उस ज्ञानके अनुसार आचरण होना है, और विश्वमें वैदिक धर्मका प्रचार होना है, ये सब भविष्य की बातें हैं, इस समय इनमेंसे एक भी बात नहीं है।

'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये ईश्वरके शरीर के मुख-बाहु-ऊरु-पांव हैं' यह वेदने कहा, चारों वेदोंमें मिलकर ४-५ वार यह उपदेश कहा, बार बार कहा, परंतु सुना किसने, सुनकर माना किसने, मानकर आचारमें लाया किसने? वेद का डंका बजानेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। प्रयोजन तो तब सिद्ध होगा, जब वेदका धर्म मानवों के आचरणमें समझकर आ जाय।

दो पक्ष।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये ईश्वरके अवयव नहीं हैं, प्रत्युत ये ईश्वरसे भिन्न हैं और ईश्वर इनसे भिन्न है, ऐसा आज माना जा रहा है। परंतु वेदने तो स्पष्ट ही कह दिया कि ये चारों वर्ण ईश्वर के शरीर के चार अवयव हैं। अर्थात् यहां दो पक्ष हुए-

'वैदिक पक्ष'	'अवैदिक पक्ष'
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,	ब्राह्मणादि मानवों
शूद्रोंको ईश्वरके देह	को ईश्वरसे सर्वथा
के मुख, बाहु, ऊरु, पांव	भिन्न माननेवालों
माननेवालोंका पक्ष।	का पक्ष। यही
यही वैदिक मत है।	अवैदिक मत है।

आज अपने अन्दर ऊपर लिखा वैदिक पक्ष है वा अवैदिक पक्ष है? पाठक अपने अन्तःकरणमेंहि देखें, अपने घरवालों से पूछें, अपने समाज के लोगोंसे पूछे, और अपना निश्चय करें कि अपने अन्दर वैदिक पक्ष है वा अवैदिक पक्ष है?

वैदिक मत माननेवालों का जैसा आचरण होगा, वैसा अवैदिक मत माननेवालोंका आचरण कदापि नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये देखिये—

वैदिक मत माननेवाला सब मानवोंको ईश्वरके शरीर के अणु मानता है, ऐसी अवस्थामें उसका आचरण अन्य मानवोंसे कैसा होगा? यह तो मानेगा कि प्रत्येक मानव अपने उपास्य देव का अंश है, इसलिये मैं उसके साथ वैसा बर्ताव करूं, जैसा मुझे ईश्वरके साथ करना चाहिये। इतनी कल्पना उसके मनमें स्थिर होतेहि उसका आचरण निर्दोष होने लगेगा, उसके आचरण से छल कपट दूर होने लगेंगे, सत्य और अहिंसा उसमें आने लगेगी। यह लाभ ईश्वरस्वरूप वेदमतानुसार जाननेसे हुआ।

अब दूसरी ओर अवैदिक मत माननेवालोंका आचरण कैसा होगा, इसका विचार करिये। अवैदिक मतवाला तो कहेगा कि, मैं स्वतंत्र हूं, अकेला आया हूं और अकेला जाऊंगा, मेरे कर्मका मैं ही स्वामी हूं, मेरा ईश्वर इस विश्वसे पूर्णतया पृथक् है और यह विश्व ईश्वरसे पूर्णतया पृथक् है, प्रत्येक प्राणी ईश्वरसे पृथक् है और परस्पर का कोई संबंध नहीं है। इतना अवैदिक मत मानते ही मानवों की आपस की स्पर्धा, आपस के छलकपट, परस्पर असत्य, हिंसा, चोरी आदिके हीन व्यवहार करके अपना लाभ करानेके सब हीन व्यवहार शुरू ही हुए। इनको रोकनेवाला कौन है। सब मानवजाति इसी मत का स्वीकार करके चली है, सैंकडों धर्मप्रचारक रातदिन कार्य करते रहनेपर भी झगडे बढते ही जाते हैं, संघर्ष चल ही रहे हैं। इन सब मानवी विपत्तियों का कारण यह अवैदिक मत है।

वेद का मत माना जाय तब ही विश्वशांति का उपाय हो सकता है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि, ईश्वर का सत्य ज्ञान होनेके पश्चात् हि उस ज्ञानी को शुद्ध कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है। उत्तम कर्म करनेके लिए ईश्वर का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए, इसका हेतु यही है। इसीलिए वैदिक तत्त्वज्ञान के अनुसार 'ईश्वर का ज्ञान' ही बुनियाद है, जिसपर वैदिक समाजरचना, वैदिक राष्ट्रशासनशास्त्र, वैदिक मानवशासन आदिके व्यवहार रचे गए हैं, और वे ईश्वरज्ञानी मनुष्य ही ठीक ठीक कर सकता है। अतः ईश्वर का यथार्थ ज्ञान होना सबसे प्रथम आवश्यक है।

अन्तिम ज्ञान।

आजकल लोग उलटा समझ रहे हैं कि ईश्वर का ज्ञान अन्तिम ज्ञान है। यह इसलिए मानते हैं कि इनको सहस्रों जन्मोंतक ईश्वरका पतातक लगना नहीं है, ऐसी अवस्था में ये अवैदिक मतवादी और दूसरा मान भी सकते क्या हैं?

परन्तु वेदके तत्त्वज्ञानानुसार (स एव जातः स जनिष्यमाणः। वा० य० ३२) ईश्वर हरएक घरमें बालकरूप से जन्म लेता है, पितामाता रूपसे घरोंमें विचरता है, भाईके रूपसे सहायक होता है, राजा और राजपुरुषों के रूपसे, प्रजापति के रूपसे प्रजा-पालन करता है, ब्राह्मण के रूपमें विद्या पढाता है, क्षत्रियों के रूपसे प्रजाकी रक्षा करता है, वैश्य के रूपमें पशुपालन, कृषि और व्यापार करके प्रजा की सहायता करता है, तथा शूद्रके रूपमें विविध कलाओं की उन्नति करता है। इतनाही नहीं अपितु जैसा कि रुद्राध्याय के मन्त्र देकर गत लेखों में बताया कि (स्तायु, स्तेन, मुष्णत्, वंचत्। रुद्राध्याय, वा० य० १७) चोर, डाकू, ठग, लुटेरों के रूप धारण करके लोगों को उपदेश देता है कि अपनी रक्षा करने के लिए जागते रहो, नहीं तो तुम्हारी हानि होगी।

वेदमें प्रतिपादित ईश्वर उक्त रूपों में हमारे चारों ओर विचर रहा है, यह तो प्रत्यक्षही है, इसी को सबसे प्रथम पहचानना चाहिये, पहचानने के पश्चात् हि उससे ठीक ठीक व्यवहार होना संभव हो सकेगा।

न केवल उक्त लिखे मानवों के रूपों में वेद का ईश्वर (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। ऋ० ६।४७।१८ अपनी विविध शक्तियों से विविध रूपों में प्रकट होता है, परन्तु वही हमारा उपास्य प्रभु गौके रूपसे हमारे पास आकर अपने अमृत जैसे दूधसे हमारी पुष्टि करता है, इसलिये उसको पूषा कहते हैं। वही प्रभु बैल होकर हमारी भूमि तैयार करके हमारी अतुल सहायता कर रहा है, कुत्तेके रूप में वही कितनी सहायता कर रहा है? अनेक पशुपक्षियों के रूपों में उसकी सहायता वर्णन करने से बहुतही ग्रन्थ बढेगा।

वृक्षों के रूपमें वही प्रभु हमें अनेक फलफूल दे रहा है, अन्न तैयार करके फलों की शकलमें हमारे पास वही भेजता है। धान्य के रूप में वही हमारे पास आता है और खानेवाला भी वही है (अहं अन्नं अहं अन्नादः। तै० उ० उपनिद् ३।१०।६) में हि अन्न हूं और अन्न खानेवाला भी मैं हि हूं।

अर्थात् सब रूपोंमें ईश्वर हमारे चारों ओर है, यही वैदिक तत्त्वज्ञान है, जो वेद के प्रकरण के प्रकरण समझकर पढने से ज्ञात हो सकता है। इसका विचार करनेसे पता लगता है कि, यदि इन सब रूपोंमें ईश्वर हमारे चारों ओर प्रकट हुआ है, तब तो उसको हि सब से प्रथम जानना चाहिये। इस विषय में संदेह ही क्या हो सकता है?

वैदिक तत्त्वज्ञान और अवैदिक तत्त्वज्ञान इसमें इतना अन्तर है। वैदिक तत्त्वज्ञान के अनुसार ईश्वरस्वरूपका ज्ञात होनेके पश्चात् हि सत्कर्म का प्रारम्भ होता है, ईश्वर देखा जाता है और तत्काल उससे व्यवहारहि शुरू होता है। अवैदिक तत्त्वज्ञानमें तो ईश्वर सहस्रों जन्मों तक देखा तक नहीं जाता, उस पर साधकोंने केवल विश्वास रखकर बैठना है, ईश्वरज्ञान होने तक ही आंख बंद रहने की अवस्थामें कर्म करने हैं, ईश्वर का ज्ञान होते ही कर्म छूट जाते हैं, इसलिये इन अवैदिक मतवालों के मतसे ईश्वरज्ञानी मनुष्य पूर्ण निष्क्रिय हो जाता है।

अवैदिक धर्म।

इसी तरह वैदिक मत और अवैदिक मतमें मुक्ति, पुनर्जन्म, कर्मसम्बन्ध आदि के विषय में इतना मतभेद है कि दोनों का किसी भी स्थानपर एकमत नहीं हो सकता। वेद का पुनर्जन्मवाद बिलकुल भिन्न है और इस समय जो माना जाता है, वह पुनर्जन्मवाद बिलकुल ही भिन्न है। इस पुनर्जन्मवाद का विचार हम आगे एक-दो स्वतंत्र लेखोंमें करेंगे। मुक्तिके विषयमें भी ऐसा ही भेद है। कर्मवाद के सम्बन्ध में भी इसी तरह भेद है। इसलिये इस लेखमाला पर शंका उठानेवाले जो आज माना जाता है, वही सत्य वैदिक मत है, ऐसा मानकरहि शंका करते हैं। अपने मत के लिये वे वेदके मंत्रों का आधार लेंगे, तो उस शंकासमाधान में वैदिक तत्त्वज्ञान अधिक प्रकट हो सकेगा।

अतः कोई पाठक ऐसी शंका न करे कि इस ऋषि का मत यह है वा उस मुनि का मत वह है, और वैदिक धर्म के संपादक का मत उनके विरुद्ध है। इस तरह की शंकाओं से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। जैसा हमारे लेखों का आधार मूल वेदमन्त्रों पर हमने रखा है, और जैसा हम पहिले मन्त्र लिखते हैं और उसका अर्थ दर्शाकर उसकी व्याप्ति दर्शाते हैं, उसी प्रकार शंका करनेवाले पाठक अपनी शंका वेदके मन्त्र के आधार पर करें और पूछे कि यह मन्त्र ऐसा कहता है और वैदिक धर्म के संपादक उस मन्त्रके विरुद्ध क्यों ऐसा लिखते हैं?

इस लेखमाला में हम वेदमन्त्रों के आधारसेहि सब प्रतिपादन कर रहे हैं। न हमने अपना मत उसमें घुसेडा है और ना ही किसी ऋषिमुनिको बीच में लाया है, क्योंकि हम जानते हैं कि नाना ऋषिमुनियों ने नाना प्रकार के सामयिक वाद उठाये हैं और उनमेंसे कई केवल सामयिक कारण दूर करने के लिये ही थे, जो वाद इस समय हमारे सिरपर खडे हुए हैं और वेदका तत्त्वज्ञान समझनेमें अनेक बाधाएं खडीं कर रहे हैं। उपनिषदों में तथा अन्यान्य ग्रन्थों में भी ऐसे सामयिक वाद हैं और उनका जोर आजकल भी जनतापर अधिक है।

योगमत।

उदाहरण के लिये देखिये योगमत, जो पतंजलि महामुनिजीने अपने योगदर्शनमें बताया है और जो राजयोग-हठयोग के रूपोंमें प्रचलित भी है। इसी योग का विचार करिये—

योगशास्त्र कहता है कि यमनियमों का आचरण करो, आसन सिद्ध करके शरीर स्वाधीन करो, प्राणायाम-द्वारा शरीर निर्दोष करके मनको स्थिर करो, किसी आलबन पर मन लगाकर ध्यान सिद्ध करो, मन वहां अचल रहनेसे धारणा सिद्ध होगी, इसी का उत्तम अभ्यास होनेसे समाधि सिद्ध होगी। समाधिमें स्वरूप-अर्थात् आत्मरूप प्रकाशित होगा। (समझो यही ईश्वरसाक्षात्कार है।)

वास्तव में योग ईश्वरसाक्षात्कार के विषय में विशेषसा कुछ कहता ही नहीं। ध्यान में महात्माओं के दर्शन होते हैं, ऐसी एक सिद्धि योगग्रन्थों में लिखी है, परन्तु ध्यान-अवस्था में किसी विभूति का दर्शन होनेका अर्थ यही है कि, जाग्रत अवस्था में उस मूर्ति का ध्यास लगा था, वही मूर्ति ध्यान में दीखी, ऐसी स्वप्नमें भी दीखती है। जिस वस्तुका ध्यास लगे, उसी वस्तुका ऐसा ध्यान में दर्शन होता है। यह ध्यास का परिणाम है, न कि वह वस्तु वहां सामने आ जाती है।

जिस शिष्य के मन में श्वेत कपडे पहने गुरुजी का ध्यास लगा होगा, उसको श्वेत कपडे पहनी मूर्ति दीखेगी, और जिसका ध्यान पीले वस्त्रवाले मूर्ति का होगा, उसको पीले कपडोंवाली मूर्ति दीखेगी। यह शिष्य के मनके ध्यास की करामात है, इसका कोई संबध उस गुरुके दर्शन के साथ नहीं, फिर इसका ईश्वरदर्शन के साथ कोई संबंध नहीं, यह कहने की भी क्या आवश्यकता है?

ध्यान के विषय में इतना लिखना पर्याप्त है। योग में ईश्वर माना है और वह सबका गुरु है, ऐसा भी कहा है। परन्तु आसन प्राणायाम, ध्यानधारणा आदिसे तो उसका दर्शन होता ही नहीं। आसन से शरीर नीरोग होगा, प्राणायाम से शरीरका मज्जासंस्थान तथा प्राणसंस्थान सबल होगा। ध्यान से जिसका रूप सामने रखा जाय वही दीखेगा, धारणा और समाधि में ध्यानकीहि तीव्रता है। परमेश्वरका रूपहि जिनको पता नहीं, वे उसका ध्यान क्या करेंगे, और ध्यान में ईश्वरसाक्षात्कार भी कैसा होगा? इसलिये ईश्वरसाक्षात्कार के विषय में योगसाधन मुग्धहि है।

परन्तु लोग मानते हैं कि समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार होता है और साधक का जीव परमात्मा के साथ बातचीत करता है। कई तो यहां तक कहते हैं कि वेदमन्त्रों की कठिनता भी समाधि में परमात्मा से पूछी जाती है और परमात्मा उस समय उत्तर भी देता है। पर यह सब भ्रम ही है। योगदर्शन इस विषय में कुछ भी नहीं कहता है।

योगदर्शन इतनाही कहता है कि आसन से शरीर स्थिर रहा, प्राणायाम से कुंभक होकर प्राण स्थिर हुआ, मन संकल्पविकल्प न करते हुए स्थिर हुआ, तो बुद्धि शान्त होती है और उस समय 'केवल' स्थिति प्राप्त होती है। इतना ही पतञ्जलिमुनि का कहना है और यह ठीक भी है। इससे परमात्मदर्शन होनेकी कल्पना भ्रममात्र है। मन एकाग्र करके मानसिक, बौद्धिक तथा प्राणका विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त करने की यह रीति है। अर्थात योगसाधन से अपनी शक्तियों का विकास हो सकता है।

जो मतवाले शरीर के अन्दर प्राण, प्राण के अन्दर मन, मन के अन्दर बुद्धि, बुद्धि के अन्दर आत्मा (जीवात्मा), और आत्मा के अन्दर परमात्मा है, ऐसा मानते हैं, अर्थात् जैसी डब्बी के अन्दर दूसरी डब्बी रहती है, इस तरह ये एक दूसरी के अन्दर रहनेवाली अनेक डबियां हैं, ऐसा जिनका ख्याल था, वे भ्रम से मानते थे कि समाधि में जीवात्मा परमात्मा के साथ बात करता है और अपनी कठिनाइयां पूछता है और परमात्मा उत्तर देता है।

यद्यपि एक डब्बीमें दूसरी डब्बी जैसी रहती है, उस प्रकार शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा एक दूसरे के अन्दर है, यह बालबुद्धियों को समझाने के लिये वारंवार कहा जाता है, परन्तु वह सिद्धान्तपक्ष नहीं है। डब्बियों जैसी व्यवस्था यहां है, ऐसा कोई पाठक न समझे। इससे वैदिक कल्पना ठीक तरह समझ में नहीं आवेगी और भ्रम ही बढ जायगा, जैसा कि आज बढ चुका है।

जो योग केवल अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति बढाने का केवल एक साधनमात्र था, वह योग ईश्वर-प्राप्ति का साधन है, ऐसा उक्त भ्रमके कारण माना गया है और नाक बंद करके बडा कुंभक होनेसे ईश्वरसाक्षात्कार होगा, ऐसा कई लोग समझने लगे हैं। हमारे पास ऐसे सैकडों पत्र आ रहे हैं। पर यह सब भ्रम है और यह निरी कुकल्पना है। यह सब असत्य और अवैदिक है।

कोई पाठक किसी बिन्दुपर टकटकी लगावे अथवा जोरसे कुंभक करे, तो थोडीसी देरीमें मन मूर्छित होने लगता है, और अभ्यास अधिक करनेसे मन अधिक मूर्छित होता है और बेभान स्थिति प्राप्त होती है। यह केवल मनकी मूर्छा है, इससे अधिक इसमें कुछ भी नहीं, इसीलिये इससे अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।

यों हि पाठकों को भ्रम में रखना किसी को भी उचित नहीं है। ध्यान-धारणा या समाधि ये मनोमूर्छना के हि न्यून अथवा अधिक प्रकार हैं, इससे उन में कुछ भी अधिक नहीं है। आत्मसाक्षात्कार, ईश्वरसाक्षात्कार का उन स्थितियों से कोई संबंध नहीं।

जो तो पूर्वोक्त डब्बीयोंवाली बात मानते थे, वे कहते थे कि आत्मा इस जेलखाने में पडा है, इस पिंजरे में यह जीवात्मा अटक गया है। योगसाधन से एक एक पिंजरा टूट जाता है और यह पक्षी मुक्त हो जाता है। यह अलंकार कितना भी सुनने के लिये मीठा मालूम हुआ, तो भी यह अवैदिक मत है। इस तरह पिंजरा यहां कोई नहीं है। वेद में शरीर के विषय में कितनी उच्च कल्पना कही है !!

न डब्बियोंवाली बात वैदिक है और न पिंजरोंवाली बातें वैदिक है। परमेश्वर केवल जीवात्मा के अन्दरहि है और बाहर नहीं है, ऐसी भी बात नहीं, फिर अन्दर जाने और वहां देखने की बात किस काम आवेगी ? इस तरह अनेक भ्रम आजकल जनता में बैठे हैं। इस कारण सत्य वैदिक ईश्वर की कल्पना वेदमन्त्रोंद्वारा दर्शानेपर भी पाठक बडा बम गिरने के समान भयभीत हो जाते हैं।

पर यहां किया क्या जाय ? जो योग केवल अपने मानसिक, बौद्धिक बल बढाने के लिये हि था, उसी को आत्मा के अन्दर ईश्वर का दर्शन करानेवाला भ्रमसे बताया जाने लगा, और योगके नाम पर नाना प्रकार के आडम्बर भी रचे गये, यह कितना आश्चर्य है !

सांख्यमत।

इसी तरह सांख्यशास्त्र की दशा हुई है। वस्तुतः सांख्यदर्शन इसलिये रचा गया था कि, जिससे अनेक प्राकृतिक तत्त्व नहीं हैं, केवल एकही प्रकृतितत्त्व है, यह प्रकृत्यैक्यवाद सिद्ध किया जाय। सांख्य के पूर्व पञ्चभूत मूलतः विभिन्न हैं, ऐसा माननेवाले अनेक पंथ थे। उनका खण्डन करके सब मिलकर प्रकृति एक ही है, यह सांख्याचार्योंने ठहराया। इसके बाद जडचेतन एक है, यह ठहराना था, जो ब्रह्मदर्शनने दिखा दिया था।

परन्तु प्रकृतिकी एकता सिद्ध करनेके लिये आये सांख्यदर्शन को प्रकृतिपुरुष भेदकी सिद्धता करनेवाले करके बताया जाने लगा। और इस भेद- प्रकृतिपुरुष- भेद- पर सब आगे की रचना की गई, बाह्य विश्व सब दोषमय है, दुःखमय है, शरीर का जेलखाना है, यह सब मुक्तिमें बाधा है, यह जो आजकल वारंवार बोला जाता है, जो जैन-बौद्धोंने बढाया क्षणिक वाद, दुःखवाद और बन्धवाद है, यह सब प्रकृतिपुरुष के भेद मानने से सब भ्रम उत्पन्न हुआ। और एक भ्रम को मिटाने के लिए दूसरा भ्रम खडा किया गया, इस तरह भ्रमही बढने लगे। आजकल ऐसी अवस्था आ गई है कि, हमारे पास सब अवैदिक कुविचारों की खिचडी बन गई, और उससे छूटना बडा ही कठिन हो गया है।

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष यह दो पहलू एकही सद्वस्तुके हैं। जिस तरह मिश्री का ढेला और मिठास ये दो पहलू एकही मिश्री के होते हैं। प्रकृति और पुरुष ये दो पदार्थ कल्पनागत हैं, वस्तुगत नहीं हैं। वस्तुगत होते, तो प्रकृति अलग और पुरुष अलग करके दिखाना संभव होता, परन्तु वैसा कभी नहीं होता। केवल पुरुष और केवल प्रकृति ऐसा कोई पदार्थ है हि नहीं। जिस तरह केवल ढेला और केवल मीठास ऐसे अलग पदार्थही नहीं है, परन्तु खांडके ये दो पहलू मात्र हैं, कल्पनाके सिवाय इनका अस्तित्व नहीं है, वैसीही 'पुरुषोत्तम, नारायण, सत्, तत्' आदिसे बोधित होनेवाली वस्तु एकही है और उसका एक पहलू जड और दूसरा जीव

है, इन दोनोंकी मिलकर 'सत्' वस्तु एकही होती है।

प्रकृति और पुरुष ।

हम जानते हैं कि प्रकृतिपुरुष एक ही है, ऐसा कहने मात्र से बम फेंकने के समान पाठक चौंक उठेंगे और यह विचार मानने को भी तैयार नहीं होंगे। इतना भय हमारे सामने है और यह हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, तथापि हमें वेदका संदेशा पाठकों तक पहुंचाना हि है, इस कार्यमें जो विघ्न आ जाय और जो कष्ट हो जाय, उनको सहन करनाहि चाहिये। यजुर्वेद में कहा है—

अग्निवायु तत् के रूप।

तत् एव अग्निः, तद् आदित्यः,
तत् वायुः, तदु चन्द्रमाः। (वा० य० ३२।२)

'अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा (जल), वायु (तत्) वही ब्रह्म है।' क्या इससे जल, अग्नि और वायु ये तीन तत्त्व उसी एक वस्तु के रूप हैं यह सिद्ध नहीं हुआ है ? यदि इस मन्त्र से यह सिद्ध नहीं होता है, तो इससे और कौनसा दूसरा सिद्धान्त सिद्ध होता है ?

वेदने तो यहां स्पष्ट शब्दोंद्वारा ऐसा कहा है कि 'तत्' नामकी एकहि वस्तु है, जिसका एक पहलु 'आप्-अग्नि-वायु' के प्रकृतिरूप से दीखता है, और दूसरा पहलू 'ब्रह्म' (जीवन) रूपसे दीखता है। ये दोनों पहलु मिलकर 'तत्' से बतायी जानेवाली वस्तु होती है।

पञ्च महाभूत।

पृथ्वी आप तेज वायु आकाश ये पञ्चभूत पृथक् हैं ऐसा कई मानते हैं, परन्तु शुद्ध स्थितिमें इनमेंसे एक भी महाभूत किसी भी स्थानपर उपलब्ध नहीं है। थोडीसी 'पृथ्वी' ले आओ, ऐसा किसीसे कहा जाय, तो कोई ला नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक महाभूत में अन्य चारों-भूत थोडे थोडे मिले हैं, ऐसा माना जाता है। यदि पांचों महाभूतोंमें से एक भी भूत शुद्ध स्थितिमें किसी भी स्थानपर नहीं है, और सबमें सब भूतोंकी खिचडी हुई है, तब तो सर्वत्र पंचभूतोंकी खिचडीहि है यह सत्य है।

पञ्च भूत भी कल्पित हैं।

वस्तुतः सर्वत्र पंचभूतोंकी खिचडीही होनेसे पञ्च-भूतों की पृथक् सत्ता भी कल्पनासे ही मानी जाती है। इनको अलग अलग करके कोई बता नहीं सकता। केवल मानी हुई काल्पनिक सत्ता इनको युक्तिसे दी हुई है।

एकहि सत् है।

वेदमन्त्रों के देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, 'सत् एक हि है' (ऋ० १-१६४) और जल, अग्नि, वायु उस एक सत् के ही इन्द्रियों को भासमान होनेवाले रूप हैं। हमारे मतसे यही वैदिक सिद्धान्त सत्य है। अर्थात् 'एक हि सत्' है, उस सत् के साथ हमारे नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और कर्ण का सम्बन्ध आनेसे हमें गन्ध, रुची, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है, इससे हम भ्रम के कारण इनके विभिन्न अधिष्ठान पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश मान बैठे हैं, परन्तु वेद वारंवार कहता है कि 'सत् एकही है' और उसी के जल अग्नि वायु आदि अनेक रूप हैं, उसी एक सत् से सम्बन्ध होनेपर विभिन्न इंद्रियों की परिमित शक्ति होने के कारण परिमित गुण जाने जाते हैं, इसीलिये पृथक् पृथक् पञ्चभूतों की कल्पना मानवोंने कर रखी है, परन्तु वस्तुतः सत् तत्त्व एकही है।

भ्रम सिरपर चढा है।

प्रकृतिका तथा पंचमहाभूतों का विचार आगे किसी लेखमें करना ही है, परन्तु यहां अपने पीछे अवैदिक भ्रम किस तरह लगे हैं, इसके एकदो उदाहरण बताये। ये भ्रम इतने दृढ हैं कि वेद का सिद्धान्तरूप मन्त्र सम्मुख आनेपर भी ग्रहण करने में भय लगता है। पाठकोंकी यही अवस्था इस समय हुई है।

अब आगे हम कुछ शंकाओं का विचार करेंगे।

शंकासमाधान ।

द्वैत, अद्वैत, और त्रैतवाद का विचार ।

(१)

(लेखक- चौ० रामपालसिंह तेवतिया 'रामाचार्य', बी० ए०, एल्० टी, विशारद,
जाट कालेज, लखावटी, बुलन्दशहर, यू० पी०)

लेखक अपने विद्यार्थीकालसे ही द्वैत, अद्वैत, त्रैतवाद की सत्य मीमांसा की तलाश में रहा है। और वेदोपनिषद् तथा षड्दर्शनादि शास्त्रों के अध्ययन से और पाश्चात्य दर्शनशास्त्र तथा आधुनिक पाश्चात्य उन्नत विविध विज्ञानों के अध्ययन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उस के आधार पर लेखक वैदिक द्वैत, अद्वैत, त्रैतवाद की मीमांसा करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक काल के एक वैदिकाचार्य तथा वेदों के पुनरुद्धारक महर्षि ऐसा लिखते हैं कि—

(प्रश्न) यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है वा अन्य से ?

(उत्तर) निमित्तकारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, परन्तु इसका उपादान-कारण प्रकृति है।

(प्रश्न) क्या प्रकृति परमेश्वरने उत्पन्न नहीं की ?

(उत्तर) नहीं, वह अनादि है।

(प्रश्न) कितने पदार्थ अनादि हैं ?

(उत्तर) ईश्वर, जीव और जगत् का (उपादान) कारण ये तीन अनादि हैं।

(प्रश्न) इस में क्या प्रमाण है ?

(उत्तर) द्वा सुपर्णा ... अभिचाकशीति।

(ऋ० १।१६४।२०)

तथा- अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां ... अजोऽन्यः। (श्वेताश्वतरोप० ४।५ तथा नारायणोप० ३।१)

अर्थात्- जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।

(प्रश्न) जगत् के कारण कितने होते हैं ?

(उत्तर) तीन, एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण। इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती है।

(प्रश्न) नवीन वेदान्ती लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण मानते हैं।

(उत्तर) जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान-कारण ब्रह्म होवे, तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त विकारी हो जावे और उपादान कारण के गुणकर्म स्वभाव कार्य में भी आते हैं।

'जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है, उसी को 'जीव' मानता हूं।' 'जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न अर्थात् जैसे आकाशसे मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीवको व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध-युक्त मानता हूं'। 'अनादि पदार्थ तीन हैं, एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं।'

'जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं, वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उन में अनादि है और उस से पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को 'प्रवाहसे अनादि' मानता हूं'।

उपर्युक्त महर्षि अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज सब से अधिक स्पष्ट शब्दों में द्वैत अथवा त्रैतवाद

को वेदों के आधारपर माननेवाले हुये हैं। और वह सब से अधिक ही स्पष्ट शब्दों में अद्वैतवाद के खण्डन करनेवाले हुये हैं। मेरे विचारानुसार हमारे शास्त्रों में स्वतः प्रमाणरूप वेदों से लगाकर पुराणादिकों तक में द्वैताद्वैत-त्रैतवाद आदि अनेक वादपरक प्रमाण भरे पडे हैं। जितने आस्तिक शास्त्र हैं, सब में द्वैत अथवा त्रैतवाद की झलक अधिक भासित होती है और अद्वैतवाद की कम किन्तु पाई जाती है, अद्वैतवाद की झलक भी अवश्य।

अब हम और सब शास्त्रों के प्रमाणोंको छोडकर केवल परम प्रामाणिक वेदसंहिताओं के कुछ मुख्य मुख्य प्रमाण बहुत संक्षेप में अद्वैतवाद और द्वैत अथवा त्रैतवाद के पक्ष-पोषक नीचे लिखते हैं—

अद्वैतवाद के पोषक वेदप्रमाण।

(१) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।
(ऋ० १।१६४।४६ तथा अथर्व० ९।१०।२८)

(२) एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋ० १०।११४।५)

(३) एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति। (वेदे)

(४) एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।
(ऋ० ८।५८।२)

(५) एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति।
(ऋ० ८।५८।२)

(६) न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
स एष एक एकवृतेक एव।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
(अथर्व० १३।४।१६-२१)

(७) यो देवानां नामधा एक एव।
(यजु० १।२१ तथा ऋ० १०।८२।३)

(८) देव एकः। (यजु० १७।१९)

(९) तदेवाग्निः ...तद् ब्रह्म ता आपः
स प्रजापतिः। (यजु० ३२।१)

(१०) एकः। (ऋ० १।५२।१४)

(११) ईशः एकः। (ऋ० १।१००।१)

(१२) पर एकमाहुः। (ऋ० १०।८२।२)

(१३) महद् देवानां असुरत्वं एकम्।
(ऋ० ३।५५।१)

(१४) एक इद् राजा जगतो बभूव।
(ऋ० १०।१२१।३)

(१५) एको बहुनामसि मन्यवीळितो।
(ऋ० १०।८४।४)

(१६) य एक इच्च्यावयति प्र भुमा।
(ऋ० ४।१७।५)

(१७) एको विश्वस्य भुवनस्य राजा।
(ऋ० ३।४६।२)

(१८) एकं नु त्वा . . । (ऋ० ५।३२।११)

(१९) भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
(ऋ० १०।१२१।१)

(२०) ... आसीत् पतिरेकधा। (वेदे)

(२१) एको विश्वस्य भुवनस्य राजा।
(ऋ० ६।३६।४)

(२२) इन्द्रः... (ऋ० ६।२५।५)

(२३) न किर ...। (ऋ० ४।३०।१)

(२४) महान्ता ...। (ऋ० ८।२५।४)

(२५) हिरण्य ...। (ऋ० १।३५।१०)

(२६) सिंहे व्याघ्र ...। (अथर्व० ६।३८।१)

(२७) यस्मिन्सर्वाणि ...। (यजु० ४०।७)

(२८) असत् च यत्र सच्चान्तः।
(अथर्व० १०।७।१०)

(२९) ...अमतिः। मतिः ... (अथर्व० १०।२।१०)

(३०) एकं यदंगं अकृणोत्सहस्रधा।
(अथर्व० १०।७।९)

(३१) एकं तदंगं स्कम्भस्य असद् आहुः परो जनाः। (अथर्व० १०।७।१५)

(३२) यत्र अमृतं च मृत्युश्च। (अथर्व० १०।७।१५)

(३३) अजायमानो बहुधा विजायते।
(अथर्व० १०।८।१३ तथा यजु० ३१।१९)

(३४) पुरुष एवेदं सर्वं ...। (ऋ० १०।९०।२)

(३५) यो देवेष्वधि देव एक आसीत्।
(ऋ० १०।१२१।८)

(३६) अजो भागः ... । (ऋ० १।१६।४ तथा अथर्व० १८।२।८)

(३७) अमृतस्य भागः ... । (ऋ० १।१६४।२१)

(३८) एष ... अंशुभिः । (ऋ० ९।१५।५)

(३९) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।
(ऋ० ६।४७।१८)

(४०) अहं मनुरभवं सूर्यश्च । (ऋ० ४।२६।१)

(४१) यदजः प्रथमं संबभूव । (अथर्व० १०।७।३१)

(४२) विश्वरूपः । (ऋ० ३।३८।४ तथा यजु० ३३।२२)

(४३) योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।
ओ३म् खं ब्रह्म । (यजु० ४०।१७)

ये उपर्युक्त ४३ वेदमन्त्रों के प्रतीक ऐसे हैं कि जिनसे अद्वैतवादी लोग अद्वैतवाद सिद्ध करते हैं, किन्तु द्वैतवादी, अथवा त्रैतवादी लोग इनसे ईश्वैक्यवाद सिद्ध करते हैं अर्थात् वे यह कहते हैं कि इन मन्त्रोंका तात्पर्य यह नहीं, है कि अनादि तत्त्व केवल एक ही है और दूसरा तथा तीसरा अनादि तत्त्व कोई है ही नहीं, किन्तु वे इनका तात्पर्य यह बतलाते हैं कि सर्वोपरि परमेश्वर एक है, कई ईश्वर नहीं हैं। और वह ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि है और संसार का अनादि निमित्तकारण है। इससे अलग अनादि परमाणुरूपा जड प्रकृति संसार का उपादान-कारण और है तथा अनादि अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् असंख्य चेतन जीवात्मायें और हैं। और वे लोग द्वैत तथा त्रैतवाद सिद्ध करने के लिये निम्न वेद-मन्त्र पेश करते हैं।

(१) द्वा सुपर्णा ... । (ऋ० १।१६४।२० तथा अथर्व ९।९।२०)

(२) बालादेकमणीयस्कं ... । (अथर्व० १०।८।२५)

(३) यस्मिन्वृक्षे ... । (ऋ० १।१६४।२२ तथा अथर्व० ९।९।२१)

(४) उद्वयं तमसस्परि । ... (ऋ० १।५०।१० तथा यजु० ३५।१४)

(५) यो विद्यात् सूत्रं विततं ।
(अथर्व० १०।८।३७-३८)

(६) अजः ... । (अथर्व० ९।५।७)

*

(७) अजाऽरे ... । (यजु० २३।५६)

(८) आनीदवातं स्वधया तदेकं ... ।
(ऋ० १०।१२९।२)

(९) अजोऽस्यज ... । (अथर्व ९।५।१६)

(१०) अप्सु इतीमासु ... । (अथर्व० ११।८।३४)

(११) अनच्छये... सयोनिः । (ऋ० १।१६४।३०)

(१२) वायुरनिलं ... कृतं स्मर । (यजु० ४०।१५)

(१३) अध्यचसश्च कृणमहे । (अथर्व० १९।६८।१)

उपर्युक्त इत्यादि बहुतसे मन्त्र पेश किये जाते हैं, जो द्वैत तथा त्रैतवाद पोषक बताए जाते हैं। और यह बात है भी बिल्कुल सच कि इन मन्त्रों में स्पष्टतया द्वैत तथा त्रैतवाद का प्रतिपादन है। किन्तु अद्वैतवादियों का कहना यह है कि यह व्यावहारिक दुनिया की बात है, व्यवहारकालमें अवश्य त्रैत है, किन्तु यह त्रैत कार्य अवस्थामें होने के कारण केवल प्रवाह नित्य है और पारमार्थिक विचारसे कारण अवस्था में एक ही नित्य पदार्थ ब्रह्म है। जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्था में तो द्वैत का भान रहता ही है और सुषुप्ति समाधि में अद्वैत का भान होता है। किन्तु फिर भी पूछनेवाले पूछते ही हैं कि, वस्तुतः परम सत् अनादि पदार्थ कितने हैं ? तो उत्तर में कहना यही चाहिये कि परम सत् अनादि पदार्थ तो केवल ब्रह्म ही है। कारणभाव से एक ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है। कार्यभाव से दो ब्रह्म व्यावहारिक सत्तायें हैं, जो कि सापेक्ष नित्य हैं। ज्ञान-अज्ञान (चेतना, जडता), सुख-दुख (स्वर्ग, नरक), बन्धन-मोक्ष (परतन्त्रता, स्वतन्त्रता) इत्यादि यहांतक की भाव, अभाव भी सब सापेक्ष भाव हैं। इनमें पारमार्थिक अवस्था में कोई विरोध नहीं है, केवल व्यावहारिक कालमें विरोधाभास है। हमारे विचारसे भी वेदों में त्रैतवाद स्पष्ट है, किन्तु उसका तात्पर्य केवल व्यवहारकाल की कार्यावस्था की सत्ताओं से है और परमार्थ में वेदों का तात्पर्य भी केवल एक परम सत्ता ब्रह्म से है।

ब्रह्मके अन्तर्गत सत्-असत्, मति-अमति, मृत्यु-अमृत्यु, जड प्रकृतिभाव, चेतन जीवभाव, सर्वज्ञ ईश्वरभाव, इत्यादि सब आ जाते हैं। ब्रह्म शब्द स्वयं भी ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों का वाचक वेदोंमें आता है। प्रकृतिको ब्रह्म का अंग वेदने माना है। जीवको ब्रह्म का अज भाग,

अंश वेदने प्रत्यक्ष माना है। ब्रह्म अंशी है और जीव, प्रकृति ब्रह्म ही के सापेक्ष नित्य अंश हैं। ये विचार वेदों के उपर्युक्त अद्वैतवादपरक मन्त्रों के अन्दर पाये जाते हैं। व्यवहारकाल में सदाचार का निभाव त्रैतवाद से ही होता है, पर सदाचार भी तो साक्षेप ही है। वेदोंका मुख्य वाद तो एकत्ववाद ही प्रतीत होता है, जिसे प्रायः ब्रह्मवाद कहा जाता है, जिससे अनेकानेक प्रकार के अद्वैतवाद निकले हैं। और द्वैतवाद, त्रैतवाद, सर्वभाववाद, अनन्यभाववाद, तथा विशिष्टाद्वैतवाद इत्यादि वाद वेदोंमें गौण वाद हैं। अतः वेदोंमें द्वैताद्वैतत्रैतवाद का प्रतिपादन है और 'ब्रह्माद्वैतवाद' मुख्य है। इत्योमलम्॥

(२)

(ले०- श्री० धर्मपालसिंह तेवतिया, विद्यार्थी कक्षा १२ जाट कालेज, लखावटी, बुलन्दशहर)

आपके अगस्त १८३९ के 'वैदिक धर्म' के अन्तर्गत आपके स्वलिखित सप्तम लेख 'ईश्वर का साक्षात्कार' के अन्तर्गत ईश्वर साक्षात्कार के विषय में शंका के संपादकीय उत्तर से यह सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि, आप ब्रह्माद्वैतवाद को वेदानुकूल मानते हैं, जो एक प्रकार से अनादि त्र्यैक्यवाद है, जो असम्भव प्रतीत होता है। जब ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों अज अर्थात् अनादि हैं, तो तीनों एक ब्रह्मभावको कैसे प्राप्त हो सकते हैं? यदि हो सकते हैं, तो अनादि न रहे सादि हुए और ईश्वर, जीव परिणामी भी हुए तथा ब्रह्म संसार का अभिन्न निमित्तोपादान-कारण हुआ, जो वेदादिशास्त्रविरुद्ध है। क्या आप ऋषि दयानन्द प्रतिपादित अनादि त्रय को वैदिक नहीं समझते? अतः आप कृपया ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनोंके सादित्वानादित्वविषयक मेरी शंका का पूर्ण रूपेण व्याख्या करके समाधान 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित कर दीजिये। और निम्नांकित त्रैतवादी प्रमाणोंमें तीनों के अनादित्व का खंडनमंडनात्मक उत्तर दीजिये।

१. द्वा सुपर्णा ...। (ऋ० १।१६४।२०)
२. यद्‌जः प्रथम ...। (अथर्व० १०।७।३१)
३. अज एकपात् ...। (यजु० ३४।५३)
४. अजोऽग्निरजम् ...। (अथर्व० ९।५।१)
५. अजोऽह्यज ...। (अथर्व० ९।५।१६)
६. अजाऽरे ...। (यजु० २३।५६)
७. अजामेकां ...। (श्वेताश्वतरोप० ४।५)
८. ज्ञाज्ञौ द्वावजौ ...। (,, १।९)
९. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (गीता० १३।१९)

१०. प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्। (सांख्यद० ५।७२)

११. जडेशयोर्जडानां...। (गरुडपुराण ३।५६)

इत्यादि अनेकशः प्रमाणों से सिद्ध है कि, ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों भिन्नस्वरूप अनादि हैं। तीनोंमें नित्य परस्पर भेद है। फिर आप तीनोंका एकीकरण क्यों करते हैं? उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध तीनों के अनादित्व का सतर्क सोदाहरण वेद-प्रमाण से खंडन कीजियेगा। इत्योमलम्।

उपर्युक्त सम्पूर्ण शंकाओं को उनके समाधानों सहित आगामी वैदिक धर्म में प्रकाशित करनेकी कृपा कीजियेगा। मैं अति कृतज्ञ हूंगा।

(३)

(ले०- श्री० नारायणसिंहजी, बांसीग्राम)

निवेदन है कि मेरी शंकाओं के समाधान में जो वै० ध० अक्टूबर १९३९ के सफा ६८२ से ६८५ तक आपने अपना अमूल्य समय दिया है, उसके लिये मैं श्रीमान् का मै कृतज्ञ हूँ। मैं यह भली भांति जानता हूं कि श्रीमान् का समय तथा वैदिक धर्म के सफे बहुत मूल्यवान् हैं, पर किया क्या जावे? छोटों का लाभ भी तो बडों की अनुग्रह ही से होता है।

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय शंकाओं के समाधान में कुछ

शंकायें हैं । आशा तथा नम्र निवेदन है कि श्रीमानजी कृपया समाधान करने की अनुग्रह करेंगे । पहिली शंका के समाधान में श्रीमानजी लिखते हैं-"ईश्वररूपी एकही सत् वस्तु के जड-चेतन, क्षर-अक्षर, प्रकृति-पुरुष ये दो भाव समझाने के लिये माने हैं । वस्तुतः सब मिलकर एकही वस्तु सत् 'एकं सत्' है ।

(शंका) यह समझमें नहीं आता कि जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष इ० ये दो भाव किसके समझाने के लिये किसने माने हैं और इस समझने समझाने का प्रयोजन (आवश्यकता) क्या है ? बिना कारण के कार्य कैसा ?

(२) "प्रकृति ईश्वर का शरीरही है" (शंका) यह प्रत्यक्ष है कि जब मनुष्य का आत्मा (चैतन्य सत्ता) इस पंच भौतिक शरीर को छोड देता है तब शरीर अचेत हो जाता है और वह जडता के कारण शीघ्रही जला के पंच तत्व के विलग विलग रूपों में परिवर्तित हो जाता है । जब इसी प्रकार 'चिद्‌स्वरूप' ईश्वर का शरीर है, तब तो जड और चैतन्य दो सत्ता स्वयंसिद्ध हो जाती हैं। बिना शरीरी के शरीर कैसा और बिना शरीर के शरीरी कैसा ? शरीर और शरीरी दो द्रव्य अनिवार्य हैं । ईश्वर जीव तथा प्रकृति की नित्यता यह रचना अपने तीन नियमों से नित्य दर्शाती रहती है ।

प्रथम यह कि इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ नियमपूर्वक परिवर्तनशील है । दूसरा यह कि प्रत्येक जाति के प्राणी अपनी जाति के ही अन्दर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट स्वभाव से पैदा होते हैं । और तीसरा यह कि इस विशाल सृष्टिमें जो कुछ कार्य हो रहा है, वह सब नियमित, बुद्धि-पूर्वक और आवश्यक है ।

(१) इस सृष्टि में जो नित्य प्रति परिवर्तन हो रहा है, वह सृष्टि का स्वाभाविक गुण नहीं है, क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता । परिवर्तन या अस्थिरता गुण नैमित्तिक होते हैं, स्वाभाविक नहीं । स्वाभाविक गुण का तो अपने द्रव्य के साथ समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है । यदि प्रकृति का स्वाभाविक गुण परिवर्तन मान लिया जावे, तो सृष्टि की उत्पत्ति असंभव हो जावे । पर सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ बनते बिघडते सदा देखे जाते हैं, इस लिये सृष्टि का परिवर्तन नैमित्तकही प्रतीत होता है ।

संसार का चाहे जो पदार्थ लीजिये, वह झुक जायगा, टेढा हो जायगा, टूट जायगा । यहां तक कि बिजली और ईथर भी टूट जाता है । इससे सिद्ध होता है कि समस्त संसार छोटे छोटे परमाणुओं से ही बना है । यही कारण है कि वह सदा परिवर्तित होता रहता है । इन परमाणुओं का जड होना यों सिद्ध होता है कि यदि ये ज्ञानवान् होते तो नियमपूर्वक काम न करते, क्योंकि चेतन और ज्ञान-वान दूसरे के बनाये नियमों में बंध नहीं सकते, किन्तु बाधा पहुंचाते हैं । इसी जड परिवर्तनशील परमाणुरूप उपादान-कारण को प्रकृति कहते हैं और यह संसार के कारणों में से एक समझा जाता है । सृष्टि का दूसरा नियम प्राणियों के उत्तम और निकृष्ट स्वभावका है । मनुष्य, पशु, पक्षी, इत्यादि प्रत्येक जाति के प्रत्येक प्राणियों में विषमता पाई जाती है, अर्थात् कोई प्राणी सीधे साधे और कोई क्रूर होते हैं ।

यह स्वभावविरोध शारीरिक अर्थात् भौतिक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक है, जो चैतन्य, बुद्धि और ज्ञान से सम्बन्ध रखता है । साथ ही यह भी देखा जाता है कि, यह ज्ञान प्राणियों के सारे शरीर में व्याप्त नहीं है, क्योंकि शरीर के किसी अंग (हाथ, पांव, टांग इ०) के कट जाने से ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं आती । इससे सिद्ध होता है कि, ज्ञानवाली शक्ति एक देशी, परिच्छिन्न और अणुरूप है, जो कि हाथी चींवटी तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमियों के शरीर में समान रूप से है । यह ज्ञानवान् तत्त्व अज्ञानी परमाणुओं के योग से नहीं बन सकता, क्योंकि अज्ञान का योग अज्ञान ही हो सकता है । इसलिये यह स्वयंसिद्ध असंयुक्त अणु और ज्ञानवान् वस्तु है और वह शक्ति असंख्य है, क्योंकि बम्बई के एक मनुष्य के कार्यक्रम का अनुभव सुलतान-पुरके एक मनुष्य को लेते देखा नहीं जाता । इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में एक अणु, परिच्छिन्न और ज्ञानवान् सत्ता विद्यमान है, इसीको जीव कहते हैं, जो सृष्टि का दूसरा कारण है ।

सृष्टि का तीसरा नियम यह है कि, इस रचना के प्रत्येक पदार्थ नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक हैं । इसके प्रत्यक्ष प्रमाण सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, उपग्रह

ऋतु, मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्ष इत्यादि उपस्थित हैं, जिनमें सदा व्यवस्था, नियम, प्रबंध और उपयोगिता चमक रही है। इन चमत्कारिक नियमों से सूचित होता है कि, इस रचना के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म, सर्व-व्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानरूप चेतनशक्ति विद्यमान है। क्योंकि नियम विना नियामक के नियामक विना ज्ञान के और ज्ञान विना ज्ञानी के, ठहर नहीं सकता। इसीको परमात्मा तथा सृष्टि का तीसरा कारण कहते हैं। इस तरह सृष्टि के तीनों नियमों से सृष्टि के तीनों अनादि कारणों का पता लगता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में प्रश्न होता है कि, " किं कारणं ब्रह्म ? " कारण ब्रह्म क्या है ? इसका उत्तर इसी अध्याय के नवें तथा बारहवें मन्त्र के अन्त में " त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् " यह तीनों (अजा= प्रकृति, अनीशा=जीव, ईश=परमात्मा) मिलके तीन कारण-ब्रह्म हैं।

" भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं,
त्रिविधं ब्रह्ममेतत् "

जीवात्मा, प्रकृति और नियन्ता यह सब तीन प्रकार का ब्रह्मसम्बन्धी कारण-त्रय है।

श्रीमानजीने द्वैत और अद्वैत के विषय में यह समाधान किया है कि, " समाधि-सुषुप्ति,-मुक्तिषु ब्रह्मरूपता " इस ब्रह्मरूपता में एकता का ही अनुभव है।

(शं०) पर इससे द्वैतता का विरोध कहां होता है ? क्योंकि जिस समय जीव इन अवस्थाओं में होता है, स्थूल, सूक्ष्म शरीरों से विलग रहने के कारण उन शरीरों के विषय का ज्ञान कैसे हो और उस समय रचना के ज्ञान की उसको आवश्यकता नहीं रहती, पर रचना के सब पदार्थ उस समय भी पूर्ववत् उपस्थित रहते हैं, किसीका लय या अभाव नहीं हो जाता। मुक्त पुरुष अनन्यता और तल्लीनता के कारण ब्रह्महो को सर्वत्र दीखता और मुक्ति का आनन्द लेता है, अब उसे संसार से क्या प्रयोजन ?

संसार में भी देखा जाता है कि, एक सडक के किनारे एक दर्जी एकाग्रता के साथ बैठा हुआ कपडा सी रहा है, उसी के पास एक अन्धा भी बैठा है। थोडी देर में सडक परसे एक घोडा खटाखट की आवाज करता चला जाता है, जब कुछ देर में एक आदमी आकर उस दर्जी से पूछता है कि, भाई, इधर से कोई घोडा गया है ? दर्जी जवाब देता है कि, हमने नहीं देखा, उसी समय वह पास बैठा अन्धा झट बोल उठता है कि हां, अभी थोडी देर हुई सडक पर से एक घोडा गया है, मैंने उसके टापों की आवाज सुनी है। जब एकाग्रता की यह दशा है तो भला निरुद्धता में यदि रचना का कुछ ज्ञान न होकर ब्रह्महो में अनन्यता और तल्लीनता के कारण " एकं सत् " कहे या माने जाते, तो क्या इससे जीव और प्रकृति का अन्य सब के लिये अभाव हो जावेगा ? पर. यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि सदा मुक्ति में कुछ न कुछ जीव रहते ही होंगे।

हां, यदि इस प्रकार समझा जावे कि परमात्मा सदा एक-रस रहता है, इससे (' एकं सत् ') है तथा जीव अपने कर्मानुसार अनेक योनियों, अवस्थाओं, सुखदुःख, बंध-मोक्ष को प्राप्त करता रहता है, इसी प्रकार प्रकृति अनेक रूपोंमें परिवर्तित होती रहती है। इन भावोंसे व्यवहार-दृष्टि से (ब्रह्म के मुकाबिलेमें) सत् न कह कर यदि इनको असत् कह दिया जावे, तो कोई हानि भी प्रतीत नहीं होती।

पर वास्तवमें तो स्वरूपसे तीनों अनादि ही हैं, क्योंकि भाव सत् ही का हो सकता है, असत् का नहीं। और समाधानमें जो यह कहा गया है कि ' वास्तवमें कोई किसी का रूप धारण नहीं करता '। यह भी प्रत्यक्ष के प्रतिकूल ही कहा जाता है, क्योंकि रचनाके हरएक पदार्थ में उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का क्रम नित्य प्रति दृष्टि-गोचर होता रहता है और यदि यह कहा जावे कि यह सब परिवर्तन भ्रमसे प्रतीत होता है, तो आखिर भ्रमही किसीको और क्यों होता है। समाधान के अन्तमें इस पर भी जोर दिया गया है कि "व्यक्त मन से द्वैत का और गूढ मन से अद्वैत का अनुभव होता है। " तो क्या जिस समय एक मनुष्य व्यक्त मन से काम लेता है, उस समय अद्वैत का अभाव उसके तथा संसार और

लोकलोकांतरों के मनुष्यों के लिये हो जाता है, इसी प्रकार जिस समय वही मनुष्य गूढ मनसे काम लेता है, उस समय द्वैत का अभाव सबके लिये हो जाता है, पर ऐसा व्यवहार नित्य देखने में नहीं आता। जब से संसार की रचना प्रभु ने की है, संसार अपने नियमानुसार चल रहा है, उसके नियममें किंचित् परिवर्तन नहीं देखा जाता, तो ऐसी दशामें कैसे कहा जा सकता है कि, संसार का भाव-अभाव क्षण क्षण में होता रहता है?

श्रीमानजी के द्वैत अद्वैत के समाधानमें मुझे यही निवेदन या शंका है, इसमें श्रीमान् के विचारसे जो कुछ त्रुटि प्रतीत हो, उसके समाधान की कृपा कीजिये।

शमित्योम्।

संपादकीय उत्तर।

'ईश्वरसाक्षात्कार' लेख के विषय में ये शंकाएं पाठकों की ओर से आ गयीं हैं। यों तो बहुतही पाठक इस तरह की शंकाएं लिखते रहे हैं, परन्तु सबके पत्र हम मुद्रित नहीं करते। जिनमें कुछ वेदमंत्रों के आधारपर शंकाएं उठाई होती हैं, वेही पत्र हम मुद्रित करते हैं। तथापि इन तीन पत्रोंमें लिखी शंकाओंमें सब की शंकाएं उपस्थित हुई हैं, इसलिये ये पत्र जैसे आये वैसेहि यहां पाठकोंके सन्मुख रख दिये हैं।

श्री रामपालसिंहजी तथा श्री धर्मपालसिंहजी के क्रमशः प्रथम और द्वितीय पत्रमें वेदके कई मंत्र उपस्थित किये हैं और उन मंत्रोंसे अद्वैत, द्वैत और त्रैतवाद सिद्ध होता है, ऐसा लिखा है।

अद्वैत, द्वैत और त्रैतवाद।

वस्तुतः शास्त्रीय अर्थात् दार्शनिक दृष्टिसे अद्वैत या द्वैत हे दोही वाद हो सकते हैं। त्रैतवाद द्वैतवाद के अन्दर समाविष्ट हो जाता है। एक वस्तु माननेवाले अद्वैती, दो पदार्थ माननेवाले द्वैती और तीन पदार्थ माननेवाले त्रैती, ऐसा आजतक किसीने माना नहीं है। जो द्वैती कहे जाते हैं, वे दो, तीन, चार, पांच, छे, सात, आठ, नौ या इससे भी अधिक पदार्थ मानते हैं। इन सबका समावेश 'द्वैतवाद' में हि होता है। किसी दर्शनकारने इस समय तक 'त्रैत' शब्द नहीं घडा था, जो दार्शनिक बुद्धि न रखनेवालोंने आजकल नया बनाया है। आज-कल इसका बहुत प्रयोग किया जा रहा है, पर यह अशास्त्रीय अदार्शनिक अपप्रयोग है। अतः जो द्वैती नहीं, एक वस्तु को मानते हैं, वे अद्वैती हैं और जो एकसे अधिक पदार्थों को मानते हैं, वे द्वैती हैं, चाहे वे कितने ही पदार्थ क्यों न मानते हों।

अद्वैती और निर्द्वन्द्वी।

हां, एक और दार्शनिक बात है, वह यह कि अद्वैतियों को 'निर्द्वन्द्व' भी कहा जाता है। अद्वैत और निर्द्वन्द्व शब्द में कौनसा अधिक शास्त्रीय है, इसका निर्णय करनेके लिये पूना के एक विद्वान् ने ६०० पृष्ठोंका ग्रन्थ भी लिख मारा है (देखो श्री शंकरराव राजवाडेजी का नासदीय सूक्त)। परन्तु इतना बडा ग्रन्थ लिखनेपर भी अद्वैत और निर्द्वन्द्व शब्दों की व्यवस्था निःसन्देह सिद्ध हुई, ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अद्वैत शब्दके पक्षमें भी दूसरे एक विद्वान्ने वैसाही बडा ग्रन्थ लिखा है (देखो श्री स्वामी केवलानन्द सरस्वतीजी का निर्द्वन्द्वमीमांसा ग्रन्थ)।

इस तरह यह जटिल समस्या है। इसमें इस समय प्रवेश न करते हुए हम यहां अद्वैतवाद और द्वैतवाद ये दोही शब्द प्रयुक्त करना चाहते हैं। द्वैतवाद में दो से अधिक पदार्थ माननेवालोंका समावेश होता है, ऐसा पाठक समझें। दर्शनों में षट्पदार्थवादी, सप्तपदार्थवादी, आदि अनेक पक्ष हैं और अद्वैती भी प्रतिपादनके समय में अनेक पदार्थवाद मानतेहि हैं। इस विवाद में हम पडना नहीं चाहते। अपना विषय सुबोध करने के लिये हम इस प्रतिपादन में 'द्वैत-अद्वैत' ये दो ही शब्द प्रयुक्त करेंगे। त्रैतोंका समावेश 'द्वैत' में होगा। वेद तो द्वैत अद्वैत ये शब्दप्रयोग नहीं करता, वेद तो 'एकं सत्' कहता है, अतः वेदका 'सदैक्यवाद' कहा जा सकता है।

हमारा पक्ष।

हमारा पक्ष अद्वैत, द्वैत आदि नहीं है। हमारा पक्ष जो वेदने बताया है वही है। और वेदने 'एकं सत्' कहा है, इसलिए हमारे पक्ष का नाम 'एकत्ववाद' या 'एकं-सत्-वाद' अथवा 'सदैक्यवाद' हो सकता है। हम स्वयं अपने आपको अद्वैत वा द्वैत इन वादों की सिद्धता दार्शनिक रीतिसे करके प्रतिपक्षीको निरुत्तर करने में समर्थ नहीं मानते। 'ईश्वरसाक्षात्कार' की लेख-माला लिखनेका हमारा हेतु यही है कि, वेदका इस विषयके संबन्ध का कहना पाठकोंके सन्मुख उपस्थित किया जाय। वेदका सिद्धान्त जो वेदमन्त्रों में है, वह बतानेका हमारा प्रयत्न है। उसकी सिद्धता करना यह हमारा कार्य नहीं है।

वेदकी आज्ञा राजाज्ञा के समान है, वह माननीहि चाहिये। दर्शनग्रंथ तब उत्पन्न हुए, जब नास्तिक मत प्रचलित हुए थे और वेदमत के विषयमें संदेह फैलना प्रारम्भ हुआ था। उस कालसे पूर्वके कालमें वेदकी आज्ञा मानी जाती थी, उस पर शंका उपस्थित नहीं की जाती थी। दर्शनों पर विवाद हो सकता है, परन्तु स्वतःप्रमाण वेद की आज्ञा मानी हि जाती है।

वेदका मत।

अब प्रश्न हुआ है कि, वेद द्वैतका प्रतिपादन करता है अथवा अद्वैत का ? वेद सत्य सनातन एक वस्तु मानता है या अनेक अनादि पदार्थ मानता है ? इस विषयमें वेदके प्रमाण उक्त पत्रोंके लेखकोंने पर्याप्त संख्यामें उपस्थित किये हैं। इनसे अधिक प्रमाण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। पर यहां मंत्रोंकी अधिक संख्या उपस्थित करनेसे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। वेदमन्त्रोंको किस प्रकार किस रीतिसे समझना है, यही यहां मुख्य प्रश्न है।

पूर्वोक्त स्थानमें जो मन्त्र उपस्थित किये हैं, उनसे अद्वैत और द्वैत ये दोनों पक्ष सिद्ध होते हैं, ऐसा उक्त लेखकोंने अपने पत्रों में स्पष्ट लिख दिया है। क्या इससे वेदमें दोनों पक्षों का प्रतिपादन किया है, ऐसा मानना चाहिये ? या इसमें कुछ समझने समझाने की विशेष युक्ति है ?

तीनोंका विन्दन [संमीलन]।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह बात समझाने का यत्न किया है, वहां कहा है कि—

त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। (श्वे. उ.)

' ये तीनों-अर्थात् ईश्वर-जीव-प्रकृति ये तीनों- जब मिल जाती हैं, तब उस मीलनसे बननेवाली वस्तु को 'ब्रह्म' कहते हैं।'' यह ब्रह्मकी व्याख्या स्पष्ट बताती है कि, इस ब्रह्ममें ईश्वर-जीव-प्रकृति का विन्दन या मीलन होता है। यह मीलन कैसा है, यह देखना चाहिये। यजुर्वेदमें भी इस मीलन का निर्देश है—

मीलन न होनेकी अवस्था।

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।

मीलनकी अवस्था।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(वा. यजु० ४०)

इन दो मंत्रोंमें पहिली अमीलन की अवस्था पहिले मंत्रमें कही है और दूसरे मंत्रमें संमीलन की अवस्था कही है।

मीलन न होनेकी अवस्थामें-(१) आत्मामें सब भूत हैं और सब भूतोंमें आत्मा है, इस द्वैत का अनुभव होता है।

तथा मीलन होनेकी अवस्थामें (२) सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं !!! यह अद्वैत की अवस्था है।

उक्त मंत्रोंमें ये दोनों अनुभव कहे हैं। पहिला अनुभव 'आत्मा और भूत' इनकी पृथक् सत्ता होने का है और दूसरे मंत्रमें कहा अनुभव 'भूत ही आत्मा होने' का, आत्मैक्य का, अद्वैत का अनुभव है।

एकही यजुर्वेदमें, एकही अध्यायमें ये दोनों मन्त्र बिलकुल साथ साथ आये हैं। इसलिये इनमें कुछ समझने समझाने की बात अवश्य है। अन्यथा एक बार भूत और आत्माकी पृथक् सत्ता कह कर उसके आगेके मन्त्रमें ही आत्मा और

भूतों की एकता का वर्णन करना मूर्ख प्रलाप जैसा ही माना जायगा। यह समस्या यदि ध्यान में आ जायगी, तो ईश-जीव-प्रकृति के पृथक्त्व के माने क्या हैं और उनके एकत्व का अर्थ क्या है, इसका ज्ञान यथार्थ हो सकता है।

वेद में द्वैत और अद्वैत के मन्त्र पर्याप्त हैं। परन्तु क्या यह भ्रम फैलाने के लिये वेदने ऐसा उपदेश किया है? कदापि नहीं। वेदने परस्परविरुद्ध उपदेश नहीं किया है। समझने न समझने के कारणहि यह वाद उत्पन्न हुआ है और यथार्थ बोध न होनेके कारण हि ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं।

यहां कई कहेंगे कि यदि द्वैतपरक मन्त्र भी वेदमें हैं और अद्वैतपरक भी, तो दोनों पक्ष वेदमें हैं ऐसा माना जा सकता है। नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेद में ऐसे कई मन्त्र हैं कि, जो वैदिक सिद्धान्त को स्पष्टतया दर्शानेवाले कहे जा सकते हैं, जैसा—

पुरुष एव इदं सर्वम्

यद् भूतं यच्च भव्यम्। (ऋ० १०।९०।२)

(पुरुषः एव) ईश्वर हि (इदं सर्वं) यह सब है। (यत्) जो (भूतं) भूतकाल में बना था और (यत् च भव्यं) जो भविष्य कालमें बननेवाला है।

भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जो विश्व बना था, बना है और बनेगा, वह सब (पुरुषः एव) ईश्वर ही है, पुरुष ही है, आत्माही है।

यह मंत्र निःसंदेह 'विश्वको नारायणरूप दर्शाता है।' शब्दोंको बिगाडनेके विना इसका कोई दूसरा अर्थ हो नहीं सकता। अर्थात् "ईश्वरही यह सब (विश्व) है" यह वेद का सिद्धान्त है। इसी तरह सिद्धान्त दर्शानेवाले और भी अनेक मंत्र हैं, देखिये—

१. एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्। (ऋ० ८।५८।२)

२. स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वत्
यत्प्राणन्निमिषच्च यत्॥ (अथर्व० १०।८।२)

३. एकं यदङ्गं अकृणोत्सहस्रधा।
(अथर्व० १०।७।९)

४. प्रजापतिर्बहुधा विजायते। (अथर्व० १०।८।१३)

(१) एक ही (इदं सर्वं वि बभूव) यह सब हो गया है। (२) (स्कम्भः) सर्वाधार ईश्वरहि (इदं सर्वं) यह सब है, जो (आत्मन्वत्) आत्मावाला है तथा जो (प्राणत्) जीव धारण करता है और (निमिषत्) आंखोंकी पलकें हिलाता है। (३) (एकं अगं) अपने एक ही अंश, अंग या भागको उसने (सहस्रधा अकृणोत्) सहस्र प्रकारसे किया है। (४) प्रजापति हि (बहुधा) बहुत प्रकारसे (वि जायते) विशेष रीतिसे होता है।

इन वचनोंमें "एकहि वस्तु अनेक प्रकारसें विविध रूपोंमें प्रकट हुई है।" ऐसा स्पष्ट कहा है। इन वचनोंमें कोई किसी को कदापि संदेह नहीं हो सकता। क्योंकि ये स्पष्ट सिद्धान्तवचन हैं।

एकं वा इदं विबभूव सर्वम्। (अथर्ववेद)
पुरुष एवेदं सर्वम्। (ऋग्वेद)

'एक ही वस्तु सब कुछ बनी है। पुरुष ही सब कुछ बना है।' क्या इन वचनों के अर्थों के विषयमें कभी किसीको संदेह हो सकता है? 'द्वा सुपर्णा' आदि मंत्रोंके विषयमें कुछ संदेह होगा तो होगा, परन्तु 'एकं वै सर्वं बभूव' = एक ही तत्त्व सब बना है, इसमें क्या संदेह हो सकता है?

मुख्य प्रश्न।

प्रकृति-पुरुष-ईश्वर इन तीन वस्तुओंकी सनातन और पृथक् सत्ता है अथवा एकही वस्तु के ये तीन भाव हैं? यह मुख्य प्रश्न यहां है।

वेदमें 'एकहि वस्तु यह सब बनी है,' ऐसा जहां कहा है, वही सिद्धान्त है, अन्यथा द्वैत और अद्वैत के वाक्यों का मेल कदापि हो ही नहीं सकता। देखिये-

१. वस्तु एक ही है (एकं सत्),

२. एक वस्तु ही अनेक बनी है (एकं सर्वं बभूव अथवा एकोऽहं, बहु स्याम्)

इन दोनों वाक्यों की संगति वैदिक रीतिसे ही हो सकती है। अद्वैतपरक वाक्य, एकत्वदर्शक वाक्य प्रथम उपदेश के बोधक और द्वैतपरक वाक्य द्वितीय उपदेश के बोधक हैं। इसीलिये वेदका सिद्धान्त 'मूल वस्तु एक ही है (एकं सत्)' यही है। यहां प्रश्न हो सकता

है कि एक के अनेक किस तरह होते हैं और अनेकों का लय एकत्व में भी किस तरह हो सकता है? इसका अब विचार करेंगे।

द्वैत और अद्वैत में कोई भेद नहीं है।

द्वैत और अद्वैत माननेपर भी मूल वस्तु में कोई भेद नहीं होता। सब पाठक यदि इस वैदिक तत्त्वको समझेंगे, तब तो द्वैताद्वैतका झगडा एकदम मिट जायगा और कोई सन्देहहि नहीं रहेगा। द्वैत और अद्वैत एकही वस्तु के दो पहलुओं से देखे दो रूप हैं। यह पढकर पाठक बहुत घबरायेंगे, परन्तु वे इसका इस तरह विचार करें—

खांडका ढेला सामने रखिये, खांडका टुकडा अपने सामने केवल एकही रखिये। दो तीन न रखना। उसको देखते रहिये और निम्नलिखित प्रकार प्रश्न करिये और स्वयं उत्तर दीजिये—

(१) प्रश्न- आंख क्या देख रही है?

उत्तर- एक ढेला, अथवा एक गोल पदार्थ। (इस में विचार की बात यह है कि आंखने केवल आकार और रंग का ग्रहण किया है।)

(२) प्रश्न- हाथ लगाकर देखो, क्या अनुभव आता है?

उत्तर- कठिनता और आकार (गोलाई, मोटाई आदि। यहां स्मरण रहे कि जैसा आंख मीठासको नहीं जान सकती उसी तरह हाथ-स्पर्शेन्द्रिय भी नहीं जान सकती।)

(३) प्रश्न- नाकसे क्या अनुभव आता है?

उत्तर- कुछ होगा तो सुगंध आवेगा, (क्योंकि नाक तो अन्य अनुभव ले नहीं सकता, परन्तु खांडमें बहुत सुगंध भी नहीं होता।)

(४) प्रश्न- कानसे क्या अनुभव आता है?

उत्तर- कुछ भी नहीं, (परन्तु किसीके साथ ढेला टकरानेपर शब्द सुनाई देगा।)

(५) प्रश्न- जिह्वाने क्या अनुभव किया?

उत्तर- (ढेलेका थोडासा टुकडा जिह्वापर रखते ही) मीठास का अनुभव आता है।

पांच इंद्रियोंसे ये पांच अनुभव आये। अपने विवरण के लिये इनमेंसे मीठास ही लीजिये। ढेले के स्थूलत्व का एक अनुभव है, जिह्वाके द्वारा मिला मीठास का अनुभव दूसरा है, ये दोनों अनुभव विभिन्न हैं। ये परस्पर-विभिन्न हैं और कभी इन दोनों की एकता नहीं हो सकती। ढेले का ढेलेपन, तथा ऊंचाई-मोटाई-चवडाईसे बताई जानेवाली स्थूलता मीठाससे सर्वथा भिन्न है और मीठास इस स्थूलत्वसे भिन्न है। एकही वस्तुके ये दो बिलकुल विभिन्न भाव हैं। इनकी भिन्नता प्रत्यक्ष भी होती है। हरएक को यह भिन्नता प्रत्यक्षहि है।

परन्तु ढेलेपन और मीठास ये एकही वस्तुके दो भाव हैं, इसमें भी किसीको कोई संदेह नहीं है। 'खांड' नाम की एक ही वस्तु है, उसीका एक स्थूल भाव ढेलेकी शकलमें हमारे आंखके सन्मुख है और उसी वस्तुका दूसरा भाव मीठास की शकलमें हमारे जिह्वासे अनुभव में आनेवाला है। अर्थात् यहां वस्तुके तीन भाव हमारे सामने आ गये हैं- एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म और तीसरा इन दोनोंके मीलनसे उत्पन्न होनेवाला पूर्ण वस्तुके रूपमें- 'खांड' के रूपमें।

वस्तु एकही है, परन्तु उसके तीन विभिन्न भाव हमारे दृष्टिकोन के कारण हमारे अनुभवमें आ गये हैं। जैसा—

ढेला }
मीठास } = खांड

खांड के दो रूप हैं- एक स्थूल ढेलेके रूपमें आंख का तथा त्वगिन्द्रिय का विषय होनेवाला स्थूल रूप है और दूसरा जो कभी आंखका विषय नहीं हो सकता और न स्पर्श का विषय हो सकता है, परन्तु जो केवल जिह्वासे जाना जाता है, वह मीठास के रूपमें अनुभूत होता है। क्या पाठक ढेला और मीठास इन दो पदार्थों का स्वतंत्र अनुभव नहीं करते हैं? अवश्य करते हैं, तथा वह भी जानते हैं कि, ढेला कभी मीठास नहीं है और न मीठास कभी ढेला मानी जा सकती है, अर्थात् इन दोनोंकी एक दूसरेसे पृथक् सत्ता सब कोई मानते ही हैं। पर क्या कभी केवल मीठास रहित ढेला एक बोतलमें और केवल मीठास दूसरी बोतलमें रखना संभव है? कभी नहीं, क्योंकि ये दो पदार्थ मनुष्यकी कल्पनानेहि माने हैं, वे दो पृथक्

वस्तुएँ नहीं हैं। ये एकहि 'खांड' संज्ञक वस्तुके दो रूप हैं, इसलिये न ये कभी खांडसे पृथक् हो सकते हैं और न स्वयं कभी एक दूसरेसे पृथक् रह सकते हैं। अर्थात् ये तीन होते हुए तीनों मिलकर 'सत् वस्तु' एकही है। ये कल्पनाके तीन भाव हैं, परन्तु उन तीनोंका अधिष्ठान एकही सद् वस्तु है।

एक ही वस्तुके आधारसे ये तीन भाव सदा रहते हैं, अतः वह एक वस्तु ही सत्य है, उसके मनसे कल्पित अनेक भाव कदापि सत्य नहीं हो सकते। 'खांड' वस्तु एक ही है, वह सत्य है, उसपर आरूढ हुए 'ढेला' और 'मीठास' ये दो भाव हमने अलग अलग हैं, ऐसी मनसे कल्पना की है। यह देखनेवालेकी केवल कल्पना ही है, क्योंकि 'खांड' के आधारके विना इन दोनों भावोंका कोई अस्तित्व ही नहीं है। मनुष्यने अपनी अल्पज्ञताके कारण इनकी पृथक् पृथक् सत्ता मानी है, परंतु वह कल्पनामात्र है। सत्य नहीं है।

इसी तरह 'जड' और 'चेतन' या 'प्रकृति' और 'जीव' ये ईश्वर या पुरुषोत्तम संज्ञक एक ही सद्वस्तु के दो पहलू हैं, परमेश्वरके आधारसे ही इनकी स्थिति है, उसके आधारके विना इनकी स्थिति ही नहीं है। जैसी–

ढेला (प्रकृति)
मीठास (जीव) = खांड (ईश्वर)

खांडके आश्रयसे ढेला और मीठास ये दो भाव रहते हैं, ठीक उसी ईश्वरके आधारसे प्रकृतिरूपी ढेला रहता है और जीवरूपी मीठास भी रहती है। इसी कारण गीतामें प्रकृतिको परमेश्वरका देह माना है और जीवको भी ईश्वर का सूक्ष्म शरीर ही माना है। ये दोनों एक ही हैं। इस विषयका प्रतिपादन वेद इस तरह करता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः।
अथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १।१६४।४६)

(प्रकृति) इन्द्र (विद्युत्), मित्र (सूर्य), वरुण (आप्=चन्द्र), अग्नि, मातरिश्वा (वायु)	= एकं सत् (यमः) नियन्ता, ईश्वर ही है।
(जीव) सुपर्णः (जीवात्मा) गुरुत्मान् (महात्मा)	

इस मंत्रको समझनेके लिये, जीव, प्रकृति और ईश्वर वाचक यहां कौनसे पद हैं, ये देखनेयोग्य हैं। यहां (वरुण) आप्, अग्नि, वायु, मित्र-वरुण, इन्द्र ये सब प्रकृति के विकास से बने हैं, यद्यपि इनमें से प्रत्येक का अर्थ आत्मापरमात्मापरक भी होना संभव है, तथापि स्थूल दृष्टिसे जो इनके व्यक्त अर्थ हैं, इनको ग्रहण करनेसे ये प्राकृतिक वस्तुमात्र ही माने जा सकते हैं।

इसी तरह 'सुपर्ण' शब्द इस सूक्तमें तथा 'द्वा सुपर्णा' इस मंत्रमें निःसन्देह जीववाचक है, सुपर्ण ही बडा होनेपर 'गरुत्मान्' होता है, इसलिये इनके अर्थ 'जीवात्मा, महात्मा' ऐसे जीववाचक ही यहां किये हैं। आप्, अग्नि, वायु आदि पांच भौतिक तत्त्व तथा जीव ये सब 'एकं सत्' एकही सत् के रूप हैं, यह इस मंत्रसे स्पष्ट हुआ है।

जो लोग प्रकृति और जीव को परस्परभिन्न और ईश्वर से सदा विभिन्न मानते हैं, उनको इस मन्त्र का पुनः विचार करना चाहिये। और एक मन्त्र यहां देखिये–

तदेवाग्निस्तदादित्यः तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजु० ३२।२)

इस मन्त्र का विच्छेद पूर्ववत् करके वही बात कैसी सिद्ध होती है, वह देखिये—

(प्रकृति) आपः चन्द्रमाः, अग्निः, आदित्यः, वायुः	= तत् एव (वही एक वस्तु है)
(जीव) प्रजापतिः, शुक्रं (जीवबीज) ब्रह्म	

यहां भी प्राकृतिक करके माननेयोग्य पदार्थ और जीव-ईश्वर करके माननेयोग्य पदार्थ '**एक ही तत्**' या '**सत् वस्तु है**' ऐसा कहा है।

जो द्वैत और त्रैतवाद कहनेवाले हैं, वे इन दो मन्त्रों का तथा '**पुरुष एवेदं सर्वं**' (ऋ० १०।९०।२) इस मन्त्र का संयुक्त विचार करें और अपनी शङ्काका समाधान प्राप्त करें। वेदमन्त्रोंको यदि स्वतःप्रमाण मानना है, तब तो उनका उपदेश जैसा है, वैसा ही ग्रहण करना चाहिये।

द्वैती और अद्वैती दोनों सच्चे हैं।

द्वैती और अद्वैती दोनों सच्चे हैं। क्योंकि एक वस्तुको देखनेवाले अद्वैती जो कहते हैं कि वस्तु एकही है, अनेक नहीं हैं, यह नितान्त सत्य है, इस में किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। जैसा खांडको केवल खांड कहना है। परन्तु इस खांडको ही द्वैती लोग कल्पनागत भेद देखते हुए, कल्पना से हि ढेला पृथक् है और मीठास पृथक् है, ऐसा (वर्णन करने की सुविधाके लिये) मानते हैं, अतः वे भी अपने दृष्टिकोन से सत्य ही देखते हैं। परन्तु ये दोनों परस्पर को निन्दते हैं, यही बहुत बुरी बात है। परस्परका दृष्टिकोन समझकर एक दूसरेका कथन मुख्य अर्थ से जानना ही विद्वानों को उचित् है। परन्तु पक्षान्धता के कारण द्वैती और अद्वैती झगडते ही रहते हैं। परन्तु परमार्थतः उन में सत्य अंश कहां है, यह ऊपर दर्शा ही दिया है।

द्वैती कहते हैं कि प्रकृति, जीव और ईश्वर सदा से पृथक् और सदासे विभिन्न, रहनेवाले हैं। पाठक यहां थोडासा ऐसा विचार करें कि खांडका ढेला और खांडकी मीठास ये दोनों पदार्थ जितने दिन खांड रहेगी उतने दिन उस के साथ अवश्य रहेंगे हि। खांडको छोडकर ढेला और मीठास कहां जावेंगी? इस लिये जो कहते हैं कि ढेला (प्रकृति), मीठास (जीव) ये दोनों जबसे (खांड) ईश्वर है, तबसे हैं और जबतक ईश्वर रहेगा,तबतक रहेंगे, यह नितान्त सत्य है। और जो अद्वैती कहते हैं कि ये भेद कल्पनागत हैं, ये विभिन्न वस्तुएं नहीं हैं, कल्पनासे भेदकी प्रतीति होनेपर भी ये विभिन्न वस्तुएं नहीं हैं और कदापि विभिन्न नहीं हो सकते, इसलिये परमार्थतः वस्तु एक ही है, उसमें दृष्टिकोनसे तथा कल्पनासे अनुभवमें आनेवाले भेद कितने ही क्यों न हों। यह अद्वैतियोंका मत किस तरह त्याज्य हो सकता है?

अतः यदि इस तरह देखा जाय, तो '**प्रकृति-जीव-ईश्वर**' ये तीन पदार्थ सनातन हैं; यह द्वैतियोंका मत और '**प्रकृति-जीव-ईश्वर**' ये तीन भाव विभिन्न प्रतीत होने पर भी एक ही ब्रह्मरूपी सद्वस्तु सत्य है, उक्त तीनों भाव इसी एक सद्वस्तु के आश्रय से भासमान होते हैं, अतः उनकी प्रातिभासिक सत्ता है, उनकी पारमार्थिक वस्तु सत्ता नहीं है, यह अद्वैतियोंका मत, ये दोनों मत दो प्रकार के दृष्टिकोनों से सत्य ही है। वेदमें जो दोनों प्रकार के मन्त्रों के विधान आते हैं, वे इन दोनों दृष्टि-कोनों को दर्शानेवाले हैं। तथापि वेदका अन्तिम सिद्धान्त—

'एकं सत्'

'**एक ही सत् वस्तु है**' यही है। एक ही वस्तु के अनेक पदार्थ कोई माने या न माने, परन्तु वस्तुकी अनेकता नहीं है, वस्तु के आश्रयसे अनुभव में आनेवाले पदार्थों की अनेकता जितनी चाहे मानी जाय, वह केवल उस वस्तुके विभिन्न दृष्टिकोनों से दीखनेवाले पहलूहि होंगे, उससे वस्तुभेद सिद्ध नहीं होगा।

यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं—

कपास
सूत
दुहरा सूत
रंगी सूत
कपडा
मोटा कपडा
धोती
कुडता
कोट
ओवर कोट
गदेला

यह सब कपासका विश्वरूप है, कपासहि इस विविध रूप (विश्वरूप) में विविध आकार लेकर रहा है । विभिन्न पदार्थों के अनुभव आनेपर भी मूल सद्वस्तु एकही है । इस उदाहरण से ऊपर दिया हुआ खांड का उदाहरण अधिक पूर्ण और निर्दोष है । इसलिए इस उदाहरण का मनन करके यह द्वैत और अद्वैत का पेंचीदा प्रश्न वैदिक विधिसे समझने का यत्न पाठक करें ।

इस दृष्टिसे देखा जाय तो श्री० चौ० रामपालसिंह तेवतियाजी के लेख के अंतिम भाग में जो लिखा है कि वेद में '**ब्रह्माद्वैतवाद**' है यह बहुतही अच्छा लिखा है, हम इसलिए इनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं ।

दूसरा पत्र श्री० धर्मपालसिंहजीका है, उनकी आशंकाओंका निराकरण हमने यहां बडे विस्तार के साथ किया है, आशा है यह उनको समाधान देगा ।

श्री० नारायणसिंहजी का तीसरा पत्र है, इसमें जो श्वेताश्वतर उपनिषद्के वचन दिये हैं, उनकी संगति ऊपर बतायी है, आशा है इससे उनका समाधान होगा ।

स्वरूपसे तीनों अनादि होनेपर भी वे तीनों एकही सद्वस्तु के तीन भाव हैं, यह वेद और उपनिषद् के वचनों के प्रमाणों से ऊपर दर्शा दिया है ।

इस तीसरे पत्र की एकही बात दर्शाने की रही है, वह यह कि '**पुनर्जन्मवाद**' । पुनर्जन्म के विषय में जो वेद का मंतव्य है, वह बडा ही गम्भीर है । यह विषय हम इसी लेखमाला में विस्तारपूर्वक दर्शायेंगे । आजकल जो पुनर्जन्म की कल्पना मानी जाती है, वह बहुतही एकदेशी है । वेदमें जो पुनर्जन्म कहा है, वह बहुत ही प्रकार का और सार्वदेशिक है, जो विस्तारसे ही बताया जायगा। संक्षेपसे कहना असम्भव है और अयोग्य भी है ।

जो पाठक शङ्का करते हैं, वे अपनी शङ्का करने के समय वेदमन्त्र के आश्रय से शङ्का उठायें । वेदमन्त्र का आश्रय न करते हुए जो अपनी तर्कनासे हि शङ्का करते हैं, उनकी शङ्काएं निर्मूल हैं, क्योंकि हम यहां जो लिख रहे हैं, अपनी कल्पना से और अपनी युक्तियों से लिखते नहीं, परन्तु वेदमन्त्र क्या कहते हैं, यह हम बता रहे हैं । जैसा जैसा वेद के विषय में अधिक विचार होगा, वैसा वैसा जो आज हम वेदसिद्धांत करके मानते हैं और जो आज हम मंत्र का यह अर्थ है, ऐसा समझ बैठे हैं, वह विचार समूल दूर करना होगा और जो सत्य वेद का सच्चा अर्थ है, वही हमें मानना पडेगा ।

अस्तु, इस तरह द्वैत और अद्वैत का विचार है ।

स्वाध्यायसंघ का कार्य।

स्वाध्यायसंघ इस समय तक सैंकडों स्थानों में स्थापन हुए हैं और करीब हजार से अधिक स्वाध्यायसंघ के सदस्य होकर प्रतिदिन स्वाध्याय कर रहे हैं, यह यहां घोषित करने के लिए हमें बडा आनन्द हो रहा है।

वेदका स्वाध्याय करने का सस्ते से सस्ता मार्ग हमने यह सोचा है और जो पाठकों को भी पसंद हुआ है और हजारों लोग इससे लाभ उठाने लगे हैं, यह निःसंदेह शुभ चिह्न है।

कई स्वाध्यायसंघ के सदस्योंने अनेक शंकाएं उठाई हैं; उनका उत्तर देना अब आवश्यक हुआ है, इस लिए इस लेखद्वारा उन शंकाओं का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं—

१. पहिली शंका।

स्वाध्यायसंघ के सदस्यों को नित्य वेदपाठ आवश्यक क्यों रखा गया है? इसमें रस नहीं आता है।

उत्तर– नित्य वेदपाठ अत्यंत आवश्यक है। प्रतिदिन १०० मन्त्र पढने का नियम रखने से चारों वेदों का पाठ होने के लिए ६ महिने लगते हैं। ४-५ वर्षों में इस तरह चारों वेदों के मुखसे १० पाठ हो जाते हैं और वेदमें कहां क्या है, इसका पता स्वयं लगने लगता है। संस्कृत जाननेवालों के लिए तो इससे बडा लाभ होगाहि, पर न जाननेवालों को भी बडा लाभ होगा। कृपया पाठक इस तरह वेदपाठ करके देखें और पश्चात् आवश्यक हुई तो शंका करें।

२. द्वितीय शंका।

संस्कृत सीखना आवश्यक क्यों रखा गया है? आप ऐसे वेद के पुस्तक बनाइये कि जिनसे संस्कृत न पढनेवाले भी वेद पढ सकेंगे।

उत्तर– हम जो पुस्तक वेदपरिचयादि परीक्षाओं के लिए तैयार कर रहे हैं, वे अत्यंतहि सुगम और सुबोध हैं। संस्कृत न जाननेवाले भी इनसे लाभ उठा सकेंगे और परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो सकेंगे। परन्तु संस्कृत न जानने से जो परतन्त्रता रहेगी, वह पाठक कहांतक सहन करना चाहेंगे? और इतना परतन्त्र रहने की आवश्यकता भी क्या है? ऐसी संस्कृत भाषा कोई कठिन नहीं है। संस्कृत पाठमाला के २४ भाग एक वर्ष में हो सकते हैं और इससे हर किसी का प्रवेश संस्कृत भाषामें आसानीसे हो सकता है। हमने अनुभव लिया है कि ८।१० वर्षों के बालक प्रथम पुस्तक समाप्त करके संस्कृत में बातचीत करने लगते हैं। इतनी सुगम यह पाठविधि है।

सब जनता की संस्कृत भाषाके विषय में जो पराधीनता है, वह शीघ्र दूर हो जाय, यही हमारी इच्छा है। और जो पाठक स्वयं वेद पढकर स्वयंहि उन मन्त्रों के अर्थों का विचार करना चाहते हैं, वे तो स्वयं संस्कृत जाननेके विना क्या कर सकेंगे? सब प्रकार की परतन्त्रता दूर होनी चाहिये। और अपने धर्मपुस्तक की भाषा तो सबको आनीहि चाहिये। तथा संस्कृत भाषा सब भाषाओं में सुगम भी है। परन्तु लोगोंने संस्कृत भाषा का बडा डर बना दिया है, इसलिए लोग डरते हैं। परन्तु किसी अन्य भाषासे संस्कृत भाषा सुगम है।

इसलिए पाठक संस्कृत पढना आवश्यक समझकर प्रयत्न करें। प्रयत्न करनेपर उनको भी पता लग जायगा कि संस्कृत भाषा बडी आसान है।

३. तीसरी शंका।

वेद की जो परीक्षाएं रखी हैं, वह क्रमसे क्यों रखी हैं? अर्थात् जिसकी तैयारी होगी, वह अंतिम परीक्षा सबसे प्रथम क्यों न देवे?

उत्तर- पहिली पांच वर्ष की परीक्षाएं क्रमशः देनेकी हि हैं। इनमें से केवल प्रथम **'वेदपरिचय'** परीक्षा की हि पाठविधि तैयार हुई है, जो छपने लगी है। अन्य परीक्षाओं की पाठविधियां अभी बननेवाली हैं। इनमेंसे कोई परीक्षा क्रमको छोडकर नहीं होगी। इस विषय में इतनाही यहां कहना उचित है कि यहां ज्ञान को महत्व है, परीक्षा का महत्व नहीं है, अर्थात् **'वेदप्राज्ञ'** यह तृतीय वर्ष की परीक्षा है और इस समय करीब १८०० वेदमन्त्रों का ज्ञान परीक्षोत्तीर्ण को होनाही चाहिए।

'वेदाचार्य' की हि एक परीक्षा ऐसी है, जो वेदविषयक (रिसर्च) खोज के साथ सम्बन्ध रखती है, अतः जो पर्याप्त संस्कृत ज्ञान रखते हैं और जिन्होंने वेदविषयमें परिश्रम पर्याप्त किये हैं, वे इस परीक्षा के अधिकारी हैं, ऐसा माना जा सकता है। यदि ऐसे सुयोग्य विद्वान् किसी वेदविषयक खोज के विषयमें अपने खोज के १०० पृष्ठ होने इतना निबंध लिखेंगे, तो वे वेदाचार्य की परीक्षा के लिए अधिकारी माने जा सकते हैं। यह निबंध वैदिक धर्म के बारीक टाइप के १०० पृष्ठ जितना होना चाहिए। इस विषय के नियम ये हैं—

१. जिस विषयपर निबंध लिखना होगा, उस विषय की सूचना स्वाध्यायमण्डलकार्यालय में प्रथम देनी चाहिए और यहांसे स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए।
२. निबंधके विषय की स्वीकृति मिलनेपर निबंध के विभाग और उपविभागों की व्यवस्था किस तरह रखी जायगी, यह भी यहां सूचित करना चाहिए, तथा संदर्भग्रन्थों की सूची भेजनी चाहिए। इस सम्बंध की आवश्यक सूचनाएं स्वा० म० से दी जायगी। निबंधलेखक को अधिकार रहेगा कि वह लेखन के समय आवश्यक परिवर्तन विभागोप-विभागोंमें करे।
३. निबंध वेदविषयक खोज के सम्बंधमें हि होना चाहिए और खोज मौलिक होनी चाहिए। यदि अन्यों की खोज बुनियाद के लिए ली हो, तो उससे और आगे बढा भाग जितना होगा, उतना ही लेखक समझा जायगा।
४. निबंध हस्तलिखित होगा, तो सुपाठ्य होना चाहिए, नहीं तो मुद्रित भेजा जावे।
५. निबंध आनेपर वह परीक्षकों के पास भेजा जायगा, और उनकी संमतिसे निर्णय किया जायगा।

वेदाचार्य की परीक्षा के लिए किसी पूर्व परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। जिसकी संस्कृत में योग्यता अच्छी है, वेदशास्त्रमें जिसने पर्याप्त परिश्रम किया है, व्याकरणादिमें जिसकी प्रवीणता है, वह इस वेदाचार्य की पदवी के लिए यत्न कर सकते हैं।

अन्य परीक्षाओं की आवश्यकता नहीं, इतना कहनेमात्रसे हरकोई इस विषय में यत्न कर सकता है, ऐसा समझना किसी को भी उचित नहीं है। जिस की पहिले से हि विशेष योग्यता है, वह इस विषय का यत्न कर सकता है।

हमें यहां कहने में आनन्द होता है कि, इस तरह की सहुलियत का लाभ एकदो विद्वान् ले रहे हैं। आपने उचित आज्ञा मांगी है और उनको आज्ञा दी गई है। इस सम्बन्ध के निबंध आनेपर यहां घोषणा की जायगी और परिणाम की भी सूचना यहां दी जायगी।

४. चतुर्थ शंका।

सामगान के लिए पहिले हारमोनियम के साथ स्वरसाधन करने को क्यों कहा गया है?

उत्तर- सामगायन एक विशेष प्रकार का गायन है। वह विना प्रयत्न कदापि नहीं आ सकता। सातों स्वरोंमें साम गाये जाते हैं। सामके आलाप लेने की रीति आजकल की आलापपद्धतियोंसे भिन्न है। इसलिए जो पाठक हारमोनियम के सात स्वरोंके साथ अपने स्वर मिलाने के अभ्यासी होंगे वेही सामगान कर सकेंगे।

हम सामगायन 'सा, रे, ग, म,' की पद्धतिसे नोटेशन करके देंगे, सामगायन का ऋषिप्रणीत नोटेशन कैसा है यह भी बतावेंगे, परन्तु गायन करना, आलाप लेना तो पाठकोंने ही करना है। इसलिए जो पाठक स्वरसाधन का अभ्यास करेंगे वेहि सामगायन का आनन्द लूट सकेंगे।

चार वेदोंके मन्त्र विभिन्न पद्धतिसेहि पढे जाते हैं, इसलिए इनकी पढने की विधि पुस्तकाकार लिखी जा रही है, जिसको पढनेसे पाठक वेदमन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण कर सकेंगे। आजकल तो स्वर और व्यंजनों के उच्चारणों में भी दोष हुए हैं। वे सब दोष दूर होंगे, तब जाकर वेद का ठीक ठीक उच्चारण होना संभव होगा। किस अक्षरका कैसा उच्चारण होता है और कैसा उच्चारण होना चाहिए, इसका सम्पूर्ण विवरण पुस्तकरूपसे प्रकाशित होगा। जिसमें उच्चारण के सब गुणदोष लिखे रहेंगे।

जैसा सामगायनमें आलापों का महत्त्व है, वैसाहि वेदोच्चारण में अक्षरोच्चारण का महत्त्व है। सामगायन में ७ स्वरों का आलापन होता है, अन्य वेदोंमें कमसे कम तीन स्वर तो उच्चारे जाते ही हैं, परन्तु कई स्थानों में चतुर्थ स्वर भी थोडासा लग जाता ही है। अर्थात् ऋग्वेद के उच्चारण में ३ या ४ चार स्वरों का प्रयोग होता है और सामगायन सात स्वरों का प्रयोग होता है। इन स्वरोंका ठीक ठीक उच्चार हुआ, तो ही वेद का उच्चारण ठीक हुआ, ऐसा समझा जायगा। इसलिये इस विषय में पाठकों को प्रयत्न आवश्य ही करना चाहिये।

जो थोडासा प्रयत्न करेंगे, उन के लिये इस में कोई कठिनता नहीं है।

५. पंचम शंका।

प्रतिदिन स्वाध्याय क्यों करना चाहिये? सप्ताह में फुरसत मिलनेपर किया जाय, तो क्या हर्ज है?

उत्तर- अनियमसे स्वाध्याय करने से हानि तो कोई नहीं है, परन्तु यदि नियमपूर्वक जैसा स्नान, संध्या, भोजन किया जाता है, वैसाहि स्वाध्याय नियमपूर्वक प्रतिदिन घण्टा आधा घण्टा किया जाय, तो उससे लाभ बहुत ही अधिक होता है। जो कार्य नियमसे प्रतिदिन किया जाता है, वह अधिक होता है, अनियमसे करने की अपेक्षा नियमसे करनेसे लाभ बहुत हैं। नियमसे स्वाध्याय करने पर हि वेदमें सुगमता से गति होने लगती है और यही महत्त्वकी बात है।

प्रतिदिन नियमपूर्वक स्वाध्याय करने के साथ साथ नियत समय पर स्वाध्याय किया जाय, तो लाभ अधिक होगा। परन्तु जो तो अपने व्यवसाय के कारण उक्त प्रकार नहीं कर सकते, वे अपनी परिस्थिति के अनुसार जैसा चाहे वैसा करें। परन्तु समय मिलने पर स्वाध्याय अवश्य करें, कभी न भूले।

जो शंकाएं पाठकों द्वारा इस समय तक पूछी गयीं थीं, उनका उत्तर यथामति यहां दिया गया है। इन शंकाओं का दूसरा कोई अर्थ हमें नहीं प्रतीत होता, सिवाय इसके कि 'प्रयत्न न करना पडे'। परन्तु प्रयत्न के विना सिद्धि किस तरह प्राप्त हो सकती है, यह हमारे समझ में नहीं आता। जब वैदिक धर्म ही प्रयत्न का धर्म है, तब उसमें प्रयत्न के विनाहि सिद्धि प्राप्त हो सकेगी, यह कदापि नहीं हो सकता। इसलिये पाठकों को उचित है कि वे प्रयत्नशील होकर हि वैदिक धर्म में अपनी प्रगति सिद्ध करें और यश के भागी बनें।

सारस्वत अनुवाक ।

स्त्रियोंका उत्तम यश ।

(लेखक- श्री० पं० जयदेवशर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, अजमेर)

ऋषियों के साहित्य 'वेद' का प्रयोग आर्यजाति के जीवन के सभी कार्यों में रचमिच रहा था। समस्त कर्मकाण्डों की सृष्टि इसी प्रकार हुई। आचार्योंने अपने अपने देश और अपने अपने कालों में भिन्न भिन्न पद्धतियों का निर्माण किया। आश्वलायन, गोभिल, पारस्कर, काठक इत्यादि गृह्यसूत्रों में एककी पद्धति दूसरेसे नहीं मिलती, न क्रियाओं के क्रम एक हैं और न मन्त्रों के विनियोग एक हैं; अनेक स्थल कहीं कहीं मेल भी खाते हैं तो भी वहां कुछ भेद रहता ही है। ऐसे भेद प्रायः स्थानभेद, देशभेद, कालभेद, व्यक्तिभेद, आदि से हो जाना स्वाभाविक है।

इस लेख में हम विवाहविषयक एक बडी महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख करेंगे, वह है 'सारस्वत अनुवाक'। विवाहपद्धतियों में एक मन्त्र आता है कि—

> सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
> यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
> यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
> तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥
> (पार० का० १, कं० ७।२)

हे सरस्वति ! हे सुभगे ! हे वाजिनीवति! स्त्री ! (अस्य विश्वस्य भूतस्य प्रजायाम् अग्रतः यां त्वाम्) इस समस्त उत्पन्न जगत् की उत्पत्ति में सबसे पूर्व जिस तुझ आदिकारणको मैं देखता हूं, (यस्यां भूतं समभवत्) जिसमें यह उत्पन्न जगत् उत्पन्न हुआ, और (यस्यां इदं विश्वं जगत्) जिस में यह समस्त जंगम विश्व उत्पन्न होता है, या वर्तता है, (ताम्) उस तुझको लक्ष्य करके (गाथां गास्यामि) तेरे प्रति गाथा कहूंगा, (या स्त्रीणां उत्तमं यशः) जो स्त्रियोंका उत्तम यश है।

पारस्कर प्रोक्त इस मन्त्र में 'गाथा' की एक सूचना है। परन्तु वह 'गाथा' क्या है, यह पारस्कर में कहीं विदित नहीं होता।

'गाथा' क्या पदार्थ है? यह पूरी तरहसे कहना कठिन है। परन्तु ऐसा अवश्य विदित होता कि गानेयोग्य श्लोकों या छन्दों में कोई 'कथा' रूपसे कुछ ग्रंथभाग 'गाथा' कहाती थी। पारस्कर, आश्वलायन, गोभिल आदि गृह्यसूत्रोंमें इस गाथा का कोई स्वरूप प्रतीत नहीं होता। काठक (लौगाक्षि) गृह्यसूत्र में इस गाथा का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है। इस गाथा में २० श्लोक हैं। पाठकों की विशेष जानकारी के लिये और संग्रहयोग्य पदार्थ होने से हम उन श्लोकोंको अर्थसहित यहां देते हैं।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र की २५ वीं कण्डिका का १९ वां सूत्र है—

> ततो गाथा वाचयति- सरस्वति प्रेदमवेत्यनुवाकम्। उभावित्येके। यदि पृथक् तन्त्रम् ॥
> देवपालभाष्यम्- गीयन्त इति गाथाः विशिष्टा एव ऋचः। अतएव कास्ताः इत्यपेक्षायां सरस्वति प्रेदमवेत्यनुवाकमाह अत्रानुवाके याः स्थितास्ता एवेत्यर्थः द्व्यन्तरस्वरयुक्तासु च कासु चिदृक्षु 'गाथा' शब्दो रूढः यथोक्तम्-
> छन्दोगा बह्वृचश्चैव तथा वाजसनेयिनः।
> उच्चनीच-स्वरं प्राहुः स वै गाथिक उच्यते ॥

कन्या के प्रथम हस्तग्रहण के अनन्तर आचार्य गाथाएं वंचवाता है। गाथाएं 'सरस्वति प्रेदमव०' इत्यादि पूर्ण अनुवाक है। किन्हीं के मत में आचार्य इस अनुवाक को कन्या और वर दोनों से कहलवाता है, इस सम्बन्ध में आचार्य देवपालने भाष्य करते हुए लिखा है कि गान

करनेयोग्य विशेष ऋचाएं 'गाथा होती हैं। 'सरस्वति प्रेद-मव०' इत्यादि ऋचाएं 'गाथा' हैं। दो अन्तरावाली स्वर-युक्त कुछ ऋचाओं में 'गाथा' शब्द रूढ है। सामवेदी, ऋग्वेदी, और यजुर्वेदी ऊंचेनीचे स्वर से जो मन्त्र कहते हैं, वे 'गाथिक' कहे जाते हैं।

ये गाथाएं ही 'सारस्वत अनुवाक' कहाता है। इस की प्रथम ऋचा इस प्रकार है—

प्रथम ऋचा।

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रागायाम्यस्याग्रतः॥१॥

इस अनुवाक का ऋषि ब्रह्मा है। छन्द अनुष्टुप् है। इस में द्व्यन्तर स्वर से गन्धर्व, अप्सरा, राजर्षि आदि का चरित गान किया जाता है। इसीको 'गाथा' कहा जाता है। इसमें सरस्वती, वाणीरूप स्त्री और मन वा मेवरूपसे पुरुष का वर्णन किया गया है।

हे (सरस्वति) उत्तम ज्ञान और सामर्थ्यवाली, हे (सुभगे) शुभ ऐश्वर्यवाली! हे (वाजनीवति) अन्नसम्पदा से सम्पन्न! जो तू (**विश्वस्य अस्य भूतस्य अग्रतः**) इस समस्त उत्पन्न होनेवाले संसार के भी पूर्व वाक्रूपसे वा प्रकृतिरूपसे वर्तमान है, (**यां त्वा**) उस तुझ को (**प्रागायामि=प्रगायामि**) लक्ष्य कर मैं तेरे उत्तम उत्तम गुणों का गान करता हूं।

[पारस्कर में '**प्रजायाम्**' पाठ है।

दूसरी ऋचा।

याऽग्रे सर्वमभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य वाचं गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं मनः॥२॥

(**या अग्रे सर्वम् अभवद्**) जो प्रकृति, या वाणी, जगत्-सर्गके भी पूर्व सब के 'उपादान' रूप से थी (**यस्यां इदं विश्वं जगत्**) जिस में यह समस्त विश्व आश्रित है। (**तां वाचम् अद्य गास्यामि**) आज उस 'वाग्' रूप सर्व जगत् का प्रकाश करनेवाली वाणीरूप 'सरस्वति'का गुणगान करूंगा (**या स्त्रीणाम् उत्तमं मनः**) जो स्त्रियों का उत्तम 'मनस्' है, अर्थात् जो स्त्रियों के मन के भावोंको उत्तम रीतिसे प्रकाशित करती है। वाणीही मन के भावों को भली प्रकार प्रकट करती है, इसलिये वाणीकोहि मन कहा गया है। मनसे मनन करने के अनन्तरही वाणी प्रकट होती है, इसलिये वाणीका पूर्वरूप 'मन' है। अतः ज्ञान और वाक् एक ही पदार्थके पूर्व और उत्तररूप हैं। भगवान् के मानससंकल्प से जगत् की उत्पत्ति प्रकारान्तर से 'वाक्' से ही जगत् की उत्पत्ति कही जाती है; वेदरूप सरस्वतीसे जगत् का सर्जन होना, यह वैदिकों का प्रसिद्ध प्रवाद है। विदेशके सम्प्रदायों में भी 'लोगस्' (श्लोकः-वेद, word वाग्) से ही जगत् को उत्पन्न होता माना गया है।

तीसरी ऋचा।

या इह पूर्वे जना आसन् पूर्वे पूर्वतरेभ्यः।
मूर्धन्वाँस्तेभ्यो गन्धर्वः पुरा देवेभ्य आतपत्॥३॥

वाग् रूप गौ का आश्रय पुरुष गंधर्वका वर्णन करते हैं। (**इह**) इस संसार में (**ये पूर्वे जनाः आसन्**) जो पूर्व उत्पन्न जीव थे, और (**पूर्वतरेभ्यः पूर्वे**) उनसे पूर्वके जनोंसे भी जो पूर्व विद्यमान थे (**तेभ्यः देवेभ्यः पुरा**) इन तेजस्वी तत्वों या प्रकाशवान् वा कामनावान् जीवोंसे भी पूर्व (**मूर्धन्वान्**) शिरवाला, मस्तकवाला, विचारवान्, ज्ञानवान्, या वासना का शिरोमणि वह (**गन्धर्वः**) गंधर्व था, वह गौ अर्थात् सरस्वती को भी धारण करनेवाला था। वह सृष्टिके पूर्व विद्यमान वाक्–सरस्वती को धारण करने-वाला, प्रजापति, परमेश्वर था। वही (**आतपत्**) सबको तपाता, प्रकाशित करता, और चमकाता है। इसी को 'मूर्धन्वान् नामक गन्धर्व' मोटे रूप से कहते हैं।

गोसरस्वतीं धारयति वृणोति वा गन्धर्वः।(देवपाल)

गौ, सरस्वती वाक् को धारण करने से वह 'गन्धर्व' कहा गया है। वह ज्ञानरूप था। ज्ञान, मनन करना, मस्तक (**मूर्धा**) का कार्य है, इसलिये मुखसे निकलनेवाली वाणी का प्रादुर्भाव मस्तकसे होता है, उस मस्तक का स्वामी प्रथम पुरुष था, उसीने उस वाणी को भी धारण किया हुआ था। अर्थात् मन, और वाक् दोनों उस आत्मा के ही अधीन थे। परमेश्वर महान् मूर्धन्वान् हैं। जिसके लिये वेदने कहा है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठत् दशांगुलम्।

वह सहस्रों शिरों (मस्तकों) का स्वामी, सहस्रों आंखों का स्वामी, सहस्रों पादों (अभिप्राय प्रकट करनेवाले ज्ञान-साधन शब्दों का) स्वामी है, वह सर्वोत्पादक भूमि-प्रकृति (वाग्=Logus=श्लोकः=वेद) का वरण करके, उसको जगत् के उत्पादक वधूरूपसे वरण करके दशों अंगों से ऊपर सर्वोपरि शरीर में मूर्धाके स्थान में आत्माके समान, जगत् में सर्वोपरि अर्थात् दशों अंगों से होनेवाले समस्त कार्योंसे भी ऊपर सबका अधिष्ठातारूपसे विराजता है। परमेश्वर के दश अंग (अंगुल) इस शरीर के समान ही अन्य मन्त्रों में बतलाए हैं—

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ॥

इत्यादि। सर्वोपरि ज्ञानवान् होने से परमेश्वर मूर्धन्वान् है।

चतुर्थ ऋचा।

य एति सर्वतः प्राग्भ्यो दिशोऽधि पवमानः।
मूर्धन्वाँस्तेभ्यो गन्धर्वः पुरा देवेभ्य आतपत् ॥४॥

(यः) जो (अधिपवमानः) सर्वोपरि, सबसे अधिक व्यापनेवाला, सब से अधिक पवित्र करनेवाला, (सर्वतः एति) सब ओर प्राप्त होता है, सर्वत्र विद्यमान है और जो (प्राग्भ्यः दिशः) प्राची आदि दिशाओं से आनेवाले वायुगण हैं, उनका भी मूर्धन्वान्, अध्यक्ष जो (गन्धर्वः पुरा देवेभ्यः आतपत्) सर्व मूल प्रकृति का धारक पूर्व-कालमें देवों (मूलतत्वों) से ही जगत्को प्रकाशित करता है।

पांचवीं ऋचा।

स भगवो न मरिष्यसि अहं चेदस्मि भेषजम्।
मूर्धन्वाँस्तेभ्यो गन्धर्वः पुरा देवेभ्य आतपत् ॥

(चेत् अहं भेषजम् अस्मि) यदि मैं सर्व रोग-नाशक, सर्वौषधितुल्य विद्यमान हूं, तब, हे (भगवः) नाना ऐश्वर्यसंपन्न जीव! तू (न मरिष्यसि) कभी मर नहीं सकता। इस प्रकार वह आत्मा (गन्धर्वः) वाणी को धारण करनेवाला गन्धर्व (तेभ्यः देवेभ्यः पुरा) उन इन्द्रियगणात्मक विषयप्रकाशक देवों से भी पूर्व (आतपत्) सबको तपाता, उन इन्द्रियगणमें अपने सामर्थ्य को प्रकट करता है, उसी प्रकार, हे स्त्री! तुम गौ-रूप प्रकृतितुल्य वधू को प्राप्त कर, मैं मूर्धाभिषिक्त होऊं।

षष्ठी ऋचा।

हिरण्यवर्णो वैरूप्यः स त्वा मन्मनसां करोतु।
यद् राजा याति समितिं समुद्रमिव सौभ्रवः ॥

वह महान् आत्मा (हिरण्यवर्णः) सुवर्ण के समान उज्ज्वल स्वरूप, स्वतः प्रकाश (वैरूप्यः) वीरता के से सर्व विजयी भावको पालन करनेवाला, सर्वश्रेष्ठ है, (सः) वह (त्वा) तुझे, हे वधू! (मन्मनसां करोतु) मेरे प्रति दत्तचित्त बनावे। वह ऐसा महान् है कि (यद् राजा समितिं याति) जिस प्रकार राजा अपने दर्बार (महासभा) में जाता है, उसी प्रकार वह परमेश्वर (सम् इतिम् याति) जगत्के समस्त देव-शक्तियोंके समूहको अनायास प्राप्त होता, उनसे रचमिच रहा है और सब शक्तियों और दुष्टों से भी अजेय रहता है, जिस प्रकार (सौभ्रवः) उत्तम भौंहों से सुशोभित वीर-माताओं का पुत्र वीर पुरुष (समुद्रम् इव) समुद्र का भी विजय करता है, उसी प्रकार वह सर्वशक्तिमान् प्रभु (सौभ्रवः) सुखपूर्वक अनायास भ्रुवों के बीचमें ध्यान-योगद्वारा प्रकट होनेसे 'सौभ्रव' है, वह (समुद्रम् इव एति) महान् आनन्दसागर को प्राप्त है, वह अनन्त रससागर ही है।

चतुर्थ ऋचामें 'दिशः' यहां वचन व्यत्यय है। कुछ विद्वान् 'प्राग्भ्यो दिशः' ऐसा पाठ पढते हैं। देवपाल के मतमें यहां वर्णव्यत्यय है। द्वितीय चरणमें 'प्राग्वादिग्भ्योऽधि पवमानः' ऐसा पाठ भी मिलता है। उसका व्याख्यान करते हैं, वह (प्राग् वा) सबसे प्रथम स्पन्द वा प्रकृतिमें गति उत्पन्न करने से परमेश्वर ही 'प्राग् वा' है। वह (दिग्भ्यः पवमानः अधि एति) सर्व दिशाओं में व्याप्त होकर सर्वोपरि विराजता है। इन पाठभेदोंके सम्बन्ध में देवपाल आचार्य का कथन है कि—

विच्छिन्नसम्प्रदायेषु शताध्ययनवर्तिषु
मन्त्रेष्वपौरुषेयेषु यथेच्छं परिकल्पनात्।
पाठानां गत्यभावेन यथादृष्टिप्रदर्शनम्।
क्रियमाणं एतामन्यैर्नोपालभ्यं कथं च न ॥

सम्प्रदाय टूट जानेपर सैंकडों अध्ययनों में आनेवाले अपौरुषेय मन्त्रों में यथेच्छ कल्पना की गई है। और कोई

उत्तम मार्ग न सूझने से जैसे जैसे पाठ देखे, वैसे वैसे बतला दिये हैं । इसलिये हमपर विशेष दोष न देना चाहिये ।

सप्तमी ऋचा ।

न वातस्याभि वायते नोद्वातस्याभिधीयते ।
न वातस्या धुरं वहतो नोद्वातस्यापमीयते ॥७॥

(वातस्य अभि) वात के समान अदम्य बलशाली उसके सम्मुख **(न वायते)** खडा नहीं हुआ जा सकता। **(वातस्य उत् न अभि धीयते)** उस महाबलशाली के सामने उससे ऊपर उससे अधिक बलशाली होकर उसको बांधा नहीं जा सकता । **(धुरं वहतः)** समस्त जगत् के धारणरूप कार्यभार को धारण करनेवाले उस **(वातस्य न अपमीयते)** बलशाली महापुरुष का कोई निरादर नहीं कर सकता ।

अष्टमी ऋचा ।

आ सत्य हरितो रथः सौभ्रवः सुहिरण्ययः ।
तं वात उद्भ्रजीयति वद्वातो दृढया धुरा ॥८॥

वह **(सत्यहरितः)** सत्य के बल से सूर्य के समान तेजस्वी, **(रथः)** रथ के समान वेगसे अन्यों को भी अभीष्ट उद्देश्य तक पहुंचानेवाला **(सौभ्रवः)** उत्तम भ्रुवोंवाली सुरूप, सौभाग्यवती माता के पुत्रके तुल्य उत्तम अनिन्द्य, एवं **(सौभ्रवः)** उत्तम रीतिसे सकल जगत् को भरणपोषण करनेवाली शक्ति का स्वामी, **(सु-हिरण्ययः)** उत्तम कान्तिमान् है । **(तं)** उसको प्राप्त होकर ही **(वातः)** यह वायु **(आभ्रजीयति)** सब ओर वेगसे बहता है । और वह परम शक्तिमान् **(दृढया धुरा)** दृढ धारण-सामर्थ्यसे ही **(उद् वातः)** शेष वात से भी कहीं उत्कृष्ट बल-सामर्थ्यवान् है ।

नवमी ऋचा ।

तवैव राजन् दुन्दुभयस्तव दुन्दुभिरानकः ।
तव वातोद्वाता अभ्वौ तव चैत्ररथं वनम् ॥९॥

हे मूर्धन्वान् गन्धर्व ! हे राजन् **(तवैव दुन्दुभयः)** ये सब जयघोष करनेवाले ढोलढमाके तेरे ही हैं । **(आनकः दुन्दुभिः तव)** पटहका ढिंढोरा भी तेरा ही है । **(वातोद्वाता अभ्वौ तव)** वात और उद्वात ये दोनों अश्व तेरे हैं । **(चैत्ररथं वनं तव एव)** चैत्ररथ नामक वन भी तेरा है । उक्त महान् आत्मा के ही ये सब जीवगण उसके महान् सामर्थ्य को बतलानेवाले, वही प्राणरूप होने से आनक हैं। वात, उद्वात, प्राण और उदान हैं, वे ही दोनों उसके व्यापक सामर्थ्य सब जीवों में हैं। नाना अद्भुत आश्चर्यों से पूर्ण यह जगत्, चेतनाले युक्त यह देहरूप रथ भी उसी विश्वात्मा का है ।

दशमी ऋचा ।

ते शुक्रं शक्रस्याऽविन्दन् पराङ्‌वं निहितं गुहा।
मूर्धन्वाँस्तेभ्यो गन्धर्वः पुरा जभ्रुभ्य आवृदः॥१०॥

(ते) वे सब देवगण **(शक्रस्य शुक्रम् अविन्दन्)** उस महान् शक्तिशाली परम पुरुष, कान्तिमान्, तेजोमय उस बल-वीर्य को **(अविन्दन्)** प्राप्त करते हैं, जो **(पराङ्वम्)** प्रत्यक्ष में किसीको नहीं दीखता, परन्तु **(गुहा निहितम्)** गुप्त रूप से सर्वत्र विद्यमान है । वही **(गन्धर्वः)** सर्वोत्पादक, सर्वोपादान प्रकृतिरूप 'गौ' को धारण करनेवाला **(तेभ्यः जभ्रुभ्यः पुरा)** उन जगतको बांधनेवाले, अनेक देवों के ऊपर पूर्व काल से **(मूर्धन्वान्)** सबका मूर्धन्य है और **(आवृदः)** प्रलयकालतक भी उसी का शासन रहेगा ।

एकादशी ऋचा ।

हिरण्यवर्णे सुभृतं शोभमानं कन्याया हस्तं परिगृह्य पुण्यम् । सा पुत्रकामा सुभगाय भर्त्रे भव वशीयान् गिरिवत् स्थिराय ॥११॥

मैं **(हिरण्यवर्णे)** सुवर्णके आभूषण द्वारा उत्तम कान्ति-युक्त **(सुभृतम्)** सुन्दर सुन्दर अन्यान्य आभूषणों से पूर्ण वा उत्तम रीतिसे पुष्ट, इसीसे **(शोभमानम्)** अत्यन्त शोभा युक्त **(पुण्यं)** पुण्य, पवित्र **(कन्यायाः हस्तं)** कन्या के हाथ को **(परिगृह्य)** ग्रहण करके **(स्थिरस्य)** अपनी स्थिरताके लिये **(गिरिवत्)** पर्वतकी चट्टान के समान दृढ और **(वशीयान्)** अति वशी, जितेन्द्रिय होकर मैं **(भव)** रहूं । हे कन्ये **(सा)** वह तूभी **(पुत्रकामा)** पुत्रकी कामना करती हुई **(सुभगाय भर्त्रे)** उत्तम ऐश्वर्यवान्, सौभाग्य-शीलपति के लिये **(वशीयसी गिरिवत् स्थिराय भव)**

पर्वत के समान स्थिर रहने के लिये जितेन्द्रिय होकर रह।

[यह ऋचा केवल कश्मीरों में ही पढ़ी जाती है।]

देवपाल

द्वादशी ऋचा।

वैरम्पे मुनिपर्वते गिरौ हरित-संकाशे।
संकल्परमणेऽमरावुभौ सुमनसौ चरवः ॥ १२॥

वर वधू को और वधू वर के कहती है। वीर-अर्थात् पुत्रों को पालन करनेयोग्य मुनियों के समान अति कठिन तपस्यासे बसनेयोग्य पर्वत के समान आरोहण करनेमें भी अति कठिन (हरितसंकाशे) आदित्य के समान उज्ज्वल, सुवर्ण के समान कान्तिमान्, अति चित्ता-कर्षक (संकल्परमणे) नाना कामना और-संकल्पों के अनुसार रमण, सुख-विहार करनेयोग्य (गिरौ) पर्वततुल्य गृहस्थमें (उभौ) हम दोनों (अमरौ) कभी मृत्यु, विपत्ति आदिसे पीड़ित न होते हुए (सुमनसौ) शुभ मन, शुभ चित्तवान् होकर हम दोनों (चरवः) विचरें।

गृहस्थ को वस्तुतः बहुतही कठिन आश्रम मनु आदि धर्मशास्त्रों में कहा है—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥
(मनु० ३।१८।७९)

गृहस्थ-आश्रम दान, अन्न आदि से नित्य प्रति तीनों आश्रमवासियोंका भरण-पोषण करता है। इससे गृहाश्रमी ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है। जो अक्षय स्वर्ग चाहे, तो इसको प्रयत्न से धारण करे; इसको दुर्बल इंद्रियवाले, सामर्थ्य-हीन लोग नहीं धारण कर सकते।

'यह गृहस्थ पर्वत के तुल्य ही है, इसीसे कन्या को शिलारोहण कराया जाता है, साथही फेरे (परिक्रमा) और यह ' गाथागान ' के मंत्र हैं। वस्तुतः अग्निपरिक्रमा, शिलारोहण, गाथागान एक प्रकार से वैरम्प पर्वतका विवरण ही है। इसी गिरिविचरण का कुछ भाग योरोपमें (Honey-moon) की यात्रा में आता है।

' वैरम्प '- (वीराणां समूहः वैरम्, तत्पातीति वैरम्पः॥) वीरों अर्थात् पुत्रोंको पालनेवाला आश्रम।

त्रयोदशी ऋचा।

आणीव रथवेष्टसि वने वारिवर्षण्ये।
अप्सराः सूर्यवर्चसिनी वशिनी मन्मना भूयाः ॥१३

हे वधू! हे (रथवेष्टसि) रमण करनेयोग्य गृहस्थाश्रम-रूप रथमें व्यापनेवाली, वा उत्तम रम्य रम्य रसीले शब्दों और भावोंसे लिपटी, उनसे. सबको लपेटनेवाली! तू (आणीव) रथमें लगी उस डण्डीके समान है, जो रथके आसन और युग दोनों को सम्भालती है। हे वधू! तू (वारिवर्षण्ये वने) जलवर्षा करनेवाले मेघमें (सूर्य-वर्चसिनी) सूर्यके समान उज्ज्वल कान्तिवाले (अप्सराः) जलोंमें ही वेगसे जाति करनेवाली विद्युत् के तुल्य है, तू (वशिनी) संयमशीला, जितेन्द्रिय होकर (मन्मनाः भूयाः) मेरेमेंही दत्तचित्त होकर, पतिव्रता होकर रह।

(अथर्ववेदमें सूर्यासावित्री प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ कन्या है। उसके मनोमय रथ का वर्णन किया गया है। सजल मेघमें बिजुली के समान, शीतल जलों के तुल्य, शान्तिदायक, सुखवचनों को वर्षानेवाले गृहस्थ या वननीय, सेवन करनेयोग्य गृहस्थ में वा पति के आश्रम में सूर्यकीसी कान्तिवाली, मेघमें (अप्सरा) बिजुलीके समान अप्सरा-अर्थात् अति सुन्दर रूपवती होकर तू रह। विद्युत् तो चपला होती है, परन्तु तू मेरेमें चित्त लगाकर मेरे वशवर्तिनी होकर रह। इसीमें तेरी शोभा है।)

चतुर्दशी ऋचा।

या असा उपरि तिष्ठति वने वारिवर्षण्ये।
वसुगा सूर्यवर्चसिनी वशिनी मन्मना भूयाः ॥१४॥

(या असौ) जो वह (वारिवर्षण्ये) जल बरसानेवाले, बरसते (वने) जलमय मेघमें (उपरि तिष्ठति) ऊपर विराजती है, वैसेही शान्तिदायक, सुख वर्षानेवाले, सेवनीय पतिके आश्रममें तू भी (ऊपरि) सर्वोपरि विराज। तू (वसुगा सूर्यवर्चसिनी) सूर्य के समान कान्तिमती और

अनेक ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाली, वा 'वसु' अर्थात् गर्भमें वास करनेवाले पुत्रों और गृहमें बसनेवाले पति 'वसु' को प्राप्त करनेवाली होकर (मय्मनाः वशिनी भूयाः) मुझमें दत्तचित्त और जितेंद्रिय होकर रह।

पञ्चदशी ऋचा।

अश्वत्थक उपरि श्येनो रमणीयतरो नाम।
तस्मिन् ह रम्भा रमते शक्र इव परि-
तक्म्यायाम् ॥ १५ ॥

(अश्वत्थक उपरि) जिस प्रकार पीपल के ऊपर (रमणीयतरः श्येनः) अति सुन्दर बाज नाम पक्षी हो, उसी प्रकार (अश्वत्थके उपरि) अश्वोंपर विराजनेवाले वीरगण के ऊपर (श्येनः) प्रशंसा करनेयोग्य गुणों और आचरणोंवाला पुरुषही (रमणीयतरः) अति सुन्दर एवं तेरे वरण करनेयोग्य है। (तस्मिन् ह) उसमें ही (रम्भा रमते) रम्भा अति सुन्दर प्रतीत होती है, जिस प्रकार पीपल के पास लगी कदली या आलिंगन करनेवाली लता की शोभा हो, उसी प्रकार उक्त पुरुष में (रम्भा) सुन्दर रूपवती स्त्री लता के समान उसका आश्रय लेकर प्रसन्न होती है।

और (शक्र इव परितक्म्यायाम्) जिस प्रकार शक्र सूर्य रात्रिमें विश्राम करता है, उसी प्रकार वह (शक्रः) शक्तिशाली पुरुष भी अति स्नेहवती वरवर्णिनीमें ही सुख प्राप्त करता है।

षोडशी ऋचा।

आस्यन्दमाना सुभगे निर्गिरिभ्यः सरस्वति।
मातेव दुहितृभ्यः कुल्याभ्यो विभजा वसु ॥ १६ ॥

जिस प्रकार (गिरिभ्यः आस्यन्दमाना सरस्वती) पर्वतों या मेघोंसे बहनेवाली वेगवती नदी (कुल्याभ्यो वसु विभजते) छोटी कुल्या अर्थात् नहरों में अपना जल बांट देती है, उसी प्रकार, हे सरस्वती! उत्तम ज्ञान, और ऐश्वर्य से सम्पन्न देवि! तू (गिरिभ्यः आस्यन्दमाना) उत्तम उत्तम उपदेशों, प्रवचनों का उपदेश करनेवाले गुरुरूप गिरि, मातापिता, और अपने बडों के पाससे (आस्यन्दमाना) आदरपूर्वक रथादि से आती हुई, (कुल्याभ्यः) अपने कुलकी (दुहितृभ्यः) कन्याओं के लिये (माताइव) माता के समान (वसु विभज) धन-ऐश्वर्य का विभाग किया कर।

(कितना आदर्श उपदेश और नदी के साथ कितनी उत्तम उपमा है। आगे वाक् सरस्वती का वर्णन किया गया है।)

सप्तदशी ऋचा।

मध्यं तच्छन्दस आहुर्यत्रादधुर्नाम परेति देवाः।
अरुणपिशङ्गोऽश्वोऽस्य दक्षिणा यस्तद्वेद स
इहागन्तुमर्हति ॥ १७ ॥

(छन्दसः तत् मध्यम् आहुः) छन्दों के बीचमें उस छन्द (अनुष्टुप्) को छन्द कहते हैं (यत्र परेति) जहां पहुंचकर आगे भी छन्द रहते हैं। (देवाः नाम अदधुः) देवों, विद्वानोंने उसका नाम भी वैसाही रखा है- 'अनुष्टुप्' (अस्य अरुणपिशंगः अश्वः दक्षिणा) इस छन्दकी अरुणपिशङ्ग (लाल पीलों) रंग का घोडा ही दक्षिणा है। (यः तद् वेद) जो इसके गूढ रहस्य को जानता है, (स इह आगन्तुम् अर्हति) वह यहां आ सकता है, और कन्या का पाणिग्रहण करा सकता है।

यह एक प्रकार की पहेली के समान है। अनुष्टुप् छन्द समस्त छन्दों के बीच का छन्द है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, इन छन्दों का विनियोग 'षोडशी ग्रह' में हुआ है। वहां अनुष्टुप् छन्द की दक्षिणा अरुणपिशंग (लाल-पीला) घोडा है। जो इस छन्द के इस महत्व को जानता है, वही ऋत्विक् विवाह कराने के लिए उद्यत हो।

अनुष्टुप् छन्द दैव और असुर छन्दों का मध्यवर्ती इस प्रकार होता है। दैव सात छन्दक्रमसे एकाक्षरा गायत्री, द्व्यक्षरा उष्णिक्, त्र्यक्षरा अनुष्टुप्, चतुरक्षरा बृहती, पञ्चाक्षरा पंक्ति, षडक्षरा त्रिष्टुप्, और सप्ताक्षरा जगती हैं। इसी प्रकार आसुर छन्दोंमें- ९ अक्षरा गायत्री, १० अक्षरा उष्णिग्, ११ अक्षरा अनुष्टुप्, १२ अक्षरा बृहती। १३ अक्षरा पंक्ति, १४ अक्षरा त्रिष्टुप् और १५ अक्षरा जगती। दैव छन्दोंमें १-७ तक के अक्षर क्रमसे हुए और आसुर छन्दोंमें ९ से १५ अक्षर हुए। ८ अक्षरों का छन्द बीचमें

रह गया। यह अष्टाक्षरा अनुष्टुप् दैव और आसुर दोनों छन्दोंमें नहीं आकर दोनों के बीचमें शेष रहा है। इस प्रकार यह दोनों का मध्यवर्ती है।

इस अष्टाक्षरा गायत्री की दक्षिणा अरुणपिशंङ्ग अश्व है जैसे अष्टाक्षरा अनुष्टुप् छन्दों के मध्यवर्ती उसके इधर-उधर दैव और आसुर छन्द हैं, इसी प्रकार वरवर्णिनी देवी दैव उत्तम और आसुर निकृष्ट सब प्रकार की कामनाओं के बीचमें उनके आश्रयरूप होती है। स्त्री के आश्रय पर बडे पाप, अनर्थ होते हैं, अतः आसुर कर्मों का आश्रय भी स्त्री है, परन्तु समस्त उत्तम धर्मकर्म भी स्त्री के आश्रित हैं, इससे यज्ञादि दैव कर्म भी स्त्री पर आश्रित हैं। इस प्रकार स्त्री दोनोंके मध्यवर्ती उनका आश्रय है। और उसकी (दक्षिणा) अर्थात् दायें और विराजनेवाला दक्षिणाभाग 'अरुणपिशंग'- लालपीले वस्त्रों से सजा हुआ वर पुरुष है। स्त्री उसकी वामांग रहेगी। जो इस रहस्य को जानता है, वही विवाहकर्म करानेमें समर्थ है।)

अष्टादशी ऋचा।

इषीकवर्णे लेखभ्रूः सुभगे सुस्थिते।
मूर्धन्वांस्त्वा गन्धर्वो माम् अभिनियच्छतु ॥१८॥

हे (इषीकवर्णे) सीकों के समान गौर वर्णवाली! हे (सुभगे) सौभाग्यवति! हे (सुस्थिते) उत्तम आसन वा पद पर विराजमान! तू (लेखभ्रूः) सुन्दर लेखाके समान भौंहोवाली है। (मूर्धन्वान् गन्धर्वः) सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च परमेश्वर (त्वा) तुझे (माम् अभि नियच्छतु) मुझसे बांधे, मेरे अधीन करे।

एकोनविंशी ऋचा।

उभये त्वा देवगन्धर्वा सम्यञ्चो विह्वयामहे।
तेषां यतरान् कामयसे तान् अभ्येहि सरस्वति ॥१९॥

(देवगन्धर्वा) देव और गन्धर्व, देव-विद्वान्गण और भूमिपति, धनीमानी पुरुष (उभये सम्यञ्चः) दोनों वर्गों के लोग एकसाथ विराजमान होकर (त्वा विह्वयामहे) तुझे हम विविध नामों और विविध विशेषणों से बुलाते हैं। (तेषां) उनमें से तू (यतरान्) जिन विशेष गुणवान् पुरुषों को सद्भाव से (कामयसे) चाहती हो, हे (सरस्वति) हे प्रशस्त ज्ञानवाली! तू (तान् अभि एहि) उनके सन्मुख योग्य पतिवरण करने के लिये आ।

विंशी ऋचा।

अभ्यावर्ते हं देवान् गायतः कामयामहे।
गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते न तथा ब्रह्मवादिनम् ॥२०॥

(अहं देवान् अभि आवर्ते) मैं विद्वान् उत्तम पुरुषोंके समक्ष आता हूं। हम सब लोग स्वभावतः (गायतः कामयामहे) गान करते हुए लोगोंको चाहा करते हैं। (स्त्रियः गायन्तं कामयन्ते) स्त्रीमें भी गान करनेवालेको अच्छा समझती हैं, उनको वे इतना चाहा करती हैं कि (न तथा ब्रह्मवादिनम्) उतना वे ब्रह्मवादी वेदपाठी विद्वान् को नहीं चाहतीं।

एकविंशी ऋचा।

या सा उपरि पर्वत आत्मना रममाणेव।
क्षौममृद्वी ह् वा असि त्वोत ओजसि शृणोमि॥२१॥

(या सा उपरि पर्वते) यह जो ऊपर मेघका पर्वतपर (आत्मना) अपने आप (रममाणाइव) विहार करती हुई मध्यमावान् विद्युत्रूपसे है, वह तूही (क्षौममृद्वी ह असि) मखमलके समान कोमल मेघरूप दुशालासी ओढे कोमलांगी है। (त्वा ऊतः ओजसि) जिस प्रकार विद्युत् से ओतप्रोत होकर मेघ ओज, तेज, पराक्रम में विद्यमान होकर सहस्रधाराएं बरसाता और कड़कता है, उसी प्रकार (त्वा ऊतः) तेरेसे एकचित् प्रथित होकर मैं (ओजसि) बलपराक्रममें निष्ठ होकर (शृणोमि) तेरे सद्वचनों और गुणों का श्रवण करूं।

('शृणोतु' ऐसा भी पाठान्तर है।)

इति सारस्वतानुवाकः।

शुद्ध चार वेद।

चारों वेद अत्यन्त शुद्ध छापनेका कार्य स्वाध्यायमण्डलमें हो रहा है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद छपकर तैयार हैं। ऋग्वेद का नया द्वितीय संस्करण छप रहा है। दो महिनों के पश्चात् सामवेद भी तैयार हो जायगा। चारों वेदसंहिताओं के मूल्य इस प्रकार हैं—

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशके लिए डाकव्यय
ऋग्वेद (द्वितीयवार)	५)	१॥)	॥)	२)
यजुर्वेद	२)	॥)	।)	।॥)
सामवेद	२)	॥)	।)	।॥)
अथर्ववेद	३)	१)	॥)	१॥)
	१२)	३॥)	१॥)	५)

तथापि चारों वेदोंका पेशगी म० आ० से रियायती मू० ६) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिये डाकसे मंगानेवाले ९) नौ रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकों के जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेल से चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, वे प्रति सेट ६॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें, [इसमें ॥) पैकिंग और रजिष्ट्री के हैं।] उनके ग्रन्थ To pay रेलपार्सलसे भेजेंगे।

सामवेद छपनेतक ही चारों वेदसंहिताएँ ६) रु० में मिलेंगी। तत्पश्चात् मूल्य ७॥ होगा; इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

संपूर्ण महाभारत।

अब सम्पूर्ण १८ पर्व महाभारत छप चुका है। इस सजिल्द सम्पूर्ण महाभारत का मूल्य ६५) रु० रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० ऑ० द्वारा सम्पूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका सम्पूर्ण सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ हम ६०) रु० में दे सकते हैं। आपसे रुपया आते ही सब पुस्तकें आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुंचे। यदि रेल्वेस्टेशन आप के पास नहीं, तो डाकद्वारा भेज देंगे। रुपये म० आर्डरसे भेज दे, जिससे आधा डाकव्यय माफ होगा। वी० पी० से मंगवायेंगे, तो सब डा० व्य० आपको देना होगा। महाभारत का नमूनापृष्ठ और सूची मंगाइये।

आसन।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति।'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है, कि शरीरस्वास्थ के लिए आसनों का आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धति का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तक में है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य ।≈) सात आने है। म० आ० से २।≈) रु० भेज दें।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

१४. अथापि भूतसामान्ये पश्यामोऽद्यतनीमिमाम्।
सं वो मदासो अग्मत वर्धीर्हि दस्युं धनिनम्॥

इस भूत सामान्य में भी अद्यतन लुङ् की क्रिया को पाते हैं। जैसे—

[१] सं वो मदासो अग्मत०।
(ऋ० १।२०।५; ऋ० ४।३४।२)

[२] वधीर्हि दस्युं धनिनम्०।
(ऋ० १।३३।४)

१५. अकारि रत्नधातमः सूक्तादौ लुङ् प्रदर्श्यते।
मनसा निर्मितः स्तोमस्तस्य वक्तुमुपक्रमः॥

अकारि रत्नधातमः०।
(ऋ० १।२०।१)

इस स्थलपर हमें सूक्त के आदि में ही लुङ् का प्रयोग दीखता है। प्रथम मनसे स्तोम (स्तुति सूक्त) बना लिया है, उसको कहना प्रारम्भ किया है।

[यहां माधव के मतमें- ये सूक्त ऋषियों के बनाये हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

अकारि क्रियते अत्र लडर्थे लुङ्। (दयानन्द)

प्रश्न —

१६. ननु भूतलकारेषु संकीर्णेषु ततस्ततः।
परोक्षादिविभागेऽस्मिन्निबन्धः केन पाणिनेः॥

१७. विहितेषु लकारेषु भूतमात्रे ततो वयम्।
तत्तद्वाक्यानुसारेण वक्ष्यामोऽर्थांस्तथातथा॥

भूतकाल के द्योतक लकार इधर उधर परस्पर बहुत रल-मिल गये हैं। तो परोक्ष, अद्यतन, अनद्यतन, अपरोक्ष आदि विभाग में पाणिनि का विधान किस कारण है? भूतमात्र में लकारों का विधान किया ही गया है, तो उस उस वाक्य के अनुसार वैसे ही वैसे अर्थ लगा देंगे।

(समाधान)

१८. नैवं युक्तं रूपभेदादर्थभेदश्च युज्यते।
पश्यामोऽपि च वाक्येषु भेदं पाणिनिदर्शितम्॥

१९. स्पष्टमेव लकारार्थान् पश्यामो ब्राह्मणेषु च।
हरिश्चन्द्रो ह वैधसः शौनःशेपश्रिरीक्ष्यताम्॥

२०. तस्माद् यथातथा भूते परोक्षाद्यतनादिकम्।
प्रदर्शयेत् प्रयत्नेन मन्त्रेष्वपि च पण्डितः॥

ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि रूपभेद होने से अर्थों में भी भेद होना उचित है। देखते भी हैं कि लौकिक वाक्यों में पाणिनि मुनिने भेद दर्शाया है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी लकारों के अर्थ स्पष्ट पृथग् पृथग् देखते हैं। जैसे-

हरिश्चंद्रो ह वैधसः।

इत्यादि शौनःशेप ब्राह्मण में लकारों के भिन्न भिन्न प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थोंमें किये गये हैं। इस लिये जैसे भी हो सके वैसे विद्वान् पण्डित को चाहिये कि मन्त्रों में भी यत्नपूर्वक अद्यतन, अनद्यतन, परोक्ष, प्रत्यक्ष, आदि की विशेषता दर्शाया करे।

[पाणिनिने लोक में स्वतः अनुभूत और लोक में प्रयुक्त लकारों के अनेक प्रयोग और उन के अनेक अभिप्राय साक्षात् करके वैसा विधान किया। परन्तु वेदमें उससे भिन्न भी पाया, अतः केवल धातुसम्बन्ध में अनेक लकारों का प्रयोग दिखलाया है। फिर माधव का जो अद्यतन,अनद्यतन, परोक्ष, अपरोक्ष का आग्रह पाणिनिके प्रमाण से है, वह बहुत युक्तियुक्त नहीं अथवा उसका कोई और निगूढार्थ सोचना चाहिये।]

२१. स्पष्टं संवादसूक्तेषु परोक्षाद्यतनादिकम्।
तथाऽन्येषु च सूक्तेषु न तं भेदं परित्यजेत्॥
न पश्यति यदा मन्त्रे तं विशेषं प्रयत्नतः।
अपि चैकांगविकलं भवन्ति छांदसास्तदा॥

संवादसूक्तों में परोक्ष अद्यतन आदि का भेद स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्य सूक्तों में भी उस भेद का त्याग न करे। जब मन्त्र में प्रयत्न करने पर भी उस विशेषता को न पावे या उस में कोई अंश न्यून हो, तो उन प्रयोगों को छान्दस प्रयोग जाने।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अध्यायं तन्नु वोचाम व्याचिख्यासति माधवः।
प्रदर्शयँल्लिङो वृत्तिम् बह्वर्थेषु लिङ् स्मृतः॥

माधव (व्यंकट माधव) 'तन्नु वोचाम ०' (ऋ० १।१६६।१) (अष्टक २, अध्याय ४) की व्याख्या करना चाहता है। उसके प्रारम्भ में लिङ् लकारका व्यापार अर्थात् उसका अर्थ-बोधनप्रकार दिखाता है।

लिङ् का प्रयोग।

लिङ् का बहुत अर्थों में विधान किया गया है।

१. कर्त्तव्यता-प्रतीतिस्तु सर्वेष्वर्थेषु विद्यते।
विध्यादयः काकुभेदात् लिङ्भवन्तीति पण्डिताः॥

जिन अर्थों में लिङ्का विधान किया गया है, उन सभी अर्थों में कर्तव्यभाव की प्रतीति होती है। विद्वानों का मत है कि काकु अर्थात् वक्ताके तात्पर्य या अभिप्राय-भेद से विधि आदि छः अर्थ लिङ् के होते हैं।

[विधि-निमन्त्रण-आमन्त्रण-अधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ्॥ (पाणिनि ३।३।१६१)
विधिः प्रेरणम्। निमन्त्रणम् नियोगकरणम्। आमन्त्रणं कामचारकरणम्। अधीष्टः सत्कार-पूर्वको व्यापारः। संप्रश्नः संप्रधारणम्। प्रार्थनं याच्या॥ इति काशिका॥
इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ। (पा० ३।३।१५७)
कामप्रवेदन इति वक्तव्य। वार्तिकम्। समान कर्तृकेषु तुमुन् लिङ् च। (३।३।१५८,१५९)
शताऽर्थयोः समर्थयो लिङ् (३।३।१५२)
कामप्रवेदनेऽकच्चिति (३।३।१५३)
संभावनेऽलमितिचेत्सिद्धाऽप्रयोगे। (३।३।१५४)
विभाषा धातौ संभावनवचनेऽयदि।
(पा० ३।३।१५५)
जातुयदोर्लिङ्। (३।३।१४७)
यच्चयत्रयोः। गर्हायां च। चित्रीकरणे च।
(३।३।१४८-१५०)
विभाषा कथमि लिङ् च। (३।३।१४३)
किं वृत्ते लिङ् लृटौ। (३।३।१४४)
अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि (१४५)
अनवक्लृप्तिः असंभावना। अमर्षोऽक्षमा।
आशंसा वचने लिङ् (३।३।१३४)]

२. न दुरुक्ताय स्पृहयेत् पृणीयादिति चापरम्।
विध्यावुदाहरन्त्येतौ प्रेषणं विधिरुच्यते॥

[१] न दुरुक्ताय स्पृहयेत्। (ऋ० १।४१।९)
[२] पृणीयादिन्नाधमानाय (ऋ० १०।११७।५)

लिङ् के इन दोनों प्रयोगों को विधिमें किया हुआ बतलाते हैं। प्रेषण-भेजना- को विधि कहा जाता है।

[(१) दुर्वचन कहने को अच्छा न समझे। (२) मांगनेवालोंको अन्न से तृप्त करे। 'पृणीयात्' इस स्थलपर 'गृणीयाद्' ऐसा पाठ हस्तलिपियोंमें है।]

३. निमन्त्रणामन्त्रणयोर्भेदमाह। (पतञ्जलिः)
एवन्तर्हि नियोगतः कर्तव्यन्तन्निमन्त्रणम्॥
४. आमन्त्रणे कामचारस्तत्र नाकुर्वतो भयम्॥

पतंजलि मुनिने निमन्त्रण और आमन्त्रण इन दोनों में भेद बतलाया है। जो आज्ञाद्वारा करना आवश्यक हो जाता है, उसे निमन्त्रण कहते हैं। आमन्त्रण में करने की इच्छा पर निर्भर होता है। न करनेवाले को भय नहीं है।

अधीष्टं नाम सत्कारपूर्वं व्यापारणं विदुः॥

सत्कारपूर्वक किसी कार्य में लगाना 'अधीष्ट' कहा जाता है।

५. दृश्यन्ते बहवोऽस्माभिः प्रार्थनाविषया लिङः।
तयोरिदवसा वयं संयुज्याव सनिभ्य आ॥
६. विधुमें अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः।
अर्वनं राजा वरुणो ऽन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥

प्रार्थनाविषयक लिङों के हमें बहुत से प्रयोग दीखते हैं। जैसे—

[१] तयोरिदवसा वयं सनेम०। (ऋ० १।१७।६)
[२] संयुज्याव सनिभ्य आ। (ऋ० ८।६२।११)

[३] विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः। (ऋ० १।२३।२४)

[४] अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्० (ऋ० १।२४।१३)

[५] अन्तर्निहिताः केतवः स्युः। (ऋ० १।२४।७)

७. विधीयते चाशीषे लिङ्ङ् आशीर्धर्मः प्रयोक्तरि।
मयोभुवा सुप्रणीती भूयाम वाजदाम्नाम्॥

'आशीष्' कहने अर्थ में लिङ् का विधान किया गया है। अशीष् (शुभ-इच्छा) प्रयोग करनेवाले में रहती हैं। जैसे—

[१] मयोभुवा सुप्रणीती गमेम। (ऋ० ५।४२।१८)

[२] भूयाम वाजदाम्नाम्। (ऋ० १।१७।४)

[आशिषि लिङ् लोटौ (पा०३।३।१७३) आशासनमाशीः। अप्राप्तस्येष्टस्यार्थस्य प्राप्तुमिच्छा। इति काशिका]

८. हेतुहेतुमतोर्लिङ्स्याद् यदिन्द्राहं यथेति सः।
अभीष्टस्योदाहरणमुतो न उत्पुपूर्याः॥

हेतु और हेतुमान् अर्थों में वर्तमान धातुसे लिङ् होता है। जैसे—

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्।
स्तोता मे गोषखा स्यात्॥१॥ (ऋ० ८।१४।१)

[हे इन्द्र जिस प्रकार एकमात्र तू धन का स्वामी है, उसी प्रकार मैं भी होऊं, तो गौओं (वेदवाणियों, भूमियों, और गौओंका मित्र मेरी स्तुति करनेवाला होता।]

अभीष्ट अर्थ में लिङ् के प्रयोगका उदाहण है—

उतो न उत्पुपूर्याः।
उक्थेषु शवसस्पते॥ (ऋ० ५।६।९)

[हे बलों के स्वामी! तू हमें उक्थों में खूब पूर्ण कर समृद्धि-ऐश्वर्य आदि प्रदान कर। "अभीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः"(काशिका)। हमें वेदमन्त्र आदि उत्तम ज्ञानोपदेशों के कार्यों में मान आदरपूर्वक ऐश्वर्य प्रदान कर।

हेतुहेतुमतोर्लिङ्। (पा० ३।३।१५६)
विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्॥१६१॥]

९. अद्या मुरीय लिङयं विध्यादिषु न कश्चन।
अप्यू नु पत्नीरिति च दृश्यतेऽन्यविधस्तथा॥

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। (ऋ० ७।१०४।१५)

इसमें जो लिङ् का प्रयोग है, वह विधि आदि अर्थों में से किसी में नहीं है। और

अप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः। (ऋ० १।१७९।१)

यहां भी लिङ् का प्रयोग दूसरे ही प्रकार का दिखाई देता है।

१०. एवं प्रकारा बहवो लिङोऽस्माभिः प्रदर्शिताः।
सन्ति चान्येऽपि बहवः पश्येत्ताँश्चापि पण्डितः॥

इस प्रकार बहुत से लिङों के प्रकार हमने दिखलाये हैं और भी बहुतसे प्रकार हैं, विद्वान् पुरुषको वे भी देखने चाहिये।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः॥

पञ्चमोऽध्यायः।

लोट् और लेट् के प्रयोग।

तावामद्य तावपरं व्याचिख्यासति माधवः।
लोटः प्रदर्शयन् वृत्तिं लेटश्च तदनन्तरम्॥
माधव आचार्य–

'ता वामद्य तावपरं०।' (ऋ० १।१८४।१)
(अथर्व० १ अ० ५ मं० १)

अध्याय की व्याख्या के पूर्व लोट् और उसके पश्चात् लेट् की वृत्ति को बतलाते हैं।

१. लोड्-लेटावपि विध्यादौ स्मृतौ यत्र लिङो विधिः।
ऋजीते परि वृन्धि नो विधिराशीश्च याचनम्॥

लोट् लकार और लेट् लकार दोनों का विधान उन विधि आदि अर्थों में किया है, जिनमें लिङ् विधान किया है। जैसे–

ऋजीते परि वृङ्धि नो अश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥
(ऋ० ६।७५।१२)

इस मन्त्रमें विधि, आशीर्वाद और याचना अर्थों में लिङों का प्रयोग है।

[हस्तलिपियों में 'परि-वृन्धि' पाठ है, वेद में 'परि-वृङ्धि' पाठ है।]

२. नाहमतो निरयेति लोटः सर्वे विधायकाः।
वचनव्यक्तिभेदस्तु वाक्यसंयोगतः कृतः॥

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि। बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै। (ऋ० ४।१८।२)

इस मन्त्र में सब लोट् के प्रयोग विधायक हैं, अर्थात् विधि अर्थ में हैं। वचनभेद और व्यक्तिभेद वाक्यसंयोग के कारण किया गया है।

३. समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' अस्योदाहरणं विदुः।
प्रेह्यभीहि धृष्णुहीति द्वाप्विषयं करोति सः॥

समुच्चयमें विकल्प से लोट् का प्रयोग होता है, इसका उदाहरण जैसे–

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्। (ऋ० १।८०।३)

शत्रुओं के बीचमें वह (इन्द्र) इस इस प्रकारके कार्य करता है, उन कार्यों का इस ऋचामें एक स्थान में समुच्चय (संकलन) होनेसे 'प्रेहि, अभीहि, धृष्णुहि, हनः, जय' ये सब लोट् के प्रयोग हैं।

[समुच्चयेऽन्यतरस्याम्।
(पा० अ० ३। पा० ४। सू० ३)
समुच्चये सामान्यवचनस्य। (पा० ३।४।५)

लेट् के प्रयोग।

४. दृश्यन्ते बहवो लेटः प्रार्थना विषया इह।
स देवां एह वक्षति यक्षच्च पिप्रयच्च नः॥

वेदमें लेट् लकार के अनेक प्रयोग प्रार्थना अर्थ में हैं। जैसे–

स देवाँ एह वक्षति। (ऋ० १।१।२)
यक्षच्च पिप्रयच्च नः। (ऋ० ८।३९।९)
[लिङर्थे लेट्। पा० ३।४।७]

५. त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिमयं लेट् स्याद् विधायकः॥
त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषे०।
(ऋ० १।१४६।१)

इस मन्त्र में लेट् का प्रयोग विधि अर्थ में है।

६. अथापि वर्तमानेऽर्थे यो यजाति यजात इत्॥
अग्निना रयिमश्नवद् बहवः सन्ति तादृशाः॥

लेट्का प्रयोग वर्तमान अर्थमें भी होता है। जैसे–

[१] यो यजाति यजात इत्०।
(ऋ० ८।३१।१)

[२] अग्निना रयिमश्नवत्०। (ऋ० १।१।३)
[यजाते-यज्ञ करता है। अश्नवत्-प्राप्त करता है]

आ घा गमद् यदि श्रवद् हेतुहेतुमतोरिमौ॥
आ घा गमद् यदि श्रवत्०। (ऋ० १।३०।८)

इस मन्त्र में 'गमद्' 'श्रवद्' दोनों लेट् के प्रयोग हेतु-हेतुमान् अर्थ में हैं ।
[अर्थात् यदि सुनता तो आ जाता।]

वाक्यार्थानुगुणं लोटो लेटश्चार्थम् प्रदर्शयेत् ।
व्युत्पत्त्यर्थमिमाः काश्चिदृचोऽस्माभिः प्रदर्शिताः॥

वाक्यार्थ के अनुसार लोट् और लेट्के प्रयोगोंके अर्थ दिखलाने चाहियें। हमने कुछ वे ऋचाएं विद्यार्थी की योग्यतावृद्धि और इस विषयक सामान्य ज्ञान के लिये दिखलाई हैं ।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

निहोता होतृषदने व्याविख्यासति माधवः ।
लृटः प्रदर्शयन् वृत्तिं लुटश्च तदनन्तरम् ॥
लृट् और लुट् के प्रयोग बतलाते हुए माधव अब-

नि होता होतृषदने (ऋ० २।९।१)

अध्याय की व्याख्या करना चाहते हैं ।

लृट् और लुट् की वृत्ति ।

१. स्तविष्यामि त्वामहन्न जातो न जनिष्यते ।
यस्मानुषान् यक्ष्यमाणान् अग्ने भद्रं करिष्यसि ॥

२. यानि करिष्या कृणुहि प्र हिन्वानोऽग्रेगो राजा।
वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति ॥
दृष्टः लृटः प्रयोगोऽल्पो ।
लृट् लकार का प्रयोग अल्पही है जैसे-

[१] स्ताविष्यामि त्वामहम्। (ऋ० १।४४।५)

[२] न जातो न जनिष्यते। (ऋ० १।८१।५)

[३] यस्मानुषान् यक्ष्यमाणाँ अजीगः । (ऋ० १।११३।९)

[४] त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । (ऋ० १।१।६)

[५] यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥ (ऋ० १।१६५।९)

[६] प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिष्यन्नयासीत् (ऋ० ९।९०।१)

[७] अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते। (ऋ० ९।८६।४५)

[८] अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्। (ऋ० ९।८६।४५)

[९] वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति। (ऋ० ६।७५।३)

लुट् के प्रयोग ।

लुट ह्यल्पतरः स्मृतः ।
दृश्यते ब्राह्मणे तच्च कस्य चाश्वो भवितेति ॥

४. श्वो यज्ञे प्रयोक्तासे च श्वो विषुवान् भवितेति ।
शाख्यायनकं तद् देवावागत्य श्वो वक्ताराविति॥
और लुट् का प्रयोग तो लृट् से भी कम है । और वह भी ब्राह्मणग्रन्थ में दीखता है, जैसे—

(१) कस्य चाश्वो भविता, इति,
(२) 'श्वो यज्ञे प्रयोक्तासे'०
(३) 'श्वो विषुवान् भविता इति'
(४) 'तद् देवावागत्य श्वो वक्तारौ इति ।
(शाख्यायन ब्राह्मण)

५. लृटो लुटश्च विषये दृश्यन्ते च लिङादयः ।
वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठाः प्रातर्मक्षू धियावसुः ॥
लृट् और लुट् के विषय में लिङ् आदि लकारों के प्रयोग हुए दीखते हैं । जैसे—

[१] वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठा वयं श्वो वोचेमहि समर्ये ॥ (ऋ० १।१६७।१०)

[२] प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ (ऋ० १।५८।९)

[पंचम कारिकामें 'लुटश्च' के स्थानपर 'लोटश्च' ऐसा पाठ हस्तलिपियों में है । परन्तु 'लुटश्च' होना उचित है । मन्त्रों में दोनों प्रयोग लुट् के विषय में हुए हैं ।]

६. हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे लेड् भविष्यति।
अपि वा लड् वर्तमान-सामीप्येऽयम् भवेदिति॥
हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे।
(ऋ० १०।१०८।४)

इस ऋचा में लेट् का प्रयोग है अथवा वर्तमान सामीप्य में लट् का प्रयोग होना भी सम्भव है।

(वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद्वा॥ पा० ३।३।१३१)

७. हेतुहेतुमद् भावे च प्रयुज्यन्ते लृटः क्वचित्।
एकं चमसं चतुरस्तत्र स्याल्लृण् निदर्शनम्॥

हेतु-हेतुमद् भाव में भी कहीं कहीं लृट्का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद्वो देवा अब्रुवन् तद् व आगमम्। सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भवष्यथ॥
(ऋ० १।१६१।२)

यहां लृट् के प्रयोग हैं।

८. स्मर्यते लिङ्निमित्ते लृङ् क्रिया यत्रातिपद्यते।
यो वृत्राय सिनमत्र भूतमात्रे तु दृश्यते॥

लिङ् के निमित्त में भी लृङ् का विधान किया है, जहां क्रिया की अति पत्ति होती है, जैसे—

यो वृत्राय सिनमत्राभरिष्यत् प्र तं जनित्री विदुष उवाच॥
(ऋ० २।३०।२)

परन्तु, इस स्थलपर 'अभरिष्यत्' यह लिङ् का प्रयोग भूतमात्र में हुआ है।

[लिङ्-निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ। पा०३।३।१३९) भूते च॥ (पा० ३।३।१४०) वोताप्योः॥ पा० ३।३।१४१ कुतश्चिद् वैगुण्याद् अनभिनिर्वृतिः क्रियायाः क्रियातिपत्तिः। किसी कारणदोषसे क्रियाका न होना 'क्रिया की अतिपत्ति' कहाती है, जैसे- यदि दायें से आये हो, तो गाडी न उलटती। यदि मेरे पास आ गये होते, तो घी से भोजन करते।]

९. क्रियातिपत्तिर्बहुशो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते।
अध्यायादिष्विमे सर्वे लकाराः संप्रदर्शिताः॥

ब्राह्मणग्रन्थोंमें क्रिया की अतिपत्ति के प्रयोग बहुत से देखे जाते हैं। इस प्रकार द्वितीय अष्टक का व्याख्यान करते हुए अध्यायों के प्रारम्भ में हम ने समस्त लकारों के प्रयोगों पर प्रकाश डाला है।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः।

सेमामविड्ढि प्रभृतिं व्याचिख्यासति माधवः।
तत्राक्रियेषु वाक्येषु कर्तव्यमुपदिश्यते॥

माधव आचार्य—

सेमामविड्ढि०। (ऋ० २।२४।१; अ० २ अ० ७ मं०१)

अध्याय व्याख्या करने के पूर्व 'क्रियारहित वाक्यों में क्या करना चाहिये' इस सम्बन्धमें उपदेश करते हैं।

क्रियारहित वाक्यों में क्रिया का अध्याहार।

१. अपेक्षया क्रियाक्षेपः कारकाणामिति स्थितिः।
यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् परिचरन्ति॥

कारकों की अपेक्षा करके क्रिया लगाई जाती है। जैसे-

यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य।
(ऋ० १।४३।९)

इस ऋचामें 'परिचरन्ति' क्रियापद का अध्याहार करना चाहिये।

२. दस्रा ह यद्रेक्ण इति याचते वामिति क्रिया।
ता जिह्वया सदमेदं सुमेधा याचते जलम्॥

दस्रा ह यद् रेक्ण औचथ्यो वाम्०।
(ऋ० १।१५८।१)

इस ऋचामें 'याचते' क्रिया का अध्याहार होता है। इसी प्रकार-

'ता जिह्वया सदमेदं सुमेधा आ०।
(ऋ० ६।६७।८)

इस मन्त्र में भी 'जलं याचते' का अध्याहार किया जाता है।

३. उपसर्गाः प्रयुज्यन्ते क्रियाक्षेपाय च क्वचित्।
यस्ते सखिभ्य आवरम् आ प्रयच्छेदिति क्रिया॥

कहीं कहीं क्रिया के अध्याहार करनेकी सूचना के लिये उपसर्गों का प्रयोग हुआ है, जैसे-

'यस्ते सखिभ्य आ वरम्।' (ऋ० १।४।४)

इस मन्त्रमें 'आ' उपसर्ग 'आ प्रयच्छेद्' इसकी सूचना देता है।

४. इमे सोमास इन्दवः सुता अध्यासते क्रिया।
अर्चन्ननु स्वराज्यमित्यत्राप्वा क्रियापदम्॥

इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि। (ऋ० १।१६।६)

इस ऋचामें अधि उपसर्ग के साथ 'आसते' क्रियापद लगाना उचित है। और —

'अर्चन्ननु स्वराज्यम्।' (ऋ० १।८०)

इस मन्त्रमें 'अनु' उपसर्ग भी 'आस्ते' क्रिया का अध्याहार करता है।

५. पश्येद् यदादि योगेऽपि निहतं यदि तिङ् पदम्।
मध्ये क्रियापदाक्षेपस्तत्तद् वाक्यानुसारतः॥
महाँ इन्द्रो य ओजसा प्र यद्दिवो हरिवश्च।
न यो वराय मरुतामृचस्तत्र निदर्शनम्॥

यद् आदिके योगमें यदि तिङन्त पदको सर्वानुदात्त देखें तो बीचमें क्रियापद का अध्याहार उस उस वाक्य के अनुसार किया जाता है। जैसे-

[१] महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥ (ऋ० ८।६।१)

[२] प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः। (ऋ० १।३३।५)

[३] न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः। अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते॥ (ऋ० १।१४३।५)

ये तीन ऋचाएं इसी बात के उदाहरण हैं, जिनमें 'यद्' सर्वनाम का योग होनेसे मध्यमें भी क्रियापद का अध्याहार होता है।

यः इन्द्रः ओजसा महान् वर्तते।

यहां 'वर्तते' का अध्याहार होता है, (२) में- 'यद्दिवः प्र अधमः' यहां अधमः क्रियापदकाही अध्याहार होता है।

(३) यः सृष्टः सन् वराय न भवति।

[जो एक बार छूटकर फिर रोका नहीं जा सकता।]

यहां 'भवति' क्रियापद का अध्याहार है। इसी प्रकार-

७. अश्वं न त्वा वारवन्तम्, मनोजवेभिरिषिरैः।
ऋता यद् गर्भमदितिराक्षिपन्ति क्रिया इमाः॥

[१] अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। (ऋ० १।२७।१)

[२] मनोजवेभिरिषिरैः शयध्यै परि व्यथिर्दाशुषो मर्त्यस्य। (ऋ० ६।६२।३)

[३] ऋता यद् गर्भमदितिर्भरध्यै। (ऋ० ६।६७।४)

इन ऋचाओं में भी क्रियाओंका अध्याहार करना आवश्यक है।

[(१) हम अग्नि को स्तुति करने के लिये चुनते हैं,
(२) दानशील पुरुषको दुःख देनेवाला सोजाने के लिये ही होता है।
(३) जिनको अदिति गर्भ पूर्ण करने के लिये वरती है।]

८. यदोपमेये नान्वेति क्रियाशब्दस्तदापि च।
उपमेयान्वये योग्यामप्यामध्याहरेत् क्रियाम्॥

जब क्रियापद का उपमेय से सम्बन्ध होता है, तब भी उपमेय के साथ लगनेयोग्य क्रिया का अध्याहार करना चाहिये। जैसे—

९. नासत्याभ्यां बर्हिरिव सनाद् राजभ्यो जुहोमि।
अन्नाविव समिधान ऋचस्तत्रनिदर्शनम्॥

[१] नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे०। (ऋ० १।११६।१)

[२] सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
(ऋ० २।२७।१)

[३] प्र वः सतां ज्येष्ठतमाय सुष्टुतिम्
अग्नाविव समिधाने हविर्भरे।
(ऋ० २।१६।१)

१०. यच्चिद्धि ते विशो यथा स नो वृष्टिं दिवस्परि
अपेक्षेते क्रियामेते इत्याक्षेपः प्रपञ्चितः॥

[४] यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्
(१।२५।१)

[५] स नो वृष्टिं दिवस्परि०। (ऋ० २।६।५)

ये दोनों ऋचाएं भी क्रियाकी अपेक्षा करती हैं। इस प्रकार क्रिया का आक्षेप अर्थात् अध्याहारप्रकरण विस्तारसे कह दिया है।

[(१) यथा बर्हिः प्रवृज्यते तथा प्रवृञ्जे।

(२) यथा जुह्वा (पात्रविशेषेण) हूयते तथा जुहोमि

(३) यथा समिधाने अग्नौ हविः ध्रियते तथा ज्येष्ठतमाय सुस्तुतिं भरे।

(४) यथा विशः मिनन्ति व्रतं तथा वयं प्रतिदिवमोनिमसि।

(५) स दिवः परि वृष्टिं प्रेरयेत्।]

॥ इति सप्तमोऽध्यायः॥७॥

अष्टमोऽध्यायः।

मन्दस्व होत्रादध्यायं व्याचिख्यासति माधवः।
दर्शयन्नात्मनेपद-प्रयुक्तं भेदमात्मनः॥

'मन्दस्व होत्राद्०।' (ऋ० २।३७।१, अष्टक २।८।१)

इस अध्याय की माधवाचार्य व्याख्या करने के पूर्व आत्मनेपद के कारण आत्मा के भेद को दर्शाते हैं।

आत्मनेपद और परस्मैपद।

प्रश्न—

१. किमत्र कारणं ब्रूहि धातवोऽमी व्यवस्थिताः।
परस्मैपदिनः केचिद् आत्मने-पदिनोऽपरे॥

कुछ धातु आत्मनेपदी हैं और कुछ परस्मैपदी हैं, ऐसी जो धातुओं की व्यवस्था की गई है, इसमें क्या कारण है, इसका उपदेश कीजिए।

उत्तर—

२. आत्मनेपदमेवैषु दृश्यते भावकर्मणोः।
उदाहरणमेतेषां बहुत्वान्न प्रदर्श्यते॥

धातुओं के प्रयोगों में भाव और कर्म की विवक्षामें आत्मनेपद ही दीखता है। इनके बहुत उदाहरण हैं, इसलिए यहां उदाहरण नहीं दिखलाते।

३. वदन्ति तत्र कवयः स्वभावादिह केचन।
अभि संयन्ति कर्तारमग्निमीळे पुरोहितम्॥

४. फलं स्तुतेः स्वभावेन कर्तारमुपगच्छति।
अन्यार्थत्वं स्तुतेर्यत्नात् प्रतिपाद्यमिति स्थितिः॥

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि धातुएं स्वभावसे कर्ता को बांध लेती हैं। जैसे—

अग्निमीळे पुरोहितम्. (ऋ० १।१।१)

(मैं पुरोहित समक्ष स्थित, साक्षात् अग्नि की स्तुति करता हूं।)

स्तुति का फल स्वभावतः कर्ता को ही प्राप्त होता है। स्तुति अन्य के लिए भी होती है, ऐसा प्रतिपादन करने में कुछ विशेष यत्न अपेक्षित है।

आत्मनेपदिनस्ते स्युः परस्मैपदिनोऽपरे।

जिन का फल कर्त्ता को स्वभावतः प्राप्त होता है, वे धातु आत्मनेपदी हैं और दूसरे धातु परस्मैपदी हैं।

[अनुदात्तङित आत्मनेपदम्। (पा० १।३।१२) भावकर्मणोः। (१३) कर्तरि कर्मव्यतिहारे। (१४) इतरेतरा-

ज्ञानी पुरुष भी कपडा बुनें।

सीसेन तंत्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ॥३०७॥ (यजु० १९।८०)

" (कवयः मनीषिणः) कवि, मननशील लोग (मनसा) मननके साथ (सीसेन तंत्रं) सीसे के यंत्र के साथ ताना फैलाकर (ऊर्णासूत्रेण) उनके सूतसे (वयन्ति) कपडा बुनते हैं। " इस मंत्रमें " सीस " शब्दका अर्थ " सीसा, लोहा " इत्यादि हो सकता है।

" कवयः ऊर्णा-सूत्रेण वयंति " कवि ऊनके सूतसे कपडा बुनते है, यह वाक्य इस मंत्रमें देखने योग्य है ।

ऋग्वेदके एकही मंत्रमें कपडा बुनने और सूत कातनेके विषयमें सात उपदेश दिये है, वे प्रत्येक वैदिक धर्मीको ध्यानमें रखने चाहिये। देखिये वह मंत्र—

तंतुं तन्वन्, रजसो भानुमन्विहि, ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुल्बणं वयत, जोगुवामपो, मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम् ॥ ॥३०८॥ (ऋ० १०।५३।६)

(१) **तंतुं तन्वन्**=सूत कात कर,

(२) **रजसः भानुं अनु-इहि**=उसपर रंगका तेज चढाओ,

(३) **अनु-उल्बणं वयत**=और सूत गंठीला न बनाकर, उससे कपडे बुनो।

(४) **धिया कृतान् ज्योतिष्मतः पथो रक्ष**=इस प्रकार बुद्धिसे बनाये हुए तेजस्वियोंके मार्गोंका रक्षण करो;

(५) **मनुः भव**=मननशील बनो,

(६) **दैव्यं जनं जनय**=दिव्य प्रजा उत्पन्न करो,

(७) **जोगुवां अपः**=यह कवियोंका काम है ।

यह मंत्र अत्यंत स्पष्ट है और अर्थ के विषयमें कोई संदेहही नहीं है।

हे मनुष्य !

(१) सूत कात कर, (२) उसपर उत्तम रंग चढाओ, (३) पश्चात् उस सूतको खराब और गंठीला न बनाते हुए उसके कपडे बुनो, (४) इस रीतिके अनुसार चलकर तेजस्वी महात्माओंकी श्रेष्ठ बुद्धिसे निश्चित किये हुए सन्मार्गोंका संरक्षण करो, (५) सदा मननशील बनकर अपनी परिस्थितिका मनन करो, (६) सुप्रजा उत्पन्न करो, (७) यह सब कवियोंका काम है।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधिनाके अस्मिन् ॥ इमे मयूखा उप-सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥ ॥३०९॥ (ऋ० १०।१३०।२)

" (पुमान् एनं तनुते) एक मनुष्य इस तानेको फैलाता है, दूसरा मनुष्य बानेको (उत्कृणत्ति) खोलता है, इस प्रकार (अस्मिन् न+अ+के) इस सुखदायक स्थानमें ये (वितत्ने) विशेष रीतिसे सूत्र फैलाते हैं। (इमे मयूखाः) ये खूंटियां हैं जो (सदः उप सेदुः ऊ) बुननेके स्थानमें लगाई है, और (सामानि तसराणि ओतवे चक्रुः) सुखदायक नाले अथवा धडकियां है जो बानेके लिये बनाइ है। "

राजप्रकरण।

नेताके गुण।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ ॥३१०॥ (अथर्व०१।२१।१)

(स्वस्ति-दाः) मंगल देनेवाला, (विशां पतिः) प्रजाओंका पालक और (वि-मृधः) विशेषतः हिंसकों को (वशी) वशमें करनेवाला (वृषा) बलवान् (सोम-पाः) वनस्पति का रस पीनेवाला, (अ-भयं-कर) अभय करनेवाला (इन्द्रः) शत्रुनाशक वीर (नः) हम (पुरः एतु) आगे चलनेवाला हो।

उक्त प्रकार का वीर और शूर अग्रगामी नेता होनेसे ही अन्य लोगों का भी वैसा ही आचरण हो सकता है। तथा इस प्रकारके मंगलकारी, संयमी, निर्भय और शत्रुनाशक वीर के नेतृत्वमें रहकर ही राष्ट्रका उद्धार होता है।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ ॥३११॥ (अथर्व० १।२१।२)

हे (इन्द्र) शत्रुविदारक ! (नः मृधः) हमारे शत्रुओं को (वि जहि) मार डाल। (पृतन्यतः) सैन्य के साथ चढाई करने वालों को (नीचा यच्छ) नीचे ही रोक दे। (यः) जो (अस्मान् अभिदासति) हमारा नाश करता है (तं तमः गमय) उस को अंधकार में पहुंचा दे।

जो शत्रु सैन्य के साथ चढाई करने वाले हैं, तथा अन्य रीतिसे नाश करने वाले है, उनको पराजित करके नीचे दबाकर रखना चाहिये। कभी उनको उठने नहीं देना चाहिये।

सपत्नक्षयणो वृषाभि राष्ट्रो विषासहिः। यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥ ३१२॥ (अ० १।२९।१)

(यथा) जिससे कि (सपत्न-क्षयणः) शत्रुओं का नाश करके (वृषा) बलवान् होकर (वि-सासहिः) और सदा विजयी बनकर (अहं) मैं (अभि-राष्ट्रः) राष्ट्र की सेवा करता हुआ (वीराणां) वीरों के तथा (जनस्य) लोगों के बीच में (वि-राजानि) विराजूंगा।

शत्रु का पराभव करना, बलवान् होना और विजयी बनना, ये तीन गुण राष्ट्रसेवाके लिये आवश्यक हैं। इस प्रकार के राष्ट्रसेवक नेतालोग वीरों और लोगों में शोभायमान होते हैं।

राष्ट्र के लिये ही बढना।

अभीवर्तेन मणिना येनन्द्रो अभिवावृधे। तेनस्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय॥३१३ (अ० १।२९।१)

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानपते ! (येन) जिस (अभिवर्तेन मणिना) विजयी मणिसे (इन्द्र) शत्रुनाशक वीर (अभिवावृधे) बढा था, (तेन) उससे (अस्मान्) हम सबको (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिये (अभि वर्धय) तू बढा।

मणि शब्द रत्नवाचक है। ज्ञानी के पास ज्ञानरत्न, वीर के पास शौर्यरत्न, वैश्यके पास धनके रत्न, तथा शूद्रोंके पास कारीगरी के रत्न होते हैं। ये ही मणि हैं। इस मणिसे उस उस वर्णका पुरुष राष्ट्र के लिये योग्य होता है। ज्ञानीका कर्तव्य है, कि वह अपने ज्ञान की योजना से प्रत्येक वर्ण के पुरुष यथायोग्य रत्न जेवर से सुशोभित करके उस को राष्ट्र की सेवा के लिये योग्य बनाये। प्रत्येक वर्णका हरएक पुरुष अपने योग्य उक्त रत्नों से सुशोभित होकर राष्ट्र की सेवा के लिये सिद्ध हो जाय।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः। अभि पृतन्यंतं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ ॥३१४॥ (अथर्व० १।२९।२)

हे वीर ! (सपत्नान्) प्रतिपक्षियों को तथा (नः) हमारे जो (अ-रातयः) शत्रु हैं, उनको (अभिवृत्य) जीत कर, (पृतन्यन्तं) सेना के साथ चढाई करनेवाले को तथा जो हम सबको (दुरस्यति) बुरा व्यवहार करता है, उसको (अभि-तिष्ठ) दबाकर रख।

वीर पुरुषों को उचित है, कि वे प्रतिपक्षियों, शत्रुओं, सेनासे आक्रमण करनेवालों तथा अनुदार पुरुषों को वीरताके साथ प्रतिबंध करें और उनको बुरे व्यवहार करने न दें।

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ३१५ ॥ (अथर्व० १।२९।४)

(अभीवर्तः) शत्रुको जीतनेवाला, (अभिभवः) शत्रुको हरानेवाला, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करनेवाला, यह (मणिः) रत्न है, उसको (मह्यं) मुझपर (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिये तथा (सपत्नेभ्यः) वैरियोंका (पराभुवे) पराभव करने के लिये (बध्यतां) बांधा जाय।

प्रत्येक वर्ण के जो पूर्वोक्त रत्न है, उनके कारण उस उस प्रकार के शत्रु नष्ट होते हैं और पराभूत होकर दूर भाग जाते हैं। इस लिये ये रत्न हरएक वर्णको धारण करके अपने राष्ट्रकी सेवा करने के लिये सिद्ध होना चाहिये। ब्राह्मण ज्ञानरत्नसे, क्षत्रिय वीर्यरत्नसे, वैश्य धनरत्नसे, और शूद्र कुशलतारत्नसे शोभिवंत होकर अपने राष्ट्रकी सेवा करे।

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः। यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ३१६ ॥ (अथर्व० १।२९।५)

(असौ सूर्यः) यह सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ

है, (इदं मामकं वचः) यह मेरा वचन (उत्) उदय को प्राप्त है। (यथा अहं) जैसा मैं (शत्रु-हः) शत्रुको मारनेवाला, स्वयं (अ-सपत्नः) शत्रुरहित और (सपत्न-हा) विपक्षियों का नाश करनेवाला (असानि) होऊं।

सूर्य उदय होता है, उस प्रकार मैं भी उदयको प्राप्त होता हूँ। अपने संपूर्ण विरोधी शत्रुओं को पूर्णता से पराजित करनेसे ही अपना अभ्युदय होता है। अभ्युदय प्राप्त करने की यही रीति है।

राजाके लिये उपदेश।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥३१७॥ अथर्व० ३।४।

हे राजन्! (राष्ट्रं) यह राष्ट्र (त्वा आगन्) तुझ को प्राप्त हुआ है (वर्चसा सह) तेज के साथ (उदिहि) उदय हो। (प्राङ् विशां पतिः) पूजित होकर प्रजाका पालन करने वाला (एक राट्) एक राजा बनकर तू (विराज) विराजमान हो। (सर्वाः प्रदिशः) सब प्रदिशाओं में रहनेवाली प्रजाएं (त्वा ह्वयन्तु) तुझे पुकारें। (इह) यहां (नमस्यः) वंदनीय और (उपसद्य) सब को प्राप्त होनेवाला तू (भव) हो।

चुने हुए नवीन राजा के लिये यह सब उपदेश है (१) हे राजा! तुझे राष्ट्रने पसंद किया है, (२) तेजस्वी बनकर व्यवहार कर, (३) प्रजा का पालन कर, (४) सब प्रजाओं को प्रिय बन,और(५) सब प्रजाओं को प्राप्त हो। अर्थात् ऐसे स्थानपर न रहो, कि जहां कोई तुम्हें देख भी न सके।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥३१८॥ अथर्व० ३।४।२

हे राजन्! (राज्याय) राज्य के लिये (विशः) प्रजाएं तथा (इमाः पंच प्रदिशः देवीः) ये पांच दिशाओं में रहनेवाली प्रजाएं (त्वां वृणतां) तुझकोही स्वीकार करें। (राष्ट्रस्य) राष्ट्रके (वर्ष्मन्-ककुदि) ऐश्वर्ययुक्त उच्च स्थानपर (श्रयस्व) आश्रय ले। (ततः) पश्चात् (उग्रः) शूर वीर बनकर (वसूनि) धन (नः विभज) हमारे लिये विभाग कर।

हे राजन्! (१) सब प्रजाजन तुझे ही राज्य के लिये स्वीकार करें। यदि उनकी संमति न हुई तो तुम्हारे से राज्य छीना जायगा। इस लिये तू ऐसा राज्य कर कि सब प्रजाजन संतुष्ट रहें और क्लेशयुक्त न बनें;(२) सब राष्ट्र के शिरोभाग में बैठकर सर्वत्र धनविभाग उत्तम कर, जिसमें धनकी विषम स्थिति होकर किसी को कोई क्लेश न हो सके।

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चराते। जायाः पुत्राः सुमनसो भवंतु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः॥३१९॥ अथर्व ३।४।३

(स-जाताः) सजातीय लोग (हविनः) हवन करते हुए (त्वा) तेरे पास (अच्छयन्तु) संमुख होकर मिलें। (अजिरः) चपल (अग्निः दूतः) अग्नि के समान तेजस्वी दूत (संचराते) संचार करें। (जायाः पुत्राः) स्त्रियां और उनकी संतान (सुमनः भवंतु) उत्तम मनवाले बनें। ऐसा होनेके पश्चात् (उग्रः) तू शूर होकर बहुत (बलिं) करभार-भेंट (प्रति पश्यासै) देखेगा।

(१) तेरे राज्य में यज्ञयाग करनेवाले बहुत हों। (२) देश-देशांतर में चतुर दूत भेजे जांय। (३) तेरे राज्य में स्त्रियोंका सदाचार रहे और संतान गुणसंपन्न हो। (४) यदि तेरी राज्यव्यवस्था इस प्रकार की होगी तोही तुम को बहुत भेंट मिलेगी। नहीं तो नहीं मिलेगी।

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥३२०॥ अथर्व० ३।५।२

हे (पर्ण-मणे) पालन करने में मन रखनेवाले! तू (मयि) मुझ में (क्षत्रं) क्षात्रबल और (रयिं) धन (धारयतात्) स्थापित कर। (अहं) मैं राष्ट्रके (अभि-

वर्गे) हितकर्ताओंमें (उत्तमः निजः) उत्तम निज बनकर (भूयासं) रहूंगा।

(१) राजाके अंदर क्षात्र बल और धन होना चाहिये तथा उसका मन सदैव प्रजापालन में रहना चाहिये। (२) राजा तथा राजपुरुष राष्ट्रके निज अर्थात् स्वकीयसे बनकर रहें अर्थात् उपरी न रहें।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥३२१॥ अथर्व० ३।५।६

(ये धी-वानः) जो बुद्धिमान है (रथकाराः) गाडी बनाने वाले और (कर्माराः) शिल्पी अथवा लुहार आदि हैं तथा जो (मनीषिणः) मननशील विद्वान् हैं, हे (पर्ण) पालक! तू उन (सर्वान् जनान्) सब जनोंको (मह्यं अभितः उपस्तीन्) मेरे चारों ओर (कृणु) कर।

राजाको उचित है कि वह अपने पास ज्ञानी, विचारी, मननशील, बुद्धिमान, विद्वान्, तत्त्वज्ञानी, कारीगर, तर्खाण, लुहार आदि सब प्रकारके लोग रखे और उनको उत्तेजना देकर कारीगरीको बढावे॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥३२२॥ अथर्व ३।५।७

(ये राजानः) जो सरदार और जो (राजकृतः) राजाओंको बनानेवाले-राजाके चुनावमें मत देनेवाले सज्जन है तथा (सूताः) गाथाओंको सुनानेवाले तथा (ग्रामण्यः) ग्रामके नेता लोग है, हे (पर्ण) पालक तू उन सबको मेरे पास कर।

राजाको उचित है कि वह सब सरदारोंको तथा राजाके चुनावमें मत देनेवाले सज्जन हैं उनको तथा कथा करनेवाले इतिहासिकोंको और ग्रामके नेता महा जनोंको अपने अनुकूल करके अपने सहायक बनाकर रखे।

राष्ट्रमें ज्ञान और शौर्यकी वृद्धि।

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्। संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ ३२३॥ अथर्व० ३।१९।

(मे इदं ब्रह्म) मेरा यह ज्ञान (संशितं) अत्यंत सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो, मेरा वीर्य और बल प्रभावशाली हो, (संशितं क्षत्रं) प्रभावयुक्त क्षात्रतेज (अजरं अस्तु) विशेष होवे (येषां) जिनका मैं (जिष्णुः पुरः-हितः) विजयी मुखिया-अग्रेसर-अगुआ- (अस्मि) हूं।

राष्ट्रका मुख्य, समाजका नेता, जातिका अग्रेसर जो होता है, उसको उचित है कि वह प्रयत्न करके अपनेमें तथा अपने समाज जाति या राष्ट्रमें ज्ञान, शौर्य, वीर्य, बल, प्रभाव, पुरुषार्थ आदि की पराकाष्ठातक वृद्धि करे। और किसी को पीछे न रखे।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्। वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥३२४॥ अथर्व ३।१९।२

(एषां राष्ट्रं) इनका राष्ट्र (अहं संस्यामि) मैं तैयार करता हूं। इनका ओज, वीर्य और बल मैं (सं) उत्तम प्रकारसे सिद्ध करता हूं। (अनेन हविषा) इस आदानसे मैं शत्रुओंके बाहूओंका (वृश्चामि) छेदन करता हूं।

राष्ट्रके नेताको चाहिये कि वह राष्ट्रके सब लोगोंके अंदर राष्ट्रीय भावना, ओज, वीर्य, बल, तेज, शौर्य, उत्साह आदि गुण बढावें और लोगोंको सदा तैयार रखे ताकि जिस किसी समय शत्रुका हमला होनेका संभव हो उस समय अपना बचाव करनेके लिये सब राष्ट्र सिद्ध रहे॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्। क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥३२५अ०३।१९।३

वे सब शत्रु (नीचैः पद्यंतां) नीचे गिरें और (अधरे भवंतु) अधोभागमें रहें, (ये) जो शत्रु (नः मघवानं सूरिं) हमारे महान् ज्ञानीपर (पृतन्यान्) सैन्यसे चढाई करेंगे। (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (अमित्रान् क्षिणामि) शत्रुओंका नाश करता हूं और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंकी उन्नति करता हूं।

जो ज्ञानी पुरुषोंको कष्ट देंगे, उन शत्रुओंको नीचे दबाना चाहिये। ज्ञानसेहि शत्रुका पराजय होता है, इसलिये शत्रुका पराजय करनेवालोंको उचित है कि वे अपनी प्रगति ज्ञानक्षेत्रमें अधिक करें और अपनी उन्नति करें। शत्रुको परास्त करना

और अपने स्वजनोंकी उन्नति करनी चाहिये।

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत। इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥३२६॥ अथर्व० ३।१९।४

(परशोः) कुल्हाडीसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसेभी अधिक तीक्ष्ण, इन्द्रके वज्रसेभी तीक्ष्ण उनके शस्त्र हो जिनका मैं (पुरोहितः) अग्रगामी हूं।

नेता को उचित है कि वह अपने अनुयायियोंके शस्त्रास्त्र उत्तम तीक्ष्ण रखे।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेऽशां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ३२७ ॥ अथर्व०३।१९।५

(अहं) मैं (एषां आयुधा) इनके शस्त्रास्त्र (संस्यामि) तीक्ष्ण करता हूं। (एषां राष्ट्रं) इनका राष्ट्र (सुवीरं) उत्तम वीरोंसे युक्त करके (वर्धयामि) बढाता हूं। (एषां क्षत्रं) इनका शौर्य (अ-जरं अस्तु) अन्यून हो। (एषां जिष्णु चित्तं) इनके विजयी चित्तका (विश्वे देवाः) सर्व देव (अवन्तु) रक्षण करें।

नेता अपने सब वीरोंके शस्त्रास्त्र तैयार रखे, अपने राष्ट्रमें वीरोंकी संख्या तथा उनके शौर्यका प्रमाण बढाकर, उनके चित्तमें सदा उत्साह रहे ऐसी सुशिक्षा देनी चाहिये, जिससे राष्ट्रके लोग सदा विजयी होते रहेंगे॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः। पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा-मरुतो यन्तु सेनया ॥३२८॥ अ० ३।१९।६

हे (मघवन्) प्रभो! (वाजिनानि) सैन्य (उद्धर्षन्तां) आनंदसे युक्त रहें; (जयतां वीराणां) विजयी वीरोंका घोष (उद् एतु) ऊंचा उठे। (उलुलयः घोषाः) सेना समूहों के शब्द (केतुमन्तः) झंडोंके समेत (उदीरतां) ऊपर उठें। (इंद्र-ज्येष्ठाः) इन्द्रको मुख्य माननेवाले (मरुतः देवाः) देव मरुत् (सेनया यंतु) सेनाके साथ चलें।

मुख्य वीर इन्द्र होता है और मरनेके लिये तैयार हुए सैनिक मरुत् (मर उत्) कहलाते हैं।

युद्ध के समय सैन्यमें वीर्य का उत्साह रहे, उत्साह का शब्द चारों ओर होता रहे, अपने अपने झंडोंके समेत सब सेना तैयार हो जाय। सेनापतिके साथ सब सेना हमला करनेके उद्देश्यसे चले।

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः। तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥३२९॥ अ० ३।१९।७

हे (नरः) नेता लोगों! (प्र इत) धावा करो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः) तुम्हारे बाहु (उग्राः) प्रचंड (सन्तु) होवें। हे (तीक्ष्णेषवः उग्रायुधाः) तीक्ष्ण बाणों और तीक्ष्ण शस्त्रवाले वीरो! हे (उग्रबाहवः) उग्र बाहुवाले वीरो! (अ-बल-धन्वनः) निर्बल धनुवालोंको, तथा (अबलान्) अशक्त शत्रुओंको (हत) मारो।

नेता लोग आगे बढें और जय प्राप्त करें। सदा यह ध्यान रखें कि अपने शस्त्रास्त्र शत्रुके शस्त्रास्त्र की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हों जिससे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा।

अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन। ३३०॥ अ०३।१९।८

हे (ब्रह्मसंशिते शरव्ये) ज्ञानसे तीक्ष्णशर! (अवसृष्टा परापत) छोडा हुआ तू शत्रुपर जाकर गिर जा। (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीत, (प्रपद्यस्व) आगे बढ, (एषां वरं वरं) शत्रुके बडे बडे वीर को (जहि) मार डाल, (अमीषां कश्चन) इनमेंसे कोईभी (मा मोचि) न छुटे।

शस्त्र शत्रुके वीरोंपर नियमसे गिरने चाहिये। शत्रु-सैन्यमें जो मुख्य मुख्य वीर होंगे, उनको चुन चुनकर मारना चाहिये, जिससे शत्रुके पास योजक सेनापति कोईभी न रहे। क्योंकि ज्ञानपूर्वक योजना होनेसे ही जय मिलता है।

राष्ट्रमें क्षत्रियोंकी शक्तिकी उन्नति।

इममिंद्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेक वृषं कृणु त्वम्। निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रंधयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ अथर्व० ४।२२।१

हे (इंद्र) प्रभो (इमं क्षत्रियं) इस क्षत्रियको (वर्धय) बढा (त्वं) तू (इमं) इसको (मे विशां एकवृषं) मेरी प्रजाओंमें अद्वितीय बलीष्ठ (कृणु) कर। (अस्य अमित्रान्) इसके शत्रुओंको (निरक्ष्णुहि) निर्बल कर दे। (अहमुत्तरेषु) स्पर्धा के अंदर (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंका (रन्धय) नाश कर।

राष्ट्रमें क्षत्रियोंकी शक्ति बढानी चाहिये। राष्ट्र अद्वितीय क्षात्रबलसे युक्त करना चाहिये। जिससे स्पर्धाके समय सब अन्य शत्रु परास्त हो जाय।

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य। वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेंद्र शत्रुं रंधय सर्वमस्मै ॥३३२॥ अ० ४।२२।२

(इमं) इसको ग्राममें (अश्वेषु, गोषु) घोडों और गौवों में (भज) सेवित कर। जो इसका (अमित्र) शत्रू है (तं) उसको (निर्भज) अलग कर। यह राजा (क्षत्रियाणां-वर्ष्म) क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ है। हे (इन्द्र) प्रभो! (अस्मै) इसके (सर्वं शत्रुं) सब शत्रुको (रंधय) नष्ट कर।

राजाको अपने पास उत्तम घोडे और उत्तम गौवें रखनी चाहिये। स्वयं उत्तम क्षात्र बलसे युक्त होकर संपूर्ण शत्रुओंको पादाक्रांत करना चाहिये ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा। अस्मिन्निंद्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥ ३३३ ॥ अथर्व० ४।२२।३

(अयं) यह (धनानां धनपतिः) धनोंका धनपति (अस्तु) होवे। यह (विशां) प्रजाओंका (विश्-पतिः) योग्य पालन करनेके कारण राजा होवे। हे (इंद्र) प्रभो! (अस्मिन्) इसमें (महि वर्चांसि) बडे तेज (धेहि) धारण कर (अस्य शत्रुं) इसके शत्रुको (अ-वर्चसं कृणुहि) निस्तेज कर॥

राजा धनका योग्य उपयोग करे। तथा प्रजाओंका उत्तम प्रकारसे पालन करे। राजा अत्यंत तेजस्वी होवे और वह शत्रुओंको निस्तेज बना देवे।

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते। यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ३३४ ॥ अथर्व० ४।२२।५

(ते) तेरा (उत्तरावंतं इंद्रं) उच्चतर प्रभुके साथ (युनज्मि) संयोग करता हूं। (येन जयन्ति) जिससे जय पाते हैं और (न पराजयन्ते) कभी पराजित नहीं होते। (यः) जो (त्वा) तुझको (जनानां एकवृषं) मनुष्योंमें श्रेष्ठ बलवान् (करत्) करे तथा मानवोंमें और सब (राज्ञां) राजाओंमें उत्तम करे।

राजाको प्रभुकी भक्ति करनी चाहिये। जिससे उसका जय होगा और कभी पराजय नहीं होगा। राजाको उचित है कि वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ, राजाओंमें बलिष्ठ और अद्वितीय प्रभावशाली बननेका यत्न करे।

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते। एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥३३५ अथर्व० ४।२२।६

हे राजन्! (त्वं उत्तरः) तू अधिक श्रेष्ठ हो, तेरे(सपत्नाः) शत्रु जो (प्रति शत्रवः) विरोधी हैं वे सब (अधरे) नीचे हों। तू (एक वृषः) अद्वितीय बलवान् (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) विजयी होकर (शत्रूयतां) शत्रुके समान व्यवहार करने वालोंके (भोजनानि आभर) भोगोंको लाकर रख दे।

राजाको उचित है कि वह सब बातोंमें अधिक प्रवीण बने। शत्रुओंको सदा दबाकर नीचे रखे। अद्वितीय प्रभावशाली परमेश्वर का भक्त विजय प्राप्त करने वाला होकर शत्रुओंके सब भोग उनसे अपने पास लाकर रखे।

राष्ट्रीय आशीर्वाद।

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥३३६ (अथर्व० ६।७८।२)

यह पतिपत्नी (पयसा) दूध पीकर (अभिवर्धतां) बढें। (राष्ट्रेण) राष्ट्रके साथ (अभिवर्धतां) बढें। (सहस्र-वर्चसा रय्या) हजारों तेजोंसे युक्त धनके साथ (इमौ) ये दोनों पति और पत्नी (अनुपक्षितो स्तां) भरपूर रहें।

हरएक मनुष्य दूध पीकर हृष्ट पुष्ट होवे और अपने राष्ट्रके हित होनेमें अपना हित है, यह बात ध्यान में रखे। कभी भी राष्ट्रकी हानि पहुंचाकर अपना लाभ करनेकी चेष्टा न करे और अपेयपान करके अपना आरोग्य भी नष्ट न करे। इस रीति से व्यवहार करनेपर तेजस्विता और धनयुक्त यश प्राप्त होता है।

राजा राष्ट्रका सौंदर्य है।

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु ॥३३७॥ (ऋग्वेद ७।३४।११)

(नदीनां राष्ट्रानां) गमनशील राष्ट्रोंका (पेशः) रूपहि राजा है। इसलिये इसके पास (विश्वायु) सब प्रकारका (अनुत्तमं क्षत्रं) उत्तम क्षात्रतेज होवे।

राजा ही राष्ट्रोंकी उन्नति करनेके कारण राष्ट्रोंको रूप देनेवाला है, इसलिये उसके पास उत्तम क्षात्रतेज होना चाहिये। अन्यथा वह सब राज्यका संरक्षक हो नहीं सकेगा।

राजाकी स्थिरताके लिये समितिकी रचना।

ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ॥३३८॥ (अथर्व० ६।८८।३)

हे राजन्! (ध्रुवः) दृढ और (अ-च्युतः) पदच्युत न होता हुआ (शत्रून् प्रमृणीहि) शत्रुओंका नाश कर। और (शत्रूयतः) शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको (अधरान्) नीचे (पादयस्व) गिरा दे। (सर्वाः दिशः) सब दिशाओंमें रहनेवाले लोग (सं मनसः) उत्तम मनवाले और (सध्रीचीः) मिल जुलकर रहनेवाले होकर और (इह) इस राष्ट्रमें (ते ध्रुवाय) तेरी स्थिरताके लिये (समितिः कल्पतां) सभा समर्थ होवे।

राजा अपने उत्तम शासन-प्रणालीसे सुदृढ होकर राज्य करे। सब शत्रुओंका पूरापूरा नाश करे, तथा जो शत्रुके समान आचरण करनेवाले हों उनको दबाकर रखे। सब लोगोंकी संघशक्ति बनाकर राष्ट्रमें अपूर्व सामर्थ्य उत्पन्न करे और समितिद्वारा राज्यशासन कराके, लोकसमितिकी अनुमतिसे स्वयं सुदृढ होकर उत्तम राज्यशासन करे।

राजसभा।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाचारु वदानि पितरः संगतेषु (अथर्व०७।१२।१)

(प्रजा-पतेः) प्रजारक्षक राजाकी (दुहितरौ) पुत्रीवत् पालन योग्य (सभा) लोक-सभा और (समितिः) राष्ट्रपरिषद् हैं; ये दोनों (मा अवतां) मेरी रक्षा करें। ये दोनों (संविदाने) मेल करनेवाली है। (येन) जिस सभासदके साथ (संगच्छै) मैं मिलूं (स मा उपशिक्षात्) वह मुझे ज्ञान दे। हे (पितरः) पालन करे-वाले सभासदो! (संगतेषु) सभाओंमें (चारु वदामि) मैं ठीक बोलूं।

(१) सभाः ग्रामके लोगोंकी सभा है, (२) समिति-राष्ट्रके प्रतिनिधियोंकी परिषद् है। (३) ये दोनों सभायें प्रजाका पालन करनेवाले राजाकी दुहिताएं हैं। पिता दुहिता अर्थात् पुत्रीका पालक होता है, परंतु पुत्रीपर अधिकार पतिका होगा, पिताका नहीं। ठीक इस प्रकार राजा लोक-सभाओं का पालक है परंतु लोकसभा राजाके अधिकारसे बाहीर है अर्थात् राज्यशासनका सुधार आदि करनेमें लोकसभा पूर्ण स्वतंत्र है। (४) इन दोनों सभाओंमें प्रजाकी संमतियोंका मेल होता है, इसलिये इन सभाओंके सभासदोंसे मिलकर प्रजाके मत का ज्ञान राजा प्राप्त करे। (५) लोक-सभाके सभासद भी राजाको अपनी निः पक्षपात संमति देते

रहें। (६) वास्तविक राज्यके शासक और पालक लोकसभाके सभासद ही हैं। (७) राजा और लोकसभाके सभासदोंका जिस जिस समय मिलाप हो, उस उस समय परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण होवे और कभी विद्वेषके शब्द न उच्चारे जांय।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ ३४०॥ अथर्व० ७।१२।२

हे (सभे) सभा ! तेरा नाम (विद्म) जानते हैं। तेरा नाम (न-रिष्टा) अविनाशक है। (ये ते के च) जो कोई तेरे सभासद हैं (ते) वे (मे) मेरे साथ (स-वाचसः सन्तु) सत्यवचन बोलनेवाले होवें।

लोकसभा का नाम (न-रिष्टा) किसीका नाश न करनेवाली, स्वयं नष्ट न होनेवाली अथवा (नर-इष्टा) लोगोंके लिये इष्ट करनेवाली है। जिस राज्यमें लोकसभा होती है और लोकसभा द्वारा जहांका राज्यशासन चलाया जाता है, वहां राजाको और लोगोंको अर्थात् किसीकोभी कोई कष्ट नहीं होते। परंतु लोकसभासे अधिक लाभ प्राप्त होनेके लिये सब सभासद सत्यभाषण करनेवाले होने चाहिये। तभी सत्यभावी सभासदोंकी सभासे राष्ट्रका सच्चा कल्याण हो सकता है।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे। अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिंद्र भगिनं कृणु॥ ३४१॥ अथर्व० ७।१२।३

(एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदोंका (वर्चः विज्ञानं) तेज और ज्ञान (आददे) मैं लेता हूं। (अस्याः सर्वस्याः) इस सब (सं सदः) सभाका, हे (इंद्र) प्रभो ! (मां भगिनं कृणु) मुझे भागी कर।

राजाको तथा सभापतिको उचित है, कि वह संपूर्ण सभाके सब सदस्योंका मत क्या है, यह निःपक्षपातसे जानकर उसका उपयोग करें। अपने आपको सभाका भागी अर्थात् अंश बनाकर रहे और सभाके ज्ञानसे ज्ञानी और सभाके तेजसे तेजस्वी बनकर कार्य करे।

राजाके सभासद।

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः। अविस्तस्मात् प्रमुंचति दत्तः शितिपात् स्वधा॥ ३४२॥ अथर्व० ३।२९।१

(यमस्य) नियम पालन करनेवाले राजाके (अमी सभासदः राजानः) ये सभासद राजे (इष्टा पूर्तस्य षोडशं) अन्नादि भोगका सोलहवां भाग (विभजन्ते) विभक्त करते है। यह सोलहवां भाग (दत्तः) दिया हुवा (अविः) रक्षक होता है और वह (शितिपात्) हानिसे (प्रमुंचति) मुक्त कर देता है और (स्व-धा) अपना धारण करता है।

राजसभाके सभासद ही सचमुच राजे हैं। ये प्रजासे लाभका-धनधान्यादि उत्पन्नसे-सोलहवां भाग राजाके लिये अलग करते है। लोग यही करभार राजाको देते हैं। यह दिया हुआ करही प्रजाका संरक्षण करता है, अर्थात् यह कर लेकर राजा सब प्रजा की रक्षा करता है और राष्ट्रमें धारणाशक्ति बढाता है। उत्पन्न का १६ वां हिस्सा ही कररूपसे राजाको देना चाहिये।

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन्। आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति॥ ३४३॥ अथर्व० ३।२९।२

पूर्वोक्त कर (दत्तः) दिया हुआ (अविः) रक्षक बनकर (शितिपात्) हानिके कारण भी (न उपदस्यति) नाश नहीं करता। परंतु (आकूति-प्रः) संकल्पोंको पूर्ण करता हुआ (सर्वान् कामान्) सब कामनाओंको (आभवन्, प्रभवन्, भवन्) विजयी, प्रभावी और वृद्धियुक्त होकर (पूरयति) पूर्ण करता है।

राजाको सोलहवां भाग कररूपसे देनेपर वह प्रभावशाली बनकर सब प्रजाको नाशसे बचाता है।

सत्यपालक राजा।

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा ।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने ॥
।३४४॥ ऋ० ५।६५।२

(तौ) वे (राजानौ) राजा लोग (श्रेष्ठवर्चसौ) उत्तम तेजस्वी, (दीर्घश्रुत्तमौ) अत्यंत ज्ञानी, (सत्पती) उत्तम पालन करनेवाले, (ऋतावृधौ) सत्य और सरलताके साथ बढनेवाले (जनेजने) प्रत्येक संघमें (ऋतावानौ) सत्यके रक्षक हैं।

राजा लोगोंको इन गुणोंसे युक्त होना चाहिये।

स्वराज्य।

यदजः प्रथमं संबभूव ।
स ह तत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ॥३४५॥
अथर्व० १०।१।३१

" (अजः) हलचल करनेवाला (प्रथमं) सबसे प्रथम (यत्) जब (सं बभूव) मिल जुलकर प्रकट होता है (तत्) तब (सः ह) वही (स्व-राज्यं) स्वराज्यको (इयाय) प्राप्त करता है, (यस्मात्) जिस स्वराज्यसे (अन्यत्) दूसरा कोई (परं) श्रेष्ठ (भूतं न अस्तिः हुआ नहीं है।"

वेदका यह मंत्र स्वराज्यकी महिमा बता रहा है। इस मंत्रका हरएक कथन विचार करनेयोग्य है। यहां का 'अज' शब्द हलचल करनेवाला, नेता, संचालक, चलानेवाला, आदि भाव बताता है। " अज् " धातुसे यह शब्द बनता है, इस 'अज्' धातुका अर्थ जाना, चलाना, हिलना, हलचल करना, आदि है। अर्थात् जो अग्रभागमें जाता है, जो चलाता है, जो आगे बढनेके लिये हलचल करता है, जो अन्योंका नेता होकर उनको आगे बढाता है, वह 'अज' कहलाता है।

इस मंत्रमें कहे "स्वराज्य" का अधिक अर्थ निम्नलिखित मंत्रसे खुल सकता है—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः ।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥३४६॥
ऋग्वेद ५।६६।६

" [मित्र] हे मित्रता रखनेवालो, अर्थात् जिनके अन्दर विरोध नहीं ऐसे सज्जनो, [ईय-चक्षसौ] जिनकी दृष्टि विशाल हुई है, ऐसे सज्जनो, तुम सब तथा [वयं] हम सब [सूरयः] विद्वान् मिलकर [व्यचिष्ठे] विस्तृत तथा [बहुपाय्ये] अनेकोंकी सहायतासे जिसका पालन होता है, ऐसे [स्वराज्ये] स्वराज्य में [अयतेमहि] स्वराज्यव्यवस्था को ठीक चलाने का उत्तम प्रकारसे यत्न करें।

स्वराज्य के लिये (१) मित्रदृष्टिवाले लोग, (२) विस्तृत दृष्टिके लोग, और (३) ज्ञानी लोग, ये तीन प्रकारके लोग योग्य होते हैं। अर्थात् (१ , आपसमें झगडनेवाले, (२) संकुचित दृष्टिवाले और (३) अज्ञानी लोग स्वराज्य चलानेमें समर्थ नहीं हो सकते।

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् । शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशसा अहिम् अर्चन्नु स्वराज्यम्
।३४७॥ ऋ० १।८०।१

" हे (शविष्ठ वज्रिन्) बलवान् शस्त्रधारी! (इत्था) इस प्रकार (मदे सोमे हि) आनंदकारक शांतिवर्धक सोमके विषयमें ही (ब्रह्मा) ज्ञानी (इत्) निःसंदेह (वर्धनं चकार) संवर्धन करता है। तू (ओजसा) शक्तिके साथ (पृथिव्याः अहिं) भूमिके शत्रुको (निःशसा) दंड दो, और (स्वराज्यं) स्वराज्यकी (अनु अर्चन्) योग्य पूजा करनेवाला बनो।"

ज्ञानी सुविचारोंका संवर्धन करे, शस्त्रधर अथवा बलवान् शत्रुओंका प्रतिकार करे, और सब मिलकर स्वराज्यशासनका महत्त्व फैलावें, यह उक्त मंत्रका तात्पर्य है।

लोकसभाकी स्थापना।

विराड् वा इदमेक एवाग्रे आसीद् ।
तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ ३४८ ॥

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्॥३४९॥
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥३५०॥
अथर्व० ८।१०।१-३
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥३५१॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद॥३५२
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥३५३॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ३५४ ॥
सोदक्रामत् सामंत्रणेन्यक्रामत् ॥ ३५५ ॥
यन्त्यस्यामंत्रणमामंत्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ ३५६ ॥ अथर्व ८।१०।१८।१३

१– (अग्रे) सृष्टिके प्रारम्भ में केवल एक (वि-राज्) अर्थात् राजाके विहीन–प्रजाशक्ति–ही केवल थी। इस राज-विहीन अवस्था को देखकर (सर्वे) सब (अबिभेत्) भयभीत हो गये और ख्याल करने लगे कि क्या यही अवस्था हमेशा रहेगी ?

२– (सा) यह प्रजाशक्ति (उदक्रामत्) उत्क्रांत हो गई और (गार्हपत्ये) गृहपति में परिणत हो गई। अर्थात् जो अलग अलग मनुष्य थे, उनके व्यवस्थित कुटुम्ब बन गये, और कुटुम्ब बननेसे गृहपति भी बन गया। अर्थात् कुटुम्ब में स्वामी की कल्पना प्रथम उत्पन्न हो गई।

३–यह (वि-राज्) प्रजाशक्ति और (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हो गई और (सभायां) सभा में (न्यक्रामत्) परिणत हो गई। जो यह जानता है, वह सभ्य अर्थात् सभाके योग्य बनता है।

४– वह [वि-राज्] प्रजाशक्ति उत्क्रांत होने लगी और (समितौ) समिति में (न्यक्रामत्) परिणत हो गई। जो यह जानता है, वह समितिके योग्य बनता है।

अर्थात् अनेक ग्रामों के समूहों की सुव्यवस्थाके लिये ग्राम सभाओं के प्रतिनिधियों से समितियां बनीं।

५–वह प्रजाशक्ति उत्क्रमणको प्राप्त हुई और (आमंत्रणे) आमंत्रण में परिणत हो गई। जो यह जानता है, वह इस आमंत्रण-परिषद् के लिये योग्य बनता है।

ग्रामकी लोकसभा का नाम " **सभा** " है। प्रांतकी प्रांतिक लोकसभाका नाम " **समिति** " है। और मंत्रि मंडल–जो मंत्रिमंडल राष्ट्रका नियमन करता है, उसका नाम " आमंत्रण " होता है। ये तीन सभायें राष्ट्रकी स्वराज्यपद्धति की शासक सभाएं हैं। इनके शासनसे बहु-पाय्य स्वराज्य का शासन चलाया जाता है।

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥३५७॥
अथर्व० १५।८।१

(सः) वह (अरज्यत) प्रेम करने लगा, रंजन करने लगा (ततः) इसलिये (राजन्यः) राजा (जायत) बन गया।

जो लोगों का रंजन, जनता के ऊपर प्रेम, करता है वह राजा होता है।

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥३५८॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३५९॥ अथर्व०१५।८।२-३

वह (सबन्धूत् विशः) बन्धुजनोंसहित प्रजाओंके प्रति अन्न (अन्नाद्यं) खाद्यपेयादिका (अभि उदतिष्ठत्) प्रबंध करता रहा। इसलिये बांधवों सहित सब प्रजाओं के अन्न तथा खाद्यपेयादिका वह प्रिय स्थान बना। जो यह जानता है, वह भी वैसा होता है।

जो राजा प्रजाओंके अन्नादिका प्रबंध उत्तम रखता है, उसके लिये संपूर्ण उपभोग प्राप्त होते हैं।

स विशोऽनु व्यचलत् ॥३६०॥ अ०१५।९।१।
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥३६१॥
सभायाश्च वै समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥३६२॥
अथर्व० ५।९।१-३

वह (विशः) प्रजाओंके (अनु) अनुकूल (व्यचलत्) आचरण करता रहा। उसके लिये (सभा) ग्रामसभा, (समितिः) राष्ट्रसभा, सेना और (सुरा) धनकोश (अनु-व्यचलन्) अनुकूल हो चले।

इस प्रकार जो जानता है, वह ग्रामसभा, राष्ट्र-परिषद्, सेना और धनकोश का प्रिय स्थान होता है।

जो राजा प्रजामत के अनुकूल राज्यशासन करता है, उसी को लोकसभा, राष्ट्रीय महासमिति, सेना और खजाना प्राप्त होते हैं, क्योंकि इन पर लोकसभा का अधिकार होता है।

राजगद्दीपर बैठनेके समय राजाको उपदेश।

आ त्वाहार्षमन्तरोधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥३६३॥ऋ० १०.१७३।१

(त्वा आहार्षं) तुझे मैंने लाया है, (अंतः एधि) अंदर आ। (ध्रुवः तिष्ठ) स्थिर रह (अविचाचलिः) चंचल न हो। (त्वा सर्वा विशः) तुझे सब प्रजाजन (वांछन्तु) चाहते रहें और (त्वत्) तेरेसे राष्ट्र (मा अधिभ्रशत्) न गिरे।

पुरोहित कहता है कि हे राजा ! तू चुना गया है, राजगद्दीपर आ, स्थिर और दृढ होकर कार्य कर, सब प्रजाओंकी अनुकूलता प्राप्त कर और प्रजाओंकी सुसंमतिसे स्थिर हो और ऐसा कोई कार्य न कर कि, जिससे तेरे कारण तेरा राज्य ही भ्रष्ट हो, अथवा तेरे अधीन राज्य न रहे।

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः। इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥३६४॥ (ऋ० १०।१७३।२)

(इह एव एधि) यहां आ, (मा अपच्योष्ठाः) मत गिर जा। पर्वत के समान (अविचाचलिः स्थिर रह। (इन्द्रः इव) प्रभुके समान यहां (ध्रुवः) स्थिर हो जा और (राष्ट्रं) राष्ट्रका (उ धारय) उत्तम रीतिसे धारण कर।

साम्राज्यके लिये योग्य राजा।

ऋतावाना नि षेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू। धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः॥ ३६५॥ (ऋ० ८।२५।८)

(धृतव्रताः) नियम पालन करनेवाले, (ऋतावाना) सत्यके अनुसार चलनेवाले क्षत्रिय प्रथम (क्षत्रं आशतु.) क्षात्र तेज प्राप्त करते हैं और (सुक्रतू) उत्तम कर्म करते हुए साम्राज्य के लिये (निषेदतुः) यत्न करते है।

जो राजालोग नियमानुसार चलते है, सत्यका पालन करते है और प्रशस्त कर्म करते है, वेही साम्राज्यके लिये योग्य होते हैं।

घमंडी राजा।

ज्ञानीके अपमानका घोर परिणाम।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघित्सति। परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥ ३६६॥ (अथर्व० ५।१९।६)

(यः राजा) जो राजा (उग्रः मन्यमान्यः) अपने आपको शक्तिशाली मानता हुआ (ब्राह्मणं) ज्ञानीको (जिघित्सति) नष्ट करना चाहता है, (तत् राष्ट्रं) वह राष्ट्रं (परा सिच्यते) बहुत गिर जाता है, (यत्र) जहां (ब्राह्मणः जीयते) ज्ञानी दबाया जाता है।

जो राजा अपने आपको बडा शक्तिशाली समझकर ज्ञानीको दबाता है, उसका नाश होता है और वह राज्यभी गिरता है। इसलिये किसी भी राजाको उचित नहीं है कि वह ज्ञानी पुरुषोंको दबाए। हरएक राजा ज्ञानियोंको स्वतंत्र रखकर उनका सन्मान करे।

तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्। ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥ ३६७॥ (अथर्व० ५।१९।८)

(तद् वै) वह ज्ञानीको दबानेका दुष्ट कर्म (राष्ट्रं आ स्रवति) राष्ट्रका नाश करता है, जिस प्रकार उदक

(भिन्नां नावं) टूटी नौकाको नष्ट कर देता है। (यत्र) जहां (ब्राह्मणं हिंसन्ति) ज्ञानीको सताया जाता है (तद् राष्ट्रं) उस राष्ट्र (दुच्छुना हन्ति) दुर्गतिसे नष्ट होता है।

ज्ञानीको जिस राज्यशासनमें सताया जाता है, उस राज्य-शासनका नाश होता है। इसलिये किसी राजाको ज्ञानीको सताना योग्य नहीं है।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ३६८ ॥ अथर्व ५।१९।११

(ताः) वे (नव नवतयः) न्यानवे (भूमिः) देश(व्यधूनुत) हिल गये हैं। (ब्राह्मणीं प्रजां) ज्ञानी लोगोंको (हिंसित्वा) सताकर (असंभव्यं पराभवन्) संभावनासे भी अधिक हारे गये हैं।

सौमें न्यानवे देशोंके राजाओंका पराभव हुआ, जिन्होंने ज्ञानियोंको सताया। इसलिये कोई राजा ज्ञानीको न सताये।

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥३६९॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥३७०॥ आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥३७१॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥३७२॥तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥३७३॥ (अथर्व० १२।५।७।११)

१ (ओजः) शारीरिक बल, २ (तेजः) तेजस्विता, ३ (सहः) सहनशक्ति ४ (बलं) आत्मिक बल, ५ (वाक्) वाचाकी शक्ति, ६ (इंद्रियं) इंद्रियोंकी शक्तियां, ७ (श्रीः) शोभा, ९(धर्मः) कर्तव्य पालन करकेका स्वभाव, ९ (ब्रह्म) ज्ञान, १० (क्षत्रं) शौर्य, ११ (राष्ट्रं) राष्ट्रशक्ति, १२ (विशः) वैश्योंको व्यापारकी शक्ति, १३ (त्विषिः) अधिकारशक्ति, १४ (यशः) सन्मान, १५ (वर्चः) सामर्थ्य, १६ (द्रविणं) पैसा, धन, १७ (आयुः) दीर्घ आयु, १८ (रूपं) सौन्दर्य, सुन्दरता, १९ (नाम) नामका अभिमान, २० (कीर्तिं) नेकनामी, प्रसिद्धि, २१ (प्राणः) जीवनशक्ति, २२ (अपानः) रोगनिवारक शक्ति, २३ (चक्षुः) सूक्ष्मदृष्टि, २४ (श्रोत्रं) ज्ञानमें प्रविणता, २५ (पयः) वीर्यका बल, २६ (रसः) रुचि, प्रेम, सहृदयता–हमदर्दी, सौंदर्य, सत्त्व; २७ (अन्नं अन्नाद्यं च) खानपान, २८ (ऋतं) न्यायानुकूल यथायोग्य नियमपूर्वक बर्ताव, २९ (सत्यं) सत्यता, ३० (इष्टं) अपना हित, ३१ (पूर्तं) जनहित, दूसरोंका भला करना; ३२ (प्रजाः) संतति, ३३ (पशवः) गाय, बैल, घोडा आदि पशु,

ये सब (ब्रह्मगवीं) ब्राह्मण की,गौ वाणी आदिको (आददानस्य) लेनेवाले, प्रतिबंध करनेवाले और ब्राह्मणको (जिनतः) कष्ट देनेवाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय राजाके (अप क्रामन्ति) दूर होते हैं।

ज्ञानियोंकी राजाके लिये सहायता।

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्। तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥३७४॥ (अथर्व० ३।४।७)

हे राजन्! तेरा (सर्वाः बहुधा विरूपाः) बहुत प्रकारका सब (पथ्या रेवतीः) पथ्य अर्थात् हितकारक चालचलन अथवा आचरण (संगत्य) होनेसे ही (ते वरीयः अक्रन्) तुझे श्रेष्ठ बनाता है। (ताः सर्वाः संविदानाः) वे सब प्रजाजन ज्ञानी बन कर (त्वा ह्वयन्तु) तुमको ही बुलावें। (इह उग्रः सुमनाः) यहां शूर और उत्तम मनवाला बनकर तथा (दशमी) दश इन्द्रियोंको स्वाधीन रखनेवाला अथवा पूर्ण आयुसे अंतिम दशकका- १०० वर्षोंका- अनुभव करता हुआ (वश) आपने स्वभावको वशमें अर्थात् स्वाधीन करो।

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शरशारदाय ॥३७५॥ (अथर्व. १८।४।५३)

"(पर्णः राजा) पूर्ण अर्थात् उत्तम राजा (चरूणां अपिधानं) अन्नोंका आच्छादन अर्थात् संग्रह करनेवाला होता है। तथा वीर्य, बल, पौरुष आदि गुणोंके साथ आता है, और (आयुः) सौ वर्षकी दीर्घ आयु सब (जीवेभ्यः) जीवोंके लिये धारण करता है।"

उत्तम राजा अपने राष्ट्रमें खाद्यपेयोंका संग्रह करता है, वीर्य और पौरुष बढाता है और प्रजाको दीर्घजीवी बनाने का प्रयत्न करता है। हरएक राजा ऐसाही पुरुषार्थ करे।

शस्त्रधारी ब्राह्मण।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥३७६ अथर्व० ५।१८।९

"(तीक्ष्ण- इषवः) जिनके बाण तीखे है, और जो (हेति—मंतः) हथियार धारण करते हैं, ऐसे (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (यां शरव्यां) जिन शस्त्रोंको (अस्यन्ति) फेंकते हैं, (सा न मृषा) वे शस्त्र व्यर्थ नहीं जाते। वे (मन्युना) तेजस्वी बलके साथ (तपसा) तपके अर्थात् कष्ट सहन करके (अनु-हाय) शत्रुका पीछा करके (उत) निश्चयसे (एनं) इस शत्रुको (दूरात् अव भिन्दन्ति) दूरसेहि भेदन करते है।"

क्षत्रिय लोग उन्मत्त होनेकी अवस्थामें ब्राह्मणलोग शस्त्र धारण करके राष्ट्रका संरक्षण करें। ब्राह्मणके पास ज्ञानकी विशेषता होनेसे उनके शस्त्र अधिक कार्य करनेमें समर्थ होंगे, इसमें कोई शंका नहीं है।

आयुष्य बढाओ।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥३७७॥ ऋ० १०।१८।१

हे (मृत्यो) मौत! (देवयानात् इतरः) दो मार्गसे दूसरा (यः ते स्वः) जो तेरा अपना मार्ग है, (तं पन्थां) उस मार्गसे (अनुपरेहि) दूर चले जावो। (चक्षुष्मते) आंखवाले और (शृण्वते) सुननेवाले (ते ब्रवीमि) आपसे मैं कहता हूं (नः प्रजां) हम सब की प्रजाको (उत वीरान्) और विशेषतः वीरोंको (मा मा रीरिष) मत नष्ट करो।

देवमार्ग परसे चलनेसे अर्थात् श्रेष्ठोंके चालचलनके अनुकूल अपना चालचलन करनेसे मृत्युका भय दूर हो जाता है। जो आंखसे देख सकते है और कानसे सुन सकते हैं, उनको चाहिये कि वे अपनी और अपनी प्रजाका श्रेष्ठ आचरण के द्वारा अपमृत्युसे संरक्षण करें। सबका रक्षण होना चाहिए, परंतु विशेषतः वीरोंकी आयु अवश्यही दीर्घ होनी चाहिए।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥३७८॥ ऋ० १०।१८।२

(मृत्योः पदं योपयन्तः) अपने ऊपर आये हुए मृत्युके पांवको पुरुषार्थसे परे ढकेलते हुए, (द्राघीयः आयुः) अपनी दीर्घ आयुको (प्रतरं) अधिक दीर्घ बनाकर (दधानाः) धारण करके (यदा एत) जब तुम सब चलोगे, तब (प्रजया धनेन) प्रजा और धनके साथ (अप्यायमानाः) अभ्युदयको प्राप्त होते हुए (शुद्धाः) बाहरसे शुद्ध, (पूताः) अंदरसे पवित्र और (यज्ञियासः) पूजनीय (भवत) बनोगे।

हरएक प्राणी पर तथा हरएक पदार्थपर मृत्युका पांव रखा रहता है। मनुष्य ही उसको परे ढकेल देता है, अन्य प्राणियों में से कोईभी ऐसा नहीं है, कि जो इस प्रकारका पुरुषार्थ कर सकता है। सदाचार से अपनी आयु बढ जाती तथा दुराचार से घट जाती है, यह नियम ध्यानमें रख कर हरएक मनुष्यको अपनी आयु बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। दीर्घ आयुका उपाय निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य। प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ॥३७९॥ ऋ० १०।१८।३

(इमे जीवाः) ये जीनेवाले लोक (मृतैः) मरे हुओंसे (वि आववृत्रन्) घेरे हुए नहीं हैं। इसलिये (नः अद्य) हम सबकी आज (भद्रा) कल्याणकारक (देव-हूतिः) देवपूजा (अभूत्) हो गई है। (नृतये हसाय) नाचने और हंसनेके लिये हम सब (प्र-अञ्चः) सीधे (अगाम) चले जावें, जिससे (द्राघीय आयुः) दीर्घ आयुष्य (प्र-तरं) अधिक दीर्घ बनाकर (दधानाः) धारण करनेवाले बनेंगे।

नाच, हास्य, सरलता और कल्याणमय श्रेष्ठ मार्गका आचरण इत्यादि बातोंसे आयु बढती है। नाचसे शारीरिक व्यायाम, हास्यसे फेफडोंको व्यायाम, और मनकी प्रसन्नता, सरल व्यवहारसे निर्भयता, और सदाचारसे आरोग्य प्राप्त होकर दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥
॥३८०॥ ऋ० १०।१८।४

(जीवेभ्यः) जीवित मनुष्योंके लिये (इमं परिधिं) इस सौ वर्षकी आयुकी मर्यादा (दधामि) करता हूं। (एषां) इनमें (अ-परः) कोई भी नीच बनकर (एतं अर्थं) इस जीवन-धनको (नु मा गात्) न छोडे। सब मनुष्य (पुरूचीः) बडे (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीवन्तु) जीते रहें और (मृत्युं) मृत्युको (पर्वतेन) पर्वतके नीचे अर्थात् (अंतर्दधता) दबालें।

मनुष्योंकी साधारण आयुष्यमर्यादा सौ वर्षकि है। नीच आचरण न किया जाय, तो इससे पहिले मृत्यु नहीं होगा, दुराचार करनेसे हि शीघ्र मृत्यु आ सकता है। पुरुषार्थसे मृत्युको दबाकर मनुष्य अपनी आयु बढा सकते हैं।

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु। यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥
॥३८१॥ ऋ०१०।१८।५

हे (धातः) धारणकर्ता! (यथा अहानि) जैसे दिन (अनु-पूर्वं भवति) एकके पीछे एक चलते रहते हैं, (यथा ऋतवः)जैसे ऋतु (ऋतुभिः साधु यन्ति) ऋतुओंके साथ ठीक प्रकार चलते हैं, (यथा अपरः) जैसा अगला (पूर्वं न जहाति) पीछेवालेको नहीं छोडता (एवा) इस प्रकार (एषां) इन मनुष्योंके लिये (आयूंषि कल्पय) आयुष्योंकी योजना करो।

दिन ऋतु और जगत्का पूर्वापर संबंध जैसा सिलसिले वार चलता है, उस प्रकार मनुष्योंके आयुष्य निर्विघ्न होकर अत्यंत दीर्घ होवें। बडोंके पश्चात् ही छोटोंकी मृत्यु होवे। और ऐसा कभी न होवे, कि बडोंके होते हुए छोटे बालक अल्प आयुमेंही मर जांय। इस बात को ध्यानमें धर कर सब लोग ऐसी समाजमें व्यवस्था करें कि जिससे समाजमें कोई अपमृत्यु न हो सके और सब दीर्घ आयुका उपभोग लेनेके पश्चात् ही मरें।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ। इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥
॥३८२॥ ऋ० १०।१८।६

(आ रोहत) पूर्णतासे बढ जाईये,(जरसं आयुः) जरा-युक्त अति दीर्घ आयुष्य (वृणानाः) संपादन कीजिए। (अनु-पूर्वं) पूर्वके अनुसार (यतमानाः) पुरुषार्थी बनकर (यतिष्ठ) पुरुषार्थ की जिए। (सु-जनिमा) उत्तम जन्म देनेवाला,(स-जोषाः) संतोषके साथ जीवन व्यतीत करनेवाला (त्वष्टा)कारीगर कुशल कर्मकर्ता (इह) इस संसारमें (वः जीवसे आयुः करति) आपके जीवनके लिये आयु बनाता है।

पुष्ट होना, दीर्घायुकी प्राप्तिका उपाय करना, सतत पुरुषार्थ करना, संतोषके साथ जीवन व्यतीत करना, हुनर और कुशलता प्राप्त करना, उत्तम संतान उत्पन्न करना, ये उपाय हैं कि जिनसे दीर्घ आयुष्य होता है। ('अनु-पूर्वं') शब्दसे ' वयके अनुसार ' अर्थात् वयसे बडा पहिले और उसके पश्चात् छोटी ऊमरवाला मरे। छोटी ऊमरवाला पहिले न मरे। यह भाव व्यक्त होता है।)

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥
॥३८३॥ ऋ० १०।१८।७

(इमा नारीः) ये स्त्रियें (अ-विधवाः) विधवा न बनें। (सु-पत्नीः) उत्तम पतिकी उत्तम पत्नियां बनकर (आंजनेन सर्पिषा) अंजन और सुगंधित तैल आदिका अथवा घीका सेवन करके (सं विशंतु) मिलकर घरमें रहें। (अन्-अश्रवः) जिनके आंखमें अश्रु नहीं हैं (अन् अमीवाः) जो नीरोग है, (सु-रनाः) जिन्होंने उत्तम रत्न धारण किये है, ऐसी (जनयः) तरुण स्त्रियां (अग्रे) पतिके पूर्व (योनि) विश्रामके स्थानको (आरोहन्तु) प्राप्त हों।

पुरुष अकालमें न मरे और उस कारण स्त्रियोंको वैधव्य-दुःख न भोगना पडे। स्त्रियां उत्तम जेवर वगैरा पहनकर नीरोग बनकर आरोग्यसे युक्त रहें।

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥३८४॥(ऋ० १०।१८।८)

हे (नारि) स्त्रि! जिस (एतं गतासुं) गतप्राण अर्थात् मृत पतिके साथ (उप शेषे) तू सोती है, उसको छोड दे और (जीव-लोकं) जीवित लोगोंके स्थानमें (उदीर्ष्व अभि एहि) उठकर आओ। तेरा (हस्त-ग्राभस्य) हाथ पकडनेवाले (दिधिषोः पत्युः) पतिके साथ (तव इदं जनित्वं) तेरा यही पत्नीत्व (अभि सं बभूथ) सब प्रकारसे निश्चित हुआ था।

पति आदिकी मृत्यु होनेपर चिरकाल शोक न करते हुए, जीवित मनुष्योंमें आकर अन्योंके समान व्यवहार करना और यही समझना कि उसके साथ इतना ही संबंध था।

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय। अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥३८५॥ (ऋ० १०।१८।९)

(अस्मै क्षत्राय वर्चसे बलाय) शौर्य, तेज और बलके लिये इस (मृतस्य हस्तात्) इस मृत मनुष्यके हाथसे (धनुः आददानः) धनुष्य लेनेवाले (अत्र एव त्वं इह) यहां तू ही अकेला है, (वयं सुवीराः) हम सब उत्तम शूर बनकर (विश्वाः स्पृधः अभिमातीः) सब स्पर्धा करनेवाले शत्रुओंको (जयेम) जीतेंगे।

शौर्य, तेज और बलप्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिए। युद्धमें मृत मनुष्योंके हाथोंसे धनुष्यादि शस्त्रास्त्र लेकर भी शत्रुका नाश करना चाहिए। अर्थात् मृत मनुष्यों अथवा वीरोंके लिये शोक करनेमें सब आयुष्य का व्यय न करते हुए अपना कर्तव्य करनेमें तत्पर होना चाहिये।

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्। ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥३८६॥ (ऋ० १०।१८।१०)

(उरु व्यचसं) अत्यंत विस्तृत (सुशेवां पृथिवीं) सेवा करनेयोग्य, विस्तारयुक्त (एतां मातरं भूमिं) इस मातृभूमि के (उप सर्प) पास आ जाओ। (ऊर्णम्रदा एषा युवतिः) उनके समान कोमल यह स्त्री (दक्षिणा-वतः) दान देने-वालेकी धर्मपत्नी (निर्ऋतेः उपस्थात्) विनाशके स्थानसे भी (त्वा पातु) तेरा संरक्षण करे।

मातृभूमिकी सेवा करनी चाहिए। स्त्रियोंको भी चाहिए कि वे स्त्रियां मातृभूमिकी सेवा करनेवाले पुरुषोंकी सहायता करें। मातृभूमिकी उपासनासे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है और नाश नहीं होता। मातृभूमिकी उपासनासे मनुष्योंमें संघशक्ति बढती है, जो उनको नाशसे बचाती है।

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना। माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥३८७॥ (ऋ० १०।१८।११)

हे (पृथिवि) भूमि (उच्छ्वं चस्व) मार्ग खुला करो। (मा निबाधथाः) बाधा मत करो। (अस्मै) इसके लिये (सु-उपायना) उत्तम साधन देनेवाली तथा (सु-उपवंचना) उत्तम कल्पना देनेवाली (भव) हो। हे (भूमे) पृथिवि! (यथा माता पुत्रं) जिस प्रकार माता पुत्रके उपर प्रेम करती है, उस प्रकार (एनं ऊर्णुहि अभिषिंच) इसको आश्रय देओ।

मातृभूमिकी उपासनासे उन्नतिका मार्ग खुला हो जाता है और सब बाधाएं दूर हो जाती हैं। इसलिये उन्नति चाहनेवाले

सब लोगोंको उचित है कि, वे मातृभक्तिको अपने मनमें बढा कर अपनी उन्नति का साधन करें। और उत्तम यशको प्राप्त हों।

उच्छ्वंचमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्। ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ ॥३८८॥ ऋ० १०।१८।१२

(उच्छ्वंचमाना पृथिवी) मार्ग खुला करनेवाली भूमि (सुतिष्ठतु) सुस्थिति करनेवाली हो। (सहस्रं मित) सहस्रों प्रकारसे प्रमाण देनेवाला (हि उपश्रयन्तां) मातृभूमिका आश्रय करे। (ते गृहासः) तेरे घर (घृतश्चुतः) घीका सिंचन करनेवाले (भवन्तु) हों। (अत्र) यहां (विश्वाहा) सब दिन (अस्मै) इसके लिये (शरणाः सन्तु) आश्रय देनेवाले लोक हों।

घरोंमें घीका संग्रह होना चाहिए। घी आयुष्य बढानेवाला और रोग हटानेवाला है। इसलिये घर में भरपूर घी रखना चाहिये और घरके सब मनुष्योंको भरपूर घी देना चाहिये। घी पीनेसे ही उत्साहवृद्धि होती और थकावट दूर होती है। इस प्रकार उत्तम खानपानसे उत्साहित और नीरोग होकर मातृभूमिकी उपासनामें दत्तचित्त होकर अपनी उन्नति का साधन हरएकको व्यक्तिशः तथा संघशः करना चाहिये।

मृत्युका सब पर अधिकार।

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्धरामि स मा बिभेः॥३८९॥ अथर्व० ८।२।२३

द्विपाद तथा चतुष्पाद प्राणियोंपर मृत्यु (ईशे) शासक है। (तस्मात् गोपतेः मृत्योः) उस भूमिके शासक मृत्युसे (त्वां उद्धरामि) तुझे ऊपर उठाता हूं, तू (मा बिभेः) मत डर।

सब प्राणियोंके पीछे मृत्यु लगा है। उत्तम सद्व्यवहार करके मृत्युका डर कम करना चाहिये, और उसके पाश तोडकर अमरत्व की प्राप्ति करनी चाहिये।

दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिका उपाय।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः। अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥३९०॥ अथर्व० १२।२।२८

"शुद्ध और तेजस्वी होते हुए दिव्य गुणयुक्त (वर्चसः वैश्वदेवीं) वर्चस्वी कर्मोंको प्रारंभ कीजिए। जिससे (सर्ववीराः) हम सब वीर अर्थात् शूर पुरुष (शतं हिमाः) सौ वर्षतक (मदेम) आनंदसे रहेंगे, और (दुरिता पदानि) पापोंके स्थानोंका (अतिक्रामन्तः) अतिक्रमण करेंगे।

उत्तम तेजस्वी कर्मोंको कीजिये। शुद्ध, पवित्र और तेजस्वी बन जाइये। दुष्टताके परे होकर सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त कीजिये।

आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः। प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम्॥३९१॥ अथर्व० १९।२७।८

(आयुष्कृतां) दीर्घ आयु प्राप्त करनेवालोंके समान (आयुषा) अधिक आयु प्राप्त करके (जीव) जीओ। (आयुष्मान्) दीर्घ आयु धारण करके (जीव) जीओ, (मा मृथाः) मत् मरो। (आत्मन्वतां) आत्मिक बल धारण करनेवालोंके समान (प्राणेन) प्राणशक्तिके साथ (जीव) जीवो। (मृत्योः) मृत्युके (वशं) वशमें (मा उत् अगा) मत जाओ।"

दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले पुरुषार्थी और आत्मिक बल धारण करनेवाले अध्यात्मनिष्ठ सत्पुरुष जिस प्रकार पुरुषार्थ करके अपना जीवन अतिदीर्घ बनाते हैं, उस प्रकार हरएक मनुष्यको अपनी दीर्घ आयु बनानी चाहिये, कभी मृत्युके वशमें नहीं जाना चाहिये, परंतु अपनी इच्छाके आधीन ही मृत्युको रखना चाहिये।

मनके अंदर यह पक्का विश्वास रखना चाहिये कि मैंने अपमृत्युके वशमें होना ही नहीं। अपनी पूर्ण आयुकी समाप्ति तक सत्कर्म करता हुआ मैं आनंदसे रहूंगा और प्रशस्त यशसे युक्त होऊंगा।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक— व० श्री० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध।